विश्वविद्यालयों के लिए कुछ प्रमुख प्रकाशन

राजनीति-शास्त्र

1. Development Administration In India ... Dr. B. P. Singh
२. राजनीति-शास्त्र के मूल सिद्धान्त ... डॉ० वीरकेश्वर प्र० सिंह
३. विश्व के प्रमुख संविधान ... " " " "
४. ब्रिटेन तथा अमेरिका के संविधान ... " " " "
५. भारतीय शासन प्रणाली ... " " " "
६. आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ ... " " " "
७. भारत का संवैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास ... " " " "
८. प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व विश्व-राजनीति ... डॉ० दीनानाथ वर्मा
[१८७१ से १९१८ तक के कूटनीति का विश्लेषणात्मक अध्ययन]
९. भारत और विश्व-राजनीति ... डॉ० दीनानाथ वर्मा
[ब्रिटिश काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत की भूमिका तथा स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति पर प्रामाणिक ग्रन्थ ।]
१०. जापान का संविधान ... डॉ० वीरकेश्वर प्रसाद सिंह
११. नेपाल का संविधान ... " " " "
१२. चीन का संविधान ... " " " "

इतिहास

१. एशिया का इतिहास ... अम्बिका प्रसाद शर्मा
[पश्चिमी एवं पूर्वी एशिया का सम्पूर्ण इतिहास]
२. आधुनिक यूरोप I & II ... डॉ० दीनानाथ वर्मा
[1789 से 1939 तक का विश्लेषणात्मक विवेचन]
३. मुगलकालीन भारत ... डॉ० दीनानाथ वर्मा
[1526 से 1761 तक का विशद् अध्ययन]
४. आधुनिक भारत का इतिहास ... डॉ० दीनानाथ वर्मा
[1740 से आज तक के भारतीय इतिहास का प्रामाणिक विवेचन]
५. मानव सभ्यता का विकास ... डॉ० दीनानाथ वर्मा

अर्थशास्त्र

१. भारतीय अर्थशास्त्र ... एल० एम० राय
२. मुद्रा एवं मौद्रिक संस्थाएँ ... एल० एम० राय
[मुद्रा, बैंकिंग, राजस्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विशद् एवं तुलनात्मक अध्ययन]
३. अर्थशास्त्र के सिद्धान्त ... एल० एम० राय
४. सार्वजनिक अर्थशास्त्र ... एल० एम० राय
५. आर्थिक विकास के सिद्धान्त ... एल० एम० राय
६. औद्योगिक संगठन एवं नियन्त्रण ... एल० एम० राय
७. महान् राष्ट्रों का आर्थिक विकास ... एल० एम० राय
८. सोवियत संघ एवं जापान का आर्थिक विकास ... एल० एम० राय
९. भारत का आर्थिक विकास ... एल० एम० राय
१०. राजस्व के सिद्धान्त ... एल० एम० राय
११. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ... एल० एम० राय

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

(१९१९ से १९६९ तक का कूटनीतिक इतिहास)

डॉ० दीनानाथ वर्मा, एम०, ए०, पी-एच० डी०
(रीडर, इतिहास विभाग)
पटना विश्वविद्यालय

ज्ञानदा प्रकाशन
पटना—४

प्रकाशक
देवीदयाल चौधरी
ज्ञानदा प्रकाशन
पटना—४

प्रथम संस्करण : सितम्बर, १९६३
द्वितीय संस्करण : अगस्त, १९६४
तृतीय संस्करण : सितम्बर, १९६६
चतुर्थ संस्करण : जुलाई, १९६८
पंचम संस्करण : जुलाई, १९६९
(संशोधित एवं परिवर्द्धित)

मूल्य रु० १५·०० मात्र

मुद्रक
ज्ञानोदय प्रेस पटना—४

पंचम संस्करण के सम्बन्ध में

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के पंचम संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। पिछले संस्करण को भाँति इस संस्करण में भी विगत वर्ष की घटनाओं का समावेश करा दिया गया है। चेकोस्लोवाकिया की घटना, बर्लिन का संकट, रूस-चीन सीमा विवाद, पश्चिम एशिया तथा वियतनाम समस्याओं के समाधान के लिए नवीनतम प्रयासो, सोवियत संघ द्वारा पाकिस्तान को सैनिक सहायता दिये जाने के निर्णय, चेकोस्लोवाकिया-कांड के प्रति भारतीय दृष्टिकोण आदि अनेक बातों को यथास्थान इस संस्करण में रख दिया गया है। आशा है, हमारे पाठक पुस्तक की इस नवीनता का स्वागत करेंगे और हमारा उत्साह बढ़ायेंगे।

१-७-१९६९ —लेखक

भूमिका

आज का युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। विश्व का कोई भी राष्ट्र अपने आप में विलग रहकर अधिक दिनों तक अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। इस तथ्य के बावजूद विभिन्न देशों में अपेक्षित सहयोग और मैत्री का नितान्त अभाव है। संसार के दो विश्वयुद्ध इसके प्रबल प्रमाण हैं। और, अभी भी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इस धरती पर युद्ध-विभीषिका का आतंक सदा-सर्वदा के लिए समाप्त हो गया है।

एक जमाना था जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से भारतीयों का सीधा सम्बन्ध नहीं था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व अँगरेज अपनी इच्छानुसार, लाभ की दृष्टि से, पराधीन भारत को विश्व-राजनीति के रंगमंच पर कठपुतली की तरह नचाया करते थे। अब हमारा उत्तरदायित्व बढ़ गया है और पराधीनता से मुक्त होकर हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में काफी दिलचस्पी लेने लगे है। यह अनिवार्य भी है। इसके अतिरिक्त, चीनी हमले से उत्पन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप भारत स्वयं अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के भँवर-जाल में बुरी तरह फँस गया है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक उद्बुद्ध भारतीय को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं सम्बन्धों की जानकारी अपेक्षित है। इस पुस्तक के लिखने का यह भी एक उद्देश्य है।

विश्वविद्यालय के प्राध्यापक के नाते लेखक का विद्यार्थियों के प्रति भी कम उत्तरदायित्व नहीं है। इस उत्तरदायित्व को निबाहना भी इस पुस्तक के लिखने का एक प्रमुख उद्देश्य रहा है। आशा है, स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थियों को इस पुस्तक से यथोचित लाभ पहुँचेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध पर अँगरेजी में एक-से-एक उत्कृष्ट ग्रन्थ मिलते हैं। पर दुर्भाग्य की बात है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस विषय पर, जहाँ तक लेखक का ज्ञान है, अभी कोई भी ऐसी

मौलिक पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है, जिसमें ऐतिहासिक घटनाओं एवं तथ्यों का विशद् रूप से वर्णन हो।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में लेखक लेशमात्र भी मौलिकता का दावा नहीं करता। इसकी रचना अँगरेजी की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकों के आधार पर हुई है। फिर भी, एक बात मैं साधिकार कह सकता हूँ कि इस पुस्तक में मैंने अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को अपने दृष्टिकोण से देखा है। सम्भव है इसमें व्यक्त अनेक विचारों से कुछ पाठक सहमत न हों। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति जैसे विषय के सम्बन्ध में ऐसा होना अनिवार्य और वांछनीय है। इसका प्रधान कारण यह है कि राजनीति तथा विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय में हम सबों की दृष्टि केवल विगत अनुभवों के रंग में ही नहीं, वरन् हमारी निष्ठाओं के रंग में भी रंगी होती है। और, यह आवश्यक भी है। दृढ़ निष्ठा से रहित व्यक्ति देश, विश्वास तथा उन समस्त धारणाओं एवं आशाओं से रहित होता है जो जीवन के लिए जरूरी है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन तथा प्रकाशन में मुझे कई व्यक्तियों से बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है। मैं उन सबों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मैं उन सभी लेखकों के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिनकी पुस्तकों से मुझे इस पुस्तक को लिखने में सहायता मिली है।

सम्भव है, पुस्तक में कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों। इस सम्बन्ध में जो भी सुझाव मिलेंगे लेखक उन्हें सधन्यवाद स्वीकार करेगा।

इतिहास विभाग,
पटना विश्वविद्यालय

—दीनानाथ वर्मा

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

१. पेरिस का शान्ति-समझौता १-३८

शान्ति की समस्या—पेरिस का शान्ति-सम्मेलन—२, सर्वोच्च शान्ति परिषद्—४, विल्सन—५, लायड जार्ज—८, क्लिमेंशो—८, ओरलैंडो—१०, आयोग और समितियाँ—१०, गुप्त सन्धियाँ और सम्मेलन की कठिनाइयाँ—१०, वातावरण—११,

वर्साय की सन्धि—१२, सन्धि पर हस्ताक्षर—१२, राष्ट्रसंघ—१४, प्रादेशिक व्यवस्थाएँ—१५, राइनलैंड—१५, सार—१६, बेल्जियम और डेनमार्क की प्राप्ति—१६, जर्मनी की पूर्वी सीमा—१६, जर्मन उपनिवेश—१७, सैनिक व्यवस्था-जर्मनी का निरस्त्रीकरण—१६, क्षतिपूर्ति—२०, युद्ध अपराध—२१, जर्मनी पर सन्धि का प्रभाव—२१, वर्साय की सन्धि का मूल्यांकन—२३, विविध प्रतिक्रियाएँ—२३, आरोपित सन्धि—२४, साधारण शिष्टाचार का उल्लंघन—२५, सन्धि का आधार विश्वासघात—२५ कठोर संधि –२६, कठिन सिद्धान्तों पर आधारित सन्धि—२७, द्वितीय विश्व-युद्ध का कारण—२७, राजनेतृत्व की महान् पराजय—२९, वर्साय सन्धि का औचित्य—२६, जनमत—३०, विविध आयोग और कार्यपद्धति—३०, विविध आकांक्षाएँ—३१, राष्ट्रीयता का सिद्धांत—३१, सम्मेलन की कठिनाइयाँ—३३, रूस की क्रांति—३२, राष्ट्रसंघ—३३,

अन्य शान्ति सन्धियाँ—३३, सॉं जर्मे की सन्धि—३३, त्रियानो की सन्धि—३५, निऊली की सन्धि—३६, सेव्र की सन्धि—३६, उपसंहार—३७।

२. राष्ट्रसंघ ३९–८४

ऐतिहासिक पृष्ठाधार—३६, राष्ट्रसंघ का जन्म—४०, राष्ट्रसंघ के उद्देश्य—४१, सदस्यता—४२, वित्त और प्रधान कार्यालय- ४३, राष्ट्रसंघ के अंग और कार्य—४३, एसेम्बली-कौंसिल—४४, एसेम्बली और कौंसिल के पारस्परिक सम्बन्ध—४६, सचिवालय—४७ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—४८, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ—४९, श्रम संघ का संगठन—५०, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण निबटारा—५१, संरक्षण प्रणाली—५३, अल्पसंख्यक जातियों की समस्या—५६, राष्ट्रसंघ के प्रशासकीय कार्य—५८, सार का प्रशासन—५८, डान्जिग का प्रशासन—५९, राष्ट्रसंघ का स्वरूप—५९, शान्ति संस्थापक के रूप में राष्ट्रसंघ—६१,

राष्ट्रसंघ का पतन—६४, मंचूरिया का युद्ध—६४, अबीसीनिया का युद्ध—६९, स्पेन का गृह-युद्ध—७४, अंत्येष्टि क्रिया—७४, राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण—७५, राष्ट्रसंघ के गैर राजनीतिक कार्य—८२, राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन—८३।

विषय पृष्ठ

३. सुरक्षा और निरस्त्रीकरण की समस्या ८५-१२२

विषय प्रवेश—८५, फ्रांसीसी सुरक्षा का प्रश्न—८५, भौगोलिक गारंटी—८६, आंग्ल फ्रांसीसी मतभेद—८७, बेल्जियम और पोलैंड के साथ सन्धि—८८, लघुमैत्री संघ—९०, फ्रांसीसी गुटबन्दी का खोखलापन—९१, जेनेवा प्रोटोकल—९२,

लोकार्नो पैक्ट—९४, लोकार्नो समझौते की पृष्ठभूमि—९४, समझौते की कठिनाइयाँ—९६, लोकार्नो की सन्धियाँ—९६, लोकार्नो समझौते का मूल्यांकन—९७, लोकार्नो समझौते की त्रुटियाँ—१००, उपसंहार—१०२, पेरिस पैक्ट—१०२, पेरिस पैक्ट की पृष्ठभूमि—१०२, पेरिस समझौते का मूल्यांकन—१०४,

निरस्त्रीकरण की समस्या—१०५, प्रारम्भिक प्रयास—१०६, वाशिंगटन सम्मेलन—१०७, राष्ट्रसंघ के प्रयास—१०८, जेनेवा सम्मेलन—१०९, लन्दन सम्मेलन—१११, राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत निरस्त्रीकरण के प्रयास—११३, जेनेवा का निरस्त्रीकरण सम्मेलन—११४, फ्रांसीसी प्रस्ताव—११५, रूसी प्रस्ताव—११६, अमरीकी प्रस्ताव—११६, जर्मनी की मांग—११७, मेकडानल्ड योजना—११७, सम्मेलन का अन्त—११६, निरस्त्रीकरण की असफलता—११६, सम्मेलन की विफलता के कारण—१२०।

४. क्षतिपूर्ति, युद्ध-ऋण और आर्थिक संकट १२३-१५१

क्षतिपूर्ति की समस्या—१२३, क्षतिपूर्ति की कठिनाइयाँ—१२४, जर्मनी की कठिनाइयाँ—१२७, आंग्ल फ्रांसीसी मतभेद—१२८, राइन में पार्थक्यवादी आन्दोलन—१२९, रूर आधिपत्य से डावस योजना तक—१३१, डावस योजना—१३१, डावस योजना का मूल्यांकन—१३५, यंग योजना—१३६, हूवर मुहलत—१३८, लुसान सम्मेलन और क्षतिपूर्ति का अन्त—१३९,

आर्थिक संकट—१४१, आर्थिक संकट के कारण—१४१, प्रलय का आरम्भ—१४३, जर्मनी की स्थिति—१४४, आर्थिक संघ का प्रस्ताव—१४४, क्रेडिट आन्स्टाल्ट का दिवाला—१४५, ब्रिटेन में संकट—१४६, विश्व अर्थ सम्मेलन—१४६, संकट का अन्त—१४७ आर्थिक संकट के परिणाम—१४८।

५ जर्मनी में नात्सी क्रांति १५२-१६८

जर्मनी का पुनरोद्भव—१५२, नात्सी क्रान्ति के कारण—१५३, वर्साय की सन्धि—१५३, जातीय परम्परा—१५४, आर्थिक संकट—१५५, साम्यवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव—१५५ संसदीय परम्परा का अभाव—१५६, जर्मनी की सैनिक प्रवृत्ति—१५६, हिटलर का व्यक्तित्व—१५७, हिटलर का अभ्युदय—१५७, जर्मन गणतन्त्र का विनाश—१६० विश्व-राजनीति पर नात्सी क्रान्ति का प्रभाव—१६१।

विषय पृष्ठ

६. जर्मनी की विदेश-नीति और द्वितीय विश्व-युद्ध १६९-२०१

जर्मनी की विदेश नीति के उद्देश्य—१६९ हिटलर और वर्साय सन्धि—१६९, पोलैंड के साथ समझौता—१७० आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयत्न—१७१, ब्रिटेन के साथ समझौता—१७२, स्ट्रेसा सम्मेलन—१७३ राइनलैंड का पुनर्सैनिकरण—१७३, रोम बार्लिन और धुरी और कामिनटार्म विरोधी समझौता—१७४, आस्ट्रिया का जर्मनी में विलयन—१७७, आस्ट्रिया काण्ड का महत्त्व—१८०, चेकोस्लोवाकिया का विनाश और म्यूनिख का समझौता—१८१, चेकोस्लोवाकिया का सामरिक महत्त्व—१८१, चेकोस्लोवाकिया में जर्मन अल्पसंख्यकों की समस्या—१८३, अन्तर्राष्ट्रीय संकट की ओर—१८४, रन्शीमन मिशन—१८५, वर्शटेगाडेंन का प्रस्ताव—१८६, गोटेसवर्ग का प्रस्ताव—१८७, म्यूनिख का समझौता—१८९, म्यूनिख समझौते की समीक्षा—१८६, ब्रिटेन द्वारा समझौता करने के कारण—१९२, चेकोस्लोवाकिया का अन्त—१९३, रूस-जर्मन समझौता तथा पोलैंड पर आक्रमण—१९४, ब्रिटिश नीति में परिवर्तन—१९६, अन्तिम संकट—१९८।

७. महाशक्तियों की विदेश नीति २०२-२४८

(क) इटली की विदेश नीति—२०३, फासिज्म का उत्कर्ष—२०३, भूमध्यसागर पर प्रभुत्व-स्थापना—२०४, कोर्फू-कांड—२०४, फ्यूम—२०४, रूस से मित्रता—२०४, टिराना को सन्धि—२०४, हिटलर का उदय तथा फ्रांस और ब्रिटेन से सहयोग—२०५, अबिसीनिया का युद्ध—२०५, युद्ध के कारण—२०६, युद्ध के परिणाम—२०७, रोम बलिन धुरी—२०७, रूस का विरोध—२०७, स्पेन का गृह युद्ध—२०७, विदेशी प्रतिक्रिया—२१०, अहस्तक्षेप समिति—२१२, इटली पर प्रभाव—२१४,

(ख) फ्रांस की विदेश नीति—२१५, सुरक्षा की खोज—२१५, राष्ट्रसंघ के प्रति फ्रांसीसी रुख—२१५, जर्मनी के प्रति फ्रांस की नीति—२१६, ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध—२१६, नीति परिवर्तन—२१६, पेरिस पैक्ट—२१६, राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत यूरोपीय संघ बनाने का असफल प्रयत्न—२१७, हिटलर के युद्धोपरान्त फ्रांस की विदेश-नीति—२१७, फ्रांस में संतुष्टीकरण नीति का विकास—२१८, संतुष्टीकरण के कारण—२१८,

(ग) ब्रिटेन की विदेश-नीति—२२०, विषय-प्रवेश—२२०, साम्यवादी रूस का खतरा—२२२, जर्मनी के प्रति सहानुभूति—२२२, सन्तुष्टीकरण की नीति का ब्योरा—२२२, ब्रिटिश सन्तुष्टीकरण नीति (Policy of Appeasement) के प्रमुख आधार—२२४, साम्यवाद का आतंक—२२४, शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त—२२५, ब्रिटेन और फ्रांस में मतभेद—२२६, ब्रिटिश नेताओं

विषय पृष्ठ

की अक्षमता और जनता के विचार—२२६, ब्रिटेन की दुर्बलता और चेम्बरलेन का व्यक्तित्व—२२६,

(घ) संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश-नीति—२२७, पार्थक्यवाद—२२७, मुनरो सिद्धान्त—२२८, अमरीकी साम्राज्यवाद—२२८, विश्व-राजनीति में दिलचस्पी—२२९, अमेरिका और विश्व-युद्ध—२२९, शान्ति सम्मेलन और विल्सन—२३०, पार्थक्यवाद का पुनरावर्त्तन—२३१, पुनरावर्त्तन के कारण—२३१, पूर्वी एशिया में दिलचस्पी—२३२, राष्ट्रसंघ में सहयोग—२३२ यूरोपीय समस्याएँ और अमेरिका—२३३, तटस्थता कानून—२३३, तटस्थता की नीति के परिणाम—२३३, लैटिन अमेरिका के साथ सम्बन्ध—२३४,

(ङ) सोवियत संघ की विदेश नीति—२३५, विषय प्रवेश—२३५, पूँजीवादी हस्तक्षेप—२३६ सोवियत संघ का वहिष्कार—२३८, नीति परिवर्त्तन—२३८, विदेशों से सम्पर्क स्थापना—२३९, जेनेवा सम्मेलन—२३९, रेपोलो समझौता—२४०, रूस और अमेरिका सम्बन्ध—२४१, रूस और राष्ट्रसंघ—२४२, अनाक्रमण संधियाँ—२४३, फ्रांस के साथ सन्धि—२४४, पराधीन राज्यों के प्रति सोवियत संघ का रुख—२४४, रूस और जर्मनी का समझौता—२४५, समझौते के कारण—२४७ ।

८. विश्व-राजनीति में पश्चिम एशिया २४९-२७१

पश्चिम एशिया का महत्त्व—२४९, तुर्की की विदेशी नीति—२५०, लुसान की सन्धि—२५१, तुर्की विदेश नीति के मूल आधार—२५२, मोन्त्रो की सन्धि—२५३, रूस के साथ सम्बन्ध—२५३, अमेरिका और तुर्की—२५४, तुर्की के पड़ोसी राष्ट्र—२५४, तुर्की और बाल्कन प्रायद्वीप के राज्य—२५४, युद्ध के अवसरों पर तुर्की—२५५, फिलीस्तीन की समस्या—२५५, बेलफोर घोषणा—२५५, फिलिस्तीन पर ब्रिटिश संरक्षता—२५६, पील आयोग—२६०, गोलमेज सम्मेलन—२६१, आँग्ल मिस्री सम्बन्ध—२६२, १९२२ की संधि—२६३, १९२४-३६ का काल—२६४, १९३६ की संधि—२६५, ट्रांसजोर्डान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद—२६६, इराक में ब्रिटिश साम्राज्यवाद—२६७, लेबनान और सीरिया—२६९ ।

९. विश्व-राजनीति में पूर्वी एशिया २७२-२८९

पेरिस शान्ति सम्मेलन और पूर्वी एशिया—२७२, वाशिंगटन सम्मेलन—२७३, पूर्वी एशिया में जापान की शक्ति—२७४, याप द्वीप का झगड़ा—२७५, आँग्ल जापानी संधि—२७५, वाशिंगटन सम्मेलन—२७५, सम्मेलन के परिणाम—२७७, दोष—२७८, चीन की राजनीति—२७८, जापानी साम्राज्यवाद का पुनरोद्भव—२८०, मंचूरिया का महत्त्व—२८१, मंचूरिया-विजय की तैयारी—२८२, मंचूरिया काण्ड—२८३, राष्ट्रसंघ और मंचूरिया कांड—२८६, मंचूरिया कांड का महत्त्व—२८६, चीन-जापान-युद्ध—२८८ ।

विषय पृष्ठ

१०. युद्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय-सम्मेलन और समझौते २९०-२९४

विषय प्रवेश—२९०, अतलांतिक चार्टर—२९१, संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा—२९१, कैसाब्लेन्का सम्मेलन—२९१, मास्को सम्मेलन—२९२, काहिरा सम्मेलन—२९२, तेहरान सम्मेलन—२९२, ब्रिटेनवुड्स सम्मेलन—२९२, डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन—२९२, क्यूबेक सम्मेलन—२९३, मास्को सम्मेलन—२९३, याल्टा सम्मेलन—२९३, सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन—२९३, पोट्सडाम सम्मेलन—२९४।

११. संयुक्त राष्ट्रसंघ २९५-४००

शान्ति संधियाँ—२९५, युद्धोत्तर विश्व की समस्याएँ—२९५, संयुक्त राष्ट्र संघ की उत्पत्ति—२९५, डम्बार्टन ओक्स—२९६, सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन—२९६, नया संगठन क्यों? २९७, संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म—२९७, संयुक्त राष्ट्र संघ का स्वरूप—२९७, चार्टर—२९८, उद्देश्य और सिद्धान्त—२९८, सदस्यता—२९९, संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राज्य—२९९, संघ से इन्डोनीशिया का अलग होना—३००, संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग—३०१, साधारण सभा—३०१, छोटी एसेम्बली और शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव—३०२, सुरक्षा परिषद्—३०४, कार्य और अधिकार—३०५, मतदान प्रणाली—३०५, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्—३०९, उद्देश्य—३०९, सहायक अंग—३१०, प्राविधिक सहायता—३११, मानवीय अधिकार—३११, ब्रिटिश एजेन्सियों से सम्बन्ध—३१२, संरक्षण परिषद्—३१२, राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्र की संरक्षण पद्धतियों में तुलना—३१४, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—३१६, सचिवालय—३१७, चार्टर में संशोधन की समस्या—३२०, १९६७ के अरब इजरायल युद्ध के सन्दर्भ में चार्टर का औपचारिक संशोधन—३२३, चार्टर की त्रुटियाँ और उसको दूर करने के उपाय—३२३, राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ में तुलना—३२७,

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य—३३०. ईरान का विवाद—३३०, सीरिया-लेबनान विवाद—३३१, यूनान का विवाद—३३१, बर्लिन के घेरे का मामला—३३२, इन्डोनीशिया की समस्या—३३३, फिलिस्तीन की समस्या—३३४, स्पेन—३३६, कोर्फू चैनल-विवाद—३३६, ट्रीस्टे की समस्या—३३६,—ब्रिटेन और फारस के तेल का झगड़ा—३३७, दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों की समस्या—३३७, कश्मीर की समस्या—३३८, कोरिया की समस्या—३५१, वर्मा में चीनी सेनाएँ—३५५, ट्यूनिस और मास्को—३५५, स्वेज नहर की समस्या—३५५, हंगरी का प्रश्न—३५८, कांगो की समस्या—३६१, साइप्रश की समस्या—३६६, यमन की समस्या—३७१, वियतनाम की समस्या—३७२, क्यूबा का प्रश्न—३७४, दक्षिण रोडेशिया—३७५, डोमीनियन गणराज्य में अमरीकी हस्तक्षेप—३७७, अरब-इजरायल संघर्ष—३७८। चेकोस्लोवाकिया का संकट—३८०,

विषय पृष्ठ

संयुक्त राष्ट्रसंघ के गैर राजनीतिक कार्य—३८१, आर्थिक कार्य और संगठन—३८१, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन—३८१, खाद्य और कृषि संगठन—३८२, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष—३८३, अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण विकास बैंक—३८४, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम—३८४, संचार सम्बन्धी कार्य और संगठन—३८५, अन्तर्राष्ट्रीय सीविल एवियेशन संगठन—३८४, विश्व डाक संघ—३८५, अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ—३८६, विश्व ऋतु विज्ञान संगठन—३८६, अन्तर-सरकारी नागरिक सलाहकार संस्था—३८७, संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान तथा सांस्कृतिक संस्था—३८८, स्वास्थ्य एवं कल्याणकारी कार्य—३९०, विश्व स्वास्थ्य संगठन—३९०, अन्तर्राष्ट्रीय बाल-आपतकालीन कोष—३९१, विश्व-शरणार्थी संगठन—३९२, संघ के गैर-राजनीतिक कार्यों का मूल्यांकन—३९२, राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन—३८३, संयुक्त राष्ट्र संघ की कुछ समस्याएँ—३९६ ।

१२. शीत युद्ध और सशस्त्र शान्ति ४०१-४४८

शीत युद्ध की उत्पत्ति—४०१, शीत युद्ध के कारण—४०१, द्वितीय मोर्चा का प्रश्न—४०२, पुरातन व्यवस्था की स्थापना का प्रयास—४०३, रूस द्वारा समझौतो का अतिक्रमण—४०३, ईरान में रूसी सेनाओं का न हटाया जाना—४०४, तुर्की पर रूसी का दबाव—४०४, यूनान में सोवियत संघ का दबाव—४०४, रूस का अमेरिका विरोधी प्रचार अभियान—४०४, अणुबम का आविष्कार—४०४, सोवियत विरोधी प्रचार अभियान—४०५,

शीत युद्ध की प्रगति—४०५, ख्रुश्चेव की अमरीकी यात्रा—४०८, यू-२ विमान कांड—४०८, पेरिस का शिखर सम्मेलन—४१०, क्यूबा की घटना—४१२, शीतयुद्ध में शिथिलता—४१४, रूस-चीन विवाद और शीत-युद्ध का भविष्य—४१४, १९६४ के बाद शीत-युद्ध—४१६, अरब-इजरायल संघर्ष और शीत युद्ध—४१७, ग्लासबरो का शिखर सम्मेलन—४१८, वियतनाम युद्ध—४१९, बर्लिन संकट—४१९, शीत युद्ध की वर्तमान स्थिति—४२०,

सैन्य संधियाँ और संगठन—४२१, अमरीकी राज्यों का संगठन—४२१, ब्रुसेल्स संधि संगठन—४२२, उत्तर अतलांतिक संधि संगठन—४२३, नाटो संगठन के उतार-चढ़ाव—४२४, वारसा पैक्ट—४२६, केन्द्रीय संधि संगठन तथा बगदाद पैक्ट—४२७, दक्षिण पूर्व एशिया संधि संगठन—४२८, सैन्य संगठनों का प्रभाव—४३०,

निरस्त्रीकरण की समस्या—४३१, समस्या की उत्पत्ति—४३१, निरस्त्रीकरण की राजनीति—४३२, १९५५ का समझौता—४३३, जेनेवा सम्मेलन—४०३, लन्दन सम्मेलन—४३४, भारत का प्रस्ताव—४३४, स्पूतनिक कूटनीति—४३४, बुलगानिन योजना—४३५, रापाकी योजना—४३५, आइसनहावर का जवाब—४३६, जेनेवा सम्मेलन—४३६, संयुक्त राष्ट्रसंघ में ख्रुश्चेव का प्रस्ताव—४३६, जेनेवा सम्मेलन—४३७, जुलाई १९६० से १९६३ तक निरस्त्रीकरण में प्रगति—४३८, अगस्त १९६३

विषय पृष्ठ

का समझौता — ४४०, निरस्त्रीकरण के अन्य प्रस्ताव — ४४२, १९६८ की परमाणविक प्रसार का निषेध संधि — ४४४, उपसंहार — ४४७ ।

१३. संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश-नीति ४४९-४७९

अमरीकी विदेश-नीति का मूलाधार — ४४९, ट्रूमैन सिद्धान्त — ४५०, *यूनान की समस्या — ४५०, तुर्की की समस्या — ४५१, ईरान की समस्या — ४५१,* ट्रूमैन सिद्धान्त—४५२, मार्शल योजना — ४५४, चार-सूत्री कार्यक्रम — ४५५, सैनिक संधियों की नीति — ४५५, साम्यवाद के साथ शक्ति परीक्षण—४५६, पारस्परिक सहिष्णुता की नीति—४५८,

पश्चिमी एशिया और अमेरिका—४५९, तेल राजनीति—४५९, पश्चिमी एशिया में अमेरिकी हस्तक्षेप—४५९, पश्चिम एशिया में अमेरिका का सैन्य संगठन—४६०, आसइनहावर सिद्धान्त—४६०, लेबनान में अमरीकी सेना का प्रवेश—४६२, जोर्डन में हस्तक्षेप—४६३, आइसनहावर सिद्धांत का मूल्यांकन—४६३,

पश्चिम यूरोप में अमरीकी प्रभाव का ह्रास —४६४, नाटो में मतभेद—४६४,

पूर्वी एशिया और संयुक्त राज्य—४६६, चीन और अमेरिका—४६६, जापान और अमेरिका—४६६, हिन्दचीन की समस्या और अमेरिका—४६७,

कैनेडी-प्रशासन काल में अमरीकी नीति—४६८, विदेश नीति की नवीन सीमा—४६८, क्यूबा का संकट—४६९, राष्ट्रपति जॉनसन के काल में अमरीकी विदेश नीति—४७०, वियतनाम संघर्ष और अमेरिका—४७०, अमरीकी नीति में परिवर्तन—४७१, कोरिया और प्वेब्लो संकट—४७२, १९६७ से पश्चिम एशिया का संकट और जॉनसन-प्रशासन की नीति—४७३, राष्ट्रपति रिचार्ड निक्सन की विदेश-नीति—४७५, अमरीकी विदेश नीति का मूल्यांकन—४७८ ।

१४. सोवियत संघ की विदेश-नीति ४८०-५२५

सोवियत विदेश-नीति के मूलाधार—४८०, स्टालिन युग में सोवियत विदेश-नीति—४८०, विश्व में साम्यवादी क्रान्ति के प्रसार की नीति—४८१, पूर्वी यूरोप पर सोवियत प्रभाव की स्थापना—४८२, स्टालिन और युगोस्लाविया—४८४, लोहे की पर्दे की नीति—४८५, उपनिवेशवाद का विरोध और शान्ति का समर्थन—४८६, संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति सोवियत नीति—४८७, स्टालिन की नीति का मूल्यांकन—४८७,

स्टालिनोत्तर विदेश नीति—४८८, हंगरी तथा सोवियत संघ—४८९, सोवियत विदेश-नीति में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धांत—४९०, यात्रा कूटनीति

विषय पृष्ठ

और आर्थिक सहायता की नीति—४९५ शिखर-सम्मेलन—४९७, आर्थिक सहायता की नीति—४९७, सोवियत संघ और जर्मनी—४९८, विदेश मन्त्रियों का जैनेवा सम्मेलन—सम्मेलन के बाद—४९९, शिखर-सम्मेलन के बाद—४९९, वियना-सम्मेलन के बाद—४९९, बर्लिन की दीवार—५००, क्यूबा का संकट और सोवियत संघ—५०१,

सोवियत संघ और चीन—५०१, पारस्परिक सुरक्षा समझौता—५०२, संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन की मान्यता का प्रश्न—५०२, चीन और रूस का पहला मतभेद—५०२, चीन और रूस का सैद्धांतिक झगड़ा—५०२, जुलाई १९६३ का सम्मेलन—५०३, ख्रुश्चेव का पतन और चीन-रूस विवाद—५०४, रूस-चीन सीमाविवाद—५०५,

सोवियत संघ का नया नेतृत्व और विदेश-नीति—५०६, ताशकन्द सोवियत कूटनीति का नया अध्याय—५१०, सोवियत कूटनीति का जादू—५११, सोवियत कूटनीति की सफलता के कारण—५१२, पाकिस्तान के प्रति नवीन दृष्टिकोण—५१३, अरब-इजरायल संघर्ष और सोवियत संघ—५१३, सोवियत संघ और वियतनाम—५१७, पश्चिम के प्रति सोवियत संघ का नया रुख—५१७, साम्यवादी जगतकी नयी प्रवृत्तियाँ : चेकोस्लोवाकिया काण्ड—५१८, सोवियत संघ का विरोध—५१९, सोवियत हस्तक्षेप—५२२, मास्को समझौता—५२३, सोवियत विदेश-नीति का मूल्यांकन—५२४ ।

१५. विश्व-राजनीति में यूरोप, एशिया और अफ्रिका . ५२६-६२७

(१) यूरोपीय समस्याएँ—५२६, विश्व-राजनीति में यूरोप की स्थिति—५२६, यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन-५२८, यूरोपीय कौंसिल—५२८, यूरोपीय अदायगी संघ—५२८, यूरोपीय कोयला इस्पात समुदाय—५२९, आणविक शक्ति समुदाय—५२९, यूरोपीय आर्थिक समुदाय—५२९, यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार परिषद्—५२९,

ग्रेट ब्रिटेन की विदेश-नीति—५२९, ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका—५३०, ब्रिटेन और यूरोपीय साझा बाजार—५३२, अन्य देशों के साथ ब्रिटेन का सम्बन्ध ५३२, विश्व-राजनीति में ब्रिटन की वर्तमान स्थिति—५३३, फ्रांस की विदेश-नीति—५३३, आश्रित फ्रांस और विदेश नीति—५३३, राष्ट्रपति दगाल का उदय—५३४ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सम्मान पाने की चेष्टा—५३४, फ्रांस द्वारा नाटो का परित्याग—५३५, दगाल युग का अन्त—५३६,

(२) एशियाई समस्याएँ—५३६, चीन का जागरण और साम्यवादी चीन—५३७, मान्यता का प्रश्न—५३७, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन की क्रांति का महत्त्व—५३८, चीन की स्थिति पर प्रभाव—५३८, नवीन शक्ति-सन्तुलन—५३८, एशिया और अफ्रिका पर प्रभाव—५३९, सोवियत संघ पर प्रभाव—५३९, चीन की

विदेश-नीति—५४०, साम्यवादी विचारधारा—५४०, उपनिवेशवाद और पूँजीवाद का विरोध—५४०, राष्ट्रीय हित का तत्व—५४०, विदेश नीति के साधन—५४१, साम्यवादी चीन की विदेश-नीति—५४१, साम्यवादी चीन और फारमोसा—५४२, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध की स्थापना—५४३, चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका—५४३, चीन की उग्र विदेश-नीति का उदय—५४५, साम्यवादी चीन और एशिया पर प्रभाव-स्थापना का प्रश्न—५४६, चीन की विदेश-नीति का मूल्यांकन—५४७,

पाकिस्तान की विदेश-नीति—५५०, पाकिस्तान का जन्म—५५०, सैनिक तानाशाही की स्थापना—५५०, पाकिस्तान की विदेश-नीति—५५१, कश्मीर नीति का मूलाधार—५५२, मुस्लिम जगत् का नेतृत्व—५५३, पाकिस्तान की विदेश-नीति के कुछ तथ्य—५५३, भारत-पाक युद्ध और वर्तमान विदेश-नीति—५५४, ताशकन्द सम्मेलन और पाकिस्तान—५५४,

विश्व-राजनीति में इंडोनीशिया—५५६, सुरक्षा परिषद् में इंडोनीशिया का प्रश्न—५५६, डचों द्वारा फूट डालने की नीति—५५६, प्रथम पुलिस कार्यवाही—५५७, दूसरी पुलिस कार्यवाही—५५८, इंडोनीशिया गणराज्य की स्थापना—५५८, पश्चिम इरियन की समस्या—५५८, इंडोनीशिया की आन्तरिक राजनीति—५६०, इंडोनीशिया की विदेश-नीति—५६१. इंडोनीशिया और चीन—५६२, मलयेशिया और इंडोनीशिया—५६२, एशिया में नया शक्ति-संगठन—५६३, भारत-पाक युद्ध और इन्डोनीशिया—५६२, इंडोनीशिया की आन्तरिक गड़बड़ी और पिंडि-पिकिंड-जकार्ता-धुरी का अन्त—५६४, मलयेशिया का प्रश्न—५६६, मलयेशिया और सिंगापुर—५६८, मध्य एशिया की वर्त्तमान स्थिति—५६८,

हिन्द चीन की समस्या—५८, जेनेवा समझौता—५६८, लाओस—५६६ कम्बोडिया—५७०, वियतनाम की समस्या—५७१, जेनेवा सम्मेलन—५७१, गृह-युद्ध—५७२, उत्तर वियतनाम पर अमरीकी आक्रमण—५७४, समझौते के प्रयास—५७५, १६६६ के हवाई हमले—५७८, मनीला सम्मेलन—५७९, लार्ड रसेल की अदालत का निर्णय—५७६, फरवरी-मार्च १६६८ का युद्ध—५८१, अमेरिका में आर्थिक संकट—५८१, वियतनाम में शान्ति की सम्भावनाएँ : पेरिस शान्ति वार्ता—५८२,

पश्चिम एशिया और अरब जगत—५८४, पश्चिम एशिया और अरब जगत पर प्रभाव डालने वाले तत्व—५८४, विश्व-राजनीति में मिस्र—५८७, स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण—५८८, फारस और ब्रिटेन—५८६, ईराक की क्रान्ति—५८६, अरब एकता—५६० अरब लीग—५६१,

अरब-इजरायल सम्बन्ध-५६२, फिलिस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना-५६२, प्रथम अरब इजरायल युद्ध-५९३, अरब इजरायल विरोध-५६३, द्वितीय अरब-इजरायल

विषय पृष्ठ

संघर्ष (१९५६)-५९४, इजरायल और अरब राज्यों के तनाव के कारण-५९५, १९५७ से अरब-इजरायल संघर्ष का संक्षिप्त इतिहास—५९७, जून १९६७ की पूर्व की स्थिति—५९८, तृतीय अरब-इजरायल युद्ध (१९६७)—६००, सुरक्षा-परिषद् और युद्ध-विराम—६०१, राष्ट्रपति नासीर की स्थिति-६०१, शान्ति-समझौता ६०२,

विश्व राजनीति में अफ्रिका—६०५, अल्जीरिया का स्वाधीनता संग्राम—६०७, अफ्रिका के परतंत्र देश—६०६, अफ्रिकी एकता का आन्दोलन—६०६, आदिस अबाबा का सम्मेलन—६१०, स्वतंत्र अफ्रिका और संयुक्त राष्ट्रसंघ—६१२, अफ्रिका का भविष्य—६१२, दक्षिण रोडेशिया का संकट—६१२, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—६१२, मध्य अफ्रिकी संघ—६१३, लन्दन सम्मेलन—६१४, वेलेन्स्की का प्रयास—६१४ मॉकटन कमीशन—६१४, न्यासालैंड और उत्तरी रोडेशिया की स्वतन्त्रता—६१५, एकतरफी स्वतन्त्रता की घोषणा की ओर—६१५, संयुक्त राष्ट्रसंघ में दक्षिण रोडेशिया का प्रश्न—६१६, लन्दन सम्मेलन—६१६, स्वतन्त्रता की घोषणा—६१६, घोषणा की प्रतिक्रिया—६१७, अफ्रिकी एकता संगठन के समक्ष रोडेशिया का प्रश्न—६१७,

एशियाई-अफ्रिकी देशों के संगठन की समस्या—६१६, प्रथम एशियाई सम्मेलन—६१६, द्वितीय एशियाई सम्मेलन—६२०, बांडुंग सम्मेलन—६२०, अफ्रिका-एशिया समन्वय सम्मेलन—६२३, अफ्रिका-एशिया आर्थिक सम्मेलन—६२३, बेलग्रेड सम्मेलन—६२३, काहिरा सम्मेलन—६२५, अल्जीयर्स सम्मेलन—७४०।

१६. राष्ट्र मंडल और भारत ६२८-६४५

राष्ट्रमण्डल का स्वरूप—६२८, राष्ट्रमण्डल का उद्भव एवं विकास—६२६, औपनिवेशिक सम्मेलन—६२६, सम्मेलन में भारत का प्रवेश—६३१, प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रमण्डल का विकास—६३२, १६२६ का इम्पीरियल कॉन्फ्रेंस—६३२, स्टेच्यूट ऑफ वेस्ट मिन्स्टर—६३२, राष्ट्रमण्डल और द्वितीय विश्व युद्ध—६३३, राष्ट्रमण्डल की वर्त्तमान स्वरूप ६३३, राष्ट्रमण्डल का संगठन—६३४, राष्ट्रमण्डल की विशेषता—६३६, उद्देश्य—६३६, कोलम्बो योजना—६३७, राष्ट्रमंडल में भारत की स्थिति-६३८, मारत का सम्बन्ध-६४२, राष्ट्रमंडल का भविष्य-६४३।

१७. भारत की विदेश-नीति ६४६-७२८

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—६४६, अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास—६४६, विदेश-नीति की परम्परा का विकास—६४६, स्वतन्त्र भारत की विदेश-नीति का निर्माण और उसका तत्त्व—६४६, भौगोलिक तत्त्व—६४६, विचारधाराओं का प्रभाव—६५०, तत्कालीन परिस्थिति—६५०, आर्थिक तत्त्व—६५१, विदेश-नीति की विशेषताएँ—६५१, असंलग्नता की नीति—६५२, युद्धोत्तर विश्व-राजनीति—६५२, "भारत तटस्थ रहेगा"—६५२, असंलग्नता का अर्थ—६५४, असंलग्नता की नीति का

विषय पृष्ठ

का प्रयोग—६५५, १६४७ से ५० तक—६५५ १६५० से ५७ का भारत—६५६, १६५७ से आजतक चीन का हमला और असलग्नता की अग्नि परीक्षा—६५८, भारत-पाक युद्ध और असंलग्नता की नीति—६६०, पं० नेहरू की देन—६६१, नेहरू की मृत्यु और असंलग्नता की नीति—६६१, असंलग्नता की वर्तमान स्थिति—६६१,

शान्तिपूर्ण सहजीवन और विश्वशान्ति—६६२, कोरिया—६६३, हिन्द-चीन—६६५, पंचशील—६६५, शान्तिपूर्ण सहजीवन—६६७, पंचशील का मूल्यांकन—६६८, साम्राज्यवाद और प्रजातीय विभेद का विरोध—६६६, उपनिवेशवाद और १६५७ के बाद की भारतीय नीति—६७०, एशियाई अफ्रिकी देशों का सगठन —६७१, दिल्ली का एशियाई सम्मेलन—६७१, बांडुंग सम्मेलन—६७२, १६६६ का तटस्थ राष्ट्रों का दिल्ली सम्मेलन—६७३, संयुक्त राष्ट्रसंघ और भारत—६७५,

प्रमुख राज्यों के साथ भारत का सम्बन्ध—६७६, भारत और ग्रेट ब्रिटेन —६७६, भारत, फ्रांस और पुर्तगाल—६७८, गोआ की समस्या भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका—६७६, भारत और सोवियत संघ—६८७, भारत पाकिस्तान युद्ध और सोवियत नीति—६९०, भारत पाक युद्ध और सोवियत संघ—६६०, ताशकन्द सम्मेलन—६६२, पाकिस्तान को सोवियत सेनिक सहायता और भारत—६६४, सोवियत संघ और चीन का सीमा विवाद और भारत का दृष्टिकोण —६६७ भारत और पाकिस्तान—६६७, देशी राज्य—६९७, नदियों के पानी का झगड़ा—६६८, चीनी आक्रमण तथा भारत-पाक सम्बन्ध—६६६, चीनी आक्रमण और भारत पाक सम्बन्ध—६६९, स्वर्ण सिंह भुट्ट वार्त्ता—६६६, कच्छ का झगड़ा —७०५, भारत पाकिस्तान युद्ध – ७०५, युद्ध का श्री गणेश—७०४, युद्ध-विराम —७०३, युद्ध के परिणाम—७०४, ताशकंद सम्मेलन—७०७, ताशकन्द समझौते का महत्त्व—७०८, ताशकन्द समझौते के बाद—७१०, भारत और चीन का सम्बन्ध—७१०, तिब्बत का प्रश्न—७११, सीमा विवाद—७१२, भारत पर चीन का आक्रमण—७१४, कोलम्बो सम्मेलन—७१७, कोलम्बो प्रस्ताव—७१७, नासिर प्रस्ताव—७१८, भारत-पाक युद्ध और चीन—७१६, चीन का अल्टिमेटम —७२०, चीन की सैनिक हरकत—७२०, समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर भारत का दृष्टिकोण—७२१, १९६७ के पश्चिम एशियाई संकट में भारतीय दृष्टिकोण—७२२, भारत और परमाणु-शक्ति निरोध सम्बन्धी संधि—७२४, चेकोस्लोवाकिया की घटना और भारत—७२५, भारतीय विदेश नीति का मूल्यांकन—७२६।

१८. कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न	७२६–७३६
१६. ग्रन्थ-निर्देश	७४०-७४५

लेखक की दो नवीनतम रचनाएँ

(१) INDIA AND THE LEAGUE OF NATIONS

(Thesis approved by the Patna University)

(२) भारत और विश्व-राजनीति

(India in World Affairs.)

ब्रिटिश काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत की भूमिका और स्वतन्त्र भारत की विदेश-नीति पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ।

अध्याय : १

पेरिस का शान्ति-समझौता
(Paris Peace Settlement)

शान्ति की समस्या :—प्रत्येक युग में और प्रत्येक युद्ध के बाद शान्ति-स्थापना का कार्य अत्यन्त कठिन रहा है। अगस्त, १६१४ में सर्बिया तथा आस्ट्रिया के झगड़ा को लेकर जो यूरोपीय युद्ध छिड़ा वह मानव-इतिहास का एक अत्यन्त भयंकर और दीर्घकालीन युद्ध था। उस समय कोई भी व्यक्ति यह नही कह सकता था कि यह युद्ध चार वर्ष से भी अधिक दिनों तक चलता रहेगा। लेकिन पर्याप्त प्रयत्न के बाद ११ नवम्बर, १६१८ को ग्यारह बजे दिन में, राष्ट्रपति विलसन के प्रस्तावों के आधार पर, जर्मनी तथा मित्रराष्ट्रों के बीच युद्धविराम सन्धि पर हस्ताक्षर हुए और प्रथम विश्व-युद्ध का अन्त हुआ। चार वर्ष और पन्द्रह सप्ताह के भीषण संघर्ष और विनाश के बाद जब युद्ध पीड़ित विश्व ने यह शुभ समाचार सुना तो सारे संसार में अपार प्रसन्नता और आनन्द की लहर दौड़ पड़ी। यह बिल्कुल स्वाभाविक था, क्योंकि इतिहास में इतने बड़े पैमाने पर विध्वंसक युद्ध अबतक नही हुआ था। युद्ध में भाग लेनेवाले समस्त राष्ट्रों के कोई एक करोड़ तीस लाख व्यक्ति रणचंडी को भेंट चढ़ चुके थे। आर्थिक दृष्टि से भी यह युद्ध बड़ा व्ययसाध्य और विध्वंसक था। युद्ध में सम्मिलित दोनों पक्षों ने युद्ध के संचालन में दो खरब सत्तर अरब डालर व्यय किये थे।[1]

विश्व-युद्ध तो समाप्त हो गया, लेकिन वह अनेक प्रकार की ऐसी जटिल और भीषण राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक समस्याएँ छोड़ता गया जैसी संसार के सामने पहले कभी उपस्थित नहीं हुई थी। युद्ध की समाप्ति के बाद समूचे विश्व के सम्मुख सबसे बड़ा और जटिल प्रश्न स्थायी शान्ति की व्यवस्था करना था। शान्ति स्थापित करने का काम वैसे ही कठिन होता है, परन्तु उस समय संसार का वातावरण घृणा एवं कटुता से व्याप्त था और इस कारण शान्ति-स्थापना का कार्य और भी कठिन हो गया था। निस्संदेह यह काम युद्ध के संचालन की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन प्रतीत हो रहा था। मनुष्य को कीड़े-मकोड़े की तरह मार डालना सहज काम है, लेकिन इनके लिए शान्तिपूर्ण जीवन का प्रबन्ध करना आसान नहीं है। स्थायी शान्ति के लिए काफी समय तक गम्भीर विचार करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त शान्ति-सम्मेलन को शुरू करने में कई तरह की कठनाइयाँ थी। सर्वप्रथम, दूर-दूर के देशों से प्रतिनिधियों को आना था। युद्ध के बाद आवागमन के साधन क्षत-विक्षत हो गये थे और इस कारण पेरिस पहुँचने में विलम्ब की सम्भावना थी। इसका दूसरा कारण यह था कि दो महान् देशों के प्रतिनिधि सम्मेलन में तत्काल नहीं आ सकते थे। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति

1. Leo Benns, *Europe Since 1914*, p. 106.

विलसन ने स्वयं शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने का निश्चय किया और मध्य दिसम्बर के पूर्व उनका पेरिस पहुँचना असम्भव था तथा उनके आने के पूर्व सम्मेलन की कार्यवाही शुरू नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त इंगलैंड के लायड जार्ज शान्ति-सम्मेलन में उपस्थित होने के पूर्व अपने देश में निर्वाचन करा लेना चाहते थे ताकि शान्ति-समझौते पर ब्रिटिश लोकमत स्पष्ट हो जाय। इस निर्वाचन की तिथि १४ दिसम्बर निश्चित की गयी और उसके बाद भी उन्हें मन्त्रिमण्डल संगठित करने में कुछ समय लग गया। यही कारण था कि युद्ध बन्द होने और शान्ति-सम्मेलन की प्रथम बैठक होने तक दो महीने बीत गये। इतना ही नहीं, स्थायी शान्ति कायम करने में युद्ध की अपेक्षा अधिक समय भी लगा। युद्ध की कुल अवधि सवा चार वर्ष की थी किन्तु विभिन्न देशों के साथ शान्तिसन्धि करने में लगभग पाँच वर्ष का समय लग गया।

वस्तुतः बात यह थी कि जिस समय प्रथम विश्व-युद्ध का अन्त हुआ उस समय मित्रराज्य (Allied & Associated Powers) शान्ति-समझौते के लिए मानसिक रूप से तैयार नहीं हुए थे। १९१८ के अन्त में जर्मनी के खिलाफ भीषण युद्ध करने की तैयारी हो रही थी और किसी ने यह आशा न की थी कि जर्मनी का पतन इतना शीघ्र हो जायगा। इसलिए जब ११ नवम्बर को विराम संधि हुई तो एकाएक युद्ध की स्थिति से शान्ति की स्थिति में प्रवेश कर जाना कुछ कठिन अवश्य प्रतीत हुआ।

युद्ध के समाप्त होते ही प्रत्येक युद्धरत देश में शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने की तैयारी होने लगी और विभिन्न देशों के विदेश-मन्त्रालय तरह-तरह के तथ्य और आंकड़े इकट्ठा करने लगे। इस कार्य के लिए, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस में असंख्य विशेषज्ञ नियुक्त किये गये और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन लोगों के प्रयास से शान्ति-सम्मेलन की पूरी और अच्छी तैयारी हो गयी। लेकिन पेरिस के शान्ति-सम्मेलन का यह दुर्भाग्य था कि इन तथ्यों और आंकड़ों का कभी भी समुचित रूप से प्रयोग नहीं किया गया। १९१९ के शान्ति-सम्मेलन में जो प्रतिनिधि आये थे उन्हें अत्यधिक असामान्य परिस्थितियों में कार्य करना पड़ा था और ऐसी हालत में वे इन तथ्यों एवं आंकड़ों का प्रयोग नहीं कर सकते थे। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि प्रथम विश्व-युद्ध के विजेता एकाएक शान्ति की स्थिति में पहुँच गये और शान्ति-सन्धियों के निर्माण के कार्य में उपयुक्त निर्देशन का सर्वथा अभाव रहा।[1]

पेरिस का शान्ति-सम्मेलन—विश्व-युद्ध में जर्मनी का सबसे प्रबल और घातक प्रहार फ्रांस पर हुआ था। इसलिए फ्रांस की राजधानी पेरिस को शान्ति-सम्मेलन के लिए सबसे उपयुक्त स्थान माना गया और वहीं इस सम्मेलन का आयोजन हुआ। इसके कुछ और भी कारण थे। विराम संधि के लिए वार्ताएँ पेरिस से ही की गयी थी। सर्वोच्च युद्ध-परिषद् के कुछ कार्यालय पेरिस में ही स्थित थे। इसके अलावे, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया आदि देशों की "निर्वासित सरकारें" पेरिस में ही थीं। लेकिन पेरिस को सम्मेलन के लिए स्थान चुनना

1. "The sad fact remains...that the victors of the First World War were *usrprised into peace* and met to decide the fate of the world with little to guide them beyond a tangle of secret treaties, a mass of unread literature and the lofty but vague pronouncements of the American President"—Chambers, Harris and Bayley, *This Age of Conflict*, p. 110. (italics mine)

एक गलत निर्णय था। वस्तुतः इस समय शान्ति-सम्मेलन का आयोजन जेनेवा या हेग जैसे तटस्थ नगरों में होना चाहिए था। पेरिस में सम्मेलन का होना अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण था, क्योंकि युद्ध-जन्य क्रोध सबसे अधिक यहीं व्याप्त था और वहाँ ठण्डे दिमाग से विचार-विमर्श नहीं हो सकता था।[1] सचमुच पेरिस का वातावरण शान्ति संधियों के लिए अनुकूल नहीं था। जैसा कि केन्स ने लिखा है : "पेरिस एक दिवास्वप्न था और प्रत्येक व्यक्ति वहाँ अस्वस्थ था। सम्पूर्ण वातावरण असन्तोष, घृणा, प्रतिशोध, पागलपन तथा द्रोह की भावना से घनीभूत था।" इस वातावरण में एक न्यायपूर्ण संधि की आशा करना व्यर्थ था।

१६१६ के प्रारम्भ से विभिन्न देशों के प्रतिनिधि-मण्डल पेरिस पहुँचने लगे। विजेता राष्ट्रों के कुल बत्तीस प्रतिनिधि-मण्डल पेरिस आये थे और यहाँ प्रतिनिधि-मण्डलों की संख्या सैकड़ों में थी। इनमें मन्त्री, कूटनीतिज्ञ राजनेता, कानून और आर्थिक विशेषज्ञ, सैनिक, पूँजीपति, मजदूरों के नेता, संसदीय सदस्य और प्रमुख नागरिक सम्मिलित थे। इनके अतिरिक्त, संसार के कोने-कोने से पत्र-प्रतिनिधि एवं संवाददाता भी पेरिस पहुँचे हुए थे। उस समय पेरिस की रौनक और चहल-पहल देखने योग्य थी। सम्मेलन में भाग लेने के लिए स्वयं अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन तथा विभिन्न देशों के ग्यारह प्रधान मन्त्री और बारह विदेश मन्त्री पेरिस में उपस्थित थे। इस विशिष्ट जनसमूह में निम्नलिखित व्यक्तियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : फ्रांस के क्लिमेंशो, पिशों, टारडियू और कैम्बों; अमेरिका के लांसिंग और कर्नल हाउस; ब्रिटेन के लायड जार्ज, बालफर और बोनरलॉ; इटली के ओरलैंडो और सोनिनो; बेल्जियम के हाईमन्स; पोलैंड के डिमोस्की; यूगोस्लाविया के पाशिच; चेकोस्लोवाकिया के बेनेस; यूनान के वेनिजेलोस तथा दक्षिण अफ्रिका के स्मट्स तथा बोथा इत्यादि।

सोवियत रूस को सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित नहीं किया गया था। सम्मेलन में भाग लेने के लिए रूस को आमन्त्रित किया जाय या नहीं इस बात पर कई दिनों तक विवाद होता रहा। क्लिमेंशो को साम्यवादियों से तीव्र घृणा थी, लेकिन विल्सन का कहना था कि रूस की सम्मति के अभाव में कोई भी यूरोपीय व्यवस्था स्थायी नहीं हो पायगी। लायड जार्ज का भी यही विचार था। अतएव उसने यह प्रस्ताव रखा कि रूस के सभी राजनीतिक दलों के साथ पहले एक सम्मेलन किया जाय और बाद में किसी निश्चय पर पहुँच कर उसे भी शान्ति सम्मेलन में भाग लेने के लिए बुलाया जाय। ऐसे प्रस्ताव को रूस की बोल्शेविक सरकार नहीं मान सकती थी। अतएव रूस के किसी भी प्रतिनिध ने शान्ति-सम्मेलन में कभी भी भाग नहीं लिया।[2] पराजित राष्ट्रों को भी सम्मेलन में भाग लेने के लिए नहीं बुलाया गया था; क्योंकि उनका काम केवल इतना ही था कि संधि का प्रारूप तैयार हो जाने पर वे उनपर अपना हस्ताक्षर कर दें।[3] इस बार मित्रराष्ट्र बहुत सतर्क थे। १८१४-१५ के वियना-कांग्रेस में पराजित फ्रांस के प्रतिनिधि तेलराँ को शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने के लिए बुलाया गया था जिसने अपनी

1. Geoffrey Brunn; *The World in the Twentieth Century*, p. 181.

2. Lloyd George, *Truth About Peace Treaties* (I), pp.315-352.

3. "Nor were any delegation from d[illegible]
of the peace terms, for their's was [illegible]
of the completed documents. This was t[illegible]
Lee Benns, op. cit., p 110.

विल्सन ने स्वयं शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने का निश्चय किया और मध्य दिसम्बर के पूर्व उनका पेरिस पहुँचना असम्भव था तथा उनके आने के पूर्व सम्मेलन की कार्यवाही शुरू नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त इंगलैंड के लायड जार्ज शान्ति-सम्मेलन में उपस्थित होने के पूर्व अपने देश में निर्वाचन करा लेना चाहते थे ताकि शान्ति-समझौते पर ब्रिटिश लोकमत स्पष्ट हो जाय। इस निर्वाचन की तिथि १४ दिसम्बर निश्चित की गयी और उसके बाद भी उन्हें मन्त्रिमण्डल संगठित करने में कुछ समय लग गया। यही कारण था कि युद्ध बन्द होने और शान्ति-सम्मेलन की प्रथम बैठक होने तक दो महीने बीत गये। इतना ही नहीं, स्थायी शान्ति कायम करने में युद्ध की अपेक्षा अधिक समय भी लगा। युद्ध की कुल अवधि सवा चार वर्ष की थी किन्तु विभिन्न देशों के साथ शान्तिसन्धि करने में लगभग पाँच वर्ष का समय लग गया।

वस्तुतः बात यह थी कि जिस समय प्रथम विश्व-युद्ध का अन्त हुआ उस समय मित्रराज्य (Allied & Associated Powers) शान्ति-समझौते के लिए मानसिक रूप से तैयार नहीं हुए थे। १६१८ के अन्त में जर्मनी के खिलाफ भीषण युद्ध करने की तैयारी हो रही थी और किसी ने यह आशा न की थी कि जर्मनी का पतन इतना शीघ्र हो जायगा। इसलिए जब ११ नवम्बर को विराम संधि हुई तो एकाएक युद्ध की स्थिति से शान्ति की स्थिति में प्रवेश कर जाना कुछ कठिन अवश्य प्रतीत हुआ।

युद्ध के समाप्त होते ही प्रत्येक युद्धरत देश में शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने की तैयारी होने लगी और विभिन्न देशों के विदेश-मन्त्रालय तरह-तरह के तथ्य और आंकड़े इकट्ठा करने लगे। इस कार्य के लिए, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस में असंख्य विशेषज्ञ नियुक्त किये गये और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन लोगों के प्रयास से शान्ति-सम्मेलन की पूरी और अच्छी तैयारी हो गयी। लेकिन पेरिस के शान्ति-सम्मेलन का यह दुर्भाग्य था कि इन तथ्यों और आंकड़ों का कभी भी समुचित रूप से प्रयोग नहीं किया गया। १९१६ के शान्ति-सम्मेलन में जो प्रतिनिधि आये थे उन्हें अत्यधिक असामान्य परिस्थितियों में कार्य करना पड़ा था और ऐसी हालत में वे इन तथ्यों एवं आंकडों का प्रयोग नहीं कर सकते थे। यह एक दुभाग्यपूर्ण तथ्य है कि प्रथम विश्व-युद्ध के विजेता एकाएक शान्ति की स्थिति में पहुँच गये और शान्ति-सन्धियों के निर्माण के कार्य में उपयुक्त निर्देशन का सर्वथा अभाव रहा।[1]

पेरिस का शान्ति-सम्मेलन—विश्व-युद्ध में जर्मनी का सबसे प्रबल और घातक प्रहार फ्रांस पर हुआ था। इसलिए फ्रांस की राजधानी पेरिस को शान्ति-सम्मेलन के लिए सबसे उपयुक्त स्थान माना गया और वहीं इस सम्मेलन का आयोजन हुआ। इसके कुछ और भी कारण थे। विराम संधि के लिए वार्ताएँ पेरिस से ही की गयी थी। सर्वोच्च युद्ध-परिषद् के कुछ कार्यालय पेरिस में ही स्थित थे। इसके अलावे, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया आदि देशों की "निर्वासित सरकारें" पेरिस में ही थीं। लेकिन पेरिस को सम्मेलन के लिए स्थान चुनना

1. "Tho sad fact remains...that tho victors of the First World War were *usrprised into peace* and met to decide *the fate of the world with littlo to* guide ther [illegible] literature and tho lofty but [illegible] -Chambers, Harris Bayle.

एक गलत निर्णय था। वस्तुतः इस समय शान्ति-सम्मेलन का आयोजन जेनेवा या हेग जैसे तटस्थ नगरों में होना चाहिए था। पेरिस में सम्मेलन का होना अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण था, क्योंकि युद्ध-जन्य क्रोध सबसे अधिक यहीं व्याप्त था और यहाँ ठण्डे दिमाग से विचार-विमर्श नहीं हो सकता था।[1] सचमुच पेरिस का वातावरण शान्ति संधियों के लिए अनुकूल नहीं था। जैसा कि केन्स ने लिखा है: "पेरिस एक दिवास्वप्न था और प्रत्येक व्यक्ति यहाँ अस्वस्थ था। सम्पूर्ण वातावरण असन्तोष, घृणा, प्रतिशोध, पागलपन तथा द्रोह की भावना से घनीभूत था।" इस वातावरण में एक न्यायपूर्ण संधि की आशा करना व्यर्थ था।

१६१९ के प्रारम्भ से विभिन्न देशों के प्रतिनिधि-मण्डल पेरिस पहुँचने लगे। विजेता राष्ट्रों के कुल बत्तीस प्रतिनिधि-मण्डल पेरिस आये थे और यहाँ प्रतिनिधि-मण्डलों की संख्या सैकड़ों में थी। इनमें मन्त्री, कूटनीतिज्ञ राजनेता, कानून और आर्थिक विशेषज्ञ, सैनिक, पूँजीपति, मजदूरों के नेता, संसदीय सदस्य और प्रमुख नागरिक सम्मिलित थे। इनके अतिरिक्त, संसार के कोने-कोने से पत्र-प्रतिनिधि एवं संवाददाता भी पेरिस पहुँचे हुए थे। उस समय पेरिस की रौनक और चहल-पहल देखने योग्य थी। सम्मेलन में भाग लेने के लिए स्वयं अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन तथा विभिन्न देशों के ग्यारह प्रधान मन्त्री और बारह विदेश मन्त्री पेरिस में उपस्थित थे। इस विशिष्ट जनसमूह में निम्नलिखित व्यक्तियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं: फ्रांस के क्लिमेंशो, पिशों, टारडियू और केम्बों; अमेरिका के लांसिंग और कर्नल हाउस; ब्रिटेन के लायड जार्ज, बालफर और बोनरलॉ; इटली के ओरलैंडो और सोनिनो; बेल्जियम के हाईमन्स; पोलैंड के डिमोस्की; यूगोस्लाविया के पाशिच; चेकोस्लोवाकिया के बेनेस; यूनान के वेनिजेलोस तथा दक्षिण अफ्रिका के स्मट्स तथा बोथा इत्यादि।

सोवियत रूस को सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित नहीं किया गया था। सम्मेलन में भाग लेने के लिए रूस को आमन्त्रित किया जाय या नहीं इस बात पर कई दिनों तक विवाद होता रहा। क्लिमेंशो को साम्यवादियों से तीव्र घृणा थी, लेकिन विल्सन का कहना था कि रूस की सम्मति के अभाव में कोई भी यूरोपीय व्यवस्था स्थायी नहीं हो पायगी। लायड जार्ज का भी यही विचार था। अतएव उसने यह प्रस्ताव रखा कि रूस के सभी राजनीतिक दलों के साथ पहले एक सम्मेलन किया जाय और बाद में किसी निश्चय पर पहुँच कर उसे भी शान्ति सम्मेलन में भाग लेने के लिए बुलाया जाय। ऐसे प्रस्ताव को रूस की बोल्शेविक सरकार नहीं मान सकती थी। अतएव रूस के किसी भी प्रतिनिधि ने शान्ति-सम्मेलन में कभी भी भाग नहीं लिया।[2] पराजित राष्ट्रों को भी सम्मेलन में भाग लेने के लिए नहीं बुलाया गया था; क्योंकि उनका काम केवल इतना ही था कि संधि का प्रारूप तैयार हो जाने पर वे उनपर अपना हस्ताक्षर कर दें।[3] इस बार मित्रराष्ट्र बहुत सतर्क थे। १८१४-१५ के वियना-कांग्रेस में पराजित फ्रांस के प्रतिनिधि तेलराँ को शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने के लिए बुलाया गया था जिसने अपनी

1. Geoffrey Brunn; *The World in the Twentieth Century*, p. 181.

2. Lloyd George, *Truth About Peace Treaties* (I), pp.315-352.

3. "Nor were any delegation from defeated powers present during the drafting of the peace terms, for their's was a role which called merely for the signing of the completed documents. This was to be a dictated not a negotiated peace," Lee Benns, op. cit., p 110.

कूटिनीति से मित्रराष्ट्रों के बीच मतभेद उत्पन्न करा दिया था। इस सम्भावना से बचने के लिए मित्रराष्ट्र यह निश्चय कर चुके थे कि इस बार के शान्ति-सम्मेलन में किसी "जर्मन-तेलरों" को नहीं घुसने दिया जाय। लेकिन यह भी एक गलत निर्णय था। यदि जर्मनी के प्रतिनिधि सम्मेलन में रहते तो वर्साय की सन्धि सम्भवतः उतना कठोर और दोषपूर्ण नहीं होती।

सर्वोच्च शान्ति-परिषद्--१८ जनवरी, १९१९ को फ्रांस के विदेश-मन्त्रालय में पोअन्कारे ने शान्ति-सम्मेलन के प्रारम्भिक अधिवेशन का उद्घाटन किया। फ्रांसीसी प्रधानमन्त्री क्लिमेंशो सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये। इतने बड़े सम्मेलन में इतने महत्त्वपूर्ण काम का होना व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव था। अतः सम्मेलन की कार्यवाही को चलाने के लिए दस व्यक्तियों की एक 'सर्वोच्च शान्ति-परिषद्' बनायी गयी। इस परिषद् में तत्कालीन महान् राष्ट्रों—अमेरिका फ्रांस, ब्रिटेन, जापान और इटली—के दो-दो प्रतिनिधि थे। परिषद् के सदस्य जो चाहते कर सकते थे। साधारण अधिवेशन में रखे जानेवाले विषयों का चुनाव वहीं करते थे। सम्मेलन उनके फैसलों को निर्विरोध स्वीकार कर लिया करता था। लेकिन यह एक आपत्तिजनक कार्य-पद्धति थी जिसके द्वारा विलसन के "चौदह सूत्रों" के सर्वप्रथम सिद्धान्त कि भविष्य में शान्ति संधियाँ प्रकट रूप से की जायँ और गुप्त कूटनीति का अवलम्बन न किया जाय, का उल्लंघन हो रहा था।[1] अपनी पुस्तक में हैरोल्ड निकोलसन ने लिखा है: 'हमारी शान्ति की शर्तों का निर्णय खुलेआम नहीं हुआ। जितनी गुप्तता इस सम्मेलन में बरती गयी उतनी कदाचित किसी दूसरे सम्मेलन में नहीं बरती गयी थी।[2] यद्यपि इस कार्यपद्धति से काम करने में बड़ी आसानी हुई लेकिन इसके कारण समाचार-पत्रों के प्रतिनिधि बड़े नाराज हुए। उन्हें कुछ अवसरों को छोड़कर सम्मेलन कक्ष में प्रायः नहीं जाने दिया गया। अखबारों में उस समय जो भी समाचार छपे वे केवल "विश्वस्त सूत्रों" के आधार पर ही। अखबार वालों ने इस व्यवस्था के विरुद्ध काफी हो-हल्ला मचाया। इंगलैंड तथा फ्रांस के समाचार-पत्र इतने क्रुद्ध थे कि उन्होंने पेरिस में एकत्र राजनेताओं को "dawdlers of Paris" कहने में भी संकोच नहीं किया।[3]

बात यहीं तक सीमित नहीं रही। कुछ ही दिनों के बाद यह अनुभव किया जाने लगा कि कार्य-संचालन और कार्यवाही को गोपनीयता रखने के दृष्टिकोण से दस व्यक्तियों की परिषद् भी बहुत बड़ी है। अतएव मार्च १९१९ में यह घोषणा की गयी कि भविष्य में संधि से सम्बन्धित सभी कार्य 'चार व्यक्तियों की परिषद्' करेगी। ये चार व्यक्ति थे—संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन, ब्रिटेन के प्रधान मंत्री लायड जार्ज, फ्रांस के प्रधान मंत्री क्लिमेंशो तथा इटली के प्रधान मंत्री ओरलैंडो। अब शान्ति सम्मेलन की सारी जिम्मेवारी और संसार के भाग्य का निबटारा पूरी तरह से इन्हीं महापुरुषों के हाथ में था। यही लोग गुप्त रीति से सभी बातों का फैसला कर लिया करते थे। चूँकि शांति-सम्मेलन के सब महत्त्वपूर्ण निर्णय और उनके आधार पर

1. Jackson, *The Between War World*, pp. 9-10.
2. Harold Nicholson, *Peace Making 1919*, p. 43.
3. Chambers, Harris and Bayley, op. cit. p, 118.

युद्धोत्तर विश्व का पुनर्निर्माण इन्हीं लोगों ने किया, इसलिए इनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

विल्सन—महायुद्ध के समय तथा उसके तुरत बाद अमेरिका का राष्ट्रपति वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) संसार का सबसे महान् और सर्वाधिक लोकप्रिय नेता था। यह एक ऐसे राज्य का प्रधान था जिसके अथक प्रयास से प्रथम विश्व-युद्ध जीता गया था। संयुक्त-राज्य अमेरिका की सरकार ने बड़ी मुस्तैदी से अपनी सारी शक्ति लगाकर युद्ध जीतने का प्रयास किया था। लेकिन एक ओर जहाँ युद्ध जीतने के लिए व्यावहारिक कारवाइयाँ की जा रही थीं, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रपति विल्सन अपने आदर्शवादी सिद्धान्तों के आधार पर युद्ध का अन्त करने का प्रयास भी कर रहा था। युद्ध-पीड़ित विश्व में वह शान्ति के अग्रदूत का काम कर रहा था।

राष्ट्रपति विल्सन प्रथम विश्व-युद्ध को "युद्धान्तक युद्ध" (war to end war) मानता था। उसने यह नारा निकाला कि जर्मनी को हराकर "संसार को लोकतन्त्र के लिए सुरक्षित" (to make the world safe for democracy) बनाना है। इस नारे ने अमेरिका को ही नहीं, बल्कि बाहरी देशों को भी प्रभावित किया। उसने युद्ध के बाद न्याय के आधार पर एक नये संसार के निर्माण का वादा किया। उसने यह घोषणा की कि संधि की शर्त्तों के अनुसार किसी भी राष्ट्र को उसकी इच्छा के प्रतिकूल नहीं मिलाया जायगा और उससे क्षतिपूर्ति की कोई रकम दण्ड के रूप में नहीं माँगी जायगी। उसने एक ऐसे सुन्दर संसार की रूपरेखा तैयार की जिसमें एक राष्ट्रसंघ (League of Nations) की देखरेख में शांति और न्याय की स्थापना हो। वस्तुतः विल्सन के सामने केवल दो उद्देश्य थे: राष्ट्रसंघ और आत्मनिर्णय के सिद्धान्त (principle of self-determination) की स्थापना। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर वह युद्धोत्तर विश्व का निर्माण करना चाहता था। अतएव युद्ध के बाद शांति-संधि के सम्बन्ध में उसकी अपनी एक महान् आदर्शवादी धारणा थी जिसकी व्याख्या उसने ८ जनवरी, १९१८ को अमेरिकी कांग्रेस में भाषण देते हुए की थी। इसी भाषण में उसने अपने प्रसिद्ध "चौदह सूत्रों"[1] (Fourteen Points) का प्रतिपादन किया था। लेकिन विल्सन को इन सूत्रों के प्रतिपादन से ही सन्तोष नहीं हुआ।

११ फरवरी, १९१८ को कांग्रेस के ही सामने उसने अपने "चार सिद्धान्तों" का प्रतिपाद किया। इसके उपरान्त ४ जुलाई को माउन्ट वर्नन में भाषण करते हुए उसने "चार लक्ष्यों" को घोषित किया और फिर २७ सितम्बर को न्यूयार्क में भाषण करते हुए उसने "पाँच व्याख्याओं" (Five Interpretations) की स्थापना की। विल्सन की इन सभी घोषणाओं के मूल में यह बात थी कि नयी शान्ति व्यवस्था करते हुए लोकतन्त्र, राष्ट्रीयता, आत्मनिर्णय और

[1] विल्सन के चौदह सूत्र निम्नलिखित थे—

१. खुले ढंग से खुली शान्ति की जाय। शान्ति का समझौता गुप्त रूप से नहीं हो।

२. युद्ध और शान्ति के दिनों में सामुद्रिक आवागमन की स्वतन्त्रता हो।

३. यथासम्भव सभी आर्थिक अवरोध हटाये जायँ। अर्थात् राष्ट्रों के बीच किसी प्रकार की दीवार न रहे।

राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों का पालन हो। उसका दृढ़ विश्वास था कि इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर विश्व में स्थायी शान्ति का निर्माण हो सकता है।

हैरोल्ड निकोल्सन के मतानुसार विल्सन अपने को मानव जाति की एक नयी व्यवस्था देने वाला एक पैगम्बर मानता था।[1] इन्हीं धारणाओं और मान्यताओं को लेकर शांति का यह मसीहा और प्लेटो की कल्पना का "दार्शनिक राजा" (philosopher-king) अपने देश की वैधानिक परम्परा को तोड़कर असीम जिम्मेवारी लेकर शांति-सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमेरिका से यूरोप चला था। समस्त संसार में उस समय वही एक ऐसा व्यक्ति था जिस पर सभी लोगों की निगाहें टिकी हुई थीं। विजित और विजेता सभी उससे आशा रखते थे। मानवता के त्राता के रूप में वह जहाँ भी गया, उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। लाखों की संख्या में जनता उसके स्वागत के लिए उमड़ पड़ी। लन्दन और रोम का भ्रमण करते हुए जब वह पेरिस पहुँचा तो पेरिस की जनता उसे देखकर आनन्दाश्रुओं से गद्गद् हो गयी। वास्तव में

४. अस्त्र-शस्त्रों को निम्नतम सीमा तक घटा दिया जाय जिससे राष्ट्रों के बीच हथियार-बन्दी की होड़ बन्द हो।

५. जनता की इच्छा और हितों पर पूरा ख्याल रखते हुए उपनिवेश-सम्बन्धी समस्याओं का उचित और निष्पक्ष फैसला हो।

६. रूस के प्रदेशों को खाली कर दिया जाय और अपने राजनीतिक विकास तथा राष्ट्रीय नीति के निर्धारण की उसकी स्वाधीनता को मान्यता दे दी जाय।

७. बेल्जियम को खाली कर दिया जाय, उसके तटस्थीकरण को मान लिया जाय और उसकी प्रभुसत्ता सीमित करने का प्रयास नहीं किया जाय।

८. सम्पूर्ण फ्रांसीसी प्रदेशों को मुक्त कर दिया जाय। उसके वे प्रदेश जिनपर विदेशियों का अधिकार है लौटा दिये जायँ। १८७१ में एल्सस-लोरेन लेकर उसके साथ जो अन्याय हुआ था उसको समाप्त किया जाय।

९. राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर इटली की सीमाओं का पुनर्निर्धारण हो।

१०. आस्ट्रिया के साम्राज्य की विविध जातियों के राष्ट्रीय विकास का समुचित प्रबन्ध किया जाय।

११. रूमानिया, सर्बिया और मान्टिनिग्रो को खाली कर दिया जाय। उनके जिन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया गया है उन्हें लौटा दिया जाय। सर्बिया को समुद्र तट तक पहुँचने की सुविधा दी जाय। ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर बाल्कन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को निर्धारित किया जाय।

१२. तुर्की साम्राज्य को अपने वास्तविक भू-भाग पर बने रहने दिया जाय। परन्तु, तुर्की के शासन में रहनेवाली अन्य जातियों के स्वतन्त्र राष्ट्रीय विकास का समुचित प्रबन्ध किया जाय। डार्डेनल्स को स्थायी रूप से सभी राष्ट्रों के लिए खोल दिया जाय जिससे सभी देशों को जहाजों और व्यापार के लिए यातायात का खुला मार्ग प्राप्त हो सके।

१३. एक ऐसे स्वाधीन पोल-राज्य की स्थापना की जाय जिसमें पोल जाति के सभी लोग यथासम्भव सम्मिलत हो सकें। उन्हें समुद्र तट तक पहुँचने के लिए स्वतन्त्र और सुरक्षित मार्ग प्राप्त हो और एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता के द्वारा पोलैण्ड को स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता की गारण्टी दी जाय।

१४. राष्ट्रों का एक आम संघ कायम किया जाय जिसके द्वारा बड़े और छोटे राज्यों को समान रूप से राजनीतिक स्वाधीनता और प्रादेशिक अखण्डता का पारस्परिक आश्वासन प्राप्त हो।

1 Harold Nicholson, op. cit, p. 47.

प्राचीन रोमन साम्राज्य की समाप्ति के बाद यूरोप में विलसन जैसा शानदार स्वागत किसी दूसरे राजनेता का अभी तक नहीं हुआ था।[1]

विलसन एक घोर आदर्शवादी था और राजनीति के कटु सत्य से बहुत दूर रहनेवाला व्यक्ति था। कूटनीति में वह बिल्कुल पारंगत नहीं था। उसे यूरोपीय स्थिति का उतना ज्ञान नहीं था जितना कि चतुर राजनीतिज्ञ लायड जार्ज अथवा क्लिमेंशो या ओरलैंडो को था। विलसन के अन्य साथी केवल चतुर ही नहीं थे बल्कि उतने आदर्शवादी भी नहीं थे। विलसन का दृढ़ विश्वास था कि मानव जाति की रक्षा और उद्धार राष्ट्रसंघ की स्थापना से हो सकता है और इसलिए वह इसे सभी शांति-संधियों का अभिन्न एवं अनिवार्य अंग बना देना चाहता था। राष्ट्रसंघ उसके लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गया था। लेकिन जो व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे उसके साथ ऐसी बात नहीं थी। कहा जाता है कि क्लिमेंशो प्रातःकाल यह वाक्य दुहराया करता था "मैं राष्ट्रसंघ की स्थापना का समर्थन करूँगा।।" किन्तु ओरलैंडो से जब एक बार पूछा गया कि राष्ट्रसंघ के बारे में आप का क्या मत है तो उसने उत्तर दिया था—'हम निस्सन्देह राष्ट्रसंघ की स्थापना का स्वागत करेंगे किन्तु फ्यूम का प्रश्न पहले निर्णीत होना चाहिए।"

शान्ति-सम्मेलन में राष्ट्रसंघ में विलसन की सबसे बड़ी कमजोरी थी जिससे उसके सभी सहकर्मियों ने नाजायज फायदा उठाया। अन्य देश राष्ट्रसंघ के निर्माण की बात मान लें इसके लिए विलसन सब कुछ त्यागने के लिए तैयार था। यहाँ तक कि राष्ट्रसंघ के लिए वह चौदह सूत्रों के अनेक सिद्धांतों की अवहेलना करने के लिए भी तैयार हो जाता था। जैसा कि पाल बर्डसल ने लिखा है कि क्षति-पूर्ति की समस्या के अतिरिक्त अन्य सभी प्रश्नों पर ब्रिटेन, फ्रांस और जापान विलसन से राष्ट्रसंघ के नाम पर प्रायः अपनी अधिकांश बातें मनवाने में सफल हुए। फिर भी, पेरिस सम्मेलन में यदि पराजितों के साथ थोड़ी नरमी बरती गयी तो वह विलसन के कारण ही। वास्तव में यदि सम्मेलन में विलसन न होता तो न जाने लायड जार्ज और विशेषकर क्लिमेंशो क्या से क्या कर देते। विलसन ही उनकी असीम आकांक्षाओं पर अंकुश लगाता रहा। यदि विलसन न होता तो फ्रांस जर्मनी का नामोनिशान मिटा देता।[2]

कुछ लोगों का कहना है कि स्वयं पेरिस में आकर विलसन ने एक भारी भूल की। यदि वह वाशिंगटन में ही रहकर अमरीकी प्रतिनिधियों को आदेश देता रहता तो सम्भव था कि उसका प्रभाव और अधिक होता। लेकिन विलसन को सबसे अधिक चिन्ता राष्ट्रसंघ के लिए थी और वह चाहता था कि विश्व-संस्था के विधान का निर्माण वह स्वयं करे।[3]

---

1. He was received in Paris on his first appearance with an organised adultation of applause in the streets and in the Press which was intoxicating. Streets were named after him, Senate and Chamber of Deputies gave him official welcome, a palace was placed at his disposal, the picked regiments of France provided his escorts and their best band played him through most impressive avenues of the city. There was not an honour, not a mark of trust and devotion which was not laid at his feet. — D. Lloyd George, op. cit., p. 237,

2. P. Birdsall, *Versailles Twenty Years After*, p. 295.

3. "Wilson's attendance at the Paris Peace Conference was a grave error of judgement ··It would undoubtedly have been better if he had choosen a mixed team of Democrats and Republicans to represent his views. He would have wielded much greater authority and achieved his own purpose more, surely." Lloyd George, *Truth About Peace Treaties*, (Vol. I), p. 234.

विलसन के सामने एक और कठिनाई थी। इस समय अमरीकी जनता का समर्थन उसे प्राप्त नहीं था। नवम्बर, १९१८ में अमरीकी काँग्रेस का चुनाव हुआ जिसमें विलसन की डेमोक्रेटिक पार्टी को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। विलसन के सहयोगी विशेषकर क्लिमेंशो उसकी इस कमजोरी को समझते हैं और उन्होंने इससे खूब लाभ उठाया।[1]

लायड जार्ज :—इंगलैंड के लिबरल दल के नेता तथा प्रधान मन्त्री लायड जार्ज (Lloyd George) अपने युग का सर्वश्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ था। शान्ति सन्धि के सम्बन्ध में उसकी अपनी अलग धारणा थी। सम्मेलन में आने के पूर्व ब्रिटेन में आम चुनाव हुआ था। इसमें जर्मनी के साथ कठोर व्यवहार करने का नारा लगाया गया था और इन्हीं प्रतिशोधात्मक[2] नारों के आधार पर लिबरल पार्टी चुनाव में जीती थी। किन्तु लायड जार्ज एक दूरदर्शी राजनेता था। फ्रांस जर्मनी को सदा के लिए कुचल देना चाहता था, लेकिन इंगलैंड का हित इस बात में था कि जर्मनी का क्रमशः उत्थान हो। अतएव शान्ति-सम्मेलन में लायड जार्ज जर्मनी के प्रति फ्रांस की अपेक्षा अधिक नरम और उदार व्यवहार करने का पक्षपाती था। लेकिन वह कोरा आदर्शवादी कभी नहीं था। उसके सामने राष्ट्रसंघ और आत्मनिर्णय का सिद्धान्त उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना ब्रिटेन का साम्राज्यवादी स्वार्थ। लायड जार्ज सही अर्थों में व्यावहारिक राजनीतिज्ञ (practical politician) था। उसकी तीव्र बुद्धि, चातुर्यपूर्ण कूटनीति, अनर्थक कार्यशक्ति और बिजली की तेजी से निर्णय करने और बदलने की क्षमता ने उसे शान्ति सम्मेलन का एक महान् कूटनीतिज्ञ साबित किया। सम्मेलन में लायड जार्ज के सामने तीन मुख्य उद्देश्य थे : प्रथमतः, वह जर्मनी का एक नाविक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सर्वनाश कर देना चाहता था। द्वितीयतः वह फ्रांस को उतना शक्तिशाली नहीं बनने देना चाहता था जिससे यूरोपीय शक्ति-सन्तुलन गड़बड़ हो जाय। लायड जार्ज का तीसरा उद्देश्य ब्रिटेन के लिए लूट के माल में अधिक-से-अधिक हिस्सा प्राप्त करना था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति में बहुत सफलता मिली। ई० जे० डिल्लोन ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। उसके कथनानुसार लायड जार्ज की अन्तर्दृष्टि बड़ी विलक्षण थी और उसके निकटतम साथी भी कई बार कूटनीति में उसकी अगली चाल का अनुमान करने में असफल हो जाते थे।[3]

क्लिमेंशो—फ्रांस का प्रधान मन्त्री क्लिमेंशो (Clemenceau) कूटनीति और अनुभव में अपने सभी साथियों से कहीं आगे था। इस समय उसकी अवस्था अठहत्तर वर्ष की थी और १८७० में जर्मनी द्वारा फ्रांस के लज्जापूर्ण पराभव को उसने अपनी आँखों से देखा था। अतएव प्रतिशोध लेने की इच्छा उसमें बड़ी प्रबल थी। वह न तो आदर्शवादी था और न विलसन के आदर्शवादी सूत्रों की कोई परवाह ही करता था। विजय के बाद उसकी महत्त्वाकांक्षा इतनी बढ़

1. The immediate and probably the most important tactical cause of Wilson's failure was his own false position in Paris. He, the greatest democrat, did not really represent the people." Chambers, Harris & Bayley, op. cit, p. 116.

2. चुनाव के अवसर पर इंगलैंड में जो नारे लगे थे उनके कुछ नमूने निम्नलिखित है: "कैजर को फाँसी पर लटकाया जाय" "जर्मनी से हरजाना लिया जाय—शिलिंग के बदले शिलिंग और टन के बदले टन वसूल किया जाय।"

3 Albjerg and Albjerg, *Europe from 1914 to the Present*, p 69

गयी थी कि परास्त देशों के न्याययुक्त अधिकारों की उपेक्षा करने में उसे जरा भी हिचकिचाहट नहीं होती थी। विल्सन का कहना था कि इस समझौते में केवल विजयी राष्ट्रों के स्वार्थ तथा हित का ही ध्यान न रखा जाय; बल्कि उन राष्ट्रों की इच्छाएँ भी ध्यान में रखा जाय जिन पर समझौते का असर पड़ेगा। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और न्याय की प्रतिमूर्ति राष्ट्रपति विल्सन एक नयी दुनिया बनाने का मनसूबा बाँध रहा था। लेकिन फ्रांस के 'शेर' क्लिमेंशो (तथा ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ लायड जार्ज) के सामने वह असमर्थ और शक्तिहीन था। लायड जार्ज में कम-से-कम एक गुण तो था कि उसे जो अच्छी सलाह दी जाती थी उसे वह मान लेता था, लेकिन क्लिमेंशो के साथ ऐसी बात नहीं थी। पेरिस सम्मेलन के अपने साथियों में वह सबसे अधिक प्रभावशाली और सबसे अच्छा कूटनीतिज्ञ था। सम्पूर्ण सम्मेलन में यही एक ऐसा व्यक्ति था जो यह जानता था कि कब और कैसे क्या करना चाहिए। १८७० की याद उसके दिमाग में ताजी थी। उस समय फ्रांस हारा था और उसे पराजय के सब परिणाम भुगतने पड़े थे। इस बार जर्मनी हारा है। अतएव इस हार का परिणाम उसको भुगतना है। उसको पूर्ण विश्वास था कि जर्मनी शक्ति के अतिरिक्त किसी चीज में विश्वास नहीं करता। अतः फ्रांस की सुरक्षा के लिए वह जर्मनी को बिल्कुल पंगु बना देना चाहता था। वह शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त में विश्वास करता था; विल्सन के सूत्रों में नहीं। विल्सन की हँसी उड़ाते हुए उसने कहा था 'ईसा मसीह केवल दस आदर्शों से सन्तुष्ट है, लेकिन विल्सन चौदह आदर्शों पर जोर देते हैं।"[1] एक अन्य अवसर पर उसने कहा: "लायड जार्ज तो अपने को नेपोलियन समझता है, परन्तु विल्सन अपने को ईसा मानता है।'[2] शान्ति-सम्मेलन के प्रधान के रूप में क्लिमेंशो का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण था।

शान्ति सम्मेलन में उसका परम लक्ष्य जर्मनी को कुचलना था। वह चाहता था कि जर्मनी इतना कुचल दिया जाय कि वह फ्रांस के लिए कभी खतरे का कारण नहीं बन सके।[3] क्लिमेंशो में फासिस्टवादी प्रवृत्ति कूट-कूट कर भरी थी। वह युद्ध को आवश्यक मानता था। उसका कहना था कि जर्मन और फ्रांसीसी लोगों के बीच संघर्ष अनिवार्य है और यह वर्षों से चला आ रहा है। इस बार जब जर्मनी बुरी तरह हारा है तो उसको बिना पूर्णतया कुचले छोड़ देना एक महान् भूल होगी। अतएव वह जर्मनी का नामोनिशान मिटाने का दृढ़ संकल्प करके सम्मेलन में आया था। वह हमेशा फ्रांस के हित की बात सोचता था और उसकी रक्षार्थ हमेशा तैयार रहता था। उसके सम्बन्ध में एक लेखक ने लिखा है: 'वह नियन्त्रणहीन तथा अनियन्त्रित खुमारी से भरा तथा झगड़ालू था; वह नींद की लम्बी खुमारी से तभी जगता था जबकि फ्रांस के हित को खतरा होता या जब कभी किसी छोटे राज्य की कीमत पर अपने देश को मजबूत बनाने का अवसर देखता था।"

1. "Even God was satisfied with Ten Commandments, but Mr. Wilson insists on Fourteen."

2. "Lloyd George believes himself to be Nepoleon, but Wilson believes himself to be Christ.—Quoted in Albjerg and Albjerg, op. cit. p. 68.

3. "Clemenceau is terrible He hates the Germans like poison and would destroy the whole of them if he could."—Lloyd George, Qucted in Lansing. *The Big Four and Others of the Peace Conference*, p. 87.

ओरलैंडो :—इन तीन महापुरुषों के अतिरिक्त इटली के प्रधान मन्त्री विट्टोरियो ओरलैंडो (Vittorio Orlando) को भी "चार बड़ों" में गिना जाता था। ओरलैंडो कानून का बहुत बड़ा ज्ञाता, चतुर राजनेता और प्रभावशाली वक्ता था। लेकिन सम्मेलन की कार्यवाही पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सका। उसे अंग्रेजी का ज्ञान नहीं था और इसका कारण शांति परिषद् की कार्यवाही पर वह कोई विशेष असर नहीं डाल सका।

आयोग और समितियाँ :—इन चार बड़ों की 'सर्वोच शान्ति परिषद्' के अतिरिक्त सम्मेलन में अड़तालीस के लगभग छोटे-बड़े आयोग और उपसमितियाँ थीं। इनका काम था कि वे विविध समस्याओं—राष्ट्रसंघ का संगठन, हरजाने की रकम, अल्पसंख्यक जातियों की समस्या इत्यादि प्रश्नों पर विषद् रूप से विचार करके अपनी रिपोर्ट पेश करें। पर, इनकी रिपोर्टों पर अन्तिम निर्णय देने का अधिकार सर्वोच शांति-परिषद् को ही था। सम्मेलन का काम केवल इसी निर्णय का अनुमोदन करना था।

गुप्त सन्धियाँ और सम्मेलन की कठिनाइयाँ :—इस प्रकार सैद्धान्तिक मतभेद के कटु वातावरण में पेरिस का शांति-सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन के सामने सबसे बड़ी कठिनाई विल्सन के अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शवाद और यूरोप के विभिन्न विजेता राष्ट्रों की राष्ट्रीय सुरक्षा को तात्कालिक आवश्यकता के बीच एक मध्यम मार्ग खोजने की थी।[1] मित्रराष्ट्रों की युद्ध-कालीन गुप्त सन्धियों[2] के कारण यह कठिनाई और भी बढ़ गयी थी। इन सन्धियों के द्वारा विभिन्न राज्यों ने एक दूसरे को यह आश्वासन दिया था कि अन्तिम समझौते के समय वे एक दूसरे की साम्राज्य लिप्सा को तृप्त होने में सहायता प्रदान करेंगे। प्रथम विश्व-युद्ध उदार सिद्धान्तों को सामने रख कर लड़ा गया था। युद्ध के समय समानता, स्वतंत्रता, लोकतन्त्रवाद के नारे बुलन्द किये गये थे, पर युद्ध के बाद विजय के मद में चूर होकर मित्रराष्ट्र इन सारे सिद्धान्तों को भूल गये। वे अब चिन्ता में थे कि पराजित शत्रुओं से किस प्रकार अधिक से अधिक हरजाना वसूल किया जाय और किस प्रकार उनके भग्नप्राय सम्राज्य को आपस में बाँट

1. "Almost inevitably conflict arose among the four statesmen when the time came for the various personal and national programmes, to be presented for the fulfilment, for the abstract Fourteen points to be transformed into definite treaty provisions. In the latter case, the very elasticity and vagueness which had made it easy for the powers to accept the points in principle made it likewise easy for differences in interpretation to arise when they came to be examined from the conflicting nationalistic points of view."—Lee Benns, op. cit., p. 112.

2. इस तरह की लगभग सात **गुप्त संधियाँ** हुई थीं जिसका विवरण इस प्रकार है :

१. मार्च, १९१५ में फ्रांस, ब्रिटेन और रूस के बीच तुर्की साम्राज्य के बँटवारे के लिए गुप्त सन्धि।

२. अप्रिल, १९१५ में इटली को प्रलोभन देकर युद्ध में सम्मिलित करने के लिए इटली, फ्रांस, ब्रिटेन तथा रूस के बीच गुप्त सन्धि।

३. अगस्त, १९१६ में रूमानिया तथा मित्रराष्ट्रों की गुप्त सन्धि।

४. मई, १९१६ का तुर्की साम्राज्य के बँटवारे के लिए फ्रांस और ब्रिटेन में साइक्स पीको समझौता।

५. अप्रिल, १९१७ में इटली को तुर्की साम्राज्य के लूट में हिस्सा देने के लिए ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के बीच गुप्त सन्धि।

६. फरवरी, १९१९ मे चीन के शातुंग प्रदेश जापान को देने के लिए ब्रिटेन और जापान में गुप्त सन्धि।

७. मार्च, १९१७ में फ्रांस और रूस के बीच जर्मनी और आस्ट्रिया के कुछ प्रदेश के लिए गुप्त संधि।

लिया जाय। कहने को तो अब भी सारे फैसलों का आधार राष्ट्रपति विल्सन द्वारा प्रतिपादित चौदह सूत्र था, पर वास्तव में विल्सन के सूत्र केवल आदर्शमात्र ही थे। क्रिया में उन्हें कोई महत्त्व नहीं दिया गया। विश्व-युद्ध के समय किये गये गुप्त सन्धियाँ विल्सन के उदार सिद्धांतों के प्रतिकूल और विरोधी थे। ब्रिटेन और फ्रांस गुप्त आश्वासनो को पूरा करने के लिए विवश थे। उन्हें विल्सन के आदर्शवादी सूत्रों की कोई परवाह नहीं थी।

लेकिन गुप्त सन्धियों को कार्यान्वित करने में कठिनाइयाँ भी कम नही थीं। नवम्बर, १६१७ में समाजवादी क्रान्ति के वाद सोवियत रूस की सरकार ने इन सन्धियो को प्रकाशित करके साम्राज्यवादियों युद्ध के वास्तविक उद्देश्यों का भंडाफोड़ कर दिया। इस कारण मित्र राष्ट्र वड़ी पेशोपेश में पड़ गये। इसके अतिरिक्त इसकी सबसे वड़ी कठिनाई यह थी कि इन सन्धियों में संयुक्त राज्य अमेरिका सम्मिलित नहीं था। अतएव इनको पूरा करने का दायित्व उस पर नहीं था लेकिन अन्तिम समझौते में अमेरिका के विचारों की अवहेलना भी नही की जा सकती थी। अमेरिका के राष्ट्रपति ने स्पष्ट शब्दों में इन गुप्त सन्धियों का विरोध किया था क्योंकि यदि इन सन्धियों को कार्यान्वित किया जाता तो राष्ट्रीयता और आत्मनिर्माण के सिद्धान्तों का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। गुप्त संधियो के साथ एक और कठिनाई उपस्थित हो गयी थी कि समाजवादी क्रान्ति के उपरान्त सोवियत सरकार ने स्वेच्छा से इन सन्धियों से अपने को अलग कर लिया था। अतएव अब यह प्रश्न था कि उन प्रदेशो, जो युद्धों के बाद गुप्त संधियो के अनुसार रूस को मिलने वाले थे, का क्या होगा।

परन्तु इन कठिनाइयों के बावजूद शान्ति समझौते में इन सन्धियो को स्थान दिया गया। सम्मेलन में जब भी विल्सन के सिद्धान्त और इन सन्धियों में टक्कर हुई तो उस समय इन सन्धियों को ही प्रथम स्थान मिला। पेरिस की शान्ति-सन्धियो पर इन सन्धियो का अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

वातावरणः—पेरिस का वातावरण सम्मेलन के लिए दूसरी कठिनाई उपस्थित कर रहा था। विजयी राष्ट्रों में प्रतिशोध की भावना चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी और वे पराजित राष्ट्रों को सदा-सर्वदा के लिए कुचल देना चाहते थे। जर्मनी और उसके साथी राज्य हारे हैं और हम विजयी हैं, यह बात हमेशा उनके दिमाग में बनी रहती थी और इस स्थिति से वे पूरा लाभ उठाना चाहते थे। स्थायी शान्ति के लिए ऐसी मनोवृत्ति या इस प्रकार का वातावरण उपयुक्त नहीं होता।[1]

जैसा कि स्पष्ट है, शांति सम्मेलन में दो विचारधाराओं में संघर्ष था। एक चाहता था कि ऐसा निष्पक्ष न्याय हो जिसमें विजित देशों की भावनाओं पर भी विचार किया जाय। दूसरा पक्ष चाहता था—जैसा कि प्रायः शान्ति सम्मेलनो में हुआ करता है—कि शक्ति-सन्तुलन

1. "Another influence that suffused the atmosphere of Paris in 1919 was a triumphant bitterness.........Four year of planned carnage that is war had generated unbounded anger and unlimited averice. Germany should be made to pay. The last casualty of world war I was idealism; the first heir was cynicism. The delegates who assembled at Paris convened to lick the blood of their kill."—Albjerg and Albjerg, op. cit., p. 71.

बना रहे, पराजित देश पुनः शान्ति भंग न कर सकें तथा विजित राष्ट्रों को प्रादेशिक और आर्थिक लाभ हो। अतः शान्ति-सम्मेलन का काम बड़े अशान्त और संघर्षपूर्ण वातावरण में हुआ।[1] कई बार "चार बड़ों" में तीव्र मतभेद के कारण सन्धिवार्ता भंग होने की नौबत में आ गयी। विजितों के साथ विल्सन नरम रुख का अवलम्बन करना चाहता था। इसलिए फ्रांस के समाचार-पत्रों में उसकी कटु आलोचना होने लगी : उस पर व्यक्तिगत आक्षेप भी किये गये। इन आलोचनाओं और आक्षेपों के कारण एक बार तो स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी कि राष्ट्रपति विल्सन ने अमेरिका लौट जाने का निर्णय कर लिया। इटली का प्रधान मन्त्री ओरलैंडो फ्यूम के प्रश्न पर रुष्ट होकर अपने साथियों सहित सम्मेलन से हट गया और रोम चला गया। बाद में तीन राष्ट्रों के निमंत्रण पर वह फिर वापस आया। जापानी प्रतिनिधिमंडल ने भी सम्मेलन का बहिष्कार करने के धमकी दिये। पर मनमुटाव के इस वातावरण में भी सम्मेलन ने किसी तरह अपना काम पूरा किया। सम्मेलन ने अपने अड़तालीस आयोगों द्वारा लगभग सोलह सौ बैठकें करके जर्मनी के साथ एक सन्धि का प्रारूप तैयार किया जिसको विर्साय की सन्धि कहते हैं।

वर्साय की सन्धि (Treaty of Versailles)

सन्धि पर हस्ताक्षर—पेरिस शान्ति-सम्मेलन में अनेकानेक सन्धियों एवं समझौताओं का प्रारूप तैयार किया गया और उनपर हस्ताक्षर किये गये; लेकिन इन सभी सन्धियों में जर्मनी के साथ जो वर्साय की सन्धि हुई वह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है और सभी सन्धियों से अधिक प्रमुख है। चार महीने के अनवरत परिश्रम के बाद इस सन्धि का प्रारूप तैयार हो सका था। दो सौ तीस पृष्ठों में छपा हुआ यह सन्धि पन्द्रह भागों में विभक्त थी और इसमें ४४० धाराएँ थीं। ६ मई, १६१९ को यह सम्मेलन के सम्मुख पेश हुआ और स्वीकृत हो गया। ३० अप्रिल को ही विदेश मंत्री काउन्ट फॉन ब्राकडौर्फ रान्टाज़ु के नेतृत्व में जर्मन-प्रतिनिधिमंडल वर्साय पहुँच चुका था। प्रतिनिधियों को ट्रायनन पैलेस होटल में ठहराया गया। मित्रराष्ट्रों के अफसर उनकी सुरक्षा की देखभाल कर रहे थे। होटल को कांटेदार तारों से घेर दिया गया था और जर्मन-प्रतिनिधियों को मनाही कर दी गयी थी कि वे मित्रराष्ट्रों के किसी भी प्रतिनिधि या किसी पत्रकार से किसी प्रकार का सम्पर्क न रखें। ७ मई, १६१६ को क्लिमेंशो ने अन्य प्रतिनिधिमंडलों के समक्ष, ट्रायनन होटल में, जर्मन प्रतिनिधिमंडल के सम्मुख संधि का प्रारूप प्रस्तुत किया। इस पर विचार-विमर्श करने के लिए उन्हें केवल दो सप्ताह का समय दिया गया।

जिस समय क्लिमेंशो ने जर्मन विदेश मंत्री के सामने सन्धि का मसविदा प्रस्तुत किया उस समय होटल के कटु वातावरण को देखकर ब्रोकडोर्फ रान्टाज़ु को चुप नहीं रहा गया। उसने कहा है कि जर्मनी यद्यपि एक पराजित देश है और यह परस्त हो चुका है, तोभी युद्ध की सारी जिम्मेवारी उसी पर लादना न्यायसंगत नहीं है। पर जर्मनी की बात सुनता ही कौन था। जर्मनी में सन्धि के मसविदे पर काफी बहस हुई। सभी जर्मनों ने सन्धि की शर्तों का घोर विरोध किया। इसपर लायड जार्ज ने सिंह-गर्जना करते हुए कहा :

1. Leo Benns, op. cit., p. 112.

"जर्मन लोग कहते हैं कि वे सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जर्मन समाचार-पत्र कहते है कि वे सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जर्मनी के राजनीतिज्ञ भी यही बात कहते हैं। लेकिन हमलोग कहते हैं: महानुभावो ! आपको इसपर हस्ताक्षर करना ही है। अगर आप वर्साय में ऐसा नहीं करते हैं तो आपको बर्लिन में करना ही होगा।"

संक्षेप में विजयी राष्ट्र विजित राष्ट्र पर अपनी शर्तें जबरदस्ती लाद सकते थे। वर्साय की सन्धि निश्चय ही एक आरोपित सन्धि होने जा रही थी।

इस हालत में जर्मनी को किसी तरह सन्धि पर हस्ताक्षर करना ही था। जर्मन राजनीतिज्ञों ने गम्भीरता के साथ सन्धि के प्रारूप पर विचार किया और छब्बीस दिनों के बाद अपनी तरफ से साठ हजार शब्दों का एक विरोधी प्रस्ताव प्रस्तुत किया। जर्मनी ने इस बात की शिकायत की थी कि उसने जिन शर्तों पर आत्मसमर्पण किया था प्रस्तावित सन्धि में उन सिद्धान्तों का उल्लंघन हुआ है। उनका कहना था कि जर्मनी की नयी सरकार पूर्ण रूप से प्रजातान्त्रिक है और राष्ट्रसंघ की सदस्यता के लिए इच्छुक है। निरस्त्रीकरण की शर्त केवल जर्मनी पर ही नहीं, अपितु समस्त राज्यों पर लागू की जानी चाहिए। विश्वयुद्ध के लिए जर्मनी को एकमात्र जिम्मेदार ठहराना गलत है। जर्मन प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि सन्धि की सभी शर्तों को मानना असम्भव है। उनका कहना था कि सन्धि की शर्तें विराम सन्धि की शर्तों से बिल्कुल विपरीत हैं। एक बड़े राष्ट्र को कुचलकर तथा उसे गुलाम बनाकर स्थायी शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती है।

मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी के प्रस्तावों पर विचार किया और कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन के बाद जर्मनी को पाँच दिनों के भीतर ही संशोधित सन्धि पर हस्ताक्षर करने को कहा गया। इस बार जर्मनी को यह अवसर नहीं दिया गया कि वह सन्धि के मसविदे के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संशोधन या निवेदन प्रस्तुत कर सके। मित्रराष्ट्रों ने स्पष्ट कर दिया था कि हस्ताक्षर नहीं करने का अर्थ जर्मनी पर पुनः आक्रमण होगा। सम्पूर्ण जर्मनी में रोष का वातावरण छा गया। शिडेमान-सरकार ने सन्धि को अस्वीकार करके त्यागपत्र दे दिया। अन्त में एक नयी सरकार, जिसमें गुस्टावजौर प्रधान मंत्री तथा मुलर विदेश मंत्री था, ने सन्धि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार कर लिया। अभी तक वर्साय के राजप्रासाद के शीशमहल में जहाँ फ्रांस को हराने के बाद १८७१ में प्रशा के राजा को जर्मन सम्राट् घोषित किया गया था, शान्ति-समझौता सम्बन्धी कोई कार्यवाही नहीं की गयी थी। पर पेरिस के नाटक का अन्तिम दृश्य इसी जगह खेला गया।[1] २८ जून, १९१९ को (पाँच वर्ष पूर्व ठीक इसी दिन सराजेवो-हत्या-काण्ड हुआ था) जर्मन-प्रतिनिधि-मंडल ने सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए शीशमहल में प्रवेश किया और सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिया। इसके बाद चीन को छोड़कर अन्य राष्ट्रों ने भी सन्धि पर अपने-अपने हस्ताक्षर कर दिये। हस्ताक्षर करने के बाद जर्मन प्रतिनिधि ने कहा: "हमारे प्रति फैलाई गयी उग्र घृणा की भावना से हम आज सुपरिचित हैं। मेरा देश दबाव के कारण आत्मसमर्पण कर रहा है; किन्तु जर्मनी यह कभी नहीं भूलेगा कि यह अन्यायपूर्ण संधि है।" हस्ताक्षर करने के बाद जब जर्मनी प्रतिनिधि-मंडल शीशमहल से बाहर निकला तो पेरिस की भीड़ ने उनपर ईंटें फेंकी।

1. "*A fortiori* if Paris was a mistake, the final signing of the Germ Treaty at Versailles was a brutal and miserable blunder." Chambers, H — Bayley, op. cit. p. 111.

दूसरे दिन जर्मनी के एक समाचारपत्र में 'कहीं हम भूल न जायें, शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ। इसमें कहा गया था कि "संसार के राष्ट्रों की मंडली में जर्मनी अपना उपर्युक्त स्थान प्राप्त करने का प्रयास करेगा और तब १६१६ का बदला।" इन्हीं शब्दों में द्वितीय महायुद्ध के बीज थे।[1]

अब हम इस सन्धि के महत्त्वपूर्ण शर्त्तों और उसके द्वारा स्थापित व्यवस्थाओं पर विचार करेंगे।

राष्ट्रसंघ—राष्ट्रसंघ (League of Nations) का निर्माण एवं संगठन वर्साय-सन्धि का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग था। सन्धि के प्रथम भाग का सम्बन्ध इसी से है। यह मूलतः राष्ट्रपति विल्सन का सृजन था। उसका ख्याल था कि राष्ट्रसंघ को शान्ति-सम्मेलन की सबसे महान् कृति होनी चाहिए। लायड जार्ज ने लिखा है कि विल्सन शान्ति-सन्धियों के केवल उस भाग को, जिसमें राष्ट्रसंघ की व्यवस्था थी, सबसे अधिक महत्त्व देता था। इसके लिए वह कोई भी त्याग करने के लिए तयार था और अन्त में उसके कठिन प्रयास से ही राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ।

राष्ट्रसंघ के विधान को तैयार हो जाने के बाद प्रारम्भ में इस बात पर विवाद होता रहा कि राष्ट्रसंघ-सम्बन्धी धाराओं को वर्साय-सन्धि के अन्तर्गत स्थान दिया जाय या नहीं। विल्सन को छोड़कर मित्रराज्य के अन्य प्रतिनिधियों का यह विचार था कि राष्ट्रसंघ-सम्बन्धी बातों को वर्साय-संधि के अन्तर्गत रखना आवश्यक नहीं है। पर विल्सन का विचार कुछ दूसरा ही था। वह इस बात पर बहुत अधिक जोर देता रहा कि राष्ट्रसंघ के संविधान (Covenant) को सन्धि के अन्तर्गत रखा जाय। अन्ततः विल्सन की बात मान ली गयी और राष्ट्रसंघ के संविधान को

1. Albjerg and Albjerg, op. cit., p. 23.

वर्साय-सन्धि के अन्तर्गत ही रख दिया गया। वर्साय-सन्धि की प्रथम २६ धाराएँ राष्ट्रसंघ का संविधान ही है, जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाना तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को कायम रखना था। राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध में बाद में द्वितीय अध्याय में विशद रूप से विचार किया जायगा।

प्रादेशिक व्यवस्थाएँ

एल्सेस-लोरेन—वर्साय-सन्धि द्वारा प्रादेशिक परिवर्तन करके जर्मनी का अंग-भंग कर दिया गया। १८७१ में जर्मनी ने फ्रांस से एल्सेस लोरेन के प्रदेश छीन लिये थे। सब ने एक स्वर से इस बात को स्वीकार किया कि यह एक गलत काम हुआ था और इसका अन्त आवश्यक है। अतः सन्धि की शर्तों के द्वारा एल्सेस-लोरेन के प्रदेश फ्रांस को वापस दे दिये गये।

राइनलैंड—क्लिमैंशो इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। उन्नीसवी सदी में दो बार फ्रांस को जर्मनी द्वारा नीचा देखना पड़ा था। फ्रांस के भविष्य की सुरक्षा को ध्यान में रखकर क्लिमैंशो ने यह माँग की कि राइन नदी के पश्चिम के प्रदेश को जर्मनी से पृथक् करके एक ऐसे राज्य में परिवर्तित कर दिया जाय, जो अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से फ्रांस के प्रभाव में रहे। लायड जार्ज और विल्सन ने इस सुझाव का विरोध किया। लायड जार्ज का कहना था कि ऐसा करने से एक दूसरे एल्सेस लोरेन की समस्या उठ खड़ी हो जायगी। विल्सन का कहना था कि इस तरह की व्यवस्था से 'आत्मनिर्णय के सिद्धान्त' का उल्लंघन होगा। काफी विचार और बहस के बाद क्लिमैंशो राइन के सम्बन्ध में इस समझौते को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया कि कुछ निश्चित समय के लिए इस प्रदेश में मित्रराष्ट्र की सेनाएँ रखी जायँ ताकि जर्मनी इसका उपयोग अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने के लिए नहीं कर सके। राइनलैंड को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया—उत्तरी, मध्यवर्ती और दक्षिणी। यह तय हुआ कि मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ उत्तरी भाग पर पाँच साल तक, मध्यवर्ती भाग पर दस साल तक और दक्षिणी भाग पर पन्द्रह साल तक कब्जा किये रहें। इसके अतिरिक्त यह भी तय हुआ कि राइन नदी के दाहिने भाग के एकतीस मील चौड़े प्रदेश पर जर्मनी किसी भी प्रकार की किलाबन्दी नहीं करे और यदि
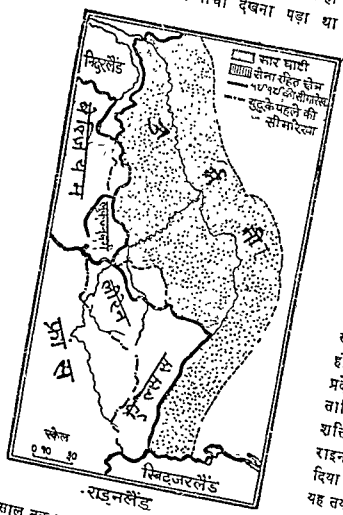
राइनलैंड

जर्मनी सन्धि की किसी शर्त का पालन नहीं करे तो मित्रराष्ट्रों के सैनिक कब्जे की अवधि और अधिक बढ़ायी जा सके।

सार:—जब क्लिमेंशो को राइन के तटवर्ती प्रदेशों पर कब्जा करने का मौका नहीं मिला तो उसने सार (Saar) के भू-भाग पर दावा किया। सार का भू-भाग, जिसका क्षेत्रफल लगभग सात सौ तेईस वर्गमील है, बहुत ही महत्त्वपूर्ण इलाका था और यह कोयले की खानों से भरा पड़ा था। फ्रांस का कहना था कि जर्मनी ने युद्ध के समय उसके सम्पूर्ण कोयले की खानों को वर्बाद कर दिया। अतः, इस महत्त्वपूर्ण प्रदेश पर उसका आधिपत्य होना चाहिए। विल्सन और लायड जार्ज सार की खानों से सम्बन्धित फ्रांसीसी मांग की पूर्ति करना चाहते थे;, लेकिन फ्रांस के साथ उनके राजनीतिक अनुबन्धन का उन्होंने विरोध किया, क्योंकि सार की प्रायः सम्पूर्ण जनता जर्मन थी। अन्त में सार के प्रश्न पर भी एक समझौता हो गया। सार प्रदेश की शासन-व्यवस्था की जिम्मेवारी राष्ट्रसंघ सौंप दी गयी और उसकी खानो को फ्रांस के जिम्मे कर दिया गया। शासन का काम एक आयोग को सौपा गया जिसमें फ्रांसीसियों की प्रधानता रही। यह व्यवस्था की गयी कि पन्द्रह साल के बाद लोकमत द्वारा यह निश्चय किया जाय कि सार पर किसका कब्जा रहे। यदि सार को जनता जर्मनी के साथ रहने का निर्णय करे तो जर्मनी को वहाँ की खानें फ्रांस से खरीदने पड़ेंगी। इसके मूल्य का निर्धारण एक फ्रेंच, एक जर्मन तथा एक राष्ट्रसंघ के विशेषज्ञ द्वारा होगा। इस प्रकार वर्साय-सन्धि के द्वारा जर्मनी का एक बहुत बड़ा भू-भाग फ्रांस को दिया गया।

वेल्जियम और डेनमार्क की प्राप्ति:—यूपेन, मार्सनेट तथा मल्मेडी के प्रदेश में, जो जर्मनी के अधीन थे, लोकमत लिया गया और इसके बाद इन प्रदेशों को बेल्जियम को सुपुर्द कर दिया गया। श्लेसविग का प्रश्न भी लोकमत के द्वारा ही तय किया गया। १८६४ में बिस्मार्क ने इस प्रदेश को डेनमार्क से जीत लिया था। परन्तु यहाँ के अधिकांश निवासी डेनमार्क के साथ मिलना चाहते थे। अतः उत्तरी श्लेसविग को, जहाँ के लोग डेनमार्क के साथ मिलना चाहते थे, वर्साय की सन्धि के द्वारा डेनमार्क को दे दिया गया।

जर्मनी की पूर्वी सीमा:—जर्मनी को सबसे अधिक नुकसान पूर्वी सीमा में उठाना पड़ा; क्योंकि इस तरफ के अधिकांश भू-भाग को जर्मनी से छीनकर पोलैंड को दे दिया गया। युद्ध के समय ही मित्रराष्ट्रों ने वादा किया था कि युद्ध समाप्ति के बाद एक स्वतन्त्र पोलैंड का सृजन किया जायगा। विल्सन के चौदह सूत्रों में भी इस बात की चर्चा की गयी थी। पर इस बात पर मतैक्य नही था कि पोलैंड का सृजन और उसकी सीमा का निर्धारण किस प्रकार हो। पोलैंड की बड़ी-बड़ी माँगे थीं और क्लिमेंशो उनका समर्थन करता था; लेकिन विल्सन और लायड जार्ज ने यहाँ भी उसका विरोध किया। अन्त में, इस प्रश्न पर भी एक समझौता हो गया। इसके फलस्वरूप एक ऐसे विशाल पोलैंड का निर्माण किया गया जिसका संसर्ग समुद्र तट से हो। इसके लिए डान्जिग के शहर की, जो तेरहवी सदी में जर्मनी द्वारा बसाया गया था और अभी भी जिसकी अधिकांश आबादी जर्मन ही थी, जर्मनी से छीन लिया गया और उसको एक 'स्वतन्त्र नगर' के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। डान्जिग को राष्ट्रसंघ की

संरक्षता में रख दिया गया; लेकिन प्रत्येक दृष्टि से यह पोलैंड के प्रभाव क्षेत्र में ही रहा। समुद्र तक अप्रतिहत प्रवेश रखने के लिए डान्जिग का बन्दरगाह पोलैंड के लिए आवश्यक था। पर इसको जर्मनी से छीन लेना 'स्वशासन के सिद्धान्त' का भयंकर उपहास था और १६३६ में द्वितीय महायुद्ध के छिड़ने तक यह संकट का एक महान् कारण बना रहा।

पोलैंड को डान्जिग तक पहुँचने के लिए एक गलियारे की आवश्यकता थी। जर्मन के बीचोबीच इस तरह का एक गलियारा निकालकर पोलैंड को दे दिया गया। इसके कारण पूर्वी प्रशा शेष जर्मनी से बिल्कुल अलग पड़ गया। वर्साय-सन्धि की यह एक भयंकर कमजोरी थी। जर्मनी-जैसे वीर और प्रतापी देश के शरीर को दो टुकड़ों में विभक्त कर देना एक बहुत बड़ा अत्याचार था। पर विजय के मद में मित्रराज्यों ने इस बात पर जरा ध्यान नहीं दिया कि जर्मनी का इस प्रकार अंग-भंग करके वे भविष्य के लिए खतरनाक काँटा बो रहे हैं।

इनके अतिरिक्त साइलेशिया का छोटा हिस्सा चेकोस्लोवाकिया को, पोसेन और पश्चिमी प्रशा पोलैंड को, मेमल नामक बाल्टिक-तटवर्ती बन्दरगाह मित्रराज्यों को प्राप्त हुआ। पीछे चलकर इस वन्दरगाह को १६२३ में लिथुएनिया को दे दिया गया।

यूरोप में जर्मनी की प्रादेशिक क्षति

प्रदेश	वर्गमील
(क) जो पूर्णतया दूसरे देश को दे दिये गये :—	
(१) पोलैण्ड	१७,८०६
(२) फ्रांस	५,६०८
(३) डेनमार्क	१,५३८
(४) बेल्जियम	३८४
(५) चेकोस्लोवाकिया	१००
	२५,४३६
(ख) जो राष्ट्रसंघ के प्रशासन के अन्तर्गत रखे गये :—	
(६) मेमल	९१०
(७) सार	७३०
(८) डान्जिग	७२९
	२,३६६
कुल योग	२७,८०५

जर्मन उपनिवेश :—जर्मनी के अंग-भंग-करने के बाद मित्रराज्य का ध्यान संसार में फैले हुए जर्मन उपनिवेशों की ओर आकृष्ट हुआ। पेरिस सम्मेलन की बैठक के पूर्व ही यह बात निश्चित थी कि जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य उसको नहीं लौटाये जायँगे। सम्मेलन के सामने जब यह प्रश्न आया तो यूरोप के महान् राष्ट्रों ने इन उपनिवेशों को अपने-अपने साम्राज्य में मिला लेने का समर्थन किया। विल्सन ने यहाँ भी यूरोपीय राष्ट्रों का

विरोध किया। विलसन चाहता था कि इन उपदिवेशो पर राष्ट्रसंघ की संरक्षता कायम हो। इस पद्धति को संरक्षण-प्रणाली (mandate-system) कहा जाता है। अफ्रिका में जर्मनी का जो साम्राज्य था, उसके निवासियों की संख्या सवा करोड़ के लगभग थी। विलसन के सिद्धान्तों के अनुसार इन उपनिवेशों का भाग्य-निर्णय वहाँ के निवासियों की सम्मति के अनुसार होना चाहिए था। पर इन देशों को संरक्षण पद्धति के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न देशों को दे दिया गया। जर्मन-दक्षिण-पश्चिमी अफ्रिका ब्रिटिश दक्षिणी संघ का अंग हो गया। जर्मन-पूर्वी अफ्रिका

अफ्रिका में जर्मनी की औपनिवेशिक क्षति

भी ब्रिटेन को हाथ लगा। फ्रांस ने कैमरून तथा तोगोलैंड पर अधिकार कर लिया। दक्षिण प्रशांत द्वीप आस्ट्रेलिया को, सेमोआ न्यूजीलैंड को और नाउरू के द्वीप ब्रिटेन को दे दिये गये। कहने को तो इन प्रदेशों पर राष्ट्रसंघ की संरक्षता ही कायम रही; लेकिन वास्तव में प्रत्येक व्यावहारिक दृष्टिकोण से ये प्रदेश विविध साम्राज्यवादी राष्ट्रों के ही अधीन रहे। संरक्षण-पद्धति साम्राज्यवाद के नग्न रूप को छिपाने के लिए एक अच्छा आवरण था।[1]

प्रशान्त महासागर में जर्मनी के जो उपनिवेश थे उनको जापान के अधिकार में दे दिया गया। इस श्रेणी में बहुत-से ऐसे भू-भाग थे जिन्हें चीन को वापस मिलना चाहिए था। क्याऊ चाऊ और शाटुंग के प्रदेश वास्तविक रूप से चीन के अंग थे और वे उसी को मिलना चाहिए था लेकिन जापान ने इ का विरोध किया और उसने शान्ति-सम्मेलन में भाग नही लेने की धमकी भी दी इस पर इन प्रदेशों को मित्रराष्ट्रों ने जापान को सुपुर्द कर दिया।

1. Schuman, *International Politics,* (4th. Ed.) p. 348.

इस प्रकार प्रादेशिक परिवर्तन करके वर्साय-सन्धि ने जर्मनी का अंग-भंग कर दिया। स्वयं जर्मनी के अंग-भंग से उसके पन्द्रह प्रति सैकड़े प्रदेश, जिसमें जर्मनी की कुल आवादी का दसवाँ हिस्सा निवास करता था, उसके हाथ से निकल गये। इसके अतिरिक्त उसको अपने सम्पूर्ण उपनिवेशों से, जो अफ्रिका और पूर्वी एशिया में स्थित थे, हाथ धोना पड़ा। पोलैंड के लिए एक गलियारे का इन्तजाम करना, राइनलैंड पर मित्रराष्ट्रों का आधिपत्य रखना, सार पर राष्ट्रसंघ तथा फ्रांस का नियन्त्रण रखना, जर्मनी के अन्य प्रदेशों को काँट-छाँट कर पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया को दे देना इत्यादि कार्यों को केवल जुर्म ही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ये सारी व्यवस्थाएँ राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत थी। एक विद्वान् लेखक का कहना है कि वर्साय-सन्धि के द्वारा द्वितीय महायुद्ध का बीजारोपण हुआ। वास्तव में यह उक्ति अक्षरशः सत्य है। १९३९ में यूरोप में जो एक बार फिर युद्ध की अग्नि धधक उठी, उसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी का पुनर्निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के सिद्धांत की सर्वथा उपेक्षा की गयी थी।[1]

सैनिक व्यवस्था

जर्मनी का निरस्त्रीकरण—विजयी होने के कारण मित्रराष्ट्रों के मन में इस इच्छा का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था कि वे अपने शत्रुओं को यथासम्भव दीर्घकाल तक के लिए सैनिक दृष्टि से पंगु बना दें। जर्मनी के पड़ोसी राष्ट्रों की सुरक्षा को भी ध्यान में रखकर उसका निरस्त्रीकरण आवश्यक था। विराम संधि के समय जर्मनी ने अपने अधिकांश जहाजी बेड़े और भारी तोपखाने मित्रराष्ट्रों को समर्पित कर दिये थे। अब वर्साय-सन्धि के द्वारा उसकी सैनिक शक्ति पर स्थायी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जर्मन सेना में सैनिक की संख्या बारह साल के लिए केवल एक लाख कर दी गयी। जर्मन-प्रधान सैनिक कार्यालय उठा दिया गया। अनिवार्य सैनिक सेवा को निषेध कर दिया गया। अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य युद्धोपयोगी सामग्रियों के उत्पादन को अत्यन्त सीमित कर दिया गया। उसकी नौ सेना में केवल छः युद्ध-पोत और इतने ही गश्ती जहाज और विध्वंसक रह सकते थे। पनडुब्बी जहाज का बनाना बन्द कर दिया गया। राइन नदी के किनारे ३१ मील तक के भूभाग का असैनिककरण कर दिया गया। बाल्टिक सागर पर किलेबन्दी करना भी बन्द कर दिया गया और हैलीगोलैंड का किला तोड़ दिया गया। निरस्त्रीकरण के इन उपबन्धों को पालन करवाने और उनके निरीक्षण के लिए जर्मनी के खर्च से मित्रराष्ट्रों ने अपना एक सैनिक आयोग स्थापित किया। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सैनिक दृष्टि से जर्मनी को एकदम पंगु बना देने के लिए मित्र-राष्ट्रों ने कोई भी कसर नहीं उठा रखी। ई० एच० कार का कहना है कि जर्मनी का "जिस कठोरतापूर्वक और सम्पूर्णरूपेण निरस्त्रीकरण किया गया उतना और किसी देश का कभी नहीं किया गया था। इसका उल्लेख लिखित रूप में प्राप्त आधुनिक इतिहास में नहीं मिलता।"[2] इसमें सबसे दुःख की यह बात थी कि यह निरस्त्रीकरण केवल एकतरफा था। जर्मनी ऐसे देश के लिए इस बात को सहना असंभव था। इसलिए उसने सन्धि की इस शर्त का घोर विरोध

1. A. J. P. Taylor, *Origin of the Second World War*, p. 18.
2. E. H. Carr, *International Relations Between the Two World Wars*, p. 49.

किया था। पर परास्त जर्मनी के लिए यह बुद्धिमता थी कि वह आँख मीचकर वर्साय-सन्धि के कड़ुवे घूट को चुपचाप पी जाय।

आर्थिक व्यवस्था

क्षतिपूर्ति—विजेता को अपने पराजित प्रतिपक्षी से युद्ध का समस्त व्यय वसूल करने का अधिकार प्राचीन युग से ही माना जाता आ रहा है, लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के समय अनेक देशों में यह मत व्यक्त किया गया था कि इस बार पराजित शत्रु से युद्ध की क्षतिपूर्ति (reparation) नहीं ली जाय। युद्ध के विशाल रूप ने शुरू में ही स्पष्ट कर दिया कि इस बार क्षतिपूर्ति के दावे को पूरा करना किसी भी राष्ट्र की शक्ति के बाहर है। इसलिए मित्रराष्ट्रों ने विराम-सन्धि के समय सिर्फ यह दावा किया कि स्थल, जल या आकाश से जर्मनी के आक्रमण के कारण मित्रराष्ट्रों के नागरिकों और उसकी सम्पत्ति को जो क्षति पहुँची है उसकी पूर्ति की जाय। लेकिन पेरिस-सम्मेलन में ब्रिटेन और फ्रांस के प्रतिनिधि मंडलों ने यह माँग की कि जर्मनी युद्ध के सम्पूर्ण लागत की अदायगी करे। विल्सन ने इस माँग का विरोध किया। अन्त में, इस प्रश्न पर एक समझौता हो गया। यह तय हुआ कि जर्मनी 'मित्रराष्ट्रों के नागरिकों के धन-जन की जो भी हानि हुई है उसकी क्षतिपूर्ति करे।' जर्मनी को संधि की २३१ वी धारा के अनुसार सारे नुकसान और क्षति के लिए उत्तरदायी ठहराया गया।[1] हरजाने की वास्तविक रकम क्या हो, इस प्रश्न पर भी झगड़ा हुए बिना नहीं रह सका। अन्त में यह तय हुआ कि मई, १६२१ तक जर्मनी पन्द्रह अरब रुपया प्रदान कर दे और बाद में एक अरब पचास करोड़ रुपया हर साल देता रहे। इस रकम से पहले मित्रराष्ट्रों की उन सेनाओं का खर्च चलाया जाय जो जर्मनी में ठहरी हुई थी। बाकी रकम की क्षतिपूर्ति कोष में मिनहा किया जाय। जर्मनी से कहा गया कि वह पाँच सैकड़े के हिसाब से बेल्जियम की उतनी सारी रकम को शीघ्र लौटा दे जितना बेल्जियम ने युद्ध काल में मित्रराष्ट्रों से ऋण लिया था। सन्धि के द्वारा एक क्षतिपूर्ति-आयोग की स्थापना की गयी। क्षतिपूर्ति की रकम निश्चित करने का काम इसी आयोग पर छोड़ दिया गया।

हरजाने की यह मात्रा कितनी अधिक थी, इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। पर मित्रराष्ट्र इतने से सन्तुष्ट नहीं हुए। जर्मनी से यह भी कहा गया कि उसके पास ४४ हजार ८ सौ मन से अधिक वजन के जितने व्यापारिक जहाज हैं उन्हें वह मित्रराष्ट्रों को सौंप दे और पाँच वर्षों तक मित्रराष्ट्रों के लिए प्रतिवर्ष ७६ लाख मन का जहाज बनाता रहे। जर्मनी के जंगी जहाज तथा पण्डुब्बियों पर मित्रराष्ट्रों का विराम सन्धि के समय आधिपत्य हो गया था। अब व्यापारिक जहाज भी उससे छीन लिये गये। युद्ध के पूर्व ब्रिटेन के बाद जर्मनी ही संसार की द्वितीय सामुद्रिक शक्ति था। लेकिन, अब जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति बिल्कुल नष्ट हो गयी। जर्मनी नौ-सेना का सबसे बड़ा केन्द्र कील नहर था। इस पर भी मित्रराष्ट्रों ने परोक्ष रूप से अपना अधिकार कायम कर लिया।

1. "The *Allied and Associated Governments affirm and Germany accepts the* responsibility of Germany and her Allies for causing all the losses and damages to which the Allied and Associated Governments and their nationals have been subjected as a consequence of the war imposed upon them by the aggression of Germany and her Allies" Article 231 of the Treaty of Versailles.

जिन क्षेत्रों पर जर्मन-आक्रमण हुआ था उन क्षेत्रों के पुनर्निर्माण के लिए जर्मनी को आर्थिक साधन लगाने को कहा गया। यद्यपि कोयले और लोहे की खानो के सभी मुख्य-मुख्य प्रदेश—सार और एलसस-लोरेन जर्मनी के हाथ से ले लिए गये थे, फिर भी जर्मनी से दस वर्षों तक कोयला वसूलने की व्यवस्था की गयी। सन्धि के द्वारा यह तय हुआ कि जर्मनी सत्तर लाख टन कोयला प्रतिवर्ष फ्रांस को, अस्सी लाख टन ब्रिटेन को और उतना ही हर साल वेल्जियम को दे। इसके अतिरिक्त जर्मनी से फ्रांस को कुछ महत्त्वपूर्ण रासायनिक पदार्थ भी देने को वादा कराया गया। १८७० में जर्मनी ने फ्रांस से जो झंडा और कलात्मक वस्तुएँ इत्यादि प्राप्त की थी उन्हें लौटाने के लिए कहा गया। लोमे-विश्वविद्यालय के कागजात और पाण्डु-लिपियाँ जो युद्ध में नष्ट कर दी गयी थी उनकी प्रतियाँ भी लौटाने को कहा गया।

अन्य व्यवस्थाएँ

युद्ध अपराध—वर्साय सन्धि की २३१ वी धारा के अनुसार जर्मनी को युद्ध के लिए एकमात्र जिम्मेवार ठहराया गया। इनका अर्थ यह भी था कि जर्मनी के नेता युद्ध-अपराधी है और उन्हें इस अपराध के लिए सजा मिलनी चाहिए। जर्मनी के सम्राट् विलियम कैजर को सार्वजनिक और अन्तर्राष्ट्रीय नियम एवं सन्धियों के विरुद्ध अपराध करने के लिए दोषी ठहराया गया। मित्रराष्ट्रों को यह अधिकार प्राप्त हुआ कि कैजर तथा उसके प्रमुख साथियों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने का मुकदमा चला सकें। मित्रराष्ट्रों ने एक अदालत की नियुक्ति की जिसको इन मुकदमों की जाँच का भार दिया गया। इस अदालत का काम ंड निश्चित करना था। सन्धि के लागू होने के तुरत वाद मित्र राष्ट्रों ने डच-सरकार से अनुरोध किया कि वह कैजर को उन्हें सौंप दे। परन्तु, हालैंड की सरकार ने 'राजनीतिक शरणार्थी' को वापस करने से इन्कार कर दिया।

सन्धि के अनुसार जर्मनी को वादा करना पड़ा कि मित्र राष्ट्रों ने जिन व्यक्तियो पर आरोप लगाया है उन व्यक्तियो को वह सैनिक न्यायालयों में मुकदमा चलाने के लिए सौंप देगा। इस शर्त के अनुसार १९२१ में छः अपराधियों पर मुकदमें चले और उन्हें कारावास की सजा दी गयी। केवल जर्मनी के युद्ध अपराधियो को ही सजा देना किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं था। मित्रराष्ट्रों के देश में ही बहुत से ऐसे व्यक्ति थे जिनपर उन्ही नियमों को भंग करने का दोषारोपण किया जा सकता था। पर उन्हें कोई सजा नही दी गयी। यदि मित्रराष्ट्रों की सरकारें भी इसी प्रकार के अपराध के लिए अपने देशवासियों पर मुकदमा चलाने के लिए तैयार हो जाती तो अन्तर्राष्ट्रीय नियम के इतिहास में एक नया अध्याय ही शुरू हो जाता।

अन्त में वर्साय-सन्धि में ही इस सन्धि को कार्यान्वित करने के लिए कुछ व्यवस्थाएँ की गयी थीं। राइन नदी से पश्चिम और जर्मनी के विशाल भू-भाग पर मित्रराष्ट्रों को सैनिक अड्डा स्थापित करने की सुविधा दी गयी थी। अगर जर्मनी ने सन्धि के विरूद्ध कोई काम किया तो उस पर फौजी अधिकार का समय अनिश्चित काल तक के लिए बढ़ाया जा सकता था।

जर्मनी पर सन्धि का प्रभाव—इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्साय-सन्धि की सभी शर्तें जर्मनी के लिए अपमानजनक थी, लेकिन जर्मनी इन्हें आँख मींचकर स्वीकार करने के लिए विवश था। सन्धि के फलस्वरूप जर्मनी को यूरोप में अपने भू-भाग के लगभग अठाईस हजार

वर्गमील से वंचित हो जाना पड़ा। आबादी में उसके साठ लाख व्यक्ति कम हो गये। कच्चे लोहे के भंडार का ६५ प्रतिशत, कोयले का ४५ प्रतिशत, कच्चे जस्ता का ७२ प्रतिशत, शीशे
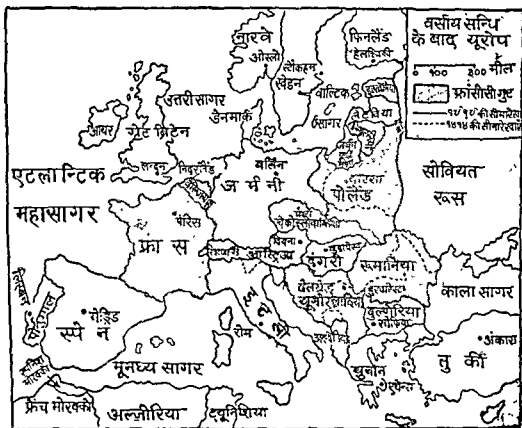
का ५७ प्रतिशत, कृषि उत्पादन का १२ से ७५ प्रतिशत और तैयार किये माल के लगभग १० प्रतिशत भाग से उसको हाथ धोना पड़ा।

समुद्र-पार अफ्रिका और एशिया में जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य थे। ये सभी उपनिवेश भी उसके हाथ से निकल गये। इन उपनिवेशों से जर्मनी को तरह-तरह के कच्चे माल प्राप्त होते थे। जर्मनी को इनसे भी वंचित हो जाना पड़ा।

युद्ध के पूर्व जर्मनी सैनिक दृष्टिकोण से एक महान् देश था, लेकिन वर्साय-सन्धि के कारण जर्मनी का सैनिक महत्त्व भी जाता रहा। उसकी सेना की संख्या में काफी कमी कर दी गयी और तरह-तरह की सीमाएँ निर्धारित कर दी गयीं। यही दशा जर्मन नौ-सेना की भी हुई, जिसका स्थान युद्ध के पूर्व संसार में द्वितीय था। जर्मनी के भू-भाग पर विदेशी सेनाएँ रखी गयीं। इनका खर्च जर्मनी को ही देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त जर्मनी में विविध अन्तर्राष्ट्रीय आयोग स्थित थे जो जर्मनी के राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक मामलों में बराबर हस्तक्षेप किया करते थे। इन सभी बातों के अतिरिक्त जर्मनी को क्षतिपूर्ति करना था जिसकी रकम निश्चित नहीं थी। क्षतिपूर्ति के लिए उसने कोरे चेक पर हस्ताक्षर कर दिये।[1] वास्तव में जर्मनी को सदा के लिए कुचल देना ही वर्साय-सन्धि का उद्देश्य था। जर्मनी पर सन्धि के प्रभाव का वर्णन करते हुए एक लेखक ने ठीक ही कहा है : "आर्थिक दृष्टि से पंगु, राजनीतिक

[1] Langsam; *World Since 1919*, p. 29.

दृष्टि से भग्न, सैनिक दृष्टि से पराजित, राष्ट्रीय दृष्टि से अपमानित, भौतिक दृष्टि से चूर्ण जर्मनी खेल से बाहर पीले व्यक्ति की तरह खड़ा था।"[1]

वर्साय-संधि का मूल्यांकन

विविध प्रतिक्रियाएँ :—पेरिस का शांति-सम्मेलन अत्यन्त आशापूर्ण वातावरण में प्रारंभ हुआ था, परन्तु उसका अन्त व्यापक नैराश्य में हुआ।[2] वर्साय सन्धि की शर्तों का कहीं भी स्वागत नही हुआ और उससे सबको निराशा ही हुई। सन्धि में फ्रांस के हितो पर सर्वाधिक ध्यान रखा गया था। परन्तु जब क्लिमेंशो ने अनुमोदन के लिए उसे फ्रांस के राष्ट्रीय सभा में प्रस्तुत किया तो उसके दोनो सदनों ने उस पर ब्रिटेन और अमेरिका के समक्ष कायरतापूर्वक अपने राष्ट्रीय हितो के बलिदान का दोष लगाया। लायड जार्ज पर अमरीकी शान्तिवाद के सामने कठोर न्याय का बलिदान करते तथा फ्रांस को प्रसन्न करने के लिए जर्मनी पर विनाशकारी सन्धि लादने का दोष लगाया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका की सिनेट ने तो वर्साय-सन्धि को नामंजूर ही नही किया, वरन् विल्सन को सर्वाधिक प्रिय वस्तु राष्ट्रसंघ का सदस्य भी अमेरिका को नहीं बनने दिया। छोटे-छोटे राज्यों की भी यही स्थिति थी। वास्तव में इस नयी व्यवस्था में अनेक त्रुटियाँ थीं और सन्धि के जन्मदाता और हस्ताक्षरकारी भी उससे अत्यन्त असन्तुष्ट थे। दक्षिण अफ्रिका के प्रधान मन्त्री जनरल स्मट्स ने कहा था कि मैंने सन्धि पर इसलिए हस्ताक्षर नहीं किया है कि मैं उसको ठीक मानता हूँ; वरन् "मैंने इस पर इसलिए हस्ताक्षर किया है कि मैं युद्ध की स्थिति का अन्त देखना चाहता हूँ।" उसके मतानुसार वर्साय-सन्धि द्वारा जो व्यवस्था हुई थी वह ऐसी थी जिसमें संशोधन की आवश्यकता पड़ेगी और क्षतिपूर्ति की रकमें भी इतनी भारी थी कि यूरोप के औद्योगिक पुनरुत्थान को गहरी चोट पहुँचाये बिना वे वसूली नही जा सकती थीं।[3] स्वयं राष्ट्रपति विल्सन ने स्वीकार किया था कि सम्मेलन

1. "Economically crippled, politically segregated, militarily humbled, nationally humiliated, physically exhausted, Germany stood like a pale person just out of the game." —Ibid. p. 34.

2. "Slosson, *Europe Since 1870*, p. 470.

3. "वर्साय की संधि पर कुछ महत्त्वपूर्ण विचार इस प्रकार व्यक्त किये गये थे :

   1. "I should have preferred a different peace"—Colonel House.

   2 "It is stern but just treaty"—Llovd George.

   3. "This is not peace. It is an armistice for twenty years."—Marshall Foch.

   4. "Do not expect us to be our own executioners"—Erzberger.

   5. "What hand would not wither that signed such a peace."—Schidemann.

   6. "The day has come when might and right—terribly divorced hither to have united to give peace to the peoples in travail."—Clemenceau.

   7. "The promise of the new life, the victory of great human ideals are not written in this treaty. The will of the peoples ought to follow, complete and amend the peace of the statesmen." —General Smuts.

   8. "I think it would be found that the compromises, which where accepted as inevitable no where, cut at the heart of any principle; the work of the conference squares, as a whole, with the principles agreed upon as the basis of peace as well as with the practical possibilities." —President Wilson.

के कार्य की पुनरावृत्ति आवश्यक होगी। सम्मेलन में राष्ट्रसंघ पर अपना विचार व्यक्त करते हुए उसने कहा था :

"यूरोप महायुद्ध की विभीषिकाओं को सहन करता श्रांत, क्लांत और उत्तेजित हो उठा है। अतः उसके लिए एक अच्छा सन्धि करना असम्भव है। परन्तु यदि राष्ट्र सघ को वैधानिक रूप दिया जाय तो फिर यह संघ सन्धि की आपत्तिपूर्ण धाराओं में संशोधन करने का साधन बन सकेगा। फलस्वरूप जिस परिमाण में यूरोप की पारस्परिक घृणा कम होती जायगी उसी परिमाण राष्ट्रसंघ की शक्ति बढ़ती चली जायगी जिससे त्रुटियों का संशोधन और उपयुक्त उपचार का प्रयोग होने लगेगा। **संधि अस्थायी है** और राष्ट्रसंघ स्थायी है। सन्धि रूपी छोटा-सा यन्त्र अन्त में राष्ट्रसंघ रूपी बड़े यन्त्र में विलीन हो जायगा।"

आरोपित सन्धि :—वर्साय-सन्धि को एक "आरोपित सन्धि" की संज्ञा दी जाती है। इस सम्बन्ध में सबसे पहली विचारणीय बात यह है कि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार एवं रिवाज का उल्लंघन किया गया था। इस सन्धि को तैयार करते समय विजित राष्ट्रों को अलग रखा गया था। १८१४ के वियना सम्मेलन में एकत्रित राज्यों ने सम्मेलन में पराजित फ्रांस को भी आमन्त्रित किया था। परन्तु, इस समय ऐसा नहीं किया गया। सन्धि का आधार दो पक्षों में विचारों का आदन-प्रदान होता है। इस दृष्टि से वर्साय की सन्धि तो कोई सन्धि ही नहो थी। यह मित्रराष्ट्रों का आदेश था, उनका हुक्म था जिसको स्वीकर करने के अतिरिक्त जर्मनी के सामने कोई अन्य मार्ग नहीं था। इसलिए प्रारम्भ से ही जर्मनी के राजनीतिज्ञ इस सन्धि को "आरोपित शान्ति" (dictated peace) की संज्ञा देने लगे। उनका कहना था कि यह विजेताओं द्वारा विजितो पर लादी गयी सन्धि है और उसका आधार विचारो का परस्पर आदान-प्रदान नहीं है। वैसे तो युद्ध समाप्त करने वाली लगभग प्रत्येक सन्धि आरोपित सन्धि होती है, लेकिन जैसा प्रोफेसर कार का कथन है, वर्साय-सन्धि में आरोप का भाव सभी शान्ति-सन्धियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट था।[1] सन्धि पर अपना विचार व्यक्त करने के लिए जर्मनी को एक ही अवसर दिया गया और दूसरी बार सन्धि का संशोधित मसविदा उसको दिया गया तो धमकी के साथ कि अगर वह एक निश्चित समय तक हस्ताक्षर नहीं कर देगा तो युद्ध पुनः प्रारम्भ कर दिया जायगा। जैसा कि एडम्स गिवन्स ने लिखा है : "पारस्परिक सहानुभूति की अनुपस्थिति में वह एक शक्ति की शान्ति थी और उसकी शर्तों का कार्यान्वयन केवल उस समय तक सम्भव था जबतक कि वह शक्ति जिसने जर्मनी को हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया था, उसे कार्यान्वित करती रहे।" पीछे चलकर अगर जर्मनी ने इस आरोपित सन्धि' का उल्लंघन भी किया तो इसको किसी भी दृष्टिकोण से अनुचित नहीं कहा जा सकता है। ब्रिटिश पार्मियामेंट में लार्ड ब्राइस ने कहा था कि शान्ति केवल सन्तोष से हो सकती है। इन सन्धियों का परिणाम राष्ट्रों को असन्तुष्ट बनाना है और इससे क्रान्तियाँ और युद्ध होंगे।

1. "Nearly every treaty which brings a war to an end is, in one sense, a dictated peace ... But in the Treaty of Versailles the element of dictation was more apparent than in any previous treaty of modern time."

—Carr, op. cit, p. 4.

साधारण शिष्टाचार का उल्लंघन :—सन्धि के सम्बन्ध में एक दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि सम्पूर्ण वार्तालाप के समय और हस्ताक्षर करने के समय जर्मनी के साथ मामूली शिष्टाचार के नियम का भी पालन नहीं किया गया। सार्वजनिक अप्रतिष्ठा से परेशान होकर एक जर्मन प्रतिनिधि को कहना पड़ा था कि "हमारे प्रति फैलायी गयी उग्र घृणा की भावना से हम सुपरिचित हैं!" हस्ताक्षर करने के अवसर पर जर्मन के प्रतिनिधियों के साथ समानता का भाव नहीं बरता गया, बल्कि अपराधी की तरह उन्हें हॉल के बाहर और भीतर ले जाया गया। २८ जून, १९१९ का आँखों देखा हाल का वर्णन एक सज्जन से इस प्रकार किया है :

> "आज मैंने जर्मन प्रतिनिधियों को हस्ताक्षर करते देखा। ·· 'तीन बजे सहसा शान्ति का वातावरण छा गया और तब जर्मन प्रतिनिधि पधारे। इनके आगे दो-चार शस्त्र-सज्जित असफल चल रहे थे। ......घृणा का वातावरण अत्यन्त भयंकर था। मेज पर सन्धि-पत्र रखा था। इसके बाद क्लिमेंशो उठा और उसने जर्मन प्रतिनिधियों को हस्ताक्षर करने को कहा। इसके पश्चात् वे उठकर आगे आये और अत्यन्त निस्तब्ध में हस्ताक्षर किये। उधर तोपें दगने लगीं।"

क्या यह तोपें शान्ति की थीं या विजय की अथवा वे भावी युद्ध का आह्वान कर रही थीं? इन अनावश्यक अपमानों का जर्मनी पर बहुत जबर्दस्त मानसिक प्रभाव पड़ा। "आरोपित शान्ति" की धारणा जर्मन लोगों में और मजबूत ही गयी और वे शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि उपरोक्त परिस्थिति में जर्मनी से कराये गये हस्ताक्षर उन पर नैतिक रूप से बंधनकारी नहीं है। इसलिए सन्धि को दो महत्त्वपूर्ण शर्तों को जर्मन लोग सन्धि पर हस्ताक्षर करने से पूर्व ही तोड़ चुके थे। प्रथम तो १८७० में पकड़े गये फ्रांसीसी बेड़े का डुबोना और दूसरे बर्लिन में फ्रांसीसी राष्ट्रीय झंडे को जलाना।

संधि का आधार विश्वासघात—वर्साय की संधि जर्मनी के साथ एक महान् विश्वासघात था। जर्मनी ने विल्सन के 'चौदह सूत्रों' के आधार पर आत्मसर्पण किया था, लेकिन इन सूत्रों का खुलेआम उल्लंघन किया गया। संधि के सम्बन्ध में किसी ने ठीक ही कहा है कि यह पाखंड, घृणा, प्रतिशोध, आदर्शवाद तथा भौतिकवाद का विचित्र समन्वय है। इसे अनैतिक शब्दावलियों में तैयार किया गया था जो युद्धकालीन प्रयुक्त भाषा से बिल्कुल भिन्न था। वास्तव में पेरिस-सम्मेलन प्रधान मंत्रियों के एक विशेष गुट की स्वेच्छाचारिता का नमूना था और उनका प्रमुख काम युद्ध की लूट को बाँटना और पराजितों को अच्छी तरह रौंदना था। फ्रांस द्वारा राइन प्रदेश पर अधिकार की चेष्टा, इटली द्वारा डालमेशिया पर अधिकार कर लेना और पोलैंड द्वारा समस्त ऊपरी साइलीशिया का अपहरण इस बात के उदाहरण हैं। जर्मनी के साथ राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया। फिर इस संधि की शर्तें एकपक्षीय थी। पराजित पक्ष पर तो बहुत शर्तें लाद दी गयीं, परन्तु विजेताओं को उनसे पूर्णतः मुक्त रखा गया। जर्मनी के साथ यह घोर अन्याय और विश्वासघात तथा चौदह सूत्र के साथ मजाक था। विल्सन के "चौदह सूत्रों" का उद्देश्य यह था कि विजेता और विजित दोनों ही अपना-अपना निरस्त्रीकरण कर देंगे जर्मनी का निरस्त्रीकरण तो कर दिया गया, किन्तु विजयी राष्ट्रों ने अपनी सैन्य-शक्ति में कोई कमी नहीं की। वास्तव में "चौदह सूत्रों" का पालन उन्हीं अवस्थाओं में किया गया जब मित्रराष्ट्रों को उसे कुछ

लाभ प्राप्त होने को था; अन्यथा अन्य अवस्थाओं में उसका उल्लंघन ही होता रहा।' इन बातों से जर्मनी में यह धारणा उत्पन्न हुई कि उसके साथ जो अन्याय हुआ है, उसका कारण युद्ध नहीं वरन् युद्ध में उसकी पराजय है। अतः उन्हें इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि वे युद्ध की ऐसी तैयारी करें कि अगले युद्ध में उन्हें कोई नहीं हरा सके। यदि निरस्त्रीकरण आदि की शर्त्तें दोनों पक्षों पर लागू होती तो जर्मनी में कोई असन्तोष नहीं होता। जर्मनी की मुख्य शिकायत यही थी। यह कहा जाता है कि पेरिस का शान्ति सम्मेलन कोई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन नहीं वरन् मित्रराष्ट्रों का अदालत था जहाँ जर्मनी और उसके साथ राज्यों को केवल फैसला सुनाने के लिए बुलाया गया। सम्मेलन के शुरू होने पर क्लिमेंशो ने कहा था कि इसमें सभी पक्षों को बुलाया जायगा और जो भी कुछ कहना चाहे कह सकता है। लेकिन इस वचन का पालन नहीं किया गया और वर्साय-सन्धि की यह सबसे बड़ी त्रुटि साबित हुई। चूँकि सम्मेलन में जर्मनी शामिल नहीं हुआ, इसलिए इसके कठोर शर्त्तों का किसी ने विरोध नहीं किया। विरोध के अभाव में संधि का स्वरूप एक पक्षीय हो गया। इसके अतिरिक्त, चूँकि जर्मनी की सरकार का कोई प्रतिनिधि सम्मेलन में शामिल नहीं होने दिया गया, अतएव वहाँ की सरकार के लिए जनमत का संधि के पक्ष में करना कठिन तथा असम्भव दोनों हो गया। यदि जर्मनी को भी शान्ति-सम्मेलन में शामिल होने दिया जाता तो सम्भव था कि संधि की वह दुर्गति नहीं होती जो बाद में उसकी हुई।[2]

कठोर सन्धि—वर्साय की सन्धि जर्मनी को भविष्य के लिए एक सबक देने के उद्देश्य से की गयी थी। ब्रिटिश प्रधान मंत्री लायड जार्ज के निम्न वाक्य में यह साफ-साफ झलकता है।

---

1. वर्साय की संधि में विल्सन के सिद्धान्तों और विशेष कर उसके चौदह सूत्रों का पालन हुआ या नहीं, इस प्रश्न पर इतिहासकारों के बीच और मतभेद है। जर्मनी तथा पश्चिम के कुछ विचारकों का मत है कि शान्ति समझौते में विल्सन के चौदह सूत्रों में लगभग सभी सूत्रों का उल्लंघन हुआ। इसके विपरीत लायड जार्ज ने कहा था कि इस संधि की कोई ऐसी बात नहीं है जो युद्ध समाप्ति के पूर्व मित्रराष्ट्रों द्वारा की गयी घोषणाओं के प्रतिकूल हो। प्रोफेसर गैथोर्न हार्डी के मतानुसार वर्साय-सन्धि में विल्सन के चौदह सूत्रों का अधिकतम पालन किया गया था। (देखिए Gathorn Hardy, *The Fourteen Points and the Treaty of Versailles*, p. *II*.) डॉ० सेटन वाटसन ने भी सिद्ध किया है कि वर्साय-सन्धि में केवल इटली की सीमान्तावली नवीं शर्त को छोड़कर चौदह सूत्र के शेष सभी शर्तों का पालन हुआ। लेकिन हैरल्ड निकोल्सन ने साफ-साफ लिखा है कि "विल्सन का कोई भी शर्त्त वर्साय सन्धि में पूरी नहीं हुई है।" (देखिये Harold Nicholson, *Peace Making 1919*, p. *43*.) प्रोफेसर लैंगसम ने बीच का रास्ता अपनाया है। उसका कथन है कि विल्सन के चौदह सूत्रों में पाँच (७,८,११, १३,१४) का पालन हुआ, चार (५,६,९ १०) का पालन इस तरह किया गया कि मित्रराष्ट्रों को उसे लाभ पहुँचे और पाँच (१,२,३,४, १२) की अवहेलना की गयी। (देखिये *Langsam, World Since 1919*, pp, *34*, *82*, और *116*)।
इस प्रकार वर्साय-सन्धि पर विल्सन का प्रभाव (Willsoian impact) एक अत्यन्त ही विवादास्पद विषय है और इस पर किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है। विल्सन के सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन हुआ या नहीं, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसके आदर्शों और सिद्धान्तों का संधि पर गहरा प्रभाव पड़ा।

2. "Germany's presence at the Conference, if accepted in good faith, would have moderated the terms and facilitated the realisation of Castlereagh's objective as he went to the Congress of Vienna "not to bring back trophies of victory, but to restore Europe to the paths of peace"—Albjerg and Albjerg, *Europe from 1919 to the Present*, pp. 83-84.

उन्होंने कहा था : "इस सन्धि की धाराएँ युद्ध में मृत शहीदों के खून से लिखी गयी हैं। जिन लोगों ने इस युद्ध को शुरू किया था उन्हें दुबारा ऐसा न करने की शिक्षा अवश्य देनी है।" यही कारण है कि सन्धि की शर्तें इतनी कठोर थीं। क्षतिपूर्ति की कठोर शर्तों का विरोध करते हुए ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के सदस्य मि० केन्स ने अपना त्यागपत्र दे दिया था। इसको उसने "कार्थेजीनियन" सन्धि।[1] (Carthaginian Peace) कहा था। भूतपूर्व जर्मन-चान्सलर बेथमान-हालवेग का कहना था कि "पराजित को गुलाम बनाने का इससे बढ़कर विश्व ने कभी भी भयानक उपाय नहीं देखा।" यदि सन्धि की शर्तों को स्थायी बनाने में मित्रराष्ट्रों की सफलता मिल जाती तो जर्मनी का नाम संसार की महान् शक्तियों में से हमेशा के लिए मिट जाता। क्षतिपूर्ति की शर्त्त तो अत्यन्त ही कठोर और दर्दनाक थी। सन्धि की इस आर्थिक व्यवस्था को चर्चिल ने मूर्खतापूर्ण कहा है। उसके शब्दों में : "इतिहास इस लेन-देन को पागलपन की संज्ञा प्रदान करेगा। उन्होंने सैनिक अभिशाप और आर्थिक संकट की उत्पत्ति में सहायता पहुँचायी··· यह सब उस जटिल मूर्खता की दुःखद कहानी है जिसकी रचना में पर्याप्त श्रम और सद्गुणों का अपव्यय हुआ था।"[2]

कठिन सिद्धान्तों पर आधारित सन्धि :—वर्साय की सन्धि स्थायी बुद्धि पर आधारित न होकर कठिन भावावेशों पर आधारित थी। इसमें बुद्धिमता, न्याय और संतुलित निर्णय का सर्वथा अभाव था और इसका एकमात्र उद्देश्य जर्मनी को पूर्णतया कुचल देना था। इसके अतिरिक्त इस सन्धि में ऐसे-ऐसे सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया था जिनका पूरी तरह पालन करना असम्भव था। उदाहरणार्थ आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की दृष्टि से तो यह सराहनीय था, पर इसको व्यावहारिक रूप देना अत्यधिक कठिन था। इसका प्रयोग किस हद तक होगा इसका निर्धारण इस सन्धि में नहीं किया गया था। इस कारण, इस सिद्धान्त ने यूरोप में नयी समस्याएँ उत्पन्न कर दीं।

द्वितीय विश्व-युद्ध का कारण—वर्साय-सन्धि जैसी कठोर और अपमानजनक सन्धि की शर्तों को कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र एक लम्बे काल तक के लिए बर्दाश्त नहीं कर सकता था। जर्मनी जैसे स्वाभिमानी राष्ट्र के लिए इस तरह की स्थिति कोई "सबक" नहीं हो सकती थी। यह एक घोर अपमान था जिसको जर्मनी कभी नहीं सह सकता था। उसके लिए यह स्वाभाविक था कि भविष्य में वह फिर युद्ध द्वारा ही अपने अपमान को धोने का प्रयत्न करे। इस प्रकार भावी युद्ध के बीच वर्साय सन्धि के आरम्भ से ही विद्यमान थे। पेरिस के शान्ति-सम्मेलन की सबसे बड़ी "सफलता" यह है कि उसने "एक विष-वृक्ष के बीज का आरोपण किया जो १९३९ में एक विशाल संहारक वृक्ष के रूप में परिवर्तित हो गया और उसके कटु फलों को सम्पूर्ण संसार

1. इसका तात्पर्य प्राचीन रोम और कार्थेज के युद्ध से है। जिस प्रकार प्राचीन काल में रोम ने कार्थेज को हराकर उसको समूलोन्मूलन किया था, उसी प्रकार वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी को विनष्ट और विध्वंश करने का प्रयत्न किया गया था।

2. "History will characterise all these transactions as insane. They helped to breed the material curse and economic blizzard. Germany now borrowed from all directions, swallowing greedily every credit which was lavishly offered to her. All this is a sad story of complicated idiocy in the making of which much toil and virtue was consumed." Churchill, *The Second World War*, Vol. I, p. 58.

को बुरी तरह चखना पड़ा।"[1] जर्मनी अभी असहाय था। उसको वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करना ही था। पर जैसा एर्जबर्गर ने विराम-सन्धि के समय में कहा था : जर्मन जाति कष्ट सहेगी, परन्तु मरेगी नही।' जर्मनों को जैसे-जैसे मौका मिलता गया वैसे-वैसे वह सन्धि की शर्तों का उल्लंघन करने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ही वर्षों में यूरोप का राजनीतिक वातावरण अत्यन्त अशान्त हो गया और संसार को प्रथम महायुद्ध से भी अधिक भयंकर एवं प्रलयकारी युद्ध देखना पड़ा।

जर्मन आक्रमण के विरुद्ध फ्रांसीसी सुरक्षा का गारन्टी देना वर्साय-सन्धि का एक प्रमुख लक्ष्य था। परन्तु दुर्भाग्यवश फ्रांस को चैन नहीं मिली। लायड जार्ज का विचार था कि "साठ वर्ष तक जर्मनी का उत्थान नही हो सकता है", लेकिन क्लिमेंशो तथा अन्य फ्रांसीसी राष्ट्रवादियों का दूसरा ही विचार था और वे पराजित जर्मनी के भय से बराबर सशंकित रहते थे। सन्धि पर हस्ताक्षर होने के कुछ ही दिनों बाद फ्रांस का वयोवृद्ध राजनेता पोअन्कारे अवकाश ग्रहण कर लोरेन में विश्राम करने के लिए चला गया। वहाँ वह अपने बंगले के पूर्वी खिड़की पर खड़ा होकर बराबर कहा करता था—"वे पुनः आयँगे।" करीब-करीब सभी फ्रांसीसी पोअन्कारे के इस विचार से सहमत थे। १९१९ में क्लिमेंशो ने कहा था : "मैं जो कहता हूँ उसको ध्यानपूर्वक सुनो। छह महीने में, एक साल में, पाँच साल में जब वे चाहेंगे पुनः हम पर आक्रमण करेंगे।" फ्रांस का यह भय कोई काल्पनिक नही था। अन्ततः यह सत्य साबित हुआ और वे पुनः आ धमके। लार्ड्स सभा में इस समझौते पर भाषण करते हुए लार्ड ब्राइस ने कहा था : "शान्ति केवल सन्तोष के द्वारा आ सकती है। इन सन्धियों का परिणाम राष्ट्रों को असन्तुष्ट बनाना है। इससे विद्रोह और युद्धों के लिए भूमि तैयार होगी।" सन्धि के अवसर पर मार्शल फॉच (Foch) ने भी कहा था कि वर्साय की सन्धि कोई सन्धि नही है; यह बीस वर्षों के लिए एक विराम-सन्धि है।"[2] फॉच की भविष्यवाणी सत्य निकली और बीस वर्ष में ही द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हो गया। प्रथम विश्व-युद्ध को युद्धान्तक युद्ध कहा गया था। उसी तरह वर्साय की सन्धि को शान्ति को अन्त करनेवाली शान्ति (peace to end peace) कहा जा सकता है।

वर्साय-सन्धि की इन विशेषताओं के कारण इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह शान्ति की व्यवस्था न होकर वस्तुतः दूसरे विश्व-युद्ध की व्यवस्था थी, अर्थात् इसमें द्वितीय विश्व-युद्ध के बीज विद्यमान थे। १९३९ में संसार के रंगमंच पर जिस तांडव नृत्य का दृश्य प्रारम्भ हुआ उसकी तैयारी इसी के साथ शुरू होती है। वास्तव में दो विश्व-युद्धों के बीच का काल इस सन्धि की व्यवस्थाओं को तोड़ने का काल है। इस दृष्टि से इस सन्धि को बहुत सफल नहीं कहा जा सकता है। इसके अनेक भाग मित्रराष्ट्रों की सहमति, उपेक्षा और विरोध से संशोधित एवं भंग होते चले गये। १९२६ में जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सदस्यता देकर सन्धि के प्रथम भाग में संशोधन किया गया। सन्धि के पाँचवें भाग को जर्मनी ने १९३५ में अपने आप ठुकरा दिया। इसके युद्ध बन्दियों संबंधी

1. "At the Peace Conference of Paris the festering germs of decomposition were injected into the world's body-politic, germs which, however long and deceptive the delay would ultimately show their symptoms"—Chambers, Harris and Bayley, *This Age of Conflict*, p. 383.

2. Churchill, op. cit. p. 6.

सातवें और क्षतिपूर्ति विषय आठवें भाग को कभी पूरी तरह लागू नहीं किया गया। १६३५ से १९३८ के बीच में जर्मनी ने सन्धि के बारहवें भाग की कटु आलोचना की। चौदहवें भाग को स्वयं मित्रराष्ट्रों ने १६३० में समाप्त कर दिया। १६३८ में जर्मनी ने सन्धि के दूसरे, तीसरे और चौथे भाग को भी ठुकरा दिया। जब हिटलर ने सन्धि के पाँचवें और बारहवें भाग पर आक्रमण किया तो उसका विरोध न करके उसको प्रोत्साहित किया गया। अतएव मार्च १९३८ में उसने आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिला लिया, उसी वर्ष सितम्बर में चेकोस्लोवाकिया को वह निगल गया। लेकिन अन्त में जब उसने पोलैंड से सम्बन्धित व्यवस्थाओं को तोड़ने का यत्न किया तो द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस प्रकार वर्साय की सन्धि पूर्णतया असफल रही और यह द्वितीय विश्व युद्ध का मूल कारण साबित हुई।[1]

राजनेतृत्व की महान् पराजय:—इन सब कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि १६१६ का सम्मेलन और उसके कृत्य राजनेत्व की महान् असफलता (the great failure of statesmanship) थी। यह एक ऐसी सन्धि थी जिससे न तो विजेताओं को सन्तोष मिला और न विजितो का ही। यूरोप में इसने एक ऐसे अशान्त वातावरण को उत्पन्न कर दिया जिसका परिणाम आनेवाली पीढ़ी को भी भुगतना पड़ा। विलसन, लायड जार्ज, क्लिमेंशो आदि नेताओं को १६१६ में एक स्वर्ण अवसर मिला था। यदि वे संयम से काम लेते तो संसार में स्थायी शान्ति की नींव डाली जा सकती थी। लेकिन क्षणिक भावावेश के प्रभाव में आकर वे मानसिक सन्तुलन खो बैठे और एक महान् अवसर उनके हाथ से निकल गया। राजनेताओं से इस तरह की बात की आशा नहीं की जाती है।

वर्साय-सन्धि का औचित्य

वर्साय-सन्धि की कठोरता के विषय में जो कुछ भी कहा जाय वह थोड़ा ही है; लेकिन उस पर विचार करते समय हमें कई और बातों पर भी ध्यान रखना चाहिए। पहली बात यह है कि अगर जर्मनी प्रथम महायुद्ध में जीत जाता तो वह ठीक इसी प्रकार की कठोर सन्धि को मित्रराष्ट्रों पर लादता। यह बात ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की सन्धि से स्पष्ट है। यह वर्साय-सन्धि से किसी प्रकार भी कम कठोर नहीं थी। इस सन्धि के द्वारा विजेता जर्मनी ने ठीक उसी प्रकार विजित रूसियों की दुर्दशा की थी जिस प्रकार पीछे चलकर विजेता मित्रराष्ट्रों ने विजित जर्मनी की। मित्रराष्ट्रों ने एक प्रकार से जर्मनी का ही अनुकरण किया। स्वयं लायड जार्ज ने ब्रिटिश संसद् में इस प्रकार के उद्गार व्यक्त किये थे: "प्रस्तावित सन्धि को जर्मनी के साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं कहा जा सकता। कुछ शर्तें अवश्य भयानक जँचती हैं।

1. वर्साय-संधि को द्वितीय विश्व-युद्ध के लिए जिम्मेवार कहना भी एक विवादास्पद विषय है। कुछ इतिहासकार ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि संधि नहीं वरन् उसको कार्यान्वित करने में नरम नीति का अवलम्बन द्वितीय विश्व-युद्ध का कारण था। लैंगसम ने लिखा है कि मित्रराष्ट्रों, विशेषकर फ्रांस और ब्रिटेन के परस्पर विरोधी तथा सन्धि की शर्तों का कठोरतापूर्वक पालन न कर पाने की नीति ही इसका मुख्य कारण था। यदि सन्धि को कठोरतापूर्वक पालन कराया जाता तो जर्मनी को यह अनुभव हो जाता कि वह युद्ध में हारा ही नहीं है वरन् भविष्य में युद्ध प्रारम्भ करना भी खतरे से खाली नहीं है। लेकिन मित्रराष्ट्रों की उदासीनता से उसका हौसला बढ़ गया और उसने फिर युद्ध प्रारम्भ कर दिया। (देखिये Langsam, *World Since 1919*, p. 733 तथा A. J. P. Taylor, *Origin of the* [illegible] *World War*, p. 18.

परन्तु यदि जर्मनी कहीं जीत जाता तो इससे भी अधिक भयावह परिणामों का आज हमें सामना करना पड़ता।" कुछ लोग इसको कठोर और अन्यायपूर्ण सन्धि मानने के लिए भी तैयार नहीं हैं। इतिहासकार हाल एवं डेविस ने लिखा है :

> "यह सन्धि राइनलैंड पर फ्रांस को अधिकार दे सकती थी, जर्मनी को १८६६ की भांति मेन नदी पर विभक्त कर सकती थी"' "पर इसमें इस तरह की बेहूदी व्यवस्था नहीं की गयी। अतः यह कहना गलत है कि यह कार्थेज जैसी शांति थी। कार्थेज का विध्वंस कर दिया गया था, उसकी मिट्टी में नमक मिला दिया गया था। पराजित जर्मनी के साथ उससे कहीं अच्छा व्यवहार किया था जो जर्मन लोगों ने ब्रेस्ट लिटोव्स्क की सन्धि में रूसवालों के साथ किया था। वर्साय की सन्धि में विजेताओं ने न केवल जर्मनी का विध्वंस किया किन्तु अपनी शर्तों की कठोरता कम करने के लिए दो उपायों की व्यवस्था भी कर दी। एक तो क्षतिपूर्ति आयोग की नियुक्ति थी जो उसके हरजाने के रकम को कम कर सकती थी और दूसरा राष्ट्रसंघ था, जो इसके अन्याय को हटा सकता था।"[1]

जनमत :—ध्यान देने योग्य एक दूसरी बात यह है कि मित्रराष्ट्रों में जनमत जर्मनी के एकदम विरूद्ध था और यूरोप की जनता चाहती थी कि पेरिस में बैठे हुए उनके प्रतिनिधि जर्मनं पर कड़ी शर्तें लादें। यह भावना फ्रांस में काफी तीव्र थी। सन्धि ऐसे समय में की गयी थी जब कि शत्रु द्वारा किये गये भयंकर विनाश और अपार कष्टों की स्मृति राष्ट्रों में अभी भी ताजी थी और विजित राष्ट्रों के विरूद्ध भावनाएँ बड़ी तीक्ष्ण थी। अगर सम्मेलन में शामिल हुए प्रतिनिधि जर्मनी के प्रति थोड़ा भी रूख अपनाते तो सम्भव था कि कुछ देशों में सरकार के विरूद्ध विद्रोह हो जाता। मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधि स्वतन्त्र नहीं थे। उन्हें अपने देश की जनता के तीव्र प्रतिरोध की भावनाओं को ध्यान में रखना था। जनमत की उपेक्षा करना उनके लिए असम्भव था।[2]

विविध आयोग और कार्य-पद्धति :—सन्धि के कठोर होने का एक और कारण था। वर्साय की सन्धि कई प्रयोगों द्वारा तैयार की गयी थी। अलग-अलग आयोगों ने अपने निर्णय अलग-अलग दिये थे और वे सब संधि में शामिल कर लिये गये। यह देखने का प्रयत्न नहीं किया गया कि जर्मनी पर उन सब का सम्मिलित प्रभाव क्या होगा। इसका परिणाम यह हुआ कि सन्धि अत्यन्त कठोर बन गयी।

यदि शान्ति-सम्मेलन की कार्य-पद्धति कुछ दूसरी होती तो यह सम्भव था कि वर्साय की सन्धि का स्वरूप ऐसा नहीं हो पाता। सम्मेलन के प्रारम्भ में ही यह प्रश्न उठा था कि विजितों के साथ जो सन्धि हो वह अन्तिम हो या अस्थायी। बहुत लोगो, जिनमें मार्शल फॉच का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, का कहना था कि अभी तत्काल के लिए एक अस्थायी शान्ति-सन्धि कर ली जाय और बाद में काफी सोच-समझकर एक स्थायी शांति की जाय। यदि ऐसा होता तो वर्साय की सन्धि उतनी कठोर न होती और यूरोप में जो भी व्यवस्था कायम

---

1. Hall and Davies, *The Course of European History Since Waterloo*, p. 665.

2. "It was a severe treaty, but it was in response to popular demands in the Allied countries, and should always be read in connection with the treaty which the Central Powers dictated to Russia at Brest-Litovsk"

—Lee Benns, op. cit., p. 126.

होती वह स्थायी रहती क्योंकि कुछ समय के बीत जाने के बाद घृणा और कटुता का वातावरण समाप्त हो जाता। लेकिन शांति-सम्मेलन के कर्णधार किसी तरह की विलम्ब नहीं चाहते थे। अनेक कारणों से वे चाहते थे कि जो कुछ करना हो वह तुरत और तत्काल हो जाय। वस्तुतः वे "अभी और तुरत कर लो" की नीति के समर्थक थे।[1] बात यह थी कि मित्र राष्ट्रीय देशों के नागरिक जर्मनी से बदला लेने के लिए अधीर थे और राजनीतिज्ञों को अपने देश के जनमत पर ख्याल करना था। कर्नल हाउस ने इसीलिए कहा था कि छोटी-छोटी बातों पर आवश्यकता से अधिक विचार करने की अपेक्षा जल्द-से-जल्द शांति स्थापना कर लेना श्रेयस्कर है। एक अच्छी शांति-व्यवस्था की अपेक्षा एक तात्कालिक शांति-व्यवस्था को वह अधिक उचित मानता था। शुरू में यद्यपि विल्सन भी एक अस्थायी शांति-संधि का ही समर्थक था, लेकिन बाद में वह भी इसका विरोधी हो गया। साम्यवादी रूस का प्रादुर्भाव, अशांत जनमत, यूरोप की डुलमुल राजनीतिक स्थिति, नये-नये राज्यों की परेशानी, लूट में अधिक-से अधिक हिस्सा प्राप्त करने की आकांक्षा आदि तथ्यों ने पेरिस में एकत्र राजनेताओं को बाध्य कर दिया कि बिना खूब सोचे-समझे ही वे इतने महत्त्वपूर्ण शांति समझौते की रचना कर लें। वर्साय-संधि का मूल्यांकन करते समय हमें इन सारी परिस्थितियों पर ध्यान रखना होगा।

विविध आकांक्षाएँ :—पेरिस में भिन्न-भिन्न देशों के जितने प्रतिनिधि मण्डल आये थे, उनकी अपनी-अपनी आकांक्षाएँ थीं और सभी चाहते थे कि उनकी मांगें पूरी कर दी जायँ। लेकिन यह असम्भव था। ऐसी स्थिति में शांति-सम्मेलन के समक्ष इन विविध विचारों तथा मांगों में समन्वय कराने की समस्या थी। सभी को खुश करना था और साथ ही एक न्यायपूर्ण व्यवस्था का निर्माण भी करना था। निश्चय ही, यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है और शांति-सम्मेलन को इस कार्य को सम्पन्न करने में पूरी सफलता नहीं मिली।[2]

राष्ट्रीयता का सिद्धांत :—लेकिन सन्धि का निर्माण केवल भय और प्रतिशोध की भावनाओं के आधार पर ही नहीं हुआ; इसमें उदार आदर्शों को भी ध्यान दिया गया था। प्रादेशिक व्यवस्था का आधारभूत सिद्धांत राष्ट्रीयता और आत्म-निर्णय का सिद्धान्त था। नये यूरोप का निर्माण बहुत हद तक इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर हुआ। पाल बर्डसाल लिखते हैं: 'अनेक अन्यायों के बावजूद पेरिस की सन्धियों ने यूरोप के जिस मानचित्र का निर्माण किया उसमें विभिन्न राष्ट्रों की सीमाएँ जातियों का प्रदर्शन करने वाले यूरोप के मानचित्र की सीमाओं से अधिकतम साम्य रखती थी।" कुछ बातों में राष्ट्रीयता के सिद्धांत का उल्लंघन अवश्य हुआ

1. "Nor has there ever been a treaty of comparable importance that was a finished and perfect document. *But Paris in 1919, was obsessed with finality.* So unique an opportunity to legislate for the millennium was unlikely to recur, and the most had to be made of it." (Stress provided)--Chambers, Harris and Bayley, op. cit. p. 384.

2. The chief problem of the statesmen at Paris was to draft terms which would reconcile the opposing view points of the Allied Powers. No one man dominate a group like the "Big Four." Agreement was possible only through compromise, though frequently affairs had to reach an actual crisis before a settlement was finally affected." —Lee Benns, op. cit. p. 11^

परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि अधिकांश मामले में इस सिद्धांत का पालन हुआ और राष्ट्रीयता की दृष्टि से १९१९ के बाद का यूरोप का मानचित्र १९१४ के पहले के यूरोप से अधिक सन्तोषजनक था। इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी कार्य ऐसा नहीं हो सकता जिससे सभी लोग संतुष्ट हो।[1]

हमें यह भी मानना पड़ेगा कि पेरिस की शांति-व्यवस्था में आत्म-निर्णय के सिद्धांत को अधिक-से-अधिक प्रश्रय दिया गया। चेक, पोल, फिन, क्रोट, लेट्ट, अलसेसियन आदि जातियाँ पराधीनता से मुक्त हुईं। वियना शांति-व्यवस्था (१८१४-१५) में इस तरह की कोई बात नहीं थी। वर्साय तथा अन्य शांति-संधियों के द्वारा बहुत से स्थानों में जनमत-संग्रह की व्यवस्था की गयी जिससे वहाँ के निवासियों को विचार अभिव्यक्ति का अवसर मिले। इन संधियों के फलस्वरूप जितने लोग पराधीनता से मुक्त कराये गये उतने किसी भी संधि से अभी तक मुक्त नहीं कराये गये थे। चार करोड़ पराधीन लोगों की संख्या घटकर एक करोड़ साठ लाख पर आ गयी। यूरोप में अब केवल तीन प्रतिशत लोग ही विदेशी दासता के चंगुल में बच गये; शेष सभी स्वाधीन हो गये। अल्पसंख्यकों के विशिष्ट हितों की रक्षा के लिए भी प्रयत्न किये गये। 'एक राष्ट्र एक राज्य' के सिद्धांत के आधार पर कई राज्य निर्मित हुए।

सम्मेलन की कठिनाइयाँ:—हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि जब पेरिस में सम्मेलन की कार्यवाही शुरू हुई तो उसके समक्ष कई कठिनाइयाँ आयीं। तरह-तरह के व्यक्ति थे और तरह-तरह की आकांक्षाएँ थीं। इस हालत में संधि की शर्तों को आसानी से तय कर लेना कोई सहज काम नहीं था। इन कठिनाइयों के सम्बन्ध में लैंगसम ने ठीक ही लिखा है:

> "पेरिस का जमघट केवल ऐसी शान्ति-सन्धि का मसविदा तैयार करने के लिए नहीं बुलाया गया था, जो २३ मित्र-राष्ट्रों में से कम-से-कम महत्त्वपूर्ण राष्ट्रों को संतुष्ट करे तथा एक ऐसे राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा पर सहमत हो, जो ४० या ५० राष्ट्रों को, जो मित्रवत् नहीं थे, मंजूर हो, बल्कि प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर उसे केन्द्रीय तथा पूर्वीय यूरोप में भूखे करोड़ों लोगों के भोजन का प्रबन्ध करना, बेचैन विजयी सेनाओं को नियन्त्रित करना, देश में मूर्च्छा-ग्रस्त जनमत को सन्तुष्ट करना तथा दर्जनों राष्ट्रों के बीच शान्ति स्थापित करना था, जिन्होंने अपने छोटे-छोटे युद्ध लड़े थे। पोल, युक्रेनी, रूमानियावासी हंगरीवासी, यूनानी, तुर्क, सर्वलोग, मोंटेनेग्रिन, चेक, जर्मन, रूसी, आर्मिनियाई, इटलीवासी तथा युगोस्लाव लोग सभी संघर्ष में शामिल हुए थे। इन सबसे भी ऊपर अमेरिका के विल्सन के आदर्शवाद तथा युद्धकालीन आवश्यकता जनित विभिन्न यूरोपीय राज्यों के बीच की गई गुप्त सन्धियों के बीच संघर्ष था। बड़े राष्ट्र अपने नीतियों तथा दृष्टिकोणों पर एक दूसरे से इतने दूर थे तथा उनके हित इतने विभिन्न थे कि यदि कोई दूसरा बिस्मार्क या तेलराँ जर्मनी के हित को देखनेवाला होता तो अन्तिम रूप से वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर हो नहीं हो पाता।"

रूस की क्रान्ति:—वर्साय-सन्धि के सम्बन्ध में एक और बात विचारणीय है और वह है रूस की समाजवादी क्रांति। १९१७ की क्रांति के फलस्वरूप रूस में जो व्यवस्था कायम हुई थी वह समस्त संसार के लिए चुनौती बन रही थी। फलतः पेरिस सम्मेलन में एकत्रित नेताओं ने अपने विचार विमर्शों में इस चुनौती को हमेशा ध्यान में रखा। उन्होंने घबड़ाकर यह निश्चय किया कि कोई ऐसा काम नहीं किया जाय जिससे जर्मनी सोवियत-व्यवस्था को स्वीकार करने

1. 'Lipson,' *Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries*, pp. 322-323.

के लिए विवश हो जाय। अमेरीकी प्रतिनिधिमण्डल के एक सदस्य रे स्टेनर्ड बेकर ने लिखा है : "सभी समय, सम्मेलन में वातचीत के प्रत्येक मोड़ पर, अव्यवस्था का एक भूत खड़ा होता था जैसे पूर्व से एक काला वादल उठकर समूचे संसार पर आच्छादित होने और उसे निगल जाने की धमकी दे रहा हो।"[1]

राष्ट्रसंघ :—वर्साय-सन्धि के पक्ष और विपक्ष में जो कुछ भी कहा जाय परन्तु एक महत्त्वपूर्ण बात तो माननी ही पड़ेगी कि संसार में शान्ति स्थापित करने के लिए इसने एक राष्ट्रसंघ की स्थापना थी। प्रथम विश्व-युद्ध इस उद्देश्य से भी लड़ा गया था कि भविष्य में कभी युद्ध नहीं हो। वर्साय-सन्धि के द्वारा इस दिशा में एक निश्चित कदम उठाया गया और एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया गया जिसके द्वारा युद्ध को तथा उसके कारणों को दूर किया जा सके। साथ ही, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ और अन्य अनेक संस्थाओं का भी निर्माण किया गया। यद्यपि राष्ट्रसंघ अपने कार्य में सफलीभूत नहीं हुआ, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को न्याय के आधार पर तय करने की चेष्टा तो प्रारम्भ हुई और इस आधार पर प्रोफेसर साउथगेट के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वर्साय की सन्धि संसार के इतिहास में एक नये मार्ग की सूचक थी।"[2]

अन्य शान्ति-सन्धियाँ

पेरिस शान्ति-सम्मेलन की समाप्ति के पूर्व जर्मनी के अन्य पराजित सहयोगियों के साथ होनेवाली सन्धियों का मसविदा भी तैयार हो गया। इन सन्धियों की रूप-रेखा तैयार करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई; क्योंकि जर्मनी के अन्य सहयोगी राज्य आस्ट्रिया, हँगरी, बुल्गेरिया तथा तुर्की आदि भी युद्ध में बेशर्त आत्मसमर्पण कर चुके थे और वे पूर्णतया मित्रराष्ट्रों के हाथों में थे। इन सन्धियों को तैयार करने में वर्साय-सन्धि को नमूना के रूप में व्यवहार किया गया और कुछ शाब्दिक परिवर्तन के बाद वर्साय-सन्धि की धाराओं को ही अन्य सन्धियों का रूप दे दिया गया। क्लिमेंशो की अध्यक्षता में फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका और इटली को मिलाकर एक आयोग का निर्माण किया गया। इसी आयोग ने अन्य सन्धियों की रूपरेखा तैयार की और भिन्न-भिन्न राज्यों को उन पर हस्ताक्षर करने के लिए आमन्त्रित किया।

(१) सांजर्मँ (St. Germain) की सन्धि—

१० सितम्बर, १९१९ को आस्ट्रिया और मित्रराष्ट्रों के बीच पेरिस के समीप सांजर्मँ नामक प्राचीन स्थान में एक सन्धि हुई जिसको सांजर्मँ की सन्धि कहते हैं। इस सन्धि में ३८१ धाराएँ थीं। इसके फलस्वरूप प्राचीन आस्ट्रिया-हंगरी का वृहत् साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े में विभक्त हो गया। युद्ध के पूर्व इस साम्राज्य में विविध जातियाँ निवास करती थीं और इनमें राष्ट्रीय भावना का पूर्णतया विकास हो चुका था। इन जातियों को स्वतन्त्र कर दिया गया और उनका पृथक् राज्य स्थापित हुआ। आस्ट्रिया ने हंगरी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया को स्वतन्त्र राज्यों के रूप में स्वीकार कर लिया। इन राज्यों को पुराने आस्ट्रिया-हंगरी-साम्राज्य के

1. "At all times, at every turn of negotiations there arose the spectre of chaos, like a block cloud of the East, threatening to overwhelm and swallow up the world."—R. S. Backer. *Woodrow Wilson & World Settlement*, vol, I, p. 283.

2. Southgate, *History of Modern Europe*, p. 216.

बहुत से भू-भाग प्राप्त हुए। चेकोस्लोवाकिया को आस्ट्रिया के भू-भाग का निचला हिस्सा तथा मोराविया, वोहेमिया और साइलेशिया का प्रदेश प्राप्त हुआ। पोलैंड को गलेशिया, रूमानिया को वोकोविनया, यूगोस्लाविया को कारनियोला तथा डालमीटियन-तट के द्वीप प्राप्त हुए। इस लूट में इटली को भी हिस्सा मिला। उसको दक्षिणी टाइरल, त्रेन्तिनो ट्रिस्ट, इरिट्रिया और डालमेटियन तट पर स्थित दो द्वीप प्राप्त हुए। टाइरल वाले भू-भाग में लगभग ढाई लाख जर्मन निवास करते थे और इसलिए इटली को इस भू-भाग को

देना राष्ट्रीयता के सिद्धांत के विरुद्ध था। लेकिन, इटली इन्हीं प्रदेशों की लालच से मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हुआ था और मित्रराष्ट्र गुप्त सन्धि द्वारा इटली को इन प्रदेशों का आश्वासन भी दे चुके थे। अतः राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की उपेक्षा करना उनकी दृष्टि में कोई बुरी चीज नहीं थी।

इस प्रकार सांजर्मे की सन्धि के फलस्वरूप आस्ट्रिया को क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से तीन चौथाई हिस्से की हानि उठानी पड़ी। अब जो आस्ट्रिया बच गया था उसका क्षेत्रफल बहुत ही छोटा हो गया और उसकी आबादी केवल सत्तर लाख रह गयी थी।

आस्ट्रिया की सैनिक व्यवस्था में तरह-तरह के परिवर्तन किये गये। युद्ध बन्द होने के साथ-साथ उनकी सम्पूर्ण जल-सेना जब्त कर ली गयी। डेन्यूब नदी का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। फौज की संख्या घटाकर तीस हजार कर दी गयी। जर्मनी की तरह उसपर भी तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया को बाध्य किया गया कि वह युद्ध की जिम्मेवारी स्वीकार करे और इसके लिए जर्मनी की तरह एक बहुत बड़ी रकम मित्रराष्ट्रों को हरजाना के रूप में दे।

आस्ट्रिया को युद्ध के अपराधियों को सौंपने के लिए कहा गया और उसकी राष्ट्रीय कला की निधियाँ बीस साल के लिए जब्त कर ली गयीं।

आस्ट्रिया के निवासी जर्मन जाति के थे। वे जर्मनी के साथ मिलकर एक वृहत् जर्मन-राज्य की स्थापना करना चाहते थे। इससे मित्रराष्ट्रों को भय था। अतः सांजमैं की सन्धि की ८८ वीं धारा द्वारा आस्ट्रिया पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि वह भविष्य में ऐसा कोई प्रयत्न करे जिससे स्वतन्त्र राज्य के रूप में उसका नामोनिशान मिट जाय।

(२) त्रियानों (Trianon) की सन्धि—

युद्ध के बाद हंगरी की राजनीतिक स्थिति इतनी डावाँडोल थी कि नवम्बर, १९१९ के पूर्व वहाँ कोई सुसंगठित सरकार ही नहीं कायम हो सकी। अतः हंगरी के साथ सन्धि करने में कुछ विलम्ब हो गया। अन्त में ४ जनवरी, १९२० को हंगरी के प्रतिनिधि काउन्ट एलवर्ट एपोनी के सम्मुख एक सन्धि का मसविदा पेश किया गया, जिसको त्रियाना की सन्धि कहते हैं। एपोनी ने सन्धि की शर्तों का कड़ा विरोध किया, लेकिन मित्रराष्ट्रों ने उसकी एक न सुनी और ४ जून, १९२० को इस सन्धि पर हंगरी को हस्ताक्षर करना पड़ा।

सन्धि के अनुसार हंगरी को अपने सभी पड़ोसी राष्ट्रों को अपने भू-भाग से कुछ-न-कुछ हिस्सा देना ही पड़ा। ट्रांसिलवेनिया और उसके साथ के कुछ प्रदेश रूमानिया को दिये

गये। क्रोटिया, स्लावोनिया, बोस्निया-हर्जेगोविना, यूगोस्लाविया को तथा स्लोवाकिया का प्रदेश चेकोस्लोवाकिया को मिला। आस्ट्रिया को हंगरी का पश्चिमी हिस्सा बीजेनलैंड प्राप्त हुआ। हंगरी के समुद्री मार्ग फ्यूम के भाग्य का निर्णय इटली और यूगोस्लोविया के समझौते पर छोड़ दिया गया।

अन्य पराजित राज्यों की तरह हंगरी को युद्ध के लिए जिम्मेवार ठहराया गया और उसको हरजाने के रूप में एक बहुत बड़ी रकम देने को विवश किया गया। हंगरी की जल-सेना भंग कर दी गयी और उसकी सेना की संख्या घटाकर ३५००० कर दी गयी।

त्रियानों की सन्धि का परिणाम यह हुआ कि जनसंख्या एवं क्षेत्रफल के विचार से हं... एक छोटा और साधारण राज्य हो गया। युद्ध के पूर्व हंगरी की आबादी दो करोड़, दस ला...

थी। त्रियानों की सन्धि के फलस्वरूप जिस नये हंगरी का निर्माण हुआ उसकी जनसंख्या केवल पचहत्तर लाख रह गयी। इसके अतिरिक्त तीस लाख के लगभग हंगेरियन लोग अब अन्य राज्यों को प्रजा बनने के लिए विवश किये गये। इस कारण हंगरी के लोगों में गहरा असन्तोष फैला। उनका कहना था कि इस सन्धि के द्वारा यूरोप में अनेक एल्सस लोरेन बना दिये गये हैं। सारे हंगरी में सन्धि के विरुद्ध प्रदर्शन हुए। काउन्ट एपोनी ने विरोध में अपना पदत्याग भी कर दिया। पर उसके अनुनय-विनय और विरोध का कोई फल नहीं हुआ और ४ जून, १९२० को हंगरी को सन्धि पर हस्ताक्षर कर देना पड़ा।

(३) निऊली (Neuilly) की सन्धि—

पेरिस के पास निऊली नामक स्थान में २७ नवम्बर, १९१९ को बुल्गेरिया के साथ मित्रराष्ट्रों की सन्धि हुई, जिसको निऊली की सन्धि कहते हैं। सन्धि के अनुसार बुल्गेरिया को
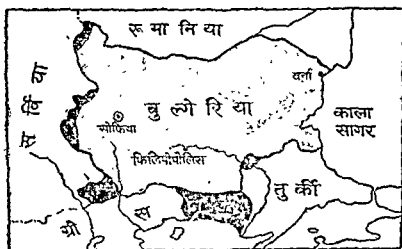
निऊली की सन्धि और बुल्गेरिया की क्षति

उन अधिकृत प्रदेशों को लौटा देना पड़ा जिनको उसने युद्ध-काल में जीता था। दोब्रुजा का प्रदेश रूमानिया को, मैसीडोनिया का अधिकांश हिस्सा युगोस्लाविया को तथा थ्रेस का प्रदेश यूनान को दिया गया। बुल्गेरिया एक बहुत ही छोटा देश हो गया। युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए उस पर भी एक बहुत बड़ी रकम लाद दी गयी। उसकी सेना की संख्या घटाकर ३६ हजार कर दी गयी। बुल्गेरिया में भी सन्धि का घोर विरोध हुआ। राजधानी में सार्वजनिक शोक मनाया गया और विरोध में बड़े-बड़े प्रदर्शन हुए। मित्रराष्ट्रों पर इनका कोई असर नहीं पड़ा और बुल्गेरिया को सन्धि पर हस्ताक्षर कर देना पड़ा।

(४) सेव्र (Sevres) की सन्धि—

सबसे अन्तिम सन्धि तुर्की के साथ हुई, जिसको सेव्र की सन्धि कहते हैं। इस सन्धि को तुर्की की सरकार ने कभी नहीं माना, फिर भी विश्व-राजनीति के पाठकों के लिए इसके विषय में थोड़ा जान लेना आवश्यक है। युद्ध के समय में ही मित्रराष्ट्रों के बीच अनेक गुप्त सन्धियाँ हो चुकी थी, जिसका उद्देश्य तुर्की साम्राज्य का बँटवारा था। सेव्र की सन्धि से इस उद्देश्य की

पूर्ति हो जाती थी। इस सन्धि के अनुसार थ्रेस और इगियन सागर में स्थित द्वीप-समूहों को यूनान को दे दिया गया। स्मर्ना का प्रदेश भी यूनान को मिला। डोडेकनीज रहोड्स और अडेलिया के प्रदेश इटली को दिये गये। मिस्र, अरब, सूडान, साइप्रस ट्रिपालिटानिया, मोरक्का ट्यूनिसिया, फिलिस्तीन, मेसोपोटामिया और अर्मेनिया पर से सुलतान का कब्जा उठ गया। डार्डेनेल्स के जलडमरूमध्य को एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के नियन्त्रण में रख दिया गया।

इस व्यवस्था से तुर्की का एक बहुत बड़ा भू-भाग उसके हाथ से निकल गया। उस पर तरह-तरह के सैनिक प्रतिबन्ध भी लगाये गये। लेकिन सेव्र की सन्धि को कार्यान्वित नहीं किया जा सका; क्योंकि मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में तुर्की में इस सन्धि के विरूद्ध एक जबरदस्त राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उसने मित्रराष्ट्रों को सेव्र की संधी बदलने के लिए मजबूर किया और१९२३ में लुसान में तुर्की के साथ एक दूसरी सन्धि हुई। इस पर हम पीछे प्रकाश डालेंगे।

उपसंहार

सेव्र की सन्धि को छोड़कर महायुद्ध के बाद पेरिस में जो विविध सन्धियाँ हुई और उनके फलस्वरूप जो राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की गयी उनके परिणाम-स्वरूप यूरोप में अनेक नये राज्यों का निर्माण हो गया। १९१९ के पहले यूरोप में केवल उन्नीस राज्य थे लेकिन १९१९ में उसकी संख्या छब्बीस हो गयी। इसके अतिरिक्त बहुत से राज्यों की सीमा में भी काफी परिवर्तन हुए। इसलिए कहा जाता है कि पेरिस शान्ति-सम्मेलन का वास्तविक काम "यूरोप का बाल्कनीकरण"[1] (Balkanisation of Europe) करना था। नये-नये राज्यों के प्रादुर्भाव से नयी-नयी समस्याएँ उठ खड़ी हुई और यूरोप की राजनीति सुलझने के बदले और भी उलझती गयी। १९१९ की शान्ति-सन्धियों में यूरोप में अनेक "खतरनाक स्थल" पैदा कर दिये जिसके कारण कुछ ही वर्षों में यूरोप युद्ध पूर्व स्थिति में आ गया। नये-नये राज्यों के निर्माण के कारण यूरोप में बारह हजार मील लम्बी नयी सीमाएँ बन गयी। इनकी सुरक्षा का एक विकट प्रश्न उपस्थित हुआ जिसके फलस्वरूप हथियारबन्दी की होड़ चल पड़ी। तीव्र आर्थिक राष्ट्रीयता ने चुंगी-सम्बन्धी रुकावटें पैदा कर दी। अगले बीस वर्षों में यूरोप की कठिनाइयों तथा राजनीतिक अस्थिरता का मुख्य कारण यही थी।

युद्ध के पूर्व बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति की एक मुख्य समस्या राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों (national minorities) की थी। युद्ध के बाद इन सन्धियों के फलस्वरूप अल्पसंख्यकों की जटिल समस्या फिर खड़ी हो गयी जिसके कारण यूरोप का राजनैतिक वातावरण अगले वर्षों में बड़ी क्षुब्ध बना रहा और राष्ट्रीय विद्वेष की अग्नि सुलगती रही। इस अल्पसंख्यकों सन्धियों के हितों के संरक्षण के लिए अल्पसंख्यक की व्यवस्था की गयी, लेकिन किसी देश ने इन सन्धियों से अन्दर्गत दिये गये अपने वचनों का पालन नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध पूर्व बाल्कन-राजनीति की तरह कुछ ही वर्षों में सारे यूरोप का राजनीतिक वातावरण अत्यन्त अशान्त हो गया और १९३९ में ससार को एक दूसरा महा-युद्ध देखना पड़ा। १९१९ की सारी शान्ति-सन्धियाँ असफल रही। इनकी असफलता इस तथ्य में भी व्यक्त होती है कि उनकी व्यवस्थाओं को पूर्ण रूप से कभी कार्यान्वित नहीं किया गया। उनको व्यवहार में लाते समय बहुत-सी छूटें दी गयीं, बहुत से

1. Chambers, Harris and Bayley, *This Age Conflict*, p. 384.

उलट-फेर किये गये और बहुत-सी गलतियाँ की गयीं। फलतः जिस शान्ति-व्यवस्था एवं समृद्धि को स्थापित करने के लिए इतना समय लगा और शक्ति व्यय की गयी, उनकी उपलब्धि व्यावहारिक राजनीति में कभी नहीं हो सकी।

लेकिन इसके लिए पेरिस की शान्ति-सन्धियों को दोष देना गलत होगा। ये शान्ति-सन्धियाँ असफल रहीं, इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम, जिन लोगों पर इस संधि को कार्यान्वित करने का भार आया, उन लोगो ने कभी भी दृढ़ता के साथ इस कार्य को नहीं किया। यदि संधि की शर्तों का पालन सभी पक्षों की ओर से होता, तो पेरिस की शान्ति-संधियो की वह दुर्दशा नहीं होती जो बाद में हुई।[1]

सन्धियो की असफलता का एक अन्य कारण फ्रांस में क्लिमेंशो का पतन तथा उग्रवादी पोआन्कारे का सत्तारूढ़ होना था। पोआन्कारे ने प्रारम्भ से ही पेरिस की संधियों का विरोध किया था और जब फ्रांस के शासन पर उसका प्रभुत्व कायम हुआ तो उसका एक मात्र ध्येय ऐसी नीति पर चलना था जिसके फलस्वरूप संधि की शर्तें बेकार हो जायँ और उसे खुलकर जर्मनी से बदला देने का मौका मिले। फ्रांस की राजनीति में पोआन्कारे का पुनः प्रवेश यूरोप के लिए बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ।

शांति-संधियों को एक और धक्का लगा जो बड़ा ही घातक था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसको मानने से इन्कार कर दिया और राष्ट्रपति विलसन के कार्यों का अमरीकी सिनेट ने अनुमोदन नहीं किया। शांति-संधियों से अमेरिका का सम्बन्ध-विच्छेद वस्तुतः सांघातिक सिद्ध हुआ। अमेरिका के समर्थन के अभाव में शांति-सन्धियों की असफलता निश्चित थी। उसको संसार के सबसे महान् देश के समर्थन से वंचित हो जाना पड़ा तथा सन्धियो को कार्यन्वित करने का भार केवल उन्ही लोगों पर रह गया जो केवल प्रतिशोध की भावना में जल रहे थे।

—o—

1. "We should all agree that the Treaties were never given a chance by a miscellaneous and unimpressive array of second rate statesmen who have handled them for the past fifteen years...Had the stipulation of these treaties been faithfully and honestly interpreted and fulfilled, the dark military and economic menace now hanging over Europe would have been averted"—Lloyd George, *Truth About Peace Treaties*, Vol II, pp. 1403–1407

"It is not only that the impressive might of the greatest democracy in the world was withdrawn from the forces behind the Covenant. The damage done to the carefully planned structure of the Treaty as a whole was almost irreparable for the balance was entirely changed. Its interpretation was left entirely in the hands of victorious belligerents with the animosities of centuries stirred and stimulated by the horrible wounds of war......Between the retreat of America and the treacheries of Europe the Treaties of Peace were never given a fair trial."—Ibid, pp. 1412–1413.

अध्याय : २

राष्ट्रसंघ
(League of Nations)

ऐतिहासिक पृष्ठाधार :—अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रसंघ की स्थापना पेरिस शांति-सम्मेलन की सबसे महत्त्वपूर्ण देन मानी जा सकती है क्योंकि इससे अन्त-र्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन में एक नयी व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। युद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की स्थापना मनुष्य की शताब्दियों की शांति-कामना का परिणाम थी। युद्धों को रोकने और स्थायी शांति कायम करने की योजनाएँ मध्यकाल से ही यूरोप में बन रही थी। लेकिन यह काम राजनीतिक दार्शनिकों तक ही सीमित रहा था। चौदहवीं शताब्दी में ही दाँते ने अपनी "डिवाइन कॉमेडी" में एक ऐसी व्यवस्था की कल्पना की थी जिसमें शांति कायम रह सके। दाँते के बाद समूचे मध्य युग में अनेक दार्शनिक पैदा होते रहे। पाइरे डूब्ये, द सल्ली, विलियम पेन, सन्त पायरे, रूसो और कान्त इत्यादि दार्शनिकों के नाम उस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी विचारकों द्वारा शांति स्थापित रखने के लिए अनेक योजनाएँ प्रस्तुत की गयीं; लेकिन संसार पर उनके उपदेशों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यूरोप में समय-समय पर युद्ध होते ही रहे। पर आधुनिक युग के प्रारम्भ होते ही यूरोप के राजनीतिक साहित्य में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की योजनाओं की बाढ़-सी आ गयी। फ्रांस की क्रांति और नेपोलियन का युद्ध इसका एक विशेष कारण था। ऐसा प्रायः देखा गया है कि प्रत्येक युद्ध के बाद लोगों में शांति की भावना अति प्रबल रहती है। नेपोलियन का युद्ध तो खासतौर से भयानक था। इस युद्ध में जितने धन और जन की बर्बादी हुई थी उतना शायद किसी अन्य युद्ध में अब तक नहीं हुई थी। अतएव इस युद्ध की बर्बादी को देखकर और शांति के भावना से प्रेरित होकर मानवता के प्रेमी तरह-तरह की योजनाएँ प्रस्तुत करने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण अभी तक केवल दार्शनिकों का स्वप्न था, राजनीतिज्ञों का इससे कोई मतलब नहीं था। जब नेपोलियन के युद्धों से यूरोप के सभी प्राचीन पद्धतियों का जड़-मूल से नाश हो गया तब यूरोप के शासकों की आँखें खुली।[1] भविष्य में यूरोप को इस प्रकार के महाप्रलय से बचाने की आवश्यकता उन्हें महसूस होने लगी। इसके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण जरूरी हो गया।

नेपोलियन के हारने के बाद मित्रराष्ट्र का एक सम्मेलन १८१४-१५ में वियना में हुआ। वियना में एकत्र राजनीतिज्ञों ने यूरोप में शांति बनाये रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण किया, जिसका यूरोपीय व्यवस्था (Concert of Europe) कहते हैं। पर यूरोपीय व्यवस्था अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकी। राष्ट्रों के बीच परस्पर विरोध के कारण १८२३ में ही इसका अन्त हो गया। यूरोपीय व्यवस्था के अन्त हो जाने के बाद प्रथम विश्व-युद्ध

1. Schuman, *International Politics*, (4th. Ed.) p. 206.

तक शांति बनाये रखने के लिए कोई भी संगठन नहीं था। ऐसे यूरोप के विविध राज्य अपने पारस्परिक झगड़ों का फैसला करने के लिए समय-समय पर मिलते-जुलते रहे; लेकिन उनमें किसी प्रकार के संगठन का सर्वथा अभाव रहा। यदि १९१४ से यूरोप में इस प्रकार का कोई भी संगठन रहता तो यह बहुत सम्भव था कि प्रथम विश्व-युद्ध होने से बच जाता।[1]

युद्ध के पूर्व यूरोप के राज्य राजनीतिक मामलों में सहयोग करने में असमर्थ थे, लेकिन विज्ञान के प्रगति के फलस्वरूप आर्थिक और सामाजिक जीवन में सहयोग करना उनके लिए आवश्यक हो गया था। औद्योगिक क्रांति के कारण एक देश दूसरे पर इतना अधिक आश्रित हो गया था कि किसी के लिए व्यक्तिगत रूप से जीवन बीताना असम्भव हो गया। अतः, इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तरह-तरह की "सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं" (International Public Unions) का जन्म होने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी इन संस्थाओं के विकास के लिए काफी प्रसिद्ध है। विश्व डाकतार संघ (Universal Postal Union) इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इस तरह की और अनेक संस्थाओं का निर्माण हुआ जिनका उद्देश्य मनुष्य के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का संचालन करना था। युद्ध के पूर्व इन संस्थाओं का उत्थान अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में एक नये लक्षण का प्रतीक था। विश्व बन्धुत्व की भावना पैदा करने में इन्होंने बहुत बड़ा काम किया। संसार के विविध राज्य समझने लगे कि एकता और संगठन ही मनुष्य की भलाई की एकमात्र कुँजी है। व्यक्तिगत रूप से कोई भी राष्ट्र प्रगति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता है। राष्ट्रसंघ के निर्माण में इन संस्थाओं ने एक मानसिक पृष्ठाधार तैयार किया है।[2] राष्ट्रसंघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस पृष्ठाधार पर ध्यान रखना आवश्यक है।

राष्ट्रसंघ का जन्म :—संसार के अनेक देशों में युद्ध के समय ही एक राष्ट्रसंघ बनाने की बात चल रही थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में तो राष्ट्रसंघ का निर्माण एक आम चर्चा का विषय बन गया था। १९१५ में ही वहाँ के भूतपूर्व राष्ट्रपति टफ्ट के नेतृत्व में एक 'शान्ति-लागू करने के लिए संघ' (League to Enforce Peace) नामक संस्था कायम हो गयी थी। उस वर्ष जून में फिलाडेल्फिया के 'इन्डेपेन्डेंस हॉल' में इस संस्था के तत्वावधान में एक सभा हुई और उसमें एक चार सूत्रीय कार्यक्रम निर्धारित किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में मध्यस्थता का आश्रय लेना, आक्रमणकारी के विरुद्ध आर्थिक पाबन्दी तथा सैनिक कार्रवाई करना, अन्तर्राष्ट्रीय विधि का नियमबद्धीकरण करना तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यपालिका की स्थापना करना इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य बतलाया गया। संघ के कार्यक्रम को राष्ट्रपति विल्सन का समर्थन भी प्राप्त था। युद्ध के समय उसने अनेक भाषण दिये थे। इन भाषणों में वह भविष्य में युद्ध से बचने की बात पर बराबर जोर देता रहा। वह प्रथम विश्व को "युद्धान्तक युद्ध" समझता था। युद्ध के बाद वह ऐसी व्यवस्था का सृजन करना चाहता था जिसमें प्रजातन्त्र पूर्णरूप से सुरक्षित रहे। ८ जनवरी, १९१८ को विल्सन ने अपने सुप्रसिद्ध "चौदह सूत्रों" को प्रतिपादित किया। इसका अन्तिम सूत्र राष्ट्रसंघ के निर्माण से सम्बन्धित

1. Zimmernn, *The League of Nations and Rule of Law*, p. 36.
2. Eagelton, *International Organisation*, p. 53.

था। अमरीकी राष्ट्रपति का कहना था कि राष्ट्रसंघ के विधान (Covenant) को युद्धोत्तर शान्ति-समझौतो का अभिन्न अंग होना चाहिए।

इस प्रकार युद्ध समाप्त होते-होते राष्ट्रसंघ की आवश्यकता प्रत्येक देश में महसूस की जाने लगी। सभी यूरोपीय राज्य इसके लिए वचनबद्ध हो चुके थे। अतः जब जनवरी, १६१६ में पेरिस में शान्ति-सम्मेलन प्रारम्भ हुआ तो राष्ट्रसंघ के ऊपर गंभीरतापूर्वक विचार होना आवश्यक हो गया। राष्ट्रसंघ की रूपरेखा तैयार करने के लिए एक समिति की नियुक्ति की गयी। राष्ट्रपति विल्सन इसके अध्यक्ष बनाये गये। राष्ट्रसंघ का विधान तैयार होने लगा। इस समय तक राष्ट्रसंघ के लिए अनेक योजनाएँ बन चुकी थी। विल्सन के सहयोगी कर्नल हाउस, ब्रिटेन के लार्ड फिलिमोर तथा लार्ड सेसिल, दक्षिण अफ्रिका के जनरल स्मट्स इत्यादि तरह-तरह की योजनाएँ बना चुके थे। ३ फरवरी को इन योजनाओं को मिलाकर राष्ट्रसंघ की एक रूपरेखा तैयार की गयी। १४ फरवरी को इस रूपरेखा को शान्ति-सम्मेलन की आम सभा में पेश किया गया और बहस के बाद कुछ आवश्यक संशोधन के साथ राष्ट्रसंघ के विधान को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। राष्ट्रसंघ के विधान में २६ धाराएँ थीं। विल्सन राष्ट्रसंघ के विधान को शान्ति-संधियों का अभिन्न अंग बनाना चाहता था। मित्रराष्ट्रों के कुछ व्यक्ति इसके पक्ष में नहो थे। राष्ट्रसंघ की आवश्यकता को वे स्वीकार करते थे: पर उनका विचार था कि उसको सन्धियों के अन्तर्गत रखना अनावश्यक है। विल्सन का कहना था कि राष्ट्रसंघ के बिना सन्धि अधूरी रह जायगी। अन्त में विल्सन की विजय हुई और, राष्ट्रसंघ के विधान को सभी सन्धियों के अन्तर्गत रख दिया गया। १० जनवरी, १६२० को राष्ट्रसंघ का जीवन विधिवत प्रारम्भ हुआ।

राष्ट्रसंघ के उद्देश्य—साधारणतया राष्ट्रसंघ के तीन मुख्य उद्देश्य थे। सर्वप्रथम, यह शान्ति-सन्धियो के नियमो और उपबन्धों को लागू करने का एक साधन था। इस हैसियत से इसका काम पेरिस शान्ति-सम्मेलन द्वारा स्थापित व्यवस्था को बनाये रखना था। इसको कुछ प्रशासकीय कार्य भी दिये गये थे। उदाहरण के लिए, पन्द्रह साल तक के लिए डान्जिग नगर की व्यवस्था और सार के शासन का भार इसके ऊपर था। संरक्षण-पद्धति को चलाना और अल्पसंख्यक जातियों की देख-भाल करना भी राष्ट्रसंघ का कार्य था। दूसरे, राष्ट्रसंघ को सार्वजनिक हित के लिए काम करना पड़ता था। मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए विविध उपाय करना राष्ट्रसंघ का एक प्रमुख ध्येय था। इसके अन्तर्गत महामारियों का रोकना, स्वास्थ्य की दशा को उन्नत करना, दास-प्रथा का उन्मूलन करना, स्त्रियों के क्रय-विक्रय को रोकना, आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों में सहयोग स्थापित करना और इसी प्रकार के अन्य सर्वहितकारी मामलों से सम्बन्धित विषय आने थे। राष्ट्रसंघ का अन्तिम परन्तु महत्त्वपूर्ण उद्देश्य युद्ध का निराकरण एवं शान्ति की स्थापना करना था। राष्ट्रसंघ शान्ति की रक्षा के लिए कोई भी कदम उठा सकता था। राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य अपने साथी सदस्य-राज्यों की प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखने की शर्त को स्वीकार किये थे। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, शान्ति और सुरक्षा को प्रोत्साहित करना राष्ट्रसंघ का एक दूसरा प्रमुख कार्य था। इसके लिए राष्ट्रसंघ का युद्धोत्पादक कारणो को दूर करना भी एक काम था। हथियारबन्दी को

होड़ को रोकना और राज्यों के झगड़ों को युद्ध के अतिरिक्त अन्य शान्तिमय उपायों से फैसला करने का यत्न करना राष्ट्रसंघ का मुख्य उद्देश्य था।

सदस्यता—कुछ लोगों का विचार था कि यूरोप के कुछ इने-गिने राज्य ही राष्ट्रसंघ के सदस्य बनाये जायँ। पर इस विचार को समर्थन नहीं मिला और राष्ट्रसंघ का दरवाजा सबों के लिए खुला रखा गया। राष्ट्रसंघ-विधान की पहली धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ के प्रारम्भिक सदस्य वे ३१ राज्य थे जिनका नाम विधान के परिशिष्ट में उल्लिखित था। परिशिष्ट में कुछ और राज्यो के नाम भी उल्लिखित थे जो राष्ट्रसंघ में शामिल हो सकते थे। इसके अतिरिक्त अन्य देश भी राष्ट्रसंघ के सदस्य हो सकते थे। यदि कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को पालन करने का वचन देते हुए सदस्यता के लिए आवेदन करता तो दो-तिहाई बहुमत से एसेम्बली उसको राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान कर सकती थी। इस तरह राष्ट्रसंघ में तीन प्रकार के सदस्य थे। व्यावहारिक दृष्टि से इस वर्गीकरण का कोई विशेष महत्त्व नहीं था; क्योंकि सभी सदस्यो के वैधानिक अधिकार समान थे।

कोई भी राष्ट्रसंघ की सदस्यता छोड़ सकता था। विधान की पहली धारा में ही इसकी व्यवस्था कर दी गयी थी। उसके अनुसार दो वर्ष पूर्व सूचना देकर कोई सदस्य-राज्य राष्ट्रसंघ से अलग हो सकता था। १६३२ में कोस्टारिका तथा ब्राजील और १९३३ में जापान तथा जर्मनी राष्ट्रसंघ से अलग हो गये। राष्ट्रसंघ के नियमो की अवहेलना करने की दशा में किसी राज्य को राष्ट्रसंघ से निकाला जा सकता था। १६३६ में सोवियत रूस को इसी नियम के अन्तर्गत निकाला गया था। उन राज्यो की सदस्यता भी समाप्त हो सकती थी जो राष्ट्रसंघ-'वधान में किसी संशोधन को मानने को तैयार नहीं थे। विधान की २६ वीं धारा में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया था। विधान में संशोधन का अधिकार असेम्बली को दिया गया था पर किसी भी संशोधन को सदस्य-राज्यों का समर्थन पाना आवश्यक था। कौंसिल की सहमति तो अनिवार्य ही थी।

वित्त:—किसी भी संस्था को चलाने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। राष्ट्रसंघ को आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति सदस्य राष्ट्रों के चन्दे से होती थी। जनसंख्या, क्षेत्रफल और राष्ट्रीय धन के अनुपात एसेम्बली चन्दे की रकम निश्चित करती थी।

प्रधान कार्यालय:—राष्ट्रसंघ का प्रधान कार्यालय जेनेवा में स्थित था। वहीं प्रत्येक सितम्बर में राष्ट्रसंघ का वार्षिक अधिवेशन हुआ करता था। यों तो अधिवेशन दूसरी जगह भी हो सकता था, पर सचिवालय के जेनेवा में स्थित होने के कारण यह सम्भव नहीं था। राष्ट्रसंघ के कर्मचारियों एवं प्रतिनिधियों को सभी कूटनीतिक सुविधाएँ प्राप्त थी।

राष्ट्रसंघ के अङ्ग (Organs) और कार्य

राष्ट्रसंघ के विधान की दूसरी धारा के अनुसार 'राष्ट्रसंघ का कार्य एक एसेम्बली, एक कौंसिल तथा एक स्थायी सचिवाल द्वारा होगा।' राष्ट्रसंघ के यही तीन प्रधान अंग थे। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ भी राष्ट्रसंघ के महत्त्वपूर्ण अंग थे। इनके अतिरिक्त

राष्ट्रसंघ के विविध आयोग, जैसे—संरक्षण आयोग, सैनिक आयोग, परामर्शदात्री आयोग इत्यादि थे।

एसेम्बली :—

एसेम्बली राष्ट्रसंघ की प्रतिनिधि सभा थी और इसमें सभी सदस्य-देशों के प्रतिनिधि रहते थे। इसके सभी सदस्य-राज्यों के अधिकार समान थे। नये उम्मीदवारों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान करना इसी का काम था। यह एसेम्बली का सबसे बड़ा अधिकार था। एक सदस्य-राज्य अधिक-से-अधिक तीन प्रतिनिधि भेज सकता था; लेकिन वोट देने का अधिकार एक ही को प्राप्त था। अपने प्रतिनिधियों की नियुक्ति का पूर्ण अधिकार सदस्य-राज्यों का प्राप्त था। वे किसी भी व्यक्ति को अपने देश का प्रतिनिधि बना सकते थे। प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्यों के अपने-अपने विचार हो सकते थे, उनमें परस्पर सैद्धांतिक मतभेद हो सकता था, लेकिन उन्हें अपनी सरकार के आज्ञानुसार ही वोट देना पड़ता था। प्रतिनिधियों को इस तरह के आदेश बराबर मिला करते थे।

विधान के द्वारा एसेम्बली को जो अधिकार मिले थे वे कौंसिल के अधिकार से कम थे। एसेम्बली को कार्यकारिणी का रूप देना विधान निर्माताओं का ध्येय नहीं था; क्योंकि यह बहुत बड़ी संस्था थी और इसका अधिवेशन कभी-कभी होता था। इसके अतिरिक्त एसेम्बली को अपनी कोई स्थायी समिति और आयोग नहीं थी। एसेम्बली का काम केवल निर्णय करना था और उस निर्णय को लागू करने का काम कौंसिल या राष्ट्रसंघ के महासचिव का था।

केवल राष्ट्रसंघ की सदस्यता पर ही एसेम्बली के असीम अधिकार थे। इस क्षेत्र में कौंसिल को केवल एक ही अधिकार प्राप्त था। यह विधान के उल्लंघन पर किसी राज्य को राष्ट्रसंघ से निकाल सकती थी। अन्यथा सदस्यता के आवेदन को स्वीकार करना एसेम्बली का ही काम था। इस विषय पर अगर दोनों संस्थाओं को बराबर अधिकार मिलते, जैसा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को है, तो दोनों में बराबर गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो सकती थी।

विधान के अनुसार राष्ट्रसंघ का कोई भी निर्णय बैठक में उपस्थित तमाम सदस्य राष्ट्रों की राय से होता था। दूसरे शब्दों में राष्ट्रसंघ में 'मतैक्य का नियम' (principle of unanimity) अपनाया गया था। यद्यपि यह नियम राष्ट्रसंघ की सफलता में बहुत बड़ा बाधक सिद्ध हुआ, फिर भी इस नियम के बिना काम नहीं चल सकता था। सदस्य-राज्य अपने राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को बचाने के लिए इतने सतर्क थे कि वे वैसी संस्था में जाने को इच्छुक नहीं थे जहाँ पर किसी निर्णय को लादे जाने का भय हो।[1]

एसेम्बली का अधिवेशन हर सितम्बर महीने में जेनेवा में हुआ करता था। आवश्यकता पड़ने पर इसके विशेष अधिवेशन भी हो सकते थे। जब एसेम्बली का अधिवेशन प्रारम्भ होता तो शुरू में वह व्यक्ति उसके सभापति पद को ग्रहण करता था जो उस समय राष्ट्रसंघ कौंसिल का अध्यक्ष रहता था। बाद में एसेम्बली अपने सभापति और छः उपसभापतियों का निर्वाचन स्वयं करने लगी। एसेम्बली का काम राष्ट्रीय संसद् की तरह स्थायी समितियों द्वारा होता था। इसमें निम्नलिखित छः विषयों की समितियाँ होती थीं— (१) वैधानिक और कानून सम्बन्धी

1. H. W. Harris, *What League of Nations is ?*, p. 22.

विषयों के लिए, (२) टेक्निकल संस्थाओं के लिए, (३) निरस्त्री के लिए, (४) बजट और राष्ट्रसंघ की आर्थिक व्यवस्था के लिए, (५) सामाजिक समस्याओं के लिए तथा (६) राजनीतिक प्रश्नों के लिए। एसेम्बली इसके अतिरिक्त भी आयोग या समितियों का सृजन कर सकती थी।

तरह-तरह का चुनाव करना एसेम्बली का प्रमुख काम था। दो-तिहाई वोटों से नये सदस्यों का चुनाव, कौसिल के स्थायी सदस्यों का चुनाव, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति और राष्ट्रसंघ के महासचिव की नियुक्ति को स्वीकार करना इसका काम था। एसेम्बली राष्ट्रसंघ के वार्षिक बजट को स्वीकार करती थी और कौसिल के कार्यक्रम को जाँच-पड़ताल करती थी। यह राष्ट्रसंघ के विधान में संशोधन भी करती थी।

विधान की तीसरी धारा के द्वारा एसेम्बली को एक बहुत बड़ा अधिकार प्राप्त था। इसके अनुसार एसेम्बली उन सभी स्थितियों पर विचार कर सकती थी जिनसे विश्व शान्ति पर खतरा पहुँचने का भय था। कोई भी सदस्य-राज्य किसी भी समस्या को एसेम्बली के सम्मुख पेश कर सकता था। एसेम्बली केवल अपने सदस्य-राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी (धारा १७।८)। इसके अधिवेशनों में सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि किसी भी ऐसे प्रश्नों को उपस्थित कर सकते थे जो राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों और प्रयोजनों से सम्बन्ध रखते हों। वे अपनी शिकायतों को वहाँ पेश कर सकते थे, अपनी समस्याओं को अन्य राज्यों के सम्मुख ला सकते थे और अन्य राज्यों की नीति की आलोचना भी कर सकते थे। सभी निर्णय प्रस्ताव पास कर के किये जाते थे।

एसेम्बली का अधिवेशन खुला होता था। दर्शक के रूप में आम जनता इसमें शामिल हो सकती थी। यहाँ-विवाद स्वतन्त्र रूप से हुआ करते थे। विश्व-राजनीति पर बहस करना इसका प्रमुख कार्य था। इस तरह छोटे-बड़े सभी राज्यों को अपनी शिकायत पेश करने पर मौका मिल जाता था। इन वाद-विवादों से बहुत लाभ होते थे। संसार के राजनीतिज्ञों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने का मौका मिल जाता था। एसेम्बली में उन सभी विषयों पर बहस हो सकती थी जो पहले विविध परराष्ट्र-मन्त्रालयों में गोपीय रखे जाते थे। इसलिए पौटर साहब का यह कथन कि एसेम्बली केवल एक वाद-विवाद की सोसाइटी थी, गलत है, मोअर के अनुसार एसेम्बली राष्ट्रसंघ का एक प्रभावशाली अंग था।[1]

कौंसिल :—कौसिल राष्ट्रसंघ की एक छोटी, परन्तु असेम्बली से अधिक शक्तिशाली संस्था थी। इसकी बनावट एसेम्बली से भिन्न थी। एसेम्बली में राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य थे; लेकिन कौंसिल की सदस्यता सीमित थी। इसमें दो तरह के सदस्य थे—स्थायी और अस्थायी। तथा कथित महान राज्य कौंसिल के स्थायी सदस्य थे। इस व्यवस्था की काफी आलोचना हुई; क्योंकि यह अन्यायपूर्ण था। इससे राज्यों की समानता के सिद्धान्त का उल्लंघन होता था।

प्रारम्भ में यह व्यवस्था की गयी कि कौंसिल के नौ सदस्य हों—पाँच स्थायी और चार अस्थायी। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और इटली को कौंसिल का स्थायी पद प्राप्त हुआ। अन्य चार अस्थायी पदों का एसेम्बली द्वारा निर्वाचन होने का प्रबन्ध किया गया। १९२० में ब्राजील, बेल्जियम, यूनान और स्पेन कौंसिल के अस्थायी सदस्य चुने गये। संयुक्त राज्य

1. Mower, op. cit., p. 379

अमेरिका राष्ट्रसंघ में शामिल ही नहीं हुआ। अतः १९२२ तक कौंसिल में आठ ही सदस्य थे। १९२२ में यह तय किया गया कि कौंसिल के सदस्यों की संख्या आठ के स्थान पर दस कर दी जाय। इस तरह कौंसिल की संख्या हमेशा बढ़ती-घटती रही। १९३९ तक कौंसिल में केवल तीन सदस्य—ब्रिटेन, फ्रांस, और रूस—रह गये और अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़कर ग्यारह तक पहुँच गयी।[1]

विधान-निर्माताओं का यह विचार था कि कौंसिल को राष्ट्रसंघ का सब से शक्तिशाली अंग बनाया जाय। वास्तव में यह राष्ट्रसंघ की कार्यकारिणी समिति थी। १९२९ के बाद इसका अधिवेशन वर्ष में जनवरी, मई और सितम्बर में तीन बार होने लगा। आवश्यकता पड़ने पर इसकी और बैठकें हो सकती थीं। फ्रांसीसी वर्णमाला के आधार पर इसके सभापति बारी-बारी से चुने जाते थे। केवल कार्यक्रम और कार्य-विधि को छोड़कर कौंसिल के सभी निर्णयों को सर्वसम्मति द्वारा पास होना आवश्यक था। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् की तरह कौंसिल के किसी सदस्यों को "वीटो" का अधिकार नहीं था। जब किसी ऐसे राज्य का मामला कौंसिल के सम्मुख पेश होता था जो उस समय कौंसिल का सदस्य नहीं हो, तो उसे यह अवसर दिया जाता था कि उसका प्रतिनिधि कौंसिल के अधिवेशन में उपस्थित होकर अपना विचार प्रकट कर सके।

कौंसिल को कार्यकारिणी के महत्त्वपूर्ण कार्य करने पड़ते थे। सबसे पहले, उसे डान्जिग और सार के प्रशासन तथा संरक्षण का निरीक्षण करना पड़ता था। शान्ति-संधियों द्वारा अल्पसंख्यक जातियों का जो अधिकार मिले थे उनपर निगरानी रखना भी कौंसिल का काम था। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाना, निरस्त्रीकरण के लिए योजना तैयार करना, आक्रमणकारी के विरुद्ध पाबन्दी लगाना, युद्ध की सम्भावना में सदस्य-राज्यों को आदेश देना, एसेम्बली की सिफारिशों को लागू करना, महासचिव को मनोनीत करना, सचिवालय के अन्य उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति करना इत्यादि कौंसिल के असंख्य काम थे। इनके अतिरिक्त कौंसिल को एसेम्बली की तरह यह अधिकार भी प्राप्त था कि राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों और प्रयोजनों के अन्तर्गत तथा विश्व-शान्ति के सम्बन्धित सभी विषयों पर विचार करे और कोई ठोस कदम उठाये।

वैधानिक अधिकारों के अतिरिक्त कौंसिल को विश्व-राजनीति को प्रभावित करने के अनेक मौके थे। सदस्य-राज्य कौंसिल में ज्यादातर अपने प्रधानमन्त्री या विदेशमंत्री को भेजते थे। कौंसिल की बैठक बराबर हुआ करती थी। अतः मन्त्रियों को एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आने का मौका मिलता था। पहले गलतफहमियों से ही राज्यों का सम्बन्ध खराब हो जाता था। उसकी सम्भावना अब बहुत हद तक जाती रही। विदेश-मंत्री या विदेश मंत्रालय से सम्बन्धित उच्च पदाधिकारी आपस में मिलकर, बातचीत करके बहुत से झगड़े को तय कर लिया करते थे। यह एक बहुत ही उत्साहवर्द्धक कदम था। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को विचार-विमर्श एवं शान्तिमय उपायों से सुलझाकर कौंसिल ने यह स्पष्ट कर दिया की अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निबटारा युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों द्वारा भी किया जा सकता है।

1. Schuman, *International Politics.* (4th Ed.) pp. 214-215.

एसेम्बली और कौंसिल के पारस्परिक सम्बन्ध

एसेम्बली और कौंसिल राष्ट्रसंघ के दो प्रमुख अंग थे, लेकिन उसके विधान में इन दोनों संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कोई चर्चा नहीं की गयी थी। अतएव निश्चित रूप से इनके सम्बन्ध के स्वरूप में कुछ कहना कठिन है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इन दोनों अंगों में वही सम्बन्ध था जो संसदीय प्रणाली के देशों में संसद् तथा केबिनेट के बीच होता है। कुछ अन्य लोगों का कहना है कि इन दोनों अंगों का आपसी सम्बन्ध संसद् के दो सदनों के सदृश था। लेकिन राष्ट्रसंघ के संगठन के अध्ययन से ऐसे किसी सम्बन्ध का पता नहीं चलता। इसके सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि ये दोनों संस्थाएँ एक ही मशीन के दो पुर्जे थे जिनको आपस में सहयोग करके ही काम करना पड़ता था। एक अंग राज्यों की सैद्धांतिक समानता और दूसरा महान् राज्यों की व्यावहारिक प्रधानता का प्रतीक था। कुछ समय के लिए यदि हम यह मान लें की एसेम्बली और कौंसिल में संसद् तथा मंत्रिमंडल जैसा सम्बन्ध था, तो यह एक भयंकर भूल होगी। संसदीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत केबिनेट संसद् की मर्जी पर टिका रहता है। जिस समय केबिनेट पर से संसद् का विश्वास उठ जाता है उसी क्षण उसको हट जाना पड़ता है। राष्ट्रसंघ की ऐसेम्बली और कौंसिल में इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं था। एसेम्बली कौंसिल को समाप्त नहीं कर सकती थी और न एसेम्बली के लिए यह आवश्यक था कि वह कौंसिल के लिए नीति-निर्धारण करे। एक बार जब कौंसिल संगठित हो जाती थी तो वह एसेम्बली से पूर्णतया स्वतन्त्र रहती थी। एसेम्बली के लिए यह भी आवश्यक नहीं था कि वह कौंसिल द्वारा पेश किये गये प्रश्नों पर विचार करें ही।

इसी तरह कौंसिल और एसेम्बली में संसद् के दो सदनों जैसा कोई सम्बन्ध भी नहीं था। उनमें से न तो कोई प्रथम सदन था और न द्वितीय सदन। वस्तुतः इनमें से किसी को सदन कहना ही अनुचित है। बहुत कम विषयों पर दोनों को मिल-जुलकर काम करने की आवश्यकता थी। प्रो० वर्वीगसी के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि ये दोनों दो परिणाम के दो संस्थाएँ थीं। एक की बैठक बहुधा होती थी तो दूसरे की कभी-कभी। एक शीघ्रता से कोई काम कर सकता था; दूसरे के कार्य-प्रणाली में विलम्ब की सम्भावना अधिक थी।

राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत इन दो संस्थाओं का निर्माण करने के दो कारण थे। राष्ट्रसंघ में एक ऐसे संस्था की आवश्यता थी जो जरूरत पड़ने पर बिना किसी विलम्ब के शीघ्रातिशीघ्र काम कर सके। इस काम के लिए एक छोटी संस्था की आवश्यकता थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कभी समस्या खड़ी हो सकती थी और विश्व-शान्ति के लिए उसको जल्द-से जल्द सुलझाना वांछनीय था। ऐसे काम को कौंसिल जैसी छोटी संस्था ही कर सकती थी। इसके अतिरिक्त शान्ति-संधियों द्वारा राष्ट्रसंघ को कुछ प्रशासकीय कार्य भी दिये गये थे। इस काम को एक छोटी संस्था ही कर सकती थी। फिर, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के महत्त्वपूर्ण बातों पर विचार करने के लिए कभी-कभी संसार के सभी राज्यों का सम्मेलन होना भी आवश्यक था। इसके लिए एसेम्बली का होना जरूरी था। एसेम्बली और कौंसिल दोनों के निर्माण से राष्ट्रों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक असमानता के सिद्धान्तों के बीच समन्वय हो गया। कौंसिल के सृजन से महान्

1. Haward Ellis, *The Origin, Structure and the Working of the League of Nations*, p. 157.

राज्यों की प्रधानता को मान्यता मिल गयी और ऐसेम्बली से समानता के सिद्धान्त की पुष्टि हुई।

राष्ट्रसंघ के विधान में कौंसिल शब्द का प्रयोग ६० बार तथा एसेम्बली शब्द का प्रयोग केवल २४ बार हुआ है। इससे कुछ लोग यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास करते हैं कि कौंसिल एसेम्बली से अधिक शक्तिशाली थी। उनके कथनानुसार कम-से-कम विधान-निर्माताओं का यही उद्देश्य था। लेकिन ऐसी कोई बात नहीं थी। कौंसिल के सदस्य एसेम्बली के सदस्य भी होते थे। इस हालत में एसेम्बली को प्रभावित करने को उन्हें पर्याप्त अवसर था। इसी तरह एसेम्बली भी कौंसिल को प्रभावित कर सकती थी। इस कारण दोनों संस्थाओं के बीच संघर्ष होने की सम्भावना भी बहुत कम हो गयी। कौंसिल को एसेम्बली की सिफारिशों को मानने में कोई कठिनाई नहीं थी। कौंसिल के सहयोग से बाद में एसेम्बली के अधिकार बढ़ते गये। उदाहरण के लिए १६२० के बाद से कौंसिल प्रत्येक वर्ष अपने कामों की एक रिपोर्ट एसेम्बली में भेजा करती थी। वहाँ उस रिपोर्ट पर काफी बहस होती थी। लेकिन इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि एसेम्बली को कौंसिल के कार्यों का निरीक्षण करने का अधिकार था।

सचिवालय

राष्ट्रसंघ के प्रशासकीय कार्यों के लिए जेनेवा में स्थित एक स्थायी सचिवालय था। राष्ट्रसंघ का प्रबन्ध, पत्र-व्यवहार और व्यवस्था आदि का कार्य इसी के द्वारा होता था। सचिवालय का प्रधान महासचिव कहलाता था। राष्ट्रसंघ के सभी कार्यों को संचालित करना उसका मुख्य काम था। पहला महासचिव सर जेम्स एरिक ड्रमंड थे। राष्ट्रसंघ के विधान के द्वारा ही वे महासचिव के पद पर नियुक्त किये गये थे। वे १६२० से १६३३ तक इस पद पर काम करते रहे। उनके बाद इस पद पर नियुक्ति किस प्रकार की जाय, इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से व्यवस्था भी कर दी गयी थी। एसेम्बली की राय से कौंसिल नये महासचिव की नियुक्ति कर सकता था। ड्रमंड के बाद फ्रांस के जोसफ एवेनेल १६४० तक महासचिव के पद पर काम करते रहे। उनके त्यागपत्र देने के बाद आयरलैंड के सीन लेस्टर स्थानापन्न महासचिव नियुक्त किये गये।

महासचिव का काम राष्ट्रसंघ के प्रशासन की देखभाल करना था। इस काम में उनकी सहायता के लिए दो सहकारी सचिव और दो उप-सहकारी सचिव होते थे। इन पदों पर महान् राज्य के नागरिक ही नियुक्त किये जाते थे। इसके अतिरिक्त महासचिव के अधीन ७०० के लगभग राष्ट्रसंघ के कर्मचारी काम किया करते थे। योग्यता के आधार पर उनकी नियुक्ति महासचिव के द्वारा होती थी। ये पदाधिकारी राष्ट्रसंघ के विविध सदस्य-राज्यों से लिए जाते थे। यदि उनको अन्तर्राष्ट्रीय सिविल सर्विस का सदस्य कहा जाय तो कोई अनुचित नहीं होगा। ये लोग वास्तव में अपने देश के हित का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे; बल्कि वे राष्ट्रसंघ के सेवक थे और उसके सदस्यों के हित पर निगरानी रखना उसका कर्त्तव्य था।

सचिवालय को ग्यारह विभागों में विभक्त किया गया था। इन विभागों का संचालन अध्यक्षों के अधीन होता था। इसके मुख्य विभाग निम्नलिखित थे—साधारण विभाग जिनमें राजनीतिक, कानूनी और सूचना-सम्बन्धी कार्य होते थे, संरक्षण-विभाग, निरस्त्रीकरण, स्वास्थ्य,

अल्पसंख्यक जातियो तथा आर्थिक समस्याओं के विभाग। प्रत्येक को अपने-अपने क्षेत्र में काम करना पड़ता था। राष्ट्रसंघ के विचारार्थ विविध समस्याओं सम्बन्धी आवश्यक सूचना प्राप्त करना, एसेम्बली तथा कौसिल की कार्रवाइयों को प्रकाशित करना, बैठक का कार्यक्रम तैयार करना, भाषणों को प्रकाशित करना इत्यादि सचिवालय के काम थे। महासचिव का एक मुख्य कार्य यह भी था कि वह अपने कार्यालय में उन सब सन्धियों को रजिस्टर्ड करे, जो राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों के बीच में हुई हो। राष्ट्रसंघ के विधान की १८ वीं धारा के अनुसार इसको अनिवार्य बना दिया गया था। १९४१ तक राष्ट्रसंघ के सचिवालय ने ४७३३ सन्धियों को रजिस्टर्ड किया।

प्रोफेसर हेरिस के अनुसार सचिवालय राष्ट्रसंघ का एक विशिष्ट और अनूठा अंग था। सचिवालय का संगठन कोई नई चीज नहीं थी।[1] यह राज्य-सरकार के सचिवालयों के ही समान था; लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस तरह की संस्था की स्थापना एक बिल्कुल नयी चीज थी। इसलिए इसका महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता था। यह कहना कोई अनुचित नहीं होगा की अगर राष्ट्रसंघ के किसी अंग ने राष्ट्रसंघ की महत्ता को साबित किया तो वह सचिवालय ही था। विधान के द्वारा तो सचिवालय को कोई विशेष अधिकार प्राप्त नही था; लेकिन व्यावहारिक दृष्टिकोण से इसको जो काम करने पड़े वे काफी महत्त्वपूर्ण थे। विधान के अनुसार सचिवालय गौण संस्था थी। इसको एसेम्बली और कौंसिल के आदेश-पालन करने पड़ते थे। पर वास्तव में इसका कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत था। इसमें काम करने वाले कर्मचारी भिन्न-भिन्न भाषा, धर्म, नस्ल, संस्कृति आदि के लोग होते थे। फिर भी वे एक साथ मिलकर राष्ट्रसंघ के कार्यालय में काम करते थे। सचिवालय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का सर्वोत्कृष्ट नमूना था और अगर राष्ट्रसंघ का उद्देश्य इस सहयोग को बढ़ाना था तो निश्चय ही सचिवालय बहुत हद तक इस उद्देश्य की पूर्ति करता था।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

शांतिमय उपायों से अन्तर्राष्ट्रीय झगडो का निबटारा करना राष्ट्रसंघ का एक प्रमुख उद्देश्य था। पंचायतों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय वाद-विवाद को सुलझाने की परम्परा कुछ दिनों से चली आ रही थी। हेग-सम्मेलन के फलस्वरूप एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायती अदालत कायम हुई थी, लेकिन इसका क्षेत्र बहुत ही सीमित था। राष्ट्रसंघ विधान के निर्माताओं ने एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय अदालत की आवश्यकता महसूस की और विधान की १४ वीं धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ के तत्त्वाधान में एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की। फरवरी, १९२० में राष्ट्र-संघ के कौंसिल ने न्यायालय के संविधान को तैयार करने लिए अमेरिका के मि० इलीहूरूट की अध्यक्षता में कानून-विशेषज्ञों का एक आयोग नियुक्त किया। हेग में छः सप्ताह के प्रयत्नों के बाद इस आयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संविधान, कार्यविधि इत्यादि को निश्चित कर दिया। राष्ट्रसंघ की एसेम्बली और कौसिल ने कुछ संशोधन के साथ आयोग के निर्णयों को स्वीकार कर लिया। इसके बाद न्यायालय के संविधान का राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों के पास

1. Potter, *An Introduction to the Study of International Organisation*, p. 274.

2. Gilert Murray, *The Problems of Foreign Policy*, p. 117.

अनुमोदन के लिए भेजा गया। सितम्बर १९२१ तक राष्ट्रसंघ के बहुसंख्यक सदस्यों ने इसे स्वीकार कर लिया और तब अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को हेग मे विधिवत् स्थापित किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय राष्ट्रसंघ का प्रधान अंग नहीं था, लेकिन राष्ट्रसंघ इसका जन्मदाता था। इसी न्यायालय को पीछे चलकर संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत बिना कोई विशेष खास परिवर्तन किये ही पुनर्स्थापित किया गया और आज यह इसका प्रधान अंग बन गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ

आधुनिक युग मजदूरों का युग है और इस वर्ग की उत्पत्ति औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुई और प्रत्येक देश में इसकी संख्या बहुत अधिक है। मजदूर वर्ग पर ही किसी देश का भविष्य निर्भर करता है। उन्ही के श्रम से देश सुखी और धनाढ्य होता है। फिर भी यह वर्ग हमेशा उपेक्षित रहा है। पूँजीपति वर्ग तो मजदूरों का शोषण करके ही आनन्द लूटते हैं। इसी शोषण के प्रतिक्रिया स्वरूप समाजवाद का जन्म हुआ है। समाजवाद मजदूरों की दशा को उन्नत करने का एक सिद्धान्त है। इसके अनुसार पूँजीपतियो और मजदूरों के स्वार्थ एक दूसरे के विरुद्ध हैं। अतः मजदूरों की दशा सुधारने के लिए साम्यवाद एक नया सन्देश लेकर आया और संसार में एक नयी क्रान्ति का सूत्रपात करने लगा। १९१७ की रूसी क्रांति इसी का परिणाम था। रूस के क्रान्तियो में मजदूर-वर्ग की दशा सुधारने के लिए नया नारा दिया—'दुनिया के मजदूरों एक हो।'

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोप के मजदूर आन्दोलनों को रूसी क्रांति से बहुत बड़ा सहारा मिला। चारों तरफ असन्तोष का वातावरण था और मजदूर वर्ग में अपनी दशा सुधारने के लिए काफी खलबली थी। पेरिस सम्मेलन में बैठे हुए पूँजीपति देश के प्रतिनिधियों को रूसी नारे और मजदूरों की जागृति को समझते देर नही लगी। उन्होने देखा कि अगर मजदूरों की दशा में सुधार नहीं होता है तो सम्भवतः सारा यूरोप साम्यवाद की लहर में डूब जायगा। इस संकट से बचने के लिए उन्होंने श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए कई ठोस कदम उठाने का निर्णय किया। पर व्यक्तिगत रूप से कोई देश श्रमिकों की दशा उन्नत नहीं कर सकता था; क्योंकि पारस्परिक प्रतियोगिता पूँजीवाद को सबसे बुरी विशेषता है। यह काम विश्वव्यापी तौर पर ही किया जा सकता है। अगर पूँजीपति-राज्य मिल-जुलकर काम करें तो मजदूरों की दशा में सुधार होगी और साम्यवाद की बाढ़ भी रुकेगी। इसी भावना से प्रेरित होकर पेरिस शान्ति-सम्मेलन में भाग लेनेवाले राजनेताओं में राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ की स्थापना की। अतः यह कहना कोई गलत नही होगा कि प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ साम्यवाद का विरोध करने का एक यन्त्र था। आश्चर्य नहीं कि सोवियत रूस हाल तक इस संघ को शक की निगाहों से देखता रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ का प्रधान दफ्तर जेनेवा में कायम किया गया। संसार भर के श्रम-कानूनों में समानता लाना तथा मजदूरों को सन्तुष्ट रखना इसका मुख्य उद्देश्य था। यह कोई जरूरी नही था कि राष्ट्रसंघ के सदस्य ही श्रम-संघ के सदस्य हों। कोई भी राज्य इसका सदस्य हो सकता था। जर्मनी उस समय भी इस संघ का सदस्य था जबकि उसे राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्राप्त नही हुई थी। इसी प्रकार ब्राजील और संयुक्त राज्य अमेरिका उस समय संघ के सदस्य थे जब

कि वे राष्ट्रसंघमें शामिल नहीं थे। अन्तर्राष्ट्रीय संघ श्रमसंघ का व्ययराष्ट्रसंघ के बजट से होता था। आज कल यह संस्था संयुक्तराष्ट्र संघ के साथ सम्बद्ध है।

श्रम संघ का संगठन :—अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ के तीन विभाग—साधारण सम्मेलन (General Conference), शासक सभा (Governing Body) तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour office) साधारण सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य-राज्य के चार प्रतिनिधि- होते थे—एक मजदूरो द्वारा चुना हुआ, दूसरा मालिको द्वारा चुना हुआ' दो सरकार द्वारा चुने हुए। इसके पास· कानून निर्माण के कोई अधिकार नही थे। यह केवल श्रमिकों की दशा सुधारने के उपायो पर तथा इस क्षेत्र में प्रचलित बुराइयों की ओर विश्व का ध्यान केन्द्रित कर सकता था। यह सम्मेलन प्रायः विभिन्न विषयों पर अपनी सिफारिशों को अथवा कुछ समझौतों (*Draft Conventions*) *को पाश किया करता था। रिफारिशों में प्रायः मजदूरो के सम्बन्ध* रखने वाले कानूनों के कुछ ऐसे व्यापक और विस्तृत सिद्धान्त होते थे, जो विभिन्न राज्यों के लिए श्रमिक कानून बनाते समय मार्गदर्शक और उपयोगी भी हो सकते थे। समझौते प्रायः ऐसे विस्तृत कानूनी प्रस्ताव होते थे, जिनके सम्बन्ध में प्रत्येक सदस्य-राज्य से यह आशा रखी जाती थी कि वह इनका अनुमोदन करेगा और इसके अनुसार कानून बनायगा। १९३९ तक प्रतिवर्ष होने वाले सामान्य सम्मेलनो ने १३३ सिफारिशें और समझौते पास किये। इनका सम्बन्ध प्रायः इन विषयो से था—काम करने के घण्टे, स्त्रियों और बच्चों की मजदूरी, रात्रि के कार्य, कारखानों की स्वास्थ्य सम्बन्धी परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ, बेकारी, सार्वजनिक श्रम, रोजगार के कार्यालय, मजदूरों के संघ बनाने के अधिकार, समुद्री जहाजों पर काम करने की परिस्थितियाँ, कारखानों में काम की परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाली बीमारियाँ (occupational diseases) आदि। राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों की सरकारों से अनेक समझौतों का अनुमोदन किया। १९३९ में युद्ध छिड़ने के पूर्व पचास विभिन्न देशों ने ऐसे समझौतों का सात सौ अनुमोदन कर दिया था।

शासक सभा के बत्तीस सदस्य होते थे। इनमें आठ मजदूरो के, आठ मिल-मालिको के तथा सोलह विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि होते थे। अधिकतम औद्योगिक महत्त्व रखने वाले राज्यों की इसमें प्रधानता बनाये रखने के लिए १९२२ में यह व्यवस्था कि गयी थी की इसके आठ प्रतिनिधि बेल्जियम, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, भारत, और जापान द्वारा चुने जाने चाहिए : जब संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के सदस्य बने तो उन्हें कनाडा और बेल्जियम के स्थान पर स्थायी प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। इस सभा का मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय के संचालक (Director) का चुनाव और उसका नियन्त्रण था।

जेनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय का प्रधान कार्य औद्योगिक जीवन और मजदूरो से सम्बन्ध रखने वाली सभी विषयो की जानकारी और सामग्री एकत्र करना था। यह सामान्य सम्मेलन की वार्षिक बैठकों के लिए विचारणीय विषयों की सूची भी तैयार करता तथा विश्व के विभिन्न भागों में श्रमिक कल्याण का कार्य करने वाली संस्थाओं में सम्पर्क स्थापित करता था। इसने अनेक रिपोर्टों, अध्ययनों और दस्तावेजों का तथा इण्टरनेशनल लेबर रिव्यू तथा बुलेटिन नामक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी किया।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा

राष्ट्रसंघ की स्थापना का मुख्य उद्देश्य संसार को युद्ध से बचाना था। इसका कार्यक्षेत्र भविष्य में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध को छिड़ने से रोकना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राष्ट्रसंघ के विधान में चार व्यवस्थाएँ की गयी थी :

(१) पहली व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने कुछ ऐसी कानूनी बाध्यताओं और उत्तरदायित्वों को स्वीकार किया जिनसे उनका युद्ध छेड़ने का अधिकार सीमित हो जाता था। राष्ट्रसंघ के विधान को स्वीकार करके सदस्य राज्यों ने पहले पहल युद्ध छेड़ने के अपने सर्वोच्च-अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाना स्वीकार किया। विधान की दसवीं धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने यह स्वीकार किया कि वे आपस में मिलकर सब देशों की वर्तमान राजनीतिक स्वतंत्रता और प्रादेशिक अखंडता की रक्षा बाह्य आक्रमणों से करेंगे। यह प्रसिद्ध सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत था।

(२) दूसरी व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ के विधान में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्ति-पूर्ण निपटारे की प्रक्रिया का वर्णन था। इन प्रक्रियाओं का वर्णन विधान की [illegible] धाराओं में हुआ था। ग्यारहवीं धारा के अनुसार किसी युद्ध या युद्ध की [illegible] के लिए चिन्ता का विषय (matter of concern) बताया गया। [illegible] को संकट में डालनेवाली किसी भी परिस्थिति की ओर कोई [illegible] आकृष्ट करा सकता था तथा राष्ट्रसंघ के किसी भी सदस्य की [illegible] युद्ध की स्थिति पर विचार करने के लिए तुरत कौंसिल की बैठक [illegible] राष्ट्रसंघ विधान की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धारा थी और [illegible] गयी थी। राष्ट्रसंघ के समक्ष इस धारा के अन्तर्गत [illegible] इसका मुख्य उद्देश्य युद्ध के विरुद्ध जनमत तैयार करना था। [illegible] कि जब कौंसिल या एसेम्बली में शांति को संकट में डालनेवाली [illegible] संसार के शान्तिवादी लोकमत के द्वारा ऐसे संकटों का [illegible]।

बारहवीं धारा में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को [illegible] तीन प्रकार के थे। इसके अनुसार संघ के सदस्यों [illegible] का विवाद उत्पन्न हो जिनसे उनके सम्बन्धों [illegible] (arbitration) को सौंपेंगे, या इसका [illegible] इसकी जाँच करायेंगे। साथ ही, इन्होंने [illegible] सिफारिशों के तीन महीने के अन्दर [illegible] रखने का उद्देश्य यह था कि इस [illegible] हो जायगी और इस बीच शांतिवादी [illegible] हो जायगी। लेकिन राष्ट्रसंघ के [illegible] इस व्यवस्था का सहारा लिया [illegible]।

धारा तेरह के द्वारा [illegible] राष्ट्रीय दायित्वों ने [illegible]

अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा कराने की व्यवस्था की गयी। राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने इन निर्णयों को मानने को स्वीकार किया और यह भी वादा किया कि इन निर्णयों को .माननेवाले राज्य के विरुद्ध युद्ध का सहारा नहीं लेंगे।

विधान की पन्द्रहवीं धारा सबसे जटिल और लम्बी थी। इसमें उन्हीं विवादों का उल्लेख था जो केवल कौंसिल के समक्ष प्रस्तुत किये जाते थे। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के लिए निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गयी थीं। यदि दो या अधिक राज्यों में कोई विवाद उत्पन्न हो जाय तो विवाद से सम्बन्धित राज्य इसकी सूचना पहले संघ के महासचिव को देंगे। महासचिव इसकी जाँच और इस पर विचार किये जाने का प्रबन्ध करेगा। इसके लिए विवाद से सम्बन्धित देश अपना सारा मामला, आवश्यक, तथ्य तथा आंकड़े और कागजात महासचिव को भेज देंगे। महासचिव इनको प्रकाशित करेगा। इसके उपरान्त कौंसिल का काम हो जाता था कि वह अपने अधिवेशन में दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न करे। इस कार्य में यदि सफलता मिलो तो वह जिन तथ्यों का प्रकाशन आवश्यक समझेगी उसे प्रकाशित कर देगी। लेकिन यदि विवाद को सुलझाने में उसे सफलता नहीं मिली तो वह विवाद पर प्रकाश डालनेवाले सभी तथ्यों को प्रकाशित करेगी। यदि कौंसिल को रिपोर्ट सर्वसम्मत से पास हो गयी तो राष्ट्रसंघ के सदस्यों का यह कर्त्तव्य हो जाता था कि वे कौंसिल की रिफारिशों का पालन करनेवाले राज्य के विरुद्ध युद्ध नहीं करे। लेकिन यदि रिपोर्ट सर्वसम्मत से स्वीकार नहीं होती तो उस दशा में सदस्य-राज्य न्याय के रक्षार्थ किसी भी उपाय का सहारा ले सकते थे। कौंसिल की सिफारिश कोई कानूनी निर्णय नहीं होता था। पर इसे पालन करने की व्यवस्था ने राज्यों के लिए युद्ध को अवैध बना दिया था। कौंसिल की रिपोर्ट के बाद इस व्यवस्था का उल्लंघन करने वाला युद्ध अवैध था।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निबटारा की तीसरी व्यवस्था किसी राज्य द्वारा अपने दायित्वों का उल्लंघन करके युद्ध जारी रखने की दशा में उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों और फिर बाद में सैनिक कार्रवाई का प्रयोग था। इसका वर्णन राष्ट्रसंघ-विधान की सोलहवीं धारा में किया गया था। इसमें सबसे पहले आर्थिक प्रतिबन्धो की चर्चा थी। यदि राष्ट्रसंघ का कोई सदस्य बारह, तेरह या पन्द्रहवीं धाराओं की अवहेलना करके युद्ध छेड़ता तो यह समझा जाता था कि उसने राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों के विरुद्ध युद्ध छेड़ा है। इस हालत में संघ के सभी देशों का यह कर्त्तव्य हो जाता था कि वे आक्रामक देश के साथ अपने सारे आर्थिक और वित्तीय सम्बन्ध तोड़ लें। यह राष्ट्रसंघ के आर्थिक प्रतिबन्धों (economic sanctions) की प्रसिद्ध व्यवस्था थी। इसके मूल में यह बात थी कि आर्थिक प्रतिबन्ध के भय से किसी देश को युद्ध छेड़ने का साहस नहीं होगा और यदि उसने युद्ध छेड़ने का साहस किया भी तो आर्थिक प्रतिबन्ध के कारण वह युद्ध को अधिक दिनों तक नहीं चला पायेगा। अन्त में बाध्य होकर उसे युद्ध को बन्द करना ही पड़ेगा। इस व्यवस्था के महत्त्व के सम्बन्ध में विलसन ने कहा था "यह पूरा बहिष्कार होगा। आक्रामक देश अन्य देशों से एकदम अलग हो जायगा। कोई भी माल उस देश में न पहुँच सकेगा और न वहाँ से बाहर आ सकेगा।......इस प्रकार के बहिष्कार के बाद युद्ध बन्द हो जायगा क्योंकि कोई भी देश छः महीने से अधिक आर्थिक बहिष्कार का प्रतिरोध नहीं कर सकेगा।"

विल्सन का कहना ठीक था, लेकिन आर्थिक प्रतिबन्धों की सफलता महान् राज्यों के सहयोग पर निर्भर करता था। राष्ट्रसंघ के संक्षिप्त जीवन में इस अस्त्र का प्रयोग केवल एकबार १९३५ में इटली के विरुद्ध किया गया जब उसने अबीसीनिया पर आक्रमण किया। लेकिन बड़े राष्ट्रों के असहयोग के कारण यह बिल्कुल असफल रहा।

युद्ध रोकने के लिए आर्थिक प्रतिबन्ध के अतिरिक्त सैनिक कार्रवाई की व्यवस्था भी राष्ट्रसंघ के विधान द्वारा की गयी थी। विधान ने यह व्यवस्था थी कि राष्ट्रसंघ आक्रामक राज्यों के खिलाफ सैनिक कार्रवाई कर सकती है और इसके लिए सदस्य राज्यों को सेना प्रदान करना पड़ेगा। लेकिन विधान के अन्तर्गत ऐसी कोई धारा नहीं थी जिससे सदस्यों को सेना प्रदान करने के लिए बाध्य किया जा सके। यह बिल्कुल सदस्य-राज्यों की इच्छा पर निर्भर था। संघ के इतिहास में इस व्यवस्था का प्रयोग कभी नहीं हुआ। उसने कभी भी राष्ट्रसंघ के विधान को उल्लंघन करने वाले देशों के खिलाफ सैनिक कार्रवाई नहीं की।

(४) युद्ध के निर्धारण के लिए राष्ट्रसंघ विधान के अन्तर्गत चौथी व्यवस्था शस्त्रास्त्रों को घटाने तथा हथियारबन्दी की होड़ बन्द करने की बात थी। इसका ८ वीं धारा में शान्ति स्थापित करने के लिए शस्त्रास्त्रों की कमी को आवश्यक बतलाया गया था। इसके लिए विस्तृत योजना बनाने का कार्य कौंसिल को सौंपा गया था। कौंसिल ने इस दिशा में कई कदम उठाये, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। इसके सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन हम आगे करेंगे।

संरक्षण प्रणाली
(Mandate)

प्रथम विश्व-युद्ध होने के पूर्व अफ्रिका और प्रशान्त महासागर में जर्मनी के कई उपनिवेश कायम थे। तुर्की-साम्राज्य के अन्तर्गत भी बहुत से प्रदेश थे, जहाँ के निवासी स्वशासन के लिए बहुत दिनों से उछल-कूद मचा रहे थे। पेरिस शान्ति-सम्मेलन के पूर्व ही यह बात तय थी कि इन उपनिवेशों का मित्रराष्ट्रों के बीच बँटवारा हो जायगा। युद्ध के समय 'स्वशासन के सिद्धांत' का नारा बुलन्द किया गया था। विल्सन के चौदह सूत्रों में भी इस बात की चर्चा की गयी थी। उसके सिद्धांतों के अनुसार इन उपनिवेशों का भाग्य निर्णय वहाँ के निवासियों की सम्पत्ति के अनुसार होना चाहिए था। पर मित्रराष्ट्र कोई परोपकारी नहीं थे। उनकी आँखें इन प्रदेशों पर गड़ी हुई थीं और वे इनको हड़प लेना चाहते थे। पर, यह काम उतना आसान भी नहीं था। 'स्वशासन' की आवाज सबके कानों में गूँज रही थी और विल्सन के रहते इतनी जल्दी उसकी उपेक्षा करना कोई मामूली बात नहीं थी। फिर भी साम्राज्यवाद और स्वशासन के सिद्धान्त में समन्वय स्थापित कराना आवश्यक था। मित्रराष्ट्र एक ऐसे उपाय की खोज में थे जिससे साँप भी मरे और लाठी भी न टूटे। स्वशासन का नाम भी रह जाय और शत्रु के उपनिवेशों पर मित्राष्ट्रों का साम्राज्य भी स्थापित हो जाय। इसके लिए जनरल स्मट्स ने एक रास्ता ढूढ़ निकाला,[1] जिसको संरक्षण-प्रणाली कहते हैं।

इस प्रणाली के अनुसार शत्रु पक्ष के उपनिवेशों पर किसी राज्य का विधिवत् अधिकार नहीं कायम हुआ। ये प्रदेश राष्ट्रसंघ के जिम्मे सौंप दिये गये और राष्ट्रसंघ ने अपनी तरफ से

1. Schuman, op. cit, (4th Ed.) p. 323.

इनको विविध मित्रराष्ट्रो के सदस्यों—ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, दक्षिण अफ्रिका, जापान इत्यादि—की संरक्षता में सुपुर्द कर दिया। यह कहा गया कि विजित शत्रुओं के उपनिवेशों पर जो कब्जा मित्रराष्ट्रो को दिया गया है वह वस्तुतः राष्ट्रसंघ का है और ये देश राष्ट्रसंघ की ओर से उपनिवेशों के अनुशासन और सुव्यवस्था मात्र के लिए नियत किये गये हैं। शासन की इसी पद्धति का संरक्षण-प्रणाली कहते हैं। इनके अनुसार यह मान लिया गया कि जर्मनी या तुर्की के भूतपूर्व औपनिवेशिक प्रदेशो पर शासन करने का जो अधिकार अब ब्रिटेन या फ्रांस को दिया गया है वह राष्ट्रसंघ के आदेश द्वारा उन्हें प्राप्त हुआ है और ये उपनिवेश वस्तुतः राष्ट्रसंघ की ही अधीनता में हैं। विल्सन के सिद्धान्तो का उपहास करने के लिए और दुनिया को धोखा देने के लिए इससे बढ़कर दूसरा अच्छा उपाय नही हो सकता था।

राष्ट्रसंघ के विधान की बाइसवी धारा में संरक्षण-प्रणाली की चर्चा की गयी थी। "उन उपनिवेशों और क्षेत्रों पर, जो कि पिछले युद्ध के परिणामस्वरूप उन राज्यों की प्रभुसत्ता में नही रह गये हैं, जिनका पहले उन पर शासन था तथा जिनमें ऐसे लोग बसते हैं, जो आधुनिक विश्व की कठिन परिस्थितियों में अपने पैरो पर खड़े होने योग्य नही हैं, यह सिद्धांत लागू किया जाय कि ऐसे लोगो का कल्याण और विकास सभ्य देशों का पवित्र कर्त्तव्य है। इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि ऐसे लोगो का संरक्षण उन समुन्नत राष्ट्रों को सौंपा जाय, जो···इस जिम्मेवारी को सबसे अच्छी तरह निभा सकते हो" तथा इस सरक्षण-अधिकार का उपयोग वे राष्ट्रसंघ की ओर से संरक्षक राज्य के रूप में करें।" इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि संरक्षण-प्रणाली उदारता का महान् प्रतीक रहा हो।

विधान की बाइसवी धारा में ही संरक्षण-प्रणाली को कार्यान्वित करने की विधि को भी स्पष्ट कर दिया गया था। शासन की सुविधा के लिए या सच कहिए तो युद्ध के समय अनेक गुप्त सन्धियों को लागू करने के लिए संरक्षित प्रदेशो को 'अ' 'ब' और 'स' तीन वर्गों में बाँट दिया गया। वर्ग 'अ' में तुर्की के भूतपूर्व प्रदेश ईराक, सीरिया, लेबनान, फिलीस्तीन और ट्रान्सजोर्डन रखे गये। राष्ट्रसंघ के विधान में कहा गया था कि ये प्रदेश "विकास की ऐसी अवस्था तक पहुँच गये हैं कि उनके अस्तित्व को अस्थायी रूप से स्वतन्त्र राष्ट्रों के रूप में माना जा सकता है। लेकिन, कोई एक संरक्षक-राज्य उन्हें तब तक प्रशासकीय सलाह और सहायता देता रहेगा जबतक वे अपने पैरों पर स्वयं खड़े न हो जायँ।" दूसरे शब्दों में इन प्रदेशों में प्रशासकीय योग्यता का अभाव था और इसलिए उन्हें एक 'सभ्य' राज्य के अधीन तबतक रखना आवश्यक था जबतक वे स्वयं शासन करने योग्य न हो जायें। अतः ईराक, फिलीस्तीन और ट्रान्सजोर्डन को ब्रिटेन तथा सीरिया और लेबनान को फ्रांस की संरक्षता में रखा गया।

'ब' वर्ग में मध्य अफ्रिका स्थित छह प्रदेशो को रखा गया। ये क्षेत्र स्वायत्त-शासन के योग्य नही थे। अतः उन्हें पृथक् या स्वतंत्र राज्यों के रूप में परिणत नहीं किया गया। इनका प्रबन्ध संरक्षक-राज्यों को सौंप दिया गया। इसके अनुसार कैमेरून का छठा भाग, टोगोलैंड का एक-तिहाई भाग तथा टौंगानीका का प्रदेश ब्रिटेन को, कैमेरून तथा टोगोलैंड का शेष भाग फ्रांस को और राउन्डा-उरंडी का प्रदेश बेल्जियम को दे दिया गया। इन प्रदेशों के

संरक्षक-राज्यों को यह आदेश था कि वे इन क्षेत्रो में दास-प्रथा तथा अस्त्र-शस्त्र के व्यापार को बन्द करें और केवल पुलिस तथा सुरक्षा के अतिरिक्त और किसी काम में आदिवासियो का प्रयोग न करें। इसके अतिरिक्त इन प्रदेशो में राष्ट्रसघ के अन्य सदस्यो को व्यापार और वाणिज्य के लिए समान अवसर प्राप्त होने की व्यवस्था भी की गयी थी।

'स' वर्ग में दक्षिण-पश्चिम-अफ्रिका तथा प्रशान्त महासागर के कुछ ऐसे द्वीपो को रखा गया, जिनकी आबादी कम थी, या जिनका आकार बहुत छोटा था या जो सांस्कृतिक केन्द्रो से बहुत दूर पर स्थित थे। इनके विषय में यह सोचा गया कि इनको पृथक् राज्य का रूप नही दिया जा सकता है। अतः इन्हें कुछ मित्रराष्ट्रों के सुपुर्द कर दिया गया जो इन राज्यो पर पूर्ण रूप से शासन कर सकते थे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जर्मन दक्षिण पूर्व-अफ्रिका दक्षिण अफ्रिका को, जर्मन-समोआ न्यूजीलैंड को, नौरू द्वीप ब्रिटेन को, भूमध्यरेखा से दक्षिण स्थित भूतपूर्व जर्मन द्वीप जापान को दे दिये गये।

संरक्षण प्रणाली के अन्तर्गत तीन और शर्तें थी—(१) संरक्षित प्रदेशों पर शासन करने-वाले संरक्षक राज्य उस देश की प्रगति के विषय में वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्रसंघ की कौंसिल को भेजेंगे। (२) प्रत्येक संरक्षित प्रदेश पर नियन्त्रण अथवा शासन राष्ट्रसंघ की कौंसिल के आदेशानुसार होगा, और (३) संरक्षक राज्यो की वार्षिक रिपोर्ट का निरीक्षण करने के लिए एक स्थायी आयोग (Permanent Mandate Commission) की नियुक्ति की जाय।

इन शर्तों के अनुसार १९२० के अन्त में एक स्थायी संरक्षक-आयोग की स्थापना की गयी। प्रारम्भ में इस आयोग में नौ सदस्य थे, जिनमें अधिकांश व्यक्ति गैर-संरक्षक राज्यों के नागरिक थे। १९२४ में सदस्यो की संख्या ११ कर दी गयी। एक जगह राष्ट्रसंघ सचिवालय के संरक्षक-विभाग के अध्यक्ष को मिली और दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सघ के प्रतिनिधि को। १९२७ में एक और जगह बढ़ा दी गयी और इस जगह पर जर्मनी के एक नागरिक को रखा गया। इस आयोग का काम केवल सलाह देना था, किन्तु व्यावहारिक तौर पर भी यह कौसिल के एजेन्ट का काम करने लगा और सरक्षित प्रदेशो का निरीक्षण करना शुरू किया। स्थायी-आयोग प्रतिवर्ष संरक्षक राज्यो से वार्षिक रिपोर्ट प्राप्त करता था, संरक्षक राज्यो के प्रति-निधि से प्रश्न पूछता था और सुरक्षित प्रदेशो के निवासियो से आवेदन-पत्र लेता था। संरक्षित प्रदेश के निवासी संरक्षक राज्यो के द्वारा ही आवेदन-पत्र भेज सकते थे। इनमें ऐसे आवेदन पत्र भी रहते थे जो संरक्षण-प्रणाली की ही आलोचना करते थे। आयोग ने ऐसे आवेदन-पत्रों को लेने से इनकार कर दिया। आयोग को अन्य सूत्रो से भी संरक्षित प्रदेशो के समाचार मिलते रहते थे। लेकिन आयोग ने स्वयं कभी संरक्षित प्रदेशो का भ्रमण नही किया और न तो अपने प्रतिनिधियो को ही जाँच-पड़ताल के लिए भेजा। स्थायी आयोग की बैठक साल में दो बार होती थी। आयोग अपनी रिपोर्ट कौंसिल को पेश करता था और एसेम्बली तथा कौसिल दोनो में इस रिपोर्ट पर बहस होती थी। संरक्षण-आयोग ने अपने जीवन में तीन बार संरक्षित प्रदेशों के शासन में हस्तक्षेप भी किया। लेकिन संरक्षक-राज्य मनमानी करते ही रहे।

राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार संरक्षण-प्रणाली के अन्तर्गत संरक्षित प्रदेशों को अपना शासक चुनने का अधिकार था। "संरक्षक-राज्य का चुनाव करते समय इन जातियों की इच्छाओं पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।" किन्तु ईराक, फिलीस्तीन और सीरिया में जनता की इच्छा की उपेक्षा की गयी और उनकी राय नही ली गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि इन अरब देशों में संरक्षक राज्यों के विरुद्ध विद्रोह होने लगे। सीरिया में १६२७ तक विद्रोह चलता रहा। फिलीस्तीन में अरबों और यहूदियों के बीच दंगा होता रहा। अन्य संरक्षित प्रदेश जैसे, समोआ और तोगोलैंड में भी विद्रोह होते रहे। इन विद्रोहों को दबाने के लिए क्रूर कार्रवाइयाँ की गयी। स्थायी संरक्षण आयोग की रिपोर्ट में बताया गया है कि संरक्षित प्रदेशों की जनता को अपनी शिकायतें पेश करने का मौका नही दिया जाता था। इससे उनको घोर असंतोष हुआ और बाद में यह विद्रोह के रूप में परिणत हो गया। संरक्षण आयोग की रिपोर्ट को पढ़ने पर यही पता चलता है कि आयोग सभी सूचनाओं के लिए संरक्षक राज्यों पर आश्रित था। संरक्षण-प्रणाली संरक्षित प्रदेशों की भलाई के लिए स्थापित की गयी थी, लेकिन आयोग कभी उनकी शिकायतों को नही सुनता था। संरक्षण प्रणाली से लाभ हुआ या हानि यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है; लेकिन इसमें कोई शक नही कि इसने नवीन साम्राज्यवाद को एक नई जिन्दगी दे दी। नवीन साम्राज्यवाद की एक खास विशेषता साम्राज्यवादी राज्यों के बीच परस्पर प्रतिद्वन्द्विता थी। प्रथम विश्व-युद्ध कुछ अंशों में इसी प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम था। संरक्षण-प्रणाली की स्थापना से इस प्रतिद्वन्द्विता में कुछ कमी आ गयी और साम्राज्यवाद कुछ दिनों के लिए नष्ट होने से बच गया।[1]

अल्पसंख्यक जातियों की समस्या

उग्र राष्ट्रीयता प्रथम महायुद्ध का एक प्रमुख कारण था। यूरोप की विविध पराधीन जातियाँ राष्ट्रीयता के सिद्धांत पर अपना अलग अलग राज्य स्थापित करना चाहती थीं। मित्रराष्ट्र राष्ट्रीयता के सिद्धान्त से सहमत थे और वे 'एक राष्ट्रीयता एक राज्य' के आदर्श के आधार पर यूरोप का पुनर्गठन करना चाहते थे। इस आदर्श को कार्यान्वित करने में अनेक बाधाएँ थीं। पूर्वी यूरोप, बाल्कन प्रायद्वीप और तुर्की-साम्राज्य में अनेक ऐसे प्रदेश थे, जिनमें एक से अधिक राष्ट्रीयता के लोग रहते थे। इन प्रदेशों में अनेक जातियों का मिश्रण हो गया था। इस कारण राष्ट्रीयता के आधार पर नये राज्यो की सीमाओं को निर्धारित करना आसान काम नहीं था। फिर भी विभिन्न जातियों का पृथक् राज्य स्थापित करना जरूरी था और इसलिए शान्ति-सन्धियों के द्वारा राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर अनेक नये स्वतन्त्र राज्य कायम किये गये। करीब-करीब ऐसे प्रत्येक राज्य में अल्पसंख्यक जातियाँ स्थिर रूप से निवास करती थीं। अब प्रश्न था कि इन जातियों के हितों की रक्षा के लिए किन उपायों का आश्रय लिया जाय। पराजित राज्यों—आस्ट्रिया, हंगरी, बुल्गेरिया, तुर्की—में बहुत बड़ी संख्या में अल्पसंख्यक जातियाँ निवास करती थीं। इसलिए शान्ति-सन्धियों में यह शर्त रख दी गयी कि उपर्युक्त राज्य अपनी क्षेत्र में बसी हुई अल्पसंख्यक जातियों की हर दृष्टि से रक्षा करें। यह

1. Quincy Wright. *Mandates Under the League of Nation*, p. 173.

समस्या केवल पराजित राज्यों तक ही सीमित नही थी। महायुद्ध के बाद यूरोप में पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया इत्यादि जैसे बहुत से नये-नये-राज्यो का अभ्युदय हो चुका था। इन राज्यो के भू-भागो में भी अल्पसंख्यक जातियाँ रहती थी। इसके अतिरिक्त कुछ पुराने राज्य जैसे-यूनान इत्यादि में भी यह समस्या मौजूद थी। पेरिस शान्ति-सम्मेलन का और खासकर विल्सन का विचार था कि ये राज्य अपने क्षेत्रो में बसे हुए अल्पसंख्यक जातियो की रक्षा करने का वचन दें। परन्तु ये राज्य किसी प्रकार की गारन्टी देने के विरुद्ध थे। अन्त में अल्पसंख्यक जातियो के हितों और अधिकारों की रक्षा का भार राष्ट्रसंघ को सौंप दिया गया। इस विषय पर राष्ट्रसंघ और विविध राज्यो के बीच समझौता हुआ। इन समझौते के उद्देश्य निम्नलिखित थे—(१) अल्पसंख्यको के जीवन और स्वतन्त्रता की रक्षा करना; (२) उनके धर्म का आदर करना; (३) उनको नागरिकता का अधिकार देना; (४) अदालत के सामने सबके साथ समान व्यवहार होना और उन्हें समान सुविधा तथा नौकरी प्राप्त होना; (५) व्यापारिक तथा धार्मिक मामलो और प्रेस तथा अदालत में किसी भी भाषा का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता; तथा (६) अल्पसंख्यको के ही भाषा में उसकी शिक्षा की व्यवस्था करना।

अगर कोई राज्य अल्पसंख्यको के इन अधिकारों का उल्लंघन करता हो तो यह बात राष्ट्रसंघ की कौसिल के सम्मुख पेश की जा सकती थी। अल्पसंख्यकों को राष्ट्रसंघ के पास आवेदनपत्र भेजने का भी अधिकार मिला। खबर मिलने पर कौसिल अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए आवश्यक कदम उठा सकती थी। ऐसी समस्याओ को सुलझाने के लिए राष्ट्रसंघ का खास तरीका यह था कि राष्ट्रसंघ सचिवालय के अल्पसंख्यक-समिति के अध्यक्ष को उन राज्यों से जहाँ पर कोई गड़बड़ी पैदा हो गयी हो, सीधे बातचीत करने का अधिकार दे दिया गया था। इसके अतिरिक्त कोई विवाद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भी पेश किया जा सकता था। न्यायालय को इस प्रकार के दो या तीन मामलो पर अपना निर्णय देना पड़ा था परन्तु अल्प-संख्यकों की रक्षा का असल उत्तरदायित्व राष्ट्रसंघ की कौसिल के ऊपर ही था।

राष्ट्रसंघ की अल्पसंख्यक-सम्बन्धी नीति से बहुत-से सदस्य-राज्य सन्तुष्ट नही थे। सितम्बर, १९२८ में राष्ट्रसंघ कौसिल की एक बैठक में जर्मन-प्रतिनिधि स्ट्रैसमैन ने अल्पसंख्यक-सम्बन्धी राष्ट्रसंघ की नीति की आलोचना की। इसके बाद की दो और बैठकों में भी इसी समस्या ने बहुत दिनों तक कौंसिल को बझाये रखा। इसके फलस्वरूप अल्पसंख्यक-सम्बन्धी राष्ट्रसंघ की तत्कालीन नीति में परिवर्तन करने का निश्चिय किया गया। १९१९ में एक अल्पसंख्यक-समिति' की स्थापना की गयी। इस समिति के सदस्य कौसिल के अध्यक्ष और उनके द्वारा मनोनीत और दो सदस्य होते थे। अल्पसंख्यक-समस्या-सम्बन्धी सभी बातों पर इस समिति में विचार होता था। आवेदन-पत्रो को प्राप्त करना और उनपर विचार करके कौंसिल के सम्मुख उपस्थित करना इस समिति का प्रमुख काम था। परन्तु इस प्रयास से भी अल्पसंख्यकों की समस्या का समाधान नहीं हो सका।

वे राज्य, जो अल्पसंख्यक-सन्धियों से सम्बन्धित नही थे, अल्पसंख्यको के साथ निर्दयता का व्यवहार करते थे और राष्ट्रसंघ उनको रोकने में असमर्थ था। जिन देशों का इन सन्धियों से सम्बन्ध था वे भी अल्पसंख्यको के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते थे; क्योंकि राष्ट्रसंघ उनके आपत्तिजनक कार्रवाइयों को रोकने में असमर्थ था। १९३४ में पोलैंड ने अल्पसंख्यकों की रक्षा

करने में सहयोग देने से तबतक के लिए इन्कार कर दिया जबतक इस सम्बन्ध में कोई ठोस व्यवस्था नहीं अपना ली जाती। पोलैंड के बाद अन्य राज्यों की बारी आयी और उन्होने राष्ट्रसंघ को सहयोग देना बन्द कर दिया। इसमें जर्मनी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जर्मनी अल्पसंख्यक यहूदियों को तरह-तरह से तंग करने लगा। उन्हें नागरिकता के अधिकार से वंचित कर दिया गया। उनके बच्चों को सार्वजनिक स्कूलों में भर्ती होने से रोक दिया गया। यहूदियों पर और भी तरह-तरह के अत्याचार किये गये और राष्ट्रसंघ इन अत्याचारों को रोकने में पूर्णतया असमर्थ रहा। राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने अल्पसंख्यकों के विवाद से सम्बन्धित झगड़ों पर अपना निर्णय लादने के दोनों दलों में समझौता कराने का रास्ता अपनाया। किन्तु इससे काम नहीं चल सका और सारी व्यवस्था भंग हो गयी।[1]

राष्ट्रसंघ के प्रशासकीय कार्य

सार का प्रशासन—वर्साय की सन्धि के द्वारा राष्ट्रसंघ को सार की घाटी और डान्जिग के स्वतन्त्र नगर के प्रशासन का भार सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ की कौंसिल इसके लिए जिम्मेवार बनायी गयी थी।

वर्साय-सन्धि के अनुसार सार का शासन एक ऐसे आयोग द्वारा किया जाना था जिसका एक सदस्य फ्रांसीसी, एक सार का निवासी तथा तीन ऐसे सदस्य जिनका फ्रांस और जर्मनी दोनों से सम्बन्ध न हो। यह आयोग अपने कार्यों के लिए राष्ट्रसंघ की कौंसिल के प्रति उत्तरदायी था। कौंसिल ने आयोग के कार्य-संचालन के नियम बना दिये थे। मार्च, १९३२ में आयोग के परामर्श के लिए तीस व्यक्तियों की एक परामर्शदात्री समिति बनायी गयी जिसके सदस्य वयस्क मताधिकार के आधार पर इस क्षेत्र की जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। चूँकि आयोग का बहुमत फ्रांस के पक्ष में रहता था इसलिए सार के ७७ लाख जर्मनी निवासियों में आयोग के प्रशासन से घोर असन्तोष था। उन्हें तरह-तरह से सताया जाता था। प्रशासन का नियम अत्यन्त कड़ा था। १९२३ में जब रूर के जर्मन खनिकों की सहानुभूति में सारवालों ने हड़ताल की तो उसकी बड़ी क्रूरता से दबाया गया। अतएव सारवालों का असन्तोष बढ़ता गया और यह इतना बढ़ा कि राष्ट्रसंघ कौंसिल को आयोग के कार्यों और शासन की जाँच करनी पड़ी। १९३२ के बाद आयोग के दमनपूर्ण शासन में कुछ नरमी आयी और इसलिए असन्तोष की मात्रा कम पड़ने लगी।

वर्साय की सन्धि के अनुसार सार के शासन का स्थायी निर्णय १९३५ में जनमत-संग्रह द्वारा किया जाना था। चुनाव के दिन निकट आने पर सार में उत्तेजना, अशान्ति और उपद्रव बढ़ने लगे। इस हालत में एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस संगठित की गयी। १३ जनवरी, १९३५ को मतसंग्रह का दिन निश्चित किया गया और इसके पहले फ्रांस और जर्मनी से यह आश्वासन लिया गया कि वे मतदाताओं पर किसी प्रकार का दबाव न डालेंगे और बाद में उन्हें विपक्ष में मत देने के कारण तंग नहीं करेंगे। इस स्थिति में तनातनी के वातावरण में चुनाव सम्पन्न हुआ। इसमें ९८ फी सदी मतदाताओं ने मत दिया जिसमें ९० फी सदी वोट जर्मनी के पक्ष में पड़े। इस मतदान के निर्णयानुसार १ मार्च, १९३५ को सार का शासन राष्ट्रसंघ ने जर्मनी को सौंप दिया।

1. C. K. Webster, *The League of Nations in Th[illegible]ry and [illegible]* p. 193.

डान्जिंग का प्रशासन—वर्साय की सन्धि के द्वारा जर्मन बन्दरगाह डान्जिग एक स्वतन्त्र नगर घोषित किया गया था तथा उनकी आर्थिक व्यवस्था का उत्तरदायित्व पोलैंड पर और शासन-प्रबन्ध का उत्तरदायित्व राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। कार्यपालिका और प्रशासकीय शक्तियों का संचालन राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त एक उच्च आयुक्त (High Commissioner) के द्वारा होता था। डान्जिग के जर्मन निवासियों को स्वायत्तता थी, लेकिन आर्थिक व्यवस्था और वैदेशिक सम्बन्ध पर पोलैंड का अधिकार था।

डान्जिग और पोलैंड में कभी भी अच्छा सम्बन्ध नही रहा और इस कारण राष्ट्रसंघ की स्थिति वहाँ अत्यन्त दयनीय बनी रही। प्रथम पाँच वर्षों में ही राष्ट्रसंघ के उच्च आयुक्त को उनके विवादो में पचास निर्णय देने पड़े थे। इन दोनो के कुछ विवाद तो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भी गये थे। इस हालत में डान्जिग का प्रशासन स्थायी नहीं हो सकता था। जब पोलैंड ने डान्जिग के पास गदिनिया नामक एक दूसरे बन्दरगाह का निर्माण किया तो डान्जिग का व्यापार घटने लगा और इस कारण दोनों का मनमुटाव और बढ़ा। इसी समय जर्मनी में नात्सियो का प्रादुर्भाव हुआ। जब जर्मनी के शासन पर उनका कब्जा हो गया तो पोलैंड और डान्जिग की तनातनी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। डान्जिग में भी नात्सी दल की एक शाखा खुली और तरह-तरह के उपद्रव होने लगी। राष्ट्रसंघ का आयुक्त इसको रोकने में बिल्कुल असफल रहा और इस प्रकार राष्ट्रसंघ का डान्जिग का प्रशासन सफल नहीं हुआ। अन्त में इसी डान्जिग और पोलिस गलियारे को लेकर द्वितीय विश्व-युद्ध भी शुरू हुआ।

राष्ट्रसंघ का स्वरूप

सामूहिक सुरक्षा—राष्ट्रसंघ के स्वरूप पर विचार करने पर जो पहली बात देखने को मिलती है वह यह है कि सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का एक साधन था। प्रथम विश्व-युद्ध के पहले शान्ति कायम रखने के लिए शक्ति-सन्तुलन (Balance of power) सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता था। यूरोप के प्रमुख राष्ट्र इस बात का प्रयास करते थे कि कोई राज्य बहुत अधिक शक्तिशाली न हो जाय। अधिक शक्तिशाली राज्य की शक्ति को सीमित करने के लिए गुटबन्दियाँ की जाती थीं। इसलिए प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व के यूरोप में दो गुट कायम किये गये थे। लेकिन जब १९१४ में युद्ध छिड़ गया तो यह स्पष्ट हो गया कि शान्ति कायम रखने के लिए शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त व्यर्थ है। अतएव युद्ध के बाद इस सिद्धान्त का परित्याग कर दिया गया तथा उसकी जगह पर सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त (Principle of Collective Security) को अपनाया गया। इसका अर्थ यह था कि संसार के राष्ट्र एक संस्था के अन्दर संगठित होकर आपस में यह वादा करें कि वे सभी अपने साथी राज्यो की सुरक्षा के लिए सामूहिक रूप से जिम्मेवार है। यदि उनमें से किसी एक पर हमला होता है तो उसको अपने ऊपर हमला मानें और मिलजुल कर हमला का सामना करें। राष्ट्रसंघ में इसी सिद्धान्त की अभिव्यक्ति हुई थी।

गुप्त कूटनीति का परित्याग—प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व राष्ट्रों के कूटनीतिक सम्बन्ध का आधार गुप्त कूटनीति था। विदेश नीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की बातें गुप्त वातावरण में की जाती थी। इसका परिणाम बड़ा बुरा हुआ। यह प्रथम विश्व-युद्ध का एक प्रमुख कारण था।

शान्ति-संस्थापक के रूप में राष्ट्रसंघ

यह एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि महत्त्वपूर्ण कामों में और बड़े-बड़े राष्ट्रों के विवादों में राष्ट्रसंघ को कोई सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। झगड़ा का शान्तिपूर्ण समाधान निकाल कर युद्ध को रोकना राष्ट्रसंघ का एक प्रमुख काम था; लेकिन इस काम में राष्ट्रसंघ असफल रहा। पर यदि राष्ट्रसंघ को महत्त्वपूर्ण विवादों में सफलता नहीं मिली तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह पूर्णतया असफल रहा। छोटे-छोटे राज्यों के झगड़ों को सुलझाने में राष्ट्रसंघ काफी सफल रहा और अपनी बीस वर्ष की छोटी-सी अवधि में इसमें चालिस छोटे-बड़े राजनीतिक झगड़ों की जाँच करके अपना निर्णय दिया। समझौता, मध्यस्थता तथा अनुरोध के रास्ते को अपनाकर राष्ट्रसंघ कुछ छोटे-छोटे झगड़ों को तय करने में सफलीभूत रहा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में यह एक उत्साहवर्द्धक लक्षण था।

आलैण्ड विवाद :—राष्ट्रसंघ के सामने सबसे पहले जो अन्तर्राष्ट्रीय विवाद आया वह आलैंड द्वीपों से सम्बन्धित था। लगभग ३०० द्वीपों का यह समूह, जिसकी आबादी १९३० में २७००० थी, स्वेडन और फिनलैंड के बीच में स्थित है। प्रारम्भ में यह स्वेडन के कब्जे में था। नेपोलियन के युद्धों के समय (१८०६) यह फिनलैंड के साथ-साथ रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत चला गया। उस समय से रूसी क्रांति (१९१७) तक फिनलैंड द्वीप समूहों को एक इकाई मानकर रूस का शासन चलता रहा। १९१७ में फिनलैंड स्वतन्त्र हो गया। आलैंड भी उसी के अन्दर रह गया। पर आलैंड के निवासी स्वेडिश थे और राष्ट्रीयता का सिद्धान्त के आधार पर वे स्वायत्त शासन तथा स्वेडन के साथ मिलने की माँग करने लगे। इसके लिए उनलोगों ने जबरदस्त आन्दोलन खड़ा किया। फिनलैंड ने आन्दोलन को दबाना शुरू किया। प्रतिक्रियास्वरूप स्वेडन में फिनलैंड के दमन के विरुद्ध घोर विरोध शुरू हुआ। स्वेडन युद्ध की तैयारी करने लगा। उस समय फिनलैंड राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था। इस मौके पर ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ विधान की ११ वीं धारा के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ का ध्यान इस विवाद की ओर आकृष्ट किया। जुलाई १९२० में यह मामला राष्ट्रसंघ कौंसिल के सामने आया। दोनों देशों के प्रतिनिधि कौंसिल के सामने उपस्थित हुए और अपने-अपने विचार प्रकट किये। कौंसिल ने क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में कानून-विशेषज्ञों से परामर्श लिया और फिर एक समिति की नियुक्ति की जिसका काम विवादग्रस्त क्षेत्रों का भ्रमण करके तथ्यों का पता लगाना था। समिति की रिपोर्ट के आधार पर कौंसिल ने २४ जून, १९२१ को निम्नलिखित फैसले दिये—(१) आलैंड द्वीप समूह पर फिनलैंड की प्रभुसत्ता कायम रहे, (२) आलैंडवासियों की स्वायत्तता तथा उसके राजनीतिक अधिकारों की रक्षा की गारन्टी दी जाय, (३) उन्हें निजी सम्पत्ति तथा स्वेडिश भाषा का प्रयोग करने का अधिकार मिले, तथा (४) आलैंड का तटस्थीकरण और असैनिककरण हो जाय। ६ अप्रैल, १९२२ को आलैंड द्वीपसमूह को तटस्थीकरण कर दिया और इस तरह प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय विवाद, जो राष्ट्रसंघ के सामने आया, उसका फैसला सर्वमान्य ढंग से हो गया।

विलना विवाद :—विलना लिथुएनिया की प्राचीन राजधानी और उसकी संस्कृति का केन्द्र था। वर्साय-संधि के द्वारा यह प्रदेश लिथुएनिया को सौंप दिया गया था। १९२० में बोल्शेविकों ने विलना पर कब्जा कर लिया। १२ जुलाई, १९२० को सोवियत-रूस और

अतएव संसार के राजनेता युद्ध के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे की शान्तिकालीन गुप्त कूटनीति का परित्याग आवश्यक है या कम-से-कम इसकी बुराइयों को दूर करना जरूरी है यह तभी हो सकता था जब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का संचालन खुले तौर पर और सार्वजनिक रूप से हो। इसके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण आवश्यक था। राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी थी। राष्ट्रसंघ के संस्थापकों ने यह कभी नही सोचा था कि वे एक दोष-रहित संस्था का निर्माण कर रहे हैं। वे सिर्फ गुप्त कूटनीति की बुराइयो को दूर करना चाहते थे। इस दृष्टिकोण से देखने से यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रसंघ कोई ऐसी संस्था न थी जिसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इसका काम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को सार्वजनिक रूप देना था, गुप्त कूटनीति के बदले खुली कूटनीति के सिद्धान्त को अपनाना था। यह राज्यो के बीच सहयोग कराने का एक यन्त्र था।

वर्साय-संधि के साथ सम्बद्ध संस्था :—राष्ट्रसंघ के विषयो में कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि यह वर्साय-सन्धि को कार्यान्वित करने का एक साधन था। राष्ट्रसंघ का निर्माण उसी शान्ति सम्मेलन में हुआ जहाँ वर्साय सधि का मसविदा तैयार किया गया था। इतना ही नही राष्ट्रसंघ का विधान वर्साय की सन्धि का अभिन्न अंग भी था। फिर भी, राष्ट्रसंघ और वर्साय-सन्धि को एक नही समझना चाहिए। वर्साय-सन्धि के बहुत से हस्ताक्षरकारी देश राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं बने। बहुत-से ऐसे देश भी थे जिनको वर्साय-सन्धि से किसी प्रकार मतलब नहीं था, फिर भी वे राष्ट्रसंघ के सदस्य थे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ विधान के संशोधन का तरीका सन्धि दुहराने के तरीकों से भिन्न था। राष्ट्रसंघ के जिम्मे वर्साय-सन्धि की शर्त्तों को कार्यन्वित करने का काम नही था। डान्जिग, सार, संरक्षित प्रदेश के प्रशासन के लिए वह अवश्य जिम्मेवार था, लेकिन इस कारण उसे वर्साय-सन्धि को कार्यान्वित करने का यन्त्र नही मान लेना चाहिए। प्रोफेसर एगिल्टन का कथन है कि राष्ट्रसंघ का काम पराजित देशो को तंग करना नही बल्कि उनकी सहायता करना था।

अधि-राज्य :-डा० डि० जे० हिल्स के अनुसार राष्ट्रसंघ एक अधि-राज्य (super-state) था क्योंकि इसका अधिकार और क्षेत्र सदस्यों के अधिकार और क्षेत्र से भिन्न था। राष्ट्र-संघ राष्ट्रों का संघ न होकर स्वतन्त्र रूप से एक अधि-राज्य था। प्रोफेसर गिलबर्ट मरे तथा कुछ अन्य विद्वानों का मत ठीक इसके विपरीत है। उनका कहना है कि राष्ट्रसंघ राज्यों का संघ था जो उनके बीच सहयोग स्थापित कराने के लिए स्थापित किया गया था। राष्ट्रसंघ को राज्यों पर उनकी सहमति के बिना नया उत्तरदायित्व लादने का अधिकार नहीं था। इसके द्वारा सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की स्थापना अवश्य हुई, लेकिन इसके कारण सदस्य-राज्यों की प्रभुसत्ता पर कोई आँच नही आयी। सदस्य राज्यों को बाध्य करने की शक्ति इसमें नहीं थी। इसके अतिरिक्त राज्य के कुछ विशेष लक्षण होते हैं, जैसे— भूमि, आबादी, सेना, प्रभुसत्ता आदि। राष्ट्रसंघ में राज्य के ये गुण नही थे। इसलिए लार्ड कर्जन ने कहा था कि "राष्ट्रसंघ" नाम से ही यह बोध हो जाता है कि यह राज्यों का संघ है। पोलक के शब्दों में यह स्वतन्त्र राज्यों की एक स्वतन्त्र व्यवस्था (concert of independent powers) था। इसमें कई सिद्धांत मिले हुए थे। प्रोफेसर जिमर्न के शब्दों में राष्ट्रसंघ के विधान में पाँच तत्त्वों का समावेश हुआ था।

शान्ति-संस्थापक के रूप में राष्ट्रसंघ

यह एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि महत्त्वपूर्ण कामों में और बड़े-बड़े राष्ट्रों के विवादों में राष्ट्रसंघ को कोई सफलता नही प्राप्त हो सकी। झगड़ा का शान्तिपूर्ण समाधान निकाल कर युद्ध को रोकना राष्ट्रसंघ का एक प्रमुख काम था; लेकिन इस काम में राष्ट्रसंघ असफल रहा। पर यदि राष्ट्रसंघ की महत्त्वपूर्ण विवादों में सफलता नही मिली तो इसका अर्थ यह नही कि वह पूर्णतया असफल रहा। छोटे-छोटे राज्यो के झगड़ों को सुलझाने में राष्ट्रसंघ काफी सफल रहा और अपनी बीस वर्ष की छोटी-सी अवधि में इसमें चालिस छोटे-बड़े राजनीतिक झगड़ो की जाँच करके अपना निर्णय दिया। समझौता, मध्यस्थता तथा अनुरोध के रास्ते को अपनाकर राष्ट्रसंघ कुछ छोटे-छोटे झगड़ों को तय करने में सफलीभूत रहा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में यह एक उत्साहवर्द्धक लक्षण था।

आलैण्ड विवाद :—राष्ट्रसंघ के सामने सबसे पहले जो अन्तर्राष्ट्रीय विवाद आया वह आलैंड द्वीपों से सम्बन्धित था। लगभग ३०० द्वीपो का यह समूह, जिसकी आबादी १९३० में २७००० थी, स्वेडन और फिनलैंड के बीच में स्थित है। प्रारम्भ में यह स्वेडन के कब्जे मे था। नेपोलियन के युद्धो के समय (१८०९) यह फिनलैंड के साथ-साथ रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत चला गया। उस समय से रूसी क्रांति (१९१७) तक फिनलैंड द्वीप समूहो को एक इकाई मानकर रूस का शासन चलता रहा। १९१७ में फिनलैंड स्वतन्त्र हो गया। आलैंड भी उसी के अन्दर रह गया। पर आलैंड के निवासी स्वेडिश थे और राष्ट्रीयता का सिद्धान्त के आधार पर वे स्वायत्त शासन तथा स्वेडन के साथ मिलने की माँग करने लगे। इसके लिए उनलोगो ने जबरदस्त आन्दोलन खड़ा किया। फिनलैंड ने आन्दोलन को दबाना शुरू किया। प्रतिक्रियास्वरूप स्वेडन में फिनलैंड के दमन के विरुद्ध घोर विरोध शुरू हुआ। स्वेडन युद्ध की तैयारी करने लगा। उस समय फिनलैंड राष्ट्रसंघ का सदस्य नही था। इस मौके पर ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ विधान की ११ वी धारा के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ का ध्यान इस विवाद की ओर आकृष्ट किया। जुलाई १९२० में यह मामला राष्ट्रसंघ कौंसिल के सामने आया। दोनो देशों के प्रतिनिधि कौंसिल के सामने उपस्थित हुए और अपने-अपने विचार प्रकट किये। कौंसिल ने क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में कानून-विशेषज्ञों से परामर्श लिया और फिर एक समिति की नियुक्ति की जिसका काम विवादग्रस्त क्षेत्रों का भ्रमण करके तथ्यों का पता लगाना था। समिति की रिपोर्ट के आधार पर कौंसिल ने २४ जून, १९२१ को निम्नलिखित फैसले दिये—(१) आलैंड द्वीप समूह पर फिनलैंड की प्रभुसत्ता कायम रहे, (२) आलैंडवासियो की स्वायत्तता तथा उसके राजनीतिक अधिकारों की रक्षा की गारन्टी दी जाय, (३) उन्हें निजी सम्पत्ति तथा स्वेडिश भाषा का प्रयोग करने का अधिकार मिले, तथा (४) आलैंड का तटस्थीकरण और असैनिककरण हो जाय। ६ अप्रैल, १९२२ को आलैंड द्वीपसमूह को तटस्थीकरण कर दिया और इस तरह प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय विवाद, जो राष्ट्रसंघ के सामने आया, उसका फैसला सर्वमान्य ढंग से हो गया।

विलना विवाद :—विलना लिथुएनिया की प्राचीन राजधानी और उसकी संस्कृति का केन्द्र था। वर्साय-संधि के द्वारा यह प्रदेश लिथुएनिया को सौंप दिया गया था। १९२० में बोल्शेविकों ने विलना पर कब्जा कर लिया। १२ जुलाई, १९२० को सोवियत-रूस और

लिथुएनिया के बीच एक संधि हुई जिसके अनुसार विलना पुनः लिथुएनिया को वापस मिल गया, पर पोलैंड पहले से ही विलना पर आँख गड़ाये हुए था। उसने राष्ट्रसंघ से अपील की। राष्ट्रसंघ १० अक्टूबर को एक समझौता करने वाला था। इसके एक दिन पहले एक स्वतन्त्र पोलिस कमाण्डर जनरल जेलीगोस्की ने इस देश पर जबरदस्ती अपना अधिकार कायम कर लिया। लिथुएनिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की और राष्ट्रसंघ ने दोनों देशों की सरकारों को समझौता कर लेने का आग्रह किया। दो वर्षों तक यह विवाद चलता रहा। अन्त में यह स्थान पोलैंड के साथ मिला दिया गया। मार्च १६२३ में राजदूतों के एक सम्मेलन ने इस स्थिति को मान्यता दे दी।

मेमेल-विवाद :—वर्साय-सन्धि के अनुसार मेमेल का प्रदेश पोलैंड को मिला था। मित्रराष्ट्रों का विचार था कि मेमेल का डान्जिग की श्रेणी में रख दिया जाय, पर पोलैंड इस भूभाग पर अपना कब्जा करना चाहता था। इस पर लिथुएनिया बिगड़ खड़ा हुआ; क्योंकि वह मेमेल को स्वयं चाहता था। जनवरी, १९२३ में लिथुएनिया की फौजें मेमेल प्रवेश कर गयीं और वहाँ एक अस्थायी सरकार की स्थापना कर दी। शांतिपूर्ण ढंग से इस झगड़े को निबटाने के सारे प्रयत्न बेकार साबित हुए। इसके बाद यह समस्या राष्ट्रसंघ कौंसिल के जिम्मे सुपुर्द कर दी गयी। नार्मन डेविस के नेतृत्व में कौंसिल ने एक समिति नियुक्त की। कौंसिल ने समिति की रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया और बाद में लिथुएनिया और मित्रराष्ट्रों ने भी इसे मान लिया। मेमेल पर लिथुएनिया को प्रभुसत्ता स्थापित हुई; पर मेमेल वासियों को आन्तरिक स्वतन्त्रता मिली और मेमेल बन्दरगाह पर शासन करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बोर्ड की स्थापना हुई।

अल्बेनिया विवाद :—यूगोस्लाविया और यूनान के पश्चिम में अल्बेनिया स्थित है। ये दोनों देश इसका आपस में बँटवारा कर लेना चाहते थे, पर राष्ट्रसंघ ने अल्बेनिया को एक स्वतन्त्र राज्य की मान्यता दी और १६२० में वह देश राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। पर अल्बेनिया की सीमा निर्धारित करने में कुछ देर लग गयी। इसी बीच यूगोस्लाविया वाले बराबर अल्बेनिया में घुस कर उपद्रव मचाया करते थे। १६२१ में यूगोस्लाविया के कुछ सशस्त्र सैनिकों ने अल्बेनिया पर आक्रमण कर दिया। इससे एक छोटा-मोटा बाल्कन युद्ध का खतरा पैदा हो गया। अल्बेनिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की। राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से यह मामला भी तय हो गया। कौंसिल ने राजदूतों की एक परिषद् बनायी और इस परिषद् ने अल्बेनिया की सीमा को निर्धारित कर दिया। यूगोस्लाविया को अपनी फौज हटा लेने की आज्ञा दी गयी।

ऊपरी साइलेशिया का विवाद :—१६२१ में ऊपरी साइलेशिया को लेकर जर्मन और पोलैंड में एक विवाद उठ खड़ा हुआ। वर्साय-सन्धि में कहा गया था कि इस इलाके के भाग्य का अन्तिम निर्णय वहाँ के वासियों के जनमत द्वारा किया जायगा। मार्च, १६२१ में मित्रराष्ट्रों के निरीक्षण में एक जनमत संग्रह हुआ। मतदान में अधिकांश लोगों ने जर्मनी में शामिल होने के पक्ष में वोट दिया। पर पोलैंड ने जनमत के बाद भी कुछ इलाकों पर दावा किया जहाँ पोलिश लोगों की संख्या अधिक थी। फ्रांस ने पोलैंड की इस माँग का समर्थन किया। जर्मनी ने दावा किया कि ऊपरी साइलेशिया का विभाजन आर्थिक दृष्टि से अनुचित होगा। जब यह विवाद चल ही रहा था उसी समय कोरफैंटी नामक एक पोलिस सेनापति ने ऊपरी साइलेशिया पर हमला करके उसके अधिकांश हिस्से पर अपना अधिकार कायम कर लिया। अन्य उपायों से इस झगड़े को निबटाने का प्रयास विफल हुआ। इसके बाद सारा मामला राष्ट्रसंघ कौंसिल के सामने रखा

गया। कौंसिल ने समस्या पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की जिसके सदस्य बेल्जियम, ब्राजिल, चीन तथा स्पेन थे। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर कौंसिल ने अपना निर्णय दिया जिसके अनुसार ऊपरी साइलेशिया का विभाजन कर दिया गया। एक हिस्से पर जर्मनी का और दूसरे हिस्से पर, जिसमें खनिज पदार्थ के क्षेत्र थे, पोलैंड की प्रभुसत्ता कायम हुई। जर्मनी और पोलैंड ने इस निर्णय को स्वीकार कर लिया।

कोर्फ़ू-विवाद—कोर्फ़ू की घटना ऐसी घटना थी जिसका सम्बन्ध एक बड़े राष्ट्र के साथ था। २७ अगस्त, १९२३ को यूनान में कुछ इटली के नागरिकों की हत्या कर दी गयी। इटली की सरकार ने तुरत ही एक अन्तिमेत्थम् भेजा जिसमें उससे सरकारी तौर पर क्षमा माँगने को कहा गया था। अन्तिमेथम् में पाँच करोड़ डालर की क्षतिपूर्ति भी माँगी गयी थी। चुनौती को स्वीकार करने के लिए चौबीस घंटे का समय दिया गया था। यूनान की सरकार ने इटली की बहुत-सी माँगे मान लीं। पर कुछ ऐसी माँगे भी थीं जिनको वह एक प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य के नाते स्वीकार नहीं कर सकता था। इस पर इटली ने यूनान के द्वीप कोर्फ़ू पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया। यूनान ने राष्ट्रसंघ में अपील की। मुसोलिनी ने दावा किया कि कोर्फ़ू पर अधिकार बिल्कुल अस्थायी है।

जब राष्ट्रसंघ-कौंसिल में कोर्फ़ू घटना पर बहस होने लगी तो इटली के प्रतिनिधि सालान्ड्रा ने बतलाया कि राष्ट्रसंघ को इस मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है और इटली ने कभी भी युद्ध का इरादा नहीं किया। पर कौंसिल ने इस मामले को राजदूतों की परिषद् के सुपुर्द कर दिया। जाँच पड़ताल के बाद राजदूतों ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि यूनान में की गयी हत्याएँ गैर-कानूनी थीं और इसके साथ-ही-साथ इटली द्वारा भेजा गया अन्तिमेत्थम् भी। राजदूतों ने फैसला किया कि अपराधियों को दण्ड तथा इटली को क्षतिपूर्ति मिलनी चाहिए और यूनान को क्षमा माँगनी चाहिए। ये शर्तें मान ली गयीं और इटली ने कोर्फ़ू पर से अपना अधिकार हटा लिया।

मोसुल-विवाद—लुसान संधि (१९२३) के अनुसार यह हुआ था कि तुर्की और ईराक की सीमा मैत्रीपूर्ण समझौते के द्वारा निर्धारित की जाय। संधि में यह उपबन्ध भी रखा गया था कि यदि नौ मास की अवधि में कोई हल नहीं निकल सके तो यह प्रश्न राष्ट्रसंघ में भेजा जाय। मोसुल से तेल-कूपों को लेकर दोनों देशों में समझौता नहीं हो सका। इसलिए अगस्त, १९२४ में यह मामला राष्ट्रसंघ-कौंसिल में आया। कौंसिल ने समस्या की जाँच के लिए एक सर्वथा तटस्थ जाँच आयोग नियुक्त कर दिया। अक्टूबर में दोनों पक्षों की ओर से ये शिकायतें आने पर कि पूर्वावस्थावाली रेखा का अतिक्रमण करने के यत्न किये गये हैं, ब्रुसेल्स में राष्ट्रसंघ-कौंसिल की साधारण बैठक हुई जिसने एक स्थायी सीमान्त स्थापित कर दिया जो बाद में ब्रुसेल्स-रेखा कहलायी। १९२५ में स्वेडन, हंगरी और बेल्जियम के एक तटस्थ आयोग ने इस मामले पर विचार आरम्भ किया। कौंसिल ने सितम्बर में इस आयोग की रिपोर्ट पर विचार करना शुरू किया। इसी बीच तुर्की के कैल्डियन ईसाइयों ने विद्रोह कर दिया और तुर्की सरकार ने इस विद्रोह का क्रूरतापूर्वक दमन किया। ईराक में धड़ाधड़ शरणार्थी आने लगे और तुर्कों ने जो अत्याचार किये थे, वे राष्ट्रसंघ के एक प्रतिनिधि जनरल लेडोनर की तटस्थ रिपोर्ट से निश्चित रूप से सिद्ध हो गये। राष्ट्रसंघ ने अन्त में मोसुल-विवाद

पर अपना फैसला दिया। 'ब्रुसेल्स लाइन' को ही सीमांत मान लिया गया और प्रायः सारा मोसुल ईराक में शामिल हो गया। जून, १९२६ में तुर्की, ईराक और ब्रिटेन में त्रिपक्षीय संधि हुई, जिसके अनुसार निर्धारित सीमांत को मान लिया गया।

यूनान और बुलगेरिया में विवाद—अक्टूबर, १९२५ में यूनान और बुल्गेरिया के बीच सीमान्त को लेकर एक झगड़ा शुरू हो गया और डेमिर टापू में दोनों देशों के सैनिकों ने एक दूसरे पर गोली की खूब वर्षा की। यूनान की सेना बुलगेरिया के एक नगर में घुस गयी और बुल्गेरिया के अन्दर सत्तर वर्गमील पर अपना अधिकार जमा लिया। बुल्गेरिया ने राष्ट्र-संघ में अपील की। कौंसिल ने एक युद्ध-विराम प्रस्ताव पास करके दोनों देशों को अपनी फौजें वापस हटाने का आदेश दिया। दोनों देशों ने इस आज्ञा का पालन किया। बाद में एक आयोग की नियुक्ति की गयी। आयोग ने यूनान के आक्रमण को अन्यायपूर्ण ठहराया। उसको बुल्गेरिया को क्षतिपूर्ति देने को कहा गया। १ मार्च, १९२६ को यूनान ने क्षतिपूर्ति चुका दी और इस तरह राष्ट्रसंघ ने एक और मामले को तय किया।

पिरूविया-कोलम्बिया-विवाद—सितम्बर, १९३२ में पिरूविया की सेना ने कोलम्बिया के एक बन्दरगाह लेटाशिया पर कब्जा कर लिया। राष्ट्रसंघ ने अमेरिका से कूटनीतिक सहायता प्राप्त करके पिरूविया पर दवाव डाला कि वह वहाँ से हट जाय।

इस प्रकार राष्ट्रसंघ ने अनेक विवादों को तय किया। केवल उन विवादों को तय करने में, जिनका सम्बन्ध बड़े राष्ट्रों के साथ था, राष्ट्रसंघ को सफलता नहीं मिल सकी। पर इसके लिए राष्ट्रसंघ को दोषी नही ठहराया जा सकता। इसके लिए तो स्वयं वे राष्ट्र ही दोषी थे जो राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप और निर्णय को मानने के लिए तैयार नहीं थे।

राष्ट्रसंघ का पतन
(Liquidation of the League)

१९२४ से १९३० तक की अवधि में राष्ट्रसंघ अपनी उन्नति के चरम शिखर पर रहा। इस काल में उसकी प्रतिष्ठा सारे संसार में छायी हुई थी। लेकिन १९३१ से उसका पतन धीरे-धीरे शुरू हुआ। पतन के इस नाटक की पृष्ठभूमि का सृजन १९३० के आर्थिक संकट ने किया। इस भीषण संकट ने सब देशों को अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए तरह-तरह के आर्थिक प्रतिबन्ध, संरक्षण, सीमा-कर आदि लगाने को बाध्य किया। प्रत्येक देश ने अपनी स्थिति को एक-दूसरे से पृथक् रख कर दृढ़ बनाने की कोशिश की। फलतः अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना कमजोर पड़ने लगी और आर्थिक सहयोग के स्थान पर आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता का जन्म हुआ। इसके परिणामस्वरूप संकुचित राष्ट्रीयता का फिर से बोलबाला हो गया। इसी समय जापान ने राष्ट्रसंघ को एक जबरदस्त धक्का लगाया।

मंचूरिया का युद्ध

१९३१ के मंचूरिया-संकट ने राष्ट्रसंघ के विनाश को अवश्यम्भावी बना दिया। संकट पर विस्तारपूर्वक अध्ययन हम आगे करेंगे। लेकिन यहाँ राष्ट्रसंघ के पतन को समझने के लिए इसका संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है।

मंचूरिया रूस की सीमा से लगा हुआ एक विशाल चीनी प्रान्त था। जापानी उद्योगपतियों ने इस प्रान्त में अपनी विपुल धन राशि लगा रखी थी। अतः; जापान की सरकार इस विशाल प्रदेश को अपने प्रभाव में रखना चाहती थी। १८ सितम्बर, १९३१ को जापान ने, यह कह कर कि चीन ने उसकी रेलवे सम्पत्ति को नष्ट कर दिया है, अचानक मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया। कुछ ही दिनों में उसने मंचूरिया के अधिकांश भू-भाग पर अधिकार जमा लिया और वहाँ मंचुकाओ सरकार के नाम से एक कठपुतली सरकार की स्थापना करके उसे मान्यता प्रदान कर दिया।

जापान का यह आक्रामक कार्य राष्ट्रसंघ विधान पर घोर अतिक्रमण था, क्योंकि चीन राष्ट्रसंघ का एक सदस्य था। चीन की सरकार ने राष्ट्रसंघ के विधान की ग्यारहवीं धारा के अनुसार जापान के विरुद्ध राष्ट्रसंघ से सहायता की याचना की। मंचूरिया पर आक्रमण होते ही चीन की नानकिंग-सरकार ने तुरत इसका विरोध किया और उसने तीन दिनों के बाद, २१ सितम्बर, १९३१ को, राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार सारा चीन-जापान-विवाद कौंसिल के सम्मुख रखा। जापानी प्रतिनिधि ने कौंसिल को बताया कि जापान चीन के भू-भाग को अपने क्षेत्र में मिलाने का कोई विचार नहीं रखता। जापान और चीन सीधी वार्ताएँ करके ही आपसी झगड़े को तय कर सकते हैं; इसलिए उसने कौंसिल से अनुरोध किया वह कोई कदम नहीं उठाये जिससे इस वार्ता में कोई बाधा पड़े। जापानी सरकार ने ब्रिटिश सरकार को यह आश्वासन देकर कि उसका असल उद्देश्य साम्यवाद के प्रसार को रोकना है, अपने क्ष में कर लिया। चीन की शिकायत पर कौंसिल में बहस होती रही और ३० सितम्बर, ९३१ को एक प्रस्ताव निर्विरोध रूप से स्वीकार कर लिया गया, जिसका उद्देश्य जापान को पीछे हटने के लिए तैयार करना तथा यथास्थिति को पुनर्स्थापित करना था। प्रस्ताव के स्वीकृत होने के बाद कौंसिल का अधिवेशन दो सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया गया।

इस बीच में मंचूरिया को छोड़ने के बजाय जापान उसको अपने चंगुल में और कसकर जकड़ने का प्रयास करता रहा। यह स्पष्ट हो गया कि जापान केवल राष्ट्रसंघ-विधान का ही उल्लंघन नहीं कर रहा है, अपितु पेरिस-पैक्ट और वाशिंगटन-नौ-राष्ट्रसंघ का भी उल्लंघन कर रहा है। इन दो संधियों का सम्बन्ध संयुक्त राज्य अमेरिका से भी था। उस देश में जापानी आक्रमण के महत्त्व को समझा जाने लगा। शुरू में कौंसिल ने अमेरिका को वाद-विवाद में भाग लेने के लिए आमन्त्रित भी किया। पर अमरीकी सरकार ने कौंसिल के प्रयत्नों की सराहना करके उसमें सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। उसने चीन और जापान दोनों देशों से कूटनीतिक तरीकों से अनुरोध किया कि वे कौंसिल के प्रस्ताव को स्वीकार कर लें। लेकिन, पूर्वी एशिया की स्थिति गम्भीर हो रही थी और अमेरिका उसको चुपचाप बैठे नहीं देख सकता था। उसने कौंसिल से अनुरोध किया कि यदि अमेरिका को कौंसिल की कार्यवाही में भाग लेने को कोई निमन्त्रण दिया गया तो वह ऐसे निमन्त्रण का स्वागत करेगा। मंचूरिया-प्रश्न पर विचार करने के लिए १४ अक्टूबर को कौंसिल का दूसरा अधिवेशन शुरू हुआ और तुरत ही कौंसिल के सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि अमेरिका को वाद-विवाद में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जाय। जापानी प्रतिनिधि ने इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया। लम्बे वाद-विवाद के बाद यह तय हुआ कि अमेरिका को

कौंसिल के कार्यों में भाग लेने के लिए बुलाया जाय और १६ अक्टूबर को अमरीकी प्रतिनिधि श्री गिलबर्ट ने कौंसिल में अपना स्थान ग्रहण किया। अमेरिका के इस सहयोग से कूटनीतिक क्षेत्रों में काफी उत्साह बढ़ गया। ऐसा समझा गया कि राष्ट्रसंघ ने जापान को खो दिया तो उसकी जगह पर अमेरिका जैसा राष्ट्र उसे प्राप्त हो गया। किन्तु, इस आशा पर तुरत ही पानी फिर गया। अमेरीकी प्रतिनिधि ने यह घोषणा की कि वह कौंसिल की कार्यवाही में उसी सीमा तक भाग लेगा जिसका सम्बन्ध पेरिस-पैक्ट से होगा। वास्तव में अमरीकी सरकार राष्ट्रसंघ में कोई सक्रिय भाग लेने के लिए अभी तैयार नहीं थी।

इसी बीच कौंसिल में मंचूरिया-प्रश्न पर वाद-विवाद होता रहा। जापानी प्रतिनिधि इस बात पर जोर देता रहा कि मंचूरिया में उसने जो कार्रवाई की है, वह आत्मरक्षा के उद्देश्य से की गयी है और इसको युद्ध न मानकर 'पुलिस कार्रवाई' माना जाय। उसने यह रुख अपनाया कि चीन और जापान दोनों देश प्रत्यक्ष वार्ता करके ही इस मामले को तय कर सकते हैं। पर, जब प्रत्यक्ष वार्ता के तरीकों पर बहस होने लगी तो उसमें चीनी और जापानी विचार सर्वथा एक दूसरे के विपरीत थे। चीन का कहना था कि किसी वार्ता के प्रारम्भ करने के पूर्व चीन की भूमि से जापानी सेना का हट जाना परमावश्यक है और जापान का कहना था कि वार्ता द्वारा ही सेना हटाने के तरीकों को तय किया जाय। चीन को कौंसिल के अन्य सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। २४ अक्टूबर को इस आशय का एक प्रस्ताव कौंसिल के सामने पेश किया गया कि वार्ताएँ चलने के पहले १६ नवम्बर तक जापान अपनी सेना हटा ले। जापान को छोड़कर प्रस्ताव के पक्ष में सभी सदस्यों ने वोट दिये। समझौते का मार्ग निश्चित रूप से समाप्त हो चुका था।

१६ नवम्बर को कौंसिल ने इस प्रश्न पर पुनः विचार करना शुरू किया। इस बार अमेरिका का प्रतिनिधि कौंसिल की कार्यवाही में सम्मिलित नहीं हुआ। १६ नवम्बर से १० दिसम्बर तक कौंसिल में इस प्रश्न पर वाद-विवाद होता रहा। अन्त में, जापान ने स्वयं एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसका ध्येय पूर्वी एशिया में चीन जापान गतिरोध की जाँच करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति करना था। प्रस्ताव में कहा गया था कि "पूर्वी एशिया में एक राष्ट्रसंघ का आयोग भेजा जाय जो घटनास्थल पर जाकर इस बात की जाँच करे कि चीन और जापान के बीच शान्ति भंग होने की आशंका पैदा करनेवाली क्या ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ सकता है।" आयोग को स्पष्ट रूप से यह आदेश दिया गया था कि वह सम्बन्धित क्षेत्र के सैनिक प्रबन्ध में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करे। १० दिसम्बर को यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और अमेरिका के प्रतिनिधि इस आयोग के सदस्य बनाये गये। ब्रिटिश-प्रतिनिधि लार्ड लिटन आयोग का अध्यक्ष बनाया गया, इसलिए इसको लिटन-आयोग का नाम दिया गया।

लिटन आयोग—घटनास्थल पर पहुँच कर लिटन-आयोग धीरे-धीरे अपना काम करने लगा। इसी बीच २८ जनवरी के दिन जापान ने शंघाई पर अपना आक्रमण शुरू कर दिया। शंघाई-युद्ध की तरफ संसार का ध्यान आकर्षित करते हुए चीनी सरकार ने यह माँग की कि राष्ट्रसंघ-विधान की १० वीं और १५ वीं धारा को जापान के विरुद्ध लागू किया जाय। जापान

के आक्रमण पर विचार करने के लिए उसने यह भी अनुरोध किया कि राष्ट्रसंघ एसेम्बली का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाय। चीन ने अनुभव किया कि कौंसिल में केवल बड़े राष्ट्रों का ही प्रतिनिधित्व है और वे जापान के विरुद्ध कोई कड़ी कार्रवाई करना नहीं चाहते। एसेम्बली में छोटे राष्ट्रों का जिन्हें आक्रमण का सबसे अधिक भय रहता था, बहुमत था और वे जापान के विरुद्ध कड़ी-से-कड़ी कार्रवाई करने का समर्थन कर रहे थे। चीन ने सोचा की शायद एसेम्बली द्वारा उसके प्रति न्याय हो। पर, यह आशा भी व्यर्थ ही साबित हुई। १२ फरवरी, १६३२ को यह विवाद एसेम्बली में भेजा गया और ३ मार्च को उसका विशेष अधिवेशन हुआ। इस प्रकार मामला ऐसी जगह पहुँच गया, जहाँ सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की वास्तविक जाँच पहले-पहल होने वाली थी। अधिवेशन में विश्व-शान्ति और सामूहिक सुरक्षा-जैसे विषयों पर सुन्दर-सुन्दर भाषण दिये गये। पर इसके अतिरिक्त कोई अन्य व्यावहारिक काम नहीं किया गया। लिटन-आयोग की रिपोर्ट प्राप्त होने तक एसेम्बली का काम स्थगित कर दिया गया। जापान के विरुद्ध कोई भी कार्रवाई बड़े राष्ट्रों के समर्थन से ही सम्भव थी। बड़े राष्ट्रों में, सोवियत-संघ और अमेरिका जिनकी पूर्वी एशिया की राजनीति में दिलचस्पी थी, राष्ट्रसंघ के सदस्य ही नहीं थे और ब्रिटेन जो थोड़ा बहुत नौ-सैनिक कार्रवाई कर सकता था, जापान के इस अपवित्र कार्य का नैतिक समर्थन ही कर रहा था। इस दशा में जापान के विरुद्ध कुछ कर सकना कठिन कार्य था। अमेरिका ने ७ जनवरी को 'स्टिमसन सिद्धान्त' प्रतिपादित करके मंचूकुओ सरकार को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। कुछ और राष्ट्रों ने अमेरिका का अनुकरण किया। पर, इससे लाभ ही क्या होनेवाला था? उधर लिटन-आयोग मन्थर गति से अपना कार्य कर रहा था। इसी समय जेनेवा में निरस्त्रीकरण और लुसान में क्षतिपूर्ति के प्रश्नों पर गम्भीर रूप से विचार हो रहा था। चीन के लिए किसी को फिक्र नहीं थी। उसको अपने भाग्य के ऊपर छोड़ दिया गया।

२ अक्टूबर, १६३२ को लिटन-रिपोर्ट जेनेवा में प्रकाशित की गयी और नवम्बर में वह कौंसिल के समक्ष पेश की गयी। लिटन-रिपोर्ट एक लम्बा-चौड़ा दस्तावेज था और इसमें चीन तथा जापान के सम्बन्धों के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाला गया था। आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि मंचूरिया में चीन से अलग होने का कोई जन-आन्दोलन नहीं है और मंचूरिया को चीन से अलग कर देने का परिणाम बहुत बुरा होगा। चीन और जापान का सम्बन्ध बहुत खराब है और इसको सुधारने तथा अन्य समस्याओं के समाधान के लिए राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में दोनों देशों के बीच वार्तालाप होना चाहिए। मंचूरिया में जापान का विशेष स्वार्थ है; चीनी प्रभुसत्ता के अन्तर्गत इस क्षेत्र में स्वायत्त शासन की स्थापना होनी चाहिए।

राष्ट्रसंघ की निष्क्रियता—३ दिसम्बर, १६३२ को लिटन-रिपोर्ट पर विचार करने के लिए राष्ट्रसंघ-एसेम्बली का एक विशेष अधिवेशन हुआ। राष्ट्रसंघ ने समझौता करने के अनेक प्रयत्न किये; पर १६३३ के आरम्भ में सब आशाएँ विनष्ट हो गयी। कारण, १ जनवरी को जापान ने फिर से अपनी आक्रमणात्मक कार्रवाई शुरू कर दी। अन्त में एसेम्बली ने सारे मामले को १६ व्यक्तियों की एक समिति के जिम्मे सुपुर्द कर दिया। इस समिति को समझौता के लिए एक योजना तैयार करने का काम दिया गया। समिति ने इस तरह की कोई योजना प्रस्तुत करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की, जो दोनों दलों को मान्य हो। फिर भी इसने लिखि

की कि चीन और जापान राष्ट्रसंघ की एक समिति के तत्वावधान में जापानी सेना को हटा लेने तथा चीनी प्रभुसत्ता के अन्तर्गत मंचूरिया में स्वायत्त शासन की स्थापना के लिए वार्ताएँ शुरू कर दें। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों से अनुरोध किया गया कि वे 'मॅचूकुओ सरकार' को मान्यता नहीं दे। इस रिपोर्ट में क्या नही कहा गया था या किन वातों की उपेक्षा की गयी थी, वह बात और भी अधिक महत्त्वपूर्ण थी। चीन और जापान दोनों राष्ट्रसंघ के सदस्य थे और इस हैसियत से दोनों ने वादा किया था कि वे किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता पर अतिक्रमण नहीं करेंगे। पर, जापान राष्ट्रसघ के एक सदस्य-राष्ट्र पर खुले तौर से आक्रमण कर उसके प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमा रहा था। राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार जापान को आक्रमणकारी घोषित करना चाहिए था और आक्रमणकारी के विरुद्ध सैनिक और आर्थिक पाबन्दियाँ लागू करनी चाहिए थीं। समिति ने यद्यपि यह अस्वीकार किया कि जापान की सैनिक कार्रवाई पुलिस कार्रवाई है; पर उसने यह नही कहा कि इस देश ने राष्ट्रसंघ-विधान का उल्लंघन किया है। यह था अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का एक नमूना। जापान के नग्न और लज्जाहीन आक्रमण को केवल इसीलिए भुला दिया गया कि पश्चिम के साम्राज्यवादी बड़े राष्ट्रों की उम्मीद थी कि जापान अन्ततः सोवियत-संघ पर चढ़ाई करेगा। चीन और सामूहिक सुरक्षा के लिए उन्हें कोई परवाह नहीं थी। वास्तव में यह अन्तर्राष्ट्रीय मत्स्यन्याय का युग था—बड़ी मछली को छोटी मछली को निगल जाने का पूरा अधिकार प्राप्त था।

१७ फरवरी को इस समिति की रिपोर्ट प्रकाशित कर दी गयी। २४ फरवरी को रिपोर्ट पर विचार करने के लिए राष्ट्रसंघ-एसेम्बली की बैठक हुई। रिपोर्ट पर मत लिया गया और ४२ वोटों से रिपोर्ट स्वीकार कर लिया गया। स्याम ने अपना मत नही दिया और जापान ने विरोध में अपना मत दिया। मतगणना के बाद जैसे ही परिणाम की घोषणा की गयी, जापानी प्रतिनिधिमण्डल के नेता ने उसके तुरत ही बाद एक छोटा सा भाषण दिया, जिसमें उसने एसेम्बली की कार्यवाही पर खेद प्रकट किया। 'राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करना अब जापान के लिए असम्भव प्रतीत होता है।' जापानी प्रतिनिधि के ये अन्तिम शब्द थे। राष्ट्रसंघ के निर्णय के विरोध में जापानी प्रतिनिधि-मंडल समास्थल से उठकर चला गया। इसके एक माह बाद २० मार्च, १९३३ को जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्यागने की विधिवत् सूचना दे दी। आक्रमणकारी को सब कुछ मिला; आक्रान्त को कुछ नही।

राष्ट्रसंघ पर मंचूरिया-काण्ड का प्रभाव बहुत घातक हुआ। जिस समय इस विश्व-संस्था का निर्माण किया गया था उस समय दुनिया के लोगों में यह आशा उत्पन्न हुई थी कि संसार में शान्ति और सद्भावना के एक नये युग का सूत्रपात हुआ है। पर बारह वर्षों के अन्दर ही इस आशा पर पानी फिर गया। राष्ट्रसंघ के एक सदस्य पर बलात्कार होता रहा, उसके विधान का उल्लंघन होता रहा; लेकिन किसी ने इसको रोकने के लिए कोई सक्रिय या व्यावहारिक कदम नहीं उठाया। सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धांत एक कोरी कल्पना बन गया। इस कारण राष्ट्रसंघ पर से लोगों का विश्वास जाता रहा। छोटे-छोटे राज्य भयभीत हो गये। एक बार चीन पर आक्रमण हुआ, दूसरी बार किसी दूसरे पर भी हो सकता है। सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धांत बालू कि भीत की तरह ढह गया। इसके लिए एक मात्र जापान को दोषी नही ठहराया जा सकता था। इसमें उनलोगों का भी दोष था, जिन्होंने इस पद्धति का सूत्रपात

किया था और जब इसको लागू करने का समय आया तो पीछे हट गये। राष्ट्रसंघ के सदस्यों, खासकर बड़े राष्ट्रों पर राष्ट्रसंघ-विधान को पालन करवाने का मुख्य उत्तरदायित्व था। पर वे शक्तिशाली राज्य की आक्रमणात्मक कार्रवाई को रोकने के लिए तैयार नहीं थे। वास्तव में मंचूरिया-काण्ड ने राष्ट्रसंघ का सर्वनाश ही कर दिया। संसार में पुनः अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता छा गयी।

अबीसीनिया का युद्ध

मंचूरिया-काण्ड से राष्ट्रसंघ को जबरदस्त धक्का लगा था। जिस समय राष्ट्रसंघ मंचूरिया समस्या में व्यस्त था, उसी समय वह एक और महत्त्वपूर्ण समस्या के समाधान मे लगा हुआ था। हथियारबन्दी की होड़ कम करने के लिए १९३२ में राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत जेनेवा में निरस्त्रीकरण सम्मेलन चल रहा था। कुछ ही दिनों में यह स्पष्ट हो गया कि निरस्त्रीकरण के सारे प्रयास बेकार है और राष्ट्रसंघ इस समस्या के समाधान में कभी सफल नहीं हो सकता है। इससे राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा पर एक और धक्का लगा। इसी बीच १९३५ में इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ के एक अन्य सदस्य-राज्य अबीसीनिया पर आक्रमण करके राष्ट्रसंघ की बची हुई महत्ता को सदा-सर्वदा के लिए खत्म कर दिया।

वालवाल की घटना—इटली की विदेश-नीति पर विचार करते समय हम अबीसीनिया-युद्ध के कारणों पर भली-भाँति विचार करेंगे। यहाँ पर इतना ही कहना है कि अफ्रिका में इटली के एक विशाल साम्राज्य कायम करने की भावना से प्रेरित होकर मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया। झंझट एक बहुत ही छोटी-मोटी घटना से शुरू हुई थी। ५ दिसम्बर, १९३४ को वालवाल ग्राम के निकट अबीसीनिया की एक सैनिक टुकड़ी और सोमालीलैंड में स्थित इटली के एक सैन्य दल में अचानक मुठभेड़ हो गयी। इसके परिणामस्वरूप तीस इटालियन सैनिक मारे गये और एक सौ घायल हो गये। दूसरे पक्ष में हताहतों की संख्या इससे भी अधिक थी। इस घटना पर दोनों तरह से विरोध प्रकट किये गये। इटली की सरकार ने अबीसीनिया द्वारा क्षमा-याचना करने और क्षतिपूर्ति के रूप में भारी रकम की मांग की। १३ दिसम्बर को अबीसीनिया ने राष्ट्रसंघ-विधान की ग्यारहवीं धारा के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ से अपील कर दी। उधर इटली भयंकर रूप से सैनिक तैयारी करने लगा।

राष्ट्रसंघ और संकट—जेनेवा में अबीसीनिया की शिकायत का विरोध करने में फ्रांस ने अग्रणी का काम किया। जर्मनी के विरुद्ध इटली का समर्थन प्राप्त करने के लिए फ्रांस अत्यधिक उत्सुक था। जनवरी, १९३५ में जब राष्ट्रसंघ-कौंसिल ने अबीसीनिया की अपील पर विचार करना शुरू किया, तब इटली के प्रतिनिधि ने ग्यारहवीं धारा के अन्तर्गत वालवाल-घटना पर विचार किये जाने को अनावश्यक बताया। इसके साथ ही उसने यह विचार भी व्यक्त किया कि १९२८ की सन्धि के अधीन इटली समझौता और पंचनिर्णय द्वारा वालवाल-समस्या का समाधान निकालने के लिए तैयार है। इस आश्वासन पर कौंसिल ने समस्या पर विचार करना कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया। पर, मुसोलिनी समझौते द्वारा मामला को तय करना नहीं चाहता था। इटली की तरफ से जोर-शोर से सैनिक तैयारियाँ होने लगी। १९३५ के जनवरी से मार्च तक इटली की सेना इरीट्रीया और सोमालीलैंड में प्रवेश करती रही। इसको देखकर किसी व्यक्ति के मन में

उसके आक्रामक इरादों के बारे में कोई सन्देह नहीं रहा। इस लम्बी अवधि में इटली की सरकार ने पंचों की नियुक्ति की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया। अबीसीनिया बार-बार राष्ट्रसंघ में अपील करता रहा। पीछे जब पंचों की नियुक्ति भी हुई तो आधार भूत मतभेद हो जाने के कारण पंचनिर्णय-कार्यवाहियों में गतिरोध पैदा हो गया और मार्च, १७ को अबीसीनिया ने राष्ट्रसंघ विधान की पन्द्रहवीं धारा के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ में पुनः अपील कर दी।

राष्ट्रसंघ की रुख :—४ सितम्बर, १९३५ को राष्ट्रसंघ कौंसिल ने १७ मार्च को अबीसीनिया की अपील पर विचार करना प्रारम्भ किया। इटालियन प्रतिनिधि ने राष्ट्रसंघ द्वारा इस अपील पर विचार करने का विरोध किया। इटली के विरोध के बावजूद कौंसिल ने अबीसिनिया के प्रश्न पर विचार करना शुरू कर दिया। ११ सितम्बर को ब्रिटेन के नये विदेश मंत्री सेम्युअल होर ने घोषणा की कि ब्रिटिश-सरकार राष्ट्रसंघ विधान के अन्तर्गत स्वीकार किये गये सभी दायित्वों को पूरा करने का इरादा रखती है। जिन लोगों ने सर सेम्युअल के इस भाषण को सुना, उनका कहना था कि राष्ट्रसंघ के इतिहास में यह एक ऐतिहासिक भाषण था। पर, जिन लोगों को सुनने के लिए ये बातें कही गयी थीं उन्हें एक जबरदस्त धोखा दिया जा रहा था। संसार को और खासकर ब्रिटिश-मतदाताओं की आँखों में सर सेम्युअल धूल झोंक रहे थे। उन्हें शायद उस समय यह पता नहीं था कि मुसोलिनी को अबीसीनिया में छूट देने के लिए भीतर-ही-भीतर वार्ताएँ भी शुरू हो चुकी थीं। पर दुनिया को दिखलाने के लिए ब्रिटेन ने अपना बेड़ा भूमध्यसागर में एकत्र कर दिया।

१ अक्टूबर, १९३५ को मुसोलिनी ने अपनी सेना को अबीसीनिया पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया और ६ अक्टूबर को आक्रमण बाजाब्ता शुरू हुआ। ७ अक्टूबर को कौंसिल की एक समिति ने एक रिपोर्ट तैयार की, जिसमें यह कहा गया था कि 'इटली ने राष्ट्रसंघ-विधान की अवहेलना करते हुए उसका उल्लंघन किया है।' ९ अक्टूबर से ११ अक्टूबर तक राष्ट्रसंघ के लगभग पचास सदस्य इस समस्या पर विचार करते रहे और अन्त में उन्होंने कौंसिल की समिति के निर्णय को मान लिया। राष्ट्रसंघ ने इटली का 'आक्रामक' घोषित करके विधान की सोलहवीं धारा के अनुसार उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के लिए एक समिति का संगठन कर दिया। मुसोलिनी ने उसके विरुद्ध राष्ट्रसंघ को धमकी दी। फिर भी, समिति ने राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों से अनुरोध किया कि वे इटली से अपने सब प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध विच्छेद कर लें और उसे युद्धोपयोगी सामग्री देना बन्द कर दें। राष्ट्रसंघ के इतिहास में यह पहला अवसर था जब आक्रमण के विरुद्ध आर्थिक पाबन्दियाँ लगाने का निर्णय किया गया।

होर लावाल समझौता— फ्रांस की स्थिति बड़ी विचित्र थी। उसे अपने एक ऐसे साथी के विरुद्ध पाबन्दियाँ लगानी पड़ीं, जिसको उसने हाल ही में अपना मित्र बनाया था। अतः लावाल का यह विचार था कि इटली पर अधिक दबाव नहीं डाला जाय। जेनेवा में उसने सर होर से मुलाकात की और दोनों ने मिलकर यह तय कर लिया कि इटली के विरुद्ध कोई भी कड़ी कार्रवाई न की जाय। होर ने वादा कर दिया कि ब्रिटिश सरकार स्वेज-नहर के मार्ग को इटली के विरुद्ध बन्द नहीं करेगी। पर, इस समय सामरिक दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण वस्तु तेल थी। तेल पर पाबन्दी लगाने से मुसोलिनी के इथोपियाई अभियान की आकाल मृत्यु

हो सकती थी। पर, ब्रिटेन और फ्रांस इस पाबन्दी को लगाने देना नहीं चाहते थे। अतएव जब राष्ट्रसंघ की 'पाबन्दी-समिति' (Sanctions Committee) तेल पर प्रतिबन्ध लगाने का विचार करने लगी तो मुसोलिनी ने धमकी दी कि यदि तेल पर प्रतिबन्ध लगाया गया तो युद्ध छिड़ जायगा। यह केवल एक धौंस थी। इटली अकेले ब्रिटेन और फ्रांस से नहीं लड़ सकता था। परन्तु मुसोलिनी की धौंस काम कर गयी। लावाल किसी न किसी बहाने तेल पर प्रतिबन्ध लगाने के प्रयास को स्थगित करता रहा। उसने राष्ट्रसंघ के अन्य प्रयासों को विफल बनाने के लिए सेम्युअल होर को बातचीत करने के लिए आमन्त्रित किया।

ब्रिटिश-विशेष सचिव सर सेम्युअल होर बहुत ही अनुभवी व्यक्ति था। ब्रिटेन ने इटली के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करने का सबसे बड़ा समर्थन किया था। मिस्र में ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक भी था। सर सेम्युअल को सम्भवतः यह भय हो रहा था कि निराशा की स्थिति में कहीं मुसोलिनी ब्रिटेन पर आक्रमण न कर बैठे; क्योंकि पाबन्दी लगवाने में ब्रिटेन का ही सबसे प्रमुख हाथ था। होर को पूर्ण विश्वास था कि ऐसे युद्ध में ब्रिटेन की विजय निश्चित होगी। पर, तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को ध्यान में रखकर वह इस प्रकार के युद्ध को मोल लेना नहीं चाहता था। ब्रिटेन के प्रतिद्वन्द्वी बड़े जोर-शोर से अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा रहे थे। ऐसी स्थिति में अबीसीनिया को लेकर इटली के साथ युद्ध मोल लेना सर सेम्युअल को ठीक प्रतीत नहीं हो रहा था। वह समझता था कि इटली ने ठीक ही गलत काम किया है। पर, अबीसीनिया को लेकर उसके साथ युद्ध मोल लेना ब्रिटेन के हक में कभी अच्छा नहीं होगा। इसी विचार से प्रेरित होकर वह ब्रिटिश-नीति का निर्धारण करता रहा।

राष्ट्रसंघ में इटली के विरुद्ध किसी भी कार्रवाई को रोकना फ्रांस का काम था। अबीसीनिया में युद्ध चल रहा था। युद्ध के प्रथम तीन मास इटली के लिए इतने अच्छे नहीं रहे जैसी आशा की गयी थी। दिसम्बर, १९३५ में फ्रांस को यह आशंका हो गयी कि यदि इटली अबीसीनिया में असफल हुआ तो यूरोप की स्थिति में उसकी प्रतिक्रिया हो सकती है। फ्रांसीसियों के लिए इटली की हार सीधा अर्थ था उसकी सहानुभूति से सदा के लिए हाथ धो देना। अतएव लावाल ब्रिटिश विदेश-सचिव सर सेम्युअल होर से एक ऐसा समझौता कर लेना चाहता था जिससे इटली को किसी खास कठिनाई का सामना नहीं करना पड़े। उसने गुप्त रूप से मुसोलिनी को इस आशय का आश्वासन भी दे दिया। दिसम्बर १९३५ की कुख्यात होर-लावाल-समझौते की यही पृष्ठभूमि थी।

दिसम्बर में सर सेम्युअल होर फ्रांसीसी विदेश-मन्त्री लावाल से मिलने के लिए पेरिस गया। दोनों ने मिलकर इटली और अबीसीनिया के सामने प्रस्तुत करने के लिए एक 'शान्ति-योजना' तैयार की। इस योजना के अनुसार यह निर्णय हुआ कि अभी तक इटली की सेना अबीसीनिया के जिन क्षेत्रों पर आक्रमण किया था, उससे भी काफी अधिक क्षेत्र को दे दिया जाय। इसके बदले में अबीसीनिया को समुद्र-तट तक निकास के लिए लाल सागर पर एक बन्दरगाह दे दिया जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह समझौता सम्पूर्ण संसार और राष्ट्रसंघ की सभी आदर्शों के प्रति महान् विश्वासघात था। अबीसीनिया को पूर्ण विनाश से बचाने के लिए सम्भवतः इस समझौते को उचित ठहराया जा सकता था। पर, उस समय तक इटली की

सफलता की कोई खास सम्भावना नहीं दिखाई पड़ रही थी। सर सेम्युअल ने स्वयं भविष्यवाणी की थी कि यह युद्ध लम्बा और अनिर्णायक रहेगा और उसके बाद समझौते से फैसला होगा। पर, सर सेम्युअल मुसोलिनी को प्रोत्साहित करने पर तुला हुआ था। दोनों विदेश मन्त्रियों
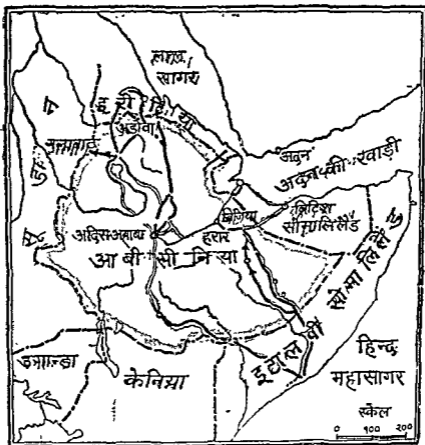
इटली द्वारा अबीसीनिया-विजय

के बीच यह तय हुआ कि जब तक इस योजना पर और अधिक विचार न हो जाय तब तक इसे गुप्त रखा जाय। इसके बाद सर सेम्युअल अपनी बातचीत के परिणाम को लंदन भेजकर छुट्टी मनाने स्विट्जरलैंड चला गया।

अधिक दिनों तक इस कुख्यात योजना को गुप्त नहीं रखा जा सका। लावाल ने तुरत ही इस योजना को फ्रांसीसी अखबारों को बतला दिया। दूसरे ही दिन सारी योजनाएँ अखबारों में छप गयीं। ब्रिटिश-जनता में रोष और विरोध का तूफान उठ खड़ा हुआ। वहाँ के लोगों ने महसूस किया कि उनकी सरकार द्वारा अबीसीनिया और राष्ट्रसंघ के आदर्श के प्रति विश्वास-घात किया गया है। इस योजना का अर्थ मुसोलिनी के काले कारनामों में सहायता पहुँचाना था। ब्रिटिश-जनमत ने इस समझौते का घोर विरोध किया कि सर सेम्युअल होर को अपने पद से इस्तीफा देना पड़ा। उसके बाद श्री ईडन ब्रिटेन के विदेश मंत्री बने। इस घटना के बाद होर-लावाल योजना की कोई चर्चा सुनाई नहीं पड़ी। यह योजना तो मर गयी, पर इसका प्रभाव उन देशों पर पड़े बिना नहीं रह सका जिन्होंने अभी तक राष्ट्रसंघ में विश्वास किया था। बड़े राष्ट्रों के विश्वासघाती कारनामों के फलस्वरूप यह विश्वास जाता रहा।

अबीसीनिया का युद्ध :—उन्नत और नये अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित इटली की सेनाओं के सामने अबीसीनिया का टिक सकना असम्भव था। उसकी सेना अबीसीनिया में निरन्तर आगे बढ़ती गयी। अबीसीनिया को मदद देने की बात तो दूर रही; ऐसे अनेक उपाय किये गये जिससे वह पूर्णतया अपनी आत्मरक्षा न कर सके। ब्रिटिश सरकार ने अस्त्र-शस्त्र भेजना बन्द कर दिया। अमेरिका की सैनिक सहायता भी अबीसीनिया को प्राप्त नहीं हो सकती थी। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को देखते हुए अगस्त १९३५ में अमेरीकी कांग्रेस ने अनेक 'तटस्थता नियम' पास किये जिसके अनुसार युद्धरत देशों को अमरीकी शस्त्रास्त्र मिलना बन्द हो गया। इस कानून से इटली को तो कोई घाटा नहीं हुआ, पर शक्तिहीन अबीसीनिया का अमरीकी अस्त्र-शस्त्र मिलना बन्द हो गया। प्रत्येक दृष्टिकोण से अबीसीनिया अकेला पड़ गया और ऐसी स्थिति में उनकी पराजय निश्चित थी। इटली ने केवल आक्रमण ही नहीं किया, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय नियमों और खासकर युद्ध-सम्बन्धी नियमों का उसने खुलेआम उल्लंघन भी किया। विमानों से ऐसी विपाक्त गैसें गिरायी गयीं तथा दमदम के बने उन गोलियों का प्रयोग किया गया जिनका व्यवहार युद्ध-नियम के अनुसार निषिद्ध था। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक जगह अबीसीनिया कि सेना हारने लगी। २ मई, १९३६ को सम्राट् हाइले सिलेसी राजधानी छोड़कर भाग खड़ा हुआ। तीन दिनों के बाद इटालियन सेना आदिसअबाबा में प्रवेश कर गयी। ९ मई को अबीसीनिया इटली के साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। अब विशाल अफ्रीकी साम्राज्य का मुसोलिनी का स्वप्न पूर्ण हो गया।

प्रतिबंधों का अन्त—यदि अबीसीनिया को अकेला नहीं छोड़ दिया जाता और राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार उसकी सहायता की गयी होती तो मुसोलिनी की आकांक्षा कभी पूर्ण नहीं होती। हाइले सिलेसी को विवश होकर अपना देश छोड़ देना पड़ा। जेरूसलम से उसने राष्ट्रसंघ के महासचिव को तार देकर यह सूचित किया कि 'इथोपियावासियों को सर्वनाश से बचाने के लिए मैं राजधानी छोड़ चुका हूँ। उसने राष्ट्रसंघ से पुनः अपील की कि वह अबीसीनिया की विजय को मान्यता नहीं दे और राष्ट्रसंघ-विधान की मर्यादा कायम रखने के लिए अभी भी प्रयास करे। ११ मई को राष्ट्रसंघ-कौंसिल की बैठक हुई। इटली के प्रतिनिधि ने अबीसीनिया के प्रतिनिधि की उपस्थिति पर आपत्ति की। अबीसीनिया ने सोलहवीं धारा के अन्तर्गत कार्रवाई करने की माँग की; पर कौंसिल कोई कदम उठाने में लाचार थी। एक के बाद दूसरा देश प्रतिबन्ध उठा रहा था। अन्त में कौंसिल ने सारा विवाद एसेम्बली के जिम्मे सौंप दिया। पश्चिमी राष्ट्र अबीसीनिया के प्रति अब किसी प्रकार की सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए उत्सुक नहीं थे।

३० जून को एसेम्बली की बैठक शुरू हुई। सम्राट् हाइले सिलेसी स्वयं अपने देश का प्रतिनिधित्व करने जेनेवा आया। एसेम्बली में उसने एक जबरदस्त भाषण दिया, पर इसका किसी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सोवियत प्रतिनिधि को छोड़कर किसी ने अबीसीनिया का समर्थन नहीं किया। उसकी सभी माँगों को अस्वीकृत कर पाबन्दी हटा दी गयी, सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का तिरस्कार कर दिया गया और अबीसीनिया को उसके भाग्य पर छोड़ दिया गया। राष्ट्रसंघ में अबीसीनिया को अभी भी प्रतिनिधित्व प्राप्त था। इसके विरोध में इटली ने राष्ट्रसंघ का बहिष्कार कर दिया। अब ब्रिटेन और फ्रांस का अन्तिम काम यह था कि

अबीसीनिया को राष्ट्रसंघ से निकालकर इटली को राष्ट्रसंघ में पुनः वापस लाया जाय। जिस तरह हेनरी चतुर्थ पोप से माफी माँगने केनोसा गया था उसी प्रकार राष्ट्रसंघ के महासचिव मि० एवेनोल मुसोलिनी से क्षमा माँगने रोम गये। इसके बाद ब्रिटेन और फ्रांस के प्रयास से अबीसीनिया राष्ट्रसंघ से निकाल दिया गया। नवम्बर, १६३८ में ब्रिटेन और फ्रांस ने अबीसीनिया पर इटालियन आधिपत्य को मान्यता दे दी। इसके केवल उन्नीस महीनों बाद मुसोलिनी ने इन दोनों देशों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके इस मान्यता का समुचित उत्तर दे दिया।

अबीसीनिया-काण्ड के परिणाम—इसमें कोई सन्देह नहीं कि इटली के नग्न और निर्लज्जता पूर्ण आक्रमण ने सारे संसार पर अपना गहरा असर डाला। प्रोफेसर गेथोर्न हार्डी के कथनानुसार इस घटना से युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ आरम्भ होता है। इटली की विजय राष्ट्रसंघ पर एक सांघातिक आघात था और इसके फलस्वरूप राष्ट्रसंघ का रहा-सहा प्रभाव भी जाता रहा। इस काण्ड से उसे ऐसा धक्का लगा जिससे वह कभी सम्हल नहीं सका। छोटे-छोटे राष्ट्र, जो राष्ट्रसंघ और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त पर आश्रित थे, उनका विश्वास सदा के लिए राष्ट्रसंघ पर से उठ गया। राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के लिए यह एक बहुत बड़ी विपत्ति थी। वस्तुतः यह अबीसीनिया का स्वतन्त्रता को नहीं स्वयं राष्ट्रसंघ की हत्या थी।

राष्ट्रसंघ और स्पेन का गृह-युद्ध

मुसोलिनी के सांघातिक प्रहार से राष्ट्रसंघ बच नहीं सका। इसी बीच स्पेन में गृह-युद्ध (१६३७) शुरू हुआ। जनरल फ्रांको के नेतृत्व में स्पेन के प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने उदारवादी गणतन्त्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके एक भयंकर गृह-युद्ध का सूत्रपात किया। अबीसीनिया में विजय के बाद मुसोलिनी के हौसले बहुत बढ़ चुके थे। राष्ट्रसंघ की कमजोरी स्पष्ट हो चुकी थी। स्पेन के गृह-युद्ध में उसने जर्मनी को साथ करके जनरल फ्रांको को मदद करना शुरू किया। इससे गणतन्त्रीय सरकार की स्थिति बहुत खराब हो गयी। उसने राष्ट्रसंघ से सहायता की याचना की। लेकिन सहायता देने की बात दूर रही; इंगलैंड और फ्रांस ने राष्ट्रसंघ से पृथक् एक अहस्तक्षेप समिति (non-intervention committee) की स्थापना करके उसे शस्त्र और ऋण देने पर पाबन्दी लगा दी। इस समय इन दोनों देशों को यूरोप के तानाशाही से कोई भय नहीं था। उन्हें जो भय था वह साम्यवादियों से और इस भय ने उन देशों को इतना अन्धा बना दिया था कि वे अपना स्वार्थ नहीं देख सकते थे।

स्पेन की सरकार के लिए अहस्तक्षेप की नीति अत्यन्त अन्यायपूर्ण थी। ११ मई, १६३८ को उसने राष्ट्रसंघ से इसका अन्त करने और विदेशों से शस्त्रास्त्र खरीदने की अनुमति प्रदान करने का अनुरोध किया। केवल रूस ने इसका समर्थन किया। लेकिन ब्रिटेन, फ्रांस, आदि देशों के कारण अहस्तक्षेप की नीति समाप्त करने का अनुरोध अस्वीकृत हो गया। नतीजा यह हुआ कि फ्रैंको का दल गृहयुद्ध में जीत गया और राष्ट्रसंघ के प्रमुख सदस्यों से तुरत ही उनको मान्यता मिल गयी। यह भी राष्ट्रसंघ की एक महान् असफलता थी।

अंत्येष्टि क्रिया—इसके बाद राष्ट्रसंघ का पतन अत्यन्त तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ। जुलाई, १६३७ में जापान ने युद्ध की घोषणा किये बिना चीन पर फिर से जबरदस्त हमला कर

दिया। इसपर चीन के प्रतिनिधि ने चीन के विरुद्ध १६ वीं और १७ वीं धाराओं के अनुसार जापान के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की माँग की। लेकिन राष्ट्रसंघ के सदस्य इसके लिए तैयार नहीं हुए। इस समय तक हिटलर सम्पूर्ण आस्ट्रिया को निगल गया। चीन के साथ किसी को सहानुभूति नहीं रह गयी थी। इस स्थिति में चीन के प्रतिनिधि वेलिंगटन कू ने राष्ट्रसंघ के विषय में ठीक ही कहा था : वह "मिस्र की ममी की तरह सम्पूर्ण भोग ऐश्वर्य के साधनों से सम्पन्न होता हुआ भी निर्जीव हो चुका है।"[1]

राष्ट्रसंघ का गला अत्यन्त असम्मानपूर्वक घोटा गया। सितम्बर, १९३८ में जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया का अन्त कर दिया और राष्ट्रसंघ इसके विरुद्ध कुछ न कर सका। इसके एक वर्ष बाद पोलैंड पर जर्मन आक्रमण के कारण द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया। हिटलर के आक्रामक कारवाइयों से भयभीत होकर आत्मरक्षा की तैयारी में ३० नवम्बर, १९३९ को सोवियत रूस ने फिनलैंड पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रसंघ-विधान की ११ वीं धाराओं के अनुसार फिनलैंड ने राष्ट्रसंघ में शिकायत की और इस बार राष्ट्रसंघ ने बड़ी तत्परता से काम किया। अर्जेनटाइना के प्रस्ताव पर आक्रमणकारी सोवियत रूस को राष्ट्रसंघ से निकाल दिया गया। इसपर चीन के प्रतिनिधि ने कहा कि "चीन के मामले में ऐसा नहीं किया गया।" तात्पर्य यह है कि जापान (और जर्मनी तथा इटली) ने राष्ट्रसंघ के नियमों का भीषण उल्लंघन किया था, पर इसके विरुद्ध कभी ऐसा प्रस्ताव नहीं लाया गया। किन्तु, इस समय राष्ट्रसंघ के अधिकांश सदस्य साम्यवाद के कट्टर विरोधी थे, उसने फासिस्टवाद से अधिक भयंकर समझते थे, यद्यपि १९३९ तक रूस ही एक ऐसा देश था जिसने राष्ट्रसंघ के नियमों का पालन करते हुए उससे सामूहिक सुरक्षा के लिए प्रभावशाली बनाने का यत्न किया था।"[2] पर फिनलैंड को इस प्रस्ताव से कोई मदद नहीं मिली। राष्ट्रसंघ बिल्कुल प्राणहीन था।

अन्त में राष्ट्रसंघ को दफनाने का काम १९४६ में किया गया। ८ अप्रिल को उसका अधिवेशन जेनेवा में शुरू हुआ और १९ अप्रिल को एसेम्बली ने एक प्रस्ताव स्वीकृत करके राष्ट्र-संघ का विघटन कर दिया।

राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी थी कि वह संसार में शान्ति कायम रखेगा। लेकिन जब समय बीतने लगा और परीक्षा का अवसर आया तो राष्ट्रसंघ एक शक्तिहीन संस्था साबित हुआ। जहाँ तक छोटे-छोटे राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों का प्रश्न था, राष्ट्रसंघ को उनमें कुछ सफलता मिली, लेकिन जब बड़े राष्ट्रों का मामला आया तो राष्ट्रसंघ कुछ भी नहीं कर सका। जापान ने चीन पर चढ़ाई कर दी और इटली ने अबीसीनिया पर हमला किया; पर राष्ट्रसंघ उनको रोकने में बिल्कुल असमर्थ रहा। अधिनायकों को पता चल गया कि राष्ट्रसंघ बिल्कुल शक्ति-हीन संस्था है और वे जो चाहें कर सकते हैं। इस

1. "To be no more than an Egyptian mummy dressed up with all the luxuries and splendours of living but devoid of life."—Schuman, op. cit, p. 226.

2. Ibid., p. 226.

हालत में शान्ति संस्थापक के रूप में राष्ट्रसंघ का सफल होना असम्भव था। इसकी असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :

संयुक्त राज्य अमेरिका का असहयोग—राष्ट्रसंघ के लिए एक और दुर्भाग्य यह हुआ कि उसके सबसे बड़े समर्थक संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसके साथ सहयोग नहीं किया। राष्ट्रसंघ की स्थापना विल्सन के सद्प्रयासों के फलस्वरूप हुई थी। लेकिन अमेरिका की सिनेट ने इसकी सदस्यता को इन्कार कर दिया और इस कारण राष्ट्रसंघ अपने प्रबल समर्थक के सहयोग से वंचित हो गया। जैसा कि गैथार्ण हार्डी ने कहा है : "एक बालक यूरोप के दरवाजे पर अनाथों की भाँति छोड़ दिया गया था जिसके चेहरे-मोहरे पर उसकी अमरीकी पैतृकता स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रही थी।"[1]

राष्ट्रसंघ के जीवन पर इस घटना का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। उसको संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश के समर्थन और सहयोग से वंचित हो जाना पड़ा। चूँकि संयुक्त राज्य राष्ट्रसंघ में शामिल नहीं हुआ, अतएव उसका विधान उस पर लागू नही हो सकता था। इस हालत में यदि राष्ट्रसंघ किसी आक्रामक राज्य के विरुद्ध कोई आर्थिक प्रतिबन्ध लगाता तो वह देश अपनी आवश्यकता की चीजों को अमेरिका के बाजारों में खरीद सकता था।

राष्ट्रसंघ में शामिल नहीं होने के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका में सकीर्ण और संकुचित राष्ट्रवाद का प्रभाव बढ़ गया और पार्थक्यवादियों को अपनी नीति कार्यान्वित करने का पूरा मौका मिला। अमेरिका तटस्थता की ओर अधिकाधिक झुकने लगा जिसका विश्व-राजनीति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रसंघ में सम्मिलित नहीं होने से "अतृप्त राज्यों" के सामने एक उदाहरण आ गया। ये राष्ट्र अमेरिका का अनुसरण करके राष्ट्रसंघ को छोड़ने लगे।

इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रसंघ में सम्मिलित नहीं होने के चार परिणाम स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथमतः इसके कारण राष्ट्रसंघ की शक्ति बहुत कम हो गयी और दूसरे नयी दुनिया के विशाल क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से बाहर हो गया जिसके कारण राष्ट्रसंघ एक विश्वव्यापी संगठन होने का दावा नहीं कर सकता था। राष्ट्रसंघ की यह एक बहुत बड़ी त्रुटि थी। तीसरे, इस घटना ने आक्रामक राष्ट्रों को बहुत प्रोत्साहित किया क्योंकि अमेरिका के नही शामिल होने से राष्ट्रसंघ को अपने सदस्यों को आक्रमणों से सुरक्षित करने की क्षमता भी कम हो गयी। यदि अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य होता तो जापान और इटली के आक्रमणात्मक कार्रवाइयों को अधिक प्रभावकारी ढंग से रोका जा सकता था।

अमेरिका के संघ परित्याग का चौथा परिणाम बड़ा भयंकर सिद्ध हुआ। इसके परिणामस्वरूप फ्रांस की सुरक्षा के लिए दी गयी आंग्ल अमेरिकी गारंटी व्यर्थ हो गयी। फ्रांस को हमेशा जर्मनी के आक्रमण का भय बना रहता था। इसलिए पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में उसने राइन के पश्चिमी तट पर दावा किया था। लेकिन विल्सन के आश्वासन पर उसने यह

1. "An infant has been abandoned on the door steps of Europe whose every feature unmistakably proclaimed its trans-Atlantic paternity."
—Hardy, Gathorne *A Short History of International Affairs*, p. 505.

मांग छोड़ दी थी। जब अमेरिका राष्ट्रसंघ में शामिल नहीं हुआ तो उस आश्वासन का कोई महत्त्व नहीं रहा और फ्रांस की सुरक्षा खतरे में पड़ गयी। इस हालत में फ्रांस का चिन्तित होना स्वाभाविक था। अतएव वह सुरक्षा की उधेड़बुन में पड़कर यूरोप में गुटबन्दियों का जाल बिछाने लगा। यूरोप की राजनीति और राष्ट्रसंघ के जीवन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा।

वर्साय-संधि से सम्बद्ध होना—नौर्मन वेन्टविच ने लिखा है : "राष्ट्रसंघ एक कुख्यात माता की कुप्रतिष्ठित पुत्री थी।" इसका जन्म वर्साय की संधि के द्वारा हुआ था। अतएव युद्धोत्तर विश्व के "अतृप्त राज्य" इसको विजेताओं का संघ मानते थे और उसके प्रति वैसी ही घृणा रखते थे जैसी कि वर्साय-सन्धि के प्रति। राष्ट्रसंघ के लिए यह दुर्भाग्य था कि उसका जन्म एक ऐसी संधि के द्वारा हुआ जो विजितों के लिए घृणा का पात्र थी। वर्साय-सन्धि के साथ राष्ट्रसंघ का सम्बद्ध होना बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। हम कह आये हैं कि वर्साय-सन्धि की प्रथम २६ धाराएँ राष्ट्रसंघ का विधान थीं। इस प्रकार यह वर्साय-सन्धि का अभिन्न अंग बन गया था। जो देश पराजित थे, वे राष्ट्रसंघ को शान्ति-सन्धियों द्वारा स्थापित की गयी व्यवस्थाओं का संरक्षक मानते थे। राष्ट्रसंघ का नाम वर्साय-व्यवस्था से जुट गया था और पराजित देशों के लोग इसे "विजेता राष्ट्रों द्वारा अपनी स्वार्थ सिद्धि का यन्त्र" मानते थे। उसे यथास्थिति को बनाये रखने वाले पश्चिमी राष्ट्रों का गुट और षड्यन्त्र समझा जाने लगा। राष्ट्रसंघ के मुख्य संस्थापक राष्ट्रपति विल्सन ने इस बात की व्यवस्था की थी कि राष्ट्रसंघ आवश्यकता पड़ने पर संधियों में संशोधन करे, लेकिन फ्रांस के नेतृत्व में उन सभी राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ में शान्ति संधियों के संशोधन का विरोध किया। चूँकि वहाँ उनका बहुमत था, इसलिए राष्ट्रसंघ किसी तरह का संशोधन कार्यान्वित नहीं कर सका। इस प्रकार, राष्ट्रसंघ कई देशों के निगाहों में वर्साय-व्यवस्था को क़ायम रखनेवाला संगठन मात्र रह गया और जो देश संधि के विरोधी थे उन्होंने मौका मिलने पर इस संस्था को बदनाम करने में कोई कसर नहीं उठा रखा। इसी आधार पर जर्मनी, इटली और जापान राष्ट्रसंघ से निकल गये।

राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों में अविश्वास—किसी भी संगठन की सफलता की एक शर्त है—उसके सिद्धान्त में पूर्ण विश्वास। राष्ट्रसंघ को अपने समर्थकों से विश्वास प्राप्त नहीं हो सका और इसलिए उसकी विफलता निश्चित थी। हॉब्स ने लिखा था कि अपने द्वारा दिये वचनों का पालन सभ्य समाज के अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक होता है। इसके अभाव में आदमी "प्राकृतिक अवस्था" में चला जाता है। जिस समय राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ उस समय सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े जोर में किया गया, राष्ट्रसंघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों ने उसके विधान पर हस्ताक्षर करके इस बात का वचन दिया कि वे आपस में मिल-जुलकर सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त के आधार पर सदस्य-राज्यों की राजनीतिक स्वतंत्रता और प्रादेशिक अखंडता को बनाये रखेंगे और यदि कोई राज्य विधान का उल्लंघन करेगा तो उसके विरुद्ध सम्मिलित रूप से कार्रवाई करेंगे। यह भी स्पष्ट था की राष्ट्रसंघ की सफलता महान् राज्यो के सहयोग और समर्थन पर निर्भर करेगी। लेकिन जब इस वचन का पालन करने का समय आया तो ये महान् राज्य अपने दिये गये वचन से विमुख होने लगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऊपर से वे बराबर राष्ट्रसंघ और विश्व-शान्ति की दुहाई देते रहे लेकिन भीतर-ही-भीतर वे राष्ट्रसंघ

के सिद्धान्तों का हनन करते रहे। उनका आचरण पीठ की तरफ से 'छूरा भोंकने' वाली कहावत को चरितार्थ करती थी। जब जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया तो उन्होंने इसी नीति का अनुसरण किया। चीन को बचाने का कोई उपाय नहीं किया गया। फिर अबीसीनिया में इटली का आक्रमण हुआ। इस आक्रमण को रोकने के लिए उन्होंने दिखावटी आर्थिक प्रतिबन्ध अवश्य लगाया, लेकिन यह ढोंग के सिवा कुछ और नहीं था। एक तरफ तो आर्थिक प्रतिबन्ध लगाया गया, दूसरी ओर से यह प्रयास भी होने लगा कि किस तरह इस आर्थिक प्रतिबन्ध को बेकार कर दिया जाय। इसके लिए फ्रांस और ब्रिटेन में एक गुप्त समझौता हुआ और यह तय किया गया कि मुसोलिनी के कुकर्मों को रोका नहीं जाय। हिटलर के साथ मुसोलिनी मिले नहीं, इसके लिए यह आवश्यक समझा गया कि मुसोलिनी के अफ्रिका में साम्राज्य निर्माण के प्रयत्न में किसी तरह की बाधा नहीं डाली जाय। १९३५ में इंगलैंड में चुनाव हुआ था। *इस अवसर पर बाल्डविन ने राष्ट्रसंघ और सामूहिक सुरक्षा के नाम पर कसम खायी। लेकिन* चुनाव जीतने के बाद उसकी ओर से अबीसीनिया के साथ विश्वासघात करने में कोई कसर नहीं छोड़ी गयी। फ्रांस तो दो कदम और आगे बढ़ गया। फ्रांसीसी प्रधान मन्त्री लावाल किसी भी मूल्य पर इटली की मित्रता पाने के लिए उत्सुक था। दुनिया को दिखाने के लिए यह विश्वासघाती राजनेता तो राष्ट्रसंघ के विधान में पूरी निष्ठा रखने का ढोंग करता रहा, लेकिन आर्थिक प्रतिबन्ध को व्यर्थ करने में उसने अधिकतम प्रयास किया। इस प्रकार राष्ट्रसंघ के मुख्य कर्णधार ही उसको असफल बनाने पर तुले हुए थे। ऐसी हालत में राष्ट्रसंघ यदि सफल हो जाता तो बड़ी आश्चर्य की बात होती। शूमैन ने लिखा है: "संघ की सफलता की सदस्य-राज्यों में इसके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा, विश्वास और साहस होता। किन्तु उनमें इसका सर्वथा अभाव था। अतएव जेनेवा की झील के तट पर एरियाना पार्क में निर्मित उसका भव्य महल शीघ्र ही उसका सुन्दर समाधि-स्थल बन गया।"[1]

संघ के प्रति विभिन्न राज्यों के विभिन्न दृष्टिकोण:—राष्ट्रसंघ विभिन्न राष्ट्रों के सहयोग का एक साधन था। इसकी सफलता की एक शर्त्त थी कि इसमें सम्मिलित राष्ट्र अपने भेद-भाव को भूलकर संघ को सफल बनावें। लेकिन उसमें इस भावना का नितान्त अभाव था। सभी राष्ट्रों का अपना-अपना दृष्टिकोण था और वे विभिन्न दृष्टिकोण से राष्ट्रसंघ को देखते थे। *फ्रांस इसको जर्मनी से अपनी सुरक्षा का एक साधन मानता था।* उसके विचार में इस संस्था का काम जर्मनी पर नियन्त्रण रखना था। वह इसे सार्वभौम सुरक्षा का संगठन कभी नहीं मानता था। उसका हमेशा यही प्रयास रहता था कि संघ को यूरोप में स्थापित वर्साय व्यवस्था को बनाये रखने का एक प्रभावशाली साधन बनाया जाय और इसके माध्यम से जर्मनी को कुचला जाय।

ब्रिटेन का उद्देश्य भी बहुत संकीर्ण और संकुचित था। यह एक ऐसे विश्वव्यापी साम्राज्य का मालिक था जिसमें सूर्य कभी अस्त नहीं होता था और उसका उद्देश्य इसी साम्राज्य की रक्षा

1. 'The Governments of democratic great powers upon which the future of the League depended, fell into the hands of those who were utterly lacking in the loyalty, wisdom and courage through *which alone the League could survive* by fulfilling the dreams of its founders. The League's white palace in Ariana Park by the shores of Geneva's Lake Leman, therefore, became in the end a sepulcher.—Schuman, op. cit., p. 313.

करना था। वह कभी भी नहीं चाहता था कि राष्ट्रसंघ कभी ऐसा कोई कार्य करे जिससे उसके साम्राज्य पर खतरा उत्पन्न हो जाय। इस समय उसके साम्राज्य पर सबसे बड़ा खतरा सोवियत साम्यवाद का था। अतएव उसके समक्ष राष्ट्रसंघ को सफल बनाने की चिन्ता नहीं वरन् साम्यवाद को कुचलने की चिन्ता थी। मंचूरिया पर जापान के आक्रमण को उसने इसी उद्देश्य से माफ किया जिसका राष्ट्रसंघ पर सांघातिक प्रभाव पड़ा।

जर्मनी का दृष्टिकोण भी राष्ट्रीय हित के रंग में रंगा हुआ था। शुरू में जर्मनी को राष्ट्रसंघ में शामिल नहीं किया गया। अतएव उसमें राष्ट्रसंघ के प्रति कभी सहानुभूति उत्पन्न नहीं हुई। वह आरम्भ से ही इसको विजेताओं का संघ मानता आ रहा था। जब १९२६ में वह इसका सदस्य बना तो उसका मुख्य उद्देश्य वर्साय-सन्धि में राष्ट्रसंघ द्वारा परिवर्तन करना था। वह बराबर इसी समस्या में व्यस्त रहा। बाद में जब हिटलर आया तो राष्ट्रसंघ उसकी आँखों का काँटा बन गया। नात्सीवाद के सिद्धातो से राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों में मेल नही हो सकता था। हिटलर की आकांक्षा विश्व पर जर्मनी की प्रभुता कायम करने की थी, इस मार्ग में राष्ट्रसंघ उसका बाधक था। अतएव वह शुरू से ही इस संस्था का विरोधी रहा।

राष्ट्रसंघ को सोवियत रूस का समर्थन भी नहीं मिल सका। शुरू में उसके साथ जैसा व्यवहार किया गया उस दृष्टि से रूस का ऐसा दृष्टिकोण स्वाभाविक था। अतएव १९१९ में ही रूसी नेताओं ने यह कह दिया कि "राष्ट्रसंघ जनक्रांति को दबाने के लिए बुर्जुआ वर्ग का अपवित्र संघ है।" बाद में कई वर्षों तक भी सोवियत संघ के दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सोवियत नेताओं की दृष्टि में यह "पिछली दशाब्दी की सबसे निर्लज्ज और चोरों की बनाई हुई वर्साय-सन्धि की उपज" ही बना रहा। १९३४ में रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया लेकिन इसका तात्पर्य यह न था की राष्ट्रसंघ में उसका विश्वास हो गया। जर्मनी में हिटलर के उदय से भयभीत होकर वह संघ में शामिल हुआ था। लेकिन इस समय भी पश्चिमी राष्ट्रों ने उस पर विश्वास नहीं किया। अतएव संघ के प्रति उसकी पूरी आस्था कभी नहीं हुई।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संघ के सम्बन्ध में विभिन्न महाशक्तियों के विभिन्न दृष्टिकोण थे। वे इसे अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति का साधन मात्र मानते थे। जब कभी उनके हितों और संघ के सिद्धान्तों में विरोध होता था, वे संघ के सिद्धान्तों का ही हनन करते थे। इस हालत में राष्ट्र संघ को असफल होना ही था।

जहाँ तक छोटे राज्यों का सम्बन्ध है, उनका पार्ट भी निन्दनीय ही रहा। वे बड़े राष्ट्रों का ही अनुकरण करते रहे। इसके अतिरिक्त उनके पास दूसरा विकल्प भी नहीं था।[1]

आर्थिक सन्दी—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास सन्तोष के वातावरण में होता है। इसके लिए जनता की सन्तोषजनक आर्थिक दशा परम आवश्यक है। लेकिन १९३० में जो भीषण आर्थिक संकट पैदा हुआ उसने राष्ट्रसंघ के भाग्य का फैसला ही कर दिया। इसे आर्थिक संकट का सामना करने के लिए विश्व के देशों में संकुचित राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हुआ। आर्थिक प्रतिबन्ध और संरक्षण की नीति आर्थिक संकट से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक

1 "The role of the lessor members of the League in this sordid sequence of events was that of a flock of sheeps deceived by jackals in sheep's clothing." Schuman, op. cit., p. 317.

माने जाने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सारी बातें हवा में उड़ गयीं। यह परिस्थिति राष्ट्र-संघ के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ।

अधिनायकवाद का विकास—विश्व-शान्ति की कल्पना जनतन्त्र के वातावरण में ही हो सकती है। राष्ट्रसंघ की स्थापना इस भरोसा पर की गयी थी कि इसके सभी सदस्य-राज्य शान्ति तथा स्वतन्त्रता के प्रेमी होंगे और वे जो भी काम करेंगे उन पर लोकतन्त्रवाद का प्रभाव रहेगा। इसका आधार सुलह-समझौता और वाद-विवाद था। राष्ट्रसंघ की पूरी नीव इसी विश्वास पर आधारित थी। लेकिन यूरोप ने राष्ट्रसंघ को जबरदस्त धोखा दिया। कई देशों में अधिनायकवाद का उदय हुआ और लोकतन्त्र का भविष्य खतरे में पड़ गया। हिटलर और मुसोलिनी के उत्कर्ष ने राष्ट्रसंघ को पंगु बना दिया। इन दोनों व्यक्तियों के सिद्धान्त युद्ध को आवश्यक मानते थे। उनका विश्वास पाशविक बल की शक्ति पर था, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व पर नहीं। इसके लिए वे कुछ भी कर सकते थे। वे हमेशा अपने उद्देश्य की प्राप्ति पर तुले रहते थे, "भले ही यह कार्य जेनेवा की सहायता से हो, उसकी सहायता के बिना हो या उसका विरोध करके हो" (with Geneva, without Geneva or against Geneva)। इस अवस्था में संघ के सफल होने की आशा दुराशामात्र थी।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव—किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सफलता के लिए लोगों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का होना अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन संसार में अभी इस दृष्टिकोण का विकास नहीं हुआ था और इसलिए राष्ट्रसंघ का पतन आवश्यम्भावी था।[1]

संगठन की त्रुटियाँ—इन कारणों के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ में संगठन की अनेक त्रुटियाँ विद्यमान थीं। सर्वप्रथम यह एक अखिल विश्व संघ नहीं था। आरम्भ से ही संयुक्त राज्य अमेरिका इससे अलग हो गया। इससे राष्ट्रसंघ के प्रभाव को बहुत बड़ा धक्का लगा। जिस समय राष्ट्रसंघ का प्रभाव अपनी चरम सीमा पर था, उस समय भी यह एक विश्वव्यापी संस्था नहीं हो सका। एसेम्बली के प्रथम अधिवेशन में अर्जेनटाइना के प्रतिनिधि ने यह सुझाव रखा कि विश्व के सभी राज्यों को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना दिया जाय। इससे राष्ट्रसंघ की महत्ता बढ़ जाती और वह एक विश्व-व्यापी संस्था बन जाता; लेकिन यह सुझाव नहीं माना गया। यह सम्भव भी नहीं था। राष्ट्रसंघ के पास वैसी कोई शक्ति नहीं थी, जिसके द्वारा वह उन राज्यों को सदस्य बनने के लिए विवश कर सकता था, जो इसका सदस्य होना नहीं चाहते थे।

राष्ट्रसंघ के विधान का एक दूसरा दोष यह था कि उसमें सदस्यता समाप्त करने की व्यवस्था कर दी गयी थी। कोई भी सदस्य दो वर्ष पूर्व सूचना देकर राष्ट्रसंघ से पृथक् हो सकता था। यह एक बहुत बड़ा दोष था और इसलिए संयुक्त राष्ट्रसंघ में इस शर्त को नहीं अपनाया गया। समय पाकर ब्राजील, कोस्टारिका, जापान, जर्मनी और इटली राष्ट्रसंघ से पृथक् हो गये। बड़े-बड़े राष्ट्रों के पृथक् हो जाने से राष्ट्रसंघ को खास तौर से धक्का लगा।

---

1 "Actually the League of Nations could not fulfil the dreams of its founders so long as nations thought exclusively of their own national ambitions. Each nation state seemed to possess a provincial mind in a planetary era and Professor Gooch has wisely observed, international institutions without international mind are as hollow as democracies without public spirit."
—Albjerg and Albjerg, *Europe From 1914 to the Present*, p. 105.

सर्वसम्मति या मतैक्य का सिद्धान्त राष्ट्रसंघ के विधान की सबसे बड़ी कमजोरी थी। राष्ट्रसंघ के सभी निर्णयों को एसेम्बली में उपस्थित सभी सदस्य-राज्यों की सहमति का मिलना आवश्यक था। स्पष्ट है कि इस तरह के सिद्धान्त से कोई काम नहीं चल सकता है। वैधानिक तौर पर राष्ट्रसंघ किसी भी राज्य को दबा नहीं सकता था। इस तरह एकमत का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए बहुत बड़ा बाधक सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त विधान में संशोधन लाने के लिए भी सर्वसम्मति आवश्यक थी। राष्ट्रसंघ के संगठन में यह एक महान् त्रुटि थी।

राष्ट्रसंघ एक असहाय संस्था थी। अपराधी को ठीक रास्ते पर लाने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। पर राष्ट्रसंघ के पास कोई अन्तर्राष्ट्रीय हवाई, जल या थल-सेना नहीं थी जिससे कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को भंग करनेवालों के खिलाफ जोरदार कार्रवाई कर सके। अगर राष्ट्रसंघ के पास अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की समुचित व्यवस्था होती तो सम्भव था कि आक्रमणकारी प्रवृत्तियों को उतना प्रोत्साहन नहीं मिलता।

इसके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टिकोण से भी राष्ट्रसंघ की स्थिति अच्छी नहीं थी। उसको सदस्य-राज्यों के चन्दा पर निर्भर करना पड़ता था; कर लगाने का कोई अधिकार नहीं था। अर्थाभाव से राष्ट्रसंघ को काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ा।

राष्ट्रसंघ के विधान में एक और दोष यह था कि यह सदस्य-राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। यह दोष संयुक्त-राष्ट्रसंघ में भी विद्यमान है। नतीजा यह होता था कि सदस्य-राज्य राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करने के लिए वैसी बातों को भी आन्तरिक मामलों के अन्तर्गत रख लेते थे जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से रहता था। यह शर्त कोई बुरी नहीं थी; लेकिन विधान के द्वारा इसकी कोई सीमा निर्धारित होनी चाहिए थी।

राष्ट्रसंघ का अन्त—राष्ट्रसंघ कभी भी सार्वभौम संघ नहीं बन सका। शुरू में ही कई देश इसके सदस्य नहीं बने या नहीं बनाये गये। लेकिन १९२५ से राष्ट्रसंघ की सदस्यता छोड़ने का ताँता बँध गया। १ जनवरी १९२५ को कोस्टारिका इससे पृथक् हो गया। १२ जून, १९२६ को ब्राजील ने भी संघ छोड़ने की नोटिश दे दी। इसके बाद जापान और जर्मनी (१९३३) की बारी आयी। १९३५ में पराग्वे ने भी यही किया। इसके बाद तो मानो राष्ट्र-संघ से निकल जाने के लिए राष्ट्रों में होड़ मच गयी। गुआटामाला, होन्डुरस, नाइकारागुआ, सलवाडोर, इटली, चीन, वेनुज्यूला, पेरू, अलबेनिया, स्पेन और रूमानिया सब-के-सब राष्ट्रसंघ से निकल आये। राष्ट्रसंघ में सदस्यों की अधिकतम संख्या ६२ रही थी। १९३८ के अन्त में यह संख्या घटकर ४९ हो गयी। १९३९-४० में राष्ट्रसंघ के कई सदस्य आक्रमण के शिकार हुए और उनका स्वतन्त्र अस्तित्व ही समाप्त हो गया। १९३९ में सोवियत संघ को राष्ट्रसंघ से "निकाल" दिया गया। अन्त में, इसमें केवल ३१ शक्तिहीन राज्य रह गये जिनमें केवल ब्रिटेन एक महान् राज्य था। १९ मई १९४० को महासचिव एविनल ने सचिवालय के सभी पदाधिकारियों को पदच्युत कर दिया और स्वयं भी इस्तीफा दे दिया। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ का कार्यालय जेनेवा से हटकर टोरोन्टो चला गया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश तितर-बितर हो गये। १९४० के मध्य में राष्ट्रसंघ केवल एक यादगारी की चीज रह गयी। बाद में द्वितीय विश्व युद्ध के भंयकर प्रलय के बीच में यह यादगारी भी लुप्त हो गयी।

इस प्रकार अनेक त्रुटियो के कारण राष्ट्रसंघ विफल हो गया। लेकिन ये त्रुटियाँ मौलिक नही थीं और उनके बावजूद राष्ट्रसंघ को सफल बनाया जा सकता था। सत्य तो यह है कि यदि राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्य चाहते तो वह अवश्य अपने उद्देश्यो की पूर्ति कर लेता। लेकिन सदस्यों में ही नेकनियतो का पूर्ण अभाव था। विन्सटन चर्चिल ने ठीक ही कहा था कि "राष्ट्रसंघ की सफलता के लिए राष्ट्रसंघ नही वरन् सदस्य-राज्य दोषी थे।"

राष्ट्रसंघ के गैर राजनीतिक (Non-political) कार्य

युद्ध-वन्दियों और शरणार्थियों की सहायता—कहा जाता है कि राष्ट्रसंघ को असल सफलता गैर-राजनीतिक क्षेत्र में प्राप्त हुई। जन-कल्याण के क्षेत्र में राष्ट्रसंघ ने बहुत-से काम किये। युद्ध के कैदियों को छुड़ाना और उन्हें घर वापस पहुँचाना राष्ट्रसंघ का प्रथम मानव-हितकरी कार्य था। युद्ध के समय मित्रराष्ट्र पक्ष के बहुत से सैनिक पकड़े जाने पर कैद कर लिये गये थे। इसी तरह जर्मनी और उसके सहयोगी राज्यों के सैनिकों को मित्रराष्ट्र ने कैद कर लिया था। उन कैदियों की संख्या लाखों में थी। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार ऐसे कैदियों को युद्ध के बाद प्रायः मुक्त कर दिया जाता है। मुक्ति पाये हुए कैदियों को उनके घर पहुँचाने का काम राष्ट्रसंघ ने बड़ी कुशलता के साथ सम्पन्न किया।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद लाखों की संख्या में विस्थापितों एवं शरणार्थियों को पुनः बसाना एक विकट समस्या थी। युद्ध के समय लाखो रूसी, यूनानी, तुर्की, आर्मेनियन लोग बे-घर-बार के हो गये थे। यूरोप की आर्थिक स्थिति ऐसी नही थी कि इस विस्थापित जनसमूह को किसी काम में लगाया जा सके। राष्ट्रसंघ ने इस समस्या के समाधान का प्रयास किया। इसने डा० नानसेन नामक एक परोपकारी व्यक्ति के जिम्मे इस काम को सौंप दिया। वे विस्थापितों के हाईकमिश्नर नियुक्त किये गये। उन्होंने बड़ी बुद्धमानी से इस विकट समस्या को सम्हाला। १९३० में उनकी मृत्यु के बाद राष्ट्रसंघ ने इस काम का उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर ले लिया।

स्वास्थ्य—युद्ध समाप्ति के बाद रूस में टायफस का रोग फैला हुआ था। इस छूत की बीमारी को सारे यूरोप में फैलने की आशंका थी। राष्ट्रसंघ ने चिकित्सकों की सेवा को संगठित करके इस रोग को फैलाने से रोका। राष्ट्रसंघ की स्वास्थ्य-समिति ने हैजा, मलेरिया, चेचक, तपेदिक इत्यादि भयानक रोगों के कारण की जाँच की और आरोग्य का साधन निकाला। राष्ट्रसंघ ने एक स्थायी स्वास्थ्य संगठन की स्थापना की जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा स्वास्थ्य की रक्षा करना था। इस स्वास्थ्य संगठन ने सिंगापुर में एक ईस्टर्न ब्यूरो की स्थापना की जो सार्वजनिक स्वास्थ्य की रिपोर्ट मंगाकर उस पर निगरानी रखती थी।

आर्थिक स्थिति :—युद्ध के बाद यूरोप की आर्थिक स्थिति काफी डावाँडोल थी और राष्ट्रसंघ ने इस स्थिति को जिस खूबी के साथ सम्हाला वह अत्यन्त सराहनीय है। आस्ट्रिया की आर्थिक अवस्था सबसे अधिक खराब थी। वहाँ की सरकार इस अवस्था को सुधारने में सर्वथा असमर्थ रही। तब राष्ट्रसंघ ने उसकी सहायता करने का काम अपने हाथ से ले लिया। आस्ट्रिया

को अन्न की सहायता भेजी गयी। राष्ट्रसंघ के प्रयास से उसका अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और इटली से कर्ज भी प्राप्त हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय कोष से भी उसे दस करोड़ डालर का कर्ज प्राप्त हुआ। राष्ट्रसंघ ने आस्ट्रिया पर अपना आर्थिक नियन्त्रण कायम करके उसकी आर्थिक दशा को एकदम सुधार दिया।

हंगरी की आर्थिक दशा भी आस्ट्रिया की तरह ही खराब थी। दिसम्बर १९२३ में राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने हंगरी के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए एक योजना स्वीकार करके उसपर अपना आर्थिक नियन्त्रण कायम किया। मई १९२४ में यह योजना लागू की गयी और जून १९२६ तक हंगरी की डगमगाती आर्थिक स्थिति स्थिर हो गयी। राष्ट्रसंघ ने तब हंगरी पर से आर्थिक नियन्त्रण हटा लिया।

इसी तरह राष्ट्रसंघ ने यूनान, बुल्गेरिया और एस्तोनिया को भी आर्थिक सहायता दी। अबीसीनिया को सोने के आधार पर मुद्रा निर्धारण करने तथा डान्जिंग नगर को अपना बन्दरगाह विकसित करने के लिए राष्ट्रसंघ की सहायता से विदेशी कर्ज प्रदान किये गये।

सामाजिक :—राष्ट्रसंघ ने नशीली वस्तुओं के सेवन तथा दास-प्रथा को रोकने के लिए अनेक ठोस कदम उठाये। स्त्रियों को शोषण से बचाने और बच्चों की स्वास्थ्य रक्षा के लिए इसने अनेक काम किये। इसके लिए राष्ट्रसंघ ने एक परामर्शदात्री आयोग की स्थापना की। १९२१ में इस आयोग ने अनैतिक उद्देश्यों के लिए होनेवाले स्त्रियों के व्यापार को रोकने के लिए नियम बनाये। १९३३ में इस नियम को और भी कड़ा बनाया गया। बाल हितकारी समिति ने विभिन्न देशों के विवाह की आयु का अध्ययन किया। इस समिति ने गैर कानूनी बच्चों की समस्या पर भी विचार किया।

मनुष्य के बौद्धिक विकास और एक देश को दूसरे देश से बौद्धिक सम्पर्क स्थापित कराने के लिए इसने काफी प्रयास किये। राष्ट्रसंघ ने अश्लील प्रकाशनों को रोकने का भी प्रयास किया। सबसे बढ़कर राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को समुचित ढंग से नियमबद्ध (Codification of International Law) करने की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण काम कराये। राष्ट्रसंघ के सारे काम काफी सराहनीय हैं और इनमें सफलता पाकर उसने अपनी योग्यता का अच्छा परिचय दिया।

राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन :—स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ को गैर राजनीतिक कार्यों में पर्याप्त सफलताएँ मिलीं, यद्यपि महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों में विशेषकर उन प्रश्नों में जिनमें महान् राज्यों के हित थे, यह पूर्णतया असफल रहा। फिर भी राष्ट्रसंघ की देन के महत्त्व को किसी भी दशा में कम नहीं किया जा सकता है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सौहार्द की एक ऐसी परम्परा का सूत्रपात किया जो अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का अभिन्न अंग बन गया। इसने गुप्त कूटनीति के अनेक दुर्गुणों को दूर कर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नया मार्ग दिखाया। जेनेवा में प्रतिवर्ष जो बैठक होती थी उससे बड़ा लाभ यह हुआ कि अब संसार के प्रतिनिधि एक जगह बैठकर सार्वजनिक रूप से विश्व की समस्याओं पर वाद-विवाद करने लगे। अब साधारण जनता को भी विदेश नीति के गूढ़ तत्त्वों को समझने का अवसर प्राप्त हुआ। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर जनमत का प्रभाव पड़ना आवश्यक हो गया।

राष्ट्रसंघ ने असफल होकर भी राष्ट्रों के बीच सहयोग करने की आदत डाल दी। जैसा कि लैंगसम ने लिखा है कि "राष्ट्रसंघ की सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विचार को उन्नत करना था।" इसके अतिरिक्त इसने विश्व को एक बहुमूल्य अनुभव प्रदान किया। यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रथम प्रयोग था। बाद में इस प्रयोग से लाभ उठाया गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना में इस परीक्षण से बड़ी सहायता मिली। वाल्टर महोदय का कथन है कि "संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों, सिद्धान्तों, अंगों तथा कार्यप्रणाली अर्थात् प्रत्येक पहलू पर, राष्ट्रसंघ की स्पष्ट छाप है।"

—:o:—

अध्याय ३

सुरक्षा और निरस्त्रीकरण की समस्या

(Problem of Security and Disarmament)

विषय-प्रवेश—प्रथम विश्व-युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में सबसे विकट समस्या सुरक्षा की थी। उस समय सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था कि किसी प्रकार विश्व-शान्ति को सुरक्षित रखा जाय। सवा चार साल के भीषण नर-संहार के बाद प्रथम विश्व-युद्ध का अन्त हुआ था। वर्साय-सन्धि के द्वारा एक ऐसी व्यवस्था कायम करने का प्रयास किया गया था जिसमें भविष्य में फिर से युद्ध न हो। लेकिन वर्साय की सन्धि से यूरोपीय सुरक्षा की पेचीदी समस्या का कोई स्थायी समाधान नहीं हुआ था और उसपर हस्ताक्षर करनेवाले अधिकांश प्रतिनिधि फ्रांस की राजधानी पेरिस से एक गहरी निराशा की भावना लेकर लौटे थे। वास्तव में, पेरिस की शान्ति-सन्धियाँ यूरोपीय सुरक्षा की समस्या का अन्त नहीं वरन् प्रारम्भ थी। शांति-समझौता के बाद भी सुरक्षा की खोज का प्रयत्न पहले से भी अधिक गम्भीरता से जारी रहा।

सुरक्षा की समस्या पर पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में काफी विचार हुआ था और लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि इसके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई थी। राष्ट्रसंघ के विषय में हम इस पुस्तक के द्वितीय अध्याय में पढ़ चुके हैं। लेकिन शान्ति सुरक्षा के लिए केवल राष्ट्रसंघ पर्याप्त प्रतीत नहीं हो रहा था। अतएव सुरक्षा को कायम रखने के लिए राष्ट्रसंघ के बाहर भी विभिन्न प्रकार के प्रयास किये गये। ये प्रयास दो तरह के थे। एक तो विभिन्न राष्ट्रों ने मिलकर आपस में सुरक्षा समझौते किये और दूसरे हथियारबन्दी की होड़ को नियन्त्रित करके व्यापक निरस्त्रीकरण करने के प्रयास किये गये। दो विश्व-युद्धों के बीच का कूटनीतिक इतिहास मुख्यतः इन्हीं प्रयासों और उनकी असफलताओं की दुःखद कहानी है।

१. फ्रांसीसी सुरक्षा का प्रश्न

फ्रांस की समस्या—युद्ध के बाद फ्रांस की सुरक्षा की समस्या सबसे अधिक गम्भीर थी। सवा चार साल के भीषण संघर्ष के बाद फ्रांस महायुद्ध से विजय की जयमाला पहने हुए निकला था। यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि सम्पूर्ण देश में इस विजय की खुशी मनायी जाय; लेकिन यह खुशी बहुत ही क्षणिक थी। दूसरे ही दिन से वह अपने को भयभीत अवस्था में पाने लगा और विजयोल्लास के साथ ही गम्भीर चिन्ता भी शीघ्र ही परिलक्षित होने लगी। उसको सबसे अधिक डर पराजित जर्मनी से था। सतरहवीं और अठारहवीं सदियों में फ्रांस की शक्ति यूरोप में अद्वितीय थी। वह यूरोप का सबसे शक्तिशाली सैनिक राष्ट्र था। पर १८७० में, जब सेडान के मैदान में वह जर्मनी से बुरी तरह परास्त हुआ, तब उसकी शक्ति का भ्रम एकाएक दूर हो

गया। उस समय मध्य यूरोप में एक ऐसे राष्ट्र का जन्म हो चुका था जो न केवल क्षेत्रफल और जनसंख्या में फ्रांस से बड़ा था, अपितु कोयले, लोहे आदि प्राकृतिक साधनों में भी वह (फ्रांस) उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त जर्मन लोगों में सैन्य संगठन की अपूर्व क्षमता थी। १९१४ में फ्रांस को छह सप्ताह के लिए भी युद्ध में टिकना असम्भव हो जाता यदि ब्रिटेन उसकी सहायता के लिए रणक्षेत्र में नहीं उतर पड़ता। फ्रांसीसी इस बात को भली-भाँति जानते थे। यहाँ तक कि युद्ध में विजयी होने के बावजूद फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों का कहना था कि जर्मनी अभी भी सैनिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली है। जर्मनी की आबादी यूरोप के अन्य राज्यों से अधिक थी और फ्रांस के अनुपात में तो बहुत अधिक। फ्रांस को भय था कि यदि उसकी आबादी में तनिक भी गिरावट हुई तो वह जर्मनी का शिकार हुए बिना नहीं रहेगा। इसके अतिरिक्त फ्रांस का एकमात्र मित्र रूस इस समय बोल्शेविकों के हाथ में चला गया था और फ्रांस उनसे यह आशा नहीं कर सकता था कि मौका पड़ने पर वे उसकी मदद करेंगे। इन त्रुटियों को फ्रांसीसी अच्छी तरह जानते थे और कोई ऐसा उपाय करना चाहते थे जिससे भविष्य में उन्हें इस तरह के संकट का सामना न करना पड़े। अतः युद्ध के समाप्त होते ही फ्रांस अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के उपायों की खोज में व्यस्त हो गया।[1] वास्तव में, जैसा प्रोफेसर कार का कहना है १९१९ के बाद फ्रांसीसी सुरक्षा की माँग यूरोपीय राजनीति का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं स्थायी तथ्य था।[2]

भौगोलिक गारंटी :—जर्मनी के भावी आक्रमण से फ्रांस को सुरक्षित करने के लिए पेरिस-शान्ति-सम्मेलन में फ्रांसीसी प्रतिनिधि ने यह माँग की थी कि राइन नदी के बायें तट के प्रदेश को जर्मनी से पृथक् करके एक अलग राज्य बना दिया जाय और यह राज्य फ्रांस के प्रभाव में रहे। फ्रांस इस तरह की व्यवस्था को 'भौगोलिक गारन्टी' (physical guarantee) कहता था पर अन्य मित्रराष्ट्र फ्रांस को इस प्रकार की 'भौगोलिक गारन्टी' देने के लिए उद्यत नहीं हुए। विल्सन और लायड जार्ज ने राइन नदी तक फ्रांसीसी सीमा को बढ़ाने से इन्कार कर दिया। उनका कहना था कि इस प्रकार की व्यवस्था करने से राइनलैंड के पचास लाख के लगभग जर्मनी लोग अपने राष्ट्र से अलग हो जायँगे और यह राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के विपरीत होगा। विल्सन और लायड जार्ज राइनलैंड को एक दूसरा एलसस लोरेन नहीं बनाना चाहते थे। काफी सिर पटकने के बाद फ्रांस को अपनी माँग छोड़नी पड़ी और उसको अपने 'भौगोलिक गारन्टी' सम्बन्धी निम्न बातों पर राजी होना पड़ा : (१) पन्द्रह साल तक राइन नदी के बायें तट के प्रदेश पर मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का कब्जा रहे; (२) राइन-क्षेत्र का पूर्ण रूप से असैनिकरण हो जाय जिससे जर्मनी वहाँ कोई किलाबन्दी नहीं कर सके और (३) एक त्रिदलीय सन्धि की जाय जिसके अनुसार अमेरिका और ब्रिटेन यह वादा करे कि यदि भविष्य में कभी जर्मनी फ्रांस पर आक्रमण करे तो वे उसकी सहायता करेंगे। ब्रिटेन और अमेरिका ने ऐसा करने का वचन दे दिया।

---

1. Langsam, *The World Since 1919*, p. 75.
2. "The most important and persistence single factor in European affairs in the years following 1919 was the French demand for security."—Carr, *International Relations Between The Two World Wars*, p. 25.

अमेरिका ने पीछे चलकर वर्साय में हुई सन्धियों का अनुमोदन करने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप ब्रिटेन और अमेरिका द्वारा दिये गये वचन व्यर्थ हो गये। ब्रिटेन अपने वचन को निभाने में असमर्थ था; क्योंकि उसका भाग लेना अमेरिका के आने पर ही निर्भर था। फ्रांस को ऐसा अनुभव हुआ कि उसको धोखा दिया गया है। उसे 'भौगोलिक गारन्टी' की आशा छोड़ देनी पड़ी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस अपनी स्थिति को बहुत निर्बल एवं अरक्षित समझने लगा। जर्मनी प्रतिशोध से बचने के लिए वह कूटनीतिक उधेड़बुन में डूब गया।

फ्रांस जब अपनी सुरक्षा के लिए ब्रिटेन और अमेरिका से अनुत्तेजित आक्रमण के विरुद्ध गारन्टी पाने के प्रयत्न में असफल हो गया तब उसके सामने केवल दो मार्ग बच गये जिनका अवलम्बन करके वह अपनी सुरक्षा कर सकता था। फ्रांस के सामने पहला उपाय यह था कि जर्मनी को कूटनीतिक क्षेत्र से एकदम अलग कर दिया जाय तथा उसको चारो तरफ से घेर लेने के लिए यूरोप के विभिन्न राज्यों के साथ सन्धि करके गुटबन्दी की जाय। दूसरे, राष्ट्रसंघ के द्वारा ऐसी सुरक्षा-प्रणालियों का सृजन कराया जाय जिससे अकारण आक्रमण के विरुद्ध वास्तविक गारन्टी प्राप्त हो सके। फ्रांस ने दोनो मार्गों का एक ही साथ अवलम्बन करना शुरू किया जिसके फलस्वरूप यूरोप में फ्रांस के नेतृत्व में अनेक गुट तथा राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में अनेक सुरक्षा समझौता कायम हुए।

वर्साय-सन्धि के बाद फ्रांस को अपनी सुरक्षा के लिए राष्ट्रसंघ के अस्तित्व के सिवा कोई गारन्टी प्राप्त नहीं थी। फ्रांस इसको अपर्याप्त समझता था। उसकी दृष्टि में राष्ट्रसंघ के विधान में उस प्रक्रिया को भली-भाँति स्पष्ट नहीं किया गया था जिसके अनुसार वह विभिन्न राज्यो के बाह्य आक्रमण से रक्षा करने का उद्योग करेगा। फ्रांस को संशय था कि राष्ट्रसंघ के विधान में पाबन्दी (sanctions) सम्बन्धी धाराएँ (१०, १६ और १७) प्रभावशाली नहीं हो सकी है। वास्तव में एसेम्बली की प्रथम बैठक में ही इन धाराओं की कड़ी आलोचना हुई। कोई राष्ट्र १० वीं धारा को बिल्कुल निकलवा देना चाहता था तो कोई १६ वीं धारा में अपवाद की धारा जोड़वाना चाहता था। राष्ट्रसंघ-एसेम्बली की प्रथम बैठक में यह स्पष्ट हो गया कि कोई देश राष्ट्रसंघ के ऊपर अपनी सुरक्षा के लिए निर्भर नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत रूप से सन्धियाँ और गुटबन्दियाँ ही सुरक्षा के एकमात्र उपाय थी। फ्रांस इसी उपाय पर जोर देने लगा।

आँग्ल-फ्रांसीसी मतभेद—फ्रांस ब्रिटेन की मित्रता का बहुत बड़ा इच्छुक था। उसका विश्वास था कि अगर ब्रिटेन उसकी सुरक्षा की गारन्टी दे दे तो उसकी बहुत बड़ी समस्या का समाधान हो जायगा। अतः फ्रांस ब्रिटेन से एक सन्धि करने के लिए बराबर आग्रह करने लगा। अन्त में जनवरी, १९२२ में ब्रिटिश-सरकार फ्रांस के साथ एक सन्धि करने के लिए तैयार हो गयी। इस सन्धि की प्रस्तावित शर्तें वही थी जिनपर १९१९ में ब्रिटेन हस्ताक्षर नहीं कर सका था। 'यदि जर्मनी ने अकारण ही फ्रांस पर आक्रमण करने की कोई गतिविधि की तो ब्रिटेन तुरत ही फ्रांस की सहायता करेगा।' तत्कालीन फ्रांसीसी प्रधान-मंत्री पोअन्कारे इस अस्पष्ट सन्धि से सन्तुष्ट नहीं था। उसकी यह माँग थी कि इस आश्वासन के साथ एक सैनिक समझौता भी किया जाय जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि ब्रिटिश सेना किस प्रकार की सहायता

देगी। ब्रिटिश-सरकार इतनी दूर जाने के लिए तैयार नही थी। अतः आँग्ल-फ्रांसीसी वार्तालाप पूर्णतया निरर्थक हो गया।

अब प्रश्न यह उठता है कि ब्रिटेन और फ्रांस के बीच इस तरह के मतभेद के क्या कारण थे। वास्तव में, युद्ध के बाद आँग्ल-फ्रांसीसी मतभेद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य था। जिस दिन तोपों की गर्जना बन्द हुई और विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर हुए उसी दिन से ये दोनों भूतपूर्व मित्र-राज्य प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय मामले पर एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत विचार व्यक्त करने लगे। लायड जार्ज का विश्वास था कि जर्मनी को इतना पस्त कर दिया गया है कि कम-से-कम साठ साल के पूर्व वह अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त नही कर सकता है। इसलिए वह फ्रांस की उग्र नीति पर रोड़े अटकाने लगा। लेकिन क्लिमेंशो का विचार दूसरा ही था। उसका विश्वास था कि जर्मन जब चाहेंगे फ्रांस पर आक्रमण कर देंगे। अतः वह अपने देश को इस भावी आक्रमण के संकट से सुरक्षित करना चाहता था। ब्रिटेन को इस तरह के किसी संकट का भय नही था। युद्ध से अपार क्षति हुई थी और अंगरेज लोग अपनी आर्थिक पुनरोत्थान के लिए उत्सुक थे। ब्रिटेन की आर्थिक प्रगति के लिए जर्मनी का अपने पैरों पर खड़ा होना बहुत आवश्यक था; क्योंकि जर्मनी ब्रिटिश-मालों का बहुत बड़ा बाजार था। इसलिए ब्रिटेन जर्मनी का पुनर्निर्माण देखना चाहता था। परन्तु, फ्रांस के लिए एक पुनर्निर्मित जर्मनी सबसे बड़ा खतरा था। क्लिमेंशो ब्रिटेन के इस रवैये को नापसन्द करता था। 'युद्ध के बाद से' उसने लायड जार्ज से शिकायत की, 'आप हमेशा हम लोगों से विरुद्ध रहे हैं।' यह तो हमारी परम्परा की नीति है', लायड जार्ज ने जवाब दिया। वास्तव में, चौदहवीं शताब्दी से ही *ब्रिटेन और फ्रांस एक दूसरे के विरोधी रहे हैं। विवश होकर ब्रिटेन को १९०४ में फ्रांस से* मित्रता करनी पड़ी थी। यह मित्रता १९१८ तक कायम रही; लेकिन जिस समय इसका उद्देश्य पूरा हो गया दोनों देश अपने पुराने स्थान पर चले आये।[1] नतीजा यह हुआ कि ब्रिटेन का प्रोत्साहन पाकर जर्मनी वर्साय-सन्धि की शर्तों का उल्लंघन करने लगा और कुछ ही दिनों में यूरोप की एक महान् शक्ति बन बैठा।

आँग्ल-फ्रांसीसी मतभेद के कुछ और कारण भी थे। ब्रिटेन यूरोपीय शक्ति सन्तुलन को पुनर्स्थापित करना चाहता था। एक बहुत शक्तिशाली फ्रांस संसार में ब्रिटिश-साम्राज्यवादी हितों के हक में अच्छा नहीं था। इससे जर्मनी के आर्थिक जीवन को पुनर्जीवित करने में भी कठिनाई होती। इस तरह एक कमजोर जर्मनी न तो ब्रिटिश-व्यापार के हक में अच्छा था और न क्रान्तिकारी रूप के विरुद्ध में ही। ब्रिटेन को रूसी साम्यवाद से बहुत डर था। ब्रिटिश-साम्राज्य के लिए यह एक बहुत बड़ा खतरा था। इस खतरे को रोकना ब्रिटेन की एक मुख्य नीति थी। यह तभी सम्भव था जब जर्मनी को शक्तिशाली बनाया जाय।

इस तरह वर्तमान शताब्दी की तीसरी दशाब्दी में आँग्ल-फ्रांसीसी सम्बन्ध में काफी मनमुटाव पैदा हो गया। दोनों के राष्ट्रीय स्वार्थ एक दूसरे के विपरीत थे और इसलिए मनमुटाव का बढ़ना अवश्यम्भावी था। युद्ध के समय के दोनों सहयोगी एक दूसरे के विरोधी हो गये। इस का नतीजा न तो इस दोनों देशों के हक में ही अच्छा हुआ और न विश्व-शान्ति के हक में ही।

1. Albjerg and Albjerg, *Europe from* 1914 *to the Present*, p. 481.

बेल्जियम के साथ संधि—जब फ्रांस ब्रिटेन की तरफ से निराश हो गया तो वह यूरोप के उन विविध "तृप्त" राज्यों की तरफ झुका, जिनका हित वर्साय-सन्धि द्वारा स्थापित यथास्थिति को बनाये रखने में था। फ्रांस को अपनी मनोकामना पूरी करने के लिए छोटे राष्ट्रों की ओर देखना पड़ा। उनको मिलाकर गुटबन्दियाँ कायम करने के सिवा उसके सामने कोई मार्ग नही रह गया। इस दिशा में फ्रांस ने जो पहला क़दम उठाया वह बेल्जियम के साथ समझौता था। विगत युद्ध से यह अनुभव प्राप्त हुआ था कि दोनों देशों का हित इसी में है कि वे मिलजुलकर अपनी सुरक्षा की योजना बनायें। अतः ७ सितम्बर, १९२० को दोनो देशों के सैनिक अधिकारियों ने एक समझौता किया। यद्यपि यह समझौता राष्ट्रसंघ में दर्ज करा दिया गया था; किन्तु इसकी महत्त्वपूर्ण शर्तें गुप्त रखी थीं। फिर भी यह स्पष्ट कर दिया गया कि फ्रांस और बेल्जियम जर्मनी के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए सैनिक दृष्टि से एक हो गये हैं। इस सैनिक गुटबन्दी के कारण पश्चिम में फ्रांस की स्थिति सुरक्षित हो गयी।

पोलैण्ड के साथ सन्धि—फ्रांस का काम केवल बेल्जियम के साथ समझौता कर लेने से ही चलनेवाला नहीं था। उसे एक शक्तिशाली राज्य को मित्र बनाने की आवश्यकता थी। शान्ति-सन्धि द्वारा स्थापित पोलैंड ही एक ऐसा देश था, जो क्षेत्रफल तथा आबादी की दृष्टि से बड़ा था और जिसका हित फ्रांस के हित से मिलता-जुलता था। नवनिर्मित पोलैंड की जनसंख्या तीन करोड़ के लगभग थी और उसमें जर्मन-जाति के लोग बहुत बड़ी संख्या में निवास करते थे। पोलैंड का निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का पूर्ण रूप से अनुसरण नही किया गया था और उसमें अनेक ऐसे प्रदेशों को शामिल कर दिया था जिन्हें वस्तुतः जर्मनी का अंग होना चाहिए था। इस कारण फ्रांस के समान उसे भी जर्मनी का डर बना हुआ था। गलियारे के निर्माण के कारण जर्मनी दो भागों में बँट गया था और यह स्वाभाविक था कि जर्मनी इस गलियारे का नामोनिशान मिटा दे। पोलैंड को जर्मनी के आक्रमण की आशंका हमेशा बनी रहती थी। इस तरह फ्रांस और पोलैंड दोनो को आपसी आवश्यकताओं में पूरा-पूरा मेल बैठता था। जर्मन-आक्रमण की आशंका ने इन दोनों देशों को एक सूत्र में बाँध दिया। ऐसा कहा गया कि फ्रांस और पोलैंड एक दूसरे के ऐतिहासिक मित्र रहे हैं। इस मित्रता का परिचय फ्रांस ने उस समय पोलैंड को मदद देकर दिया जब १९२० में बोल्शेविकों ने वारसा पर हमला कर दिया था। इसके बाद पोलैंड की सेना को आधुनिक ढंग से संगठित करने के लिए फ्रांस से एक सैनिक शिष्टमंडल वारसा पहुँचा। दोनों देशों के बीच एक राजनीतिक समझौता करने के लिए बात-चीत शुरू हुई और अन्ततोगत्वा १९ फरवरी, १९२१ को फ्रांस और पोलैंड के बीच एक सन्धि हो गयी, जिसमें दोनों देशों ने न केवल राजनीतिक क्षेत्र में परस्पर सहयोग का वचन दिया, अपितु गुप्त रूप से यह भी तय किया कि सैनिक दृष्टि से भी वे एक दूसरे से सहयोग करें। बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए दोनों देशों ने एक दूसरे का साथ देने का वचन दिया। १९२२ में इस सन्धि का अनुमोदन हो गया और १९३२ में इसकी अवधि दस वर्ष के लिए और बढ़ा दी गयी। उक्त दो सन्धियों से फ्रांस को यह लाभ हुआ कि [illegible] ने उस पर हमला किया तो पश्चिम में बेल्जियम और पूर्व में पोलैंड से उसको [illegible]

फ्रांस पोलैंड की सेना को आधुनिक ढंग से संगठित करने और [illegible] सहायता करने लगा। इस सन्धि से दोनों देशों के बीच काफी [illegible]

फ्रांसीसियों का मत था कि पोलैंड की मित्रता से फ्रांस को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होगी। इसी तरह वारसा में स्थित फ्रांसीसी सैनिक मिशन को लेकर पोलैंडवासियों में घोर असन्तोष था। किन्तु जैसा प्रोफेसर कार कहते हैं: "यह गुटबन्दी समान हित के सुदृढ़ आधार पर हुई थी। इस कारण मामूली असन्तोष से टूट नहीं सकती थी। अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के हर राजनीतिक प्रश्न पर फ्रांस और पोलैंड दोनो एक दूसरे का बराबर साथ देते रहे तथा हर सार्वजनिक वाद-विवाद में साथ-साथ मत देते रहे एवं एक तरह के ही भाषण देते रहे।"

लघु मैत्री संघ:—फ्रांसीसी नेताओं को इतने पर भी सन्तोष नही हुआ। वे किसी महान् राज्य के साथ सन्धि करना चाहते थे। दिसम्बर, १६२१ में उसने ब्रिटेन के साथ इसी ढंग की सन्धि करने का असफल प्रयास किया था। फ्रांस ने अब अपने नेतृत्व में छोटे-छोटे राज्यो को संगठित करने का कान शुरू किया। अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए १६२० २१ में उसने चेकोस्लोवाकिया; यूगोस्लाविया और रूमानिया का एक त्रिगुट संगठित किया। यह 'छोटा त्रिगुट' या लघु मैत्री-संघ (Little Entente) के नाम से प्रसिद्ध है जिसका उद्देश्य यह देखना था कि जर्मनी फिर से सर न उठा सके और हाप्सबुर्ग-राजवंश के सम्राट् फिर से अपने राज्य की स्थापना न कर सकें। इस समझौते के अनुसार तीनों हस्ताक्षरकारी देशों ने इस बात को स्वीकार किया कि अकारण आक्रमण होने पर तीनो मिलकर आक्रमण से प्रभावित देश की सैनिक सहायता करेंगे और यथास्थिति बनाये रखने में एक दूसरे की मदद करेंगे। फ्रांस इस त्रिगुट का संरक्षक था। त्रिगुट की सरकारें पूरी तरह से फ्रांसीसी प्रभाव में थी। ये तीनों राज्य विदेशी मामलो में फ्रांस के विश्वासपात्र पिछलगुआ हो गये। फ्रांस ने यह वचन दिया कि हंगरी से वह 'छोटा त्रिगुट' के सभी देशों की रक्षा करेगा तथा यूगोस्लाविया को इटली से विशेष रूप से बचायगा। इन सारे प्रयत्नों के फलस्वरूप फ्रांसीसी सुरक्षा की समस्या बहुत हद तक हल हो गयी। फ्रांस जर्मनी के खिलाफ आत्मरक्षा के लिए जो साधन जुटा रहा था उसमें इन तीन नये राज्यो को अपने साथ रखना महत्त्वपूर्ण था। इन राज्यों का हित इसमें था कि जर्मनी, आस्ट्रिया और हंगरी फिर से अपनी शक्ति न बढ़ा सकें। फ्रांस भी यही चाहता था और इसलिए 'छोटा-त्रिगुट' के राज्यों के साथ उसका घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो सका। १६२२ में उक्त समझौता में पोलैंड भी शामिल हो गया।

इतना होने पर भी फ्रांस को सन्तोष नहीं हुआ। 'छोटा-त्रिगुट' उसकी संरक्षता में स्थापित हुआ था; लेकिन वह स्वयं इसका सदस्य नहीं था। यह इन राज्यों के साथ प्रत्यक्ष रूप से सन्धि करना चाहता था। अतः २४ जनवरी, १६२४ को फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया के बीच एक सन्धि हुई। सन्धि की शर्तों के अनुसार विदेश नीति सम्बन्धित मामलों पर दोनों देश एक दूसरे से परामर्श लेने तथा आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे को मदद करने का वादा किया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इस सन्धि का महत्त्व बहुत बड़ा था। इससे फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया एक दूसरे के बहुत समीप आ गये और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में एक तरह की नीति का अवलम्बन करने लगे।

ठीक इसी तरह की एक सन्धि दो साल बाद, १९२६ में फ्रांस ने रूमानिया के साथ की। इसमें भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में परस्पर सहयोग करने की बात दुहरायी गयी थी। इसके अतिरिक्त दोनों देशों ने यह वादा भी किया कि अगर उसमें से किसी एक पर कोई अकारण हमला हुआ तो वे परस्पर मिलकर इस बात को तय करेंगे कि दूसरे राज्य को अपने मित्र की सहायता के लिए क्या करना चाहिए। १९२७ में फ्रांस ने युगोस्लोवाकिया के साथ भी इसी ढंग की सन्धि कर ली।

इस तरह सुरक्षा के नाम पर छः देशों के साथ सन्धि करके फ्रांस ने यूरोप की राजनीति में एक नया प्रभुत्व कायम किया। यूरोप में फ्रांस की शक्ति और गौरव चरम सीमा पर पहुँच गयी। फ्रांस यूरोप का एक अग्रणी राष्ट्र बन गया।[1]

फ्रांसीसी गुटबन्दी का खोखलापन :—इसमें सन्देह नहीं कि इन सन्धियों के द्वारा मानसिक दृष्टि से फ्रांस ने अपनी सुरक्षा की समस्या का समाधान बहुत हद तक कर लिया। किन्तु ये सन्धियाँ फ्रांस को बहुत मँहगी पड़ी। इन सन्धियों के कारण वह अब न केवल वर्साय-सन्धि का पालन कराने के लिए ही निश्चित रूप से वचनबद्ध था, अपितु सारे यूरोपीय शान्ति-समझौते के लिए भी। इस व्यवस्था में अनेक कमजोरियाँ थीं। महायुद्ध के बाद स्थापित नये राज्यों की आर्थिक स्थिति अति शोचनीय और अनिश्चित थी और उसके पास सैनिक साधन भी पर्याप्त नहीं थे। क्षेत्रफल की दृष्टि से वे काफी छोटे राज्य थे। वे अपनी शक्ति तभी बढ़ा सकते थे जब आर्थिक दृष्टि से इनकी भरपूर सहायता की जाय। फ्रांस इन्हें सदैव कर्ज देने के लिए विवश था। फ्रांस इन राज्यों को अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए बराबर कर्ज देता रहा। इसकी सेना को शिक्षा देने के लिए फ्रांसीसी अफसर भेजे गये। इस तरह ये राज्य फ्रांस के लिए अस्थायी रूप से बोझ बन गये।

इस व्यवस्था की दूसरी दिक्कत यह थी कि ये राज्य फ्रांस की सीमा से बहुत दूर पर स्थित थे। इन राज्यों की सीमाओं और फ्रांसीसी सीमाओं में कहीं भी लगाव नहीं था। युद्ध के समय यह सम्भव नहीं था कि इनकी सेनाएँ फ्रांस की सहायता के लिए दौड़ी चली आयें। इसके अतिरिक्त इन राज्यों की अपनी-अपनी समस्याएँ थीं। पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया में काफी संख्या में जर्मन-लोग निवास करते थे। इससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जटिलता का आना अवश्यम्भावी था। अपने पड़ोसी राज्य से इनको बराबर झगड़ा होता रहता था और फ्रांस ने इन झगड़ों में मदद करने का वादा किया था। इस तरह का वचन देकर फ्रांस ने अपनी सैनिक जिम्मेवारियों को इतना बढ़ा लिया कि जब आवश्यकता पड़ी तो उसको पूरा करना उसके लिए असम्भव हो गया। इससे भी बढ़कर फ्रांस को यह घाटा हुआ कि उक्त सुरक्षा-व्यवस्थाओं के कारण फ्रांस के प्रति पूर्वी और पश्चिमी यूरोप में सन्देह पैदा होने लगा। भय से भय की उत्पत्ति होती है। यूरोप के अन्य राज्यों को सन्देह होने लगा कि सुरक्षा के नाम पर फ्रांस यूरोप पर आधिपत्य जमाने की योजना बना रहा है अतः फ्रांस की गुटबन्दियों का विरोध करने के लिए विरोधी गुटबन्दियों की स्थापना अनिवार्य हो गयी। जर्मनी, इटली और सोवियत रूस अपना अपना गुट तैयार करने की बात सोचने लगे और कुछ दिनों

1. Car, op. cit. p. 4.

में इन देशों का गुट भी कायम हो गया। गुटबन्दियों का वह दूषित वातावरण, जिसके कारण प्रथम विश्व-युद्ध हुआ था, यूरोप में एक बार पुनः छा गया और कुछ दिनों के बाद यूरोप तीन शक्तिशाली गुटों में विभाजित हो गया।

२. जेनेवा प्रोटोकल

(Geneva Protocol)

राष्ट्रसंघ और सामूहिक सुरक्षा :—युद्धोत्तर काल के फ्रांसीसी विदेशनीति पर 'असंगति तथा पाखण्ड' का आरोप लगाया जाता है और वहुत अंशों में यह ठीक भी है। सैनिक दृष्टि से राष्ट्रसंघ एकदम बेकार था और फ्रांस इससे कोई आशा नही रखता था। पर राष्ट्रसंघ में अविश्वास करते हुए भी वह उसकी उपेक्षा करना नही चाहता था। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए फ्रांस सभी साधनो का उपयोग करना चाहता था। उसने विभिन्न देशों के साथ सन्धि करके यूरोप में गुटबन्दियों का जाल बिछा दिया था। पर वह इतने से सन्तुष्ट नही था। इस दिशा में वह राष्ट्रसंघ का प्रयोग भी करना चाहता था। अगर राष्ट्रसंघ के जरिये सामूहिक सुरक्षा और पारस्परिक सहायता के सिद्धान्तो को एक ठोस व्यावहारिक रूप दिया तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी स्थिति और भी सुरक्षित हो सकती है। फ्रांस इस दिशा में उद्योग करने लगा। जेनेवा-प्रोटोकोल या समझौता (Protocol) लोकार्नो पैक्ट तथा पेरिस-पैक्ट फ्रांस के इसी प्रयास के परिणाम थे।

जेनेवा प्रोटोकोल :—महायुद्ध का छिड़ना इस बात का स्पष्ट प्रमाण था कि हथियारबन्दी की होड़ से विश्व-शान्ति सुरक्षित नही रह सकती है। अतः पेरिस-शान्ति-सम्मेलन में राष्ट्रों के बीच हथियारबन्दी की होड़ को रोकने का निर्णय किया गया। इस विचार को व्यावहारिक रूप देने के लिए सबसे पहले पराजित जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, बुल्गेरिया तथा तुर्की को अनिवार्य रूप से निरस्त्र कर दिया गया। पर निरस्त्रीकरण के सभी प्रयास बेकार हैं यदि उनके फलस्वरूप विश्वव्यापी निरस्त्रीकरण नही हो जाय। अतः राष्ट्रसंघ के विधान की आठवीं धारा में विश्वव्यापी निरस्त्रीकरण की चर्चा कर दी गयी। "राष्ट्रसंघ के सदस्य इस बात को मानते हैं कि शान्ति बनाये रखने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा से संगति रखते हुए; राष्ट्रीय शस्त्रों का कम-से-कम करना आवश्यक है।" १९२० में राष्ट्रसंघ एसेम्बली ने निरस्त्रीकरण-समस्या पर अध्ययन करने के लिए एक आयोग की स्थापना की। इस आयोग ने रिपोर्ट दी कि निरस्त्रीकरण की कोई भी योजना तब तक सफल नही हो सकती जबतक राज्यों की आत्म रक्षा के लिए कोई दूसरा सन्तोषजनक गारंटी न मिल जाय। वास्तव में, फ्रांस ने निरस्त्रीकरण के प्रस्ताव पर उस समय तक विचार करने से साफ-साफ इन्कार कर दिया जबतक उसे सुरक्षा की कोई ठोस गारंटी प्राप्त नहीं हो जाती। निरस्त्रीकरण के पूर्व फ्रांस राष्ट्रसंघ द्वारा एक पारस्परिक सुरक्षा (mutual security) की गारंटी चाहता था। अतः राष्ट्रसंघ की तीसरी एसेम्बली ने आयोग से अनुरोध किया कि वह पारस्परिक सुरक्षा-सम्बन्धी एक सन्धि (Treaty of Mutual Assistance) का मसविदा तैयार करे। आयोग ने एक मसविदा तैयार भी किया। उसका सारांश यह था—(१) सन्धि पर हस्ताक्षर करनेवालों को आश्वासन देना पड़ेगा कि उनमें से किसी पर आक्रमण होने की दशा में बाकी हस्ताक्षरकर्त्ता

देश उसकी सहायता करेंगे (२) आक्रमण की हालत में आक्रमणकारी कौन है, इसका निर्णय राष्ट्रसंघ को कौंसिल करेगी। (३) ऐसे राज्य जो कौंसिल द्वारा निर्धारित अनुपात के अनुसार दो साल के अन्दर अपना निरस्त्रीकरण नहीं कर लेंगे। वे पारस्परिक सहायता पाने के अधिकारी नहीं होंगे।

सितम्बर १६२३ में राष्ट्रसंघ की चौथी एसेम्बली में उक्त मसविदा सन्धि निर्विरोध स्वीकार कर ली गयी। इस सभा में किसी भी बड़े राष्ट्र के जिम्मेदार मन्त्रियों ने भाग नहीं लिया था। अतः इस मसविदे को सम्बन्धित सरकारों के विचारार्थ भेजना आवश्यक था। फ्रांस और इसके अधिकांश साथियों ने उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। लेकिन ब्रिटेन, अमेरिका इत्यादि देशों ने इस सन्धि को निश्चित रूप से अस्वीकृत कर दिया। ये देश अपनी जिम्मेवारियों को नहीं बढ़ाना चाहते थे। उनकी शिकायत थी कि सन्धि में आक्रमण की परिभाषा स्पष्ट नहीं की गयी है तथा आक्रमणकारी राज्य के साथ कठोर व्यवहार करने के लिए राष्ट्रसंघ कौंसिल को पर्याप्त अधिकार नहीं दिया गया है। उनका यह भी कहना था कि जो सन्धि निरस्त्रीकरण के अनिश्चित आधार पर स्थित है वह विश्वसनीय नहीं हो सकती।

अगले वर्ष १६२४ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दूषित वातावरण में बहुत सुधार हो चुका था। ब्रिटेन अभी तक अपने भूतपूर्व मित्र का विरोध करता आ रहा था। इस बार फ्रांस को किसी प्रकार की गारंटी देने के लिए वह भी उत्सुक था। अतः जब सितम्बर, १६२४ में ब्रिटेन और फ्रांस के दोनों समाजवादी प्रधान मंत्री—मेकडोनल्ड और हेरियो—जेनेवा में राष्ट्रसंघ सभा में एक ही साथ उपस्थित हुए तो दोनों विरोधी दृष्टिकोणों में समझौता सम्भव दिखाई देने लगा। इन दोनों प्रधान मन्त्रियों ने राष्ट्रसंघ की पाँचवीं एसेम्बली में एक संयुक्त प्रस्ताव पेश किया। इस प्रस्ताव के आधार पर एक पारस्परिक सहायता-सन्धि का मसविदा तैयार किया गया, जो २ अक्टूबर, १६२४ को राष्ट्रसंघ की एसेम्बली द्वारा निर्विरोध स्वीकार कर लिया गया। इस संधि का पूरा नाम अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए समझौता, (Protocol for the Settlement of International Disputes) था। इसी को जेनेवा प्रोटोकोल भी कहते हैं। पंचायती-निर्णय (arbitration) को अनिवार्य बना देना प्रोटोकोल की मुख्य विशेषता थी। जेनेवा प्रोटोकोल की और प्रमुख बातें निम्न थीं—(१) वैधानिक विवादों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में तथा राजनीतिक विवादों को राष्ट्रसंघ कौंसिल में निबटारा के लिए अवश्य ही भेजा जाय। (२) युद्ध को एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध घोषित किया गया। राष्ट्रसंघ के सदस्यों पर किसी प्रकार के आक्रमण को अपराध बतलाया गया। (३) जिस समय न्यायालय अथवा कौंसिल में किसी विवाद पर विचार हो रहा हो उस काल में कोई सैनिक तैयार नहीं की जा सकती। (४) जो राष्ट्र विवादास्पद मामले को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय या कौंसिल में नहीं रखेगा अथवा न्यायालय के निर्णय को अस्वीकार करके आक्रमण कर देगा वह आक्रमणकारी समझा जायगा। (५) आक्रमणकारी के खिलाफ राष्ट्रसंघ-विधान की सोलहवीं धारा के अनुसार आर्थिक पाबन्दी और सैनिक कार्रवाई की जायगी। (६) युद्ध का सारा खर्च आक्रमणकारी राज्य को अदा करना पड़ेगा। (७) सभी राज्य निरस्त्रीकरण सम्बन्धी राष्ट्रसंघ के निर्णय को मानेंगे।

जेनेवा प्रोटोकोल का अन्त—जेनेवा प्रोटोकोल की भी वही दशा हुई जो १६२३ के पारस्परिक सहायता-सन्धि की हुई थी। नवम्बर, १६२४ में ब्रिटेन की मेकडोनल्ड-सरकार

का पतन हो गया और उसकी जगह पर बाल्डविन की अनुदार दलीय सरकार बनी। इस सरकार के नेतृत्व में ब्रिटिश-संसद् ने जेनेवा प्रोटोकोल का अनुमोदन (ratification) करने से इन्कार कर दिया। ब्रिटेन के इस इन्कार के अनेक कारण थे। ब्रिटेन समझता था कि इस प्रोटोकोल से उसे यूरोप के झगड़ों में व्यर्थ ही अपने धन और जन का विनाश करना होगा। यूरोप में फ्रांस की प्रभुता थी। राष्ट्रसंघ में भी उसका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यूरोप के बहुत से राज्य आँख मूँदकर उसका साथ देते थे। यदि फ्रांस के नेतृत्व में राष्ट्रसंघ ने किसी राज्य को 'अपराधी' ठहरा दिया तो ब्रिटेन को उसके खिलाफ सैनिक कार्रवाई करने के लिए विवश किया जायगा। ब्रिटेन इसके लिए तैयार नहीं था। इससे अमेरिका से भी उसका युद्ध छिड़ सकता था, जो राष्ट्र-संघ में न होने के कारण किसी सदस्य-राष्ट्र से झगड़ा करने पर आक्रमणकारी घोषित किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त पंचायती निर्णय के सिद्धान्त और राष्ट्रों की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त में मेल नहीं खाता था। ब्रिटेन को ऐसा लगता था कि राष्ट्रसंघ विधान की सोलहवीं धारा को पुनः जबरदस्त शब्दों में दुहराकर राष्ट्रसंघ के स्वरूप में ही परिवर्तन कर दिया गया है। जेनेवा-प्रोटोकोल के अनुसार राष्ट्रसंघ का प्रमुख काम युद्ध संगठन करके शान्ति स्थापित करना और बड़े पैमाने पर युद्ध छेड़ना हो जाता। इन्हीं सब कारणों से ब्रिटेन ने प्रोटोकाल को अनुमोदित करने से इन्कार कर दिया। परन्तु, प्रोटोकोल को अस्वीकार करने का मुख्य कारण निःसन्देह समुद्र पार के ब्रिटिश-डोमीनियनों का रुख था। उसके विरोध का आंशिक कारण यह था कि वे इस बात से डरते थे कि जापान के कहने पर कहीं राष्ट्रसंघ उनके प्रवास-नियम (Immigration Laws) में हस्तक्षेप न कर दे। परन्तु मूलतः वे आर्थिक पाबन्दी और सैनिक कार्रवाई-सम्बन्धी उपबन्धों को नापसन्द करते थे। भौगोलिक दृष्टि से ब्रिटेन के डोमीनियन यूरोपीय संकट-स्थलों से बहुत दूर थे और वे इन झंझटों में नहीं फँसना चाहते थे। कनाडा अमेरिका की तरह पृथकतावाद का समर्थक था। एसेम्बली में वाद-विवाद के अवसर पर कनाडा के प्रतिनिधि ने कहा था : 'पारस्परिक अग्नि-बीमे के इस संघ में विभिन्न राज्यों की जोखिम एक समान नहीं है। हम अग्नि-अवरोधी मकान में रहते हैं जो ज्वलनशील वस्तुओं से बहुत दूर हैं।'[1] दक्षिण अफ्रिका, भारत, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड भी इस तरह का कोई उत्तरदायित्व लेना नहीं चाहते थे। इन परिस्थितियों में प्रोटोकोल का अस्वीकृत होना अनिवार्य ही था और १२ मार्च, १९२५ को राष्ट्रसंघ—कौंसिल में भाषण देते हुए चैम्बरलेन ने उसे अन्तिम धक्का लगा दिया। जेनेवा प्रोटोकोल रद्द हो गया। जेम्स सोटवेल के शब्दों में ब्रिटेन के इस रुख से प्रोटोकोल और राष्ट्रसंघ पर ऐसा सांघातिक प्रहार हुआ कि वह कभी अपने को सम्हाल नहीं सके। ब्रिटेन के विरोध के कारण फ्रांस का एक और प्रयत्न धूल में मिल गया।

३. लोकार्नो-पैक्ट

लोकार्नो समझौते की पृष्ठभूमि—जेनेवा-प्रोटोकोल की अकाल-मृत्यु हो गयी। इनसे फ्रांस में घोर असन्तोष का वातावरण छा गया। राष्ट्रसंघ द्वारा अपनी सुरक्षा के प्रयत्न में निराश

1. In this association of mutual assistance against fire, the risks assu[med] by different states are not equal. We live in a fireproof house, far from inf[lam]mable materials."—Gathorne Hardy,—A Short History of International Aff[airs], pp. 71-72.

होकर उसने एक बिल्कुल नयी नीति का आश्रय लिया जो बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। जेनेवा-प्रोटोकोल यद्यपि रद्द हो गया; किन्तु यह जाते-जाते यूरोपीय मामलों पर अपनी गहरी छाप छोड़ गया। राष्ट्रों के बीच समझौते और भाईचारे की भावना उत्पन्न होने लगी। सब लोग इस बात पर सहमत थे कि यूरोपीय शान्ति को भंग करनेवाले मुख्य खतरों के विरुद्ध किसी-न-किसी प्रकार का उपाय करना आवश्यक है। यह बात ठीक है कि मामूली स्थितियों का सामना करने के लिए राष्ट्रसंघ पर्याप्त था। पर पुनर्जीवित और शक्तिशाली जर्मनी के खतरे का सामना करने के लिए कुछ निश्चित कदम उठाना आवश्यक था। फ्रांस अपने निरस्त्रीकरण के लिए कभी भी राजी नहीं होता जब तक शक्तिशाली जर्मनी के खतरे के खिलाफ कोई निश्चित कदम नहीं उठाया जाता। परन्तु, जेनेवा-प्रोटोकोल के भंग हो जाने से इस दिशा में कोई व्यापक व्यवस्था नहीं की जा सकती थी। इसलिए पुनः प्रादेशिक समझौते (regional arrangements) की ओर ही ध्यान दिया गया।

इस समय इस तरह की व्यवस्था के लिए वातावरण भी अनुकूल था। क्षतिपूर्ति की अदायगी के बारे में डावस-योजना के अनुसार जर्मनी से समझौता हो चुका था और रूर-प्रदेश से फ्रांसीसी सेनाएँ भी वापसी बुलायी जा चुकी थीं। फ्रांस ब्रिटेन की तरफ से निराश हो चुका था। अतः वह भी जर्मनी से किसी तरह समझौता करके अपने सर दर्द को दूर करना चाहता था। इस समय फ्रांस का प्रधान मन्त्री हेरियो और विदेश-मन्त्री ब्रियां था। दोनों इस बात के लिए उत्सुक थे कि आत्मरक्षा के लिए जर्मनी के साथ किसी नये समझौते की बात चलायी जाय। फ्रांस का असल खतरा राइन-भूमि की ओर से था। वह इसके लिए स्पष्ट रूप से गारन्टी पाना चाहता था। आश्चर्य की बात है कि इस समस्या का समाधान एक ऐसे प्रस्ताव से हुआ जिसे दो वर्ष पूर्व सबसे पहले जर्मन सरकार ने रखा था।

१९२२ के अन्त में जर्मन-सरकार ने फ्रांसीसी सरकार के सामने यह सुझाव रखा था कि वे आपस में प्रतिज्ञा करें कि कम-से-कम एक दशाब्दी तक युद्ध नहीं करेंगे। इस प्रतिज्ञा में ब्रिटेन और बेल्जियम को तथा न्यासी (trustee) के रूप में एक तटस्थ शक्ति को भी सम्मिलित किया जाय। इस समय रूर पर फ्रांसीसी अधिकार का क्रम जारी था और यह योजना फ्रांस की अपेक्षा जर्मनी के हित में अधिक थी; क्योंकि फ्रांस द्वारा ही जर्मनी पर आक्रमण किये जाने की अधिक आशंका थी, न कि जर्मनी द्वारा फ्रांस पर। अतः पोअन्कारे ने इस प्रस्ताव को एक 'भौंड़ी चाल' कह कर ठुकरा दिया। जर्मन-सरकार आगामी दो वर्षों तक इसके लिए लगातार प्रयत्न करती रही। इसी बीच १९२३ में जर्मनी के राजनीतिक रंगमंच पर स्ट्रेस्मेन नामक एक राजनेता का प्रादुर्भाव हुआ। उसके प्रयास से जर्मनी की आर्थिक स्थिति में काफी सुधार हुआ। संसार के बाजारों में जर्मनी की साख जम गयी। डावस योजना के अमल में आने से फ्रांस तथा जर्मनी की पारस्परिक कटुता कम हो चली थी। उसके स्थान पर सौहार्द की भावना उत्पन्न होने लगी थी और परस्पर सहयोग की इच्छा जाग्रत हो रही थी। स्ट्रेस्मेन ने १९२३-२४ में फ्रांस के साथ समझौता करने के अनेक प्रयास किये, पर इन प्रयासों में भी उनको सफलता नहीं मिली। इन असफलताओं के बावजूद फरवरी, १९२५ में स्ट्रेस्मेन ने एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का प्रस्ताव किया। बर्लिन स्थित ब्रिटिश-राजदूत का संकेत पाकर स्ट्रेस्मेन ने तत्कालीन फ्रांसीसी प्रधानमन्त्री हेरियो के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि फ्रांस, ब्रिटेन, इटली और जर्मनी

मिलकर एक अनाक्रमण-समझौता कर लें। हेरियो समझौते की नीति को पसन्द करता था। जेनेवा-प्रोटोकोल के अस्वीकृत हो जाने के बाद फ्रांस स्वयं इस बात के लिए उत्सुक था कि आत्मरक्षा के लिए कोई प्रादेशिक समझौता कर लिया जाय।

समझौते की कठिनाइयाँ—समझौता के मार्ग में अभी भी अनेक कठिनाइयाँ थीं। इस समय तक फ्रांसीसी लोकमत अनुकूल नहीं हुआ था। फ्रांस, बेल्जियम तथा जर्मनी में शासकों के परिवर्तन के कारण भी कुछ विलम्ब होने की सम्भावना बढ़ गयी। फरवरी, १६२५ में राष्ट्रपति एबर्ट की मृत्यु हो गयी। उनके स्थान पर फॉन हिन्डेनबर्ग जर्मनी का राष्ट्रपति हुआ। वह समझौते की नीति का समर्थक नहीं था। बेल्जियम में थीयूनिस-मन्त्रिमण्डल के पतन के कारण वह देश इस प्रश्न की ओर तत्काल ध्यान न दे सका। अप्रिल में हेरियो की पराजय से और बाधा पड़ गयी। परन्तु फ्रांस का नया विदेशमन्त्री ब्रियाँ समझौता का पक्षपाती था और इसलिए *कूटनीतिक मार्गों द्वारा बातचीत चलती रही।*

बातचीत के सिलसिले में जर्मनी की तरफ से भी अनेक बाधाएँ थीं। जर्मन के द्वारा यह शर्त्त रखी गयी कि उसे बेशर्त्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना दिया जाय। दूसरी कठिनाई सोवियत संघ और जर्मनी की मित्रता से, जो कि रेपोलो-सन्धि के समय से ही चली आ रही थी, उत्पन्न हुई। जर्मनी को यह भय था कि पश्चिमी राष्ट्र सोवियत-संघ के विरुद्ध किसी भी दिन सैनिक कारवाई कर सकते हैं तथा इस प्रकार की कार्यवाही में शामिल होने के लिए उसे भी आमन्त्रित किया जा सकता है। वार्तालाप के द्वारा जर्मनी की इस शंका को भी दूर *कर दिया गया। यह निश्चय किया गया कि निरस्त्र होने के कारण जर्मनी से सैनिक कार्यवाही* में भाग लेने को नहीं कहा जायगा। तीसरी कठनाई चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड से लगी जर्मनी की सीमाओं को लेकर थी। वर्साय-सन्धि द्वारा निश्चित पश्चिमी सीमा को स्वीकार करने के लिए जर्मनी तैयार था। किन्तु पूर्वी सीमा के निर्धारण को वह अन्तिम फैसला मानने के लिए तैयार नही था। पर वह इस बात को मानने के लिए तैयार था कि बल-प्रयोग करके वह उसको बदलने का विचार नहीं रखता। वार्तालाप के द्वारा इन कठिनाइयों का भी यथासंभव समाधान निकाल लिया गया।

लोकार्नो की संधियाँ—५ अक्टूबर, १६२५ को जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन, इटली, बेल्जियम, पोलैंड तथा चेकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधियों की वार्त्ता स्विट्जरलैंड में झील के किनारे बसे लोकार्नो नामक नगर में आरम्भ हुई। युद्ध के बाद यह प्रथम अवसर था जब जर्मनी को मित्रराष्ट्रों के साथ समानता के स्तर पर बातचीत करने का मौका मिला। लोकार्नो जैसे मनमोहक स्थान के आनन्ददायक वातावरण में बारह दिनों तक बातचीत चलती रही। वस्तुतः इस सम्मेलन में इतने अधिक स्नेह और सौहार्द का वातावरण था कि इसे पुरानी कटुता और शत्रुता को अन्त करनेवाली "लोकार्नो की भावना" (Spirit of Locarno) कहा जाने लगा। १६ अक्टूबर को सम्मिलित राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा एक सन्धि पर हस्ताक्षर किया गया जो लोकार्नो पैक्ट के नाम से विख्यात है। इसमें कुल मिलाकर सात संधियों पर हस्ताक्षर किये गये जिनका विवरण इस प्रकार है :

(१) इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संधि जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन, बेल्जियम तथा इटली के बीच फ्रांस-जर्मनी तथा बेल्जियम जर्मनी की सीमाओं की गारंटी-सम्बन्धी संधि थी।

यह सन्धि असल 'लोकार्नो सन्धि' थी। इसके द्वारा सभी हस्ताक्षरकारी शक्तियों ने इस बात की गारंटी दी कि वे वर्साय की संधि द्वारा निश्चित की गयी जर्मनी, बेल्जियम और फ्रांस की सीमाओं को सुरक्षित बनाये रखने तथा राइन प्रदेश के असैनीकरण का वचन देते हैं। जर्मनी, बेल्जियम और फ्रांस ने यह समझौता किया कि वे एक दूसरे पर तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त कभी आक्रमण नहीं करेंगे और न एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध छेड़ेंगे। जिन तीन अवस्थाओं में युद्ध छेड़ा जा सकता था वे निम्नलिखित थे: (१) आत्मरक्षा, (२) असैनीकरण की व्यवस्था का ज्वलन्त उल्लंघन तथा (३) राष्ट्रसंघ द्वारा आदेशित सैनिक कार्रवाई। इसके अतिरिक्त हस्ताक्षरकर्त्ता राज्यों ने अपने बीच उत्पन्न होनेवाले सब प्रकार के विवादों को शांतिपूर्ण उपायों द्वारा हल करने तथा संधि का उल्लंघन करनेवाले राज्यों के विरुद्ध सम्मिलित कार्यवाही करने का निश्चय किया। संधि का उल्लंघन हुआ है या नहीं इसका फैसला राष्ट्रसंघ की कौंसिल कर सकती थी। जर्मनी को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने का वादा किया गया और यह सन्धि उसके राष्ट्रसंघ का सदस्य बन जाने पर ही लागू होती थी।

(२) एक ओर जर्मनी और दूसरी ओर फ्रांस, बेल्जियम, पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया के बीच चार पंच निर्णय संधियाँ। मध्यस्थता सम्बन्धी यह संधि जर्मनी ने उपर्युक्त चारों देशों से अलग-अलग की। इन संधियों का उद्देश्य यह था कि यदि हस्ताक्षरकर्त्ता देशों के बीच कोई झगड़ा हो तो उसका फैसला पंचायती तरीके से किया जाय। लेकिन यह व्यवस्था "इस संधि के बाद उत्पन्न होनेवाले नये विवादों के लिए थी; पुराने विवादों के लिए नहीं।"

(३) एक ओर फ्रांस और दूसरी ओर पोलैंड तथा चेकोस्लोवाकिया के बीच गारन्टी की दो सन्धियाँ। इनमें यह व्यवस्था थी कि यदि लोकार्नो समझौते का पालन नहीं होता और बिना उत्तेजना के युद्ध छिड़ जाता है तो दोनों राष्ट्र एक दूसरे की सहायता अविलम्ब करेंगे। इस प्रकार यह सन्धि एक पारस्परिक सहायता-संधि थी और इसके अन्तर्गत हस्ताक्षरकर्त्ताओं ने यह वादा किया कि जर्मनी द्वारा आक्रमण किये जाने की स्थिति में वे एक दूसरे की पारस्परिक सहायता करेंगे।

लोकार्नो समझौता का मूल्याकन

जर्मनी और फ्रांस के विद्वेष का अन्त— लोकार्नो के मधुर वातावरण में तैयार किये गये इन सात सन्धियों पर १ सितम्बर, १९२५ को लन्दन में विधिवत् हस्ताक्षर किया गया और १४ सितम्बर, १९२६ को इसे लागू कर दिया गया। इन सभी संधियों में पहली श्रेणी की सन्धि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी और प्रथम विश्व-युद्ध के बाद के बीस वर्षों की कूटनीति के इतिहास में सबसे बड़ी घटना थी। इसके द्वारा एक ओर जर्मनी और दूसरी ओर फ्रांस तथा बेल्जियम की पूर्वी सीमाओं को वस्तुतः गारंटी हो गयी। जर्मनी ने वर्साय-सन्धि द्वारा निर्धारित फ्रांस तथा बेल्जियम की पूर्वी सीमाओं को सदा के लिए स्वीकार कर लिया। अर्थात् उसने एल्सेस-लोरेन पर से अपने दावे का परित्याग कर दिया। उसने राइन नदी के पूरब जर्मन-सीमा को सैन्य-विहीन दशा में बनाये रखने का भी वचन दिया। जर्मनी और फ्रांस दोनों ने इस सीमा पर आत्मरक्षा को छोड़ अन्य किसी कारण से परस्पर युद्ध न करने का वचन दिया और प्रत्येक को यह अधिकार मिला कि यदि दूसरा पक्ष बिना कारण युद्ध छेड़े तो अन्य हस्ताक्षरकर्त्ता राज्य

आक्रान्त राज्य को सैनिक सहायता देंगे। जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सदस्यता दिलाने का भी वादा किया गया।

यूरोप की राजनीति पर इस व्यवस्था का अत्यन्त लाभदायक प्रभाव पड़ा। इसके द्वारा फ्रांस और जर्मनी के बीच कम-से-कम कुछ दिनों के लिए स्थायी शत्रुता और वैमनस्य का मूल आधार नष्ट हो गया। जिस समय जर्मनी ने एल्सेस-लोरेन पर से अपने दावे का परित्याग कर दिया उस समय फ्रांस जर्मनी के आक्रमण की दुश्चिन्ता से मुक्त हो गया। इसने दोनों ही देशों में सौहार्द बढ़ाकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सम्भावना को प्रोत्साहित किया। क्षतिपूर्ति की समस्या का समाधान भी सम्भव दिखायी पड़ने लगा।

जर्मनी की स्थिति में सुधार—फ्रांस और जर्मनी में लोकार्नो सन्धि को बड़ी प्रशंसा की गयी और इसको यूरोपीय शान्ति की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम बताया गया। यूरोप में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर इसका तात्कालिक प्रभाव पड़ा।[1] जर्मनी ने वर्साय-सन्धि को स्वेच्छा से कभी स्वीकार नहीं किया था। परन्तु, यह सन्धि उसने स्वेच्छा से स्वयं बातचीत करके की थी। युद्ध के बाद पहले-पहल उसको मित्रराष्ट्रों के साथ समान स्तर पर बातचीत करने का मौका मिला था। लोकार्नो में इस बात की भरसक कोशिश की गयी थी कि वहाँ वर्साय का वातावरण नहीं आने पाये। चेम्बरलेन, ब्रियाँ और स्ट्रेसमेन एक साथ घूमते थे और झील में मुस्कुराते हुए नौका-विहार करते थे। संसार भर के समाचारपत्रों में उनके हँसते हुए और कन्धे से कन्धा मिलाये चित्र छापे गये जिससे लोगों के दिल पर यह छाप पड़ जाय कि वर्साय का अध्याय अब समाप्त हो चुका है, जर्मनी केवल राष्ट्रसंघ का सदस्य ही नहीं हुआ, अपितु वह कौंसिल का सदस्य भी चुन लिया गया। अब वह यूरोप की राजनति में एक स्वतन्त्र और सम्मानास्पद देश के सदृश भाग लेने गया। वह यूरोप के अन्य राज्यों के समकक्ष स्थान पा गया था। बदले में उसने स्वेच्छा से अपनी पश्चिमी सीमा को स्वीकार कर लिया। अब वह यह नहीं कह सकता था कि उस पर एक आरोपित सन्धि लादी गयी है। जर्मनी की एक शिकायत दूर हो गयी। इसके साथ ही फ्रांस की भी अपनी पूर्वी सीमा की सुरक्षा की गारन्टी मिल गयी। अब दोनों के बीच परस्पर वैमनस्य का कोई कारण नहीं रह गया।

प्रतिशोधात्मक नीति का अन्त— लोकार्नो-समझौते का एक और सुपरिणाम यह हुआ कि इसने वर्साय के प्रतिशोधपूर्ण नीति का अन्त कर दिया। इसके पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सदा जर्मनी को कुचलने, उससे बदला लेने की कटुतापूर्ण चर्चाएँ होती थीं। अब इनका स्थान "लोकार्नो की भावना" ने ले लिया जिसके मूल में समझौता, शान्ति चर्चा, और सुलह था। इस प्रकार इस संधि ने पोआन्कारे की उग्रतापूर्ण नीति का अन्त कर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा स्नेह के एक नये युग का उद्घाटन किया। इस युग में अब बदला लेने की बात नहीं कही जा सकती थी। राष्ट्रसंघ में जर्मनी को प्रवेश प्राप्त हुआ। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रसंघ का स्वरूप बदल गया। अब तक इसमें प्रथम विश्व-युद्ध की विजेता शक्तियों का ही बोलबाला था जिनका मुख्य उद्देश्य वर्साय-व्यवस्था को सुरक्षित तथा स्थाई रखना था। लेकिन अब इसमें पराजित पक्ष को भी स्थान मिला। अतएव वे राष्ट्रसंघ में अपनी शिकायत पेश कर सकते थे और अन्यायपूर्ण

1. Cathorne Hardy, op cit. pp. 75-76.

व्यवस्थाओं को अन्त करने का प्रस्ताव रख सकते थे। उस समझौते के महत्त्व की चर्चा करते हुए वास तथा विलफ के लिखा है : "लोकार्नो समझौते ने जर्मन सीमान्त को स्थिर किया, जर्मनी के राष्ट्रसंघ में प्रवेश का मार्ग खोला। इसके पूर्व वह कानून को भंग करने वाला भंयकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति माना जाता था। अन्य पराजित राष्ट्रों को संघ का सदस्य बना लेने पर भी उसे यह सुविधा नहीं दी गयी थी। किन्तु इस समझौते के बाद उसे अपने आकार, जनसंख्या तथा महानता की पुरानी श्रेणी के अनुसार संघ की कौंसिल का स्थायी सदस्य बनाया गया। जर्मनी के साथ प्रतिशोधात्मक नीति का परित्याग कर दिया गया।"

निरस्त्रीकरण की सफलता की सम्भावना— लोकार्नो संधि से यूरोप के राजनीतिक वातावरण में पुनः स्थिरता आयी, निराशा के बादल उड़ गये और लोगों ने उसका बड़े हर्ष और सन्तोष से स्वागत किया। संधि होने के बाद निरस्त्रीकरण की आशाएँ भी बढ़ गयी। फ्रांस की सुरक्षा की मांग इस समय उसके मनोनुकूल पूरी कर दी गयी थी और सबों ने निरस्त्रीकरण सम्बन्धी काम में अपना हार्दिक सहयोग देने का और एक व्यापक समझौता द्वारा इसे कार्यान्वित करने का वचन दिया था। उस समय के आशावादी वातावरण में राष्ट्रसंघ-कौंसिल ने नये सिरे से इस दिशा में काम शुरू किया। इसका मुख्य कारण यह था कि लोकार्नो समझौते के द्वारा युद्ध के बाद पहली बार फ्रांस की सुरक्षा कि आवश्यकताओं और वर्साय-संधि संशोधन की जर्मन मांगों के बीच सन्तुलन स्थापित किया गया इसकी व्यवस्थाएँ फ्रांस और जर्मनी दोनों के लिए लाभदायक थीं। यदि जर्मनी सीमान्त-व्यवस्था का उल्लंघन करता तो इंगलैंड और इटली फ्रांस की सहायता करते। इसी तरह की सहायता जर्मनी को भी प्राप्त होता यदि फ्रांस उस पर आक्रमण करता। इस प्रकार शक्ति का एक अच्छा सन्तुलन स्थापित हो गया और इस वातावरण में निरस्त्रीकरण की सफलता की सम्भावना पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गयी।

युद्ध और शान्ति के वर्षों की विभाजक-रेखा—लोकार्नो समझौता से ब्रिटेन बहुत प्रसन्न था। वह इसको एक महान् कूटनीतिक सफलता मानता था। चेम्बरलेन जब लोकार्नो से लन्दन लौटा तो उसने बड़े गर्व के साथ कहा कि "लोकार्नो युद्ध के वर्षों और शान्ति के वर्षों के बीच वास्तविक विभाजन-रेखा को अंकित करता है।"[1] इसका अर्थ यह था कि ११ नवम्बर १९१८ को प्रथम विश्व-युद्ध समाप्त होने पर भी जिस प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना का अन्त नहीं हुआ, वह लोकार्नो की सन्धि के साथ १९२६ में समाप्त हो गया। ब्रिटिश सम्राट् अपने मंत्री की सफलताओं पर खुश होकर उसको नाइट की उपाधि से विभूषित किया। ब्रियाँ का भी कहना था कि "लोकार्नो से नये युग का प्रारम्भ होता है।" संधि का महत्त्व बतलाते हुए उसने कहा था : "यह जर्मनी के लिए शान्ति है, फ्रांस के लिए शान्ति है। इससे इतिहास के पृष्ठों को काला करने वाले भयंकर और रक्तरंजित संघर्षों के एक लम्बे शृंखला का अन्त होता है...... राइफलों, मशीनगनों और तोपों का जमाना लद गया, ये अब समझौते, मध्यस्थता और शान्ति के लिए मार्ग प्रशस्त कर रही है।" स्ट्रेस्मेन तो एक कदम और आगे बढ़ गया। उसने कहा : "हम सभी अपने अपने देश के नागरिक हैं लेकिन हमलोग यूरोप के भी नागरिक हैं। हमलोगों को

---

1. "Locarno marks the real dividing line between the years of war and peace."

समूचे यूरोप के लिए बोलने का अधिकार है।" स्ट्रेसमेन को लोकार्नो की सन्धियों में यूरोपीय एकता का आभास मिला।

लोकार्नो समझौते की त्रुटियाँ—पर जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे लोकार्नो का वास्तविक स्वरूप भी प्रकट होने लगा और आज कहा जा सकता है कि लोकार्नो युद्ध और शान्ति के वर्षों के बीच विभाजक-रेखा नहीं बल्कि 'एक महान् कूटनीतिक भ्रम' था।[1] समय के बीतने के साथ इसकी कमजोरियाँ स्पष्ट होने लगी। सर्वप्रथम, लोकार्नो से जर्मनी की पूर्वी सीमा की समस्या का समाधान नहीं हुआ। जर्मनी ने अपनी पूर्वी सीमा को अन्तिम नहीं माना था जो गारंटी फ्रांस और जर्मनी तथा बेल्जियम और जर्मनी की सीमाओं के सम्बन्ध में प्राप्त हुई थी, वह जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया तथा जर्मनी और पोलैंड की सीमाओं के बारे में प्राप्त नहीं हुई थी। यह बात बड़े महत्त्व की थी। इसका अभिप्राय यह था कि जर्मनी अपनी पूर्वी सीमा को आगे बढ़ाने का प्रयत्न कर सकता है या वह पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया के उन प्रदेशों पर, जिनमें जर्मन लोग बड़ी संख्या में निवास करते थे, फिर से कब्जा करने का प्रयास कर सकता है। ब्रिटेन ने भी पूर्वी सीमा से सम्बन्धित धाराओं पर अपनी गारन्टी नहीं दी थी। अतः इसका अर्थ था कि पूर्वी सीमा की समस्या से उत्पन्न युद्ध में ब्रिटेन जर्मनी के खिलाफ लड़ाई शुरू करने के लिए मजबूर नहीं होगा।

इन बातों पर ध्यान रखते हुए प्रोफेसर कार का कहना है कि लोकार्नो वर्साय सन्धि और राष्ट्रसंघ विधान दोनों के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ।[2] सबसे पहले तो इस सन्धि के कारण यह धारणा बनने लगी कि वर्साय-सन्धि से उत्पन्न दायित्व यदि कानूनी दृष्टि से नहीं तो नैतिक दृष्टि से उतने बन्धनशील नहीं थे जितना स्वेच्छा से स्वीकृत दायित्व। दूसरे ब्रिटेन कुछ सीमाओं की गारन्टी देने को तैयार था; परन्तु अन्य सीमाओं की गारन्टी देने के लिए राजी नहीं हुआ था। इससे यह स्पष्ट होने लगा कि सुरक्षा की दृष्टि से सीमाएँ दो कोटि की हैं। ब्रिटेन राष्ट्रसंघ विधान के अन्तर्गत अपने समस्त दायित्व को पूरा करने के लिए सदा तैयार रहने की बात तो करता रहा, परन्तु लोकार्नो की सन्धि से यह धारणा बन गयी कि पूर्वी यूरोप में सन्धियों द्वारा निर्धारित सीमाओं की रक्षा के लिए वह युद्ध नहीं करेगा। इस प्रकार, प्रोफेसर कार के अनुसार, इस सन्धि से यूरोपीय राज्यों में यह धारणा काम करने लगी कि वर्साय-सन्धि तभी बंधनशील होगी जब कि स्वेच्छा से किये गये समझौतों द्वारा उसकी पुष्टि हो जाय। इसके साथ ही यह भी सोचा जाने लगा कि किसी भी सरकार से ऐसी सीमाओं की रक्षा के लिए सैनिक कार्यवाही करने की आशा नहीं की जा सकती, जिसका कोई सीधा हित न हो। दस वर्ष बाद सभी राज्य इसी धारणा के आधार पर काम करने लगे।

लोकार्नो सन्धि वास्तविकता से भी बहुत दूर था। प्रथमतः, सन्धि के अन्तर्गत ब्रिटेन से जर्मनी द्वारा आक्रमण किये जाने पर फ्रांस को और फ्रांस द्वारा आक्रमण किये जाने पर जर्मनी को सशस्त्र सहायता देने के वचन दिया था। ब्रिटिश गारंटी से फ्रांसीसियों और जर्मनों के मन में सुरक्षा की भावना बढ़ गयी। पर, अब प्रश्न यह था कि क्या अवसर आने पर ब्रिटेन के लिए

1. Chambers & others, *This Age of Conflict*, p. 427.

2. Carr, *International Relations Between the Two World Wars*, pp. 96-97.

अपने दायित्वों को पूरा करना सम्भव होगा। वास्तव में ब्रिटेन का यह दायित्व भ्रमात्मक एवं एकपक्षीय था; क्योंकि जर्मनी के फ्रांस पर आक्रमण करने पर ब्रिटेन की सहायक सेना, जिनकी संख्या ८०,००० थी, फ्रांस की कुछ सहायता कर सकती थी। परन्तु फ्रांस की सुसज्जित तीन लाख सेना से जर्मनी की एक लाख सेना पर, जो पूर्णतया सुसज्जित नहीं थी, आक्रमण होने की दशा में ब्रिटेन की सैनिक सहायता (८०,००० सैनिकों के साथ) का कोई विशेष अर्थ नहीं हो सकता था। ब्रिटेन ने आक्रमण की स्थिति में जर्मनी की मदद करने का वादा किया था। लेकिन, वह अपनी इस गारन्टी को शस्त्रों की सहायता से पूरा नहीं कर सकता था। इस प्रकार लोकार्नो में वास्तविकता का परित्याग कर दिया गया था।

लोकार्नो पैक्ट से गलतफहमियाँ भी कम नहीं फैली। जर्मनी के साथ प्रथम बार समानता के स्तर पर व्यवहार किया गया; लेकिन सोवियत रूस को लोकार्नो सम्मेलन में भाग लेने के लिए आमन्त्रित भी नहीं किया गया। इससे सोवियत रूस का लोकार्नो-शक्तियों पर सन्देह होना स्वाभाविक था। जर्मनी ने पूर्वी सीमा की गारन्टी नहीं दी थी। इससे उसके इस संदेह की और पुष्टि हो गयी कि पश्चिमी राज्य मिलकर उसके विनाश के लिए कोई षड्यन्त्र कर रहे हैं।

राष्ट्रसंघ के समर्थकों को भी लोकार्नो से काफी निराशा हुई। प्रादेशिक समझौता और विश्वव्यापी समझौता एक दूसरे के दुश्मन होते हैं। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, लोकार्नो-समझौता के कारण राष्ट्रसंघ पर से लोगों का विश्वास घटने लगा। यह राष्ट्रसंघ के भविष्य के लिए शुभ नहीं था।

लोकार्नो-समझौता की मुख्य कुंजी जर्मनी को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाना तथा कौंसिल में उसको स्थायी स्थान दिलाना था। सितम्बर, १९२६ में मित्रराष्ट्रों ने उसे राष्ट्रसंघ में शामिल कर लिया और कुछ दिनों के बाद उसे कौंसिल में भी एक स्थायी जगह प्राप्त हो गयी। लेकिन, राष्ट्रों की मण्डली में जर्मनी का प्रवेश सरलता से नहीं हो सका। उस समय राष्ट्रसंघ-कौंसिल में चार स्थायी सदस्य—ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान—और छह अस्थायी सदस्य थे। जब जर्मनी को कौंसिल का एक स्थायी स्थान देने का प्रस्ताव आया तब पोलैंड, स्पेन, ब्राजील और चीन-जैसे राज्य भी अपने लिए स्थायी स्थान पाने की माँग करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि कौंसिल में एक नये तरह का संकट उठ खड़ा हुआ। फ्रांस ने स्वभावतः अपने मित्र-राज्य पोलैंड की उम्मीदवारी का समर्थन किया। इस पर काफी झगड़ा हुआ और राष्ट्रसंघ के प्रति जर्मनी का अविश्वास और भी बढ़ गया। इन घटनाओं से उसको जो क्षोभ हुआ उसके फलस्वरूप उसने २४ अप्रैल, १९२६ को सोवियत-रूस के साथ एक मित्रता की संधि कर ली। अन्त में, कौंसिल की जगह को लेकर जेनेवा में जो बवण्डर उठ खड़ा हुआ था वह शान्त हो गया और जर्मनी को एक स्थायी जगह प्राप्त हो गयी।

इन सब बातों के अतिरिक्त स्ट्रेस्मेन ने लोकार्नो का अर्थ वही लगाया जो जर्मनी के हित में अच्छा हो सकता था। लोकार्नो से जर्मनी को माँस लेने का एक अच्छा मौका मिल गया। स्ट्रेस्मेन का कहना था कि अगर वह शान्ति-समझौता वास्तव में शान्ति-स्थापित करता है तो राइनलैंड से मित्रराष्ट्रों को अपनी सेना हटा लेनी चाहिए। 'लोकार्नो के वातावरण में' जर्मनी को वे सभी चीजें मिलनी चाहिए जिसपर उसका न्यायपूर्ण दावा है। जर्मनी की इस माँग को पूरा करने से

मित्रराष्ट्र इन्कार नहीं कर सके और जिस दिन लोकार्नो-सन्धि पर हस्ताक्षर हुआ उसी दिन से मित्रराष्ट्रों की सेना राइनलैंड से हटने लगी। मित्रराष्ट्रों के सयुक्त सैनिक-आयोग को भी जनवरी, १९२७ में हटा दिया गया। १९२८ में इसका परिणाम दृष्टिगोचर होने लगा। उस वर्ष से जर्मनी ने अपने सैन्य शक्ति को बढ़ाने का काम शुरू कर दिया। अन्त में उसकी शक्ति इतनी बढ़ गयी कि वह यूरोपीय शान्ति के लिए काफी खतरनाक सिद्ध हुई। लोकार्नो का वास्तविक महत्त्व इसी बात में है।

इन सब वातों के बावजूद लोकार्नो-पैक्ट ने यूरोप में शान्ति स्थापना के कार्य में महत्त्व पूर्ण योग दिया। फ्रांस और जर्मनी दोनों में इसका हर्ष के साथ स्वागत हुआ। एक अर्थ में यह कहना अधिक सत्य होगा कि प्रथम महायुद्ध का अन्त १९१९ की वर्साय-सन्धि से नहीं वरन् १९२५ को लोकार्नो-सन्धि से हुआ। युद्ध के बाद पहली बार फ्रांस और जर्मनी की आवश्यकताओं के बीच न्यायोचित और निष्पक्ष सन्तुलन स्थापित हुआ। जिस कार्य को डावस-योजना ने प्रारम्भ किया था उस कार्य को इस समझौता ने पूरा किया। इस दृष्टिकोण से ऑस्टिन चेम्बरलेन का 'युद्ध और शान्ति के वर्षों के बीच वास्तविक विभाजक रेखा' के कथन को ठीक माना जा सकता है। लेकिन, अन्य दृष्टियों से यह कथन यथार्थता से उतना ही दूर है जितना १८७८ के बर्लिन-सम्मेलन के बाद डिजरैली का कथन। खासकर फ्रांसीसी सुरक्षा के प्रश्न को लोकार्नो समझौता हल नहो कर सका। अगर फ्रांस की सुरक्षा निश्चित हो गयी होती तो वह तथाकथित पेरिस पैक्ट और अन्य सुरक्षा मार्गों के लिए फिर से प्रयास नहीं करता।

लोकार्नो पैक्ट की सफलता के पक्ष और विपक्ष में अनेक तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं और उसमें सभी तर्कों का महत्त्व है; लेकिन इसकी स्थायी देने के महत्त्व में कमी नहीं की जा सकती। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मामलों पर व्यापक और दूरस्थ प्रभाव छोड़ गया। १९५४ में हिन्द-चीन समस्या पर विचार करने के लिए जब जेनेवा में एक सम्मेलन का आयोजन हुआ तब ब्रिटिश संसद् में बोलते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री सर ईडन और भारतीय संसद् में बोलते हुए प्रधान मन्त्री नेहरू ने लोकार्नो वातावरण (Spirit of Locarno) तैयार करने की अपील की थी। १९६८ में वियतनाम-शान्ति वार्ता के समय भी लोकार्नो-भावना की याद की गयी थी। अनेक त्रुटियों के बावजूद लोकार्नो सदा के लिए राष्ट्रों के बीच 'शान्तिपूर्ण सहजीवन' (peaceful co-existence) का प्रतीक बन गया। लोकार्नो का यह स्थायी प्रभाव है।

४. पेरिस पैक्ट

पैक्ट की पृष्ठभूमि—लोकार्नो पैक्ट से फ्रांसीसी सुरक्षा के प्रश्न का वास्तविक समाधान नहीं हो सका। इसलिए सुरक्षा के अन्य साधनों की खोज पहले की तरह ही होती रही। इस संधि से फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्ध पहले की अपेक्षा बहुत अच्छे हो गये थे। दोनों देशों ने एक दूसरे की सीमाओं को स्वीकार कर लिया था और एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। पर जर्मनी की पूर्वी सीमा की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। जर्मनी ने इस सीमा की गारंटी नहीं दी थी। यदि जर्मनी अपनी पूर्वी सीमा को अनुचित समझकर पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करे तो फ्रांस का जर्मनी के साथ युद्ध में फँस जाना अवश्यम्भावी था, क्योंकि सैनिक सन्धियों के आधार पर फ्रांस को इन देशों की सहायता करनी थी। पूर्वी

सीमा से उत्पन्न किसी भी युद्ध में फ्रांस के लिए तटस्थ रह सकना असम्भव था। इसके अतिरिक्त फ्रांस और जर्मनी दोनों लोकार्नो सन्धि का भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते थे। फ्रांस समझता था कि इस संधि के द्वारा जर्मनी ने वर्साय-सन्धि को पूर्णतया स्वीकार कर लिया है। जर्मनी को आशा थी कि इस सन्धि के फलस्वरूप वर्साय-सन्धि में संशोधन किया जायगा। इन सब कारणों से लोकार्नो से फ्रांसीसी सुरक्षा की समस्या हल नहीं हो पायी। फ्रांसीसी नीति-निर्धारकों द्वारा सुरक्षा की खोज जारी रही। केलोग-ब्रियाँ पैक्ट या पेरिस-पैक्ट इसी खोज का परिणाम था।

संयुक्त राज्य अमेरिका के गैरसरकारी हलकों में कुछ समय से युद्ध को अवैध घोषित करने के लिए आन्दोलन चल रहा था। पर युद्ध का अन्त तब तक नहीं हो सकता जब तक संसार के राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को निबटाने के लिए बल प्रयोग के उपाय को सदा के लिए परित्याग नहीं कर दें। इसी भावना से प्रेरित होकर पोलैंड के प्रतिनिधि ने १६२७ में राष्ट्र-संघ-एसेम्बली के सामने युद्ध को निषिद्ध करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को निबटाने के लिए शान्तिपूर्ण साधनों को अपनाने का प्रस्ताव रखा था। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ था। इस दिशा में एक प्रभावशाली प्रयत्न पेरिस में भी हो रहा था। अप्रिल, १६२७ में फ्रांसीसी विदेश मन्त्री ब्रियाँ ने अमरीकी जनता के नाम एक सन्देश भेजा। इसमें उसने यह सुझाव दिया था कि अमेरिका के युद्ध में प्रवेश के दसवें वार्षिकोत्सव के अवसर पर फ्रांस और अमेरिका सिद्धान्ततः युद्ध को एक साधन के रूप में अस्वीकार करने का एक पारस्परिक समझौता करें। फ्रांस और अमेरिका के पारस्परिक सम्बन्ध उस समय बिल्कुल मधुर थे। उसमें आपस में किसी भी प्रश्न पर झगड़ा होने की कोई सम्भावना नहीं थी। इस दशा में इस प्रकार के समझौते का व्यावहारिक महत्त्व कुछ नहीं था। इसलिए अमरीकी विदेश सचिव केलोग ने प्रारम्भ में फ्रांसीसी प्रस्ताव का उत्तर देने में कुछ शिथिलता दिखायी। पर, इस समय अमेरिका में 'युद्ध को अवैध घोषित करो' आन्दोलन काफी जोर पकड़ रहा था। अतः छः मास बाद अमरीकी विदेश-सचिव केलोग ने सुझाव रखा कि प्रस्तावित समझौता बहुपक्षीय होना चाहिए, जिसमें विश्व के समस्त राष्ट्र शामिल हो सके और इसमें सभी "राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का प्रयोग त्याग देने"[1] की प्रतिज्ञा करें। यह सुझाव फ्रांसीसी मन्त्री को तुरत स्वीकार न हुआ। पर, अप्रिल में ब्रियाँ ने फ्रांसीसी अमरीकी पत्र-व्यवहार को जर्मनी, ब्रिटेन, इटली और जापान की सरकारों के समक्ष प्रस्तुत करना स्वीकार कर लिया।

पेरिस का समझौता :—केलोग के प्रस्ताव के अनुसार अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान, बेल्जियम, पोलैंड तथा चेकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधि २७ अगस्त, १६२७ को पेरिस में एकत्र हुए। इन नौ राज्यों ने मिलकर एक समझौता पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार उन्होंने निश्चय किया कि वे राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का प्रयोग नहीं करेंगे' और अपने झगड़ों को निबटाने के लिए युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे। यह समझौता पेरिस-पैक्ट अथवा केलोग-ब्रियाँ-पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के अनुसार हस्ताक्षरकर्ता केवल उसी हालत में अस्त्र-शस्त्र उठा सकते थे जब उनका अपनी सुरक्षा का सवाल हो। ब्रिटेन ने यह स्पष्ट कर दिया कि उसकी आत्मरक्षा के अधिकार में विश्व के कुछ ऐसे भागों की रक्षा करने का अधिकार भी सम्मिलित है 'जिनका कल्याण और अखण्डता दोनों हमारी सुरक्षा के लिए विशेष तथा महत्त्व-

1. To renounce war as an instrument of national policy.

पूर्ण हित रखते हैं।' अमेरिका के लिए आत्मरक्षा में ऐसी कोई भी कार्रवाई शामिल थी जो 'मुनरो सिद्धांत' का उल्लंघन रोकने के लिए आवश्यक हो। दूसरे शब्दों में प्रत्येक राज्य अपने कामों का एकमात्र निर्णायक था। इसलिए बहुत लोग इस समझौते को व्यावहारिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा सैद्धान्तिक घोषणा ही अधिक मानते हैं। समझौते को कार्यान्वित करने के लिए किसी प्रकार की संस्था या संगठन का निर्माण नहीं किया गया।

पेरिस-पैक्ट पर हस्ताक्षर करने के लिए अन्य राज्यों को भी निमन्त्रण दिया गया। केवल अरब के हेजाज और ओमन राज्य को शामिल होने के लिए नहीं कहा गया। कुछ सप्ताहों के भीतर तीस राज्य उसे स्वीकार करने को तैयार हो गये, जिनमें सोवियत-रूस भी एक था। १७ जनवरी, १९२९ को संयुक्त राज्य अमेरिका ने समझौते का अनुमोदन कर दिया और दो वर्षों के अन्दर पैंसठ देशों ने इस समझौते को मान लिया। केवल अर्जेन्टाइना, ब्राजील, बोलिविया और सेलवेडोर ने इस समझौते में शामिल होने से अपनी असमर्थता प्रकट की। आरम्भ में कुछ हिचकिचाहट के बाद सोवियत संघ का उत्साह इतना बढ़ गया कि उसने अपने पड़ोसियों के साथ उस तरह का समझौता करने के लिए तुरत ही कदम उठाया। उस समय (१९२८ में) राष्ट्रसंघ के कुल सदस्यों की संख्या अंठावन थी। पेरिस-पैक्ट पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों की संख्या राष्ट्रसंघ के सदस्यों से भी अधिक थी।

समझौते का मूल्यांकन :—पेरिस समझौता इतिहास की एक अपूर्व घटना थी और नैतिक दृष्टि से इसने एक नवीन युग की सृष्टि की। इतिहास में यह पहला राजनीतिक समझौता था, जिसमें इतनी बड़ी संख्या में संसार के विभिन्न राज्य सम्मिलित हुए थे। कुछ समय के लिए इस पैक्ट से संसार में नयी आशा का संचार हुआ। लोग समझने लगे कि अब युद्धों का अन्त होकर शान्ति का युग आ गया है।[1] युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय अपराध घोषित कर दिया था। इसके अतिरिक्त पेरिस-पैक्ट केवल युद्ध को बहिष्कार करने का संकल्प मात्र ही नहीं था अपितु वह एक ऐसा निर्णय था, जिसके अनुसार राष्ट्रसंघ के बाहर के राज्य प्रत्यक्ष रूप से शान्ति के सामूहिक संगठन में भाग ले सकते थे। इन्हीं कारणों से पेरिस पैक्ट का सारे संसार में उत्साह-पूर्ण स्वागत हुआ। इस कारण उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा कि पेरिस-पैक्ट राष्ट्रसंघ के लिए चुनौती है। राष्ट्रसंघ के विधान में युद्ध का पूर्णतया बहिष्कार नहीं किया गया था। खास-खास अवस्था में युद्ध किया जा सकता था। लेकिन, पेरिस-पैक्ट के अनुसार सभी प्रकार के युद्ध अवैध घोषित कर दिये गये थे। इसलिए पेरिस-पैक्ट के सामने राष्ट्रसंघ का विधान महत्त्वहीन पड़ जाता था। पर वास्तविकता कुछ दूसरी ही थी। प्रोफेसर कार के अनुसार पेरिस समझौता एक नैतिक घोषणा थी और राष्ट्रसंघ का विधान एक राजनीतिक सन्धि। पेरिस समझौते के द्वारा सभी प्रकार के युद्धों की निन्दा की गयी थी, पर यदि कोई राज्य युद्ध शुरू करे तो उसको रोकने के लिए इसके द्वारा कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। राष्ट्रसंघ में कुछ युद्धों का आश्रय लेने की अनुमति थी और कुछ युद्धों का उसमें निषेध था। इसके विधान ने युद्ध का सर्वथा बहिष्कार बेशक नहीं किया था, पर इसमें इस बात की व्यवस्था अवश्य विद्यमान थी कि युद्ध शुरू करने वाले राज्य के खिलाफ कार्रवाई की जा सके। निषिद्ध युद्धों के लिए दण्ड देने की व्यवस्था इसमें मौजूद थी। इस

1. Gathorne Hardy, op. cit., pp. 183–184.

दृष्टिकोण से पेरिस-पैक्ट में बहुत बड़ी-बड़ी त्रुटियाँ थीं। लेकिन, इसके बावजूद यह राष्ट्रसंघ के सदस्यों को प्रेरणा देता रहा।[1]

१६२६ में कुछ राज्यों ने यह प्रयत्न किया कि पेरिस-पैक्ट के निर्णयों के अनुसार राष्ट्रसंघ के विधान में संशोधन किया जाय और युद्ध का सर्वथा वहिष्कार करते हुए लड़ाई करनेवाले राज्यों को दण्ड देने की व्यवस्था की जाय। इस वर्ष ब्रिटिश-प्रतिनिधिमण्डल ने राष्ट्रसंघ के सम्मुख इस आशय का एक प्रस्ताव भी उपस्थित किया। फ्रांसीसी प्रतिनिधिमण्डल ने इसका हार्दिक स्वागत किया क्योंकि इसमें उसको अपनी सुरक्षा का शुभ चिह्न दिखाई पड़ता था। प्रस्ताव पर उस समय मत लिया जाता तो यह सम्भव था कि वह बहुमत द्वारा स्वीकृत हो जाता। लेकिन, अनुमोदन के समय शायद उसकी वही दुर्गति होती जो जेनेवा प्रोटोकोल की हुई थी। अतः दूरदर्शिता के साथ यह निश्चित किया गया कि इस प्रश्न को दूसरे अधिवेशन तक स्वागत कर दिया जाय। इसके बाद आर्थिक संकट का युग आया और ब्रिटेन में सरकार भी बदल गयी। अतएव यह प्रस्ताव ज्यों-का-त्यों पड़ा रह गया।

सभी युद्धों को निषिद्ध कर देने से पेरिस-पैक्ट का एक दूसरा नतीजा यह हुआ कि जिन राष्ट्रों ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे वे बिना युद्ध-घोषणा किये ही युद्ध लड़ने लगे। उदाहरण के लिए १६३१ में जापान ने बिना घोषणा किये ही चीन के साथ युद्ध जारी कर दिया। इस तरह १६३० के बाद 'अघोषित युद्ध' (undeclared war) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक दुर्भाग्यपूर्ण सिद्धान्त बन गया।

इन सब बातों को देखकर यह कहा जा सकता है कि पेरिस-पैक्ट एक पवित्र घोषणा या संकल्प मात्र था जिसका व्यावहारिक मूल्य कुछ भी नहीं था। संकल्प से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल नहीं किया जा सकता और इसीलिए पेरिस-पैक्ट के बावजूद दुनिया में युद्ध होते रहे। आश्चर्य का विषय तो यह है कि यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस पैक्ट का अनुमोदन किया था, फिर भी उसने एक विशेष बिल पास करके अमेरीकी नौ शक्ति को दुगुना कर दिया। जर्मनी, इटली और जापान-जैसे राज्य पेरिस-पैक्ट के शुभ संकल्पों पर निर्भर रहने की अपेक्षा सैनिक सन्धियों और तैयारियों को अधिक महत्त्व देने लगे। यही हाल फ्रांस और उसके साथी राज्यों का भी था। सुरक्षा और चिरशान्ति केवल शुभेक्षा और कल्पना की बात रह गयी थी।

५. निरस्त्रीकरण की समस्या

राष्ट्रों के बीच जब तक हथियारबन्दी की होड़ चलती रहेगी तब तक शान्ति और सुरक्षा की कल्पना करना एकदम व्यर्थ है। वस्तुतः निरस्त्रीकरण का प्रश्न विश्व-शान्ति की समस्या से कोई भिन्न प्रश्न नहीं है, वरन् दोनों एक प्रकार से एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है।

निरस्त्रीकरण मनुष्य-मात्र का एक प्राचीन स्वप्न है। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व 'सैन्य शान्ति' के युग में निरस्त्रीकरण के लिए अनेक प्रयास किये गये थे; लेकिन किसी में कोई विशेष सफलता नहीं मिली थी। प्रथम विश्व युद्ध इस असफलता का एक परिणाम था। इसलिए हथियारबन्दी की होड़ उस युद्ध का एक प्रमुख कारण माना जाता है। युद्ध के समय संसार के राजनीतिज्ञों ने इस तथ्य को महसूस किया और शान्ति के विविध प्रस्तावों में हथियारबन्दी की होड़ रोकने की

1. Carr, op. cit. p. 119.

चर्चा कर दी गयी। विल्सन के 'चौदह सूत्रों' के चौथे सूत्र में यह बात कही गयी थी कि 'इस बात की पर्याप्त गारन्टी होनी चाहिए कि राष्ट्रीय सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रों के शस्त्रास्त्र कम-से-कम दिये जायँ।' राष्ट्रसंघ के विधान की आठवीं धारा द्वारा राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने यह स्वीकार किया था कि 'राष्ट्रीय सुरक्षा का ध्यान रखते हुए किसी भी राष्ट्र के शस्त्रास्त्रों में निम्नतम सीमा निर्धारित करना शान्ति बनाये रखने के लिए आवश्यक है।' वर्साय-सन्धि और अन्य संधियों के द्वारा भी पराजित राज्यों के शस्त्रास्त्रों पर नियंत्रण कर दिया गया। मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को यह वचन दिया था कि जर्मनी का निरस्त्रीकरण की दिशा में यह पहला कदम है। परास्त राज्यों को सेनाओं को कम करने का प्रयोजन यह बतलाया गया कि अन्य राज्य भी अपनी सेनाएँ कम कर देंगे। जब जर्मनी और उनके साथियों की तरफ से लड़ाई का खतरा कम हो जायगा तो फ्रांस, ब्रिटेन, पोलैंड आदि के लिए भी यह सम्भव हो जायगा कि वे अपनी सेनाओं में कमी कर सकें। पर जहाँ एक तरफ मित्रराष्ट्रों से जर्मनी को यह वचन दिया था कि जर्मनी को निरस्त्र कर दिये जाने के बाद व्यापक निरस्त्रीकरण किया जायगा वहाँ साथ ही साथ 'राष्ट्रीय सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए' का उपबन्ध भी जोड़ दिया गया था। इसका अर्थ था मित्रराष्ट्र अपनी सुरक्षा का ख्याल करते हुए अपना निरस्त्रीकरण करेंगे। ये दोनों बातें कुछ परस्पर विरोधी थीं और इन विरोधी सिद्धान्तों के बीच परस्पर संघर्ष ही निरस्त्रीकरण की समस्या है।

युद्ध के बाद प्रश्न यह था कि व्यापक निरस्त्रीकरण की दशा में किस तरह कदम उठाया जाय। सब राज्य समझते थे कि उनकी सेना राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अनिवार्य है, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती है। सेनाएँ या हथियारबन्दी की होड़ शान्ति के लिए बेशक खतरनाक है; पर उनका अभाव या कमी राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से और भी अधिक खतरनाक है। निरस्त्रीकरण के विरुद्ध इस तरह के तर्क बराबर उपस्थित किये जाते थे। इसके बावजूद करीब पन्द्रह वर्षों (१९१९ से १९३३) तक संसार के बड़े बड़े राजनीतिज्ञ इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रयास करते रहे। दो विश्व-युद्धों के बीच का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का इतिहास इन प्रयासों की असफलता की एक दुःखद कहानी है।

प्रारम्भिक प्रयास :—युद्ध के समाप्त होने के तुरन्त बाद निरस्त्रीकरण के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार हो गया था। संसार के लोग युद्ध की विभीषिका से तबाह हो गये थे। उनकी उत्कट इच्छा थी कि युद्ध के कारणों को दूर करके सदा के लिए युद्ध का अन्त हो जाय। राष्ट्रसंघ की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक नवयुग का सूत्रपात हुआ था। इस पृष्ठाधार में शस्त्रास्त्रों में सन्तोषजनक पाबन्दी लगाने का यह एक बहुत अच्छा अवसर था। ऐसी स्थिति में लायड जार्ज ने यह प्रस्ताव रखा कि "राष्ट्रसंघ-विधान पर हस्ताक्षर हो जाने के पूर्व प्रमुख शक्तियों के बीच उनके शस्त्रास्त्रों की मात्रा सीमित करने के बारे में समझौता हो जाना चाहिए। राष्ट्रसंघ की सफलता की पहली शर्त यह है कि बड़े राज्यों के बीच एक पक्का समझौता हो जाय कि वे सैनिक क्षेत्रों में एक दूसरे से होड़ नहीं करेंगे। यदि राष्ट्रसंघ-विधान पर हस्ताक्षर होने के पूर्व यह समझौता न हुआ तो राष्ट्रसंघ एक विडम्बनामात्र होगा। इससे यह बात प्रमाणित हो जायगी कि राष्ट्रसंघ के प्रमुख प्रवर्तकों को उनके प्रभाव में कोई विश्वास

नहीं है। पर यदि राष्ट्रसंघ के प्रमुख सदस्य अपनी शस्त्रास्त्रों पर पाबन्दी लगा दें तो यूरोप के सभी छोटे-छोटे राज्य भी अपनी सैनिक शक्ति का सीमित रखेंगे।"

पर इस अनुकूल अवसर से लाभ नहीं उठाया गया और बड़े राज्यों ने इस स्वर्ण अवसर को यों ही खो दिया। राष्ट्रसंघ-विधान की आठवीं धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ-कौंसिल को यह आदेश था कि वह 'विभिन्न सरकारों द्वारा विचार-विमर्श और कार्रवाई' के लिए शस्त्रास्त्रों में कमी-सम्बन्धी योजनाएँ बनाएँ। मई, १९२० में, राष्ट्रसंघ-विधान की नवीं धारा के अनुसार एक स्थायी सलाहकार-आयोग (Permanent Advisory Commission) को संगठित किया गया। इस आयोग में सैनिक, नौ-सैनिक और वायु-सैनिक विशेषज्ञ थे। इसके सात महीने बाद नवम्बर, १९२० में कौंसिल ने एक अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) की स्थापना की, जिसमें नागरिकों और सेना दोनों ही के प्रतिनिधि थे। १९२२ में अस्थायी मिश्रित आयोग के ब्रिटिश प्रतिनिधि लार्ड एशर ने एक योजना प्रस्तुत की जिसमें प्रत्येक राज्य की सेना के लिए एक निश्चित संख्या निश्चित की गयी थी।

वाशिंगटन-सम्मेलन (१९२१-२२) :—निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में पहली सफलता वाशिंगटन सम्मेलन में मिली। नाविक क्षेत्रों में शस्त्रास्त्रों की कमी करने का यह प्रथम प्रयास था। नौ-सेना को सीमित करने का प्रस्ताव राष्ट्रसंघ की ओर से नहीं वरन् संयुक्त राज्य अमेरिका से हुआ। महायुद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका सामुद्रिक जहाज बनाने की दौड़ में भाग लेना चाहता था। परन्तु, नाविक स्पर्द्धा काफी खर्चीली थी। अतः बुद्धिमानी इसी बात में थी कि नाविक शक्तियाँ आपस में समझौता करके अपनी-अपनी नौ-सेना को मर्यादित कर लें। इसके साथ ही अमरीकी सरकार को यह दिखाना चाहती थी कि यद्यपि अमेरिका राष्ट्रसंघ में सम्मिलित नहीं हो सका, तो भी संसार में शान्ति बनाये रखने के लिए वह उत्सुक है। अतः राष्ट्रपति हार्डिन्ज के आमन्त्रण पर १९२१-२२ में वाशिंगटन में नाविक शक्तियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें भाग लेनेवाले देश अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान थे। यह सम्मेलन नाविक निरस्त्रीकरण के अतिरिक्त प्रशान्त महासागर तथा पूर्वी एशिया-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर भी विचार करने के लिए आयोजित किया गया था। अतः इसमें चीन, हॉलैंड, बेल्जियम तथा पोर्तुगाल भी आमन्त्रित किये गये थे।

वाशिंगटन सम्मेलन को जितनी सफलता मिली उतनी सफलता किसी दूसरे निरस्त्रीकरण-सम्मेलन को नहीं मिली थी। इस सम्मेलन की सफलता का रहस्य यह था कि इसमें भाग लेनेवाले देशों को नाविक स्पर्द्धा को जारी रखकर किसी राजनीतिक उद्देश्य को पूरा करना नहीं था। सभी नौ-सेना के तत्कालीन स्तर को कायम रखते हुए अपनी राजनीतिक और आर्थिक संतुलन को बनाये रखना चाहते थे। अगर नौ-सेना के स्तर में यथास्थित बनी रहे तो सबके हक में अच्छा हो सकता था। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए अमरीकी विदेश-सचिव चार्ल्स इवनहयूग ने प्रस्ताव रखा कि अमेरिका अपनी नौ-सेना में वृद्धि को रोकने के लिए तैयार है यदि ब्रिटेन और जापान भी इस काम में उसका साथ दें। वह अमेरिका की तरफ के नाविक-शक्ति में यथास्थिति (Status quo) बनाये रखने का समर्थक था।

सम्मेलन में जंगी जहाजों की संख्या को नियन्त्रित करने के प्रश्न पर विचार हुआ। अंत में यह निर्णय किया गया कि अगले दस साल तक विविध राज्यों के जंगी जहाजों में यह अनुपात कायम रखा जाय : अमेरिका ५, ब्रिटेन ५, जापान ३, फ्रांस १·६७, और इटली १·६७। छोटे जहाजों के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो सका। अमेरिका चाहता था कि इस तरह का कोई फैसला छोटे जंगी जहाजों के सम्बन्ध में भी हो जाय। पर ब्रिटेन ने इसका विरोध किया। उसका कहना था कि सारे संसार में फैले हुए विशाल ब्रिटिश-साम्राज्य की रक्षा के लिए छोटे जंगी जहाजों के निर्माण में किसी भी प्रकार के नियन्त्रण को स्वीकार करना उसके लिए सम्भव नहीं है। वह पनडुब्बियों के प्रयोग को बन्द करना चाहता था। फ्रांस इससे सहमत नहीं था। अतः इस बात पर अधिक दबाव नहीं डाला गया था।

वाशिंगटन-सम्मेलन से यह लाभ अवश्य हुआ कि नौ-सेना में वृद्धि करने की जो होड़ चल रही थी वह कम-से-कम दस साल तक रुक गयी। बड़े जहाजों पर होनेवाले भारी खर्च को दस साल के लिए रोक दिया गया। अन्य प्रकार के जहाजों के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं होने का अर्थ यह था उनके सम्बन्ध में प्रतिस्पर्द्धा चलती रही जिससे सुरक्षा की भावना बढ़ने का अपेक्षा कम हो गयी। ब्रिटेन छोटा-छोटा जंगी जहाज बनाता रहा। अन्य राज्यों को उससे यह सख्त शिकायत थी। उधर ब्रिटेन की शिकायत थी कि फ्रांस सैनिक जहाज बनाने की ओर कदम उठा रहा है। इसके अतिरिक्त वाशिंगटन-समझौते में दो और कठिनाइयाँ थीं। वाशिंगटन-सम्मेलन में फ्रांस और इटली की नाविक शक्ति में समानता स्वीकार कर ली गयी थी। परन्तु, फ्रांस को इस निर्णय से आपत्ति थी। उनका कहना था कि इटली को तो केवल भूमध्य-सागर में अपनी रक्षा करनी है; परन्तु स्वय फ्रांस को भूमध्यसागर के अतिरिक्त उत्तरी सागर तथा अटलांटिक महासागर के तट की भी रक्षा करनी है। इस कारण फ्रांस की मांग थी कि उनकी नाविक शक्ति इटली की शक्ति से अधिक हो। इस विषय पर भी कोई समझौता नहीं हो सका।

दूसरी कठिनाई जापान के सम्बन्ध में थी। उसने अमेरिका और ब्रिटेन के दबाव के कारण अपने जहाजों में कमी स्वीकार कर ली थी। इसके अतिरिक्त उसे चीन को भी अधिक राजनीतिक सुविधाएँ देनी पड़ी। उदाहरण के लिए शांतुंग प्रायद्वीप को जापान ने चीन को लौटा देने का वचन दिया। जापान को अपनी महत्त्वाकांक्षाओं पर अंकुश लगाने के लिए बाध्य होना पड़ा था। प्रोफेसर कार के अनुसार जापान इसमें अपनी प्रतिष्ठा की हानि समझता था और आगे चलकर इस समझौते को भंग करने का प्रयत्न करना उसके लिए स्वाभाविक था।

राष्ट्रसंघ के प्रयास :—वाशिंगटन-सम्मेलन राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में नहीं हुआ था। अभी तक राष्ट्रसंघ-विधान की आठवीं धारा ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई थी और उसके सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ कदम उठाना आवश्यक था। इस क्षेत्र में राष्ट्रसंघ के सामने अनेक कठिनाइयाँ थी। सबसे बड़ी अड़चन फ्रांस की तरफ से थी। फ्रांस का कहना था कि जब तक राष्ट्रीय सुरक्षा की पर्याप्त गारंटी नहीं मिल जाती तब तक निरस्त्रीकरण का वार्तालाप बेकार है। १९२२ में अस्थायी मिश्रित आयोग के ब्रिटिश प्रतिनिधि लार्ड एशर ने सुझाव रखा कि विभिन्न देशो में अनुपात के अनुसार सेना होनी चाहिए। यह सुझाव कुछ प्राविधिक कारणवश बाद में रद्द कर

दिया गया। इसी बीच आयोग ने विभिन्न देशों के शस्त्रीकरण सम्बन्धी आँकड़े प्राप्त किये तथा सैनिक बजट और राष्ट्रीय सुरक्षा-सम्बन्धी आवश्यक सूचनाएँ इकट्ठी कीं। आयोग की उक्त रिपोर्ट पर राष्ट्रसंघ एसेम्बली ने शस्त्रीकरण-सम्बन्धी व्यय पर नियंत्रण लगाने की सिफारिश की। इस साल आयोग के एक सदस्य लार्ड रावर्ट सेसिल ने आयोग के सामने निरस्त्रीकरण के लिए चार प्रस्ताव प्रस्तुत किये, जिन्हें आयोग ने निम्न रूप में स्वीकार कर लिया : (१) शस्त्रास्त्रों में कमी का प्रस्ताव तभी सफल हो सकता है जब इसको व्यापक रूप दिया जाय। (२) यह कमी सुरक्षा की सन्तोषजनक गारंटी पर निर्भर है। (३) यह गारंटी व्यापक होनी चाहिए अर्थात् सबकी ओर से हो (४) यह गारंटी तभी निश्चित मानी जायगी जब सभी सदस्य-राष्ट्र अपने यहाँ शस्त्रीकरण में कमी करने का निश्चित वचन दें। इस प्रस्ताव पर एसेम्बली में काफी वाद-विवाद चला। इस वाद-विवाद का परिणाम निरस्त्रीकरण नहीं हुआ; वल्कि आयोग को एक पारस्परिक सुरक्षा-सन्धि का मसविदा तैयार करने को कहा गया जो पीछे चलकर जेनेवा-प्रोटोकोल व रूप मे आया। इस सम्पूर्ण अवधि में निरस्त्रीकरण की दशा में दो बातों को छोड़कर कोई विशेष प्रगति नहीं हुई : एक तो वाशिंगटन-समझौते के आधार पर छोटे-छोटे राष्ट्रों की नाविक शक्ति को सीमित करने का असफल प्रयास और दूसरे, शस्त्रों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर नियन्त्रण करने के लिए एक समझौता। पर इस समझौते पर कभी भी अमल नहीं किया गया। युद्ध में गैसों के प्रयोग को रोकने के लिए भी एक समझौता हुआ था और इटली को लगाकर पचीस राज्य इस समझौते में सम्मिलित थे। एक शताब्दी के अन्दर ही अबीसीनिया में इस समझौते का उल्लंघन भी हो गया।

लोकार्नो-सन्धियों पर हस्ताक्षर होने के बाद निरस्त्रीकरण की आशा पुनः बढ़ गयी। जर्मन आक्रमण से फ्रांसीसी सुरक्षा की मांग इस समय प्रभावशाली रूप से पूरी कर दी गयी थी और लोकार्नो के हस्ताक्षरकर्त्ताओं ने अपने-आपको इस बात के लिए वचनबद्ध किया था कि इन समझौते के परिणामस्वरूप राष्ट्रसंघ विधान की आठवीं धारा की दशा में वे प्रभावशाली कदम उठायेंगे। दिसम्बर, १९२५ में कौंसिल ने एक निरस्त्रीकरण-सम्मेलन प्रारम्भिक आयोग (Preparatory Commission for the Disarmament Conference) की नियुक्ति की। जर्मनी, अमेरिका और सोवियत-संघ सबों से इस आयोग के सदस्य बनने का अनुरोध किया गया था। प्रथम दोनों देशों ने तुरत ही और सोवियत-संघ ने अगले वर्ष यह आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। आयोग का काम निरस्त्रीकरण-समस्या का अध्ययन और सिफारिश का मसविदा तैयार करना था, ताकि उस मसविदे पर एक अन्तर्राष्ट्रीय निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में विचार हो सके। आयोग को नाविक निरस्त्रीकरण की समस्या पर विचार करने के लिए नहीं कहा गया था; क्योंकि इस पर संसार की नाविक शक्तियों ने अपनी ओर से पहले ही विचार शुरू कर दिया था। इस आयोग की पहली बैठक मई, १९२६ में हुई। इसके कार्यों पर हम आगे के पृष्ठों पर विचार करेंगे।

जेनेवा-सम्मेलन – १९२१-२२ के वाशिंगटन नौ-सेना सम्मेलन में छोटे जंगी जहाजों के सम्बन्ध से कोई फैसला नहीं हो सकता था। इन जहाजों के उत्पादन को मर्यादित करने के लिए ब्रिटेन तैयार नहीं था। १० फरवरी, १९२७ को अमरीकी राष्ट्रपति काल्विन कुलिज ने लड़ाकू विध्वंसक जहाज तथा पण्डुब्बियों का निर्माण सीमित करने के लिए 'वाशिंगटन शक्तियों (अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली तथा जापान) को एक सम्मेलन के लिए आमन्त्रित -

ब्रिटेन और जापान ने अमरीकी प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया; किन्तु फ्रांस और इटली ने अस्वीकार कर दिया। अतः उनकी अनुपस्थिति में अमेरिका ब्रिटेन तथा जापान को मिलाकर २० जून, १९२७ को जेनेवा में दूसरा नौ-सेना सम्मेलन आरम्भ हुआ। इस सम्मेलन में तीनों देशों के वही प्रतिनिधि भाग ले रहे थे, जो निरस्त्रीकरण-सम्मेलन-प्रारम्भिक आयोग में अपने-अपने देश का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। लेकिन, जेनेवा-सम्मेलन में प्रतिनिधिमण्डलों में उन्ही प्रतिनिधियों की प्रमुखता थी, जो नौ-सेना के अफसर थे। स्वभावतः ये अफसर वैसा कोई काम करना नहीं चाहते थे जिसके परिणामस्वरूप उनके पेशे का ही अन्त हो जाय।

सम्मेलन की कार्यवाही को देखने से ऐसा प्रतीत होता था कि इसमें भाग लेने वाले देश पहले से ही इसको असफल बनाने के लिए तैयार बैठे थे। एक तो सम्मेलन बुलाने के पहले कोई कूटनीतिक तैयारी नहीं की गई थी। अमरीकी प्रतिनिधि-मंडल ने यह प्रस्ताव रखा कि वाशिंगटन-अनुपात को छोटे-छोटे जंगी जहाजों पर भी लागू किया जाय। अमेरिका ने सुझाव रखा कि ब्रिटेन और अमेरिका चार-चार लाख टन के युद्धपोत रखें, जिसमें पचीस बड़े जहाज और बीस छोटे जहाज हों। पर ब्रिटेन का विचार था कि उसके सुविशाल साम्राज्य की विशेष परिस्थिति के कारण उसके लिए ऐसा करना सम्भव नहीं होगा। उसका कहना था कि सत्तर युद्धपोत से कम से उसका काम नहीं चल सकता; क्योंकि उसको समस्त विश्व से रसद मंगानी पड़ती है। ब्रिटेन और अमेरिका में परस्पर इतना मतभेद पैदा हुआ है कि सम्मेलन बिल्कुल भंग हो गया। सम्मेलन की समाप्ति पर यह स्वीकार कर लिया गया कि सम्मेलन असफल रहा है। निरस्त्रीकरण की दिशा में यह प्रथम पराजय थी।

जेनेवा-सम्मेलन की असफलता के कई कारण थे। ब्रिटेन छोटे जहाजों को अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक समझाता था। सम्मेलन अधिवेशन के दिनों में ब्रिटिश-मंत्रिमण्डल से एक ऐसी विचारधारा प्रबल हो रही थी जो गणितीय समता के सिद्धान्त को किसी भी अंश में मानने की मूलतः विरोधी थी। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने का अर्थ व्यावहारिक रूप से अमेरिका की प्रधानता स्वीकार कर लेना समझा जाता था। समाचार-पत्रों द्वारा फैलाई गयी कुछ गलतफहमियों के कारण भी सम्मेलन असफल रहा। ब्रिटेन के लोगो की यह धारणा हो गयी थी कि अमेरिका के अस्त्रशस्त्र से सम्बन्धित पूँजीपति-वर्ग और निहित स्वार्थ (vested interest) जेनेवा सम्मेलन को असफल बनाने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं। वास्तव में दो साल बाद यह भेद खुला कि विलियम सियरर नामक एक व्यक्ति को इन पूँजीपतियो ने जेनेवा में रख छोड़ा था, जिसका मुख्य काम इस सम्मेलन को किसी तरह असफल बनाना था। ४ अगस्त, १९२७ को सम्मेलन भंग हो गया।

जेनेवा-सम्मेलन की असफलता की काली छाया तो राष्ट्रसंघ पर पड़ी ही; किन्तु इससे आँग्ल-अमरीकी सम्बन्ध भी खराब हो गया। ब्रिटेन में आँग्ल जापानी सन्धि को पुनः दुहराने की बात चलने लगी। अमेरिकावाले इस निष्कर्ष पर पहुँचने लगे कि अमेरिका को अपनी नौ-सेना में इतनी वृद्धि करनी चाहिए जिससे अन्य राष्ट्र डरकर अपनी नाविक शक्ति सीमित करने के लिए बाध्य हो। अतः फरवरी, १९२९ में अमरीकी काँग्रेस ने नौसैनिक निर्माण-विधेयक को स्वीकृत कर जहाजों के निर्माण में वृद्धि का आदेश दे दिया।

लन्दन-सम्मेलन :—जेनेवा-सम्मेलन की असफलता से ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका का सम्बन्ध काफी खराब हो चुका था। पर १६२६ में राजनीतिक वातावरण कुछ सुधरने लगा। उस वर्ष हर्बर्ट हुवर अमेरिका का राष्ट्रपति चुना गया। इसके तीन महीने बाद मेकडानल्ड के नेतृत्व में ब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार बनी। उधर पेरिस-पैक्ट हो चुका था। इससे दुनिया के लोगों में कुछ आशा बँधी। इसी समय सारा संसार आर्थिक संकट से घिरा हुआ था। ऐसी स्थिति में हथियार-बन्दी की होड़ एक भारी बोझ प्रतीत होती थी। आँग्ल-अमरीकी सम्बन्ध बिगड़ जाने से कनाडा में काफी बेचैनी थी। कनाडा की डोमीनियन-सरकार इस बात पर दबाव डालती रही कि ब्रिटेन और अमेरिका नौ-सेना के प्रश्न पर मेलमिलाप कर लें। १६२९ को शरद् में मेकडानल्ड ने अमेरिका की यात्रा की। इस यात्रा के परिणाम-स्वरूप अमेरिका और ब्रिटेन में समझौता होने की आशा बढ़ी। यह निश्चय किया गया कि जनवरी, १६३० में लन्दन में एक नौ-सैनिक सम्मेलन का आयोजन किया जाय जिसमें 'वाशिंगटन शक्तियाँ' शामिल हों। इस बार फ्रांस और इटली ने भी आमन्त्रण को स्वीकार कर लिया, यद्यपि इससे समस्या का समाधान और भी जटिल हो गया।

जनवरी, १६३० में लन्दन-सम्मेलन शुरू हुआ। इस समय निरस्त्रीकरण के लिए वातावरण काफी अनुकूल था। केलौग-पैक्ट स्वीकार होने के बाद संसार के राजनीतिक सम्बन्धों में सुधार हो गया था। ब्रिटेन ने क्रूजरों की अपनी आवश्यकता सत्तर से घटाकर पचास कर दी थी। पर जो काम पहले ब्रिटेन ने किया था वह काम अब फ्रांस ने करना शुरू किया। वह प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन से लाभ उठाना चाहता था। यहाँ भी उसने अपनी सुरक्षा की समस्या सामने रखी। जबतक उसकी सुरक्षा की पर्याप्त गारंटी नहीं मिल जाती तबतक वह निरस्त्रीकरण की दिशा में कोई कदम उठाने को तैयार नहीं था। उसके प्रतिनिधियों ने इस बात पर जोर दिया कि औपनिवेशिक प्रदेशों के कारण यह आवश्यक है कि फ्रांस क्रूजरों का एक बड़ा बेड़ा रखे। उन्होंने वाशिंगटन-अनुपात को अन्य जहाजों पर लागू करने तथा इटली का यह दावा कि इस मामले में उसे फ्रांस के बराबर माना जाय, दोनों बातों को अस्वीकार कर दिया। सम्मेलन में जापान ने पहली बार वाशिंगटन-सन्धियों द्वारा उस पर लादी गयी असमानताओं के प्रति विरोध व्यक्त किया और सभी प्रकार के जहाजों के मामले में ब्रिटेन तथा अमेरिका के साथ समानता का दावा किया। इटली ने फ्रांस के साथ समानता की माँग की। ऐसी स्थिति,में किसी निर्णय पर पहुँचना काफी कठिन था। फिर भी तीन मास की लगातार बहस के बाद २२ अप्रिल, १९३० को पाँचों राष्ट्रों के बीच एक सन्धि हुई। पीछे चलकर फ्रांस इस सन्धि से अलग हो गया। इस कारण यह समझौता ब्रिटेन, अमेरिका और जापान तक ही सीमित रहा।

लन्दन-सन्धि के दो भाग थे। प्रथम भाग में १९२२ की वाशिंगटन-सन्धि द्वारा निर्धारित जहाजों के अनुपात-सम्बन्धी समझौतों का उल्लेख किया गया था। पाँचों राष्ट्र इस बात पर सहमत हो गये कि वाशिंगटन-सन्धि की अवधि में पाँच साल की और वृद्धि कर दी जाय। इस तरह १६२२ का समझौता, जो दस साल के लिए किया गया था, उसकी मियाद १६३७ तक बढ़ा दी गयी। दूसरा भाग जिसपर केवल ब्रिटेन, अमेरिका और जापान ने हस्ताक्षर किये थे उसमें उक्त देशों के युद्धपोतों की संख्या में क्रमशः ५, ५, ३ का अनुपात निश्चित किया गया।

ब्रिटेन के छोटे जंगी जहाज अमेरिका के मुकाबले में जिस हद तक अधिक हों उसी हद तक अमेरिका अपने बडे जंगी जहाज ब्रिटेन के मुकाबले में अधिक रख सके। सन्धि की एक धारा में कहा गया था कि राष्ट्रीय सुरक्षा के खतरे में पड़ने की स्थिति में उक्त राष्ट्र आवश्यक सूचना देकर अपनी युद्धपोतों की संख्या में वृद्धि कर सकेंगे। १ जनवरी, १९३१ को सन्धि लागू कर दी गयी।

लन्दन-सम्मेलन के निर्णयों से जापान काफी असन्तुष्ट था। यों तो तीनों देशों में सन्धि की काफी आलोचना हुई, लेकिन इसकी जितनी आलोचना जापान में हुई उतनी किसी अन्य देश में नही। जापानी प्रधान नौ-सैनिक कार्यालय के एक अफसर ने लन्दन-सन्धि के विरोध में आत्महत्या कर ली और नौ-सेना-मन्त्री के, जिसने संधि पर हस्ताक्षर किये थे, लौटने पर एक कटार भेंट की गयी, जो इस बात का संकेत था कि वह भी यही मार्ग अपनाये। लन्दन-सम्मेलन में जापान ने यह माँग की थी कि उसे अपनी नौ-सेना को ब्रिटेन और अमेरिका के बराबर करने का अधिकार दिया जाय। पर अन्य राज्य इसके लिए तैयार नहीं थे। अन्त में जापान की माँग को आँशिक रूप में पूरा करने के लिए यह तय किया गया कि यदि कोई राज्य अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि में रखते हुए नौ-सेना में वृद्धि करना चाहे तो उसको यह करने का अधिकार है। इसका मतलब यह था कि राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर प्रत्येक राज्य अपनी नौ-सेना को मनमानी तरीके से बढ़ा सकता था। जापान इस उपबन्ध को पाकर भी खुश नहीं हुआ। १६३४ में उसने अमेरिका को सूचित कर दिया कि या तो उसे अमेरिका और ब्रिटेन की तुलना में समान नौ-सैनिक सुविधा दी जाय, अन्यथा वह अपने को इस सम्बन्ध में किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अधीन नहीं समझेगा। अमेरिका और ब्रिटेन इस बात को मानने के लिए राजी नही हुए और १९३७ में जापान ने इस मामले में पूर्ण स्वतन्त्रता ग्रहण कर ली। इसके बाद भी विभिन्न राज्यो में कुछ बातचीत चलती रही; परन्तु अब उसका कोई महत्त्व नही रहा।

१८ जून, १६३५ को ब्रिटेन और जर्मनी ने एक नौ-सैनिक सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि के अनुसार जर्मनी को ब्रिटिश-नौ-सैनिक शक्ति के पैंतीस प्रतिशत के बराबर नौ-सेना रखने का अधिकार दिया गया। इस तरह वर्साय-सन्धि द्वारा जर्मनी पर लादा गया नौ-सेना-सम्बन्धी प्रतिबन्ध उठा दिया गया। २५ मार्च, १९३६ को फ्रांस, अमेरिका और ब्रिटेन के बीच एक नयी नौ-सैनिक सन्धि हुई। इसका कोई विशेष महत्त्व नही था। सब यथेष्ट रूप से अपने जंगी जहाजो को बढ़ाने में लग गये। इस सम्बन्ध में उनमें एक प्रतिस्पर्धा सी उत्पन्न हो गयी। १६३९ के बाद सभी नाविक शक्तियाँ अपनी राष्ट्रीय आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा जगी जहाजों के निर्माण में खर्च करने लगीं। इस समय तक प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा को इतना महत्त्व देने लग गया था कि वह सामान्य कल्याण के विचार से किसी प्रकार की मर्यादाएँ स्वीकार करने के लिए तैयार नही था। यह स्थिति एक कारण से और भी अधिक खराब हो गयी। अभी तक जर्मनी और सोवियत-संघ की नाविक सेना नगण्य थी। १९३५ से वे भी नाविक प्रतियोगिता में कूद पडे। अब सामुद्रिक तैयारी पर इतना अधिक खर्च होने लगा जितना पहले कभी नहीं हुआ था। नाविक समझौता के सभी प्रयत्न व्यर्थ साबित हुए। सबों ने अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू कर दी। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए भयंकर दौर आरम्भ हो गया।

राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत निरस्त्रीकरण के प्रयास

नौ-सेना के क्षेत्र में निरस्त्रीकरण का काम संसार की प्रमुख नाविक शक्तियाँ कर रही थीं। उसकी सफलता और असफलता पर पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। पर इससे भी बढ़कर स्थल सेनाओं में कमी करने का प्रश्न था। यह प्रश्न बड़ा ही जटिल था। इस समस्या का अध्ययन करने के लिए १९२५ में राष्ट्रसंघ ने एक आयोग की नियुक्ति की थी। इस आयोग को शीघ्र ही मालूम हो गया कि निरस्त्रीकरण की समस्या इतनी पेचीदा और उलझी हुई है कि उसके विषय में कुछ भी निश्चित सिफारिशें करना सम्भव नहीं है। यह मालूम कर लेना आसान था कि किसी राज्य के पास कितनी सेना और कितने शस्त्रास्त्र हैं। पर स्थायी सेना के अतिरिक्त राज्यों के पास सम्भावित सेनाएँ भी होती हैं और इनका पता लगाना काफी कठिन था। अनेक देशों में सैनिक शिक्षा और सैनिक सेवा अनिवार्य थी। वे बात की बात में लाखों सैनिकों को युद्ध के मैदान में उतार सकते थे। इसके अतिरिक्त साधारण चीजों को युद्धोपयोगी सामग्रियों में परिवर्तित किया जा सकता था। सवारी ले जानेवाले और माल ढोनेवाले हवाई जहाज सरलता से जंगी हवाई जहाजों के रूप में परिवर्तित किये जा सकते थे। कितने ही प्रकार के कारखानों को बड़ी सुगमता के साथ अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए प्रयोग किया जा सकता था। यह कहना भी काफी कठिन था कि राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से किस राज्य के पास कितनी सेना होनी चाहिए। स्थल सेना में कमी करने के प्रश्न पर इस तरह की अनेक कठिनाइयाँ थीं और राष्ट्रसंघ के आयोग को इन सबों का सामना करना था।

इन कठिनाइयों के बावजूद निरस्त्रीकरण-सम्मेलन प्रारम्भिक आयोग ने अपना काम शुरू कर दिया। इसकी पहली बैठक मई, १९२६ में हुई। इस बैठक का अधिकांश समय केवल इसी बात को तय करने में लग गया कि आयोग को अपना काम कैसे शुरू करना चाहिए। आयोग ने एक प्राविधिक उप-आयोग की स्थापना की। उप-आयोग का अधिकांश समय इसी बात को पारिभाषित करने में लग गया कि किस प्रकार के शस्त्रास्त्र सीमित और कम किये जाएँ। इस वर्ष जर्मनी का एक प्रतिनिधि-मंडल आयोग के काम में हिस्सा लेने आ गया। जर्मनी प्रतिनिधि-मंडल ने वर्साय-सन्धि की उस धारा को याद दिलायी, जिसमें कहा गया था कि जर्मनी के अनिवार्य निरस्त्रीकरण के बाद व्यापक निरस्त्रीकरण किया जायगा। जर्मनी के विचार से किसी को विरोध नहीं था; लेकिन इस दिशा में किस प्रकार का काम किया जाय, इसी प्रश्न पर मतैक्य नहीं था। १९२७ में आयोग का तृतीय और चतुर्थ दोनों अधिवेशन हुए। चौथे अधिवेशन में सोवियत संघ ने भी विदेशमन्त्री लिटविनोफ के नेतृत्व में पहले पहल अपना प्रतिनिधि मण्डल भेजा। लिटविनोफ ने हर प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, सेना, युद्धोपयोगी सामग्री, युद्ध मन्त्रालय, जनरल स्टॉफ, सैनिक कॉलेज पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की। आयोग के अन्य सदस्यों ने लिटविनोफ के प्रस्ताव को 'अव्यावहारिक' कहते हुए मजाक में उड़ा दिया।

इसी बीच अमरीकी सरकार ने वाशिंगटन नौ-सेना-सन्धि के अन्य हस्ताक्षरकर्त्ताओं को एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया। जेनेवा में तीन राष्ट्रों का एक सम्मेलन जून, १९२७ में प्रारम्भ हुआ। यहाँ पर केवल इतना कह देना कोई असंगत नहीं होगा कि जेनेवा सम्मेलन पूर्णतया असफल रहा और इस असफलता की काली छाया राष्ट्रसंघ निरस्त्रीकरण

आयोग पर भी पड़ी। सोवियत प्रतिनिधि-मण्डल के आने और एक क्रान्तिकारी प्रस्ताव रखने पर भी आयोग के कामों में जान नहीं डाली जा सकी। ऐसी परिस्थिति में आयोग ने एक पंचनिर्णय-सुरक्षा-समिति की स्थापना की, जिसका कार्य इस बात पर विचार करना था कि वे कौन-से उपाय हो सकते हैं, जिनका आश्रय लेकर सभी राज्यों की सुरक्षा की ऐसी गारण्टी मिल जाय कि वे अन्तर्राष्ट्रीय निरस्त्रीकरण-सन्धि में अपने शस्त्रों की यथासम्भव न्यूनतम संख्या निर्धारित कर सकने में समर्थ हो सकें। १९२७-२८ में राष्ट्रसंघ इसी काम में व्यस्त रहा और इस प्रकार निरस्त्रीकरण समस्या एक बार फिर दो वर्षों के लिए पृष्ठभूमि में चली गयी।

इसी बीच लन्दन नौ-सेना-सम्मेलन का आयोजन हुआ और इस सम्मेलन को कुछ आंशिक सफलता प्राप्त हो गयी। इस सफलता से राष्ट्रसंघ-आयोग को निरस्त्रीकरण की दिशा में पुनः प्रयत्न करने की प्रेरणा मिली। इस समय तक संसार खतरों से घिरा जा रहा था। सभी देशों को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ रहा था। ऐसी स्थिति में सेना और हथियारबन्दी पर खर्च करना एक कठिन काम प्रतीत हो रहा था। इसलिए यह निश्चय किया गया कि प्रस्तुतकारी आयोग का अन्तिम अधिवेशन १९३० की शरद में हो और उसके बाद चाहे सर्वमान्य निर्णय हो या नहीं, निरस्त्रीकरण सम्मेलन, जो बहुत दिनों से स्थगित होता चला आ रहा है, आयोजित किया जाय। अन्तिम अधिवेशन में अनेक निर्णय लिये गये। पाँच साल की निरन्तर मिहनत के बाद आयोग ने एक रिपोर्ट तैयार की। रिपोर्ट में यह सिफारिश की गयी थी कि प्रत्येक राज्य के लिये यह निर्णय कर दिया जाय कि उसकी थल, जल और नभ-सेनाओं में अधिक-से-अधिक कितने आदमी हों। कौन राज्य अधिक-से-अधिक कितना खर्च अस्त्र-शस्त्रों पर कर सके, यह भी निश्चित हो जाय। युद्ध में जहरीली गैसों तथा रोग के कीटाणुओं का प्रयोग न किया जाय और एक स्थायी आयोग नियुक्त किया जाय जो निरस्त्रीकरण की प्रगति के विषय में जानकारी प्राप्त करता रहे और समय-समय पर अपनी रिपोर्ट देता रहे। अनेक बातों पर आयोग किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका और इसलिए रिपोर्ट में बहुत से रिक्त स्थान छोड़ दिये गये। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में एक और बात की चर्चा करके उसके महत्त्व को कम कर दिया। रिपोर्ट में यह कहा गया था कि समझौते पर हस्ताक्षर करनेवाले राज्यों को अधिकार होगा कि यदि परिस्थिति में परिवर्तन हो जाने से उनकी अपनी सुरक्षा में खतरा दिखाई पड़े तो वे युद्धकालीन शर्त्तों को छोड़कर अन्य शर्त्तों को अस्थायी रूप के स्थगित कर सकते हैं। वास्तव में आयोग ने केवल उन सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया, जिनका अनुसरण कर भिन्न-भिन्न राज्य निरस्त्रीकरण के मार्ग पर अग्रसर हो सकते थे। इस प्रकार मसविदे का व्यावहारिक मूल्य बहुत कम था। शायद इसीलिए निरस्त्रीकरण-सम्मेलन ने रिपोर्ट का उपयोग भी नहीं किया। परन्तु निरस्त्रीकरण सम्मेलन का मार्ग अब प्रशस्त हो चुका था। सम्मेलन होने में काफी विलम्ब हो चुका था और इसलिए २ फरवरी, १९३२ को सम्मेलन जेनेवा में आयोजित किया गया।

जेनेवा का निरस्त्रीकरण-सम्मेलन

जेनेवा निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में ६१ राज्य सम्मिलित हुए। इनमें पाँच राज्य राष्ट्रसंघ के सदस्य भी नहीं थे जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ब्रिटेन के प्रतिनिधि आर्थर हण्डरसन ने अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया। सम्मेलन के

प्रारम्भ से ही अपशकुन होना शुरू हुआ। अपनी नियुक्ति के समय हण्डरसन ब्रिटिश मजदूरदलीय सरकार में विदेशमन्त्री था। किन्तु अगस्त में इस सरकार का पतन हो गया और ब्रिटिश आम चुनावों में हण्डरसन संसद् का सदस्य नहीं चुना सका। इसलिए एक गैर-सरकारी व्यक्ति की हैसियत से ही उसको सम्मेलन की अध्यक्षता करनी पड़ी। यह पहला अपशकुन था। यदि इस समय वह ब्रिटिश-सरकार का उच्च पदाधिकारी रहा होता तो सम्भव था कि उसके विचारों का और अधिक वजन होता। फ्रांस ने भी मन्त्रिमण्डलीय प्रतिनिधि न भेजकर स्थिति को और भी खराब कर दिया। इसी समय आर्थिक संकट से सारा संसार परेशान हो रहा था। दुर्भाग्यवश जिस समय सम्मेलन का काम शुरू हुआ उस समय शंघाई में जोरों से युद्ध चल रहा था। मई, १९३२ में जर्मनी में ब्रुनिंग की सरकार का, जो समझौते के मार्ग पर अधिक जोर देती थी, पतन हो गया। उसकी जगह पर पापेन की उग्र सरकार बनी। इन सब बातों ने सम्मेलन के भाग्य का फैसला कर डाला।

सम्मेलन ने पाँच मुख्य समितियों की स्थापना की : बजट, राजनीतिक, थल, और नभ-समिति। इन मृत प्रस्तावों को विस्तार में देने की कोई उपयोगिता नहीं जो इस सम्मेलन में भाग लेनेवाले राष्ट्रों ने प्रस्तुत किये थे। सम्मेलन में कम-से-कम ६३३ भिन्न-भिन्न प्रस्ताव पेश किये गये थे और वे एक दूसरे से इतने विरोधी थे कि उसमें समन्वय स्थापित करना असम्भव था। सर एल्फ्रेड जिमर्न ने ठीक ही कहा है कि 'यह आशा करना कि विविध राज्यों में निरस्त्रीकरण-समस्या पर सहमति हो जायगी, वृत्त को वर्ग बनाने में सफल होने की आशा करना था।' जब इस जटिल समस्या का कुछ चुने हुए विशेषज्ञ ही समाधान नहीं ढूँढ़ सके थे तो इतने बड़े सम्मेलन के लिए अनेक विवादग्रस्त मामलों का सन्तोषप्रद हल ढूँढ़ निकालना असम्भव था। शीघ्र ही विभिन्न राज्यों के विभिन्न दृष्टिकोण सामने आये और सम्मेलन में निरर्थक वाद-विवाद होने लगा।

फ्रांसीसी प्रस्ताव—सबसे पहले फ्रांस की तरफ से एक प्रस्ताव आया। प्रमुख फ्रांसीसी प्रतिनिधि पाल बानकूर ने यह प्रस्ताव रखा कि सेना और हथियार में कमी तभी की जा सकती है जब राष्ट्रसंघ एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना और पुलिस का संगठन करे, जिसके हाथ में विभिन्न राज्यों को सुरक्षा की जिम्मेवारी हो। फ्रांस का सर्वोपरि लक्ष्य सुरक्षा था, जिसका अर्थ था हथियारबन्दी में उसकी श्रेष्ठता। उसका कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय सेना के अभाव में यदि उसकी सेना कम करके जर्मनी की सेना के बराबर कर दी जाती है तो फ्रांस की सुरक्षा खतरे में पड़ जायगी। अनेक छोटे-छोटे यूरोपीय राज्यों ने फ्रांसीसी प्रस्ताव का समर्थन किया, पर ब्रिटेन, अमेरिका और जर्मनी ने इसका विरोध किया। ब्रिटेन और अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय सेना के सुझाव का बराबर से विरोध करते आ रहे थे। जर्मनी को फ्रांस के इस प्रस्ताव में 'वास्तविक प्रश्न को टालने की एक और कुचेष्टा' दिखलाई पड़ी। जर्मनी फ्रांस के साथ बराबरी चाहता था और कहता था कि यदि फ्रांस की सैन्य शक्ति कम नहीं की गयी तो वह अरक्षित रह जायगा। उसने इस बात पर जोर दिया कि या तो मित्रराष्ट्र अपनी सेना कम करके जर्मनी के स्तर पर आ जाय या जर्मनी को उनके स्तर तक पहुँचने की अनुमति दी जाय।

ब्रिटिश-प्रस्ताव—फ्रांसीसी प्रस्ताव के बाद ब्रिटिश-प्रस्ताव आया। ब्रिटिश-प्रतिनिधि सर साइमन ने अपना 'गुणात्मक निरस्त्रीकरण (qualitative disarmament) का प्रस्ताव

रखा। इसका अर्थ यह था कि जिन अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग केवल आत्मरक्षा के लिए किया जाता है उनके सम्बन्ध में कोई मर्यादा निश्चित न की जाय; पर जो हथियार आक्रमण करने के लिए प्रयोग में आते हैं उनकी मात्रा कम कर दी जाय। इस प्रस्ताव को भी बहुत अधिक समर्थन मिला। परन्तु अब प्रश्न यह था कि कौन-से हथियार आत्मरक्षा के लिए है और कौन से आक्रमण के लिए। अन्त में शस्त्रास्त्रों की कोटि निर्णय करने के लिए भू-सैनिक, नौ-सैनिक तथा वैमानिक विशेषज्ञों की उपसमितियाँ नियत की गयी। यहाँ भी यह स्पष्ट हो गया कि आक्रमणात्मक तथा रक्षात्मक शस्त्रों में सबकी एक राय हो सकना कठिन है। ब्रिटेन और अमेरिका कहते थे कि पनडुब्बियाँ आक्रमणकारी हैं और जंगी जहाज रक्षा करनेवाले। दूसरे देश इस परिभाषा को बिल्कुल गलत मानते थे। केवल जर्मनी के पास ही एक सुसंगत कसौटी थी। उसके अनुसार वर्साय-सन्धि द्वारा निषिद्ध सभी अस्त्र-शस्त्र आक्रमणात्मक कोटि में आते थे और बाकी रक्षात्मक कोटि में। इस प्रकार इस विषय पर मतैक्य होना भी असम्भव था।

रूसी प्रस्ताव—सोवियत-संघ ने एक तीसरा प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का आशय यह था कि अस्त्र-शस्त्र में जल्द से-जल्द काफी मात्रा में कटौती की जाय और अन्ततोगत्वा सभी प्रकार के हथियारों पर सदा के लिए नियन्त्रण लगा दिया जाय। किसी प्रतिनिधिमण्डल ने इस प्रस्ताव पर गौर से विचार नहीं किया। तीनों प्रस्तावों में कोई भी प्रस्ताव सर्वमान्य नहीं था। नतीजा यह हुआ कि सम्मेलन का काम ठप पड़ गया।

अमरीकी प्रस्ताव—इसी बीच क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर विचार करने के लिए लुसान-सम्मेलन प्रारम्भ हो गया और सम्मेलन का ध्यान उस ओर आकृष्ट हो जाने से उसके काम में कुछ विलम्ब हो गया। इसके बाद निरस्त्रीकरण सम्मेलन का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ तो अमरीकी राष्ट्रपति हूवर की तरफ से एक चौथा प्रस्ताव आया, जिसका आधारभूत सिद्धान्त यह था कि वर्तमान शस्त्र सेना और अस्त्र-शस्त्रों में एक तिहाई कमी की जाय। अमरीकी राष्ट्रपति के प्रस्ताव का जर्मनी, इटली और रूस ने स्वागत किया। किन्तु ब्रिटेन, फ्रांस और जापान ने इसका इतना जबरदस्त विरोध किया कि प्रस्ताव पास नहीं हो सका। ब्रिटेन ने इस प्रस्ताव को एक 'कपटपूर्ण योजना' बतलाया। बहुत वाद-विवाद के बाद २० जुलाई, १९३२ को जेनेवा-सम्मेलन में एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया, जिसमें कहा गया कि (१) बम-वर्षा को रोका जाय। सैनिक और असैनिक वायुयानों की संख्या परस्पर समझौते से सीमित किये जायँ। (२) भारी तोपों और टैंकों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की जाय कि एक खास वजन से ज्यादा की तोपें या टैंक न बनाये जा सकें। (३) रासायनिक युद्ध को निषिद्ध किया जाय। ४१ राज्यों के प्रतिनिधियों ने इस प्रस्ताव के पक्ष में मत दिये। इटली सहित आठ राज्य तटस्थ रहे और जर्मनी तथा सोवियत-संघ ने प्रस्ताव के विपक्ष में वोट दिये। इस समय जर्मन-प्रतिनिधि जोरशोर से समानता के सिद्धान्त की माँग कर रहा था। जुलाई, १९३२ में जर्मनी ने स्पष्ट कर दिया कि वह आगे के सम्मेलन में तभी भाग लेगा जब कि सभी राष्ट्रों के अधिकारों की समानता को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया जाय। जब उस वर्ष अक्टूबर में सम्मेलन की बैठक हुई तो जर्मनी उसमें शामिल नहीं हुआ। दो महीनों तक सम्मेलन का काम बिल्कुल बन्द पड़ा रहा। इस समय की महत्त्वपूर्ण घटना केवल यही थी कि फ्रांस ने एक नयी सुरक्षा-योजना प्रस्तुत की और यह प्रस्ताव

रखा कि शस्त्रास्त्रों के निर्माण पर सभी देशों में राज्य का एकाधिकार रहे। किन्तु इस समय जर्मनी का प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण था।

जर्मनी की माँग—१६ सितम्बर को जर्मनी-सरकार ने वर्तमान हालत में सम्मेलन में भाग नहीं लेने के अपने निर्णय की सूचना दी थी। दो दिन बाद ब्रिटिश-सरकार ने अपने विचारों का एक विवरण प्रकाशित किया, जिससे जर्मन-समानता के प्रश्न उठाने की बात को अनुचित बताया गया था। पर शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि यह बाधा दूर किये बिना प्रगति की कोई आशा नहीं है। जून, १९३२ में ब्रूनिंग-मन्त्रिमण्डल के हट जाने पर पेपन का मन्त्रि-मण्डल जर्मनी में कायम हो चुका था और नयी सरकार जर्मन-समानता के दावे पर काफी जोर दे रही थी। आखिर ११ दिसम्बर को एक रास्ता निकाला गया। जेनेवा में फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, इटली और अमेरिका का एक सम्मेलन बुलाया गया। पाँच दिनों के घोर परिश्रम के बाद एक प्रस्ताव के आधार पर सम्मेलन ने सुरक्षा-व्यवस्था के अधिकारों की समानता का जर्मन दावा स्वीकार कर लिया। इस प्रकार जर्मनी को अन्य राष्ट्रों के साथ समानता का पद प्राप्त हो गया।

२ फरवरी, १९३३ को सम्मेलन का काम पुनः प्रारम्भ हुआ। इस समय तक यूरोप के इतिहास में एक नया युग शुरू हो चुका था। जर्मनी के प्रति फ्रांस के कड़े रुख के कारण जर्मनी में नात्सी पार्टी का उत्थान हो रहा था। ३० जनवरी को हिटलर जर्मनी का प्रधान मन्त्री बन चुका था। वर्साय-सन्धि का अन्त करना उसका प्रमुख उद्देश्य था। २४ फरवरी को जापान ने यह सूचना दे दी कि वह राष्ट्रसंघ से अलग हो रहा है। यद्यपि उसके प्रतिनिधि सम्मेलन के कार्यों में अभी भी भाग ले रहे थे, फिर भी सम्मेलन की सफलता की आशा और अधिक धूमिल हो गयी। हिटलर के शासनारूढ़ होने पर भी जर्मनी ने निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में अपना प्रतिनिधि भेजा। परन्तु इस बार सम्मेलन में फ्रांस की सुरक्षा-माँग और जर्मनी की निरस्त्रीकरण-माँग दोनों खुलेआम टकरा गयीं। जर्मनी में नात्सी-पार्टी का पैर दृढ़तापूर्वक जम रहा था। इस कारण यह स्वाभाविक था कि फ्रांसीसी सरकार जर्मन दावों को स्वीकार करने में अधिक अनिच्छा प्रदर्शित करे। सम्मेलन के ठप पड़ जाने की पूरी आशंका दीखने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि निरस्त्रीकरण सम्मेलन का सदा के लिए अन्त हो जायगा; लेकिन ऐसा होने से बच गया। मार्च के अन्त में जब कि गतिरोध पूर्ण हो चुका था, ब्रिटिश-प्रधान मन्त्री राम्जे मेकडानल्ड ने जेनेवा आकर सम्मेलन की कार्यवाही में कुछ दिनों के लिए नयी जान डाल दी। उन्होंने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसको 'मेकडानल्ड योजना' कहते हैं।

मेकडानल्ड योजना—'मेकडानल्ड योजना' पाँच भागों में बँटी हुई थी और इसमें मुख्यतः उन सब प्रस्तावों का संग्रह था जिनके स्वीकार किये जाने की अब तक अधिक-से-अधिक आशा थी। पहला भाग सुरक्षा के बारे में था और केलोग पैक्ट के भंग या भंग होने की आशंका में कार्रवाई करने के विषय में विचार किया गया था। दूसरे भाग में प्रत्येक देश के लिए कम-से-कम पाँच साल के लिए सैनिकों की संख्या एक तालिका के अनुसार रखने का प्रस्ताव किया गया था। इस तालिका में प्रत्येक राज्य के लिए सैनिकों की संख्या निश्चित कर दी गयी थी। तीसरे भाग में युद्ध-सामग्री पर गुणात्मक आधार पर विचार किया गया था। चौथा भाग रासायनिक और कीटाणु-युद्ध पर पाबन्दी लगाना था और अन्तिम भाग में एक ऐसे

निरस्त्रीकरण-आयोग का प्रस्ताव था जिसको निरीक्षण और नियन्त्रण का विस्तृत अधिकार प्राप्त हो।

चार सप्ताहों तक इस योजना पर वाद-विवाद होता रहा। विवाद में यह स्पष्ट हो गया कि मूलभूत सिद्धान्तों पर काफी मतभेद है। जर्मनी इस समय तक अपना रवैया काफी बदल चुका था। ११ मई, १९३३ को जर्मन अखबारों में फॉन न्यूरथ का एक लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख से यह प्रतीत होता था कि जर्मनी पुनः हथियारबन्दी की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण कदम उठानेवाला है। १३ मई को फॉन पेपन ने भाषण दिया जिसमें उसने युद्ध की प्रशंसा करते हुए जर्मनमाताओं को अधिक बच्चा पैदा करने की अपील की ताकि अधिक संख्या में उनके बच्चे मातृभूमि की रक्षा के लिए मर सकें। इससे स्थिति और भी बिगड़ गयी। १६ मई को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यूरोप के राष्ट्रों से निरस्त्रीकरण करने की अपील की। हिटलर पर इसका कुछ प्रभाव पड़ा और १७ मई को उसने जो सरकारी नीति की घोषणा की वह बहुत हद तक नरम थी। इससे वातावरण काफी साफ हो गया और जर्मनी ने 'मैकडानल्ड-योजना' को स्वीकार कर लिया।

फ्रांस का रुख—अब फ्रांस की बारी आयी। जर्मनी को बढ़ती हुई शक्ति को देखकर फ्रांस निरस्त्रीकरण करने के लिए तैयार नहीं था। उसको कोई योजना पसन्द नहीं थी। २२ मई, १९३३ को अमरीकी सचिव नारमन डेविस ने यह घोषणा की कि आक्रमणकारी के विरुद्ध सैनिक या आर्थिक कार्रवाई करने का विरोध अमेरिका नहीं करेगा। फ्रांस पर इसका भी कोई असर नहीं हुआ। मतभेद अब भी स्पष्ट दिखाई दे रहा था। अतएव जून में सम्मेलन को इस आशा पर स्थगित कर दिया गया कि बीच के अवकाश काल में निजी वार्ताओं द्वारा शेष मतभेद दूर कर दिये जायँगे। किन्तु निरस्त्रीकरण समझौते की आशा अब बिल्कुल ही समाप्त हो चुकी थी।

फ्रांसीसी योजना—सम्मेलन के अवकाश-काल में निरस्त्रीकरण-विषय पर वार्तालाप होता रहा। आर्थर हन्डरसन यूरोप के मुख्य राजधानियों में बातचीत करने के लिए भ्रमण करते रहे। यह उनका 'निरस्त्रीकरण-अभियान' था। इस अभियान से यह शीघ्र ही पता चल गया कि फ्रांस अपनी सेना घटाने के लिए राजी नहीं हो सकता है। किन्तु समझौता करना आवश्यक था। १९३३ के मध्य में एक योजना तैयार की गयी। इसके अनुसार निरस्त्रीकरण समझौते को दो कालों में बाँट दिया गया। वर्ष की एक अवधि को दो भागों में विभक्त किया गया। प्रथम दो वर्ष में जो परीक्षा-काल कहलाया, शस्त्रास्त्रों पर अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की प्रणाली स्थापित की जाने वाली थी तथा राष्ट्रीय सेनाओं का पुनर्गठन प्रारम्भ किया जानेवाला था। हथियारबन्दी की होड़ को द्वितीय काल में सीमित किये जाने का सुझाव रखा गया था। यह योजना मूलतः फ्रांसीसी थी और ब्रिटेन तथा इटली का समर्थन इसे प्राप्त था।

२४ अक्टूबर को सर जॉन साइमन ने सम्मेलन के ब्यूरो में उपर्युक्त प्रस्ताव को विधिवत पेश किया। आमतौर से इस प्रस्ताव का समर्थन हुआ, लेकिन तुरत ही निरस्त्रीकरण-सम्मेलन पर एक वज्रपात होनेवाला था। ब्यूरो की बैठक दोपहर के साढ़े बारह बजे समाप्त हुई और दो

बजे हन्डरसन को तार द्वारा यह सूचना मिली कि जर्मनी सम्मेलन से अपना सहयोग हटा रहा है। कुछ ही समय बाद जर्मनी ने राष्ट्रसंघ से अलग हो जाने की सूचना भी भेज दी। जर्मनी की यह नीति एक दिन पहले ही मंत्रिमण्डल की बैठक में निर्धारित हो चुकी थी।

सम्मेलन का अन्त :—जर्मनी की इन निर्णयों से निरस्त्रीकरण की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। १२ नवम्बर को जर्मन-जनमत के द्वारा हिटलर की इस नीति का जबरदस्त समर्थन हुआ। ८ दिसम्बर को इटली ने भी बतला दिया कि सम्भवतः कुछ दिनों के बाद वह भी राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्याग दे। जर्मनी को नीति को इससे प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ। जर्मनी के अलग हो जाने के छह महीने बाद तक सम्मेलन कुछ भी प्रगति नहीं कर सका और इस अवधि में जर्मनी सहित प्रमुख राष्ट्र कूटनीतिक पत्र-व्यवहार द्वारा विचारों का आदान-प्रदान ही करते रहे। इन पत्र-व्यवहारों में अनेक प्रस्तावों पर विचार किया गया; लेकिन इनका कोई नतीजा नहीं निकला। फरवरी, १६३४ में श्री ईडन पेरिस, रोम और बर्लिन गये। बर्लिन में वे हिटलर से मिले। उसके प्रभाव से जर्मनी की मूल माँगों में कुछ परिवर्तन हुआ। हिटलर ऐसी सीमा को स्वीकार करने के लिए तैयार था जिसे फ्रांसीसी, इटालियन और पोलिश सेनाओं के लिए समान रूप से स्वीकार की जाय। जर्मनी वायुसेना के लिए भी प्रतिशत निश्चित करने के लिए तैयार था। १६ मार्च को फ्रांस से यह सवाल पूछा गया कि वह इस शर्त पर आगे बातचीत करने के लिए तैयार है या नहीं। उत्तर में फ्रांसीसी सरकार ने जर्मन पुनर्शस्त्रीकरण के प्रति विरोध प्रकट करते हुए यह मत व्यक्त किया कि किसी निरस्त्रीकरण-समझौते के पहले गारंटी आवश्यक है। फ्रांस से फिर यह पूछा गया कि जिस प्रकार की गारंटी फ्रांस परमावश्यक समझता है, उसका स्वरूप क्या है? इसी बीच जर्मनी का बजट प्रकाशित हुआ। इसमें सैनिक व्यय पर काफी वृद्धि दिखाई गयी थी। स्थिति पर इसका असर पड़े बिना नहीं रह सका। १७ अप्रिल को फ्रांसीसी सरकार ने यह उत्तर दिया कि जर्मनी का जो बजट प्रकाशित हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि जर्मनी पुनर्शस्त्रीकरण करना चाहता है। फ्रांसीसी सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब कोई भी गारंटी क्यों न दी जाय, वे जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकरण के किसी भी प्रस्ताव से सहमत नहीं होंगे। फ्रांस ने जर्मनी के प्रस्तावों पर वार्ता करने से साफ-साफ इन्कार कर दिया।

निरस्त्रीकरण में असफलता :—फ्रांस का यह उत्तर सम्मेलन का वास्तविक अन्त था। २६ मई, १६३४ को सम्मेलन का अधिवेशन पुनः बुलाया गया। सम्मेलन में जो बहस हुई उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्मेलन में दो विचारधाराएँ थीं। ब्रिटेन, अमेरिका और इटली का विचार था कि पहले निरस्त्रीकरण की दिशा में कोई कदम उठा लिया जाय और तब उसके बाद सुरक्षा की समस्या पर विचार किया जाय। इसके विपरीत फ्रांसीसी और रूसी प्रतिनिधियों का विचार था कि पहले सुरक्षा की बात तय हो फिर निरस्त्रीकरण पर वार्ता की जाय। ११ जून को सम्मेलन पुनः स्थगित कर दिया गया। आर्थर हन्डरसन ने खुले तौर पर फ्रांस को निरस्त्रीकरण की असफलता के लिए जिम्मेवार ठहराया। दो वर्षों के निरंतर प्रयास के बाद भी राष्ट्रसंघ का निरस्त्रीकरण-सम्मेलन एक भी बन्दूक, टैंक या हवाई जहाज में कमी नहीं कर सका। १६३५ के बाद सम्मेलन का अधिवेशन होना भी बन्द हो गया, यद्यपि

नियमानुसार इसको समाप्त नहीं किया गया। १९३५ में सम्मेलन के अध्यक्ष हन्डरसन की मृत्यु भी हो गयी।[1]

सम्मेलन की विफलता के कारण

इस प्रकार निरस्त्रीकरण का सम्मेलन असफल हो गया और मनुष्य की आशाओं पर पानी फिर गया। इस सम्मेलन की विफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :

विभिन्न शक्तियों के मतभेद :—निरस्त्रीकरण सम्मेलन को सफलता नहीं मिली, इसका एक प्रमुख कारण विभिन्न शक्तियों के बीच उग्र मतभेद था। फ्रांस अन्तर्राष्ट्रीय सेना और सुरक्षा का दृढ़ समर्थक था। वह राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना का निर्माण करना चाहता था। इसे वह जर्मनी के आक्रमण से निश्चिन्त हो सकता था। इसके बाद वह अपने हथियारों को घटाने के लिए तैयार था। लेकिन इसके विपरीत ब्रिटेन का कहना था कि हथियारबन्दी की होड़ को तुरत समाप्त करना चाहिए। हथियारों की वृद्धि राष्ट्रों में असुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है। यदि हथियारों को घटा दिया जाय तो असुरक्षा और आक्रमण की आशंका अपने आप समाप्त हो जायगी। वह सुरक्षा के पहले निरस्त्रीकरण को आवश्यक मानता था। ब्रिटेन तथा कुछ अन्य राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सेना के संगठन की बात को अक्रियात्मक मानते थे। इसके अतिरिक्त फ्रांस की सुरक्षा की मांग जर्मनी की सुरक्षा की मांग से सर्वथा प्रतिकूल थी। इन दोनों के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करना असम्भव था।

युद्ध सम्बन्धी मनोवृत्ति :—निरस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता का दूसरा कारण युद्ध सम्बन्धी मनोवृत्ति में मौलिक मतभेद था। कुछ राज्य शान्ति के समर्थक थे और युद्ध के निवारण को परम आवश्यक मानते थे। लेकिन फासिस्ट इटली तथा नात्सी जर्मनी के नेता युद्ध को मानव जाति के विकास के लिए आवश्यक मानते थे। वे शान्तिवाद को कोरी कायरता और नपुंसकता मानते थे। इन जंगखोरों के सामरिक प्रवृत्ति के चट्टान से टकरा कर सम्मेलन की नौका चूर-चूर हो गयी।

निरस्त्रीकरण में अविश्वास—सम्मेलन की विफलता का कारण महाशक्तियों का निरस्त्रीकरण के सिद्धान्त में अविश्वास और पक्षपातपूर्ण व्यवहार था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी को जबरदस्ती निःशस्त्र कर दिया गया और विजेताओं ने वादा किया कि बाद में वे भी निरस्त्रीकरण कर लेंगे। लेकिन वे हमेशा इस वादे को टालते रहे। यह बड़ा ही स्वार्थपूर्ण था। वस्तुतः बात यह थी कि निरस्त्रीकरण में उन्हें विश्वास नहीं था।

उपनिवेशों की सुरक्षा का प्रश्न—पश्चिमी यूरोप के राज्यों को निरस्त्रीकरण पर विश्वास भी कैसे होता। वे सब-के-सब साम्राज्यवादी राज्य थे और ससार भर में उनके उपनिवेश फैले हुए थे। इन उपनिवेशों पर अपना अपवित्र शासन कायम रखने के लिए प्रबल सैनिक शक्ति की आवश्यकता हमेशा बनी रहती थी। अतएव निरस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे उनके जो भी प्रस्ताव होते वे केवल प्रचार के उद्देश्य से होते ईमानदारी की भावना उसमें बहुत ही कम थी।

1. Lee Benns, *European History Since* 1870, p. 430.

समस्या का प्राविधिक रूप—निरस्त्रीकरण की समस्या का यह दुर्भाग्य था कि इसे मौलिक रूप से नहीं, वरन् ऊपरी तौर से तथा प्राविधिक रूप से सुलझाने का यत्न किया गया। इस सम्बन्ध में हुजर तथा डि ग्रेजिया ने ठीक ही लिखा है कि "निरस्त्रीकरण हथियारों को मर्यादित करने की प्राविधिक समस्या नहीं किन्तु एक ऐसे प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने की एक मनोवैज्ञानिक तथा राजनीतिक समस्या है, जो शस्त्रों के बिना अन्य साधनों से सुरक्षा स्थापित करे तथा विवादों का हल करे। हथियारबन्दी की होड़ पैदा करनेवाली आर्थिक, मानसिक और राजनीतिक परिस्थितियों को दूर करने के स्थान पर सम्मेलन में प्रतिनिधियों ने कुछ शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने चाहे। इन प्रयत्नों में बीमारी के बाह्य लक्षणों का इलाज किया गया, अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की व्याधि का अनुसन्धान या निदान नहीं किया गया।"

शस्त्रीकरण का स्वरूप-निर्धारण—शस्त्रीकरण की यथार्थ व्याख्या और उसका स्वरूप-निर्धारण करने के प्रयास में भी निरस्त्रीकरण सम्मेलन असफल हो गया। निरस्त्रीकरण का तात्पर्य यह नहीं है कि तोपों, लड़ाकू विमानों, टैंकों, युद्ध पोतों, क्रूजरों तथा पनडुब्बियों की संख्या को सीमित किया जाय। आजकल का युद्ध बड़ा जटिल हो गया है। जो चीजें नागरिक सेवा के काम आती हैं वे बात की बात में युद्धोपयोगी समान के रूप में परिवर्तित की जा सकती हैं। शान्तिकालीन प्रयोजनों के लिए विभिन्न साम्रगी तैयार करनेवाले कल-कारखाने बड़ी सुगमता और शीघ्रता से हथियार तैयार करनेवाले कारखानों में बदले जा सकते हैं। इन परिस्थितियों में शस्त्र बनानेवाले कारखानों का निर्धारण और नियन्त्रण एक बड़ा जटिल काम है।

सहयोग की भावना का अभाव—इन सारी कठिनाइयों के बावजूद निरस्त्रीकरण हो सकता था यदि राष्ट्रों के बीच सहयोग की भावना रहती। लेकिन जेनेवा में इस भावना का पूरा अभाव था। जेनेवा में विभिन्न राष्ट्र इसलिए इकट्ठा नहीं हुए थे कि निरस्त्रीकरण करके वे विश्व-शान्ति की स्थापना करेंगे; उनका मुख्य उद्देश्य अपनी प्रभुता बढ़ाना और प्रतिपक्षों की *शक्ति को सीमित करना था। कोई भी राज्य सच्चे दिल से हथियारों को कम करने को तैयार* नहीं था। प्रत्येक देश अपने शस्त्रों को आत्मरक्षा के लिए आवश्यक समझता था और दूसरे के हथियारों का उद्देश्य आक्रमण मानता था। सम्मेलन का पूरा वातावरण सन्देह, आशंका और भय का था। इस कारण सम्मेलन की असफलता निश्चित थी।

हथियारों के निहित-स्वार्थ—सम्मेलन को विफल बनाने का मुख्य प्रयास हथियार व्यवसाय के निहित-स्वार्थ के लोगों ने किया। इस व्यवसाय के लोगों ने जेनेवा में अपने प्रतिनिधि भेजे जिन्होंने यह प्रयास किया कि सम्मेलन किसी तरह असफल हो जाय क्योंकि यदि सम्मेलन सफल हो जाता तो उनके अत्यधिक लाभदायक व्यवसाय को गहरी क्षति और धक्का पहुँचता। शीयरर एक ऐसी प्रकार का प्रतिनिधि था जिसको हथियार बनाने वाली तीन अमरीकी कम्पनियों ने जेनेवा में भेजा था। उसका काम था राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को घूस देकर उन्हें निरस्त्रीकरण को विरोधी बनाना। जब जेनेवा-सम्मेलन विफल हो गया तो शीयरर को इन कम्पनियों ने केवल ५१,२३० डालर दिये, यद्यपि उसे २,५५,६५५ डालर देने का वादा किया गया था। अतएव शीयरर ने इन कम्पनियों पर शेष राशि को प्राप्त करने के लिए

मुकदमा किया। इस मुकदमे की जाँच के क्रम में पता चला कि हथियार व्यवसाय ने किस प्रकार जेनेवा निरस्त्रीकरण सम्मेलन को असफल बनाने का प्रयास किया था।

आत्मसंहार की तैयारी—असफल निरस्त्रीकरण सम्मेलन से कोई सम्मेलन नहीं होना ही अच्छा है, क्योंकि इसकी असफलता से मनमुटाव और गलतफहमी बढ़ती है। १६१६ में जिस कुचक्र से मनुष्य बचना चाहता था वह एक बार फिर पूरे वेग से चलने लगा। सब-के-सब आत्महत्या करने की तैयारी करने लगे। निरस्त्रीकरण की सारी आशाएँ लुप्त हो गयीं। यूरोप के सभी राज्य अपनी अपनी सैन्य-शक्ति बढ़ाने लगे और संसार उसी अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की स्थिति में पहुँच गया, जिसमें यूरोप प्रथम विश्व-युद्ध के अवसर पर था।[1] इटली और जर्मनी सेनाएँ बढ़ाने में व्यवस्त हो गये। उनकी देखा-देखी फ्रांस, पोलैंड और यूरोप के अन्य छोटे-छोटे राज्य भी लड़ाई की तैयारी में लग गये। करोड़ों रुपया खर्च करके फ्रांस ने 'मैगिनो-लाइन' तैयार की। फ्रांस की पूर्वी सीमा पर सैनिक इंजीनियरों ने बड़ी कुशलता के साथ इस 'लाइन' को तैयार किया था। जमीन की सतह के नीचे किला-बन्दियाँ की गयी थीं। इन किलों में बड़ी-बड़ी पलटनें रह सकती थीं। इसमें बिजली, अस्पताल, सैनिकों के निवास, भोजन आदि का समुचित प्रबन्ध था। इन किलों को इस्पात, सीमेन्ट और कंक्रीट से इतना मजबूत बनाया गया था कि तोपों, बमों और टैंकों से उन्हें तोड़ा नहीं जा सकता था। ऊपर से देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि जमीन के नीचे इतने बड़े-बड़े किले मौजूद हैं। फ्रांस को जवाब देने के लिए हिटलर ने भी समानान्तर रूप से किलाबन्दियों की एक शृंखला तैयार करायी थी जिसको 'सीगफ्रीड-लाइन' कहा जाता था। यह किलाबन्दी भी 'मैगिनो-लाइन' की तरह ही मजबूत थी। प्रत्येक देश सैनिक आवश्यकताओं पर करोड़ों रुपया खर्च करने लगा। ब्रिटेन ने भी अपनी सुरक्षा-सेना पर व्यय के लिए बजट में सुरक्षा-कोष बढ़ा दिया। शस्त्रीकरण की होड़ को रोकने के लिए जेनेवा में किये गये प्रयास के विफल होने के साथ ही वाशिंगटन और लन्दन के नाविक समझौते भी भंग हो गये। प्रशान्त महासागर में सम्भावित संघर्ष को दृष्टि में रखकर जापान और अमेरिका भी अपनी नाविक शक्ति बढ़ाने लगे। इस वातावरण में निरस्त्रीकरण पर वार्तालाप करना ही बेकार था। निरस्त्रीकरण मनुष्यमात्र का स्वप्न ही बना रह गया।

---

1. Schuman, *International Politics (4th Ed.)*, pp. 232-33.

अध्याय ४

क्षतिपूर्त्ति, युद्ध ऋण और आर्थिक संकट

(Reparation, War Debt and Economic Crisis)

विषय प्रवेश :—युद्धोत्तर काल की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में क्षतिपूर्त्ति की समस्या एक अत्यधिक जटिल और विवादास्पद समस्या थी। इसका प्रभाव समस्त संसार के करोड़ों व्यक्तियों के जीवन पर पड़ा। यह विषय इतना विशिष्ट था कि वर्षों तक यह संसार के राजनीतिज्ञों का ध्यान आकृष्ट किये रहा और जनसाधारण में भी इस पर सर्वत्र चर्चा चलती रही। क्षतिपूर्त्ति समस्या को समझने के लिए एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। युद्ध के बाद क्षतिपूर्त्ति उन्हीं देशों को करना था जो आर्थिक दृष्टि से इसके योग्य नहीं थे, जो क्षतिपूर्त्ति की अदायगी करने में शान्ति-सन्धियों द्वारा बिल्कुल असमर्थ बना दिये गये थे। इसका अन्तिम नतीजा केवल यही नहीं हुआ कि पराजित राज्यों की आर्थिक कमर टूट गयी; बल्कि समस्त संसार एक महान् आर्थिक प्रलय में डूब गया। इससे भी बढ़कर इसका परिणाम यह हुआ कि मित्रराष्ट्रों के गुट में खासकर ब्रिटेन और फ्रांस में, परस्पर तनाव पैदा हो गया, जिससे लाभ उठाकर जर्मनी ने तुरत ही अपना पुनर्निर्माण किया और यूरोपीय राज्यों को चुनौती देने लगा।

क्षतिपूर्त्ति की समस्या :—विजेता को अपने पराजित प्रतिपक्षी से युद्ध का समस्त व्यय वसूल करने का अधिकार प्राचीन युग से ही माना जाता रहा है। लेकिन महायुद्ध के समय कई देशों में यह मत व्यक्त किया गया था कि परम्परा से चलती आने वाली युद्ध-क्षतिपूर्त्ति की प्रथा का इस बार आश्रय न लिया जाय। युद्ध के विशाल रूप ने शुरू में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि इस प्रकार के दावे को पूरा करना इस बार किसी भी राष्ट्र की शक्ति के बाहर है। लेकिन मित्रराष्ट्रों के कर्णधार दयालु या परोपकारी व्यक्ति नहीं थे। महायुद्ध के कारण उनके धन और जन की काफी क्षति हुई थी और जर्मनी तथा उसके साथियों को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया गया था। जिन राज्यों को लड़ाई के कारण नुकसान उठाना पड़ा था, वे समझते थे कि इसकी क्षति की पूर्त्ति जर्मनी और उसके साथियों को करना है। लेकिन, युद्ध के अन्त होते-होते यह स्पष्ट हो गया कि आस्ट्रिया, हंगरी, बुल्गेरिया क्षतिपूर्त्ति की कोई भी रकम अदा करने में असमर्थ हैं। लड़ाई के बाद वे बिल्कुल निर्बल हो गये थे और उनके प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र उनके हाथ से निकल चुके थे। उनकी आर्थिक अवस्था सम्भालने के लिए उन्हें स्वयं कर्ज की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त फ्रांस को इन छोटे देशों से कोई भय नहीं था। वह तो इस फेरे में था कि जर्मनी की आर्थिक कमर इस तरह तोड़ दी जाय कि फ्रांस पर आक्रमण करने की कभी हिम्मत न हो। इस प्रकार क्षतिपूर्त्ति का सारा बोझ जर्मनी पर ही पड़नेवाला था।

विराम-सन्धि के समय मित्रराष्ट्रों ने यह दावा किया था कि वे जर्मनी के साथ क्षतिपूर्त्ति के प्रश्न पर रियासत करना चाहते हैं और इसलिए जर्मनी से केवल यही मांग की गयी कि

यह स्थल, जल या आकाश से आक्रमण करने के कारण "मित्रराष्ट्रों की नागरिक जनता के धन-जन की जो भी क्षति हुई उसकी क्षतिपूर्ति करे।" जर्मनी ने इस दावे के आधार पर हथियार डाले थे और वर्साय-सन्धि की २३२ वीं धारा में इस बात को अक्षरशः दोहराया गया था। कुछ दिनों के बाद यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि यह कोई न्याय रियायत नहीं थी; क्योंकि जर्मनी के वर्तमान साधनों के द्वारा इस क्षतिपूर्ति को चुकाना असम्भव था। वर्साय-सन्धि के द्वारा उसका अंग-भंग कर दिया गया था और उसके सारे उपनिवेश छीन लिये गये थे। जर्मनी के खनिज पदार्थवाले प्रदेश एवं व्यावसायिक केन्द्र पर मित्रराष्ट्रों का अधिकार हो गया था। ऐसी स्थिति में जर्मनी के लिए क्षतिपूर्ति करना असम्भव था। क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर वर्साय-सन्धि और पहले की अन्य सन्धियों में अन्तर केवल इतना ही था कि इस बार शान्ति-सन्धि में अदायगी की कोई रकम निश्चित नहीं की गयी थी। इस काम को पीछे के लिए छोड़ दिया गया था।

क्षतिपूर्ति की कठिनाइयाँ—अनेक दृष्टियों से महायुद्ध के बाद की क्षतिपूर्ति की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक नवीन चीज थी। मित्रराष्ट्रों के सामने १८७१ की फ्रांसीसी क्षतिपूर्ति का उदाहरण था। उन्होंने सोचा कि जिस सुगमता के साथ जर्मनी ने फ्रांस से १८७१ में हरजाने की रकम वसूल कर ली थी, उसी सुगमता के साथ वे भी जर्मनी से वसूल कर लेंगे। किन्तु यह उनकी महान् भूल थी। वे इस बात को नहीं देख सके कि क्षतिपूर्ति की समस्या और युद्ध-ऋणों (war debts) में घना सम्बन्ध है। लड़ाई के समय यूरोप के विभिन्न राज्यों को बहुत बड़ी रकम दूसरे देशों से कर्ज लेनी पड़ी थी। शुरू में ब्रिटेन ने कर्ज दिया। लेकिन, युद्ध के बढ़ने के कारण ब्रिटेन कर्ज देने की स्थिति में नहीं रहा और वह स्वयं अमेरिका से भारी रकम कर्ज में लेने को विवश हुआ। जब अमेरिका ने युद्ध में प्रवेश किया तब उसने भी बहुत देशों को कर्ज दिया। युद्ध समाप्त होने के बाद स्थिति यह थी कि यूरोप के बहुत से राज्य अमेरिका और ब्रिटेन के कर्जदार थे और स्वयं ब्रिटेन अमेरिका का ऋणी था। प्रश्न यह था कि इन कर्जों को कैसे अदा किया जाय। इसके लिए विजित राज्य जर्मनी को क्षतिपूर्ति की अदायगी पर ही आश्रित थे।

क्षतिपूर्ति-समस्या की दूसरी विशेषता यह थी कि इस पर मित्रराष्ट्रों के बीच एकमत नहीं था। इन प्रश्न को लेकर खास कर ब्रिटेन और फ्रांस में तनाव पैदा हो गया। ब्रिटेन जर्मनी का आर्थिक पुनरोत्थान चाहता था। इसके दो कारण थे। जर्मनी ब्रिटिश मालों के लिए एक अच्छा बाजार था। ब्रिटेन का हित इसमें था कि जर्मनी जल्द-से-जल्द आर्थिक दृष्टि से अपने पैर पर खड़ा हो जाय। फिर, ब्रिटेन रूसी साम्यवाद की बाढ़ को जर्मनी का पुनरोत्थान करके रोकना चाहता था। इन्हीं कारणों से ब्रिटेन क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर कड़ाई का रुख नहीं अपनाना चाहता था। फ्रांस का विचार ठीक इसके विपरीत था। वह अपने घृणित शत्रु जर्मनी का पूर्ण ह्रास चाहता था। उसके विचार में जर्मनी के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा एक दिवालिये के साथ किया जाता है। जिस तरह एक दिवालिया की सारी सम्पत्ति पर महाजन लोग अपनी रकम प्राप्त करने के लिए अधिकार जमा लेते हैं उसी तरह का व्यवहार फ्रांस जर्मनी के साथ करना चाहता था। ऐसी स्थिति में फ्रांस और ब्रिटेन में पारस्परिक तनाव निश्चित था। इसके अतिरिक्त अमेरिका की दिलचस्पी केवल

युद्ध-ऋणों में थी। वह अपने दिये हुए ऋण की अदायगी चाहता था और क्षतिपूर्ति को केवल एक यूरोपीय समस्यामात्र समझता था।

शान्ति-सम्मेलन में क्षतिपूर्ति की कोई रकम निश्चित नहीं की गयी थी। यह काम एक क्षतिपूर्ति आयोग के ऊपर छोड़ दिया था कि वह बिल तैयार करे और यह निश्चित करे कि इस बिल की रकम किस प्रकार चुकायी जाय। ब्रिटेन, फ्रांस, इटली तथा जर्मनी के प्रतिनिधि इस आयोग के सदस्य थे। इन चार प्रमुख प्रतिनिधियों के अतिरिक्त आयोग में अन्य मित्रराष्ट्रों को तरफ से भी एक-एक प्रतिनिधि लेने की व्यवस्था की गयी थी। आयोग को मई, १९२१ तक अपनी रिपोर्ट देने को कहा गया। इस तारीख से पहले जर्मनी को सोना या माल के रूप में एक अरब पौंड अदा करना था। इस धनराशि से जर्मनी में स्थित मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं का खर्च चलना था और इससे बाकी बची रकम को क्षतिपूर्ति के खाते में जमा करना था। यह अनुमान लगाया गया था कि इसके बाद के भुगतान कम-से-कम तीस वर्षों में जाकर पूरे हो सकेंगे।

वर्साय-सन्धि पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद यह प्रश्न उठा कि जर्मनी क्षतिपूर्ति में कितनी रकम दे और कैसे दे। जर्मनी से जो कुछ वसूल हो सके उसे किस प्रकार मित्रराष्ट्र आपस में बाँटे? जर्मनी से कहा गया कि वह क्षतिपूर्ति की अदायगी के निमित्त कुल कितनी रकम देगा, इसकी सूचना मित्रराष्ट्रों को शीघ्र दे। उसे कहा गया कि यदि वह पूरे दायित्व के निबटाने में कोई एक मुश्त रकम देना चाहे तो मित्रराष्ट्र ऐसे प्रस्ताव पर विचार करेंगे। लेकिन, जर्मनी की तरफ से कोई सन्तोषजनक जवाब नहीं मिला। अतः मित्रराष्ट्र इस विषय का निर्णय स्वयं कर लेने का प्रयास करने लगे। अप्रिल, १९२० में सानरेमो नामक स्थान पर एक सम्मेलन (Sanremo Conference) हुआ और यह निश्चित किया गया कि कुल दायित्व तय करने के लिए जर्मन सरकार को आमने-सामने सम्मेलन में निमन्त्रित किया जाय। उसी वर्ष जुलाई में यह सम्मेलन स्पा (Spa) नामक स्थान पर हुआ। इस सम्मेलन में जर्मनी के चान्सलर और विदेश मन्त्री ने मित्रराष्ट्रों के प्रमुख मन्त्रियों से पहली बराबरी के स्तर पर बातचीत की। सम्मेलन में जर्मनी ने कुछ प्रस्ताव रखे। किन्तु, ये प्रस्ताव 'बेहूदे और बेकार' कहकर अस्वीकार कर दिये गये। यद्यपि स्पा-सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य पूरा नहीं हो सका किन्तु अगले छह मास तक जर्मनी कितना कोयला देगा, इस सम्बन्ध मे एक समझौता हो गया। क्षतिपूर्ति के वितरण के महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर भी यहाँ निर्णय हो गया। मित्रराष्ट्रों में यह समझौता हो गया कि जर्मनी से जो कुछ मिले उसका ५२ प्रतिशत फ्रांस को, २२ प्रतिशत ब्रिटेन को, ८ प्रतिशत बेल्जियम को, १० प्रतिशत इटली को और शेष ८ प्रतिशत अन्य मित्रराष्ट्रों में बाँट दिया जाय।

मित्रराष्ट्र जर्मनी से कुछ एकमुश्त रकम चाहते थे। लेकिन, इस प्रश्न पर इतना मतभेद था कि कोई समझौता हो सकना कठिन था। दिसम्बर, १९२० में इस बात को तय करने के लिए ब्रुसेल्स में एक सम्मेलन हुआ; पर इसका कोई नतीजा नहीं निकला। जनवरी, १९२१ में पेरिस में एक दूसरा सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में जर्मनी से ११ अरब पौंड की मांग की गयी, जिसको ४२ वार्षिक किश्तों में अदा करना था। जर्मनी के निर्यात व्यापार आय का १२ प्रतिशत की मांग भी की गयी। यह योजना अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों द्वारा नहीं बनायी गयी थी और स्वेच्छा

से जर्मनी के लिए इतनी बड़ी रकम अदा करना असम्भव था। जर्मनी ने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। मित्रराष्ट्रों ने भी इस योजना को स्वीकार करने के लिए जर्मनी पर दबाव नहीं डाला। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए मार्च, १९२१ में लन्दन में एक सम्मेलन हुआ और अपना उत्तर देने के लिए जर्मनी को आमन्त्रित किया गया। सम्मेलन में जर्मनी ने अपना एक स्वतन्त्र प्रस्ताव प्रस्तुत किया। जर्मनी डेढ़ अरब पौंड क्षतिपूर्ति देने का तैयार हो गया और इसके साथ-साथ यह मांग कर बैठा कि जर्मनी पर से सारे व्यापारिक प्रतिबन्ध उठा लिये जायँ, उसकी भूमि पर स्थित मित्रराष्ट्रीय सेना हटा ली जायँ तथा ऊपरी साइलेशिया पर जर्मनी का अधिकार रहे। मित्रराष्ट्रों को यह प्रस्ताव मंजूर नहीं हुआ। वे जर्मनी पर काफी रंज हुए। ३ मार्च, १९२१ को जर्मनी के पास एक अन्तिमेत्थम् भेजा गया। जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति की प्रारम्भिक चुकती नहीं करने के अपराध में मित्रराष्ट्रों की सेना ने राइन के पूर्व में स्थित डुजेलडोर्फ, डयूसबर्ग तथा रूहरोर्ट नामक तीन औद्योगिक केन्द्रों पर अधिकार कर लिया। मित्रराष्ट्रों की यह कार्रवाई नैतिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से आपत्तिपूर्ण थी। लेकिन, उसको सुनने ही वाला कौन था? जर्मनी ने राष्ट्रसंघ में अपील की। उसका कहना था कि उसने आरम्भ की क्षतिपूर्ति अदा कर दी है। लेकिन, जर्मनी की अपील बेकार सिद्ध हुई। मित्रराष्ट्रों को अपनी सैनिक कार्रवाई की वैधता और नैतिकता पर किसी तरह पर्दा डालना था। इसलिए इस विवाद को क्षतिपूर्ति आयोग के सामने रखा गया। आयोग ने मित्रराष्ट्रों के मनोनुकूल ही उनके पक्ष में अपना फैसला दिया।

जब राजनीतिक वार्तालाप असफल हो गया तो क्षतिपूर्ति-आयोग ने इस मामले को अपने हाथ में ले लिया। २७ अप्रिल, १९२१ को आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी। जर्मनी का कुल दायित्व ६,६००,०००,००० पौंड निश्चित किया गया। लेकिन, इस समय जर्मनी से इतनी बड़ी रकम के भुगतान की आशा नहीं की जा सकती थी। इसलिए अदायगी का ब्योरा अ, ब, स, तीन प्रकार के बान्डो में विभक्त किया गया। 'अ' और 'ब' बान्ड के अन्तर्गत २, ६००,०००,००० पौण्ड अर्थात् सम्पूर्ण क्षतिपूर्ति का एक तिहाई भाग था और जर्मनी को यह रकम एक अरब पौंड प्रतिवर्ष के हिसाब से देना था। इसके साथ-साथ उसको निर्यात-वस्तुओं के मूल्य का २५ प्रतिशत भी देना था। 'स' बान्ड की रकम ४,०००,०००,००० पौंड थी। भुगतान करने की क्षमता स्थिर हो जाने पर जर्मनी को यह रकम अदा करनी थी। इस प्रकार पूरे कर्ज की दो-तिहाई रकम की वसूली अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दी गयी। आयोग ने अपने रिपोर्ट में यह भी बतला दिया कि १ मई, १९३१ तक जर्मनी ने जो रकम अदा की है वह बहुत ही अपर्याप्त है और जर्मनी में स्थित मित्रराष्ट्रों की सेना के खर्च के लिए भी पूरी नहीं पड़ती है। इस प्रकार जर्मनी द्वारा अब तक दी गयी रकम को कोई महत्त्व नहीं दिया गया।

मित्रराष्ट्रों को संभवतः यह विश्वास था कि जर्मनी क्षतिपूर्ति की इतनी बड़ी रकम मानने को तैयार न होगा। अतः सैनिक तैयारियाँ की जाने लगी। ५ मई को क्षतिपूर्ति का उपर्युक्त ब्योरा जर्मन सरकार के पास इस अन्तिमेत्थम् के साथ भेजा गया कि १२ मई तक यदि उसे स्वीकार नहीं किया तो मित्रराष्ट्र की सेना रूर पर कब्जा कर लेगी। रूर जर्मनी के धातु-उद्योग का केन्द्र था तथा जर्मनी के कोयले, लोहे तथा इस्पात का ८० प्रतिशत के लगभग वहाँ उत्पन्न होता था। जिस समय यह अन्तिमेत्थम् जर्मनी पहुँचा उस समय वहाँ एक आन्तरिक संकट चल

रहा था, जिसके कारण सरकार ने त्यागपत्र दे दिया था। अन्तिमेत्थम् की अवधि समाप्त होने के एक दिन पूर्व जर्मनी में एक नया मंत्रिमण्डल बन गया। नये मन्त्रिमण्डल ने ११ मई को मित्र-राष्ट्रों की माँगों को स्वीकार कर लिया और अगस्त में जर्मनी ने क्षतिपूर्ति की पहली किस्त ५०,०००,००० पौंड चुका दिया।

जर्मनी की कठिनाइयाँ—यद्यपि जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों के अन्तिमेत्थम् को स्वीकार कर लिया, किन्तु उसकी आर्थिक स्थिति इतनी शोचनीय थी कि वह क्षतिपूर्ति अदा करने में समर्थ नहीं था। सबसे पहले यह कोशिश की गयी कि जर्मनी माल की शक्ल में क्षतिपूर्ति करे। जर्मनी ने बहुत तरह के माल दिये भी, पर इसका परिणाम मित्रराष्ट्रों के हक में अच्छा नहीं हुआ। जर्मनी के माल उनके बाजारों में भर गये। ये माल जर्मनी से मुफ्त में आये थे और इसलिए मित्रराष्ट्रों के बाजार में बहुत सस्ते मूल्य पर बिकने लगे। इसके मुकाबले में अपने देश का माल बिकना कठिन हो गया। मित्रराष्ट्रों के पूँजीपति-वर्ग ने इस व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठानी शुरू की। यह तय हुआ कि जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी माल की शकल में न देकर नकद दिया करे। अब प्रश्न यह था कि जर्मनी नकदी में कैसे भुगतान करे। उसके सामने केवल एक ही उपाय था कि वह अपने सामानों को अन्य बाजारों में बेचकर नकद में क्षतिपूर्ति की रकम अदा करे। पर जर्मनी अपने माल को कहाँ बेचे। युद्ध के पूर्व रूस और मध्य यूरोप के देश उसके बाजार थे। लेकिन युद्ध के बाद ये बाजार भी उसके हाथ से निकल गये। रूस में साम्यवाद का प्रादुर्भाव और मध्य यूरोप में नये-नये देशों का निर्माण हो चुका था, जो राष्ट्रीय व्यापार की रक्षा के लिए संरक्षण नीति का अनुसरण कर रहे थे। जर्मनी के पास कोई उपनिवेश भी नहीं बच रहा था, जहाँ वह अपना माल बेच सके। इस दशा में विदेशी बाजारों में अपने माल को बेचकर क्षतिपूर्ति देना जर्मनी के लिए सम्भव नहीं था। जर्मनी के पास अब जो एकमात्र उपाय बच गया था, वह यह था कि वह अपने मुद्रा का प्रसार करे। मुद्रा के प्रसार से विदेशी विनिमय में जर्मनी के सिक्के का मूल्य गिरेगा, मूल्य गिरने से विदेशों में जर्मन माल सस्ता पड़ेगा, सस्ता पड़ने से उसकी बिक्री अधिक होगी और इस तरह अपना माल बेचकर जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी कर सकेगा। जर्मनी ने इसी नीति का अनुसरण करने का फैसला किया। विदेशी विनिमय में जर्मन सिक्के का मूल्य गिरने लगा जिसके फलस्वरूप विदेशी बाजारों में जर्मन माल सस्ते बिकने लगे। फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका आदि देशों में जर्मन माल इन देशों के माल से भी सस्ता बिकने लगा। मित्रराज्य के पूँजीपतियों ने पुनः हल्ला मचाना शुरू किया कि विदेशी मालों पर आयात-कर लगाया जाय तथा संरक्षण-नीति का अवलम्बन किया जाय। यह क्षतिपूर्ति समस्या का हास्यास्पद पहलू था। लेकिन, इसके तुरत ही बाद नाटक का दुखान्त पहलू भी शुरू हुआ। संरक्षण-कर के कारण जर्मनी का माल विदेशों में बिकना बन्द हो गया और जर्मनी के लिए अदायगी असम्भव हो गयी।

अब जर्मनी के लिए केवल एक उपाय बच रहा कि वह विदेशों से कर्ज ले। पर अन्तर्राष्ट्रीय साख नहीं होने के कारण वह विदेशी ऋण भी नहीं पा सकता था। अमेरिका को छोड़कर कोई देश जर्मनी को कर्ज देना नहीं चाहता था। इसलिए विदेशी कर्ज के द्वारा जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी नहीं कर सकता था। दूसरे, जर्मनी अपनी आर्थिक सन्तुलन हो खो बैठा था। युद्ध में हुई क्षति के कारण उसके आयात बढ़ गये थे और निर्यात की मात्रा कम हो गयी

थी। इसका नतीजा यह हुआ कि सोने का भण्डार निरन्तर खाली होता गया, मुद्रास्फीति बढ़ गयी और जर्मन सिक्का-मार्क-की कीमत गिर गयी। जर्मनी शीघ्र मुद्रा-संकट में फँस गया। संकट के पहले २० मार्क का सामान्य मूल्य एक पौंड था। १९२० में इसकी कीमत गिरकर २५० मार्क तक पहुँच गयी। १६२२ में एक पौंड के बदले ३४००० मार्क खरीदे जा सकते थे। आर्थिक स्थिति अजीब हो गयी। चीजों की कीमत बेहद बढ़ गयी। आम मजदूर की दैनिक मजदूरी में कीमतों के बढ़ने के साथ-साथ वृद्धि भी हो सकती थी। लेकिन, मध्यमवर्ग के लोग नौकरी पेशेवाले थे और उनके मासिक वेतन में हमेशा वृद्धि नहीं हो सकती थी। इस दशा में मध्यमवर्ग के लोगों को अपार कष्ट उठाना पड़ा। उनकी आमदनी आम मजदूरों के समान रह गयी; लेकिन उनके रहन-सहन का स्तर ऊँचा था। जर्मन मध्यमवर्ग काफी असन्तुष्ट और बेचैन था। कुछ दिनों के बाद मासिक वेतन भी प्रतिदिन दुहराये जाने लगा। पर इससे भी कोई लाभ नहीं हुआ। दूकान पर सामान खरीदने के लिए लाइन में खड़े रहने के समय भी मुद्रा की कीमत घट सकती थी। जहाँ एक ओर जर्मन लोगों की यह दुर्दशा थी वहाँ दूसरी ओर एक विदेशी कुछ ही पौंड, फ्रांक, डालर, या रुपया लेकर जर्मनी में एक राजकुमार के समान जीवन बिता सकता था।

जर्मनी की आर्थिक स्थिति खराब होने का तीसरा कारण यह था कि वहाँ के बड़े-बड़े उद्योगपतियों ने भी सरकार के साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया। जर्मन पूँजीपति जर्मनी में अपनी पूँजी नहीं लगाना चाहते थे, क्योंकि उन्हें यह भय था कि उनकी पूँजी क्षतिपूर्ति के खाते में रख दी जा सकती है। वे अपनी पूँजी विदेशों में ही लगाना चाहते थे और इस तरह जर्मनी की एक बहुत बड़ी पूँजी वहाँ से गायब हो गयी जिस पर जर्मन सरकार का नियंत्रण नहीं हो सकता था।[1] अन्त में सबसे बड़ी बात यह थी कि जर्मनी में क्षतिपूर्ति अदा करने की बिल्कुल इच्छा नहीं थी। जर्मनी शुरू से ही वर्साय-सन्धि को 'आरोपित' सन्धि समझता आ रहा था और जर्मन लोगों का विश्वास था कि नैतिक रूप से यह सन्धि उनपर बन्धनकारी नहीं हो सकती है।

ऐसी परिस्थिति में जर्मनी के लिए कोई भी रकम अदा करना असंभव हो गया। समझौते के अनुसार अगस्त, १६२१ तक जर्मनी ने पाँच करोड़ पौंड की प्रथम किस्त चुका दी। किन्तु अब जर्मनी एक पैसा देने की स्थिति में भी नहीं था। अतः उसने अगले वर्ष तक के लिए अदायगी स्थगित करने के लिए मुहलत (moratorium) माँगी। जर्मनी की इस प्रार्थना पर जनवरी, १६२२ में केनिस सम्मेलन में विचार किया गया। निर्णय हुआ कि जर्मनी अदायगी का थोड़ा-सा हिस्सा आगे के लिए स्थगित कर सकती है। लेकिन जर्मनी की स्थिति इससे भी नहीं सम्हली। मुद्रा की कीमत निरंतर गिरती जा रही थी। आर्थिक संकट के कारण जर्मन-सरकार ने क्षतिपूर्ति देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। जर्मनी ने एक दूसरी मुहलत के लिए प्रार्थना की कि नकद अदायगी १६२५ तक के लिए स्थगित कर दी जाय।

आँग्ल-फ्रांसीसी मतभेद—जर्मनी की पूर्ण मुहलत (total moratorium) की माँग के फलस्वरूप क्षतिपूर्ति की समस्या कुछ समय के लिए मित्रराष्ट्रों और जर्मनी के बीच की समस्या न रहकर आँग्ल फ्रांसीसी मनमुटाव के रूप में परिवर्तित हो गयी। १६२० में राइनभूमि पर

1. Flight of German capital.

संयुक्त अधिकार के प्रश्न को लेकर फ्रांस और ब्रिटेन के दृष्टिकोण में पहली बार मतभेद हुआ था। युद्ध-समाप्ति के समय जर्मनी-विरोधी भावनाएँ ब्रिटेन में उतनी ही तीव्र थीं जितनी फ्रांस में। किन्तु, ब्रिटेन में यह तीव्रता तेजी से कम होने लगी। फ्रांस को पराजित जर्मनी से भी भय था। लेकिन, जर्मन-नौ-सेना के नष्ट हो जाने से ब्रिटिश-साम्राज्य पूरी तरह सुरक्षित हो गया था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन परम्परा से शक्ति संतुलन के सिद्धांत का अनुसरण करता चला आ रहा था। यूरोपीय प्रायद्वीप में वह किसी एक राष्ट्र को अत्यन्त शक्तिशाली नहीं होने देना चाहता था। ऐसी स्थिति में जर्मनी को धूल में मिलाने के लिए फ्रांस को छूट देना उसकी परम्परा के विरुद्ध की बात होती थी। इसलिए राइन-भूमि पर जहाँ एक ओर फ्रांसीसी सेना ने घोर अत्याचार किये, वहाँ दूसरी ओर ब्रिटिश-सेना ने जर्मन-लोगों को शीघ्र ही अपना घनिष्ठ मित्र बना लिया। ब्रिटिश सेना अपने भूतपूर्व मित्रों की अपेक्षा भूतपूर्व शत्रुओं से अधिक लोकप्रिय हो गयी थी। फ्रांस ने जान-बूझकर अफ्रिका के अश्वेत निग्रो की सैनिक टुकड़ी को जर्मनी में भेजा था। फ्रांसीसियों द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर इन निग्रो सैनिकों ने जर्मनी पर काफी अत्याचार किया। इस 'अश्वेत अपमान' के कारण ब्रिटेन और अमेरिका का लोकमत फ्रांस से काफी क्षुब्ध था।[1]

राइन में पार्थक्यवादी आन्दोलन—आँग्ल-फ्रांसीसी मतभेद का एक दूसरा कारण राइन-भूमि के पार्थक्यवादी आन्दोलन (separatist movement) को प्रोत्साहन दिये जाने से सम्बन्धित था। शान्ति-सम्मेलन में फ्रांस ने राइन-भूमि पर अधिकार जमाने का काफी प्रयत्न किया था। लेकिन लायड जार्ज और विल्सन के विरोध के कारण ऐसा नहीं हो सका। जब फ्रांस को इस दिशा में सफलता नहीं मिली तो उसने इस क्षेत्र में पार्थक्यवादी आन्दोलन को प्रोत्साहित करने का निर्णय किया। फ्रांसीसी सरकार का इशारा पाकर कुछ सैनिक अधिकारी इस क्षेत्र की जर्मन जनता को बर्लिन की सत्ता से अलग हो जाने और राइन-भूमि को एक स्वतंत्र राज्य घोषित करने के लिए उभाड़ रहे थे। यह आन्दोलन बिल्कुल नकली था और राइन-भूमि का कोई भी व्यक्ति फ्रांस की संरक्षता में स्वायत्त शासन नहीं चाहता था। परन्तु फ्रांसीसियों को किराये पर कुछ टट्टू मिल गये थे या फ्रांसीसी उनको बाहर से ले आये थे। विद्रोहियों को फ्रांस और बेल्जियम की गाड़ियों द्वारा कार्यस्थल पर पहुँचाया जाता था। जर्मन नागरिकों से छीने गये हथियारों को उन्हें दे दिया जाता था और जो हथियार जर्मन पुलिस विद्रोहियों से छीनती थी फ्रांसीसी अधिकारियों द्वारा उन्हें पुनः सौंप दिये जाते थे। पीछे चलकर पुलिस के हथियार भी छीन लिये गये और उसके काम में तरह-तरह की रूकावटें डाली गयीं। इस आन्दोलन द्वारा उद्घोषित राइनलैंड गणराज्य को फ्रांसीसी हाई कमिश्नर ने मान्यता भी दे डाली।

तीन साल तक पार्थक्यवादी आन्दोलन का भूत बनाये रखा गया। किन्तु १९२३ के अन्त में परिस्थिति बिल्कुल बिगड़ गयी। बेवेरिया के एक भाग पेलेटिनेट में एक घटना ने इतना गम्भीर रूप धारण कर लिया कि फ्रांस और ब्रिटेन में पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद का खतरा पैदा हो गया। २४ अक्टूबर, १९२३ को पैलटिनेट को एक स्वायत्त राज्य घोषित किया गया और स्थानीय फ्रांसीसी प्रतिनिधि ने इसको एक स्वतंत्र सरकार के रूप में मान्यता दी। 'नयी सरकार' ने विधिवत् अपना शासन आरम्भ किया। ब्रिटिश सरकार

1. Leo Bonns, *Europe Since 1914*, p. 167.

बात बहुत बुरी लगी। जब यह बात राइन-भूमि में स्थित मित्रराष्ट्रों के उच्च आयोग में उठायी गयी तो फ्रांस और बेल्जियम ने ब्रिटेन के विरोध में मत दिये। ब्रिटिश-सरकार ने अपने वाणिज्य-दूत को आन्दोलन की यथार्थता की जाँच करने को कहा। इस जाँच से यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया कि आबादी का प्रबल बहुमत पार्थक्यवादी आन्दोलन के विरुद्ध है। ब्रिटिश सरकार फ्रांसीसी सरकार पर दबाव डालने लगी। उसने इस बात को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले जाने की धमकी दी और अपने प्रतिनिधियों को आदेश दिया कि वे पार्थक्यवादी को किसी प्रकार की मदद न दें। फ्रांस के सामने कोई उपाय नहीं रह गया। उसे अन्त में झुकना पड़ा और सारा आन्दोलन कुछ ही समय में समाप्त हो गया। पिरमासेंस नामक स्थान में पन्द्रह विद्रोहियों को कत्ल कर दिया गया। फरवरी, १९२४ के बाद राइन-भूमि में पार्थक्यवादी आन्दोलन का नामोनिशान मिट गया। इस प्रकार ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हो चुका था, जिसके कारण जर्मन-सम्बन्धी कई घटनाओं को लेकर फ्रांस और ब्रिटेन में मतभेद हो सकता था।

क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर दोनों के बीच मतभेद होने के और भी कई कारण थे। युद्ध के तुरत बाद ब्रिटेन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार काफी उन्नति कर रहा था। लेकिन, १९२० के बाद से स्थिति ऐसी नहीं रही और ब्रिटेन का निर्यात गिरने लगा। इसका असर ब्रिटेन के आर्थिक जीवन पर पड़ा। ब्रिटेन का आर्थिक उत्थान तभी सम्भव था जब विदेशी बाजारों में उसके मालों की बिक्री हो। जर्मनी ब्रिटिश-मालों का सबसे बड़ा खरीदार था। अतः ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति तभी सुधर सकती थी जब उसके खरीदार देश जर्मनी की आर्थिक स्थिति अच्छी हो जाय। ब्रिटिश अधिकारी क्षतिपूर्ति की समस्या पर फ्रांस का समर्थन करने के लिए तैयार थे। लेकिन उनका विचार था कि क्षतिपूर्ति की अदायगी के पूर्व जर्मनी का आर्थिक पुनरोत्थान आवश्यक है।

फ्रांस का विचार कुछ दूसरा ही था। युद्ध में फ्रांस को काफी नुकसान उठाना पड़ा। उसकी कृषि योग्य भूमि और औद्योगिक केन्द्र बर्बाद हो चुके थे। फ्रांस के सामने इन्हीं बर्बादियों का पुनर्निर्माण करना था। वर्साय-सन्धि के अनुसार जर्मनी से हरजाना वसूल करके ही इन क्षेत्रों को पुनः बसाना था। लेकिन, मई, १९२१ तक फ्रांस को क्षतिपूर्ति के खाते में प्रायः कुछ नहीं मिला था। इसलिए जब जर्मनी ने मुहलत की मांग की तब फ्रांस को यह बात बिल्कुल पसन्द नहीं आयी। फ्रांसीसी नेताओं का कहना था कि जर्मनी का आर्थिक कठिनाइयों का कारण क्षतिपूर्ति की समस्या नहीं, बल्कि आर्थिक व्यवस्था का कुशासन और जर्मन लोगों की बदमाशी है। उनकी राय से क्षतिपूर्ति की अदायगी शीघ्र होनी चाहिए और जर्मनी को मुहलत नहीं मिलनी चाहिए।

ऐसी स्थिति में जब १४ नवम्बर, १९२२ को जर्मनी ने तीन-चार साल के लिए पूर्ण मुहलत की मांग की तो यह अवश्यम्भावी हो गया कि मित्रराष्ट्रों के बीच, जो लन्दन में एक सम्मेलन पर इकट्ठे हुए थे, गहरा मतभेद हो जाय। पोअन्कारे इस बात पर तुला हुआ था कि चूँकि जर्मनी अपने दायित्वों को निभाने में असफल रहा, इसलिए उसके विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की जाय। इसके विपरीत ब्रिटिश प्रधान मंत्री बोनर लॉ का कहना था कि रूस पर अधिकार जमा लेने से क्षतिपूर्ति की समस्या हल नहीं हो सकती। जर्मनी को अपराधी नहीं घोषित किया

जा सकता है क्योंकि क्षतिपूर्ति-आयोग के आदेशानुसार ही उसने अदायगी कर दी है। फ्रांसीसी प्रतिनिधि का कहना था कि जर्मनी ने निर्धारित मात्रा में फ्रांस को लकड़ी नहीं भेजी है। जनवरी, १९२३ में पेरिस-सम्मेलन में क्षतिपूर्ति आयोग ने बहुमत से ब्रिटिश प्रतिनिधि का मत विरोध में होते हुए भी, यह घोषित कर दिया कि जर्मनी ने 'जानबूझकर पूर्ति नहीं की है।' इस घोषणा की महत्ता संधि की उस धारा में निहित थी, जिसके अनुसार मित्रराष्ट्रों को यह अधिकार था कि 'यदि जर्मनी जान-बूझकर क्षतिपूर्ति नहीं करे तो सम्बन्धित सरकारें आवश्यक कदम उठा सकती है।' १० जनवरी, १९२३ को फ्रांसीसी सरकार ने यह एलान किया कि रूर पर आधिपत्य जमाने के लिए शीघ्र ही एक सैनिक टुकड़ी भेजी जायगी। इस एलान के साथ-साथ क्षतिपूर्ति समस्या का दूसरा चरण समाप्त हुआ।

रूर-आधिपत्य से डावस-योजना तक—रूर के आधिपत्य से क्षतिपूर्ति-नाटक का सबसे दुःखद दृश्य प्रारम्भ होता है। इस कुकार्य में फ्रांस ने ब्रिटिश-सरकार का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। लेकिन, पोअन्कारे को इसमें सफलता नही मिली और ११ जनवरी, १९२३ को फ्रांसीसी और बेल्जियन सेनाएँ रूर में प्रवेश कर गयीं। रूर-आधिपत्य के कानूनी औचित्य पर विचार करना ही बेकार है क्योंकि दुष्परिणामों को देखते हुए कानूनी पहलू का महत्व गौण पड़ जाता है। पोअन्कारे ने घोषणा की कि रूर पर कब्जा करने का फ्रांस का कोई इरादा नहीं है, किन्तु क्षतिपूर्ति न मिलने तक हम उस पर अधिकार रखना चाहते हैं। यद्यपि अधिकृत प्रदेश की लम्बाई ५० मील और चौड़ाई २८ मील ही थी, किन्तु यह जर्मनी का औद्योगिक केन्द्र था। इस इलाके में ८० प्रतिशत कोयला लोहा और इस्पात का उत्पादन होता था। इसमें ९ नगर थे और जर्मन आबादी की १० प्रतिशत जनता यहाँ निवास करती थी।

रूर पर आधिपत्य के बाद जर्मनी के सामने दो मार्ग थे : या तो वह फ्रांस की मांगों को स्वीकार कर ले अथवा आधिपत्याधिकारियों के साथ असहयोग करके निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistance) करे। जर्मन सरकार को यह विश्वास था कि यदि वह फ्रांस के साथ असहयोग कर देती है तो अधिक दिनों तक आधिपत्य कायम नहीं रहेगा। इसलिए फ्रांस और बेल्जियम को दी जाने वाली सारी क्षतिपूर्ति बन्द कर दी गयी। जर्मनी ने ब्रुसेल्स और पेरिस में स्थित अपने राजदूतों को वापस बुला लिया। सरकार ने अधिकृत क्षेत्र के निवासियों को को यह आदेश दिया कि वे शत्रु के साथ सहयोग नहीं करें। उसे किसी प्रकार का कर न दें। रेलवे और डाक-तार कर्मचारियों ने फ्रांसीसी तथा बेल्जियम अधिकारियों का आज्ञा पालन करने से इन्कार कर दिया। जर्मन सरकार ने हड़तालियों और सत्याग्रहियों को आर्थिक सहायता भी प्रदान की।

उग्र फ्रांसीसी राष्ट्रीयता का नेता पोअन्कारे भी फौलदी तत्त्वों का बना हुआ पुरुष था। वह ईंट का जवाब पत्थर से देना जानता था। उसने समूचे इलाके पर घेरा डाल दिया। रूर-प्रदेश की सारी जर्मन चीजें जब्त कर ली गयीं। सत्याग्रहियों और बड़े-बड़े उद्योगपतियों को कैद कर लिया गया। सैकड़ों नागरिकों को रूर से निकाल दिया। अधिकृत क्षेत्र से तैयार माल भेजना बन्द कर दिया गया। रूर-क्षेत्रों के सभी नगरों के मेयरों को कैद कर लिया गया। मार-पीट और हत्याएँ तो मामूली बात हो गयी। आधिपत्याधिकारियों की कार्रवाई से ७६

जर्मन मारे गये और ८२ घायल हुए। जर्मनी पर जो जुर्म ढाये गये वह किसी भी सभ्य सरकार के लिए लज्जा का विषय है। जर्मनी के ऊपर इसका परिणाम बहुत बुरा हुआ। जर्मनी का सारा आर्थिक जीवन ठप्प पड़ गया। बहुत से लोग बेकार हो गये। गरीबी और भुखमरी से लोग तबाह होने लगे। जर्मन राजकोष बिल्कुल खाली हो गया। मार्क की कीमत दिन-पर-दिन गिरती गयी। विदेशी आधिपत्य के कुछ समय पूर्व ही मार्क का मूल्य गिरकर प्रति पौंड ३५,००० हो चुका था। १९२३ के अन्त तक इसका मूल्य एक पौण्ड के मुकाबले में पचास हजार अरब तक बढ़ गया। जर्मनी बर्बाद हो गया। सरकार ने भी मुद्रास्फीति को रोकने का प्रयास नहीं किया क्योंकि वह जानती थी कि राष्ट्रीय आमदनी से उनको कोई लाभ होने वाला नहीं है। सारे पैसे क्षतिपूर्ति-कोष में चले जायँगे।

मुद्रास्फीति से सबसे अधिक घाटा मध्यमवर्ग को हुआ। धनिकों और उद्योग-पतियों को तो इससे लाभ ही हुआ। श्रमिक वर्ग को भी किसी प्रकार की हानि नहीं उठानी पड़ी। परन्तु मध्यमवर्ग को इससे काफी हानि हुई। उन्हें सर्वहारावर्ग की कोटि में आना पड़ा। जर्मनी के यहूदी निवासियों ने भी मुद्रास्फीति से काफी मुनाफाखोरी की। आगे चलकर जर्मनी में जो यहूदी-विरोधी आन्दोलन चला उसका एक प्रमुख कारण यह भी था। यह भी कह देना कोई असंगत नहीं होगा कि यही तबाह और बर्बाद मध्यमवर्ग एक दिन हिटलर के राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी का सबसे बड़ा समर्थक हुआ। बर्बाद होने पर भी जर्मन जनता असहयोग-आन्दोलन में अपनी सरकार का साथ देती रही।

असहयोग-आन्दोलन अधिक दिनों तक नहीं चल सकता था। रूर जर्मनी के आर्थिक जीवन का केन्द्र था और इसके आधिपत्य का असर देश के अन्य भागों पर पड़ रहा था। मार्क की कीमत गिरती चली जा रही थी। असहयोग-आन्दोलन असफल रहा और इसका विरोध होने लगा। जर्मन सरकार ने फ्रांस से वार्ता शुरू की और रेलों को बन्धक रखकर अदायगी का वादा किया। लेकिन पोअन्कारे की माँग थी कि जर्मनी को सर्वप्रथम अपना आन्दोलन समाप्त करना होगा। १२ अगस्त, १९२३ को चान्सलर कुनो ने इस्तीफा दे दिया और स्ट्रेसमेन के नेतृत्व में एक नया मन्त्रिमण्डल बना। २६ सितम्बर को उसने आन्दोलन समाप्त किये जाने की घोषणा कर दी। निष्क्रिय प्रतिरोध-आन्दोलन के पक्ष में जो अध्यादेश जारी किये गये थे, वापस ले लिये गये। पोअन्कारे अपनी जीत पर फूला नहीं समाया। यह क्षतिपूर्ति नाटक का तीसरा दृश्य था।

रूर-आधिपत्य के फलस्वरूप ब्रिटेन और फ्रांस के बीच तनाव तथा मनमुटाव और भी अधिक बढ़ गया। ब्रिटेन ने प्रारम्भ में इस कार्रवाई का विरोध किया था और जब इस विरोध के बावजूद पोअन्कारे रूर में अपनी सेना भेजने लगा तो ब्रिटिश-सरकार ने फ्रांस का एकदम साथ नहीं दिया। रूर में फ्रांसीसी कठोरता और अत्याचार के कारण आँग्ल-फ्रांसीसी सम्बन्ध और भी खराब हो गया।

जर्मनी में पार्थक्यवादी आन्दोलन को फ्रांस द्वारा प्रोत्साहित करने के कारण भी आँग्ल-फ्रांसीसी में सम्बन्ध मतभेद पैदा हुआ। फ्रांस द्वारा प्रोत्साहित पेलेटिनेट के पार्थक्यवादी आन्दोलन का अन्त ब्रिटिश-विरोध के कारण ही हुआ था। जब फ्रांस ने रूर पर आधिपत्य जमा

लिया तो इसके फलस्वरूप ९ नवम्बर, १९२३ को जनरल लुडेनडोर्फ इसी के नेतृत्व में इसी प्रकारका एक दूसरा आन्दोलन बवेरिया में उठ खड़ा हुआ। हिटलर लुडेनडोर्फ का बहुत बड़ा सहयोगी था। यह विद्रोह फ्रांसीसी आधिपत्य के विरुद्ध बर्लिन-सरकार की नीति के विरुद्ध हुआ था। यद्यपि इस विद्रोह को तत्परता के साथ दबा दिया गया, किन्तु इसका ऐतिहासिक महत्त्व था। कारण, इसका नेता एक ऐसा व्यक्ति था जिसका नाम संसार को कुछ दिनों के बाद बहुत बार सुनना था। यह व्यक्ति था एडोल्फ हिटलर। विद्रोह के अभियोग में हिटलर को कैद कर लिया गया। कैदखाने में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मेरा संघर्ष (*Mein Kampf*) लिखी, जिसमें उसने राष्ट्रीय समाजवाद के सिद्धान्त की विस्तार पूर्वक व्याख्या की। कुछ दिनों के बाद इसी व्यक्ति ने फ्रांस को रूर आधिपत्य का मजा चखाया।

रूर आधिपत्य से जो भी लाभ-हानि हुई हो, इसका तात्कालिक परिणाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। इसके फलस्वरूप जर्मनी में, खासकर पूँजीपति वर्ग के लोगों का, हृदय-परिवर्तन होने लगा। पहले इन लोगों ने क्षतिपूर्ति की अदायगी में सरकार के साथ असहयोग की नीति का अनुसरण किया था, लेकिन रूर-आधिपत्य के फलस्वरूप जब जर्मनी की आर्थिक दशा गिरने लगी, उसके उद्योग-धन्धे जब्त कर लिये गये, और मार्क की कीमत गिरने लगी तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचने लगे कि किसी तरह क्षतिपूर्ति की अदायगी करके रूर-क्षेत्र को मुक्त करना आवश्यक है। जर्मनी की जनता ने भी समझा कि फ्रांस उनसे बिना क्षतिपूर्ति लिये छोड़नेवाला नहीं है। इस प्रकार जनता के हृदय-परिवर्तन के फलस्वरूप जर्मन सरकार के लिए क्षतिपूर्ति की अदायगी में काफी सहूलियत हो गयी।[1]

रूर-आधिपत्य का प्रभाव फ्रांस पर भी पड़ा। फ्रांसीसी जनता ने यह अनुभव किया कि रूर पर अधिकार एक भयंकर भूल थी। जर्मनी का दिवाला निकालने से कोई लाभ नहीं था। फ्रांस में भी आर्थिक संकट उत्पन्न हो रहा था और फ्रैंक की कीमत घट रही थी। फ्रांस का पुनर्निर्माण क्षतिपूर्ति की रकम से ही सम्भव था और इस रकम को शक्ति के बल पर वसूलना आसान नहीं था। अतः फ्रांस में क्षतिपूर्ति वसूल करने के दूसरे उपायों पर जोर दिया जाने लगा। दूसरे शब्दों में फ्रांस अब नरम नीति को अपनाने के लिए तैयार था। सम्भवतः इसीलिए १९२४ के फ्रांसीसी चुनाव के फलस्वरूप उग्र नीति का सबसे बड़ा समर्थक पोअन्कारे का मन्त्रिमण्डल गिर गया और उसकी जगह समझौते की नीति का समर्थक हेरियो मन्त्रिमण्डल ने ली।

डावस-योजना—फ्रैंको-जर्मन सम्बन्ध के निरन्तर बिगड़ने से ब्रिटिश-सरकार काफी चिन्तित थी। वह कुछ ऐसा उपाय करना चाहती थी जिससे दोनों देशों का सम्बन्ध कुछ अच्छा हो जाय। २४ अक्टूबर, १९२३ को जर्मनी ने क्षतिपूर्ति-आयोग को एक पत्र भेजा। जर्मनी ने यह विचार व्यक्त किया कि वह क्षतिपूर्ति की अदायगी के लिए तैयार है। लेकिन, उसने आयोग से यह प्रार्थना की कि वह उसकी आर्थिक क्षमता का पता लगाये कि वह किस प्रकार क्षतिपूर्ति को अदा कर सकता है। इस दिशा में ब्रिटिश-सरकार पहले से ही तत्पर थी। उसने अमरीकी सरकार से अनुरोध किया कि वह जर्मनी की आर्थिक क्षमता का पता लगाने में सहयोग दे। अमरीकी सरकार इस प्रस्ताव पर राजी हो गयी। फलस्वरूप दिसम्बर १९२३ में क्षतिपूर्ति-

1. Carr, *International Relations Between the Two World Wars*, p. 45.

आयोग ने जर्मनी की आर्थिक स्थिति के जाँच के लिए दो समितियों की स्थापना की। पहली समिति के अध्यक्ष एक अमरीकी चार्ल्स टी० डावस थे और उन्हीं के नाम पर इस समिति को डावस-समिति कहते हैं। इस समिति में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और बेल्जियम के दो-दो प्रतिनिधि थे। जर्मन बजट का सन्तुलित करना तथा जर्मन मुद्रा का स्थिरीकरण करना समिति का मुख्य काम था। दूसरी समिति में, जिसका मुख्य काम जर्मनी द्वारा आयात किये गये सामानों का मूल्यांकन करना तथा उसको वापस मँगाने के साधनों पर विचार करना था, उपर्युक्त देशों में एक-एक प्रतिनिधि थे। इसके अध्यक्ष ब्रिटेन के रेजिनाल्ड मैककन्ना थे। १४ जनवरी, १९२४ को इन समितियों ने अपना काम पेरिस में शुरू किया। ध्यान देने की बात है कि इन दोनों समितियों के सदस्य राजनीतिज्ञ नही अपितु अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ थे और इनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ की जाती थी। विशेषज्ञों की दो समितियाँ नियुक्त हो जाने पर क्षतिपूर्ति-समस्या का चौथा अध्याय प्रारम्भ होता है।

क्षतिपूर्ति-समस्या की सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि यह मूलतः एक आर्थिक प्रश्न था; किन्तु अभी तक इसका राजनीतिक समाधान (आर्थिक नहीं) ढूँढा गया था। डावस-समिति ने इस कठिनाई को समझा और उसने जो रिपोर्ट तैयार की उसका आधार आर्थिक न कि राजनीतिक था। ९ अप्रिल, १९२४ को समिति ने अपनी १२४ पृष्ठों की रिपोर्ट क्षतिपूर्ति-आयोग के समक्ष पेश कर दी। रिपोर्ट पेश होने के कुछ ही दिनो बाद फ्रांस में आम चुनाव हुआ जिसके फलस्वरूप पोअन्कारे-मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया और उसके बाद ११ मई, १९२४ को हेरियो फ्रांस का प्रधान मन्त्री बना। क्षतिपूर्ति-समस्या के लिए यह एक अच्छा शकुन था; क्योंकि हेरियो समझौता की नीति का समर्थक था।

डावस-समिति के सामने मुख्य प्रश्न जर्मन मुद्रा को स्थिर करना था; क्योंकि इसके बिना जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी नहीं कर सकता था। इस बात को ध्यान में रखकर डावस-समिति ने जो रिपोर्ट पेश की उसका सारांश निम्नलिखित है: (१) पचास वर्ष के लिए एक प्रचलन बैंक की स्थापना की जाय जो नयी मुद्रा (रीशमार्क) को जारी करे। बैंक पर सात जर्मनों और सात विदेशियो का नियन्त्रण रहे। (२) जर्मनी को चार करोड़ पौण्ड का विदेशी कर्ज मिले, जिससे वह अपना मुद्रा-कोष कायम कर सके। (३) जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति का भुगतान मार्क में किया जाय तथा विदेशी मुद्राओं में इन रकमों का विनिमय कराने का उत्तरदायित्व मित्र-राष्ट्रीय सरकारों का रहे। (४) जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी के बन्धक के रूप में चुंगी, शराब, तम्बाकू तथा चीनी पर कर से प्राप्त होनेवाली आय वार्षिक पत्र में दिया करें। (५) वार्षिक क्षतिपूर्ति का भुगतान पाँच करोड़ पौंड से शुरू हो और धीरे-धीरे चार वर्ष की अवधि में बढ़कर एक अरब पौण्ड पहुँच जाय।(६) भविष्य का भुगतान आर्थिक प्रगति के अनुसार घटता या बढ़ता रहे। (७) जर्मनी के पास पर्याप्त आर्थिक साधन है। अगर उसके साथ सहानुभूति का वर्ताव किया जाय तो वह क्षतिपूर्ति अदा करने में समर्थ हो सकता है। इस दृष्टि से रूर से अविलम्ब विदेशी सेना को हटा लेना आवश्यक है। (८) योजना को शीघ्र कार्यान्वित किया जाय।

रिपोर्ट मिलने के दो दिन बाद क्षतिपूर्ति आयोग ने सिद्धान्त के रूप में समिति की सिफारिशें स्वीकार कर लीं। इसी बीच मेकडोनल्ड और हेरियो में कूटनीतिक वार्तालाप होते

रहे। यह तय हुआ कि डावस-योजना को विचारार्थ एक सम्मेलन में पेश किया जाय। जुलाई और अगस्त के महीनों में लन्दन में यह सम्मेलन होता रहा। ५ अगस्त को जर्मन प्रतिनिधि के रूप में स्वयं स्ट्रेस्मैन आया और लन्दन में उसका काफी स्वागत हुआ। समझौते के इस नये वातावरण में डावस-योजना बिना अधिक कठिनाई के स्वीकार कर ली गयी। महीने के अन्त में जर्मनी रीहस्टाग (Reichstag) के समझौते का अनुमोदन कर दिया और १ सितम्बर को योजना लागू कर दी गयी। अक्टूबर में जर्मनी ऋण जारी किया गया। आधी से अधिक रकम (११ करोड़ डॉलर) अमेरिका से मिली और एक चौथाई से भी अधिक ब्रिटेन से। शेष रकम अन्य देशों से मिली। नवम्बर के मध्य में फ्रांस और बेल्जियम को अन्तिम सेनाओं ने रूर को छोड़ दिया। राजनीतिक गतिरोध समाप्त हुआ और यूरोप में आर्थिक स्थिरता आने की सम्भावना बढ़ गयी।

डावस-योजना का मूल्यांकन :— डावस-योजना युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे बड़ी सफलता थी। इसके तीन कारण थे। सबसे पहले, उसमें मांगों को उतना ही सीमित रखा गया था जितना परिस्थिति के अनुकूल जर्मनी चुका सकता था। फिर, योजना में विदेशी विनिमय का उत्तरदायित्व लेनदारों पर ही छोड़ दिया गया था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि इस जटिल समस्या को क्षतिपूर्त्ति-आयोग के क्षेत्र से हटाकर आर्थिक विशेषज्ञों की एक समिति को सौंप दिया गया, जिसने इसका हल एक निष्पक्ष, अराजनीतिक तथा व्यापारिक दृष्टिकोण से किया। किन्तु, डावस-योजना में गम्भीर दोष भी थे।[1] इसमें वार्षिक अदायगी तो निश्चित की गयी थी; लेकिन इनमें न तो वार्षिक भुगतान की अवधि ही निश्चित थी और न क्षतिपूर्ति की कुल राशि का ही उल्लेख था। इस कारण जर्मनी को अपनी आर्थिक उन्नति में कम दिलचस्पी रह गयी; क्योंकि उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार के फलस्वरूप उसका दायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त डावस-योजना के फलस्वरूप जर्मनी को विदेशी कर्ज लेने की आदत पड़ गयी। एक ऋण की सफलता के बाद उसने खूब ऋण लिये। विदेशी ऋण के कारण जर्मनी ने अपनी अनेक आर्थिक कठिनाइयों को सम्हाल लिया। लेकिन, यह विदेशी ऋण भावी आर्थिक दिवालियापन का आधार भी बन गया।

डावस-योजना के विपक्ष में जो भी कहा जाय; किन्तु एक बात तो निश्चित है कि इसके फलस्वरूप तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में काफी सुधार हुआ। लन्दन-सम्मेलन से जो अनुकूल वातावरण तैयार हुआ उसके कारण मित्रराष्ट्रों और जर्मनी तथा ब्रिटेन और फ्रांस के बीच एक सौहार्द की भावना का सूत्रपात हुआ। क्षतिपूर्त्ति का भुगतान भी ठीक समय पर होता रहा यद्यपि उस समय बहुत थोड़े ही लोग यह अनुभव करते थे कि जर्मनी अमेरिका से पैसा लेकर क्षतिपूर्त्ति अदा कर रहा है। क्षतिपूर्त्ति नाटक का यह एक बहुत ही हास्यास्पद दृश्य था। जर्मनी अमेरिका से कर्ज लेकर क्षतिपूर्त्ति का भुगतान करता और मित्रराष्ट्र उसी धन से अपनी अमरीकी कर्ज भी चुकाते। अमेरिका का डालर घूमते-फिरते फिर अमेरिका ही आ पहुँचता। लेकिन, डावस-योजना की सबसे बड़ी देन यह है कि इसने सुरक्षा की आशा पैदा करने में काफी योग दिया। योजना स्वीकार हो जाने के बाद मेकडोनल्ड तथा हेरियो सितम्बर के महीने में राष्ट्रसंघ के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए जेनेवा गये और वहाँ उन्होंने एक दूसरी महत्त्वपूर्ण

1. G. Hardy, *A Short History of International Affairs*, p. 40.

समस्या—फ्रांस की सुरक्षा-मांग—का समाधान निकालने के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया। जेनेवा-प्रोटोकोल तथा लोकार्नो-सन्धियाँ इन्हीं प्रयासों के परिणाम थे। इन बातों को देखकर कम-से-कम उस समय के लिए तो यह अवश्य कहा जा सकता है कि रूर-आधिपत्य अभिशाप के रूप में एक वरदान सिद्ध हुआ।

यंग योजना :—इसमें कोई सन्देह नहीं कि डावस-योजना को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। जर्मनी बराबर क्षतिपूर्त्ति का भुगतान करता रहा और किसी को किसी से कोई विशेष शिकायत नहीं रही। पर डावस-योजना को सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इसमें न तो वार्षिक भुगतान की अवधि ही निश्चित की गयी थी और न क्षतिपूर्त्ति की कुल राशि का उल्लेख ही था। क्षतिपूर्त्ति-समस्या में अब असल प्रश्न यही था कि जर्मनी का पूर्ण दायित्व तथा इसके भुगतान की अवधि निश्चित कर दी जाय। लोकार्नो समझौता हो जाने के बाद यूरोपीय राजनीति में सद्भावना का वातावरण फैल रहा था। स्ट्रेसमैन राइन भूमि को खाली करने की फिक्र में था और इसके लिए वह फ्रांसीसी और ब्रिटिश-राजनीतिज्ञों से बातचीत कर रहा था। सितम्बर, १९२८ में राष्ट्रसंघ एसेम्बली के अधिवेशन के दिनों में जर्मनी क्षतिपूर्त्ति से सम्बन्धित राज्यों के बीच औपचारिक वार्ता के परिणामस्वरूप ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, इटली, जापान और जर्मनी के प्रतिनिधि इस बात पर सहमत हो गये कि राइन-भूमि को शीघ्र ही खाली करने के वार्ताएँ प्रारम्भ की जायँ और क्षतिपूर्ति-समस्या के सम्पूर्ण और निश्चित समाधान के लिए, अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की जाय। इस निर्णय के अनुसार एक नयी समिति बनायी गयी जिसने ११ फरवरी, १९२९ से अपना काम पेरिस में शुरू किया। समिति का प्रथम अधिवेशन अमरीकी अर्थशास्त्र विशेषज्ञ ओवेन यंग के सभापतित्व में हुई। उन्हीं के नाम पर इसका नाम 'यंग-समिति' पड़ा।

चार महीने के निरन्तर परिश्रम के बाद ७ जून, १९२९ को समिति ने अपनी ४० पृष्ठों को रिपोर्ट तैयार की और उसकी क्षतिपूर्त्ति से सम्बन्धित सरकारों के सामने रखा। यंग-योजना की प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित थीं : (१) क्षतिपूर्त्ति का भुगतान ५९ वर्षों में हो। इस अवधि के प्रथम ३७ वर्षों में वार्षिक अदायगी का औसत दस करोड़ पौंड होना चाहिए। (डावस-योजना में अधिकतम् राशि साढ़े बारह करोड़ पौंड थी)। शेष भुगतान १२ वर्षों में हो। (२. प्रत्येक वार्षिक अदायगी का एक तिहाई हिस्सा का भुगतान बिना किसी शर्त्त के हो। इसको किसी हालत में स्थगित नहीं किया जाय। शेष के लिए यह शर्त्त रखी गयी कि विनिमय-कठिनाइयाँ उत्पन्न होने पर जर्मनी अधिक-से-अधिक दो वर्षों तक अदायगी को स्थगित कर सकता है। (३) वार्षिक अदायगी जर्मनी के रेलवे और सरकारी बजट से हो। (४) सितम्बर, १९३३ के बाद राइन-क्षेत्र से अधिकार हट जाय। (५) एक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक की स्थापना की जाय जिसका काम क्षतिपूर्त्ति भुगतानों को प्राप्त करना, उनका वितरण करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों को जारी करना हो।[1]

डावस-योजना का प्रयास था कि क्षतिपूर्त्ति-समस्या को राजनीतिक क्षेत्र से हटाकर आर्थिक क्षेत्र में लाया जाय। यंग-योजना इस क्रम में एक कदम और आगे चला गया।[2] इसने

1. Leo Benns, op. cit., p. 171.
2. Carr, op. cit., p. 97.

एक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक की स्थापना की। बैंक पर किसी प्रकार का राजनीतिक नियन्त्रण नहीं रखा गया। इसका प्रबन्ध यंग-समिति में प्रतिनिधित्व करनेवाले सात राष्ट्रों के केन्द्रीय बैंकों के संचालक समितियों को सौंपा गया। नयी योजना के द्वारा वार्षिक अदायगियों तथा क्षतिपूर्ति की कुल रकम भी निश्चित हो गयी। क्षतिपूर्ति-समस्या से अनिश्चितता का काल भी समाप्त हो गया। वाह्य नियन्त्रण की प्रणाली हट गयी और जर्मनी को पूरा अधिकार प्राप्त हुआ। पूरी योजना एक आर्थिक संस्था को सौंप दी गयी जिसके प्रबन्ध में जर्मनी भी हिस्सा ले सकता था।

यंग-योजना पर विचार करने के लिए अगस्त, १९२९ में सम्बन्धित राज्यों का एक सम्मेलन हुआ। सम्मेलन को कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस बार कठिनाई जर्मनी फ्रांस की तरफ से नहीं अपितु ब्रिटेन की तरफ से डाली गयी। यंग-योजना में मित्रराष्ट्रों के बीच क्षतिपूर्ति की रकम का जो बँटवारा हुआ था, वह १९२० के स्पा-समझौते से कुछ भिन्न था। इससे ब्रिटेन को कुछ घाटा हो रहा था और फ्रांस के प्रतिशत में काफी वृद्धि हो गयी थी। ब्रिटिश-प्रतिनिधि फिलिप स्नोडन को फ्रांस को मिली विशेष सुविधाएँ पसन्द नहीं आयीं। उसने मांग की कि स्पा-सम्मेलन में निश्चित की गयी प्रतिशत कायम रखा जाय। सम्मेलन में उसने बहुत कड़ा रुख अपनाया और अपनी मांगें बहुत कुछ पूरी करा लीं। २० जनवरी, १९३० को संशोधन के साथ यंग-योजना स्वीकार कर ली गयी और १७ मई को यह लागू कर दी गयी। इस प्रकार क्षतिपूर्ति समस्या का पाँचवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।

यंग-योजना के लागू होने से संसार के राजनीतिक वातावरण में काफी सुधार हुआ। राइन-भूमि पर अधिकार समाप्त करने की बात चलने लगी। यंग-योजना के लागू होने के छह सप्ताह बाद मित्रराष्ट्रों की अन्तिम सैनिक टुकड़ियों ने जर्मन की भूमि को छोड़ भी दिया। इस समय फ्रांसीसी विदेश-मन्त्री ब्रियाँ 'संयुक्त यूरोपीय राज्य' (United States of Europe) की बात करने लगा। किन्तु, वह एक भ्रम था।

जर्मनी में यंग-योजना का भी स्वागत नहीं हुआ। जर्मनी के रीह बैंक के अध्यक्ष डा० हजल्मार शाख्ट, जो यंग-समिति में जर्मन विशेषज्ञ रह चुका था, यह भविष्यवाणी करते हुए कि क्षतिपूर्ति की वार्षिक अदायगी जर्मनी की शक्ति के बाहर है, अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। यंग-योजना के स्वीकृत होने के पूर्व ही स्ट्रैस्मेन की मृत्यु हो गयी। लगभग उसी समय न्यूयार्क स्टाक-एक्सचेंज में तहलका मच गया। विश्वव्यापी आर्थिक संकट का चक्र घूमने लगा था। इसी समय जर्मनी में हिटलर के राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी जोर पकड़ रही थी। हिटलर यंग-योजना की आलोचना करने लगा। यंग-योजना के अनुसार क्षतिपूर्ति की अदायगी १९८८ में जाकर पूरी होती। यह कैसा न्याय है कि पूर्वजों के 'अपराध' का दण्ड भावी सन्तति को भोगना पड़े। नात्सियों ने यंग-योजना पर जनमत लेने की मांग की। सरकार ने जनमत के लिए इन्तजाम कर दिया और एक छोटे बहुमत से योजना स्वीकृत हो गयी। लेकिन, घटना नात्सी लोगों के उत्थान की सूचक थी। १९३० के अन्तिम दिनों में जर्मन संसद् रीहस्टाग के लिए चुनाव हुआ और नात्सी पार्टी एक सौ सीट जीत गयी। क्षतिपूर्ति-समस्या का पूर्ण और अन्तिम समाधान दूसरी तरह से ही होना था।

हूवर-मुहलत—यंग-योजना के लागू होने के साथ क्षतिपूर्ति-समस्या का छठा अध्याय शुरू होता है। योजना को लागू हुए अभी थोड़े ही दिन हुआ होगा कि सारा संसार एक अनिश्चित आर्थिक महाप्रलय में डूब गया। इसके कारण पर अगले पृष्ठों में विचार किया जायगा। पर इसका प्रभाव क्षतिपूर्ति-समस्या पर पड़ना अवश्यम्भावी था। यह आर्थिक संकट जर्मनी में विशेष रूप से तीव्र था। इसके अनेक कारण थे। उस पर कर्ज का बहुत बड़ा बोझ था और पिछले पाँच वर्षों में उसने ही सबसे अधिक ऋण लिए थे। डावस-योजना के स्वीकृत होने के बाद पाँच साल में जर्मनी ने १४५० करोड़ रुपया विदेशों से कर्ज में लिए थे। इसका बड़ा हिस्सा अमेरिका द्वारा दिया गया। १९२९ में अमेरिका ने फैसला किया कि जर्मनी को अब भविष्य में कोई कर्ज न दिया जाय। इस नीति परिवर्तन के कई कारण थे। न्यूयार्क स्टाक-एक्सचेंज में तहलका मचने का कारण अमेरिका स्वयं आर्थिक संकटों से घिर गया था। अमेरिका को अपने पहले के दिये कर्ज वसूलने में दिक्कतें हो रही थी। यूरोप के विभिन्न देशों में राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि उनके साख पर भरोसा नहीं किया जा सकता था। इस समय तक कीमतें गिरनी शुरू हो गयी थी -सब जगह सिक्के का अनुभव होने लगा था। अमेरिका को स्वयं इस बात की आवश्यकता थी कि वह अपने आर्थिक संकट को टालने के लिए कार्यकारी उपाय अपनाये। इस दिशा में यह सम्भव नहीं था कि वह यूरोप के विभिन्न राज्यों को कर्ज देता रहे। अमेरिका के इस नीति-परिवर्तन का परिणाम जर्मनी के लिए बड़ा भंयकर सिद्ध हुआ। वहाँ की आर्थिक व्यवस्था एकदम छिन्न-भिन्न हो गयी। जर्मनी का बजट बिल्कुल असन्तुलित हो गया। उसको क्षतिपूर्ति, कर्ज और उसका सूद देना था। लेकिन वह भुगतान करे तो कहाँ से ? जर्मनी में घोर आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। कल-कारखाने बन्द होने लगे। बेकारी की समस्या बढ़ने लगी। जर्मन सरकार के सामने ये सारे जटिल प्रश्न उपस्थित थे।

इस संकट का सामना करने के लिए जर्मनी आस्ट्रिया के साथ मिलकर एक चुंगी संघ कायम करने का प्रयास किया। परन्तु यह योजना फ्रांस और उसके साथी राज्यों को फूटी आँख नहीं सुहायी। इन लोगों ने इसका जबरदस्त विरोध किया। उनका कहना था कि प्रस्तावित संघ शान्ति-सन्धियों के विरुद्ध है। इस बात को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भेजा गया और न्यायालय ने अपना निर्णय फ्रांस के पक्ष में देकर चुंगी संघ के निर्माण को रोकवा दिया। इसी समय आस्ट्रिया की सबसे बड़ी गैर-सरकारी बैंक क्रेडिट आन्सटाल्ट का दिवाला निकल गया। इस दिवालियापन का आतंक जर्मनी में फैला। विदेशी कर्जदारों ने शीघ्र ही अपने ऋणों का तकाजा करना शुरू किया। तीन सप्ताह के भीतर ही जर्मनी के रीह-बैंक से पाँच करोड़ पौंड का सोना निकाल लिया गया। स्वयं जर्मन लोगों में तहलका मच गया। प्रसिद्ध जर्मन डार्मस्टेडर ऐण्ड नेशनल बैंक से सब अपनी-अपनी रकम निकालने लगे। एक सप्ताह के बाद बैंक भी बन्द हो गया। अगले दिन सरकार ने अध्यादेश जारी करके सभी बैंकों और स्टाक एक्सचेन्जों को बन्द कर दिया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि सारा जर्मनी ही दिवालिया हो जायगा।

ऐसी संकटकालीन स्थिति को देखते हुए अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने २० जून १९३१ को विश्व के सामने एक वर्ष की मुहलत का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का आशय था कि

अमेरीकी सरकार विदेशी सरकारों से अपना पैसा वसूल करना एक वर्ष के लिए इस शर्त पर स्थगित कर सकती है कि सभी अन्तर-सरकारी कर्ज, जिसमें क्षतिपूर्ति-कर्ज भी शामिल रहे, की वसूली इसी प्रकार स्थगित कर दी जाय। हूवर का प्रस्ताव मानो डूबते को तिनके का सहारा था और इससे चारों ओर उत्साह फैल गया। किन्तु फ्रांस को यह प्रस्ताव बिल्कुल पसन्द नहीं आया। फ्रांस को जितना युद्ध-कर्ज चुकाना था उससे भी अधिक उसे क्षतिपूर्ति की रकम लेनी थी। उसकी इच्छा थी कि क्षतिपूर्ति का भुगतान जारी रहे। जर्मनी की आर्थिक स्थिति बने या बिगड़े, इससे उसको कोई मतलब नहीं था। जर्मनी के प्रति विश्वव्यापी सहानुभूति देखकर फ्रांस जल रहा था। उसके विचार में हूवर-मुहलत एक ऐसा षड्यन्त्र था, जो जर्मनी में अमेरीकी पूँजीपतियों का साख बनाये रखने के लिए रचा गया था। उसकी दृष्टि में मुहलत का मतलब क्षतिपूर्ति को समाप्त करने की दिशा में पहला कदम था। इसलिए फ्रांस ने हूवर-प्रस्ताव का घोर विरोध किया। पेरिस और वाशिंगटन के बीच तारों का ताना लग गया। आर्थिक विशेषज्ञ एक देश से दूसरे देश में घूमने लगे। जुलाई, १९३१ में लन्दन में सात सम्बन्धित राज्यों का सम्मेलन हुआ और यह तय हुआ किया गया कि जर्मनी को कर्ज देना नहीं बन्द किया जाय। लेकिन, फ्रांस अपने विषय पर राजी होने को तैयार नहीं था। फ्रांसीसी प्रधानमन्त्री दौड़े हुए वाशिंगटन गये। वहाँ अमरीकी सरकार से एक अस्थायी समझौता हुआ। यह तय हुआ कि यंग-योजना द्वारा निर्धारित बेशर्त भुगतान को जर्मनी चुकाता रहे और भविष्य में कोई मुहलत बिना फ्रांस की राय लिये नहीं दी जाय। इसी शर्त पर हूवर-योजना फ्रांस द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इस शर्त को मनवाने में पन्द्रह दिन लग गए और इस विलम्ब के कारण हूवर-योजना से जो लाभ होना चाहिए था नहीं हो सका।

लुसान-सम्मेलन और क्षतिपूर्ति का अन्त—आर्थिक संकट के समय जर्मनी की राजनीति तीव्र गति से मोड़ ले रही थी। वहाँ राष्ट्रीय-भावना जोर पकड़ रही थी और जर्मन-जनता मित्रराष्ट्रों के सम्मुख झुककर प्रत्येक बात को सुगमता से स्वीकार करने के लिए अब तैयार नहीं थी। हिटलर के नेतृत्व में नात्सी-पार्टी का तीव्र गति से उत्थान हो रहा था। वर्साय-सन्धि का अन्त करना इस पार्टी का मुख्य लक्ष्य था। जर्मनी में किसी भी सरकार के लिए अब क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर झुकना देशद्रोह समझा जाता था। इस राजनीतिक और आर्थिक संकट के पृष्ठाधार में जर्मन सरकार ने देखा कि हूवर-मुहलत के समाप्त हो जाने के बाद क्षतिपूर्ति का भुगतान उसके लिए सम्भव नहीं हो सकेगा। अतः, नवम्बर, १९३१ में जर्मन सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से यह अनुरोध किया कि वह इस बात की जाँच करे कि हूवर-मुहलत की समाप्ति के बाद जर्मनी क्षतिपूर्ति देने की स्थिति में रहेगा या नहीं। बैंक की समिति ने जाँच-पड़ताल के बाद यह रिपोर्ट दी कि जर्मनी वर्तमान स्थिति में क्षतिपूर्ति का भुगतान करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। इस आधार पर जर्मन चान्सलर ब्रूनिंग ने घोषणा की कि गम्भीर आर्थिक स्थिति के कारण जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी नहीं कर सकता। इस समय तक ब्रिटेन भी आर्थिक संकटों के चंगुल में फँसा था। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की थी कि हूवर-मुहलत के समाप्त होने के पूर्व क्षतिपूर्ति-समस्या पर किसी प्रकार का समझौता कर लिया जाय। इसके अतिरिक्त सारा संसार आर्थिक कठिनाइयों से घिरा पड़ा था, इसका भी कोई उपाय निकालना

था। इन सब प्रश्नों को तय करने के लिए १६ जून, १९३२ को लुसान में सम्बन्धित राज्यों का एक सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसको लुसान-सम्मेलन कहते हैं।

जर्मन चान्सलर पहले ही यह घोषणा कर चुका था कि जर्मनी क्षतिपूर्ति देने की स्थिति में नहीं है। लेकिन, फ्रांस सार्वजनिक रूप से इस 'अवश्यभावी' को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। लुसान-सम्मेलन में जर्मनी ने क्षतिपूर्ति-नाटक को समाप्त करने की मांग की। लेकिन फ्रांस इसके लिए तैयार नहीं हुआ। एक यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि क्षतिपूर्ति की कुल रकम घटाकर पन्द्रह करोड़ पौंड कर दी जाय। राशि पाँच प्रतिशत बॉण्डों के रूप में अदा करने को कहा गया। शर्त के अनुसार तीन साल के बाद बॉण्डों को खुले बाजार में बेचा जा सकता था। ऐसा न होने पर पन्द्रह वर्षों के बाद वे रद्द समझे जायँगे। दूसरे शब्दों में, यह क्षतिपूर्ति को पूर्णरूप से समाप्त कर देना था।[1]

फ्रांस और अन्य कुछ देश इसके लिए तैयार हो गये; पर उनका यह कहना था कि उन्हें स्वयं जो रकम अमेरिका और ब्रिटेन को देनी है उसमें भी हिसाब से कमी की जाय। अतः मित्रराष्ट्रों की सरकारों ने लुसान में एक पृथक् समझौता कर अपनी आपसी कर्जों को भी रद्द कर दिया और यह शर्त लगा दी कि अमेरिका को उन्हें जो कर्ज चुकाना है उसका सन्तोषजनक समाधान हो जाने पर ही लुसान-समझौते का अनुमोदन किया जाय। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह था कि यदि मित्रराष्ट्रों ने क्षतिपूर्ति के मामलो में जर्मनी को सुविधाएँ प्रदान की है तो इसके बदले में मित्रराष्ट्रों को भी अमेरिका की तरफ से सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। एक बार फिर युद्ध ऋण और क्षतिपूर्ति की समस्या को एक साथ जोड़ने की चेष्टा की गयी। लेकिन, अमेरिकी सरकार इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हुई। उसका कहना था कि क्षतिपूर्ति की समस्या एक समस्या है और युद्ध-ऋणो की समस्या दूसरी। दोनों को एक साथ नहीं जोड़ा जा सकता। अमरीकी संसद ऋणों को रद्द करने के पक्ष में नहीं थी। ऐसा करने से उसने साफ-साफ इन्कार कर दिया। इसी बीच हूवर-मुहलत समाप्त होने वाला था और अमरीकी कर्ज का प्रश्न व्यवहारिक रूप से सामने आ गया। दिसम्बर में कुछ हिचकिचाहट के बाद ब्रिटेन ने अपनी किस्त चुका दी। इटली, लिथुआनिया, फिनलैंड और चेकोस्लोवाकिया ने भी अपनी अपनी किस्त चुका दी। किन्तु फ्रांस, बेल्जियम, हंगरी, पोलैंड, यूगोस्लाविया इत्यादि देशों ने इन्कार कर दिया। १९३४ के आते-आते यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका का कर्ज अब वापस नहीं लौटेगा। उधर लुसान का समझौता भी असफल हो चुका था। इस बात की कल्पना नही की जा सकती थी कि कोई जर्मनी से क्षतिपूर्ति का रकम वसूल करने लिए पुनः प्रयत्न करेगा। इतिहास का एक लम्बा अध्याय अब सदा के लिए बन्द होनेवाला था। १९३४ के अमरीकी कर्ज की अदायगी प्रायः बन्द ही हो गयी। इसलिए प्रोफेसर कार ने लिखा है कि 'वास्तव' में १९३२ में क्षतिपूर्ति और मित्रराष्ट्रों के आपसी कर्जों के नाटक का, जिसने कि संसार को दस से अधिक वर्षों से परेशान कर रखा था, अन्तिम दृश्य समाप्त हो गया।

जिस क्षतिपूर्ति-समस्या के कारण हजारों लोग तबाह और बर्बाद हो गये, सारे संसार में आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया, जर्मन के हजारों व्यक्ति प्रायः भिखमंगे हो गये, उसका अन्त

1. Lee Benns, op. cit., pp. 174-177.

अत्यन्त ही अपमानपूर्वक हुआ। १९३२ के बाद न जर्मनी ने कोई क्षतिपूर्ति की रकम मित्रराष्ट्रों को दी और १९३४ के बाद न अमेरिका ही अपने दिये कर्ज की रकम अन्य राज्यों से वसूल कर सका। उधर जर्मनी में नात्सी-पार्टी जोर पकड़ रही थी। इस पार्टी के नेता हिटलर ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी कि सारी क्षतिपूर्ति अदा कर दी है और भविष्य में किसी प्रकार की रकम अदा करने को तैयार नहीं है। इस प्रकार क्षतिपूर्ति की समस्या स्वमेव हल हो गयी।

आर्थिक संकट (Economic Crisis)

पूँजीवादी व्यवस्था मानव-सभ्यता का सबसे बड़ा अभिशाप है। आज संसार में जो भी कष्ट और कठिनाइयाँ हैं उनकी जड़ में यही व्यवस्था काम करती है। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, विश्व-महायुद्ध और न जाने कितने अन्य महान् कष्टों के लिए यह व्यवस्था खुले रूप में जिम्मेवार है। १९२९-३० के आर्थिक संकट को यदि 'पूँजीवाद में संकट' की संज्ञा दी जाय तो गलत नहीं होगा। वास्तव में इस संकट ने पूँजीवादी व्यवस्था का पोल ही खोल दिया। उस समय सारे संसार में केवल एक ही देश, सोवियत-रूस (जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था नहीं थी) था जिसको इस विश्वव्यापी आर्थिक संकट का सामना नहीं करना पड़ा। अन्यथा, सारे संसार में त्राहि-त्राहि मची हुई थी।

आर्थिक संकट के कारण

युद्धोत्तर अभिवृद्धि :—प्रथम युद्ध के बाद अनेक देशों में आर्थिक दृष्टि से अभिवृद्धि का काल (period of boom) था। शान्ति स्थापित होने के साथ-साथ चीजों की माँग बढ़ने लगी और पुराने व्यापारिक संघर्ष, जो युद्ध के समय टूट गये थे, पुनः स्थापित होने लगे। युद्ध के समय बहुत-से उद्योग-धन्धे बन्द हो गये थे। शान्ति-स्थापना के बाद इन्होंने अपना काम फिर शुरू कर दिया। युद्ध के कारण असंख्य चीजें नष्ट हो गयी थीं। उसका पुनर्निर्माण करना था। इन सब कारणों से व्यापार, कारोबार तथा उद्योग-धन्धों में काफी अभिवृद्धि हुई।

पर यह अभिवृद्धि केवल मूल्य की अभिवृद्धि थी, उत्पादन का नहीं। जब युद्धकालीन सभी अर्थ-व्यवस्थाएँ समाप्त हो गयीं तो राष्ट्रों के सम्मुख अपनी अर्थ-व्यवस्था की शान्तिकालीन पुनर्निर्माण करने का प्रश्न था। युद्ध के समय, खासकर जापान और अमेरिका में, बड़े-बड़े कल कारखाने खुले थे। इनकी उत्पादन शक्ति असीम थी। चीजों का उत्पादन उसी रफ्तार में होता रहा जिस रफ्तार में युद्ध के समय हुआ था। पर इन चीजों को खरीदनेवालों की कमी थी। वस्तुओं से बाजार भरा पड़ा था, किन्तु खरीददारों में खरीदने की शक्ति नहीं थी। युद्धोत्तर अभिवृद्धि का वास्तविक रहस्य खुलने लगा।

युद्धकालीन ऋण :—आर्थिक-संकट का दूसरा कारण युद्धकालीन ऋण था। युद्ध के खर्च का बहुत बड़ा हिस्सा कर्ज लेकर चलाया गया था। लड़ाई के समय यूरोपीय राज्यों की बहुत बड़ी रकमें दूसरे से कर्ज के रूप में लेनी पड़ी थीं। युद्ध के प्रारम्भ में अमेरिका युद्ध में शामिल नहीं हुआ था। पर उसने मित्रराष्ट्रों को भारी रकम कर्ज में दी थी। शुरू-शुरू में ब्रिटेन भी अन्य देशों को कर्ज दिये। पर पीछे चलकर उसके लिए कर्ज देना असम्भव हो गया। वह स्वयं अमेरिका से भारी रकम कर्ज लेने को विवश हुआ। युद्ध समाप्त होने पर यूरोप के अनेक..

था। इन सब प्रश्नों को तय करने के लिए १६ जून, १६३२ को लुसान में सम्बन्धित राज्यों का एक सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसको लुसान-सम्मेलन कहते हैं।

जर्मन चान्सलर पहले ही यह घोषणा कर चुका था कि जर्मनी क्षतिपूर्ति देने की स्थिति में नहीं है। लेकिन, फ्रांस सार्वजनिक रूप से इस 'अवश्यम्भावी' को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। लुसान-सम्मेलन में जर्मनी ने क्षतिपूर्ति-नाटक को समाप्त करने की मांग की। लेकिन फ्रांस इसके लिए तैयार नहीं हुआ। एक यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि क्षतिपूर्ति की कुल रकम घटाकर पन्द्रह करोड़ पौंड कर दी जाय। राशि पाँच प्रतिशत बॉण्डों के रूप में अदा करने को कहा गया। शर्त के अनुसार तीन साल के बाद बॉण्डो को खुले बाजार में बेचा जा सकता था। ऐसा न होने पर पन्द्रह वर्षों के बाद वे रद्द समझे जायँगे। दूसरे शब्दों में, यह क्षतिपूर्ति को पूर्णरूप से समाप्त कर देना था।[1]

फ्रांस और अन्य कुछ देश इसके लिए तैयार हो गये; पर उनका यह कहना था कि उन्हें स्वयं जो रकम अमेरिका और ब्रिटेन को देनी है उसमें भी हिसाब से कमी की जाय। अतः मित्रराष्ट्रों की सरकारों ने लुसान में एक पृथक् समझौता कर अपनी आपसी क़र्जों को भी रद्द कर दिया और यह शर्त लगा दी कि अमेरिका को उन्हें जो कर्ज चुकाना है उसका सन्तोषजनक समाधान हो जाने पर ही लुसान-समझौते का अनुमोदन किया जाय। दूसरे शब्दो में, इसका अर्थ यह था कि यदि मित्रराष्ट्रों ने क्षतिपूर्ति के मामलों में जर्मनी को सुविधाएँ प्रदान की है तो इसके बदले में मित्रराष्ट्रों को भी अमेरिका की तरफ से सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। एक बार फिर युद्ध ऋण और क्षतिपूर्ति की समस्या को एक साथ जोड़ने की चेष्टा की गयी। लेकिन, अमेरिकी सरकार इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हुई। उसका कहना था कि क्षतिपूर्ति की समस्या एक समस्या है और युद्ध-ऋणो की समस्या दूसरी। दोनो को एक साथ नहीं जोड़ा जा सकता। अमरीकी संसद ऋणों को रद्द करने के पक्ष में नहीं थी। ऐसा करने से उसने साफ-साफ इन्कार कर दिया। इसी बीच हूवर-मुहलत समाप्त होने वाला था और अमरीकी कर्ज का प्रश्न व्यवहारिक रूप से सामने आ गया। दिसम्बर में कुछ हिचकिचाहट के बाद ब्रिटेन ने अपनी किस्त चुका दी। इटली, लिथूआनिया, फिनलैंड और चेकोस्लोवाकिया ने भी अपनी अपनी किस्त चुका दी। किन्तु फ्रांस, बेल्जियम, हंगरी, पोलैंड, यूगोस्लाविया इत्यादि देशों ने इन्कार कर दिया। १६३४ के आते-आते यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका का कर्ज अब वापस नहीं लौटेगा। उधर लुसान का समझौता भी असफल हो चुका था। इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती थी कि कोई जर्मनी से क्षतिपूर्ति का रकम वसूल करने लिए पुनः प्रयत्न करेगा। इतिहास ' एक लम्बा अध्याय अब सदा के लिए बन्द होनेवाला था। १६३४ के अमरीकी कर्ज की अद प्रायः बन्द ही हो गयी। इसलिए प्रोफेसर कार ने लिखा है कि 'वास्तव' में १६३२ में ' और मित्रराष्ट्रों के आपसी कर्जों के नाटक का, जिसने कि संसार को दस से अ परेशान कर रखा था, अन्तिम दृश्य समाप्त हो गया।

जिस क्षतिपूर्ति-समस्या के कारण हजारों लोग तबाह और बर्बाद हो गये आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया, जर्मन के हजारों व्यक्ति प्रायः भिखमंगे हो

1. Leo Benns, op. cit., pp. 174-177.

आना-जाना बन्द नहीं हो; संसार के राज्य परस्पर सहयोग से काम करें तो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था ठीक से चल सकती है। लेकिन, पूँजीवादी व्यवस्था में इस तरह के सिद्धान्त पर काम नहीं चलता है। इस व्यवस्था में एक देश दूसरे देश को कुचल कर आगे बढ़ने का प्रयत्न करता रहता है। अपने देश की आर्थिक उन्नति के लिए तरह-तरह की संरक्षण-नीति, आयात-कर आदि का आश्रय लिया जाता है। युद्ध के बाद यह नीति सभी देशों ने अपनायी। ब्रिटेन, जो अभी तक खुले व्यापार का समर्थक था, अब तरह-तरह की संरक्षण-नीति को अपनाने लगा था। एशिया में स्वदेशी आन्दोलन, रूस में बोल्शेविक क्रांति तथा युद्ध के फलस्वरूप यूरोप के नये स्थापित राज्यों की संरक्षक-नीति से पश्चिमी यूरोप के हाथ से एक बहुत बड़ा बाजार निकल गया। इसके सामने अब प्रश्न यह था कि वे अपनी चीजों को किस बाजार में बेचे। इन्ही कारणो से संसार को एक महान आर्थिक विपत्ति का सामना करना पड़ा था।

प्रलय का आरम्भ :—विश्वव्यापी आर्थिक संकट आने के पूर्व ही खाद्य पदार्थों, ऊन, कपास आदि अन्य प्राथमिक पदार्थों की कीमत में अनर्थकारी गिरावट शुरू हो चुकी थी। माल से बाजार भरा पड़ा था, पर उन्हें खरीदनेवाला कोई नहीं था। बहुत-सी कम्पनियाँ बन्द होने लगी थीं और बेकारी की समस्या करीब-करीब प्रत्येक देश के सामने खड़ी थी। किसी भी देश का बजट सन्तुलित नहीं था। केवल कर्ज के आधार पर सबका काम किसी तरह चल रहा था। कर्ज का अधिकांश हिस्सा अमेरिका से आता था। पर १९२९ के शरद् में अमेरिका द्वारा यूरोप को ऋण देना बिल्कुल बन्द कर देने की घोषणा से आर्थिक संकट पहले-पहल संसार के सामने आ खड़ा हुआ। इस घोषणा का कारण स्वयं अमेरिका में मूल्यपात (slump) था। अमेरिका के सामने सबसे विकट प्रश्न यह था कि महायुद्ध के समय वहाँ की उत्पादन-क्षमता में जो असाधारण वृद्धि हुई थी, उससे तैयार हुए माल को कहाँ खपाया जाय। इन मालों को दूसरे देशों में ही खपाया जा सकता था, क्योंकि वे अमेरिका की जरूरतों से बहुत अधिक थे। पर अन्य देशों के पास अमरीकी माल खरीदने के लिए सिक्के नहीं थे। इस हालत में अमरीकी माल का खपना मुश्किल हो गया। माल की अधिकता से वहाँ आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। चीजों की कीमतें गिरने लगी। उद्योग-धन्धों को घाटा होने लगा। कारखाने बन्द होने लगे। बहुत-से मजदूर बेकार हो गये। २३ अक्टूबर, १९२९ को न्यूयार्क-स्टॉक एक्सचेंज में एकाएक शेयरों का मूल्य पचास अरब डॉलर गिर गया। अमरीकी सरकार तथा बड़े-बड़े पूँजी-पतियों के प्रयास से स्थिति कुछ देर के लिए सम्हल गयी। पर, नवम्बर में शेयरों के मूल्य में फिर अत्यधिक गिरावट हुई। बहुत-सी कम्पनियों और धनिकों का दिवाला निकल गया। परिकल्पक (speculators) बेकार हो गये और उधार देना सर्वथा बन्द हो गया। परिणामतः संसार धड़ाम से आसमान से जमीन पर गिड़ पड़ा। अमेरिका में जो प्रतिक्रिया शुरू हुई उससे अन्य देश बच नहीं सके। १९३२ में केवल ब्रिटेन में ही बेकारी की संख्या तीस लाख के लगभग थी। सोवियत-रूस को छोड़कर इस तरह की हालत संसार के सभी देशों की थी।[1]

संकट की ऐसी स्थिति में अमेरिका के लिए दूसरे देशों को कर्ज देना सम्भव नहीं रहा। उसने कर्ज देना बिल्कुल बन्द कर दिया। इसके बाद शीघ्र ही सारे संसार की क्रय शक्ति में ह्रास हो गया, जिसके फलस्वरूप कीमतों में व्यापक गिरावट शुरू हो गयी। यूरोप के कर्जदार देशों

1. Lee Benns, op. cit., p. 178.

और ब्रिटेन के कर्जदार थे और स्वयं ब्रिटेन अमेरिका का ऋणी था। इन कर्ज
राज्य अमेरिका| अधिक थी। इन कर्जों के भुगतान के फलस्वरूप संसार के सामने सोने की
की मात्रा बहुत यी। सोना मुद्रा-पद्धति का आधार होता है और कीमतें उसी पर भी
समस्या आ ग
जाती हैं। का वैज्ञानिकीकरण :—आर्थिक संकट का एक और अन्य कारण यन्त्रों का
यन्त्रों और उनका वैज्ञानिकीकरण था। युद्ध के समय में रणक्षेत्रों में अधिक व्यक्तियों को
अधिक प्रयोग अ अधिकांश जनता युद्ध में भेज दिये गये। फलतः कारखानों और खेतों में मजदूरों
आवश्यकता हुई ी। इस कमी को दूर करने के लिए वैज्ञानिक आविष्कार हुए तथा यन्त्रों को
की कमी हो गय ी गयी और बहुत से स्वचालित मशीनें बनीं। इन अविष्कारों के फलस्वरूप मशीनों
कार्यक्षमता बढ़ाय वा कई गुना बढ़ गयी। खेतिहर मजदूरों का स्थान कृषि के नये-नये यन्त्रों ने
की उत्पादन क्षम ा धन्धों में स्वचालित मशीनों से प्रयोग के परिणामस्वरूप मजदूरों की बेकारी
ले लिया। उद्यो स प्रकार यह आर्थिक संकट का एक कारण बना।
बहुत बढ़ गयी। क्र की कमी :—यन्त्रों के द्वारा अमेरिका और आस्ट्रेलिया आदि देशों में गेहूँ
क्रय-शक्ति बड़ी मात्रा में पैदा किये जाने लगे। फलतः उनका भाव मन्दा पड़ने लगा।
आदि अनाज बहुत ने पैदावार का बहुत कम दाम मिलने लगा। अतएव उनमें कारखानों में बने
किसानों को अप की क्षमता घट गयी। मजदूरों की भी यही दशा हुई। वे बेकार हो गये। अतएव
माल को खरीदने का भी ह्रास हो गया।
उनकी क्रय-शक्ति विषम विभाजन :—युद्ध के बाद संसार का बहुत अधिक सोना अमेरिका में
सोने का इसका कारण यह था कि माल के रूप में अमेरिका अपना कर्ज वापस लेने के
एकत्र होने लगा। ा। यह रकम अमेरिका ने सोने के रूप में प्राप्त की। नतीजा यह हुआ कि
लिए तैयार नहीं थ ना खिच-खिचकर अमेरिका में एकत्र हो गया। अन्य देशों में सोने की कमी का
संसार भर का सो वहाँ के सिक्के की कीमत बढ़ गयी और मालों की कीमतें गिर गयीं। फल-
मतलब यह था कि आर्थिक संकट उपस्थित हो गया।
स्वरूप इन देशों में बाद फ्रांस में भी बहुत अधिक मात्रा में सोना एकत्र होने लगा था। जर्मनी
अमेरिका के नी पड़ी थी उसका आधा-से-अधिक हिस्सा फ्रांस को मिलनेवाला था। पहले
को जो क्षतिपूर्ति दे र्मनी माल की शक्ल में क्षतिपूर्ति का भुगतान करे। जर्मनी ने इस तरह से
यह तय हुआ कि ज ो। लेकिन जब जर्मनी के माल क्षतिपूर्ति प्राप्त करनेवाले देशों में भर गये
बहुत से माल दिये भ ो तो राष्ट्रीय व्यवसाय को काफी धक्का पहुँचा। अतएव जर्मनी द्वारा इस
और सस्ते बिकने ल भुगतान करना बन्द कर दिया गया। अब उसको नगद में क्षतिपूर्ति देने
प्रकार क्षतिपूर्ति को का मतलब था कि जर्मनी सोना के रूप में क्षतिपूर्ति दे। नतीजा यह हुआ
को कहा गया। इस ड़ी मात्रा में सोना मिलने लगा। अनुमान किया गया है कि १९२० के
कि फ्रांस को बहुत ब साठ प्रतिशत सोना अमेरिका और फ्रांस के हाथ में था। ऐसी स्थिति में
अन्त में संसार का ट का आना अवश्यम्भावी था।
संसार में आर्थिक संकीर्णता :—आर्थिक राष्ट्रीयता को आर्थिक संकट का एक दूसरा कारण
आर्थिक रा गर विदेशी व्यापार खुले रूप से चले, एक देश से दूसरे देश में माल का
बतलाया जाता है।

आना-जाना बन्द नही हो; संसार के राज्य परस्पर सहयोग से काम करें तो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था ठीक से चल सकती है। लेकिन, पूँजीवादी व्यवस्था में इस तरह के सिद्धान्त पर काम नहीं चलता है। इस व्यवस्था में एक देश दूसरे देश को कुचल कर आगे बढ़ने का प्रयत्न करता रहता है। अपने देश की आर्थिक उन्नति के लिए तरह-तरह की संरक्षण-नीति, आयात-कर आदि का आश्रय लिया जाता है। युद्ध के बाद यह नीति सभी देशों ने अपनायी। ब्रिटेन, जो अभी तक खुले व्यापार का समर्थक था, अब तरह-तरह की संरक्षण-नीति को अपनाने लगा था। एशिया में स्वदेशी आन्दोलन, रूस में बोलशेविक क्रांति तथा युद्ध के फलस्वरूप यूरोप के नये स्थापित राज्यों की संरक्षक-नीति से पश्चिमी यूरोप के हाथ से एक बहुत बड़ा बाजार निकल गया। इसके सामने अब प्रश्न यह था कि वे अपनी चीजों को किस बाजार में बेचे। इन्ही कारणों से संसार को एक महान आर्थिक विपत्ति का सामना करना पड़ा था।

प्रलय का आरम्भ :—विश्वव्यापी आर्थिक संकट आने के पूर्व ही खाद्य पदार्थों, ऊन, कपास आदि अन्य प्राथमिक पदार्थों की कीमत में अनर्थकारी गिरावट शुरू हो चुकी थी। माल से बाजार भरा पड़ा था, पर उन्हें खरीदनेवाला कोई नहीं था। बहुत-सी कम्पनियाँ बन्द होने लगी थी और बेकारी की समस्या करीब-करीब प्रत्येक देश के सामने खड़ी थी। किसी भी देश का बजट सन्तुलित नही था। केवल कर्ज के आधार पर सबका काम किसी तरह चल रहा था। कर्ज का अधिकांश हिस्सा अमेरिका से आता था। पर १९२९ के शरद् में अमेरिका द्वारा यूरोप को ऋण देना बिल्कुल बन्द कर देने की घोषणा से आर्थिक संकट पहले-पहल संसार के सामने आ खड़ा हुआ। इस घोषणा का कारण स्वयं अमेरिका में मूल्यपात (slump) था। अमेरिका के सामने सबसे विकट प्रश्न यह था कि महायुद्ध के समय वहाँ की उत्पादन-क्षमता में जो असाधारण वृद्धि हुई थी, उससे तैयार हुए माल को कहाँ खपाया जाय। इन मालों को दूसरे देशों में ही खपाया जा सकता था, क्योंकि वे अमेरिका की जरूरतों से बहुत अधिक थे। पर अन्य देशों के पास अमरीकी माल खरीदने के लिए सिक्के नहीं थे। इस हालत में अमरीकी माल का खपना मुश्किल हो गया। माल की अधिकता से वहाँ आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। चीजों की कीमतें गिरने लगीं। उद्योग-धन्धों को घाटा होने लगा। कारखाने बन्द होने लगे। बहुत-से मजदूर बेकार हो गये। २३ अक्टूबर, १९२९ को न्यूयार्क-स्टॉक एक्सचेंज में एकाएक शेयरो का मूल्य पचास अरब डॉलर गिर गया। अमरीकी सरकार तथा बड़े-बड़े पूँजी-पतियों के प्रयास से स्थिति कुछ देर के लिए सम्हल गयी। पर, नवम्बर में शेयरो के मूल्य में फिर अत्यधिक गिरावट हुई। बहुत-सी कम्पनियों और धनिकों का दिवाला निकल गया। परिकल्पक (speculators) बेकार हो गये और उधार देना सर्वथा बन्द हो गया। परिणामतः संसार धड़ाम से आसमान से जमीन पर गिड़ पड़ा। अमेरिका में जो प्रतिक्रया शुरू हुई उससे अन्य देश बच नहीं सके। १९३२ में केवल ब्रिटेन में ही बेकारी की संख्या तीस लाख के लगभग थी। सोवियत-रूस को छोड़कर इस तरह की हालत संसार के सभी देशों की थी।[1]

संकट की ऐसी स्थिति में अमेरिका के लिए दूसरे देशो को कर्ज देना सम्भव नही रहा। उसने कर्ज देना बिल्कुल बन्द कर दिया। इसके बाद शीघ्र ही सारे संसार की क्रय शक्ति में ह्रास हो गया, जिसके फलस्वरूप कीमतो में व्यापक गिरावट शुरू हो गयी। यूरोप के कर्जदार देशों

1. Lee Benns, op. cit., p. 178.

को इससे दोहरी चोट लगी। एक तो अपने कर्ज चुकाने के लिए उन्हें अमेरिका से डॉलर उधार मिलना बन्द हो गया और दूसरे जिन वस्तुओं को बेचकर वे अपना कर्ज चुकाने की आशा करते थे, क्रयशक्ति के ह्रास होने के कारण उनकी बिक्री ही बन्द हो गयी। सामान्य वाणिज्य का क्रम बिल्कुल ही टूट गया। बेकारी की समस्या बढ़ गयी और सारा संसार दिवालिया हो गया।

जर्मनी की स्थिति :—जर्मनी की स्थिति सबसे अधिक शोचनीय थी। डावस-योजना के अनुसार जर्मनी को विदेशों से कर्ज लेकर क्षतिपूर्ति को भुगतान करने का अवसर दिया गया था। जर्मनी ने इस अवसर से पूरा-पूरा लाभ उठाया और पिछले पाँच वर्षों में उसने लगभग १३५० करोड़ रुपया विदेशों से कर्ज लिया इसका बहुत बड़ा हिस्सा अमेरिका से प्राप्त हुआ था। पर, जब १९२६ में अमेरिका ने कर्ज नहीं देने का फैसला किया तब जर्मनी के आर्थिक जीवन में तहलका मच गया। वहाँ की सारी आर्थिक व्यवस्था एकदम छिन्न-भिन्न हो गयी। सिक्के और पूँजी में भारी कमी आ गयी। सरकारी बजट बिल्कुल असन्तुलित हो गया। बहुत से कारोबार बन्द हो गये और भयंकर बेकारी की समस्या उत्पन्न हो गयी।

आर्थिक संघ का प्रस्ताव :—आस्ट्रिया के साथ एक घनिष्ठ आर्थिक संघ का निर्माण करके जर्मनी ने अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयास किया। उस समय राष्ट्रसंघ में एक 'यूरोप का संयुक्त राज्य' कायम करने की बात चल रही थी। किन्तु, उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता आर्थिक सहयोग थी, राजनीतिक सहयोग नहीं। आस्ट्रिया और जर्मनी ने इस तथ्य को महसूस किया और एक आर्थिक संघ के लिए दोनों देशों में गुप्त रूप से वार्ताएँ चलने लगीं। मार्च १९३१ में आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री ने यह घोषणा की कि जर्मनी और आस्ट्रिया ने आर्थिक संघ बनाने की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। जिस समय यह घोषणा हुई उसको सुनकर सारा संसार विस्मित हो गया।

आस्ट्रिया और जर्मनी का संघ एक बहुत ही पुराना स्वप्न था। युद्ध के तुरत बाद दोनों देश एक दूसरे के साथ मिल जाना चाहते थे। आस्ट्रिया के निवासी जर्मन-जाति के थे और जर्मनी के साथ मिलकर वे एक शक्तिशाली जर्मन राज्य की स्थापना करना चाहते थे। युद्ध समाप्त होते ही इस दिशा में कदम उठाया गया और आस्ट्रिया ने अपने को जर्मनी के साथ मिल जाने की घोषणा कर दी। आस्ट्रिया का नाम 'जर्मन-आस्ट्रिया' रख दिया गया। किन्तु, मित्रराष्ट्रों ने इसका विरोध किया और इस कारण यह संघ सफलीभूत नहीं हो सका। भविष्य में ठीक इसी तरह का दूसरे प्रयास नहीं हो इसको रोकने की व्यवस्था वर्साय-सन्धि और सौंजर्मे की सन्धि में कर दी गयी। जर्मनी को यह मानना पड़ा कि यह आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अक्षुण्णता को बनाये रखने के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं करेगा। सौंजर्मे की सन्धि में भी यह व्यवस्था कर दी गयी कि आस्ट्रिया भविष्य में कोई ऐसा प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रयत्न न करे जिससे आस्ट्रिया के पृथक् या स्वतन्त्र राज्य रहने में बाधा पड़ सके। फ्रांस, इटली, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया कभी भी इस प्रकार के संघ की स्थापना को नहीं सह सकते थे।

अतएव कर्टियस ने जब संघ की घोषणा की तब इसका व्यापक विरोध हुआ। विरोधियों का नेता फ्रांस था। उसका कहना था कि एक बड़े और एक छोटे राज्य के बीच आर्थिक संघ

बनाने का परिणाम छोटे राज्य पर बड़े राज्य द्वारा राजनीतिक प्रभुत्व जमाना है। यदि यह योजना सफल हो गयी तो आस्ट्रिया का विलयन अवश्यम्भावी हो जायगा। इस संधि में शामिल होने के लिए अन्य पड़ोसी राज्यों को भी आमन्त्रित किया गया था। इटली, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया इत्यादि देशों पर इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। फ्रांस को भय था इन क्षेत्रों पर पहले जर्मनी का आर्थिक प्रभाव और फिर राजनीतिक प्रभाव कायम हो जायगा। जर्मनी इस समय अपना हथियारबन्दी कर रहा था। वहाँ नात्सी पार्टी का महत्त्व बढ़ रहा था। ऐसी दशा में फ्रांस, आस्ट्रिया और जर्मनी के प्रस्तावित संघ को कैसे सह सकता था।

ब्रिटिश सरकार का रुख कुछ स्पष्ट नहीं था। इस तरह के आर्थिक संघ के निर्माण से ब्रिटेन को लाभ ही लाभ था। किन्तु, ब्रिटिश सरकार को दूसरी आशंका थी। उसको विश्वास था कि इस तरह के संघ कायम हो जाने से उस क्षेत्र में राजनीतिक उपद्रव की सम्भावना बढ़ सकती है। इसके अतिरिक्त इस संघ में एक कानूनी प्रश्न भी था कि प्रस्तावित संघ शान्ति-सन्धियों की धारा के अनुसार कहाँ तक वैध है।

फ्रांस और उसके साथियों के जबरदस्त विरोध के फलस्वरूप यह बात राष्ट्रसंघ की कौंसिल में पेश की गयी। कौंसिल ने मई, १९३१ में सर्वसम्मति से यह निर्णय किया कि प्रस्तावित संघ की वैधता के प्रश्न को जाँचने का काम हेग स्थित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंप दिया जाय। पर, फ्रांस को भय था कि कहीं आस्ट्रिया-जर्मनी के पक्ष में न्यायालय अपना निर्णय न दे दे। वह इस प्रकार की जोखिम नहीं उठाना चाहता था। अतः, संघ की योजना त्याग देने के लिए वह आस्ट्रिया पर जबरदस्त दबाव डालने लगा। घनघोर कूटनीतिक युद्ध के बाद आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री को यह घोषणा करनी पड़ी कि आस्ट्रिया ने संघ की योजना त्याग दी है। डा० कर्टियस को प्रस्तावित संघ के असफल हो जाने के कारण इस्तीफा दे देना पड़ा। इसके दो दिन बाद हेग-न्यायालय ने अपना निर्णय दिया कि प्रस्तावित संघ शान्ति-सन्धियों के विरुद्ध है।

क्रेडिट-आन्स्टाल्ट का दिवाला—आर्थिक संघ की असफलता का प्रभाव आस्ट्रिया और जर्मनी दोनों देशों पर पड़ा। इसी समय आस्ट्रिया का सबसे बड़ा बैंक क्रेडिट-आन्स्टाल्ट का दिवाला निकल गया। आस्ट्रिया का पुराना बैंक उस देश के आर्थिक जीवन का केन्द्र था और कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि इसका दिवाला निकल जायगा। इसमें कोई शक नहीं कि बैंक की आन्तरिक गड़बड़ियाँ तथा प्रस्तावित आर्थिक संघ को असफल बनाने के लिए फ्रांसीसी आर्थिक नाकेबन्दी इसके दिवालियापन के महान् कारण थे। लेकिन, संसार के लिए इस बैंक का दिवाला निकलना दुर्भाग्यपूर्ण था। आस्ट्रिया सरकार ने आस्ट्रियन राष्ट्रीय बैंक क्रेडिट-आन्स्टाल्ट को बहुत आर्थिक मदद दी। इस विपत्ति को रोकने के लिए बैंक ऑफ इंगलैंड ने भी एक बहुत बड़ी रकम कर्ज के रूप में प्रदान की। क्रेडिट आन्स्टाल्ट तो किसी तरह बच गया। किन्तु, एक जहाज की रक्षा करके तूफान को नहीं रोका जा सका। जर्मनी पर इसका तात्कालिक प्रभाव पड़ा। वहाँ घोर तहलका मच गया। विदेशी महाजनों ने शीघ्र ही अपने ऋणों का तकाजा किया। तीन सप्ताह के भीतर जर्मन रीह बैंक से पचास करोड़ पौंड का सोना निकाल लिया गया। एक सप्ताह बाद सुप्रसिद्ध जर्मन बैंक डार्मस्टेडर एण्ड नेशनल बैंक का दिवाला निकल गया। अगले दिन सरकार ने अध्यादेश जारी करके सभी बैंकों को बन्द कर दिया। जर्मनी के लिए ही नहीं अपितु सारे संसार के लिए यह सर्वनाश का वर्ष था।

ब्रिटेन में संकट—इस सर्वनाश से संसार को बचाने के लिए राष्ट्रपति हूवर ने एक वर्ष की मुहलत की घोषणा की। इसी समय ब्रिटेन भी विकट आर्थिक संकट के चंगुल में फँस गया। जुलाई के अन्त में बैंक ऑफ इंगलैंड आर्थिक संकट की चोट महसूस करने लगा। सभी लोग अपने-अपने पैसों को बैंक से निकालने के लिए दौड़ पड़े। १ अगस्त को यह एलान किया गया कि बैंक ऑफ फ्रांस तथा न्यूयार्क के फेडरल-रिजर्व-बैंक दोनों ने ढाई-ढाई करोड़ पौंड का उधार बैंक ऑफ इंगलैंड को दिया है। पर इस घोषणा से स्थिति नहीं सम्भली और धन निकालने का कार्य तीव्र गति से चलता रहा। २४ अगस्त, १९३१ को मजदूरदलीय प्रधान मन्त्री रामजे मेकडानल्ड ने इस्तीफा देकर सभी पार्टियों को मिलाकर एक 'राष्ट्रीय सरकार' की स्थापना की जिसका मुख्य काम आर्थिक संकट का सामना करना था। १५ सितम्बर को चालू वर्ष के बजट को सन्तुलित करने के लिए ब्रिटिश-संसद् में एक पूरक बजट पेश किया गया। मितव्ययिता इस बजट की मुख्य विशेषता थी। इस बजट का लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। पर उसी दिन अखबारों में सिपाही विद्रोह का समाचार प्रकाशित हुआ। निचले दर्जे के कुछ नौ-सैनिक ने जो प्रस्तावित मितव्ययिता से असन्तुष्ट थे, विद्रोह कर दिया। ब्रिटिश अखबारों ने इस घटना को कोई खास महत्त्व नहीं दिया। किन्तु विदेशी अखबारों में इस घटना में नमक-मिर्च मिलाकर खूब प्रचार किया गया। नयी सरकार विश्वास स्थापित करने के लिए जो काम शुरू कर चुकी थी, उसके सारे प्रयास एक झटके में विनष्ट हो गये। बैंकों में एक बार फिर जनसमूह का तांता लग गया। केवल १८ सितम्बर को ही १८,०००,००० पौंड निकाल लिया गया। २१ सितम्बर को ब्रिटेन को स्वर्ण-मान (gold standard) छोड़ देना पड़ा। सरकार ने सोने का निर्यात ही बन्द कर दिया। कहा गया कि 'पौंड स्वर्ण से मुक्त' हो गया और कुछ ही दिनों के भीतर स्वर्ण रूप में उसका मूल्य पचीस प्रतिशत गिर गया।

स्वर्ण-मान के परित्याग से ब्रिटेन को लाभ हुआ; परन्तु अन्य देशों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। विदेशों में, जहाँ कीमतें पहले से ही गिरी पड़ी थीं और भी गिरावट शुरू हुई। यूरोप के प्रायः सभी स्टाक एक्सचेंज बन्द हो गये। बैंकों की दर में काफी वृद्धि हो गयी। आर्थिक संकट अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। नार्वे, स्वेडन, डेनमार्क, फिनलैंड, ब्रिटिश-साम्राज्य के सभी डोमिनीयन और उपनिवेश (दक्षिण अफ्रिका को छोड़ कर) तथा दक्षिण अफ्रिका के अधिकांश देशों को स्वर्ण-मान का परित्याग करना पड़ा। तीन महीने बाद जापान को भी यही करना पड़ा। जिन देशों का विदेशी विनिमय का आधार स्टर्लिंग था, उन सबों को स्वर्ण मान त्याग देना पड़ा और जिन्होंने ऐसा नहीं किया उन्हें काफी कष्ट का सामना करना पड़ा। केवल फ्रांस,अमेरिका, इटली, बेल्जियम, हालैंड, पोलैंड, रूमानिया स्विट्जरलैंड ही कुछ देश बच गये जिन्होंने स्वर्ण-मान को बनाये रखा। नाम के लिए जर्मनी भी स्वर्ण-मान को कायम रखे रहा; पर उसके लिए भी यह अत्यन्त कठिन काम था। फ्रांस अभी तक आर्थिक संकटों से बचा हुआ था। लेकिन पौंड के गिराव के एक सप्ताह बाद उसकी हालत भी डावाँडोल होने लगी। वहाँ भी हजारों की संख्या में लोग बेकार हो गये। आर्थिक संकट ने किसी को भी नहीं छोड़ा यहाँ तक फ्रांस को भी नहीं।

विश्व-अर्थ सम्मेलन—एक तरफ संसार घनघोर आर्थिक संकट में फँसा हुआ था और उधर हूवर-मुहलत की अवधि समाप्त हो रही थी। हूवर-मुहलत से आर्थिक संकट दूर करने में

कुछ सहायता अवश्य मिली; पर उससे समस्या का पूर्णरूपेण हल हो सकना सम्भव नहीं था। अतः क्षतिपूर्ति और अन्य आर्थिक समस्याओं पर विचार करने के लिए १९३५ में लुसान में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। सम्मेलन में अन्य निर्णयों के अतिरिक्त यह भी निश्चय किया गया कि अगले वर्ष आर्थिक समस्या पर विचार करने के लिए एक विश्व-अर्थ-सम्मेलन का आयोजन हो। इस सम्मेलन में अमेरिका का सहयोग आवश्यक था। पर, इस समय अमेरिका का अर्थ-संकट अपनी चरम सीमा पर था। उस समय अमेरिका में १५,०००,००० व्यक्ति बेकार थे। इसी समय अमेरिका में चुनाव हुआ और फ्रेंकलिन रूजवेल्ट राष्ट्रपति चुने गये। उनके कार्यभार ग्रहण करने के समय अमरीकी अर्थ-व्यवस्था अत्यन्त ही शोचनीय हालत में थी फलस्वरूप अमेरिका ने भी स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया। इस शोचनीय हालत में अमेरिका एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए इच्छुक नहीं था। मेकडानल्ड दाड़ो-दौड़ा वाशिंगटन पहुँचा और इस शर्त पर उसने अमरीकी राष्ट्रपति को सम्मेलन में शामिल होने के लिए राजी किया कि सम्मेलन में युद्ध-ऋणों के मामले पर विचार नहीं किया जायगा।

६ जून, १९३३ को भयंकर आर्थिक संकट की समस्या पर विचार करने के लिए लन्दन में ६६ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की एक बैठक हुई। लिखित इतिहास में यह राज्यों का सबसे बड़ा सम्मेलन था। इस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार साठ प्रतिशत कम हो गया था, बेकारों की संख्या तीन करोड़ तक पहुँच चुकी थी और इसके साथ ही कई देशों की राष्ट्रीय आय चालीस प्रतिशत तक घट गयी थी। अन्तर-राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति इतनी भयंकर हो गयी कि परस्पर मिलकर उसे सम्हालना जरूरी हो गया था। किन्तु सम्मेलन की असफलता अवश्यम्भावी थी। सम्मेलन ने मुख्यतः इन प्रस्तावों पर विचार किया :—(१) विदेशी व्यापार में संरक्षण नीति का अन्त कर परस्पर सहयोग की नीति का प्रारम्भ किया जाय, (२) मुद्रा का स्थिरीकरण किया जाय। फ्रांस ने यह प्रस्ताव रखा कि संरक्षण नीति का अन्त करने के पहले मुद्रा का स्थिरीकरण करना आवश्यक है। ब्रिटिश-सरकार ने फ्रांसीसी प्रस्ताव का समर्थन किया। अमरीकी प्रतिनिधिमण्डल ने भी उसका समर्थन किया। परन्तु राष्ट्रपति रूजवेल्ट को अपने प्रतिनिधि का रुख पसन्द नहीं आया। अमेरिका को मुद्रा-स्थिरीकरण में दिलचस्पी नहीं थी। राष्ट्रपति ने एक वक्तव्य दिया जो अमरीकी प्रतिनिधिमण्डल के उदार रुख को अस्वीकार करने के ही समान था। मुद्रा-स्थिरीकरण के प्रस्ताव का विरोध करने के लिए दूसरा विशेषज्ञ अमेरिका से तुरत भेजा गया। यह घटना सम्मेलन के लिए प्राणघातक प्रहार सिद्ध हुआ। मुद्रा के प्रश्न पर कोई समझौता नहीं हो सका। लन्दन में एकत्रित ६६ राज्यों के प्रतिनिधि किसी एक नतीजे पर नहीं पहुँच सके। २७ जुलाई को सम्मेलन का कार्य अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया।

संकट का अन्त —१९३४ आते-आते आर्थिक संकट दूर होना प्रारम्भ हो गया। इतने दिनों तक बहुत से कल-कारखाने बन्द पड़े थे। उत्पादन नहीं होने के कारण चीजों की कमी खटकने लगी थी। उधर यूरोप में पुनः युद्ध के काले बादल मड़राने लगे थे। हथियारबन्दी की होड़ तीव्र गति से चल रही थी। संसार के राज्य अस्त्र-शस्त्र और युद्धोपयोगी सामग्री बनाने में लग गये थे। सेनाओं की संख्या बढ़ाई जाने लगी थी। कल-कारखानों के पास काम की कमी

नहीं थी। इसीलिए बेकारी की समस्या स्वयमेव हल हो गयी। लुसान सम्मेलन के बाद क्षतिपूर्ति एवं युद्ध-ऋण का प्रश्न भी नहीं था। मुद्रा-प्रसार की नीति का अवलम्बन करके विभिन्न देशों में सिक्कों की कीमत गिरा दी गयी थी। इन सब कारणों से वस्तुओं की कीमत बढ़ने लगी और संसार की आर्थिक व्यवस्था सन्तुलित होने लगी।

आर्थिक संकट के परिणाम—यह कहना सर्वथा गलत होगा कि आर्थिक संकट का प्रभाव केवल क्षतिपूर्ति और युद्ध ऋण की समस्याओं पर ही पड़ा। वास्तव में, यह संकट इतना विकट था कि इसका परिणाम व्यापक हुआ और इसने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी पहलुओं को प्रभावित किया। किन्तु, यहाँ हम केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसके प्रभाव पर ही विशेष रूप से विचार करेंगे।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था पर प्रभाव—आर्थिक संकट का सबसे बुरा परिणाम लोकतन्त्र के सिद्धान्त पर पड़ा। इस मन्दी के कारण संसार भर में बेकारी, असन्तोष, असुरक्षा और अस्थिरता की वृद्धि हुई। लोकतन्त्रीय देशों की सरकारें इन समस्याओं को नहीं सुलझा सकी। अतएव जनता ने इन सरकारों के विरुद्ध वोट देकर उन्हें अपदस्थ कर दिया। उस समय तक लोगों में लोकतन्त्र में विश्वास की भावना कम हो गयी। उस समय तक लोकतन्त्र तथा उदार पूँजीवाद में घनिष्ठ सम्बन्ध था। ये दोनों राष्ट्रीय उन्नति के लिए आवश्यक माने जाते थे। लेकिन आर्थिक मन्दी ने ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न कर दिया कि इन पर से लोगों की आस्था उठ गयी। साधारण जनता को साम्यवाद बहुत आकर्षक लगने लगा।

अधिनायकवाद का उत्कर्ष—अधिनायकवाद का मार्ग प्रशस्त करना आर्थिक संकट का दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम था। यह तय था कि सामान्य शासन-पद्धति से इतने बड़े संकट का मुकाबला नहीं किया जा सकता था। संसद् की बैठक जब तक हो तब तक असख्य बैंक फेल कर जा सकते थे। अतः प्रत्येक देश का राजनीतिक और आर्थिक काम संसद् द्वारा बनाये गये कानून से नहीं वरन् अध्यादेश से चलने लगा। कार्यकारिणी के हाथों में राज्य की सारी शक्तियाँ केन्द्रीभूत हो गयी। जिस देश में प्रजातान्त्रिक परम्पराओं का अभाव था वहाँ अधिनायकतन्त्र कायम होते देर नहीं लगी। इससे फासिज्म को बहुत प्रोत्साहन मिला। स्पेन, पुर्तगाल और मध्य यूरोप के प्रायः सभी देशों में तानाशाही शासन शुरू हुआ। ब्रिटेन में जहाँ प्रजातान्त्रिक परम्पराएँ थीं, वहाँ भी एक 'राष्ट्रीय सरकार' का संगठन हुआ और इसी नाम पर मनमाना शासन होने लगा। अमेरिका में भी 'नयी व्यवस्था' (New Deal) के अन्तर्गत राष्ट्रपति रूजवेल्ट को असाधारण अधिकार प्राप्त हुए। संसार के भविष्य के लिए यह शुभ लक्षण नहीं था। प्रजातान्त्रिक शासन में सरकारी नीति पर जनमत का नियन्त्रण रहता है, अधिनायकवाद में जनमत के द्वारा यह छेड़ने से रोका जा सकता है; लेकिन एक तानाशाह को नहीं। इस तरह तानाशाही के उत्थान के कारण विश्व-शान्ति का भविष्य अन्धकार में डूब गया।[1]

आर्थिक राष्ट्रीयता—आर्थिक राष्ट्रीयता का विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्रवृत्ति कम होना आर्थिक संकट का एक अन्य परिणाम सिद्ध हुआ। इस संकट का मुकाबला करने के लिए लगभग सभी राज्यों ने अपने उद्योग-धन्धों के संरक्षण की दृष्टि से तटकर, चुंगी, अकाब की

1. G. Hardy, *A Short History of International Affairs*, p. 282.

ऊँची दीवारें खड़ी कीं। अब सभी देश संकुचित राष्ट्रीय दृष्टिकोण से आर्थिक समस्या का हल करने का प्रयास करने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सौहार्द के विकास के लिए यह बड़ा घातक सिद्ध हुआ तथा इस समय इसी चीज की सबसे बड़ी आवश्यकता थी।

राष्ट्रसंघ की दुर्बलता—आर्थिक संकट ने राष्ट्रसंघ को एकदम दुर्बल बना दिया क्योंकि सदस्य-राज्य राष्ट्रसंघ के आदर्शों को बिल्कुल भूल गये। किसी को सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था पर ध्यान नहीं रहा। सब अपनी आर्थिक स्थिति से परेशान थे। आर्थिक संकट को लेकर फ्रांस की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी। मन्त्रिमण्डलों का पतन जल्दी-जल्दी होने लगा। इस अस्थिरता के कारण वहाँ की सरकार सामूहिक सुरक्षा के लिए कोई दृढ़ और कठोर उपाय नहीं अपना सकती थी। इस संकट ने संयुक्त राज्य अमेरिका में पार्थक्यवादी आन्दोलन को और प्रोत्साहित किया। अब अमेरिका ने यूरोपीय राजनीति से अलग रहने की नीति का पालन और दृढ़ता से शुरू किया।

जापानी साम्राज्यवाद का पुनरोद्भव—आर्थिक संकट ने सोये हुए जापानी साम्राज्यवाद को झकझोर कर उठा दिया। प्रोफेसर टायनबी का कहना है कि भीषण आर्थिक मन्दी से विवश हो कर ही जापानी जनता ने व्यापारिक विस्तार के स्थान पर सैनिक विजय की जापानी सेना नायकों की नीति का समर्थन किया। इस मन्दी से जापानी बहुत परेशान हो गये थे। अतएव उन्होंने मंचूरिया पर आक्रमण करने में जरा भी संकोच नहीं किया।[1] इसके लिए जापान को अच्छा मौका भी मिल गया क्योंकि सारा संसार इस समय घोर आर्थिक संकट में फँसा हुआ था।

जापान के सामने अपनी बढ़ती हुई आबादी को भोजन देने का प्रश्न था। इसके अतिरिक्त उसके सामने विविध आर्थिक प्रश्न थे। इन प्रश्नों का समाधान जापानी साम्राज्य को फैलाकर ही किया जा सकता था और जापानी साम्राज्य-विस्तार का एक क्षेत्र चीन था। यूरोप के राज्य अपनी ही समस्याओं में व्यस्त थे। जापान के लिए यह स्वर्ण अवसर था। इससे लाभ उठाकर उसने १९३१ में चीन पर चढ़ाई कर दी। आक्रमणकारी प्रवृत्ति ने पहले-पहल अपना सर उठाया और इसके अनुयायियों की कमी नहीं रही।

इटली के आक्रामक प्रवृत्ति का विस्फोट—आर्थिक संकट ने अबीसीनिया-कांड को पैदा किया। इसके कारण इटली की आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय हो गयी थी। आर्थिक संकट ने मुसोलिनी की तानाशाही को खतरे में डाल दिया था। अतएव उसने इटली की जनता का ध्यान इस ओर से हटाने के लिए अबीसीनिया पर हमला करने का निश्चय किया।

हिटलर का उत्कर्ष—आर्थिक संकट का सबसे भयंकर परिणाम यह था कि इसने एकाएक सभी जर्मनों को राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी का अनुयायी बना दिया। कहना न होगा कि इस पार्टी की नीति काफी उग्र थी और यह वर्साय-सन्धि को टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहती थी। संकट के पहले हिटलर और उसकी पार्टी की राजनीतिक शक्ति उपेक्षनीय था। लेकिन, इन लोगों ने साफ-साफ शब्दों में यह कहना शुरू किया कि क्षतिपूर्ति का बोझ इतना भारी है कि उसको ढोना जर्मनी की शक्ति के बाहर की चीज है। जर्मनी जनता ने हिटलर की बातों

1. Toynbee, *Survey of International Affairs* (1931). p. 403.

को बड़ी चाव से सुना और उसका खूब समर्थन किया। हिटलर ने मध्यम वर्ग को तथा पूँजीपति वर्ग का साम्यवाद का हौआ दिखा कर अपने वश में कर लिया, जनता को आर्थिक संकट की दलदल से उभारने के लिए बड़े सब्ज बाग दिखाये, इसे हल न कर सकने के लिए गणराज्य सरकार की भर्त्सना की, इससे उसे जनता का प्रबल समर्थन मिल गया और वह शीघ्र ही जर्मनी का सर्वेसर्वा बन गया। यदि यह आर्थिक संकट नहीं होता तो हिटलर कभी इतना शक्तिशाली नहीं बन सकता।

साम्यवाद की श्रेष्ठता—आर्थिक संकट का ऐतिहासिक परिणाम यह हुआ कि इसने साम्यवादी व्यवस्था की मजबूती को सिद्ध करके पूँजीवाद के वास्तविक स्वरूप का रहस्य खोल दिया। सोवियत संघ ही संसार में एक ऐसा दशा था, जो आर्थिक संकट के चंगुल में नही फँसा। साम्यवादी प्रचार के लिए यह एक बहुत अच्छा मसाला मिल गया। संसार में साम्यवाद के प्रसार का यह एक मुख्य कारण था। इसके अतिरिक्त आर्थिक संकट के कारण लाखों व्यक्ति बेकार हो गये। इन बेकार व्यक्तियों को साम्यवाद का सिद्धान्त काफी पसन्द आया। इस प्रकार पूँजीवादी राज्यों के सामने 'अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद' का प्रश्न आ खड़ा हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध—आर्थिक संकट ने पूँजीवाद के विरुद्ध घोर असन्तोष उत्पन्न कर दिया और लोग साम्यवाद की ओर आकृष्ट होने लगे। इस करण यूरोप का पूँजीवादी जगत इससे बहुत आतंकित हुआ और किसी उपाय से वे इस संकट का अन्त करना चाहने लगे। फलतः इसके दमन के लिए ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों ने सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया और उसकी जगह पर सन्तुष्टीकरण की नीति को अपना लिया। वे किसी भी तरह साम्यवाद का अन्त करना चाहते थे। यही कारण था कि ब्रिटिश सरकार ने मंचूरिया पर जापान के आक्रमण को साम्यवादी रूस के विरुद्ध अभियान समझा और गुप्त रीति से जापान के प्रति अपनी सहानुभूति रखी। हिटलर और मुसोलिन दोनों साम्यवाद के घोर निन्दक थे तथा सोवियत रूस का नामोनिशान मिटा देने की कसम रोज खाते थे। इस कारण उन्हें भी इंगलैंड और फ्रांस की सहानुभूति प्राप्त हो गयी। इन दोनों तानाशाहो के प्रति वे सन्तुष्टीकरण की नीति का अवलम्बन करने लगे और उसके आक्रामक हौसले को प्रोत्साहित करने लगे। द्वितीय महायुद्ध के मार्ग को प्रशस्त करने में यह नीति बड़ी सहायक हुई।

इसके अतिरिक्त संसार के तबाह लोग पूछने लगे :—क्या एक दूसरा युद्ध आर्थिक संकटों से उनको त्राण नहीं दिला सकता है? युद्ध के लिए तैयारी करनी पड़ती है। इस तैयारी में सैनिकों की संख्या बढ़ानी पड़ती है। इससे बेकारी की समस्या भी हल हो जाती है। फिर युद्धोपयोगी सामान बनाने के लिए नये-नये कल-कारखाने खुलते हैं, पुराने बन्द कारखाने फिर से चालू होते हैं, लोगों को काम मिलता है और बेकारी की समस्या स्वयमेव हल हो जाती है। इस प्रकार आर्थिक संकट ने लोगों को द्वितीय विश्व-युद्ध की तैयारी के लिए प्रोत्साहित किया।[1]

कई देशों में 'राष्ट्रीय सरकारों' का संगठन हुआ और इसी नाम पर मनमाना शासन होने लगा। अमेरिका में भी 'नयी व्यवस्था' (New Deal) के अन्तर्गत राष्ट्रपति रूजवेल्ट को असाधारण

1. Jackson. *The Between War World*, p. 130.

अधिकार प्राप्त हुए। संसार के भविष्य के लिए यह अच्छा लक्षण नहीं था। प्रजातान्त्रिक शासन में सरकारी नीति पर जनमत का नियंत्रण रहता है, अधिनायकवाद में जनमत का कोई स्थान नही होता। प्रजातान्त्रिक देश में जनमत के द्वारा युद्ध छेड़ने को रोका जा सकता है, लेकिन एक तानाशाह को नहीं। इस तरह तानाशाही के उत्थान के कारण विश्व शान्ति का भविष्य अन्धकार में डूब गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध को जल्दी लाना आर्थिक संकट का विनाशकारी परिणाम हुआ। इसके लक्षण सर्वप्रथम पूर्व एशिया में प्रकट हुए। जिस समय यूरोप संकटों में फंसा था उस समय जापान को अपने साम्राज्य फैलाव का खुला अवसर मिल गया। जापान के सामने अपनी बढ़ती हुई आबादी को भोजन देने का प्रश्न था। इसके अतिरिक्त उसके सामने विविध आर्थिक प्रश्न थे। इन प्रश्नो का समाधान जापानी साम्राज्य को फैलाकार किया जा सकता था और जापानी साम्राज्य-विस्तार का एकमात्र क्षेत्र चीन था। यूरोप के राज्य अपनी ही समस्याओं में व्यस्त थे। जापान के लिए यह स्वर्ण अवसर था। इससे लाभ उठाकर उसने १६३१ में चीन पर चढ़ाई कर दी। आक्रमणकारी प्रवृत्ति ने पहले-पहल अपना सर उठाया और बाद में इसके अनुयायियों की भी कमी नहीं रही।

—o—

को बड़ी चाव से सुना और उसका खूब समर्थन किया। हिटलर ने मध्यम वर्ग को तथा पूँजीपति वर्ग का साम्यवाद का हौआ दिखा कर अपने वश में कर लिया, जनता को आर्थिक संकट की दलदल से उभारने के लिए बड़े सब्ज बाग दिखाये, इसे हल न कर सकने के लिए गणराज्य सरकार की भर्त्सना की, इससे उसे जनता का प्रबल समर्थन मिल गया और वह शीघ्र ही जर्मनी का सर्वेसर्वा बन गया। यदि यह आर्थिक संकट नहीं होता तो हिटलर कभी इतना शक्तिशाली नहीं बन सकता।

साम्यवाद की श्रेष्ठता—आर्थिक संकट का ऐतिहासिक परिणाम यह हुआ कि इसने *साम्यवादी व्यवस्था की मजबूती को सिद्ध करके पूँजीवाद के वास्तविक स्वरूप का रहस्य खोल* दिया। सोवियत संघ ही संसार में एक ऐसा दशा था, जो आर्थिक संकट के चंगुल में नहीं फँसा। साम्यवादी प्रचार के लिए यह एक बहुत अच्छा मसाला मिल गया। संसार में साम्यवाद के प्रसार का यह एक मुख्य कारण था। इसके अतिरिक्त आर्थिक संकट के कारण लाखों व्यक्ति बेकार हो गये। इन बेकार व्यक्तियों को साम्यवाद का सिद्धान्त काफी पसन्द आया। इस प्रकार पूँजीवादी राज्यों के सामने 'अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद' का प्रश्न आ खड़ा हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध—आर्थिक संकट ने पूँजीवाद के विरुद्ध घोर अन्तोष उत्पन्न कर दिया और लोग साम्यवाद की ओर आकृष्ट होने लगे। इस करण यूरोप का पूँजीवादी जगत इससे बहुत आतंकित हुआ और किसी उपाय से वे इस संकट का अन्त करना चाहने लगे। फलतः इसके दमन के लिए ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों ने सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया और उसकी जगह पर सन्तुष्टीकरण की नीति को अपना लिया। वे किसी भी तरह साम्यवाद का अन्त करना चाहते थे। यही कारण था कि ब्रिटिश सरकार ने मंचूरिया पर जापान के आक्रमण को साम्यवादी रूस के विरुद्ध अभियान समझा और गुप्त रीति से जापान के प्रति अपनी सहानुभूति रखी। हिटलर और मुसोलिन दोनों साम्यवाद के घोर निन्दक थे तथा सोवियत रूस का नामोनिशान मिटा देने की कसम रोज खाते थे। इस कारण उन्हें भी इंगलैंड और फ्रांस की सहानुभूति प्राप्त हो गयी। इन दोनों तानाशाहों के प्रति वे *सन्तुष्टीकरण को नीति का अवलम्बन करने लगे और उसके आक्रामक हौसले को प्रोत्साहित करने* लगे। द्वितीय महायुद्ध के मार्ग को प्रशस्त करने में यह नीति बड़ी सहायक हुई।

इसके अतिरिक्त संसार के तबाह लोग पूछने लगे :—क्या एक दूसरा युद्ध आर्थिक संकटों से उनको त्राण नहीं दिला सकता है? युद्ध के लिए तैयारी करनी पड़ती है। इस तैयारी में सैनिकों की संख्या बढ़ानी पड़ती है। इससे बेकारी की समस्या भी हल हो जाती है। फिर युद्धोपयोगी सामान बनाने के लिए नये-नये कल-कारखाने खुलते हैं, पुराने बन्द कारखाने फिर से चालू होते हैं, लोगों को काम मिलता है और बेकारी की समस्या स्वयमेव हल हो जाती है। इस प्रकार आर्थिक संकट ने लोगों को द्वितीय विश्व-युद्ध की तैयारी के लिए प्रोत्साहित किया।[1]

कई देशों में 'राष्ट्रीय सरकारों' का संगठन हुआ और इसी नाम पर मनमाना शासन होने लगा। अमेरिका में भी 'नयी व्यवस्था' (New Deal) के अन्तर्गत राष्ट्रपति रूजवेल्ट को असाधारण

1. Jackson, *The Between War World*, p. 130.

अधिकार प्राप्त हुए। संसार के भविष्य के लिए यह अच्छा लक्षण नहीं था। प्रजातान्त्रिक शासन में सरकारी नीति पर जनमत का नियंत्रण रहता है, अधिनायकवाद में जनमत का कोई स्थान नहीं होता। प्रजातान्त्रिक देश में जनमत के द्वारा युद्ध छेड़ने को रोका जा सकता है, लेकिन एक तानाशाह को नहीं। इस तरह तानाशाही के उत्थान के कारण विश्व शान्ति का भविष्य अन्धकार में डूब गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध को जल्दी लाना आर्थिक संकट का विनाशकारी परिणाम हुआ। इसके लक्षण सर्वप्रथम पूर्व एशिया में प्रकट हुए। जिस समय यूरोप संकटों में वशा था उस समय जापान को अपने साम्राज्य फैलाव का खुला अवसर मिल गया। जापान के सामने अपनी बढ़ती हुई आबादी को भोजन देने का प्रश्न था। इसके अतिरिक्त उसके सामने विविध आर्थिक प्रश्न थे। इन प्रश्नो का समाधान जापानी साम्राज्य को फैलाकार किया जा सकता था और जापानी साम्राज्य-विस्तार का एकमात्र क्षेत्र चीन था। यूरोप के राज्य अपनी ही समस्याओं में व्यस्त थे। जापान के लिए यह स्वर्ण अवसर था। इससे लाभ उठाकर उसने १६३१ में चीन पर चढ़ाई कर दी। आक्रमणकारी प्रवत्ति ने पहले-पहल अपना सर उठाया और बाद में इसके अनुयायियो की भी कमी नहीं रही।

—o—

अध्याय ५

जर्मनी में नात्सी क्रान्ति

(Nazi Revolution in Germany)

जर्मनी का पुनरोद्भव—१८७१ में अपनी राजनीतिक एकीकरण के बाद से जर्मनी यूरोपीय राजनीति की सबसे गम्भीर समस्या रहा है। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व एक महान् शक्तिशाली राज्य के रूप में जर्मनी का प्रादुर्भाव यूरोपीय कूटनीति का केन्द्र-बिन्दु बना रहा। युद्ध की समाप्ति के बाद भी विश्व की राजनीति मुख्यतः जर्मनी के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटती रही। युद्धोत्तर विश्व की अधिकांश समस्याएँ जर्मनी से ही सम्बन्धित थीं। लेकिन दो विश्व युद्धों के बीच के काल (१९३३) में जर्मनी के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सनसनी-पूर्ण घटना नात्सी पार्टी का उत्थान और हिटलर का उत्कर्ष थी जिसने समस्त संसार को, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रेक्षकों को, महान् आश्चर्य में डाल दिया।

वर्साय-सन्धि द्वारा जर्मनी को पूर्णतया कुचल दिया गया था जिससे वह निकट भविष्य में एक शक्तिशाली राष्ट्र नहीं बन सके। पर प्रारम्भ से ही प्रत्येक व्यक्ति इस बात को मानते थे कि जर्मनी से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह वर्साय की आरोपित सन्धि की शर्तों को बराबर मानता रहेगा। जर्मन जाति एक स्वाभिमानी जाति है और अधिक दिनों तक अपने देश का पतन नहीं देख सकती है। वर्साय-सन्धि पर हस्ताक्षर होने के तुरत ही बाद जिस तरह इस सन्धि का विरोध हुआ, वह इस बात का द्योतक था कि जर्मनी ने स्वेच्छा से कभी इस सन्धि को स्वीकार नहीं किया है और जैसे ही अनुकूल परिस्थिति में उसको पहला मौका मिलेगा वैसे ही वह इसको अस्वीकार कर देगा। अतएव जर्मनी का पुनरोत्थान अवश्यम्भावी था। परन्तु, १९२८-२९ में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति था जो यह कल्पना कर सके कि वह उत्थान हिटलर के नेतृत्व और राष्ट्रीय समाजवाद की देख-रेख में होगा। १९३२ में प्रोफेसर टायनवी-जैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशेषज्ञ भी इस भावी घटना का अनुमान नहीं कर सके और उनकी भविष्यवाणी गलत हो गयी। उस वर्ष दिसम्बर के महीने में उन्होंने यह राय प्रकट की थी कि "यह बात स्पष्ट है कि नात्सी पतन की ओर है।"[1] प्रोफेसर टॉयनवी के इस गलत अनुमान का एकमात्र कारण यह था कि उस समय तक नात्सी-पार्टी और हिटलर जर्मनी राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सके थे और उनके उत्थान की कल्पना की ही नहीं जा सकती थी। यहाँ तक कि हिटलर के प्रधानमन्त्री बनने के कुछ ही दिन पूर्व हिण्डनवर्ग ने जार्ज स्ट्रासेर को यह आश्वासन दिया था कि "मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि वह वेहेमियन सिपाही (हिटलर) कभी भी जर्मनी का चान्सलर नहीं बन सकता है। मैं उसे एक पोस्टमास्टर बना दूँगा।" फिर भी जनवरी, १९३३ में जर्मनी में नात्सी-क्रान्ति सफलतापूर्वक सम्पन्न

1. *International Affairs*, May 1935, p. 343.

हुई और हिटलर एक पोस्टमास्टर बनने के बदले जर्मन रीह का प्रधान मन्त्री बन गया। इस घटना को आकस्मिक और आश्चर्यपूर्ण कहने का यही कारण है।[1] यह कोई साधारण घटना नहीं थी और इसका महत्त्व केवल जर्मनी के लिए ही नहीं था। हिटलर का उत्कर्ष एक ऐसी असाधारण घटना थी जिसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में परिवर्तन अवश्यम्भावी बना दिया। इस घटना का महत्त्व बतलाते हुए प्रो० शूमाँ ने लिखा है: "जिस प्रकार १९१८ से पूर्व की तीन दशाब्दियों में यूरोप तथा विश्व की राजनीति कैसर द्वितीय के जर्मन साम्राज्य के चारों ओर घूमती थी उसी प्रकार १९३३ में हिटलर के बाद वह तृतीय जर्मन साम्राज्य के चारों ओर परिभ्रमण करती रही।"[2]

नात्सी क्रान्ति के कारण

वर्साय की संधि—वर्साय-संधि को नात्सियों के उत्थान का प्रमुख कारण बतलाया जाता है। प्रथम-युद्ध के बाद प्रत्येक दृष्टिकोण से जर्मनी की स्थिति इतनी दयनीय हो गयी थी कि सारा देश निराश हो गया था। जर्मन लोगों के होठों पर मुस्कान नहीं थी, उनकी आँखों में आँसू थे। युद्ध में वे पूर्ण उत्साह के साथ शामिल हुए थे और जमकर उन्होंने शत्रु का मुकाबला किया था। पर, अन्त में उनको हार हो गयी और उनपर एक कठोर सन्धि लाद दी गयी, जिसका ध्येय सदा के लिए जर्मनी को कुचल देना था। वर्साय-सन्धि के फलस्वरूप जर्मनी को तरह-तरह की यातनाएँ भोगनी पड़ीं—राष्ट्रीय अपमान सहना पड़ा। ऐसी स्थिति में यदि सम्पूर्ण जर्मनी में निराशा का राज्य रहा हो तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। जर्मनी की इस निराशापूर्ण स्थिति की झलक हमें जर्मन दार्शनिक इतिहासकार ओस्वाल्ड स्पेन्गलर की प्रसिद्ध पुस्तक 'पश्चिम का पतन' (*Decline of the West*) में मिलती है। इस पुस्तक में विद्वान लेखक ने पश्चिमी सभ्यता के पूर्ण विनाश की भविष्यवाणी की थी। जर्मनी के प्रायः सभी लोग पहले से ही निरुत्साह थे। स्पेन्गलर की पुस्तक ने उन्हें और भी निरुत्साह बना दिया और उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि जर्मनी के लिए अपनी वर्तमान स्थिति से निकलना असम्भव है।

पर यह निराशा पुराने लोगों तक ही सीमित थी। जर्मनी का युवक वर्ग राष्ट्रीय संकट से पूर्णरूपेण भिज्ञ होते हुए अपनी पितृभूमि के पुनरोद्भव के लिए व्याकुल थे। वे अनुभव करते थे कि जर्मनी के दुःखों का एकमात्र कारण वर्साय की सन्धि है, जिससे जर्मन राष्ट्र का घोर अपमान और उसके साथ महान् अन्याय हुआ था। वर्साय-सन्धि जर्मनी के माथे पर काले धब्बे के समान था। जर्मन लोग अपने पुराने गौरव को पुनः प्राप्त करना चाहते थे और वे एक नेता की खोज में थे, जो देश के अपमान को धोकर उसके राष्ट्रीय गौरव का पुनरोत्थान कर सके। हिटलर के व्यक्तित्व में उनको एक ऐसा व्यक्ति मिल गया जो उनका 'फ्यूरर' (*Fuhrer Prinzip*) बन सकता था। हिटलर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह एक बहुत बड़ा प्रभावशाली वक्ता था। उसकी वाणी में जादू था और भावुक जर्मन जनता पर उसका जादू बड़ी अच्छी तरह काम करता था। हिटलर ने जबान की ताकत से जर्मनी की सत्ता पर अधिकार

1. John Gunther, *Inside Europe*, p. 33.
2. Schuman, *International Politics*, p. 553.

जमा लिया,[1] ऐसा कहना गलत नहीं होगा। आवेश में गरजकर जब वह यह कहता था कि हमें वर्साय-सन्धि का अन्त करना है, सारी जर्मन-जाति को एक सूत्र में बाँधकर विशाल जर्मन-राष्ट्र का निर्माण करना है तो भावुक जर्मन श्रोता खुशी से पागल हो जाते थे। जर्मनी के युवक समझते थे कि जर्मनी का पुनरोद्धार फ्यूरर और उसकी नात्सी-पार्टी ही कर सकती है। वर्साय सन्धि की खिल्ली उड़ाना हिटलर के भाषणों का प्रमुख लक्ष्य होता था। अगर हम प्रोफेसर लिप्सन के तर्कों[2] पर विचार करें तो इस बात में कि वर्साय सन्धि के विरोध के कारण हिटलर सत्तारूढ़ हुआ, कोई सार नहीं दिखलाई पड़ता। इसका कारण यह है कि स्ट्रसेमैन के शासनकाल में जर्मनी की स्थिति बहुत अच्छी हो गयी थी। राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करके जर्मनी राष्ट्रों के परिवार में समानता के स्तर पर आ चुका था, उसकी भूमि पर से विदेशी सेना हट चुकी थी, अस्त्र-शस्त्रों के सम्बन्ध में अन्य राज्यों के साथ उसकी समानता का दावा स्वीकार हो चुका था और क्षतिपूर्ति का दायित्व भी प्रायः समाप्त हो चुका था। जिस समय हिटलर का उत्थान हुआ उस समय तक जर्मनी अपनी बेड़ी की अन्तिम कड़ियों को काट चुका था। ऐसी हालत में वर्साय-सन्धि को हिटलर के उत्थान का कारण बताना ठीक प्रतीत नहीं होता। पर, यह तो मानना ही होगा कि किसी एक व्यक्ति की स्मरण शक्ति कमजोर हो सकती है, सम्पूर्ण राष्ट्र की नहीं। जर्मन जनता की अनेक माँगें तो पूरी हो गयीं, लेकिन वह अपनी पराजय, अपमान और वर्साय के अन्याय को ठीक उसी तरह नहीं भुला सकी, जिस प्रकार फ्रांस अपने १८७१ के अपमान को नहीं भुला सका था। उसके हृदय में क्रोध की अग्नि धधकती रहती थी और हिटलर जब भाषण देने लगता था तो उन्हें कुछ शान्ति मिलती और साथ-ही-साथ प्रतिशोध की भावना भी तीव्र हो उठती। हिटलर ने अपनी पुस्तक 'मीन कैम्फ' में लिखा था : "वर्साय-सन्धि का क्या उपयोग किया जा सकता है? इसकी प्रत्येक बात को जर्मन जाति के दिमाग और दिल में उस तरह भर दिया जा सकता है कि अन्ततः छः करोड़ नर-नारियों के दिल में घृणा उत्पन्न हो जाय। इसका परिणाम यह होगा कि सबके मुख से एक आवाज निकलेगी : "हम हथियार लेंगे।"[3]

जातीय परम्परा—हिटलर के उत्थान का एक दूसरा कारण स्वयं जर्मन-जाति की परम्परा थी। जर्मन-जनता में सैनिक मनोवृत्ति स्वाभाविक रूप से विद्यमान होती है। वह हमेशा अनुशासन तथा एक वीर नायक के अनुकरण करने के लिए तैयार रहती थी। जैसा कि प्रोफेसर शूमाँ का कहना है जर्मनी का इतिहास एक राष्ट्रीय नायक से शुरू हुआ, तीन राष्ट्रीय राजवंश के नेतृत्व में चलता रहा और एक राष्ट्रीय नेता की देख-रेख में ही समाप्त हुआ। वे नायक हर्मन, होहेनस्टोफेन, हुप्सबर्ग, होहेनजोर्लन और हिटलर थे।[4] जर्मन जनता ने हिटलर को भी एक राष्ट्रीय नायक के रूप में देखा और स्वीकार किया। दूसरे, जर्मन-जनता में प्रजातान्त्रिक भावनाओं का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी में जो वेमर रिपब्लिक कायम की गयी, वह इसलिए नहीं कि जर्मन जनता को गणतन्त्र में

1. John Gunther, op. cit., p. 35.
2. Lipson, *Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries*, p. 178.
3. A, Hitler, *Mein Kampf*. pp. 314-15
4. F. L. Schuman, op. cit., p. 468,

विश्वास था। जर्मनी के सभी लोग उस समय सोचते थे कि यदि जर्मनी ने गणतन्त्र के सिद्धान्त को अपना लिया तो उससे राष्ट्रपति विल्सन की सहानुभूति प्राप्त हो जायगी। अतः, हिटलर के अधिनायकत्व को स्वीकार कर लेना उसके लिए अस्वाभाविक नहीं था। हिटलर ने जर्मन जनता के सामने कोई नया कार्यक्रम या राजनीतिक दर्शन नहीं रखा। उसने वही कहा जो हिगल, कान्त, फिक्टे, नोवेलिस, फ्रेडरिक, मार्क्स, बिस्मार्क, कैसर इत्यादि कह चुके थे। सच तो यह है कि नात्सी विचारधारा सम्पूर्ण जर्मन विचारधारा की निचोड़ है और इसलिए जर्मन-जनता इसको स्वीकार करने के लिए तैयार थी।

आर्थिक संकट—इतना होने पर भी नात्सी-पार्टी को वैसी सफलता नहीं मिलती, यदि जर्मनी में आर्थिक संकट, जो वर्साय-सन्धि का ही एक परिणाम था, नहीं हुआ होता। वास्तव में, घोर आर्थिक संकट नात्सियों के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण था। जर्मनी में आर्थिक संकट सब जगहों से अधिक तीव्र था और जर्मन जनता जितनी तबाह थी उतना शायद किसी अन्य देश के निवासी नहीं। हिटलर कहता था कि जर्मन-जनता की इस दुर्दशा का कारण वह सरकार है, जो साम्राज्यवादी देशों के सामने घुटने टेक चुकी है। इसके मूल में हिटलर ने जर्मनी के पूँजीपतियों और यहूदियों को दोषी ठहराया था। मध्यमवर्ग में विद्यमान पूँजीपति-विरोधी भावना को हिटलर ने बड़ी खूबी के साथ उभाड़ा और उनका सहयोग प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त १६३० में जर्मनी में लगभग पचास लाख व्यक्ति बेकार थे। वे सीधे हिटलर के अनुयायी होना ही पसन्द करते थे। उसी वर्ष नात्सी-पार्टी की संख्या में असाधारण वृद्धि हुई। यदि आर्थिक संकट नहीं आया होता तो नात्सियों को इतनी बड़ी सफलता नहीं मिलती। जर्मनी के मध्यमवर्ग तथा बेकार लोग कट्टर यहूदी-विरोधी थे; क्योंकि उनमें यह भावना घर कर गयी थी कि जर्मनी की पराजय यहूदियों के कारण ही हुई है। महायुद्ध के समय जर्मनी के बड़े-बड़े कल-कारखाने यहूदियों के हाथ में थे। बड़े-बड़े पूँजीपति यहूदी लोग ही थे। राज्य पर भी उनका प्रभाव कुछ कम नहीं था। साधारणतः जर्मन जनता उन्हें शोषकवर्ग में शामिल करके उनसे घृणा करती थी। हिटलर जनता की इस यहूदी विरोधी भावना से अच्छी तरह परिचित था और इसको उभाड़कर अपना काम निकालना चाहता था। उसने कहा कि इन यहूदियों को देश से निकाल देना चाहिए, ताकि जर्मन-जाति अपने देश में समुचित आर्थिक स्थान प्राप्त कर सके। जर्मनी के आर्थिक संकट तथा अन्य संकट के मूल में यहूदी ही हैं और जितना जल्द उन्हें जर्मनी से निकाल दिया जाय उतना ही जर्मनी के हक में अच्छा होगा।

साम्यवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव—राजनीति-शास्त्र की परिभाषा [illegible] विद्वान ने कहा है कि यह कला है जिसके द्वारा कुछ राजनीतिज्ञ गरीबों से वोट [illegible] से चुनाव जीतने के लिए पैसे इस वादा पर लेते हैं कि साम्यवाद होने [illegible] विरुद्ध रक्षा करेंगे। हिटलर इस कला में निपुण था। पूँजीपतियों के [illegible] जनता की भावनाओं को उभाड़ा। उसका वोट उसके लिए [illegible] प्राप्त करने के लिए पूँजीपतियों के समर्थन की भी आवश्यकता [illegible] उनकी भावना को उभाड़कर वह उनके समर्थन को आसानी से [illegible]

नात्सियों की सफलता का एक कारण जर्मनी में साम्यवाद का बढ़ता हुआ खतरा बतलाया जाता है। रूस में साम्यवाद की जो लहर प्रारम्भ हुई थी उसका प्रभाव जर्मनी पर भी पड़ रहा था और जर्मन साम्यवादी पार्टी दिन-प्रतिदिन तरक्की कर रही थी। १६३० के चुनाव में ८६ साम्यवादी जर्मन संसद (रीहस्टाग)[1] में निर्वाचित हुए। अगले चुनाव में उनकी संख्या और भी बढ़ गयी। हिटलर जानता था कि साम्यवादी-पार्टी उसके रास्ते का सबसे बड़ा रोड़ा है। किन्तु, यह रोड़ा केवल पूँजीवादियों के समर्थन से ही नहीं हटाया जा सकता था; इसके लिए जनसाधारण का समर्थन भी आवश्यक था। हिटलर साम्यवाद के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की बातें करके जर्मन-जनता के दिलों में डर बैठाता रहता था। वह उनसे कहा करता था कि साम्यवाद का अन्तर राष्ट्रीयता का सिद्धान्त जर्मन राष्ट्रीयता के लिए सबसे अधिक खतरनाक है। यदि नात्सी पार्टी का अभ्युदय नहीं हुआ तो साम्यवादियों की शक्ति बढ़ जायगी, वे राज्य पर अपना कब्जा जमा लेंगे और जर्मनी के सारे राष्ट्रीय मनसूबे धूल में मिल जायँगे। इन बातों का प्रभाव जर्मनी की जनता पर काफी पड़ता था और झूठी राष्ट्रीयता के नाम पर वह नात्सी-पार्टी का समर्थन करने को तैयार रहती थी।

संसदीय परम्परा का अभाव—जर्मन-जनता का संसदीय शासन-पद्धति से घोर असन्तोष था। रीहस्टाग में पार्टियों की भरमार हो जाने से संसदीय मामलों में गतिरोध उत्पन्न होने लगा। यह स्थान व्यर्थ बकवाद, विलम्ब, राजनीतिक झगड़ों और षड्यन्त्रों का अखाड़ा बन गया। बहुत-से लोगों को वे पुराने दिन याद आते थे जब रीहस्टाग में अनुशासन रहता था और व्यवस्थित ढंग से काम होता था। जनतान्त्रिक व्यवस्था में जब लोगों का विश्वास घट जाता है तो तानाशाही के लिए रास्ता साफ हो जाता है। जर्मनी के साथ भी यही बात हुई। उस समय तक इटली में फासिज्म का पूर्ण विकास हो चुका था और फासिस्ट नेता मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली तेजी के साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा था। कहा गया कि जैसे इटली में फासिज्म की विजय हुई है वैसे ही जर्मनी में नात्सीवाद की विजय होगी और वही जनता को तरक्की के रास्ते पर ले जायगी। जर्मनी की जनता भी चाहती थी कि उनके सामने कोई एक कर्मठ व्यक्ति आये जो संसदीय गतिरोध को अन्त कर सुव्यवस्था कायम करे और जर्मनी की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करे। नात्सी-पार्टी इस तरह की व्यवस्था कायम करने का कार्यक्रम रखती थी और हिटलर के व्यक्तित्व में मुसोलिनी की तरह वह एक नेता देने के लिए भी तैयार थी।

जर्मनी की सैनिक प्रवृत्ति—नात्सी-लोग जनता की मानसिक प्रवृत्ति से सुपरिचित थे। वे जानते थे कि जर्मन लोग स्वभाव से वीर होते हैं और सैनिक जीवन में उनकी अत्यधिक रुचि होती है। किन्तु वर्साय-सन्धि के द्वारा उनकी इस रुचि पर नियन्त्रण लगा दिया गया था। इस सन्धि के द्वारा जर्मनी की सैन्य-संख्या बहुत कम कर दी गयी थी। जर्मनी के असंख्य युवक बेकार हो गये थे। आर्थिक संकट के कारण यह भी सम्भव नहीं था कि वे किसी अन्य पेशे से अपना गुजर कर सकें। वे स्वभाव से और परिस्थिति से विवश होकर सैनिक होने के लिए उत्सुक थे। नात्सी-लोगों ने जर्मन युवकों की इस इच्छा की पूर्ति के

1. *Reichstag.*

लिए एक स्वयंसेवक-सेना का संगठन किया। इस सेना के दो अंग थे। एक भाग के सैनिक भूरे रंग की कमीज पहनते थे और उनकी बाँह पर लाल पट्टी रहती थी, जिसपर स्वस्तिका का चिह्न रहता था। इसको एस० ए० (*Sturm Abteitungen*) कहा जाता था। इसका काम प्रचार के लिए प्रदर्शन करना, नात्सी-पार्टी की सभाओं की रक्षा करना तथा विरोधी पार्टी की सभाओं को बलपूर्वक भंग करना था। दूसरे भाग को एम० एस० (*Schuiz Sctafflen*) कहा जाता था। इसके सदस्य काले रंग की कमीज पहनते थे। उनका काम पार्टी के नेताओं की अंग-रक्षा करना और उनके आदेश को पूर्णतया पालन करना होता था। जर्मन-लोग बड़े उत्साह के साथ इस सेना में भर्ती हुए। उन्हें यह अनुभव हुआ कि नात्सी-पार्टी के उत्कर्ष से उन्हें फिर से सैनिक जीवन प्राप्त करने का अवसर मिलेगा और तत्कालीन बेकारी की समस्या भी हल हो जायगी। इस सेना से नात्सियों को सत्ता प्राप्त करने और अपने शत्रुओं के दमन करने में बड़ी सहायता मिली। जिस समय हिटलर अपनी इस सेना का संगठन कर रहा था उस समय की जर्मन सरकार ने इसकी तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। अगर आरम्भ में ही इस संगठन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया होता, तो सम्भव था कि हिटलर उतना शक्तिशाली नहीं हो पाता। लेकिन, सोशल-डेमोक्रेटिक-पार्टी की सरकार इस संगठन की उपेक्षा करती रही। इसका एक कारण वर्साय की सन्धि थी, जिसके द्वारा जर्मनी की सैन्य संख्या सीमित कर दिया गया था। सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने देखा हिटलर के प्रयास से परोक्ष रीति से जर्मनी में एक वर्साय-सन्धि का उल्लंघन किये बिना ही तैयार हो रही है। इस प्रकार जर्मनी के तत्कालीन नेताओं ने एक महान् निर्बलता और अदूरदर्शिता का परिचय देकर हिटलर के रास्ते को और भी सुगम बना दिया।

हिटलर का व्यक्तित्व :—हिटलर की सफलता का प्रमुख कारण स्वयं उसका व्यक्तित्व था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिटलर एक बहुत अच्छा वक्ता था और बड़ी-बड़ी भीड़ों को अपने भाषण के जादू से मुग्ध कर सकने की क्षमता रखता था। फ्यूरर (नेता) बनने के सभी गुण उसमें मौजूद थे। वह अपने काम को संगठित रूप से करता था। आधुनिक युग की राजनीति में प्रचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रचार वह साधन है, जो सभी चीजों को, यहाँ तक कि आत्महत्या को भी, लोकप्रिय बना सकता है और हिटलर प्रचार के इस महत्त्व को खूब अच्छी तरह समझता था। सौभाग्य से उसको एक ऐसा व्यक्ति भी मिल गया जो प्रचार की कला में निपुण था। वह था हिटलर का प्रचार-मन्त्री डा० गोबुल्स। "झूठी बात को इतना दुहराओ कि वह सत्य ही बन जाय"—यह था डा० गोबुल्स के प्रचार सिद्धान्त का मूल। जर्मनी की अन्य पार्टियाँ यह कला नहीं जानती थी और इसलिए प्रचार के माध्यम से जर्मन जनता के दिल पर कब्जा कर लेना नात्सियों के लिए एक सहज काम हो गया।

हिटलर का अभ्युदय : पेंटर से चान्सलर' :—जर्मनी की ऐसी स्थिति में हिटलर का अभ्युदय और शक्ति की प्राप्ति एकाएक नहीं हुई। उसकी शक्ति का विकास और उत्थान धीरे-धीरे हुआ। १८८६ में आस्ट्रिया के एक गाँव में हिटलर का जन्म हुआ था। उसके पिता गरीब थे; इसलिए बचपन से उसे उचित शिक्षा नहीं मिल सकी। पिता के मरने के कुछ ही

दिनों बाद वह वियना में एक शिल्पी का काम करने लगा। परन्तु, वियना में वह अधिक दिनों तक नहीं रह सका। १९१२ में वह म्यूनिख चला आया और चित्रकारी करके अपना जीवन-निर्वाह करने लगा। इसी बीच प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। हिटलर के लिए यह ईश्वरप्रदत्त अवसर था। वह तुरत जर्मन-सेना में भर्ती हो गया। लड़ाई में उसने अपूर्व योग्यता दिखलाई जिसके लिए उसे 'आयरन क्रास' भी प्राप्त हुआ। लड़ाई के मैदान में घायल होकर जिस समय वह पामरेनिया के एक अस्पताल में पड़ा हुआ था उसी समय उसे विराम-सन्धि की सूचना मिली। यह सुनकर वह आपे से बाहर हो गया। उसका खून खौलने लगा। उसका कहना था कि जर्मन-सेना न तो पराजित ही हुई और न पराजित की जा सकती है। उसकी पराजय का कारण उसके नेताओं की बुजदिली है। इस कारण हिटलर के हृदय में प्रतिशोध की भयंकर ज्वाला जल रही थी। उसने राजनीति में प्रवेश करने का निश्चय किया।

अगले पाँच वर्षों तक वह म्युनिख की सड़कों पर घूमता-फिरता रहा। यहाँ पर वह साम्यवादियों के ऊपर जासूस का काम भी करता था। इसी क्रम में उसका नये-नये लोगों से जान-पहचान हुई। म्यूनिख में उसके कुछ पुराने दोस्त भी थे। उन लोगों के साथ वह जर्मन वर्कर्स-पार्टी का एक सदस्य बन गया और उस पार्टी को संगठित करने का उसने संकल्प कर लिया। हिटलर के प्रवेश से उस पार्टी की प्रगति होने लगी। म्यूनिख में उसने एक कमरा किराये पर लिया और वहाँ पर अपने साथियों एवं अनुयायियों की एक सभा करके जर्मन-वर्कर्स-पार्टी का नाम बदलकर एक नयी पार्टी का जन्म दिया, जिसका नाम राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी रखा गया। इस पार्टी का एक समाचारपत्र भी प्रकाशित होने लगा। पार्टी के कार्यक्रम में पचीस बातें थीं। इस कार्यक्रम में निम्नलिखित बातों को प्रमुख स्थान दिया गया : (१) वर्साय-सन्धि की निन्दा करके उसको रद्द करने की मांग की जाय। (२) समस्त जर्मन-भाषा-भाषियों को एक सूत्र में बाँधकर एक विशाल जर्मन राज्य की स्थापना हो। (३) जर्मनी से जो उपनिवेश छिन लिए गये थे, उन्हें वापस लौटा देने तथा सैनिक उन्नति के मार्ग में वर्साय-सन्धि द्वारा जो प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे, उनको रद्द करने की माँग की जाय। (४) यहूदी-लोग विदेशी हैं और उनके कारण जर्मन को अपार नुकसान उठाना पड़ा है। अतः उन्हें केवल जर्मनी की नागरिकता से ही वंचित नहीं किया जाय, वरन् देश से बाहर भी निकाल दिया जाय। साम्यवाद, उदारतावाद तथा संसदीय शासन-पद्धति जर्मनी की राष्ट्रीय उन्नति के लिए हानिकारक है; अतः इसका अन्त हो। हिटलर की नयी पार्टी के यही प्रमुख कार्यक्रम थे और वह स्वयं उसका फ्युरर था। उसके जोशीले भाषण और संगठन के तरीके से नात्सी-पार्टी का उत्थान शीघ्रता से होने लगा।

रूर-आधिपत्य के समय इस पार्टी की शक्ति काफी बढ़ गयी। जर्मनी की निकम्मी सरकार, जो राष्ट्रीय अपमान को सहती रही, के विरुद्ध बवेरिया में ल्यूडेनडार्फ से मिलकर उसने एक विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। पर हिटलर का यह प्रयत्न असफल रहा। वह पकड़ लिया गया और उसे पाँच वर्ष की सजा हो गयी। कारागार में अपने अवकाश का उसने पूर्ण उपभोग किया और जेल में यहीं पर उसने विश्वविख्यात पुस्तक "मीन कैम्फ" (मेरा संघर्ष) की रचना की जो पीछे चलकर नात्सियों के लिए बाइबिल बन गयी। इस पुस्तक में सम्पूर्ण जर्मन-

जाति को एक सूत्र में बाँधकर एक विशाल जर्मन साम्राज्य की स्थापना करने का विचार प्रकट किया गया था। यूरोप के एक नये राज्यों में जर्मन लोग बहुत बड़ी संख्या में रहते थे। हिटलर के इस विचार को कार्यान्वित करने का अर्थ था उन देशों की प्रादेशिक अखंडता पर प्रहार करना। 'मीन-कैम्फ' में फ्रांस की चर्चा की गयी थी और उस देश को जर्मनी का अनन्तकालीन घातक शत्रु बतलाया गया था। इसके अतिरिक्त उसने पुस्तक में एक शाश्वत न्याय के सिद्धांत का भी प्रतिपादन किया, जिसका अर्थ 'जर्मनी के लिए रहने का स्थान' था। इस सिद्धांत का यह अर्थ था कि जर्मनी का, अन्य देशों के समान, प्रादेशिक विस्तार हो। इस विस्तार के लिए उपयुक्त स्थान पूर्व की ओर था जिसका अर्थ सोवियत संघ होता था। अतएव मीन कैम्फ में फ्रांस, सोवियत संघ, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया इत्यादि सभी देशों पर लक्ष्य किया गया था। इन लक्ष्यों की पूर्ति निरस्त्रीकरण से नहीं अपितु हथियारबन्दी से ही हो सकती थी। हिटलर राष्ट्रसंघ को पराजितों को तंग करने का एक यन्त्र समझता था। मीन कैम्फ के प्रकाशन के बाद यह स्पष्ट था कि यदि हिटलर जर्मनी में सत्तारूढ़ हुआ तो युद्धोत्तर-काल की सारी व्यवस्थाएँ चौपट हो जायँगी और जर्मनी पुनः विश्व-शांति के लिए खतरा बन जायगा। किन्तु उस समय किसी को यह विश्वास ही नहीं था कि हिटकर कभी जर्मनी में सत्तारूढ़ हो सकेगा।

हिटलर को पाँच वर्ष के लिए सजा हुई थी, किन्तु १६२४ के अन्त में ही वह मुक्त कर दिया गया। १९२५ से १६२६ तक की अवधि में वह अपनी पार्टी को संगठित करता रहा। सब जगह नात्सी-पार्टी की शाखाएँ स्थापित की गयीं और सारे देश में उसका जाल-सा बिछ गया। १६२५ में पार्टी की स्वयंसेवक सेना स्थापित की गयी और पार्टी के सदस्यों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी। आर्थिक संकट से पार्टी की प्रगति में और अधिक सहायता मिली। १६२५ में इसके २७००० सदस्य थे। १९२९ में यह संख्या बढ़कर १७८,००० हो गयी। किन्तु रीहस्टाग में इस पार्टी के अधिक सदस्य नही थे। १६२४ से १६२८ के बीच में तीन आम चुनाव हुए थे और इन चुनावों में नात्सी-पार्टी का प्रतिनिधित्व क्रमश ३२,१४ और १२ था। यह लोकार्नो का युग था और क्षतिपूर्ति के क्षेत्र में भी डावस-योजना लागू हो चुकी थी। जर्मनी की स्थिति कुछ अच्छी हो गयी थी। लेकिन साथ-साथ नात्सी-पार्टी का उत्थान भी हो रहा था। इसी बीच अक्टूबर १९१६ में प्रगति और शान्ति का प्रतीक स्ट्रस्मैन की मृत्यु हो गयी और जब यंग-योजना लागू करने की बात चली तो नात्सी-पार्टी ने इसका घोर विरोध किया। इस योजना पर जनमत लिया गया और अन्ततः रीहस्टाग ने २२४ के विरुद्ध २२६ वोट से यंग-योजना का समर्थन कर दिया, ध्यान देने की बात यह है कि योजना के पक्ष में दो ही वोट अधिक मिले। यह नात्सियो के बढ़ते हुए प्रभाव को सूचित कर रहा था।

१६२६-३० का आर्थिक संकट नात्सियों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। जर्मनी में यह संकट काफी भयंकर रूप में उपस्थित हुआ था। बहुत-से कल कारखाने बन्द हो गये और पचास लाख के लगभग मजदूर बेकार हो गये थे। इन बेकारों में नात्सियों ने अपने सिद्धांतों का खूब प्रचार किया। १९३० के चुनाव में नात्सी पार्टी के १९७ सदस्य रीहस्टाग के लिए निर्वाचित हुए। नात्सी-पार्टी को बीस प्रतिशत स्थान प्राप्त हुआ। एक नयी पार्टी के लिए यह बहुत बड़ी बात थी। हिटलर का हौसला बढ़ा। १६३२ में राष्ट्रपति का चुनाव होने वाला था। हिन्डेनबर्ग के मुकाबले में हिटलर भी इस पद के लिए उम्मीदवार खड़ा हुआ और यद्यपि वह हार गया,

किन्तु हिन्डेनवर्ग जैसे प्रतिष्ठित और सर्वमान्य व्यक्ति के मुकाबले में उसे सैंतीस प्रतिशत वोट मिले। यह नात्सी-पार्टी के बढ़ते हुए प्रभाव का प्रमाण था। १६३२ में रीहस्टाग के लिए चुनाव हुआ और इसमें नात्सी-पार्टी ने २३० स्थान प्राप्त किये। यद्यपि संसद् में उनकी बहुसंख्या अब भी नहीं हुई थी, पर अन्य पार्टियों के मुकाबले में नात्सी लोग सबसे अधिक निर्वाचित हुए। अब हिटलर को 'पोस्टमास्टर' बनाना असम्भव था। वैधानिक रीति से आगे बढ़ते हुए वह ऐसी स्थिति में आ पहुँचा कि हिन्डेनवर्ग को उसे प्रधान मन्त्री बनाने के लिए आमन्त्रित करना पड़ा। पर, हिटलर ने यह शर्त रखी कि उसे संसद् के बिना ही शासन करने का अधिकार मिले। हिन्डेनवर्ग इसके लिए तैयार नहीं हुआ और हिटलर ने भी प्रधान मन्त्री बनने से इन्कार कर दिया। किन्तु अधिक दिनों तक वह शक्ति के लोभ नहीं रोक सका और जनवरी, १६३३ में उसने प्रधान मन्त्री बनना स्वीकार कर लिया। हिटलर संयुक्त मन्त्रिमण्डल का चांसलर नियुक्त किया गया। इस सरकार में तीन नात्सी और आठ 'राष्ट्रवादी' थे। हिटलर का प्रिय मित्र हरमन गोरिंग गृह-मन्त्री बना। ३० जनवरी को उसने रेडियो से जर्मन जनता को सूचित किया कि राष्ट्रीय अपमान के दिन अब समाप्त हो चुके हैं। उसी रात मशालबत्तियों से सुसज्जित नात्सियों का एक बहुत बड़ा जुलूस बर्लिन की सड़कों से गुजरा। हिन्डेनवर्ग अपने राष्ट्रपति भवन की झरोखे से खड़ा होकर इन नजारों को चुपचाप देख रहा था। म्यूनिख का वह साधारण-सा पेंटर जो गरीबी से अपना दिन काटा करता था, अब जर्मनी का चांसलर बन चुका था। नात्सियों का फ्यूरर अब जर्मनी का सर्वेसर्वा था।

जर्मन गणतन्त्र का विनाश—हिटलर केवल प्रधान मन्त्री बनकर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह चाहता था कि रीहस्टाग में उसका कोई विरोध नहीं हो। वह संसद् में पूर्ण बहुमत प्राप्त करना चाहता था। इस कारण हिटलर ने रीहस्टाग को बर्खास्त करके नये निर्वाचन की व्यवस्था की। परन्तु यह कोई निश्चित नहीं था कि निर्वाचन में हिटलर को पूर्ण बहुमत प्राप्त हो ही जाये। नयी संसद् में ६०० के लगभग सदस्य चुने जानेवाले थे। हिटलर का अनुमान था कि इसमें २५० स्थान नात्सी पार्टी को और १०० साम्यवादी पार्टी को मिल जायँगे। पर इससे हिटलर का लक्ष्य प्राप्त नहीं होता था। अगर साम्यवादी पार्टी का दमन कर दिया जाय तो उसके १०० स्थान में नात्सी पार्टी को अनेक स्थान प्राप्त हो जा सकते हैं। हिटलर इसी अनुमान के आधार पर पूर्ण बहुमत प्राप्त करने के लिए षड्यन्त्र करने लगा। २७ फरवरी को, जब चुनाव भी नहीं हो पाया था, रीहस्टाग का भवन में रहस्यपूर्ण परिस्थितियों में आग लग गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि रीहस्टाग-भवन में आग लगाने का सारा षड्यन्त्र नात्सियों का ही था[1] और इसको बहाना बनाकर वे जर्मन कम्यूनिस्टों को कुचल देना चाहते थे, जिससे आगामी चुनाव में उनका रास्ता साफ हो जाय। हिटलर ने रीहस्टाग अग्नि-काण्ड के लिए साम्यवादियों को जिम्मेवार ठहराया। इस घटना को बहाना बनाकर कम्यूनिस्टों और उनसे सहानुभूति रखनेवालों की बड़े पैमाने पर धर-पकड़ की गयी। उनके साथ-साथ यहूदियों और सोशल-डेमोक्रेटों को भी बहिष्कृत करके कम्यूनिस्टों के साथ नजरबन्द कर दिया गया। कम्यूनिस्ट-पार्टी को गैर-कानूनी घोषित करके उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी को आदेश दिया गया कि वह अपने समाचार-पत्रों का प्रकाशन और चुनाव प्रचार शीघ्र बन्द कर दे। इस

1. John Gunther, *Inside Europe*, pp. 42-50.

पृष्ठभूमि में आम चुनाव हुआ, जिससे नात्सी-प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ गयी; किन्तु उन्हें फिर पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हो सका। हिटलर को अब इसका भय नहीं था, क्योंकि ८१ निर्वाचित कम्यूनिस्ट-सदस्यों को अयोग्य घोषित करके निकाल दिया गया था। हिटलर रीहस्टाग का मालिक बन बैठा। रीहस्टाग अग्नि-काण्ड से संसद् का सम्पूर्ण भवन तो नहीं जला, किन्तु जर्मन-गणतन्त्र जलकर राख हो गया। गणतन्त्र के राष्ट्रीय झण्डा को हटाकर उसके स्थान पर पुराने जर्मन साम्राज्य के झण्डे तथा नात्सी दल के स्वस्तिक चिह्न को उस पर प्रतिष्ठित किया गया। १६३३ के मध्य तक सभी गैर-नात्सी-पार्टियों को जबरदस्ती विघटित कर दिया गया। अब रीहस्टाग का केवल यही काम रह गया कि भूले-भटके जब भी उसका अधिवेशन हो तब वह प्रधान मन्त्री की नीति घोषणाओं को सहर्ष स्वीकार कर ले। जर्मनी का नया नाम तृतीय रीह[1] या साम्राज्य रखा गया और इस तरह गणतन्त्र का अन्त हो गया। २ अगस्त, १६३४ की जब राष्ट्रपति हिन्डेनबर्ग की मृत्यु हो गयी तब राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री के पद को मिलाकर एक कर दिया गया। नात्सी-फ्यूरर अब राष्ट्रपति तथा प्रधान मन्त्री दोनों ही था। उसके हाथ में इतनी शक्ति आ गयी, जितनी कैसर के हाथ में भी नहीं थी।

विश्व-राजनीति पर नात्सी-क्रान्ति का प्रभाव

रोम में प्रतिक्रियाएँ :—नात्सी-क्रांति की सफलता और हिटलर का सत्तारूढ़ होना दोनों ही जर्मनी के आंतरिक इतिहास के विषय हैं। पर ये घटनाएँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं कि यहाँ पर इनका विशद् वर्णन आवश्यक है। जर्मनी की नात्सी-क्रान्ति को एक राष्ट्रीय घटना नहीं मानी जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसका प्रभाव उतना ही क्रान्तिकारी साबित हुआ जितना जर्मनी की राष्ट्रीय राजनीति पर।[2] सत्तारूढ़ होने के बाद हिटलर ने विदेश नीति के क्षेत्र में शान्तिपूर्ण उपायों का अवलम्बन करने का आश्वासन दिया और उसने जोर के साथ यह अस्वीकार किया कि वह शान्ति-समझौते को बल-प्रयोग करके अन्त करने की इच्छा रखता है। परन्तु दुनिया को 'मीन कैम्फ' के लेखक के विचारों और कार्यक्रम का पता १६२४ में ही लग चुका था। जर्मनी में हथियारबन्दी का कार्य तेजी से चलने लगा था और अक्टूबर, १६३३ में जर्मनी केवल निरस्त्रीकरण-सम्मेलन से ही अलग नहीं हो गया, बल्कि राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्यागने की सूचना भी उसने दे दी। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि सारे सभ्य संसार में नात्सी-क्रान्ति के प्रति प्रतिक्रिया हो। दूसरे शब्दों में, नात्सी-क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोपीय देशों की विदेश नीति में परिवर्त्तन अवश्यम्भावी हो गया।

चेकोस्लोवाकिया और लघुमैत्री संघ के देश—यह स्वाभाविक ही था कि नात्सी-क्रान्ति की प्रतिक्रिया सर्वप्रथम जर्मनी के पड़ोसी राष्ट्रों में हो। चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया जर्मनी के पड़ोसी राष्ट्र थे और वर्साय-सन्धि के द्वारा उनका सृजन हुआ था। यथास्थिति के बने रहने में ही उनका हित था और उधर हिटलर वर्साय-सन्धि का अन्त करके नयी व्यवस्था स्थापित करना चाहता था। इन देशों में सबसे अधिक खतरा चेकोस्लोवाकिया को था, जिसकी भूमि में हजारों की संख्या में जर्मनी-लोग निवास करते थे। मीन कैम्फ' में जर्मनी

1. Third *Reich*.
2. G. Hardy, *A Short History of International Affairs*, p. 357.

की वर्त्तमान सीमाओं के बाहर यहाँ-वहाँ रहनेवाले सभी जर्मन अल्पसंख्यकों को जर्मनी में शामिल कर लेने का वादा किया गया था। लघुमैत्री-संघ के देशों के लिए हिटलर का अभ्युदय एक बहुत बड़े संकट के रूप में आ उपस्थित हुआ। उसी समय उपर्युक्त तीनों देशों के विदेश मन्त्री निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में भाग लेने के लिए जेनेवा गये हुए थे। वहाँ तीनों मन्त्रियों ने परस्पर मिलकर एक 'एकता समझौता' किया, जिसके अनुसार यह तय हुआ कि तीनों देश के विदेश-मन्त्रियों की एक कौंसिल बने और समय-समय पर इसकी बैठकें करके सामान्य हितों की बातों पर विचार किया जाय।

हंगरी—इस क्षेत्र में एक और देश हंगरी था। प्रारम्भ में हंगरी की प्रतिक्रिया स्पष्ट नहीं हो सकी। यह तो निश्चित ही था कि जर्मनी के उत्थान से यूरोप के किसी देश को लाभ होनेवाला नहीं था और हंगरी भी इसका अपवाद नहीं था, पर हंगरी और जर्मनी में एक बात की समानता थी कि दोनों वर्साय-सन्धि द्वारा सताये गये देश थे। इसके अतिरिक्त हंगरी लघुमैत्री-संघ के देशों से जर्मनी की तरह ही घृणा करता था। ऐसी स्थिति में जर्मनी और हंगरी एक दूसरे के निकट आने लगे। हंगरी में नात्सीवाद से सहानुभूति रखनेवाला जुलियस गोम्बस प्रधान मंत्री था और दोनों देशों के नेता एक दूसरे देश में भ्रमण करने लगे। यद्यपि दोनों देशों के बीच विधिवत् कोई सन्धि-समझौता नहीं हुआ, फिर भी ये भ्रमण और मेल-मिलाप काफी महत्त्वपूर्ण थे। इस बात की सम्भावना दीखने लगी कि यदि दूसरा महायुद्ध छिड़ गया तो शायद हंगरी जर्मनी का साथ दे।

पोलैंड—१९१९ के बाद पोलैंड और जर्मनी के बीच जितनी कटुता थी उतनी सम्भवतः यूरोप के किसी अन्य देशों के बीच न थी। पोलिश गलियारे को लेकर वर्साय-सन्धि के विरुद्ध जर्मनी की सबसे बड़ी शिकायत थी। इससे जर्मनी का अंगभंग हो गया था, क्योंकि पूर्वी प्रशा शेष जर्मनी से अलग हो गया था। ऐसी स्थिति में एक देश के अखबार दूसरे देश पर आग उगलते थे और यह निश्चित था कि जर्मनी जब भी शक्तिशाली होगा, पोलिश गलियारे का अन्त करने का प्रयास करेगा। पोलैंड के जर्मन अल्पसंख्यक राष्ट्रसंघ से बराबर शिकायत किया करते थे और डाजिंग को लेकर दोनों देशों के बीच झगड़ा बना रहता था। नात्सी-क्रान्ति की सफलता के कारण यह सम्भावना और बढ़ गयी। इसके अतिरिक्त नात्सियों के कार्यक्रम को देखकर यह भी निश्चित था कि सोवियत संघ और जर्मनी में संघर्ष अवश्यम्भावी है और इस संघर्ष में पोलिश भूमि का रणभूमि के रूप में उपयोग निश्चित था। पोलैंड ने सर्वप्रथम फ्रांस के साथ अपने गठबन्धन को और मजबूत करके जर्मनी के खतरे को रोकने का प्रयास किया। संसार को जर्मन-खतरा की गंभीरता का पता चलाने के लिए नात्सी क्रांति के दूसरे ही दिन दो सौ पोलिश सैनिकों को बिना किसी अधिकार के डान्जिग बन्दरगाह के एक स्थान पर उतारा गया। पर यह झंझट काफी वाद-विवाद के बाद शान्त हो गया। पोलिश प्रधान मन्त्री ने फ्रांसीसी प्रधान मन्त्री का निमन्त्रित किया और जर्मन खतरे को बढ़ने के पूर्व ही दमन करने के उद्देश्य से जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का सुझाव रखा। पर, फ्रांस इसके लिए तैयार नहीं था। उल्टे, वह चारदेशीय सन्धि का एक हस्ताक्षरकर्त्ता बन गया। यह सन्धि मुसोलिनी के अनुरोध पर की गयी थी और इसका उद्देश्य यह था कि नात्सी-जर्मनी को शान्त करने के लिए वर्साय-सन्धि की कुछ कठोर शर्त्तों में परिवर्त्तन कर दिया जाय।

जन, १६३३ में यह सन्धि ब्रिटेन, इटली, फ्रांस और जर्मनी में हुई। पोलैंड को इस सन्धि से काफी दुःख हुआ। वर्साय-सन्धि में परिवर्तन से सबसे अधिक घाटा पोलैंड को ही था। पोलैंड के लिए जर्मनी का खतरा अब राष्ट्रीय जीवन-मरण का प्रश्न हो गया। ऐसी स्थिति में उसने जर्मनी के साथ किसी प्रकार का समझौता कर लेना ही श्रेयस्कर समझा और २६ जनवरी, १६३४ को पोलैंड और जर्मनी के बीच समझौते की घोषणा से संसार चकित हो गया। इस समझौते के अनुसार दोनों देशों ने वादा किया कि वे एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार नहीं करेंगे। जर्मन अल्पसंख्यकों तथा डान्जिग-सम्बन्धी विवाद भी राष्ट्रसंघ से वापस ले लिये गये।

जर्मन-पोलिश समझौता के कारण पूर्वी यूरोप की कूटनीतिक स्थिति में आमूल परिवर्त्तन आ गया। दो पड़ोसी, जो १९१९ से ही एक दूसरे के कट्टर दुश्मन थे, आपस में कम-से-कम दस साल के लिए मिल गये। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह हिटलर की पहली कूटनीतिक विजय थी। सत्ता प्राप्त करने पूर्व ही हिटलर अपने भाषणों तथा तरीकों से पश्चिमी यूरोप के देशों को भयभीत कर अपना शत्रु बना लिया था। सोवियत संघ भी हिटलर के मनसूबों से परिचित था। पूर्वी और पश्चिमी दोनों सीमाओं पर उनके दुश्मन मौजूद थे। ऐसी स्थिति में अपने पूर्वी पड़ोसी से मित्रता कर लेना सभी दृष्टियों से उपयुक्त था। इसलिए जब हिटलर ने रीहस्टाग को इस समझौते की सूचना दी तो उसके सदस्य अपने फ्यूरर की इस कूटनीतिक सफलता पर फूले न समाये।

सोवियत संघ—नात्सी जर्मनी के अभ्युदय से सोवियत संघ में जितना आश्चर्यपूर्ण नीति-परिवर्त्तन हुआ उतना किसी अन्य देश में नहीं।[1] इसका एक दूसरा कारण था पूर्वी एशिया में जापानी साम्राज्यवाद का नग्न नृत्य। इस तरह सोवियत संघ दो तरफ के खतरों से घिरा हुआ था और संसार का कोई राष्ट्र उसकी मदद करने को तैयार नहीं था। ऐसी स्थिति में सोवियत विदेश नीति ने आमूल परिवर्त्तन आवश्यक हो गया।

वर्साय की सन्धि के बाद जर्मनी और सोवियत संघ का सम्बन्ध बहुत ही अच्छा था। राष्ट्रों की मंडली में दोनों देशों के साथ अछूत-जैसा व्यवहार किया जाता था। अतएव दोनों देशों में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति स्वाभाविक थी। १९२२ की रेपेलो की सन्धि इसी परस्पर सहानुभूति का परिणाम था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सोवियत संघ जर्मनी का पक्ष लेता रहा। निरस्त्रीकरण-सम्मेलन के प्रारम्भिक आयोग में जब वह भाग लेने आया था तो उसका प्रमुख प्रयास विजेता शक्तियों के शस्त्रास्त्रों में प्रचुर कमी करना था। वह 'पहले सुरक्षा और तब निरस्त्रीकरण के' फ्रांसीसी विचार का सबसे अधिक खरी आलोचना करता रहा। सोवियत संघ की भाषा और रवैया राष्ट्रसंघ के प्रति और भी कटुतापूर्ण थी। इसको वह विश्व के पूँजीवादियों का एक घृणित और खतरनाक संघ समझता था। किन्तु वर्त्तमान शताब्दी की चौथी दशाब्दी में दो ऐसी घटनाएँ घटीं जिससे सोवियत नीति में परिवर्तन आवश्यक हो गया। हिटलर का जर्मनी में सत्तारूढ़ होना और पूर्वी एशिया में जापानी साम्राज्यवाद का पुनरोद्भव होना, दो ऐसी घटनाएँ थीं जिनकी समुचित प्रतिक्रिया मास्को में हुई। जर्मनी के सामान्य खतरे को रोकने के लिए फ्रांस और सोवियत संघ के बीच मित्रता बढ़ने लगी।

1. G, Hardy, op. cit., p. 364

सोवियत समाचार पत्रों में अनेक जर्मन-विरोधी और सन्धि-संशोधन विरोधी लेख प्रकाशित हुए। पूर्वी एशिया के खतरे को रोकने के लिए सोवियत-संघ ने अमेरिका से मेल-जोल बढ़ाना शुरू किया और अमेरिका को समुचित आश्वासन देकर उसकी मान्यता प्राप्त कर ली। अब जर्मनी के विरुद्ध यूरोप में एक मित्र को खोजना था। निश्चय है कि महान् राष्ट्रों से इस संकट के समय में फ्रांस ही सोवियत संघ का मित्र बन सकता था। निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में सोवियत-प्रतिनिधि लिटविनोव का रुख बिल्कुल बदल गया। जो व्यक्ति पहले सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग करता था, वह राष्ट्रसंघ के सदस्यों को 'कुछ ठोस और व्यावहारिक कदम' उठाने के लिए आग्रह करने लगा। जो देश पहले निरस्त्रीकरण समस्या पर फ्रांस के विचारों की कटु आलोचना करता था, उसका प्रतिनिधि अब फ्रांसीसी प्रतिनिधि से मिल-जुलकर संयुक्त योजना पर वार्तालाप करने लगा। उधर मास्को और पेरिस में कूटनीतिक तरीकों से दोनों देशों के बीच में सहयोग स्थापित करने के लिए कदम उठाये जा रहे थे। १६३१ में ही दोनों देशों के बीच एक व्यापारिक समझौता हो चुका था। १६३२ में दोनों देशों के बीच एक अनाक्रमण सन्धि पर हस्ताक्षर हुआ। फ्रांस सोवियत संघ को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लेना चाहता था। जेनेवा में इसके लिए प्रयास होने लगा। मई, १६३३ में दोनों देश एक दूसरे के और निकट आ गये। राष्ट्रीय सुरक्षा के सामने सैद्धान्तिक मतभेद गौण पड़ गया। जैसे कि श्री हेरिओ ने कहा था : "याद कीजिये कि किस तरह फ्रांसीसी प्रथम ने सारे ईसाई-राज्यों का साथ छोड़कर तुर्कों का साथ दिया था, क्योंकि यही फ्रांस के हित में था।" उस महीने फ्रांस और सोवियत-संघ में पारस्परिक सहायता-सम्बन्धी एक संधि हुई इसके अनुसार यह तय हुआ कि दोनों में से किसी पर बाह्य आक्रमण होने पर वे एक दूसरे की सहायता करेंगे। यह सन्धि पाँच वर्षों के लिए की गयी। इस प्रकार - फ्रैंको-सोवियत समझौता, जो युद्ध के बाद लुप्त हो चुका था, पुनर्जीवित हो उठा। यह एक बहुत बड़ी कूट-नीतिक क्रान्ति थी। फ्रैंको-सोवियत-संधि के ढंग पर ही एक पखवारे बाद सोवियत-संघ ने चेकोस्लोवाकिया के साथ भी एक पारस्परिक सुरक्षा-सन्धि कर ली।

अब केवल राष्ट्रसंघ के प्रति सोवियत संघ के पुराने रुख का नष्ट होना ही शेष रह गया था। जिस प्रकार १६०७ में फ्रांस ने ब्रिटेन और रूस को मिलाने का प्रयत्न किया था ठीक उसी प्रकार जर्मनी के खतरे से भयभीत होकर फ्रांस रूस को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान कराने के लिए प्रयत्न करने लगा। जुलाई १६३४ मे फ्रांस ने इटली और ब्रिटेन को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे सोवियत संघ को राष्ट्रसंघ में प्रवेश दिलाने के लिए अन्य देशों का समर्थन प्राप्त करने में उसका साथ दें। सितम्बर, १६३४ में फ्रांस, ब्रिटेन और इटली के प्रस्ताव पर सोवियत-संघ को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया और कौंसिल में भी उसे स्थायी जगह मिल गयी। जर्मन खतरे को ध्यान में न रखते हुए राष्ट्रसंघ का स्वरूप अब सोवियत संघ के लिए बदल चुका था। सोवियत संघ उस विश्व संस्था का सबसे जबर्दस्त समर्थक हो गया और लिटविनोव जारशोर से सामूहिक सुरक्षा की बातें करने लगा।

आस्ट्रिया और इटली—नात्सी क्रान्ति का प्रभाव आस्ट्रिया की आन्तरिक राजनीति पर ही अधिक पड़ा। सत्तारूढ होने के तुरत बाद हिटलर ने आस्ट्रिया को अपनी विदेश नीति का प्रथम लक्ष्य बनाया। हिटलर का कहना था कि सम्पूर्ण जर्मन जाति को एक सूत्र में

बाँधना नात्सी-पार्टी का मुख्य ध्येय है। आस्ट्रिया के निवासी भी मूलतः जर्मन थे। आस्ट्रिया में अपना कार्यक्रम पूरा करने के लिए नात्सी-लोग षड्यन्त्र करने लगे। आस्ट्रिया की नात्सी-पार्टी को प्रोत्साहित करके उसकी जड़ मजबूत की गयी। पर हिटलर आसानी से आस्ट्रिया को अपने प्रभाव में नहीं ला सका, क्योंकि वहाँ बहुत-से ऐसे लोग थे जो जर्मनी का विरोध करते थे। आस्ट्रिया-जर्मनी-सम्बन्ध पर हम आगे के पृष्ठों में पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु यहाँ यह विचार कर लेना आवश्यक है कि आस्ट्रिया में जर्मनी षडयन्त्र की प्रतिक्रिया इटली में हुई, जिसके प्रभाव से जर्मनी और इटली के सम्बन्ध में एक नया अध्याय शुरू हुआ।

इटली की प्रारम्भिक प्रतिक्रिया नात्सी-क्रान्ति के पक्ष में ही हुई। मुसोलिनी को इससे बढ़कर खुशी क्या हो सकती थी कि उसके फासिज्म से मिलती-जुलती एक दूसरी व्यवस्था जर्मनी में कायम हो गयी है। वास्तव में फासिज्म और जर्मन नात्सीवाद में कोई मौलिक अन्तर नही था। मुसोलिनी की सहानुभूति हिटलर के साथ थी और तृतीय रीह को वर्साय के कठोर उपबन्धों से मुक्त करने के लिए इटालियन डूचे[1] ने शुरू में कुछ सक्रिय कदम उठाये। १९३३ की चार-देशीय सन्धि इसी सहानुभूति का परिणाम थी। इसके अनुसार इटली, ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी ने समझौता किया कि वे शान्तिपूर्ण तरीकों से वर्साय-सन्धि में आवश्यक परिवर्तन करेंगे। इसके एक साल बाद २४ जून को मुसोलिनी ने वेनिस में हिटलर से मुलाकात की। डूचे और फ्यूरर यहाँ पर गले-गले मिले। भविष्य में उनके बीच सहयोग की नींव पड़ गयी। पर दो तानाशाहों की मित्रता में धीरे-धीरे खाई पड़ने लगी। आस्ट्रिया में फ्यूरर के षड्यन्त्र से डूचे सशंकित होने लगा। मुसोलिनी चाहता था कि आस्ट्रिया पर इटली का प्रभाव बना रहे। उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए यह आवश्यक था। आस्ट्रिया और जर्मनी एक साथ मिल जाते हैं तो दक्षिणी टायरोल नामक जर्मन-आस्ट्रियन प्रान्त के लिए जो वर्साय-सन्धि द्वारा इटली को प्राप्त हुआ था, खतरा पैदा हो सकता था। आस्ट्रिया और जर्मनी का संघ स्थापित हो जाने से इटली जर्मनी के निकट सम्पर्क में आ जाता था। मुसोलिनी इस सम्भावना से बचना चाहता था। अतएव नात्सी-क्रान्ति के फलस्वरूप इटली की विदेश-नीति भी सोवियत-विदेश-नीति की तरह ही नाटकीय ढंग से बदलने लगा। आस्ट्रिया के नात्सी-विरोधियों को इटली हर प्रकार से मदद देने लगा और जब जुलाई, १९३४ में आस्ट्रियन प्रधानमन्त्री डालफस की हत्या नात्सियों ने कर दी तो मुसोलिनी ने आस्ट्रिया की सीमा पर अपने सैनिकों को तनात कर दिया। पर, इतने ही से इटली का काम चलनेवाला नहीं था। युद्ध के बाद यूगोस्लाविया के दावों का समर्थन करने के कारण फ्रांस और इटली का सम्बन्ध निरन्तर खराब ही होता गया। अफ्रिका और नौसेना-सम्बन्धी विषयों को लेकर दोनों का झगड़ा और भी गंभीर हो गया था। किन्तु, आस्ट्रिया पर हिटलर की गृद्ध-दृष्टि एक खतरा था, जिससे ये दोनों ही देश सामान्य रूप से भयभीत थे। अतः मुसोलिनी ने फ्रांस के साथ समझौता करना ही श्रेयस्कर समझा और जनवरी, १९३५ में फ्रांस और इटली के बीच एक समझौता हो गया।

---

1. *Duche* (नेता)

फ्रांस और यूगोस्लाविया :—फ्रांस और इटली के बीच जो समझौता हुआ, वह आसानी से नहीं हो सका। फ्रांस के बाल्कन-साथी इटली से जलते थे और वे नहीं चाहते थे कि फ्रांस और इटली के बीच किसी प्रकार का समझौता हो। दोनों देशों के बीच समझौता होने के पूर्व यह आवश्यक था कि फ्रांस पहले अपने साथी देशों को इटालियन मित्रता की उपादेयता पर राजी कर ले। फरवरी, १९३४ में वार्थो फ्रांस का विदेश-मन्त्री हुआ। वार्थो जर्मनी का कट्टर विरोधी था। वह पोअन्कारे की नीति और रूर आधिपत्य का सबसे बड़ा समर्थक था। जिस समय वह फ्रांस के विदेश-मन्त्रालय में घुसा, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति काफी बदल चुकी थी। जर्मनी में हिटलर का सितारा बुलन्द था, जो फ्रांस को अपना सबसे बड़ा शत्रु समझता था। उस समय जर्मनी निरस्त्रीकरण-सम्मेलन से अलग हो गया था और फ्रांस के नीति-निर्धारक उसको वापस बुलाने के लिए वार्ताएँ कर रहे थे। विदेश मन्त्रालय में आते ही बार्थो ने वार्ताएँ बन्द कर दी और अपने देश की मौजूद प्रतिरक्षा-व्यवस्थाओं को दृढ़ करने और नयी प्रतिक्षा व्यवस्थाएँ निर्मित करने की दिशा में कठोर प्रयत्न करने के लिए यूरोपीय राजधानियों के भ्रमणार्थ निकल पड़ा। सबसे पहले वह वारसा पहुँचा। हाल ही में पोलैंड और जर्मनी के बीच एक समझौता हो चुका था। वार्थो इस समझौता को रद्द करा देना चाहता था। किन्तु उसे निराश होकर वारसा छोड़ना पड़ा। इसके बाद वह प्राग, बुखारेस्ट और बेलग्रेड गया। इस भ्रमण के फलस्वरूप लघुमैत्री संघ पुनः जी उठा। इसके पूर्व ही एक बाल्कन-मैत्री-संघ कायम हो चुका था। तुर्की, यूगोस्लाविया, रूमानिया और यूनान इस संघ के सदस्य थे। वार्थो जब पेरिस पहुँचा तो उसने गर्वपूर्वक यह घोषणा की कि 'प्राग के अन्कारा तक एक शान्ति-क्षेत्र का सृजन हो गया है।' फ्रांस निःसन्देह ही इस 'शान्ति-क्षेत्र' (peace area) का नेता था। वार्थो इतने से ही सन्तुष्ट नहीं था। उसने सोवियत-संघ को भी अपने पक्ष में करने का सफल प्रयास किया और उसकी प्रयास से सोवियत-संघ और फ्रांस दोनों एक दूसरे के काफी निकट आ गये। सोवियत-संघ को राष्ट्रसंघ की सदस्यता दिलाने में उसीने जी-जान से कोशिश की थी।

फ्रांस की सुरक्षा व्यवस्था से अब केवल इटली ही बाहर रह गया था। नात्सी क्रान्ति के फलस्वरूप जर्मनी का खतरा इतना बढ़ गया था कि नयी-सुरक्षा प्रणाली में इटली को सम्मिलित करना आवश्यक हो गया। किन्तु, फ्रेंको-इटालियन मेल-मिलाप का कट्टर विरोधी यूगोस्लाविया था। यूगोस्लाविया डेन्यूब-क्षेत्र में फ्रांस और इटली की प्रभुता की अपेक्षा जर्मन प्रभुत्व को अच्छा समझता था। यदि जर्मनी आस्ट्रिया को अपने में मिला भी ले, तो यूगोस्लाविया को अधिक भय नहीं था। किन्तु यदि इटली का प्रभाव आस्ट्रिया पर जम जाय तो यह यूगोस्लाविया के हक में अच्छा नहीं था। वह दो बुराइयों में छोटी बुराई को ही पसन्द करता था, अतएव फ्रांस और इटली की मैत्री उसे पसन्द नहीं आई। किन्तु, नयी व्यवस्था को सफल बनाने के लिए यूगोस्लाविया को राजी करना अति आवश्यक था। इसी भावना से प्रेरित होकर वार्थो ने यूगोस्लाविया के शासक एलेक्जेंडर को फ्रांस आने के लिए निमन्त्रित किया। ९ अक्टूबर को एलेक्जेंडर मार्सेल्स के बन्दरगाह पर उतरा। मि० वार्थो उससे मिले और ज्यों ही वे दोनों एक मोटर में रवाना हुए कि एक आतंकवादी क्रोट ने उन दोनों की हत्या कर दी।

यूरोप के लोगों में सराजेवो-हत्याकांड की स्मृति एक बार पुनः जाग्रत हो उठी और कुछ निराशावादी इस आतंकपूर्ण कार्य में यूरोपीय शान्ति को खतरे में पड़ा देखने लगे। कुछ लोगों ने

जर्मन नात्सियों को इसके लिए जिम्मेवार ठहराया। उनका कहना था कि बार्थो जर्मनी के खिलाफ एक बहुत बड़ा यूरोपीय गुट कायम करने में व्यस्त था और इसलिए नात्सियों ने उनका काम ही तमाम करवा दिया है। जर्मनी के अतिरिक्त मार्सेल्स-हत्याकांड ने इटली और हंगरी को भी लपेट लिया। सभी जानते थे कि इटली और हंगरी दोनों ही असन्तुष्ट यूगोस्लावों को शरण और सहायता देते थे, ताकि उन लोगों का उपयोग किसी दिन विद्रोह उभाड़ने में किया जा सके। इटली, यूगोस्लाविया और फ्रांस का गुट कायम करने के बार्थो के सभी मनसूबे उसके जीवन के साथ ही समाप्त हो गये। मार्सेल्स-हत्याकांड से जो जोश पैदा हुआ उससे यूगोस्लाविया, हंगरी तथा इटली के बीच गम्भीर तनाव पैदा हो गया। यूगोस्लाविया इस मामले को राष्ट्रसंघ में ले गया। फ्रांस ने यूगोस्लाविया को शान्त करने के लिए अनेक प्रयास किये। पर सबके सब बेकार साबित हुए। सौभाग्य से खतरे की गम्भीरता शीघ्र ही अनुभव कर ली गयी। एनथोनी ईडन ने स्थिति को संकटपूर्ण होने से बचा लिया। सम्बन्धित राज्यों के बीच एक गुप्त सौदा कर लिया गया जिसके अनुसार यूगोस्लाविया ने वादा किया कि जेनेवा में वह इटली का नाम हत्याकाण्ड के सिलसिले में उल्लेख नहीं करेगा और हंगरी कम-से-कम इतनी निन्दा स्वीकार कर लेगा, जितनी यूगोस्लाविया के गुस्से को शान्त करने लिए आवश्यक था। इसी आधार पर राष्ट्र-संघ कौंसिल ने एक प्रस्ताव पास कर दिया। पर इटली के प्रति यूगोस्लाविया का सन्देह बना ही रहा। इसके कारण यूगोस्लाविया और फ्रांस में अनबन बढ़ने लगी। बार्थो की मृत्यु के बाद लावाल फ्रांस का विदेश मन्त्री बना। वह इटली की दोस्ती का जबरदस्त समर्थक था। जनवरी, १९३५ में लावाल रोम गया। मुसोलिनी और लावाल में फ्रांस और इटली से सम्बन्धित सभी विषयों पर बहुत दिनों तक वार्ताएँ होती रहीं और इसके बाद दोनों में अनेक समझौते हुए, जिससे फ्रांस और इटली का लम्बे अरसे से चला आ रहा वैर-विरोध समाप्त हो गया। इस समझौते के द्वारा जर्मनी, मध्य यूरोप तथा अफ्रीका इत्यादि से सम्बन्धित सभी समस्याओं का परस्पर तय कर लिये गये। लावाल ने मुसोलिनी को यह आश्वासन दिया कि अगर इटली को अबीसीनिया में कोई सुविधा प्राप्त हो तो फ्रांस उनका विरोध नहीं करेगा। डूचे बहुत दिनों से इस तरह के आश्वासन की ताक में था। इसके प्राप्त होते ही वह अपने इथोपियाई अभियान की तैयारी करने लगा। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि १९३५ में इटली द्वारा अबीसीनिया पर किया गया आक्रमण जर्मनी की नात्सी-क्रान्ति का एक परोक्ष परिणाम था।

ब्रिटेन :—नात्सी-क्रान्ति के प्रति प्रारम्भ में ब्रिटिश प्रतिक्रिया कुछ अस्पष्ट थी। नात्सी-प्रचार और राजनीतिक तरीकों को तथा कथित ब्रिटिश उदारतावादी नापसन्द करते थे (यद्यपि उसी समय भारत और चीन में वे स्वयं नात्सियों से भी अधिक कठोर नीति का अवलम्बन कर रहे थे); किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नात्सि-क्रान्ति से वे उतना सशंकित नहीं हुए जितना यूरोप के अन्य राज्य से हुए थे। इसका एक कारण यह था कि ब्रिटेन जर्मनी का पुनरोत्थान चाहता था। दूसरे, ब्रिटेन जर्मनी का विरोध करने के लिए तब तक तैयार नहीं था, जब तक जर्मनी द्वारा उसका नाविक शक्ति को चुनौती न दी जाय। हिटलर ने ब्रिटेन को नाविक शक्ति के साथ प्रतिद्वन्द्विता करने के प्रयत्न की हर पुनरावृत्ति का दृढ़ विरोध किया। ऐसी स्थिति में नात्सी क्रान्ति के बाद ब्रिटिश राजनीतिक क्षेत्रों में कोई खलबली नहीं मची और ब्रिटेन कुछ दिनों के लिए अपनी पुरानी निती का अनुसरण करता रहा। हिटलर के अभ्युदय का ब्रिटिश-राजनीति

केवल इतना ही प्रभाव पड़ा कि ब्रिटेन अब शस्त्रीकरण की दिशा में कदम उठाने लगा। यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। हथियारबन्दी की होड़ में इसके कारण काफी गम्भीरता आ गयी और निरस्त्रीकरण की रही-सही उम्मीद भी धूल में मिल गयी।

अतएव हिटलर के सत्तारूढ़ होने के फलस्वरूप यूरोपीय कूटनीतिक स्थिति में जो उथल-पुथल हुए उनको अब संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है: पोलैंड और यूगोस्लाविया फ्रांस के खेमें से अलग हो गये। फ्रांस के साथ समझौता करके इटली जर्मन-विरोधी मोर्चे में सम्मिलित हो गया। सोवियत-संघ अपनी पुरानी विदेश-नीति को त्यागकर फ्रांस के गुट में आ गया और फ्रांस के नेतृत्व में अन्य बाल्कन-देशों का संगठन और मजबूत बन गया। इन सब बातों को देखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जर्मनी में हिटलर का सत्तारूढ़ होना विश्व-राजनीति के इतिहास में एक वर्तन-विन्दु है।

—o—

अध्याय ६

जर्मनी की विदेश-नीति और द्वितीय विश्व-युद्ध

(Foreign Policy of Hitler)

जर्मन विदेश-नीति के उद्देश्य---जर्मनी में सर्वसत्तासम्पन्न होने पर हिटलर ने अपनी पुस्तक 'मीन केम्फ' में प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर विदेश नीति का अनुसरण किया। इसके अनुसार हिटलर की विदेश नीति के तीन मुख्य उद्देश्य थे : (१) वर्साय-सन्धि को भंग करना, (२) द्वितीय रीह के अन्तर्गत सारी जर्मन जाति को एक सूत्र में संगठित करना तथा (३) जर्मन साम्राज्य का विस्तार करना। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वह किसी भी तरीके को अपना सकता था। इस बात को स्पष्ट करते हुए हिटलर ने स्वयं एक बार कहा था : "इसकी प्राप्ति के लिए समझौता और यदि सम्भव न हो सका तो युद्ध का आश्रय लेना विदेश नीति की ओर हमारा पहला कदम होगा।" इस प्रकार हिटलर अपने लक्ष्य की पूर्ति दूसरों से बात-चीत करके और समझौता करने की जगह स्वयं अपने ओर से धौंस के बल पर करना अधिक अच्छा समझता था। इस धौंस की नीति में उसे उसी प्रकार की सफलता प्राप्त हुई जिस प्रकार आन्तरिक राजनीति में प्राप्त हुई।[1]

हिटलर और वर्साय-सन्धि :—हिटलर का प्रमुख लक्ष्य वर्साय-सन्धि था। सत्तारूढ़ होने के पूर्व वर्साय-सन्धि की निन्दा करके उसने लोकप्रियता प्राप्त की थी और जर्मन जनता को वर्साय-सन्धि का अन्त करने का वचन दिया था। सत्ता हाथ में आने पर वह अधिकांश राजनीतिज्ञों की तरह अपने वादों को नहीं भूला, बल्कि तुरत ही उसको कार्यान्वित करने का प्रयत्न भी शुरू कर दिया। हिटलर कोई जल्दीबाजी में नहीं था। वह अपने कार्यक्रम और उसे कार्यान्वित करने के तरीकों के सम्बन्ध में पूरा सजग था। अतः वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए धीरे-धीरे कदम उठाने लगा। हिटलर का पहला हमला 'घृणित वर्साय-सन्धि' की प्रथम २६ धाराओं पर हुआ। राष्ट्रसंघ की सदस्यता, हिटलर के अनुसार, जर्मनी के माथे पर एक कलंक का टीका था। अतः इस कलंक को मिटाने के लिए वह धीरे-धीरे काम करने लगा। उसके सत्तारूढ़ होने के पहले जर्मनी राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में भाग ले रहा था। हिटलर ने अक्टूबर, १९३३ में जर्मन प्रतिनिधियों को जेनेवा से वापस बुला लिया और उसी समय राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्यागने की सूचना भी दे दी। जर्मन वोटरों ने बहुत बड़े बहुमत से अपने फ्यूरर के इस निर्णय का स्वागत किया।

इसी बीच सारे प्रदेश का भाग्य-निर्णय जनमत द्वारा होना था। वर्साय-सन्धि के द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी कि पन्द्रह साल बाद वहाँ इस प्रश्न पर लोकमत लिया जायगा कि वह प्रदेश किसके अन्तर्गत रहे। पन्द्रह वर्षों की अवधि १९३५ में समाप्त हो गयी और अगले जनवरी में वहाँ लोकमत लिया गया। इसमें नब्बे प्रतिशत मतदाताओं ने जर्मनी के साथ मिलने

1. Lipson, *Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries*. p. 398.

के पक्ष में मत दिया। पहली मार्च को यह क्षेत्र जर्मनी को वापस लौटा दिया गया। हिटलर ने कहा कि अब जर्मनी को पश्चिम में और अधिक क्षेत्रीय महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं हैं। पर पूर्व में तो अभी डान्जिग, मेमल-जैसे प्रदेश थे ही, जहाँ जर्मन लोग निवास करते थे। इन्हें भी जर्मनी के साथ सम्मिलित हो जाना चाहिए। सार की सफलता से प्रोत्साहित होकर हिटलर अन्य राज्यों में बसे हुए जर्मनों में प्रचार करने लगा।

इसके बाद वर्साय-सन्धि के अन्य कलंकों को भी धोना था। उस संधि के द्वारा जर्मनी को प्रथम विश्व-युद्ध के लिए दोषी ठहराया गया था और उसी आधार पर जर्मनी पर एक बहुत बड़ी रकम क्षतिपूर्ति के नाम पर लाद दी गयी थी। हिलटर ने क्षतिपूर्ति और युद्ध-अपराध के दोष को मानने से इनकार कर दिया। मित्रराष्ट्र देखते ही रहे और हिटलर ने आसानी से क्षतिपूर्ति की जटिल समस्या का हल कर दिया। वर्साय-सन्धि का पंचम भाग जर्मनी के लिए एक दूसरा कलंक था। इस भाग के द्वारा जर्मनी की सैन्य-शक्ति को सीमित कर दिया गया। तृतीय रीह के लिए यह बहुत बड़े अपमान की बात थी। हिलटर ने इसको मानने से इन्कार कर दिया। मार्च, १९३५ में उसने घोषणा की कि निरस्त्रीकरण की दिशा में मित्रराष्ट्रों ने कोई ठोस कदम नहीं उठाया है। इसलिए वर्साय-सन्धि की निरस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराएँ अब जर्मनी के लिए किसी भी दृष्टि से बन्धनकारी नहीं है। इस घोषणा के बाद उसने जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा आरम्भ की और जर्मनी की सैन्य शक्ति बढ़ने लगी। कुछ दिनों के बाद उसने स्पष्ट शब्दों में यह भी घोषित कर दिया कि वह वर्साय-सन्धि की किसी भी शर्त को मानने के लिए तैयार नहीं है और भविष्य में जर्मनी अपने को इस सन्धि से मुक्त समझेगा। हिटलर की विदेश-नीति का एक उद्देश्य इस तरह पूरा हो गया।

पोलैंड के साथ समझौता—हिटलर ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई जल्दीबाजी नहीं की। अपनी पुस्तक में तो उसने आग उगली थी परन्तु सत्ता ग्रहण करने के बाद उसके भाषण बड़े सौम्य रहे और वह यूरोप में शान्ति की कामना प्रकट करता रहा। उसकी इच्छा केवल इतनी ही थी कि अन्य राष्ट्र जर्मनी से छेड़छाड़ न करें। मुसोलिनी के प्रस्ताव पर उसने १९३३ में इटली, फ्रांस और इंगलैंड के साथ पारस्परिक हितों के मामलों में सीधे कूटनीतिक परामर्श करने के लिए एक समझौता (Four Power Peace Pact) किया। उसने अपने सहकारी रूडॉल्फ हस के द्वारा १९३४ में फ्रांस से शान्ति के लिए जर्मनी के साथ सहयोग करने का प्रस्ताव किया। जनवरी १९३४ में उसने पोलैंड से दशवर्षीय अनाक्रमण-सन्धि द्वारा दोनों देशों के बीच मनोमालिन्य और तनाव कम करके अपनी शान्तिप्रियता का परिचय दिया।

आस्ट्रिया को हड़पने का यत्न—जनवरी, १९३३ में जर्मनी का शासन-सूत्र हिटलर के हाथों में आने के बाद आस्ट्रिया कि राजनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होना अवश्यम्भावी हो गया। हिटलर ने सत्ता पर अधिकार जमाते ही आस्ट्रिया का जर्मनी में सम्मिलित करने का प्रयत्न शुरू कर दिया। हिटलर के चान्सलर बनने के पूर्व १९३० में ही आस्ट्रिया में एक नात्सी-पार्टी का संगठन हो चुका था। पर इसकी शक्ति कोई अधिक नहीं थी। जर्मनी में नात्सी-शासन स्थापित हो जाने पर आस्ट्रिया के नात्सियों को बहुत बल मिला। जर्मन नात्सी-पार्टी ने आस्ट्रियन नात्सी-पार्टी की सहायता दिल खोलकर करने लगी। थियो हाबिच नामक एक नात्सी को हिटलर ने आस्ट्रिया के लिए विशेष निरीक्षक बहाल किया। जर्मन प्रेस और रेडियो से

आस्ट्रिया की नात्सी-पार्टी को सहायता मिलने लगी। जर्मन वायुयान आस्ट्रिया की भूमि पर नात्सी-पर्चे गिराने लगे। आस्ट्रिया पर आर्थिक दबाव डालने के लिए हिटलर ने जर्मनी के नागरिकों पर आस्ट्रिया जाने पर एक तरह से रोक लगा दी। जर्मन यात्रियों से आस्ट्रिया को काफी आर्थिक लाभ होते थे। पर अब उनका आना-जाना ही बन्द हो गया। इस तरह का बल पाकर आस्ट्रियन नात्सी-पार्टी अपना प्रभाव बढ़ाने लगी। इन लोगों की यही कोशिश थी कि अगले चुनाव में नात्सी-पार्टी को किसी तरह जिताया जाय, जिससे जर्मन और आस्ट्रिया को मिलाकर एक करने में कोई बाधा नहीं पड़े। इन सब बातों को देखकर आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री डालफस का चिन्तित होना स्वाभाविक था। नात्सी-पार्टी की शक्ति के बढ़ जाने के कारण वह तुरत इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि आस्ट्रिया में लोकतन्त्रवाद की सफलता नहीं हो सकती है। उसने मुसोलिनी की तरह आस्ट्रिया में फासिस्ट-प्रणाली स्थापित करने का निश्चय किया।

डालफस के इस निर्णय के प्रथम शिकार सोशल-डेमोक्रेट हुए। वह संसद् की उपेक्षा करके सम्पूर्ण राज्यशक्ति को अपने हाथ में ले लेना चाहता था। नात्सी पार्टी के विरुद्ध उसने एक दूसरी पार्टी का संगठन किया, जिसको 'राष्ट्रीय पार्टी' (Fatherland Front) कहा जाता था। एक आदेश के द्वारा डालफस से राष्ट्रीय पार्टी को छोड़कर सभी राजनीतिक पार्टियों को भंग कर दिया। सोशलडेमोक्रेट लोगों ने इसका घोर विरोध किया। 'हाइमवेहर' के सहयोग से डालफस ने इस पार्टी को पूरी तरह कुचल दिया। इसके प्रमुख नेता और कार्यकर्त्ता या तो मार डाले गये अथवा आस्ट्रिया छोड़कर भाग गये। सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी ही एक ऐसी पार्टी थी, जो नात्सियों की प्रगति रोकने में डालफस की काफी सहायता कर सकती थी। लेकिन, डालफस ने पहले इस दल को ही कुचल दिया। सम्भवतः वह उसकी भयंकर भूल थी। इसके बाद आस्ट्रियन नात्सी पार्टी को भी उसने अन्य कई तरीकों से खत्म कर दिया।

डालफस की इन कार्रवाइयों के बावजूद नात्सी-पार्टी इतनी आसानी से खत्महोने वाली नहीं थी। इसको जर्मनी से समर्थन मिलता था। कहा जाता है कि ३०,००० से ५०,००० के लगभग आस्ट्रियन नात्सी डालफस के दमन से बचने के लिए जर्मनी भाग गये। इन नात्सियों को संगठित करके हिटलर ने एक 'आस्ट्रियनलिजिन' की स्थापना कर दी जिसका काम आस्ट्रो-जर्मन सीमान्त पर गड़बड़ी पैदा करना था। जुलाई, १९३४ में नात्सी लोगों ने डालफस का काम तमाम करके आस्ट्रिया में अपनी सरकार कायम करने का षड्यन्त्र किया। २२ जुलाई को जर्मनी में रहनेवाले 'आस्ट्रियन लिजिन' के नात्सियों में अभूतपूर्व हलचल दिखाई पड़ने लगी। सशस्त्र आस्ट्रियनों से भरी हुई लारियाँ प्रत्येक रात सीमान्त की ओर जाती थीं और खाली म्यूनिख लौटती थीं। २५ जुलाई को आस्ट्रियन मन्त्रिमण्डल की एक बैठक होने वाली थी; पर साजिश की कुछ खबर मिलने के कारण बैठक स्थगित कर दी गयी। फिर भी चान्सलर डालफस अपने एक अन्य सहयोगी के साथ सचिवालय में पहुँच ही गया। दोपहर के समय आस्ट्रियन पुलिस और सेना की पोशाक धारण किये हुए नात्सियों का एक सशस्त्र दल सचिवालय पहुँचा और उसने सरकारी भवन में घुसकर सभी कर्मचारियों को कैद कर लिया और डालफस की हत्या कर दी। उसी समय नात्सियों का एक दूसरा दल वियना के रेडियो स्टेशन में घुस गया और यह एलान कर दिया कि डा० डालफस ने त्यागपत्र दे दिया है। इसी तरह का एलान कुछ इसी

के पक्ष में मत दिया। पहली मार्च को यह क्षेत्र जर्मनी को वापस लौटा दिया गया। ने कहा कि अब जर्मनी की पश्चिम में और अधिक क्षेत्रीय महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं हैं। प में तो अभी डान्जिग, मेमल-जैसे प्रदेश थे ही, जहाँ जर्मन लोग निवास करते थे। इ जर्मनों के साथ सम्मिलित हो जाना चाहिए। सार की सफलता से प्रोत्साहित होकर हि अन्य राज्यों मे बसे हुए जर्मनो में प्रचार करने लगा।

इसके बाद वर्साय-सन्धि के अन्य कलंको को भी धोना था। उस संधि के द्वारा ज को प्रथम विश्व-युद्ध के लिए दोषी ठहराया गया था और उसी आधार पर जर्मनी पर एक बड़ी रकम क्षतिपूर्ति के नाम पर लाद दी गयी थी। हिलटर ने क्षतिपूर्ति और युद्ध-अपराध दोष को मानने से इनकार कर दिया। मित्रराष्ट्र देखते ही रहे और हिटलर ने आसानी क्षतिपूर्ति की जटिल समस्या का हल कर दिया। वर्साय-सन्धि का पंचम भाग जर्मनी के लि एक दूसरा कलंक था। इस भाग के द्वारा जर्मनी की सैन्य-शक्ति को सीमित कर दिया गया तृतीय रीह के लिए यह बहुत बड़े अपमान की बात थी। हिलटर ने इसको मानने से इन्कार कर दिया। मार्च, १९३५ में उसने घोषणा की कि निरस्त्रीकरण की दिशा में मित्रराष्ट्रों ने कोई ठोस कदम नहीं उठाया है। इसलिए वर्साय-सन्धि की निरस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराएँ अब जर्मनी के लिए किसी भी दृष्टि से बन्धनकारी नहीं है। इस घोषणा के बाद उसने जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा आरम्भ की और जर्मनी की सैन्य शक्ति बढ़ने लगी। कुछ दिनों के बाद उसने स्पष्ट शब्दो में यह भी घोषित कर दिया कि वह वर्साय-सन्धि की किसी भी शर्त को मानने के लिए तैयार नहीं है और भविष्य में जर्मनी अपने को इस सन्धि से मुक्त समझेगा। हिटलर की विदेश-नीति का एक उद्देश्य इस तरह पूरा हो गया।

पोलैंड के साथ समझौता—हिटलर ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई जल्दीबाजी नही की। अपनी पुस्तक में तो उसने आग उगली थी परन्तु सत्ता ग्रहण करने के बाद उसके भाषण बड़े सौम्य रहे और वह यूरोप में शान्ति की कामना प्रकट करता रहा। उसकी इच्छा केवल इतनी ही थी कि अन्य राष्ट्र जर्मनी से छेड़छाड़ न करें। मुसोलिनी के प्रस्ताव पर उसने १९३३ में इटली, फ्रांस और इंगलैंड के साथ पारस्परिक हितों के मामलों में सीधे कूटनीतिक परामर्श करने के लिए एक समझौता (Four Power Peace Pact) किया। उसने अपने सहकारी रूडॉल्फ हस के द्वारा १९३४ में फ्रांस से शान्ति के लिए जर्मनी के साथ सहयोग करने का प्रस्ताव किया। जनवरी १९३४ में उसने पोलैंड से दशवर्षीय अनाक्रमण-सन्धि द्वारा दोनों देशों के बीच मनोमालिन्य और तनाव कम करके अपनी शान्तिप्रियता का परिचय दिया।

आस्ट्रिया को हड़पने का यत्न—जनवरी, १९३३ में जर्मनी का शासन-सूत्र हिटलर के हाथों में आने के बाद आस्ट्रिया कि राजनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होना अवश्यम्भावी हो गया। हिटलर ने सत्ता पर अधिकार जमाते ही आस्ट्रिया का जर्मनी में सम्मिलित करने का प्रयत्न शुरू कर दिया। हिटलर के चान्सलर बनने के पूर्व १९३० में ही आस्ट्रिया में एक नात्सी-पार्टी का संगठन हो चुका था। पर इसकी शक्ति कोई अधिक नहीं थी। जर्मनी में नात्सी-शासन स्थापित हो जाने पर आस्ट्रिया के नात्सियों को बहुत बल मिला। जर्मन नात्सी-पार्टी ने आस्ट्रियन नात्सी-पार्टी की सहायता दिल खोलकर करने लगी। थियो हाबिच नामक एक नात्सी को हिटलर ने आस्ट्रिया के लिए विशेष निरीक्षक बहाल किया। जर्मन प्रेस और रेडियो से

इस सन्धि के बाद मित्रराष्ट्रों को जर्मन से वर्साय की सन्धि को भंग करने की शिकायत करने का कोई नैतिक आधार नहीं रहा।[1]

स्ट्रेसा-सम्मेलन—ब्रिटेन के साथ जर्मनी का समझौता हो जाने से यूरोपीय सुरक्षा की समस्या हल नहीं हो रही थी। जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकरण से अन्य देशों में बड़ा भय उत्पन्न हुआ। फ्रांस तो भयभीत था ही। अतः जर्मनी की कार्रवाई पर विचार करने के लिए फ्रांस ने अप्रिल में राष्ट्रसंघ कौंसिल का विशेष अधिवेशन बुलाने की माँग की। इसके पूर्व मुसोलिनी के प्रयास से ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के राजनीतिज्ञ स्ट्रेसा नामक स्थान पर जर्मनी के खतरे पर विचार करने के लिए एकत्र हुए। स्ट्रेसा में तीनों देशों के प्रतिनिधियों द्वारा वर्साय-व्यवस्था की रक्षा करने में परस्पर सहयोग करने की सम्मिलित घोषणा की गयी, साथ-ही साथ वर्साय-सन्धि के अन्तर्गत अपने कर्त्तव्यों को अस्वीकार करने के कारण जर्मनी की निन्दा भी की गयी। किन्तु स्ट्रेसा-घोषणा केवल धमकीमात्र ही थी। इसको लागू करने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की गयी। उल्टे, इससे जर्मनी में बहुत रोष फैला। हिटलर खासकर ब्रिटेन से बहुत अधिक रुष्ट हुआ, क्योंकि एक तरफ तो वह जर्मनी से समझौता कर रहा था और दूसरी तरफ उसकी भर्त्सना। जर्मन पुनर्शस्त्रीकरण अब एक निष्पादित तथ्य था। इसको कोई रोक नहीं सकता था। फ्रांस जानता था कि स्ट्रेसा-घोषणा से उसका काम नहीं चलेगा। अतः मई, १९३५ में उसने रूस के साथ एक पारस्परिक सुरक्षा-सन्धि कर ली। इसी तरह की एक दूसरी सन्धि चेकोस्लोवाकिया के साथ भी हुई।[2]

राइनलैंड का पुनर्सैनीकीकरण—१९३६ के प्रारम्भ में यूरोप में यह अफवाह बड़े जोरों से फैली कि जर्मनी राइनलैंड पर कब्जा करने की तैयारी कर रहा है। वर्साय-सन्धि के अनुसार जर्मनी राइनभूमि में न तो सशस्त्र सेना ही रख सकता था और न किलाबन्दी ही कर सकता था। लोकार्नो-सन्धि के द्वारा भी इस बात की गारन्टी दी गयी थी; पर हिटलर लोकार्नो-सन्धि का उल्लंघन करने के लिए भी तैयार था। १९३५ में इटली ने अबीसीनिया पर हमला कर दिया। ब्रिटेन ने इसका विरोध किया और विवश होकर फ्रांस को भी ब्रिटेन का साथ देना पड़ा। राष्ट्रसंघ ने इटली के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी का आदेश दिया। हिटलर ने इस स्थिति से लाभ उठाया। उसने इटली के साथ सहानुभूति प्रकट की और उसे युद्ध सामग्री भी दी। हिटलर इथोपिया-काण्ड का अच्छी तरह देखता रहा। ब्रिटेन और फ्रांस बुरी तरह इस काण्ड में फँस गये थे। ७ मार्च, १९३६ को जर्मन रीहस्टाग में भाषण देते हुए फ्यूरर ने यह घोषणा की कि जर्मनी राइनलैंड को तृतीय रीह में सम्मिलित करने को तैयार है। इसी समय जर्मन विदेश मन्त्री ने ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और बेल्जियम के राजदूतों को बुलाकर यह सूचित किया कि चूँकि फ्रांस ने सोवियत संघ से समझौता करके ऐसे कर्त्तव्यों को स्वीकार कर लिया है, जो लोकार्नो-सन्धि की शर्तों के विरुद्ध है, इसलिए जर्मनी राइनभूमि पर पुनः कब्जा कर लेना चाहता है। इस घोषणा के थोड़ी ही देर बाद लगभग पैंतीस हजार जर्मन-सैनिकों ने राइनलैंड में प्रवेश कर उसपर अपना अधिकार जमा लिया।

---

1. Jackson, *The Between War World*, p. 142.
2. G. Hardy, *A Short History of International Affairs*, p. 376.

समय म्यूनिख-रेडियो से भी हुई। सम्भवतः यह देश के अन्य भागों में व्यापक उपद्रव के लिए इशारा था। पर विद्रोहियों को जनता का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। शाम होते-होते वियना में पूर्ण शान्ति कायम हो गयी। सभी नात्सी-षड्यन्त्रकारी पकड़ लिये गये।

इसमें कोई शक नही कि डाल्फस की हत्या की पूरी जिम्मेवारी जर्मन नात्सियों और खासकर उसके फ्यूरर पर थी। उन्होंने सोचा था कि षड्यन्त्र सफल हो जायगा और सीमान्त पर खड़े 'आस्ट्रियन लिजिन' की मदद से वे आस्ट्रिया पर अधिकार जमा लेंगे। पर उनकी यह मनोकामना पूर्ण नहीं हो सकी। इटली का कड़ा रुख इसका एकमात्र कारण था। उस समय डूचे और फ्यूरर एक दूसरे से बहुत दूर थे। इटली शुरू से आस्ट्रो-जर्मन ऐक्य का विरोध करता रहा था। वह अनुभव करता था कि आस्ट्रिया और जर्मनी के मिल जाने से शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र की सीमा इटली से आ मिलेगी और बात उसके अपने लिए बहुत हानिकारक हो सकती है। अतः जब डालफस की हत्या का समाचार मुसोलिनी को मिला तो उसने अपनी सेना ब्रेनर के दर्रे में भेज दी और चेतावनी दी कि यदि हिटलर आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयत्न करेगा तो इटली से युद्ध छिड़ जायगा। हिटलर डर गया। अधिक दूर तक जाने की साहस उसमें नही हुआ। यदि मुसोलिनी इस अवसर पर डटकर काम नही करता तो आस्ट्रिया उसी समय अवश्य ही जर्मनी का शिकार हो गया होता। असफलता देखकर हिटलर ने भी आस्ट्रिया के प्रति अपनी नीति में कुछ दिनों के लिए परिवर्तन कर दिया। उसने घोषणा की कि जुलाई की घटना मे उसका बिल्कुल हाथ नहीं था। उसने अनेक बार यह स्वीकार किया कि आस्ट्रिया स्वतन्त्रता पर खतरा पैदा करने या उसके घरेलू मामले में हस्तक्षेप करने का कोई विचार था।[1] उसने वियना स्थित जर्मन राजदूत के कार्यों को अस्वीकृत करके उसे वापस बुला लिया और थियोहाबिच को भी बरखास्त कर दिया। यह नीति दो वर्षों तक जारी रही। इस प्रकार हिंसा के द्वारा आस्ट्रो-जर्मन-ऐक्य का प्रयास असफल रहा। आस्ट्रिया को हड़पने के लिए पहले मुसोलिनी को खुश करना और उसका समर्थन पाना आवश्यक था। अतः हिटलर अब मुसोलिनी से मेल-मिलाप करने का यत्न करने लगा।

ब्रिटेन के साथ समझौता—'मीन कैम्फ' के लेखक ने लिखा था कि फ्रांस जर्मनी का कट्टर दुश्मन है। अतः जब १६ मार्च, १९३५ को हिटलर ने पुनर्शस्त्रीकरण की अपनी योजना घोषित की, तो फ्रांस में काफी चिन्ता फैल गयी। हिटलर जानता था कि मित्रराष्ट्रों की मंडली में जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकरण का समाचार सुनकर ही खलबली मच जायगी। वह मित्रराष्ट्रों में फूट डालकर अपना काम निकालना चाहता था। इस समय फ्रांस और सोवियत-संघ में एक सन्धि हो चुकी थी। ब्रिटेन को यह बात अच्छी नहीं लगी, क्योंकि यूरोप में फ्रांस काफी शक्तिशाली हो रहा था। हिटलर ब्रिटेन की इस मानसिक दशा को अच्छी तरह जानता था। वह यह भी जानता था कि ब्रिटेन जर्मनी के स्थल और वायु सेना को अपने हितों के लिए घातक नहीं मानता। हिटलर ब्रिटेन से इस बात पर समझौता करने के लिए तैयार था कि जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति नहीं बढ़े। जून १९३५ में दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार ब्रिटेन ने फ्रांस से छिपाकर यह स्वीकार कर लिया कि जर्मनी अपनी सैन्य-शक्ति (स्थल और वायु) में वृद्धि कर सकता है, बशर्ते वह अपनी नौ-सेना को ब्रिटेन की नौ सेना से पैंतीस प्रतिशत से अधिक न बढ़ावे। यह हिटलर की एक बहुत बड़ी कूटनीतिक विजय थी।

1. Hayes and Cole, *History of Europe*, Vol.II, p. 406.

इस सन्धि के बाद मित्रराष्ट्रों को जर्मन से वर्साय की सन्धि को भंग करने की शिकायत करने का कोई नैतिक आधार नहीं रहा।[1]

स्ट्रेसा-सम्मेलन—ब्रिटेन के साथ जर्मनी का समझौता हो जाने से यूरोपीय सुरक्षा की समस्या हल नहीं हो रही थी। जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकरण से अन्य देशों में बड़ा भय उत्पन्न हुआ। फ्रांस तो भयभीत था ही। अतः जर्मनी की कार्रवाई पर विचार करने के लिए फ्रांस ने अप्रिल में राष्ट्रसंघ कौंसिल का विशेष अधिवेशन बुलाने की माँग की। इसके पूर्व मुसोलिनी के प्रयास से ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के राजनीतिज्ञ स्ट्रेसा नामक स्थान पर जर्मनी के खतरे पर विचार करने के लिए एकत्र हुए। स्ट्रेसा में तीनों देशों के प्रतिनिधियों द्वारा वर्साय-व्यवस्था की रक्षा करने में परस्पर सहयोग करने की सम्मिलित घोषणा की गयी, साथ ही साथ वर्साय-सन्धि के अन्तर्गत अपने कर्त्तव्यों को अस्वीकार करने के कारण जर्मनी की निन्दा भी की गयी। किन्तु स्ट्रेसा-घोषणा केवल धमकीमात्र ही थी। इसको लागू करने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की गयी। उलटे, इससे जर्मनी में बहुत रोष फैला। हिटलर खासकर ब्रिटेन से बहुत अधिक रुष्ट हुआ, क्योंकि एक तरफ तो वह जर्मनी से समझौता कर रहा था और दूसरी तरफ उसकी भर्त्सना। जर्मन पुनर्शस्त्रीकरण अब एक निष्पादित तथ्य था। इसको कोई रोक नहीं सकता था। फ्रांस जानता था कि स्ट्रेसा-घोषणा से उसका काम नहीं चलेगा। अतः मई, १९३५ में उसने रूस के साथ एक पारस्परिक सुरक्षा-सन्धि कर ली। इसी तरह की एक दूसरी सन्धि चेकोस्लोवाकिया के साथ भी हुई।[2]

राइनलैंड का पुनर्सैनीकीकरण—१९३६ के प्रारम्भ में यूरोप में यह अफवाह बड़े जोरों से फैली कि जर्मनी राइनलैंड पर कब्जा करने की तैयारी कर रहा है। वर्साय-सन्धि के अनुसार जर्मनी राइनभूमि में न तो सशस्त्र सेना ही रख सकता था और न किलाबन्दी ही कर सकता था। लोकार्नो-सन्धि के द्वारा भी इस बात की गारन्टी दी गयी थी; पर हिटलर लोकार्नो-सन्धि का उल्लंघन करने के लिए भी तैयार था। १९३५ में इटली ने अबीसीनिया पर हमला कर दिया। ब्रिटेन ने इसका विरोध किया और विवश होकर फ्रांस को भी ब्रिटेन का साथ देना पड़ा। राष्ट्रसंघ ने इटली के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी का आदेश दिया। हिटलर ने इस स्थिति से लाभ उठाया। उसने इटली के साथ सहानुभूति प्रकट की और उसे युद्ध सामग्री भी दी। हिटलर इथोपिया-काण्ड का अच्छी तरह देखता रहा। ब्रिटेन और फ्रांस बुरी तरह इस काण्ड में फँस गये थे। ७ मार्च, १९३६ को जर्मन रीहस्टाग में भाषण देते हुए फ्यूरर ने यह घोषणा की कि जर्मनी राइनलैंड को तृतीय रीह में सम्मिलित करने को तैयार है। इसी समय जर्मन विदेश मन्त्री ने ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और बेल्जियम के राजदूतों को बुलाकर यह सूचित किया कि चूँकि फ्रांस ने सोवियत संघ से समझौता करके ऐसे कर्त्तव्यों को स्वीकार कर लिया है, जो लोकार्नो-सन्धि की शर्तों के विरुद्ध है, इसलिए जर्मनी राइनभूमि पर पुनः कब्जा कर लेना चाहता है। इस घोषणा के थोड़ी ही देर बाद लगभग पैंतीस हजार जर्मन-सैनिकों ने राइनलैंड में प्रवेश कर उसपर अपना अधिकार जमा लिया।

---

1. Jackson, *The Between War World*, p. 142.
2. G. Hardy, *A Short History of International Affairs*, p. 376.

समय म्यूनिख-रेडियो से भी हुई। सम्भवतः यह देश के अन्य भागों में व्यापक उपद्रव के लिए इशारा था। पर विद्रोहियो की जनता का समर्थन प्राप्त नही हो सका। शाम होते-होते वियना में पूर्ण शान्ति कायम हो गयी। सभी नात्सी-षड्यन्त्रकारी पकड़ लिये गये।

इसमें कोई शक नही कि डाल्फस की हत्या की पूरी जिम्मेवारी जर्मन नात्सियों और खासकर उसके फ्यूरर पर थी। उन्होने सोचा था कि षड्यन्त्र सफल हो जायगा और सीमान्त पर खड़े 'आस्ट्रियन लिजिन' की मदद से वे आस्ट्रिया पर अधिकार जमा लेंगे। पर उनकी यह मनोकामना पूर्ण नहीं हो सकी। इटली का कड़ा रुख इसका एकमात्र कारण था। उस समय डूचे और फ्यूरर एक दूसरे से बहुत दूर थे। इटली शुरू से आस्ट्रो-जर्मन ऐक्य का विरोध करता रहा था। वह अनुभव करता था कि आस्ट्रिया और जर्मनी के मिल जाने से शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र की सीमा इटली से आ मिलेगी और बात उसके अपने लिए बहुत हानिकारक हो सकती है। अतः जब डाल्फस की हत्या का समाचार मुसोलिनी को मिला तो उसने अपनी सेना ब्रेनर के दर्रे में भेज दी और चेतावनी दी कि यदि हिटलर आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयत्न करेगा तो इटली से युद्ध छिड़ जायगा। हिटलर डर गया। अधिक दूर तक जाने की साहस उसमें नही हुआ। यदि मुसोलिनी इस अवसर पर डटकर काम नही करता तो आस्ट्रिया उसी समय अवश्य ही जर्मनी का शिकार हो गया होता। असफलता देखकर हिटलर ने भी आस्ट्रिया के प्रति अपनी नीति में कुछ दिनों के लिए परिवर्तन कर दिया। उसने घोषणा की कि जुलाई की घटना में उसका बिल्कुल हाथ नही था। उसने अनेक बार यह स्वीकार किया कि आस्ट्रिया स्वतन्त्रता पर खतरा पैदा करने या उसके घरेलू मामले में हस्तक्षेप करने का कोई विचार था।[1] उसने वियना स्थित जर्मन राजदूत के कार्यों को अस्वीकृत करके उसे वापस बुला लिया और थियोहाबिच को भी बरखास्त कर दिया। यह नीति दो वर्षों तक जारी रही। इस प्रकार हिंसा के द्वारा आस्ट्रो-जर्मन-ऐक्य का प्रयास असफल रहा। आस्ट्रिया को हड़पने के लिए पहले मुसोलिनी को खुश करना और उसका समर्थन पाना आवश्यक था। अतः हिटलर अब मुसोलिनी से मेल-मिलाप करने का यत्न करने लगा।

ब्रिटेन के साथ समझौता—'मीन केम्फ' के लेखक ने लिखा था कि फ्रांस जर्मनी का कट्टर दुश्मन है। अतः जब १६ मार्च, १६३५ को हिटलर ने पुनर्शस्त्रीकरण की अपनी योजना घोषित की, तो फ्रांस में काफी चिन्ता फैल गयी। हिटलर जानता था कि मित्रराष्ट्रों की मंडली में जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकरण का समाचार सुनकर ही खलबली मच जायगी। वह मित्रराष्ट्रों में फूट डालकर अपना काम निकालना चाहता था। इस समय फ्रांस और सोवियत-संघ में एक सन्धि हो चुकी थी। ब्रिटेन को यह बात अच्छी नही लगी, क्योंकि यूरोप में फ्रांस काफी शक्तिशाली हो रहा था। हिटलर ब्रिटेन की इस मानसिक दशा को अच्छी तरह जानता था। वह यह भी जानता था कि ब्रिटेन जर्मनी के स्थल और वायु सेना को अपने हितों के लिए घातक नहीं मानता। हिटलर ब्रिटेन से इस बात पर समझौता करने के लिए तैयार था कि जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति नहीं बढ़े। जून १६३५ में दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार ब्रिटेन ने फ्रांस से छिपाकर यह स्वीकार कर लिया कि जर्मनी अपनी सैन्य-शक्ति (स्थल और वायु) में वृद्धि कर सकता है, बशर्ते वह अपनी नौ-सेना को ब्रिटेन की नौ सेना से पैंतीस प्रतिशत से अधिक न बढ़ावे। यह हिटलर की एक बहुत बड़ी कूटनीतिक विजय थी।

1. Hayes and Cole, *History of Europe*, Vol.II, p. 406.

यूरोप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं चाहता था। उसने वर्साय-सन्धि की धज्जी-धज्जी उड़ा दी थी। अब उसको अपनी विदेश-नीति के दूसरे ध्येय को, जिसका अर्थ "पूर्व की ओर धक्का दो" पूरा करना था। दूसरे शब्दों में हिटलर की आँखें सोवियत-संघ पर गड़ी हुई थीं। मीन कैम्फ में उसने लिखा था: "यदि अपार सम्पत्ति से युक्त यूराल पर्वत विस्तृत और मूल्यवान साइबेरिया के वन और अन्न का भण्डार यूक्रेन जर्मनी को मिल जायँ तो नात्सी-नेतृत्व में जर्मनी समृद्ध हो जायगा।" इसके अतिरिक्त साम्यवादी रूस को धक्का देने से एक और लाभ था। ब्रिटेन और फ्रांस हिटलर के इस पवित्र धार्मिक कार्य पर अत्यधिक खुश होंगे और उसकी सभी गलतियों को क्षमा कर देंगे। इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए हिटलर मित्रों की तलाश करने लगा।

इटली और जर्मनी आसानी से एक दूसरे के मित्र हो सकते थे। साम्यवाद डूचे और फ्यूरर दोनों का सामान्य शत्रु था। दोनों एक ही सिद्धान्त में विश्वास करते थे और राज्य-व्यवस्था की दृष्टि से ये दोनों राज्य एक सदृश थे। मुसोलिनी ने शुरू में हिटलर का विरोध किया था; पर यह उसकी गलती था। इटली पहले वर्साय-व्यवस्था का समर्थक था और इसको रखने में वह फ्रांस का सहयोगी राज्य था। जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष का स्वागत मुसोलिनी ने कभी नहीं किया था। हिटलर शुरू से ही आस्ट्रिया पर आधिपत्य करना चाहता था। लेकिन इटली के विरोध के कारण १६३४ में वह ऐसा नही कर सका। इटली आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का बहुत बड़ा समर्थक था, क्योंकि उसे यह सह्य नहीं था कि उसकी उत्तरी सीमा ब्रेनर दर्रे पर आस्ट्रिया जर्मनी के साथ मिलकर उसके लिए नया संकट उत्पन्न करे। लेकिन इटली अधिक दिनो तक फ्रांस के पक्ष में नहीं रह सकता था। कुछ मौलिक बातो पर फ्रांस के साथ भी उसका मतभेद था। वह भूमध्यसागर को "इटली की विनोद स्थली" और "रोमन झील" बना लेना चाहता था। इस कारण फ्रांस और इंगलैंड दोनों से उसका विरोध था। उत्तरी अफ्रिका के फ्रांसीसी साम्राज्य के बन्दरगाहों बिजटी, आल्जियर्स के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखने के लिए और यहाँ से सेनाएँ प्राप्त करने के लिए फ्रांस पश्चिमी भूमध्यसागर पर अपना पूरा प्रभुत्व चाहता था। किन्तु मुसोलिनी इसे "रोमन झील" बनाना चाहता था। वह ट्यूनिस आदि उपनिवेशों को हस्तगत करना भी चाहता था। स्पेन में फ्रैंको की सफलता के बाद उसे स्पेन से बेलियारिक टापू प्राप्त हो सकते थे। इनमें अपना समुद्री अड्डा बनाकर वह अफ्रिका के साथ फ्रांस के जलमार्ग को बन्द कर सकता था। अतएव फ्रांस और इटली के बीच शत्रुता का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक प्रतीत हो रहा था।

इसी प्रकार ब्रिटेन भी नहीं चाहता था कि भूमध्यसागर पर इटली का एकाधिकार हो जाय क्योंकि उसके पूर्वीय विशाल साम्राज्य के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाला मार्ग भूमध्यसागर से होकर ही गुजरता था। इस मार्ग की रक्षा के लिए ब्रिटेन ने कई नौसैनिक अड्डे बनाये थे और उनकी रक्षा परम आवश्यक थी। उधर मुसोलिनी इन महत्त्वपूर्ण मार्ग को किसी तरह तोड़ देना चाहता था। १६३६ में स्पेन के गृहयुद्ध में उसने फ्रैंको का साथ दिया ताकि उसकी सहायता से वह जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य को नियन्त्रित कर सके। माल्टा के ब्रिटिश अड्डे को व्यर्थ बनाने के लिए उसने सिसली में तथा ट्यूनिस के निकट पान्टेलेरिया टापू में किलेबन्दी शुरू कर दी। मध्यपूर्व में ब्रिटेन के प्रभुत्व के लिए यह बड़ा ही खतरनाक बात थी। मुसोलिनी ने अरबों को ब्रिटिश शासन के खिलाफ भी भड़काना शुरू किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि फ्रांस और

जर्मनी द्वारा राइनलैंड पर अधिकार करने के फलस्वरूप फ्रांस में तहलका मच गया। लेकिन फ्रांस अकेले कोई कदम उठाने से डरता था। फ्रांसीसी प्रधान मन्त्री ने ब्रिटेन से जर्मनी के विरुद्ध संयुक्त सैनिक कार्रवाई करने की अपील की। परन्तु, ब्रिटेन ने फ्रांस का साथ देने से इन्कार कर दिया। उसको राइनलैंड से अधिक चिन्ता इथोपिया की थी। अतः उसने फ्रांस को राष्ट्रसंघ में अपील करने की सलाह दी। लन्दन में राष्ट्रसंघ-कौंसिल का अधिवेशन विशेष रूप से बुलाया गया और वहाँ यह निर्णय हुआ कि जर्मनी ने असैनीकृत क्षेत्र में सेना भेजकर तथा वहाँ उन्हें स्थायी रूप से रखकर वर्साय सन्धि का उल्लंघन किया है। पर केवल प्रस्ताव मात्र से राइनलैंड का संकट सुलझनेवाला नहीं था। हिटलर उस भूमि पर जम चुका था। फ्रांस इसको रोक नहीं सकता था, क्योंकि वहाँ उन दिनों शांतिवादियों का जोर था और अन्य देश इस मामले में उदासीन थे। इथोपिया-काण्ड में इटली का विरोध करके वह मुसोलिनी को नाखुश कर चुका था और सोवियत संघ अभी सैनिक कार्यवाही करने के लिए तैयार नहीं था।[1]

आज राइनलैंड-काण्ड पर पुनर्विचार करने पर सारा काण्ड हिटलर का जबरदस्त कूटनीतिक धौंस के समान प्रतीत होता है। अगर फ्रांस चाहता तो अपनी मजबूत सैनिक तैयारी की बदौलत राइनलैंड में अपनी सेना भेजकर हिटलर को वापस लौटने पर बाध्य कर सकता था। आगे चलकर आस्ट्रिया के चान्सलर शुशनिग से भेंट करते हुए हिटकर ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया था। वास्तव में जर्मन सेनापतियों को यह लिखित आदेश था कि अगर फ्रांस बलपूर्वक राइनलैंड के अधिकार का विरोध करे तो जर्मन सेना को वापस लौट आना चाहिए। पर फ्रांस का दुर्भाग्य यह था कि उसको आत्मबल पर विश्वास ही नहीं था। इस समय यदि पोअन्कारे फ्रांस का भाग्य-विधाता रहता तो शायद ऐसी स्थिति नहीं आती।

बेल्जियम की तटस्थता—राइनलैंड पर जर्मनी का अधिकार, सामूहिक सुरक्षा की असफलता और जर्मनी की शक्ति में वृद्धि का प्रभाव बेल्जियम पर बहुत गहरा पड़ा। इन घटनाओं से बेल्जियम बहुत डर गया। उसने अनुभव किया कि यूरोपीय सुरक्षा-पद्धतियों से बचाव के बजाय खतरा ही पैदा हो सकता है। ६ अक्टूबर १९३६, को बेल्जियम के राजा लियोपोल्ड ने अपने एक भाषण में कहा कि "हमें ऐसी नीति पर चलना चाहिए जो अन्ततः और पूर्णतः बेल्जियम के हित में हो।" इसका अर्थ यह था कि बेल्जियम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता की नीति अपनाये और अपने पड़ोसियों के वाद-विवाद में नहीं पड़े। फ्रांस के साथ उसकी जो सैन्य संधियाँ हुई थीं, वे रद्द कर दी गयीं। २४ अप्रिल, १९३७ को फ्रांस और ब्रिटेन ने बेल्जियम की तटस्थता को मान लिया।

रोम-बर्लिन धुरी और कामिनटर्न विरोधी समझौता

हिटलर की कार्यवाहियों ने अनेक देशों को जर्मनी का दुश्मन बना दिया। यूरोप के राज्य उसकी उग्र नीति से इतना डर गये कि वे परस्पर मिलकर जर्मनी के विरुद्ध गुटबन्दी करने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी अकेला पड़ा हुआ था। इस स्थिति का अन्त कर जर्मन के लिए मित्र प्राप्त करना हिटलर की विदेश-नीति में दूसरा कदम था। हिटलर अब पश्चिमी

1. Churchil, *The Second World War*, Vol. *1*, pp. 173-76 & 235.

यूरोप में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं चाहता था। उसने वर्साय-सन्धि को धज्जी-धज्जी उड़ा दी थी। अब उसको अपनी विदेश-नीति के दूसरे ध्येय को, जिसका अर्थ "पूर्व की ओर धक्का दो" पूरा करना था। दूसरे शब्दों में हिटलर की आँखें सोवियत-संघ पर गड़ी हुई थी। मीन कैम्फ में उसने लिखा थाः "यदि अपार सम्पत्ति से युक्त यूराल पर्वत विस्तृत और मूल्यवान साइबेरिया के वन और अन्न का भण्डार यूक्रेन जर्मनी को मिल जायें तो नात्सी-नेतृत्व में जर्मनी समृद्ध हो जायगा।" इसके अतिरिक्त साम्यवादी रूस को धक्का देने से एक और लाभ था। ब्रिटेन और फ्रांस हिटलर के इस पवित्र धार्मिक कार्य पर अत्यधिक खुश होंगे और उसकी सभी गलतियों को क्षमा कर देंगे। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हिटलर मित्रों की तलाश करने लगा।

इटली और जर्मनी आसानी से एक दूसरे के मित्र हो सकते थे। साम्यवाद डूचे और फ्यूरर दोनों का सामान्य शत्रु था। दोनों एक ही सिद्धान्त में विश्वास करते थे और राज्य-व्यवस्था की दृष्टि से ये दोनों राज्य एक सदृश थे। मुसोलिनी ने शुरू में हिटलर का विरोध किया था; पर यह उसकी गलती था। इटली पहले वर्साय-व्यवस्था का समर्थक था और इसको रखने में वह फ्रांस का सहयोगी राज्य था। जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष का स्वागत मुसोलिनी ने कभी नहीं किया था। हिटलर शुरू से ही आस्ट्रिया पर आधिपत्य करना चाहता था। लेकिन इटली के विरोध के कारण १९३४ में वह ऐसा नहीं कर सका। इटली आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का बहुत बड़ा समर्थक था, क्योंकि उसे यह सह्य नहीं था कि उसकी उत्तरी सीमा ब्रेनर दर्रे पर आस्ट्रिया जर्मनी के साथ मिलकर उसके लिए नया संकट उत्पन्न करे। लेकिन इटली अधिक दिनों तक फ्रांस के पक्ष में नहीं रह सकता था। कुछ मौलिक बातों पर फ्रांस के साथ भी उसका मतभेद था। वह भूमध्यसागर को "इटली की विनोद स्थली" और "रोमन झील" बना लेना चाहता था। इस कारण फ्रांस और इंगलैंड दोनों से उसका विरोध था। उत्तरी अफ्रिका के फ्रांसीसी साम्राज्य के बन्दरगाहों बिजटो, आल्जियर्स के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखने के लिए और यहाँ से सेनाएँ प्राप्त करने के लिए फ्रांस पश्चिमी भूमध्यसागर पर अपना पूरा प्रभुत्व चाहता था। किन्तु मुसोलिनी इसे "रोमन झील" बनाना चाहता था। वह ट्यूनिस आदि उपनिवेशों को हस्तगत करना भी चाहता था। स्पेन में फ्रैंको की सफलता के बाद उसे स्पेन से बेलियारिक द्वीप प्राप्त हो सकते थे। इनमें अपना समुद्री अड्डा बनाकर वह अफ्रिका के साथ फ्रांस के जलमार्ग को बन्द कर सकता था। अतएव फ्रांस और इटली के बीच शत्रुता का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक प्रतीत हो रहा था।

इसी प्रकार ब्रिटेन भी नहीं चाहता था कि भूमध्यसागर पर इटली का एकाधिकार हो जाय क्योंकि उसके पूर्वीय विशाल साम्राज्य के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाला मार्ग भूमध्यसागर से होकर ही गुजरता था। इस मार्ग की रक्षा के लिए ब्रिटेन ने कई नौसैनिक अड्डे बनाये थे और उनकी रक्षा परम आवश्यक थी। उधर मुसोलिनी इन महत्त्वपूर्ण मार्ग को किसी तरह तोड़ देना चाहता था। १९३६ में स्पेन के गृहयुद्ध में उसने फ्रैंको का साथ दिया ताकि उसकी सहायता से वह जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य को नियन्त्रित कर सके। माल्टा के ब्रिटिश अड्डे को व्यर्थ बनाने के लिए उसने सिसली में तथा ट्यूनिस के निकट पान्टेलेरिया द्वीप में किलेबन्दी शुरू कर दी। मध्यपूर्व में ब्रिटेन के प्रभुत्व के लिए यह बड़ा ही खतरनाक बात थी। मुसोलिनी ने अरबों को ब्रिटिश शासन के खिलाफ भी भड़काना शुरू किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि फ्रांस और

ब्रिटेन के साथ इटली का सम्बन्ध बहुत दिनों तक अच्छा नहीं रह सकता था। कभी-कभी जर्मनी की ओर झुकना ही था।

अबीसीनिया के युद्ध के कारण जर्मनी और इटली का सम्बन्ध सुधरने लगा और वे एक दूसरे के निकट पहुँचने लगे। इसके कारण जर्मनी और इटली के सम्बन्धों में एक नया अध्याय शुरू हुआ। जर्मन-इटालियन गठबन्धन के लिए अबीसीनिया का युद्ध एक वरदान सिद्ध हुआ। इस युद्ध के समय अबीसीनिया के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाया था और इनमें ब्रिटेन तथा फ्रांस का मुख्य भाग था। यद्यपि भीतर-ही-भीतर फ्रांस और इंगलैंड को प्रभावशाली न होने देने में कोई कसर नहीं उठा रखा, लेकिन मुसोलिनी उनके कार्यों से कतई सन्तुष्ट नहीं था। इटली के विरुद्ध राष्ट्रसंघ ने जो प्रतिबन्ध लगाये थे उसका सफल प्रतिरोध करने के लिए इटली को जर्मन सहायता की आवश्यकता थी और इटली को यह सहायता भी मिली थी। जर्मनी राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था, अतएव वह आर्थिक प्रतिबन्ध में राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता था। अबीसीनिया युद्ध के समय इटली को जर्मनी से कई प्रकार की सहायताएँ मिलीं। इस बदली हुई परिस्थिति में इटली ने भी जर्मनी को आस्ट्रिया पर प्रभुत्व स्थापित करने की स्वीकृति दे दी। मुसोलिनी अब हिटलर को अपना घनिष्ठ मित्र बना लेना चाहता था। उसका यह कहना था कि वह जर्मनी के साथ मिलकर साम्यवाद के खिलाफ संघर्ष करना चाहता था।

४ जुलाई, १९३६ को इटली पर से आर्थिक प्रतिबन्ध उठा लिया गया। अब हिटलर को यह चिन्ता थी कि इटली के सम्बन्ध फ्रांस और ब्रिटेन के साथ पुनः मैत्रीपूर्ण न हो जाय। लेकिन भाग्य ने पुनः उसका साथ दिया। १७ जुलाई, १९३६ को स्पेन में गृह-युद्ध छिड़ गया। इसमें मुसोलिनी ने जनरल फ्रैंको का साथ दिया और शुरू से ही फ्रांस तथा ब्रिटेन की नीति का विरोध किया। हिटलर ने इस अवसर पर मुसोलिनी का पूरा-पूरा साथ दिया और हथियारों से विद्रोहियों की बड़ी सहायता की। इस गृह-युद्ध ने जर्मनी और इटली का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ बना दिया। सहयोग के इस वातावरण में एक देश के राजनेता दूसरे देश में भ्रमण करने लगे और २५ अक्टूबर, १९३६ को इटली के विदेश मंत्री चिआनो तथा जर्मन विदेश मंत्री न्यूरथ ने एक गुप्त समझौता किया। इसके द्वारा जर्मनी ने अबीसीनिया पर इटली के अधिकार की मान्यता दी। यह भी निश्चय हुआ कि डैन्यूब घाटी में यथास्थिति कायम रखने, स्पेन में जनरल फ्रैंको के आन्दोलन का समर्थन करने तथा साम्यवादी रूस का विरोध करने में वे परस्पर सहयोग करते रहेंगे। इटली ने यह स्वीकार किया कि लोकार्नो के ढंग का कोई समझौता हो उसे पश्चिमी यूरोप तक सीमित रखा जाय, राष्ट्रसंघ के विधान से सोलहवीं धारा निकाल दी जाय। इटली ने आस्ट्रिया पर जर्मनी के आधिपत्य को भी स्वीकार कर लिया।

यह समझौता यूरोपीय राजनीति के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इसके परिणामस्वरूप जर्मनी को एक विश्वासपात्र मित्र मिल गया और इस प्रकार उसमें एकाकी जीवन का अन्त हो गया।[1] इस समझौते के बाद १ नवम्बर को मुसोलिनी ने बर्लिन रोम-धुरी (Berlin-Rome Axis) के निर्माण की चर्चा की। जर्मनी और इटली को अब धुरी शक्तियाँ (Axis Powers) कहा जाने लगा जिनका मुख्य उद्देश्य वर्साय-व्यवस्था का उन्मूलन था।

1. Jackson, *The Between War World*, p. 142.

कामिनटर्न-विरोधी-समझौता—संसार में जर्मनी का एक और मित्र हो सकता था और वह था जापान। दोनों की अन्तर्राष्ट्रीय नीति एक सदृश थी। रूसी साम्यवाद से दोनों डरते थे। दोनों के साम्राज्यवादी आकांक्षाओं पर सोवियत-संघ एक बहुत बड़ी रुकावट थी। इस रुकावट का मुकाबला करने के लिए नवम्बर १९३६ में साम्यवाद के विरुद्ध दोनों देशों (जर्मन और जापान) ने एक समझौता (Anti-Commintern Pact) कर लिया। इसमें यह कहा गया था कि इस पर हस्ताक्षर करने वाले देश थर्ड इन्टरनेशनल के कार्यों को एक दूसरे से परिचित कराते रहेंगे, इससे रक्षा के उपायों पर परस्पर परामर्श करेंगे और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सहयोग करेंगे। १९३७ में इटली भी इस सन्धि में शामिल हो गया। रोम-बर्लिन-धुरी अब रोम-बर्लिन-टोकियो-धुरी में परिणत हो गयी थी। तीन फासिस्ट तानाशाहों का मिलना युद्धोत्तर-काल के कूटनीतिक इतिहास का एक तर्कसंगत परिणाम था। २४ फरवरी, १९३९ को हंगरी तथा मंचुकाओ तथा २६ मार्च, १९३९ को स्पेन भी इस समझौता में शामिल हो गये।

हिटलर के उत्थान और उसकी विदेश-नीति के परिणामस्वरूप संसार एक बार फिर उस कुचक्र में आ गिरा, जिसमें वह प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व गिरा था। संसार के विभिन्न राज्य एक बार फिर दो शक्तिशाली एवं परस्पर विरोधी गुटों में विभक्त हो चुके थे। एक गुट में फ्रांस, लघुमैत्री-संघ के देश, बाल्कन के राज्य, सोवियत-संघ और कुछ अंशों में ब्रिटेन और दूसरे गुट में जर्मनी, जापान और इटली थे। निरस्त्रीकरण का प्रयास असफल हो चुका था और संसार के राज्य दूसरे महाभारत की तैयारी करने में जुट गये थे। बारूद सूख रही थी, उसे केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी। अन्तर्राष्ट्रीय संकटों ने चिनगारी का काम किया और सारे संसार में महा-युद्ध की आग भड़क उठी।

आस्ट्रिया का जर्मनी में विलयन—अबीसीनिया पर इटली के सफल आक्रमण के फल-स्वरूप राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल गयी। 'सामूहिक सुरक्षा' के लिए जिस व्यवस्था का निर्माण किया गया था, वह उसके निर्माताओं की भूल के कारण ही नष्ट हो गयी। वे भूल गये कि 'शान्ति अविभाज्य होती है।' एक जगह आक्रमण की उपेक्षा करने से अन्यत्र भी आक्रमण की सम्भावना रहती है और शान्ति कायम नहीं रह सकती। राष्ट्रसंघ को हिटलर पहले से ही तुच्छ समझता था, परन्तु अबीसीनिया के दुर्भाग्य ने उसके सामने राष्ट्रसंघ की दुर्बलता प्रकट कर दी और उसके सामने यह स्पष्ट हो गया कि यूरोप के राज्य उसके विरुद्ध एक नहीं हो सकते। अब निर्भय होकर हिटलर ने मध्य तथा दक्षिण पूर्वी यूरोप पर प्राधान्य जमाने और इसी प्रकार जर्मनी को पूर्व की ओर आगे बढ़ने (*Drange Nach Osten*) की परम्परागत अकांक्षा की पूर्ति के लिए कदम बढ़ाया।

आस्ट्रिया को हड़पने की तैयारी—हिटलर का अगला कदम आस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाना था। यह नात्सियों का प्रमुख कार्य-क्रम था। हिटलर वर्साय-सन्धि की धज्जी-धज्जी उड़ा-कर सम्पूर्ण जर्मन-जाति को एक सूत्र में बाँधना चाहता था। अतएव आस्ट्रिया का हड़पना हिटलर के लिए अति आवश्यक था। डा० डालफस की हत्या के समय ही यह कार्यक्रम पूरा होनेवाला था। पर मुसोलिनी के विरोध के कारण वह सफल नहीं हो सका। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, हिटलर ने कुछ दिनों के लिए आस्ट्रिया के प्रति अपने रवैये को बदल दिया और उपयुक्त अवसर की ताक में लगा रहा। सबसे पहले उसने मुसोलिनी को अपने पक्ष में मिलाने का प्रयास किया।

अबीसीनिया युद्ध के समय केवल जर्मनी ने ही इटली के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की थी। मुसोलिनी इस बात को भूल नहीं सकता था। अक्टूबर, १९३६ में दोनों देशों के बीच एक सन्धि हो गयी, जिसके परिणामस्वरूप 'रोम-बर्लिन-धुरी' की नींव पड़ी। १९३७ में वह 'कामिन्टर्न विरोधी पैक्ट' में भी शामिल हो गया। इन समझौतों के कारण फ्यूरर को अब डूचे की तरफ से कोई भय नहीं रह गया। वह आस्ट्रिया में मुसोलिनी का समर्थन पाकर अब कुछ भी कर सकता था। आस्ट्रिया को अब इटली की संरक्षता प्राप्त नहीं रही। क्योंकि इटली जर्मन का मित्र हो चुका था।

मुसोलिनी को अपने पक्ष में कर लेने के बाद हिटलर आस्ट्रिया को हड़पने की तैयारी करने लगा। डा० डालफस के मरने के बाद आस्ट्रिया का चान्सलर शुशनिग हुआ था। डालफस की तरह वह भी नात्सी-विरोधी था और अपने देश की स्वतंत्रता अक्षुण्ण रखना चाहता था। पर आस्ट्रिया की नात्सी-पार्टी की गतिविधि उग्र होती चली जा रही थी। जर्मनी और आस्ट्रिया की सीमा इन नात्सियों का प्रधान केन्द्र था, जहाँ से निकलकर वे आस्ट्रिया के सरकारी अफसरों और पुलिस पर आक्रमण करते थे। स्थिति शुशनिग के काबू के बाहर होती जा रही थी। १९३८ के प्रारम्भ से यह स्थिति और भी अधिक बिगड़ने लगी। नात्सी लोग बराबर प्रदर्शन करते थे। अन्त में विवश होकर आस्ट्रियन सरकार को नात्सी-पार्टी पर एक बार फिर से प्रतिबन्ध लगाना पड़ा; पर यह प्रतिबन्ध कभी सच्चे अर्थ में लागू नहीं हुआ।

इस समय हिटलर अपनी सरकार और सैनिक विभाग के पुनर्संगठन में व्यस्त था। ४ फरवरी, १९३८ को उसने प्रधान सेनापति फ्रिच को पद त्यागने के लिए बाध्य किया और जर्मन सेना का सर्वोच्च सेनापति स्वयं बन गया। न्यूरथ के स्थान पर रिबनट्रोप विदेश मन्त्री बना दिया गया। इसके बाद आस्ट्रिया पर आक्रमण की तैयारी होने लगी। वियना स्थित जर्मन राजदूत पापेन ६ फरवरी को बर्लिन बुलाया गया और फ्यूरर ने घन्टों तक उससे आस्ट्रिया के विषय में विचार-विमर्श किये। ८ फरवरी को वह वियना लौटा। वह अपने साथ हिटलर का एक पत्र भी लेता आया था। इस पत्र द्वारा हिटलर ने शुशनिग को मुलाकात करने के लिए बेर्शटेसगार्डेन में बुलाया था। १२ फरवरी को वह बेर्शटेसगार्डेन के लिए चल पड़ा और वहाँ हिटलर से उसकी मुलाकात हुई। इस मुलाकात में क्या वार्ताएँ हुई और हिटलर ने किस प्रकार शुशनिग को डराया-धमकाया, यह आज सर्वविदित है। बगल के एक दूसरे कमरे में जर्मन अफसर आस्ट्रिया पर आक्रमण करने की योजना बना रहे थे। हिटलर ने शुशनिग के सामने निम्नलिखित मांगें रखीं: (१) आस्ट्रियन नात्सी-पार्टी को वैध घोषित कर दिया जाय। (२) डाल्फस-हत्याकाण्ड में जो नात्सी पकड़े गये हैं उन्हें मुक्त किया जाय। (३) नात्सी-नेता से इन्कावर्ट को आस्ट्रिया का सुरक्षा-मन्त्री नियुक्त किया जाय। हिटलर ने शुशनिग को यह चेतावनी भी दे दी कि यदि तीन दिनों के अन्दर ये सभी बातें नहीं मान ली जाती हैं तो जर्मन सेना आस्ट्रिया में प्रवेश कर जायगी। शुशनिग के सामने कोई चारा नहीं रहा। काँपते हुए हाथ से उसने इन शर्तों पर हस्ताक्षर कर दिये।

वियना लौटने पर तीन दिनों तक शुशनिग को नींद नहीं आयी। वह विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं से विचार-विमर्श करता रहा और अन्त में उसने हिटलर की सभी शर्तें मान

लों। पर हिटलर की आकांक्षा पूरी नहीं हुई। वह तो इस अनुमान में था कि शुशनिग उसके अन्तिमेत्थम् अस्वीकार कर लेगा और तब इस बहाने वह आस्ट्रिया पर आक्रमण कर देगा। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। अब हिटलर किसी तरह आस्ट्रिया पर आक्रमण करने का बहाना ढूँढ़ने लगा। आस्ट्रिया की सीमा पर जर्मन सेना एकत्र की जाने लगी। शुशनिग भावी खतरे को ताड़ गया। ९ फरवरी, १९३८ को उसने घोषणा की कि इस प्रश्न पर कि आस्ट्रिया जर्मनी के साथ शामिल हो या नहीं लोकमत लिया जायगा। यदि लोकमत द्वारा यही तय हुआ कि आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिल जाना चाहिए तो वह इसे सहर्ष स्वीकार कर लेगा। आस्ट्रिया में अधिकांश लोग ऐसे थे जो अपने देश का अस्तित्व बनाये रखना चाहते थे। शुशनिग को उम्मीद थी कि लोकमत में ६० से ८० प्रतिशत का बहुमत आस्ट्रो-जर्मन ऐक्य के विरुद्ध होगा।[1] पर हिटलर इसके लिए तैयार नहीं था। वह अपनी योजना को एक अनिश्चित कसौटी पर लाने के लिए कभी भी राजी नहीं हो सकता था। अतएव ११ मार्च को हिटलर ने शुशनिग के पास एक दूसरा अन्तिमेत्थम् भेजा, जिसमें जनमत संग्रह स्थगित करने की माँग की गयी थी। छः बजे शाम को एक एलान के द्वारा जनमत-संग्रह स्थगित कर दिया गया। इसके बाद जर्मनी की दूसरी माँग आयी कि प्रधानमन्त्री शुशनिग त्यागपत्र दे अन्यथा जर्मनी आस्ट्रिया पर हमला कर देगा। लगभग उसी समय यह भी पता चल गया कि जर्मनी सैनिक सीमा पर इकट्ठा हो रहे हैं। शुशनिग ने विवश होकर अपना त्यागपत्र दे दिया। साढ़े सात बजे सन्ध्या रेडियो पर उसने अपना अन्तिम भाषण दिया। उसने कहा : "मुझे यह धमकी दी गयी है कि यदि मैं और मेरी सरकार दोनों त्यागपत्र नहीं देंगे और यदि राष्ट्रपति जर्मनी द्वारा मनोनीत व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नहीं नियुक्त करेंगे तो साढ़े सात बजे जर्मन सेना आस्ट्रिया में प्रवेश कर जायेगी। इस भयंकर स्थिति में राष्ट्रपति रक्त बहाने को तैयार न थे; इसलिए उन्हें बल के सामने झुकना पड़ा। उन्होंने आस्ट्रियन सेना को बिना प्रतिरोध पीछे हट जाने का आदेश दे दिया है।...मैं आस्ट्रियन जनता से विदा ले रहा हूँ। ईश्वर आस्ट्रिया की रक्षा करे।"

आस्ट्रिया पर आधिपत्य—शुशनिग के बाद नात्सी नेता डा० सेइस इन्क्वार्ट ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया और हिटलर के पास एक तार भेजा, जिसमें कहा गया था कि आस्ट्रिया में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिए जर्मन सेनाओं की सहायता की तुरत आवश्यकता है। यह बिलकुल गलत बात थी। उस समय वियना में कहीं भी शान्ति-व्यवस्था को खतरा नहीं था। यह तो जर्मन सेना के प्रवेश को एक वैधानिक रंग देने का बहाना मात्र था। वास्तव में जर्मन सेना पहले से ही प्रवेश करना शुरू कर चुकी थी। अगले दिन लगभग एक हजार जर्मन सैनिकों ने राजधानी पर आधिपत्य कर लिया। १२ मार्च की सन्ध्या समय स्वयं हिटलर लिंज पहुँचा और वहाँ सेइस इन्क्वार्ट ने उसका भव्य स्वागत किया। स्वागत को स्वीकार करते हुए उसने कहा : "जब मैं इस नगर से पहली बार चला था तब मैंने यह अनुभव किया था कि नियति ने मुझे यह काम सौंपा है कि मैं अपनी जन्मभूमि को महान् जर्मन रीह में वापस लाऊँ। मैंने इसको अपना कर्तव्य माना है और इसे पूरा किया है।" दूसरे दिन सुबह श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए हिटलर अपने माता-पिता की कब्र पर गया। सारे वियना में नात्सियों का स्वस्तिक झंडा फहरा रहा था।

1. G. Hardy, *A Short History of International Affairs*, p. [illegible]

जिस समय हिटलर आस्ट्रिया की हत्या कर रहा था उस समय यूरोप के महान् राष्ट्र क्या कर रहे थे ? डाल्फस-हत्याकाण्ड के समय ब्रिटेन, फ्रांस और इटली संयुक्त रूप से विश्व को यह आश्वासन दे चुके थे कि आस्ट्रिया पर खतरा पहुँचने की स्थिति में वे मिल-जुलकर उसका विरोध करेंगे। पर जब अवसर आया तो वे चुपचाप बैठे रहे। ब्रिटेन के सरकारी क्षेत्रों में इसका कोई विरोध नहीं हुआ और फ्रांस में उस समय एक मन्त्रिमण्डलीय संकट खड़ा हुआ था। इटली, जो आस्ट्रियन स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा समर्थक था, इस समय तक जर्मनी का मित्र बन चुका था। डाल्फस-हत्याकाण्ड के समय जिस मुसोलिनी ने आस्ट्रिया की रक्षा के लिए ब्रेनर दर्रे में इटली की सेना भेजी थी वही मुसोलिनी इस बार चुपचाप बैठा रह गया। यहाँ तक कि इस दर्रे में जर्मन और इटालियन सेनाओं ने विजय की खुशी में एक दूसरे का अभिवादन किया। "मैं तुम्हारी इस सहायता के लिए हमेशा कृतज्ञ रहूँगा"। फ्यूरर ने ड्यूचे को इस आशय का एक तार भी भेज दिया।

आस्ट्रिया पर अधिकार करने के बाद जर्मन अधिकारियों ने वहाँ की राष्ट्रीय भावनाओं को सन्तुष्ट करने का कोई यत्न नहीं किया। इसके विपरीत आस्ट्रिया के साथ एक विजित देश-सा व्यवहार किया गया। सभी राजनीतिक पार्टियों को अवैध घोषित कर दिया गया और उनके सब प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिये गये। सैकड़ों लोग या तो मार डाले गये या नजरबन्दी-शिविरों में भेज दिये गये। यहूदियों पर घोर अत्याचार किया गया। कुछ दिनों तक सारे वियना में हाहाकार मचा रहा। हजारों लोगों ने आत्महत्या करके घोर अपमान से रक्षा की। अपनी विरोधियों को कुचलने के साथ-साथ आस्ट्रो-जर्मन एकता को विधिवत पूर्ण करने की तैयारी होने लगी। हिटलर का कहना था कि ऐक्य के प्रश्न पर लोकमत लेने का उपयुक्त समय अब है। १० अप्रिल, १९३८ को लोकमत लिया गया और ९९ प्रतिशत बहुमत से जनता ने ऐक्य का समर्थन किया। यह लोकमत केवल आस्ट्रिया में ही नहीं हुआ, अपितु सम्पूर्ण रीह में हुआ। इसलिए आस्ट्रियन लोकमत हर तरह से दब गया था। फिर भी १८० वोट ऐक्य के विरुद्ध आये। जैसी स्थिति थी उसमें एक वोट भी नात्सियों के विरुद्ध आना एक आश्चर्य की बात थी। एक सरकारी घोषणा द्वारा आस्ट्रिया को जर्मन रीह में सम्मिलित कर लिया गया। बीस वर्ष के जीवन के बाद आस्ट्रिया गणतन्त्र संसार के नक्शे से लुप्त हो गया और 'मीन कैम्फ' का एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम पूर्ण हो गया।

आस्ट्रिया-काण्ड का महत्त्व—अनेक दृष्टियों से आस्ट्रिया की हत्या एक अभूतपूर्व और महत्त्वपूर्ण घटना थी। युद्ध के बाद यह पहला मौका था जब एक शक्तिशाली देश ने एक छोटे कमजोर देश को डरा-धमका कर और धौंस देकर उसपर अपना अधिकार कायम कर लिया हो। वास्तव में आस्ट्रिया को जर्मन साम्राज्य में मिलाने के लिए कोई लड़ाई नहीं हुई। केवल अन्तिमेत्थम् देकर ही हिटलर ने अपना काम निकाल लिया। छोटे-छोटे राज्यों पर इसका प्रभाव बहुत ही बुरा पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का युग पहले प्रारम्भ हो चुका था। आस्ट्रिया इस युग का एक दूसरा शिकार हुआ जिसके परिणामस्वरूप यूरोप के अन्य राज्यों में बेचैनी फैल गयी। भावी भयंकर युद्ध के चिह्न सबको स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगे। सबसे अधिक खतरा चेकोस्लोवाकिया के सामने उपस्थित हो गया।

उसकी सीमा बहुत विस्तृत थी और जर्मनी की सीमा उसकी सीमा से बिल्कुल छूती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया कि अब जर्मनी का दूसरा शिकार वही होगा।

जर्मनी में आस्ट्रिया के मिल जाने से वह बहुत शक्तिशाली देश हो गया। उसकी जन-शक्ति साठ लाख के लगभग तो बढ़ ही गयी; पर इसके साथ-साथ दक्षिण पूर्व यूरोप में सैनिक और राजनीतिक दृष्टि से भी उसकी धाक जम गयी। इटली के साथ उसका सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया। इसके अतिरिक्त वह हंगरी और यूगोस्लाविया के निकट आ गया। जर्मनी को आस्ट्रिया से भारी मात्रा में मैगनेसाइट भी हाथ लगा, जिसका प्रयोग विमान बनाने में हो सकता था। इसके अतिरिक्त लोहे, लकड़ी इत्यादि भी जर्मनी को काफी मात्रा में मिल गये। आस्ट्रिया के बैंक से उसे दो करोड़ नकद प्राप्त हुआ, जिससे जर्मनी के विदेशी विनिमय की समस्या भी बहुत हद तक हल हो गयी। आस्ट्रिया-काण्ड पर ब्रिटिश लोकसभा में बोलते हुए चर्चिल ने ठीक ही कहा था कि 'वियना पर आधिपत्य से नात्सी-जर्मनी का दक्षिण-पूर्व यूरोप के यातायात पर कब्जा हो गया।' आस्ट्रिया-काण्ड का यह सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू था।[1]

चेकोस्लोवाकिया का विनाश और म्यूनिख का समझौता

चेकोस्लोवाकिया का सामरिक महत्त्व—आस्ट्रो-जर्मन-ऐक्य (आनश्लुश) के बाद सब लोग समझने लगे कि नात्सीवाद का दूसरा शिकार चेकोस्लोवाकिया होगा। १९३८ के प्रारम्भिक दिनों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुशल प्रेक्षक कहा करते थे कि 'अगला नम्बर चेकोस्लोवाकिया का है।' आस्ट्रो-जर्मन-ऐक्य के बाद सबसे विचित्र स्थिति डेन्यूब-क्षेत्र में स्थित इसी छोटे राज्य की थी। उसका सारा सीमान्त जर्मनी की तरफ से खुल गया था और उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी हो गयी थी मानो "एक अनन्त ट्यूटोनिक महासागर में एक छोटा-सा चेक द्वीप" स्थित हो। विशेषकर चेकोस्लोवाकिया के बोहेमिया और मोरेविया के जिले जर्मनी

1. Churchil, *The Second World War*, Vol. I. pp. 235-236.

जिस समय हिटलर आस्ट्रिया की हत्या कर रहा था उस समय यूरोप के महान् राष्ट्र क्या कर रहे थे ? डालफस-हत्याकाण्ड के समय ब्रिटेन, फ्रांस और इटली संयुक्त रूप से विश्व को यह आश्वासन दे चुके थे कि आस्ट्रिया पर खतरा पहुँचने की स्थिति में वे मिल-जुलकर उसका विरोध करेंगे। पर जब अवसर आया तो वे चुपचाप बैठे रहे। ब्रिटेन के सरकारी क्षेत्रों में इसका कोई विरोध नहीं हुआ और फ्रांस में उस समय एक मन्त्रिमण्डलीय संकट खड़ा हुआ था। इटली, जो आस्ट्रियन स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा समर्थक था, इस समय तक जर्मनी का मित्र बन चुका था। डालफस-हत्याकाण्ड के समय जिस मुसोलिनी ने आस्ट्रिया की रक्षा के लिए ब्रेनर दर्रे में इटली की सेना भेजी थी वही मुसोलिनी इस बार चुपचाप बैठा रह गया। यहाँ तक कि इस दर्रे में जर्मन और इटालियन सेनाओं ने विजय की खुशी में एक दूसरे का अभिवादन किया। "मैं तुम्हारी इस सहायता के लिए हमेशा कृतज्ञ रहूँगा"। फ्यूरर ने डूचे को इस आशय का एक तार भी भेज दिया।

आस्ट्रिया पर अधिकार करने के बाद जर्मन अधिकारियों ने वहाँ की राष्ट्रीय भावनाओं को सन्तुष्ट करने का कोई यत्न नहीं किया। इसके विपरीत आस्ट्रिया के साथ एक विजित देश-सा व्यवहार किया गया। सभी राजनीतिक पार्टियों को अवैध घोषित कर दिया गया और उनके सब प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिये गये। सैकड़ों लोग या तो मार डाले गये या नजरबन्दी-शिविरों में भेज दिये गये। यहूदियों पर घोर अत्याचार किया गया। कुछ दिनों तक सारे वियना में हाहाकार मचा रहा। हजारों लोगों ने आत्महत्या करके घोर अपमान से रक्षा की। अपनी विरोधियों को कुचलने के साथ-साथ आस्ट्रो-जर्मन एकता को विधिवत् पूर्ण करने की तैयारी होने लगी। हिटलर का कहना था कि ऐक्य के प्रश्न पर लोकमत लेने का उपयुक्त समय अब है। १० अप्रिल, १९३८ को लोकमत लिया गया और ९९ प्रतिशत बहुमत से जनता ने ऐक्य का समर्थन किया। यह लोकमत केवल आस्ट्रिया में ही नहीं हुआ, अपितु सम्पूर्ण रीह में हुआ। इसलिए आस्ट्रियन लोकमत हर तरह से दब गया था। फिर भी १८० वोट ऐक्य के विरुद्ध आये। जैसी स्थिति थी उसमें एक वोट भी नात्सियों के विरुद्ध आना एक आश्चर्य की बात थी। एक सरकारी घोषणा द्वारा आस्ट्रिया को जर्मन रीह में सम्मिलित कर लिया गया। बीस वर्ष के जीवन के बाद आस्ट्रिया गणतन्त्र संसार के नक्शे से लुप्त हो गया और 'मीन कैम्फ' का एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम पूर्ण हो गया।

आस्ट्रिया-काण्ड का महत्त्व—अनेक दृष्टियों से आस्ट्रिया की हत्या एक अभूतपूर्व और महत्त्वपूर्ण घटना थी। युद्ध के बाद यह पहला मौका था जब एक शक्तिशाली देश ने एक छोटे कमजोर देश को डरा-धमका कर और धौंस देकर उसपर अपना अधिकार कायम कर लिया हो। वास्तव में आस्ट्रिया को जर्मन साम्राज्य में मिलाने के लिए कोई लड़ाई नहीं हुई। केवल अल्टिमेटम् देकर ही हिटलर ने अपना काम निकाल लिया। छोटे-छोटे राज्यों पर इसका प्रभाव बहुत ही बुरा पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का युग पहले प्रारम्भ हो चुका था। आस्ट्रिया इस युग का एक दूसरा शिकार हुआ जिसके परिणामस्वरूप यूरोप के अन्य राज्यों में बेचैनी फैल गयी। भावी भयंकर युद्ध के चिह्न सबको स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगे। सबसे अधिक खतरा चेकोस्लोवाकिया के सामने उपस्थित हो गया।

उसकी सीमा बहुत विस्तृत थी और जर्मनी की सीमा उसकी सीमा से बिलकुल छूती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया कि अब जर्मनी का दूसरा शिकार वही होगा।

जर्मनी में आस्ट्रिया के मिल जाने से यह बहुत शक्तिशाली देश हो गया। उसकी जन-शक्ति साठ लाख के लगभग तो बढ़ ही गयी; पर इसके साथ-साथ दक्षिण पूर्व यूरोप में सैनिक और राजनीतिक दृष्टि से भी उसकी धाक जम गयी। इटली के साथ उसका सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया। इसके अतिरिक्त वह हंगरी और यूगोस्लाविया के निकट आ गया। जर्मनी को आस्ट्रिया से भारी मात्रा में मैगनेसाइट भी हाथ लगा, जिसका प्रयोग विमान बनाने में हो सकता था। इसके अतिरिक्त लोहे, लकड़ी इत्यादि भी जर्मनी को काफी मात्रा में मिल गये। आस्ट्रिया के बैंक से उसे दो करोड़ नकद प्राप्त हुआ, जिससे जर्मनी के विदेशी विनिमय की समस्या भी बहुत हद तक हल हो गयी। आस्ट्रिया-काण्ड पर ब्रिटिश लोकसभा में बोलते हुए चर्चिल ने ठीक ही कहा था कि 'वियना पर आधिपत्य से नात्सी-जर्मनी का दक्षिण-पूर्व यूरोप के यातायात पर कब्जा हो गया।' आस्ट्रिया-काण्ड का यह सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू था।[1]

चेकोस्लोवाकिया का विनाश और म्यूनिख का समझौता

चेकोस्लोवाकिया का सामरिक महत्त्व—आस्ट्रो-जर्मन-ऐक्य (आनश्लुश) के बाद सब लोग समझने लगे कि नात्सीवाद का दूसरा शिकार चेकोस्लोवाकिया होगा। १९३८ के प्रारम्भिक दिनों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुशल प्रेक्षक कहा करते थे कि 'अगला नम्बर चेकोस्लोवाकिया का है।' आस्ट्रो-जर्मन-ऐक्य के बाद सबसे विचित्र स्थिति डेन्यूब-क्षेत्र में स्थित इसी छोटे राज्य की थी। उसका सारा सीमान्त जर्मनी की तरफ से खुल गया था और उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी हो गयी थी मानो "एक अनन्त ट्यूटोनिक महासागर में एक छोटा-सा चेक द्वीप" स्थित हो। विशेषकर चेकोस्लोवाकिया के बोहेमिया और मोरेविया के जिले जर्मनी

1. Churchil, *The Second World War*, Vol. I. pp. 235-236.

द्वारा बिल्कुल घिर गये थे और उनकी रक्षा करना असम्भव-सा प्रतीत होने लगा था। वास्तव में चेकोस्लोवाकिया यूरोप का सबसे गम्भीर खतरे का स्थान हो गया था।

प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप में जिन नये राज्यों की स्थापना हुई थी, चेकोस्लोवाकिया उनमें प्रमुख था। मध्य यूरोप में सामरिक दृष्टिकोण से इसकी स्थिति बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी। डेन्यूब क्षेत्र में जर्मनी-विस्तार को रोकने के लिए चेकोस्लोवाकिया एक ढाल समझा जाता था। सम्भवतः इसीलिए फ्रांस और सोवियत-संघ इस देश को बहुत महत्त्व देते थे और युद्धोत्तर-काल में उनके द्वारा जो गुटबन्दियाँ कायम की गयी, उनमें चेकोस्लोवाकिया को प्रमुख स्थान दिया गया था। वह फ्रांसीसी-सोवियत सहयोग में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी था और पूर्ण जर्मनी के मुख्य केन्द्रों पर वायुमार्ग से चारो ओर आक्रमण करने के लिए एक अमूल्य केन्द्र था। यही कारण था कि फ्रांस हमेशा चेकोस्लोवाकिया की अखण्डता और स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए तत्पर रहता था। अपने समय में बिस्मार्क कहा करता था "जिसके पास बोहेमिया है, वही यूरोप का स्वामी है।" बीसवी शताब्दी के चतुर्थ दशाब्दी में भी इस बात को इसी तर्क के साथ दुहराया जा सकता था। चेकोस्लोवाकिया के इस महत्त्व को हिटलर भी भली भाँति-समझता था।

जर्मनी अल्पसंख्यकों की समस्या—आस्ट्रो-हंगरी-साम्राज्य के खण्डहरों में युद्ध के बाद शान्ति-सन्धियो द्वारा चेकोस्लोवाकिया का निर्माण हुआ था। इनमें भिन्न-भिन्न जातियाँ निवास करती थीं। प्रोफेसर हार्डी के शब्दों में "यह युद्ध पूर्व के आस्ट्रो-हंगरी साम्राज्य को अनेक जातियों की पिटारी का लघु रूप था।" १९३१ की जन-गणना के अनुसार इस देश में विविध जातियों की जनसंख्या इस प्रकार थी—चेक ७४,४७,०००; जर्मनी ३२,३१,६००; स्लोवाक २३,०६,०००; मगयार ६,६१,६००; रूचीनियन ५,४६००० और पोल ८१,७००। चेकोस्लोवाकिया के जीवन के प्रारम्भिक दिनों में चेक और स्लोवाक लोगों का झगड़ा सिर दर्द का विषय बना रहा। ये दो जातियाँ विशाल स्लाव-जाति की दो शाखाएँ थी। जाति-दृष्टि से बहुत निकट होने पर भी उनकी ऐतिहासिक परम्परा एक दूसरे से सर्वथा पृथक् थी। १७२० के बाद चेक-लोग आस्ट्रिया साम्राज्य के अन्दर थे और स्लोवाक लोग हजारों वर्षों से हंगरी के अधीन। हंगरी की अपेक्षा आस्ट्रिया प्रगतिशील देश था और इसलिए चेक पहले से ही काफी उन्नत थे। उनके मुकाबले में स्लोवाक लोग काफी पिछड़े हुए थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि स्वतन्त्र और नये चेकोस्लोवाकिया में चेक लोगो की प्रधानता होती। यह बात स्लोवाक लोगों को पसन्द नही थी। आर्थिक दृष्टि से उनका हंगरी में मिलना अच्छा होता। अतः कुछ स्लोवाक लोगों ने यह आन्दोलन शुरू किया कि स्लोवाकिया का पृथक् राज्य होना चाहिए। युद्ध के समय में चेक-नेता प्रोफेसर मैसेरिक ने स्लोवाकों को स्वायत्त-शासन देने का वचन दिया था। पर जब पीछे चलकर इस प्रकार का पार्थक्यवादी आन्दोलन चलने लगा तो इसका गला घोंटने के लिए चेक-सरकार ने अनेक कदम उठाये। स्लोवाक लोग इससे और अधिक रंज हुए। पर उनका यह आन्दोलन सफल नही हो सका। धीरे-धीरे दोनों जातियों में एकता की भावना का विकास होने लगा।

चेकोस्लोवाकिया की सबसे अधिक कठिन समस्या बत्तीस लाख से भी अधिक जर्मन अल्पसंख्यकों की थी। चेकोस्लोवाकिया की यह सबसे बड़ी कमजोरी थी। जिस राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर चेक-लोगों ने अपने नये राष्ट्र का निर्माण किया उसमें इतनी अधिक

संख्या में उग्र जर्मन जाति के लोगों को शामिल करके उन्होंने बहुत बड़ी गलती की। आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को चेकोस्लोवाकिया पर लागू किये जाने पर उनका टुकड़ा-टुकड़ा हो जाना अनिवार्य था और जर्मन-लोग चुपचाप बैठने वाले नहीं थे। वे सम्पूर्ण देश में फैले हुए थे, पर उनका मुख्य निवास-स्थान सुडेटनलैंड था। युद्ध के पहले यह प्रदेश आस्ट्रिया साम्राज्य के अन्तर्गत था। आस्ट्रिया के लोग स्वयं जर्मन-जाति के थे और इसलिए इस क्षेत्र पर शासन भी जातीय भावना से ही होता था। आस्ट्रिया की सरकार इस क्षेत्र पर शासन करने के लिए मुख्यतः जर्मन अधिकारियों को बहाल करती थी। पर युद्ध के बाद वह स्थिति समाप्त हो गयी और उसपर चेक-लोगों का शासन हो गया। जर्मन-लोग चेकों से काफी उन्नत थे और इसलिए अपने को चेकों के मुकाबले में बहुत ऊँचा समझते थे। पर अब वे अनुभव करने लगे कि चेक-शासन के अन्तर्गत उनका स्थान बहुत ही हीन हो गया है।

चेक सरकार जर्मनों की इस भावना को समझती थी और जहाँ तक सम्भव था उनके साथ अच्छा वर्ताव करने की कोशिश करती थी। कहा जाता है कि चेक-लोग जिस प्रकार का अच्छा वर्ताव जर्मनों के साथ करते थे उस प्रकार का वर्ताव किसी दूसरे देश में अल्पसंख्यकों के साथ नहीं होता था। चेक सरकार हमेशा उनको सन्तुष्ट रखने का प्रयास करती थी। उनके अपने विद्यालय और विश्वविद्यालय थे जहाँ जर्मन-भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। स्वयं चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में उनका अपना पृथक् विश्वविद्यालय था। सुडेटनलैंड के शासन यन्त्र पर भी उनका काफी नियन्त्रण था। पर इतना होने पर भी जर्मन लोग चेकों से घृणा करते थे। वास्तव में यह घृणा परम्परा से चली आ रही थी। चेकोस्लोवाकिया के निर्माण होने के बाद यह और तीव्र हो गयी। जर्मन-लोगों का खास विरोध १९२० के चेक-संविधान से था। इसके अतिरिक्त वे चेकोस्लोवाकिया की विदेश-नीति से भी काफी क्षुब्ध थे। चेकोस्लोवाकिया फ्रांस के गुट में शामिल था और लघुमैत्री-संघ का एक सदस्य था। वे गुट-बन्दियाँ जर्मनी के विरुद्ध की गयी थीं और यह स्वाभाविक था कि चेकोस्लोवाकिया में बसे हुए जर्मन लोग इसको नापसन्द करें।

जर्मनी में नात्सी-पार्टी के उत्कर्ष के फलस्वरूप चेकोस्लोवाकिया के जर्मन अल्प-संख्यकों की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रंगमंच पर आ धमकी। जर्मनी के साथ सुडेटनलैंड को मिलाने के लिए वहाँ एक पार्थक्यवादी आन्दोलन चलाना आवश्यक था। इसके लिए नात्सी-पार्टी की एक शाखा चेकोस्लोवाकिया में भी कायम की गयी। इसका नेता कोनार्ड हैनलीन था। १९३६ में ओलिम्पिक खेल-कूद के अवसर पर बर्लिन में उसकी मुलाकात हिटलर से हुई और उसके बाद से वह चेकोस्लोवाकिया में फ्यूरर का एक वफादार एजेन्ट हो गया। नात्सी-स्वयंसेवक-सेना और सुडेटन-जर्मनों पर नात्सीवाद का प्रभाव बढ़ने लगा। चेक सरकार पर नात्सी आन्दोलन का काफी असर पड़ा। उस समय चेकोस्लोवाकिया का राष्ट्रपति बेनेश था। वह उदार विचार का व्यक्ति था और जर्मनों को खुश करके रखना चाहता था। १९३७ में एक घोषणा के द्वारा उसने सुडेटन-जर्मनों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूरा करने और उसकी शिकायतों को दूर करने के लिए उन्हें सुविधाएँ प्रदान कीं। सरकारी नौकरियों में अनुपात के अनुसार जर्मनों को स्थान, जर्मन-भाषा को एक सरकारी भाषा की मान्यता और जर्मन संस्थाओं को सरकारी सहायता देने का वचन दिया गया। पर इस घोषणा से भी

सुडेटन-जर्मनों को सन्तोष नहीं हुआ। हिटलर के इशारे पर वे 'पूर्ण स्वायत्त शासन' की मांग करने लगे।

मार्च, १९३८ में आस्ट्रिया पर जर्मनी का आधिपत्य हो चुका था। आस्ट्रो-जर्मन-ऐक्य के बाद ऐसा मालूम होता था कि हिटलर तुरत ही चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर देगा। पर ब्रिटेन की चेतावनी के कारण यह आक्रमण उस समय रुक गया। २४ मार्च को ब्रिटिश लोक-सभा में भाषण करते हुए चेम्बलरलेन ने चेकोस्लोवाकिया की तरफ संकेत करते हुए यह कह दिया कि 'यदि युद्ध छिड़ गया तो वह सीमित नहीं रहेगा' कुछ समय के लिए हिटलर को अपनी नीति बदलनी पड़ी। आक्रमण करने की जगह उसने चेकोस्लोवाकिया के अन्दर उपद्रव करवाकर अपना उद्देश्य पूरा करने का निश्चय किया। जर्मन 'समाचार-पत्र चेकोस्लोवाकिया में जर्मनों पर अत्याचार' का जहर उगलने लगे। इसी समय २३ अप्रिल, १९३८ को कार्ल्सबाद में भाषण करते हुए सुडेटन-जर्मन पार्टी के नेता हैनलीन ने चेक सरकार से आठ माँगें कीं। इसमें जर्मन इलाके के लिए पूर्ण स्वायत्तशासन और जर्मन राजनीतिक सिद्धांत और आदर्श अपनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की गयी थी। चेक-विदेश-नीति में, विशेष कर रूस के साथ मैत्री के मामले में, आमूल परिवर्त्तन करने की मांग भी इसमें सम्मिलित थी।

अन्तर्राष्ट्रीय संकट की ओर—हिटलर ने हैनलीन की माँगों का जबरदस्त समर्थन किया। चेकोस्लोवाकिया को डराने-धमकाने के लिए सीमान्तों पर सैनिक अभ्यास करने की आज्ञा जारी कर दी गयी। हिटलर अपने सैनिक सलाहकारों से विचार-विमर्श करता रहा और विदेशी राजदूतों से मुलाकात करना, उनसे तरह-तरह की वार्ताएँ करना इत्यादि प्रतिदिन की साधारण बात हो गयी। २२ मई, १९३८ को चेकोस्लोवाकिया में नगरपालिकाओं का चुनाव होनेवाला था। जानकार सूत्रों का विश्वास था कि चुनाव के अवसर पर ही कोई गड़बड़ी पैदा होगी और चेकोस्लोवाकिया में एक क्रांति हो जायगी। उधर सीमान्तो पर जर्मनो की सैनिक गतिविधि जारी थी। चेक-सरकार ने भी आंशिक युद्धबन्दी की आज्ञा दे दी। युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा। ब्रिटिश राजदूत सर हन्डरसन बर्लिन से ब्रिटिश-नागरिकों को हटाने का प्रबन्ध करने लगे। २१ मई की एक घटना से तनाव और भी बढ़ गया। उस दिन दो सुडेटेन जर्मनो को, जो आज्ञा के विरुद्ध सीमा पार करना चाहते थे, गोली से उड़ा दिया गया। इन घटना के बाद संकट अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। एक विराट सभा में भाषण करते हुए डा० गोबुल्स ने कहा कि 'हम ३५ लाख जर्मनो के साथ दुर्व्यवहार होते ज्यादा देर तक नहीं देख सकते। हमने आस्ट्रिया में देखा कि एक जाति को दो देशों में विभक्त नही किया जा सकता और यह बात भी शीघ्र ही कहीं और भी देखेंगे।' यूरोपीय युद्ध की सम्भावनाएँ नजर आने लगी क्योंकि फ्रांस और सोवियत संघ चेकोस्लोवाकिया की सहायता करने के लिए वचनबद्ध थे और शायद ब्रिटेन भी फ्रांस की सहायता करता ही। पर चेकोस्लोवाकिया को आंशिक युद्धबन्दी और आंग्ल फ्रांसीसी चेतावनी के फलस्वरूप संकट किसी तरह टल गया। हिटलर को हिम्मत नहीं हो सकी कि वह अपनी सेना को सीमा पार करने की आज्ञा दे दे। चुनाव शान्ति-पूर्वक समाप्त हो गया। यूरोप एक बार फिर युद्ध से बच गया और सबों ने शान्ति की साँस लीं। यूरोप के कुछ समाचार-पत्रों ने चेक सरकार को बधाई देते हुए यह लिखा कि एक छोटे-से राज्य ने समय पर युद्धबन्दी करके हिटलर को शान्त कर दिया। इटली और जर्मन की

छोड़ कर प्रायः सभी देशों में इसकी खुशी मनायी गयी। इस पर हिटलर बहुत क्रुद्ध हुआ। "हिटलर के लिए", सर हण्डसन ने लिखा, "यह अत्यधिक मानसिक पीड़ा का समय था। यूरोप की खुशी देख कर उसी समय उसने यह निश्चय कर लिया कि बेनेस और चेक लोगों से इसका बदला लेना है।"

रन्सीमन मिशन :—मई-संकट के समाप्त हो जाने के बाद भी चेकोस्लोवाकिया यूरोपीय राजनीति का प्रमुख प्रश्न बना रहा। राष्ट्रपति बनेस अपने देश की रक्षा के लिए हिटलर से लोहा लेने के लिए तैयार था। इस कार्य में उसको फ्रांस, सोवियत संघ, रूमानिया तथा यूगोस्लाविया का सहयोग प्राप्त था। हिटलर की हिम्मत नहीं थी कि वह विशाल गुट की उपेक्षा करके चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर दे। पर उसे तुरत ही ज्ञात हो गया कि सोवियत-संघ को छोड़कर कोई भी देश चेकोस्लोवाकिया को सक्रिय मदद देने के लिए तैयार नहीं है। फ्रांस में ल्यांब्लुम की सरकार का पतन हो चुका था। उसके बाद अप्रिल, १९३८ में मि० दलादिये का मन्त्रिमण्डल बन चुका था और मि० बोने इस मन्त्रिमण्डल में विदेश-मन्त्री थे। ये दोनों व्यक्ति 'तुष्टिकरण की नीति' के बहुत बड़े समर्थक थे और जर्मनी के विरुद्ध उग्र नीति का अवलम्बन नहीं करना चाहते थे। चेम्बरलेन और लार्ड हैलिफैक्स का भी यही रुख था। एक अवसर पर चेम्बरलेन ने कहा है: "जरा नक्शा उठाकर देखिये—चेकोस्लोवाकिया तीन तरफ से जर्मनी द्वारा घिरा हुआ है। ऐसी स्थिति में उनको बचाना कैसे सम्भव होगा?" महान् चेम्बरलेन के अनुसार चेकोस्लोवाकिया को जर्मन आक्रमण से बचाना असम्भव था। पर उस समय सभी (चेम्बरलेन सहित) जानते थे कि चेकोस्लोवाकिया को बड़ी आसानी के साथ बचाया जा सकता है यदि सोवियत-संघ को 'संयुक्त सुरक्षा' के प्रस्ताव को मान लिया जाता। लेकिन, आँग्ल-फ्रांसीसी शासकगण इस प्रस्ताव को मानने के लिए कतई तैयार नहीं थे। वे तो इस अनुमान में थे कि चेकोस्लोवाकिया पर जर्मन आधिपत्य हो जाने के बाद हिटलर का तीसरा शिकार साम्यवादी रूस ही होगा और उस शुभ घड़ी को देखने के लिए वे चेकोस्लोवाकिया को आहुति करने को तैयार थे।

जर्मन को प्रोत्साहित करने के इस वातावरण में ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों के बीच एक ऐसी योजना पर बातें चलने लगीं, जिसके आधार पर सुडेटन जर्मनों को आत्म-निर्णय का अधिकार प्राप्त हो जाय। ब्रिटेन और चेकोस्लोवाकिया के बीच किसी प्रकार की सन्धि या समझौता नहीं था और इस तटस्थता के हैसियत से वह सुडेटेन-प्रश्न में मध्यस्थता कर सकता था। अतएव अगस्त १९३८ में चेम्बरलेन ने लार्ड रन्सीमन को जर्मन-अल्पसंख्यकों के विवाद को सुलझाने के लिए ३ अगस्त १९३८ को प्राग भेजा। ब्रिटिश-प्रधानमन्त्री का कहना था कि चेक सरकार ने स्वयं ही ब्रिटिश-मध्यस्थता की इच्छा प्रदर्शित की थी। लेकिन, वास्तविक बात यह थी कि चेक-सरकार से यह इच्छा करवायी गयी थी। प्राग पहुँचकर रन्सीमन चेक-सरकार से हैनलीन के बीच समझौता कराने का प्रयास करने लगा। भीतर-ही-भीतर कूटनीतिक जरियों से चेक-सरकार पर ब्रिटेन और फ्रांस यह दबाव डालने लगे कि वह सुडेटेन-जर्मनों को अधिक-से अधिक सुविधा देने के लिए राजी हो जाय।

सुडेटेन-जर्मनों को खुश करने के लिए चेक-सरकार अधिकाधिक सुविधा देने को तैयार थी लेकिन हैनलीन उसको मानने के लिए तैयार नहीं था; क्योंकि हिटलर किसी प्रकार का

समझौता करना नहीं चाहता था। सर अलफ्रेड जिमेन ने ठीक ही लिखा है कि "सुडेटेन-प्रश्न कभी मुख्य समस्या नहीं था। जर्मन-अल्पसंख्यकों की शिकायतें निरा बहाना थीं। यदि वे न होतीं तो उन्हें किसी तरह पैदा करना पड़ता।" ऐसी स्थिति में रन्सीमन कुछ नहीं कर सकता था। उधर जर्मनी में नात्सी-अखबार चेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध जहर उगल रहे थे। सीमान्तों पर सैनिक अभ्यास जारी थे। १२ सितम्बर, १९३८ को नूरेम्बर्ग में नात्सी-पार्टी की रैली के अवसर पर हिटलर ने भाषण देते हुए कहा : "पैंतीस लाख जर्मनों पर चेक-लोग घोर अत्याचार कर रहे हैं। सुडेटेन-जर्मन को अन्य जातियों की तरह आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। यदि सुडेटेन-जर्मन अपनी ताकत से अपना यह अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते तो हम उनको मदद करने को तैयार हैं।" हिटलर के भाषण से सुडेटेन-जर्मनों को काफी प्रोत्साहन मिला। यह भाषण उपद्रव के लिए एक संकेत था और इधर-उधर उपद्रव भी होने लगे। चेक-सरकार ने इन उपद्रवों का दमन करना शुरू किया। इसपर हैनलीन ने समझौता-वार्ता भंग कर दी। उसने चेक सरकार को दमनकारी कार्रवाइयों को बन्द करने के लिए एक अन्तिमेत्थम् दिया और अपने जर्मन अनुयायियों को यह आदेश दिया कि वे जर्मन-सरकार को अपनी असल सरकार समझें और चेकोस्लोवाकिया के प्रति कोई भक्ति नहीं रखें। कोई भी सरकार इस प्रकार की चुनौती बर्दाश्त नहीं कर सकती है। चेक-सरकार ने भी इस पार्थक्यवादी आन्दोलन को कुचल देने का दृढ़ निश्चय किया। थोड़ी लड़ाई हुई और हैनलीन जर्मनी भाग गया। लार्ड रन्सीमन ने भी यह फैसला किया कि मध्यस्थ के रूप में उसका कार्य समाप्त हो गया है और वह लन्दन वापस आ गया। कुछ दिनों के बाद उसने एक रिपोर्ट पेश की जो चेक-सरकार के बिलकुल विरोधी थी।

बर्शटेसगार्डेन का प्रस्ताव—इन घटनाओं के कारण यूरोपीय शान्ति की सम्भावना अत्यधिक संदिग्ध हो गयी। सीमान्त की सैनिक गति-विधियों में तेजी आ गयी और ऐसा लगता था कि युद्ध छिड़ कर ही रहेगा। वातावरण में एक बेचैनी-सी पैदा हो गयी। ऐसा प्रतीत होता था कि हिटलर की सेनाएँ शीघ्र ही चेकोस्लोवाकिया पर चढ़ाई कर देंगी और, तब सन्धि के अनुसार फ्रांस और सोवियत-संघ चेकोस्लोवाकिया की मदद करने को पहुँच जायँगे। यूरोप में युद्ध का ज्वालामुखी फिर एक बार आग उगलने को तैयार हो गयी। हिटलर ने अपने अफसरों को युद्ध की तैयारी करने की आज्ञा दे दी। परन्तु हिटलर एक ऐसे मौके की ताक में भी था जिससे बिना युद्ध लड़े ही उसके उद्देश्य की पूर्ति हो जाय। १३ सितम्बर को उसे ब्रिटिश-प्रधान मन्त्री चेम्बरलेन का एक तार मिला : "मैं आपसे मिलना चाहता हूँ। कृपया जल्द से-जल्द जगह और समय निर्धारित कर सूचित करें।" हिटलर ने तुरत इसको मान लिया। १५ सितम्बर को चेम्बरलेन विमान से जर्मनी गया और बेशटेसगार्डेन में हिटलर से भेंट की। वार्ता में हिटलर ने स्पष्ट कर दिया कि यदि सुडेटन-जर्मनी को आत्मनिर्णय का अधिकार तुरत नहीं दे दिया जाता तो जर्मनी चेकोस्लोवाकिया पर शीघ्र ही आक्रमण कर देगा। चेम्बरलेन इस माँग को मान लेने के लिए तैयार था। वह अपने मन्त्रिमण्डल, चेक तथा फ्रांसीसी सरकारों से इस समाधान पर विचार करने के लिए लन्दन वापस आया। १८ सितम्बर को दलादिये और बोने भी लन्दन पहुँचे। चेम्बरलेन और दलादिये ने मिलकर एक योजना बनायी, जिसे वे संयुक्त रूप से चेकोस्लोवाकिया के सामने रखना चाहते थे। इसके अनुसार सम्पूर्ण सुडेटेनलैण्ड जर्मनी

को सौंप दिया जानेवाला था। १६ सितम्बर को यह योजना चेक-सरकार के सामने रखी गयी। इसमें चेक-सरकार से आग्रह किया गया था कि वह इस प्रस्ताव को अविलम्ब मान ले। प्रस्ताव मान लेने पर ब्रिटेन और फ्रांस ने चेक-सरकार को यह आश्वासन दिया कि उसके बचे हुए सीमान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय गारंटी दी जायगी। चेक-सरकार ने इस योजना पर आपत्ति उठायी। फ्रांसीसी प्रधानमन्त्री से पूछा गया कि जर्मन-आक्रमण की स्थिति में फ्रेंच-चेक-सन्धि के अन्तर्गत फ्रांस चेकोस्लोवाकिया की सहायता करने को तैयार है या नहीं। दलादिये ने इस प्रश्न का कोई उत्तर ही नहीं भेजा। २१ सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया को एक दूसरा अन्तिमेत्थम् भेजा। इसके साथ-साथ चेक-सरकार को यह धमकी भी दी गयी कि यदि इस बार चेकोस्लोवाकिया प्रस्ताव को तीन दिनों के अन्दर मंजूर नहीं करता है और जर्मनी उसपर चढ़ाई कर देता है तो ब्रिटेन और फ्रांस उसकी कोई मदद नहीं करेंगे। रात को दो बजे राष्ट्रपति बेनेस को सोते से जगाया गया। सुबह होने से पहले मन्त्रिमण्डल की बैठक बुलायी गयी। चेक-सरकार के सामने दूसरा उपाय ही क्या था। जिन मित्रों की सहायता का वह भरोसा कर सकती थी वे ही उससे इस योजना को मंजूर करने के लिए विवश कर रहे थे। उसने आँग्ल-फ्रांसीसी योजना को स्वीकार कर लिया। इसके बाद योजना के विरोध में चेक-प्रधानमन्त्री डा० होजा ने त्यागपत्र दे दिया और उसके स्थान पर जनरल सिरोवी प्रधानमन्त्री बना।

चेकोस्लोवाकिया के साथ उसके 'मित्र राज्यों' का इस तरह का व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता से कोसों दूर था। परन्तु, शान्ति कायम रखने के लिए चेम्बरलेन इसे 'आवश्यक शल्य-क्रिया' बतलाया। फ्रांसीसी लोकमत ने भी इसे 'एक लज्जाजनक आवश्यकता' बतलाकर स्वीकार कर लिया।[1] कहा जाता है कि दलादिये मन्त्रिमण्डल के तीन सदस्य इस योजना से असन्तुष्ट होकर अपना त्यागपत्र दे दिये थे और एक फ्रांसीसी सेनापति ने इसके विरोध में अपनी फ्रांसीसी नागरिकता भी त्याग दी थी। पर चेम्बरलेन और दलादिये अपनी 'सफलता' पर फूले नहीं समा रहे थे। वे सोच रहे थे कि हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर अपना आधिपत्य कायम कर लेगा और तब फिर साम्यवादी रूस का काम भी तमाम कर देगा। केवल सोवियत-सरकार ही इस चेकोस्लोवाकि‌ा की मदद करने को तैयार थी। सोवियत-संघ और चेकोस्लोवाकिया के बीच एक सन्धि हुई थी, जिसके अनुसार सोवियत सरकार ने वादा किया था कि जर्मन-आक्रमण की स्थिति में वह चेकोस्लोवाकिया की सहायता करेगी, यदि फ्रांस भी चेक लोग की मदद करे। फ्रांस इस समय सन्धि के अनुसार चेकोस्लोवाकिया की मदद करने को तैयार नहीं था; लेकिन तो भी सोवियत सरकार ने चेक-सरकार को मदद करने का वादा किया। बेनेस ने सोवियत सरकार के इस प्रस्ताव पर विचार किया। लेकिन, चेक-विरोधी नेता रुडोल्फ बेरान ने यह धमकी दी कि अगर बेनेस सोवियत-मदद को मंजूर कर लेगा तो वह चेकोस्लोवाकिया में गृह-युद्ध शुरू करा देगा। अतः बाध्य होकर बेनेस को मिली हुई सोवियत मदद भी ठुकरा देनी पड़ी।

गोडेसबर्ग का प्रस्ताव—चेक-सरकार द्वारा स्वीकृत योजना को लेकर चेम्बरलेन एक बार फिर हिटलर से मिलने जर्मन गया। २२ सितम्बर को गोडेसबर्ग में हिटलर से उसकी दूसरी मुलाकात हुई। हिटलर की धौंस काम कर गयी थी। वह दूसरी धौंस देकर अपना बचा-खुचा काम निकालना चाहता था। स्वीकृत योजना से ही वह सन्तुष्ट नहीं था। इस बार चेम्बरलेन के सामने

1. Andrew Rothesten, *The Munich Conspiracy*, p. 372.

उसने इतनी आश्चर्यजनक माँगें रखी कि बेचारा ब्रिटिश-प्रधानमन्त्री स्तब्ध रह गया। चेम्बरलेन इन माँगो पर विचार करने से लाचार था। २४ सितम्बर को निराश होकर वह लन्दन लौट आया। हिटलर की माँगो की तालिका उसने प्राग भेज दी। चेक सरकार ने इन माँगों को 'सर्वथा और बिना शर्त अस्वीकार्य' कहकर ठुकरा दिया। गोडेसबर्ग में हिटलर ने चेम्बरलेन को सूचित कर दिया था कि २६ और २८ सितम्बर के बीच में चेकोस्लोवाकिया पर जर्मन-आक्रमण प्रारंभ हो जायगा। चेकोस्लोवाकिया का संकट एक बार पुनः अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। ब्रिटेन और फ्रांस इस बार निश्चय कर चुके थे कि यदि जर्मन ने हमला किया तो वे चेकोस्लोवाकिया की सहायता करेंगे। चेकोस्लोवालिया ने पूर्ण युद्धबन्दी की आज्ञा दे दी। फ्रांस ने भी आंशिक युद्धबन्दी कर दी। ब्रिटेन भी युद्ध की तैयारी करने लगा। समुद्री बेड़ों को इकट्ठा किया गया। लन्दन के पार्कों में खाइयाँ खुदने लगीं। हवाई हमले के विरुद्ध जल्दी-जल्दी कदम उठाये गये। सारे यूरोप में सनसनी फैल गयी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब युद्ध को आग भड़कने ही वाली है।

२७ सितम्बर को चेम्बरलेन ने रेडियो पर कहा कि यदि समझौता होने की सम्भावना हो तो मैं तीसरी बार जर्मनी जाने को तैयार हूँ। यही नहीं, बल्कि चेम्बरलेन हिटलर को एक पत्र लिखा जिसमें पुनः समझौता-वार्ता के लिए अनुरोध किया गया था। लेकिन हिटलर समझौता करने के पक्ष में नही था। वह आग उगल रहा था: "यदि इस समस्या का समाधान हो जाता है तो जर्मन के लिए यूरोप में कोई प्रादेशिक दावा नहीं रह जायगा। लेकिन, यह ऐसा दावा है जिसको हमलोग छोड़ नहो सकते हैं। हमलोग किसी चेक को नहीं चाहते हैं और जहाँ तक सुडेटेनलैंड का प्रश्न है, यह असह्य हो चुका है। हमलोग कृतसंकल्प हैं। डा० बेनेस अपना निर्णय स्वयं कर लें। यूरोप में यह मेरा अन्तिम दावा है।"

फ्रांस और ब्रिटेन समझ रहे थे कि अब हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर बिना चढ़ाई किये नहीं रहेगा। चेम्बरलेन की सारी योजनाएँ धूल में मिल रहीं थी। वह चाहता था कि अभी भी समझौता से यह मामला तय हो जाय। उसको आश्चर्य हो रहा था कि एक ऐसे देश के लिए जो ब्रिटेन से बहुत दूर पर स्थित है और जिसके बारे में अंग्रेज लोग कुछ भी नहीं जानते हैं उसके लिए ब्रिटेन में खाइयाँ खोदी जायँ और गैसों से बचाव के लिए उपाय किये जायँ।[1] चेम्बरलेन ने मुसोलिनी से आग्रह किया कि वह अपने दोस्त हिटलर को एक सम्मेलन के लिए राजी कर ले और कम-से-कम चौबीस घण्टे के लिए जर्मन आक्रमण को स्थगित करा दे। मुसोलिनी की मध्यस्थता से हिटलर सम्मेलन के लिए राजी हो गया। अठ्ठाइस सितम्बर को ढाई बजे ब्रिटिश लोकसभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। चेम्बरलेन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर प्रकाश डाल रहा था। इसी समय एक सन्देशवाहक दौड़ता हुआ सदन में आ पहुँचा। उसने चेम्बरलेन को एक तार दिया। गौर से पढ़ने और कुछ सोचने के बाद चेम्बरलेन ने सदन को यह सूचित किया कि दूसरे दिन सुबह हिटलर ने सम्मेलन के लिए उसे म्युनिख बुलाया है। २९ सितम्बर को म्युनिख में चार

[1] "How horrible, fantastic, incredible it is that we should be digging trenches and trying on gas-masks here because of a quarrel in a *far away country* between people of whom *we know nothing*."- stress provided.)

राष्ट्रों (जर्मनी, इटली, ब्रिटेन और फ्रांस) का सम्मेलन होगा। यह जानकर संसार के लोगों को विश्वास हो गया कि अन्तिम क्षणों में युद्ध होने से बच गया।

म्यूनिख का समझौता—म्यूनिख के ब्राउन-हाउस में चार राष्ट्रों का 'शिखर सम्मेलन' हुआ, जिसमें भाग लेनेवाले चेम्बरलेन, दलादिये, हिटलर और मुसोलिनी थे। सम्मेलन में सोवियत संघ को शामिल नहीं किया गया था, हालाँकि चेकोस्लोवाकिया के भविष्य में उसका भी महत्त्वपूर्ण हित था। इसका कारण यह था कि हिटलर सोवियत प्रतिनिधि के साथ बात करना नहीं चाहता था और चेम्बरलेन तथा दलादिये रूसी प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर हिटलर को नाखुश नहीं करना चाहते थे। सोवियत-संघ की बात तो दूर रही, यहाँ तक कि स्वयं चेकोस्लोवाकिया को भी सम्मेलन में शामिल नहीं किया गया था। उसके प्रतिनिधि बगल के एक दूसरे कमरे में बैठे रहे। जब सब बातों पर फैसला हो गया तब उन्हें बुलाकर फैसला सुना दिया गया। म्यूनिख में जो समझौता हुआ उनकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं: (१) चेक लोग १ से १० अक्टूबर तक सुडेटेनलैंड को खाली कर दें। (२) एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग सीमा-निर्धारण तथा जनमत संग्रहवाले क्षेत्रों का निरीक्षण करे। (३) ब्रिटेन और फ्रांस के द्वारा चेकोस्लोवाकिया की परिवर्तित सीमा को गारंटी दी गयी। (४) पोल और हंगारियन अल्पसंख्यकों के प्रश्न हल हो जाने पर जर्मनी और इटली ने भी इसी तरह की गारंटी देने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त २० सितम्बर को हिटलर और चेम्बरलेन ने एक संयुक्त घोषणा पर हस्ताक्षर किया, जिसमें कहा गया था कि जर्मनी और ब्रिटेन एक दूसरे के खिलाफ कभी युद्ध नहीं करेंगे। चेम्बरलेन अपनी 'सफलता' पर खुश होकर लन्दन के लिए रवाना हुए। म्यूनिख समझौता अविलम्ब लागू हो गया। सुडेटेनलैंड पर जर्मनी का कब्जा हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय आयोग ने चेकोस्लोवाकिया की नयी सीमा को निर्धारित कर दी। कुछ दिनों के बाद पोलैंड और हंगरी ने भी चेकोस्लोवाकिया के उन प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया, जिन पर वे दावा करते थे। ब्रिटेन और फ्रांस की गारंटी 'एक कागज का टुकड़ा' रह गया। पाँच अक्टूबर को बेनेस ने त्यागपत्र दे दिया और देश छोड़कर बाहर चला गया। उसकी जगह पर इमिल हाचा चेकोस्लोवाकिया का राष्ट्रपति नियुक्त हुआ।

म्यूनिख-समझौता की समीक्षा

चेकोस्लोवाकिया को छोड़कर म्यूनिख-समझौते का सर्वत्र स्वागत हुआ। ऐसा मालूम हुआ कि मानो युद्ध की आशंका टल गयी और भविष्य में यूरोपीय राष्ट्र शान्तिपूर्वक सहयोग करते रहेंगे।[1] चेम्बरलेन एक विजयी के रूप में लन्दन लौटे। हवाई अड्डे पर उनका अपूर्व स्वागत हुआ। विशाल जनसमूह के सामने भाषण देते हुए उसने कहा: 'यह दूसरा अवसर है जब हमलोग बर्लिन से प्रतिष्ठायुक्त शान्ति (Peace with honour) लेकर लौटे हैं। यह हमलोगों के समय की शान्ति है।' एक अग्रलेख में लन्दन 'टाइम्ज' ने दूसरा दिन लिखा था: "रणक्षेत्र से विजय करके घर लौटनेवाले किसी विजेता ने ऐसी कीर्ति का कार्य नहीं किया, जितना कल म्यूनिख से लौटे चेम्बरलेन ने किया है।" ब्रिटेन में शायद ही कोई ऐसा समाचार-पत्र रहा हो जो लन्दन 'टाइम्ज' के इस विचार से सहमत नहीं हुआ हो। बर्लिन-स्थित ब्रिटिश-राजदूत सर

1. John W. Wheller Bennet, *Munich: Prologue to Tragedy*, P. 196.

हन्डरसन ने चेम्बरलेन को लिखा : "संसार की करोड़ों माताएँ आज आप को आशीर्वाद दे रही हैं कि आपने उनके बच्चों को युद्ध के मुख से बचा लिया है। कल से आपकी सफलताओं की प्रशंसा में स्याही का समुद्र उमड़ पड़ेगा।" स्याही का यह समुद्र उमड़ा, लेकिन 'सफलताओं' का गुणगान करने के लिए नहीं, बल्कि चेम्बरलेन को कोसने के लिए। ब्रिटिश-संसद् में भाषण देते हुए चर्चिल ने कहा : "हमलोगों की बहुत बड़ी हार हुई है। सब काम तमाम हो गया और चेकोस्लोवाकिया अन्धेरे में विलीन हो गया। ब्रिटेन और फ्रांस के दबाव से चेकोस्लोवाकिया का विभाजन नात्सी-धमकी के आगे पश्चिमी जनतन्त्र के झुकाने के बराबर है।" लार्ड एमरी ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये, "म्यूनिख-समझौता दबाव से हुई जीत का प्रतीक है, जो इतिहास में सबसे सस्ती समझी जा सकती है।" ब्रिटिश नौ-सेना के मंत्री एलफ्रेड कूपर ने म्यूनिख-समझौते के विरोध में अपना त्यागपत्र दे दिया। ब्रिटिश-संसद् में बोलते हुए उसने कहा : "१६१४ में हमलोग युद्ध में इसलिए सम्मिलित हुए थे कि भविष्य में कोई एक बड़ा एवं शक्तिशाली राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन करते हुए किसी छोटे और कमजोर राष्ट्र पर अपना आधिपत्य न जमा ले। हमने म्यूनिख की शर्तों को निगलने का प्रयास किया है। लेकिन वे मेरे गले में ही अटक गयी हैं। शायद पदत्याग करके हमने अपने राजनीतिक जीवन को बर्बाद कर लिया है। लेकिन, मैं आज भी संसार में अपना सर ऊँचा करके घूम सकता हूँ।" पर इन प्रतिक्रियाओं का किसी पर कोई असर नहीं पड़ा और एक जबरदस्त बहुमत से ब्रिटिश लोक-सभा ने चेम्बरलेन की 'सफलताओं' का अनुमोदन कर दिया। "केवल एक सप्ताह के सांसारिक जीवन के लिए" भारत में महात्मा गाँधी चिल्ला पड़े, "यूरोप ने अपनी आत्मा बेच डाली है।" वास्तव में म्यूनिख हिटलर के कूटनीतिक जीवन की सबसे बड़ी विजय और चेम्बरलेन की सबसे बड़ी पराजय थी।[1] चेम्बरलेन की शान्ति के स्वरूप को १२ अक्टूबर, १६३८ के 'पंच' (*Punch*) के एक कार्टून में अच्छी तरह व्यक्त किया गया था। कार्टून में दिखलाया गया था कि रेलवे-स्टेशन पर सैनिक भर्ती सम्बन्धी पर्चे टंगे हैं। एक पुत्र अपने पिता को इन पर्चों को दिखा कर पूछ रहा है : "पिताजी, आप इस महान् शान्ति में कौन-सा कार्य करनेवाले हैं।"

चेकोस्लोवाकिया के लिए म्यूनिख का समझौता 'इतिहास का सबसे महान् विश्वासघात' था।[2] उसके लिए यह मृत्युदंड की व्यवस्था थी। उसकी पराजय किसी कमजोरी के कारण नहीं बल्कि उनके साथियों के विश्वासघात के कारण हुई थी। सम्पूर्ण मध्य यूरोप में वही एक ऐसा देश था, जहाँ युद्ध के बाद प्रजातान्त्रिक विचारों की कुछ प्रगति हुई थी। लेकिन, अपने को प्रजातन्त्र का रक्षक कहने वाले ब्रिटेन और फ्रांस को उसका बलिदान करते हुए जरा भी संकोच नहीं हुआ। पीछे चलकर इसका फल उन्हें भी भुगतना पड़ा। म्यूनिख समझौता के बाद हिटलर को डेन्यूब और बाल्कन-क्षेत्रों पर आर्थिक और सैनिक अधिकार जमाने का अच्छा मौका मिल गया। चेकोस्लोवाकिया के महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक केन्द्र और खानें, सैनिक सामग्री और मार्ग जर्मनी को प्राप्त हो गया। जर्मनी की शक्ति इतनी बढ़ गयी कि यूरोप में कोई उसकी चुनौती नहीं दे सकता था।[3]

1. Eagna N. Anderson, *Modern Europe in World Perspective*, pp. 494-95
2. Chambers, Harris, and Bayley, *This Age of Conflict*, p. 640.
3. Churchil, *The Second World War*, p. 273.

म्यूनिख-समझौता एक महान् कूटनीतिक क्रान्ति भी था। इसने युद्धोत्तर-काल की कूटनीतिक स्थिति में आमूल परिवर्तन कर दिया। वर्साय-सन्धि के बाद जिस व्यवस्था की स्थापना की गयी थी, वह पूर्णतया नष्ट हो गयी। कोई भी राज्य अब अपने बचाव के लिए ब्रिटेन और फ्रांस-जैसे धोखेबाज देशों की मित्रता पर आश्रित नहीं रह सकता था। इसका परिणाम हुआ कि *फ्रांस की युद्धोत्तर-गुटबन्दी-प्रणाली सर्वथा व्यर्थ हो गयी। लघुमैत्री-संघ का कोई मूल्य* नहीं रह गया। डेन्यूब-क्षेत्र के देशों का अस्तित्व अब हिटलर की दया पर निर्भर था। पोलैंड पर अब जर्मन आक्रमण अनिवार्य हो गया।

परिवर्तित कूटनीतिक स्थिति की सबसे जबरदस्त प्रतिक्रिया सोवियत-संघ में हुई। म्यूनिख में सोवियत-प्रतिनिधि को सम्मिलित नहीं किया गया। इससे पूँजीवादी राज्यों पर उसका शक होना स्वाभाविक था। वास्तव में म्यूनिख-समझौता हिटलर द्वारा रूसी साम्यवाद के विरुद्ध किये गये प्रचारों का फल था। हिटलर कहा करता था कि उसका अन्तिम उद्देश्य साम्यवाद को मिटाना है। पश्चिम के पूँजीवादी देश इससे काफी प्रभावित हुए। वे हिटलर को सन्तुष्ट करके इस कार्य में सहायता देने लगे। संकट के समय रूस अनेक बार चेकोस्लोवाकिया को सहायता देने के लिए तैयार हुआ था। लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस में इस सहायता का कभी स्वागत नहीं हुआ। म्यूनिख-समझौते ने केवल १९३५ की फ्रेंको-सोवियत-संधि को ही भंग नहीं कर दिया, बल्कि सोवियत-चेक-समझौते का भी अन्त कर दिया। रूस को अब बाध्य होकर नये साथियों को ढूँढ़ना पड़ा। अतएव १६३६ का बर्लिन-मास्को-पैक्ट म्यूनिख के धोखेबाजी का ही परिणाम था। दिसम्बर, १६३६ का भ्रमोत्पादक फ्रेंको-जर्मनी-समझौता भी म्यूनिख-पैक्ट का एक दूसरा परिणाम था। रूस की सच्ची मित्रता खोकर फ्रांस ने जर्मनी की ऐसी नकली मित्रता हासिल कर ली, जिसका वास्तविक महत्त्व किसी से छिपा नहीं था।

म्यूनिख-समझौता राष्ट्रसंघ और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त के प्रति एक घोर अविश्वास था। डेविड थाम्पसन के शब्दों में मित्रराष्ट्रों ने इस मामले में चेकोस्लोवाकिया को सामूहिक सुरक्षा प्रदान करने के बदले उसके प्रदेश पर **सामूहिक डकैती** (collective blackmail) की। उसे जबरदस्ती अपना प्रदेश जर्मनी को सौंपने पर बाध्य किया। इसने यह सिद्ध कर दिया कि राष्ट्रों के झगड़ों का निपटारा पाशविक बल और तलवार से ही हो सकता है।[1]

म्यूनिख-समझौता चेम्बरलेन की सन्तुष्टीकरण की नीति की विफलता था। कहा जाता है कि जर्मन विदेशमंत्री रिबनट्राप ने इस सम्मेलन के बाद चेम्बरलेन के बारे में कहा था कि "बूढ़े आदमी ने अपनी मृत्यु के आज्ञापत्र पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। अब हमें केवल उस पर उसकी तिथि को लिखना है।" शूमाँ ने लिखा है : "म्यूनिख का समझौता सन्तुष्टीकरण की नीति का सर्वोच्च विकास तथा पश्चिमी लोकतन्त्रों का मरणाज्ञापत्र था। यह सामूहिक सुरक्षा-पद्धति के विनाश का प्रतीक था। यह हिटलर की आतंक की रणनीति की अब तक की सबसे बड़ी विजय थी।"[2] उस समय चेम्बरलेन को विश्वास था कि हिटलर की माँगें पूरी कर देने से वह सन्तुष्ट हो

1. David Thompson, *Europe Since Napoleon*, p. 706.

2. "The Peace of Munich was the greatest triumph to date of Hitler's strategy of terror. It was the culmination of appeasement and the warrant of death for Western powers".

—Schuman, *International Politics*, p. 698.

जायगा। लेकिन म्यूनिख के बाद उसको पता चला कि हिटलर की प्रादेशिक भूख बड़ी तेज है और उसकी माँगों की कोई सीमा नहीं है। उस समय चर्चिल ने ठीक ही कहा था "एक छोटे राज्य को भेड़िए के आगे फेंककर सुरक्षा पाने की आशा घातक भ्रांतिमात्र है।"[1] चेम्बरलेन का यह दावा कि वह बर्लिन से "प्रतिष्ठायुक्त शान्ति" लेकर लौटा है, वह एक भ्रम के सिवा कुछ नहीं था। इस "प्रतिष्ठायुक्त शान्ति" पर चर्चिल की उक्ति अधिक यथार्थ थी। उसने कहा था: "ब्रिटेन और फ्रांस को इस समय युद्ध और अपमान में चुनाव करना पड़ा है। उन्होंने अपमान को चुना है और शीघ्र ही उन्हें युद्ध करना पड़ेगा।"

म्यूनिख का समझौता जर्मनी और विशेषकर हिटलर की बहुत बड़ी विजय थी। खतरनाक दुश्मन (चेकोस्लोवाकिया) को महत्त्वहीन बना दिया गया। वर्साय-सन्धि के एक बहुत बड़े अन्याय का अन्त हुआ और तृतीय रीह की शक्ति का परिचय सबको मिल गया। प्रादेशिक लाभ के अतिरिक्त पोलैण्ड पर जर्मनी के हमले का मार्ग खुल गया। बाल्कन प्रायद्वीप में जर्मनी के लिए हावी होना आसान हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्रों में इंगलैंड और फ्रांस की प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी। कोई भी राष्ट्र अब उन पर भरोसा नहीं कर सकता था। फलतः पूर्वी यूरोप में जर्मनी के विरुद्ध बुने फ्रांसीसी गुटबन्दियों का जाल छिन्न-भिन्न हो गया। सोवियत रूस और पश्चिमी गुटों का मनमुटाव और भी गहरा हो गया। वास्तव में म्यूनिख में हिटलर को इतनी सफलता मिल गयी, जिसकी आशा वह स्वयं नहीं करता था।

ब्रिटेन द्वारा समझौता करने के कारण

म्यूनिख समझौता के विरोध में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से त्याग पत्र देते हुए डफ कूपर ने कहा था: "हमारे प्रधानमन्त्री को हिटलर की सद्भावना और वचन पर विश्वास है। यद्यपि हिटलर ने जब वर्साय की सन्धि तोड़ी तो यह कहा कि यूरोप में उसकी कोई प्रादेशिक माँग नहीं है। जब आस्ट्रिया में बलपूर्वक प्रविष्ट हुआ तो उसने यह कहा कि वह चेकोस्लोवाकिया के मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा। यह छः महीने पहले की बात है। फिर भी हमारे प्रधान मन्त्री का विश्वास है कि वह हिटलर पर विश्वास और भरोसा रख सकते हैं।" लेकिन म्यूनिख में विश्वास और भरोसा का कोई प्रश्न नहीं था। ऐसी बात नहीं थी कि चेम्बरलेन से हिटलर परिचित नहीं था। यह सम्भव है कि चैम्बरलेन को कुछ समय के लिए हिटलर पर विश्वास हो गया हो और उसने मान लिया हो कि यह हिटलर की अन्तिम प्रादेशिक माँग थी। लेकिन म्यूनिख समझौता के मुख्य प्रेरक तत्त्वों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री और फ्रांस के शासक वर्ग को इस बात पर पूरा विश्वास था कि हिटलर का प्रधान लक्ष्य सोवियत संघ का विनाश है। चेकोस्लोवाकिया में सन्तुष्ट हो जाने के बाद वह अपनी पूरी शक्ति साम्यवाद के विध्वंस में लगायगा जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद और पूँजीवाद दोनों के लिए लाभदायक था।

समझौता करने के अन्य प्रेरक तत्त्वों में युद्ध से किसी तरह बचना भी एक था। अभी यूरोप में शान्तिवाद की प्रकृति की प्रबलता थी। लोग अभी तक प्रथम विश्व-युद्ध की विनाशकारी घटनाओं को नहीं भूले थे। युद्ध का आतंक उन पर पूरा छाया हुआ था और वे इससे बचना चाहते थे। ब्रिटेन और फ्रांस के सामने इसके सिवा कोई चारा भी नहीं था। इन देशों

1. Churchil—*The Second World War*, p. 293.

में युद्ध की तैयारी पूरी नहीं हुई थी। वायुसेना के क्षेत्र में वे जर्मनी से अभी बहुत पिछड़े हुए थे। इस हालत में समझौता कर देना ही उचित समझा गया।

इसके अतिरिक्त यह भी एक तथ्य था कि चेकोस्लोवाकिया के लिए ब्रिटेन फ्रांस के शासक वर्ग युद्ध नहीं छेड़ना चाहते थे। चेम्बरलेन के लिए तो यह "हास्यास्पद भयास्पद तथा अविश्वसनीय" था ही। एक ऐसे "दूरवर्ती देश जिसके बारे में हम कुछ नही जानते," के लिए लड़ाई लड़ना वह बुद्धिमता पूर्ण नही समझता था। अतएव उसने हिटलर से म्यूनिख में अपमानपूर्ण समझौता कर लिया।

चेकोस्लोवाकिया का अन्त—२६ सितम्बर, १६३८ को बोलते हुए फ्यूरर ने कहा था : "मैंने चेम्बरलेन को आश्वासन दिया है और मै अब भी इस पर जोर देता हूँ कि जब यह (सुडेटेन) समस्या हल हो जायगी तब यूरोप में जर्मनी की और कोई प्रादेशिक समस्या नहीं रह जायगी। चेक-राज्य में मुझे और कोई रुचि नहीं रह जायगी तथा मैं उसको गारन्टी दे सकता हूँ। हम और अधिक चेक नहीं चाहते।" लेकिन, कुछ ही दिनो के अन्दर यह पता चलने लगा कि यह हिटलर का 'अन्तिम दावा' नहीं था।

म्यूनिख समझौते के बाद चेकोस्लोवाकिया का राज्य घटकर बहुत छोटा रह गया था। चेकोस्लोवाकिया के बोहेमिया और मोरेविया-प्रदेश में अभी भी हजारों जर्मन रह गये थे। उनको 'मुक्त' करना भी हिटलर का कर्त्तव्य था। १६ नवम्बर को चेकोस्लोवाकिया को एक संघीय गणतन्त्र में परिवर्तित कर दिया गया, जिसमें स्लोवाकिया और रूथेनिया की विधान सभाओं को पूर्ण स्वायत्तता दे दी गयी। इन दो प्रान्तों के प्रधान मन्त्री संघीय राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत हुए।
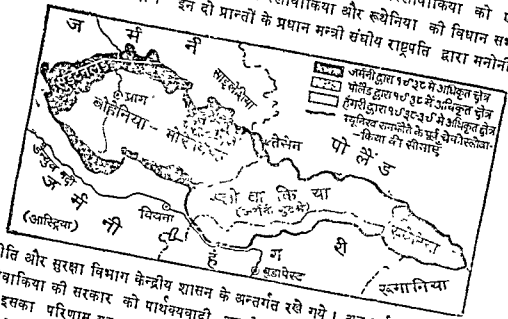
विदेशनीति और सुरक्षा विभाग केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत रखे गये। अब जर्मन-सरकार स्लोवाकिया और स्लोवाकिया की सरकार को पार्थक्यवादी आन्दोलन चलाने के लिए प्रोत्साहित करने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राग स्थित केन्द्रीय सरकार तथा दो इकाइयों के बीच तनाव बढ़ गया। स्लोवाक प्रधानमन्त्री फादर टीसो संविधान की अवहेलना करते हुए अपना अलग विदेशी नीति बनाने और सरकारो, खासकर जर्मन-सरकार से सम्पर्क स्थापित करने लगा। ६ मार्च, १६३६ को संकट काफी गम्भीर हो गया। प्रधान मन्त्री टीसो ने स्लोवाकिया के लिए पृथक् विदेश-नीति और सेना की माँग कर दी। अगले दिन राष्ट्रपति हाचा ने टीसो को पद

कर दिया। टीसो पर आरोप लगाया गया कि वह पार्थक्यवादी आन्दोलन को प्रोत्साहित कर रहा था, जिससे राज्य की एकता खतरे में पड़ गयी थी। टीसो जर्मनी भाग खड़ा हुआ। १५ मार्च को राष्ट्रपति हाचा को बर्लिन बुलाया गया। हिटलर ने उसपर म्यूनिख समझौते को भंग करने का आरोप लगाया। उसके सामने एक समझौता-पत्र रखा गया, जिसमें कहा गया था कि बोहेमिया और मोरेविया के प्रान्त जर्मन संरक्षता में रख दिये जाते हैं। सैनिक कार्रवाई की धमकी देकर हाचा को उस समझौता-पत्र पर हस्ताक्षर करने को कहा गया। हिटलर ने हाचा को सूचित कर दिया कि उसने जर्मन सेना को चेक-प्रदेश पर हमला करने की आज्ञा दे दी है। हाचा ने इसका विरोध किया। इस पर उसको इतना डराया-धमकाया गया कि वह बेहोश हो गया। दवा देकर उसको होश में लाया गया। नात्सी-अफसर उसको चारों तरफ से घेरे खड़े थे। रिबनट्रोप जबरदस्ती हाचा का हाथ पकड़ कर समझौता-पत्र पर दस्तखत करने के लिए बाध्य कर रहा था। सत्तर वर्ष के बूढ़े राष्ट्रपति के लिए स्थिति असह्य हो गयी और साढ़े चार बजे सुबह में बाध्य होकर उसको हस्ताक्षर कर देना पड़ा। "मैं पूर्ण विश्वास के साथ चेक-जनता और देश का भविष्य जर्मन रीह के फ्यूरर की संरक्षता में सौंपता हूँ।" यह चेकोस्लोवाकिया का अन्त था। १५ अगस्त को प्राग पर जर्मन का झंडा फहराने लगा। दो दिनों के बाद स्लोवाकिया भी जर्मनी में शामिल कर लिया गया और जर्मनी के इशारे पर रूथेनिया के प्रदेश पर हंगरी ने अधिकार कर लिया। बीस वर्ष की आयु में ही स्वतन्त्र चेकोस्लोवाकिया का नामो-निशान मिट गया।

हिटलर को लाभ :—म्यूनिख-समझौते के द्वारा ब्रिटेन और फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया की प्रादेशिक अखण्डता को कायम रखने की गारन्टी की थी। पर चेकोस्लोवाकिया के अन्तिम विनाश के समय भी वे चुपचाप बैठे रहे और वादा के अनुसार उसके मामले में कोई हस्तक्षेप नहीं किया गया। रूस के विरुद्ध हिटलर को प्रोत्साहित करने की सन्तुष्टीकरण-नीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। बोहेमिया और मोरेविया पर अधिकार हो जाने से जर्मनी की शक्ति और बढ़ गयी। हिटलर को अठारह हजार वर्गमील जमीन, लगभग सत्तर लाख की आबादी, स्कोडा का प्रसिद्ध शस्त्र-कारखाना और नेशनल बैंक का सोना प्राप्त हो गया। स्लोवाकिया के मिल जाने से जर्मनी को और फायदा हुए।

चेकोस्लोवाकिया के विनाश के बाद मेमेल पर जर्मनी और अल्बेनिया पर इटली ने अधिकार जमा लिया। लिथुआनिया को धमकाकर २२ मार्च को हिटलर ने मेमेल पर आधिपत्य कर लिया। इसके बाद मुसोलिनी ने देखा कि जर्मनी आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा कर चुका है और यूरोप के अन्य राज्य उसके सम्मुख सर्वथा असहाय हैं, तो उसकी भी हिम्मत बढ़ी। उनकी निर्बलता से प्रोत्साहित होकर उसने अप्रिल, १९३९ में अल्बेनिया को इटली में शामिल कर लिया। अन्तर्राष्ट्रीय मत्स्यन्याय और मर्यादाविहीन फासिज्म का नग्न-नृत्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था।

रूस-जर्मन समझौता तथा पोलैंड पर आक्रमण

पोलैंड का संकट—चेकोस्लोवाकिया के बाद हिटलर का अगला लक्ष्य पोलिश गलियारा और डान्जिग के जर्मन नगर पर अधिकार करना था। यद्यपि पोलैंड के साथ जर्मनी की

मैत्री सन्धि थी किन्तु हिटलर अब सन्धियों के बन्धन से ऊपर उठ चुका था। चेकोस्लोवाकिया के विनाश के समय उसने कहा था कि 'यह मेरा अन्तिम दावा है।' उस समय किसी एक परिहास-लेखक ने कहा था कि यह वाक्य हिटलर के मकबरे पर खोदा जाना उचित होता, जहाँ वह पहली बार सत्यपूर्ण कथन होता। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सभी कुशल प्रेक्षक अब यह समझ गये थे कि हिटलर की प्रादेशिक भूख बड़ी तीव्र है और वह तब तक शान्त नहीं होगी जब तक वह सम्पूर्ण संसार को न निगल जाय। आस्ट्रिया के नाश के बाद सब एक स्वर से स्वीकार करते थे कि 'अगला नम्बर चेकोस्लोवाकिया का है।' चेकोस्लोवाकिया के विनाश के बाद यह पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि इस बार पोलैंड की बारी है। चेकोस्लोवाकिया को हड़पने के दूसरे ही दिन से जर्मन अखबारों में पोलैंड के 'जर्मन-अल्पसंख्यकों पर अत्याचार' का दोषारोपण शुरू हो गया। जर्मनी की गतिविधि को देखकर यह स्पष्ट होने लगा कि पोलैंड फ्यूरर का दूसरा शिकार होगा।

वर्साय-सन्धि के द्वारा पूर्वी साइलेसिया और पश्चिमी प्रशा का अधिकांश भाग पोलैंड को प्राप्त हुआ था। युद्ध के समय पोलैंडवालों ने अनेक ऐसे प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था जिनके बहुसंख्यक निवासी जर्मन थे। समुद्र तक पहुँचने के लिए पोलैंड को जर्मनी के भू-भाग से मार्ग भी दिया गया था। पोलैंड के हितों की रक्षा के लिए ही डान्जिग के प्रसिद्ध बन्दरगाह को अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण के अन्दर एक स्वतन्त्र नगर का रूप दिया गया था। डान्जिग तक पहुँचने के लिए पोलैंड को जर्मनी के बीच से एक गलियारा भी दिया गया था। इस गलियारे के कारण पूर्वी प्रशा शेष जर्मनी से बिल्कुल अलग हो गया था। इस प्रकार पोलैंड के कारण वर्साय-सन्धि के द्वारा जर्मनी का अंग भंग हुआ था। नात्सी परराष्ट्र-नीति का मुख्य उद्देश्य वर्साय-सन्धि को नष्ट करके सम्पूर्ण जर्मन-जाति को एक सूत्र में बाँधना था। ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव था कि नात्सी-जर्मनी और पोलैंड में कोई झगड़ा नहीं हो। वास्तव में जर्मन-पोलिश झगड़ा वर्साय-सन्धि का तर्कसंगत परिणाम था। शान्ति-सम्मेलन के बाद पोलैंड और जर्मनी के बीच कभी भी अच्छा सम्बन्ध नहीं रहा। दोनों देशों के सीमान्तों पर कोई-न-कोई घटना घटती ही रहती थी। पोलैंड में जर्मनों पर अत्याचार और जर्मनी में पोलों पर अत्याचार के दोषारोपण हमेशा सुने जाते थे। प्रायः प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय घटना पर पोलैंड और जर्मनी में मतभेद होना स्वाभाविक था। पोलैंड जर्मनी की प्रत्येक कार्रवाई का विरोध करता रहता था। जर्मनी में नात्सी पार्टी के उत्कर्ष से दोनों देशों के बीच मनमुटाव और भी बढ़ गया। पोलैंड अनुभव करने लगा कि नात्सी-जर्मनी ऊपरी साइलेसिया, डान्जिग और गलियारे का प्रश्न अवश्य ही उठायगा और वह दिन दूर नहीं जब पोलैंड को उनका परित्याग करना पड़े। इसलिए पोलैंड नहीं चाहता था कि जर्मनी के साथ उसका सम्बन्ध सदा के लिए बिगड़ा ही रहे। उसने जर्मनी से मित्रता कर लेना ही उचित समझा। अतः १९३४ में पोलैंड और जर्मनी के बीच एक दसवर्षीय अनाक्रमण-सन्धि हो गयी, जिसके फलस्वरूप दोनों देशों के बीच का मनोमालिन्य और तनाव बहुत कम हो गया।

पोलैंड और जर्मनी की यह मित्रता बिल्कुल कृत्रिम थी। अबीसीनिया, राइनलैंड, स्पेनिश, गृह-युद्ध आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया संकटों के समय यह अस्वाभाविकता स्पष्ट होने लगी और जर्मनी के उद्देश्यों पर पोलैंड का सन्देह बढ़ने लगा। इसका एक और कारण था। पोलैंड में, और खासकर डान्जिग में, जर्मनी के ढंग पर एक नात्सी-पार्टी का संगठन हो चुका

१६३५ में डान्जिग में एक चुनाव हुआ। उसमें नात्सी-पार्टी को अपूर्व सफलता मिली। कुछ दिनों के बाद वहाँ का नात्सी-नेता फोर्स्टर खुलेआम घोषणा करने लगा कि वह फ्यूरर के अतिरिक्त किसी के प्रति जिम्मेवार नहीं है। पोलैंड के शासकों का सिर दर्द बढ़ने लगा। उस समय पोलैंड का विदेश मन्त्री कर्नल बेक था। अक्टूबर, १६३८ में रिबनट्रोप ने बर्लिन स्थित पोलिश राजदूत लिप्सकी से यह माँग की कि डान्जिग को जर्मनी को लौटा दिया जाय। जनवरी, १६३६ में जब रिबनट्रोप वारसा गया तो इस माँग को फिर दुहराया गया। चेकोस्लोवाकिया के विनाश और मेमेल पर आधिपत्य के बाद यह माँग जोर-शोर से होने लगी। २१ मार्च को रिबनट्रोप ने लिप्सकी के सामने बाजाप्ता यह प्रस्ताव रखा कि डान्जिग जर्मनी को लौटा दिया जाय और पोलिश गलियारे से होकर जर्मनी को पूर्वी प्रशा तक रेल और सड़क बनाने के लिए भूमि दी जाय। दूसरे शब्दों में जर्मनी गलियारे के अन्दर एक गलियारा चाहता था। इसके बदले में जर्मनी डान्जिग में पोलैंड के आर्थिक अधिकार सुरक्षित रखने, पोलैंड जर्मनी-सीमा को स्थायी रूप से स्वीकार करने और उसके साथ पन्द्रह वर्षों के लिए एक अनाक्रमण सन्धि करने को तैयार था। पोलैंड ने इन माँगों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इसके बाद पोलैंड के विरुद्ध एक संगठित प्रचार शुरू हुआ। जर्मन समाचार-पत्रों में पोलैंड में जर्मनों की कथित हत्या की खबर प्रकाशित होने लगी। ३ अप्रिल को ब्रिटिश लोकसभा में डा० डाल्टन ने प्राग से हाल में आये एक प्रामाणिक व्यक्ति के आधार पर सदन को सूचित किया कि प्राग स्थित जर्मन-सैनिक कह रहे थे कि 'हम बहुत देर यहाँ नहीं रहेंगे। हम शीघ्र ही आगे पोलैंड जायेंगे।' वास्तव में डान्जिग में जर्मन-आन्दोलन को भड़काने और समुद्र की राह से पूर्वी प्रशा में सेना भेजने का काम शुरू हो चुका था। जर्मनी अखबारों में पोलैंड के विरुद्ध प्रचार जारी थे। इन प्रचारों के उद्देश्य से दुनिया अब सुपरिचित हो चुकी थी; इसको दूसरे नये हमले की भूमिका समझना कोई कठिन काम नहीं था। सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार किया जाने लगा कि पोलैंड पर जर्मन आक्रमण होने ही वाला है।[1]

ब्रिटिश-नीति में परिवर्तन—ब्रिटेन को अब वास्तविकता का ज्ञान हुआ। चेकोस्लोवाकिया एक ऐसा देश था, जो ब्रिटेन से 'बहुत-बहुत दूर' पर स्थित था लेकिन पोलैंड ब्रिटेन से बहुत नजदीक था और उसकी रक्षा ब्रिटिश-सुरक्षा का एक अभिन्न अंग था। बहुत देर के बाद चेम्बरलेन ने अनुभव किया कि म्यूनिख का समझौता 'अपने जमाने की शांति' नहीं वरन् युद्ध का निमन्त्रण था। उसकी सारी प्रोत्साहनवादी नीतियाँ मिट्टी में मिल चुकी थीं। ब्रिटेन के समाचार-पत्र, जिन्होंने कुछ ही दिन पूर्व चेम्बरलेन को 'विजेता' के रूप स्वीकार किया था, अब उसकी सारी नीतियों को कोसने लगे। ब्रिटिश-नीति में आमूल परिवर्तन करने की माँग संसद् के बाहर और भीतर जोरशोर से होने लगी। १७ मार्च को चेम्बरलेन की आँखों के सामने से धुंधलापन दूर हो गया। उस दिन बरमिंघम में उसने जो भाषण दिया उससे ब्रिटिश-नीति में परिवर्तन के सारे लक्षण झलक रहे थे। उसने कहा : "जर्मनी के आश्वासनों पर कैसे विश्वास किया जाय? हाल में उसने ऐसे घृणित काम किये हैं जिससे संसार का लोकमत क्षुब्ध है। पर प्रत्येक मौका पर हमलोगों ने उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। लेकिन, इस सप्ताह प्राग में जो कुछ हुआ है वह उन सभी आदर्शों के विरुद्ध है, जिनका प्रतिपादन स्वयं जर्मनी ने किया था।

[1] G Hardy, *A Short History of International Affairs*, p. 487.

क्या यह पुराने उपक्रम का अन्त है या नये का आरम्भ ? क्या…? यह तथ्यतः संसार पर बल प्रयोग द्वारा अधिकार करने की दिशा में उठाया गया कदम है।"

चेम्बरलेन के भाषण देने और निन्दा करने से हिटलर डरनेवाला नहीं था। यदि पोलैंड की रक्षा करनी हो तो उसकी प्रादेशिक अखण्डता की गारंटी करना अत्यन्त आवश्यक था। २१ मार्च को पोलैंड के सामने हिटलर अपना प्रस्ताव रख चुका था। पोलैंड पर तुरत ही खतरा पैदा होनेवाला था। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन चुपचाप नहीं बैठा रह सकता था। ब्रिटिश और फ्रांसीसी सरकारों में विचार-विमर्श होने लगा। ३१ मार्च, १९३९ को चेम्बरलेन ने ब्रिटिश लोकसभा में एक भाषण देकर ब्रिटेन की नयी नीति का श्रीगणेश किया। "यदि ऐसी कोई कार्रवाई की गयी जिससे पोलैंड की स्वतन्त्रता को स्पष्टतः खतरा हुआ और पोलिश सरकार अपनी राष्ट्रीय नेताओं से मुकाबिला करना आवश्यक समझे तो ब्रिटेन अपनी शक्ति के अनुसार सभी प्रकार की सहायता पोलैंड को देगा। फ्रांसीसी सरकार ने भी मुझे यह कहने का अधिकार दिया है कि वह भी इसी प्रकार की प्रतिज्ञा करती है।" यह पोलैंड की स्वाधीनता के लिए आँग्ल-फ्रांसीसी गारंटी थी। ६ अप्रिल को जब बेक लन्दन आया तो इस गारंटी का बाजाप्ता अनुमोदन कर दिया गया। रूमानिया, यूनान और तुर्कों को भी इस प्रकार की गारंटी दी गयी।

हिटलर का जवाब—हिटलर इन धमकियों से भयभीत होने वाला व्यक्ति नहीं था। यह पोलैंड पर आक्रमण करने की तैयारी करता रहा। लेकिन, पोलैंड पर आक्रमण करने के पहले सोवियत-संघ को अपने पक्ष में करना अति आवश्यक था। सोवियत-संघ बहुत पहले से जर्मनी के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा तैयार करने का प्रस्ताव रखता आ रहा था। किन्तु ब्रिटेन और फ्रांस बराबर किसी-न-किसी बहाने इस प्रस्ताव को टालते रहे। उसका ख्याल था कि जर्मनी की आक्रमणकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना ही उनके हक में अच्छा है; क्योंकि इससे हिटलर एक-न-एक दिन साम्यवादी रूस पर आक्रमण करके उसका विनाश कर देगा। पर, चेकोस्लोवाकिया के विनाश के बाद उनकी आँखें खुलीं। ब्रिटेन और फ्रांस के शासक अब अनुभव करने लगे कि हिटलर उनकी स्वतन्त्रता के लिए भी खतरा साबित हो सकता है। अतः संयुक्त मोर्चा कायम करने के लिए वे स्टालिन से वार्ताएँ करने लगे।

रूस से अनाक्रमण सन्धि—इसी समय गुप्त रूस से स्टालिन और हिटलर में भी एक सन्धि के लिए वार्ता चल रही थी, क्योंकि हिटलर पोलैंड पर आक्रमण करने के पूर्व सोवियत-संघ का समर्थन प्राप्त कर लेना चाहता था। अतएव २३ अगस्त, १९३१ को सोवियत-जर्मन अनाक्रमण-सन्धि हो गयी। इंगलैंड और फ्रांस देखते ही रह गये। इस सन्धि द्वारा दोनों ने एक दूसरे पर आक्रमण न करने का वचन दिया, परन्तु इसके साथ ही कुछ गुप्त धाराओं द्वारा पोलैंड के बँटवारे की व्यवस्था हुई, जर्मनी ने रूस को बाल्टिक राज्यों में स्वतन्त्रता दे दी और रूस ने जर्मनी को खाद्यान्न, पेट्रोल तथा युद्ध की अन्य सामग्रियाँ देने का वचन दिया। यह सन्धि निर्णायक रही। हिलटर पोलैंड पर आक्रमण करना चाहता था, परन्तु उसे रूस की ओर से भय था और वह दो मोर्चों पर लड़ने से हिचकिचाता था। इस सन्धि से उसका यह भय केवल दूर ही नहीं हो गया, उसे यह भी विश्वास हो गया कि उसे पूर्व में विरोध की जगह सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

यूरोप की राजनीतिक स्थिति दिनोंदिन खराब होती जा रही थी। युद्ध के बादल मँडरा रहे थे। संयुक्तराज्य अमेरिका अभी भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से तथाकथित पृथक्ता की नीति

का अवलम्बन कर रहा था। स्थिति को बिगड़ते देख अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने शान्ति के लिए कुछ प्रयास करना ठीक समझा। १५ अप्रैल को उसने हिटलर और मुसोलिनी को अलग-अलग पत्र लिखे, जिनमें उनसे अनुरोध किया गया था कि वे कोई ऐसी कार्रवाई नहीं करें, जिससे विश्व की शान्ति खतरे में पड़ जाय। जर्मनी और इटली के समाचार-पत्रों ने अपशब्दों और कटुवचनों से राष्ट्रपति के पत्र का स्वागत किया। २८ अप्रिल को जर्मन रीहस्टाग के एक विशेष अधिवेशन को अमरीकी राष्ट्रपति के पत्र पर हिटलर का उत्तर सुनने के लिए बुलाया गया। हिटलर ने सार्वजनिक रूप से जर्मनी के लिए डान्जिग की माँग की। 'डान्जिग एक जर्मन नगर है और जर्मनी से मिलना चाहता है। इस प्रश्न को आज या कल हल करना ही होगा।" उसने पोलैंड को आँग्ल-जर्मनी गारंटी को घेरेबन्दी की नीति बतलाते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि वह इन धौंसों से डरनेवाला नहीं है। "यूरोप में यह मेरा अन्तिम प्रादेशिक दावा और शान्ति के लिए इसको मान लेना चाहिए।" फ्यूरर ने एक बार फिर अपनी पुरानी चाल दुहरायी।

अन्तिम संकट—फ्यूरर के भाषण के बाद जर्मनी-अखबार पोलैंड पर आग उगलने लगे। पोलैंड में 'जर्मनों पर अत्याचार' की कहानियाँ विस्तारपूर्वक छपने लगी। डा० गोबुल्स द्वारा

प्रतिदिन नयी-नयी कहानियाँ गढ़ने का कार्य शुरू हो गया था। इन आरोपों को स्वयं हिटलर भी और अधिक अतिरंजित शब्दों में दुहराने लगा। वास्तव में गत एक महीने से डान्जिग में

नात्सियों के घोर आन्दोलन चल रहे थे। सुडेटनलैंड की कहानी डान्जिग में दुहरायी जा रही थी। स्थिति को बिगड़ते देख चैम्बरलेन ने एक बार फिर हिटलर से अपील की। चेम्बरलेन ने सोचा कि जिस तरह सुडेटनलेण्ड को लेकर विश्वयुद्ध मोल लेना अच्छा नहीं था, उसी तरह डान्जिग को लेकर विश्वयुद्ध आरम्भ करना ठीक नही होगा। वह एक बार फिर सन्तुष्टीकरण की नीति अपनाना चाहता था। बर्लिन स्थित ब्रिटिश-राजदूत सर हण्डरसन ने चेम्बरलेन के आदेश पर फ्यूरर के समक्ष एक प्रस्ताव रखा कि डान्जिग के प्रश्न को पोलैण्ड और जर्मनी वार्ता द्वारा तय कर लें। हिटलर ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और पोलिश 'अत्याचार' के सम्बन्ध में अपने विचार दुहराते हुए यह घोषणा की कि "डान्जिग और गलियारे का प्रश्न हल होकर रहेगा और हल करना पड़ेगा।" हिटलर ने हन्डरसन से यह भी कह दिया कि डान्जिग को लेकर यदि युद्ध भी छिड़ जाय तो वह उसके लिए तैयार है। "मेरी उम्र ५० साल की हो गयी है। हम आज ही युद्ध का हो जाना पसन्द करेंगे, न कि पाँच या दस साल के बाद जब मैं ५५ या ६० वर्ष का हो जाऊँगा। मैं एक कलाकार हूँ और सम्पूर्ण जर्मन जाति को एक सूत्र में बाँध कर अवकाश ग्रहण कर शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ।"[1] वास्तव में यह बात थी कि हिटलर कभी भी डान्जिग पर समझौता नही चाहता था। इसमें शक नही कि डान्जिग मुख्यतः एक जर्मन नगर था और वर्साय सन्धि द्वारा जर्मनी से उसे अलग करना एक महान् गलती थी। इस तथ्य के बावजद पोलैण्ड के लिए भी डान्जिग आवश्यक था। पर हिटलर के लिए डान्जिग का कुछ और महत्त्व था। इसका मतलब यूरोप में एक दूसरी कूटनीतिक विजय थी। दूसरे शब्दों में डान्जिग का महत्त्व पोलेंड के लिए वही था जो चेकोस्लोवाकिया के लिए सुडेटनलैंड का। यह गलियारे, साइलेसिया और अन्ततः सम्पूर्ण पोलैंड का दरवाजा हिटलर के लिए खोल देगा। अतएव अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए फ्यूरर युद्ध करने के लिए बिल्कुल तैयार था।[2]

२५ अगस्त को हिटलर ने हन्डरसन से यह कहा कि यदि जर्मनी की न्याय-संगत माँगों के कारण जर्मन और ब्रिटेन में युद्ध छिड़ गया तो यह बहुत दुखद घटना होगी और इसकी जिम्मेवारी पूर्णतया ब्रिटेन पर होगी। उसने हन्डरसन को सुझाव दिया कि ब्रिटेन और जर्मनी को समझौता कर लेना चाहिए। समझौते के इस प्रस्ताव को लेकर हन्डरसन वायुयान से उसी दिन लन्दन गया। २८ अगस्त को एक जवाब के साथ वह बर्लिन वापस आ गया। ब्रिटिश सरकार का विचार था कि "ब्रिटेन और जर्मनी में तबतक कोई समझौता नही हो सकता,

1. *British Blue* Book pp. 98-100.

2. २२ अगस्त को हिटलर ने अपने सहयोगियों के समक्ष इस प्रकार का एक भाषण दिया था :

"Everything depends on me, on my existence. No one will ever again have the *confidence* of the whole German people as *I have.* There will probably never again be a man in the future with more authority. My existence is, therefore, a factor of great value...For us it is easy to make decision. We have nothing to lose... Our enemies have men who are *below average*, no personalities, no masters, no man of action...All thes fortunate circumstances, will no longer last in two or three years, Therefore conflict is better now. I am only afraid that at the last moment some *scoundrel* will make a proposal for mediation...I shall give a propagandist cause for starting the war, never mind whether it is plausible or not. The victor will not be asked, later on, whether we told the truth or not. In starting and making a war, it is *not the right* that matters, but *victory. Trail of the Major War Criminals, Nuremberg*,—1917-49, Vol. II, pp. 286-291.

जबतक पोलैंड और जर्मनी के झगड़ो का शान्तिपूर्ण निबटारा नहीं हो जाय। अतएव, जर्मन-सरकार पहले पोलिश सरकार से समझौता कर ले। पोलिश सरकार जर्मनी से वार्ता करने के लिए तैयार है।" हन्डरसन ने अपनी सरकार के विचार हिटलर और रिबनट्रोप को बतला दिये। उन लोगो ने हन्डरसन को सूचित किया कि जर्मन सरकार पोलिश सरकार से वार्ता के लिए तैयार है; पर एक शर्त पर कि पोलैंड एक प्रतिनिधिमंडल जिसको समझौता की शर्त्तों को तत्काल स्वीकार करने का पूर्ण अधिकार हो, ३० अगस्त को बर्लिन भेजे। हन्डरसन ने इसका विरोध किया और कहा कि यह एक चुनौती की तरह प्रतीत होता है; क्योंकि एक पोलिश प्रतिनिधि को बिना उसे यह सूचित किये कि वार्ता के प्रस्तावों का आधार क्या है, वार्ता के लिए बुलाना नितान्त अनुचित है। हिटलर ने इसको चुनौती समझना गलत बतलाया। उसने कहा कि स्थिति बहुत खतरनाक हो गयी है। जर्मनों पर घोर अत्याचार हो रहे हैं। उनकी रक्षा के लिए शीघ्र ही कोई कदम उठाना है।

यह निश्चित था कि बुधवार, ३० अगस्त को कोई भी पोलिश प्रतिनिधि बर्लिन नहीं आ सकता था। बेक को शुशनिग और हाचा की याद आने लगी और उसने बर्लिन जाने से इन्कार कर दिया। ३० अगस्त की आधी रात को हन्डरसन पुनः रिबनट्रोप से मिलने गया। जर्मन विदेश-मंत्री ने उसको बतलाया कि अब कुछ करना बेकार है, क्योंकि निर्धारित समय तक पोलिश प्रतिनिधि बर्लिन नही पहुँचा है। लेकिन, वह अपनी नेकनीयती जता देना चाहता था। उसने अपनी जेब से एक चिट्ठी निकाली और 'बहुत तेजी' से उसको पढ़ने लगा। इसमें सोलह प्रस्ताव थे जिन्हें जर्मन-सरकार ने पोलिश प्रतिनिधि के सामने रखने के लिए तैयार किया था। इसकी शर्त्तें बहुत ही सन्तोषजनक थीं। इसमें कहा गया था कि डान्जिग शीघ्र ही जर्मनी को वापस लौटा दिया जाय। पोलिश गलियारे को एक साल के लिए अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में रखा जाय और इस अवधि के समाप्त होने पर वहाँ लोकमत लिया जाय। अगर लोकमत जर्मनी के पक्ष में हुआ तो गलियारा-क्षेत्र में जर्मनी पोलैंड को सुविधा प्रदान करे और लोकमत यदि पोलैंड के पक्ष में हुआ तो जर्मनी को इस क्षेत्र में सुविधा प्राप्त हो। *ये सब प्रस्ताव काफी अच्छे थे और इनके आधार पर समझौता हो सकता था।* हन्डरसन ने इस प्रस्ताव की एक प्रति माँगी; पर रिबनट्रोप ने उसको देने से इन्कार कर दिया कि निर्धारित समय तक पोलिश-प्रतिनिधि नही पहुँचा है और इसके आधार पर अब वार्ता करना ही बेकार है। हन्डरसन ने पूछा कि पोलिश-राजदूत लिप्सकी को बुलाकर उसके सामने इन प्रस्तावों को क्यों नहीं रखा गया है? रिबनट्रोप ने जवाब दिया : 'मैं पोलिश राजदूत को नहीं बुला सकता। हाँ, अगर राजदूत मिलने के लिए स्वयं अनुरोध करे तो यह दूसरी बात होगी।" हन्डरसन लिखता है : "उस रात मै निराश होकर दूतावास लौटा। शान्ति की अन्तिम आशाएँ समाप्त हो चुकी थीं।"

दूतावास लौटकर सुबह में हन्डरसन ने टेलीफोन पर लिप्सकी से बातचीत की और गत रात को घटनाओं से उसको अवगत कराया। उसने लिप्सकी से अनुरोध किया कि वह जर्मन विदेश-मन्त्री से मिलने का प्रयास करे। ३१ अगस्त को सुबह ८ बजे लिप्सकी ने रिबनट्रोप से अनुरोध किया कि वह उससे मिलना चाहता है। ६ बजे सन्ध्या को लिप्सकी जर्मन परराष्ट्र-मन्त्रालय में बुलाया गया। इसके पूर्व लिप्सकी को अपनी सरकार से यह आदेश मिल

चुका था कि यदि सोलह-सूत्री प्रस्ताव अन्तिमेत्थम् के रूप में न हो तो वह उन्हें स्वीकार कर ले। रिबनट्रोप ने उन प्रस्तावों की एक प्रति लिप्सकी को दे दी। इसपर विचार-विमर्श करने के लिए लिप्सकी अपने परराष्ट्र मन्त्री से टेलीफोन से बातचीत करना चाहता था; लेकिन उस समय तक बर्लिन और वारसा के बीच टेलीफोन की लाइन कट चुकी थी। अपनी सरकार के साथ सम्पर्क स्थापित करने में लिप्सकी असफल रहा। ९ बजे रात को जर्मन रेडियो ने सोलह-सूत्री प्रस्ताव को जर्मनी की नेकनीयती जताने के लिए प्रसारित कर दिया। १ सितम्बर को खूब सवेरे बिना विधिवत् युद्ध की घोषणा किये ही जर्मन सेनाओं ने पोलैंड पर अपना आक्रमण आरम्भ कर दिया। यह द्वितीय विश्वयुद्ध का श्रीगणेश था।

आक्रमण से पोलैंड की रक्षा करने के लिए ब्रिटेन और फ्रांस वचनबद्ध थे और जिस समय हिटलर का हमला शुरू हुआ उसी समय उनको युद्ध के मैदान में कूद पड़ना चाहिए था। लेकिन, मुसोलिनी के हस्तक्षेप [1] के कारण ब्रिटेन और फ्रांस की युद्ध घोषणा दो दिनों तक रुक गयी। उनका कहना था कि यदि अभी भी पोलैंड से जर्मन सेना वापस लौट आवे तो वे युद्ध घोषित नहीं करेंगे। ब्रिटिश-सरकार ने ३ सितम्बर को ग्यारह बजे दिन तक जर्मन सेना को पोलैंड से वापस बुला लेने के लिए अन्तिमेत्थम् दे दिया। उस समय तक जर्मन सेना वापस नहीं लौटायी गयी और ब्रिटेन ने युद्ध की घोषणा कर दी। उसके कुछ ही घण्टों बाद फ्रांस ने भी युद्ध के शंख बजा दिये।

—o—

१. इस समय इटली की स्थिति अजीब थी। इटली नहीं चाहता था कि जर्मनी इस तरह खुलेआम आक्रमण की नीति अपनाये। अगस्त के मध्य में सिआनो बर्लिन गया था। वहाँ से लौटने पर उसने जो अनुभव किया उसको वह इस प्रकार लिखा है: "I return to Rome completely disgusted with the Germans, with their leaders and with their way of doing things... Now they are dragging us into an adventure which we do not want...सिआनो ने सोचा कि यदि हिटलर-मुसोलिनी पैक्ट को अस्वीकार कर दिया जाय तो स्थिति सम्हल सकती पर फ्यूरर को इनकी परवाह न थी। वह स्तालिन का समर्थन प्राप्त कर चुका था।

अध्याय : ७

महाशक्तियों की विदेश-नीति

विषय प्रवेश—दो विश्व-युद्धों के बीच के काल में संसार की महाशक्तियों (Great Powers) की वैदेशिक नीति ने इस काल की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को अत्यधिक प्रभावित किया। बहुत अंशों में द्वितीय विश्व-युद्ध का छिड़ना उन्हीं वैदेशिक नीतियों का परिणाम था। गत अध्याय में हमने नात्सी जर्मनी की वैदेशिक नीति का अध्ययन किया। उस अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिटलर ने वैदेशिक क्षेत्र में एक ऐसी नीति का अवलम्बन किया जिसके फलस्वरूप द्वितीय विश्व-युद्ध १९३९ में छिड़ गया। लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध सामूहिक गलतियों का परिणाम था जिसके लिए सभी महान् राष्ट्र जिम्मेवार थे। अतएव महाशक्तियों की विदेश नीति का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इस अध्याय में हम इटली, फ्रांस, ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत-संघ की विदेश नीतियों का अध्ययन करेंगे। जापान की विदेश नीति का अध्ययन नवें अध्याय में किया जायगा।

(क) इटली की विदेश-नीति [१९१९-१९३९]

विदेश-नीति के उद्देश्य—प्रथम महायुद्ध में इटली ने मित्रराष्ट्रों का साथ दिया था। प्रादेशिक विस्तार के लोभ में मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हुआ था। युद्ध के समय २६ अप्रिल, १९१५ को लन्दन में इटली और मित्रराष्ट्रों के बीच एक गुप्त सन्धि हुई थी जिसके अनुसार ट्रेन्तिनो, ट्रीस्ट, टिरोल प्रदेश, उत्तरी डालमेशिया के अनेक प्रदेश उसको देने के वादे किये गये थे। जब युद्ध खत्म हुआ तो इटली ने अपने को विजेताओं की पंक्ति में खड़े पाया। इटली का तत्कालीन प्रधान मन्त्री ओरलैंडो पेरिस शान्ति-सम्मेलन में एक महान् राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में शामिल हुआ था। वहाँ उसने इटली के दावे को पेश किया, लेकिन राष्ट्रपति विलसन ने उसका घोर विरोध किया। अतएव शान्ति-सम्मेलन में इटली को कुछ भी महत्त्वपूर्ण लाभ नहीं हुआ। अफ्रिका में साम्राज्य-विस्तार की उसकी कामना अधूरी रह गयी। इस कारण विजयी पक्ष में होते हुए भी इटली युद्ध से पराजित अवस्था में ही निकला। इटली में घोर निराशा व्याप्त हो गयी और वह अपने को "अतृप्त राज्यों" की कोटि में गिनने लगा। इटली के लोग समझने लगे कि काम निकल जाने के बाद मित्रराष्ट्रों ने उसे धोखा दिया है। देशभक्तों तथा राष्ट्रवादियों ने इसको राष्ट्रीय अपमान समझा और इसके लिए अपनी कमजोर सरकार को जिम्मेवार ठहराया जो शान्ति-सम्मेलन में इटली के दावे को पूरी शक्ति के साथ पेश नहीं कर सकी थी।

फासिज्म का उत्कर्ष—इटली की इस दुर्दशा का प्रभाव उसकी आन्तरिक और बाह्य दोनों नीतियों पर पड़ा। वहाँ की जनता अनुभव करती थी कि मित्रराष्ट्रों ने उन्हें धोखा दिया है।

युद्ध में उसे काफी खर्च करने पड़े थे, जिसके परिणामस्वरूप उसकी आर्थिक व्यवस्था एकदम खराब हो गयी थी। हजारों लोग भूखों मर रहे थे। सारे देश में असन्तोष था। इस असन्तोष से लाभ उठाकर मुसोलिनी नामक एक व्यक्ति ने एक फासिस्ट-पार्टी की स्थापना करके १६२२ में इटली की सत्ता पर कब्जा जमा लिया। मुसोलिनी के उत्थान की कहानी और फासिस्ट-व्यवस्था का वर्णन करना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के इतिहास का विषय नहीं हो सकता। यहाँ पर हम केवल इटली की विदेश-नीति पर ही प्रकाश डालेंगे।

मुसोलिनी की विदेश-नीति फासिस्ट-सिद्धान्त पर ही आधारित थी। फासिस्ट-सिद्धान्त संख्या की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व देता था। यदि हजार मूर्ख एक बात कहते हों तो वह मान्य नहीं हो सकती। एक ज्ञानी आदमी जो बात कहे, वही मान्य होनी चाहिए। इटली की विदेश-नीति के मूल में यह एक महत्त्वपूर्ण बात थी। फासिस्ट होने के नाते डूचे को राष्ट्रसंघ में विश्वास नहीं था; क्योंकि वह राष्ट्रों की समता के सिद्धान्त पर आधारित था। मुसोलिनी की राय में राष्ट्रसंघ इस कारण कोई कार्रवाई करने में पंगु था कि उसे पचास से अधिक सदस्य-राज्यों के मतैक्य की आवश्यकता थी। अपने इथोपियन अभियान के समय उसने कहा था: "चिर-शान्ति की कामना एक बेतुकी बात है। इसका हमारे सिद्धान्त और प्रवृत्ति से मेल नहीं खाता। सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त न कभी कायम रहा है और न भविष्य में कभी कायम रहेगा। राष्ट्रसंघ एक व्यर्थ की संस्था है। हमें अपने जीवन-मरण के लिए स्वयं तैयार रहना चाहिए।" अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में डूचे का यही स्तर था। वह अन्तर्राष्ट्रीय मत्स्यन्याय में विश्वास करता था, राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण सहजीवन में नहीं।

विदेश-नीति के क्षेत्र में हिटलर की तरह मुसोलिनी के भी कुछ महत्त्वपूर्ण उद्देश्य थे। महायुद्ध में इटली की सेनाओं ने कोई विशिष्ट वीरता प्रदर्शित नहीं की थी। इटली वाले अपनी सैनिक निर्बलता को समझते थे और उनमें एक प्रकार का हीन-भाव उत्पन्न हो गया था। महायुद्ध के उपरान्त पेरिस के शान्ति सम्मेलन में भी इटली के साथ उपेक्षा का बर्ताव हुआ था और इटली वाले समझते थे कि इसका कारण उनकी दुर्बलता ही थी। मुसोलिनी ने जिस समय सत्ता अपने हाथों में ली उस समय इटली में यह हीन भावना सर्वत्र व्याप्त हो रही थी और उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा भी बहुत ऊँची नहीं थी। मुसोलिनी की विदेश-नीति का प्रधान उद्देश्य इस दुर्बलता एवं हीन-भावना का अन्त करके इटली के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संसार में सम्मानपूर्ण पद प्राप्त करना और संसार की महान् शक्तियों में उसे स्थान दिलाकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाना था। इसके साथ ही उसका दूसरा उद्देश्य इटली के लिए एक साम्राज्य का निर्माण करना था। महायुद्ध के फलस्वरूप इटली का बाल्कन प्रायद्वीप, पश्चिमी एशिया तथा अफ्रिका में साम्राज्य-विस्तार का जो स्वप्न था वह भंग हो गया था। मित्र-राष्ट्रों ने उसे धोखा दिया था। उसे इसका प्रतिकार करना था और वर्साय की सन्धि का संशोधन करना था।[1] इसके अतिरिक्त मुसोलिनी का सत्तारूढ़ बना रहना, इसी सफलता पर आधारित था। तानशाही को सुदृढ़ बनाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय होता है युद्ध के द्वारा साम्राज्य विस्तार करके राष्ट्रीय सम्मान में वृद्धि करना। इससे जनता का ध्यान विदेशी घटनाओं की ओर आकर्षित रहता है और तानशाही स्वच्छन्द रहती है।

1. Barbara Ward, *Italian Foreign Policy*, p. 13,

भूमध्य सागर पर प्रभुत्व स्थापना का प्रयास—पेरिस शान्ति-सम्मेलन में जब मित्रराष्ट्रों के मध्य लूट का बँटवारा किया जा रहा था तो उस समय इटली की ओर से भूमध्यसागर के पूर्वी भाग में स्थित रोहडस तथा डोडिकानीज द्वीप समूहों को प्राप्त करने की माँग प्रस्तुत की गयी। लेकिन वहाँ इसको अस्वीकृत कर दिया गया। सेव्रेज की सन्धि के अनुसार इटली की इन द्वीप समूहो पर से अपने दावे का परित्याग करना पड़ा। किन्तु मुसोलिनी भूमध्यसागर में पूरी प्रभुता स्थापित कर उसे "रोमन झील" के रूप में परिवर्तित करने का इरादा रखता था। अतएव अधिकार प्राप्त करने के तुरत ही बाद मुसोलिनी ने इन द्वीप समूहो पर कब्जा कर लिया। वहाँ किलाबन्दी की गयी और अच्छे नौसैनिक अड्डे स्थापित किये गये।

कोर्फू-कांड—१९२३ के अगस्त-सितम्बर में कोर्फू को लेकर यूनान के साथ इटली का झगड़ा हो गया। इसके सम्बन्ध में हम पहले ही पढ़ चुके हैं कोर्फू का मामला राष्ट्रसंघ में पेश हुआ और काफी कठिनाई के बाद इसका समाधान हो पाया।

फ्यूम की प्राप्ति—पेरिस शान्ति-सम्मेलन में फ्यूम बन्दरगाह में तथा यूनान के प्रश्न पर इटली तथा यूगोस्लाविया के बीच घोर मतभेद हो गया था। मित्रराष्ट्रों ने १९२० में दोनों देशों में समझौता कराकर फ्यूम को एक स्वतन्त्र बन्दरगाह बना दिया। लेकिन १९२४ में मुसोलिनी ने यूगोस्लाविया के साथ समझौता करके फ्यूम का उपनगर पोर्ट बेरीस उसे दे दिया और फ्यूम पर स्वयं अधिकार जमा लिया।

रूस से मित्रता—इस प्रकार मुसोलिनी ने इटली की प्रतिष्ठा बढ़ाने तथा भूमध्यसागर में अपनी स्थिति को सुधारने के प्रयत्न शुरू किये। १९२२ में वाशिंगटन की सन्धि के द्वारा नाविक शक्ति में इटली को फ्रांस के साथ समानता का स्तर मिल चुका था। इसके बाद भी वह अपना पक्ष सबल बनाने के लिए मित्रता प्राप्त करना चाहता था। पर उस समय यूरोप में एक मित्र देश को प्राप्त कर लेना बड़ा ही कठिन कार्य था। यूरोप के अधिकांश देश यथा-स्थिति के समर्थक और सन्धि-संशोधन के विरोधी थे। केवल आस्ट्रिया, हंगरी और बुल्गेरिया ही ऐसे राज्य थे जो सन्धि में संशोधन चाहते थे। ये राज्य इटली की ओर आकर्षित होने लगे और इटली से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने लगा। परन्तु ये सब राज्य छोटे थे। बड़े राज्यों में जर्मनी की दशा क्षीण हो रही थी। केवल रूस बचा था। वह भी सन्धि के संशोधन के पक्ष में था। अतः उसने फरवरी १९२४ में रूस की सोवियत सरकार को वैध मान्यता प्रदान करके उसके साथ व्यापारिक सन्धि कर ली।[1] वह सोवियत रूस को राष्ट्र-संघ में सम्मिलित करने का प्रयत्न करने लगा और दोनों में घनिष्ठता बढ़ने लगी। इसके बाद अप्रिल, १९२७ में हंगरी के साथ, सितम्बर १९२८ में यूनान के साथ और फरवरी १९३० में आस्ट्रिया के साथ इटली की मित्रता की सन्धियाँ हुईं।

टिराना की सन्धि—मुसोलिनी एड्रियाटिक सागर पर पूरा अधिकार जमाना चाहता था। इसके लिए ओटैन्टो के जलडमरुमध्य पर नियन्त्रण पाना आवश्यक था। मुसोलिनी अब इस पर अपनी दृष्टि जमायी। पर इसके लिए अल्बेनिया से समझौता करना आवश्यक

1. Ibid., p. 15.

था। अतएव २७ नवम्बर, १६२६ को अल्बेनिया की राजधानी टिराना में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार अल्बेनिया इटली का संरक्षित राज्य बन गया। मुसोलिनी धीरे-धीरे अल्बेनिया पर अपना प्रभुत्व बढ़ाता रहा और १६३९ में उसपर कब्जा कर लिया।

हिटलर का उदय तथा फ्रांस-ब्रिटेन से सहयोग—१९३३ के आरम्भ में जर्मनी में हिटलर सत्तारूढ़ हुआ। इससे मुसोलिनी बड़ा भयभीत हुआ। इसका कारण यह था कि हिटलर आस्ट्रिया को जर्मनी में सम्मिलत कर लेना चाहता था। लेकिन मुसोलिनी चाहता था कि आस्ट्रिया पर इटली का प्रभाव बना रहे। इटली की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक था। अगर आस्ट्रिया और जर्मनी एक साथ मिल जाते तो दक्षिण टायरोल नामक जर्मनो-आस्ट्रियन प्रान्त के लिए, जो वर्साय-सन्धि द्वारा इटली को प्राप्त हुआ था, खतरा पैदा हो सकता था। आस्ट्रिया और जर्मनी का संघ स्थापित हो जाने से इटली जर्मन के निकट सम्पर्क में आ जाता था। मुसोलिनी इस सम्भावना से बचना चाहता था। अतएव नात्सी-क्रान्ति के फलस्वरूप इटली की विदेश-नीति नाटकीय ढंग से बदलने लगी। इटली आस्ट्रिया के नात्सी-विरोधियों को हर प्रकार से मदद देने लगा और जब जुलाई, १६३४ में आस्ट्रियन प्रधान मन्त्री डाल्फस की हत्या नात्सियों ने कर दी तो मुसोलिनी ने आस्ट्रिया की सीमा पर अपने सैनिकों को तैनात कर दिया। पर इतने से ही इटली का काम चलनेवाला नहीं था। युद्ध के बाद यूगोस्लाविया के दावों का समर्थन करने के कारण फ्रांस और इटली का सम्बन्ध निरन्तर खराब ही होता गया। अफ्रिका और नौ-सेना सम्बन्धी विषयों को लेकर दोनों का झगड़ा और भी गम्भीर हो गया था। किन्तु, आस्ट्रिया पर हिटलर की गृध-दृष्टि एक ऐसा खतरा था, जिससे ये दोनों ही देश सामान्य रूप से समझौता करना ही श्रेयस्कर समझते थे और जनवरी, १९३५ में फ्रांस और इटली के बीच एक समझौता हो गया। इस अवसर पर फ्रांस का विदेश मन्त्री लावाल रोम आया था। सम्भवतः इसी भेंट में मुसोलिनी ने लावाल से अबीसीनिया पर अधिकार करने की अपनी आकांक्षा प्रकट की और ऐसा विश्वास किया जाता है कि लावाल ने मुसोलिनी को यह आश्वासन दिया कि अबीसीनिया में फ्रांस का कोई हित नहीं है अर्थात् उसे छूट दे दी।[1] *इसी तरह की सन्धि उसने चेकोस्लोवाकिया के साथ भी की।* १६३४ में इटली राष्ट्रसंघ का सदस्य भी हो गया।

१६३५ में जब हिटलर वर्साय-सन्धि की धाराओं को तोड़ा तो इटली, फ्रांस और इंगलैंड के प्रतिनिधि स्ट्रेसा नामक स्थान पर मिले और एक समझौता किया जिसके अनुसार हिटलर के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा कायम किया गया।

अबीसीनिया-युद्ध

अबीसीनिया पर आक्रमण के कारण—देश का गौरव बढ़ाने के लिए मुसोलिनी अभी तक कोई चमत्कारपूर्ण कार्य नहीं कर पाया था। लेकिन यह काम उसे करना था और इसके लिए उसने अबीसीनिया को चुना। अबीसीनिया का छोटा-सा राज्य उत्तर पूर्व अफ्रिका में स्थित है। इस देश में इटली की दिलचस्पी की कहानी काफी पुरानी है। १८६६ में ही इटली ने अबीसीनिया पर हमला करके उसे अपने साम्राज्य में मिला लेने का प्रयास किया था। पर

1. Maxwel, *International Relations*, p. 386.

अड़ोवा की लड़ाई में उसे बुरी तरह पराजित होना पड़ा था। मुसोलिनी इसको भूला नहीं था और वह उपयुक्त अवसर की ताक में था जब अड़ोवा की पराजय का प्रतिशोध अबीसीनिया से लिया जाय। पर इस काम को वह धोखा देकर करना चाहता था। इसलिए १९२८ में इटली ने अबीसीनिया के साथ एक सन्धि की थी जिसके अनुसार, अन्य बातों के अतिरिक्त, इटली ने यह वादा किया था कि वह अबीसीनिया की स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता पर अतिक्रमण नही करेगा। फिर भी १९३५ में मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर चढ़ाई कर दी। इसके क्या कारण थे? इसका पहला कारण यह था कि साम्राज्यवादी प्रतिद्वन्द्विता में इटली बहुत देर से शामिल हुआ था और इस समय तक अबीसीनिया ही एक ऐसा देश बच रहा था, जहाँ इटली का साम्राज्यवादी प्रसार हो सकता था। इटली अपने को एक ऐसी ताकत समझता था, जिसका विस्तार होना अति आवश्यक था। इरिट्रिया, सोमालीलैंड और लीबिया में उसके साम्राज्य पहले से ही स्थापित थे। अगर अबीसीनिया भी उसमें सम्मिलित हो जाता है तो अफ्रिका में इटली का एक विशाल साम्राज्य बन सकता था। इसके अतिरिक्त मुसोलिनी संसार में अपना यश और ख्याति फैलाना चाहता था। अन्य तानाशाहों की तरह उसे भी कुछ करना चाहिए। हिटलर का नाम प्रतिदिन संसार के अखबारों में मोटे-मोटे अक्षरों में छपा करता था। इस क्षेत्र में मुसोलिनी क्यों पीछे रहता? उग्र साम्राज्यवादी विदेश नीति का अनुसरण करके ही तो वह अपना शासन सुरक्षित रख सकता था। १९३०-३२ के आर्थिक संकट के कारण इटली की आर्थिक स्थिति काफी खराब हो गयी थी और देश में करीब ढाई लाख लोग बेकार हो गये थे। इसके अतिरिक्त अबीसीनिया में तरह-तरह के खनिज पदार्थ उपलब्ध थे जिससे इटली का औद्योगिक विकास हो सकता था। फिर, इटली की बढ़ती हुई आबादी को बसाने का प्रश्न था। इसके लिए अबीसीनिया एक अच्छा प्रदेश हो सकता था। अतः मुसोलिनी पर आक्रमण करने का मनसूबा बाँधने लगा।

जैसा कि मार्शल डी बोनो की जीवनी से प्रकट है, इटली ने १९३२ में ही अबीसीनिया पर आक्रमण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। इटली के प्रसार की आवश्यकता फासिस्ट-नीति का एक आधारभूत तत्त्व था और मुसोलिनी इस दिशा में प्रयत्नशील था। १९३१ में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया और उस अवसर पर राष्ट्रसंघ की निर्बलता स्पष्ट हो गयी। इससे मुसोलिनी का हौसला बढ़ा। इसके बाद जर्मनी में १९३३ के बाद प्रारम्भ में नात्सी क्रान्ति हो गयी। नात्सी खतरे के अभ्युदय के कारण मुसोलिनी अपनी लक्ष्य की पूर्ति जल्द-से-जल्द करना चाहता था। इसके अतिरिक्त नात्सी क्रान्ति से मुसोलिनी को बहुत बड़ी प्रेरणा भी मिली। सत्तारूढ़ होने के तुरत ही बाद हिटलर ने वर्साय-सन्धि को अमान्य घोषित कर दिया था और उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई नही की जा सकी थी। यह देखकर मुसोलिनी ने अबीसिया पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया।

युद्ध का प्रारम्भ—काफी पैतरेबाजी के बाद वालवाल की एक छोटी-सी घटना को लेकर इटली ने १९३५ में अबीसीनिया पर आक्रमण शुरू कर दिया। अबीसीनिया राष्ट्रसंघ का एक सदस्य था। अतएव उसने राष्ट्रसंघ में अपील की। राष्ट्रसंघ बहुत दिनों तक इस समस्या के समाधान की कोशिश करता रहा, पर उसे सफलता नहीं मिली। राष्ट्रसंघ ने किस तरह अबीसीनिया काण्ड की समस्या पर विचार किया इसे हम पहले ही (देखिये अध्याय २) विचार कर चुके हैं।

परिणाम—अबीसीनिया-काण्ड दो विश्व-युद्ध के बीच के काल का एक महत्त्वपूर्ण घटना था। इसने राष्ट्रसंघ की कमजोरी को प्रदर्शित कर दिया कि प्रबल राष्ट्रों के आक्रमण से छोटे और निर्बल राष्ट्रों की रक्षा करने में वह असमर्थ है। इस प्रकार इस घटना ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता और आक्रामक-प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। बर्लिन और टोकियो में इस बात पर विशेष रूप से गौर किया गया था।

अबीसीनिया-युद्ध और इटली के प्रति अन्य बड़े राष्ट्रों के दब्बू रुख को देखकर हिटलर ने वर्साय-सन्धि की शर्त्तों को अस्वीकार करना शुरू कर दिया। इस सन्धि की कुछ शर्त्तों को वह पहले ही अस्वीकृत कर चुका था। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से लाभ उठाकर मार्च, १९३६ में हिटलर ने सेना भेजकर राइनलैंड पर अपना अधिकार कायम कर लिया। एक तरफ से अब लोकार्नो-सन्धियों का अन्त प्रारम्भ हो गया। आक्रमणकारी को दण्ड नहीं देने का अर्थ आक्रमणकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना ही होता है। मुसोलिनी ने खुलेआम राष्ट्रसंघ-विधान का उल्लंघन किया था और सामूहिक रूप से उसको कोई दण्ड नहीं दिया गया।[1]

रोम-बर्लिन धुरी—अबीसीनिया-काण्ड का प्रभाव जर्मनी और इटली के परस्पर सम्बन्ध पर पड़े बिना नहीं रह सका। अभी तक मुसोलिनी और हिटलर विविध कारणों से एक दूसरे से बहुत दूर थे। ब्रिटिश और फ्रांस ने मुसोलिनी की नीति का विरोध किया था। इसके विपरीत हिटलर संकट के आदि से अन्त तक तटस्थ बना रहा। हिटलर की तटस्थता मुसोलिनी के लिए बहुत बड़ी नैतिक सहायता साबित हुई। इसके फलस्वरूप दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने लगा। हिटलर और मुसोलिनी का मेल-मिलाप और 'रोम-बर्लिन धुरी' की स्थापना अबीसीनिया-काण्ड के प्रत्यक्ष परिणाम थे। अक्टूबर १९३६ में जर्मनी और इटली में एक समझौता हुआ जिसके आधार पर इस धुरी की नींव पड़ी और जो १९४४ तक कायम रही।

रूस का विरोध—इसी बीच में मुसोलिनी इंगलैंड, फ्रांस और रूस से अधिक रुष्ट हो गया था। इसका कारण यह था कि तुर्की बॉस्फोरस तथा डार्डेनेलीज के जन-संयोजकों का पुनः सैनिकरण (Remilitarization) करना चाहता था और इसी दृष्टि से उसने महान् सत्ताओं के इस प्रश्न पर विचार करने के लिए आमन्त्रित किया था। जून-जुलाई १९३६ में मांत्रो (Montreux) सम्मेलन हुआ, परन्तु इटली उसमें सम्मिलित नहीं हुआ और इंगलैंड, फ्रांस, रूस तथा तुर्की ने इटली के सहयोग के बिना ही समझौता कर लिया। इससे इटली को बहुत बुरा लगा और वह रूस के विरुद्ध नवम्बर १९३६ में जर्मनी ने जापान से जो सन्धि (Anti Comintern Pact) की थी, उनमें शामिल हो गया (१९३७)।

स्पेन का गृह-युद्ध

इस प्रकार इटली और जर्मनी में मैत्री आरम्भ हुआ और उसे सुदृढ़ बनाने का मौका भी साथ-ही-साथ स्पेन में मिल गया। कहा जाता है कि अबीसीनिया के युद्ध ने इटली और जर्मनी का वैमनस्य दूर किया था, किन्तु स्पेन के गृह-युद्ध ने दोनों को प्रगाढ़ मित्र बना दिया।[2]

गृह- युद्ध की पृष्ठ भूमि—स्पेन का गृह युद्ध यद्यपि एक राज्य के आन्तरिक स्थिति क

1. Ibid., p. 396.
2. Imgram, *Years of Crisis*, p. 160.

विषय है, फिर भी इसे द्वितीय विश्व-युद्ध का पूर्वाभिनय माना जाता है। इसकी महत्ता इस बात में है कि इसके द्वारा यूरोपीय शक्तियों के शक्ति संगठन (group-alignment) का आभास पहले ही मिल गया। इस गृह-युद्ध में शक्ति-संगठन कुछ उसी प्रकार हुआ था जिस प्रकार पीछे चल कर द्वितीय विश्व-युद्ध में। इसके कारण सारा यूरोप दो खेमों में विभाजित हो गया।

प्रथम विश्व-युद्ध में स्पेन तटस्थ रहा था। अतएव महायुद्ध के समय उसकी अपूर्व उन्नति हुई। पर युद्ध के बाद इस प्रकार की स्थिति नहीं कायम रह सकी। युद्ध के समाप्त हो जाने के तुरत बाद स्पेन में एक भयंकर आर्थिक संकट उपस्थित हो गया और बेकारी की समस्या गम्भीर हो गयी। इस पर मजदूरों में असन्तोष बढ़ा, हड़तालें शुरू हुईं, दंगे-फसाद होने लगे। १९२१ में स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी कि हड़तालियों ने वहाँ के प्रधान मन्त्री की हत्या तक कर दी। स्पेन में बराबर विद्रोह और हड़ताल का एक कारण यह भी था कि जनता सरकार के कुशासन से काफी परेशान रहती थी। नाम के लिए तो स्पेन में वैध राजसत्ता थी; पर वास्तव में वहाँ का राजा अलफान्सो पूर्णरूप से तानाशाही करता था। इसलिए स्पेन में शासक के विरुद्ध सदा विद्रोह होते रहते थे। १९२१ में मोरक्को में, जिसके एक भाग पर स्पेन का अधिकार था, एक भयंकर विद्रोह हो गया। इस विद्रोह से मोरक्को के राष्ट्रवादियों ने साम्राज्यवादी सेना को बुरी तरह परास्त कर दिया। इससे स्पेन में बड़ी बेचनी फैली। जनता ने समझा कि अलफान्सो के कुप्रबन्ध के कारण ही मोरक्को में स्पेन की हार हुई है। जनता इस कुप्रबन्ध के विरुद्ध आवाज उठाने लगी। अलफान्सो ने देखा कि जनता में विद्रोह की भावना इतनी बढ़ रही है कि निकट भविष्य में उसे राजगद्दी से हाथ धोना पड़ेगा। अतः सितम्बर १९२३ में उसने प्रीमो दी रिवेरा नामक एक सेनापति की मदद से विद्रोह को कुचल दिया। मन्त्रिमण्डल तथा संसदीय शासन का अन्त कर, शासन-विधान को रद्द कर और देश में सैनिक कानून लागू करके रिवेरा स्वेच्छाचारी शासन करने लगा। वह इटली की फासिस्ट-व्यवस्था का अनुसरण करके स्पेन का मुसोलिनी बनना चाहता था। १९२३ से १९३० तक स्पेन पर वह अपना स्वेच्छाचारी शासन करता रहा। उदार और प्रजातान्त्रिक विचार के सभी लोगों को कैद कर लिया गया। पर, इस तरह की व्यवस्था होने पर भी स्पेनियों में विद्रोह की भावना बलवती ही होती रही। देश में साम्यवाद भी जड़ पकड़ने लगा। समय-समय पर दंगे, विद्रोह और हड़तालें होती रहती थी। इन विद्रोहों का स्वरूप राजतन्त्र-विरोधी भी होने लगा। इसको देखकर अलफान्सो घबरा गया। उसने देखा कि प्रीमो दी रिवेरा के शासन से जनता इतनी असन्तुष्ट हो गयी है कि उसके कारण उस पर भी खतरा उपस्थित हो गया है। अतः रिवेरा को हटाने के लिए वह षड्यन्त्र करने लगा। रिवेरा ने जब देखा कि उसका साथ देनेवाला अब कोई नहीं रह गया है तो जनवरी, १९३० में उसने पदत्याग कर दिया।

दी रिवेरा के पद-त्याग के बाद राजा अलफान्सो ने स्पेन में पुनः वैधानिक शासन स्थापित करने की घोषणा की। वह संसद के चुनाव की व्यवस्था करने लगा। पर, जनता ने एक विधान-परिषद् की माँग की। अलफान्सो विधान-परिषद् नहीं चाहता था। वह किसी-न-किसी बहाने विधान परिषद् की माँग टालता रहा। इसी बीच स्पेन में गणतन्त्रीय भावना काफी प्रगति कर रही थी। जमोरा नामक एक व्यक्ति के नेतृत्व में दिसम्बर, १९३० में गणतान्त्रिक और साम्यवादी पार्टियों ने मिलकर राजतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अलफान्सो इस विद्रोह को

दबाने में सर्वथा असमर्थ था। वह स्पेन छोड़ कर फ्रांस भाग गया। उसके बाद स्पेन में एक गणतान्त्रिक सरकार की स्थापना हो गयी। नयी सरकार ने स्पेन की अवस्था सुधारने के लिए तुरत ही महत्त्वपूर्ण कदम उठाये और उन्हें काफी सफलता भी मिली। पर जमोरा की सरकार से सभी स्पेनवासी खुश नहीं थे। एक तरफ कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो स्पेन में राजतन्त्र की पुर्नस्थापना चाहते थे। इस दल में सामन्त, पादरी और कुछ अन्य प्रतिक्रियावादी थे, जिनका विशेष स्वार्थ और एकाधिकार क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना के फलस्वरूप नष्ट हो गया था। दूसरी तरफ उग्र समाजवादी और साम्यवादी थे जिनके विचार में जमोरा की सरकार ने स्पेनिश जनता के हित में कोई महत्त्वपूर्ण कदम नही उठाया था। इस प्रकार स्पेन दो विरोधी वादों का संघर्ष क्षेत्र बन गया और गणतन्त्र पर अधिकार प्राप्त करने के लिए दक्षिण पंथियो और वामपंथियों ने दाव-पेंच लगाना शुरू कर दिया। १६३१ से १६३३ तक स्पेन की राजनीति इसी आन्तरिक संघर्ष की कहानी है।

स्पेन की आन्तरिक उथल-पुथल का वर्णन इस पुस्तक का उद्देश्य नही है। यहाँ पर उसका संक्षिप्त विवरण ही सम्भव है। १९३३ में स्पेनिस-संसद् का एक चुनाव हुआ। इसमें वामपंथियों को अधिक सफलता नहीं मिली। चुनाव के बाद रिपब्लिकन दल के नेता लेरू ने एक मन्त्रिमंडल बनाया। किन्तु लेरू सरकार प्रतिक्रियावादी सरकार सावित हुई। उसने पहले की सरकार की सभी प्रगतिशील योजनाओ को स्थगित कर दिया। इसके विरोध में स्पेन में पुनः छिटपुट वलवे होने लगे। स्पेन के वामपंथियों जिसमें रेडिकल समाजवादी और साम्यवादी सम्मलित थे, ने अनुभव किया कि यदि वे अपने आपसी कलह को भूलकर संगठित नही होते हैं, तो स्पेन की गतिशील शक्तियों को जवरदस्त धक्का पहुँचेगा। अतः उन लोगों ने मिलकर एक 'लोकमोर्चा' का संगठन किया। १६३६ में स्पेनिस संसद् का नया चुनाव हुआ। इस चुनाव के 'लोकमोर्चा' में सम्मिलित सभी पार्टियो ने सम्मिलित रूप से चुनाव में भाग लिया और उनके उम्मीदवार वहुत वड़ी संख्या में संसद् के सदस्य निर्वाचित हुए। चुनाव के फलस्वरूप स्पेन में 'लोकमोर्चा' दल का मन्त्रिमण्डल कायम हुआ।

लोकमोर्चा दल की सरकार तो कायम हुई; पर स्पेन के भाग्य में कुछ और ही लिखा था। हिंसा और विद्रोह की जो प्रवृत्ति स्पेन में वर्षों से चली आ रही थी, वह लोकमोर्चा की सरकार कायम हो जाने से ही शान्त नहीं हुई। स्पेन में फिर से अराजकता छा गयी और सारी व्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न हो गयीं। १६३६ के चुनाव और जनरल फ्रांको का विद्रोह शुरू होने के बीच २०१ चर्च जला दिये गये थे। ३३४ अखबारों के दफ्तर, क्लब और निजी मकान हमले के शिकार हुए थे। ३३१ हड़तालें हो चुकी थीं, डकैती का बोलबाला था और असंख्य व्यक्ति मारे और घायल किये जा चुके थे। इन हत्याओं में १२ जुलाई १६३६ का काल्वा माटेलो की हत्या सबसे महत्त्वपूर्ण थी; क्योंकि इस हत्या के कारण स्पेन में गृह युद्ध भड़क उठा।

गृह-युद्ध—जिस प्रकार सम्पूर्ण स्पेन में एकाएक गृह-युद्ध की आग भड़क उठी, उसको देखकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सैनिक अफसरों द्वारा निर्देशित यह विद्रोह पूर्णतया योजनाबद्ध था और इसकी तैयारी बहुत पहले से हो रही थी। वास्तव में स्पेनिश-सरकार को सम्भावित सैनिक विद्रोह की भनक पहले ही मिल चुकी थी और देश को इस विद्रोह से बचाने के लिए वह कुछ कदम भी उठा चुकी थी। उदाहरण के तौर पर वैसे सैनिक अफसर, जिनको

वफादारी संदिग्ध थी, को हटाने का प्रयास किया गया। अप्रिल के महीने में एक अध्यादेश जारी करके उन सैनिक अफसरों को अनिवार्य रूप से अवकाश ग्रहण कराया गया, जो राजनीति में काफी दिलचस्पी लेते थे। कुछ अफसरों की बदली कर दी गयी। स्पेन का प्रमुख सैनिक-अधिपति जनरल फ्रांको भी इन अफसरों में एक था। जुलाई, १६३६ में कुछ और सैनिक अफसर अपने पद से हटा दिये गये या उनका तबादला कर दिया गया। इस प्रकार सैनिक मामलों में बार-बार हस्तक्षेप करने के कारण सैनिक अफसरों में तहलका मच गया और उन्होंने सरकार को उलट देने का विचार किया। उसको इस बात का पता था कि सैनिक विद्रोह की अवस्था में देश के पूँजीपतियों, प्रतिक्रियावादियों तथा सामन्तों की ओर विदेश से नात्सी जर्मनी तथा फासिस्ट इटली से सब तरह की सहायताएँ मिल सकती है।

१७ जुलाई, १६३६ को मोरक्को स्थित स्पेनिस सेना की टुकड़ियों ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह का नेता जनरल फ्रांको हुआ। उसने मोरक्को से सेना लेकर स्पेन के लिए प्रस्थान किया। स्वयं स्पेन में सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और फ्रांको के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। विद्रोहियों के पक्ष में लगभग ६० प्रतिशत अफसर और दो-तिहाई सिपाही थे। इसके अतिरिक्त कुछ ही दिनों के बाद 'स्वयसेवकों' के रूप में उन्हें विदेशी सहायता भी मिलने लगी। स्पेन के गृह-युद्ध में यह दल 'राष्ट्रवादी' कहलाया। स्पेन के गणतान्त्रिक सरकार को किसान, मजदूर तथा कुछ सैनिक अफसरों और सिपाहियों का समर्थन प्राप्त था। सितम्बर, १६३६ में फ्रांसिस्को लारगो केबालेरी स्पेन का प्रधान मंत्री बना और उसके मंत्रिमंडल में समाजवादी और साम्यवादी नेता भी सम्मिलित हुए। ट्रेड यूनियनों के समर्थन से फ्रांको का मुकाबला करने के लिए एक 'लोक सेना' का संगठन किया गया; पर वह 'लोक-सेना' फ्रांको की सुसज्जित सेना के सामने नहीं के बराबर थी। आसानी से उसने दक्षिणी स्पेन पर अधिकार कर लिया तथा पश्चिम स्पेन की तरफ बढ़ने लगा। फ्रांको निरन्तर आगे बढ़ता गया और नवम्बर में स्पेन की राजधानी मैड्रिड तक पहुँच गया। स्पेनिस सरकार हटकर वेलेन्शिया चली गयी तथा राजधानी का पतन निकट प्रतीत होने लगा। ऐसा लगता था कि शीघ्र ही मैड्रिड पर फ्रांको का कब्जा हो जायगा। ऐसी स्थिति में जर्मनी और इटली के महान् नेता हिटलर और मुसोलिनी शान्त बैठनेवाले नहीं थे। उन्होंने तुरत ही फ्रांको की 'असली' और 'वैध सरकार' को कूटनीतिक मान्यता प्रदान कर दी। इसके बाद जर्मनी और इटली के सैनिक सेवा के सदस्य और सिपाही 'स्वयंसेवक' के रूप में बाजाप्ता फ्रांको की मदद के लिए पहुँचने लगे। इसी तरह यूरोप के अन्य उदारवादी देशों, खासकर सोवियत-संघ, में बहुत-सी स्वयंसेवक सेनाएँ इसी उद्देश्य से संगठित की जाने लगीं कि वे स्पेन में जाकर गणतान्त्रिक सरकार को मदद दें। इस तरह की स्थिति में एक ऐसा वातावरण तैयार हो गया था, जिससे लगता था कि यूरोप भर में एक प्रकार का गृह-युद्ध हो गया है, जो स्पेन की भूमि पर लड़ा जा रहा है। रूस की सहायता से गणतान्त्रिक सरकार की स्थिति कुछ सम्हल गयी और फ्रांको के विरुद्ध सरकारी सेना भारी पड़ने लगी। मैड्रिड का पतन होने से बच गया।

विदेशी प्रतिक्रिया—संसार के लिए स्पेनिस गृह-युद्ध का समाचार एक बहुत ही दुखद घटना थी। १८९८ के बाद इस देश का समाचार शायद ही कभी अखबारों के प्रथम पृष्ठ पर छपा हो। ऐसे वहाँ समय-समय पर विद्रोह, हड़ताल, खून-खराबी इत्यादि होते रहते थे, पर विश्व-

राजनीति की दृष्टि से, वे महत्त्वपूर्ण नहीं होते थे। लेकिन, इस बार का स्पेनिस-संघर्ष काफी महत्त्वपूर्ण था और तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को देखकर यह स्पष्ट था कि स्पेन की घटना विश्व-राजनीति की घटना होकर रहेगी। इसके दो कारण थे—एक था भूमध्यसागर का सामरिक महत्त्व। अबीसीनिया विजय के बाद पूर्वी भूमध्यसागर में इटली का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। मुसोलिनी अब पश्चिमी भूमध्यसागर पर भी इसी तरह का अपना प्रभाव स्थापित कर लेना चाहता था। उसने अनुभव किया कि अगर फ्रांको के नेतृत्व में स्पेन में भी फासिस्ट-प्रणाली की स्थापना हो जाय तो वह शासन अवश्य ही इटली का समर्थक रहेगा और इस प्रकार पश्चिमी भूमध्यसागर पर उसका प्रभाव कायम हो जायगा। दूसरा कारण सैद्धान्तिक था। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से यह एक विचारधारा चल पड़ी थी कि एक देश को दूसरे देश से ऐसे राजनीतिक संगठन कायम करने में सहायता करनी चाहिए जो उसके सदृश हो। सर्वप्रथम सोवियत-संघ ने इस नीति को अपनाया था और आगे चलकर अन्य देश भी इसका अनुसरण करने लगे। जर्मनी के नात्सी और इटली के फासिस्ट यह समझते थे कि स्पेन में भी यदि उनकी-जैसी शासन-प्रणाली स्थापित हो जाय तो उसकी सहानुभूति सदा उनके साथ रहेगी। अतः फ्यूरर तथा डूचे ने स्पेनिस गृह-युद्ध को फासिस्टवाद और साम्यवाद के बीच संघर्ष माना तथा विद्रोहियों की सहायता करना अपना कर्तव्य समझा।[1] फ्रांको की सहायता करने में हिटलर को दो और लाभ भी थे। एक यह था कि फ्रांस के 'उस तरफ' भी एक फासिस्ट-शासन की स्थापना हो जायगी। दूसरे, स्पेनिस गृह-युद्ध में जर्मनी को लड़ने के नये तरीकों का प्रयोग करने का अवसर भी प्राप्त होगा। इन वास्तविक उद्देश्यों पर पर्दा डालने के लिए स्पेनिस गृह-युद्ध में फासिस्ट-हस्तक्षेप को साम्यवाद के विरुद्ध धर्म-युद्ध का नाम देना लाभदायक था। फासिस्टों के हाथ में यह एक ऐसा उपाय था जिसके द्वारा तथाकथित प्रजातान्त्रिक देशों की जनता की बहुत बड़ी संख्या की सहानुभूति प्राप्त की जा सकती थी।

जिस तरह स्पेनिस गृह-युद्ध का स्वरूप बदल रहा था उसको देखकर यह अनुमान किया जाता था कि दुनिया की प्रगतिशील शक्तियों की सहानुभूति और समर्थन गणतान्त्रिक स्पेन को अवश्य ही प्राप्त होगी और इसमें कोई शक नहीं कि गणतान्त्रिक स्पेन को इस तरह की कुछ सहायता मिली भी। गणतान्त्रिक स्पेन को सबसे बड़ा सहायक सोवियत-संघ था। फासिस्टवाद के विरुद्ध गणतान्त्रिक स्पेन को मदद करना सोवियत संघ अपना कर्त्तव्य समझता था और मैड्रिड में स्थित अपने दूतावास के जरिये उस साम्यवादी देश ने गणतान्त्रिक स्पेन को हर तरह की मदद दी। सोवियत संघ के मजदूरों ने एक बहुत बड़ी रकम चन्दा के रूप में इकट्ठी की। सोवियत-नागरिक और सिपाही स्वयंसेवकों के रूप में युद्ध-स्थल पर लड़ने भी गये। पर उस समय सोवियत-संघ उतना शक्तिशाली नहीं था। दूसरे, स्पेन और सोवियत-संघ की सीमाएँ मिलीजुली नहीं थी। ऐसी हालत में वह स्पेन को उस मात्रा में मदद नहीं कर सकता था, जिस मात्रा में फ्रांको को हिटलर और मुसोलिनी से सहायता प्राप्त हो रही थी। फिर भी सोवियत संघ ने यथासम्भव उस परिस्थिति में जो भी हो सकता था, किया।[2]

---

1. G. Hardy, *A Short History of International Affairs*, p. 437.
2. Ibid, p. 426.

अपने को प्रजातन्त्र के रक्षक कहनेवाले ब्रिटेन और फ्रांस ने स्पेनिस गृह-युद्ध के प्रति क्या रुख अपनाया ? इन दोनों देशों का इस समय भी वही रुख रहा जो अबीसीनिया-काण्ड के समय था। फासिस्ट-आन्दोलन को सहारा देकर उसको बढ़ाना और फिर उसको साम्यवादी रूस के विरुद्ध उभाड़ देना ब्रिटेन और फ्रांस के उदारवादी शासकों की निश्चित नीति थी। अतः वे हिटलर और मुसोलनी के सभी कुकृत्यों को माफ करने को तैयार थे। इस समय नेवाइल चेम्बरलेन ब्रिटिश विदेश नीति का कर्णधार था और उसकी सहानुभूति इटली के प्रति थी। जिस समय वह ब्रिटेन का वित्त-मन्त्री था उसी समय ब्रिटेन और इटली के बीच एक 'भद्र पुरुष करार' (gentlemen's agreement) हुआ था जिसके अनुसार दोनों देशों ने भूमध्यसागर में एक दूसरे के हित को मान लिया था। मई १९३७ में चेम्बरलेन ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री भी हो गया और अप्रिल १९३८ से उसके प्रयास के फलस्वरूप ब्रिटेन और इटली में एक सन्धि भी हो गयी। सम्पूर्ण ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में ईडन ही एक ऐसा व्यक्ति था जो इटली का विरोधी समझा जाता था; इसलिए चेम्बरलेन से उसकी कभी नहीं पटती थी। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार का रुख स्पेनिस गृह-युद्ध के प्रति क्या होता, यह स्पष्ट है। ब्रिटेन में कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जिनको सहानुभूति गणतान्त्रिक स्पेन के प्रति थी। मजदूर-दल और उनके समर्थक इस कोटि में आते थे। पर, ब्रिटेन की अधिकांश जनता उदासीन ही थी। उन्हें रूस के गृह-युद्ध में विदेशी हस्तक्षेप का परिणाम याद था और अनुदार तथा पूँजीवादी अखबारों से वे अत्यधिक प्रभावित थे। अतः वे कुछ कर सकने में असमर्थ थे।

फ्रांस में उस समय 'लोकमोर्चा-दल' की सरकार थी और ल्यों ब्लूम फ्रांस के प्रधान मन्त्री थे। स्पेन की सरकार भी इसी प्रकार के 'लोकमोर्चा' से बनी थी। ऐसी हालत में उम्मीद की जा सकती थी कि फ्रांस गणतान्त्रिक स्पेन को हर प्रकार से सहायता करेगा। फ्रांस के वामपंथियों का भी यही विचार था। पर वहाँ के दक्षिणपंथी फासिस्टवाद से साम्यवाद को ही अधिक खतरनाक समझते थे और गणतांत्रिक स्पेन को वे साम्यवादी स्पेन ही समझते थे। इतना होने पर भी ब्लूम की हार्दिक इच्छा थी कि वह गणतान्त्रिक स्पेन को सहायता करें; पर वह लाचार था। अन्य सभी फ्रांसीसियों की भाँति वह भी यही सोचता था कि फ्रांस का मुख्य हित ब्रिटेन के साथ कदम मिलाने में ही है। फ्रांस अकेले कोई कदम उठाकर सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है। उसको ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त करके ही आगे बढ़ना था। इस तरह के तर्क से यह निष्कर्ष निश्चित था कि फ्रांस भी ब्रिटेन की तरह गणतान्त्रिक स्पेन को उसके अपने भाग्य पर छोड़ दे। इससे यह भी निश्चित हो गया कि गृह युद्ध में प्रगतिवादी स्पेन को फासिस्ट स्पेन के सामने अन्ततः घुटने टेकने पड़ेंगे।

अहस्तक्षेप-समिति— स्पेन में संघर्ष प्रारम्भ होने के समय से ही यह भय होने लगा था कि कहीं यह गृह-युद्ध यूरोपीय महायुद्ध का रूप न धारण कर ले। फासिस्ट देश फ्रांको की विजय के लिए कटिबद्ध थे और यदि दूसरे देशों ने इसका विरोध किया तो महायुद्ध का हो जाना असम्भव नहीं था। पर फ्रांस अभी यूरोपीय महायुद्ध के लिए तैयार नहीं था। अतः १ अगस्त १९३६ को ल्यों ब्लूम ने फ्रांस की तरफ से ब्रिटेन और इटली की सरकारों के समक्ष एक प्रस्ताव पेश किया, जिसका आशय था कि उपरोक्त तीनों देश स्पेनिस गृह-युद्ध के किसी भी दल को युद्धोपयोगी सामग्री न दें। ब्रिटिश-सरकार इस प्रकार के एक प्रस्ताव की ताक में थी ही। उसने

तुरत इसको मंजूर कर लिया और साथ-ही-साथ यह प्रस्ताव भी रखा कि स्पेनिस गृह-युद्ध में अहस्तक्षेप के लिए जो व्यवस्था हो, उसमें अन्य देशों को भी शामिल किया जाय। बेल्जियम, पोलैंड और सोवियत संघ से इसका अनुकूल उत्तर मिला और पुर्तगाल, इटली तथा जर्मनी ने इस नीति को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया। अगस्त के अन्त तक मुख्य यूरोपीय शक्तियों ने, जिनमें, जर्मनी, इटली और सोवियतसंघ भी थे, एक अहस्तक्षेप समझौता (non-intervention agreement) पर हस्ताक्षर कर दिये। समझौते को तुरत कार्यान्वित करने के लिए लन्दन में 'अहस्तक्षेप समिति' की स्थापना की गयी और ९ सितम्बर से समिति अपना काम भी करने लगी।

इटली और जर्मनी ने अहस्तक्षेप की नीति को इसलिए स्वीकार कर लिया था कि इसका विश्वास था कि कुछ ही दिनों में स्पेन की सरकार का पतन हो जायगा और फ्रांको विजयी के रूप में मैड्रिड में प्रवेश कर जायगा। जबतक जनरल फ्रांको को जीतने की आशा थी तबतक उसके समर्थकों का हित इसी में था कि वे स्पेनिस सरकार को मिलनेवाली विदेशी सहायता को बन्द कर दें। विदेशी सहायता नहीं मिलने पर गणतान्त्रिक सरकार अवश्य ही हार जायगी, फासिस्टों का ऐसा ही विश्वास था पर यह आशा निर्मूल साबित हुई। समय मिल जाने से स्पेनिस सरकार अधिक सतर्क हो गयी और वह जनरल फ्रांको का डटकर मुकाबला करने लगी। जनरल फ्रांको के लिए विजय का मार्ग उतना सुगम नहीं रहा जितना उसके समर्थक समझते थे। ऐसी स्थिति में हिटलर और मुसोलिनी अपने साथी फ्रांको को विकट स्थिति में नहीं छोड़ सकते थे। नवम्बर १९३६ में उन्होंने फ्रांको की सरकार को मान्यता भी दे दी और फिर उसको मदद देने का निश्चय किया। अहस्तक्षेप समिति में पुर्तगाल, जर्मनी और इटली के प्रतिनिधियों द्वारा यह आरोप बराबर लगाया जाने लगा कि सोवियत संघ गणतांत्रिक स्पेन की समझौते के विरुद्ध मदद कर रहा है। इस प्रकार के आरोप सोवियत-संघ द्वारा पुर्तगाल, इटली और जर्मनी पर भी लगाये गये। वास्तव में बात यह थी कि दोनों पक्षों का आरोप सही था। अहस्तक्षेप समझौते का किसी ने आदर नहीं किया और अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दोनों पक्ष स्पेनिस गृह-युद्ध के एक या दूसरे का पक्ष लेकर मदद करते हैं। दोनों पक्ष से बहुत बड़ी मात्रा में युद्धोपयोगी सामग्रियाँ और स्वयंसेवक आते ही रहे। लन्दन में इन चीजों को रोकने के लिए 'अहस्तक्षेप-समिति' के तत्त्वावधान में वार्ताएँ चलने लगीं। 'अहस्तक्षेप-समिति' ने एक नौ-सैनिक गश्त और सीमान्त निगरानी की प्रणाली स्थापित करने का समझौता किया और १९ अप्रिल से यह गश्त और निगरानी शुरू हो गयी। यह काम सुचारु रूप से चलता रहा। पर इसी समय फ्रांको की नौसैनिक नाकेबन्दी को तोड़ने के लिए स्पेनिस सरकार ने बमवारी शुरू की। इसी क्रम में २९ मई को एक जर्मन लड़ाकू जहाज 'ड्यूटशलैण्ड' बमवारी के कारण बर्बाद हो गया। इसका बदला लेने के लिए दो दिनों के बाद जर्मन नौ सेना ने स्पेन के एलमेरिया नामक नगर पर बम बरसाया। जून में जर्मनी और इटली गश्ती के कार्य से अलग हो गये। सीमान्तों की निगरानी भी बन्द हो गयी और अहस्तक्षेप समिति का सारा कार्य ठप पड़ गया।

इसी समय ये खबरें आने लगीं कि स्पेनिस सरकार तथा तटस्थ देशों के जहाजों पर भूमध्यसागर में अज्ञात देश के पनडुब्बियों द्वारा क्रूरतापूर्ण हमले किये जा रहे हैं। सभी जानते थे कि जनरल फ्रांको के पास इस प्रकार की पनडुब्बियाँ नहीं थीं और इसलिए सबों का

इटली पर था। स्पेन और सोवियत संघ की सरकारों ने तो सार्वजनिक तौर पर इटली को इसके लिए दोषी ठहराया। इस स्थिति पर विचार करने के लिए १० सितम्बर को नियोन में भूमध्यसागरीय शक्तियों का एक सम्मेलन हुआ, पर जर्मनी और इटली ने इस सम्मेलन में भाग लेने से इन्कार कर दिया। सम्मेलन ने भूमध्यसागर में पनडुब्बियों के हमले पर विचार किया और इसको रोकने का प्रबन्ध किया। उसके बाद इस तरह के हमले तुरत बन्द हो गये।

जहाँ तक जनरल फ्रांको की विदेशी सहायता मिलने का प्रश्न था, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं हुई और जर्मनी तथा इटली यथापूर्व उसकी सहायता करते रहे। अक्टूबर में स्पेन में चालीस हजार इटालियन सैनिकों की उपस्थिति सरकारी तौर से स्वीकार की गयी। इटालियन हस्तक्षेप का और भी अधिक प्रामाणिक रूप तब सामने आया जब २९ अक्टूबर को मुसोलिनी ने स्पेन में मारे गये सैनिकों के सम्बन्धियों को स्वयं अपने हाथ से पुरस्कार दिये और उसी समय हताहतों की एकसूची प्रकाशित की गयी। इस प्रकार स्पेनिस गृह युद्ध की स्थिति इस प्रकार होती जा रही थी जिसमें फ्रांको को ही लाभ प्राप्त हो रहा था। इस स्थिति में ब्रिटेन और फ्रांस को अपनी अदूरदर्शितापूर्ण अहस्तक्षेप की नीति का त्याग कर स्पेनिस सरकार की सहायता करनी चाहिए थी। गणतान्त्रिक सरकार भी बार-बार यह माँग कर रही थी कि कपटपूर्ण अहस्तक्षेप नीति का अन्त करके विदेशी सरकारों से सैनिक सामग्री खरीदने का उसे मौका दिया जाय, पर लन्दन की अहस्तक्षेप-समिति अपना काम करती रही। इसके सामने प्रमुख प्रश्न था विदेशी स्वयंसेवकों को स्पेन की भूमि से हटाना। पर, इसका कोई परिणाम नहीं निकला। गृह-युद्ध का परिणाम अन्ततः फ्रांको के पक्ष में हुआ। २८ मार्च, १९३९ को मैड्रिड पर फ्रांको का कब्जा हो गया और तीन साल के निरन्तर लड़ाई के बाद स्पेन का गृह-युद्ध समाप्त हुआ। इसके तीन सप्ताह बाद अहस्तक्षेप-समिति का विघटित कर दिया गया। फ्रांको से मैड्रिड पर कब्जा होने के एक दिन पहले २७ फरवरी को ही ब्रिटेन और फ्रांस फ्रांको को सरकार की मान्यता प्रदान कर चुके थे।

इटली पर प्रभाव—जर्मनी और इटली में प्रगाढ़ दोस्ती स्पेनिस गृह-युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण कूटनीतिक परिणाम था। इस दोस्ती का वातावरण अबिसीनिया युद्ध के समय से ही तैयार हो रहा था जब सारे संसार में इटली के प्रति सहानुभूति प्रकट करने वाला एकमात्र देश जर्मनी ही था। स्पेनिस गृह-युद्ध के शुरू होने के तुरत बाद इस दोस्ती को एक समझौते के द्वारा पुष्ट कर दिया गया, जिसे रोम-बर्लिन-धुरी (अक्टूबर १९३६) कहते हैं। इसके बाद ६ नवम्बर, १९३७ को इटली, जर्मनी और जापान के मध्य हुए कामिन्टर्न-विरोधी पैक्ट में भी शामिल हो गया। इसके कुछ ही दिनों बाद १२ दिसम्बर को दूचे अपने प्रिय मित्र फ्यूरर का अनुसरण करते हुए राष्ट्रसंघ से भी अलग हो गया। स्पेन के गृह-युद्ध में फासिज्म की विजय इसी मित्रता और संयुक्त मोर्चे का परिणाम था। २२ मई, १९३९ को एक और अनाक्रामक तथा पारस्परिक सुरक्षा-सन्धि करके इस मित्रता को और पक्का कर दिया गया। इसके अनुसार यह तय हुआ कि दूसरे देश द्वारा हस्ताक्षरकर्ताओं पर किसी प्रकार के आक्रमण की स्थिति में वे एक-दूसरे की मदद करेंगे।

इटालियन साम्राज्य में अल्बेनिया का मिलाया जाना स्पेनिस गृह-युद्ध का एक और दूसरा परिणाम था। स्पेन में फ्रांको की विजय से मुसोलिनी को कम लाभ नहीं हुआ।

इससे पश्चिमी भूमध्यसागर में इटली विरोधी गुट बन जाने से मुसोलिनी का भय मिट गया और फ्रांस के विरुद्ध पश्चिम में एक मित्र भी मिल गया। परन्तु रोम के नये सीजर मुसोलिनी को कुछ घाटा भी हुआ। स्पेन में फासिज्म को विजय तो अवश्य मिली, पर इटली का कुछ भी प्रादेशिक लाभ नहीं हुए। इटालियन साम्राज्य में एक वर्गमील की भी वृद्धि नहीं हुई, यद्यपि अबीसीनिया युद्ध से भी अधिक इटालियन सिपाही स्पेनिस गृह-युद्ध में मारे जा चुके थे। इसके अतिरिक्त फ्रांको पर डूचे से अधिक प्रभाव फ्यूरर का ही था। इन सब परिणामों को देखकर मुसोलिनी शान्त नहीं बैठ सकता था। इसका असर उसकी तानाशाही पर भी पड़ सकता था। अतएव इस घाटे की पूर्ति उसने दूसरी तरह से करने की सोची। अल्बेनिया पर इटली बहुत दिनों से आँखे गड़ाए हुए था। राष्ट्रसंघ की निर्बलता और फ्रांस तथा ब्रिटेन की दब्बू नीति का उस समय तक पूर्ण परिचय मिल चुका था। ऐसी स्थिति में अप्रिल, १९३९ में इटली ने अल्बेनिया पर हमला करके उसे अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया।

(ख) फ्रांस की विदेश नीति (१९१९-१९३९)

विषय प्रवेश—दो विश्व-युद्धों के बीच के काल की फ्रांसीसी विदेश नीति पर "असंगति तथा पाखण्ड" (inconsistency and hypocracy) का आरोप लगाया जाता है। इस काल में फ्रांस की विदेश नीति जर्मनी के भयकर भूत से हमेशा प्रभावित रही। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं वरन् आन्तरिक राजनीति में भी जर्मनी फ्रांसीसी राजनीति का केन्द्र-बिन्दु बना रहा। १९१९ से १९३३ तक फ्रांस की विदेश नीति का केवल एक ही उद्देश्य था—जर्मनी को सदा के लिए कुचल कर रखना। उस वर्ष जब जर्मनी में हिटलर का उत्कर्ष हुआ तो फ्रांस के सामने जर्मनी के एक अन्य हमले से बचाव की समस्या उपस्थित हो गयी। वस्तुतः फ्रांस की विदेश नीति सदैव उधेड़ बुन में पड़ी रही :

सुरक्षा की खोज—युद्ध के तुरत बाद फ्रांस के सामने सबसे प्रमुख समस्या सुरक्षा की थी। लैंगसम ने ठीक ही लिखा है "मनुष्य की जीवित याद में दो बार जर्मन सैनिकों के बूटों की आवाज फ्रांस के भूमि पर सुनाई पडी थी और तृतीय फ्रांसीसी गणराज्य के नागरिकों को भय था कि कहीं दूसरा आक्रमण फिर न हो जाय।"[1] अतएव युद्ध के बाद फ्रांसीसी विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य इसी सुरक्षा को प्राप्त करना था। इसके लिए फ्रांस ने किस तरह यूरोप में गुटबन्दियों का जाल बिछा दिया, इसका अध्ययन हम कर चुके हैं।

राष्ट्रसंघ के प्रति फ्रांस का रुख—फ्रांस अपनी सुरक्षा का दूसरा साधन राष्ट्रसंघ को मानता था अतएव शुरू में फ्रांस ने राष्ट्रसंघ का खूब समर्थन किया और उसके साथ अधिक सहयोग किया। राष्ट्रसंघ को सुरक्षा का शक्तिशाली साधन बनाने के उद्देश्य से उसने जेनेवा प्रोटोकोल का निर्माण करवाया। पर जेनेवा प्रोटोकोल की अकाल मृत्यु हो गयी। आगे चलकर फ्रांस ने राष्ट्रसंघ को धोखा देना शुरू किया। इटली के अबिसीनिया-आक्रमण के समय यह बात स्पष्ट हो गयी। फ्रांस के विदेश मंत्री लावाल ने मुसोलिनी का पक्ष लेकर राष्ट्रसंघ को कितना दुर्बल बना दिया, इसका अध्ययन हम कर चुके हैं। ऐसा करके फ्रांस ने स्वयं अपने पैरों

1. Langsam, *World Since 1914*, p. 318.

में कुल्हाड़ी मार ली, क्योंकि उसने राष्ट्रसंघ, जो जर्मन आक्रमण के विरुद्ध संसार की सभी शक्तियों को एकत्र कर सकता था, निर्बल पड़ गया।[1]

जर्मनी के प्रति फ्रांस की नीति जैसा कि हम कह चुके हैं, युद्ध के तुरत बाद से बहुत तक फ्रांस ने जर्मन के प्रति बड़ी कड़ी नीति का अवलम्बन किया। वह जर्मन को सदा के लिए कुचल कर रखना चाहता था। क्षतिपूर्ति में जर्मन के साथ अत्यधिक कड़ाई का बर्ताव इसी नीति का परिणाम था। क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्ध का अध्ययन मे हम इस पुस्तक में अन्यत्र कर चुके हैं।

ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध—जर्मनी के प्रति कड़ी फ्रांसीसी नीति के कारण युद्ध के बाद फ्रांस और ब्रिटेन के बीच घोर मतभेद उत्पन्न हो गया। अतएव ब्रिटेन के साथ भी फ्रांस का सम्बन्ध अच्छा नहीं रहा। इस मतभेद के कारणों का अध्ययन भी हम पहले ही कर चुके हैं।

१९२५ में विदेश नीति में परिवर्तन—युद्ध के बाद जर्मनी के भय से फ्रांस अत्यन्त व्याकुल रहता था। जर्मन संकट का अन्त करने के लिए वह विविध उपाय करता रहा, लेकिन न तो उसे शान्ति मिली और न जर्मन समस्या का समाधान ही हुआ। अतएव, परेशान होकर उसने जर्मनी के साथ एक समझौता कर लेना ही अच्छा समझा। लोकार्नो समझौता इसी का परिणाम था। लोकार्नो समझौता के बाद फ्रांस को कुछ राहत मिली। यूरोप में शान्ति का वातावरण स्थापित हुआ और फ्रांस में बाधित सैनिक सेवा की अवधि में एक वर्ष की कमी कर दी गयी।

पेरिस पैक्ट—लेकिन फ्रांस के लिए जर्मनी का भय कोई साधारण भय नहीं था। लोकार्नो समझौता के बाद भी फ्रांस सुरक्षा के उधेड़बुन में पड़ा रहा। केलौग ब्रियाँ पैक्ट इसका एक दूसरा परिणाम हुआ।

राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत यूरोपीय संघ बनाने का असफल प्रयत्न- पेरिस पैक्ट के बाद फ्रांसीसी विदेश मन्त्री ब्रियाँ ने यूरोप में शान्ति कायम रखने के लिए राष्ट्रसंघ के यूरोपीय सदस्यों का एक उपसंघ निर्माण करने का प्रस्ताव किया और भविष्य में उसके आधार पर यूरोप के संयुक्त राष्ट्र का निर्माण कर सकने की आशा प्रकट की। यह प्रस्ताव बिल्कुल निर्दोष मालूम होता था परन्तु उसमें कई आपत्तियाँ थीं। इंगलैंड को उसमें एक बड़ी आपत्ति दिखाई देती थी इस उप-संघ में फ्रांस के तो अनेक मित्र होते-बेल्जियम, पोलैंड तथा 'लघुमैत्री' के तीनों राज्य-परन्तु इंगलैंड के डॉमीनियन उसके सदस्य नहीं हो सकते थे। इस प्रकार उसमें फ्रांस के छह मत होते जब कि इंगलैंड का मत एक ही रहता। इसके अतिरिक्त रूस और तुर्की को गैर यूरोपीय राज्य कहकर अलग रखने से यह सम्भावना थी कि यह उप-संघ सदस्य के लिए वर्साय-व्यवस्था में संशोधन रोकने के लिए फ्रांस के एक षड्यंत्र [illegible] लेता। अतः ब्रियाँ का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ और फ्रांस अपन[illegible] ी शक्ति व[illegible] सीमा की किलेबन्दी करने और सैनिक ऋण देकर अपने मि[illegible] को दृढ़ [illegible] ानी नीति [illegible] रण करने लगा।[2]

1. Lipson, Europe in
2. Jackson, T e Betwe

फ्रांस और निरस्त्रीकरण—युद्ध के बाद व्यापक निरस्त्रीकरण के लिए प्रयास होने लगा था। इसके लिए राष्ट्रों के जो भी सम्मेलन हुए फ्रांस उसमें भाग लेता रहा। किन्तु इन सभी सम्मेलनों में राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत १९३२ का जेनेवा निरस्त्रीकरण सम्मेलन काफी महत्त्वपूर्ण था। लेकिन फ्रांस के रवैये के कारण ही यह सम्मेलन असफल रहा। इस असफलता के मूल में फ्रांस तथा जर्मनी का परस्पर विरोधी दृष्टिकोण था। इसका विस्तृत अध्ययन भी हम पहले ही कर चुके हैं।

हिटलर के उदयोपरान्त फ्रांस की विदेश नीति :—

रूस और इटली से मित्रता :—प्रोफेसर शुमां ने लिखा है : "१९३३ से फ्रांसीसी कूटनीति में एक नवीन तथा विनाशकारी युग का प्रारम्भ हुआ। फ्रांस द्वारा जर्मनी को अधिक सुविधाएँ देने से इन्कार करने के परिणामस्वरूप हिटलर का उदय हुआ।" वस्तुतः फ्रांस की कठोर नीति हिटलर के उत्कर्ष में बहुत सहायक सिद्ध हुई। हिटलर के उदय के साथ यूरोप की राजनीतिक स्थिति में घोर परिवर्तन हो गया और अन्तर्राष्ट्रीय संकट का युग आरम्भ हुआ। अब तक तो यूरोप में फ्रांस का प्राधान्य बना हुआ था, परन्तु अब उसे जर्मनी की ओर से अपनी सुरक्षा का खतरा दिखाई देने लगा। देश के अन्दर भी यह समय बड़ा संकट का था। इंगलैंड के प्रति उसे शंका थी और इटली नाराज था। रूस से भी उसके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। छोटे-छोटे मध्य यूरोपीय राज्यों से उसकी मित्रता अवश्य थी, परन्तु जर्मनी के मुकाबले में उनकी सहायता का कोई विशेष मूल्य नहीं था। ऐसी स्थिति में उसे किसी बड़ी शक्ति से मित्रता करना आवश्यक मालूम होता था। अतः अब फ्रांस ने रूस और इटली से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न आरम्भ किया। उसने १९३४ में रूस को राष्ट्रसंघ में प्रवेश करने में सहायता दी और अगले वर्ष उससे एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार युद्ध के समय दोनों ने एक दूसरे को सहायता का वचन दिया।

आरम्भ में इटली को भी जर्मनी से भय था। अतएव अब फ्रांस और इटली एक दूसरे के निकट आने लगे। १९३४ में इटली और ब्रिटेन से मिलकर उसने आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता की गारन्टी दी और १९३५ में "स्ट्रेसा गुट" का निर्माण किया। इटली को प्रसन्न रखने के लिए उसने अबिसीनिया के मामले में राष्ट्रसंघ का पूरा-पूरा साथ नहीं दिया जिससे वह इटली के विरुद्ध कोई कड़ी कारवाई नहीं कर सका और इटली ने अबिसीनिया पर विजय प्राप्त कर ली। इससे राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। उसकी निर्बलता अच्छी तरह से प्रकट हो गयी और फ्रांस की सुरक्षा का एक साधन—राष्ट्रसंघ द्वारा सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था—नष्ट हो गया। इसके परिणामस्वरूप उसकी सुरक्षा का दूसरा साधन छोटे राज्यों से मैत्री सम्बन्ध भी नष्ट हो गया। छोटे राज्यों को अपनी सुरक्षा के लिए राष्ट्रसंघ का ही भरोसा था। परन्तु जब उन्होंने देखा कि राष्ट्रसंघ इटली जैसे सशक्त राष्ट्र से अबिसीनिया की रक्षा नहीं कर सका तो उन्हें उसका भरोसा नहीं रहा, उन्होंने तटस्थता की नीति का परित्याग कर दिया और जर्मनी के डर से उनकी ओर झुकने लगे।[1] फ्रांस का उनकी मित्रता के बल पर अब तक जो प्राधान्य था वह लुप्त हो गया। इतना ही नहीं, जिस इटली को प्रसन्न करने के लिए उसने यह सब किया था वह भी निराश हो गया। कारण, फ्रांस ने इस समय दुरंगी चाल चली थी। वह इटली और ब्रिटेन दोनों को प्रसन्न करना चाहता था। एक तो भीतर-भीतर वह इटली का समर्थन कर

1. Churchill, *The Second World War* Vol. 1, p. 174.

में कुल्हाड़ी मार ली, क्योंकि उसने राष्ट्रसंघ, जो जर्मन आक्रमण के विरुद्ध संसार की सम्पूर्ण शक्तियों को एकत्र कर सकता था, निर्बल पड़ गया।[1]

जर्मनी के प्रति फ्रांस की नीति - जैसा कि हम कह चुके हैं, युद्ध के तुरत बाद के वर्षों तक फ्रांस ने जर्मन के प्रति बड़ी कड़ी नीति का अवलम्बन किया। वह जर्मन को सदा के लिए कुचल कर रखना चाहता था। क्षतिपूर्ति में जर्मन के साथ अत्यधिक कड़ाई का बर्ताव इसी नीति का परिणाम था। क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्ध का अध्ययन भी हम इस पुस्तक में अन्यत्र कर चुके हैं।

ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध—जर्मनी के प्रति कड़ी फ्रांसीसी नीति के कारण युद्ध के बाद फ्रांस और ब्रिटेन के बीच घोर मतभेद उत्पन्न हो गया। अतएव ब्रिटेन के साथ भी फ्रांस का सम्बन्ध अच्छा नहीं रहा। इस मतभेद के कारणों का अध्ययन भी हम पहले ही कर चुके हैं।

१९२५ में विदेश नीति में परिवर्तन—युद्ध के बाद जर्मनी के भय से फ्रांस अत्यन्त व्याकुल रहता था। जर्मन संकट का अन्त करने के लिए वह विविध उपाय करता रहा, लेकिन न तो उसे शान्ति मिली और न जर्मन समस्या का समाधान ही हुआ। अतएव, परेशान होकर उसने जर्मनी के साथ एक समझौता कर लेना ही अच्छा समझा। लोकार्नो समझौता इसी का परिणाम था। लोकार्नो समझौता के बाद फ्रांस को कुछ राहत मिली। यूरोप में शान्ति का वातावरण स्थापित हुआ और फ्रांस में बाधित सैनिक सेवा की अवधि में एक वर्ष की कमी कर दी गयी।

पेरिस पैक्ट—लेकिन फ्रांस के लिए जर्मनी का भय कोई साधारण भय नहीं था। लोकार्नो समझौता के बाद भी फ्रांस सुरक्षा के उधेड़बुन में पड़ा रहा। केलौग ब्रियाँ पैक्ट इसका एक दूसरा परिणाम हुआ।

राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत यूरोपीय संघ बनाने का असफल प्रयत्न - पेरिस पैक्ट के बाद फ्रांसीसी विदेश मन्त्री ब्रियां ने यूरोप में शान्ति कायम रखने के लिए राष्ट्रसंघ के यूरोपीय सदस्यों का एक उपसंघ निर्माण करने का प्रस्ताव किया और भविष्य में उसके आधार पर यूरोप के संयुक्त राष्ट्र का निर्माण कर सकने की आशा प्रकट की। यह प्रस्ताव बिल्कुल निर्दोष मालूम होता था परन्तु उसमें कई आपत्तियाँ थीं। इंगलैंड को उसमें एक बड़ी आपत्ति दिखाई देती थी इस उप-संघ में फ्रांस के तो अनेक मित्र होते-बेल्जियम, पोलैंड तथा 'लघुमैत्री' के तीनों राज्य-परन्तु इंगलैंड के डॉमीनियन उसके सदस्य नहीं हो सकते थे। इस प्रकार उसमें फ्रांस के छह मत होते जब कि इंगलैंड का मत एक ही रहता। इसके अतिरिक्त रूस और टर्की को गैर यूरोपीय राज्य कहकर अलग रखने से यह सम्भावना थी कि यह उप-संघ सदस्य के लिए वर्साय-व्यवस्था में संशोधन रोकने के लिए फ्रांस के एक षड्यंत्र का रूप ले लेता। अतः ब्रियां का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ और फ्रांस अपनी सेना की शक्ति बढ़ाने, अपनी पूर्वी सीमा की किलेबन्दी करने और सैनिक ऋण देकर अपने मित्रों की सीमाओं को दृढ़ करने का अपनी पुरानी नीति का अनुसरण करने लगा।[2]

1. *Lipson, Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries*, p. 436.
2. *Jackson, The Between War World*, p. 71.

फ्रांस और निरस्त्रीकरण—युद्ध के बाद व्यापक निरस्त्रीकरण के लिए प्रयास होने लगा था। इसके लिए राष्ट्रों के जो भी सम्मेलन हुए फ्रांस उसमें भाग लेता रहा। किन्तु इन सभी सम्मेलनों में राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत १६३२ का जेनेवा निरस्त्रीकरण सम्मेलन काफी महत्त्वपूर्ण था। लेकिन फ्रांस के रवैये के कारण ही यह सम्मेलन असफल रहा। इस असफलता के मूल में फ्रांस तथा जर्मनी का परस्पर विरोधी दृष्टिकोण था। इसका विस्तृत अध्ययन भी हम पहले ही कर चुके हैं।

हिटलर के उदयोपरान्त फ्रांस की विदेश नीति :—

रूस और इटली से मित्रता :—प्रोफेसर शूमां ने लिखा है : "१६३३ से फ्रांसीसी कूटनीति में एक नवीन तथा विनाशकारी युग का प्रारम्भ हुआ। फ्रांस द्वारा जर्मनी को अधिक सुविधाएँ देने से इन्कार करने के परिणामस्वरूप हिटलर का उदय हुआ।" वस्तुतः फ्रांस की कठोर नीति हिटलर के उत्कर्ष में बहुत सहायक सिद्ध हुई। हिटलर के उदय के साथ यूरोप की राजनीतिक स्थिति में घोर परिवर्तन हो गया और अन्तर्राष्ट्रीय संकट का युग आरम्भ हुआ। अब तक तो यूरोप में फ्रांस का प्राधान्य बना हुआ था, परन्तु अब उसे जर्मनी की ओर से अपनी सुरक्षा को खतरा दिखाई देने लगा। देश के अन्दर भी यह समय बड़ा संकट का था। इंगलैंड के प्रति उसे शंका थी और इटली नाराज था। रूस से भी उसके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। छोटे-छोटे मध्य यूरोपीय राज्यों से उसकी मित्रता अवश्य थी, परन्तु जर्मनी के मुकाबले में उनकी सहायता का कोई विशेष मूल्य नहीं था। ऐसी स्थिति में उसे किसी बड़ी शक्ति से मित्रता करना आवश्यक मालूम होता था। अतः अब फ्रांस ने रूस और इटली से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न आरम्भ किया। उसने १९३४ में रूस को राष्ट्रसंघ में प्रवेश करने में सहायता दी और अगले वर्ष उससे एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार युद्ध के समय दोनों ने एक दूसरे की सहायता का वचन दिया।

आरम्भ में इटली को भी जर्मनी से भय था। अतएव अब फ्रांस और इटली एक दूसरे के निकट आने लगे। १६३४ में इटली और ब्रिटेन से मिलकर उसने आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता की गारन्टी दी और १६३५ में "स्ट्रेसा गुट" का निर्माण किया। इटली को प्रसन्न रखने के लिए उसने अबिसीनिया के मामले में राष्ट्रसंघ का पूरा-पूरा साथ नहीं दिया जिससे वह इटली के विरुद्ध कोई कड़ी कारवाई नहीं कर सका और इटली ने अबिसीनिया पर विजय प्राप्त कर ली। इससे राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। उसकी निर्बलता अच्छी तरह से प्रकट हो गयी और फ्रांस की सुरक्षा का एक साधन—राष्ट्रसंघ द्वारा सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था—नष्ट हो गया। इसके परिणामस्वरूप उसकी सुरक्षा का दूसरा साधन छोटे राज्यों से मैत्री सम्बन्ध भी नष्ट हो गया। छोटे राज्यों को अपनी सुरक्षा के लिए राष्ट्रसंघ का ही भरोसा था। परन्तु जब उन्होंने देखा कि राष्ट्रसंघ इटली जैसे सशक्त राष्ट्र से अबिसीनिया की रक्षा नहीं कर सका तो उन्हें उसका भरोसा नहीं रहा, उन्होंने तटस्थता की नीति का परित्याग कर दिया और जर्मनी के डर से उनकी ओर झुकने लगे।[1] फ्रांस का उनकी मित्रता के बल पर अब तक जो प्राधान्य था वह लुप्त हो गया। इतना ही नहीं, जिस इटली को प्रसन्न करने के लिए उसने यह सब किया था वह भी निराश हो गया। कारण, फ्रांस ने इस समय दुरंगी चाल चली थी। वह इटली और ब्रिटेन दोनों को प्रसन्न करना चाहता था। एक तो भीतर-भीतर वह इटली का समर्थन कर

1. Churchill, *The Second World War* Vol. 1, p. 174.

रहा था और दूसरे उसके विरुद्ध कार्रवाई में भाग भी ले रहा था। इस कारण फ्रांस की सुरक्षा के सभी साधन नष्ट हो गये। राष्ट्रसंघ निर्बल हो गया। छोटे-छोटे राज्यों ने तटस्थता स्वीकार कर ली और ब्रिटेन भी नाराज हो गया। इस प्रकार फ्रांस की स्थिति बड़ी कठिन हो गयी।

फ्रांस की सन्तुष्टीकरण नीति का विकास :—हिटलर फ्रांस की दुर्दशा को गौर से देख रहा था। उसने स्थिति से पूरा-पूरा लाभ उठाया। १९३६ में उसने सेना भेजकर राइन प्रदेश पर अधिकार कर लिया। वर्साय की संधि भंग हो गयी और फ्रांस की सीमा जर्मनी से बिल्कुल मिल गयी। हिटलर ने इस क्षेत्र की किलाबन्दी भी शुरू कर दी। फ्रांस का एक मौका खो गया। यदि इस समय वह बलपूर्वक हिटलर को रोक लेता तो उसके आक्रामक इरादे नहीं बढ़ते। जर्मनी अभी युद्ध के लिए तैयार नहीं था। यदि फ्रांस इस समय अपनी सेना हिटलर के विरुद्ध भेज देता तो उसे अवश्य पीछे हटना पड़ता। परन्तु दुर्भाग्यवश फ्रांस ऐसा नहीं कर सका। इस अवसर पर उसने ब्रिटेन का सहयोग प्राप्त करने का यत्न किया और उससे परामर्श किया। परन्तु ब्रिटेन में इस समय दूसरी ही बात थी। वहाँ के शासक हिटलर के साथ सहानुभूति रखते थे और उसे सन्तुष्ट करके रखना चाहते थे। सन्तुष्टीकरण का युग वहाँ पूरी तरह आ चुका था। अतएव उसने फ्रांस के राइन प्रदेश में सेना भेजने से मना कर दिया। हिटलर के बढ़ते हुए हौसलों पर रुकावट लगाने का अन्तिम अवसर निकल गया। फ्रांस की इस कमजोरी से स्थिति उसके हाथ से निकल गयी और अब घटना चक्र का निर्धारण फ्रांस की जगह जर्मनी और इंगलैंड के हाथों में पहुँच गया। वास्तव में अब फ्रांस की कोई विदेश नीति न रही, वह इंगलैंड की विदेश नीति में सम्मिलित हो गयी क्योंकि अब फ्रांस अपनी विदेश नीति में बिल्कुल इंगलैंड पर निर्भर रहने लगा।[2]

स्पेन के गृह-युद्ध तथा चेकोस्लोवाकिया कांड के समय फ्रांस की सन्तुष्टीकरण की नीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। इन दोनों अवसरों पर फ्रांस की विदेश नीति ब्रिटेन की विदेश नीति में पूर्णतया विलीन हो गयी। फ्रांस की सरकार स्पेन के गृह-युद्ध में गणतन्त्रीय सरकार को सहायता देना चाहती थी, लेकिन ब्रिटेन के कारण वह हस्तक्षेप न करने की नीति का ही अवलम्बन करती रही। यही हालत उस समय हुई जब हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया को हड़पने का निश्चय किया। फ्रांस चेकोस्लोवाकिया की रक्षा के लिए संधि के द्वारा वचनबद्ध था। लेकिन ब्रिटेन के दबाव में आकर वह म्यूनिख के समझौते में एक पार्टी बन गया।

जब हिटलर चेकोस्लोवाकिया को पूरी तरह निगल गया तो ब्रिटेन की आँखें खुलीं और उसने सन्तुष्टीकरण की नीति का परित्याग कर दिया। अब हिटलर के प्रति कड़ा रुख अपनाया जाने लगा। फ्रांस ने भी इसका अनुकरण किया। लेकिन तबतक काफी देर हो चुकी थी। पोलैंड को आंग्ल फ्रांसीसी गारन्टी के बावजूद द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। इस कारण फ्रांस की सन्तुष्टीकरण की दब्बू नीति को भी द्वितीय विश्व युद्ध का कारण माना जा सकता है।

फ्रांस की संतुष्टीकरण-नीति के कारण :—फ्रांस (और ब्रिटेन) की सन्तुष्टीकरण की नीति म्यूनिख में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। म्युनिख समझौता के बाद ब्रिटेन के एक सुप्रसिद्ध

1. David Thomson, *French Foreign Policy*, p. 29.

अखवार में एक कार्टून निकला था—दो व्यक्ति एक मेमने को भेड़िये के सम्मुख फेंक रहे हैं। भेड़िया था नात्सी जर्मनी, मेमना था चेकोस्लोवाकिया और दो व्यक्ति थे चेम्बरलेन और दलादिये। इस निन्द्य-कार्य में फ्रांस के प्रधान मन्त्री दलादिये की भूमिका उतनी ही निन्दनीय थी जितनी ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की। १६३५ के बाद से जर्मनी की शक्ति निरन्तर बढ़ रही थी और उसी अनुपात में फ्रांस की शक्ति खोखली होती जा रही थी। ऐसी स्थिति में फ्रांस के सामने एक ही माँग थी—इटली और जर्मनी के तानाशाहों को सन्तुष्ट किया जाय। फलतः फ्रांस ने भी वही किया जो ब्रिटेन अभी तक करता चला आ रहा था। इन दोनों देशों के कर्णधारों ने प्रत्येक कदम पर तानाशाहों के सामने अपने सिर झुकाए और इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के सर्वनाश को प्रस्तुत करने में उनकी हिम्मत बढ़ाई। फ्रांस को सन्तुष्टीकरण नीति के अनेक कारण थे :—

(१) सन्तुष्टीकरण की नीति फ्रांस की आन्तरिक दुर्बलता का परिणाम थी। प्रत्येक दृष्टि से फ्रांस जर्मनी से कमजोर पड़ता था। प्रथम विश्वयुद्ध में फ्रांस यद्यपि विजयी हुआ था, तो भी वह अपनी आन्तरिक दुर्बलता को भलीभाँति समझता था। जनसंख्या, प्राकृतिक साधन, सामरिक शक्ति सभी दृष्टियों से फ्रांस जर्मनी की अपेक्षा कमजोर पड़ता था। इस स्थिति के कारण फ्रांस के लोगों में किसी तरह का मनोबल (morale) नहीं रह गया था।

(२) फ्रांस का राजनैतिक जीवन परम्परा फूट और वैमनस्य से विषाक्त था। इस काल में फ्रांस में प्रायः राजनैतिक गतिरोध बना रहा। आये दिन मंत्रिमण्डल टूटता और बनता था। ऐसी स्थिति में फ्रांस में फासिस्ट विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। फ्रांस का पूँजीपति वर्ग यह सोचने लगा कि देश का कल्याण जनतान्त्रिक पद्धति से नहीं वरन् सर्वाधिकारवादी पद्धति से ही हो सकता है। फलस्वरूप ये लोग इटली और जर्मनी की शासन प्रणाली को अनुकरणीय आदर्श बताने लगे। निराशा और पराजय के इस वातावरण में जब फ्रांस के लोग फासिस्टवाद की ओर आकर्षित हुए तो देश के आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में प्रतिक्रियावादी नीतियों का पालन होने लगा। यह वर्ग हिटलर का बहुत बड़ा समर्थक हो गया। इस प्रकार फ्रांस में हिटलर को एक पाँचवाँ दस्ता (fifth column) मिल गया। हिटलर ने इस स्थिति से पूरा लाभ उठाया। यही पाँचवाँ दस्ता फ्रांस का असल नीति-निर्धारक था। ऐसे लोगों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे जर्मनी का विरोध दृढ़तापूर्वक करें। फ्रांस की नीति के इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए प्रोफेसर शुमाँ ने लिखा है : "उन्होंने विदेश मन्त्रालय को पूर्ण रूप से चेम्बरलेन के अधीन कर दिया। वे युद्ध अथवा युद्ध की धमकी से चेकोस्लोवाकिया को बचाने में बहुत डरते थे, क्योंकि इस प्रकार का कोई भी युद्ध फासिस्टवाद के विरुद्ध प्रजातन्त्र तथा जनता के मोर्चे के नाम पर तथा मास्को के साथ सम्बद्ध होकर, जिनका नाम लेना भी भयंकर था, लड़ा जा सकता था।"

(३) फ्रांस के समाचार-पत्रों का पार्ट भी बड़ा निन्दनीय रहा। वास्तव में सन्तुष्टीकरण की नीति के वे बड़े समर्थक थे। एक तो सभी समाचार पत्र फासिस्टवादी पूँजीपतियों के हाथ में थे। दूसरे फ्रांस के पत्रकार धुरी राष्ट्रों से घूस के रूप में धन प्राप्त करते थे। ऐसी हालत में जर्मनी के विरुद्ध कड़ी नीति के अवलम्बन की माँग कैसे कर सकते थे? वे बराबर जर्मनी के साथ सहयोग करते रहे। घूस द्वारा वशीभूत पत्रकारों ने प्राग तथा मास्को की निन्दा की तथा

मदोन्मत्त जनता के सामने बार-बार शोर किया कि "चेकोस्लोवाकिया के लिए युद्ध नहीं होना चाहिए।"[1]

(४) फ्रांस का शासक वर्ग (जिसमें पूँजीपति प्रतिक्रियावादियों का प्राधान्य था) सोवियत-संघ और साम्यवाद से अत्यधिक आतंकित था। वे फ्रांस को साम्यवाद से बचाना ही नहीं चाहते थे, वरन् साम्यवाद के प्रयोगशाला सोवियत रूस को खत्म करने का सुख स्वप्न भी देखा करते थे। हिटलर और मुसोलिनी खुलेआम सोवियत रूस को गालियाँ देते थे। इस हालत में फ्रांस के अन्धे शासक यह सोचने लगे कि रूस का प्रतिरोध करने तथा फ्रांस को साम्यवाद से बचाने के लिए फासिस्ट अधिनायकों का समर्थन करना चाहिए। यद्यपि १९३५ में फ्रांस ने सोवियत रूस के साथ एक सन्धि कर ली थी; पर इस सन्धि को कार्यान्वित करने का कोई उपाय नहीं किया गया। वास्तविक बात यह थी कि फ्रांस के शासक सोवियत-संघ के साथ किसी प्रकार का सहयोग नहीं करना चाहते थे। इस प्रकार फ्रांस के शासकों ने अपने वर्गहित की रक्षा के लिए अपने राष्ट्रीय हितों का कुर्बान कर दिया। वस्तुतः पूँजीपति वर्ग के लिए अपने वर्गहित से बढ़कर कोई प्रिय वस्तु नहीं है। हर देश में संकट के समय उनका यही पार्ट रहता है।

(५) जर्मनी में हिटलर के बाद इटली की मैत्री को हर कीमत पर खरीदने को तैयार था। इसी कारण उसने अबिसीनिया और फिर बाद में स्पेन के गृह-युद्ध में इटली को पूरी तरह छूट दे दी। इटली के प्रति सन्तुष्टीकरण की नीति अवलम्बन करने के मूल में यही बात थी। लेकिन इससे फ्रांस को कोई लाभ नहीं हुआ; वरन् उसका सुरक्षा के सभी आधार नष्ट हो गये।

(६) फ्रांस की साधारण जनता युद्ध से बहुत भयभीत थी। प्रथम विश्व-युद्ध में फ्रांस को काफी क्षति हुई थी और फ्रांस के लोगों पर युद्ध का घोर आतंक हुआ था। इस आतंक के कारण फ्रांस के लोग यह सोचते थे कि "बुरा-से-बुरा अन्तर्राष्ट्रीय समझौता अच्छे-से अच्छे युद्ध की अपेक्षा श्रेष्ठ है।" फ्रांसीसियों के इस मनोवृत्ति का प्रभाव देश के नीति-निर्धारण पर पड़ना आवश्यक था।[2]

इन्हीं परिस्थितियों में फ्रांस ने जर्मनी के प्रति सन्तुष्टीकरण की नीति (policy of appeasement) का अवलम्बन किया। वस्तुतः फ्रांस का राष्ट्रीय मनोबल इतना गिर चुका था कि जब जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण किया तो बोने (Bonnet) ने उस समय भी कहा कि इस समस्या के समाधान के लिए एक राष्ट्रीय सम्मेलन करना चाहिए। फ्रांस के शासक सन्तुष्टीकरण की नीति के इतने वशीभूत हो गये थे कि जब ३ दिसम्बर, १९३९ को फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध घोषणा की तो वह बड़ी अनिच्छा के साथ।

(ग) ब्रिटेन की विदेश नीति [१९१९-१९३९]

विषय-प्रवेश—दो विश्वयुद्ध के बीच के काल में ब्रिटेन की विदेश नीति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस काल में ब्रिटेन ने परराष्ट्र क्षेत्र में जिस नीति का अवलम्बन किया उसको "सन्तुष्टीकरण की नीति" (policy of appeasement) कहते हैं। इसका उद्देश्य जापान और इटली

1. Schuman, *International Politics* (5th Ed.) p. 462.
2. David Thomson, *French Foreign Policy*, p. 58.

जैसे अतृप्त एवं असंतुष्ट राष्ट्रों को उनकी माँगे पूरी करते हुए सन्तुष्ट रखना और इस प्रकार शान्ति बनाये रखना था। १९२६ से ही इस नीति का प्रारम्भ हो गया लेकिन यह अपनी चरम सीमा पर पहुँची १९३८ में जब चेकोस्लोवाकिया को लेकर म्यूनिख का समझौता हुआ। इंगलैंड में इस नीति के मुख्य समर्थक सर साइमन होर, हैलिफैक्स और चेम्बरलेन थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय यूरोप में शान्ति कायम रखने का सबसे प्रमुख साधन शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त माना जाता था। ब्रिटेन के नीति निर्धारण में इसी सिद्धान्त की प्रधानता थी। इसके अनुसार ब्रिटिश द्वीप तथा साम्राज्य की सुरक्षा के लिए एक ऐसी नीति का अवलम्बन किया जाता ताकि यूरोप का कोई राज्य बहुत अधिक शक्ति प्राप्त नहीं कर ले। यदि ब्रिटेन यह समझ जाता कि कोई राज्य बहुत शक्तिशाली हो रहा है जिसमें यूरोपीय शक्ति-सन्तुलन में गड़बड़ी का खतरा हो गया है वह तब तक उस राज्य के विरुद्ध गुटबन्दी कर लेता। कभी-कभी एक युद्ध के जीतने के बाद उसने अपने युद्धकालीन मित्रों का साथ छोड़कर अपने शत्रुओं के साथ मित्रता की है। इसलिए कहा जाता है कि ब्रिटेन को कोई स्थायी शत्रु या मित्र नहीं है केवल स्थायी स्वार्थ है।

लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि यूरोपीय शान्ति के लिए शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त अपर्याप्त है। इसलिए राष्ट्रों ने इस सिद्धान्त का परित्याग करके सामूहिक सुरक्षा को अपनाया और इसके लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना की गयी। ऐसा अनुमान किया गया कि राष्ट्रसंघ के द्वारा सामूहिक आधार पर यूरोप में शांति कायम रखी जा सकती है।

वर्साय सन्धि के बाद ब्रिटेन के सामने दो मार्ग थे—यूरोपीय शक्ति-सन्तुलन की नीति का परित्याग करके सामूहिक सुरक्षा के लिए राष्ट्रसंघ का पूर्ण समर्थन करना या यूरोप में सबल राष्ट्र के विरुद्ध निर्बल राष्ट्रों को सहायता देने की परम्परागत नीति का अवलम्बन करना। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया और बदले में एक आत्मघाती नीति का अनुसरण शुरू किया।[1]

दोनों युद्धों के बीच के काल में कुछ वर्षों को छोड़ अनुदारदल के हाथ में ब्रिटेन की सत्ता रही। यद्यपि ब्रिटेन की जनता सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त में विश्वास रखती थी, लेकिन अनुदारदल को सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त में बिल्कुल विश्वास नहीं था। इसका कारण यह था कि यदि इस नीति का पालन किया जाय तो ब्रिटेन के कन्धों पर भारी जिम्मेवारी आ जाती और इसके लिए वह तैयार नहीं था। बात यह थी कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश विदेश नीति के निर्माण में कई नवीन तत्वों का समावेश हो गया था। इसमें उपनिवेशों का प्रभाव सबसे प्रबल था। ब्रिटिश नीति अब पहले की अपेक्षा उपनिवेशों पर अधिक निर्भर रहने लगी थी। हर बात में ब्रिटिश सरकार को उपनिवेशों का ख्याल रखना पड़ता था। इन उपनिवेशों में कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा दक्षिण अफ्रिका काफी महत्त्वपूर्ण थे। यूरोपीय राजनीति की सरगर्मी से बहुत दूर थे सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त के नाम पर वे ऐसी कोई जिम्मेवारी लेने को तैयार नहीं थे जिससे उससे देश का क्षति पहुँचे।

दूसरी नीति के पालन में भी ब्रिटेन के लिए कठिनाइयाँ थीं। यदि वह निर्बल राष्ट्रों को सहायता देने की नीति का अवलम्बन करता तो उस हालत में वर्साय-सन्धि की सैनिक धाराओं पर अमल करवाना, जर्मनी के शस्त्रीकरण को रोकना और ऐसा सम्भव न होने पर

1. Schuman, op. cit. pp. 835-836

फ्रांस तथा अन्य राष्ट्रों को पूर्ण सहायता देना तथा जर्मनी पर रुकावट न डालने के लिए रूस से सहयोग करना आवश्यक था। लेकिन ब्रिटेन इसके लिए भी तैयार नहीं था।

साम्यवादी रूस का खतरा:—युद्धोत्तर ब्रिटिश विदेश नीति में न तो शक्ति-सन्तुलन और न सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त ही प्रेरक तत्त्व थे। यदि इसमें कोई तत्त्व था तो वह साम्यवाद का खतरा था और इस काल में इस खतरे को दूर रखना ही ब्रिटिश विदेश नीति का मूलमंत्र था। ब्रिटेन के नीति निर्धारकों की धारणा थी कि भविष्य में यूरोप में जर्मनी और रूस तथा एशिया में रूस और जापान ही संसार के बड़े राज्य होंगे। वह रूस के साम्यवाद को अपने तथा ब्रिटिश साम्राज्य के लिए बड़ा खतरनाक मानता था और चाहता था कि पश्चिम में जर्मनी (और इटली) और पूर्व में जापान रूस पर आक्रमण करके उसको समाप्त कर दें। अतएव दो युद्धों के बीच के काल में वह जर्मनी और जापान को सहायता देता रहा और पूर्व की ओर उसका मार्ग निष्कंटक बनाने के लिए फ्रांस को पूर्वी यूरोप के उसके मित्रों को सहायता देने से रोकता रहा। यह भी सम्भव था कि तीनों शक्तियाँ रूस को परास्त करने के बाद ब्रिटेन के लिए खतरनाक बन जायँ, लेकिन उसे यह खतरा साम्यवाद के खतरे के सामने नगण्य दिखाई पड़ता था।[1]

जर्मनी के प्रति सहानुभूति—इस स्थिति में ब्रिटेन १९१९ के प्रारम्भ से ही जर्मनी के प्रति सहानुभूति की नीति बरतने लगा। इसी भावना से प्रेरित होकर उसने पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में जर्मनी को खण्ड-खण्ड हो जाने से बचाने का प्रयत्न किया। जर्मनी के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करने के मूल में एक और बात थी। यूरोपीय शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने की दृष्टि से इंगलैंड नहीं चाहता था कि फ्रांस यूरोप का एकमात्र शक्तिशाली राज्य रह जाय। इस कारण इंगलैंड जर्मनी के पुनरोत्थान का प्रबल समर्थक हो गया। इसको लेकर दोनों देशों के बीच घोर मतभेद उत्पन्न हो गया। इन मतभेदों का वर्णन इन पुस्तक में अन्यत्र किया जा चुका है।

सन्तुष्टीकरण नीति का ब्योरा—ब्रिटेन फासिस्टवाद को संसार का रक्षक समझता था, यह १९२३ में ही कोर्फु विवाद के समय पहले-पहल स्पष्ट हो गया। इस मामले में जब इटली ने राष्ट्रसंघ की उपेक्षा की तो ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ का साथ नहीं दिया और जैसा कि हम देख चुके हैं, 'राजदूतों की समिति' द्वारा मामले का निर्णय करके उसके प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचायी। १९३१ में मंचूरिया पर जापान का आक्रमण हुआ। चीन से राष्ट्रसंघ के सामने इस मामला को रखा लेकिन ब्रिटेन के रुख के कारण ही राष्ट्रसंघ जापान के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं कर सका।

इसके बाद १९३३ में जर्मनी में हिटलर का उदय हुआ। हिटलर के उदय से समस्त यूरोप में तहलका मच गया, लेकिन ब्रिटेन पर इसका कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ा। इसका कारण यह था कि हिटलर के "मीन कैम्फ" में ब्रिटेन के प्रति अच्छा व्यवहार करने का आदेश था। हिटलर ने लिखा था कि जर्मनी को ब्रिटेन के साथ झगड़ा नहीं मोल लेना चाहिए और इसका एकमात्र उपाय है नाविक प्रतिस्पर्द्धा में नहीं पड़ना। हिटलर ब्रिटेन के राष्ट्रीय और साम्राज्यवादी जीवन के मार्मिक स्थल को जानता था। वह थी नौ-सेना। ग्रेटब्रिटेन चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है और उसका साम्राज्य विश्व-व्यापी था। अपनी तथा साम्राज्य की सुरक्षा के लिए उसके

---

1. Ibid., p. 836.

पास सुदृढ़ नौ-सेना का होना परम आवश्यक था और यह तभी सम्भव था जब वह समुद्र की लहरों पर शासन करे। जब कभी किसी शक्ति ने उसकी नौ-सेना को चुनौती दी, वह इसका कट्टर दुश्मन बन गया। प्रथम विश्व-युद्ध के पहले जर्मनी के साथ ब्रिटेन की शत्रुता का प्रधान कारण था कैसर द्वारा जर्मनी के लिए शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण। हिटलर इसे एक महान् गलती मानता था और इस प्रकार के किसी प्रतिद्वन्द्विता में नहीं पड़ना चाहता था। इस हालत में ब्रिटेन को हिटलर से कोई प्रत्यक्ष भय नहीं था। वह आसानी से सन्तुष्टीकरण की नीति का अवलम्बन कर सकता था। इसीलिए आगे चलकर जब हिटलर ने राष्ट्रसंघ से सम्बन्ध विच्छेद किया और जर्मनी का शस्त्रीकरण करने की घोषणा करके वर्साय-सन्धि को भंग कर दिया तब भी ब्रिटेन उसका कोई विरोध नहीं किया।

बात यहीं तक सीमित नहीं रही। जून १९३५ में ब्रिटेन ने जर्मनी के साथ एक नाविक सन्धि करके जर्मनी को इस बात की छूट दे दी कि वह जिस प्रकार के समुद्री जहाज बनाना चाहे इस शर्त पर बना ले कि जर्मनी जहाजों का वजन अँग्रेजी जहाजों के वजन के पैंतीस प्रतिशत से अधिक न हो। इसी समय ब्रिटेन ने जर्मनी की एक और प्रस्ताव भी स्वीकार कर लिया जिसके अनुसार जर्मनी को न केवल वायुसेना रखने की छूट मिल गयी बल्कि उसे अपने निकट पड़ोसियों की वायुसेना की बराबरी पर आने की अनुमति भी प्राप्त हो गयी।

जर्मनी के साथ ब्रिटेन की यह संधि सन्तुष्टीकरण नीति के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। इसने एक प्रकार से वर्साय-सन्धि का अन्त ही कर डाला। इसके बाद मित्रराष्ट्रों को जर्मनी से वर्साय-सन्धि का भंग करने की शिकायत करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं रहा। साथ ही इसने वाशिंगटन सन्धि तथा लन्दन सन्धि को नष्ट कर दिया। राष्ट्रसंघ को भी बड़ी भारी चोट पहुँची।[1]

इस प्रकार जब १९३४ में हिटलर ने आस्ट्रिया की सरकार को पलटने का प्रयत्न किया तो ब्रिटेन की सरकार इसको चुपचाप देखती रही।

आस्ट्रिया पर हिटलर के आक्रमण के बाद ब्रिटेन के रुख में थोड़ा परिवर्तन हुआ और अप्रिल १९३५ में हिटलर के विरुद्ध वह स्ट्रेसा मोर्चा में शामिल हुआ। इसके बाद मुसोलिनी ने अबिसीनिया पर आक्रमण किया। इसके कुछ दिन पूर्व में शान्ति के प्रश्न पर एक जनमत संग्रह हुआ जिससे यह स्पष्ट हो गया कि वहाँ की अधिकांश जनता राष्ट्रसंघ की और सामूहिक सुरक्षा का समर्थक थी। इसके कुछ दिनों के बाद ब्रिटेन में चुनाव हुआ। अपने पक्ष में बहुमत प्राप्त करने के लिए बाल्डविन ने कहा कि ब्रिटिश सरकार जी-जान से राष्ट्रसंघ का समर्थन करेगी। इसी आधार पर वह चुनाव में विजयी हुआ। जब अबीसीनिया का मामला राष्ट्रसंघ में पेश हुआ तो ऊपर से दिखाने के लिए ब्रिटेन ने इटली का जोरदार विरोध किया। लेकिन किस प्रकार सर सैम्युअल होर ने लावाल के साथ समझौता किया और इटली के विरुद्ध कार्यवाई करने में ब्रिटिश सरकार ने शिथिलता दिखायी, इसका अध्ययन हम पहले ही कर चुके हैं। सन्तुष्टीकरण की नीति अब एक स्पष्ट रूप धारण कर चुकी थी।

1. Schevill, *History of Europe*, p. 800.

हिटलर ब्रिटेन की कमजोरी को भलीभाँति समझ चुका था। इस हालत में निर्भय होकर उसने अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति करना शुरू किया। उसने राइन प्रदेश पर आधिपत्य कायम किया। बलपूर्वक आस्ट्रिया पर अधिकार जमाया और अन्त में चेकोस्लोवाकिया को हड़प लिया। इसमें हिटलर को ब्रिटेन का पूर्ण समर्थन मिला।

चेकोस्लोवाकिया की हत्या के बाद इंगलैंड का भ्रम दूर हुआ। अब सन्तुष्टीकरण की नीति का खोखलापन स्पष्ट होने लगा। इस हालत में वह इस नीति का परित्याग करने लगा। अब उसने पोलैंड, रूमानिया, यूनान, टर्की को सहायता की गारन्टी दी और रूस से सन्धि करने का प्रयास किया। लेकिन उस समय तक काफी देर हो चुकी थी और किसी भी राष्ट्र को ब्रिटेन में विश्वास नहीं रह गया था। ब्रिटेन में सन्तुष्टीकरण की नीति का मोह अन्त तक घेरे रहा। हिटलर को रोकने का अब एक ही उपाय बच रहा था—सोवियत रूस के साथ सन्धि करना। इसके लिए वार्ताएँ शुरू हुईं, लेकिन कुछ ही समय बाद स्पष्ट हो गया कि ब्रिटेन का दिल साफ नहीं है। उन्हीं दिनों वह छिपे-छिपे हिटलर से भी समझौता करने का प्रयत्न कर रहा था। अतएव रूस से सन्धि नहीं हो सकी और द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। यदि ब्रिटेन सन्तुष्टीकरण की नीति का अवलम्बन नहीं किये रहता और समय पर हिटलर का विरोध किये रहता तो उसका हौसला नहीं बढ़ता और संसार एक विनाशकारी युद्ध से बच जाता।[1]

ब्रिटिश संतुष्टीकरण-नीति के प्रमुख आधार—

(१) साम्यवादी रूस का आतंक—सन्तुष्टीकरण की नीति का प्रमुख आधार साम्यवादी रूस का आतंक था। रूस की साम्यवादी क्रांति ने ब्रिटेन के पूँजीपति शासक वर्ग को बहुत आतंकित कर दिया था। इस कारण वे सोवियत संघ और साम्यवाद को अपना प्रधान शत्रु समझने लगे। सोवियत संघ के विरुद्ध घृणा और विद्वेष का रुख बरतने का एक कारण तो सैद्धांतिक मतभेद था, लेकिन इससे भी बढ़कर एक और कारण था। उस समय ब्रिटेन दुनिया में सबसे बड़ा साम्राज्यवादी देश था और सोवियत संघ उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का प्रबल विरोधी था। इस हालत में ब्रिटेन का साम्राज्य तभी सुरक्षित रह सकता था जब उसके उपनिवेशों में साम्यवादी विचारधारा का प्रचार न हो। अतएव ब्रिटेन ने साम्यवादी रूस को अपना "शत्रु नम्बर एक" माना। इस कारण ब्रिटेन में इस समय साम्यवाद के प्रति इतनी अधिक घृणा थी कि इसका लाभ उठाते हुए कोई भी शक्ति उसको बेवकूफ बना सकती थी और रूस विरोधी होने की घोषणा करके उनका सहयोग और समर्थन पा सकती थी। धुरी राष्ट्रों ने इससे पूरा लाभ उठाया। इसी तर्क के आधार पर ब्रिटेन की नीति निर्धारक आक्रमकों को माफ करते गये। चीन पर जापानी आक्रमण की उपेक्षा इसी आधार पर की गयी। तत्कालीन ब्रिटिश विदेश सचिव सर जॉन साइमन का ख्याल था कि जापान चीन से नहीं वरन् सोवियत साम्यवाद से लड़ने की तैयारी कर रहा है। जर्मनी ने जब वर्साय-संधि का उल्लंघन शुरू किया तो ब्रिटेन चुपचाप इसलिए तमाशा देखता रहा कि हिटलर साम्यवाद का कट्टर दुश्मन था। इसी प्रकार मुसोलिनी के साम्यवाद विरोधी होने के कारण अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण को माफ किया। चेकोस्लोवाकिया की हत्या के समय में वह सोवियत विरोधी भावना तो अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। इस प्रकार ब्रिटेन के शासक वर्ग अपने सोवियत विरोधी

1. Keith : *Causes of the War*, p. 425.

दृष्टिकोण के कारण न केवल अधिनायकों का हौसला बढ़ाया अपितु सोवियत संघ के विरुद्ध उनका समर्थन भी किया। वास्तव में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का यह विचार था कि सोवियत संघ के विनाश के लिए जर्मनी का पूरा समर्थन किया जाना चाहिए। २८ नवम्बर, १९३४ को ब्रिटिश लोक सभा में बोलते हुए लायड जार्ज ने कहा था : "बहुत थोड़े समय में...इस देश के अनुदार तत्त्व जर्मनी को यूरोप में साम्यवाद के विरुद्ध रक्षा की दीवार समझेंगे। वह यूरोप के केन्द्र में है और यदि साम्यवादियों के विरुद्ध उनकी रक्षा-पंक्ति भंग होती है तो यूरोप में साम्यवाद फैलने की आशंका है।...हमें जर्मनी की निन्दा नहीं करनी चाहिए बल्कि उसको अपने मित्र की भाँति स्वागत करना चाहिए।" ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि १९३९ में ब्रिटेन लम्बी बातचीत के बाद भी सोवियत संघ के साथ फासिस्ट विरोधी मोर्चा बनाने में असमर्थ रहा।[1]

(२) शक्ति संतुलन का सिद्धान्त—ब्रिटेन की संतुष्टीकरण-नीति का दूसरा मुख्य आधार शक्ति सन्तुलन का परम्परागत पुराना विचार था। ब्रिटेन नहीं चाहता था कि फ्रांस यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य बन जाय। फ्रांस की बढ़ती हुई शक्ति को सन्तुलित करने के लिए जर्मनी का पुनरोत्थान आवश्यक माना जाता था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन के नीति-निर्धारकों का यह अनुमान था कि एशिया में जापान और सोवियत-संघ तथा यूरोप में जर्मनी और सोवियत-संघ भविष्य के वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी हैं। अगर इन शक्तियों को आपस में लड़ाता रहा जाय और इस तरह वे एक दूसरे पर रुकावट डालते रहें तो ब्रिटेन निर्विरोध अपने विश्वव्यापी साम्राज्य को कायम रखे रह सकता है। ब्रिटेन की नीति यह थी कि फ्रांस के साथ असहयोग करके, उसपर दबाव डाल कर मुसोलिनी और हिरोहितों को साम्यवादी रूस के खिलाफ उभाड़ा जाय और उनकी सहायता करके साम्यवादी रूस का नाश करवा दिया जाय। इसमें शक्ति संतुलन का कोई सिद्धांत काम नहीं कर रहा था; क्योंकि सोवियत-संघ अभी बहुत कमजोर शक्ति था। हाँ, इस नीति से एक भय अवश्य था। उस हालत में क्या होगा, जब फासिस्ट-शक्तियाँ संगठित होकर सोवियत संघ पर चढ़ बैठें और उसका सत्यानाश कर दें। उस समय जर्मनी, इटली और जापान का त्रिगुट तो काफी शक्तिशाली हो जायगा और उससे भी ब्रिटिश साम्राज्य को खतरा पहुँच सकता है। लेकिन, ब्रिटिश-नीति निर्धारकों की निगाह में फासिस्ट खतरा साम्यवादी खतरा से अधिक भयानक नहीं था। ब्रिटेन के शासक वर्ग में यह विचार काफी प्रबल था। इसका सबूत हमें उन प्रकाशित पुस्तकों और समाचार-पत्रों के लेखों में मिलता है, जो उन व्यक्तियों द्वारा लिखे गये थे, जिनका उस समय ब्रिटेन की सरकार में काफी बोलबाला था।[2]

लेकिन यह नीति ब्रिटेन के लिए बड़ी मँहगी पड़ी। धुरी राष्ट्रों ने उन सुविधाओं, जो ब्रिटेन से उन्हें प्राप्त हो रही थीं, से पूरा लाभ उठाकर अपनी शक्ति में खूब वृद्धि की और ब्रिटेन ने उसके विरुद्ध में किसी प्रकार की गुटबन्दी नहीं की। कारण ऐसी गुटबन्दी रूस के साथ मिलकर तैयार की जा सकती थी, लेकिन ब्रिटेन के शासक साम्यवादी हौआ से भयभीत

1. Schuman : *International Politics.* (3rd Ed.) p. 606.
2. Schuman : *International Politics,* (5th Ed.) p. 577.

होकर ऐसा करने को तैयार नहीं थे। फलतः जिस शक्ति संतुलन को कायम रखने के लिए संतुष्टीकरण की नीति का अवलम्बन किया गया था वह लक्ष्य ही विफल हो गया।

(३) **ब्रिटेन और फ्रांस में मतभेद**—पिछले पृष्ठों में हम कह आये हैं कि अनेक कारणों को लेकर युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन और फ्रांस में घोर मतभेद उत्पन्न हो गया था। इस मतभेद के फलस्वरूप भी सन्तुष्टीकरण की नीति का विकास हुआ। ब्रिटेन में जर्मनी के लिए सहानुभूति थी और वह उसका पुनरोत्थान चाहता था। लेकिन, फ्रांस ने इस विचार का हमेशा विरोध किया। इस प्रकार इन देशों के पारस्परिक विरोध के कारण वे तानाशाहों के विरुद्ध संयुक्त कदम उठाने में असमर्थ थे। जर्मन और इटली ने इन विरोधों से पूरा लाभ उठाया। हिटलर ने बड़ी खूबी के साथ फ्रांस के विरुद्ध ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने का प्रयास किया और इसमें उसे पूरी सफलता भी मिली।

(४) **ब्रिटिश नेताओं की अक्षमता**—यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है कि उस ब्रिटेन ने जिसकी कूटनीतिक प्रौढ़ता जगत प्रसिद्ध है, इतिहास के एक ऐसे युगान्तरकारी क्षण में इस नीति का अनुसरण क्यों किया? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यह है कि उस समय ब्रिटेन की नीति का निर्धारण का काम कुछ अनुभवहीन तथा कट्टर साम्यवाद-विरोधी व्यक्तियों के हाथ में था। कर्नल ब्लिम्प, बाल्डविन, चेम्बरलेन, बैंक ऑफ इंगलैंड के गवर्नर मान्टेग्यू नारमन, लार्डवेभर ब्रूक, जेकोब अस्टर (लन्दन टाइम्ज) तथा गारविन (ऑब्जवर) जैसे पत्रकार डीन इन्ग-जैसे लेखक, केन्टबरी के आर्चविशप तथा अनेक पूँजीपति, सामन्त, जमीन्दार और प्रतिक्रियावादी इस दल के प्रमुख स्तम्भ थे और इन्हीं लोगों के हाथों में ब्रिटेन के भाग्य-निर्धारण का काम था। जिस देश के नीति-निर्धारक में ऐसे लोगों के हाथ हो वहाँ की नीति साम्यवाद विरोधी नहीं तो और क्या हो सकती थी? चेम्बरलेन इस दल का नेता था, इन लोगों के हाथ की कठपुतली। इंगलैंड के पब्लिक स्कूलों में शिक्षित ब्रिटिश शासक वर्ग का दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण और अनुदार हो चुका था और वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वास्तविक परिस्थितियों को समझने में बिल्कुल असमर्थ थे। चेम्बरलेन को विश्वास था कि हिटलर का अभिष्ट केवल वर्साय-सन्धि द्वारा निर्मित अन्यायों को दूर करना है। इसी कारण वह बहुत समय तक हिटलर के शान्तिवाद पर झूठी आस्था करता रहा।

(५) **ब्रिटिश जनता के विचार**—ब्रिटेन का जनमत अत्यन्त जाग्रत माना जाता है। इसलिए इस सम्बन्ध में एक और प्रश्न किया जा सकता है। वहाँ की जागरूक जनता ने अपने शासकों की सन्तुष्टीकरण की नीति का विरोध क्यों नहीं किया। इसके मूल में भी एक महत्त्वपूर्ण बात थी। ब्रिटेन के लोगों में यह सामान्य विश्वास था कि वर्साय की सन्धि अत्यन्त कठोर और अन्यायपूर्ण है और यूरोप में स्थायी शान्ति तभी कायम हो सकती है जब इन अन्यायों को दूर करके जर्मन को उपयुक्त स्थान दे दिया जाय। हिटलर ब्रिटेन के निवासियों के इस विचार से पूर्ण परिचित था और उसने प्रचार करके ब्रिटेन के निवासियों को अपने पक्ष में बनाये रखने का भरपूर यत्न किया। इसमें उसको सफलता भी काफी मिली।

(६) **ब्रिटेन की दुर्बलता**—ब्रिटेन की आन्तरिक और सैनिक दुर्बलता भी सन्तुष्टीकरण की नीति का एक कारण था। १९३० के बाद ब्रिटेन की आर्थिक व्यवस्था एकदम चौपट हो

गयी थी और उपनिवेशों में राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ गया था। ऐसी हालत में ब्रिटेन की स्थिति बहुत खराब हो चली थी। चेकोस्लोवाकिया कांड के समय जब सन्तुष्टीकरण की नीति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची तो उस समय ब्रिटेन ने म्यूनिख का समझौता इसलिए कर लिया कि उसकी सैनिक शक्ति कमजोर थी। ऐसा समझा जाता है कि उस समय ब्रिटेन के पास हिटलर के आक्रमण को रोकने का सामर्थ्य नहीं था।[1]

(७) चेम्बरलेन का व्यक्तित्व—तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चेम्बरलेन सन्तुष्टीकरण की नीति का प्रतीक था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्बन्ध में इस व्यक्ति के कुछ अपने विचार थे। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए वह सम्मेलनों और समझौतों पर अधिक जोर देता था और युद्ध से बचना चाहता था। उसने बार-बार सम्मेलनों द्वारा सभी समस्याओं का हल करने पर बल दिया। हार्डी साहब चेम्बरलेन के इस धारणा को म्यूनिख समझौता का वास्तविक कारण मानते हैं।[2] उसका विश्वास था कि यदि हिटलर और मुसोलिनी की कुछ शिकायतें दूर कर दी जायँ तो वे सन्तुष्ट हो जायँगे और सभी समस्याओं का शान्तिपूर्ण हल निकल आवेगा। लेकिन यह उसकी गलती थी। उसकी सबसे बड़ी भूल इस विश्वास का भ्रान्तिपूर्ण होना था कि हिटलर और मुसोलिनी की तृष्णा और आकांक्षा को शान्त भी किया जा सकता है। वह उसके साथियों का यह भ्रान्त विश्वास था कि "छोटे राष्ट्रों को भेड़ियों के आगे डालने से उसको सन्तुष्ट किया जा सकता है, पर वे यह नहीं समझ सके कि एक लहू का स्वाद लग जाने पर तृष्णा कभी पूर्ण नहीं होती। जितना सन्तुष्टीकरण किया जायगा उतना ही असन्तोष बढ़ेगा।"[3]

(घ) संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति (१९१९-३९)

विषय प्रवेश—१७७६ के अमरीकी स्वातन्त्र्य संग्राम के फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका का एक राष्ट्र के रूप में जन्म हुआ था। १७८३ के अन्त तक इस नये राज्य को संसार के सभी राज्यों की मान्यता प्राप्त हो गयी, जिसके फलस्वरूप अमेरिका राष्ट्रों के परिवार का एक सदस्य बन गया। अमेरिका के इतिहास की एक मुख्य विशेषता यह है कि जन्म से लेकर आज तक यह बे-रोक-टोक प्रगति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है। १८१२ में ब्रिटेन के साथ युद्ध और १८६१ के गृह युद्ध को छोड़कर अमेरिका की भूमि पर एक भी विध्वंसकारी युद्ध नहीं हुआ है। फलस्वरूप अमेरिका की प्रगति में कोई बाधा नहीं पड़ी है और उसकी उन्नति दिन दूनी रात चौगनी होती जा रही है। अमेरिका के साथ सोवियत संघ की प्रगति की तुलना करते समय हमें इस तथ्य पर ध्यान रखना चाहिए।

पार्थक्यवाद—जन्म-काल की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से मजबूर होकर अमेरिका के इस नये रिपब्लिक को तटस्थता की नीति का सहारा लेना पड़ा। इस नीति का जन्मदाता थोमस जेफर्सन था। 'शान्तिपूर्ण व्यापार सबके साथ, पर झंझट पैदा करनेवाली संधियाँ किसी के साथ भी नहीं' इस नीति का मुख्य आधार था। इसका मतलब यह था कि अमेरिका यूरोपीय

1. David Thomson, *Europe Since Napoleon*, p. 709.
2. C. Hardy, *A Short History of International Affairs*, p. 477.
3. Schuman, *International Politics*, p. 604.

देशों के साथ व्यापार करे; लेकिन यूरोपीय राजनीति के फन्दे में नहीं फँसे। फ्रांसीसी क्रान्ति के होने तक यह अमरीकी विदेश-नीति का मुख्य स्तम्भ बना रहा।

मुनरो-सिद्धान्त—१८२३ में मुनरो-सिद्धान्त के प्रतिपादन से अमरीकी विदेश-नीति के इतिहास में एक दूसरा अध्याय शुरू हुआ। यह सिद्धान्त यूरोपीय राज्यों के लिए एक चेतावनी था जिसके अनुसार तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति मुनरो ने उनको अमरीकी महाद्वीप के मामलों में हस्तक्षेप करने की मनाही की थी। 'हम यह बता देना चाहते हैं कि यदि उन्होंने (यूरोपीय राज्यों) अपनी प्रणाली को इस गोलार्द्ध में फैलाने का कोई यत्न किया तो उनके इस यत्न को हमारी शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा समझा जायगा।…यदि किसी यूरोपीय राष्ट्र द्वारा हस्तक्षेप किया गया तो हम उसे संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति अमित्रतापूर्ण रुख के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं समझ सकेंगे।' दूसरे शब्दों में यूरोपीय राज्यों को अमरीकी गोलार्द्ध की राजनीति से दूर रहने को कहा गया। इस सिद्धान्त का यह भी मतलब था कि यूरोपीय लोग चाहें तो अमरीकी देशों के साथ व्यापार कर सकते हैं; पर उसकी राजनीति में दखल नहीं दे सकते।

अमरीकी साम्राज्यवाद—जेफर्सन-सिद्धान्त और मुनरो सिद्धान्त को ध्यान में रखकर यह कहा जाता है कि अमेरिका विश्व-राजनीति में पृथकता (isolation) की नीति का अनुसरण करता रहा है। मुनरो-सिद्धान्त का असल ध्येय लैटिन-अमेरिका के देशों पर से यूरोपीय साम्राज्यवाद को हटाकर अमरीकी साम्राज्यवाद कायम करना था। अमेरिका में यूरोप का हस्तक्षेप नहीं हो, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अमरीकी प्रजातन्त्रों में संयुक्त राज्य अमेरिका का हस्तक्षेप नहीं हो। वास्तव में मुनरो सिद्धान्त के द्वारा अमेरिका के साम्राज्यवादी जीवन की नींव पड़ी और सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में अमरीकी विदेश-नीति का मुख्य लक्ष्य साम्राज्यवादी प्रसार था। इसी सिद्धान्त के अनुसार उसने लैटिन-अमेरिका के प्रजातन्त्रों पर अपना प्रभाव जमाया और इस प्रभाव को सुदृढ़ करने के लिए पनामा-नहर खुदवायी। उसने पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया। १८३८ में मेक्सिको के साथ युद्ध करके उसने कैलिफोर्निया, नवेडा, उटा, अरीजोना और न्यू मेक्सिको पर अपना अधिकार जमाया। १८९८ में उसने स्पेन से युद्ध करके उससे फिलिपाइन द्वीपसमूह, प्यूर्टोरिको और क्यूबा छिन लिये। उसी वर्ष हवाई के कुछ अमरीकी निवासियों के अनुरोध का बहाना कर उसने हवाई द्वीपसमूह को अपने साम्राज्य में मिला लिया। १९०० में उसने पनामा नहर के इलाके पर अपना आधिपत्य कर लिया और इसके बाद यह घोषित किया कि उसे पड़ोस के लैटिन अमरीकी देशों में शान्ति-सुव्यवस्था कायम करने का अधिकार है। लैटिन अमेरिका के देशों में बराबर गड़बड़ी मची रहती थी और संयुक्त राज्य अमेरिका इन अव्यवस्थाओं से नाजायज लाभ उठाता रहा। व्यवस्था के नाम पर उसने निकारगुवा, हायटी आदि राज्यों पर अपना राजनीतिक प्रभाव कायम किया। यह बात ठीक है कि ये देश संयुक्त राज्य अमेरिका में नहीं मिलाये गये, पर इन पर उसका आर्थिक प्रभाव कायम हो गया। व्यावहारिक दृष्टिकोण से उनकी स्थिति पूर्णतया अमेरिका के संरक्षित राज्यों जैसी थी। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि अमेरिका का इतिहास उतना ही साम्राज्यवादी है जितना फ्रांस या ब्रिटेन का।

अमेरिका ने जापान पर भी अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयास किया, यद्यपि इसमें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। वास्तव में जापान का दरवाजा खोलने का श्रेय अमेरिका

को ही प्राप्त है। १८५३ में अमेरिकी नौ सेना के एक कमोडोर पेरी ने जापान को डरा-धमका कर उसके साथ कुछ सन्धियाँ की और अनेक सुविधाएँ प्राप्त की। अमेरिका चीन का शोषण करने में भी पीछे नही रहा। लेकिन, जिस समय अमेरिका चीन के रंग-मंच पर उपस्थित हुआ उस समय तक यूरोप के विभिन्न राज्य उनके शोषण में जुट चुके थे। अतएव अमेरिका को इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के लिए एक नयी नीति का आश्रय लेना पड़ा जिसे 'खुले दरवाजे की नीति' कहते हैं। इसका अर्थ था कि सभी विदेशियों को समान रूप से चीन का शोषण करने की सुविधा मिले और किसी के साथ कोई खास रियायत नहीं हो। इस नीति को कार्यान्वित करने से अमेरिका को काफी लाभ हुआ। जब शोषण के विरुद्ध चीन में १९०० का बोक्सर-विद्रोह हुआ तो इसको दबाने में अमेरिका भी पीछे नहीं रहा। बोक्सर के राष्ट्रीय विद्रोह को क्रूरता से दबाने में अमेरिका का उतना ही हाथ रहा जितना किसी अन्य यूरोपीय साम्राज्यवादी देश का। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में विश्व-राजनीति के क्षेत्र में अमेरिका का जबरदस्त हिस्सा रहा है। इन सब बातों को देखकर यह कहा जा सकता है कि अमेरीकी विदेश-नीति के लिए 'पृथकता' शब्द का प्रयोग करना उस शब्द का दुरुपयोग करना है। कहने के लिए तो वह विश्व-राजनीति के भँवर-जाल से अलग रहा, किन्तु वास्तविकता इससे कोसों दूर है। राष्ट्रीय स्वार्थ की रक्षा सफल विदेश नीति की एक कसौटी मानी जाती है और इस कसौटी पर अमरीकी विदेश नीति काफी सफल सिद्ध हुई। जिस समय अमेरिका के स्वार्थ पर खतरा पहुँचा तो वह विश्व-राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगा और उसे स्वार्थ की पूर्ति हो जाने के बाद वह विश्व-राजनीति से सन्यास लेकर एकान्तवास करने लगा। अमरीकी 'पृथकता' की नीति का वास्तविक अर्थ यही है।

विश्व-राजनीति में दिलचस्पी—बीसवी सदी के प्रारम्भ से अमेरिका विश्व राजनीति में महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगा। १९०१ में थियोडोर रूजवेल्ट अमेरिका का राष्ट्रपति हुआ और उसी के समय से अमेरिका संसार में अपना हाथ-पाँव फैलाने लगा। इस समय अमेरीकी सरकार ने एकाएक यह अनुभव किया कि संयुक्त राज्य वास्तव में विश्व की एक महान् शक्ति है और उसे विश्व की समस्याओं से दिलचस्पी लेनी चाहिए। इस अनुभव के प्रथम शिकार लैटिन अमेरिका के पड़ोसी देश ही हुए। लेकिन, इसके साथ-साथ अमेरिका अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में भी दिलचस्पी लेता रहा। १९०५ के रूस-जापान-युद्ध का अन्त कराने के लिए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सफलतापूर्वक हस्तक्षेप किया जिसके फलस्वरूप इस युद्ध का अन्त हुआ। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि उसका यह हस्तक्षेप युद्ध का अन्त कराकर शान्ति स्थापित करने के पवित्र उद्देश्य से नही हुआ, वल्कि एशिया के एक देश जापान की विजय को महत्ता कम करने के उद्देश्य से हुआ था। १९०६ में मोरक्को को लेकर फ्रांस और जर्मनी का झगड़ा शुरु हुआ। संयुक्त राज्य ने इस मामले में भी मध्यस्थता की और फ्रांस तथा जर्मनी में बीच-बचाव कराकर यूरोपीय शान्ति को भंग होने से बचाया। इसके अतिरिक्त रूजवेल्ट ने हेग-पंचायती न्यायालय का समर्थन किया और वहाँ दो वड़े अन्तर्राष्ट्रीय मुकदमे भेजे। किन्तु इतना होने पर भी अमेरिका अपने को यूरोप के झगड़ों से दूर रखकर तटस्थता की नीति पर ही डटा रहना चाहता था।

अमेरिका और विश्व-युद्ध—जिस समय अमेरिका मेक्सिको के साथ एक झगड़ा में फँसा हुआ था उसी समय यूरोप में विश्व-युद्ध छिड़ गया। अमेरिका में बहुत बड़ी संख्या में जर्मन

जाति निवास करती थी। उनकी सहानुभूति जर्मनी के पक्ष में थी। लेकिन अधिकांश अमरीकी ब्रिटेन और फ्रांस के पक्षपाती थे और युद्ध में वे फ्रांस और ब्रिटेन की विजय की कामना करते थे। उस समय अमेरिका का राष्ट्रपति वुडरो विल्सन था। वह अमेरिका को यूरोपीय युद्ध में फँसने से ढाई वर्षों तक बचाये रखा। इस बीच अमेरिका के पूँजीपति यूरोपीय युद्ध से आर्थिक लाभ उठाते रहे। अमेरीकियों ने फ्रांस, ब्रिटेन तथा जर्मनी को बड़ी-बड़ी रकम कर्ज में दे दी। अमेरिका के कल-कारखाने युद्धोपयोगी सामग्री बनाते रहे और युद्धरत देशों के हाथ इन चीजों को बेचकर उन लोगों ने खूब मुनाफा कमाया। किन्तु बात यहीं तक सीमित नहीं रही। १६१५ में जर्मन पनडुब्बियों ने एक ब्रिटिश-जहाज को डुबा दिया, जिसके कारण सैकड़ों अमरीकियों की जानें चली गयी। सारे अमेरिका में क्रोध का तूफान उमड़ पड़ा। इतना होने पर भी विल्सन ने अमेरिका को युद्ध में सम्मिलित नहीं होने दिया। किन्तु १६१७ के प्रारम्भ में जब जर्मनी ने अनियन्त्रित पनडुब्बी युद्ध की घोषणा की, तो अमेरिका का युद्ध में प्रवेश अवश्यम्भावी हो गया। जब अमरीकी जहाज बेरोक-टोक डुबाये जाने लगे तो विल्सन ने कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया और ६ अप्रिल, १६१७ को अमेरिका मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में प्रवेश कर गया। युद्ध में उसने मुस्तैदी के साथ काम किया और विजय प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी। अमेरिका अपने प्रयास में सफल हुआ और उसकी मदद से मित्रराष्ट्र युद्ध में विजयी हुए।

एक ओर जहाँ युद्ध जीतने के लिए अमेरिका द्वारा मुस्तैदी से कार्रवाइयाँ की जा रही थीं वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रपति विल्सन शान्ति के लिए प्रयास भी कर रहे थे। वास्तव में विल्सन ने १६१८ में ही शान्ति-स्थापना के लिए प्रयास किये थे। परन्तु, जर्मनी ने उनके प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। १९१८ के आरम्भ में उसने अमेरिका की कांग्रेस के सम्मुख शान्ति-स्थापना का अपना वह कार्यक्रम पेश किया, जिसके आधार पर वह युद्धोत्तर संसार का निर्माण करना चाहता था। वह विल्सन का प्रसिद्ध 'चौदह-सूत्र' था और इसी सूत्र के आधार पर युद्ध का अन्त भी हुआ।

शान्ति सम्मेलन में विल्सन—१९१८ के अन्तिम दिनों में विल्सन यूरोप की जनता में सबसे अधिक लोकप्रिय राजनेता था। वह एक ऐसे राज्य का प्रधान था, जिसकी मदद से प्रथम विश्व-युद्ध जीतना सम्भव हो सका था। इसके अतिरिक्त विल्सन का अपना व्यक्तित्व भी था। युद्ध से तंग आकर जनता शान्ति चाहती थी और विल्सन उस समय शान्ति के अग्रदूत का काम कर रहा था। इन सब कारणों से युद्धोत्तर काल के राजनीतिज्ञों में विल्सन का स्थान एक नायक के सदृश था। एक बहुत बड़े अवसर पर असीमित जिम्मेवारी लेकर विल्सन शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने के लिए यूरोप रवाना हुआ।

एक सुसंगठित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को कायम करना विल्सन की सबसे बड़ी अभिलाषा थी। राष्ट्रसंघ वास्तव में विल्सन का सृजन था और इनको विश्व-शान्ति का प्रभावशाली यन्त्र बनाने की दिशा में उसने कोई कसर नहीं उठा रखी। उसी के जोर पर राष्ट्रसंघ को वर्साय-सन्धि का एक अभिन्न अंग बनाया गया। पेरिस शान्ति-सम्मेलन में उसके 'चौदह सूत्रों' की खिल्ली उड़ायी गयी। लेकिन, आदर्शवादी विल्सन एक ऐसा युगपुरुष था, जो अपने आदर्शों से डिगनेवाला नहीं था। इसकी स्थापना के लिए वह अन्त तक लड़ता रहा। पर दुर्भाग्य की बात थी कि उसके आदर्शों की इज्जत स्वयं अमेरिका में ही नहीं हुई।

पार्थक्यवाद का पुनरावर्तन—युद्ध के बाद अमेरिका के प्रमुख राजनीतिज्ञ पुनः पृथकता की नीति का समर्थक बन गये। यूरोपीय राजनीति में अमरीकी हस्तक्षेप 'फिर कभी नही हो' उनका सिद्धान्त था। नवम्बर, १९१८ में अमेरिका में आम चुनाव हुआ, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रपति विलसन की डिमोक्रेटिक पार्टी को सिनेट और कांग्रेस में बहुमत प्राप्त नही हो सका। अमरीकी जनता ने युद्ध में वड़ी मुस्तैदी से भाग लिया था; किन्तु युद्धोत्तर समस्या को सुलझाने में वह अन्यमनस्कता दिखलाने लगी। पेरिस शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने के लिए विलसन स्वयं पेरिस गया था। इससे बहुत से अमरीकी उससे विगड़े हुए थे। उनके विचार में इससे अमेरिका की प्रतिष्ठा पर बट्टा लग रहा था। कांग्रेस में रिपब्लिकन पार्टी का बहुमत था। वे राष्ट्रपति से अत्यधिक विगड़े हुए थे; क्योंकि पेरिस शान्ति-सम्मेलन के अमरीकी प्रतिनिधि-मण्डल में एक भी रिपब्लिकन प्रतिनिधि नही सम्मिलित किया गया था। अतः उन्होने डटकर विलसन की विदेश-नीति का विरोध किया। कांग्रेस वर्साय-सन्धि तथा राष्ट्रसंघ का समर्थन करने के लिए तैयार नही हुई। विल्सन की सबसे वड़ी अभिलाषा थी कि कम-से-कम अमेरिका राष्ट्रसंघ को मानकर उसका सदस्य बन जाय। राष्ट्रसंघ उसके राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी सफलता थी और अमेरिका द्वारा इसका ठुकराया जाना वह नहीं देखना चाहता था। कांग्रेस से निराश होकर वह अमरीकी जनता की तरफ मुड़ा। उसने रेडियो से अपील की और समूचे देश का दौरा करके राष्ट्रसंघ के प्रश्न को सीधे जनता के समक्ष रखा। किन्तु उसके इस अथक प्रयत्न का कोई फल नही निकला। मार्च, १९२० में सिनेट ने वर्साय-सन्धि और राष्ट्रसंघ की योजना को बिल्कुल नामंजूर कर दिया। लगभग दो वर्ष तक विलसन सिनेट के विरोध में लड़ता रहा। जब उसकी विजय की कोई आशा नहीं रही तो उसका दिल टूट गया। यह सदमा इतना जबरदस्त था कि विल्सन उसको सह नही सका और उसकी मृत्यु हो गयी। विल्सन की मृत्यु के बाद यह झगड़ा समाप्त हुआ। नवम्बर, १९२० के चुनाव में विलसन के एक समर्थक की हार हो गयी और सिनेट रिपब्लिकन सदस्य वारेन हार्डिंज अमेरिका के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। मार्च, १९२१ में नये राष्ट्रपति ने घोषणा की कि राष्ट्रसंघ के कार्यों में अमरीकी सरकार कोई भाग नही लेगी। वर्साय सन्धि के साथ-साथ अन्य सन्धियों को भी रद्द कर दिया गया और उसकी जगह पर अमेरिका ने जर्मन, आस्ट्रिया और हंगरी से पृथक्-पृथक् शान्ति संधियाँ कीं। आरम्भ से ही अमेरिका द्वारा भाग न लेने से राष्ट्रसंघ की बड़ी क्षति पहुँची, क्योंकि इससे राष्ट्रसंघ को एक बड़े राष्ट्र का नैतिक समर्थन और सहयोग प्राप्त नही हो सका।

पुनरावर्तन के कारण—इस प्रकार विलसन के आदर्शवादी राजनीतिक जीवन का दुर्भाग्यपूर्ण अन्त हुआ। बीसवीं शताब्दी का ईसामसीह, शान्ति के मन्दिर का सर्वोच्च पुजारी, संसार के नैतिकता और आध्यात्मिक शक्तियों का प्रवक्ता, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और न्याय की प्रति-मूर्ति, मानवता का पथ-प्रदर्शक और धर्म का अवतार राष्ट्रपति विलसन, जिसका सारा जीवन राजनीति-शास्त्र के अध्यापन में व्यतीत हुआ था, वह थोड़े से व्यक्तियों के स्वार्थ के सम्मुख शक्ति-हीन हो गया। मानव सभ्यता के इतिहास में वह बहुत बड़ी दर्दनाक घटना थी। अमेरिका ने अपने इतने बड़े चरित्रवान् और आदर्शवादी राष्ट्रपति के सिद्धान्तों को अस्वीकृत क्यों कर दिया ? इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिये जाते है। पहली बात यह कही जाती है कि अमेरिका की परम्परा से ही पृथकता की नीति का अवलम्बन करता रहा है। परिस्थिति से बाध्य

होकर अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हुआ था और एक बार जब युद्ध समाप्त हो गया तो विश्व-राजनीति में दिलचस्पी लेना अमेरिका के लिए कोई आवश्यक नहीं रह गया। यूरोपीय राजनीति में दिलचस्पी लेने का अर्थ था तरह-तरह की झंझटों में अमेरिका को फँसाये रखना। पर अमरीकी जनता इस बात के लिए तैयार नहीं थी; क्योंकि इससे अमेरिका की प्रगति में बाधा पड़ सकती थी। इसीलिए अमरीकी जनता ने विल्सन के उम्मीदवार को आम चुनाव में अस्वीकृत कर दिया।

राष्ट्रसंघ-विधान की दसवीं धारा के सम्बन्ध में अमेरिका में जबरदस्त विरोध था। यह धारा सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को प्रतिपादित करती थी, जिसके अनुसार आक्रमणकारी के खिलाफ सैनिक और आर्थिक कार्रवाई भी की जा सकती थी। राष्ट्रसंघ के विरोधियों का कहना था कि इस धारा के अनुसार अमेरिका को अन्य देशों की झंझटों में व्यर्थ ही फँसना पड़ेगा। इस तरह के अनेक कारण युद्धोत्तर अमेरिका की पृथकतावादी नीति के पक्ष में दिये जाते हैं और वे बहुत अंश में ठीक भी हैं। पर विल्सन के किये-कराये कामों से अपना नाता तोड़ने का वास्तविक कारण कुछ और भी था। विल्सन अपने युग का सबसे बड़ा आदर्शवादी था। वह संसार से युद्ध का अन्त कर देना चाहता था। प्रथम विश्व-युद्ध को वह मानवता का अन्तिम युद्ध समझता था। उसी के शब्दों में यह युद्ध, युद्ध का अन्त करने के लिए लड़ा गया था। दूसरी तरफ अमेरिका में युद्ध के फलस्वरूप एक ऐसे वर्ग की उत्पत्ति हो चुकी थी, जिसका स्वार्थ युद्ध होने पर ही सधता था। युद्धोपयोगी सामग्री बनानेवाला यह उद्योगपति-वर्ग अमेरिका के राजनीतिक जीवन में काफी प्रभावशाली वर्ग था और इन लोगों ने जानबूझकर ऐसा षड्यन्त्र रचा, जिससे विल्सन के सिद्धान्त और विश्व-शान्ति का प्रतीक राष्ट्रसंघ सफल नहीं हो सके—संसार शान्ति के लिए संरक्षित नहीं हो सके। वास्तविक बात यह थी कि अमेरिका विल्सन-जैसे व्यक्ति के लिए उपयुक्त स्थान था ही नहीं।

पूर्वी एशिया में दिलचस्पी—यूरोपीय राजनीति के सम्बन्ध में अमेरिका भले ही पृथकता की नीति का अनुसरण करे, पर पूर्वी एशिया में अमेरिका अपनी गम्भीर उदासीनता की नीति पर स्थिर नहीं रह सकता था। युद्ध समाप्त होने के बाद जापान प्रशांत महासागर का बहुत शक्तिशाली राष्ट्र बन चुका था। उसके पास बड़े-बड़े समुद्री बेड़े थे और संसार में वह तीसरे नम्बर का सामुद्रिक शक्ति हो गया था। जापान इस क्षेत्र में अपना प्रभुत्व जमाने की कोशिश कर रहा था। इससे अमरीकी लोगों को बड़ी चिन्ता हो रही थी। उन्होंने पृथकता की नीति का कुछ समय के लिए परित्याग कर देना ही ठीक समझा और नवम्बर, १९२१ में प्रशान्त महासागर की समस्याओं तथा नौ-सेना को सीमित करने के उद्देश्य से वाशिंगटन-सम्मेलन का आयोजन किया। इसके सम्बन्ध में हम आगे पढ़ेंगे।

राष्ट्रसंघ से सहयोग—१९२७ में वह जेनेवा-नौ-सेना-सम्मेलन में भी शामिल हुआ। १९२८ में उसने पेरिस-पैक्ट को लागू करने में अपना जबरदस्त समर्थन दिया। साथ ही राष्ट्रसंघ के कामों में जहाँ-तहाँ सहयोग किया। राष्ट्रसंघ के बहुत-से सम्मेलनों में उसने निरीक्षकों और प्रतिनिधियों को भेजा। १९३१ में वह राष्ट्रसंघ की कौंसिल के साथ मंचूरिया-संकट पर अपना सहयोग दिया। राष्ट्रसंघ-निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में अमेरिका ने भाग लिया। जब १९३२ में

रूजवेल्ट राष्ट्रपति बना और कार्डल हल विदेश-सचिव तो राष्ट्रसंघ के साथ अमेरिका का सहयोग और भी बढ़ गया। १९३४ में अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ का सदस्य बन गया।

यूरोपीय समस्याएँ और अमेरिका—प्रथम विश्व-युद्ध से उत्पन्न आर्थिक समस्याओं का हल करने में अमेरिका ने दिलचस्पी दिखायी। डावस-योजना के अन्तर्गत उसने क्षतिपूर्त्ति अदा करने के लिए जर्मनी को काफी कर्ज दिये। क्षतिपूर्त्ति और युद्ध-ऋण समस्याओं पर विचार करने के लिए वह अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सम्मिलित हुआ। जब संसार बहुत बड़े आर्थिक संकट के चंगुल में फँस गया तो अमेरिका ने हूवर-मुहलत की घोषणा की। वह १९३० के विश्व-अर्थ-सम्मेलन में भी सम्मिलित हुआ। इस तरह युद्धोत्तर काल में किसी-न-किसी रूप में अमेरिका विश्व-राजनीति में दिलचस्पी लेता ही रहा।

तटस्थता कानून—अन्य क्षेत्रों में संयुक्त राज्य अमेरिका बिलकुल पृथकता की नीति को अपनाये रहा। १८२० से १९२९ तक के बीच में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न संयुक्त राज्य में बाहर से आकर बसनेवालों का प्रश्न था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही यूरोप और एशिया से बहुत से लोग आकर अमेरिका में बसने लगे थे। विदेशियों को इस बाढ़ को रोकने के लिए १९२१ और १९२४ के बीच अमरीकी कांग्रेस ने दो कानून पास किये। इसमें बाहर से आनेवाले लोगों की संख्या निश्चित कर दी गयी और एशिया के लोगों पर विशेष प्रकार का प्रतिबन्ध लगाया गया। बारह वर्षों तक अमेरिका के प्रत्येक राष्ट्रपति इस बात का प्रयास करते रहे कि अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का सदस्य बन जाय। इस पर अमेरिका में काफी बहस हुई और तरह-तरह की योजनाएँ उपस्थित की गयी। किन्तु, १९३५ में सिनेट ने इस प्रस्ताव को सदा के लिए नामंजूर कर दिया। इसके पहले १९३३ में अमेरिका ने सोवियत संघ को कूटनीतिक मान्यता प्रदान करके एक बहुत बड़ा काम किया। इसके बाद अमेरिका सोवियत-संघ को विकास-योजनाओं में अपना योगदान देने लगा।

१९३० के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का वातावरण दूषित होने लगा। ऐसी स्थिति में रिपब्लिक पार्टी ने कठोर तटस्थता की नीति का अनुसरण किया। यूरोप के बहुत-राज्य अमेरिका के युद्धकालीन कर्ज नहीं चुका रहे थे। भविष्य में इस तरह की घटना को रोकने के लिए १९३४ में कांग्रेस ने जॉन्सन-ऐक्ट पास किया, जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि कोई भी सरकार जिसने अमेरिका के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को नहीं निभाया है उसे आगे कर्ज नहीं दिया जा सकता। जब युद्ध के काले बादल मड़राने लगे तो भावी युद्ध से बचने के लिए कांग्रेस ने १९३४-३७ के बीच अनेक तटस्थता कानून पास किये, जिसके अनुसार यह तय किया गया कि किसी युद्धरत देश के साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायगा, अमेरिका से युद्ध सामग्री नहीं भेजी जायगी और कोई अमरीकी नागरिक युद्धरत देशों के जहाज पर नहीं चलेगा।

तटस्थता की नीति के परिणाम—तटस्थता की इस नीति का परिणाम अच्छा नहीं हुआ; क्योंकि इससे आक्रमणकारी प्रवृत्तियों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। चीन पर जापानी आक्रमण का राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा कड़ी आलोचना तथा मंचूकाओ सरकार को स्वीकार नहीं करने से ही काम चलनेवाला नहीं था। फासिस्ट शक्तियों के पक्ष में सबसे बड़ी बात यह थी कि अपने को जनतन्त्र का हामी भरनेवाला अमेरिका चुपचाप बैठा हुआ था और

फासिस्ट आक्रमणों के खिलाफ ऊँगली भी नहीं उठा रहा था। अतः १९३५ में इटली ने इथोपिया पर हमला किया। १९३६ में स्पेन में गृह-युद्ध शुरू हुआ और स्पेन के गणतान्त्रिक समर्थकों को उससे कोई मदद नहीं मिली। उधर यूरोप में निरस्त्रीकरण-सम्मेलन असफल हो चुका था और प्रशान्त महासागर में जापान का प्रभुत्व दिनों-दिन बढ़ रहा था। ऐसी स्थिति में अमेरिका चुप बैठनेवाला नहीं था। हो सकता है कि कभी ऐसा दिन भी आये जब अमेरिका का राष्ट्रीय स्वार्थ भी खतरे में पड़ जाय। धीरे-धीरे अमेरिका का जनमत यूरोप में हस्तक्षेप करने के पक्ष में होने लगा। बहुत लोगों ने समझा कि फासिस्ट शक्तियों की प्रगति नहीं रोकने से आक्रमणकारियों को सहायता मिल रही है। अमरीकी सरकार अब इस बात की चेष्टा करने लगी कि मौका पड़ने पर यूरोप के मामलों में सक्रिय भाग लिया जाय। अमेरिका को सबसे अधिक भय जापान की बढ़ती हुई शक्ति से था। अतएव सुरक्षा के लिए बजट में बड़ी-बड़ी रकमों की व्यवस्था की गयी। थल-सेना, नौ-सेना और वायु सेना में अत्यधिक वृद्धि की गयी। रूजवेल्ट बार-बार हिटलर और मुसोलिनी से आक्रमण न करने तथा छोटे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता कायम रखने की अपील करता रहा; पर हिटलर ने जर्मन संसद् में भाषण करते हुए रूजवेल्ट की अपील को मजाक में उड़ा दिया। १९३७ की तटस्थता कानून जो 'दाम चुकाओ और माल ले जाओ' के सिद्धान्त पर बना था, उसकी अवधि मई, १९३९ में समाप्त होनेवाली थी। अमेरीकी सिनेट ने इस ऐक्ट को फिर से नया जीवन दिया; पर अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति खराब होने पर अमेरिका में ऐसे बहुत लोग थे जो अभी भी तटस्थता की नीति के घोर पक्षपाती थे। अमेरिका अभी अपनी स्थिति को निश्चित भी नहीं कर सका था कि १ सितम्बर, १९३९ को हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया और द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया।

लैटिन अमेरिका के साथ सम्बन्ध—

यद्यपि अमेरिका, यूरोप तथा सुदूरपूर्व के बखेड़ों से अपने-आपको पृथक् रखने का प्रयत्न करता रहा, किन्तु इसके साथ ही-साथ वह अन्य अमरीकी देशों के अधिकाधिक निकट आने का प्रयत्न भी करता रहा। लैटिन-अमेरिका के कुछ देशों ने राष्ट्रसंघ का स्वागत इसलिए किया था कि इससे उनके देशों में संयुक्त राज्य का हस्तक्षेप कम हो जायगा। बहुत-से अमरीकी देशों ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार कर ली थी। लेकिन, जैसे-जैसे समय बीतता गया और उसकी कमजोरी स्पष्ट होती गयी, वैसे-वैसे वे राष्ट्रसंघ की ओर से विमुख होते गये। १९२६ में ब्राजिल और १९३६ में गुआटेमाला, होन्डुरोस और निकारागुआ, संयुक्त राज्य का अनुकरण करते हुए, राष्ट्रसंघ से अलग हो गये, पर लैटिन-अमेरिका के देश अमेरिका के 'डालर-साम्राज्यवाद' से काफी डरते थे। इन देशों पर अपना आर्थिक नियन्त्रण कायम करना संयुक्त राज्य की परम्परागत नीति थी। मुनरो-सिद्धान्त का यह अर्थ लगाया जाता था कि आवश्यकता पड़ने पर अमरीकी गोलार्ध के मामलों में हस्तक्षेप करना संयुक्त राज्य का अधिकार है। १९०३ में संयुक्त राज्य और क्यूबा में एक सन्धि हुई थी। इस सन्धि के अनुसार संयुक्त राज्य को यह अधिकार दिया गया था कि वह उस देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है। हैटी और निकारागुआ में अमरीकी जहाज युद्ध के पूर्व से ही रहते थे। इसी तरह लैटिन अमेरिका के अन्य देशों पर भी संयुक्त राज्य का आधिपत्य कायम रहा। कोई भी राज्य उसकी इच्छाओं के

विरुद्ध किसी प्रकार का महत्त्वपूर्ण काम नहीं कर सकता था, पर १९३० के बाद इस क्षेत्र में अमरीकी नीति में कुछ परिवर्तन होने लगे। १९३३ के प्रारम्भ में निकारागुआ से अमरीकी समुद्री बेड़े हटा लिये गये और तथाकथित 'अच्छे पड़ोसी की नीति' (good neighbour policy) का श्रीगणेश किया गया। विश्वव्यापी आर्थिक संकट और फासिज्म के उत्थान के कारण अमरीकी नीति में आवश्यक परिवर्तन जरूरी हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका इन देशों की सहानुभूति प्राप्त करके एक अपना अलग गुट बनाना चाहता था। १९३३ में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अपने एक भाषण के सिलसिले में कहा कि "यह राष्ट्र लैटिन अमेरिका के देशों के साथ अच्छे पड़ोसी की तरह बर्ताव रखना चाहता है।" इन शब्दों का अर्थ यह लगा कि संयुक्त राज्य अपने अभी तक के रुख को बदल कर नयी नीति का अवलम्बन करना चाहता है। इसी वर्ष मोन्टेविडो में सातवीं अखिल अमरीकी महासभा हुई। संयुक्त राज्य के विदेश-सचिव ने इसमें भाग लिया और समझौतापूर्ण शब्दों में एक भाषण किया। १९३४ में १९०३ की क्यूबा से की गयी सन्धि को रद्द कर दिया गया और हैटी संयुक्त राज्य का जहाजी बेड़ा अन्तिम रूप से हटा दिया गया। १९३६ में, अपने पुनर्निर्वाचन के तुरत बाद ही, राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने शान्ति को सुरक्षित करने के लिए, एक अन्तर-अमरीकी सम्मेलन के लिए लैटिन अमेरिका के देशों को आमन्त्रित किया। दिसम्बर, १९३६ में ब्यूनोएयर्स में वह सम्मेलन हुआ और राष्ट्रपति रूजवेल्ट स्वयं इसमें सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में एक सन्धि स्वीकार की गयी, जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गयी कि 'यदि किसी भी अमरीकी गणतन्त्र की शान्ति को कोई खतरा उत्पन्न हुआ तो हस्ताक्षरकर्त्ता शान्तिपूर्ण सहयोग के कदम उठाने पर परामर्श करेंगे।'

पर संयुक्त राज्य और लैटिन-अमेरिका के देशों के बीच अधिकाधिक मेलजोल होना आसान बात नहीं थी। लैटिन-अमेरिका के देश संयुक्त राज्य के आर्थिक नियंत्रण से अत्यन्त असन्तुष्ट थे। उनकी आर्थिक व्यवस्था संयुक्त राज्य के द्वारा इस तरह नियन्त्रित की जाती थी कि जिससे उनका अत्यधिक घाटा उठाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य और लैटिन-अमेरिका के राजनीतिक संगठनों में मूल भेद था। स्पेन में फ्रैंको की विजय की खुशी लैटिन अमेरिका के बहुत से देशों में मनायी गयी। नात्सी और फासिस्ट लोगों के एजेण्ट लैटिन-अमेरिका के देशों में अमरीकी विरोधी प्रचार करते थे। इन सब बातों के बावजूद द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ने के पूर्व अमरीकी महाद्वीप में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध मित्रतापूर्ण बने रहे।

(ङ) सोवियत रूस की विदेश नीति (१९१९-३९)

विषय-प्रवेश—लिखित इतिहास में शायद किसी भी राज्य को उतनी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा है जितना जन्म के समय सोवियत संघ को करना पड़ा था। सोवियत-व्यवस्था के कुछ ही महीनों बाद संसार के पूँजीवादी राज्यों ने मिलकर रूस का गला घोंटने और उसके नामोनिशान मिटाने के जो प्रयास किये थे, वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में अद्वितीय घटना थी। अगर यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना नहीं हुई रहती तो सम्भवतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सोवियत-संघ की नीति इस काल में कुछ दूसरी ही होती। सोवियत-व्यवस्था की तथाकथित कठोरता और रूसी विदेश-नीति में शंका और सन्देह के तत्त्वों के लिए बहुत अंश में पूँजीवादी राष्ट्रों को ही जिम्मेवार ठहराया जा सकता है।

रूस में साम्यवादी व्यवस्था कायम करने के बाद बोल्शेविकों की सबसे बड़ी कामना यही थी कि संसार के अन्य राज्य उनको अपनी नीति के अनुसार अपने देश का निर्माण करने और प्रगति के पथ पर अग्रसर होने के लिए स्वच्छन्द छोड़ देंगे। इस आशा के साथ-साथ उनको यह भय भी था कि पूँजीवादी राज्यों को जब भी मौका मिलेगा, वे परस्पर मिलकर या अकेले ही, सोवियत संघ का सर्वनाश करने से बाज नहीं आयेंगे। प्रारम्भ में ही लेनिन ने बोल्शेविको को यह चेतावनी दी थी कि पूँजीपति शक्तियाँ साम्यवादी रूस पर कभी भी धावा बोल सकती हैं। नवम्बर, १९४० में विद्यार्थियो के समक्ष भाषण करते हुए राष्ट्रपति कालीनिन ने कहा था: 'हमारी स्थिति शत्रु द्वारा घिरे हुए किले के समान है। इनमें कोई शक नहीं कि यह किला विशाल है; अजेय है; पर यह चारो तरफ से शत्रुओं द्वारा घिरा हुआ है।' इस कथन की सत्यता १९१८-२० में ही सिद्ध हो चुकी थी।[1]

पूँजीवादी 'हस्तक्षेप'—१९१८ से १९२० तक सोवियत-संघ पर ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और अमेरिका द्वारा जो आक्रमण होते रहे उनको केवल 'हस्तक्षेप' कहना अनुचित है। रूस में सोवियत व्यवस्था कायम होते ही मित्रराष्ट्रों को इस निष्कर्ष पर पहुँचते देर नहीं लगी कि वहाँ के नये साम्यवादी शासक बहुत खतरनाक व्यक्ति हैं और इन व्यक्तियो को अधिकारच्युत करना उनका पुनीत कर्त्तव्य है। अतः वे रूस के क्रान्ति विरोधियों को, जिसमें कुलीन-वर्ग के सामन्त, पादरी, जार के अनुयायी इत्यादि प्रतिक्रियावादी थे, साम्यवादी सरकार के विरुद्ध भड़काने और प्रोत्साहित करने लगे। मित्रराष्ट्रों का प्रोत्साहन और सक्रिय सहायता पाकर इन क्रान्ति-विरोधियों ने साम्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और बोल्शेविकों को लगभग तीन वर्षों तक इनके साथ भीषण संघर्ष करना पड़ा। धर्मसुधार-आन्दोलन के बाद से यूरोप के राज्य स्वयं अपने को और अन्य राज्यों को प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य मानते थे। एक राज्य को दूसरे राज्य की अवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार नही था। दूसरे राज्य की जनता में असन्तोष फैलाकर किसी राज्य की सुरक्षा को खतरे में डालना एकदम गलत बात मानी जाती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय नियम के इस सिद्धान्त के उल्लंघन का दोष सोवियत-संघ पर भी लगाया जा सकता है। सोवियत नेता विश्व-क्रान्ति की बातें कर रहे थे। उनके विचार में सोवियत संघ एक राष्ट्रीय इकाई नही था। उसके अनुसार हर सच्चे साम्यवादी का कर्त्तव्य था कि वह सारे विश्व में उस क्रान्ति का प्रचार करे जो रूस में सफल हो चुकी थी। जबतक शेष संसार से पूँजीवाद का अन्त नहीं हो जाता तब तक रूस की क्रान्तिकारी सरकार टिक नही सकेगी। साम्यवादी सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए मार्च, १९१९ में सोवियत-नेताओं ने कामिन्टर्न नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की। इसका मुख्य कार्यालय मास्को में रहा। यह एक स्वतन्त्र संस्था थी और इसमें सभी देशों के साम्यवादी दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। कामिन्टर्न में रूसी साम्यवादियों की प्रधानता थी और संसार के प्रायः सभी पूँजीवादी राष्ट्र उसे रूस के वैदेशिक विभाग का ही दफ्तर समझते थे। इसकी स्थापना समस्त वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को उलट कर विश्वव्यापी साम्यवादी समाज की रचना के लिए हुई थी। इसलिए सभी उसे और उसके साथ रूस को शक की दृष्टि से देखते थे। ऐसी स्थिति में पूँजीवादी राज्य और साम्यवादी रूस में शत्रुता स्वाभाविक और अवश्यम्भावी थी।

1. Albjerg and Albjerg, *Europe From 1914 To the Present*, p.169.

इसके अतिरिक्त मित्रराष्ट्र अनेक कारणों से नाराज थे। क्रान्ति के बाद रूस युद्ध से अलग हो गया और जर्मनी के साथ सन्धि के लिए वार्तालाप करने लगा। जब मित्रराष्ट्रों ने इस वार्तालाप में भाग लेने से इन्कार कर दिया तो सोवियत नेताओं ने वे सारी गुप्त सन्धियाँ प्रकाशित कर दीं जिनसे मित्रराष्ट्रों के वास्तविक युद्ध-उद्देश्य का भेद खुल गया। मार्च, १९१८ में रूस ने जर्मनी के साथ ब्रेस्ट लिटोव्स्क की सन्धि कर ली। इसके परिणामस्वरूप जर्मनी पूर्वी मोर्चा से निश्चिन्त होकर अपनी सारी शक्ति पश्चिमी और दक्षिणी मोर्चों पर लगा रहा था। लेनिन ने जार द्वारा लिये गये सारे विदेशी ऋणों को अस्वीकार कर दिया और सारी विदेशी सम्पत्तियों को जब्त कर लिया। इसके अतिरिक्त सोवियत सरकार ने संसार के सभी मजदूरों को युद्ध का विरोध करने को कहा। इन कारणों से रंज होकर मित्रराष्ट्र बोल्शेविकों का दमन करके जर्मनी के विरोद्ध फिर से पूर्वी मोर्चा खोलना चाहते थे। उन्होंने रूस की सोवियत-सरकार को मानने से इन्कार कर दिया और उसके विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी करके सेना, धन तथा युद्ध-सामग्री से क्रान्ति-विरोधियों की सहायता करनी शुरू कर दी। मित्रराष्ट्रों की सहायता से प्रतिक्रियावादियों ने कई जगह 'श्वेत' सरकारें कायम कर ली।

मित्रराष्ट्र क्रान्तिकारियों को केवल भड़काकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, सोवियत-संघ का अन्त करने के लिए उन्होंने स्वयं उस पर धावा बोल दिया। लेकिन, रूस पर आक्रमण करने के लिए कोई बहाना चाहिए था। उस समय आर्केंजिल तथा मुरमन्स्क में युद्ध सामग्रियाँ प्रचुर मात्रा में पड़ी थीं और मित्रराष्ट्रों को भय था कि कहीं ये सामग्रियाँ जर्मनी के हाथ में न पड़ जायँ। अतः इन सामग्रियों को जर्मनों से बचाने के लिए रूस पर आक्रमण करना आवश्यक समझा गया और मित्रराष्ट्रों ने रूस पर बाजाप्ता आक्रमण कर दिया। फ्रांस ने ओडेसा, ब्रिटेन ने बाकू, जापान ने पूर्वी साइबेरिया, अमेरिका ने आर्केंजिल तथा ब्लाडीवास्टक तथा रूमानिया ने बेसरेबिया पर अपना-अपना अधिकार कायम कर लिया। उधर एस्थोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, फिनलैंड तथा काकेशस के पार के प्रान्तों ने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से सोवियत-सरकार की हालत शोचनीय थी।

ऐसी स्थिति में रूस की रक्षा करने के लिए ट्राटस्की के नेतृत्व में 'लाल सेना' मैदान में कूद पड़ी। मित्रराष्ट्र वर्षों से लड़ते-लड़ते इतने थक गये थे कि उनमें रूस के विरुद्ध अपनी पूरी शक्ति लगाने की सामर्थ्य नहीं थी। इसके अतिरिक्त रूस एक विशाल देश था। मित्रराष्ट्रों के लिए रूसियों का डटकर मुकाबला करना आसान नहीं था। शीघ्र ही उनके पाँव उखड़ गये और अन्त में बोल्शेविकों की विजय हुई। मित्रराष्ट्र की सहायता मिलने के बावजूद क्रान्ति-विरोधी प्रतिक्रियावादी अधिक दिनों तक नहीं टिक सके। बोल्शेविकों ने बड़ी क्रूरता से उनका दमन कर दिया।

१९२० में पोलैंड ने रूस पर आक्रमण कर दिया। शुरू में पोलैंड को विजय मिली लेकिन पीछे चलकर वह हारने लगा और 'लाल सेना' उसका पीछा करते-करते वारसा तक पहुँच गयी। अगर पोलैंड को फ्रांस और ब्रिटेन की मदद नहीं मिली रहती तो वारसा का पतन भी हो गया रहता; पर युद्ध ने एक बार फिर पलटा खाया और पोलैंड की सेना एक बार आगे बढ़ी। अन्त में दोनों में विराम-सन्धि हो गयी और रिगा की सन्धि (१९२१) के अनुसार तथाकथित 'कर्जन रेखा' को दोनों देशों के सीमान्त के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार सोवियत संघ को विदेशी आक्रमण तथा आन्तरिक विद्रोह से त्राण मिला।

सोवियत संघ का बहिष्कार—ट्राटस्की की कुशलता से रूस को विदेशी 'हस्तक्षेप' और आन्तरिक विद्रोह से मुक्ति मिल गयी, लेकिन बोल्शेविकों की निगाह में मूल मतभेद का अभी फैसला नहीं हो सका। यह मतभेद अगर युद्ध के मैदान में नहीं तो समाचारपत्रों के पृष्ठों और पूँजीवादी राज्यों की व्यावहारिक कार्रवाई में ज्यों-का-त्यों बना रहा। मित्रराष्ट्रों ने रूस का आर्थिक बहिष्कार करके उनका व्यापार बन्द कर दिया। इसके परिमाणस्वरूप उसको नाना प्रकार के कष्ट झेलने पड़े और उसके उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस के साथ अछूत जैसा व्यवहार होता था। सोवियत-संघ को जान-बूझकर १६२१ के वाशिंगटन-सम्मेलन में नहीं बुलाया गया, यद्यपि प्रशान्त महासागर में उसके भी हित थे। १६२२ में जेनेवा में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमें सोवियत-प्रतिनिधि के साथ जिस प्रकार का दुर्व्यवहार किया गया, वह उचित नहीं था। सोवियत संघ को मान्यता देने के लिए कोई भी पूँजीवादी देश तैयार नहीं था और न उसको राष्ट्रसंघ का सदस्य ही बनाने के लिए इच्छुक था। इसलिए सोवियत-संघ भी राष्ट्रसंघ की पूँजीवादी व्यवस्था का एक साधन-मात्र समझता था, जिसका मुख्य उद्देश्य साम्राज्यवादी व्यवस्था कायम रखना था। लोकार्नो पैक्ट को लेकर भी सोवियत-संघ में काफी आशंका थी। लोकार्नो-सम्मेलन में सोवियत संघ को आमन्त्रित नहीं किया गया था और न इसके द्वारा जर्मनी की पूर्वी सीमाओं को गारंटी ही दी गयी थी। सोवियत-संघ के लोगों को सन्देह पैदा हुआ कि भविष्य में रूस के विरुद्ध पूर्वी सीमा पर अवश्य कोई गड़बड़ी होगी। इसी समय फ्रांस और ब्रिटेन में अनुदारदलीय सरकार सत्तारूढ़ हुई, पोलैण्ड और लिथुआनिया में प्रतिक्रियावादी तानाशाही आरम्भ हुई, चीन में च्यांग काई शेक का जमाना आ गया और जापान में बैरन टॉका प्रधानमंत्री बना। लन्दन में सोवियत-व्यापारिक एजेन्सी के दफ्तर की तलाशी ली गयी। इस दफ्तर पर यह आरोप लगाया गया कि यह लन्दन में सोवियत प्रचार का केन्द्र है और सैनिक बातों का पता लगाकर मास्को भेजता है। यह दोषारोपण बिल्कुल निराधार था जिसको ब्रिटिश-सरकार साबित नहीं कर सकती थी। सोवियत-संघ में इन सब घटनाओं का अर्थ यही लगाया जाता था कि पूँजीवादी राज्य उसको धक्का देने के लिए मौके की ताक में हैं। १६२७ में युद्ध-मंत्री वोरोशिलोव ने कहा : "हमें सतर्क रहना चाहिए। हमलोग चारों तरफ दुश्मनों से घिरे हुए हैं।" सोवियत-संघ की शंका इतनी जबरदस्त थी कि प्रारम्भ में १६२८ के पेरिस-पैक्ट को सोवियत-संघ को पृथक् करने और अन्ततोगत्वा उसके साथ युद्ध छेड़ने का एक 'साधन' बतलाया गया। यह कहना कोई निर्मूल न होगा कि अपने जन्मकाल से ही सोवियत-संघ बराबर संकट की स्थिति में रहा और इसलिए अगर शक या शंका उसकी विदेशी-नीति का एक तत्त्व बन गया तो वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सोवियत-संघ की विदेशी और आन्तरिक नीतियों का अध्ययन करते समय हमें इस 'संकट की स्थिति' का बराबर ख्याल रखना चाहिए।[1]

नीति-परिवर्तन—१६२१ में सोवियत-संघ की परराष्ट्र और आन्तरिक नीतियों ने एक दूसरी दिशा में मोड़ लिया। आन्तरिक कलह और विदेशी आक्रमण के कारण रूस एकदम पस्त हो गया। १६२१-२२ में वहाँ भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें कोई पचास लाख आदमी मर गये।

---

1. Verandsky, *A History of Russia*, p. 299.

इन सब घटनाओं का प्रभाव रूस को बाह्य और आन्तरिक नीतियों पर पड़ना अवश्यम्भावी था। लेकिन एक कदम आगे बढ़ने के लिए दो कदम पीछे हटने की नीति का अवलम्बन करते हुए तथाकथित 'नयी आर्थिक नीति' (N. E. P.) का श्रीगणेश किया, जिसका अर्थ कुछ दिनों के लिए पूँजीवादी व्यवस्था की ओर वापस लौटना था। 'नयी आर्थिक नीति' का अवलम्बन करने से विदेश-नीति में परिवर्तन की सम्भावना भी दिखाई देने लगी। पूँजीवादी देश अभी तक रूस का बहिष्कार कर रहे थे। पर, लेनिन रूस के पुनर्निर्माण के लिए विदेशी पूँजी की सहायता चाहता था। जबतक पूँजीपति राज्यों का अस्तित्व कायम है तबतक व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए यह आवश्यक था कि सोवियत-संघ और इन देशों में किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो जाय। किन्तु कोई भी राष्ट्र रूस के किसी प्रकार सम्बन्ध स्थापित करने की बात तबतक नहीं सुनना चाहता था जबतक रूस कामिन्टर्न के संसारव्यापी साम्यवादी प्रचार को रोकने का वचन न दे दे। लेनिन ने इस प्रकार आश्वासन दे दिया और यूरोप से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग खुल गया।

विदेशों से सम्पर्क-स्थापना---सोवियत-संघ के सामने प्रमुख प्रश्न राष्ट्रों की मान्यता (recognition) प्राप्त करना था। १६१८ में सभी राज्यों ने रूस के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिए थे। क्रान्ति के बाद रूसी नेता इस सम्बन्ध को पुनर्स्थापित करने की कोशिश करते रहे। लेकिन, १६२१ तक फिनलैंड, लैटविया, एस्थोनिया तथा लिथुआनिया को छोड़ कर किसी राज्य ने सोवियत-संघ को मान्यता प्रदान नहीं की। सोवियत-संघ कम-से-कम व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित करने को तैयार था। १९२१ के आरम्भ में सोवियत-संघ ने तुर्की, फारस और अफगानिस्तान से मित्रता की सन्धियाँ की। परन्तु ये सभी राज्य छोटे-छोटे राज्य थे और इनके साथ सम्पर्क स्थापित होने से सोवियत-संघ का काम नहीं चलता था। सोवियत-संघ इसी समय बड़े राष्ट्रों के साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहता था। मई, १९२० में एक व्यापारिक शिष्टमण्डल क्रासिन के नेतृत्व में ब्रिटेन गया। युद्ध के बाद ब्रिटेन का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार सिकुड़कर बहुत छोटा हो गया था। इसलिए ब्रिटेन रूस के साथ किसी प्रकार का व्यापारिक समझौता कर लेना चाहता था। रूसी व्यापारिक शिष्टमण्डल के आगमन के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ। उसी वर्ष ब्रिटेन से एक व्यापारिक शिष्टमण्डल भी मास्को भेजा गया। पर आँग्ल-रूसी व्यापारिक समझौते से दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई; क्योंकि ब्रिटेन ने सोवियत-संघ को विधिवत् मान्यता (*de jure* recognition) प्रदान नहीं की। पर सोवियत-संघ को तथ्यिक मान्यता (*de facto* recognition) मिल गयी।

जेनोआ सम्मेलन---अन्य देशों के साथ रूस का कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित होने के मार्ग में सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि रूस ने सभी विदेशी ऋणों को अस्वीकार कर दिया था। १९२१ में सोवियत-संघ ने कर्जदार राज्यों को यह सूचित किया कि यद्यपि वह [illegible] द्वारा लिये गये कर्जों को वापस करने के लिए बाध्य नहीं है, फिर भी वह [illegible] सुलझाने के लिए इच्छुक है। रूस ने प्रस्ताव रखा कि उसको मान्यता [illegible] आर्थिक पुनर्निर्माण करने तथा विदेशी कर्जों पर समझौता करने के लिए [illegible] होना चाहिए। सोवियत संघ के आर्थिक पुनर्निर्माण में ब्रिटेन भी दिलचस्पी [illegible]

जनवरी, १६२२ में केनोज (Canees) में मित्रराष्ट्रों का एक सम्मेलन हो रहा था तो लायड जार्ज के प्रयत्न से अन्य राज्यों ने यह मान लिया कि आगामी जेनोआ सम्मेलन में रूस को भी आमन्त्रित किया जाय।

अप्रिल, १६२२ में जेनोआ (Genoa) सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इसमें सोवियत-संघ और जर्मनी के प्रतिनिधियों को मिलाकर ३४ राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। वर्साय-सम्मेलन के बाद यह सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था। रूस का प्रतिनिधित्व उसका विदेश मंत्री चिचरिन (Chicherin) कर रहा था। लायड जार्ज को यह आशा थी कि इस सम्मेलन के द्वारा सोवियत संघ और अन्य राष्ट्रों के बीच समझौता कराया जा सकेगा। किन्तु, फ्रांसीसी और बेल्जियम के प्रतिनिधियों के दुराग्रह के कारण इस आशा पर भी पानी फिर गया। उनकी यह माँग थी कि सोवियत-सरकार किसी प्रकार की वार्ताएँ चलने के पूर्व युद्ध के पूर्व लिए गये 'वदेशी कर्ज को चुकाना स्वीकार कर ले। चिचरिन सभी ऋणों को स्वीकार करने तथा विदेशियों की जब्त की गयी सम्पत्ति को वापस लौटाने या उसका मुआवजा देने को तैयार था। किन्तु, इसके वदले में वह तीन बातें चाहता था: (१) मित्रराष्ट्रों के 'हस्तक्षेप' से सोवियत संघ को जो नुकसान पहुँचा है उसका मुआवजा दिया जाय; (२) सोवियत सरकार को तुरत विधिवत् मान्यता प्रदान की जाय; और (३) रूस के पुनर्निर्माण के लिए ऋण दिया जाय। इस प्रकार के दावा और प्रतिदावा के कारण जेनोआ में किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सका और सम्मेलन भंग हो गया।

रेपोलो-समझौता—जेनोआ-सम्मेलन की असफलता का परिणाम कुछ ऐसा हुआ जिसकी आशा उसके संयोजकों ने नहीं की थी। जब दो 'अछूत' एक जगह एक दूसरे से मिलते हैं तो उनमें पारस्परिक सहानुभूति का उत्पन्न होना विल्कुल स्वाभाविक है। जेनोआ में जर्मनी और सोवियत-संघ के साथ ऐसी ही घटना घटी।

रूसी-जर्मन-मित्रता एक ऐतिहासिक परम्परा की बात थी। विस्मार्क की विदेश नीति का यह एक मुख्य उद्देश्य था। केवल कैसर के जमाने में ही जर्मनी ने रूस को ठुकरा दिया था, पर युद्ध के बाद इन दोनों देशों में पुनः निकट सम्पर्क स्थापित होना आवश्यक हो गया। यह बात ठीक है कि जर्मनी और साम्यवादी रूस में कोई सैद्धान्तिक समता नहीं थी। एक साम्यवादी था दूसरा कट्टर पूँजीवादी। तो भी दोनों को एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता थी। स्टालिन ने कहा भी था कि 'प्रथम महायुद्ध से पराजित राज्यों के बीच मेल-मिलाप होना परमावश्यक है; नहीं तो विजयी राष्ट्र उनका गला ही घोंट देंगे।' उधर जर्मनी भी युद्ध के बाद पूर्व की ओर ही देख रहा था। युद्ध के बाद मित्रराष्ट्रों द्वारा उसके साथ जो दुर्व्यवहार हुआ था उससे खीझकर जर्मनी रूस के साथ मैत्री स्थापित करना चाहता था। जर्मनी का आर्थिक पुनर्निर्माण भी रूस के साथ व्यापारिक समझौता करके सम्भव था। वर्साय-सन्धि और रूर-आधिपत्य के अवसर पर सोवियत-संघ ने खुले तौर से जर्मनी के प्रति सहानुभूति प्रकट की थी। इस प्रकार दोनों के बीच मेलमिलाप का वातावरण तैयार हो रहा था।[1]

इस स्थिति में जेनोआ-सम्मेलन के एक सप्ताह बाद सोवियत और जर्मन प्रतिनिधि जेनोआ से कुछ मील की दूरी पर स्थित रेपोलो नामक एक समुद्रतटीय आमोद-स्थान पर गुप्त रूप से मिले और उन्होंने दोनों देशों के बीच एक मित्रता की सन्धि कर ली। ऊपर से देखने में रूस-

1 Langsam, *The World Since 1919*, p. 149.

तथा जर्मनी के बीच यह सन्धि व्यर्थ प्रतीत होती थी। इसके अनुसार जर्मनी ने सोवियत-संघ को विधिवत् मान्यता प्रदान कर दी, दोनों ने क्षतिपूर्त्ति तथा युद्ध पूर्व ऋणों के दावों को छोड़ दिया। दोनों के बीच सामान्य व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया। किन्तु इसका दूरगामी परिणाम काफी महत्त्वपूर्ण था। जैसा प्रोफेसर कार कहते हैं,'संधि की शर्तों का इतना महत्त्व नहीं था जितना सन्धि होने का।' यूरोप के दो 'अछूत' राज्य आपस में मिल गये। सोवियत-संघ को पहली वार एक बड़े राष्ट्र द्वारा कूटनीतिक मान्यता प्राप्त हुई। फ्रांस को बराबर रूसी जर्मन मेल मिलाप का जो भय बना रहता था वह पूरा होकर रहा। मित्रराष्ट्रों ने इस संधि पर अपनी नाराजगी प्रकट की। किन्तु इसके लिए स्वयं वे ही दोषी थे। जर्मनी और रूस को वे महत्त्वहीन देश मानते हुए उनका बहिष्कार करते चले आ रहे थे। प्रोफेसर कार के शब्दों में 'यह स्वाभाविक ही था कि दोनों बहिष्कृत राष्ट्र आपस में गठबन्धन कर लें।'[1]

अन्य देशों की मान्यताएँ—जब एक बड़े राष्ट्र द्वारा सोवियत-संघ को मान्यता मिल गयी तब अन्य देश अधिक दिनों तक उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। जर्मनी ने रूस के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करके अन्य राज्यों के लिए भी मार्ग खोल दिया। १९२४ में ब्रिटेन की विदेश नीति में परिवर्तन हुआ। वह रूस के साथ ब्रिटेन का कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष में था। इसी समय फ्रांस में भी समाजवादी दल की जीत हुई और यूरोपीय देशों तथा रूस के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने का अनुकूल वातावरण उत्पन्न होने लगा। ११ फरवरी, १९२४ को ब्रिटेन ने रूस को विधिवत् मान्यता प्रदान कर दी। उसके बाद इटली, नार्वे आस्ट्रिया, स्वेडन, चीन, डेनमार्क, मेक्सिको और फ्रांस के द्वारा भी उसे मान्यता प्राप्त हो गयी। १९२४ के समाप्त होते-होते सोवियत-संघ को पन्द्रह यूरोपीय राज्यों की मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। अगले वर्ष संसार के अधिकांश मुख्य राज्यों की मान्यता भी उसे मिल गयी। केवल संयुक्त राज्य अमेरिका ही एक ऐसा देश बचा रहा, जिसने १९३३ तक सोवियत-संघ को अपनी मान्यता प्रदान नहीं की।

रूस-अमेरिका-सम्बन्ध—बहुत दिनों तक अमेरिका सोवियत-संघ का बहिष्कार किये रहा। लेकिन, बीसवीं शताब्दी को तीसरी शताब्दी में अमरीकी नीति में कुछ परिवर्तन होने लगा। इस काल में दोनों देशों के बीच व्यापारिक सम्पर्क स्थापित हुआ। कुछ अमरीकी पत्रकारों और यात्रियों ने रूस का भ्रमण भी किया। अमरीकी इंजीनियरों को रूस में नौकरी भी मिली, पर इन सब बातों के बावजूद अमरीकी सरकार सोवियत-संघ के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार नहीं थी। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में स्थिति कुछ इस तरह बदल रही थी कि अमेरिका अधिक दिनों तक रूस की उपेक्षा नहीं कर सकता था। आर्थिक संकट, मंचूरिया पर जापानी आक्रमण, जर्मनी में नात्सी पार्टी का उत्थान इत्यादि घटनाओं ने अमेरिका को रूस के प्रति अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिए बाध्य किया। इसके अतिरिक्त स्वयं सोवियत-संघ में अब कोई साधारण शक्ति नहीं रह गयी थी। अतः, जब रूजवेल्ट अमेरिका का राष्ट्रपति हुआ तो वह सोवियत-संघ की मान्यता प्रदान करने की दिशा में प्रयास करने लगा। लंदन में विश्व-अर्थ-सम्मेलन (१९३३) के अवसर पर सर्वप्रथम अमरीकी प्रतिनिधि विलियम बुलिट और रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव की मुलाकात हुई। इसके बाद अक्टूबर में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सोवियत-राष्ट्रपति

[1] Carr, *International Relations Between the Two World Wars*, p. 52,

कालीनिन को एक पत्र भेजकर दो प्रतिनिधियों को वार्ता करने के लिए वाशिंगटन भेजने का आग्रह किया। नवम्बर में लिटविनोव वाशिंगटन आ पहुँचा और सोवियत-संघ तथा अमेरिका के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध विधिवत् स्थापित हो गया।[1]

रूस, सामूहिक सुरक्षा और राष्ट्रसंघ—१९२५ का लोकार्नो-पैक्ट सामूहिक सुरक्षा की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम माना गया था। इसके पहले लंदन में एक अप्रिय घटना घट चुकी थी। ब्रिटेन के अनुदार-दल को मजदूर-दल द्वारा सोवियत-संघ को राजनीतिक, आर्थिक और कूटनीतिक सहायता देना बिल्कुल पसन्द नहीं था। वे सोवियत सरकार और कामिन्टर्न को एक ही चीज समझते थे। वे लोग आँग्ल-रूसी सम्बन्ध को बिगाड़ने पर तुले हुए थे। अनुदार-दल के नेता कामिन्टर्न की गतिविधि से काफी चिन्तित थे। अक्टूबर, १९२४ में ब्रिटेन में आम चुनाव होनेवाला था। चुनाव में जीतने के लिए और आँग्ल रूसी सम्बन्ध खराब करने के लिए अनुदार-दल के नेताओं ने एक ब्रिटिश-समाचार पत्र में एक जाली पत्र प्रकाशित कर दिया। उस समाचारपत्र में एक ऐसी चिट्ठी छपी जिसको कामिन्टर्न के अध्यक्ष जिनोविव ने ब्रिटिश-साम्यवादियों को लिखा था। इसमें यह बतलाया गया था कि ब्रिटिश-साम्यवादी पार्टी को आम-चुनाव में किस प्रकार काम करना चाहिए। इस जाली पत्र के प्रकाशन से ब्रिटेन में तहलका मच गया और चुनाव में अनुदार-दल जीत गया। उसके सत्तारूढ़ होने के कारण हाल में किये गये आँग्ल-रूसी समझौते का अनुमोदन नहीं हो सका। सोवियत-संघ और ब्रिटेन के सम्बन्धों में एक बार पुनः तनाव आ गया।

इस घटना के पृष्ठाधार में लोकार्नो-पैक्ट हुआ जिसमें जर्मनी ने पूर्वी सीमा को कोई गारंटी नहीं दी। इसपर सोवियत-संघ में आशंका और भय का उत्पन्न होना बिल्कुल स्वाभाविक था। बोल्शेविक नेताओं का यह भय बिल्कुल स्वाभाविक था कि मित्रराष्ट्र जर्मनी से समझौता करके रूस के विरुद्ध उसको भड़काने का प्रयास कर रहे हैं। उधर लोकार्नो-समझौते से जर्मनी भी सन्तुष्ट नहीं था। समझौते के अनुसार जर्मनी को बेशर्त राष्ट्रसंघ को एसेम्बली और कौंसिल की सदस्यता प्राप्त हो जानी चाहिए थी। लेकिन, जर्मनी की सदस्यता से वंचित करने के लिए राष्ट्रसंघ में जो चाल चली गयी उससे जर्मनी काफी क्षुब्ध हुआ। ऐसी स्थिति में अप्रिल १९२६ में दोनों देशों के बीच बर्लिन में एक अनाक्रमण समझौता हुआ, जिसके द्वारा दोनों में तटस्थता कायम रखने और एक दूसरे पर आक्रमण न करने के परस्पर वचन दिये। हस्ताक्षर के समय इस सन्धि को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। दोनों देशों का कहना था कि इस सन्धि पर हस्ताक्षर करके केवल लोकार्नो प्रणाली को पूर्वी सीमा पर लागू किया गया है। लेकिन, यह पहला अवसर नहीं था जब सोवियत संघ और जर्मनी ने परस्पर सन्धि करके दुनिया को आश्चर्य में डाल दिया हो। १९३९ का मास्को-पैक्ट जिसने संसार को एक बार फिर चकित कर दिया, उसकी एक पृष्ठभूमि थी जो रेपोलो और बर्लिन-सन्धियों द्वारा पुष्ट हो रही थी।

एक रूसी नेता का कहना था कि "रूस के लिए शान्ति उतनी ही आवश्यक है जितना एक व्यक्ति के लिए हवा।" १९३० के बाद रूस में पुनर्निर्माण का कार्य बड़े जोर-शोर से चल रहा था। पुनर्निर्माण का कार्य तभी सम्भव था जब संसार में शान्ति बनी रहे। अतः इस युग में रूसी विदेश-नीति का मुख्य लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना करना था। १९२८ में

---

1 Barbara Ward, *Russian Foreign Policy*, p. 21.

पेरिस पैक्ट पर हस्ताक्षर हुआ जिसके द्वारा राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप से युद्ध के परित्याग की घोषणा की गयी। प्रारम्भ में सोवियत-संघ में इस पर हस्ताक्षर करने पर कुछ हिचकिचाहट पैदा हुई और इसको पूँजीवाद की उपज बताया गया। लेकिन सोवियत-संघ में शान्ति के लिए उत्साह इतना बढ़ा-चढ़ा था कि पेरिस-पैक्ट पर हस्ताक्षर करने के पहले ही उसने समझौते को परस्पर लागू करने के लिए अपने पड़ोसी देशों से विशेष समझौते सम्पन्न किये। विदेश मन्त्री के पद पर आने के तुरत बाद लिटविनोव ने पेरिस-समझौते की शर्तों को स्थानीय रूप से लागू करने के लिए कुछ तत्काल कदम उठाये। उसने एक स्वतन्त्र प्रोटोकोल जारी किया, जिसको, लिटविनोव प्रोटोकोल कहते हैं। फरवरी, १९२९ में रूस, पोलैंड, रुमेनिया, लैटविया, एस्थोनिया, लिथुआनिया, टर्की और फारस ने इस समझौता पर हस्ताक्षर कर दिये। सबों ने पेरिस-पैक्ट की शर्तों को मानने का वादा किया।

राष्ट्रसंघ के प्रति सोवियत-संघ के रुख का निर्धारण उसके उन पूँजीवादी राज्यों के साथ सम्बन्ध पर आधारित था जो राष्ट्रसंघ के सदस्य थे। आरम्भ में बोल्शेविक लोग राष्ट्रसंघ को साम्यवाद के विनाश के लिए पूँजीवादी राष्ट्रों का एक षड्यन्त्र समझते थे। परन्तु, १९२७ से अमेरिका की तरह सोवियत सरकार ने राष्ट्रसंघ की विविध गतिविधियों में सहयोग देना प्रारम्भ किया। राष्ट्रसंघ का सदस्य न होते हुए भी सोवियत प्रतिनिधि ने एक सामान्य आर्थिक सम्मेलन में भाग लिया। इसी वर्ष निरस्त्रीकरण प्रारम्भिक आयोग में भाग लेने के लिए लिटविनोव के नेतृत्व में सोवियत प्रतिनिधिमंडल जेनोवा गया। आयोग की कार्रवाही में लिटविनोव ने सक्रिय भाग लिया और अपने प्रभावपूर्ण ढंग से उसने यह अपील की कि तुरत ही व्यापक और पूर्ण निरस्त्रीकरण कर लिया जाय।

सितम्बर, १९३४ में फ्रांस के जबरदस्त समर्थन के कारण रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया और उसे कौंसिल की स्थायी सदस्यता भी प्राप्त हो गयी। उस समय से सोवियत संघ राष्ट्रसंघ का सबसे बड़ा समर्थक बना रहा। लिटविनोव वहाँ से बराबर सामूहिक सुरक्षा समर्थन करता रहा। राष्ट्रसंघ को सफल बनाने के लिए जितना प्रयास सोवियत-संघ ने किया उतना प्रयास किसी दूसरे देश ने नहीं किया।

अनाक्रमण-सन्धियाँ—जिस समय सोवियत-संघ राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करने में लगा हुआ था उस समय दुनिया के दूसरे-दूसरे भागों में दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ घट रही थीं। १९३१ में जापान ने मंचूरिया पर हमला कर दिया और मंगोलिया की तरफ बढ़ने को सोचने लगा। इधर यूरोप से वेमर रिपब्लिक का अन्त हो चुका थ और उसकी जगह पर हिटलर के नेतृत्व में नात्सी शासन स्थापित हो चुका था। स्टालिन को हिटलर के विषय में कोई भ्रम नहीं था। हिटलर ने लिखा था: 'यदि हम आज यूरोप में नयी भूमि और नये प्रदेश की बातें करते हैं तो हम मुख्यतः रूस तथा उसके समीपवर्ती अधीनस्थ राज्यों के बारे में ही सोच सकते हैं।" स्टालिन के सामने विकट समस्या थी। वह अभी युद्ध के लिए तैयार भी नहीं हो सका था कि दो तरफ से (जापान और जर्मनी) युद्ध के बादल मँडराने लगे। सोवियत संघ के रक्षार्थ उसे आदर्शवादी विदेश नीति का परित्याग करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। इस हालत में सोवियत विदेश नीति में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी हो गया।

संसार भर में लोक मोर्चा (*front populaire*) स्थापित कराना इस नीति-परिवर्तन का प्रथम लक्षण था। जर्मन साम्यवादी पार्टी रूस की साम्यवादी पार्टी को छोड़कर यूरोप में सबसे बड़ी पार्टी थी। हिटलर ने इसका नामोनिशान मिटा दिया। फासिज्म की बाढ़ को अगर रोका नहीं गया तो संसार के सभी साम्यवादी पार्टियों की यही हाल हो सकती है और अन्ततोगत्वा सोवियत-संघ का भी अन्त हो सकता है। कामिन्टर्न के सामने यह एक विकट समस्या थी। इसने संसार भर की साम्यवादी पार्टियों से प्रगतिशील पार्टियों को मिलाकर लोक मोर्चा कायम करने की अपील की।

फ्रांस के साथ सन्धि—केवल लोक-मोर्चा कायम करने से ही काम नहीं चल सकता था। सोवियत-संघ की रक्षा के लिए कोई व्यावहारिक कदम उठाना आवश्यक था। अतः १९३२ के राष्ट्रसंघ के अधिवेशन में लिटविनोव का रुख बदल गया। निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में बोलते हुए उसने कहा कि केवल निरस्त्रीकरण ही सुरक्षा के लिए पर्याप्त नहीं है। राष्ट्रसंघ को अपने सदस्यों की सुरक्षा के लिए अन्य उपायों का भी अवलम्बन करना चाहिए। किन्तु राष्ट्रसंघ से अन्य उपायों की आशा नहीं की जा सकती थी। अतः लिटविनोव फ्रांसीसी विदेश मन्त्री लुई बार्थो से वार्ता करने लगा और १९३५ में दोनों देशों के बीच एक अनाक्रमण-समझौता हो गया, जिसके अनुसार दोनों ने पूर्वी यूरोप की रक्षा के लिए सहयोग करने का वचन दिया। इसके दो सप्ताह बाद इसी प्रकार की दूसरी सन्धि चेकोस्लोवाकिया से भी की गयी। परन्तु इस सन्धि के अनुसार रूस चेकोस्लोवाकिया को सहायता तभी दे सकता था जब फ्रांस भी पूर्व सन्धि के अनुसार उसकी सहायता करता।

कुछ समय के लिए यूरोप की कूटनीतिक परिस्थिति सोवियत-संघ के पक्ष में हो गयी। लेकिन, पूर्वी एशिया का जापानी खतरा अभी भी मौजूद था। चीन को मदद देकर जापान की प्रगति को रोका जा सकता था। पर चीन में उस समय प्रतिक्रियावादी च्यांगकाई शेक का जमाना था, जो साम्यवादियों को देखना तक नहीं चाहता था। अतः लिटविनोव जापान के साथ भी एक अनाक्रमण-समझौता करने के लिए प्रयास करने लगा। जापान को खुश करने के लिए सोवियत-संघ ने मंचूरिया स्थित पूर्वी चीन रेलवे को जापान के हाथ सस्ते दामों में ही बेच दिया। इसके अतिरिक्त जापानी मछुओं को अनेक सुविधाएँ दी गयीं। जापानी आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए मार्च, १९३६ में उसने मंगोलिया के साथ एक अन्य अनाक्रमण समझौता कर लिया। इस वर्ष के नवम्बर में जर्मनी और जापान के बीच कामिन्टर्न-विरोधी एक समझौता हुआ। इसको कुंठित करने के लिए अगस्त, १९३७ में चीन और रूस के बीच एक और अन्य अनाक्रमण समझौता हुआ।

पराधीन राज्यों के प्रति सोवियत-संघ का रुख:—बोल्शेविक-क्रान्ति का महत्त्व केवल इसी बात में नहीं है कि इससे संसार में सर्वप्रथम मजदूर और सर्वहारा वर्ग का अपना राज्य स्थापित हुआ; बल्कि इससे पराधीन राज्यों के इतिहास में भी एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। बोल्शेविक-रूस ही यूरोप का पहला देश था जिसने स्वेच्छा से साम्राज्यवाद को अस्वीकार कर अपने अधीन के पराधीन राज्यों को मुक्त कर दिया। लिखित इतिहास में यह अनेक ढंग का पहला उदाहरण था। इसके अतिरिक्त सोवियत-संघ ने पराधीन राष्ट्रों के स्वातन्त्र्य-संग्राम के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करके उन्हें हर तरह की मदद देने का वादा भी किया।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत जहाँ तक सम्भव था सोवियत-संघ ने पराधीन राष्ट्रों और हाल के हुए स्वतन्त्र राष्ट्रों की मदद की। युद्ध के बाद पश्चिम के साम्राज्यवादी राज्य तुर्की का खात्मा ही कर देना चाहते थे। लेकिन सोवियत-संघ ने ऐसे संकट के मौके पर तुर्की को मान्यता प्रदान करके उसे यथासम्भव मदद दी। चीन के लोग डा० सनयात सेन के नेतृत्व में अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए भीषण संघर्ष कर रहे थे। सोवियत-संघ ने उनकी भी यथासम्भव मदद की। इसके अतिरिक्त सोवियत-संघ बराबर साम्राज्यवाद विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन करता रहा। इन सम्मेलनों में दुनिया के विभिन्न पराधीन राष्ट्रों के राष्ट्रवादी नेताओं को परस्पर सम्पर्क स्थापित कराने का मौका मिलता रहा। इसके फलस्वरूप इन राष्ट्रों के राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सका। राष्ट्रों के मुक्ति संग्राम में सोवियत संघ की देन अद्वितीय है।

रूस-जर्मन समझौता :—१६३४ में सोवियत नीति-निर्धारकों का पूर्ण विश्वास हो गया कि एक-न-एक दिन उन्हें जीवन-मरण का युद्ध लड़ना ही पड़ेगा। अतः अपनी आत्मरक्षा के लिए वे तैयारी करने लगे। यह तैयारी दो तरह की थी—सैनिक और कूटनीतिक। सैनिक तैयारी के अन्तर्गत सोवियत-संघ विधि उपायों से अपनी सैन्य-शक्ति बढ़ाने लगा। २ मई १६३५ का फ्रैंको-रूसी अनाक्रमण-समझौता कूटनीतिक तैयारी की दिशा में पहला कदम था। फ्रांस और रूस के बीच सन्धि तो अवश्य हो गयी; किन्तु उनके पूर्ण सहयोग के मार्ग में काफी कठिनाई थी। फ्रांस के रूढ़िवादी अभी भी रूस से घृणा करते थे। यही हालत ब्रिटिश-पूँजीपतियों की थी। वे समझते थे कि फासिज्म और साम्यवाद में संघर्ष 'अवश्यम्भावी' है और वे उस दिन की ताक में थे जब हिटलर भूखे शेर की तरह रूस पर जा धमकेगा और उसको दबाकर ही दम लेगा। ब्रिटेन के नीति-निर्धारक, जो वहाँ के पूँजीपति वर्ग के हाथों की कठपुतली थे, सोवियत-संघ के साथ सहयोग करने के पक्ष में नहीं थे। इस हालत में फ्रांस चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकता था; क्योंकि हिटलर के विरुद्ध उसको ब्रिटेन का सहयोग प्राप्त नहीं था।[1]

उधर हिटलर भी रूस के विरुद्ध तैयारी करने में व्यस्त था। अक्टूबर, १६३६ में जर्मनी तथा इटली के बीच मित्रता स्थापित हो चुकी थी, जिसको 'रोम-बर्लिन धुरी' कहते हैं। इसी वर्ष नवम्बर में जर्मनी और जापान के बीच कामिन्टर्न-विरोधी सन्धि हुई और १६३७ में इटली भी इस सन्धि में शामिल हो गया। इस तरह सोवियत-संघ के विरुद्ध तथाकथित 'रोम-बर्लिन-टोकियो-धुरी' की स्थापना हुई। हिटलर अपने उद्देश्य को छिपा कर रखनेवाला व्यक्ति नहीं था। वह बराबर यही बात कहा करता था कि उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य साम्यवाद की जड़ पृथ्वी से उखाड़ फेंकना है। यह सुन कर ब्रिटेन और फ्रांस के नीति निर्धारक खुशी से फूले नहीं समाते थे। ऐसी स्थिति में स्टालिन अकेले हिटलर या मुसोलिनी का सामना नहीं कर सकता था। अक्टूबर, १९३५ में मुसोलिनी ने इथोपिया पर आक्रमण कर दिया। सोवियत-संघ ने राष्ट्रसंघ द्वारा इटली के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करने की मांग की। लेकिन, ब्रिटेन और फ्रांस इसके विरुद्ध थे और इसलिए मुसोलिनी को मनमानी करने के लिए छोड़ दिया गया। जुलाई, १६३६ में स्पेन में गृह-युद्ध छिड़ा। जर्मनी और इटली ने स्पेन की गणतन्त्रीय सरकार के खिलाफ जनरल फ्रैंको को मदद देनी शुरू की। रूस चाहता था कि ब्रिटेन और

1. Vernadsky, *History of Russia*, p. 393.

फ्रांस स्पेन की गणतन्त्रीय सरकार को मदद करें। पर ये दोनों देश हस्तक्षेप न करने की नीति का अवलम्बन कर रहे थे। सोवियत-संघ ने गणतन्त्रीय सरकार की कुछ मदद की। लेकिन उससे क्या होता? ब्रिटेन, और फ्रांस तटस्थता की आड़ में चुप बैठकर स्पेन के गणतन्त्र के विनाश में सहायता करते रहे। १६३८ में जर्मनी ने आस्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। लिटविनोव ने हिटलर के भावी आक्रमणों को रोकने के लिए एक सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव रखा लेकिन फ्रांस और ब्रिटेन ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इसी वर्ष हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया को भी हड़पने का प्रयत्न किया। लिटविनोव ने चेकोस्लोवाकिया की रक्षा के लिए मिलजुल कर तैयारी करने की अपील की। फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया में पहले से सन्धि थी। रूस के साथ भी उसकी सन्धि थी; परन्तु वह उसकी सहायता तभी कर सकता था जबकि फ्रांस पहले पहुँचता। पर ब्रिटेन हिटलर को सन्तुष्ट करना चाहता था और फ्रांस ब्रिटेन के सहयोग के बिना कोई कदम नहीं उठा सकता था। ऐसी हालत में रूस कुछ नहीं कर सका। फ्रांस और ब्रिटेन ने सोवियत-संघ को बिना शामिल किये ही हिटलर के साथ म्यूनिख का समझौता कर लिया जिसके फलस्वरूप चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग हो गया। मार्च, १६३६ में हिटलर ने अवशिष्ट चेकोस्लोवाकिया को भी हड़प लिया। इन सब घटनाओं से स्टालिन को पूरा विश्वास हो गया कि पश्चिमी राष्ट्र हिटलर को प्रोत्साहित करके सोवियत-संघ पर आक्रमण करवाना चाहते हैं। म्यूनिख-सम्मेलन में भाग लेने के लिए सोवियत-संघ को बुलाया तक नहीं गया था। रूस को पश्चिमी देशों से सहयोग करने की नीति की व्यर्थता अच्छी तरह प्रकट हो गयी।

मार्च, १६३६ में जब हिटलर समूचे चेकोस्लोवाकिया को निगल गया तो ब्रिटेन और फ्रांस की आँखें खुलीं। अब वे जर्मनी के खिलाफ गुट कायम करने की बात सोचने लगे। इस गुट में सोवियत-संघ को सम्मिलित करना आवश्यक था। पर सोवियत-संघ साफ-साफ शब्दों में अपने लिए और बाल्टिक सागर के तटीय राज्यों के लिए गारन्टी चाहता था, ब्रिटेन इसके लिए तैयार नही था। चेकोस्लोवाकिया के बाद पोलैंड की बारी थी। ब्रिटेन पोलैंड को गारन्टी दे चुका था और वह चाहता था कि रूस भी उसको इस तरह की गारन्टी दे दे, पर रूस बिना उपर्युक्त गारन्टी लिए कुछ करने को तैयार नही था और ब्रिटेन भी इस तरह की कोई गारन्टी नही देना चाहता था। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि यदि जर्मनी बाल्टिक-सागर के तटीय देशों पर आक्रमण करते हुए रूस चढ़ बैठता तो ब्रिटेन और फ्रांस उसकी सहायता के लिए बाध्य नही थे। स्टालिन बेवकूफ नही था। मई में लिटविनोव ने विदेश-मन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया और मोलोटोव उसके पद पर आया। इस घटना से पश्चिमी राष्ट्र कोई सबक नहीं ले सके। लिटविनोव कट्टर फासिस्ट-विरोधी था और वह किसी भी हालत में जर्मनी के साथ सन्धि करने को तैयार नहीं होता। इसलिए स्टालिन ने उसे हटा देना ही ठीक समझा। रूस-जर्मन वार्तालाप शुरू हो चुका था।[1]

रूस-जर्मन अनाक्रमण सन्धि :—२३ अगस्त को जर्मन परराष्ट्रमन्त्री रिबनट्रोप मास्को पहुँचा। इसी समय साम्यवादियों के 'लोक मोर्चा' का नारा भी बन्द हो गया। मोलोटोव और रिबनट्रोप बहुत समय तक गुप्त वार्ताएँ करते रहे। उस दिन एक अनाक्रमण-सन्धि पर दोनों ने हस्ताक्षर किये। सन्धि के अनुसार यह निश्चय हुआ कि दोनों में से कोई भी एक दूसरे पर

1. Schuman, *International Politics (5th Ed.)*, p. 421.

अकेले या किसी से मिलकर आक्रमण नहीं करेगा।[1] अगस्त को सुप्रिम सोवियत ने सन्धि का अनुमोदन कर दिया।

समझौते के कारण :—रूस के साथ अनाक्रमण समझौता कर लेना हिटलर की महान् कूटनीतिक सफलता थी। इसके कारण पूर्वी मोर्चे पर रूस के आक्रमण की आशंका का अन्त हो गया। फलस्वरूप अब हिटलर अपनी समूची शक्ति को पश्चिमी मोर्चे पर मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध लगा सकता था। हिटलर अभी तक साम्यवाद का कट्टर विरोधी बना हुआ था। अभी तक उसका सारा जीवन सोवियत-संघ का विरोध करने और कम्युनिस्टों को कुचलने में लगा था। कामिन्टर्न विरोधी पैक्ट इसी नीति का परिणाम था। लेकिन १६३६ के समझौते ने इस सारी स्थिति को बदल दिया और कट्टर शत्रु एकाएक एक दूसरे से मित्र बन गये। इसके क्या कारण थे? इस महान् कूटनीतिक परिवर्तन का एक कारण यह था कि इस समझौते के दोनों पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त से पूरी तरह परिचित थे। कूटनीति का मूल आधार अवसरवादिता होता है। इसमें कोई स्थायी शत्रु या मित्र नही होता; परिस्थितियों के अनुसार इसमें बराबर परिवर्तन होता रहता है। इस समय मास्को में एक ही साथ सन्धियों के लिए दो वार्ताएँ हो रही थीं। पहली वार्ता ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के बीच में तथा दूसरी जर्मनी और रूस के बीच में थी। उस समय पोलैण्ड पर जर्मनी की आक्रमण की सम्भावना बढ़ गयी थी और इस लिए जर्मनी तथा ब्रिटेन-फ्रांस दोनों ही रूस का सहयोग प्राप्त करना चाहते थे। ब्रिटेन और फ्रांस की ओर से रूस के साथ सन्धि कर लेने के बड़े प्रयास हुए, लेकिन इसमें सबसे बड़ी बाधा पोलैण्ड था। रूस की ओर से यह शर्त रखी गयी थी कि आक्रमण की दशा में पोलैण्ड में रूसी सेना को घुसने का अधिकार मिले। लेकिन पोलैण्ड किसी भी दशा में यह नहीं चाहता था कि उसके किसी भू-भाग में रूसी सैनिकों का प्रवेश हो। पोलैण्ड के इस रुख के कारण सन्धि-वार्ता में गतिरोध पैदा हो गया और रूस जर्मनी की ओर झुकने लगा।

पोलैंड से भी बढ़कर रूस-जर्मन समझौते का कारण बाल्टिक राज्यों की स्थिति थी। १६१७ के रूस की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद बाल्टिक सागर के तीन राज्य इस्टोनिया, लेटविया, लिन्थुएनिया तथा फिनलेण्ड स्वतन्त्र राज्य बन गये थे। रूस की सुरक्षा के लिए इन राज्यों की स्थिति बड़े महत्त्व की थी। जब तक यूरोप की कूटनीतिक स्थिति शान्त थी तबतक इन राज्यों को कोई भय नहीं था। लेकिन हिटलर के उदयोपरान्त स्थिति बदल गयी और १६३६ के आते-आते हिटलर का खतरा बहुत बढ़ गया था। हिटलर बार-बार रूस के विध्वंस की बातें किया करता था। इन नवीन परिस्थितियों में बाल्टिक राज्यों को असाधारण सामरिक महत्त्व प्राप्त हो गया था। जर्मन के साथ संघर्ष की स्थिति में यदि ये राज्य जर्मनी का साथ दे दे तो रूस के लिए भयंकर स्थिति उत्पन्न हो जा सकती थी। अतः आत्मरक्षा की दृष्टि से रूस इन राज्यों की सुरक्षा की गारंटी चाहता था। जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन और फ्रांस से मिलकर संघ बनाने में रूस ने यह शर्त रखी की या तो बाल्टिक राज्यों और फिण्लैंड को जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा की गारंटी दी जाय अथवा युद्ध छिड़ने पर इन राज्यों में रूस को

1. अनाक्रमण सन्धि के अतिरिक्त दोनों पक्षों में एक गुप्त समझौता भी हुआ था जिसके अनुसार जर्मनी रूस को फिनलैंड, इस्टोनिया, लैटविया, पोलैंड का पूर्वी भाग और रूमानिया का बेसरेबिया प्रदेश देना स्वीकार किया।

अपनी सेना ले जाने की सुविधा दी जाय। लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस इसके लिए तैयार नहीं हुए। अतएव सोवियत रूस के साथ सन्धि वार्ता को भंग कर देना पड़ा। स्टालिन को छोटे राज्यों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर इस प्रकार का कोई ठोस प्रादेशिक लाभ देने को चेम्बरलेन या दलादिये तैयार नहीं थे। अतः उनके साथ रूस का समझौता नहीं हो सका।

रूस जर्मन समझौता ब्रिटेन और फ्रांस के लिए अनभ्र वज्रपात था। वे यह कल्पना भी नही कर सकते थे कि स्टालिन अपने जन्मजात शत्रु और कट्टर विरोधी हिटलर से कोई समझौता कर सकेगा। लेकिन सोवियत संघ के सामने इसके अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नही था। साम्यवादी रूस के प्रति ब्रिटेन और फ्रांस की ओर घृणा थी और उसके विकास में वे सदा सहायता देते रहते थे। म्युनिख समझौते के समय तो उनकी नीति चरम सीमा पर पहुँच गयी। ऐसी हालत में जर्मनी से किसी तरह का समझौता कर लेना ही उचित था। इसके अतिरिक्त जर्मनी से सन्धि करके रूस को कुछ ठोस लाभ प्राप्त हो रहा था जो उसकी सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। रूस भावी आक्रमण से भयभीत होकर अपनी सुरक्षा के लिए बाल्टिक राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। लेकिन पश्चिमी राष्ट्र इसके लिए तैयार नहीं थे, पर जर्मनी इसके लिए तुरत तैयार हो गया, क्योंकि इसमें उसे पूर्वी मोर्चे की सुरक्षा का तात्कालिक लाभ था और उसका यह विश्वास था कि पश्चिमी राष्ट्रों को हराने के बाद वह रूस से लड़कर ये प्रदेश पुनः प्राप्त कर लेगा।[1]

नात्सी जर्मन के साथ प्रगतिशील साम्यवादी राज्य सोवियत-संघ के इस सन्धि की कहीं-कही बड़ी कड़ी आलोचना हुई है। कुछ लोग इसे सोवियत विदेश नीति के इतिहास में एक "काला धब्बा" मानते है। सोवियत-संघ से उस समय सहानुभूति रखने वाले एशिया के कुछ प्रगतिशील राष्ट्रवादियो ने भी इसकी आलोचना की है।[2] वास्तव में जर्मन और सोवियत रूस में गठबन्धन एक अजीब बात लगती है। पर यदि हम उस समय की कूटनीतिक स्थिति की तह में जाकर विषय का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि स्टालिन ने जर्मनी के साथ समझौता करके एक महान् दूरदर्शिता का परिचय दिया। राष्ट्रीय सुरक्षा सफल विदेश नीति की कसौटी मानी जाती है और इस दृष्टि से रूस-जर्मन समझौता बिल्कुल उचित था। यह सोवियत विदेश नीति की सबसे बड़ी विजय और स्टालिन के तूफानी राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी सफलता थी।[3] स्टालिन ने उस समय की अत्यन्त भीषण परिस्थिति में रूस को युद्ध की ज्वाला से दूर रखने का प्रयत्न किया। जब सितम्बर, १९३९ में जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण किया और द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ तो रूस उसमें तटस्थ रहा।

---

1. David Thomson, *Europe Since Napoleon*, p. 715.
2. Jawaharlal Nehru, *An Autobiography*, p. 601.
3. Vernadsky, *A History of Russia*, p. 391.

अध्याय : ८

विश्व राजनीति में पश्चिम एशिया
(West Asia in World Politics)

पश्चिम एशिया का महत्त्व :—प्राचीन काल से ही पश्चिमी एशिया[1] विश्व राजनीति का तूफानी केन्द्र रहा है। इसने अनेक प्राचीन सभ्यताओं के उत्थान और पतन देखे हैं। यहीं पर मिस्र, मेसोपोटामिया तथा एजियन की प्राचीन सभ्यताओं का जन्म, विकास और अन्त हुआ था। इसके अतिरिक्त पश्चिमी एशिया ही विश्व के दो महान् धार्मिक आन्दोलन—ईसाई तथा इस्लाम—का जन्म स्थान है। क्रूसेड का ऐतिहासिक युद्ध यहीं पर हुआ था। मध्ययुग का अन्त होते-होते इस क्षेत्र का महत्त्व समाप्त होने पर लगा हुआ था। लेकिन, आधुनिक आवागमन के साधनों के विकास के कारण इसका प्राचीन महत्त्व पुनः स्थापित हो गया।

आधुनिक युग में नेपोलियन ही पहला व्यक्ति था, जिसने इस भू-भाग के सामरिक महत्त्व को समझा। अपने मिस्री अभियान के समय उसने स्वेज नहर के योजना बनायी, जिसको पचास वर्ष बाद डी लेसप्स ने बनाकर तैयार करवाया। इसके बाद के पश्चिमी एशिया का इतिहास इस महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग और इसके इर्द-गिर्द के भू-भागों पर अपना आधिपत्य अथवा प्रभाव-क्षेत्र कायम करने का यूरोप के महान् राष्ट्रों के बीच आपसी प्रतिद्वन्द्विता का इतिहास है। पश्चिमी एशिया की जमीन की तह में संसार का सबसे बड़ा पेट्रोलियम का भंडार है और आधुनिक युग में पेट्रोल के महत्त्व पर कुछ कहना ही व्यर्थ है। इस बहुमूल्य पदार्थ के बिना आज हम संसार की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। अतः विश्व-राजनीति में पश्चिमी एशिया का स्थान समझने के लिए हमें इन दो बातों—स्वेज नहर और पेट्रोल—पर अवश्य ही ध्यान देना होगा।

प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व पश्चिमी एशिया का इतिहास तुर्की-साम्राज्य का इतिहास है। इस महायुद्ध में तुर्की जर्मनी का पक्ष लेकर सम्मिलित हुआ था और जर्मनी के भाग्य के साथ ही उसके भाग्य का भी निर्णय हो गया। प्रथम विश्व-युद्ध में तुर्की साम्राज्य तहस-नहस और बर्बाद हो गया। युद्ध के समय मित्र-राष्ट्रों को तुर्की-साम्राज्य की प्रजाओं की मदद की आवश्यकता थी। मित्रराष्ट्र इनको तुर्की के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए भड़काते थे और उनको तरह-तरह के आश्वासन दिये हुए थे। इनमें एक प्रमुख आश्वासन यह था कि युद्ध में तुर्की की पराजय के बाद उन्हें स्वतन्त्रता दे दी जायगी। लेकिन, ठीक इसके विपरीत जब युद्ध चल ही रहा था, उसी समय मित्रराष्ट्र तुर्की साम्राज्य का विभाजन करके उसे आपस में बाँट लेने की गुप्त सन्धि कर चुके थे। पेरिस की शान्ति-सम्मेलन में विलसन के 'चौदह सूत्रों' के १२ वें सूत्र, मित्रराष्ट्रों के आश्वासनों और इन गुप्त सन्धियों के बीच समन्वय स्थापित करना बहुत ही कठिन काम साबित

१. १९५१ में भारत सरकार ने एक घोषणा द्वारा यह तय किया है कि अब सुदूर पूर्व (Far East और मध्य पूर्व (Middle East) को क्रमशः पूर्वी एशिया और पश्चिमी एशिया कहा जाय। अतएव इस पुस्तक में इन्हीं शब्दों का व्यवहार होगा।

हुआ। अन्त में संरक्षण प्रणाली का आविष्कार कर इस समस्या का समाधान किया गया। इसके अनुसार सीरिया फ्रांस के संरक्षण में और इराक, जोर्डन तथा फिलिस्तीन ब्रिटेन के संरक्षण में चले गये। उधर मिस्र, सूडान, यमन, साऊदी अरब, अफगानिस्तान, फारस इत्यादि देशों पर पहले से ही ब्रिटेन का प्रभाव था। पराजित तुर्की के साथ पेरिस में जो सन्धि की गयी वह सेव्र की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार तुर्की का एक बहुत बड़ा भू-भाग उसके हाथ से निकल गया और विशाल तुर्की-साम्राज्य एक बहुत ही छोटे देश के रूप में परिवर्तन हो गया।

शान्ति-सन्धि के बाद विश्व राजनीति में पश्चिमी एशिया प्रमुख भाग लेने लगा। इसी बीच उस क्षेत्र की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुके थे। इस क्षेत्र के निवासी पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों के राजनीतिक और आर्थिक शोषण को चुपचाप सहने के लिए तैयार नहीं थे। उत्तर पश्चिमी राज्य भी इनका शोषण करने के लिए कटिबद्ध थे। क्या मिस्र, क्या सीरिया, क्या फारस, क्या फिलिस्तीन सबको वे अपनी गुलामी की जंजीर में जकड़ लेना चाहता थे। यहाँ तक कि प्रभुसत्तासंपन्न तुर्की को भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के भँवरजाल में फँसाकर परोक्ष रीति से गुलाम बनाने का प्रयास किया गया। एक तरफ स्वतन्त्रता के प्रेमी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए कराह रहे थे तो दूसरी तरफ से उनपर क्रूर दमन का चक्र चल रहा था। दो विश्व-युद्धों के बीच पश्चिमी एशिया का इतिहास इन्हीं दो प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष का इतिहास है।

(१) तुर्की की विदेश नीति

(Foreign Policy of Turkish Republic)

युद्ध के बाद तुर्की की स्थिति—प्रथम विश्व-युद्ध में जर्मनी का पक्ष लेकर तुर्की भी युद्ध में शामिल हुआ था। लेकिन ३१ अक्टूबर, १६१८ को युद्ध में बुरी तरह पराजित होकर उसे आत्म-समर्पण करना पड़ा। पेरिस शान्ति-सम्मेलन में तुर्की के साथ समझौता करने के लिए जो सन्धि तैयार हुई उसको सेव्र की सन्धि कहते हैं। अन्य शान्ति-सन्धियों की तरह सेव्र की सन्धि भी एक आरोपित सन्धि थी। तुर्की का सुल्तान इस सन्धि को मान लेने के लिए तैयार था, लेकिन तुर्की के राष्ट्रवादी इसके एकदम विरुद्ध थे। इस राष्ट्रवादी तत्त्वों का नेता मुस्तफा कमालपाशा नामक एक व्यक्ति था। जिस समय तुर्की की सरकार सेव्र की सन्धि को स्वीकार कर रही थी उस समय मुस्तफा कमालपाशा अनातोलिया में इन्सपेक्टर-जनरल के पद पर कार्य कर रहा था। उसका विचार था कि तुर्की को यह सन्धि स्वीकार नहीं करनी चाहिए और यदि आवश्यकता हो तो युद्ध को फिर से प्रारम्भ करके इसका मुकाबला करना चाहिए। तुर्की के देशभक्त उसके विचारों से सहमत थे। कमालपाशा तत्कालीन सरकार की कमजोरियों से भलीभाँति परिचित था। उसके ख्याल में जबतक यह सरकार कायम रहेगी तबतक तुर्की संसार में अपना उचित और गौरवपूर्ण स्थान नहीं पा सकता था! अतः अनातोलिया में उसने सुलतानी सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा करके एक स्वतन्त्र समानान्तर सरकार की स्थापना कर ली, जिसकी राजधानी अन्कोरा बनायी गयी। कमालपाशा ने साफ-साफ शब्दों में सेव्र की सन्धि स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।

ऐसी स्थिति में यूनानी प्रधानमन्त्री वेनिजेलास ने 'मित्रराष्ट्रों के सामने यह प्रस्ताव रखकर उन्हें इस बात के लिए राजी कर लिया कि तुर्की से सेव्र की सन्धि स्वीकार कराने के लिए एशिया माइनर स्थित स्मर्ना के प्रदेश पर यूनानी सेना कब्जा कर ले। ब्रिटेन इसके लिए यूनान को कर्ज देने को तैयार हो गया। इटली भी इस अपवित्र कार्य में सहयोग देने के लिए तैयार था। कुछ ही दिनों में इन दोनों देशों की सेना तुर्की की भूमि पर अपना अधिकार करने के लिए चल पड़ी। अपने कट्टर और अत्यन्त घृणित शत्रुओं द्वारा तुर्की की भूमि पर इस प्रकार अतिक्रमण किये जाने पर तुर्की ने बहुत रोष प्रकट किया। इस रोष के फलस्वरूप कमालपाशा का नेतृत्व और भी मजबूत हो गया। वह साम्राज्यवादियों से लोहा लेने के लिए तैयार हो गया।

यूनान और इटली की सेना तुर्की में बढ़ती गयी और अगस्त, १९२० में मित्रराष्ट्रों ने तुर्की के सुल्तान से सेव्र की सन्धि पर जबरदस्ती हस्ताक्षर करवा लिया। पर कमालपाशा ने यूनान और इटली के साथ युद्ध जारी रखा। कुछ दिनों के बाद यह अनुभव करके कि तुर्की के साथ युद्ध जारी रखना व्यर्थ है, इटली की सरकार ने लन्दन में कमालपाशा के प्रतिनिधि के साथ गुप्त रूप से यह समझौता कर लिया कि तुर्की के सारे प्रदेशों से इटली की सेनाएँ वापस बुला ली जायेंगी। अब मैदान में अकेला यूनान ही बच रहा। १९१९ से १९२१ तक तुर्की और यूनान में युद्ध चलता रहा।

इसी बीच मित्रराष्ट्रों के बीच मतभेद पैदा हो गया। १९२१ में बोल्शेविक रूस ने कमाल सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। इसके पहले अक्टूबर, १९२० में यूनान के राजा अलेक-जेण्डर की मृत्यु एक पालतू बन्दर के काटने से हो गयी। इसके बाद यूनान में आम चुनाव हुआ। फलस्वरूप वेनिजेलास-सरकार का पतन हो गया और जर्मनी का समर्थक कान्सटेन्टिन यूनान की गद्दी पर बैठा। विविध कारणों से मित्रराष्ट्रों की सहानुभूति कान्सटेन्टिन के प्रति नहीं हो सकती थी। इटली कमालपाशा से समझौता कर चुका था और १९२१ में फ्रांस ने भी कमालपाशा सरकार के साथ एक सन्धि कर ली। यूनान की मदद करनेवाला अब कोई नहीं रहा। यूनानियों को धीरे-धीरे पीछे खदेड़ दिया गया और सितम्बर, १९.२ में मुस्तफा कमाल ने एशिया की भूमि से अन्तिम यूनानी सेना को भी मार भगाया। फ्रांस और ब्रिटेन अब यह अनुभव करने लगे कि तुर्की के साथ झगड़ा जारी रखना बेकार है। वे अब इस फिक्र में थे कि तुर्की के साथ समझौता करके उससे कुछ ऐसी आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त कर ली जायें जिससे फ्रांस और ब्रिटेन के पूँजीपतियों को उस देश का आर्थिक शोषण करने का मौका प्राप्त होता रहे। ऐसी स्थिति में यूनान और तुर्की के बीच विराम-सन्धि करा दी गयी और इस तरह लुसान में होनेवाले शान्ति-सम्मेलन के लिए रास्ता तैयार हो गया।

लुसान की सन्धि—तुर्की की नयी सरकार के साथ सब विवादग्रस्त मामलों का नये सिरे से निबटारा करने के लिए २० नवम्बर, १९२२ को स्विट्जरलैण्ड के अन्यतम नगर लुसान में एक सम्मेलन शुरू हुआ जिसमें भाग लेनेवाले देश ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, यूनान, जापान अमेरिका, रूस, रूमेनिया, यूगोस्लाविया और तुर्की थे। बहुत वाद-विवाद के बाद २५ जुलाई १९२३ को एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुआ जिसको लुसान की सन्धि कहते हैं। इस सन्धि के अनुसार पूर्वी थ्रेस, स्मार्ना, अडेलिया, अनातोलिया इत्यादि प्रदेश, जो सेव्र की सन्धि के अन्तर्गत विविध यूरोपीय राज्य को दे दिये गये थे, तुर्की को पुनः वापस मिल गये। क्षतिपूर्ति की रकम में

भारी कमी कर दी गयी। कुर्दिस्तान पर तुर्की का प्रभुत्व मान लिया गया और इराक तथा तुर्की की सीमा निश्चित करने का प्रश्न भविष्य के लिए स्थगित कर दिया गया। सेव्र की सन्धि द्वारा बॉसपोरस और डार्डेनेल्स के जलडमरूमध्यों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण कायम किया गया था। लुसान-सन्धि के द्वारा इसे रद्द कर दिया गया और राजनीतिक दृष्टि से इस पर तुर्की का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। पर तुर्की जलडमरूमध्यों के आस-पास केवल किलाबन्दी नहीं कर सकता था। संसार के सभी देशों के जहाज इस मार्ग से आ-जा सकते थे। इस प्रकार लुसान की सन्धि के द्वारा मित्रराष्ट्रों और तुर्की का झगड़ा समाप्त हुआ। इस सन्धि की विशेषता यह थी कि यह आरोपित सन्धि नहीं थी, बल्कि बातचीत के द्वारा तय की गयी थी और इसलिए युद्ध के बाद होनेवाली अन्य सन्धियों की अपेक्षा अधिक दृढ़ और स्थायी थी। एक विद्वान् लेखक के शब्दों में 'सेव्र की सन्धि को पूर्णतया नष्ट कर उसके स्थान पर लुसान की सन्धि करना कमाल-पाशा की अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारी विजय थी।'' दो सौ सालों से तुर्की ''यूरोप का मरीज'' कहलाता था और पश्चिमी राष्ट्र इस काल में निरन्तर उसको लूटने का प्रयास करते आ रहे थे। वह जमाना अब समाप्त हो गया।

तुर्की की विदेश नीति के मूल आधार—लुसान सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद कमालपाशा का ध्यान आन्तरिक पुनर्निर्माण की ओर आकृष्ट हुआ और उसके प्रयास से कुछ ही दिनों में तुर्की एक आधुनिक राज्य बन गया। आन्तरिक सुधार करने के साथ-साथ कमालपाशा के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह तुर्की के लिए एक आदर्श विदेश-नीति का अवलम्बन करे। कमाल-पाशा का एकमात्र उद्देश्य यह था कि वह नवजात तुर्की रिपब्लिक का बाह्य और आन्तरिक खतरों से रक्षा करे। इसके लिए यह आवश्यक था कि वह पुराने तुर्की-साम्राज्य की आक्रमणकारी और साम्राज्यवादी विदेश नीति का परित्याग कर दे। रिपब्लिक की स्थापना के बाद राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा तुर्की की विदेश नीति का एकमात्र उद्देश्य था। पुराने साम्राज्य को फिर से स्थापित करने का अब प्रश्न ही नहीं था। कमालपाशा का विचार था कि तुर्की को साम्राज्य से कोई लाभ नहीं हुआ है। इसलिए पुरानी तुर्की साम्राज्य की विदेशनीति के मूल तत्त्व 'अखिल इस्लाम आन्दोलन' (Pan Islam Movement) का सर्वथा परित्याग कर दिया गया। कमालपाशा के विचार में राजनीति और धर्म एक दूसरे से मुक्त होना चाहिए। १६३१ में तुर्की के विदेश-सचिव ने कहा कि हमलोग आन्तरिक या बाह्य किसी भी नीति में धर्म का प्रयोग नहीं करना चाहते हैं। संक्षेप में, धर्म-निरपेक्षता नवीन तुर्की की विदेश नीति की एक विशेषता बनी।

युद्ध के बाद तुर्की के साथ मित्रराष्ट्रों ने जो अत्याचार किये थे उसके फलस्वरूप जन्म से ही स्वतन्त्र तुर्की साम्राज्यवाद का विरोधी हो गया। ब्रिटेन और फ्रांस का प्रोत्साहन पाकर यूनान ने किस प्रकार तुर्की पर आक्रमण कर दिया था, इसको हमलोग देख चुके हैं।

मोसुल-विवाद को लेकर साम्राज्यवादी विरोधी भावना और भी पुष्ट हो गयी। लुसान-सन्धि द्वारा यह तय हुआ था कि तुर्की और इराक की सीमा नौ मास के अन्दर तुर्की और ब्रिटेन के एक मैत्रीपूर्ण समझौते के अनुसार निर्धारित किया जायगा। इराक उस समय ब्रिटिश-संरक्षण में था और इसलिए ब्रिटेन मोसुल का क्षेत्र इराक में सम्मिलित करना चाहता था। उधर कमालपाशा का कहना था कि मोसुल तुर्की का अभिन्न अंग है और उसको कोई अलग नहीं कर सकता। जब ब्रिटेन और तुर्की में समझौता नहीं हो सका तो यह मामला राष्ट्रसंघ में भेजा गया।

राष्ट्रसंघ ने अपना निर्णय ब्रिटेन के पक्ष में दिया। तुर्की देशभक्तों का यह सारा काण्ड एक संगठित साम्राज्यवादी षड्यन्त्र जैसा प्रतीत होता था। ऐसी स्थिति में उसका साम्राज्यवाद का विरोधी होना आवश्यक था। इस प्रकार नवीन तुर्की की विदेश नीति के चार स्तम्भ थे : धर्मनिरपेक्षता, साम्राज्यवाद का विरोध, राष्ट्रीय सम्मान की प्राप्ति और राष्ट्रीय सुरक्षा की व्यवस्था। दो विश्वयुद्धों के बीच में इन्हीं चार मूल आधारों पर तुर्की गणराज्य की विदेश नीति विकसित हुई।

तुर्की की विदेश नीति में साम्राज्यवाद विरोधी तत्त्व का क्षेत्र कोई सीमित नहीं था। इसका एक अर्थ तुर्की पर परोक्ष या प्रत्यक्ष रीति से किसी प्रकार के साम्राज्यवाद को कायम होने से रोकना था। इसका दूसरा मतलब तुर्की की पुरानी साम्राज्यवादी नीति का परित्याग भी करना था। साम्राज्यवाद विरोधी होने का मतलब यह भी था कि संसार के पराधीन देशों के स्वतन्त्रता-संग्राम के प्रति सहानुभूति प्रकट की जाय और उन्हें यथासम्भव नैतिक और कूटनीतिक सहायता दी जाय। अन्य देशों के साथ तुर्की ने जो सन्धियाँ कीं उनमें इस भावना को यथासम्भव स्थान दिया गया।

मोन्त्रो (Montreux) की सन्धि :—राष्ट्रीयता की भावना तुर्की-विदेश नीति को प्रभावित करती रहती। तुर्की के समाचार पत्र इस बात को बराबर दुहराते रहे कि जलडमरूमध्यों पर तुर्की के अधिकार को किसी प्रकार सीमित करना उसका राष्ट्रीय अपमान है। लुसान-सन्धि के द्वारा यह तय किया गया था कि तुर्की जलडमरूमध्य के आस-पास किलाबन्दी नहीं कर सकता है। १६३६ में तुर्की ने सम्बन्धित राज्यों के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि वे इस बात की अनुमति दें कि तुर्की इस प्रदेश में अपनी इच्छानुसार किलाबन्दी कर सके। स्विट्जरलैंड के मोन्त्रो नामक स्थान में इस प्रश्न पर विचार हुआ और तुर्की को किलाबन्दी करने की अनुमति दे दी गयी। तुर्की को यह अधिकार भी प्राप्त हुआ कि युद्ध के समय वह उभय पक्ष के जंगी जहाजों को इस जलमार्ग से आने-जाने से रोक सके। इस समझौते के परिणामस्वरूप तुर्की के मामलों से विदेशी हस्तक्षेप का अन्त हो गया।

रूस के साथ सम्बन्ध :—अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के कारण तुर्की और सोवियत संघ में मित्रता स्थापित होने की दिशा में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। जिस समय तुर्की कई कठिनाइयों से घिरा पड़ा था और यूनान की सेना उसकी भूमि को रौंद रही थी वैसे कठिन समय में सोवियत-रूस ही एक ऐसा देश था जिसने कमाल-सरकार को मान्यता दी थी। युद्ध के बाद तुर्की के साथ दुर्व्यवहार तथा मोसुल-विवाद में साम्राज्यवादियों के षड्यन्त्र के कारण तुर्की का यह विश्वास हो गया था कि पश्चिमी राष्ट्र उसको तंग करने के लिए कृतसंकल्प हैं। इसके अतिरिक्त तुर्की और सोवियत-संघ दोनों के साथ राष्ट्रों की मंडली में 'अछूत' जैसा व्यवहार किया जाता था। दोनों देश इस स्थिति से अपने को निकालना चाहते थे। अतः १६२१ में ही दोनों देशों की सरकारों ने मास्को में एक मित्रता सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये थे। इस संधि के अनुसार दोनों हस्ताक्षरकर्त्ताओं ने इस बात को मान लिया कि एशिया के विभिन्न देशों को स्वतन्त्र होने का अधिकार है। इसके बाद दोनों देशों के राजनीतिज्ञ और सैनिक विशेषज्ञ एक दूसरे के देश में भ्रमण करते रहे। १७ दिसम्बर, १९२५ को तुर्की-विदेश मन्त्री पेरिस गया और वहाँ सोवियत-संघ के प्रतिनिधि से मिलकर एक मित्रता तथा अनाक्रमण-सन्धि पर हस्ताक्षर किया। संधि दस साल के लिए की गयी थी; किन्तु आवश्यकता पड़ने पर इसे पुनः दुहराया भी जा सकता

बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी; क्योंकि विगत दो सौ वर्षों से दोनों देश एक-दूसरे के थे।

में पेरिस-सन्धि को दुहराकर इसकी अवधि दस साल के लिए और बढ़ा दी गयी और ... तौर पर दोनों देशो का सम्बन्ध अच्छा बना रहा। पर जहाँ तक आन्तरिक राजनीति का सम्बन्ध था, तुर्की-सरकार साम्यवाद का कट्टर विरोधी बनी रही। वास्तव में तुर्की के शासक वर्ग के अधिकांश व्यक्ति कुलीन घराने के थे और इसलिये साम्यवाद का विरोध करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसलिए सोवियत संघ से कोई महत्त्वपूर्ण आर्थिक सहायता नहीं ली जाती थी। जब तुर्की में साम्यवादी प्रचार बढ़ने लगा तब कमालपाशा पश्चिमी राष्ट्रों के साथ भी घना सम्बन्ध स्थापित करने की बात सोचने लगा।[1]

अन्य यूरोपीय देशों से सन्धियाँ :—१६२८ में तुर्की ने इटली के साथ मित्रता की एक सन्धि की। १६२९ में फ्रांस के साथ भी एक सन्धि हो गयी। इसके अनुसार तुर्की-सीरिया-सीमान्त पर तुर्की के पक्ष में कुछ परिवर्तन हुए। १६२७ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने 'लोटस' जहाज से सम्बन्धित फ्रांसीसी-तुर्की-विवाद पर अपना निर्णय दिया जो तुर्की के पक्ष में था। इससे राष्ट्रसंघ में तुर्की का विश्वास बढ़ा और १६३२ में वह इसका सदस्य बन गया।

अमेरिका और तुर्की :—युद्ध के बाद अमेरिका और तुर्की का सम्बन्ध कुछ विचित्र था। यद्यपि दोनों राज्यों में किसी ने विधिवत् युद्ध की घोषणा नहो की थी, फिर भी दोनों के कूटनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध विच्छेद हो गये थे। इस सम्बन्ध को पुनःस्थापित करने के लिए एक नयी सन्धि की आवश्यकता थी। अमरीकी सिनेट में कई वर्षों तक तुर्की के साथ सन्धि करने के विषय पर बहस चलती रही। लेकिन, इसका कोई नतीजा नहीं निकला। इसी बीच तुर्की उन देशों के मालों पर अत्यधिक कर लगाने लगा, जिनके साथ उनका कूटनीतिक सम्बन्ध नहीं था। अपने आर्थिक हितों की रक्षा करने के लिए अन्त में अमेरिका को १६२७ में तुर्की के साथ सन्धि करनी पड़ी। तुर्की की राजधानी में एक अमरीकी राजदूत रहने लगा।

तुर्की के पड़ोसी राष्ट्र :—१६३० में तुर्की और अफगानिस्तान के बीच एक समझौता हुआ। इसमें इस बात को मान्यता दी गयी कि तुर्की पश्चिमी एशिया के राष्ट्रीय आन्दोलनों का नेता है। १९२१ में तुर्की, फारस और अफगानिस्तान के बीच एक मैत्री सन्धि हुई। १६२६ में फारस के साथ एक दूसरी संधि हुई।

तुर्की और बाल्कन-प्रायद्वीप के राज्य :—बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति में दिलचस्पी लेना तुर्की के लिए बिलकुल स्वाभाविक था। १६२३ में हंगरी और १९२४ में आस्ट्रिया के साथ उनकी मैत्री-सन्धि हुई। यूनान, यूगोस्लाविया और बुल्गेरिया के साथ तुर्की का कुछ विरोध था। १६२५ में यूगोस्लाविया और बुल्गेरिया के साथ मैत्री सन्धि पर हस्ताक्षर करने के कुछ दिक्कतों को दूर कर दिया गया। १६२८ में इटली और १६२६ में यूनान के साथ तुर्की की संधि हुई। इसके अनुसार हस्ताक्षरकर्त्ताओं ने यह वचन दिया कि वे शान्तिपूर्ण ढंग से अपने झगड़ों का फैसला करेंगे। १६३३ में यूनान और तुर्की में दस वर्ष के लिए एक सन्धि हुई। फलस्वरूप दोनो देशो के सम्बन्धों में काफी सुधार हुआ। तुर्की का सम्बन्ध बाल्कन-प्रायद्वीप के देशों के

1, S. N. Fisher, *The Middle East.* p. 403.

साथ इतना अच्छा हो गया कि वह बाल्कन देशों के सम्मेलनों में भाग लेने लगा। यहाँ तक कि द्वितीय बाल्कन सम्मेलन का अधिवेशन तुर्की की राजधानी में ही हुआ था और तुर्की बाल्कन-गुट का प्रमुख सदस्य हो गया।

युद्ध के अवसर पर :—१९३३ में हिटलर जर्मन का प्रधान मन्त्री बना और उसके कुछ ही दिनों बाद युद्ध के बादल मंडराने लगे। सम्भावित आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए जून, १९३६ में तुर्की ने फ्रांस के साथ एक अनाक्रमण सन्धि की। इसके साथ ही आँग्ल-तुर्की-सम्बन्ध में काफी सुधार होने लगा। जब १९३८ में ब्रिटिश सम्राट् का राजतिलक हुआ तो उस अवसर पर तुर्की का प्रतिनिधि भी उसमें सम्मिलित हुआ। मई, १९३८ में तुर्की और ब्रिटेन के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ। इसके अनुसार ब्रिटेन ने तुर्की को कर्ज देने का वादा किया। १९३९ में इन दोनों देशों के बीच भी एक अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर हो गया। अब अगस्त, १९३९ में हिटलर और स्टालिन के बीच समझौता हुआ तो इस घटना से तुर्की को काफी दुःख हुआ और वह रूस से सतर्क रहने लगा। इसी साल रूस के अनेक अनुरोध पर भी तुर्की उसके साथ सन्धि करने को तैयार नहीं हुआ। जब द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ा तो तुर्की ने तटस्थ रहने का प्रयास किया और इसमें उसको सफलता भी मिली।

(२) फिलिस्तीन की समस्या (Palestine Problem)

फिलिस्तीन यहूदियों का मूल निवास-स्थान है। शुरू में वे यहीं रहते थे और यहीं से संसार के कोने कोने में फैले थे। इन यहूदियों की सबसे बड़ी अभिलाषा फिलिस्तीन को अपना राष्ट्रीय घर बनाना था। उनकी यह आशा अभी लुप्त नहीं हुई, बल्कि समय की प्रगति के साथ-साथ और भी बलवती होती रही। उन्नीसवीं शताब्दी में बाहर से असंख्य यहूदी फिलिस्तीन में आकर बस गये। रूस और पूर्वी यूरोप में बसे यहूदियों में फिलिस्तीन लौटने की भावना सबसे अधिक प्रबल थी; क्योंकि इन देशों में उनपर घोर अत्याचार होता था। १८९६ में डा० थियोडोर हर्ज़ल (Theoder Herzl) द्वारा 'फिलिस्तीन लौटो' आन्दोलन को एक निश्चित राजनीतिक रूप दे दिया गया। उन्होंने अपनी 'एक यहूदी राज्य' नामक पुस्तक में लिखा "इतिहास साक्षी है कि हमलोगों के राष्ट्रीय चरित्र का स्तर बहुत ही ऊँचा रहा है। यहूदियों की राष्ट्रीयता को बर्बाद नहीं किया जा सकता। यहूदियों की समस्या एक राष्ट्रीय समस्या है और विश्वव्यापी समस्या बनाकर ही इसका समाधान किया जा सकता है।" १८९७ में यहूदियों का एक सम्मेलन स्विट्जरलैंड में हुआ। इस सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास हुआ जिसमें यहूदियों के लिए फिलिस्तीन में एक 'राष्ट्रीय घर' की माँग की गयी। १९०२ में रूसी यहूदियों पर घोर अत्याचार किया गया। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें ऊगन्डा में बसने की अनुमति दे दी। पर यहूदी लोग फलिस्तीन में ही बसना चाहते थे और उनका यह आन्दोलन बीसवीं सदी के प्रारम्भ में काफी मजबूत हो गया।[1]

बैलफोर-घोषणा :—ब्रिटेन की यहूदी आन्दोलन से काफी सहानुभूति थी। वह अरबों के बीच में ऐसे देश का सृजन कर लेना चाहते थे जो सुगमता से ब्रिटेन के प्रभाव में रह सके। महायुद्ध के समय फिलिस्तीन का विस्तृत-भू-भाग अँगरेजों के कब्जे में आ गया। यहूदियों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करने के लिए २ नवम्बर, १९१७ को लार्ड बैलफोर ने ब्रिटिश-

1. George Lenzovski, *The Middle East in World Politics*, p. 313.

संसद् में यह घोषणा की कि ब्रिटिश-सरकार फिलिस्तीन में यहूदी जाति के लिए एक राष्ट्रीय निवास स्थान की स्थापना के पक्ष में है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह भरसक प्रयत्न करेगी।" इजराइल की उत्पत्ति का बीजारोपण इसी घोषणा में हुआ था।

फिलिस्तीन पर ब्रिटिश-संरक्षकता :—पेरिस शान्ति-सम्मेलन में डा० बीजमान के नेतृत्व में यहूदियों का एक प्रतिनिधिमण्डल अपनी माँग रखने के लिए पेरिस पहुँचा। शान्ति-सम्मेलन से एकत्रित पश्चिमी राज्यों की सहानुभूति यहूदियों के पक्ष में थी। इसका एक कारण यह था कि यहूदी रूस के प्रबल विरोधी थे। शान्ति-सम्मेलन में फिलिस्तीन पर ब्रिटेन की संरक्षता स्थापित करने का निर्णय हुआ। इस निर्णय में बैलफोर-उद्घोषणा को अक्षरशः मान लिया गया
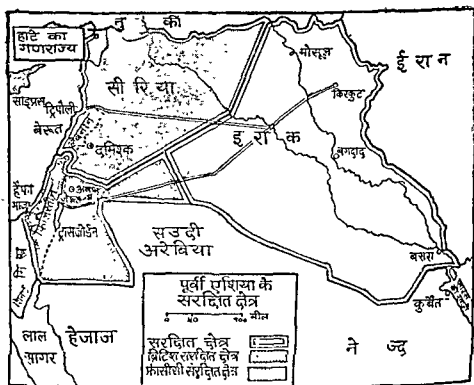
था। फिलिस्तीन में संरक्षण प्रणाली स्थापित करने की शर्तों के अनुसार संरक्षक राज्य का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया गया कि वह 'उस देश को ऐसी राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक स्थिति में रखे कि यहूदियों के लिए स्वदेश स्थापित करना सम्भव हो सके तथा इनके साथ-ही-साथ फिलिस्तीन के सभी निवासियों के नागरिक और धार्मिक अधिकार सुरक्षित रहें।'

फिलिस्तीन पर ब्रिटिश-संरक्षण कायम होने से ब्रिटेन को कई लाभ हुए। सामरिक दृष्टिकोण से इस क्षेत्र का बहुत बड़ा महत्त्व था। उस समय मिस्र में राष्ट्रीय आन्दोलन बड़ी तेजी से चल रहा था। इस कारण ब्रिटेन यह भरोसा नहीं रख सकता था कि मिस्र में सेना रखना उसके लिए सुरक्षित है। पर फिलिस्तीन पर संरक्षता कायम हो जाने के बाद ब्रिटेन वहाँ अपनी सेनाएँ निश्चिन्त रूप से रख सकता था। वहाँ से केवल स्वेज नहर पर ही कब्जा कायम रखना सुगम नहीं हो गया, अपितु यह अपने पूर्वी साम्राज्य की सुरक्षा के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ निश्चिन्त

हो गया। ब्रिटेन का प्रोत्साहन पाकर लाखों की संख्या में यहूदी फिलिस्तीन जाकर बसने लगे। यहूदियों का यह आवागमन फिलिस्तीन के बहुसंख्यक निवासी अरबों को पसन्द नहीं था। हर दृष्टि से यहूदी उनसे बढ़े-चढ़े थे और उनको भय था कि कहीं आगे चलकर सम्य यहूदी पिछड़े हुए अरबों पर अपना आधिपत्य न कायम कर लें। इस कारण फिलिस्तीन में शीघ्र ही जातिगत विरोध की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। अप्रिल, १९२० में संरक्षण प्रणाली के एलान होने के तुरत बाद जेरूसलम में यहूदी-विरोधी दंगे हो गये और १९२१ से १९२५ तक जातिगत अनेक उपद्रव होते रहे।

संरक्षण पद्धति को यहूदी सम्बन्धित शर्तों को पूरा करना कठिन कार्य था। युद्धकाल में अपने लाभ के लिए मित्रराष्ट्रों द्वारा अरबों की राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहित किया गया था। किन्तु यहूदियों के दिये वचन और अरबों को दिये गये आश्वासन में परस्पर विरोध था और इसलिए भविष्य में कठिनाइयों का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी था। १९१९ में फिलिस्तीन में वस्तुतः अरब लोग ही निवास करते थे। पर संरक्षण पद्धति स्थापित होने के बाद इस देश का द्वार यहूदियों के लिए खुल गया और कुछ ही दिनों में फिलिस्तीन विश्व भर के यहूदियों की राष्ट्रीय गतिविधि का केन्द्र बन गया। यूरोप में आर्थिक संकट के प्रारम्भ होने के कारण फिलिस्तीन में यहूदियों का आगमन और भी बढ़ गया। इसके अतिरिक्त यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों में बसे हुए यहूदियों की स्थिति दिन-ब-दिन खराब होती जा रही थी। वे लोग धन, शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा बहुत आगे बढ़े हुए थे। जर्मनी, पोलैंड, हंगरी इत्यादि देशों के लोग उनकी ऊँची स्थिति को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे और इसलिए उनको भगाने का यथासम्भव प्रयास करते रहते थे। जर्मनी में नात्सी-क्रान्ति के बाद यहूदियों में भगदड़ मच गयी। यहूदियों को यन्त्रणाएँ देना नात्सी-पार्टी का सिद्धान्त ही था। हिटलर यहूदियों की गतिविधि को प्रथम विश्व-युद्ध में जर्मनी की पराजय का एक प्रमुख कारण बतलाता था और उन पर तरह-तरह का अत्याचार करना अपना कर्त्तव्य मानता था। जर्मनी में यहूदियों का टिकना बिल्कुल असम्भव हो गया। वे जर्मनी छोड़कर तेजी से भागने और फिलिस्तीन में आकर बसने लगे। १९१९ में फिलिस्तीन में यहूदियों की संख्या केवल तिरासी हजार थी। पर १९३४ के अन्त तक यह संख्या सैंतीस लाख तक पहुँच गयी और यदि अधिकारीगण इस बाढ़ को कड़ाई से नहीं रोकते तो यह संख्या और भी अधिक बढ़ जाती।[1]

राजनीतिक और सभ्यता की दृष्टि से यहूदी लोग अरबों से काफी बढ़े-चढ़े थे। उनका राजनीतिक संगठन काफी दृढ़ था। वे संगठित और उन्नतशील थे। उनके प्रयास से फिलिस्तीन पश्चिमी एशिया एक मुख्य वाणिज्य-केन्द्र बन गया। इसके विपरीत अरब लोग अशिक्षित, असंगठित और पूँजीहीन थे तथा वे यहूदियों की बराबरी नहीं कर सकते थे। यहूदियों के आगमन के कारण अपने ही देश में वे हीन बन रहे थे। अतः वे इसका विरोध करने लगे। फलस्वरूप, फिलिस्तीन में बराबर उपद्रव होने लगा। प्रायः ऐसा होता था कि अरब लोग पहले यहूदियों पर आक्रमण करते। इन दंगों में ब्रिटिश-शासन की सहानुभूति स्वभावतः यहूदियों के पक्ष में होती थी और उनका पक्ष लेकर ब्रिटिश-पुलिस और सेना अरबों पर घोर अत्याचार करती थी। युद्ध के बाद फिलिस्तीन का इतिहास इन्हीं दंगों और बलवों की कहानी है।

1. S. N. Fisher, op. cit., pp. 436-37.

साम्राज्यवादी ब्रिटेन की स्थिति इन दो जातियों के बीच में थी। फिलिस्तीन का शासन-प्रबन्ध ब्रिटिश औपनिवेशिक मन्त्रालय के अन्दर था और एक ब्रिटिश हाई कमिश्नर वहाँ के शासन के लिए जिम्मेदार था। १९२२ में सर हर्बर्ट सैमुएल फिलिस्तीन का हाई कमिश्नर था। १ सितम्बर, १९२२ को उसने एक विधान की घोषणा की, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थी: (१) फिलिस्तीन पर शासन करने के लिए एक हाई कमिश्नर हो। वह एक कार्यकारिणी समिति, जिसके सदस्य उसके द्वारा मनोनीत हो, की सहायता से शासन करे। (२) कानून बनाने के लिए एक विधान-मंडल हो, जिसमें कुछ सदस्य जातियों के अनुपात के अनुसार निर्वाचित और कुछ हाई कमिश्नर द्वारा मनोनीत हों। अरब-लोग इस विधान से सन्तुष्ट नहीं हुए। वे फिलिस्तीन को एकमात्र अपना देश समझते थे और इसलिए स्वशासन का अधिकार माँगने लगे। उनकी दूसरी मांग थी यहूदियों की बाढ़ को रोकना। अतः उन्होंने १९२२ के विधान को अस्वीकृत कर दिया। इसके बाद हाई कमिश्नर निरंकुश रूप से शासन करने लगा।

यहूदी लोग बहुत बड़ी संख्या में फिलिस्तीन में आकर बस रहे थे। वहाँ के अरब बाशिन्दे काफी गरीब थे इसलिए वे अच्छी-अच्छी जमीन यहूदियों के हाथ बेच रहे थे। यहूदी बहुत ही उद्यमी और कर्मशील थे और उनके प्रयास के फलस्वरूप फिलिस्तीन बड़े तेजी से उन्नति करने लगा। यहूदी-नगर तेल अवीव, हैफा इत्यादि आधुनिक संसार के आश्चर्य बन गये। ये नगर यूरोप के नगरों की बराबरी करने लगे। उस समय संसार में फिलिस्तीन ही एक ऐसा देश था जिसका बजट बराबर सन्तुलित रहता था।

इस समृद्धि से अरब लोगों को कोई लाभ नही पहुँचा। यहूदियों की तुलना में वे नगण्य हो गये। एक ही देश फिलिस्तीन में अलग-अलग दो दुनिया बस गयी—एक यहूदियों की और दूसरी अरबों की। अरब-लोग अपनी गिरती हुई दशा को देखकर बेचैन थे। अतः, वे केवल ब्रिटिश-शासन के प्रति असहयोग की नीति का ही अवलम्बन नहीं करते रहे, अपितु यहूदियों के आप्रवास का भी घोर विरोध करते रहे। यह विरोध बराबर विद्रोह और दंगे का रूप धारण कर लेता। इन विद्रोहों में १९२९ का विद्रोह सबसे अधिक भयानक था। इसका कारण धार्मिक भी था। जेरूसलम में एक स्थान है जिसको अरब और यहूदी दोनों ही पवित्र मानते हैं। इस स्थान को अरबों और यहूदियों से पृथक् करने के लिए एक दीवार है। तुर्की शासन के समय यहूदियों को इस दीवार के निकट खड़ा होकर प्रार्थना करने की अनुमति थी। लेकिन, इसके आस-पास वे किसी प्रकार का चबूतरा या दीवार नही खड़ा कर सकते थे। २४ सितम्बर, १९२८ के दिन यहूदियों ने दीवार के पास एक और पक्की दीवार खड़ी कर दी। अरबों को यह बात पसन्द नहीं आयी और पुलिस ने आकर इस दीवार को हटा दिया।

यह घटना तो बहुत छोटी थी, लेकिन इसको लेकर फिलिस्तीन में, कुछ दिनों के बाद, साम्प्रदायिक दगे शुरू हो गये। कुछ ही दिनों के अन्दर लगभग २०० यहूदी मौत के घाट उतार दिये गये। यहूदी बस्तियों में आग लगा दी गयी। स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी कि उपद्रव को दबाने के लिए ब्रिटिश-सरकार को बाहर से सेना मँगानी पड़ी। उपद्रव को दबाने के बाद ब्रिटिश-सरकार ने सर जॉन सिम्पसन के नेतृत्व में उपद्रव के कारणों को जाँच-पड़ताल करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की। सिम्पसन-आयोग की रिपोर्ट के अनुसार अरबों की शिकायत के मुख्य कारण राजनीतिक और धार्मिक थे। यहूदी-लोग बहुत बड़ी संख्या में फिलिस्तीन में

आकर बस रहे थे। विश्व-यहूदी-संघ की ओर से बे-घर-बार के यहूदियों को फिलिस्तीन आने के लिए मार्ग-व्यय और यहाँ बसने के लिए आर्थिक सहायता दी जाती थी। अरब-लोग अनुभव करने लगे कि उनका अपना ही देश यहूदियों के हाथ में चला जा रहा है। सिम्पसन-रिपोर्ट में कहा गया था कि यहूदियों के बहुत बड़ी संख्या में आकर बसने के कारण फिलिस्तीन के अरबों में काफी बेचैनी है। उसने सिफारिश की कि यहूदियो के आप्रवास को एकदम रोक दिया जाय।

इस रिपोर्ट को मानकर १६३१ में ब्रिटिश सरकार ने यहूदियों के आप्रवास को रोक दिया। इससे अरब लोग कुछ सन्तुष्ट हुए और विधानमण्डल के चुनाव में भाग लेने को तैयार हो गये। इस बात पर यहूदियों ने इसका विरोध किया। विधानमण्डल में अरबों के बराबर प्रतिनिधित्व चाहते थे। यह सम्भव नहीं था और इसलिए इस योजना का भी परित्याग कर देना पड़ा। उधर ब्रिटिश-सरकार की नीति का विरोध यहूदी लोग करते रहे। यहूदी-आप्रवास को नियन्त्रित करने के विरुद्ध उन्होंने विश्वव्यापी आन्दोलन खड़ा किया। ब्रिटिश-सरकार विश्व यहूदी-संघ के विरोध की उपेक्षा नहीं कर सकती थी और १६३२ में उसे अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा। एक खास वर्ग के यहूदियों को फिलिस्तीन में आकर बसने की अनुमति मिल गयी। इससे अरबों की बेचैनी और भी बढ़ गयी। प्रतिक्रिया स्वरूप १६३५ के बाद अरबों का राष्ट्रीय आन्दोलन फिर से जोर पकड़ने लगा। इस आन्दोलन पर तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। उस समय इथोपिया-युद्ध की घटनाओं से ऐसा प्रतीत होनें लगा कि ब्रिटिश प्रभाव और शक्ति दोनों घट रहे हैं और इटली के प्रचार ने इस बात को और फैलाया। ठीक इसी समय मिस्र और सीरिया में राष्ट्रवादी आन्दोलन को सफलता मिल रही थी। इन घटनाओं ने फिलिस्तीन के अरबों के दिमाग पर और असर डाला। नवम्बर, १६३५ में अरबों के विविध राजनीतिक दलों ने मिलकर एक संयुक्त मोर्चा कायम किया और ब्रिटिश सरकार के सामने निम्नलिखित माँगें पेश की—(१) फिलिस्तीन में प्रजातांत्रिक शासन अविलम्ब स्थापित किया जाय। (२) ऐसा कानून बने कि भविष्य में कोई यहूदी फिलिस्तीन में जमीन नहीं खरीद सके। (३) फिलिस्तीन में यहूदियों के प्रविष्ट पर पूर्णतया रोक लगा दी जाय। ब्रिटिश-सरकार ने इन माँगों को अस्वीकृत कर दिया।

शान्तिमय उपायों से फिलिस्तीन की समस्या हल करने के जब सारे उपाय समाप्त हो गये तब अरबों ने एक बार फिर हिंसात्मक उपायों का आश्रय लिया। अप्रिल, १६३५ में उनलोगों ने एक 'राष्ट्रीय हड़ताल' की घोषणा कर दी। शुरू में तो यह हड़ताल इक्की-दुक्की हत्या से शुरू हुई थी, लेकिन पीछे चलकर इसने गम्भीर रूप धारण कर लिया। शहर में हड़तालें हुईं और इधर-उधर गोरिल्ला-युद्ध। हड़ताल को संचालित करने के लिए एक 'अरब-उच्च समिति' की स्थापना की गयी और जेरूसलम के मुफ्ती इसके संचालक नियुक्त हुए। जगह-जगह पर दंगे शुरू हुए और ब्रिटिश अफसर तथा यहूदी लोगों पर हमले शुरू हो गये। करीब चार सौ यहूदी, आठ सौ अरबों और कुछ अँगरेज अफसर इस बलवे के शिकार हुए। अन्त में बहुत बड़ी सेना फिलिस्तीन भेजी गयी। इसी बीच अक्टूबर में इराक, ट्रांसजोर्डान, सउदी अरब, यमन आदि के शासक 'अरब-उच्च समिति' को शान्ति का मार्ग अपनाने की सलाह देने लगे। अरब लोग इस

व्यवस्था को मानने के लिए तैयार हो गये और नवम्बर के अन्त तक शान्ति स्थापित हो गयी। समस्या की जाँच करने के लिए एक शाही आयोग नियुक्त किया गया। आयोग का कार्य अरबों द्वारा उपद्रव प्रारम्भ किये जाने के कारणों का पता लगाना तथा सिफारिशें करनी थीं। इस आयोग के अध्यक्ष लार्ड पील थे। आठ महीनों की जाँच-पड़ताल तथा दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों की बातें सुनने के बाद आयोग ने ब्रिटेन लौटकर जुलाई, १६३७ में एक रिपोर्ट प्रकाशित की। रिपोर्ट में आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया कि फिलिस्तीन के अरबों और यहूदियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं में किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित करना असम्भव है। अतः उसने फिलिस्तीन के विभाजन के लिए योजना प्रस्तुत की जिसके अनुसार तीन भागों में उसका विभाजन हो रहा था। योजना के अनुसार जेरूसलम का धार्मिक स्थान, जहाँ अरब और यहूदी दोनों अच्छी बड़ी संख्या में निवास करना चाहते थे, स्थायी रूप से ब्रिटेन के अधिकार में रखने की व्यवस्था की गयी। समुद्र तट से इसका सम्बन्ध रखने के लिए जाफा बन्दरगाह तक एक गलियारे का भी प्रबन्ध किया गया। इसके अतिरिक्त गेलिली तथा समुद्रतटीय मैदानों को मिलाकर एक यहूदी सार्वभौम राज्य का निर्माण करने और शेष भाग को ट्रान्सजोर्डान के साथ मिला कर एक अरब राज्य बना देने की चर्चा की गयी थी। पील आयोग ने यह भी प्रस्ताव रखा कि सारी योजनाओं को संरक्षक राज्य, ट्रांसजोर्डान, फिलिस्तीन के अरबों और यहूदियों के बीच मैत्री सन्धियों द्वारा पक्का कर दिया जाय, फिलिस्तीन के अरब और यहूदी राज्य पूर्णरूप से स्वतन्त्र माने जायँ और इन दोनों राज्यों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता दिलाने की कोशिश की जाय।

पील-आयोग की रिपोर्ट आलोचना का शिकार होने से बच नहीं सकी। यह योजना न तो यहूदियों को पसन्द थी और न अरबों को। यहाँ तक की राष्ट्रसंघ के संरक्षण-राज्य-आयोग, जिसके सामने यह योजना रखी गयी थी, ने भी इसे नापसन्द किया। इस योजना के अनुसार प्रस्तावित यहूदी राज्य में औद्योगिक दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण केन्द्र, जैसे—जोरडान नदी पर जल-विद्युत शक्ति-स्टेशन और मृत सागर (Dead Sea) पर पोटाश का कारखाना, सम्मिलित नहीं थे। उन्होंने हैफा और गेलिली के अन्य नगरों पर ब्रिटिश शासन को अनिश्चित काल तक बनाये रखने पर भी आपत्ति की। अरबों ने गेलिली के अपने अन्य भाइयों से बिछुड़ जाने और भूमध्य सागर के बन्दरगाहों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने की शिकायत की। कोई भी पक्ष इस योजना को बिना महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये मानने को तैयार नहीं था। इराक सरकार ने उसके विरुद्ध राष्ट्रसंघ में विरोध-पत्र भेजा। यहूदी-कांग्रेस के अधिवेशन में भी योजना की तीव्र आलोचना हुई। अरबों और यहूदियों ने दोनों स्पष्ट रूप से पील-योजना को अस्वीकृत कर दिया और १६३७ के अन्तिम महीनों में अरब आन्दोलन पुनः गम्भीर रूप से भड़क उठा। अनेक स्थानों पर दंगे हुए और अनेक व्यक्ति अरबों के क्रोध का शिकार हुए। न केवल यहूदियों और अंगरेजों की ही बल्कि उन अरबों को भी हत्याएँ की गयीं जो समझौता के पक्ष में थे। १६३८ तक फिलिस्तीन की यह दशा बनी रही। अंगरेजों ने बदला लेने के लिए यहूदियों को भड़काना शुरू किया। परिणामस्वरूप फिलिस्तीन के उपद्रव ने भयंकर रूप धारण कर लिया। १६३८ तक सैंतीस सौ सत्रह व्यक्ति मौत के घाट उतारे जा चुके थे। १६३६ के मई तक छिटपुट बलवे-विद्रोह होते रहे।

पील रिपोर्ट यद्यपि ब्रिटिश-सरकार द्वारा मंजूर कर ली गयी, लेकिन ब्रिटिश-संसद् उस समय इनको मंजूर करने को तैयार नही हुई। इस योजना की व्यावहारिकता पर विचारार्थ एक और आयोग की नियुक्ति की गयी। इसके अध्यक्ष सर जॉन उडहेड थे। १६३८ के शुरू में आयोग ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। अक्टूबर, १६३८ में उडहेड-आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। आयोग ने फिलिस्तीन विभाजन का निश्चित विरोध किया। इसके बाद ब्रिटिश-सरकार ने भी फिलिस्तीन विभाजन की योजना का परित्याग कर दिया। अब ब्रिटिश सरकार यह यत्न करने लगी कि यहूदियो और अरबो में कोई ऐसा समझौता हो जाय, जो दोनो पक्षों को स्वीकार हो।[1] इसके लिए लन्दन में एक गोलमेज-परिषद् का आयोजन किया गया। यहूदियों और अरबो को ब्रिटेन के सामने अपना मामला पृथक् रूप से रखने के लिए आमंत्रित किया गया। पड़ोस के अन्य अरब-राज्यों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया गया।

गोलमेज-सम्मेलन का अधिवेशन फरवरी-मार्च, १६३९ में लन्दन में हुआ। अरब-प्रतिनिधियों ने यहूदी-प्रतिनिधियो के साथ सम्मेलन में बैठने से इन्कार कर दिया। नतीजा यह हुआ कि सम्मेलन में वार्ताएँ अलग-अलग हुई। ऐसा मालूम होता था कि एक ही जगह दो सम्मेलन हो रहे हैं। अरबों और यहूदियो में इतना अधिक मतभेद था कि वे किसी भी बात पर सहमत होने को तैयार नही थे। अरब अपनी स्वतन्त्रता तथा यहूदी आप्रवास को रोकने की मांग करते और यहूदी-लोग बेलफार-घोषणा को कार्यान्वित करने की माँग करते। ब्रिटिश-सरकार के समझौता कराने के सारे प्रयास निष्फल हुए और कुछ सप्ताहों के प्रयत्न के बाद सम्मेलन भंग हो गया। फिलिस्तीन की समस्या में कोई सुधार नही हुआ और अरब तथा यहूदियों में परस्पर संघर्ष होता रहा।

ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार ने अपना ही हल लादने का निश्चय किया। १७ मई, १६३६ को ब्रिटिश-सरकार द्वारा एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया गया। इसके अनुसार यह वादा किया गया है कि वर्षों में फिलीस्तीन को एक स्वतन्त्र राज्य बना दिया जायगा। यहूदियों के आप्रवास को सीमित करने की बात भी इसमें कही गयी। पाँच वर्षों तक केवल पचहत्तर हजार यहूदी ही फिलिस्तीन आ सकते थे। उसके बाद उनका आप्रवास बिल्कुल बन्द हो जाता था। इस दस साल की अवधि में भूमि की खरीद-बिक्री पर भी प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की गयी थी। इसके बाद अगर दोनों जातियों में समझौता हो गया तो ब्रिटेन फिलिस्तीन को स्वतन्त्र कर देगा। इस प्रस्ताव को यहूदियों और अरबों ने फिर नामंजूर कर दिया। यहूदियों का कहना था कि ब्रिटिश-श्वेतपत्र उनके साथ एक महान् विश्वासघात है। अरब लोग भी इससे असन्तुष्ट थे। इसी बीच द्वितीय विश्व-युद्ध शुरू हो गया और ब्रिटिश सरकार ने फिलिस्तीन के मामले को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया। फिलिस्तीन में बहुत बड़ी संख्या में अँगरेजी फौज लाकर रख दी गयी, जिससे वहाँ कोई विद्रोह नहीं हो।

बीस वर्ष के निरन्तर प्रयास के बाद भी ब्रिटिश-सरकार फिलिस्तीन की समस्या का समाधान करने में असफल रही। अगर ब्रिटिश सरकार दिल से इस समस्या का समाधान करना चाहती तो यह कोई कठिन या असम्भव कार्य नहीं था। लेकिन, ब्रिटिश-साम्राज्यवाद की नीति अन्य साम्राज्यवादी नीतियों की तरह ही, 'फूट डालो और शासन करो' की रही है। जिस

1. George Lenzowski, op. cit, p. 323.

प्रकार भारतवर्ष में वह हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच में मतभेद पैदा कर शासन करती रही, उसी प्रकार की नीति वह फिलिस्तीन के मामले में भी अनुसरण कर रही थी। ऐसी अवस्था में इस समस्या को सुलझाना आसान नहीं था। ब्रिटिश-सरकार निश्चित रूप से यहूदियों का पक्ष लेती थी। इसका कारण था कि बहुत-से ब्रिटिश नागरिक ऐसा समझते थे कि फिलिस्तीन पर वास्तव में यहूदियों का अधिकार है। इसके अतिरिक्त यहूदी-जाति को यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों में और खासकर जर्मनी में जिस क्रूरता से सताया जा रहा था, उसको देखते हुए उनके लिए एक स्वदेश का होना आवश्यक प्रतीत होता था। लेकिन वास्तविक बात यह थी कि ब्रिटिश-सरकार पश्चिमी एशिया में पश्चिमी साम्राज्यवाद को सहारा देने के लिए एक पिछलगुआ यहूदी-राज्य का सृजन करना चाहती थी। फिलिस्तीन की समस्या का गम्भीर होने का यही कारण था।

आँग्ल-मिस्री सम्बन्ध (Anglo-Egyptian Relations)

(१९१९-१९३६)

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद मिस्र की स्थिति पश्चिमी एशिया के अन्य देशों की स्थिति से भिन्न थी। युद्ध के शुरू होने तक तुर्की-सुलतान का वैधानिक अधिकार इस देश पर कायम था। किन्तु, प्रत्येक व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह ब्रिटिश साम्राज्य का अभिन्न अंग था। १८८२ में ब्रिटेन को मिस्र पर आधिपत्य जमाने का पहले-पहल मौका मिला था। उसके बाद इस देश पर ब्रिटेन का प्रभाव बढ़ता ही गया। १९१४ में जब युद्ध छिड़ा और तुर्की का सुल्तान जर्मनी का पक्ष लेकर युद्ध में शामिल हुआ तो ब्रिटेन ने इस मौके से लाभ उठाकर यह घोषणा कर मिस्र तुर्की की अधीनता से मुक्त करके ब्रिटेन की संरक्षता में रख दिया जाता है।

मिस्र वासियों को यह परिवर्तन एकदम पसन्द नहीं आया। यह तो केवल एक विदेशी शासन को हटाकर दूसरे विदेशी शासन को लादना था। युद्ध के समय उनमें घोर असन्तोष फैला हुआ था। उनकी मातृभूमि पर विदेशी सेनाएँ रहती थी। मिस्रियों को ब्रिटिश-लोग एक श्रमिक सेना में भरती करते थे जिनका काम सीरिया और फिलिस्तीन के रण-क्षेत्र में रसद पहुँचाना था। मिस्र की कृषि पर इसका बहुत बुरा असर पड़ रहा था क्योंकि देश के सभी योग्य मजदूर जबरदस्त युद्ध के काम में रख लिये जाते थे। इसके फलस्वरूप जगलुल पाशा के नेतृत्व में मिस्र में एक जबरदस्त राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गया। जगलुल ने एक राष्ट्रीय दल का संगठन किया, जिसका नाम वफ्द पार्टी था। १९१८ १९ में राष्ट्रीय आन्दोलन की तीव्रता अपनी चरम सीमा पर थी। १९१८ में जगलुल काहिरा स्थित ब्रिटिश-हाई कमिश्नर से मिला और उससे मिस्र की स्वाधीनता की माँग की। इसी वर्ष वह एक प्रतिनिधि-मण्डल के साथ मिस्र की स्वतंत्रता का प्रश्न रखने के लिए पेरिस-शान्ति-सम्मेलन में जा रहा था; पर अँगरेजो ने मार्ग में ही उसे गिरफ्तार कर लिया और माल्टा में नजरबन्द कर दिया। यह समाचार जब मिस्र पहुँचा तो वहाँ पर एक जबरदस्त विद्रोह शुरू हो गया। इस विद्रोह ने भयंकर रूप धारण कर लिया। बलवे और हड़ताल से सरकार एकदम पस्त हो गयी। अन्त में सीरिया से फौज मंगाकर अँगरेजों ने बड़ी क्रूरता से उस विद्रोह का दमन किया।

मिस्र की क्रान्ति से अँगरेजों ने यह अनुभव किया कि मिस्री राष्ट्रीयता को सैनिक बल के द्वारा नहीं दबाया जा सकता है। उन्होंने जगलुल पाशा को जेल से मुक्त कर दिया। जगलुल माल्टा से पेरिस के लिए रवाना हुआ, जहाँ शान्ति-सम्मेलन में उसने मिस्र की माँगें पेश कीं।

१९२२ की सन्धि :—इसी बीच मिस्र के शासन-स्वरूप में वैधानिक परिवर्तन करने के उद्देश्य से 'ब्रिटिश-सरकार ने लार्ड मिलनर को मिस्र भेजा। वापस लौटकर मिलनर ने यह रिपोर्ट दी कि मिस्र पर से ब्रिटिश-संरक्षण हटाकर उसको स्वतन्त्र' कर दिया जाय; किन्तु स्वेज नहर और मिस्र की विदेश नीति पर ब्रिटेन का नियन्त्रण यथा पूर्व कायम रहे। मिस्री देशभक्त ब्रिटेन को इस प्रकार की विशेष सुविधा नहीं देना चाहते थे। आँग्ल-मिस्री वार्तालाप भंग हो गया और मिस्र में एक बार फिर से जबरदस्त विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इस पर जगलुल पाशा और उसके साथियों को फिर गिरफ्तार कर लिया गया। ब्रिटिश-हाई कमिश्नर जनरल एलेन्बी ने अपनी सरकार को यह सूचना दी कि मिस्र की राष्ट्रीय भावनाओं को सन्तुष्ट नहीं किया गया, तो वहाँ क्रान्ति होकर ही रहेगी। अब ब्रिटिश-सरकार की आँखें खुलीं और मिस्र की स्थिति में सुधार करने के लिए वह शीघ्रता से काम करने लगी। २८ फरवरी, १९२२ को लार्ड एलेन्बी ने यह घोषणा की कि ब्रिटेन मिस्र को स्वाधीन देश मानता है और उसपर उनकी संरक्षता समाप्त होती है। पर, ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा के लिए इस उद्घोषणा में चार और अतिरिक्त शर्त्तें लगा दीं। वे थीं : (१) स्वेज-क्षेत्र की रक्षा के लिए एक ब्रिटिश सेना रखी जाय। (२) मिस्र को विदेशी आक्रमण से बचाने का काम ब्रिटेन के जिम्मे रहे। (३) अँगरेजों या अन्य विदेशी नागरिकों की रक्षा की जिम्मेदारी ब्रिटिश-सरकार पर रहे। (४) सूडान पहले की तरह ही ब्रिटेन की अधीनता में रहे।

स्पष्ट है कि यह स्वतन्त्रता कोई स्वतन्त्रता नहीं थी। अतः मिस्र के राष्ट्रीय नेता इस सन्धि से सन्तुष्ट नहीं हुए। पर ब्रिटेन की सैनिक शक्ति के सामने वे असहाय थे। सुल्तान अहमद के फौज को विवश होकर समझौते को मान लेना पड़ा। इसी वर्ष मिस्र में एक नये संविधान की रचना हुई, जिसमें संसदीय शासन-पद्धति की व्यवस्था की गयी।

विद्रोह की दूसरी लहर :—१९२३ में मिस्र में आम चुनाव हुआ। जगलुल पाशा अपने साथियों सहित मिस्र आ पहुँचा और चुनाव में उसने जमकर भाग लिया। फलस्वरूप वफ्द पार्टी की विजय हुई और वह मिस्र का प्रधानमन्त्री बन बैठा। प्रधानमंत्री के पद पर आते ही उसने १९२२ की 'स्वतन्त्रता' की एकपक्षीय उद्घोषणा को समाप्त करने और उसके बदले में समानता के स्तर पर दूसरी संधि करने की माँग की। उस समय ब्रिटेन में रामजे मैकडोनल्ड के नेतृत्व में मजदूर दल की सरकार काम कर रही थी। जगलुल पाशा को आशा थी कि मजदूर-दल को मिस्र की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति होगी। लेकिन, यह केवल भ्रममात्र था। इसके लिए १९२४ में वह लन्दन गया। पर ब्रिटिश-सरकार ने उसकी माँगें अस्वीकृत कर दीं।

जब शान्तिमय उपायों से विदेशी सत्ता का अन्त असम्भव हो जाता है तब हिंसा का अवलम्बन करना आवश्यक हो जाता है। मिस्र के साथ भी यही बात हुई। बहुत- हिंसात्मक काम शुरू हुए और अनेक ब्रिटिश अफसर मौत के घाट उतार दिये गये। नवम्बर, १९२४ में

मिस्री सेना के सरदार तथा सूडान के गवर्नर जनरल सर लीस्टेक की हत्या हो गयी। मिस्र के राजा और प्रधानमन्त्री दोनों ने इस हत्या की निन्दा की और वादा किया कि वे हत्यारे को कड़ी-से-कड़ी सजा देंगे। लेकिन, ब्रिटिश-सरकार मिस्र को सबक सिखाना चाहती थी। लार्ड एलेन्बी ने तुरत ही एक अन्तिमेत्थम् दिया, जिसमें निम्नलिखित माँगें पेश की गयीं : (१) हत्या के लिए मिस्र की सरकार क्षमा याचना करे और यह वादा करे कि भविष्य में फिर कभी ऐसी घटना नहीं होगी। (२) पाँच लाख पौंड जुर्माना दिया जाय। (३) हत्या के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को कठोर दण्ड दिया जाय और ब्रिटेन के खिलाफ मिस्र में समय-समय पर जो प्रदर्शन होते हैं, उनको हमेशा के लिए बन्द कर दिया जाय। (४) सूडान-स्थित मिस्री सिपाही को तुरत ही वापस बुला लिया जाय। (५) मिस्र के वित्त और गृह-मन्त्रणालय में अंगरेजी परामर्श-दाताओं को रखा जाय। इसके अतिरिक्त मिस्र को यह भी सूचना दी गयी कि सूडान में खेती की सिंचाई के लिए नील नदी के जल को प्रयुक्त किया जायगा। अन्तिमेत्थम् को सैनिक बल देने के लिए एलेन्बी ने ब्रिटिश-फौज को सिकन्दरिया पर आधिपत्य करने का हुक्म दे दिया।

अन्तिमेत्थम् को मंजूर करने के अतिरिक्त मिस्र के सामने कोई दूसरा चारा नहीं था। जगलुल पाशा ने ब्रिटेन के सभी माँगें मान ली और चौबीस घंटे में हरजाना की पूरा रकम भी चुका दी। पर सूडान और नील नदी विषयक मांगों को पूरा करना उसके लिए सम्भव नहीं था। नील नदी मिस्र का प्राण है और सूडान की सिंचाई के लिए इसके जल को प्रयुक्त करने का अर्थ समूचे मिस्र को सहारा का मरुस्थल बना देना था। इस स्थिति में जगलुल पाशा ने त्यागपत्र दे दिया और संसद् के अध्यक्ष अहमद जिवारपाशा के नेतृत्व में एक नया मन्त्रिमण्डल बना। मिस्री संसद् ने राष्ट्रसंघ में अपील की। पर राष्ट्रसंघ से यह कहकर कि मिस्र और ब्रिटेन का झगड़ा कोई अन्तर्राष्ट्रीय मामला नहीं है, हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया। नये प्रधानमन्त्री के सामने अब कोई चारा नहीं था और उसने ब्रिटेन की सभी मांगें स्वीकार कर ली। सिकन्दरिया से ब्रिटिश सेना वापस बुला ली गयी और पीछे चलकर नील-नदी सम्बन्धी निर्णय भी आंशिक रूप से रद्द कर दिया गया। इस घटना का परिणाम यही हुआ कि मिस्र पर ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का शिकंजा काफी मजबूत हो गया और सूडान पर मिस्र का रहा-सहा प्रभाव भी जाता रहा।

१९२४ से १९३६ का काल—लिस्टेक-हत्याकाण्ड के साथ आँग्ल-मिस्री-सम्बन्ध का एक अध्याय समाप्त हो गया। इसके बाद के मिस्री इतिहास में मुख्यतः दो बातें देखने को मिलती हैं : ब्रिटेन के साथ बातचीत करके मिस्री राष्ट्रीय आकांक्षा की परिपूर्त्ति करने के प्रयास और मिस्र की आन्तरिक राजनीति में वफ्द-पार्टी तथा राजा के बीच संघर्ष। १९२८ से १९३० तक मिस्री सरकार और ब्रिटिश सरकार के बीच फरवरी, १९३० की उद्घोषणा को समाप्त करने के लिए तीन वार्ताएँ हुईं, लेकिन सबके सब व्यर्थ सिद्ध हुईं।

मिस्र की आन्तरिक राजनीति भी आँग्ल मिस्री सम्बन्ध से प्रभावित होती रही। वफ्द-पार्टी मिस्र की सबसे बड़ी राजनीतिक पार्टी थी और संसद् में भी इसका बहुमत था। पर यह कट्टर राष्ट्रवादी पार्टी थी और ब्रिटेन को इस पार्टी की सरकार का शासन कतई पसन्द नहीं था। १९३५ में लार्ड लायड मिस्र में ब्रिटिश-हाई कमिश्नर के पद पर नियुक्त था और वह मिस्री सरकार को पूर्णतया अपने हाथों में कठपुतली की तरह रखना चाहता था। मिस्र का राजा और राज-दरबार के अफसर उसके खिलौना थे और उन्हें जैसे चाहता नचाता रहता था। ब्रिटेन का मुख्य

उद्देश्य यह था कि वफ्द-पार्टी को शासन के कार्यभार से अलग रखा जाय। इसलिये संसद् में इस पार्टी का बहुमत होते हुए भी इस दल का अपना मन्त्रिमण्डल नही बन सकता था। १६२७ में जगलुल पाशा की मृत्यु हो गयी और उसके बाद नहस पाशा वफ्द-दल का नेता बना। इसी समय ब्रिटेन में मजदूर-दल की सरकार बनी। मजदूर-दल कुछ प्रगतिवादी पार्टी थी और इसलिए ब्रिटेन की नीति में कुछ परिवर्त्तन हुआ। नहस पाशा कुछ दिनो के लिए प्रधानमन्त्री बनाया गया।

ब्रिटेन को वफ्द-पार्टी फूटी आँखों नहीं सुहाती थी। ब्रिटिश-साम्राज्यवादी राजा पर इस बात का दबाव डालने लगे कि वह संविधान में कुछ ऐसा परिवर्तन करे जिससे वफ्द-पार्टी के लिए मन्त्रिमण्डल बनाना कठिन हो जाय। १९३० का मिस्री सविधान इसी दबाव का परिणाम था। इस संविधान के अनुसार जब १६३१ में आम चुनाव हुआ तो वफ्द-पार्टी ने उसका बहिष्कार कर दिया। चुनाव के बाद सिदकी पाशा का मन्त्रिमण्डल बना। सिदकी वस्तुतः अँगरेजों का एजेन्ट था, मिस्रियो का प्रतिनिधि नहीं। ब्रिटिश-सरकार की आज्ञानुसार वह सब काम करता था। ऐसी स्थिति में आँग्ल-मिस्री सम्बन्ध में कोई विशेष परिवर्तन नही हो सकता था। मिस्र पर ब्रिटिश-हाई कमिश्नर मनमानी ढंग से कठपुतली सरकार के सहारे शासन करता रहा।

१६३६ की सन्धि :—

इसी बीच अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे, जिसका प्रभाव आँग्ल-मिस्री सम्बन्ध पर पड़ना अवश्यम्भावी था। १९३५ में मुसोलिनो ने इथोपिया पर आक्रमण करके उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया। इसके पूर्व १६३४ में सिदकी पाशा प्रधानमन्त्री के पद से हट गया था और उसकी जगह पर स्वतन्त्र विचार का व्यक्ति नसीम पाशा प्रधानमंत्री बनाया गया था। उसकी सलाह पर राजा ने १९३० का संविधान रद्द कर दिया। १६२३ के संविधान को फिर से लागू किया। इसी समय फौद प्रथम की मृत्यु हो गयी और उसकी जगह पर उसका नबालिग पुत्र फौद द्वितीय मिस्र की गद्दी पर बैठा। मई, १६३६ में १६२३ के संविधान के अनुसार चुनाव हुआ और इसमें वफ्द-पार्टी को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। नहस पाशा एक बार फिर मिस्र का प्रधानमन्त्री बना।

मन्त्रिमण्डल बनाने के तुरत बाद नहस पाशा १६२२ की ब्रिटिश उद्घोषणा को रद्द करने की मांग करने लगा। इथोपिया पर इटली का आधिपत्य स्थापित हो जाने के कारण ब्रिटेन के लिए मिस्र का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया था। अँगरेज लोग अनुभव करने लगे कि मिस्रियों को संतुष्ट कर उनके साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित रखने में ही अपना हित है। मिस्र के राष्ट्रवादियों ने भी अनुभव किया कि मुसोलिनी का खतरा ब्रिटिश-संरक्षता से भी अधिक भयानक है। विदेशी आक्रमण से मिस्र की रक्षा करने के लिए ब्रिटेन की मदद आवश्यक जान पड़ने लगी। ऐसी स्थिति में दोनों देश अपने-अपने स्थान से थोड़ा-थोड़ा हटने को तैयार थे। १६३६ की आँग्ल-मिस्री सन्धि की पृष्ठभूमि तैयार हो गयी।

नहस पाशा के नेतृत्व में तेरह व्यक्तियों का एक प्रतिनिधि मण्डल लन्दन के लिए रवाना हुआ और २६ अगस्त, १९३६ को ब्रिटेन और मिस्र ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। सन्धि बीस साल तक लागू रहनेवाली थी। इसके अनुसार—(१) मिस्र को प्रभुसत्तायुक्त पूर्ण स्वतन्त्र राज्य

मान लिया गया। (२) बाहरी आक्रमण के विरुद्ध मिस्र की रक्षा करने का भार ब्रिटेन ने ग्रहण किया। युद्ध की स्थिति में मिस्र के द्वारा ब्रिटेन को हर प्रकार की सुविधाएँ देने का वादा किया गया। (३) स्वेज-नहर के उत्तरी क्षेत्र में ब्रिटेन को अपनी सेना रखने का अधिकार मिला। शांति-काल में इन सैनिकों की संख्या दस हजार से अधिक नहीं हो सकती थी। आठ साल के अन्दर ब्रिटेन ने मिस्र स्थित अपनी सेना हटा लेने का वादा किया। (४) मिस्र की सेना और पुलिस से अँगरेज अफसर हटा लिये गये। इसकी जगह पर मिस्र में एक ब्रिटिश-सैनिक मिशन रखने का प्रबन्ध किया गया, जिसके जिम्मे सैनिक वार्ता पर मिस्र को सलाह देने का काम सुपुर्द किया गया। मिस्र सैनिक अफसरों को ब्रिटेन में ही शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था। (५) सूडान पर मिस्र और ब्रिटेन का संयुक्त-संरक्षक (Joint condominium) कायम किया गया और मिस्री लोगों को बिना किसी रूकावट के सूडान में बसने की स्वाधीनता मिल गयी। ब्रिटेन ने इस बात का प्रयत्न करने का वादा किया कि मिस्र में जिन विदेशी राज्यों को विशेषाधिकार प्राप्त हैं उनका अन्त कर दिया जाय। (६) ब्रिटेन ने यह भी यत्न करने का वादा किया कि मिस्र राष्ट्र-संघ की सदस्यता प्राप्त कर ले। (७) ब्रिटेन का राजदूत मिस्र में और मिस्र का राजदूत ब्रिटेन में रहने लगा।

अगर हम सन्धि की शर्तों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो यह कहना न होगा कि मिस्र पर ब्रिटिश-गुलामी का शिकंजा उतना ही मजबूत बना रहा जितना पहले था। मिस्र की भूमि पर विदेशी सेना को रहना ही था और उसकी आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के बहुत तरीके मौजूद ही थे। किन्तु १९२२ की उद्घोषणा की अपेक्षा यह सन्धि अवश्य ही अच्छी थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि विदेशियों के जान-माल की रक्षा का भार पूर्णरूप से मिस्र को प्राप्त हो गया। किन्तु अन्य दृष्टियों से मिस्री पराधीन राज्यों की श्रेणी में ही रहा। इसीलिए जब इस सन्धि को मिस्री संसद् में अनुमोदन के लिए पेश किया गया, तो वहाँ इसकी तीव्र आलोचना हुई, पर २२ दिसम्बर, १९३६ को सन्धि का अनुमोदन कर दिया गया।

८ मई, १९३७ को मिस्र से विदेशी विशेषाधिकार का अन्त करने के लिए सम्बन्धित देशों का सम्मेलन मॉन्त्रो में हुआ। सम्मेलन में विदेशी विशेषाधिकार को अन्त करने का निर्णय हो गया। २६ मई को मिस्र को राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बनाया गया। पर, १९३९ में जब महायुद्ध छिड़ गया तो ब्रिटेन ने मिस्र पर पुनः अपना साम्राज्यवादी शिकंजा मजबूत कर लिया। वास्तव में १९३६ की सन्धि मिस्र की समस्याओं का अन्तिम रूप में हल न कर सकी। इसके लिए मिस्र को एक नगिब और नासिर की आवश्यकता थी। पर यह आँग्ल-मिस्र सम्बन्ध के दूसरे अध्याय की बात है।

(३) ट्रांसजोर्डन में ब्रिटिश साम्राज्यवाद

जोर्डन नदी के पूर्वी तरफ की भूमि को ट्रांसजोर्डन कहते हैं। नवम्बर, १९१८ और जुलाई, १९२० के बीच में यह अरब-राज्य का एक भाग था। अमीर फैजल के नेतृत्व में यह राज्य मित्रराष्ट्रों की सहायता से संगठित किया गया था और तुर्की-साम्राज्य के विरुद्ध अरब-भावना को भड़काना इसका मुख्य उद्देश्य था। जब मित्रराष्ट्रों का काम निकल गया और युद्ध में वे विजयी हो गये, तो अरबों की सहायता की उन्हें अब कोई आवश्यकता नहीं रह गयी। अतः जुलाई, १९२० में फ्रांसीसी सेना सीरिया पर अपना आधिपत्य जमाकर फैजल को वहाँ से निकाल-

बाहर किया। इसके बाद मार्च, १६२१ तक ट्रांसजोर्डान में कोई स्थानीय शासन नहीं था। इस समूचे भू-भाग पर ब्रिटेन की संरक्षता स्थापित कर दी गयी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद को परोक्ष रीति से लादने के लिए अँगरेजों को एक व्यक्ति भी मिल गया। वह अमीर फैजल का बड़ा भाई अब्दुल्ला था। अब्दुल्ला का ट्रांसजोर्डान का शासक बनने की कहानी इस प्रकार है : फरवरी, १९२१ में अब्दुल्ला एक छोटी सेना के साथ ट्रांसजोर्डान में घुस गया। उसका उद्देश्य फ्रांस-अधिकृत सीरिया पर आक्रमण करके अपने भाई फैजल को पुनः सीरिया की गद्दी पर बैठाना था। लेकिन, ब्रिटिश-सरकार ने उसको ऐसा करने से रोक दिया और इसके बदले में उसको ट्रांसजोर्डान का अमीर बना दिया। अब्दुल्ला इतने ही से काफी खुश हो गया और अपने भाई तथा सीरिया को बहुत जल्दी भूल गया। अँगरेजों का कठपुतला बनकर ट्रांसजोर्डान का अमीर कहलाना ही उसके लिए पर्याप्त प्रतीत होता था।

राष्ट्रसंघ के द्वारा ट्रांसजोर्डान का संरक्षण ब्रिटेन को प्राप्त हुआ। संरक्षण की शर्तों में यह साफ-साफ शब्दों में स्पष्ट कर दिया गया था कि ट्रांसजोर्डान के भू-भाग में यहूदियों को बसने नही दिया जायगा। यही कारण है कि ट्रांसजोर्डान के इतिहास में कोई विवादपूर्ण या सनसनीखेज घटना नही घटी। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन को छोड़कर किसी अन्य यूरोपीय राज्य को इससे कोई सम्पर्क नही था। इसलिए महान् राज्यो के बीच इस भू-भाग को लेकर कोई प्रतिद्वन्द्विता भी नही थी। ब्रिटेन जैसा चाहता अब्दुल्ला को कठपुतली की तरह नचाता। उसकी सरकार के प्रत्येक विभाग में अँग्रेज सलाहकार रखते थे और उन्ही की राय पर अब्दुल्ला का शासन चलता था। १९२८ में ब्रिटेन और ट्रांसजोर्डान के बीच एक सन्धि करके इस व्यवस्था को विधिवत् अनुमोदित कर दिया गया। ब्रिटेन की आर्थिक सहायता पर ही सम्पूर्ण राज्य की शासन-व्यवस्था आश्रित थी। सैनिक मामलों में ट्रांसजोर्डान पूर्ण रूप से ब्रिटेन का गुलाम था। सर्वप्रथम कप्तान पिक और उसके बाद मेजर गलब के नेतृत्व में ट्रांसजोर्डान की सेना आधुनिक ढंग से संगठित की गयी और इसको 'अरब-लिजन' का नाम दिया गया। ट्रांसजोर्डान के बाशिन्दों मे, जो अधिकतर बनजारे थे, राजनीतिक जागृति की बू तक नही थी। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश-साम्राज्य का विरोध करने का कोई प्रश्न ही नही उठता था। अँगरेज लोग निर्विरोध इस देश का आर्थिक शोषण करते रहे।

(४) इराक में ब्रिटिश साम्राज्यवाद

प्रथम विश्व-युद्ध के समय ही ब्रिटेन ने यह बात स्पष्ट कर दिया था कि मेसोपोटेमिया और फारस की खाड़ी में उसके महत्त्वपूर्ण स्वार्थ है। युद्ध के आरम्भ होने के तुरत बाद भारत से एक बहुत बड़ी फौज मेसोपोटेमिया भेजी गयी और इस प्रदेश पर आधिपत्य जमा लिया गया। युद्ध के बाद इस प्रदेश की, जिसको अब हम इराक कहेंगे, ब्रिटिश-साम्राज्यवाद की कड़ी में अच्छी तरह जकड़ लेने का अथक प्रयास किया गया। लेकिन इस समय तक इराक के अरबों में राष्ट्रीय जागृति हो चुकी थी। युद्ध के समय उन्हें स्वशासन का आश्वासन दिया गया था और इसी के आधार पर उन्होंने मित्रराष्ट्रों की मदद की थी। पर, युद्ध में काम निकालने के बाद मित्रराष्ट्र अपना रंग बिल्कुल बदल चुके थे और इराकियों को स्वतन्त्र करने के बदले में उन्हें गुलामी की जंजीर में जकड़ने की कोशिश की जा रही थी। राष्ट्रसंघ के निर्णय के अनुसा इराक को ब्रिटिश संरक्षता के अन्तर्गत रख दिया गया। इराक के लोग संरक्षता का वास्त

मतलब समझते थे। अतएव जून, १९२० में पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध इराक में एक बहुत बड़ा विद्रोह हो गया। करीब छह महीनों तक यह विद्रोह चलता रहा। अनेक ब्रिटिश-अफसर मार डाले गये। छह महीनों की अवधि में घायल और मृतकों की संख्या लगभग दस हजार तक पहुँच गयी। ब्रिटेन के लिए इराक की महत्ता उसके समृद्ध तेल-कूपों तथा भारत और यूरोप के बीच वायु-पथ को लेकर थी। इसलिए ब्रिटेन इस भू-भाग को छोड़ना नहीं चाहता था। इराकी, विद्रोह को पहले पूर्णतया दमन कर दिया गया। लेकिन, केवल दमन की नीति से ही काम चलने वाला नहीं था। इराकियों को सन्तुष्ट रखने के लिए आंशिक स्वशासन का अधिकार देना भी आवश्यक था। उस समय इराक के हाई कमिश्नर के पद पर सर पेनसी कीक्स नियत था। उसने आठ अरब राष्ट्रवादियों को मिलाकर एक 'राष्ट्रीय सरकार' संगठित की। इस समय इराक की गद्दी खाली पड़ी थी। इसके पहले सीरिया से फ्रांसीसियों ने फैजल को निकाल-बाहर कर दिया था। फैजल इराक पहुँचा और एक जबरदस्त बहुमत के द्वारा वहाँ का राजा चुन लिया गया। २३ अगस्त, १९२१ को वह विधिवत इराक के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

फैजल के सिंहासनारूढ़ होने के बाद इराक के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ। इराक के सामने बाह्य और आन्तरिक अनेक समस्याएँ थी। इस देश के अन्दर भिन्न-भिन्न जातियाँ निवास करती थी और उनको एक सूत्र में बाँधकर एक राष्ट्र की भावना को उत्पन्न करने की समस्या थी। इराक के लोग काफी पिछड़े हुए थे। उनकी दशा सुधारकर जीवन-स्तर को ऊँचा करना दूसरी समस्या थी। बाह्य दृष्टि से ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध की समस्या थी। इराक ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के चंगुल जल्द-से-जल्द मुक्त होना चाहता था, पर यह आसान नहीं था।

संरक्षण-पद्धति का विरोध इतना जबरदस्त हो रहा था कि ब्रिटिश-सरकार ने उसके साथ एक सन्धि कर लेना ही श्रेयस्कर समझा। अक्टूबर, १९२२ में दोनों देशों के बीच एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार इराक-स्थित ब्रिटिश हाई-कमिश्नर फैजल का 'सलाहकार' हो गया। 'सलाहकार का काम इराक के आर्थिक सैनिक और विदेश-सम्बन्धी मामलों पर परामर्श देना था। प्रारम्भ में यह सन्धि बीस साल के लिए की गयी थी। लेकिन, पीछे चलकर इसकी अवधि घटाकर चार साल के लिए कर दी गयी। सन्धि में प्रायः उन सभी अधिकारों का समावेश कर दिया गया था जो ब्रिटेन को एक संरक्षक राज्य की हैसियत से मिलनेवाला था।

इराकवाले इस सन्धि से सन्तुष्ट नहीं हुए। वे ब्रिटिश-गुलामी से जल्द-से-जल्द मुक्त होना चाहते थे। अतः ३० जून, १९२० को इराक और ब्रिटेन में पचीस साल के लिए एक दूसरी सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार ब्रिटेन ने वादा किया कि १९३२ में वह इराक को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त कराने के लिए यत्न करेगा। इराक की सुरक्षा, विदेश नीति इत्यादि पर ब्रिटेन का नियन्त्रण रहेगा। ३ अक्टूबर, १९३२ को इराक राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। सदस्यता प्राप्त करने के पूर्व इराक को अनेक गारंटियाँ देनी पड़ीं। इस प्रकार नाम के लिए इराक एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। पर वास्तव में प्रत्येक दृष्टिकोण से वह अँगरेजों के ही कब्जे में रहा। १९३० की सन्धि की शर्तों के अनुसार यह पूर्णतया ब्रिटेन के संरक्षण में ही रहा।[1]

1 S. N. Fisher, *The Middle East*, p. 410.

(५) लेबनान और सीरिया

१९१६ के साइक्स पिकोट-सन्धि के अनुसार सीरिया और लेबनान का भू-भाग फ्रांस की संरक्षता में रख दिया गया था। इसी सन्धि के द्वारा यह भी तय हुआ था की पश्चिम-एशिया में फ्रांस और ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्रों के बीच में एक स्वतन्त्र राज्य होगा। ब्रिटेन का प्रोत्साहन पाकर ३ अक्टूबर, १९२८ को अँगरेजों का विश्वस्त मित्र अमीर फैजल अपने सैनिकों के साथ दमिश्क आ धमका और ब्रिटिश-सरकार की सहायता से वहाँ अरब-झंडा फहरा दिया तथा शीघ्र ही एक स्वतन्त्र सरकार का निर्माण कर लिया। पेरिस-शान्ति सम्मेलन में लायड जार्ज ने स्पष्ट रूप से यह कहा कि सीरिया पर फ्रांसीसी दावे को मान लेना अरबों के साथ विश्वासघात होगा। सीरियावाले भी फ्रांसीसियों से घृणा करते थे। वे अपने को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में देखना चाहते थे, संरक्षित राज्य के रूप में नहीं। यदि परिस्थितिवश संरक्षण-प्रणाली को उसके देश पर लागू भी किया गया तो वह फ्रांस के अधीन नहीं होना चाहिए।

सीरिया में फ्रांस की दिलचस्पी बहुत पुरानी थी। उनका कहना था कि युद्धकालीन गुप्त सन्धियों के अनुसार यह भू-भाग फ्रांसीसी कब्जे में रहना चाहिए। लेकिन, स्थिति इसके विपरीत थी और अमीर फैजल पर ब्रिटेन का अत्यधिक प्रभाव था। सीरिया पर अपना साम्राज्य वाद लादने के लिए फ्रांस एक मौके की ताक में था। २४ अप्रैल, १९२० को सानेरमो-सम्मेलन द्वारा जब सीरिया को फ्रांसीसी संरक्षण के अधीन सौंपने का एलान हुआ तो सीरिया में इसके विरुद्ध इतनी अशान्ति फैली की फ्रांसीसियों को इस देश पर कब्जा जमाने का अनुकूल अवसर प्राप्त हो गया। उपद्रव के क्रम में अरबों और फ्रांसीसी सैनिकों में मुठभेड़ हो गयी और फ्रांसीसियों ने इस अवसर से लाभ उठाकर सीरिया पर आक्रमण कर फैजल को देश से बाहर निकाल दिया।

फ्रांसीसी 'फुट डालो और शासन करो' की युक्ति से इस देश पर शासन करने लगे। फ्रांस के संरक्षण शासन का क्षेत्र संरक्षण के प्रारम्भिक समय से ही दो भागों में विभाजित कर दिया गयाः सीरिया और लेबनान। लेबनान में अरब-ईसाई बहुसंख्यक थे। इस क्षेत्र में एक रिपब्लिकन-सरकार थी, जो समय-समय पर फ्रांसीसी सहायता से अपना कार्य करती थी। इन ईसाइयों से फ्रांसीसी अच्छा व्यवहार करते थे। अतः छोटी-मोटी शिकायत के होते हुए भी लेबनान के ईसाई फ्रांसीसी संरक्षण से सन्तुष्ट थे। १९२५ में लेबनान के लिए विधान बनाया गया, जिसके अनुसार वहाँ पर संसदीय शासन की व्यवस्था की गयी। लेकिन, कुछ ही दिनों में यहाँ अरबों और ईसाइयों में राजनीतिक तनाव शुरू हुए। इसलिए १९३४ में लेबनान के लिए एक नया विधान बनाया गया, जिससे संसद् की प्रतिनिधित्व प्रणाली में कुछ हेरफेर कर दिया गया। धीरे धीरे लेबनान में यह प्रथा स्थापित हो गयी कि लेबनान का राष्ट्रपति ईसाई होगा और प्रधान-मन्त्री सुन्नी-मुस्लिम। इसके अतिरिक्त लेबनान में कोई खास राजनीतिक परिवर्तन नहीं हुआ।

सीरिया के साथ ऐसी बात नहीं थी। सीरिया में अरब राष्ट्रीयता उतनी ही प्रबल थी, जितनी इराक और फिलिस्तीन में। अतः सीरिया में भी 'फूट डालो और शासन करो' की उसी साम्राज्यवादी नीति का अवलम्बन किया गया। सारे देश को पहले पृथक् राज्यों में बाँट दिया गया। सीरिया से उन तीन क्षेत्रों को पृथक् कर दिया गया, जिसमें मुख्यत: गैर-अरब बसते थे। उनमें से दो क्षेत्र—लेटेकिया और जेबल द्रूज फ्रांसीसी प्रशासन के अन्तर्गत रखे गये

उत्तर में एलेक्जांड्रिटा का तुर्की-जिला एक स्वायत्तशासित प्रान्त हो गया। देश के इस विभाजन के कारण सीरिया में स्थानीय आन्दोलन होने लगे। इसके अतिरिक्त फ्रांसीसी शासकगण सीरिया के स्कूलों और अदालतों में फ्रांसीसी भाषा को अत्यधिक बढ़ावा दे रहे थे और आर्थिक दृष्टिकोण से सीरिया को फ्रांसीसी शिकंजे में जकड़ लेने का प्रयास भी हो रहा था। इस नीति के प्रति सीरिया के अरबों ने गंभीर रोष का प्रदर्शन किया। समय-समय पर गंभीर विद्रोह होते रहे, जिसमें १९२५ का विद्रोह प्रमुख था। इस संघर्ष के आरंभ में फ्रांसीसी सैनिकों को बुरी तरह हारना पड़ा। उनके सैनिक भारी संख्या में हताहत हुए और सीरियाई राष्ट्रवादियों ने उनके शस्त्रागारों पर कब्जा कर लिया। अन्त में फ्रांसीसी सेना ने दमिश्क पर बम बरसाकर इस जन-विद्रोह को कुचल दिया। नये फ्रांसीसी हाईकमिश्नर दी ज्वेनेल ने पहुँचकर सुलह-समझौता कराया और अहमद नमीवे की अध्यक्षता में एक 'राष्ट्रीय सरकार' का संगठन करके अगस्त, १९२६ में लड़ाई का अन्त कराया।

जुलाई, १९२७ में पौनसौ सीरिया का नया हाई कमिश्नर बन कर आया। वह सीरिया के लिए सीरियावासियों द्वारा ही एक संविधान बनवाने का पक्षपाती था। पदग्रहण करते ही उसने इस दिशा में कार्य करना शुरू किया। अप्रिल, १९२८ में सीरिया संसद् के लिए चुनाव हुआ। निर्वाचित संसद् को एक संविधान की रूपरेखा तैयार करने को कहा गया। उसे यह आश्वासन भी दिया गया कि समय आ जाने पर सीरिया और फ्रांस का सम्बन्ध इराक और ब्रिटेन के सम्बन्ध की तरह एक सन्धि के आधार पर किया जायगा। ७ अगस्त को संसद् ने भावी संविधान का एक मसविदा तैयार किया। पर इसके अनेक उपबन्ध फ्रांसीसी हाई कमिश्नर को नापसंद थे और इसलिए उसने उसको मंजूर करने से इन्कार कर दिया। मई, १९३० में उसने स्वयं एक संविधान की रूपरेखा प्रस्तुत की। कुछ विरोध और प्रदर्शन के बाद सीरिया वालों ने यह संविधान मंजूर कर लिया। १९३२ में इस संविधान के अनुसार चुनाव हुआ और सीरियाई राष्ट्रवादियों को मिलाकर एक मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई।

इस समय सीरिया की राजनीति पर पड़ोसी राष्ट्रों की राजनीति का प्रभाव पड़ा। १९३० में इराक और ब्रिटेन में एक सन्धि हो चुकी थी और १९३२ में इराक राष्ट्रसंघ का सदस्य बन चुका था। सीरिया के निवासी स्वायत्त शासन के लिए कम-से-कम उतना योग्य हो गये थे, जितना इराक के निवासी। सीरिया के राष्ट्रवादी फ्रांस के साथ भी आँग्ल-इराकी सन्धि की तरह ही अपना सम्बन्ध कायम करना चाहते थे। अतः १९३३ में आँग्ल-इराकी नमूने पर एक फ्रेंको-सीरियन संधि करने के लिए वार्ता हुई। इस सन्धि के अनुसार सीरिया की सुरक्षा और विदेश-नीति पचीस सालों तक फ्रांस के नियन्त्रण में रहनेवाली थी। सीरिया के राष्ट्रवादियों ने इसका घोर विरोध किया। सीरियाई संसद् ने इसका अनुमोदन करने से इन्कार कर दिया। जब यह स्पष्ट हो गया कि संसद् का अनुमोदन इस सन्धि को नहीं प्राप्त हो सकता है तो फ्रांसीसी अधिकारियों ने अनिश्चित काल तक के लिए संसद् को भंग कर दिया। इसके बाद सीरिया के संविधान को बिल्कुल ही निलम्बित कर दिया गया।

इन घटनाओं के कारण सीरिया के राष्ट्रवादी अधीर हो उठे। इसी समय मिस्र के राष्ट्रवादी आन्दोलन को कुछ सफलता मिल चुकी थी और १९३६ में आँग्ल-मिस्र सन्धि हो चुकी थी। सीरिया के राष्ट्रवादियों को इससे प्रबल प्रेरणा मिली। फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध

१९३६ के प्रारम्भ में विद्रोह होना शुरू हुआ। गली-गली में फ्रांसीसियों और सीरियाइयों के बीच मुठभेड़ें हुईं। सीरिया में आम हड़ताल मनाया गया। अन्त में बाध्य होकर फ्रांसीसी हाईकमीश्नर को राष्ट्रवादियों को मिलाकर एक सरकार का संगठन करना पड़ा। सीरियाई विद्रोह से बचने के लिए मार्च के अन्तिम दिनों में फ्रांसीसी सरकार ने एक सीरियाई प्रतिनिधि-मंडल को सन्धि की बातचीत करने के लिए पेरिस में आमन्त्रित किया। ६ सितम्बर, १९१६ देशों के प्रतिनिधियों ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। यह सन्धि-आँग्ल-इराकी सन्धि ने नमूने पर तैयार की गयी थी। यह एक मैत्री सन्धि थी, जो सीरिया के राष्ट्रसंघ के सदस्य होने पर लागू होनेवाली थी और सीरिया को राष्ट्रसंघ की सदस्यता इस सन्धि के अनुमोदन के तीन साल के भीतर प्राप्त कराई जानेवाली थी। फ्रांस को सीरिया की की भूमि पर सेना तथा सीरियाई विदेश-नीति पर नियन्त्रण रखने का अधिकार दिया गया था।

निश्चय है कि इस प्रकार की सधि सीरिया के उग्र राष्ट्रवासियों को किसी भी हालत में अच्छी नहीं जँचती। वे इसका विरोध करने लगे, इसलिए सन्धि के अनुमोदन में विलम्ब हो गया। फ्रांसीसी संसद् भी शीघ्र ही इस सन्धि का अनुमोदन नही कर सकी। फ्रेंको-सीरियन सम्बन्ध के बिगड़ने का इस समय एक दूसरा कारण भी था। फ्रांस एलेक्जांड्रिटा का जिला तुर्की को देने के लिए बातचीत कर रहा था। जून, १९३९ में उसने तुर्की के साथ एक समझौता भी कर लिया जिसके अनुसार एलेक्जांड्रिटा का जिला तुर्की को इस शर्त पर सौंप दिया गया कि तुर्की लोग सीरिया पर अपने अन्य सभी दावों का परित्याग कर देंगे तथा उस देश में फ्रांस-विरोधी कोई कार्रवाई नहीं करेंगे। इस प्रकार सीरिया के विखण्डन की नीति का सीरिया-वासियों ने घोर विरोध किया और राष्ट्रवादी उपद्रव पुन: प्रारम्भ हुए। ७ जुलाई, १९३९ को सीरिया के राष्ट्रपति ने फ्रांसीसी नीति के विरोध में पदत्याग कर दिया। इसके बाद सीरिया की संसद् भंग कर दी गयी और इसकी जगह अब फ्रांसीसी हाई कमिश्नर का निरंकुश शासन शुरू हुआ। वास्तव में बात यह थी कि इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इतनी गम्भीर हो गयी थी और हिटलर का संकट इतना निकट आ गया था कि फ्रांस सीरिया को छोड़ना नहीं चाहता था।[1] सीरिया को छोड़ने का अर्थ पूर्वी भूमध्यसागर में फ्रांसीसी अड्डे को तोड़ देना; और तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को देखकर फ्रांस के लिए ऐसा करना शायद सम्भव नहीं था। अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करना साम्राज्यवाद का मुख्य सिद्धान्त है और अन्य साम्राज्यवादियों की अपेक्षा फ्रांस का इस सिद्धान्त में अधिक विश्वास रहा है। ऐसी स्थिति में सीरिया की स्वतन्त्रता की कल्पना ही व्यर्थ थी। द्वितीय विश्व-युद्ध-काल में सीरिया फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के चंगुल में बुरी तरह फँसा रहा।

---

1. S. N. Fisher, op. cit., p. 417

अध्याय : ६

विश्व राजनीति में पूर्वी एशिया

(East Asia in World Politics)

पेरिस शांति सम्मेलन और पूर्वी एशिया :—जब १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ा तो १९०२ की आँग्ल-जापानी सन्धि की शर्तों के अनुसार जापान भी ब्रिटेन का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हो गया। १५ अगस्त, १९१४ को जापान की सरकार ने जर्मनी को यह 'सलाह' दी कि क्याऊ-चाऊ से वह अपना सैनिक अड्डा हटा ले और शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त है वे जापान को हस्तान्तरित कर दिये जायें 'ताकि वह उन्हें चीन की सरकार को वापस लौटा देने की व्यवस्था कर सके।' यह था जापान का युद्ध-अन्तिमेन्थम् जिसका जवाब जर्मनी से सात दिनों के भीतर ही माँगा गया था। जब २२ अगस्त तक जर्मनी की सरकार की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला, तो अगले दिन २३ अगस्त को जापान ने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी और क्याऊ-चाऊ पर आधिपत्य जमा लिया। इसके बाद जनवरी, १९१५ में जापान ने चीन के सामने प्रसिद्ध 'इक्कीस माँगें' पेश कीं। विवश होकर चीन ने जापान के अधिकांश माँगों को स्वीकार कर लिया। वास्तव में पूर्वी एशिया का रास्ता जापान के लिए बिल्कुल साफ था, क्योंकि यूरोपीय राज्य युद्ध में बझे हुए थे और इस अवसर से लाभ उठाकर जापान ने इस क्षेत्र में अपना प्रभाव खूब फैलाया।

१४ अगस्त, १९१७ को चीन ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध में चीन का प्रवेश जापान को एकदम पसन्द नहीं पड़ा; क्योंकि इससे युद्ध के बाद, चीन को भी प्रादेशिक तथा अन्य फायदे प्राप्त हो सकते थे। चीन को युद्ध से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। उसे विश्वास था कि विलसन के 'चौदह सूत्रों' के लागू होने से चीन को भी फायदा होगा तथा यूरोपीय राज्य अपने विशेषाधिकार का परित्याग कर देंगे और उससे स्वशासन का अधिकार प्राप्त हो जायगा। पेरिस के शान्ति सम्मेलन में चीन ने अपनी अनेक माँगें पेश कीं। उसकी प्रमुख माँगे निम्नलिखित थीं : (१) शाँतुंग प्रदेश उसे लौटा दिया जाय। (२) चीन से विदेशी विशेषाधिकार तथा अन्य असमान सुविधाओं एवं सन्धियों का अन्त कर दिया जाय। पर, चीन के भाग्य में निराशा ही लिखी हुई थी। जहाँ तक शांतुंग का प्रश्न था ब्रिटेन, फ्रांस और इटली पहले से ही इस प्रदेश को जापान को हस्तान्तरित करने को वचनबद्ध थे। केवल राष्ट्रपति विलसन ने ही इस मोल-तोल का विरोध किया। लेकिन जब जापानी प्रतिनिधिमण्डल ने राष्ट्रसंघ का बहिष्कार करने की धमकी दी तो वे भी इस प्रश्न पर शान्त हो गये। शान्ति सम्मेलन में चीन को कुछ न मिला। शांतुंग पर जापान का अधिकार कायम रहा। चीन की सरकार ने विरोध में शान्तिसंधियों पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया।

वाशिंगटन-सम्मेलन

सम्मेलन की पृष्ठभूमि :—वर्साय-सन्धि के बाद पूर्वी एशिया के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के इतिहास में एक दूसरा अध्याय शुरू हुआ। १८९४-९५ के चीन जापान युद्ध के समय जापान
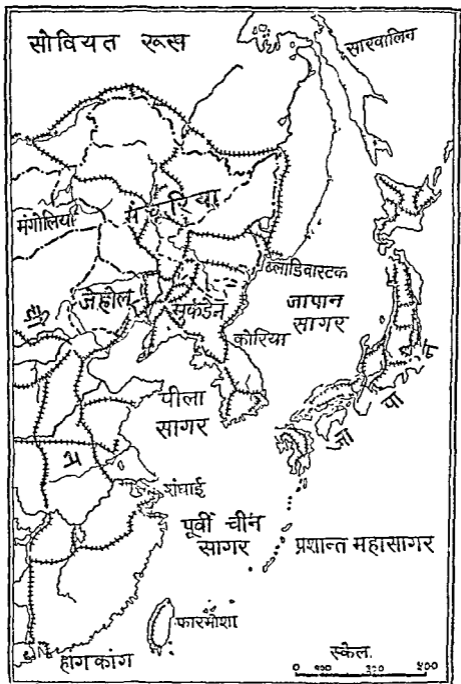
१९२०-२१ में पूर्वी एशिया

का जो साम्राज्यवादी जीवन आरम्भ हुआ था उसका प्रथम चरण बड़ी सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। जापान की साम्राज्यवादी भूख बहुत अंश तक शान्त हो चुकी थी। पर, यह साम्राज्यवाद के

मीठे फल को एक बार चख चुका था। अब उसके लिए यह असम्भव था कि वह फिर इसको दुबारा चखने का प्रयास न करे। जापान का कहना था कि शान्ति-सम्मेलन में उसके साथ पूर्ण न्याय नहीं हुआ है। वह अपने को, जर्मनी और इटली की तरह, 'अतृप्त' राज्यों की कोटि में रखता था। शांति-सम्मेलन में अमेरिका के दवाव के कारण जापान को अपनी अनेक माँगों का परित्याग करना पड़ा था। जापान के शासक यह अनुभव करने लगे थे कि संसार में 'जसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त ही प्रवल है। जब तक जापान अपनी सैन्य-शक्ति नहो वढ़ा लेता तब तक पश्चिम के महान् राष्ट्र उनकी अवहेलना ही करते रहेंगे। जापान समझता था कि उसका सबसे कट्टर विरोधी संयुक्तराज्य अमेरिका है। अतएव अमेरिका से लोहा लेने के लिए वह आवश्यक तैयारी करने लगा।

पूर्वी एशिया में जापान की शक्ति :—संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान के सम्बन्ध निरन्तर खराब हो रहे थे, इसमें कई कारण थे। इस क्षेत्र में जापान की शक्ति दिनोंदिन बढ़ रही थी जिसके कारण अमेरिका का चिन्तित होना स्वाभाविक था। प्रथम विश्व-युद्ध में जापान पर नियन्त्रण रखनेवाली दो शक्तियाँ थीं—जर्मनी और रूस। लेकिन युद्ध के बाद इन दोनों शक्तियों का पतन हो गया। जर्मनी पस्त पडा था और रूस में क्रान्ति की धूम मची थी। इससे इस प्रदेश में जापान का प्रभाव बहुत बढ़ रहा था। वस्तुतः प्रथम विस्व-युद्ध के समय में ही जापान ने अपना प्रभाव बढ़ाने का काम शुरू कर दिया था। जब संसार के सभी देशों का ध्यान युद्ध-प्रयत्नों में लगा हुआ था, उसी समय जापान ने स्थिति से लाभ उठाकर चीन के समक्ष अपनी प्रसिद्ध "इक्कीस माँगें" (Twenty-One Demands) रखी थी। इसका उद्देश्य चीन में जापान की स्थिति को सुरक्षित बनाना था। ये माँगें पाँच भागों में विभक्त थीं और यदि चीन इनको पूरी तरह मान लेता तो उसकी स्थिति जापान के संरक्षित राज्य जैसी हो जाती। तौभी चीन को कई माँगों को विवश होकर स्वीकार करना पड़ा।

इस समय संयुक्त राज्य अमेरिका पूर्वी एशिया में खुला दरवाजा की नीति का अनुसरण कर रहा था और "इक्कीस मांगों" से इसका स्पष्ट खंडन हो रहा था। इसलिए अमेरिका ने इन माँगों का विरोध किया। "संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार", अमरीकी विदेश मन्त्री विल्सन ने जापान को चेतावनी देते हुए कहा, "ऐसे किसी समझौते को स्वीकार नहीं कर सकती जिससे संयुक्त राज्य अमेरिका के सन्धियों द्वारा प्राप्त अधिकारों का, चीन की राजनीतिक अथवा प्रादेशिक अखंडता का तथा "खुला दरवाजा" की नीति का हनन होता हो।" कुछ दिनों तक जापान अमेरिका की चेतावनी को टालता रहा, लेकिन २ नवम्बर, १९१७ को उसने एक समझौता कर लेना ही ठीक समझा। इस समझौते के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान की सरकारों ने यह स्वीकार किया कि "प्रादेशिक समीपता देशों में विशेष सम्बन्ध उत्पन्न कर देती है। अतएव संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार यह स्वीकार करती है कि चीन में जापान के विशेष स्वार्थ हैं।" इस प्रकार अमेरिका ने चीन में जापान के विशेष स्वार्थ को मान लिया। जापान के लिए यह वड़ा ही लाभदायक सिद्ध हुआ।

फिर भी जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच मनमुटाव का अन्त नहीं हुआ। जापान चीन तथा प्रशान्त महासागर में जर्मनी के इलाकों तथा उपनिवेशों पर अधिकार करना चाहता था। अमेरिका इसके पक्ष में नहीं था।

याप द्वीप का झगड़ा :—जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका का मतभेद पेरिस शान्ति-सम्मेलन में उग्र रूप से प्रकट हुआ। मतभेद का एक कारण प्रशान्त महासागर में स्थित याप टापू था। यह टापू पश्चिमी कोरोलाइन द्वीप में था। युद्ध के समय जापान ने इसे जर्मनी से छीन लिया था। इस छोटे-से टापू का एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व था। गुआम से मनीला जानेवाली तथा हिन्देशिया से शंघाई जानेवाली समुद्री तारों का यह केन्द्र था। अमेरिका नही चाहता था कि इस टापू पर जापान का अधिकार कायम रहे। अतएव पेरिस शान्ति-सम्मेलन में राष्ट्रपति ने यह प्रस्ताव रखा कि याप द्वीप का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। लेकिन विलसन का प्रस्ताव मान्य नही हुआ और यह द्वीप जापान की संरक्षता में रख दिया गया। अमेरिका के लिए इस स्थिति को कबूल करना बड़ा कठिन सिद्ध हुआ। अतएव दोनों देशों के बीच तनाव बना रहा।

आंग्ल जापानी सन्धि :—जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका में तनाव का एक और कारण आँग्ल-जापानी संधि थी। १९०२ में यह सन्धि पूर्वी एशिया में रूस और जर्मनी के प्रसार रोकने के उद्देश्य से की गयी थी। इसमें इंगलैंड ने जापान को आश्वासन दिया था कि यदि वह किसी देश से युद्ध में फँस जाय तो इंगलैंड उसको सहायता करेगा। प्रथम विश्व युद्ध के बाद अमेरिका को यह सन्धि एकदम पसन्द नही आ रही थी। उसको भय था कि यदि जापान और अमेरिका के बीच युद्ध छिड़ गया तो उसमें इंगलैंड संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध जापान की सहायता करेगा। १९२० में इस संधि का नवीनीकरण हुआ। अमेरिका ने आपत्ति की। इस पर अमरीकी सरकार को ब्रिटेन ने यह आश्वासन दिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान के बीच लड़ाई होने पर सन्धि को लागू नहीं किया जायगा। लेकिन अमरीकी सरकार को इस पर विश्वास नहीं हुआ। अमेरिका को यह विश्वास था कि अब यह सन्धि उसके खिलाफ की जा रही है, क्योंकि युद्ध के बाद जर्मनी और रूस दोनों की शक्ति समाप्त हो चुकी थी। इंगलैंड पर भी तरह-तरह के दबाव डाले जा रहे थे कि वह इस सन्धि को रद्द कर दें। इस हालत में पूर्वी एशिया के लिए एक नयी व्यवस्था की आवश्यकता महसूस की जा रही थी।

नौसैनिक होड़ :—प्रशान्त महासागर पर प्रभुत्व कायम करने के मार्ग में जापान संयुक्त राज्य अमेरिका को अपना प्रबल विरोधी समझता था। अतएव यह अमेरिका का मुकाबला करने के लिए अपनी नाविक शक्ति में वृद्धि करना चाहता था। इसके लिए जापान में संगठित प्रयास होने लगा। जापान के इस प्रयास को देखकर अमेरिका के शासक घबड़ा गये। अतएव इस नौसैनिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने तथा पूर्वी एशिया की अन्य समस्याओं को हल करने के लिए वाशिंगटन में ११ अगस्त, १९२१ को एक सम्मेलन बुलाया गया। अमरीकी राष्ट्रपति हार्डिंग ने इसके लिए ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान, चीन, बेल्जियम, हालैंड और पुर्तगाल को निमंत्रित किया।

वाशिंगटन सम्मेलन :—संसार की प्रमुख ९ शक्तियों का एक सम्मेलन वाशिंगटन में १२ नम्बर, १९२१ से ६ फरवरी, १९२२ तक हुआ। इस सम्मेलन में जो समझौते हुए उनको हम सात भागों में बाँट सकते हैं :

१. **नौसैनिक संधि** :—यह सन्धि ग्रेट ब्रिटेन, जापान, फ्रांस, इटली तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच में हुई थी। इसको पंचशक्ति नौसैनिक संधि कहते हैं (The Five Power

मीठे फल को एक बार चख चुका था। अब उसके लिए यह असम्भव था कि वह फिर इसको दुबारा चखने का प्रयास न करे। जापान का कहना था कि शान्ति-सम्मेलन में उसके साथ पूर्ण न्याय नहीं हुआ है। वह अपने को, जर्मनी और इटली की तरह, 'अतृप्त' राज्यों की कोटि में रखता था। शांति-सम्मेलन में अमेरिका के दबाव के कारण जापान को अपनी अनेक माँगों का परित्याग करना पड़ा था। जापान के शासक यह अनुभव करने लगे थे कि संसार में 'जसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त ही प्रबल है। जब तक जापान अपनी सैन्य-शक्ति नहीं बढ़ा लेता तब तक पश्चिम के महान् राष्ट्र उनकी अवहेलना ही करते रहेंगे। जापान समझता था कि उसका सबसे कट्टर विरोधी संयुक्तराज्य अमेरिका है। अतएव अमेरिका से लोहा लेने के लिए वह आवश्यक तैयारी करने लगा।

पूर्वी एशिया में जापान की शक्ति :—संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान के सम्बन्ध निरन्तर खराब हो रहे थे, इसमें कई कारण थे। इस क्षेत्र में जापान की शक्ति दिनोंदिन बढ़ रही थी जिसके कारण अमेरिका का चिन्तित होना स्वाभाविक था। प्रथम विश्व-युद्ध में जापान पर नियन्त्रण रखनेवाली दो शक्तियाँ थीं—जर्मनी और रूस। लेकिन युद्ध के बाद इन दोनों शक्तियों का पतन हो गया। जर्मनी पस्त पड़ा था और रूस में क्रान्ति की धूम मची थी। इससे इस प्रदेश में जापान का प्रभाव बहुत बढ़ रहा था। वस्तुतः प्रथम विश्व-युद्ध के समय में ही जापान ने अपना प्रभाव बढ़ाने का काम शुरू कर दिया था। जब संसार के सभी देशों का ध्यान युद्ध-प्रयत्नों में लगा हुआ था, उसी समय जापान ने स्थिति से लाभ उठाकर चीन के समक्ष अपनी प्रसिद्ध "इक्कीस माँगें" (Twenty-One Demands) रखी थीं। इसका उद्देश्य चीन में जापान की स्थिति को सुरक्षित बनाना था। ये माँगें पाँच भागों में विभक्त थी और यदि चीन इनको पूरी तरह मान लेता तो उसकी स्थिति जापान के संरक्षित राज्य जैसी हो जाती। तौभी चीन को कई माँगों को विवश होकर स्वीकार करना पड़ा।

इस समय संयुक्त राज्य अमेरिका पूर्वी एशिया में खुला दरवाजा की नीति का अनुसरण कर रहा था और "इक्कीस मांगों" से इसका स्पष्ट खंडन हो रहा था। इसलिए अमेरिका ने इन माँगों का विरोध किया। "संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार", अमरीकी विदेश मन्त्री विल्सन ने जापान को चेतावनी देते हुए कहा, "ऐसे किसी समझौते को स्वीकार नहीं कर सकती जिससे संयुक्त राज्य अमेरिका के सन्धियों द्वारा प्राप्त अधिकारों का, चीन की राजनीतिक अथवा प्रादेशिक अखंडता का तथा "खुला दरवाजा" की नीति का हनन होता हो।" कुछ दिनों तक जापान अमेरिका की चेतावनी को टालता रहा, लेकिन २ नवम्बर, १९१७ को उसने एक समझौता कर लेना ही ठीक समझा। इस समझौते के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान की सरकारों ने यह स्वीकार किया कि "प्रादेशिक समीपता देशों में विशेष सम्बन्ध उत्पन्न कर देती है। अतएव संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार यह स्वीकार करती है कि चीन में जापान के विशेष स्वार्थ हैं।" इस प्रकार अमेरिका ने चीन में जापान के विशेष स्वार्थ को मान लिया। जापान के लिए यह बड़ा ही लाभदायक सिद्ध हुआ।

फिर भी जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच मनमुटाव का अन्त नहीं हुआ। जापान चीन तथा प्रशान्त महासागर में जर्मनी के इलाकों तथा उपनिवेशों पर अधिकार करना चाहता था। अमेरिका इसके पक्ष में नहीं था।

याप द्वीप का झगड़ा :—जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका का मतभेद पेरिस शान्ति-सम्मेलन में उग्र रूप से प्रकट हुआ। मतभेद का एक कारण प्रशान्त महासागर में स्थित याप टापू था। यह टापू पश्चिमी कौरोलाइन द्वीप में था। युद्ध के समय जापान ने इसे जर्मनी से छीन लिया था। इस छोटे-से टापू का एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व था। गुआम से मनीला जानेवाली तथा हिन्देशिया से शंघाई जानेवाली समुद्री तारों का यह केन्द्र था। अमेरिका नहीं चाहता था कि इस टापू पर जापान का अधिकार कायम रहे। अतएव पेरिस शान्ति-सम्मेलन में राष्ट्रपति ने यह प्रस्ताव रखा कि याप द्वीप का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। लेकिन विलसन का प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ और यह द्वीप जापान की संरक्षता में रख दिया गया। अमेरिका के लिए इस स्थिति को कबूल करना बड़ा कठिन सिद्ध हुआ। अतएव दोनों देशों के बीच तनाव बना रहा।

आंग्ल जापानी सन्धि :—जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका में तनाव का एक और कारण आँग्ल-जापानी संधि थी। १९०२ में यह सन्धि पूर्वी एशिया में रूस और जर्मनी के प्रसार रोकने के उद्देश्य से की गयी थी। इसमें इंगलैंड ने जापान को आश्वासन दिया था कि यदि वह किसी देश से युद्ध में फँस जाय तो इंगलैंड उसको सहायता करेगा। प्रथम विश्व युद्ध के बाद अमेरिका को यह सन्धि एकदम पसन्द नहीं आ रही थी। उसको भय था कि यदि जापान और अमेरिका के बीच युद्ध छिड़ गया तो उसमें इंगलैंड संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध जापान की सहायता करेगा। १९२० में इस संधि का नवीनीकरण हुआ। अमेरिका ने आपत्ति की। इस पर अमरीकी सरकार को ब्रिटेन ने यह आश्वासन दिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान के बीच लड़ाई होने पर सन्धि को लागू नहीं किया जायगा। लेकिन अमरीकी सरकार को इस पर विश्वास नहीं हुआ। अमेरिका को यह विश्वास था कि अब यह सन्धि उसके खिलाफ की जा रही है, क्योंकि युद्ध के बाद जर्मनी और रूस दोनों की शक्ति समाप्त हो चुकी थी। इंगलैंड पर भी तरह-तरह के दबाव डाले जा रहे थे कि वह इस सन्धि को रद्द कर दें। इस हालत में पूर्वी एशिया के लिए एक नयी व्यवस्था की आवश्यकता महसूस की जा रही थी।

नौसैनिक होड़ :—प्रशान्त महासागर पर प्रभुत्व कायम करने के मार्ग में जापान संयुक्त राज्य अमेरिका को अपना प्रबल विरोधी समझता था। अतएव यह अमेरिका का मुकाबला करने के लिए अपनी नाविक शक्ति में वृद्धि करना चाहता था। इसके लिए जापान में संगठित प्रयास होने लगा। जापान के इस प्रयास को देखकर अमेरिका के शासक घबड़ा गये। अतएव इस नौसैनिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने तथा पूर्वी एशिया की अन्य समस्याओं को हल करने के लिए वाशिंगटन में ११ अगस्त, १९२१ को एक सम्मेलन बुलाया गया। अमरीकी राष्ट्रपति हार्डिंज ने इसके लिए ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान, चीन, बेल्जियम, हालैंड और पुर्तगाल को निमंत्रित किया।

वाशिंगटन सम्मेलन :—संसार की प्रमुख ९ शक्तियों का एक सम्मेलन वाशिंगटन में १२ नम्बर, १९२१ से ६ फरवरी, १९२२ तक हुआ। इस सम्मेलन में जो समझौते हुए उनको हम सात भागों में बाँट सकते हैं :

१. **नौसैनिक संधि** :—यह सन्धि ग्रेट ब्रिटेन, जापान, फ्रांस, इटली तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच में हुई थी। इसको पंचशक्ति नौसैनिक संधि कहते हैं (The Five Power

Naval Treaty)। इसका उद्देश्य नाविक होड़ का अन्त करना था और इसका विस्तृत अध्ययन हम पहले ही कर चुके हैं।

२. **पहली चतुर्राष्ट्र संधि** :—१३ दिसम्बर १९२१ को जापान, अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस के बीच एक सन्धि हुई। इसके द्वारा तय किया गया कि हस्ताक्षरकर्ता प्रशान्त महासागर *में स्थित एक-दूसरे के अधिकृत प्रदेशों में प्राप्त अधिकारों का परस्पर सम्मान करेंगे* और यदि इन अधिकारों के सम्बन्ध में उनमें कोई मतभेद हो गया या अन्य किसी राज्य की आक्रमणात्मक कार्यवाई के कारण उन्हें किसी प्रकार का खतरा हुआ तो वे आपस में परामर्श करेंगे। सन्धि करनेवाले देशों को यह अधिकार होगा कि किसी महाशक्ति की आक्रामक कार्यवाई द्वारा उनके अधिकारों को क्षति पहुँचने की सम्भावना हो तो वे एक-दूसरे से इस विषय में पूरा पत्र व्यवहार कर सकते हैं। इस सन्धि का महत्त्व इस बात में था कि इसके फलस्वरूप १९०२ की आँग्ल-जापानी सन्धि का अन्त हो गया। कहना न होगा कि यह सन्धि ब्रिटिश-डोमीनियन और अमेरिका में काफी बदनाम हो चुकी थी। कनाडा और आस्ट्रेलिया-जैसे देश ब्रिटिश-सरकार पर बराबर इस सन्धि को अन्त करने के लिए दबाव डाल रहे थे। पर बिना कोई अन्य व्यवस्था किये ब्रिटिश-सरकार इस सन्धि का अन्त करना नहीं चाहती थी। वाशिंगटन-सम्मेलन से उत्पन्न इस सन्धि के द्वारा यह व्यवस्था उपलब्ध हो गयी और अन्ततोगत्वा आँग्ल जापानी संधि को 'शानदार तरीके से दफना' दिया गया। इस सन्धि के फलस्वरूप युद्धोत्तर-काल में अमेरिका *पहली बार सामान्य हित के मामलों पर अन्य बड़े राष्ट्रों से कुछ बातों में परामर्श करने तथा अपना* सहयोग देने के लिए तैयार हो गया।

(३) प्रथम नवराष्ट्र सन्धि :—तीसरी संधि नवराष्ट्र-सन्धि (Nine Power Treaty) कहलाती है और इसका सम्बन्ध चीन से था। सन्धि के अनुसार सम्मेलन में शामिल हुए सभी राष्ट्रों ने वादा किया कि वे चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता का आदर करेंगे। इसके अतिरिक्त हस्ताक्षरकर्ताओं ने यह वचन भी दिया कि वे चीन की वर्तमान स्थिति से लाभ उठाकर उससे ऐसा कोई भी विशेषाधिकार या सुविधाएँ प्राप्त नहीं करेंगे, जिनसे अन्य राज्यों के अधिकार में किसी प्रकार की कमी हो। यह सन्धि चीन के हितों की रक्षा करने के लिए नहीं, अपितु जापान के प्रसार को रोकने के लिए की गयी थी। चीन में 'खुले दरवाजे' की नीति को कायम रखा गया और पश्चिमी राज्यों के बहुत-से विशेषाधिकार कायम रहे।

अमेरिका में इस सन्धि को बहुत महत्त्व दिया गया। वे इसे 'खुले दरवाजे" की नीति की विजय तथा 'चीन का मैग्नाकार्टा' मानते थे, किन्तु इस सन्धि में कई कमियाँ थीं। इसको क्रियान्वित करना मुख्य रूप से महाशक्तियों की सद्भावना पर छोड़ दिया गया था, इसके पालन कराने के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। बस (Bass) ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि 'यह सामूहिक सुरक्षा का समझौता नहीं था, किन्तु महाशक्तियों द्वारा स्वमेव कुछ अधिकार छोड़ने की घोषणा मात्र थी।' ग्रिसवोल्ड के शब्दों में यह सन्धि सुदूरपूर्व के विरोधी स्वार्थों में यहाँ तक शान्ति स्थापित रख सकती थी, जहाँ तक स्याही और कलम द्वारा शान्ति बनाये रखना सम्भव था।

(४) दूसरी नवराष्ट्र-सन्धि :—वाशिंगटन-सम्मेलन में सम्मिलित नौ राष्ट्रों के बीच एक और सन्धि हुई जिसके द्वारा चीन को अपने देश में आनेवाली वस्तुओं पर कर लगाने के पहले से अधिक अधिकार दिये गये।

(५) षड्शक्ति सन्धि :—ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, जापान, इटली तथा चीन के बीच एक सन्धि हुई। इसके द्वारा जर्मनी के समुद्री तारों को आपस में बाँटने का निश्चय किया गया।

(६) दूसरी चतुर्राष्ट्र सन्धि :—इस सन्धि के द्वारा ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस तथा जापान ने प्रशांत महासागर में स्थित टापुओं में विभिन्न शक्तियों के अधिकारों के सम्मान और सुरक्षा का निश्चय किया।

(७) अमेरिका और जापान का समझौता :—याप द्वीप के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान के बीच एक सन्धि हुई। पेरिस शान्ति-सम्मेलन द्वारा इस टापू पर जापान का संरक्षण स्वीकार किया गया था. लेकिन अमेरिका इस स्थिति को कबूल करने के लिए तैयार नहीं था। अतएव वाशिंगटन-सम्मेलन में इन दोनों देशों के बीच एक सन्धि हुई जिसके द्वारा इस द्वीप समूह में अमेरिका को जापान के तुल्य समानाधिकार और स्वतन्त्र प्रवेश का अधिकार मिल गया।

चीन जापान समझौता :—इन सन्धियों के अतिरिक्त वाशिंगटन-सम्मेलन के बाहर, चीन और जापान के बीच एक दूसरी विशेष सन्धि हुई जिसके द्वारा जापान ने शांतुंग प्रदेश चीन को लौटा देने का वचन दिया। १९२२ के दिसम्बर में यह प्रदेश चीन को वापस मिल गया। लेकिन जापान को चीन के कुछ रेल लाइनों (Tsian-Tsingtas Railway) पर पन्द्रह वर्ष तक नियन्त्रण रखने का अधिकार दिया गया।

वाशिंगटन-सम्मेलन के परिणाम

महत्त्व :—पूर्वी एशिया के इतिहास ने वाशिंगटन सम्मेलन का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका महत्त्व इस बात में है कि इसने इस क्षेत्र की विविध समस्याओं को हल करने के लिए एक निश्चित कदम उठाया। इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि पेरिस का शान्ति-सम्मेलन जिस समस्या को नहीं सुलझा सका उसको वाशिंगटन-सम्मेलन ने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। उस सम्मेलन को यूरोपीय व्यवस्था स्थापित करने में अवश्य सफलता मिली, लेकिन पूर्वी एशिया की समस्या की ओर उसने विशेष ध्यान नहीं दिया। वाशिंगटन-सम्मेलन के मुख्य काम पूर्वी एशिया की समस्या का समाधान करना था। इसके दो प्रधान उद्देश्य थे—(१) इंगलैंड, जापान और अमेरिका के नौ सैनिक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करना तथा (२) जापान की शक्ति पर अकुंश लगाना ताकि चीन की अखण्डता बनी रहे तथा सभी देशों को चीन में व्यापार करने का समान अधिकार रहे। वाशिंगटन-सम्मेलन में जो सन्धियाँ हुईं उनसे ये दोनों उद्देश्य पूरे हो गये। नौसैनिक सन्धि ने पहले उद्देश्य को तथा चतुर्राष्ट्र सन्धि ने दूसरे उद्देश्य को पूरा किया। ई० एच० कार ने इस सम्मेलन के प्रभाव का विवेचन करते हुए लिखा है कि इससे प्रशान्त महासागर में चीन की प्रादेशिक अखण्डता को तथा भारत-अमरीकी नौसैनिक प्रभुता को चुनौती देने वाला जापान का संकट दूर हो गया। जापान को बाध्य किया गया

कि वह चीन की मुख्य भूमि में युद्ध के समय प्राप्त किये हुए लाभों का परित्याग कर दे तथा महाशक्तियो ने संयुक्त रूप से चीन की प्रादेशिय अखण्डता तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाये रखने का समझौता किया। इससे चीन को अपनी स्थिति सम्हालने का एक अवसर प्राप्त हुआ। इस सम्मेलन के समझौतों ने अस्त्र-शस्त्र पर होनेवाले विशाल व्यय में भारी बचत की। इसने आंग्ल-जापानी सन्धि को समाप्त कर इस क्षेत्र में राजनीतिक स्थिरता-ला दी और तनाव को कम किया। इससे अगले दस वर्षों के लिए पूर्वी एशिया में शान्ति वनी रही।

वाशिंगटन-सम्मेलन के दोष :– इन अच्छे परिणामों के अतिरिक्त वाशिंगटन की सन्धियों में कुछ दोष भी थे। इसकी सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि इसमें शस्त्राशस्त्रों का नियन्त्रण बहुत सीमित रूप से किया गया था। वड़े युद्धपोतों पर पावन्दी तो लगा दी गयी। लेकिन छोटे-छोटे जहाजों पर कोई नियन्त्रण नही लगा।

इन सन्धियों के द्वारा चीन में राज्यों को समान अवसर प्राप्त हुआ। लेकिन इस बात में एक त्रुटि थी। इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने का कोई उपाय नही निकाला गया। पिछले सौ वर्षों में चीन के साथ इन राज्यों की कई सन्धियाँ हुई थीं जिनके अनुसार उन्हें कई विशेषाधिकार मिले थे। इन विशेषाधिकारों को रद्द नहीं किया गया। चीन की प्रादेशिक अखण्डता और राजनीतिक स्वतन्त्रता पर तो बहुत जोर अवश्य दिया गया, लेकिन, इसका वास्तविक उद्देश्य जापान के प्रभाव के प्रसार को रोकना था। यदि ऐसा नहीं होता तो ये राज्य चीन में प्राप्त अपने विशेषाधिकारों का परित्याग अवश्य कर देते। लेकिन ऐसा नही हुआ। अतएव चीन और जापान दोनों वाशिंगटन में स्थापित व्यवस्था ने असन्तुष्ट थे।

इन समझौतों से जापान विशेष रूप से रुष्ट था। इस समय जापान नौसैनिक प्रतिस्पर्धा से बचना चाहता था। इसीलिए उसने नौ सेना पर लगाये गये प्रतिबन्ध को स्वीकार कर लिया। लेकिन जापान में ऐसे जंगखोरों की कमी नहीं थी जो इस सन्धि को अत्यन्त अपमानजनक तथा अन्यायपूर्ण मानते थे। फिलहाल जापान ने विवश होकर इन बातो को मान लिया, लेकिन उसने दिल से कभी भी इस व्यवस्था को स्वीकार नही किया। जापान के इस प्रबल रोष का भीषण विस्फोट बाद में मंचूरिया और पर्ल हार्बर में हुआ।

चीन की राजनीति :—वाशिंगटन के सम्मेलन के तुरत बाद चीन में भयानक गृह-युद्ध भड़क उठा। १९११ में सनयात सेन के नेतृत्व में जो चीन की क्रान्ति हुई थी उससे चीन का राष्ट्रीय हित नहीं हो सका था और सारा चीन आपसी कलह का शिकार वन गया था। मंचूरिया वस्तुतः स्वतन्त्र हो गया था और वी-पी-फु के नेतृत्व में मध्य चीन एक दूसरा ही राज्य वन चुका था। शेष चीन में सनयात सेन की कोमिन्तांग-पार्टी की प्रधानता थी, जिसका केन्द्र कैंटन था। कोमिन्तांग-पार्टी ने सारे चीन को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। पर, उसको अनेक दिक्कतो का सामना करना। पहली बात कि स्वयं चीनियों में राष्ट्रीय भावना का अभाव था। सैकड़ों वर्ष की परम्परा ने चीनी जनता को चीन को एक राष्ट्र के रूप में सोचने के बजाय कुटुम्ब और बस्ती के रूप में ही सोचना सिखाया। इसके अतिरिक्त विदेशी हस्तक्षेप का भी प्रश्न था। आर्थिक दृष्टि से चीन वस्तुतः विदेशी राज्यों का उपनिवेश था। इन विदेशी राज्यों का हित इसी बात में था कि चीन सदा के लिए असंगठित और कमजोर

कलह का शिकार बना रहे। चीनी राष्ट्रीय आन्दोलन और एकता को बढ़ाने के लिए डा० सेन ने विदेशी सहायता पाने की आवश्यकता महसूस की। अमेरिका और ब्रिटेन से उन्हें बड़ी आशाएँ थी, मगर दोनों ने या और भी किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र ने उन्हे सहायता नही दी। चीन के शोषण में सबका स्वार्थ था। १९२३ में डा० सेन सोवियत-संघ की तरफ मुड़े। सोवियत-संघ से सहायता मिलने की उन्हें विशेष आशा थी। क्रान्ति के बाद सोवियत संघ ने अपने को साम्राज्यवाद-विरोधी घोषित किया था और चीन में अपने सारे अधिकार छोड़ दिये थे। सोवियत-संघ चीन को यथासम्भव सहायता देने के लिए भी उद्यत था। अतः १९२३ में दोनो देशों के बीच समान स्तर पर एक सन्धि हुई और डा० सेन ने अपने यहाँ कुछ रूसी सलाहकारों को रख दिया। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध बोरोडिन था। १९२३ में वह कैंटन आया और रूसी कम्युनिस्ट-पार्टी के ढंग पर कोमिन्तांग-पार्टी को ऐसे शक्तिशाली राष्ट्रीय आधार पर संगठित करना शुरू किया, जिससे वह सर्वसाधारण की पार्टी हो सके। कोमिन्तांग को एक राष्ट्रीय मोर्चा बनाने का प्रयत्न किया, जिससे कम्युनिस्ट, गैर-कम्युनिस्ट सभी सम्मिलित होकर ऐसे जबरदस्त जन-आन्दोलन का सूत्रपात कर सके जिससे चीन को साम्राज्यवादी और सामन्ती आधिपत्य से मुक्ति मिल जाय और उसका राजनीतिक एकीकरण हो जाय।

चीन के सम्मुख केवल राष्ट्रीय एकता का ही प्रश्न नहीं था, उसे विदेशी गुलामी से मुक्त होना था। उन्नीसवीं सदी से ही चीन में साम्राज्यवादियों को विशेष क्षेत्राधिकार प्राप्त था और सारा देश 'प्रभाव-क्षेत्र' में बाँट लिया गया था। चीन की शिक्षित और तरूण पीढ़ी इन विशेष सुविधाओं का उग्र विरोध करती थी। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जर्मनी और रूस चीन में विशेष सुविधाओं से वंचित हो गये, तो अन्य 'असमान सन्धियों' को रद्द कराने का आन्दोलन और भी व्यापक रूप धारण करने लगा। मार्च, १९२५ में सनयात सेन की मृत्यु हो गयी। पर, यह आन्दोलन तीव्र गति से बढ़ता ही गया। साम्राज्यवादी हस्तक्षेपों को रोकने के लिए मजदूरों और छात्रों के जबरदस्त प्रदर्शन हुए। जब कैंटन के मजदूरों पर विदेशी बस्ती में गोली चलायी गयी तो हांगकांग के मजदूरों ने ऐसी हड़ताल की, जो मजदूर-हड़ताल के इतिहास में अभूत-पूर्व थी। परन्तु यह बात यही तक सीमित नहीं रही। चीन के मामले में हस्तक्षेप करने की दिशा में ब्रिटेन सबसे आगे रहता था। १९२५ में शंघाई के मिलों में एक हड़ताल हुई और इसमें एक हड़ताली मजदूर मार डाला गया। इसके विरुद्ध चीनी विद्यार्थियों ने एक विशाल साम्राज्य-वाद-विरोधी प्रदर्शन किया। यह प्रदर्शन बिल्कुल शान्तिपूर्ण था। पर ब्रिटिश-पुलिस अफसर इस पर गोली बरसाने से बाज नही आये, जिसके फलस्वरूप बहुत-से छात्र मारे गये। ब्रिटिश-पुलिस की इतनी कठोर कार्रवाई के लिए सम्भवतः कोई औचित्य नहीं था। इसके बाद भी ब्रिटिश-अधिकारियों ने ऐसा रुख अपनाया, जिससे साम्राज्य वाद-विरोधी उत्तेजना और भी बढ़ गयी। जून, १९२५ में कैंटन की ब्रिटिश बस्ती में छात्रों की भीड़ पर मशीनगन चलायी गयी और अँग्रेज हत्यारों ने ५२ व्यक्तियों को मार डाला। सारे चीन में क्रोध की लहर भड़क उठी। ब्रिटिश-विरोधी भावना इतनी तीव्र थी कि चीनियों ने ब्रिटिश-माल के बहिष्कार का आन्दोलन शुरू किया, जिसके फलस्वरूप कई महीनों तक हांगकांग का व्यापार बन्द हो गया और अंगरेज पूँजीपतियों को अपार नुकसान उठाना पड़ा।

इतने बड़े पैमाने पर जन-जागृति को देखकर साम्राज्यवादी घबड़ा गये और उन्होंने राष्ट्रवादी चीन के साथ किसी प्रकार का समझौता कर लेना ही श्रेयस्कर समझा। चीन की राष्ट्रीय सरकार ने घोषणा की कि असमान सन्धियों की अवधि पूरी हो जाने के बाद चीन उसका अन्त कर देगा। इस स्थिति से बचने के लिए १६२८ में अमेरिका ने चीन के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार उसने वचन दिया कि १ जनवरी, १६२६ से चीन को अपनी चुंगी निर्धारित करने का पूरा अधिकार रहेगा। इसके बाद ब्रिटेन फ्रांस, आदि ग्यारह देशों ने भी अमेरिका का अनुसरण करते हुए चुंगी-निर्धारण के अधिकार का परित्याग कर दिया। पर चीन में अभी विदेशियों के लिए विशेष सुविधा बनी हुई थी। सितम्बर, १६२८ में चीन के विदेश-मन्त्री ने विदेशी सरकारों को यह सूचित किया कि वे चीन में प्राप्त अपनी विशेष सुविधाओं का अन्त करने के लिए जल्द-से-जल्द कदम उठायें। इटली, डेनमार्क, पुर्तगाल और बेल्जियम ने तो इन सुविधाओं का परित्याग कर दिया; लेकिन तथाकथित बड़े राष्ट्र अभी इसके लिए तैयार नहीं थे। इसका एक प्रमुख कारण स्वयं चीन का घरेलू कलह था। डा० सनयात सेन की मृत्यु के बाद कोमिन्तांग पार्टी का नेता च्यांग-काई-शेक हुआ। उसमें राष्ट्रीयता की भावना तो थी; पर वह पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली था और तुरत ही राष्ट्रीय प्रतिक्रान्ति (counter-revolution) का नेता हो गया। कोमिन्तांग-पार्टी वामपंथी और दक्षिण-पंथी दो दलों में बँट गयी। वामपंथी दल, जिसमें साम्यवादियों की प्रधानता थी, रूसी मित्रता का समर्थक था और चाहता था कि बोरोडिन के सहयोग से पार्टी की क्रान्तिकारी परम्पराएँ जारी रखी जायँ। दक्षिण-पंथी च्यांग-काई शेक था और इस दल पर ब्रिटेन का प्रभाव था। यह दल साम्राज्यवादियों से समझौता करके चीन की मुक्ति का पक्षपाती था। च्यांग को न तो साम्यवाद से कोई सहानुभूति थी और न उसे रूसी सलाहकारों का चीन में रहना ही पसन्द था। साम्राज्यवादियों का समर्थन पाकर च्यांग का प्रभाव बढ़ने लगा और आसानी से उसने चीन की राजसत्ता को हड़प लिया। बोरोडिन और अन्य रूसी सलाहकार मास्को वापस भेज दिये गये और चीनी कम्युनिस्टों को जेल में ठूँस दिया गया। इसके बाद चीनी सामन्तवाद और विदेशी साम्राज्यवाद में गठबन्धन हो गया और कोमिन्तांग-सरकार की अनुमति से ही अब चीन का शोषण होने लगा। चीन के उद्योगों को प्रोत्साहन न देकर च्यांग विदेशी उद्योगों को प्रोत्साहित करने लगा, जिसके फलस्वरूप देश के आर्थिक जीवन पर विदेशी साम्राज्यवाद ने अपना पूरा आधिपत्य जमा लिया। चीनी मजदूर और किसान की अवस्था दयनीय हो गयी और मध्यमवर्ग के लोगों का जीवन स्तर दिनोंदिन गिरता गया। सम्पूर्ण चीन विदेशी शोषण का क्षेत्र बन गया।

ऐसी स्थिति में जाग्रत चीन में च्यांग के विरुद्ध विद्रोह होना अवश्यम्भावी था। विदेशियों के सम्मुख सामन्तवादी च्यांग ने आत्मसमर्पण कर दिया था। इसके विरुद्ध चीन में जन-आन्दोलन जड़ पकड़ने लगा। कम्युनिस्टों के नेतृत्व में च्यांग-काई शेक शासन के विरुद्ध एक जबरदस्त जन-आन्दोलन शुरू हुआ, जो पीछे चलकर एक गृह-युद्ध के रूप में परिवर्तित हो गया। १६२७ से १६३६ तक चीन में यह गृह-युद्ध चलता रहा।

जापानी साम्राज्यवाद का पुनरोद्भव और मंचूरिया काण्ड

वर्त्तमान शताब्दी की तीसरी दशाब्दी के पूर्वार्द्ध में जापानी साम्राज्यवाद शिथिल पड़ गया था। इसके अनेक कारण थे। १६२१ के वाशिंगटन समझौते ने जापान के मनसूबों पर

एक प्रकार से नियन्त्रण लगा दिया था। संसार के अन्य प्रमुख राष्ट्रों के साथ जापान ने भी वचन दिया था कि वह चीन की स्वतन्त्रता और अखण्डता पर कोई अतिक्रमण नहीं करेगा। युद्धोतर-काल में राष्ट्रसंघ की स्थापना हो चुकी थी और जापान इसका सदस्य था। इस स्थिति में दूसरे देश पर आक्रमण करना अब खतरे से खाली नहीं था। इसके अतिरिक्त स्वयं जापान की सरकार में इस समय उदारवादियों की प्रधानता थी, उग्रवादियों की नहीं। पर जापानी साम्राज्यवाद की यह शिथिलता क्षणिक थी। वस्तुतः जापानी साम्राज्यवाद के जीवन में यह 'ठहरो और स्थिति का अध्ययन करो' का काल था। बीसवीं शताब्दी की तृतीय दशाब्दी के अन्तिम वर्षों में जापान का यह 'अध्ययन' समाप्त हो गया और इसके बाद जापानी साम्राज्यवाद का पुनरोद्भव एक नये जोश के साथ हुआ।

इस पुनरोद्भव का सबसे जबरदस्त कारण १९३० का विश्वव्यापी आर्थिक संकट था। जापान की आबादी में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। यह लगभग नौ लाख प्रतिवर्ष की भीषण गति से बढ़ रही थी। इस बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए जापान को जगह चाहिए थी। विदेशों में प्रवास इस समस्या का एक समाधान हो सकता था। किन्तु अमेरिका और आस्ट्रेलिया महादेशों के प्रवास-नियमों के द्वारा जापानी आप्रवास को एकदम बन्द कर दिया था। कोई भी जापानी इन विदेशों के किसी भी महादेश में जाकर नहीं बस सकता था। व्यावहारिक दृष्टिकोण से जापानी लोग चीन में भी जाकर नहीं बस सकते थे, क्योंकि जापानियों की अपेक्षा चीनी मजदूरों का जीवन-स्तर निम्न था, वे कम मजदूरी पर काम कर सकते थे और इस प्रतिस्पर्धा में जापानी लोग टिक नहीं सकते थे। जापानी नेता कहा करते थे कि यदि मंचूरिया पर कब्जा हो जाय तो यह समस्या बहुत अंशों में हल हो जा सकती है। आर्थिक दृष्टिकोण से भी जापान दिन-प्रति-दिन विदेशी आयात्-निर्यात पर आश्रित होता जा रहा था। उसे प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण कच्चे माल का आयात करना पड़ता था। इसलिए विदेशी बाजार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जापान के लिए जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। जापानी माल का निर्यात सामान्यतया दो मुख्य दिशाओं में होता था। उसके कच्चे रेशम का बाजार अमेरिका और सूती कपड़े का बाजार चीन था। रेशम विलासी की वस्तु है और अमेरिका में जब आर्थिक प्रलय शुरू हुआ तो किसी व्यक्ति के पास विलास की वस्तु खरीदने की क्षमता नहीं रह गयी। जापान के व्यापार पर इसका घातक प्रभाव पड़ा। दूसरी ओर चीन में बराबर जापान-विरोधी भावना बनी रहती थी, जिसके कारण वहाँ बार बार जापानी मालों का बहिष्कार-आन्दोलन होता रहता था। इसके अतिरिक्त आर्थिक संकट के कारण दुनिया का प्रत्येक राज्य आर्थिक क्षेत्र में संरक्षण-नीति का अनुसरण कर रहा था। इससे जापानी माल बिकने में दिक्कत हो रही थी जापान अनुभव करता था कि उसका आर्थिक क्षेत्र बहुत ही सीमित है। अपने मालों को खपाने के लिए जापान एक 'विस्तृत आर्थिक क्षेत्र (larger economic area) की आवश्यकता महसूस करता था, जहाँ उसे आयात करों और संरक्षणनीति का डर न हो।

मंचूरिया का महत्त्व—इन परिस्थितियों में जापान के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह मंचूरिया के विस्तृत उपजाऊ प्रदेश पर अपना नियन्त्रण कायम करे। वास्तव में इस क्षेत्र पर १८९४ से ही जापान की आँखें गड़ी हुई थी और उस समय से लेकर प्रथम विश्व-युद्ध तक जापान मंचूरिया में अपना पैर पूरी तरह जमा चुका था। मंचूरिया की रेलवे लाइनें जापान के ठेके में

थीं और जापानियों ने करोड़ों रुपये लगाकर वहाँ अनेक कल-कारखानों का विकास किया था। १६१५ की 'एक्कीस मांगों' के द्वारा मंचूरिया स्थित पट्टवाले क्षेत्र और रेलवे पर जापान के कब्जे की अवधि बढ़ाकर ६६ वर्ष तक कर दी गयी थी और जापानी लोगों को वहाँ जाकर बसने तथा कारोबार करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। चीन ने कभी भी इन शर्तों को दिल से नही माना और इनके विरुद्ध बराबर आपत्ति करता रहा। वाशिंगटन-सम्मेलन में भी यह प्रश्न उठाया गया किन्तु, जापानियों ने मंचूरिया में प्राप्त अधिकारो का परित्याग करने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। मंचूरिया में जापानी लोगों को बसाकर आबादी की समस्या का हल किया जा सकता था। मंचूरिया का बाजार जापान के लिए सुरक्षित हो सकता था और यहाँ पर आयातकर का झमेला भी नही उठ सकता था। इसके अतिरिक्त मंचूरिया में परमावश्यक कच्चे माल, लोहा, कोयला, तेल आदि बहुमूल्य खनिज-पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे, जो जापानी उद्योगों के लिए काफी महत्त्वपूर्ण थे। साम्यवादी रूस के उत्कर्ष से इसका सामरिक महत्त्व भी अधिक बढ़ गया था। इन कारणो के अतिरिक्त कम्युनिस्ट प्रचार और कोमिन्तांग का विरोध इस प्रकार की परिस्थिति का सृजन कर रहे थे, जिससे जापान मंचूरिया को अलग स्वतन्त्र राज्य के रूप में ही चाहता था।

इसके विपरीत राष्ट्रवादी चीन मंचूरिया को चीन में मिलाकर चीन की राजनीतिक एकता के एक अध्याय को समाप्त करना चाहता था। मई, १६१७ में राष्ट्रवादी सेना उत्तर की ओर बढ़ी और कुछ ही दिनों में वह पीली नदी तक पहुँच गयी। अब जापान सरकार की आँखें खुलीं। मंचूरिया को राष्ट्रवादी चीन से बचाने के लिए उसने कुछ सैनिक टुकड़ियाँ शान्तुंग के इलाके में उतार दी और कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलो पर कब्जा कर लिया, ताकि राष्ट्रवादियों को आगे बढ़ने से रोका जा सके। सैनिक कार्रवाई कर लेने के बाद जापान ने मंचूरिया को चीन में शामिल करने के विरुद्ध कूटनीतिक विरोध प्रकट किया। जब मंचूरिया के तत्कालीन शासक चाँगत्सोलीन ने अप्रिल, १९२८ में राष्ट्रवादी सरकार से समझौता कर लेने का विचार प्रकट किया तब एक रहस्यपूर्ण बम के फूटने से उसकी मृत्यु हो गयी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह बम-दुर्घटना जापानी षड्यन्त्र का ही परिणाम था। चाँगत्सोलीन का पुत्र च्वाँग सुएह लियांग पहले से ही राष्ट्रीय सरकार के साथ एकीकरण चाहता था। जब वह मंचूरिया की गद्दी पर बैठा तो १८ जुलाई, १६२८ को जापानियों ने उसे चेतावनी दी कि मंचूरिया को चीन में मिला लेने से हमारे हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। पर जापानी चेतावनी का कोई नतीजा नहीं निकला और दिसम्बर, १६२८ के अन्त में मंचूरिया विधिवत् चीन का एक अभिन्न अंग बन गया।

मंचूरिया-विजय की तैयारी—मंचूरिया में राजनीतिक परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप जापान के सैनिक और असैनिक अधिकारियों में प्रतिद्वन्द्विता शुरू हो गयी। मंचूरिया पर कोमिन्तांग का झण्डा फहराया गया और जापान के शासकगण चुपचाप देखते रह गये। इसको रोकने के लिए कोई सैनिक कार्रवाई नहीं की गयी। असैनिक राजनीतिक नेता भी मंचूरिया की परिवर्तित स्थिति का विरोध करते थे; किन्तु उनका तरीका उग्रवादी नहीं था। इसके विपरीत स्थल और जल सेना के उच्चाधिकारीगण मंचूरिया पर आक्रमण करके उसे चीन से छुड़ा लेना चाहते थे। सैनिक अफसरों में फासिज्म की भावना प्रबल थी और जैसा प्रायः

होता है, उन्हें जापान के उद्योगपतियों और कुलीनों का समर्थन प्राप्त था। सैनिक अफसर जापान की राजनीति में हस्तक्षेप करने लगे। यह क्रम १९१९ में शुरू हुआ और इसके बाद से सैनिक अफसरों ने असैनिक अधिकारियों पर अपनी इच्छाएँ थोपनी शुरू की। वे अपनी इच्छानुसार मन्त्रिमण्डल बनाने और हटाने लगे। जो-जो राजनेता उनका विरोध करते उनकी सीधे हत्या कर दी जाती थी।[1] सैनिकों का कहना था कि चीन के विरुद्ध जबरदस्ती का उपाय अपनाया जाना चाहिए और उग्र विदेश-नीति का अवलम्बन करना चाहिए।[2] आर्थिक संकट के कारण निराश और चीनी बहिष्कारों की पुनरावृत्ति से सैनिकवादियों को जापानी जनता का समर्थन प्राप्त करने में देर नहीं लगी। सैनिकवाद का सितारा तभी तक बुलन्द रहता है जब तक दूसरे देशों के साथ युद्ध चलता रहे। इसलिए अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाये रखने के लिए जापानी सैनिक अफसर एक युद्ध शुरू करने की तैयारी करने लगे। चीन युद्ध के लिए एक अच्छा क्षेत्र था और मंचूरिया एक सर्वोत्तम बहाना भी। अगर जापान मंचूरिया पर आक्रमण कर देता है तो जापान की राजनीति में सैनिक अधिकारों की स्थिति सुरक्षित रहेगी। पश्चिम के राष्ट्रों की तरफ से मंचूरिया-विजय का विरोध हो सकता था। पर, सैनिक अफसरों ने अनुभव किया कि उनको यह कह कर आसानी से शान्त कर दिया जा सकता है कि जापान का अन्तिम उद्देश्य चीन नहीं, बल्कि सोवियत संघ है और चीन के विरुद्ध जो कार्रवाई हो रही है उसका असल ध्येय 'एशिया को साम्यवाद से बचाना' है। यह बात सुनकर पश्चिम के 'उदार' देश केवल प्रसन्न ही नहीं होंगे, अपितु जापान के 'पवित्र कार्य' में सहायता भी देंगे। जापानी सैनिकवादियों का यह तर्क पीछे चलकर सत्य भी सिद्ध हुआ।

जब मंचूरिया पर आक्रमण करने का निर्णय ले लिया गया तो उसके लिए तैयारी होने लगी। १७ अगस्त, १९२१ को जापान में सैनिक विमानों से पर्चे गिराये गये, जिसमें कहा गया था कि सारा राष्ट्र मंचूरिया में जापानी सुविधाओं पर अतिक्रमण से उत्पन्न खतरों से सचेत रहे। चीन के अधिकारी इन तैयारियों के उद्देश्य को अच्छी तरह समझ रहे थे। वे लोग भी सतर्क हो गये और मुकडेन-स्थित चीनी सेना को संघर्ष से बचाने ने लिए सतर्कता और धीरज रखने का आदेश दिया गया। पर, १९३१ की नाटकीय घटनाओं के लिए रास्ता तैयार हो चुका था। सितम्बर तक सैनिकवादियों ने पूर्णतया शासन पर कब्जा कायम कर लिया था। उधर सारा संसार आर्थिक प्रलय में डूबा हुआ था। सब अपने ही घर को सम्हालने में व्यस्त थे। जापान साम्राज्यवादियों को मंचूरिया पर आक्रमण करने के लिए इससे बढ़कर अच्छा मौका मिल सकता था।

मंचूरिया-काण्ड

१८ सितम्बर, १९३१ को रात के मुकडेन नामक स्थान में एक रहस्यमयी घटना घट गयी। मुकडेन में पन्द्रह हजार जापानी सैनिक रहते थे। उक्त तिथि को एक जोर का विस्फोट हुआ और उसके बाद कुछ गोलियाँ चली। इस घटना के कुछ दिन पूर्व से ही जापानी सैनिक

1. उदाहरण के लिए, १४ नवम्बर १९३० को प्रधान मन्त्री हेमागुशी, उसके बाद प्रधान मन्त्री इनकाई, २६ फरवरी, १९३६ को वितमन्त्री ताकाहाशी राजमोहर का रक्षक सैटो यथा जनरल वाटनोव की हत्या कर दी गयी।

2. Schuman, *International Politics* (5th Ed.) pp. 443-444.

युद्ध का अभ्यास कर रहे थे जिसके क्रम में रायफल और मशीनगन की बहुत-सी गोलियाँ चलायी गयी थीं। अतः उक्त रात्रि की घटना ने लोगों का ध्यान खास तौर से आकृष्ट नहीं किया। पर सवेरे जब मुकडेन के निवासी जगे तो उन्होंने अपने को जापानी सैनिकों के कब्जे में पाया। जापानी सैनिक अधिकारियों द्वारा इस कार्रवाई का कारण यह बतलाया गया कि चीनी सेना की एक टुकड़ी उस रात मुख्य रेलवे लाइन को उड़ा देने का प्रयत्न कर रही थी। इस पर तुरत ही जापानी रक्षक बुलाये गये और चीनी सैनिकों के साथ छोटी-सी मुठभेड़ हो गयी। इसके बाद दस हजार चीनी सैनिकों को, जो अपने बैरकों में सो रहे थे, तितर-बितर करके निःशस्त्र कर दिया गया और समूचे क्षेत्र में जापानी सेना तैनात कर दी गयी। इतनी बड़ी घटना बिना किसी खास हो-हल्ला किये ही समाप्त हो गयी। मुकडेन शान्तिपूर्वक जापानियों के कब्जे में चला गया।

इसमें अब कोई शक नहीं रह गया है कि मुकडेन की सारी घटनाएँ एक योजना-बद्ध घटना थी, जिसकी तैयारी जापानी सैनिकवादियों ने सोच-समझकर की थी। चार दिनों के भीतर ही मुकडेन के उत्तर में २६० मील के घेरे में स्थित सभी चीनी नगरों पर जापानियों ने कब्जा कर लिया। किन्तु जापान की साम्राज्यवादी भूख इतने से ही शान्त नहीं हुई। 'चीनी लुटेरों से जापानी जान-माल की रक्षा' करने के नाम पर आधिपत्य का क्षेत्र और बढ़ा दिया गया। यह सब काम स्थानीय जापानी सैनिक अधिकारियों के आदेश पर ही हो रहा था। टोकियो-सरकार सम्भवतः इनसे बिल्कुल अनभिज्ञ थी। मुख्य जापानी सेनापति के आदेश पर प्रान्तीय चीनी सरकार, जिसका प्रधान सुए हलियांग था, खदेड़ दी गयी। नवम्बर के मध्य तक उत्तरी मंचूरिया का विशाल भू-भाग जापानियों के कब्जे में आ चुका था। इसके बाद जापानी सेना दक्षिण की ओर बढ़ी। ८ अक्टूबर को जापानी विमानों ने चिनचोप पर बम गिराये और ३ फरवरी, १९३२ को उसपर कब्जा कर लिया। ४ जनवरी को जापानी चीन की महान दीवार के संगम पर स्थित शानहाइ क्वान में पहुँच गये और इस प्रकार सारे दक्षिण मंचूरिया पर उनका पूर्ण आधिपत्य कायम हो गया।

चीन में मंचूरिया पर आक्रमण की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। जगह-जगह पर दंगे हुए और जापान बहिष्कार आन्दोलन जोर-शोर से चलाया गया। प्रत्येक स्थान में जापान-विरोधी राष्ट्रीय संघ की स्थापना हुई। जो लोग जापानियों के साथ सम्बन्ध रखते हुए पाये गये उनका केवल सामाजिक बहिष्कार ही नहीं हुआ, अपितु कैद, जुर्माना और कुछ मामलों में मौत की सजा भी दी गयी। इसके अतिरिक्त जापानी हस्तक्षेप के फलस्वरूप चीन में राजनीतिक एकता भी हो गयी।

मंचूरिया-काण्ड की प्रतिक्रिया सारे संसार में हुई। जापानी आक्रमण का समाचार सुनते ही सारा संसार स्तब्ध हो गया। जापानी सरकार कह रही थी कि जापान चीन के प्रदेश को अपने साम्राज्य में मिलाने का कोई विचार नहीं रखता है और चीनी लुटेरों से जापानियों की रक्षा करने के लिए ही सैनिक कार्रवाई की गयी है। जापान के प्रचारक गला फाड़-फाड़ कर कह रहे थे कि मंचूरिया में उनकी कार्रवाई युद्ध नहीं बल्कि एक 'पुलिस कार्रवाई' है। परन्तु संसार के लोग इतने बेवकूफ नहीं थे। अधिकांश लोगों के लिए यह घटना उन सारे प्रयासों के लिए, जो दुनिया के नेतागण शान्ति को सुरक्षित बनाने के लिए १९१९ से ही

करते आ रहे थे, एक जबरदस्त धक्का था। यह काण्ड केवल राष्ट्रसंघ के विधान का ही उल्लंघन नहीं था, अपितु इससे पेरिस-पैकेट और वाशिंगटन में की गयी नौ-राष्ट्रों की सन्धि का घोर अतिक्रमण होता था। सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धान्त खतरे में था। किन्तु, कोई इस
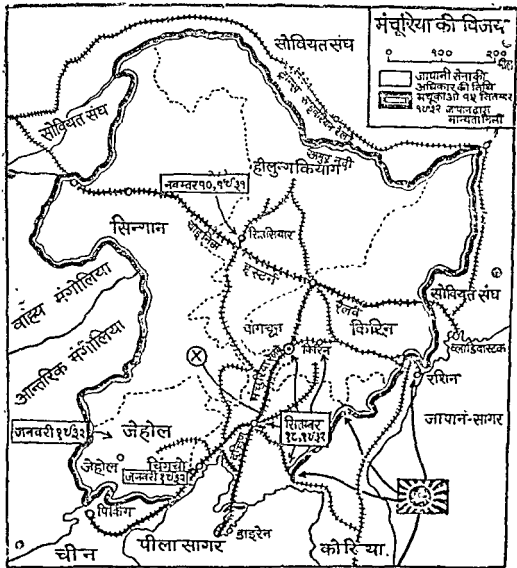
अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को रोकने के लिए सक्रिय रूप से तैयार नहीं था। चीन को अकेले ही इसका सामना करना था। वहाँ शुरू से ही उत्तेजना फैली हुई थी। १८ जनवरी को शंघाई में एक प्रतिशोधात्मक घटना हो गयी। उस दिन पाँच जापानी बौद्ध भिक्षुओं पर शंघाई के नागरिकों ने हमला कर दिया, जिनमें से एक की मृत्यु हो गयी। जापान के सैनिक अधिकारियों को चीन को सबक देने का एक अच्छा बहाना मिल गया। जापान से तुरत एक अल्टिमेटम रवाना किया गया और २८ तारीख से जापान ने शंघाई में भी सैनिक कार्रवाई शुरू कर दी। एक बड़ी सेना शंघाई में उतारी गयी और बम वर्षा करके नगर के एक भाग को बिल्कुल जला दिया गया। किन्तु जापान अभी स्थायी रूप से शंघाई पर आधिपत्य रखना नहीं चाहता था।

ब्रिटेन की मध्यस्थता के कारण मई के महीने तक उसको अपनी सारी सेना शंघाई से वापस बुला लेनी पड़ी।

शंघाई से जो सेना हटाई गयी उसको जापान वापस न भेजकर जापानी आधिपत्य को मजबूत करने के लिए मंचूरिया भेज दिया गया। इसके साथ-ही-साथ जापानियों ने अपने अधीन मंचूरिया के लिए एक प्रान्तीय सरकार स्थापित करने की नीति भी अपना ली थी। १९ फरवरी, १९३२ को यह निश्चित किया गया कि चीन के पदच्युत प्राचीन राजवंश के अन्तिम राजा पुयी के राष्ट्रपतित्व में 'मंचूकुओ' नाम का एक गणतन्त्र स्थापित किया जाय। ९ मार्च को यह राज्य स्थापित हुआ और सितम्बर में जापान ने इसको एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में सरकारी तौर पर मान्यता दे दी। मंचूकुओ नाममात्र का एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य था। वस्तुतः वह पूर्ण रूप से जापानियों के हाथ का कठपुतली था। जापान को इतना कहने का मौका अवश्य मिल गया कि उसने मंचूरिया के लोगों को आत्मनिर्णय के अधिकार दे दिया है। पर, सारी दुनिया वास्तविकता को समझती थी।

राष्ट्रसंघ और मंचूरिया काण्ड—मंचूरिया पर आक्रमण होते ही नानकिंग-सरकार ने तुरत इसका घोर विरोध किया और उसने तीन दिनों के बाद, २१ सितम्बर १९३१ को, राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार सारा चीन-जापान-विवाद कौंसिल के सम्मुख रखा। राष्ट्रसंघ ने इस सम्बन्ध में क्या किया, इसका अध्ययन हम कर चुके हैं।

जिस समय राष्ट्रसंघ-एसेम्बली अपने अधिवेशन में व्यस्त थी उस समय जापान चीन के एक दूसरे प्रदेश जिहोल पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। २५ फरवरी को जापानी सेना ने इस प्रदेश पर आधिपत्य जमा लिया। इसके बाद अप्रिल में जापानी सेना चीन की दीवार पार करके पेकिंग पर हमला करने की तैयारी करने लगी। चीन ने देखा कि अकेले जापान का विरोध करना व्यर्थ है। फलस्वरूप ३ मई को ताँगकू में एक विराम सन्धि हो गयी। इसके अनुसार चीन की दीवार के पाँच हजार वर्गमील क्षेत्र को सैन्य विहीन कर दिया गया। जापानी साम्राज्यवाद का एक दूसरा परिच्छेद इस तरह समाप्त हो गया।

मंचूरिया-काण्ड का महत्त्व—प्रोफेसर कार के शब्दों में मंचूरिया-काण्ड प्रथम विश्व-युद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। वाशिंगटन-सम्मेलन द्वारा जिस सम्भावना को टालने की कोशिश की गयी थी, वह टली नहीं और प्रशान्त महासागर में शक्ति संघर्ष प्रारम्भ हो गया। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद पहली बार आक्रमणात्मक कार्रवाई का आश्रय लिया गया था, और इसमें आक्रमणकारी को अपूर्व सफलता मिली। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि दुनिया के सब राष्ट्र मिल-जुल कर कार्य करते और जापान की कार्रवाइयों का विरोध करते तो जापान कुचल दिया जा सकता था। लेकिन यूरोप के बड़े राष्ट्र ऐसा नहीं करना चाहते थे, क्योंकि उनमें यह अटूट विश्वास पैदा हो गया था कि जापान का अन्तिम लक्ष्य सोवियत संघ है। इसके अतिरिक्त १९३१-३२ में यूरोप के राज्य मंचूरिया को लेकर एक दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ करना नहीं चाहते थे। प्रथम विश्व युद्ध की याद अभी बिल्कुल ताजी थी और उसको ध्यान में रखकर कोई देश दूसरा युद्ध मोल लेने के लिए तैयार नहीं था। फिर चीन एक एशियाई देश था और यदि उसपर आक्रमण हो ही रहा था, तो बुरा क्या हुआ। पश्चिमी देश बदनियति के कारण यह भूल गये कि जापानी आक्रमण

एक रोग का लक्षण है जो यूरोप में भी फैल सकता है। वे जापान के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी करने को भी तैयार नहीं थे। इसका कारण यह था कि उस समय सारा संसार आर्थिक संकट के चंगुल में फँसा हुआ था और इस तरह की नाकेबन्दी का अर्थ उस संकट को और तीव्र बनाना था। इन चार प्रमुख कारणों से जापान को कोई दण्ड नहीं दिया गया। उसके सारे अपराध माफ कर दिये गये। परन्तु, इसका दूरगामी परिणाम अत्यन्त भयंकर हुआ। एक अपराधी को क्षमा करने का अर्थ दूसरे अपराधी को प्रोत्साहित करना होता है और अन्ततोगत्वा इसका परिणाम भी यही हुआ। मंचूरिया काण्ड ने घटनाओं की उस शृंखला का सूत्रपात किया, जिसके परिणामस्वरूप द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। इथोपिया काण्ड, चेकोस्लोवाकिया-काण्ड, पोलिश-काण्ड आदि सभी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को मंचूरिया काण्ड से प्रेरणा मिली थी।

चीन-जापान-युद्ध

'साम्यवाद का खतरा'—मई १९३३ में चीन और जापान के बीच ताँगकू में विराम-संधि हुई थी। इसके बाद कुछ दिनों के लिए दोनों देशों के बीच लड़ाई बन्द रही। किन्तु, जापान केवल मंचूरिया पर कब्जा करके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। मंचूरिया-काण्ड के अवसर पर राष्ट्रसंघ इसके विरुद्ध कुछ नहीं कर सका था। जापान भलीभाँति समझ गया था कि राष्ट्रसंघ उसके मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकता। चीन का विशाल भूभाग उसके सामने था। वह इन भू-भागों को हड़पकर साम्राज्यवाद की अपनी भूख को निर्विरोध शान्त कर सकता था। चीन की आन्तरिक दशा ऐसी दयनीय हो गयी थी कि जापान उससे आसानी से नाजायज फायदा उठा सकता था। इस समय चीन के राजनीतिक नभमंडल में च्यांग-काई-शेक का सितारा बुलन्द था। वह जापानियों के साथ मेल-जोल कर अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना चाहता था। उधर जापान च्यांग की इस कमजोरी को समझता था और आये दिन नयी-नयी मांग रखता जाता था। चीन में च्यांग की इस नीति का विरोध होने लगा। यद्यपि चीन की साम्यवादी पार्टी अवैध घोषित थी और उसके साथ केन्द्रीय सरकार का युद्ध चल रहा था, तो भी बहुत-से लोग लाल झण्डे के नीचे इकट्ठे होने लगे। जापान के विरुद्ध चीन में प्रतिरोध की भावना बढ़ने लगी। जापान-विरोधी तत्वों का नेतृत्व चीनी कम्युनिस्ट पार्टी करती थी। उसका कहना था कि गृह-युद्ध का अन्त करके जापानियों के विरुद्ध एक संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा का निर्माण किया जाय। किन्तु च्यांग-काई-शेक कम्युनिस्टों से किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं था। वह जापान से बढ़कर कम्युनिस्ट को अपना शत्रु समझता था। उसका कहना था कि जापानी चर्मरोग है और कम्युनिस्ट हृदय-रोग। एक से छुटकर मिल सकता है, लेकिन दूसरे से नहीं।" वह जापानियों के सामने आत्मसमर्पण करने को तैयार था। लेकिन राष्ट्रीय मुक्ति के लिए साम्यवादियों से समझौता करने को तैयार नहीं था। वह जापानी आक्रमण को बिल्कुल भूल गया। उसकी यह बात याद ही नहीं रही कि चीन के एक भू-भाग पर जापानियों का कब्जा है और वहाँ से उनको हटाना उसका पुनीत राष्ट्रीय कर्तव्य है। इसके विपरीत वह अपनी सारी शक्ति साम्यवादियों के विरुद्ध लगा रहा था। सारा चीन एक विचित्र कुचक्र में फँस गया था। जापानी कहते थे कि चीन पर आक्रमण साम्यवाद के विरुद्ध की गयी कार्रवाई का दिशा में प्रथम कदम है। पश्चिम के साम्राज्यवादी राष्ट्र जापान के इस अपराध को इसीलिए क्षमा करते जा रहे थे कि जापान की ऐसी कार्रवाई से अन्ततोगत्वा साम्यवादियों को क्षति पहुँचेगी। च्यांग-काई शेक भी साम्यवादी [illegible]

भावना से प्रेरित हो रहा था। साम्यवाद के विरोध के नाम पर समूचे चीन का बलिदान किया जा रहा था।

'एशिया एशियाइयों का'—उधर जापान चीन पर दूसरी चढ़ाई करने की पृष्ठभूमि तैयार करने में व्यस्त था। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार आवश्यक था। वह पराधीन एशिया के पश्चिम-विरोधी भावनाओं को भड़काकर एशिया के लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने की चाल चलने लगा। जापान ने 'एशिया एशियाइयों के लिए' का नारा बुलन्द करके तथा कथित'एशियाई-मुनरो-सिद्धान्त, को प्रतिपादित किया। जिस प्रकार १८२३ में राष्ट्रपति मुनरो ने यह घोषणा की थी कि यूरोप के राज्यों को अमरीकी महादेशों की राजनीति में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है उसी प्रकार जापान ने भी यह घोषणा की कि एशिया की राजनीति से यूरोपीय हस्तक्षेप समाप्त हो जाना चाहिए। लेकिन, 'एशियाई–मुनरो-सिद्धान्त' का लक्ष्य भी वही था जो मूल मुनरो-सिद्धान्त का था। सयुक्त राज्य अमेरिका ने मुनरो सिद्धान्त का प्रयोग लैटिन-अमेरिका के देशों पर अपना साम्राज्यवाद लादने के लिए किया था। 'जापानी-मुनरो-सिद्धान्त' का भी यही लक्ष्य था। पश्चिम के विरुद्ध एशियाई भावनाओं को भड़काकर जापान पश्चिमी साम्राज्यवाद को उखाड़कर एशिया में अपना साम्राज्यवाद लादना चाहता था। इस प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार कर और जापानी जनता पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाल देने के बाद जापानी शासक उस युद्ध की तैयारी करने लगे, जो द्वितीय विश्व-युद्ध का भाग बनने वाला था।

चीनी राष्ट्रीयता—जब कोई देश लड़ाई छेड़ने के लिए तुला हुआ हो तो उसके लिए कारण ढूंढ़ निकालना कोई कठिन काम नहीं होता। जापान चीन के विरुद्ध जल्द-से-जल्द युद्ध आरम्भ करना चाहता था; क्योंकि चीन की राजनीतिक परिस्थिति में तीव्रगति से परिवर्तन हो रही थी। १९३६ में उत्तर-पश्चिम में कम्युनिस्टों का सर्वनाश करने के लिए च्यांग-काई-शेक स्वयं एक सेना लेकर उस प्रदेश में गया। वहाँ कम्युनिस्टो ने च्यांग के सेनापतियों की सहायता से ही उसे(च्यांग) नियान नामक स्थान पर कैद कर लिया। कम्युनिस्टों ने वादा किया कि वे च्यांग को अपना नेता मानकर जापान के विरुद्ध लड़ने को तैयार है। उन्होने प्रस्ताव रखा कि गृह युद्ध बन्द करके जापानियो के विरुद्ध च्यांग के नेतृत्व में एक सयुक्त मोर्चा कायम किया जाय। च्यांग-काई-शेक इस प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं था। जापान सारे चीन को हड़प जाय; लेकिन वह कम्युनिस्टों के साथ किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं हो सकता था। कई दिनों तक कम्युनिस्ट नेता च्यांग को समझाते-बुझाते रहे। अन्त में वे उसको प्रभावित करने में सफल हो गये। च्यांग–काई-शेक इस बात पर राजी हो गया कि उनके साथ मिलकर वह जापान से युद्ध करे। कम्युनिस्ट-पार्टी की कार्यवाही पर से रोक हटा दी गयी। गृह-युद्ध बन्द हो गया। राजनीतिक कैदी रिहा कर दिये गये। प्रेस और सभाओं पर से प्रतिबन्ध हटा लिये गये। कोमिन्तांग-शासन में जनता को पहली बार राजनीतिक स्वतन्त्रता मिली। देश में एक नये जीवन का संचार हुआ। जापान के विरुद्ध प्रतिरोध की भावना बलवती हो गयी। सारा चीन राष्ट्रीय मुक्ति की भावना में ओत-प्रोत हो गया।

चीन-जापान-युद्ध—जिस घटना के फलस्वरूप चीन-जापान का दूसरा युद्ध शुरू हुआ वह लुकाओचियाओ की घटना थी। सामरिक दृष्टिकोण से यह स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण था और जापान इस स्थान पर अपना अधिकार जमाना चाहता था। इस क्षेत्र में चीनियों को उत्तेजित

करने के लिए जापानी सेना बराबर युद्धाभ्यास किया करती थी। किन्तु, चीन सरकार की ओर से चीनी सैनिकों को सख्त हिदायत थी कि वे कोई ऐसा उत्तेजनापूर्ण काम नहीं करें, जिससे स्थिति खराब हो। एक दिन जापानियों ने एक लापता आदमी को खोजने के लिए लुकाओचियाओ के पास वाम्पिंग में घुसने की इजाजत मांगी। इजाजत मिलने में कुछ देर हो गयी और एकाएक जापानी सेना ने उस स्थान पर आक्रमण कर दिया। चीनी सैनिकों ने इसका विरोध किया और इस प्रकार ८ जुलाई, १९३७ को चीन और जापान के बीच युद्ध का दूसरा चरण प्रारम्भ हो गया। स्टालिन ने एक बार कहा था कि "आधुनिक युग में युद्ध घोषित नहीं किये जाते, वे केवल शुरू कर दिये जाते हैं।" उसके इस कथन को जापान की इस कार्यवाही ने अक्षरशः सत्य साबित कर दिया। जापान की तरफ से युद्ध की सरकारी घोषणा नहीं की गयी; पर व्यवहारतः युद्ध शुरू हो गया।

द्वितीय चीन-जापान युद्ध का विस्तारपूर्वक उल्लेख कोई आवश्यक नहीं है, क्योंकि चीनी सेना जापान का मुकाबला नहीं कर सकती थी। जापानी सेना आगे बढ़ती गयी और १९३७ के अन्त होने के पहले ही नानकिंग पर जापान का अधिकार हो गया और सारा पूर्वी चीन जापान के कब्जे में चला गया। चीन दो भागों में बँट गया : स्वतन्त्र चीन और जापान द्वारा-अधिकृत क्षेत्र। चीन ने एक बार फिर राष्ट्रसंघ में अपील की। पर इस समय तक राष्ट्रसंघ एक बिलकुल शक्तिहीन संस्था हो चुकी थी। एसेम्बली ने एक प्रस्ताव पास करके जापान की कार्रवाइयों की निन्दा की। किन्तु, प्रस्ताव-मात्र से चीन की रक्षा होनेवाली नहीं थी। जापान ने चीन के विरुद्ध युद्ध जारी रखा। उसकी सेना निरन्तर आगे बढ़ती गयी। चीनियों ने गुरिल्ला-युद्ध के तरीकों का अवलम्बन किया और युद्ध जारी रखा। जापान के विरुद्ध चीन का संघर्ष जारी रहा और जब १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया तो यह संघर्ष उस विश्वव्यापी युद्ध का ही एक अंग बन गया, जिसका अन्त १९४५ में हुआ। यूरोप के किसी बड़े राष्ट्र ने चीन की कोई मदद नहीं की; उल्टे ब्रिटिश-सरकार से बर्मा-चीन सड़क को, जिससे चीन को कुछ सहायता पहुँच जाती थी, बन्द कर दिया।

—o—

अध्याय १०

युद्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और समझौते

विषय प्रवेश—म्यूनिख समझौते के समय चर्चिल ने कहा था : "ब्रिटेन और फ्रांस को इस समय युद्ध और अपमान में चुनाव करना पड़ा है। उन्होंने अपमान को चुना है पर शीघ्र ही उन्हें युद्ध करना पड़ेगा।" चर्चिल की भविष्यवाणी ठीक निकली और पोलैंड पर हिटलर के आक्रमण के साथ १ सितम्बर, १९३९ को द्वितीय विश्व-युद्ध शुरू हो गया जो अगस्त १९४५ तक चलता रहा। छः वर्षों तक चलनेवाले इस युद्ध ने अनेक चढ़ाव-उतार देखे। १९४२ के मध्य तक हिटलर की सेना सारे यूरोप को रौंदती रही : एक के बाद दूसरे देश को कुचलती रही। इतनी छोटी अवधि में लगभग सारा यूरोप जर्मनी के पैरों पर लोटने लगा था। अतलांतिक से
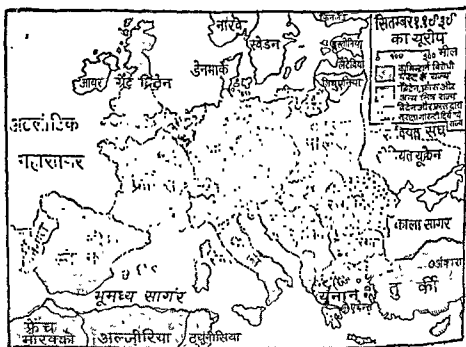
बोल्गा और भूमध्यसागर से काकेशश तक उसकी तूती बोलने लगी थी। किन्तु, १९४२ के अन्तिम दिनों में स्थिति ने पलटा खाया और हिटलर का सितारा कमजोर पड़ने लगा। इस समय तक युद्ध केवल यूरोपीय युद्ध ही नहीं रह गया था। इसमें जापान, अमेरिका, और सोवियत संघ के प्रवेश के कारण इसका स्वरूप विश्वव्यापी युद्ध के रूप में परिवर्तित हो चुका था। १९४५ में धुरी राष्ट्रों की पराजय तक द्रुतगति से घटने वाली युद्ध की इन घटनाओं का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। इसलिए यहाँ हम हम केवल युद्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और समझौते पर ही प्रकाश डालेंगे।

अतलांतिक चार्टर-१४ अगस्त, १६४१ को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चर्चिल और अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मुलकात अतलांतिक महासागर के मध्य एक युद्धपोत में हुई। इस मुलाकात में मित्रराष्ट्रों के युद्ध उद्देश्यों का एक घोषणा-पत्र तैयार किया गया जो अतलांतिक चार्टर के नाम से मशहूर हुआ। इसमें निम्नलिखित आठ सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया था :

(१) संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन अपना प्रादेशिक अथवा किसी प्रकार का विस्तार नहीं चाहते।

(२) वे कोई ऐसे प्रादेशिक परिवर्तन भी नहीं चाहते जो उस देश की जनता की स्वतन्त्र इच्छा के प्रतिकूल हो।

(३) वे सब लोगों द्वारा अपनी शासन-पद्धति को चुनने का अधिकार का सम्मान करते हैं और यह चाहते हैं कि जिन लोगों के स्वशासन का अधिकार बलपूर्वक छीन लिया गया है, उन्हें वे वापस कर दिये जाँय।

(४) वे इस बात का प्रयत्न करेंगे कि सब छोटे-बड़े राष्ट्रों को चाहे वे विजेता हों या विजित, अपनी आर्थिक समृद्धि के लिए आवश्यक व्यापार और कच्चे माल की सुविधाएँ समान रूप से प्राप्त हों।

(५) वे यह चाहते हैं कि आर्थिक क्षेत्रों में सब देशों का अधिकतम सहयोग प्राप्त करें ताकि मजदूरों की दशा में सुधार हो तथा आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति और सुरक्षा को सम्भव बनाया जा सके।

(६) नात्सी अत्याचार को अन्तिम रूप में नष्ट करने के उपरान्त वे ऐसी शान्ति की स्थापना की आशा करते हैं, जो सभी राष्ट्रों को अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर, सुरक्षित रहने का साधन दे सकें तथा जो यह आश्वासन दे सके कि सभी मनुष्य सभी देशों में भय तथा युद्ध से स्वतन्त्र होकर अपना जीवन व्यतीत कर सकें।

(७) उनका यह भी विश्वास है कि इस प्रकार की शान्ति सामुद्रिक स्वतंत्रता की गारन्टी देगी।

(८) उनका विश्वास है कि संसार के सभी राष्ट्रों को वास्तविक एवं आध्यात्मिक कारणों की दृष्टि से शक्ति के प्रयोग को छोड़ देना चाहिए। भविष्य में शान्ति के लिए निरस्त्रीकरण आवश्यक है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ घोषणा—१ जनवरी, १६४२ को संयुक्त राष्ट्रों की एक घोषणा निकली। इसके पहले ७ दिसम्बर, १६४१ को संयुक्त राज्य अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हो चुका था और राष्ट्रपति रूजवेल्ट के आग्रह पर जर्मनी, जापान तथा इटली के विरुद्ध संघर्ष करने वाले राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्रों का नाम दिया गया था। इसमें २६ राष्ट्र सम्मिलित थे और इन राष्ट्रों ने एक घोषणा पत्र निकालकर अतलांतिक चार्टर के सिद्धान्तों का समर्थन किया तथा यह प्रतिज्ञा की कि वे धुरी राष्ट्रों के साथ कभी भी पृथक सन्धि नहीं करेंगे और उनके विरुद्ध में अपनी सारी शक्ति लगा देंगे।

कैसाब्लैन्का-सम्मेलन—१४-२४ जनवरी, १६४३ में मोरक्को के कैसाब्लैन्का में चर्चिल, रूजवेल्ट तथा जनरल दगाल का एक सम्मेलन हुआ जिसमें यह घोषणा की गयी कि उत्तरी फ्रांस पर आक्रमण करने के पूर्व इटली पर आक्रमण करके उसे पराजित किया जाय।

मास्को-सम्मेलन—मित्र राष्ट्रों के बीच युद्ध प्रयत्नों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से मास्को में १९-३० अक्टूबर १९४३ को एक सम्मेलन हुआ। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन और सोवियत रूस के विदेश मन्त्री मिले और उन्होंने आस्ट्रिया, इटली तथा जर्मनी के सम्बन्ध में अपनी नीति की घोषणा की। साथ ही सम्मेलन में सम्मिलित राज्यों के युद्ध प्रयत्नों में सामन्जस्य स्थापित करने तथा यूरोपीय समस्याओं पर विचार करने के लिए लन्दन में एक आयोग की स्थापना की गयी जिसे परामर्शदात्री आयोग कहा गया। एक स्वतन्त्र आस्ट्रिया के निर्माण की बात कही गयी और इटली से फासिज्म का अन्त कर प्रजातांत्रिक संस्थाओं की स्थापना का संकल्प किया गया। जर्मन अत्याचारों के बारे में यह कहा गया कि जर्मनी को परास्त करने के बाद भीषण क्रूरता करने वाले व्यक्तियों को दण्ड दिया जायगा। इसी सम्मेलन में एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की घोषणा की गयी। यही संगठन बाद में संयुक्त राष्ट्रसंघ के नाम से कायम हुआ।

काहिरा-सम्मेलन—२२-२५ नवम्बर, १९४३ को मिस्र की राजधानी काहिरा में रूजवेल्ट, चर्चिल और च्यांग-काई-शेक का एक सम्मेलन हुआ जिसमें पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रों की नीति को निश्चित किया गया कि १९१४ में जापान ने उसके जो प्रदेश (मंचूरिया, फारमोशा, पैस्काडोरेज द्वीप समूह) बलपूर्वक छीने हैं वे वापस कर दिये जायँगे। कोरिया को यह आश्वासन दिया गया कि युद्धोपरान्त उसे पूर्ण स्वतन्त्र घोषित किया जायगा।

तेहरान-सम्मेलन—२२-२४ नवम्बर, १९४३ को ईरान की राजधानी तेहरान में संयुक्त राष्ट्रों के तीन बड़े नेताओं—चर्चिल, रूजवेल्ट और स्टालिन का एक सम्मेलन हुआ। यहाँ तीनों मित्र देशों के सेनाध्यक्षों ने जर्मन सेनाओं के विनाश की योजनाएँ तैयार कीं। तेहरान सम्मेलन के निर्णयों को तीन भागों में विभाजित किया गया था। प्रथम भाग में जर्मन के विरुद्ध लड़ने का दृढ़ निश्चय और अपनी विजय पर ध्रुव विश्वास व्यक्त किया गया था। दासता और अत्याचार को मिटाने के लिए अन्य देशों का सहयोग माँगा गया था। इसका दूसरा भाग ईरान से सम्बन्धित था जिसमें "तीन बड़ों" ने उसकी स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखने का आश्वासन दिया था। समझौते का तृतीय भाग का एक गुप्त समझौता था जो बाद में १९४६ में प्रकाशित किया गया। इसमें यह व्यवस्था थी कि नार्मण्डी में मित्रराष्ट्रों का दूसरा मोर्चा खोलते ही सोवियत संघ जर्मनी पर घनघोर आक्रमण करे ताकि हिटलर पूर्वी मोर्चे से अपनी सेना पश्चिमी मोर्चे पर न ला सके। तुर्की को युद्ध में शामिल करने का यत्न किया गया तथा यूगोस्लाविया में मार्शल टीटो के नेतृत्व में चलने वाले नात्सी विरोधी जन-आन्दोलन को सहायता देने का निश्चय किया गया।

ब्रिटेन वुड्स सम्मेलन:—२१ जुलाई, १९४४ को संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन ब्रिटेन वुड्स में हुआ जिसमें चौवालीस राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। इसमें पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष स्थापित करने का निश्चय किया गया।

डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन--तेहरान सम्मेलन में तीन बड़े राष्ट्रों ने युद्धोपरान्त एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण करने का निश्चय किया था। इस निश्चय को व्यावहारिक रूप देने के लिए २१ अगस्त से ७ अक्टूबर, १९४४ तक वाशिंगटन के निकट डम्बार्टन ओक्स नामक स्थान में अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, और चीन के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ की

रूपरेखा निर्धारित की गयी। सम्मेलन में यह निश्चय हुआ कि २५ अप्रिल, १६४५ को संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन सैनफ्रांसिस्को में बुलाया जाय जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का निर्माण करे।

क्यूबेक सम्मेलन—११ सितम्बर, १६४४ को रूजवेल्ट तथा चर्चिल क्यूबेक नामक स्थान पर मिले और जर्मनी में विभिन्न देशों द्वारा अधिकृत किये जानेवाले क्षेत्रों के सम्बन्ध में समझौता किया।

मास्को सम्मेलन—६ अक्टूबर, १६४४ को चर्चिल और स्टालिन का एक सम्मेलन मास्को में हुआ जिसमें यह मान लिया गया कि बुल्गेरिया और रूमानिया पर सोवियत संघ तथा यूनान पर ब्रिटेन का विशेष प्राधान्य बना रहेगा।

याल्टा सम्मेलन :—युद्धकालीन सम्मेलनों में याल्टा सम्मेलन (४-११ फरवरी, १६४५) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस सम्मेलन ने जिन समस्याओं को जन्म दिया उसका युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इसी सम्मेलन के बाद शीत-युद्ध की उत्पत्ति हुई। क्रीमिया प्रायद्वीप के याल्टा नामक स्थान पर स्टालिन, चर्चिल और रूजवेल्ट अपने परामर्शदाताओं के साथ एकत्र हुए और इसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ, यूरोप, जर्मनी तथा पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण निर्णय किये गये। इसके कुछ निर्णय बहुत दिनों तक गुप्त रखे गये। १६५५ के अमरीकी विदेश विभाग ने इसको पहले-पहल प्रकाशित किया। याल्टा-सम्मेलन के निम्नलिखित निर्णय हुए : (१) २५ अप्रिल, १६४५ को सैनफ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन के लिए बुलाया जाय। इसमें श्वेत रूस और यूक्रेन को पृथक् रूप से आमन्त्रित किया जाय। (२) यूरोप में नात्सी और फासिस्ट दासता से मुक्त देशों में अतलान्तिक चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार जनतान्त्रिक पद्धति की सरकारें स्थापित की जायँ तथा आक्रामक देशों द्वारा छीने हुए प्रदेश उन राज्यों को वापस कर दिया जाय जिनसे उन्हें लिया गया था। (३) यूरोप में शान्ति और सुरक्षा के लिए जर्मनी का निरस्त्रीकरण किया जाय, युद्ध में क्रूरता करने वाले व्यक्तियों के अपराध की जाँच के लिए एक अदालत कायम किया जाय तथा जर्मनी से क्षतिपूर्त्ति ली जाय। क्षतिपूर्त्ति की राशि बीस अरब डालर निश्चित की गयी और यह भी निश्चित हुआ कि इसका आधा भाग सोवियत संघ को दिया जाय। पोलैंड की पूर्वी सीमा "कर्जन रेखा" को कुछ आवश्यक संशोधनों के साथ स्वीकार किया जाय और पोलैंड में यथाशीघ्र स्वतन्त्र सरकार की स्थापना की जाय। (५) युगोस्लाविया में मार्शल टीटो के नेतृत्व में सरकार बने। (६) यूरोप में युद्ध समाप्त होने के तीन महीनों के बाद सोवियत संघ जापान के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दे। (७) पूर्व एशिया में रूस को अनेक सुविधाएँ देने का निश्चय किया गया, जैसे— (क) साखालीन द्वीप का दक्षिणी भाग और उसके समीप का पोर्ट आर्थर टापू रूस को वापस मिले, (ख) टाइरेन के बन्दरगाह का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो, (ग) चीनी पूर्वी रेलवे तथा दक्षिणी मंचूरिया रेलवे पर सोवियत चीनी कम्पनी का संयुक्त स्वामित्व स्थापित हो, तथा (घ) क्यूराइल द्वीप सोवियत संघ को लौटा दिया जाय।

सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन :—२५ अप्रिल, १६४५ से २६ जून, १६४५ तक सैनफ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माण से सम्बन्धित था। अतएव इस पर अधिक विचार हम अगले अध्याय में करेंगे।

पोट्सडाम सम्मेलन :—जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद पोट्डाम में एक सम्मेलन (१० जुलाई से २ अगस्त, १९४५) हुआ जिसमें अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन, ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एटली, स्टालिन तथा च्यांग-काई-शेक सम्मिलित हुए। इसमें अन्तिम स्थायी संधि होने से पूर्व जर्मनी पर अधिकार और उसके प्रशासन के सम्बन्ध में समझौता हुआ एवं अन्य धुरी राष्ट्रों के साथ शान्ति-सन्धि की प्रारम्भिक तैयारियाँ की गयीं। जापान ने अभी तक आत्मसमर्पण नहीं किया था। अतएव उसे यह चेतावनी दी गयी कि यदि उसने बेशर्त आत्मसमर्पण नहीं कर दिया तो अपार क्षति का सामना करना पड़ेगा। इस सम्मेलन में निम्नलिखित अन्य निर्णय हुए :

(१) शान्ति समझौते की आवश्यक तैयारी के लिए लन्दन में अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन के विदेश मंत्रियों की एक परिषद् स्थापित की गयी जिसकी बैठक अन्य राजधानियों में भी हो सकती थी। इसका तात्कालिक कार्य इटली, रूमानिया, बुल्गेरिया, हंगरी और फिनलैंड के साथ सन्धि करना तथा उनके प्रादेशिक प्रश्नों पर निर्णय करना था। इसके अतिरिक्त जर्मनी के साथ जानेवाली संधि की रुपरेखा भी तैयार करना इसका काम था।

(२) जर्मनी के साथ अन्तिम सन्धि करने के पहले उसके साथ व्यवहार करने के दस राजनीतिक सिद्धान्तों, नौ आर्थिक सिद्धान्तों, दस क्षतिपूर्त्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों, जर्मन नौसेना के बँटवारे के छः सिद्धान्तों तथा जर्मनी के व्यापारिक जहाजों के बँटवारे के पाँच सिद्धान्तों का निश्चय किया गया। राजनीतिक दृष्टि से जर्मनी को चार देशों के (अमरीकी, ब्रिटिश, फ्रांसीसी और रूसी) अधिकार क्षेत्रों में बाँटा गया और उनके नियन्त्रण के लिए चार महान् राज्यों के प्रतिनिधियों को एक परिषद् बनाई गयी। यह भी निश्चय किया गया कि जर्मनी को पूर्ण रूप से निःशस्त्र तथा सभी नात्सी संगठनों को भग किया जाय। उन लोगो के विरुद्ध मुकदमा चलाया जाय जिन्होंने युद्ध में क्रूर आचरण किये थे। जर्मनी में जनतांत्रिक शासन कायम करने तथा नागरिक स्वतन्त्रता पुनः कायम करने का भी निश्चय किया गया। इसके अलावे जर्मनी से क्षतिपूर्त्ति प्राप्त करने के तरीकों को निश्चित किया गया।

(३) इस सम्मेलन ने पोलैंड के सम्बन्ध में यह निश्चय किया कि वहाँ वयस्क मताधिकार के अधिकार पर स्वतन्त्र चुनाव कराया जाय। साथ ही अस्थायी रूप से उसकी सीमा को भी निश्चित किया गया।

(४) यह भी निश्चित हुआ कि इटली, बुल्गेरिया, फिनलैंड, हंगरी के साथ संधियाँ करके उन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया जाय।

(५) ईरान से मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ तुरत वापस बुला लेने का निर्णय हुआ।

(६) टैंजियर का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र बनाने का भी निर्णय हुआ।

(७) आस्ट्रिया से क्षतिपूर्त्ति नहीं होने का निर्णय किया गया।

(८) जापान से किस शर्त पर आत्मसमर्पण कराया जाय यह भी इस सम्मेलन में निश्चय किया गया। जापान के सैनिक तत्त्वों का उन्मूलन, युद्धोपरान्त वहाँ मित्रराष्ट्रों का सैनिक शासन और जापान का पूर्ण निरस्त्रीकरण तथा लोकतन्त्रात्मक आधार पर जापानी सरकार का संगठन करने का निश्चय यहीं पर हुआ था। जब जापान ने इन शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया तो उसके दो नगरों, हिरोशिमा और नागाशाकी पर अणुबम गिराकर उसे आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य किया गया और इस प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध का अन्त हुआ।

—०—

अध्याय ११

संयुक्त राष्ट्र संघ
(U. N. O.)

शान्ति सन्धियाँ :—

युद्धोत्तर विश्व की समस्याएँ :—युद्धोत्तर विश्व के सामने अनेक समस्याएँ थी और इनमें सबसे विकट समस्या शान्ति की स्थापना थी। इसके लिए पराजित धुरी राष्ट्रों के साथ शान्ति-समझौता करना सबसे पहला काम था। लेकिन इस बार पराजित राष्ट्रों के साथ सन्धि करना अनेक कारणों से अत्यधिक कठिन प्रतीत हो रहा था। १९१९ में यह समस्या उतनी कठिन न थी जितनी १९४५ में। उस समय तो युद्ध के कुछ दिनों के बाद पेरिस में एक शान्ति सम्मेलन हुआ और पराजित देशों के साथ सन्धियाँ हो गयी। पर इस शान्ति-सम्मेलन के पूर्व इस तरह के अनेक शान्ति सम्मेलनों का आयोजन करना पड़ा। पोट्सडाम-सम्मेलन के निर्णयानुसार शान्ति सन्धि के लिए एक विदेश मन्त्रियों की परिषद् बनायी गयी थी। लेकिन इस समय तक गुट-बन्दियों का प्रादुर्भाव और "शीतयुद्ध" का प्रारम्भ हो चुका था। अतएव विदेश मन्त्रियों की परिषद् पेरिस, न्यूयार्क, मास्को तथा लन्दन की बैठकों में दोनों पक्षो के मतभेद बड़े उग्र रूप से प्रकट हुए। फिर भी, काफी विचार-विमर्श के बाद १० फरवरी, १९४७ को इटली, रूमानिया, हंगरी, बुल्गेरिया और फिनलैंड के साथ सन्धियाँ हो गयीं। किन्तु शीतयुद्ध में गम्भीरता आने के कारण जर्मनी, आस्ट्रिया और जापान से सन्धि न हो सकी। बहुत कूटनीतिक तैयारी और वार्तालाप के बाद ४ सितम्बर, १९५१ को सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में कुछ राष्ट्रों ने जापान के साथ सन्धि कर ली। भारत, बर्मा और साम्यवादी गुट के देशों ने इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया। जर्मनी के साथ तो अभी तक शान्ति समझौता नहीं हो सका है। युद्ध के बाद पराजित जर्मनी चार भागों में बाँट दिया गया और प्रत्येक भाग पर चार बड़े राष्ट्रों का अलग-अलग अधिकार-क्षेत्र कायम हुआ। पीछे चलकर जर्मनी स्पष्टतः दो भागों में बँट गया : पश्चिमी जर्मनी और पूर्वी जर्मनी। पश्चिमी जर्मनी पाश्चात्य राष्ट्रों के अधीन और पूर्वी सोवियत-संघ के अधीन रहा। शीत-युद्ध के प्रारम्भ होने से जर्मनी की समस्या और अधिक उलझ गयी और दोनों भाग पृथक्-पृथक् सरकारों के अधीन स्वतन्त्र राज्य बन गये। अभी तक जर्मनी इसी स्थिति में है। उसके साथ विधिवत् शान्ति-सन्धि नहीं हो सकी।

संयुक्त राष्ट्र संघ की उत्पत्ति—युद्धोत्तर विश्व की सबसे गम्भीर समस्या स्थायी शान्ति की स्थापना की आवश्यकता थी। लिखित इतिहास में द्वितीय विश्वयुद्ध से अधिक भयंकर और संहारकारी युद्ध पहले कभी नहीं लड़ा गया था। इस युद्ध में आधुनिकतम अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग हुआ था और इसके फलस्वरूप जो बर्बादी हुई थी उसका अन्दाज लगाना साधारण कल्पना

वाहर की चीज थी। इस कटु तथ्य ने विचारशील व्यक्तियों का मानव जाति की रक्षा के लिए शान्ति को सुरक्षित बनाये रखने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में निर्माण की तीव्र आवश्यकता की अनुभव करायी। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद भी इस आवश्यकता को महसूस किया गया था और राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी आवश्यकता का परिणाम था। जिस समय राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई थी उस समय दुनियाँ के लोगों में यह आशा जगी थी कि अब संसार युद्धों से सुरक्षित हो गया है और मानव-समाज को पुनः विध्वंसकारी युद्धों का सामना नहीं करना पड़ेगा तथा दुनिया में चिर-शान्ति कायम हो जायगी। पर १६३६ में इस आशा पर पानी फिर गया। राष्ट्रसंघ के रहते हुए द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रसंघ में अनेक त्रुटियाँ थीं और इसलिए वह अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति में सर्वथा असमर्थ रहा। अतएव यदि विश्व-शान्ति को ठोस आधार देना है तो एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करनी होगी, जो पुराने राष्ट्रसंघ से अधिक शक्तिशाली हो ताकि शान्ति पर पुनः खतरा उपस्थित न हो। युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी अनुभव का परिणाम था।

डम्बार्टन ओक्स—३० अक्टूबर, १९४३ को अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा चीन के विदेश-मन्त्रियों का एक सम्मेलन मास्को में हुआ। इस सम्मेलन में अतलान्तिक चार्टर के सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए एक विश्व-संस्था कायम करने पर जोर दिया गया। चार राष्ट्रों के विदेश-मंत्रियों की इस घोषणा के दो महीने बाद स्टालिन, रुजवेल्ट और चर्चिल तेहरान में पहले-पहल एक दूसरे से मिले और तीनों ने स्थायी शान्ति कायम करने का दृढ़ संकल्प प्रकट किया। इस तरह के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के फलस्वरूप संयुक्त-राष्ट्रों के बीच-मित्रता गाढ़ी होती गयी और इसी वातावरण में ७ अक्टूबर, १६४४ को सोवियत-संघ, अमेरिका, ब्रिटेन और चीन के प्रतिनिधियों की एक बैठक डम्बार्टन ओक्स में हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रारंभिक रूप-रेखा यहीं तैयार की गयी। जब प्रतिनिधियों के बीच भावी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के प्रारुप पर मतैक्य हो गया तो इस प्रस्ताव को अन्य मित्रराष्ट्रों की सरकारों के पास भेजा गया। संसार भर में इस प्रस्ताव पर काफी वाद-विवाद हुआ।

सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन—डम्बार्टन ओक्स के प्रस्ताव में प्रस्तावित सुरक्षा-परिषद् में मतदान की प्रणाली पर कोई विचार नहीं हो सकता था। यह महत्त्वपूर्ण बात भूल से छूट गयी थी। अतः इसको तय करने के लिए ११ फरवरी, १६४५ को स्टालिन, रूजवेल्ट और चर्चिल याल्टा में मिले। याल्टा सम्मेलन में इस समस्या का समाधान हो गया। सुरक्षा-परिषद् में तथाकथित 'वीटो' इसी समझौता का परिणाम था। इन सभी प्रश्नों के समाधान के बाद २५ अप्रिल, १९४५ को सैनफ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने के लिए बुलाया गया और २६ जून को पचास राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिये। "संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर जिस पर आपने अभी हस्ताक्षर किये हैं," राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन में भाषण देते हुए कहा, "वह एक ऐसी शक्तिशाली नींव है जिस पर हम एक सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकते हैं। इसके लिए इतिहास आपका सम्मान करेगा।" विश्व के इतिहास में वास्तव में एक बहुत बड़ी घटना घट चुकी थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म हो चुका था।

नया सगठन क्यों ? —यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ खड़ा होता है कि १६४५ में पुराने राष्ट्रसंघ का ही पुनर्सगठन क्यों नही किया गया यद्यपि इसकी जगह पर एक सर्वथा नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण क्यों किया गया ? पुराने राष्ट्रसंघ को फिर से चालू कर दिया जाता तो उन-अनेक कठिनाईयों का सामना नही करना पड़ता, जिनका सामना करना पडा था। पर एक नयी संस्था को जन्म देने के कुछ कारण थे। संयुक्त राष्ट्रसंघ में सोवियत-संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका को रखना जरूरी था और पुराने राष्ट्रसंघ के साथ इन दोनों देशों का सम्बन्ध अच्छा नहीं था। अमेरिका ने प्रारम्भ में ही राष्ट्रसंघ को अस्वीकृत कर दिया था और सोवियत-संघ को उससे निकाल दिया गया था। ये दोनों देश इन कारणों से राष्ट्रसंघ में सम्मिलित होना नहीं पसन्द करते थे। इसके अतिरिक्त पुराने राष्ट्रसंघ का नाम असफलताओ से जुट गया था। एक असफल समस्या को पुनर्जीवित करने की अपेक्षा एक नयी संस्था का सृजन करना की श्रेयस्कर समझा गया। *

संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म :—८ अप्रिल, १९४६ को राष्ट्रसंघ-एसेम्बली का अन्तिम अधिवेशन हुआ और १६ अप्रिल को प्रतिनिधिमण्डलों ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, जिसका आशय यह था कि "आज से, अर्थात् वर्त्तमान अधिवेशन के अन्त से, राष्ट्रसंघ का अस्तित्व समाप्त होता है।" इस प्रकार उस संस्था का अन्त हो गया, जिसकी स्थापना प्रथम विश्व-युद्ध के बाद विश्व-शान्ति कायम रखने के लिए की गयी थी। इसके छब्बीस साल बाद १६४५ में, एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का जन्म हुआ। यह था संयुक्त राष्ट्रसंघ। १० फरवरी, १६४६ को लन्दन में वेस्टमिनस्टर के सुन्दर-हॉल में प्रथम बार इसकी एसेम्बली की बैठक हुई। यह तिथि राष्ट्रसंघ के जन्म की छब्बीसवी वर्षगाँठ थी। सर्व प्रथम तरह-तरह के चुनाव सम्पन्न हुए। एसेम्बली के स्थायी सभापतियों के सदस्य, आर्थिक और सामाजिक परिषद् के अस्थायी सदस्य, सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्य, महासचिव की नियुक्ति इत्यादि महत्त्वपूर्ण काम सम्पन्न करके १५ फरवरी को सभा ने अपने प्रथम अधिवेशन को स्थगित कर दिया। [1]

संयुक्त राष्ट्रसंघ का स्वरूप

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माण का समय राष्ट्रसंघ सम्बन्धी अनुभवों से भी लाभ उठाया गया। राष्ट्रसंघ का निर्माण वर्साय को संधि से सम्बद्ध था, अतः कुछ देशों द्वारा उस पर यह आरोप लगाया जा सका कि यह विजेता देशों द्वारा थोपी गयी अनुचित शान्ति सन्धि को कायम रखने तथा उसे स्थायी बनाने का माध्यम मात्र है। इसके समर्थक भी कमजोरी को समझते थे। अतः संयुक्त राष्ट्रसंघ का निर्माण युद्ध-समाप्ति से पूर्व करके उसे शान्ति-सन्धि से

1. Eagleton, *International Government*, p. 302.

२. पुराने राष्ट्रसंघ के साथ यहाँ एक तुलना कर देना आवश्यक है। राष्ट्रसंघ की उत्पत्ति युद्ध के बाद हुई थी और उसका विधान वर्साय संधि का एक अभिन्न अंग था। संयुक्त राष्ट्र संघ की उत्पत्ति की प्रक्रिया युद्ध के समय से ही शुरू हो गयी थी जैसा कि उपर्युक्त विविध अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों से स्पष्ट हो जाता है। फिर, संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर राष्ट्रसंघ विधान की तरह किसी शान्ति सन्धि का अभिन्न अंग नहीं है।

सम्बद्ध नहीं होने दिया गया और वह उन आरोपों से बच सका जो राष्ट्रसंघ पर लगाए जा सकते थे।

जिस तरह राष्ट्रसंघ प्रथम महायुद्ध का परिणाम था और भावी युद्धों को रोकने के लिए प्रथम महायुद्धों के कारणों को ध्यान में रखा गया था, उसी तरह संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वितीय महायुद्ध का परिणाम है और उसकी व्यवस्थाएँ यह ध्यान में रखकर की गयी है कि जिन कारणों से द्वितीय महायुद्ध हुआ, वे कारण फिर से उत्पन्न न होने दिए जाएँ। अतः एक हद तक वह द्वितीय महायुद्धों के कारणों के विश्लेषण पर आधारित है। उसकी व्यवस्थाएँ भविष्य को भी ध्यान में रखकर की गयी हैं। उनमें यह धारणा मौजूद है कि रंग-भेद और उपनिवेशवाद भावी संकटों का कारण बन सकते हैं। अतः घोषणा-पत्र में मौलिक मानव अधिकारों पर जोर दिया गया है। इस दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र दूरदर्शी भी है।

संघीय संगठन—संयुक्त राष्ट्रसंघ केन्द्रित संगठन न होकर एक प्रकार से संघीय संगठन (federal organisation) है। विभिन्न क्षेत्रों में काम करने के लिए स्वायत सत्ता प्राप्त विशिष्ट एजेन्सियों की व्यवस्था करके उसने सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया है। ये एजेन्सियाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ के सहयोग तथा निर्देशक में काम करती हैं; लेकिन अपने-अपने विषय सम्बन्धी कार्य-कलापों लिए वे स्वतन्त्र हैं। इस तरह उसने अलग क्षेत्रों में पहले से काम करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों तथा बाद में कायम होनेवाली एजेंसियों में समन्वय स्थापित किया है। इन एजेंसियों के रूप में विषयवार कार्यक्षेत्रों का बँटवारा हो जाने से संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक संस्था की अपेक्षा व्यवस्था का रूप ग्रहण कर लिया।

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर—संयुक्त राष्ट्र संघ के विधान को चार्टर (Charter) कहते हैं इस चार्टर में १११ धाराएँ हैं। पुराने राष्ट्रसंघ के विधान में केवल २६ धाराएँ थीं। चार्टर में संयुक्त राष्ट्रसंघ के गठन, उसके विभिन्न अंगों की कार्य-विधि इत्यादि सभी चीजों का विशद वर्णन है।

उद्देश्य और सिद्धान्त—चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार उद्देश्य हैं :(१) अन्तर्राष्ट्रीय और शान्ति और सुरक्षा को कायम रखना, शान्ति के खतरों को प्रभावपूर्वक सामूहिक प्रयत्नों से रोकना, शान्ति भंग करने वाली चेष्टाओं को दबाना तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि एवं कानून के सिद्धान्तों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाना, (२) व्यापक शान्ति को प्रोत्साहित करते हुए समानता और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों के आधार पर राष्ट्रसंघ के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध को बढ़ावा देना (३) संसार की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानसिक समस्याओं को हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना तथा मानव-अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं को बिना किसी भेद-भाव से प्रोत्साहित करना, तथा (४) संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक ऐसा केन्द्र बनाना जहाँ इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्रों के कार्यों में समन्वय स्थापित हो सके।

संयुक्त राष्ट्र संघ निम्न सिद्धान्तों पर आधारित है—(१) यह संस्था राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त पर अवलम्बित रहेगी।[1] (२) प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र चार्टर के प्रति अपने दायित्व को

1. सुरक्षा-परिषद् में पांच महान् राष्ट्रों को जो विशिष्ट स्थान मिले है वह समानता के इस सिद्धान्त के प्रतिकूल है

निभायेंगे। (३) सभी सदस्य-राष्ट्र अपने झगड़ों को शान्तिपूर्ण तरीकों से सुलझायेंगे। (४) कोई भी सदस्य-राज्य किसी दूसरे की स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता पर अतिक्रमण नहीं करेगा। (५) कोई भी देश चार्टर के विरुद्ध काम करनेवाले देश की सहायता नही करेगा। (६) संस्था इस बात को देखेगी कि गैर-सदस्य-राज्य कोई ऐसा काम नहीं करे जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा खतरे में पड़ जाय। संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी भी देश के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा

सदस्यता—संयुक्त राष्ट्रसंघ के मूल सदस्य वे इक्कावन राज्य थे जिन्होंने सैनफ्रांसिस्को में चार्टर पर हस्ताक्षर किये थे। चार्टर की धारा चार के अनुसार दूसरे देश भी इसके सदस्य हो सकते हैं बशर्ते कि वे 'शांतिप्रिय' हों तथा चार्टर के उत्तरदायित्वों को स्वीकार करने और उनको पूरा करने के 'योग्य और इच्छुक' समझे जाते हों। ऐसे सदस्यों की सदस्यता सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर (जिसमें पाँच स्थायी सदस्यों की सहमति आवश्यक है) साधारण-सभा दो तिहाई बहुमत से मंजूर कर सकती है। आजतक सदस्यों की संख्या बढ़ कर एक सौ चौबीस हो गयी है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य राज्य

संयुक्त राष्ट्र संघ के आजकल निम्नलिखित सदस्य हैं: अफगानिस्तान, अल्बेनिया, अल्जीरिया, अर्जेन्टायना, आस्ट्रेलिया, आस्ट्रिया, बेल्जियम, बोलीनिया, ब्राजिल, बुल्गेरिया, बर्मा, उरुन्डी, बाइलो रुस, कम्बोडिया, कनाडा, केमरून, मध्य अफ्रिकी गणराज्य, सिलोन, चाद चीलि, चीन (फारमोशा), कांगो, लीबिया, कोलम्बिया, कोस्टा रिका, क्यूबा, साइप्रश, चेकोस्लोवाकिया, डाहोमी, डेनमार्क, डोमिन्किन गणराज्य, इक्वेडोर, इक स्लावाडोर, इथोपिया, फिनलैंड, न्यूजीलैंड, नाइकारा गुआ, नाइजर, फ्रांस, गाबोन गेम्बिया, घाना, यूनान, ग्युमाटेला, गियाना, हाइटी, होन्डरस, हंगरी, आइसलैंड भारत, इजरायल, ईराक, ईरान, आयरलैंड, इटली, आइवोरी कोस्ट, जमाइका, जापान, जोर्डान, कीनिया, लाओस, लेबनान, लाइबेरिया, सीनिया, लूकसमबर्ग, कूवैत, मलेशिया, मलाडिवे, माली, मौरिसानिया, मेक्सिको, मोरक्का, नेपाल, नीदरलैंड, स्वेडन, नाइजेरिया, नारवे, बाह्य मंगोलिया, पाकिस्तान, पनामा, परागुए, पेरु, फिलिपाइन्स, पोलैंड; पार्चुगाल रूमेनिया, मैडागास्कर, माल्टा, ट्यूनिश, साऊदी अरेबिया, सियरा लियोन, सेने गल, सिंगापुर, स्पेन, सोमोलिया, सूडान, सीरिया, टैन्जेनिया, थाइलैंड, तोगो, तोबागो, तुर्की, संयुक्त अरब गणराज्य, सोवियत संघ, उगान्डा, ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, उरूगवे, अपर वोल्टा, दक्षिण अफ्रिका संघ, यूक्रेनियन रूस, वेनेजुएला, येमेन, यूगोस्लाविया, जेम्बिया, मलावी, रूआन्डा, इन्डोनीशिया, मौरिसश।

संसार के स्वतन्त्र राज्य जो संयुक्त राज्य संघ के सदस्य नहीं हैं:—अभी विश्व में नौ ऐसे स्वतन्त्र राज्य हैं जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं बने हैं और न निकट भविष्य में बनने की आशा है। इनमें चीन, पश्चिमी जर्मनी, पूर्व जर्मनी, उत्तर कोरिया, दक्षिणी कोरिया, उत्तर वीयतनाम, दक्षिण वीयतनाम, तथा स्विट्जरलैंड हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन के प्रवेश का प्रश्न तबतक नहीं सुलझ सकता जबतक संयुक्त राज्य अमेरिका इसके पक्ष में न हो जाय।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग—

संयुक्त राष्ट्रसंघ के मुख्य अगों की संख्या छः है[1] : साधारण-सभा, सुरक्षा परिषद् आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्;[2] संरक्षण-परिषद्[3] सचिवालय एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय।[4] अगले पृष्ठों में हम इस अंगों के संगठन और कार्यविधि पर प्रकाश डालेंगे।

साधारण सभा

साधारण-सभा (*General Assembly*)—*संयुक्त राष्ट्रसंघ सबसे बड़ी संस्था है।* इसको 'संसार की नगर-सभा'[5] भी कहते है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य इसके सदस्य हैं। प्रत्येक सदस्य को एक वोट देने का अधिकार है। साल में एक बार (सितम्बर में) इसकी बैठक होती है। पर बहुमत की माँग पर इसका विशेष अधिवेशन भी बुलाया जा सकता है। ऐसे विशेष अधिवेशन फिलिस्तीन की समस्या पर २८ अप्रिल से १५ मई १९४७ को तथा १६ अप्रिल से १४ मई १९४८ को बुलाये गये। मध्यपूर्व की स्थिति पर १ से १० नवम्बर १९५६ को तथा हंगरी की स्थिति पर ४ से १० नवम्बर १९५६ को ऐसे अधिवेशन हुए थे। ८–२१ अगस्त, १९५८ को लेबनान की समस्या तथा १७-२० सितम्बर १९६० को कांगों की समस्या पर विचार करने के लिए भी साधारण-सभा के विशेष अधिवेशन हुए थे। इसी तरह जून १९६७ में अरब इजराइल संघर्ष पर विचार करने के लिए भी संघ की साधारण-सभा का विशेष अधिवेशन हुआ था। महत्त्वपूर्ण प्रश्नो के सम्बन्ध में कारवाई के लिए दो तिहाई मतो को आवश्यकता होती है। *अन्य प्रश्नों का निर्णय उपस्थित सदस्यों के साधारण बहुमत से ही होता है।*

साधारण-सभा का कार्य सात समितियों के जरिये होता है।[6] वे हैं : (१) राजनीतिक तथा सुरक्षा समिति; (२) आर्थिक तथा वित्तीय; (३) सामाजिक तथा मानवीय; (४) संरक्षण; (५) प्रशासनिक एवं बजट-सम्बन्धी (६) कानूनी समिति तथा (७) विशेष राजनीतिक समिति। इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रक्रियात्मक समितियाँ हैं—(१) सामान्य समिति जो उपर्युक्त समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करती है। (२) प्रमाण-पत्र समिति (Credential Committee) जो प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों की जाँच करती है।

साधारण-सभा प्रत्येक अधिवेशन के लिए अपना सभापति चुनती है। इसके "महत्त्वपूर्ण निर्णय" दो तिहाई बहुमत से तथा अन्य निर्णय सामान्य बहुमत से होते हैं। महत्त्वपूर्ण विषय निम्नलिखित हैं : शान्ति और सुरक्षा-सम्बन्धी सिफारिशें, नये सदस्यों का प्रवेश, सदस्य का निष्कासन, संरक्षण-परिषद् के विषय तथा संघ के अन्य अंगों के सदस्यों के चुनाव।

---

१. राष्ट्रसंघ के तीन मुख्य अंग थे।
२. यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत एक सर्वथा नवीन संस्था है। राष्ट्रसंघ में इस प्रकार की संस्था की कोई व्यवस्था नहीं थी।
३. राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत जो स्थायी-संरक्षण-आयोग था वह उसका एक सम्बद्ध अंग था, मुख्य अंग नहीं।
४. राष्ट्रसंघ का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय भी उसका मुख्य अंग नहीं था।
५. Town meeting of the world.—सिनेटर वैन्डेन्बर्ग।
६. यह व्यवस्था राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत भी मौजूद थी।

जर्मनी, कोरिया और वीयतनाम का जबतक राजनीतिक एकीकरण नहीं हो जाता तवतक उनकी सदस्यता का भी कोई सवाल नहीं उठता। मार्च १९६६ में पूर्वी जर्मनी ने संघ के सदस्य बनने के लिए आवेदन भी दिया था। लेकिन अमेरिका और ब्रिटेन के विरोध के कारण इस पर कुछ निर्णय नहीं हुआ। स्विट्जरलैण्ड भी संघ का सदस्य नहीं है। उसने अपनी स्वेच्छा से संघ में प्रवेश नहीं किया है; फिर भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यकलापों में स्विट्जरलैण्ड पूरी तरह सहयोग करता है। इसी तरह पश्चिमी जर्मनी का राज्य भी गैर राजनीतिक कार्यों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करता है।

संघ से इण्डोनीशिया का अलग होना—यद्यपि चार्टर में संघ की सदस्यता परित्याग करने की कोई व्यवस्था नहीं है, लेकिन इसके सदस्य-राज्य सार्वभौम होते हैं और सार्वभौमिकता में संघ की सदस्यता छोड़ना अन्तर्निहित है। इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए इन्डोनीशिया राष्ट्रसंघ की सदस्यता का परित्याग करके संघ से अलग हो गया था। इस तरह की यह पहली घटना थी। जनवरी, २१ १९६५ को इन्डोनीशिया ने संघ से अलग होने की विधिवत् सूचना दे दी। उस दिन संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्थित इन्डोनीशिया के राजदूत ने संघ के महासचिव को एक पत्र देकर यह सूचित किया कि उनका देश अब संघ की किसी सम्बद्ध संस्था से कोई सम्पर्क नहीं रखेगा। इन्डोनीशिया के इस निर्णय का कारण सुरक्षा परिषद् के एक अस्थायी पद पर मलेशिया का चुना जाना था। मलेशिया के प्रति इन्डोनीशिया का रुख शुरू से ही शत्रुतापूर्ण रहा है और जब वह सुरक्षा-परिषद् का अस्थायी सदस्य चुन लिया गया तो राष्ट्रपति सुकर्ण के लिए यह बात असह्य हो गयी। मार्च, १९६५ के अन्त होने तक इन्डोनीशिया का संघ के साथ सारा सम्बन्ध समाप्त हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में यह एक अद्वितीय घटना थी। उस समय ऐसा लगा कि संघ का अन्त अब निश्चित रूप से प्रारम्भ हो गया। राष्ट्रपति सुकर्ण ने यह भी घोषणा की कि वे कुछ राज्यों को मिलाकर एक दूसरा संयुक्त राष्ट्रसंघ बनायेंगे। लेकिन उनकी यह धमकी कामयाब नहीं हुई। १९६५ के सितम्बर में पाकिस्तान ने भी संघ छोड़ने की धमकी दी थी। लेकिन उसको संघ छोड़ने की हिम्मत नहीं हुई। बाद में इन्डोनीशिया की आन्तरिक राजनीति में उथल-पुथल हुआ और वहाँ एक नयी सरकार बनी। इस सरकार ने पुनः संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता स्वीकार करने की अपनी इच्छा व्यक्त की और पुनः २८ दिसम्बर, १९६६ को संघ में शामिल हो गया।

चार्टर में सदस्यता समाप्त करने की कोई बात नहीं कही गयी है।[1] चार्टर के उल्लंघन करने पर उस राज्य को संयुक्त राष्ट्रसंघ से निकाला जा सकता है या उसकी सभी सुविधाएँ स्थगित कर दी जा सकती हैं (धारा ५-६)। सभी सदस्यों को अपनी सन्धियों और समझौतों को सचिवालय में दर्ज करना पड़ता है। चार्टर में किसी का प्रकार संशोधन सभा के दो तिहाई बहुमत से हो सकता है। इसमें पाँच बड़े राष्ट्रों की सहमति आवश्यक है। (धारा १०८-१०९)।[2] राष्ट्रसंघ की तरह संयुक्त राष्ट्रसंघ की आय सदस्य-राज्यों के चन्दों पर निर्भर है।

---

१. राष्ट्रसंघ-विधान में ऐसी व्यवस्था थी।

२. राष्ट्रसंघ-विधान में संशोधन के लिए सभी सदस्य-राज्यों की सहमति आवश्यक थी।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग—

संयुक्त राष्ट्रसंघ के मुख्य अंगों की संख्या छः है[1] : साधारण-सभा, सुरक्षा परिषद् आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्;[2] संरक्षण-परिषद्[3] सचिवालय एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय।[4] अगले पृष्ठों में हम इन अंगों के संगठन और कार्यविधि पर प्रकाश डालेंगे।

साधारण सभा

साधारण-सभा (General Assembly)—संयुक्त राष्ट्रसंघ सबसे बड़ी संस्था है। इसको 'संसार की नगर-सभा'[5] भी कहते है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य इसके सदस्य हैं। प्रत्येक सदस्य को एक वोट देने का अधिकार है। साल में एक बार (सितम्बर में) इसकी बैठक होती है। पर बहुमत की माँग पर इसका विशेष अधिवेशन भी बुलाया जा सकता है। ऐसे विशेष अधिवेशन फिलिस्तीन की समस्या पर २८ अप्रिल से १५ मई १९४७ को तथा १६ अप्रिल से १४ मई १९४८ को बुलाये गये। मध्यपूर्व की स्थिति पर १ से १० नवम्बर १९५६ को तथा हंगरी की स्थिति पर ४ से १० नवम्बर १९५६ को ऐसे अधिवेशन हुए थे। ८–२१ अगस्त, १९५८ को लेबनान की समस्या तथा १७-२० सितम्बर १९६० को कांगो की समस्या पर विचार करने के लिए भी साधारण-सभा के विशेष अधिवेशन हुए थे। इसी तरह जून १९६७ में अरब इजराइल संघर्ष पर विचार करने के लिए भी संघ की साधारण-सभा का विशेष अधिवेशन हुआ था। महत्त्वपूर्ण प्रश्नो के सम्बन्ध में कारवाई के लिए दो-तिहाई मतों की आवश्यकता होती है। अन्य प्रश्नो का निर्णय उपस्थित सदस्यों के साधारण बहुमत से ही होता है।

साधारण-सभा का कार्य सात समितियों के जरिये होता है।[6] वे हैं : (१) राजनीतिक तथा सुरक्षा समिति; (२) आर्थिक तथा वित्तीय; (३) सामाजिक तथा मानवीय; (४) संरक्षण; (५) प्रशासनिक एवं बजट-सम्बन्धी (६) कानूनी समिति तथा (७) विशेष राजनीतिक समिति। इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रक्रियात्मक समितियाँ हैं—(१) सामान्य समिति जो उपर्युक्त समितियों की कार्यवाहियो में समन्वय स्थापित करती है। (२) प्रमाण-पत्र समिति (Credential Committee) जो प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों की जाँच करती है।

साधारण-सभा प्रत्येक अधिवेशन के लिए अपना सभापति चुनती है। इसके "महत्त्वपूर्ण निर्णय" दो तिहाई बहुमत से तथा अन्य निर्णय सामान्य बहुमत से होते हैं। महत्त्वपूर्ण विषय निम्नलिखित हैं : शान्ति और सुरक्षा-सम्बन्धी सिफारिशें, नये सदस्यों का प्रवेश, सदस्य का निष्कासन, संरक्षण-परिषद् के विषय तथा संघ के अन्य अंगों के सदस्यों के चुनाव।

---

१. राष्ट्रसंघ के तीन मुख्य अंग थे।
२. यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत एक सर्वथा नवीन संस्था है। राष्ट्रसंघ में इस प्रकार की संस्था की कोई व्यवस्था नहीं थी।
३. राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत जो स्थायी-संरक्षण-आयोग था वह उसका एक सम्बद्ध अंग था, मुख्य अंग नहीं।
४. राष्ट्रसंघ का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय भी उसका मुख्य अंग नहीं था।
५. Town meeting of the world,—सिनेटर वैन्डेन्बर्ग।
६. यह व्यवस्था राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत भी मौजूद थी।

जर्मनी, कोरिया और वीयतनाम का जबतक राजनीतिक एकीकरण नही हो जाता तबतक उनकी सदस्यता का भी कोई सवाल नहीं उठता। मार्च १९६६ में पूर्वी जर्मनी ने संघ के सदस्य बनने के लिए आवेदन भी दिया था। लेकिन अमेरिका और ब्रिटेन के विरोध के कारण इस पर कुछ निर्णय नहीं हुआ। स्विट्जरलेण्ड भी संघ का सदस्य नहीं है। उसने अपनी स्वेच्छा से संघ में प्रवेश नहीं किया है, फिर भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यकलापों में स्विट्जरलेण्ड पूरी तरह सहयोग करता है। इसी तरह पश्चिमी जर्मनी का राज्य भी गैर राजनीतिक कार्यों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करता है।

संघ से इण्डोनीशिया का अलग होना—यद्यपि चार्टर में संघ की सदस्यता परित्याग करने की कोई व्यवस्था नही है, लेकिन इसके सदस्य-राज्य सार्वभौम होते हैं और सार्वभौमिकता में संघ की सदस्यता छोड़ना अन्तर्निहित है। इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए इन्डोनीशिया राष्ट्रसंघ की सदस्यता का परित्याग करके संघ से अलग हो गया था। इस तरह की यह पहली घटना थी। जनवरी, २१ १९६५ को इन्डोनीशिया ने संघ से अलग होने की विधिवत् सूचना दे दी। उस दिन संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्थित इन्डोनीशिया के राजदूत ने सघ के महासचिव को एक पत्र देकर यह सूचित किया कि उनका देश अब संघ की किसी सम्बद्ध संस्था से कोई सम्पर्क नहीं रखेगा। इन्डोनीशिया के इस निर्णय का कारण सुरक्षा परिषद् के एक अस्थायी पद पर मलेशिया का चुना जाना था। मलेशिया के प्रति इन्डोनीशिया का रुख शुरू से ही शत्रुतापूर्ण रहा है और जब वह सुरक्षा-परिषद् का अस्थायी सदस्य चुन लिया गया तो राष्ट्रपति सुकर्ण के लिए यह बात असह्य हो गयी। मार्च, १९६५ के अन्त होने तक इन्डोनीशिया का संघ के साथ सारा सम्बन्ध समाप्त हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में यह एक अद्वितीय घटना थी। उस समय ऐसा लगा कि संघ का अन्त अब निश्चित रूप से प्रारम्भ हो गया। राष्ट्रपति सुकर्ण ने यह भी घोषणा की कि वे कुछ राज्यों को मिलाकर एक दूसरा संयुक्त राष्ट्रसंघ बनायेंगे। लेकिन उनकी यह धमकी कामयाब नही हुई। १९६५ के सितम्बर में पाकिस्तान ने भी संघ छोड़ने की धमकी दी थी। लेकिन उसको संघ छोड़ने की हिम्मत नहीं हुई। बाद में इन्डोनीशिया की आन्तरिक राजनीति में उथल-पुथल हुआ और वहाँ एक नयी सरकार बनी। इस सरकार ने पुनः संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता स्वीकार करने की अपनी इच्छा व्यक्त की और पुनः २८ दिसम्बर, १९६६ को संघ में शामिल हो गया।

चार्टर में सदस्यता समाप्त करने की कोई बात नही कही गयी है।[1] चार्टर के उल्लंघन करने पर उस राज्य को संयुक्त राष्ट्रसंघ से निकाला जा सकता है या उसकी सभी सुविधाएँ स्थगित कर दी जा सकती हैं (धारा ५-६)। सभी सदस्यों को अपनी सन्धियों और समझौतों को सचिवालय में दर्ज करना पड़ता है। चार्टर में किसी का प्रकार संशोधन सभा के दो तिहाई बहुमत से हो सकता है। इसमें पाँच बड़े राष्ट्रों की सहमति आवश्यक है। (धारा १०८-१०९)।[2] राष्ट्रसंघ की तरह संयुक्त राष्ट्रसंघ की आय सदस्य-राज्यों के चन्दों पर निर्भर है।

---

१. राष्ट्रसंघ-विधान में ऐसी व्यवस्था थी।

२. राष्ट्रसंघ-विधान में संशोधन के लिए सभी सदस्य-राज्यों की सहमति आवश्यक थी।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग—

संयुक्त राष्ट्रसंघ के मुख्य अगों की संख्या छः है[1] : साधारण-सभा, सुरक्षा परिषद् आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्;[2] संरक्षण-परिषद्[3] सचिवालय एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय।[4] अगले पृष्ठों में हम इस अंगों के संगठन और कार्यविधि पर प्रकाश डालेंगे।

साधारण सभा

साधारण-सभा (General Assembly)—संयुक्त राष्ट्रसंघ सबसे बड़ी संस्था है। इसको 'संसार की नगर-सभा'[5] भी कहते है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य इसके सदस्य हैं। प्रत्येक सदस्य को एक वोट देने का अधिकार है। साल में एक बार (सितम्बर में) इसकी बैठक होती है। पर बहुमत की माँग पर इसका विशेष अधिवेशन भी बुलाया जा सकता है। ऐसे विशेष अधिवेशन फिलिस्तीन की समस्या पर २८ अप्रिल से १५ मई १९४७ को तथा १६ अप्रिल से १४ मई १९४८ को बुलाये गये। मध्यपूर्व की स्थिति पर १ से १० नवम्बर १९५६ को तथा हंगरी की स्थिति पर ४ से १० नवम्बर १९५६ को ऐसे अधिवेशन हुए थे। ८–२१ अगस्त, १९५८ को लेबनान की समस्या तथा १७-२० सितम्बर १९६० को कांगों की समस्या पर विचार करने के लिए भी साधारण-सभा के विशेष अधिवेशन हुए थे। इसी तरह जून १९६५ में अरब इजराइल संघर्ष पर विचार करने के लिए भी संघ की साधारण-सभा का विशेष अधिवेशन हुआ था। महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के सम्बन्ध में कारवाई के लिए दो-तिहाई मतो को आवश्यकता होती है। अन्य प्रश्नो का निर्णय उपस्थित सदस्यों के साधारण बहुमत से ही होता है।

साधारण-सभा का कार्य सात समितियों के जरिये होता है।[6] वे हैं : (१) राजनीतिक तथा सुरक्षा समिति; (२) आर्थिक तथा वित्तीय; (३) सामाजिक तथा मानवीय, (४) संरक्षण; (५) प्रशासनिक एवं बजट-सम्बन्धी (६) कानूनी समिति तथा (७) विशेष राजनीतिक समिति। इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रक्रियात्मक समितियाँ हैं—(१) सामान्य समिति जो उपर्युक्त समितियों की कार्यवाहियो में समन्वय स्थापित करती है। (२) प्रमाण-पत्र समिति (Credential Committee) जो प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों की जाँच करती है।

साधारण-सभा प्रत्येक अधिवेशन के लिए अपना सभापति चुनती है। इसके "महत्त्वपूर्ण निर्णय" दो तिहाई बहुमत से तथा अन्य निर्णय सामान्य बहुमत से होते हैं। महत्त्वपूर्ण विषय निम्नलिखित हैं : शान्ति और सुरक्षा-सम्बन्धी सिफारिशें, नये सदस्यों का प्रवेश, सदस्य का निष्कासन, संरक्षण-परिषद् के विषय तथा संघ के अन्य अंगों के सदस्यों के चुनाव।

---

१. राष्ट्रसंघ के तीन मुख्य अंग थे।
२. यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत एक सर्वथा नवीन संस्था है। राष्ट्रसंघ में इस प्रकार की संस्था की कोई व्यवस्था नहीं थी।
३. राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत जो स्थायी-संरक्षण-आयोग था वह उसका एक सम्बद्ध अंग था, मुख्य अंग नहीं।
४. राष्ट्रसंघ का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय भी उसका मुख्य अंग नहीं था।
५. Town meeting of the world.—सिनेटर वैन्डेन्बर्ग।
६. यह व्यवस्था राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत भी मौजूद थी।

साधारण-सभा के कार्य और अधिकार बहुत ही विस्तृत है। इसको मोटा-मोटी चार भागों में बाँटा जा सकता है : विश्व-शान्ति कायम रखने का प्रयास करना, संयुक्त राष्ट्रसंघ के विविध पदाधिकारियों का चुनाव करना, संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध सभी संस्थाओं के कार्यों पर निगरानी रखना तथा अन्य कार्य।

प्रथम कार्य के अन्तर्गत साधारण-सभा के अधिकार काफी विस्तृत है। वह किसी भी समस्या पर जो विश्व-शान्ति और सुरक्षा के लिए घातक है, विचार करके अपनी सिफारिश दे सकती है। वह शान्ति और सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों पर विचार करके भी अपनी सिफारिश दे सकती है। सुरक्षा की समस्या पर ध्यान रखते हुए वह निरस्त्रीकरण की दिशा में भी प्रयास कर सकती है। इसके अतिरिक्त वह राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रभाव डालनेवाली किसी भी स्थिति को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिए सिफारिशें पेश कर सकती है।

द्वितीय कार्य के अन्तर्गत वह सुरक्षा-परिषद् के लिए छः अस्थायी सदस्य, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के अठारह सदस्य, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पन्द्रह न्यायधीशों का चुनाव तथा सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव को नियुक्त करना तथा उसी की सिफारिश पर नये राष्ट्रों को सदस्यता प्रदान करना इत्यादि बातें आती है।

तृतीय कार्य के अन्तर्गत साधारण-सभा सुरक्षा-परिषद् तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य विभागों से रिपोर्ट प्राप्त करके उनपर विचार करती है और अपना मत प्रकट करती है।

इनके अतिरिक्त साधारण-सभा को कुछ अन्य कार्य भी करने पड़ते हैं। वह संयुक्त राष्ट्रसं के बजट पर विचार करके उस पर अपना निर्णय देती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सहयोग को प्रोत्साहित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास और नियमबद्धीकरण, मानव-अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रता, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा स्वास्थ्य के क्षेत्रों में आवश्यक कदम उठाना इत्यादि इस कार्य के अन्तर्गत आते हैं।

इस तरह देखने से पता चलता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण-सभा के अधिकार काफी व्यापक है। पर चार्टर के द्वारा इन अधिकारों को काफी सीमित कर दिया गया है। उदाहरण के लिए साधारण-सभा ऐसे वाद-विवाद अथवा परिस्थिति, जो सुरक्षा-परिषद् के सामने पेश हो, पर तब तक कोई विचार नहीं कर सकती है (धारा १२) जब तक स्वयं सुरक्षा-परिषद इसके लिए प्रार्थना नहीं करे। साधारण-सभा कोई संसद् नही है। इसके प्रतिनिधि केवल यात कर सकते है, एक दूसरे को सुन सकते है, विमर्श करते है, अध्ययन करते है, विचार-विमर्श करते है, प्रस्ताव स्वीकार करते हैं और सिफारिश कर सकते हैं। वे कोई ऐसा कानून या नियम नही बना सकते, जो किसी राज्य को कुछ करने पर बाध्य कर सके।

छोटी एसेम्बली और शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव—१९४७ तक सोवियत रूस और अमेरिका के शक्ति-युद्ध के कारण सुरक्षा-परिषद् में वीटो के प्रयोग के कारण गतिरोध उत्पन्न हो गया जिसके कारण विश्व में शान्ति बनाये रखना कठिन काम हो गया। अतएव इस स्थिति का मुकाबला करने के लिये १३ नवम्बर, १९४७ को साधारण-सभा ने अन्तरिम समिति (Interim Committee) नामक एक नयी सहायक संस्था स्थापित की गयी। इसी समिति को "छोटी एसेम्बली" कहा जाता है। साधारण-सभा का जब अधिवेशन नहीं हो रहा हो उस समय यह उक्त

सभा के कार्य को कर सकती है। यह सुरक्षा-परिषद् के दायित्वों पर भी ध्यान रख सकती है। साधारण-सभा के सदस्यों को इसमें एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। आरम्भ में छोटी एसेम्बली दो वर्ष के लिए बुलायी गयी थी। लेकिन १९४९ में इसकी अवधि को अनिश्चित कालतक बढा दिया गया। साम्यवादी देशों ने इस संगठन का घोर विरोध किया था।

१९५० में कोरिया के युद्ध के कारण सुरक्षा परिषद् में बड़ा गतिरोध पैदा हो गया। सोवियत संघ द्वारा जब वीटो का प्रयोग बहुत होने लगा तो पश्चिमी राष्ट्रों की ओर से यह प्रस्ताव रखा गया कि ऐसी स्थिति में साधारण-सभा को विचार करने और आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार प्रदान किया जाय। साधारण-सभा में महत्त्वपूर्ण विषय पर प्रस्ताव पारित होने के लिए दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है। वहाँ वीटो की व्यवस्था नहीं है। अतएव वहाँ से कोई कार्यवाही हो सकती है। संघ में यह प्रस्ताव स्वीकार हो गया। इसके अनुसार सुरक्षा-परिषद् के सात साधारण मत से अथवा संघ के सदस्यों के बहुमत चौबीस घंटे का नोटिस देकर साधारण सभा का आवश्यक विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है। यदि वीटो के कारण सुरक्षा परिषद् में गतिरोध उत्पन्न हो गया हो और वह अपने दायित्वों को पूरा करने में असमर्थ हो, तो साधारण-सभा इस पर तुरत विचार कर सकती है और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा-शान्ति के लिए कोई कार्रवाई कर सकती है।

महासभा का बदलता स्वरूप

इस प्रस्ताव ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है। पहले संघ की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था सुरक्षा-परिषद् थी। लेकिन इस प्रस्ताव ने साधारण सभा को सुरक्षा-परिषद् से अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। यद्यपि इसके कारण वीटो की व्यवस्था का अन्त नहीं हुआ है, लेकिन उससे उत्पन्न गतिरोध को दूर करने का हल निकल आया है।

वस्तुतः शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव पारित होने के बाद से सुरक्षा-परिषद् की तुलना में साधारण सभा का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माताओं का विचार था सुरक्षा परिषद् संघ की प्रधान कार्यकारी अंग हो और साधारण सभा एक वाद-विवाद के मंच के रूप में कार्य करे। इसी कारण चार्टर द्वारा जहाँ परिषद् को बाध्यकारी शक्तियाँ प्रदान की गयी वहाँ साधारण-सभा को केवल सिफारिश करने का अधिकार दिया गया था। लेकिन कालान्तर से परिस्थितियों के चलते यह स्थिति बदल गयी और साधारण सभा का महत्व निरन्तर बढ़ता गया। इसके विपरीत सुरक्षा परिषद् का प्रभाव घटा है। साधारण सभा के महत्त्व में इस वृद्धि के उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त और भी कई कारण हैं। इनमें एक प्रमुख बात यह है कि इसकी सदस्य-संख्या में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई। आज इसके सदस्यों की संख्या एक सौ चौबीस तक पहुच गयी है और संसार के इने-गिने कुछ राष्ट्र ही इसकी सदस्यता से अब वंचित रह गये हैं। इसकी तुलना में सुरक्षा-परिषद् में केवल पन्द्रह सदस्य है। इस दृष्टिकोण से वह सच्चे अर्थ में विश्व की प्रतिनिधि सस्था नहीं कही जा सकती है। साधारण-सभा ने अब मानव जाति की संसद् का रूप धारण कर लिया है जिसमें सदस्य-राष्ट्र शान्तिपूर्ण परिवर्तनो की अनेक समस्याओं पर विचार करने का साधन ढूँढ रहे है और वह भी कानून संसदीय प्रक्रिया की ढाँचा में साधारण-सभा में सदस्य-राज्य ९५८

रूप से अपनी शिकायतें, प्रस्ताव और सुझाव आदि प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार यह विश्व का "उन्मुक्त अन्तःकरण" (open conscience of the world) बन गया है। इसमें संसार की सभी समस्याओं—राजनीतिक और गैर राजनीतिक पर विचार किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि साधारण सभा ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में प्रमुख भाग लिया है। इसने संघ के सम्मुख लाये गये कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया है और फिलिस्तीन, कश्मीर, कोरिया, कांगो आदि संघर्ष-स्थलों में शान्ति स्थापित करने का प्रशंसनीय कार्य किया है।

सुरक्षा-परिषद्
(Security Council)

सुरक्षा-परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली अंग है। चार्टर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का कायम रखने का "प्रधान उत्तरदायित्व" इसी को सौंपा गया है। इसके सदस्यों की संख्या चार्टर द्वारा निश्चित कर दी गयी है।' संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत-संघ, ब्रिटेन, फ्रांस और 'चीन' इसके स्थायी सदस्य हैं तथा छः अस्थायी सदस्यों का चुनाव साधारण सभा दो-तिहाई मतों से दो वर्ष के लिए करती थी। १९६५ में चार्टर में संशोधन करके सुरक्षा-परिषद् के संगठन में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। जिस समय संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई थी उस समय उसकी कुल सदस्य संख्या इक्कावन थी। अतएव सुरक्षा परिषद् में ग्यारह सदस्य रखे गये। लेकिन १९५५ के बाद से संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्य-संख्या निरन्तर बढ़ती गयी। एशिया और अफ्रीका के कई देश स्वतन्त्र होकर इसके सदस्य बन गये। इस हालत में यह आवश्यक था कि इसी अनुपात में सुरक्षा परिषद् की सदस्य संख्या भी बढ़ायी जाय। १७ दिसम्बर, १९६५ को साधारण सभा ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके चार्टर में संशोधन की एक सिफारिश की जिसमें कहा गया था कि सुरक्षा-परिषद् की सदस्य संख्या ग्यारह से बढ़ाकर पन्द्रह, आर्थिक और सामाजिक परिषद् की संख्या अट्ठारह से सत्ताइस कर दी जाय तथा सामान्य समिति की सदस्यता को भी विस्तृत किया जाय।

भाग लेने के लिए आमन्त्रित किये जा सकते हैं। १९६६ के फरवरी में उत्तरी और दक्षिणी वीयतनाम के प्रतिनिधियों को इसी आधार पर आमन्त्रित किया गया था, यद्यपि उत्तरी वीयतनाम ने इस आमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया। लेकिन विशेष रूप से आमंत्रित सदस्यों को परिषद् में वोट देने का अधिकार नहीं होता। वे केवल उसकी कार्यवाही में भाग ले सकते हैं।

सुरक्षा-परिषद् के कार्य और अधिकार—चार्टर की २४ वीं धारा के अनुसार सुरक्षा-परिषद् का मुख्य काम "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना है" यह उन झगड़ों या परिस्थितियों पर तत्काल विचार करती है जो शान्ति के लिए खतरा उत्पन्न कर रही हो या इस प्रकार की सम्भावना हो गयी हो।

चार्टर की ३३-३८ धारा तक सुरक्षा-परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो के शान्तिपूर्ण निवटारे के सम्बन्ध में तथा ३९-५१ धारा तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को संकट में डालने, इसे भंग करने तथा आक्रमण को रोकने की कार्यवाही के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन किया गया है। परिषद् अपने निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए सदस्यों को पहले ऐसे उपायों को व्यवहार में लाने के लिए कह सकती है जिसमें सेना के उपयोग की आवश्यकता न हो। यदि ये उपाय पर्याप्त न हो तो सुरक्षा-परिषद् "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने" या फिर से स्थापित करने के लिए जल, थल और वायु-सेनाओं की सहायता से आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। चार्टर की ४३ वी धारा के द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग देने के लिए "सुरक्षा परिषद् के माँगने पर और विशेष समझौते के अनुसार अपनी सशस्त्र सेनाएँ, सहायता तथा सुविधाएँ" प्रस्तुत करने का वचन देते हैं। ४४ वीं धारा के अनुसार सुरक्षा परिषद् "सशस्त्र सेनाओं को उपयोग में लाने की योजनाएँ" एक सैनिक स्टाफ समिति की सलाह और सहायता से बनायेगी। यह सैनिक स्टाफ समिति (Military Staff Committee) सुरक्षा-परिषद् को निम्न विषयों में सहायता और परामर्श देगी: अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने की सैनिक आवश्यकताएँ, इस समिति के अधीन सेनाओं का प्रयोग और कमान; शस्त्रों का नियन्त्रण एवं संभावित निरस्त्रीकरण। इस समिति के सदस्य सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यो के मुख्य सैनिक अधिपति (Chief of Staff) या उनके प्रतिनिधि होंगे। सुरक्षा-परिषद् को उपयोग के लिए दी गयी सशस्त्र सेनाओं का सामरिक संचालन सैनिक स्टाफ समिति के हाथ में होगा और यह परिषद् के अधीन होगी (धारा ४७)। सुरक्षा-परिषद् जो भी कार्यवाही तय करेगी, उसे पूरा करने में सब सदस्य सामूहिक रूप से एक दूसरे को सहयोग देंगे (धारा ५०)।

सुरक्षा-परिषद् की मतदान-प्रणाली या वीटो—संयुक्त राष्ट्रसंघ की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था, ऐसी व्यवस्था जो सबसे अधिक चर्चा और विवाद की विषय रही है, सुरक्षा परिषद् में बड़े राष्ट्रों को प्राप्त निषेधाधिकार (veto) सम्बन्धी व्यवस्था है। यह व्यवस्था सबसे महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि विश्व-शान्ति और सुरक्षा उसी पर निर्भर करती है और इस तरह संयुक्त राष्ट्रसंघ का भविष्य इसी व्यवस्था की सफलता-असफलता पर निर्भर करता है। इसके विवादास्पद होने का कारण यह रहा कि यह एक ऐसी व्यवस्था है जो राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त का उल्लंघन करती है। यह विशेष चर्चा का विषय इसलिए रही है कि इसका प्रयोग बहुत बड़े बड़े

और महत्त्वपूर्ण मामलों में किया गया है तथा बड़े राष्ट्रों द्वारा एक दूसरे पर दुरुपयोग के आरोप लगाये गये हैं।

सुरक्षा परिषद् के "पाँच महान्" सदस्यों को एक विशेषाधिकार प्राप्त है। चार्टर की २६ वीं धारा के अनुसार परिषद् के प्रत्येक सदस्य को एक वोट देने का अधिकार है। पर स्थिति इतनी साधारण नहीं है। परिषद् के कार्यक्रम को दो भागों में बाँटा जाता है : साधारण (procedural) और असाधारण (substantive)। साधारण बातों में जिसमें परिषद् के कार्यक्रम-सम्बन्धी बातें आती हैं, किन्हीं नौ सदस्यों के स्वीकारात्मक (affirmative) वोट आने से प्रस्ताव स्वीकृत समझा जाता है। अन्य सभी मामलों में कम से-कम नौ सदस्यों का स्वीकारात्मक वोटों में पाँच स्थायी सदस्यों का वोट आवश्यक है। इन पाँच स्थायी सदस्यों में से यदि कोई भी अपनी असहमति प्रकट करे और अपना वोट प्रस्ताव के विरुद्ध दे दे तो वह प्रस्ताव अस्वीकृत समझा जायगा। इसी को सुरक्षा-परिषद् के मतदान-प्रणाली का 'वीटो' कहते हैं।[1] सुरक्षा-परिषद् के महत्त्वपूर्ण निर्णयों पर इन पाँच महान् राज्यों की सहमति आवश्यक है।[2] यदि परिषद् का कोई भी सदस्य (स्थायी अथवा अस्थायी) किसी झगड़े से संबद्ध हो तो वह मतदान में भाग नहीं ले सकता। सुरक्षा-परिषद् के अधिवेशन में वे राज्य भी आमन्त्रित किये जा सकते हैं, जिनका झंझट से सम्बन्ध हो, जिस पर परिषद् विचार कर रही हो और जो परिषद् के सदस्य नहीं हैं। पर उन्हें वोट देने का अधिकार नहीं होता।

तथाकथित 'वीटो' का अधिकार एक बहुत-ही विवादास्पद विषय बन गया है। इसके विरोधियों का कहना है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। ऐसी स्थिति में कुछ राज्यों को विश्व-संस्था में विशिष्ट स्थान देकर उस सिद्धान्त का उल्लंघन किया गया है। युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जब 'शीत-युद्ध' का समावेश हुआ और दुनिया दो खेमों में बँट गयी तब इसका असर संयुक्त राष्ट्रसंघ पर भी पड़ना शुरू हुआ। यह भी दो भागों में विभाजित हो गया। सुरक्षा-परिषद् में सोवियत-संघ अपने गुट का एकमात्र प्रतिनिधि था। इस स्थिति से लाभ उठाकर पाश्चात्य शक्तियाँ हर विषय पर सोवियत-संघ को तंग करने लगीं। वहाँ से बराबर ऐसे प्रस्ताव पास होने लगे जो सोवियत-गुट के विरुद्ध होते थे। अतएव अपने बचाव के लिए सोवियत-संघ 'वीटो' का प्रयोग करने लगा। इस 'वीटो' की संख्या दिनों-दिन बढ़ने लगी। अमेरिका और उसके पिछलगुआ देशों ने हो-हल्ला मचाना शुरू किया। वे कहने लगे कि यह बहुत बड़ा 'अत्याचार' है। महान् राज्य 'कानून से परे' नहीं हो सकते, इत्यादि, इत्यादि। वीटो को हटाने की माँग की जाने लगी।

---

१. इस दृष्टि से पुराने राष्ट्रसंघ में सभी राज्यों को 'वीटो' का अधिकार था, क्योंकि उसमें 'मतैक्य' (unanimity) का नियम था।

२. यदि कोई महान् राज्य सुरक्षा-परिष . की बैठक में अनुपस्थित हो अथवा अपना वोट न दे तो वह 'वीटो' नहीं समझा जायगा। प्रारम्भ में इस प्रश्न पर काफी वाद-विवाद हुआ। सोवियत-संघ का कहना था कि उपयुक्त दोनों अवस्थाओं को 'वीटो' का प्रयोग ही समझा जाना चाहिए। अन्य देश इस व्याख्या से सहमत नहीं हुए। अन्त में यह मान लिया गया कि वोट का उपयोग न करना या परिषद् की बैठक में अनुपस्थित रहने को वीटो नहीं माना जायगा। इस तरह कहा जा सकता है कि इस परम्परा को लेकर चार्टर में एक संशोधन हो गया है।

वीटो की व्यवस्था के कारण सुरक्षा-परिषद् में बड़े राष्ट्रों का आधिपत्य जम गया और बहुमत का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। केलसन ने लिखा है कि वीटो के द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ में पाँच स्थायी सदस्यों को विशेषाधिकार प्राप्त हो गया है और इस प्रकार अन्य सदस्यों पर उनकी कानूनी प्रभुता स्थापित हो गयी है। चार्टर के द्वारा सब सदस्यों को समान माना गया है। पर वीटो की व्यवस्था इस सिद्धान्त का उल्लंघन करती है। उससे संघ की व्यवस्था में गतिरोध उत्पन्न हुआ है और इसलिए इसका अन्त कर देना चाहिए।[1] अमेरिका और ब्रिटेन द्वारा रूस पर बारम्बार यह आरोप लगाया गया है कि उसने निषेधाधिकार का दुरुपयोग किया है। उनकी आलोचनाओं से कभी-कभी यह ध्वनि निकलती है मानों वे निषेधाधिकार के विरोधी हों, पर बात ऐसी नहीं है। अमेरिका द्वारा प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया गया था कि वह वीटो वाला विश्व संगठन ही स्वीकार करेगा और यदि इसमें वीटो की व्यवस्था नहीं होगी तो वह उसके लिए सर्वथा अस्वीकार्य होगा। अतएव सुरक्षा परिषद् में वीटो का समर्थक जितना सोवियत रूस है उतना ही पश्चिमी गुट भी। इस हालत में भी इसको हटाने की माँग की जाती है।

पर यहाँ पर बतला देना आवश्यक है कि सुरक्षा परिषद् से वीटो की व्यवस्था को हटा देने से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। सोवियत-संघ को संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक प्रभावशाली सदस्य बनाये रखने के लिए यह व्यवस्था आवश्यक है। वीटो की व्यवस्था न होने पर अमेरिका और ब्रिटेन जिन्हें विश्व के राष्ट्रों का बहुमत प्राप्त है, रूस और उसके सहयोगी राष्ट्रों को हर मौके पर पराजित कर सकते थे। इस हालत में संयुक्त राष्ट्रसंघ पश्चिमी गुट के हाथों में एक कठपुतली बन जाता और सोवियत संघ का उसमें शामिल रहना व्यर्थ होता। वीटो की व्यवस्था ने रूस को संयुक्त राष्ट्रसंघ में उतना ही प्रभावकारी बना रखा है जितना प्रभावकारी अमेरिका और ब्रिटेन का बहुमत है।

इस सम्बन्ध में एक दूसरी बात यह है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए महाशक्तियों के बीच पारस्परिक सहयोग हो। चार्टर के जन्मदाताओं ने 'सामूहिक सुरक्षा'' के सिद्धान्त को स्वीकार कर संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म दिया था और इसलिए वीटो की व्यवस्था की गयी थी। इस सिद्धान्त के मूल में यह बात थी कि शान्तिप्रिय राज्य मिल-जुलकर काम करेंगे और शान्ति भंग करनेवाले के विरुद्ध सामूहिक रूप से कारवाई करेंगे। और इसके निर्माताओं ने यह स्पष्ट ही समझा था कि अगर सुरक्षा परिषद् किसी महान् राज्य के विचार के विरुद्ध कोई कार्रवाई करती है तो इसका अर्थ विश्व शान्ति नहीं, वरन् विश्व-युद्ध होगा;[2] क्योंकि एक महान् राज्य उस कार्रवाई का अवश्य ही विरोध करेगा और इन्हीं विरोधों से तृतीय विश्व-युद्ध छिड़ जायगा। अतः वीटो का मुख्य उद्देश्य, जैसा कि श्री जवाहरलाल कहते थे, विश्व-युद्ध की सम्भावनाओं को हटाना तथा विवादों

1. Kelson, *The Law of the United Nations*, pp. 276-77

2. But as the farmers clearly perceived, the fact is inescapable that any coercion of a Great Power or of a small Power supported by a Great Power, is prescription not for law, order or peace but for wholesale violence"—Schuman *International Politics*, (5th Ed.), pp. 232-33

को सम्मेलनों द्वारा सुलझाना है। वीटो पद्धति को इसमें बहुत बड़ी सफलता मिली है। यदि इस पद्धति का अन्त कर दिया जाय तो इसके परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्रसंघ का अन्त हो जायगा। निषेधाधिकार की व्यवस्था ने शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी मामलों में बड़े राष्ट्रों का सहयोग निश्चय करके यह भी तय कर दिया है कि सुरक्षा परिषद् का जो भी निर्णय होगा वह बहुत सोच-विचार कर और पूर्ण जिम्मेदारी के साथ होगा। वह ऐसा निर्णय नहीं कर सकेगी जिन्हें पूरा करने की शक्ति उसमें न हो। चूँकि उसके निर्णयों के लिए पाँचों बड़े राष्ट्रों का सहयोग अनिवार्य है, अतएव उन निर्णयों को कार्यान्वित करने में उन पर सामूहिक जिम्मेदारी होगी। अतः उसकी कार्यवाहियों की सफलता प्रायः निश्चित हुआ करेगी।

इसके अलावे वीटो कई अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने में सफल भी हुआ है। उदाहरणार्थ, जब कश्मीर का प्रश्न सुरक्षा परिषद् में प्रस्तुत था और ब्रिटेन तथा अमेरिका खुलेआम पाकिस्तान का समर्थन कर रहे थे तो सोवियत संघ के वीटो के प्रयोग ने ही स्थिति को सम्हाला। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी पक्षों ने समस्या के एक दूसरे समाधान को ढूँढ़ निकालने का प्रयास किया जो सबको मान्य हो। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में सन्तुलन कायम रखने के लिए वीटो अति आवश्यक है। यदि यह व्यवस्था न होती तो संयुक्त राष्ट्रसंघ में केवल एक ही गुट की प्रधानता हो जाती और उसे मनमानी करने की पूरी छूट मिल जाती।

कुछ लोगों ने वीटो का भस्मासुर का वरदान माना है।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी विशेष परिस्थिति में विश्वशांति और संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए यह घातक भी सिद्ध हो सकता है। लेकिन यह कहना कि इसके कारण ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की असफलता हो रही है उचित नहीं प्रतीत होता। जैसा कि ए० ई० स्टीवेन्स ने कहा है,

"वीटो हमारी कठनाइयों का आधारभूत कारण नहीं है। वह रूस के लोगों के साथ हमारे दुर्भाग्यपूर्ण विभेदों का प्रतिबिम्ब मात्र ही है। यदि हम इससे बचाना चाहते है तो हमें उन विभेदों को तय कर लेना चाहिए। केवल मतदान की विधि को बदलना यथेष्ट न होगा। मतैक्य के नियम का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओं से हुआ है। यदि पाँच महान् राज्य किसी मामले पर राजी नहीं होते तो उसमें से किसी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग एक बड़े युद्ध को पैदा करेगा। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इसी सम्भावना से बचने के लिए हुई थी।"[2]

कुछ भी हो, वर्तमान परिस्थिति में वीटो की व्यवस्था विश्व-शान्ति तथा संयुक्त-राष्ट्रसंघ के लिए हितकर साबित हुई है। यह व्यवस्था इस धारण पर आधारित है कि बड़े राष्ट्र अपनी जिम्मेदारियों को महसूस करेंगे और विश्व-शान्ति कायम रखने का जो महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व उन्होंने स्वेच्छा से अपने ऊपर लिया है, उसका निर्वाह करेंगे।

इसके अतिरिक्त, शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव" (Uniting for Peace Resolution)[3] स्वीकृत होने एवं लघु एसेम्बली (Little Assembly) की स्थापना से वीटो

1. "Veto is Frankenstein"

2. Schuman, *International Politics*, (5th Ed), p. 212.

३. इस प्रस्ताव से संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन तथा साधारण सभा एवं सुरक्षा परिषद् के पारस्परिक सम्बन्धों में एक महान् अन्तर आ गया है। १९५० में जब कोरिया का युद्ध शुरू हुआ और उत्तरी कोरिया के विरुद्ध कोई भी कार्रवाई सोवियत-वीटो के कारण असम्भव हो गयी तो साधारण सभा ने ३ नवम्बर, १९५० को

का महत्त्व गौण पड़ गया है। अब वीटो का प्रभाव मुख्य रूप से सदस्यता के सम्बन्ध में रह गया। विश्वशान्ति के सम्बन्ध में अब साधारण सभा को अत्यन्त विस्तृत अधिकार मिल गये हैं जिस से संयुक्त राष्ट्रसंघ का कोई काम रुक नहीं सकता। वीटो के कायम रहते हुए भी साधारण सभा द्वारा बहुत से कामों को सम्पन्न कराया जा सकता है। चार्ल्सईलीचर ने लिखा है कि वीटो असहमति का लक्षण है, कारण नहीं। इसलिए वीटो को समाप्त कर देने से विरोधी गुटों का मतभेद नहीं समाप्त होगा। अतएव संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता के निषेधाधिकार (veto) को व्यवस्था अभी अत्यन्त आवश्यक है।

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्

(Social and Economic Council)

चार्टर की ६१ वीं से ७२ वीं धाराओं में आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् की व्यवस्था की गयी है। इस परिषद् में साधारण सभा द्वारा चुने गये अट्ठारह सदस्य होते थे। १९६५ में चार्टर में जो संशोधन हुआ उसके अनुसार यह संख्या बढ़ाकर सत्ताइस कर दी गयी है। इसमें नौ सीटों की जो वृद्धि हुई है उसकी बँटवारा की व्यवस्था इस प्रकार की गयी— सात सीटें अफ्रिकी एशियाई देशों को, एक लैटिन अमरीकी देशों को तथा एक पश्चिमी यूरोपीय देशों को। इनमें से छः सदस्य प्रतिवर्ष तीन साल के लिए निर्वाचित होते हैं। जिन सदस्यों की अवधि समाप्त हो जाय वे चुनाव के लिए पुनः खड़ा हो सकते हैं। परिषद् में निर्णय साधारण बहुमत से होता है। प्रत्येक सदस्य का एक वोट होता है।

परिषद् के उद्देश्यः— इस संस्था को संयुक्त राष्ट्रसंघ के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी तथा अन्य विभिन्न प्रकार के कार्यों को सम्पादित करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। इन कार्यों को सम्पन्न करते के लिए वह उपर्युक्त विषयों

एक प्रस्ताव स्वीकृत करके यह तय कर दिया कि अब किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार करने के लिए चौबीस घण्टे के अन्दर साधारण सभा की बैठक बुलायी जा सकती है। सुरक्षा परिषद् के मतदान-प्रणाली में वीटो की व्यवस्था है। अतः वहाँ जिच कि स्थिति आ जाती है। लेकिन, साधारण सभा मे महत्त्वपूर्ण बातों पर दो तिहाई वोट का ही आवश्यकता पड़ती है। अतएव किसी समस्या को लेकर सुरक्षा परिषद् में जिच कि स्थिति आ गयी हो, साधारण सभा में लाया जा सकता है। और वहाँ के दो तिहाई बहुमत से उसका समाधान निकाला जा सकता है।

इस प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने से संयुक्त राष्ट्रसंघ के मौलिक स्वरूप में महान् परिवर्तन हो गया है। चार्टर के निर्माताओं के उद्देश्य था कि सुरक्षा परिषद् को साधारण सभा से अधिक शक्तिशाली संस्था बनाया जाय पर जब सुरक्षा-परिषद् अपनी शक्ति के प्रयोग में असमर्थ साबित हुई तो उसके महत्त्वपूर्ण अधिकार को साधारण सभा को 'हस्तान्तरित' कर दिया गया। अब सुरक्षा-परिषद् जो काम-कर सकती है उसको साधारण सभा भी कर सकती है। उदाहरण के लिए हम १९५६ के स्वेज नहर की समस्या को ही लें। जब ब्रिटेन और फ्रांस ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया तो यह प्रश्न सुरक्षा-परिषद् के सामने पेश हुआ। ऑग्ल फ्रांसीसी वीटो के कारण वह संस्था इस सम्बन्ध में कुछ न कर सकी। अन्त में इस प्रश्न को साधारण सभा मे ले जाया गया, जहाँ स्वेज-सम्बन्धी अनेक प्रस्ताव स्वीकृत हुए। यदि उपर्युक्त प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ रहता तो यह सम्भव नहीं था। इस प्रकार साधारण सभा और सुरक्षा-परिषद् के अधिकारों में काफी परिव हो चुका है। अब साधारण सभा को केवल 'संसार की नगर सभा' नहीं कहा जा सकता है।

का अध्ययन करती है, इन पर रिपोर्ट देती है तथा यदि आवश्यकता पड़े तो विषय-अध्ययन के लिए व्यवस्था कर सकती है। यदि सुरक्षा-परिषद् का काम विश्व को युद्ध के आतंक से रक्षा करना है तो आर्थिक और सामाजिक परिषद् मानव की रक्षा गरीबी, बीमारी तथा दरिद्रता से करती है और इस प्रकार युद्ध के मानसिक कारणों के उन्मूलन की चेष्टा करती है। साधारण- सभा के अधीन संयुक्त राष्ट्रसंघ की सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधियों के लिए उत्तरदायित्व, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करना, सिफारिश करना तथा अध्ययन करना तथा उस दिशा में प्रेरणा प्रदान करना; मानव अधिकारो व आधारभूत स्वतन्त्रता की मान्यता को व उनके प्रति सम्मान भावना को प्रोत्साहन देना; अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो का आयोजन और अपनी अधिकार परिधि में आने वाले मामलो के विषय में महासभा में पेश करने के लिए सन्धियों के मसविदे तैयार करना, विशेष एजेन्सियो से समझौते के बारे में बातचीत करना तथा उन शर्तों को अंकित करना जिनके अनुसार वे संयुक्तराष्ट्र से सम्बद्ध हो सकें; परामर्श एवं सिफारिश प्रदान करते हुए, तथा साधारण सभा एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रो से सिफारिश करके उन एजेन्सियो की गतिविधियों तथा कामो में समन्वय रखना, संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य देशो और विशेष एजेन्सियों की प्रार्थना पर उनके लिए महासभा द्वारा स्वीकृत सेवाएँ उपलब्ध करना और आर्थिक व सामाजिक परिषद् जिन विषयों पर विचार करती है, उनसे सम्बन्धित गैर-सरकारी एजेन्सियो से परामर्श करना है।

सहायक अंग—आर्थिक और सामाजिक परिषद् आयोगों तथा समितियों द्वारा अपना कार्य-संचाल करती है। उसके द्वारा निम्नलिखित कार्यकारी आयोगों की स्थापना की जा चुकी है:—

यातायात तथा संचार आयोग	१५ सदस्य
परिगणना आयोग	१५ सदस्य
आबादी आयोग	१५ सदस्य
सामाजिक आयोग	१८ सदस्य
मानव अधिकार आयोग	१८ सदस्य
नारी अधिकार सम्बन्धी आयोग	१८ सदस्य
मादक पदार्थ आयोग	१५ सदस्य
अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु व्यापार आयोग	१८ सदस्य

इस आयोगों के सदस्य निर्वाचित होते हैं और उनका निर्वाचन आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् द्वारा किया जाता है। मादक पदार्थ सम्बन्धित आयोग के प्रतिनिधियों को सीधे उनकी सरकारों द्वारा नियुक्त किया जाता है। अन्य आयोगों के लिए सदस्य देश महासचिव से परामर्श करके अपने प्रतिनिधियो को नियुक्त करते हैं ताकि प्रत्येक आयोग के अधीन विभिन्न क्षेत्रों का संतुलित प्रतिनिधित्व हो सके। इन नियुक्तियों को बाद में परिषद् स्वीकृत करती है।

इस परिषद् द्वारा नियुक्त एक उप-आयोग भी है जिसका नाम है 'भेदभाव' रोकथाम एवं अल्पसंख्या सुरक्षा सम्बन्धी कमीशन। इसके बारह सदस्य होते हैं। इस उप-आयोग के अलावा तीन प्रादेशिक आयोगों की स्थापना भी की गयी है:

(१) यूरोप निमित्त आर्थिक आयोग ।
(२) एशिया तथा सुदूरपूर्वार्ध आर्थिक आयोग ।
(३) लैटिन अमरीकी आर्थिक आयोग ।

इसके अतिरिक्त इस परिषद् की विशेष संस्थाएँ भी हैं जो निम्नलिखित हैं : स्थायी केन्द्रीय अफीम बोर्ड तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाल कल्याण निधि (U. N. International Children Emergency Fund)। ११ दिसम्बर १९४६ को इसकी स्थापना हुई थी। इसका उद्देश्य बाल-कल्याण के विविध कार्य, तथा बच्चों के स्वास्थ्य तथा पोषण के कार्यक्रमों की सहायता देना है। संसार के एक सौ बारह देशों में यह संस्था अत्यन्त ही सराहनीय काम कर रही है ।

प्राविधिक सहायता—आर्थिक और सामाजिक परिषद् का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य संसार के पिछड़े हुऐ देशों को प्राविधिक सहायता (Technical Assistance) देना है । संसार में ऐसे असंख्य देश हैं । इन देशों को दो प्रकार की सहायता चाहिए : (१) प्राविधिक दक्षता (Technical skill) जिसके द्वारा संसार के पिछड़े हुए राष्ट्र नयी विधियों और उपायों की सहायता से उत्पादन बढ़ाकर अपनी दरिद्रता दूर कर सकते हैं। (२) आवश्यक उपकरणों, यन्त्रों, मशीनों, भवनों, सड़कों, बन्दरगाहो, उद्योग तथा कृषि का उत्पादन बढ़ाना । संयुक्त राष्ट्रसंघ की आर्थिक और सामाजिक परिषद् इन देशों में विशेषज्ञों को भेजती है तथा उन्हें हर तरह की सहायता करती है ताकि वे अपनी उन्नति कर सकें । इसके लिए एक टेकनिकल सहायता बोर्ड की स्थापना की गयी है । इसमें एक प्रबन्ध-अध्यक्ष तथा सम्बन्धित एजेंसियों के प्रबन्धक अध्यक्ष अथवा उसके प्रतिनिधि होते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव प्रबन्धक अध्यक्ष की नियुक्ति एजेंसियों के परामर्श से करते हैं। बोर्ड आर्थिक और सामाजिक परिषद् की एक स्थायी समिति (टेकनिकल सहायता समिति) को प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है। ये समितियाँ नीतियों तथा प्रगति पर विचार करती हैं। साथ ही टेकनिकल सहायता के भावी कार्यक्रम पर सिफारिशें करती हैं। किसी कार्यक्रम को पूरा करने के लिए भाग लेने वाली संस्थाओं को दी जाने वाली किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता के लिए उनकी पूर्व स्वीकृति आवश्यक होती है।

मानवीय अधिकार—द्वितीय विश्व-युद्ध काल में मानव के मौलिक अधिकारों का बड़ा हनन हुआ था । अतएव युद्ध के समय से ही यह माँग की जाने लगी थी कि ऐसी कोई व्यवस्था हो ताकि भविष्य में इन क्रुरताओं की पुनरावृत्ति न हो। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए आर्थिक और सामाजिक परिषद् को यह उत्तरदायित्व सौंपा कि वह मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए एक विस्तृत योजना बनावे । इस कार्य को पूरा करने के लिए परिषद् ने विभिन्न मानवीय अधिकारो का अध्ययन किया तथा इसके लिए अनेक आयोग स्थापित किये गये । दासता तथा वेगार का, ट्रेड यूनियनों के अधिकारों का तथा राज्यहीन एवं शरणार्थियों की समस्याओं का अध्ययन किया गया । परिषद् की सिफारिश पर साधारण सभा ने जातिनाश (genocide) के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया । इस प्रस्ताव के द्वारा किसी प्रजाति या धर्मावलम्बी का संगठित रूप से विनष्ट करने के प्रयत्नों को अवैध घोषित किया गया । इसमें अतिरिक्त परिषद् ने स्त्रियों की स्थिति पर तथा प्रेस और सूचना की स्वतन्त्रता पर आयोग बनाकर इनके सम्बन्ध में कई समझौतों के प्रारूप तैयार किये ।

इस सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे महान् काम मानवीय अधिकारों की घोषणा थी। सामाजिक और आर्थिक परिषद् के एक अयोग की सिफारिश पर साधारण सभा ने १० सितम्-

१९४८ को मानवीय अधिकारों पर एक घोषणा-पत्र स्वीकार किया। इस घोषणा में प्रस्तावना के अतिरिक्त तीस धाराएँ हैं। इनमें राजनीतिक, दीवानी, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों का विशद् वर्णन है। इनमें मुख्य रूप से अन्तःकरण (*conscience*), धर्म, सम्पत्ति रखने, वोट देने, लोकतांत्रीय प्रतिनिधित्व पाने तथा दूसरे में शरण तथा काम पाने, सामाजिक सुरक्षा, ट्रेड यूनियनों में सम्मिलित होने तथा शिक्षा एवं विश्राम पाने के अधिकारों का उल्लेख है। इन अधिकारों की महत्ता को प्रकट करने के उद्देश्य से प्रतिवर्ष १० सितम्बर को मानवीय अधिकार दिवस मनाया जाता है।

विशिष्टि एजेन्सियों से सम्बन्ध—विभिन्न विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय ऐजेन्सियों के साथ सम्बन्ध कायम करना आर्थिक और सामाजिक परिषद् की जिम्मेवारी है। अभी तक निम्नलिखित एजेन्सियों के साथ संयुक्त राष्ट्रसंघ का समझौता हुआ है :

(१) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, (२) संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन, (३) संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान एवं सांस्कृतिक संगठन, (४) विश्व-स्वास्थ्य संगठन, (५) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण विकास बैंक, (६) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, (७) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, (८) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन, (९) विश्व डाक संघ, (१०) अन्तराष्ट्रीय दूर संचार व्यवस्था संघ और, (११) विश्व ऋतु विज्ञान संगठन।

संरक्षण–परिषद्
(Trusteeship Council)

संरक्षण-परिषद्—संरक्षण परिषद् (Truteeship Council) संयुक्त राष्ट्रसंघ का चौथा प्रमुख अंग है। इसकी स्थापना पुराने राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था (Mandate System के स्थान पर की गयी है। संरक्षण-पद्धति का मूल सिद्धान्त यह है कि आधुनिक संसार में ऐसे कुछ प्रदेश हैं जिसके निवासी पिछड़े हुए और अविकसित हैं। उनकी उन्नति अन्य सभ्य और उन्नत देशों की सहायता से ही सम्भव है। सभ्य देशों का यह कर्त्तव्य है कि वे उनके विकास में यथासम्भव सहायता दें और उस काल तक अपने को न्यासी (trust) समझकर उसके हितों की देख-भाल करें जब तक वे स्वयं अपना शासन सम्हालने योग्य न हो जायँ। जिन देशों को यह कार्य सौंपा जाय वे उनको संयुक्तराष्ट्रसंघ की देख-रेख में करें। राष्ट्रसंघ की संरक्षण-पद्धति में केवल जर्मनी और तुर्की के उपनिवेश शामिल किये गये थे, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्था में सभी पराधीन देश या क्षेत्र आ गये हैं।

चार्टर के अनुसार संरक्षण-पद्धति के निम्नलिखित उद्देश्य हैं : (१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा का बढ़ावा देना, (२) स्वशासन की दिशा में संरक्षित प्रदेश के निवासियों का विकास करना, (३) मानव अधिकारों के प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहन एवं उनमें यह भाव जगाना कि संसार के सभी लोग एक दूसरे पर आश्रित हैं तथा (४) सामाजिक, आर्थिक तथा वाणिज्य-सम्बन्धी मामलों में संयुक राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों और उनके नागरिकों के प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना।

संरक्षण परिषद् के अन्तर्गत तीन प्रकार के प्रदेशों का प्रशासन आता है :—(१) वे प्रदेश जो सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन के साथ लीग ऑफ नेशन्स की संरक्षण व्यवस्था के अन्दर शामिल थे, (२) वे जो द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद शत्रु राज्यों से छीन लिये गये थे तथा (३) वे प्रदेश जिनको

उपनिवेशवादी राज्यों ने स्वेच्छा से संयुक्त राष्ट्र को दे दिया हो। संरक्षण सम्बन्धी समझौतों में उन शर्तों का उल्लेख होना अनिवार्य है जिसके अनुसार संरक्षित प्रदेशों का सम्बन्ध चलाया जाता है। साथ ही इसका भी उल्लेख होना चाहिए कि कौन-सी संस्था उन पर शासन करेगी। शासन-प्रबन्ध चलानेवाली संस्था कोई एक अथवा कई देश समूह अथवा स्वयं संयुक्त राष्ट्रसंघ हो सकता है। उन प्रदेशों को छोड़कर जिन्हें "सामाजिक महत्त्व का क्षेत्र" घोषित किया हो, समस्त संरक्षित देशों का प्रबन्ध संयुक्त राष्ट्रसघ की ओर से साधारण सभा संरक्षण परिषद् की सहायता से करती है। यदि वह सामाजिक महत्त्व का प्रदेश हो तो उसका प्रबन्ध संरक्षण परिषद् की सहायता से सुरक्षा परिषद् द्वारा किया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि संरक्षण परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक प्रमुख अंग है तथापि उसे स्वतन्त्र शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं। उसे साधारण-सभा तथा सुरक्षा-परिषद् के अधीन काम करना पड़ता है।

संरक्षण-परिषद् के सदस्य संरक्षित प्रदेशों का शासन करने वाले आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, फ्रांस, इटली, ब्रिटेन, अमेरिका तथा सुरक्षा परिषद् के संरक्षित प्रदेशों का शासन करनेवाले देशों में चीन और सोवियत संघ तथा इतनी ही संख्या में तीन वर्ष के लिए साधारण सभा द्वारा चुने जानेवाले देश हैं। इसके सब निर्णय उपस्थिति और वोट देनेवाले सदस्यों के बहुमत से किये जाते हैं। वर्ष में इसकी बैठकें नियमित रूप से होती हैं।

संरक्षण परिषद् संरक्षित क्षेत्रों के प्रशासन की देख-रेख के लिए अनेक प्रकार के साधनों को काम में लाती हैं। उनमें से प्रमुख साधन निम्नलिखित हैं : (१) प्रशासकीय अधिकारियों से प्राप्त रिपोर्ट, (२) संरक्षित क्षेत्रों की जनता के आवेदन-पत्र तथा (३) संरक्षित प्रदेशों में घटनास्थल पर जाकर जाँच। इन दृष्टिकोणों से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रसंघ की संरक्षण प्रणाली से संयुक्त राष्ट्रसंघ की सरक्षण-पद्धति बहुत बातों में आगे है। उसके वैसे अधिकार प्राप्त हैं जो मैन्डेट पद्धति को न थे।[1]

संरक्षित प्रदेश :—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, चार्टर में यह व्यवस्था भी की गयी है कि उपनिवेशवादी राज्य अपने उपनिवेश को भी संघ की संरक्षता में सौंप देंगे। लेकिन किसी उपनिवेशवादी राज्य ने इस तरह की उदारता नहीं प्रदर्शित की। दक्षिण अफ्रिकी यूनियन ने तो राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सौंपे गये दक्षिण-पश्चिम अफ्रिका के संरक्षित प्रदेश को भी नये संघ के न्यास पद्धति के अन्तर्गत सौंपने से इन्कार कर दिया। इसकी सारे संसार में बड़ी कड़ी आलोचना हुई। इस मामला को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में रखा गया और न्यायालय का यह निर्णय हुआ कि दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका को संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण परिषद् की संरक्षता में रखा जाय। लेकिन दक्षिण अफ्रीकी यूनियन की सरकार ने ऐसा करने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। फिर भी चूँकि यह पुराने राष्ट्रसंघ की संरक्षता में था और उसके उत्तराधिकारी संयुक्त राष्ट्रसंघ को इस पर निरीक्षण करने का अधिकार प्राप्त था, अतएव साधारण सभा ने इसके शासन के सम्बन्ध में प्राप्त होनेवाली वार्षिक रिपोर्टों की जाँच के लिए एक समिति नियुक्त की। लेकिन दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने इस प्रदेश के शासन के सम्बन्ध में रिपोर्ट भेजने से इन्कार कर दिया। संघ की ओर से इस पर संरक्षता कायम करने के कितने प्रयास हुए हैं, लेकिन दक्षिण अफ्रिकी यूनियन की सरकार के दुराग्रह के कारण इसका कोई परिणाम नहीं निकला।

1. Leonard, *International Organisation*, pp. 502-5

संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण पद्धति के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्यारह प्रदेश थे :—

संरक्षित प्रदेश	शासन करनेवाले देश	क्षेत्रफल (वर्गमील में)	जनसंख्या
१. न्यूगिनी	आस्ट्रेलिया	९३,०००	१०,०६,२०००
२. रुआंडा उरुंडी	बेल्जियम	२०,६१६	३७,१८६,६६
३. फ्रेंच कैमरून्स	फ्रांस	६६,७६७	३०,०२,५०,०१
४. फ्रेंच टोगोलैंड	फ्रांस	२१,२३६	६,४४,४७६
५. पश्चिमी समोआ	न्यूजीलैंड	१,१३३	७२,६३६
६. टांगानिका	ग्रेट ब्रिटेन	३,४०,८१	७०,७९,५५३
७. ब्रिटिश कैमरून्स	ग्रेट ब्रिटेन	३,४०,८१	९,११,०००
८. नौरू	आस्ट्रेलिया	८२	३,१६२
९. प्रशान्त महासागर के द्वीप	संयुक्त राज्य अमेरिका	६८७	६०,६०००
१०. सुमालीलैंड	इटली	९४,०००	६१५,०००,१
११. ब्रिटिश टोगोलैंड	ग्रेट ब्रिटेन	२२,२८२	७,२४,४०८

इन संरक्षित प्रदेशों में ६ पुराने राष्ट्रसंघ की संरक्षण पद्धति के अन्तर्गत थे। ब्रिटिश टोगोलैंड जो पहले ब्रिटेन द्वारा शासित होता था, ६ मार्च, १९५७ को घाना के साथ मिलकर स्वतन्त्र राज्य बन गया। फ्रेंच कैमरून्स १ जनवरी, १९६० को तथा फ्रेंच टोगोलैंड २७ अप्रिल, १९६० को स्वतन्त्र हो गया। १९६१ में ब्रिटिश कैमरून्स, टांगानिका, पश्चिमी समोआ और रुआंडा-उरुंडी स्वतन्त्र हो गये।

एक नियमित राष्ट्र संघीय प्रतिनिधि मण्डल हर वर्ष संरक्षित प्रदेशों के दौरे के लिए भेजा जाता है। १९४८ में इसी प्रकार एक टोली (ब्रिटेन द्वारा शासित) टांगानिका और (बेल्जियम द्वारा शासित) रुआंडा-उरुन्डी गयी थी। १९४९ में एक टोली (फ्रांस द्वारा शासित) कैमरून्स और टोगोलैंड (ब्रिटेन द्वारा शासित) कैमरून्स और टोगोलैंड गयी थी। १९५० और १९५३ तथा १९५६ में एक प्रतिनिधि मण्डल ने नौरू, न्यूगिनी पश्चिमी सामोआ और प्रशान्त द्वीपों वाले संरक्षित प्रदेशों का दौरा किया था। १९५१, १९५४ तथा १९५७ में एक दूसरा मिशन पूर्वी अफ्रीकी प्रदेशों रुआंडा-उरुन्डी, टंगानिका व सोमालीलैंड का दौरा करने गया। १९४७ में एक आवेदन पर विशेष मिशन ने पश्चिमी सामोआ का दौरा किया। पश्चिमी अफ्रीका के चार संरक्षित प्रदेशों का दौरा एक मिशन द्वारा १९५२ और फिर १९५५ में किया गया। १९५७ तक संरक्षण परिषद् ने १०५७ आवेदन पत्रों पर विचार भी किया।

राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण पद्धतियों में तुलना—संयुक्त राष्ट्रसंघ में जिस संरक्षण पद्धति की व्यवस्था की गयी है वह पुराने राष्ट्रसंघ की व्यवस्था से कई दृष्टियों से उत्कृष्ट है। इसकी उत्कृष्टता निम्नलिखित बातों में स्पष्ट होती है :

(१) संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण पद्धति का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। राष्ट्रसंघ की संरक्षण पद्धति में केवल जर्मनी और टर्की से छीने गये प्रदेश ही शामिल किये गये थे लेकिन संयुक्त

राष्ट्रसंघ की संरक्षण-व्यवस्था में केवल शत्रु से छीने गये प्रदेश हैं, बल्कि स्वशासन न करनेवाले पराधीन और उपनिवेशवाद के शिकार हुए देश भी शामिल हैं। इस प्रकार, इसका क्षेत्र पहली की संरक्षण पद्धति से बहुत भिन्न है।

(२) नवीन व्यवस्था में संरक्षित प्रदेशों पर शासन करनेवाली शक्तियों पर मैंडेट प्रणाली की अपेक्षा अधिक कड़ा नियन्त्रण है। राष्ट्रसंघीय व्यवस्था में स्थायी संरक्षण आयोग (Permanent Mandate Commission) को संरक्षित प्रदेशों में जाकर न तो निरीक्षण करने का अधिकार था और न वह वहाँ के निवासियों के किसी प्रार्थना-पत्र पर विचार कर सकता था। इस प्रकार वह संरक्षित प्रदेशों के सम्बन्ध में देखने और सुनने दोनों प्रकार के अधिकारों से वह वंचित था। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत संरक्षण परिषद् आवेदन-पत्र पर विचार कर सकती है तथा संरक्षित प्रदेशों में निरीक्षक मण्डल भी भेज सकती है। अतएव इसका निरीक्षण पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी और क्षमतापूर्ण है।

(३) राष्ट्रसंघीय संरक्षण-व्यवस्था विभिन्न प्रदेशों को अपने साम्राज्य में सीधा सम्मिलित करने के सिवा और कुछ न थी। इसमें इन प्रदेशों की उन्नति, स्वशासन और स्वतन्त्रता के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण पद्धति में स्वशासन का विचार बिल्कुल स्पष्ट है और शासन करने वाले देशों का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वे अपने प्रदेशों को स्वशासन और स्वतन्त्रता के लिए समर्थ तथा योग्य बनायें। इसमें उपनिवेशवाद के उन्मूलन की स्पष्ट व्यवस्था है। राष्ट्रसंघ की संरक्षण प्रणाली में ऐसा नहीं था।

(४) पुरानी व्यवस्था में संरक्षण प्रदेशों की समस्या स्थायी संरक्षण आयोग का विषय समझी जाती थी। इस आयोग की स्थिति महत्त्वपूर्ण नहीं थी और इसलिए इसके कार्यों की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। किन्तु नयी व्यवस्था में यह विषय संरक्षण परिषद् की अपेक्षा साधारण सभा में अधिक आने लगा है। इसमें छोटे-छोटे राष्ट्रों की बहुसंख्या है। वे राष्ट्र औपनिवेशिक शक्तियों के तीव्र आलोचक हैं। वे संरक्षित प्रदेशों की हितचिन्ता और कल्याण के लिए बहुत व्यग्र एवं चिन्तित रहते हैं। अतः पुरानी व्यवस्था में संरक्षित प्रदेश प्रायः उपेक्षित रहते थे, किन्तु अब संयुक्त राष्ट्रसंघ के संरक्षित प्रदेशों की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

(५) संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण पद्धति के प्रधान अंग संरक्षण परिषद् की बनावट, संगठन और अधिकार पुराने राष्ट्रसंघ के स्थायी संरक्षण आयोग की अपेक्षा अधिक सुसंगठित, शक्तिशाली, स्वतन्त्र तथा सन्तुलित है। स्थायी संरक्षण आयोग में केवल विशेषज्ञ होते थे। वे लोग प्रायः शासक देशों के होते थे। अतः यह एकपक्षीय और असन्तुलित संगठन था। इसमें शासक वर्ग की ही प्रधानता थी, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण परिषद् में न केवल प्रशासन करने वाले देश हैं, इसके अतिरिक्त सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य और इनकी संख्या के बराबर साधारण सभा से चुने जाने वाले सदस्य भी हैं। इससे परिषद् में केवल शासक-शक्तियों की प्रधानता नहीं रहती। दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व होने से सन्तुलन बना रहता है। अपनी कार्यवाही के नियम बनाने में पूरी स्वतन्त्रता है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता स्थायी संरक्षण आयोग को नहीं थी। इन सब कारणों से संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण पद्धति थोड़े समय में ही संरक्षित प्रदेशों के निवासियों की दशा सुधारने तथा उन्हें स्वतन्त्रता दिलाने में राष्ट्रसंघ की संरक्षण प्रणाली की अपेक्षा अधिक सफल हुई।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण पद्धति के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्यारह प्रदेश थे :—

संरक्षित प्रदेश	शासन करनेवाले देश	क्षेत्रफल (वर्गमील में)	जनसंख्या
१. न्यूगिनी	आस्ट्रेलिया	९३,०००	१०,०६,२०००
२. रूआंडा उरूंडी	बेल्जियम	२०,९१६	३७,१८६,६६
३ फ्रेंच कैमरून्स	फ्रांस	६६,७६७	२७,०२,५०,०१
४. फ्रेंच टोगोलैंड	फ्रांस	२१,२३६	९,४४,४४६
५. पश्चिमी समोआ	न्यूजीलैंड	१,११३	७२,९३६
६. टांगानिका	ग्रेट ब्रिटेन	३,४०,८१	७०,७९,५५७
७. ब्रिटिश कैमरून्स	ग्रेट ब्रिटेन	३,४०,८१	९,९१,०००
८. नौरू	आस्ट्रेलिया	८२	३,१६२
९. प्रशान्त महासागर के द्वीप	संयुक्त राज्य अमेरिका	६८७	६०,६०००
१०. सुमालीलैंड	इटली	९४,०००	९१५,०००,१
११. ब्रिटिश टोगोलैंड	ग्रेट ब्रिटेन	२२,२८२	७,२४,४०८

इन संरक्षित प्रदेशों में ९ पुराने राष्ट्रसंघ की संरक्षण पद्धति के अन्तर्गत थे। ब्रिटि टोगोलैंड जो पहले ब्रिटेन द्वारा शासित होता था, ६ मार्च, १९५७ को घाना के साथ मिलक स्वतन्त्र राज्य बन गया। फ्रेंच कैमरून्स १ जनवरी, १९६० को तथा फ्रेंच टोगोलैंड २७ अप्रि १९६० को स्वतन्त्र हो गया। १९६१ में ब्रिटिश कैमरून्स, टांगानिका, पश्चिमी समोआ रूआंडा-उरूंडी स्वतन्त्र हो गये।

एक नियमित राष्ट्र संघीय प्रतिनिधि मण्डल हर वर्ष संरक्षित प्रदेशों के दौरे के भेजा जाता है। १९४८ में इसी प्रकार एक टोली (ब्रिटेन द्वारा शासित) टांगानि (बेल्जियम द्वारा शासित) रुआंडा-उरुन्डी गयी थी। १९४९ में एक टोली (फ्रा शासित) कैमरून्स और टोगोलैंड (ब्रिटेन द्वारा शासित) कैमरून्स और टोगोलैंड १९५० और १९५३ तथा १९५६ में एक प्रतिनिधि मण्डल ने नौरू, न्यूगिनी पश्चिमी और प्रशान्त द्वीपों वाले संरक्षित प्रदेशों का दौरा किया था। १९५१, १९५४ तथा एक दूसरा मिशन पूर्वी अफ्रीकी प्रदेशों रुआंडा-उरुन्डो, टंगानिका व सोमालीलै करने गया। १९४७ में एक आवेदन पर विशेष मिशन ने पश्चिमी सामोआ का पश्चिमी अफ्रीका के चार संरक्षित प्रदेशों का दौरा एक मिशन द्वारा १९५२ और में किया गया। १९५७ तक संरक्षण परिषद् ने १०५७ आवेदन पत्रों किया।

राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण पद्धतियों में तुलना

जिस संरक्षण पद्धति की व्यवस्था की गयी है वह पुराने राष्ट्रसंघ की ... उत्कृष्ट है। इसकी उत्कृष्टता निम्नलिखित बातों में स्पष्ट होती है :

(१) संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण पद्धति का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। पद्धति में केवल जर्मनी और टर्की से छीने गये प्रदेश ही शामिल किये ..

क्षेत्राधिकार—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार विश्वव्यापी है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य इसके क्षेत्राधिकार में आते हैं। गैर सदस्य-राज्य भी यदि वे न्यायालय का प्रयोग करना चाहें तो कर सकते हैं। सदस्य-राज्य द्वारा रखे गये प्रत्येक कानून और न्यायिक प्रश्न पर विचार करना न्यायालय का पहला काम है। सदस्य राज्यों को अधिकार है कि वे किसी राज्य के साथ अपने झगड़ों को न्यायालय के सामने निर्णय के लिए उपस्थित कर सकें। यह विवाद अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों-समझौतों तथा परम्पराओं से सम्बद्ध भी हो सकता है। पर हर मामले में न्यायालय का क्षेत्राधिकार अनिवार्य नहीं है। वैसे ही मामलों में न्यायालय का क्षेत्राधिकार अनिवार्य होता है जिसको झगड़े से सम्बद्ध राज्य ऐसा मान लेता है। यह व्यवस्था अन्तराष्ट्रीय न्यायालय के संगठन की सबसे बड़ी कमजोरी है।

राज्यों को स्वतन्त्रता है कि वे अल्पकाल या सदा के लिए अपने मामलों का निर्णय इस न्यायालय से कराने का निश्चय करें। पर एक बार ऐसा निर्णय कर लेने के बाद ऐसे राज्यों के मामले स्वतः इस न्यायालय के विचाराधीन हो जाते हैं। इसके बाद यदि कोई राज्य अपने किसी मामले को न्यायालय के कार्यक्रम से हटाना चाहे तो उसको यह बतलाना पड़ता है कि अमुक विवाद न्यायालय के क्षेत्राधिकार में नहीं है।

यदि किसी दो राज्य में सन्धि की व्याख्या को लेकर कोई वाद-विवाद उपस्थित हो गया हो और वे यदि इसकी उचित व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से कराने के लिए सहमत हों तो न्यायालय को उस प्रकार के किसी सन्धि की व्याख्या करने का अधिकार है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विविध अंगों को परामर्श देना अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का दूसरा प्रमुख कार्य है। साधारण सभा और सुरक्षा-परिषद् किसी भी वैधानिक मामले पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायायल से परामर्श ले सकती है। पर, न्यायालय के परामर्श को मानने के लिए ये बाध्य नहीं है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंग (जैसे आर्थिक और सामाजिक परिषद्) भी न्यायालय से किसी वैधानिक विषय पर परामर्श ले सकते हैं।

सचिवालय

(Secretariat)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के **कार्यों के सम्पादन** के लिए एक सचिवालय की स्थापना की गयी है। चार्टर के पन्द्रहवें अध्याय में धारा ९७ से १०१ तक इसके संगठन का वर्णन है। इसका संगठन प्रायः वैसा ही है जैसा राष्ट्रसंघ के सचिवालय का था। सचिवालय में सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर साधारण सभा द्वारा नियुक्ति किया गया एक महासचिव और उतने पदाधिकारी होते हैं जितने इस संस्था के लिए आवश्यक समझे जायँ। महासचिव सचिवालय की सहायता से अपना सारा कार्य करता है। यदि हम राष्ट्रसंघ की सचिवालय से वर्तमान सचिवालय की तुलना करते हैं तो एक महत्त्वपूर्ण अन्तर मिलेगा और यह अन्तर महासचिव के कार्य और अधिकारों से सम्बन्धित है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत महासचिव को कुछ ऐसे अधिकार मिले हैं और उनमें कुछ ऐसे कर्त्तव्यों का पालन करना है जिसका पुराने राष्ट्रसंघ में सर्वथा अभाव था। चार्टर के अनुसार महासचिव के निम्नलिखित कार्य हैं :

(१) यदि महासचिव यह समझे कि किसी मामले के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा खतरे में पड़ सकता है तो वह सुरक्षा परिषद् का ध्यान इस ओर आकृष्ट कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(International Court of Justice)

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—हेग स्थित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक प्रमुख अंग है। इसकी प्रारम्भिक स्थापना प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में हुई थी। जिस समय (१९४५) संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के विषय में बात चल रही थी, उस समय इस बात पर काफी वाद-विवाद चला कि पुराने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत रखा जाय या एक दूसरे नये न्यायालय की स्थापना की जाय। इस विषय पर दो मत थे। एक पक्ष का कहना था कि पुराने न्यायालय की ईमानदारी और निष्पक्षता की परम्परा देखकर उसी को कायम रखना ठीक होगा। दूसरे पक्ष का कहना था कि चूँकि पुराने न्यायालय के प्रति अमेरिका और सोवियत संघ का रुख अच्छा नहीं था, इसलिए उसको हटाकर एक नये न्यायालय की स्थापना करना ही अच्छा होगा। अन्त में दूसरे पक्ष के विचार को ही मान लिया गया और उसके अनुसार एक नये न्यायालय की स्थपाना की गयी। पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत स्थापित न्यायालय को एक नया न्यायालय कहना उचित भी नही है। केवल नाम परिवर्तन को छोड़कर और पुराने न्यायालय के विधान में कुछ शाब्दिक परिवर्तन के अतिरिक्त नये न्यायालय में कोई नवीनता नही है। यह वही पुरानी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है जिसे राष्ट्रसंघ ने १९२१ में हेग में स्थापित किया था। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर ने उक्त पुराने न्यायालय में जान डाली है।

संगठन—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में पन्द्रह न्यायाधीश होते हैं। इनकी नियुक्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा और सुरक्षा परिषद् द्वारा होती है। ये दो संस्थाएँ न्यायाधीशों का निर्वाचन करती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश होने के लिए उम्मीदवारों को उच्च नैतिक चरित्र का व्यक्ति तथा अपने राज्य के कानून और अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विशेषज्ञ होना चाहिए। न्यायाधीशो की निर्वाचन प्रणाली कुछ पेचीदी है। न्यायालय के सदस्यों को साधारण सभा और सुरक्षा परिषद् उन लोगों की सूची में से चुनती है, जिनको संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्र मनोनीत करते हैं। जिस व्यक्ति को साधारण सभा और सुरक्षा परिषद् में पूर्ण बहुमत प्राप्त हो जाता है वे न्यायालय के न्यायाधीश चुन लिये जाते हैं। पर इस चुनाव में यह ध्यान देना पड़ता है कि सभी सदस्य-राष्ट्रों को यथासम्भव न्यायालय में प्रतिनिधित्व मिल जाय। दो न्यायाधीश एक ही राज्य के नही होने चाहिये। न्यायाधीशों का साधारण कार्यकाल नौ वर्ष का है। पर वे पुनः निर्वाचित हो सकते हैं।

जहाँ तक न्यायालय की कार्यविधि का प्रश्न है, पन्द्रहों न्यायाधीश मिलकर मामले की सुनवाई करते हैं। कम-से-कम नौ न्यायाधीशों के उपस्थित रहने पर ही राय या निर्णय किया जा सकता है। उस देश का न्यायाधीश मामले के निर्णय में भाग नही ले सकता है जिस देश से सम्बद्ध झगड़े पर न्यायालय विचार कर रहा हो। पर यदि कोई ऐसा राज्य जिसको न्यायालय में प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हो। और उससे सम्बद्ध कोई झगड़ा न्यायालय के समक्ष विचाराधीन हो तो उसे देश के न्यायाधीशों को भी न्यायालय की कार्रवाई में भाग लेने लिए आमन्त्रित किया जा सकता है। उनसे सलाह ली जा सकती है, पर निर्णय में उनका कोई हाथ नहीं होगा।

क्षेत्राधिकार—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार विश्वव्यापी है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य इसके क्षेत्राधिकार में आते हैं। गैर सदस्य-राज्य भी यदि वे न्यायालय का प्रयोग करना चाहें तो कर सकते हैं। सदस्य-राज्य द्वारा रखे गये प्रत्येक कानून और न्यायिक प्रश्न पर विचार करना न्यायालय का पहला काम है। सदस्य राज्यों को अधिकार है कि वे किसी राज्य के साथ अपने झगड़ों को न्यायालय के सामने निर्णय के लिए उपस्थित कर सकें। यह विवाद अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों-समझौतों तथा परम्पराओं से सम्बद्ध भी हो सकता है। पर हर मामले में न्यायालय का क्षेत्राधिकार अनिवार्य नहीं है। वैसे ही मामलों में न्यायालय का क्षेत्राधिकार अनिवार्य होता है जिसको झगड़ों से सम्बद्ध राज्य ऐसा मान लेता है। यह व्यवस्था अन्तराष्ट्रीय न्यायालय के संगठन की सबसे बड़ी कमजोरी है।

राज्यों को स्वतन्त्रता है कि वे अल्पकाल या सदा के लिए अपने मामलों का निर्णय इस न्यायालय से कराने का निश्चय करें। पर एक बार ऐसा निर्णय कर लेने के बाद ऐसे राज्यों के मामले स्वतः इस न्यायालय के विचाराधीन हो जाते हैं। इसके बाद यदि कोई राज्य अपने किसी मामले को न्यायालय के कार्यक्रम से हटाना चाहे तो उसको यह बतलाना पड़ता है कि अमुक विवाद न्यायालय के क्षेत्राधिकार में नहीं है।

यदि किसी दो राज्य में सन्धि की व्याख्या को लेकर कोई वाद-विवाद उपस्थित हो गया हो और वे यदि इसकी उचित व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से कराने के लिए सहमत हों तो न्यायालय को उस प्रकार के किसी सन्धि की व्याख्या करने का अधिकार है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विविध अंगों को परामर्श देना अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का दूसरा प्रमुख कार्य है। साधारण सभा और सुरक्षा-परिषद् किसी भी वैधानिक मामले पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायायल से परामर्श ले सकती है। पर, न्यायालय के परामर्श को मानने के लिए ये बाध्य नहीं है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंग (जैसे आर्थिक और सामाजिक परिषद्) भी न्यायालय से किसी वैधानिक विषय पर परामर्श ले सकते हैं।

सचिवालय
(Secretariat)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों के सम्पादन के लिए एक सचिवालय को स्थापना की गयी है। चार्टर के पन्द्रहवें अध्याय में धारा ९७ से १०१ तक इसके संगठन का वर्णन है। इसका संगठन प्रायः वैसा ही है जैसा राष्ट्रसंघ के सचिवालय का था। सचिवालय में सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर साधारण सभा द्वारा नियुक्ति किया गया एक महासचिव और उतने पदाधिकारी होते हैं जितने इस संस्था के लिए आवश्यक समझे जायँ। महासचिव सचिवालय की सहायता से अपना सारा कार्य करता है। यदि हम राष्ट्रसंघ को सचिवालय से वर्तमान सचिवालय की तुलना करते हैं तो एक महत्त्वपूर्ण अन्तर मिलेगा और यह अन्तर महासचिव के कार्य और अधिकारों से सम्बन्धित है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत महासचिव को कुछ ऐसे अधिकार मिले हैं और उनमें कुछ ऐसे कर्त्तव्यों का पालन करना है जिनका पुराने राष्ट्रसंघ में सर्वथा अभाव था। चार्टर के अनुसार महासचिव के निम्नलिखित कार्य हैं :

(१) यदि महासचिव यह समझे कि किसी मामले के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा खतरे में पड़ सकता है तो वह सुरक्षा परिषद् का ध्यान इस ओर आकृष्ट कर सकता है।

यह महासचिव का सबसे बड़ा अधिकार है। इस तरह का कोई अधिकार राष्ट्रसंघ के महासचिव को न था। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ का महासचिव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यक्तिगत दिलचस्पी लेकर विश्व-शांति कायम रखने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

(२) महासचिव प्रति वर्ष संयुक्त राष्ट्रसंघ में कार्यों के सम्बन्ध के साधारण सभा को वार्षिक रिपोर्ट देता है।

(३) संयुक्त राष्ट्रसंघ के विभिन्न अंग उसे जो काम सौंपते हैं, उन्हें पूरा करता है।

(४) महासचिव संघ के पदाधिकारियों की नियुक्ति साधारण सभा द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार करता है। इन नियुक्तियों के समय उनकी कार्य निपुणता, योग्यता और ईमानदारी पर ध्यान दिया जाता है। इस पर भी ध्यान दिया जाता है कि जहाँ तक हो सके विश्व के विभिन्न देशों के कर्मचारी भर्त्ती किए जा सकें ताकि अधिकाधिक देशों को सचिवालय सेवाओं में प्रतिनिधित्व मिल सके। अपने कर्त्तव्य का पालन करते समय महासचिव और उनके स्टाफ से अपेक्षित है कि वे किसी भी सरकार अथवा संयुक्त राष्ट्र के बाहर किसी अन्य सत्ता से न तो आदेश ही प्राप्त करेंगे और न उनसे माँगेंगे। उनसे अपेक्षित है कि वे कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेंगे जिससे यह प्रतीत हो कि उनके काम पर किसी प्रकार का बाह्य प्रभाव है। उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारी के रूप में काम करना होता है लेकिन कई बार इस आदर्श के विपरीत काम हुआ है। कुछ वर्ष पहले कम्युनिस्ट विरोधी आन्दोलन बहुत उग्र होने पर संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने प्रभाव का प्रयोग करते हुए महासचिव की सहायता से संघ में कार्य करने वाले किन्तु कम्युस्टि प्रवृत्ति वाले कुछ अमरीकियों को सचिवालय से निष्कासित करा दिया था। संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों ने तय किया है कि वे इस बात का आदर करेंगे कि सचिवालय उत्तदायित्व पूर्ण रूप से अन्तर्राष्ट्रीय होगा और वे उन दायित्वों के निर्वाह में कर्मोंचारिय पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं डालेंगे।

महासचिव की स्थिति—संयुक्त राष्ट्रसंघ में महासचिव के पद पर अभी तक तीन व्यक्तियों की नियुक्ति हुई है। १ फरवरी, १९४६ को नार्वे के त्रिग्वेली (Trygve Lie) पाँच वर्ष के लिए महासचिव के पद पर नियुक्त किये गये थे। एक नवम्बर १९५० को उनका कार्यकाल तीन वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। १० नवम्बर, १९५२ को उन्होंने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। १० अप्रिल, १९५३ को स्वेडेन के डाग हैमरशोल्ड (Dag Hammarskjoeld) को उनके स्थान पर महासचिव नियुक्त किया गया। २६ सितम्बर, १९५७ को हैमरशोल्ड को १० अप्रिल, १९५८ से शुरू होने वाले पाँच वर्ष के लिए फिर से नियुक्त किया गया था। लेकिन १८ सितम्बर, १९६१ को हवाई दुर्घटना से उनकी मृत्यु हो गयी। उनके स्थान पर वर्मा के यूथान्त (U Thant) को कार्यवाहक महासचिव नियुक्त किया गया। बाद में उनकी नियुक्ति पाँच वर्ष की पूरी अवधि तक कर दी गयी।

अक्टूबर १९६६ में महासचिव यूथान्त का कार्यकाल पूरा हो रहा था। अगले वर्षों के लिए यह पद किसको दिया जाय यह एक कठिन समस्या थी। विश्व की विषम परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए यूथान्त ने निश्चय किया कि वे पुनः इस पद के लिए उम्मीदवार नहीं होंगे। लेकिन चारों ओर से सभी देशों ने मिलकर अनुरोध किया कि वे दूसरे कार्यकाल को स्वीकार

कर लें। यूथान्त को विश्व जनमत के समक्ष झुकना पड़ा और वे सर्वसम्मत्ति से पुनः संघ के महासचिव चुन लिए गये।

सचिवालय में महासचिव के पद बड़े महत्त्व का है। उसे केवल प्रशासनिक कार्य ही नही वरन् राजनीतिक कार्य भी करने पड़ते हैं। वह शान्ति पर खतरा की स्थिति पर सुरक्षा-परिषद् का ध्यान आकृष्ट करा सकता है।

राजनीतिक मामलों में महासचिव कितनी बड़ी भूमिका अदा कर सकता है, यह एक दो-तीन उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा। १९५० में जब रूस ने यह घोषणा की कि वह राष्ट्रसंघ को कार्यवाहियों में तब तक हिस्सा नही लेगा जब तक चीन की कम्युनिस्ट सरकार को प्रतिनिधित्व प्रदान नही किया जायगा तब राष्ट्रसंघ के समक्ष भयंकर संकट उपस्थित हो गया था। इस समस्या को हल करने के लिए महासचिव त्रिग्वीली ने पर्याप्त प्रयास किया और बड़े देशों के प्रधानों के साथ बातचीत करने के लिए करीब-करीब आधे विश्व की यात्रा की। उन्होने सदस्य-राज्यों से अपीलें कीं और समझौते के लिए योजनाएँ प्रस्तुत की। १९५० में भी जब कोरिया के सम्बन्ध में विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलाई गयी तो महासचिव त्रिग्वीली ने ही इस समस्या पर सर्वप्रथम प्रकाश डाला और उत्तरी कोरिया के विरुद्ध कार्यवाही करने की अपील की। उसके बाद जब परिषद् ने उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैन्य कार्यवाही करने की छूट दे दी तो उन सैन्य कार्यवाहियों के लिए सदस्य राज्यों का सहयोग हासिल करने और उसमें समन्वय स्थापित करने की जिम्मेदारी महासचिव को ही उठानी पड़ी।

इसी तरह कांगो में छिड़े गृह-युद्ध के समय भी महासचिव को बहुत बड़ी जिम्मेवारी का निर्वाह करना पड़ा। वहाँ गृह-युद्ध समाप्त करके शान्ति स्थापना की जिम्मेवारी संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अपने ऊपर ली। कांगो में राष्ट्रसंघ की सेना भेजी गयी जहाँ उसे भयंकर युद्ध करने पड़े। महासचिव हैमरशोल्ड ने इस सैनिक अभियान का निर्देशन किया और अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए उन्हें कई बार कांगो जाना पड़ा। इसी क्रम में उनकी मृत्यु भी हो गयी। इससे स्पष्ट है कि महासचिव पर कितनी बड़ी जिम्मेवारियाँ हैं तथा कैसी विकट परिस्थितियों में अपने दायित्वों को पूरा करना पड़ता है।

महासचिव की राजनीतिक जिम्मेवारियों का ताजा मिशाल प्रस्तुत करता है १९६५ में भारत-पाकिस्तान के युद्ध में उसका पार्ट। जब सितम्बर, १९६५ में दोनों देशों में युद्ध छिड़ा तो उनमें युद्ध बन्द करवाने के लिए महासचिव ने अनेक प्रयास किये। वस्तुतः भारत और पाकिस्तान के बीच लड़ाई बन्द कराने में महासचिव का पार्ट बहुत महत्त्वपूर्ण था।

महासचिव को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के अनेक मौके मिलते हैं। विभिन्न देशों के प्रतिनिधिमण्डल के साथ उसका सम्पर्क बरावर रहता है। इसलिए वह संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकारों को प्रभावित करने की स्थिति में होता है। उसे यह स्वतन्त्रता होती है कि वह सदस्य-राज्यों के विदेश मन्त्रालय में जा सके और स्वतन्त्रतापूर्वक सलाह मशविरा कर सके। महासचिव सार्वजनिक भाषण भी दे सकता है। इस कारण वह विश्व के जनमत को प्रभावित कर सकता है। वह अपनी रिपोर्टों में इस तरह की सिफारिश भी कर सकता है कि संगठन को कौन-सी नीति या कार्यक्रम अपनाना चाहिए

सचिवालय में सुधार की रूसी योजना—संयुक्त राष्ट्रसंघ में महासचिव के पद का जो महत्त्व है उसे देखते हुए यदि उसमें चुनाव का प्रश्न पर कठिनाइयाँ उपस्थित करे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्रथम बार तो महासचिव के चुनाव में कोई दिक्कत नहीं हुई। लेकिन १९५० में जब त्रिग्वीली के फिर चुने जाने का प्रस्ताव आया तो रूस ने उसका विरोध किया। अमेरिका ने इस गतिरोध को दूर करने लिए यह प्रस्ताव रखा कि उनके कार्यकाल की अवधि, जो पाँच वर्षों की थी, बढ़ा दी जाय। साधारण सभा ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, लेकिन इस निर्णय के कारण भयंकर कटुता उत्पन्न हो गयी। त्रिग्वीली के बाद समझौते द्वारा हैमरशोल्ड महासचिव बनाये गये। पर रूस उनसे भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। सितम्बर १९६० में संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में भाषण करते हुए रूस के प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने कहा कि संघ के महासचिव "एकाधिकारवादी पूँजीवादियों के चाकर हैं और पश्चिमी शक्तियाँ महासचिव के पद का अपने स्वार्थों के लिए लाभ उठाती हैं। महासचिव डाग हैमरशोल्ड ने कांगो के संकट का सामना करने के लिए क्रियान्वित किये जाने वाले उपायों में पक्षपात का प्रदर्शन किया है और उसने उपनिवेशवादियों तथा इनका समर्थन करने वाले देशों का साथ दिया है। अतः यह न्यायपूर्ण एवं उचित होगा कि महासचिव के पद पर एक व्यक्ति को न रखा जाय, किन्तु तीन व्यक्तियों को रखा जाय, एक व्यक्ति पश्चिमी राज्यों का प्रतिनिधि हो दूसरा कम्युनिष्ट देशों का तथा तीसरा तटस्थ देशों का। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान कार्यालय का स्थान संयुक्त राज्य अमरीका में होने से बड़ी असुविधाएँ होती हैं। इसे किसी ऐसे स्थान में ले जाया जाना चाहिए, जहाँ इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का कार्य अधिक क्षमता के साथ हो सके। स्विट्जरलैंड या आस्ट्रिया ऐसे स्थान हो सकते हैं। यदि इसका मुख्य कार्यालय सोवियत यूनियन में रखा जाना उचित समझा जाय तो हम इस बात का वचन देते हैं कि इसके कार्य के लिए सर्वोत्तम परिस्थितियाँ उत्पन्न की जायँगी।"

इस प्रकार सोवियत संघ ने सचिवालय के नये सिरे से संगठन की माँग की। लेकिन इस प्रस्ताव का पूरे जोश के साथ कहीं से समर्थन नहीं मिला। इस प्रस्ताव में कई कठिनाइयाँ थीं। यदि महासचिव का पद तीन विभिन्न प्रवृत्तियों के व्यक्तियों में बाँट दिया जाता तो संयुक्त राष्ट्रसंघ में पूरा गतिरोध पैदा हो जाता और उसका सारा काम ठप्प पड़ जाता। अतएव यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया गया। कांगो के मामले को लेकर रूस ने हैमरशोल्ड पर सार्वजनिक रूप से अनेक आरोप लगाये तथा दोषारोपण किये। इससे इस्तीफा देने की माँग भी की गयी। लेकिन हैमरशोल्ड इन आरोपों से जरा भी विचलित नहीं हुए और कांगो में बड़ी दृढ़ता और ईमानदारी से अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करते रहे। इसी क्रम में विमान दुर्घटना से उनकी मृत्यु हो गयी।

चार्टर के संशोधन की समस्या

चार्टर में किसी भी संशोधन के स्वीकृत होने के लिए साधारण सभा का दो तिहाई बहुमत होना तथा सुरक्षा परिषद् का सात सदस्यों का बहुमत होना चाहिए। इन सात सदस्यों में पाँच स्थायी सदस्यों की सहमति आवश्यक है। धारा १०६ में कहा गया है कि जब कभी चार्टर के संशोधन की आवश्यकता हो तो इसके लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों का एक सम्मेलन किया जायगा। इसके लागू होने के दसवें वर्ष में ऐसा सम्मेलन करने का प्रस्ताव साधारण सभा में पेश किया जा सकता है। यदि इस सम्मेलन ने कोई संशोधन का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया तो उसको लागू होने के लिए साधारण सभा के दो-तिहाई बहुमत तथा स्थायी सदस्यों सहित सुरक्षा परिषद् के सात वोटों का समर्थन आवश्यक होगा।

इस तरह का कोई सम्मेलन अभी तक नहीं हुआ है और न निकट भविष्य में होने की सम्भावना ही है। ३ जून, १६५७ को साधारण सभा में इस विषय पर एक प्रस्ताव पास हुआ और सम्मेलन के बुलाये जाने को १६५६ तक स्थगित कर दिया गया। चार्टर में कोई महत्त्वपूर्ण सुधार तबतक नहीं हो सकता जबतक शक्ति गुटों के संघर्ष की उग्रता में कमी नहीं आती। इसका कारण यह है कि चार्टर में कोई भी संशोधन तभी क्रियान्वित हो सकता है जब संयुक्त राष्ट्रसंघ के दो तिहाई सदस्यों का बहुमत तथा सुरक्षा परिषद् के पाँचों स्थायी सदस्य, अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और कोमिन्तांग चीन तथा रूस चाहते हैं। किन्तु पहली चार शक्तियाँ जो परिवर्तन करना चाहेंगी, उन्हें सोवियत यूनियन नहीं स्वीकार करेगा और रूस के उपर्युक्त प्रस्ताव पहली चार शक्तियों को मान्य नहीं हैं। इन पाँचों शक्तियों में इस विषय में कोई समझौता होना बहुत कठिन है।

इस कठिनाई के बावजूद चार्टर में संशोधन की माँग दिनों-दिन बढ़ती ही गयी है। लेकिन संघ के जन्म के पाँच वर्षों के अन्दर किसी संशोधन के विषय में सोचना ही व्यर्थ था। उस काल में शीत-युद्ध का चरम विकास हो चुका था। फिर भी इस काल में व्याख्या के द्वारा चार्टर के मूल स्वरूप में एक-दो परिवर्तन अवश्य हुए। उदाहरण के लिए उस समय एक बात को लेकर बड़ा मतभेद था। यह कहना बड़ा कठिन था कि यदि सुरक्षा परिषद् की बैठक में कोई स्थायी सदस्य अनुपस्थित रहे अथवा उपस्थित रहकर भी मतदान में किसी तरह भाग नहीं ले तो उसे निषेधाधिकार का प्रयोग माना जायगा या नहीं। शुरू में इस सम्बन्ध में यह धारणा थी कि इसे "वीटो" का प्रयोग ही मानना चाहिए। लेकिन १६५० के कोरिया-युद्ध के समय इस प्रश्न का हल निकाल दिया गया। उस समय सोवियत संघ सुरक्षा परिषद् का बहिष्कार कर रहा था। उसकी अनुपस्थिति में परिषद् ने कई प्रस्ताव पास किये। बाद में जब सोवियत संघ परिषद् की कार्यवाही में भाग लेने लगा तो उसने यह कहा कि अनुपस्थिति में जो प्रस्ताव पास हुए हैं वे सब अवैध हैं क्योंकि उन प्रस्तावों को एक स्थायी सदस्य का समर्थन नहीं मिला है और उन पर रूस का वीटो-प्रयोग मानना चाहिए। लेकिन सुरक्षा परिषद् को यह तर्क मान्य नहीं हुआ। उसने यह निश्चय किया कि स्थायी सदस्यों की अनुपस्थिति अथवा मतदान में भाग नहीं लेना वीटो का प्रयोग नहीं माना जायगा।

चार्टर के स्वरूप में एक महान् परिवर्तन "शान्ति के लिए एकता के प्रस्ताव" से प्राप्त हुआ। पिछले पृष्ठों में हम बतला चुके हैं की किस तरह इस प्रस्ताव ने साधारण सभा को सुरक्षा

परिषद् से भी अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था बना दिया है। इस तरह केवल व्याख्या के आधार पर ही चार्टर में दो परिवर्तन हो चुके हैं।

सोवियत संघ चार्टर के संशोधन का बराबर से विरोध करता आ रहा है। फिर भी, १९६० में उसने संशोधन के लिए कई प्रस्ताव रखे। २८ सितम्बर, १९६० को सोवियत प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव ने न्यूयार्क में यह घोषणा की कि अब चार्टर में संशोधन करना बड़ा आवश्यक है। इसका निर्माण तब हुआ था जब संयुक्त राज्य अमेरिका सबसे शक्तिशाली देश था और साम्यवादी गुट इतना बड़ा नही हुआ था जितना अब है। अफ्रिका तथा एशिया के उपनिवेश स्वतन्त्र नहीं हुए थे। अब इन सारे परिवर्तनों के अनुरूप संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन में परिवर्तन होना चाहिए।

संशोधन के सम्बन्ध में रूस की मुख्य माँगे चार थीं: (१) संयुक्त राष्ट्रसंघ की परिषदों से संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभुत्व कम किया जाय, इनमें अफ्रिका तथा एशिया के देशों का अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाय। (२) संघ में साम्यवादी चीन को स्थान दिया जाय। (३) संघ के महासचिव का पद तीन व्यक्तियों में बाँट दिया जाय। (४) संघ का प्रधान कार्यालय अमेरिका से हटा कर किसी दूसरे देश में ले जाया जाय।

लेकिन सोवियत रूस के इस प्रस्ताव को समर्थन नहीं मिल सका और संशोधन की बात वहीं तक रह गयी।

प्रथम संशोधन—जिस समय संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई थी, उस समय इसके सदस्यों की संख्या केवल ५१ थी। अब यह संख्या १२४ हो गयी है। इसके आरम्भिक ५१ सदस्यो में २२ अमरीकी महादेशों के, १४ यूरोप के, ९ एशिया के और अफ्रिका के केवल ४ सदस्य थे। बाद में अमरीकी महादेशो के सदस्यो में तो कोई वृद्धि नहीं हुई किन्तु यूरोप के सदस्य बढ़कर २७ हो गये। १९५८ में एशिया के सदस्यो की संख्या २३ हो गयी। १९६० में अफ्रिका के १४ नये सदस्य बने। उसके बाद अफ्रिकी देशो की संख्या निरतन्र बढ़ती रही और अब अफ्रिका और एशिया के देश बहुसंख्यक हो गये हैं। सुरक्षा परिषद् की कुल सदस्य संख्या ११ थी। इन सीटों का बँटवारा इस ढंग से होता था कि एशिया और अफ्रिका के देशों को दो से अधिक सीट का मिलना मुश्किल था, यद्यपि वे अब संघ में बहुसंख्यक हो गये थे। परिषद् के स्थायी सदस्यों में भी एशिया और अफ्रिका का कोई प्रतिनिधित्व नहीं है। एशिया का एक देश चीन सुरक्षा परिषद् का अस्थायी सदस्य अवश्य है, किन्तु वह च्यांग काई शेक का फारमोसा वाला चीन है, जिसका चीन की मुख्य भूमि में कोई प्रभुत्व नहीं है। इस हालत में १९५१ के बाद चार्टर के संशोधन की माँग ने उग्र रूप धारण कर लिया। अक्टूबर १९५९ में संयुक्त राष्ट्र-संघ की राजनीतिक समिति में सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि करने के प्रश्न पर विचार किया गया। कहा गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्य संख्या निरन्तर बढ़ रही है लेकिन उसके प्रमुख अंगों के सगठन में कोई विकास नही हुआ है। इनमें एशिया और अफ्रिका के देशो का प्रतिनिधित्व नाम-मात्र का है। इस त्रुटि को दूर करना आवश्यक है।

अतएव १९६३ में साधारण सभा ने चार्टर के संशोधन के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार सुरक्षा परिषद् की सदस्य-संख्या १[illegible] बढ़कर १५ तथा आर्थिक सामाजिक परिषद

की संख्या १८ से २७ करने की सिफारिश की गयी थी। ३१ अगस्त, १९६५ तक संघ के सदस्यों ने इस संशोधन का अनुमोदन कर दिया और इस प्रकार चार्टर में पहला संशोधन क्रियान्वित हुआ १ जनवरी, १९६६ को नये सदस्य अपनी जगह पर आ गये। साधारण सभा के प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि सुरक्षा परिषद् के १० अस्थायी सीटों में ५ सीटें एशिया और अफ्रिका के देशों को मिलेगा। इसी तरह का बँटवारा आर्थिक और सामाजिक परिषद् के सम्बन्ध में भी किया गया।

१९६७ के अरब इजरायल युद्ध के सन्दर्भ में चार्टर का अनौपचारिक संशोधन—१९६७ में हुए अरब-इजरायल युद्ध ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन को परोक्ष रूप से प्रभावित किया और इसके फलस्वरूप अनौपचारिक ढंग से चार्टर द्वारा स्थापित व्यवस्था में एक संशोधन हुआ। अरब इजरायल युद्ध छिड़ते ही सुरक्षा परिषद् ने इस पर विचार करना शुरू किया और उसने कई प्रस्ताव भी स्वीकार किये। लेकिन सोवियत संघ सुरक्षा परिषद् की कार्रवाइयों से सन्तुष्ट नहीं था। अतः शान्ति के लिए एकता के प्रस्ताव के अन्तर्गत उसने साधारण सभा की बैठक की माँग की।

चार्टर में यह व्यवस्था है कि यदि कोई समस्या सुरक्षा परिषद् में प्रस्तुत है तो परिषद् की राय के बिना साधारण सभा में उस पर बहस नहीं हो सकता है। शान्ति के लिए एकता के प्रस्ताव के अन्तर्गत वह प्रश्न साधारण सभा में तभी जा सकता है जब वीटो के प्रयोग के कारण सुरक्षा परिषद् कुछ करने में असमर्थ हो जाय। अरब-इजरायल युद्ध के समय सुरक्षा परिषद् में कोई गतिरोध उत्पन्न नहीं हुआ और न कभी वीटो का ही प्रयोग हुआ। इस हालत में सोवियत संघ की मांग पर साधारण सभा की बैठक नहीं होनी चाहिए थी, अतएव साधारण सभा के लिए जब सोवियत संघ का सुझाव आया तो कुछ क्षेत्रों में इसका विरोध किया गया। यह कहा गया कि इस परिस्थिति में साधारण सभा की बैठक को बुलाना चार्टर के दृष्टिकोण से असंवैधानिक होगा। लेकिन अमेरिका ने इसका विरोध नहीं किया और चार्टर के प्रावधान पर ख्याल किये बिना १८ जून, १९६७ को साधारण सभा का विशेष अधिवेशन बुलाकर एक नयी परम्परा कायम की गयी। इस परम्परा के आधार पर ऐसी परिस्थिति में साधारण सभा की बैठक भविष्य में भी बुलायी जा सकती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चार्टर में अनौपचारिक ढंग से एक और संशोधन हो गया है।

चार्टर की त्रुटियाँ और उनको दूर करने के उपाय—यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में एक महत्त्वपूर्ण संशोधन हो गया है, फिर भी उसमें कई त्रुटियाँ अभी भी मौजूद हैं जिनको दूर करना आवश्यक है।

संवैधानिक व्याख्या की समस्या—चार्टर की एक बहुत बड़ी त्रुटि अधिकारिक संवैधानिक व्याख्या (authoritative constitutional interpretation) की व्यवस्था का अभाव है। जिस तरह प्रत्येक कानून की व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है, उसी तरह चार्टर की संवैधानिक व्याख्या की आवश्यकता भी निरन्तर पड़ती रहती है। प्रश्न उठता है कि इस तरह की व्यवस्था की आवश्यकता का अधिकार किसको है और यह व्याख्या किस आधार पर होना चाहिए। इस सम्बन्ध में चार्टर मौन है। पुराने राष्ट्रसंघ के विधान में भी यह त्रुटि थी। इसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रश्न को भविष्य के लिए खुला छोड़ दिया गया था। लेकिन बाद में इसको लेकर कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं। उदाहरण के लिए चार्टर की एक धारा में यह व्य

है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी भी सार्वभौम राष्ट्र के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। घरेलू क्षेत्र के इस विधान ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाहियों का क्षेत्र बहुत सीमित कर दिया है। पुराने राष्ट्रसंघ में भी इस तरह की व्यवस्था थी, लेकिन यह निर्णय करने का अधिकार कौंसिल को दिया गया था कि कौन से मामले घरलू मामले समझे जायँ। कोई भी राष्ट्र स्वयं निर्णय नहीं कर सकता था कि कौन-सा मामला उसका घरेलू मामला है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में ऐसी कोई व्यवस्था नही रखी गयी है जिससे संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी भी अंग को यह निर्णय करने का अधिकार स्पष्ट रूप से प्राप्त हो। इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि राष्ट्रों को स्वयं यह निर्णय करने का अधिकार है कि कौन-सा मामला उनका घरेलू मामला है और इस तरह के चार्टर की व्यवस्थाओं की व्याख्या करने के लिए स्वतन्त्र है।

इसका परिणाम बड़ा बुरा हुआ है। दक्षिण अफ्रिका में प्रवासी भारतीयों के साथ बुरा व्यवहार होता है। उसके प्रतिकार के लिए भारत ने जब कभी संयुक्त राष्ट्रसंघ में यह प्रश्न उठाया है तब दक्षिण अफ्रिका ने इसी आधार पर भारतीय प्रस्ताव का विरोध किया यह उसका घरेलू मामला है। घरेलू मामले के नाम पर कई बार संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही रोकने का प्रयत्न किया गया है। अतएव संघ को शक्तिशाली बनाने के लिए इसका समुचित संविधान होना चाहिए। संवैधानिक व्याख्या की समस्या का समुचित समाधान करके इस त्रुटि को दूर किया जा सकता है। चूँकि चार्टर में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की व्यवस्था है और उसे राष्ट्रसंघ की मुख्य न्यायिक अंग की संज्ञा दी गयी है, इसलिए संवैधानिक व्याख्या करने का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को ही स्पष्ट रूप से मिलना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को शक्तिशाली बनाना परम आवश्यक है।

सदस्यता की समस्या—अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जो प्रमुख और मौलिक संवैधानिक समस्याएँ उत्पन्न करता है उसमें सदस्यता की समस्या विशेष महत्त्व रखती है। किसी भी संगठन की सदस्यता सम्बन्धी नीति, उसके उद्देश्य, लक्ष्य और प्रभावकारिता को प्रकट करती है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सदस्यता विश्व के सभी देशों के लिए खुली हुई न हो तो संगठन विश्व-व्यापी नहीं बन सकेगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की चौथी धारा में सदस्यता के लिए दो शर्तें रखी गयी हैं। पहली शर्त यह है कि सदस्यता के इच्छुक आवेदक राज्य शान्ति प्रेमी होना तथा चार्टर में दिये गये दायित्वों को पूरा करने की इच्छा और योग्यता होनी चाहिए। अब यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि कौन-सा देश शान्ति प्रेमी और कौन-सा जंगखोर है। इसकी दूसरी शर्त सुरक्षा परिषद् द्वारा सिफारिश तथा साधारण सभा का निर्णय है। इस शर्त के कारण सदस्यता को लेकर संघ के अन्दर कई विवाद उठे हैं। सुरक्षा परिषद् तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ में सोवियत रूस तथा पश्चिमी राज्य अपनी स्थिति सुदृढ़ करके अपने विरोधी राज्यों के प्रवेश का विरोध करते रहे और इस पर कई बार वीटो का प्रयोग किया गया। सोवियत रूस ने इटली, पुर्तगाल, जापान, आयर, फिनलैंड आदि देशों के संघ में प्रवेश का घोर विरोध किया, क्योंकि वह इन राज्यों को अमेरिका का समर्थक समझता था। इसी तरह अमेरिका ने भी कम्युनिस्ट गुट के राज्यों के प्रवेश का विरोध किया।

चीन की सदस्यता के प्रश्न ने कई संवैधानिक समस्याएँ उत्पन्न कर दी और वह इस बात का एक अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण है कि सदस्यता के सवाल को किस प्रकार से राजनैतिक

सवाल बना दिया गया है। अमेरिका ने चीन की कम्युनिस्ट सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की है और फारमोसा को सरकार को ही चीन की कानूनी सरकार मानता है। इस आधार पर उसने अपने बहुमत के बल पर चीन की कम्युनिस्ट सरकार को संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं करने दिया।

चीन के एक सवाल ने एक और उलझन भी पैदा कर दी है। ब्रिटेन तथा कुछ अन्य राज्य ऐसे हैं जिन्होंने चीन की कम्युनिस्ट सरकार को मान्यता तो प्रदान की है लेकिन वे राष्ट्रसंघ में उसे प्रतिनिधित्व देने का विरोध करते हैं। इस तरह मान्यता और प्रतिनिधित्व को भी दो अलग-अलग चीजें मान लिया गया है। असल में इसका परिणाम यह हो सकता है कि मान्यता तो एक सरकार को दी जाय और राष्ट्रसंघ में प्रतिनिधित्व किसी दूसरी सरकार को, जैसा कि चीन के मामले में हुआ।

उपयु`क्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों द्वारा सदस्यता के प्रश्न पर सदैव संवैधानिक दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाता है। इससे संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्दर दोनों गुटों के बीच भयंकर कटुता उत्पन्न हुई है और संघ में सब देशों का प्रतिनिधित्व भी नहीं हो रहा है। अतएव यह आवश्यक है कि चार्टर में संशोधन हो। कम-से-कम सदस्यता के लिए सुरक्षा परिषद् की सिफारिश की शर्त को ही हटा देना चाहिए।

सुरक्षा परिषद् में मतदान की दोषपूर्ण व्यवस्था—चार्टर की सताइसवी धारा में सुरक्षा-परिषद् में मतदान की व्यवस्था में "प्रक्रिया सम्बन्धी" (Procedural matters) तथा "अन्य सभी विषय" (on all other matters) शब्दों का प्रयोग है। अब प्रश्न यह उठता है कि कौन से मामले "प्रक्रिया सम्बन्धी" (Procedural) माने जायें और कौन कौन-से नहीं, यानी किन मामलो में बडे राष्ट्रो (स्थायी सदस्यों) द्वारा निषेधाधिकार का प्रयोग करने का अधिकार हो और किन मामलो में नहीं। इसका निर्णय भी सुरक्षा परिषद् स्वयं ही करती है और इन निर्णयों के लिए भी पाँचो बडे राष्ट्रों की सहमति आवश्यक होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कोई बड़ा राष्ट्र सुरक्षा परिषद् को किसी भी मामले में फैसला कराने से रोकना चाहता है तो अपने निषेधाधिकार द्वारा उसे गैर-पद्धति (Non procedural) घोषित करा सकता है और उसके बाद निषेधाधिकार का दुबारा प्रयोग करके निर्णय तथा कार्यवाही को रोक सकता है। फलतः सुरक्षा परिषद् केवल ऐसे मामलों पर विचार कर सकती है और निर्णय कर सकती है अथवा केवल ऐसी कार्यवाही कर सकती है; जिसे पाँचो बड़े राष्ट्रो की सहमति प्राप्त हो। यह व्यवस्था अत्यन्त अनिश्चित और अस्पष्ट है। इसकी अस्पष्टता से ही वीटो का बहुत अधिक प्रयोग हुआ। अतएव वीटो के प्रयोग को कम करने के लिए इस व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन करके उन्हें अधिक स्पष्ट बनाना जरूरी है।

क्षेत्रीय संगठन की समस्या—चार्टर की ५१ वीं और ५२ वी धाराओं में संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा सदस्य-राज्यों को प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय संगठन बनाने की अनुमति दी गयी है। जिस समय चार्टर की रचना हो रही थी उसी समय कुछ महाशक्तियो द्वारा इस बात पर जोर दिया जा रहा था कि क्षेत्रीय संगठन बनाने के लिए छूट रहनी चाहिए, उस समय भी यह समस्या बिलकुल स्पष्ट थी कि क्षेत्रीय संगठनों पर केन्द्रीय नियन्त्रण रखा जाना कठिन साबित हो सकता है और इन गुटों की प्रतिस्पर्धा विश्व सुरक्षा के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। लेकिन राज-

नैतिक दबाव के कारण क्षेत्रीय संगठन के लिए छूट देनी पड़ी। चार्टर में यह व्यवस्था की गयी कि मौजूदा क्षेत्रीय संगठन कायम रह सकते हैं और भविष्य में भी क्षेत्रीय संगठन बनाये जा सकते हैं। लेकिन उसके साथ-ही-साथ यह व्यवस्था की गयी कि ये क्षेत्रीय संगठन संयुक्त राष्ट्रसंघ के सहायक के रूप में हों और केन्द्रीय संगठन का इन क्षेत्रीय संगठनों के ऊपर पर्याप्त नियन्त्रण रहे।

क्षेत्रीय संगठनों के लिए छूट इसलिए दी गयी ताकि स्थानीय तथा क्षेत्रीय विवादों का निपटारा इन संगठनों के माध्यम से हो सके। ऐसे विवादों के निपटारे के लिए सुरक्षा परिषद् उन्हें इस्तेमाल कर सके और स्थानीय विवादों को सुरक्षा-परिषद् में लाने की आवश्यकता कम पड़ा करे। चार्टर में यह व्यवस्था की गयी कि यदि सुरक्षा परिषद् उचित समझे तो वह अपने निर्णयों को भी इन संगठनों के माध्यम से क्रियान्वित करा सकती है। इस प्रकार यह कोशिश की गयी है कि क्षेत्रीय संगठन विश्व-संगठन से ज्यादा महत्त्व ग्रहण न कर सकें और उसके नियन्त्रण में रहें। पर वस्तु स्थिति यह है कि क्षेत्रीय संगठनों ने स्वतन्त्र सत्ता के रूप में दिनों-दिन अधिकाधिक महत्त्व ग्रहण कर लिया है। उन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ के नियन्त्रण में चलने की कोशिश नहीं की। उनके अस्तित्व से इस उद्देश्य की पूर्ति भी नहीं हो सकी है कि वे स्थानीय झगड़ों को निपटा दिया करेंगे और इस तरह सुरक्षा परिषद् के काम के बोझ को हल्का करेंगे। इसके अलावा सुरक्षा परिषद् को भी अपने निर्णयों को क्रियान्वित कराने के लिए उन्हें इस्तेमाल करने की कभी कोई आवश्यकता महसूस नहीं हुई। अतः ये क्षेत्रीय संगठन उन उद्देश्यों की पूर्ति कर सकने के योग्य तो साबित नहीं हुए हैं जिन्हें दृष्टिगत रखकर चार्टर में उनके निर्माण की छूट दी गयी थी, लेकिन उनके अस्तित्व से जिन खतरों की आशंका थी वे जरूर उत्पन्न हो गये हैं। क्षेत्रीय गुटों की प्रतिस्पर्धा विश्व-सुरक्षा के लिए एक नयी समस्या बन गयी है। क्षेत्रीय संगठन के नाम पर नेटो, सिआटो आदि कई सैनिक गुट बन गये हैं। इन सैनिक गुटबन्दियों से शीत युद्ध को प्रोत्साहन मिला है और शान्ति की समस्या जटिलतर होती गयी है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि चार्टर में संशोधन किया जाय और यह व्यवस्था हो कि भविष्य में ऐसे सैनिक संगठन नहीं बन सकें। अच्छा होता यदि चार्टर से ५१ वीं और ५२ वीं धाराओं को ही हटा दिया जाता।

संरक्षण व्यवस्था की त्रुटि—उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद शान्ति के भयंकर शत्रु रहे हैं। दो विश्व-युद्ध बहुत हद तक इन्हीं के परिणाम थे। अतएव विश्व को शान्ति के लिए सुरक्षित करने के लिए आवश्यक है कि उपनिवेशवाद का पूरा उन्मूलन हो जाय और संसार के सभी देश पूर्ण स्वतन्त्र हों। लेकिन अभी भी संसार के सभी देश आजाद नहीं हुए हैं। अफ्रिका के कई देशों पर अभी यूरोपीय साम्राज्यवाद का गढ़ बना हुआ है। उपनिवेशवाद की समस्या का सामना करने के लिए ही संयुक्त राष्ट्रसंघ में संरक्षण-व्यवस्था (Trusteeship system) कायम की गयी तथा एक संरक्षण परिषद् का निर्माण हुआ। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था में कई त्रुटियाँ हैं। इससे सम्बन्धित धारा ७६ (ख) बड़ी अस्पष्ट है। इसमें पराधीन देशों को स्वतन्त्र करने की बात कही गयी है। लेकिन इसके लिए कोई अवधि निश्चित नहीं की गयी है। यह गलत है। विभिन्न पराधीन प्रदेशों के विकास का स्तर देखते हुए उनको कितने वर्ष में स्वाधीनता दी जाय, इसका उल्लेख चार्टर में अवश्य होना चाहिए। इसके

अतिरिक्त संरक्षण व्यवस्था सम्बन्धी धारा ७७ (क) का संशोधन इस प्रकार होना चाहिए कि पुराने राष्ट्रसंघ के सभी संरक्षित प्रदेश संयुक्त राष्ट्रसंघ संरक्षण परिषद् का अंग समझे जायँ। दक्षिण अफ्रिकी यूनियन द्वारा दक्षिण-पश्चिम अफ्रिका को संरक्षित प्रदेश नहीं बनाने के दुराग्रह के कारण यह संशोधन आवश्यक है।

राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की तुलना

प्रोफेसर शूमाँ का कथन है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ (U. N. O.) पुराने राष्ट्रसंघ (League of Nations) का परिवर्तित रूप है।[1] यह सत्य है कि कई अंशों में संयुक्त राष्ट्रसंघ पुराने राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है, लेकिन दोनों में बहुत कम का ही मौलिक अन्तर है। दोनों का प्रधान उद्देश्य संसार की रक्षा युद्ध से करना है। दोनों ही प्रभुसत्ता युक्त स्वतन्त्र राज्यों के संघ हैं। दोनों में किसी को सर्वमान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि बनाने का अधिकार नहीं है। दोनों सब विवादों के निर्णय के सर्वोत्तम उपाय परस्पर वार्त्तालाप द्वारा समझौता करना समझते हैं। दोनों के क्षेत्राधिकार राज्य पर हैं, किसी को व्यक्ति से कोई मतलब नहीं है। दोनों में किसी को राज्यों या उनके नागरिकों पर कर लगाने का अधिकार नहीं है। दोनों का काम सदस्य-राज्यों के चन्दा पर निर्भर है। दोनों की सफलता इनकी सत्ता और शक्ति पर नहीं, किन्तु सदस्यों के स्वेच्छापूर्वक दिये सहयोग पर निर्भर है। दोनों के प्रधान साधन प्रेरणा, परामर्श, वार्त्तालाप, वाद-विवाद तथा लोकमत के प्रभाव हैं।

संगठन की दृष्टि से भी दोनों प्रायः एक से हैं। यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ कई विशेष अंगों से युक्त है लेकिन मौलिक रूप से दोनों के मौलिक अंग लगभग एक जैसे हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा, सुरक्षा परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय, राष्ट्रसंघ की एसेम्बली, कौंसिल, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय के प्रतिरूप ही माने जा सकते हैं। सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में भी दोनों की गतिविधियों में मौलिक अन्तर नहीं है।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों संस्थाओं में किसी तरह का अन्तर नहीं है। यदि हम दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो यह प्रतीत होगा कि दोनों में अनेक सादृश्य के बावजूद कई अन्तर भी हैं। कुछ अंशों में संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्थाएँ राष्ट्रसंघ की व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं। इस कारण यह राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ तथा शक्तिशाली संगठन है। इन दोनों के मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं :

(१) राष्ट्रसंघ की स्थापना युद्ध के बाद हुई थी, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म युद्ध के खत्म होने के पहले ही हो चुका था। राष्ट्रसंघ की स्थापना प्रथम विश्व-युद्ध के खत्म होने के बाद पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में की गयी थी। वहीं पर इसके लिए एक राष्ट्रसंघ आयोग की स्थापना हुई जिसने उसके विधान का निर्माण किया। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के समय में वार्ताएँ युद्धकालीन मित्रराष्ट्रीय सम्मेलनों में ही शुरू हो गयी थीं। डम्बर्टन ओक्स तथा सेनफ्रांसिस्को सम्मेलनों में ही इसका प्रारूप और चार्टर तैयार हो गया था।

(२) राष्ट्रसंघ का विधान (Covenant) वर्साय की सन्धि तथा अन्य शान्ति-सन्धियों का अभिन्न अंग था और इसका एक उद्देश्य इन सन्धियों द्वारा स्थापित व्यवस्थाओं को बनाये

---

1. "The United Nations Organisation is the League of Nations in a guise." —Schuman, *International Politics*, p.

रखना था। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान (Charter) का स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह किसी शान्ति सन्धि का अनिवार्य भाग नहीं है।

(३) दोनों के विधान के आकार में भी अन्तर है। राष्ट्रसंघ के विधान (Covenant) में केवल २६ धाराएँ थीं, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में १११ धाराएँ हैं।

(४) दोनों के संगठन में भी कई अन्तर है। राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंग केवल तीन थे : एसेम्बली, कौंसिल और सचिवालय। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान अंग छः हैं। ये हैं साधारण सभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, संरक्षण परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय। आर्थिक और सामाजिक परिषद् एक बिल्कुल नवीन संस्था है। इससे यह स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के ज़िम्मे केवल राजनीतिक काम ही नहीं वरन् आर्थिक, सामाजिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक कार्यों पर भी विशेष बल दिया गया है। इसके अन्तर्गत मानव के कल्याण और उसके व्यक्तित्व के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया है। इस कार्य के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत कई विशिष्ट संस्थाएँ हैं जिनका पुराने राष्ट्रसंघ में अभाव ही था। संयुक्त राष्ट्रसंघ इस भावना पर आधारित है कि युद्ध के कारण पहले मनुष्य के मस्तिक में पैदा होते हैं। अतएव यदि स्थायी शान्ति कायम रखना हो तो पहले मनुष्य को उसकी चिन्ताओं से मुक्त करना होगा।

(५) दोनों के उद्देश्य में भी एक अन्तर प्रतीत होता है। राष्ट्रसंघ का विधान इस वाक्य से शुरू होता है—"अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की प्राप्ति के लिए..."। स्पष्ट है कि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर शान्ति से अधिक बल दिया गया था। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर शुरू में कहता है कि उसका उद्देश्य "भावी सन्तति को युद्ध की विभीषिका से रक्षा करना" है और बाद में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की चर्चा की गयी है। अतएव यह स्पष्ट है कि विश्व-शान्ति पर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विशेष जोर दिया है।

(६) संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में मतदान की प्रणाली पुराने राष्ट्रसंघ की प्रणाली से अधिक अच्छी है। राष्ट्रसंघ की एसेम्बली में मतैक्य का नियम प्रचलित था। उसमें उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यों की सर्वसम्मति (Unanimity) आवश्यक थी। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण विषयों पर किसी प्रस्ताव को पारित होने के लिए दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता है। इस दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्था राष्ट्रसंघ की व्यवस्था से श्रेष्ठ है। पुराने राष्ट्रसंघ में मतैक्य के नियम होने के कारण कोई भी एक सदस्य-राज्य उसके कार्य में बाधा डाल सकता था, लेकिन साधारण सभा में दो-तिहाई बहुमत की व्यवस्था के कारण इस तरह की कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती है। तात्पर्य यह है कि राष्ट्रसंघ में सभी सदस्य-राज्यों को निषेधाधिकार (Veto) का अधिकार प्राप्त था, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ में केवल सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्यों को ही वीटो का अधिकार है।

(७) लेकिन एक दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा राष्ट्रसंघ की एसेम्बली से निर्बल प्रतीत होती है। राष्ट्रसंघ की एसेम्बली में यदि कोई निर्णय हो जाता था तो उसका पालन सभी सदस्य-राज्यों के लिए आवश्यक हो जाता था। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा एक केवल सिफारिश करनेवाली संस्था है। इसका निर्णय मानना या न मानना सदस्य-राज्यों की इच्छा पर निर्भर है।

(८) संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् राष्ट्संघ की कौंमिल से अधिक प्रभावकारी है। यह एक स्थायी संस्था है और हर पखवारे में इसकी बैठक होती है। राष्ट्रसंघ की कौसिल के साथ ऐसी ही बात नहीं थी। उसकी बैठक वर्ष में केवल तीन बार होती थी। यदि कोई आवश्यकता पड़े तो सुरक्षा परिषद् की बैठक विना विलम्ब बुलायी जा सकती है।

(९) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में साधारण सभा और सुरक्षा परिषद् के कार्यों का राष्ट्रसंघ की एसेम्बली तथा कौसिल के कार्यों की अपेक्षा विभाजन अधिक निश्चित और स्पष्ट है। राष्ट्रसंघ में इसका अभाव था जिस कारण वह अत्यन्त दुर्बल संस्था हो गयी थी। चार्टर के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का मुख्य उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् को सौंपा गया है। अतएव सुरक्षा परिषद् का कार्य-क्षेत्र राष्ट्संघ की कौसिल की अपेक्षा सीमित होते हुए भी स्पष्ट है। यद्यपि शान्ति के लिए एकता के प्रस्ताव के कारण साधारण सभा को भी विश्व-शान्ति की रक्षा की जिम्मेवारी मिल गयी है, लेकिन इसका निर्वाह वह तभी करेगी जब सुरक्षा परिषद् में वीटो के प्रयोग के कारण गतिरोध उत्पन्न हो गया हो और शान्ति खतरे में पड़ गयी हो। इस स्थिति में भी साधारण सभा इस पर विवाद, विचार और सिफारिश ही कर सकती है। किसी कार्यवाही को करने का अधिकार केवल परिषद् को ही है। इस कारण सुरक्षा परिषद् राष्ट्संघ की कौंसिल से अधिक शक्तिशाली है।

(१०) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में मनुष्य के भौतिक कल्याण, मानवीय अधिकारों तथा आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। इसके लिए संघ के अन्तर्गत एक विशेष अंग आर्थिक और सामाजिक परिषद् की स्थापना की गयी। इस परिषद् ने मानव-कल्याण के क्षेत्र में बड़े सराहनीय काम किये हैं। राष्ट्रसंघ के विधान मे इस सम्बन्ध में कोई विशेष बल नही दिया गया था।

(११) आत्म रक्षा के अधिकार के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ के विधान में कोई बात स्पष्ट रूप से नहीं कही गयी थी। धारा १५ (७) में इस सम्बन्ध में कुछ बातें थी अवश्य, लेकिन वे अस्पष्ट थी। किन्तु चार्टर की ५१ वी तथा ५२ वी धाराओं में आत्म रक्षा से सम्बन्धित बातें कही गयी हैं जो बहुत ही स्पष्ट हैं। धारा ५१ के द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा कारवाई किये जाने के पहले आक्रमण का शिकार बने राज्यो को आत्म रक्षा के अधिकार का वर्णन बड़े स्पष्ट शब्दों में किया गया है। धारा ५२ के द्वारा शान्ति रक्षा तथा आत्मरक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राज्यो को क्षेत्रीय संगठन बनाने का अधिकार भी दिया गया है। राष्ट्रसंघ के विधान में इस तरह की कोई व्यवस्था नही थी।

(१२) संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण-व्यवस्था (Trusteeship system) राष्ट्रसंघ की संरक्षण-व्यवस्था (mandate system) से बहुत भिन्न, उत्कृष्ट और श्रेष्ठ है। इसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।

(१३) सचिवालय के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ का महासचिव राष्ट्रसंघ के महा सचिव से अधिक शक्तिशाली है। इसका अध्ययन भी हम पहले कर चुके है।

(१४) घरेलू अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में दोनों संगठनों में अन्तर है। चार्टर और राष्ट्रसंघ के विधान दोनो में यह व्यवस्था थी कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सदस्य राज्यों के घरेलू मामलों

में हस्तक्षेप नहीं करेगा। राष्ट्रसंघ में इस विषय का निर्णय कि कौन-सी बात घरेलू मामलों के अन्दर आयेगी सदस्य राज्यों पर नहीं छोड़ा गया था। इसके निर्धारण की जिम्मेवारी कौंसिल पर थी। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत चार्टर के द्वारा यह निश्चय नहीं किया गया है कि घरेलू क्षेत्र का निर्धारण कौन करेगा। उसने प्रत्येक सदस्य को इसका निर्णय करने की स्वतन्त्रता प्रदान की है। इस कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ का कार्य क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया है।

(१५) आक्रमणों तथा शान्तिभंग को रोकने के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ पुराने राष्ट्रसंघ से अधिक शक्तिशाली और प्रभावकारी है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गयी हैं:

आक्रमणकारी देश के विरुद्ध राष्ट्रसंघ मौका पड़ने पर कोई कार्रवाई कर सकता था, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ इससे आगे है। वह आक्रमण होने और आक्रमण की सम्भावना होने पर भी कार्रवाई कर सकता है। राष्ट्रसंघ में आक्रामक देश के विरुद्ध मुख्य रूप से आर्थिक प्रतिबन्धों की व्यवस्था थी, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ में चार्टर द्वारा सुरक्षा परिषद् को शान्ति भंग की समस्या के समाधान के लिए सैनिक कार्रवाई का अधिकार दिया गया है। उसकी सैनिक योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए सैनिक स्टॉफ समिति की स्थापना की गयी है। अतएव संयुक्त राष्ट्रसंघ में आक्रामक के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करने की व्यवस्था राष्ट्रसंघ से अधिक सुदृढ़ है।

आक्रमण को रोकने की कार्यवाही के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक बड़ा भेद यह भी है कि पहले में इस कार्यवाही करने के लिए सब सदस्यों को पूरी स्वतन्त्रता थी। राष्ट्रसंघ के विधान की सोलहवीं धारा के अनुसार यह निर्णय करना संघ के सदस्यों का कार्य था कि किसी सदस्य ने राष्ट्रसंघ के विधान के दायित्वों का उल्लंघन किया है या नहीं तथा उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जाय या नहीं। राष्ट्रसंघ के विधान में सदस्यों पर सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई बाध्यता नहीं थी। किन्तु चार्टर में शान्ति भंग की दशा का निश्चित करना और सैनिक कार्यवाही करने का निर्णय करना सदस्यों पर नहीं, किन्तु सुरक्षा परिषद् पर छोड़ दिया गया है और उसके निर्णय का पालन सदस्यों की इच्छा पर नहीं, किन्तु आवश्यक है। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ में आक्रमणों का मुकाबला करने की व्यवस्था पुराने राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक अच्छी और शक्तिशाली है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य

अपने जीवन के अल्प काल में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामने कई अन्तर्राष्ट्रीय विवाद आये हैं जिनको उसने सुलझाने का प्रयास किया है; यद्यपि उनमें उसको सफलता बहुत ही कम मिली है। इन विवादों और उसको सुलझाने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों का विवरण इस प्रकार है:

(i) **ईरान का विवाद**—यह संयुक्त राष्ट्रसंघ में उपस्थित होनेवाला पहला विवाद था। १६ जनवरी, १६४६ को ईरान ने सोवियत संघ के विरुद्ध उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अभियोग लगाया। ईरान ने सुरक्षा परिषद् को यह सूचना दी कि रूसी सेना उसके आजरबाइजन प्रांत में घुसी हुई है और इसे खाली नहीं कर रही है। सुरक्षा परिषद् में पश्चिमी गुट के राज्यों ने ईरान का जबरदस्त समर्थन किया। वास्तव में यह झगड़ा स्पष्ट रूप से दो गुटों

को झगड़ा था। जवाब में सोवियत प्रतिनिधि ने सुरक्षा परिषद् से प्रार्थना की कि यूनान में विद्यमान ब्रिटिश फौज को निकालने के लिए कारवाई की जाय। इस प्रकार सुरक्षा परिषद् का कार्य इस विवाद से शुरू हुआ जो अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण था। भविष्य में आनेवाली वस्तुओं का खाका यहीं से बनना शुरू हो गया। अमेरिका और रूस अपने शीत युद्ध को संयुक्त राष्ट्रसंघ में घसीट लाये। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए शुभ नहीं था। शीत युद्ध के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ में उत्पन्न नहीं हुए थे और न वहाँ वे तय किये जा सकते थे।[1] लेकिन दोनों में से कोई पक्ष विशेषकर अमरीकी पक्ष मानने वाला नहीं था। सोवियत संघ के आग्रह पर भी ईरान की समस्या को सुरक्षा परिषद् के कार्यक्रम से नहीं हटाया गया। यहाँ तक कि स्वयं ईरानी प्रतिनिधि ने ऐसा ही आग्रह किया। पर अमरीकी गुट ने इसे भी नामञ्जूर कर दिया। अन्त में लाचार होकर सोवियत प्रतिनिधि को वीटो का प्रयोग करना पड़ा। २१ मार्च, १९४६ को सोवियत सेना स्वेच्छा से ईरान से हट गयी और इस समस्या का समाधान हो गया। लेकिन इसको सुरक्षापरिषद् की सफलता नहीं माना जा सकता है, क्योंकि रूस द्वारा सेना हटाने का मुख्य कारण परिषद् द्वारा की गयी कार्यवाही नहीं थी।

इसके बाद अमेरिका और ब्रिटेन सुरक्षा परिषद् में ऐसे प्रस्ताव रखने लगे जिन्हें वे जानते थे कि सोवियत प्रतिनिधि कभी स्वीकार नहीं करेगा। प्रत्येक मामले में मत सोवियत संघ के विरुद्ध आये तब सोवियत संघ ने वीटो का प्रयोग करना शुरू किया। १९५२ के मध्य तक इन सोवियत वीटो की संख्या ६० तक पहुँच गयी। दोनों गुट अब एक दूसरे को अपमानित करने की पूरी कोशिश में जुट गये थे। दो वर्ष के अन्दर ही ऐसा प्रतीत होने लगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का अन्त हो जायगा। स्थिति बहुत गम्भीर हो गयी। इसलिए २३ सितम्बर, १९४७ को महासचिव त्रिग्वीली ने याल्टा तथा सैनफ्रांसिस्को की भावना को फिर से लाने का असफल प्रयत्न किया। पर उसका कोई नतीजा नहीं निकला।

(ii) सीरिया-लेबनान का विवाद—४ फरवरी, १९४६ को सीरिया तथा लेबनान ने अपनी भूमि पर फ्रांसीसी तथा ब्रिटिश सैनिकों की उस स्थिति को "अपनी सत्ता के गम्भीर उल्लंघन" के रूप में घोषित किया और यह मांग की कि ये सेनाएँ शीघ्र वापस बुला ली जायें। संयुक्त राज्य अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् के समक्ष एक-प्रस्ताव रखा जिसमें सैनिकों की यथासम्भव शीघ्र ही हटाने के विषय में विश्वास प्रकट किया गया था। इस पर सोवियत संघ ने विदेशी सेनाओं को तत्काल हटाने का एक संशोधन पेश किया। जब यह संशोधन स्वीकार नहीं किया गया तो सोवियत प्रतिनिधि ने मूल प्रस्ताव के विरुद्ध वीटो दे दिया। लेकिन कुछ ही दिनों में फ्रांस और ब्रिटेन को अपनी सेना हटा लेनी पड़ी।

(iii) यूनान का विवाद—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद यूनान में कम्युनिस्ट प्रभाव बढ़ रहा था और वहाँ की प्रतिक्रियावादी सरकार इसको लेकर बहुत चिन्तित थी। इस हालत में उसने ब्रिटेन से सैनिक सहायता की याचना की और तुरत ही ब्रिटेन से सेना भेज दी गयी। इस पर कम्युनिस्ट छापेमारों ने निकट के कम्युनिस्ट देशों से सहायता लेना शुरू किया। इसी बीच २१ जनवरी, १९४६ को सोवियत संघ के सुरक्षा परिषद् का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हुए

1. Schuman, *International Politics*, p. 336.

यह कहा कि यूनानी में ब्रिटिश सेना की उपस्थिति उस देश के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप है, और उसने विश्व शान्ति के लिए खतरा उत्पन्न हो गया है। लेकिन सुरक्षा परिषद् ने इस प्रस्ताव को नहीं माना। उसने यूनान में विदेशी हस्तक्षेप की स्थिति को मानने से इन्कार कर दिया। इसके बाद अमेरिका और ब्रिटेन के चढ़ाने पर यूनान ने यह शिकायत की कि कम्युनिस्ट राज्य छापेमारों की सहायता कर रहे हैं। इस शिकायत की जाँच करने के लिए सुरक्षा परिषद ने एक आयोग की स्थापना की। २७ मई, १९४७ को इस आयोग ने यह रिपोर्ट दी कि कम्युनिस्ट अल्बेनिया, बुल्गेरिया और युगोस्लाविया से छापेमारों को सहायता मिल रही है। किन्तु जब सुरक्षा परिषद ने इस विषय पर अधिक अन्वेषण करना चाहा तो सोवियत प्रतिनिधि ने इसे वीटो कर दिया। अतः सितम्बर, १९४७ में यूनान का प्रश्न साधारण सभा में लाया गया। बड़े लम्बे चौड़े और कटु विवाद के बाद वाल्कन में एक आयोग भेजने का निश्चय किया गया। किन्तु इस आयोग को साधारण सभा की सिफारिशों को कार्यान्वित करने में सफलता नहीं मिली। बाद में यूनान की स्थिति कुछ सुधरी। स्टालिन और मार्शल टीटो में झगड़ा हो जाने के कारण युगोस्लाविया ने छापेमारों को मदद करना बन्द कर दिया। उधर आंग्ल-अमरीकी गुट का यूनान के आन्तरिक मामले में अन्यायपूर्ण हस्तक्षेप होता रहा और संयुक्त राष्ट्रसंघ कुछ नहीं कर सका।

(iv) बर्लिन के घेरे का मामला—१९४५ के पोट्सडाम समझौते के अनुसार बर्लिन नगर सोवियत, फ्रांस, ब्रिटेन के नियन्त्रण में बाँट दिया गया था। पश्चिमी बर्लिन अमेरिका,

फ्रांस तथा ब्रिटेन के नियन्त्रण में और पूर्वी बर्लिन सोवियत संघ के नियन्त्रण में था। बर्लिन ने पश्चिमी भागों का मार्ग पूर्वी जर्मनी होकर गुजरता था जो सोवियत नियंत्रण में था। पोट्सडाम सम्मेलन में यह तय हुआ था कि दोनों जर्मनी को आर्थिक एकता कायम रखी जायगी। लेकिन पश्चिमी राष्ट्र सोवियत संघ से झगड़ा करने पर तुले हुए थे। अतएव पोट्सडाम निर्णय की उपेक्षा करते हुए पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने क्षेत्र में एक नयी मुद्रा का प्रचलन

किया जिसके फलस्वरूप सोवियत संघ से झगड़ा अनिवार्य हो गया। पश्चिमी शक्तियों की हरकत से क्षुब्ध होकर १ मार्च, १९४८ को रूस ने पश्चिमी बर्लिन के स्थल और जल के सब मार्ग बन्द कर दिये। अब पश्चिमी बर्लिन तक पहुँचने के लिए पश्चिमी राज्यों के पास केवल हवाई मार्ग ही बच गया। स्थिति अत्यन्त नाजुक हो गयी।

इसी बीच ४ अक्टूबर, १९४८ को अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने अलग-अलग सुरक्षा परिषद् के सामने यह शिकायत पेश की कि सोवियत संघ का बर्लिन का घेरा अन्यायपूर्ण है और इससे एक गम्भीर समस्या पैदा हो गयी है। सोवियत संघ ने इसका विरोध किया और यह कहा कि यह कदम केवल पश्चिमी देशों के षड्यंत्र से पूर्वी जर्मनी के आर्थिक संगठन को स्थिर रखने के लिए उठाया गया है। सोवियत प्रतिनिधि ने यह भी कहा कि बर्लिन का प्रश्न जर्मनी की समूची समस्याओं से सम्बद्ध है और इसलिए उस पर पृथक् विचार करना गलत होगा। याल्टा और पोट्सडाम समझौतों का हवाला देते हुए सोवियत प्रतिनिधि ने कहा कि इस विषय पर केवल विदेश-मन्त्री परिषद् में ही विचार किया जाना चाहिए। लेकिन सोवियत संघ के तर्क पर कोई ध्यान नहीं दिया गया और सुरक्षा परिषद् ने इस प्रश्न पर विचार करने का निर्णय किया। इस पर सोवियत प्रतिनिधि परिषद् की बैठक से उठकर चला गया। २२ अक्टूबर को सुरक्षा परिषद् के छः सदस्यों ने समस्या के समाधान के लिए प्रस्ताव पेश किया, पर वह सोवियत संघ को मान्य नहीं हुआ। फिर इसके बाद कई तरीकों का अवलम्बन किया गया, पर किसी से कोई वांछित फल नहीं निकला। अन्त में चारों शक्तियों के बीच वार्ताएँ हुईं और ४ मई, १९४९ को बर्लिन के प्रश्न पर समझौता हो गया। यह तय हुआ कि व्यापार और यातायात के ऊपर दोनों पक्षों ने जो प्रतिबन्ध लगाये हैं वे उठा लिए जायेंगे तथा २२ मई, १९४९ को जर्मनी की समस्या पर विचार करने के लिए विदेश मन्त्रियों की परिषद् की बैठक होगी। इस प्रकार बर्लिन के घेरे के विवाद का अन्त हुआ और विश्वशान्ति भंग होने से बच गयी।

(v) इंडोनीशिया का प्रश्न—यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ को अभी तक किसी मामले में कुछ सफलता मिली है तो वह इंडोनीशिया (Indonesia) का प्रश्न है। द्वितीय विश्वयुद्ध-युद्ध के पूर्व इंडोनीशिया पर हालैंड का कब्जा था। युद्ध के समय जापान ने उस पर अधिकार कर लिया। जापान के हारने के बाद हालैंड पुनः इंडोनीशिया पर आधिपत्य जमा लेना चाहता था। लेकिन जापानियों के निकलने के बाद वहाँ एक स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना हो चुकी थी। फलस्वरूप हालैंड और स्वतन्त्र इंडोनीशिया में संघर्ष छिड़ गया। जुलाई १९४७ में भारत और आस्ट्रेलिया ने सुरक्षा परिषद् का ध्यान इस युद्ध की ओर आकृष्ट किया। सुरक्षा परिषद् ने इस झगड़े को निपटाने के लिए एक समिति की स्थापना की। इस समिति के प्रयत्नों से अगस्त १९४७ में युद्ध बन्द हो गया और दोनों देशों ने विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके बाद दोनों पक्षों के बीच स्थायी संधि की बात चलने लगी। लेकिन बीच १८ दिसम्बर को हालैंड ने एकाएक इंडोनीशिया पर आक्रमण कर दिया। इस पर सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पास करके हालैंड को युद्ध बन्द करने और राजनीतिक बन्दियों को रिहा करने का आदेश दिया। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि १ जुलाई, १९४९ तक संघीय संयुक्त इंडोनीशिया राज्य की

स्थापना की जाय और डच सरकार इस सरकार को सत्ता हस्तान्तरित कर दे। इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए सुरक्षा परिषद् ने एक आयोग की स्थापना भी कर दी।

हालैंड की सरकार ने शुरू में इस प्रस्ताव का विरोध किया पर अन्त में बाध्य होकर उसको वार्ता शुरू करनी पड़ी। अगस्त में एक सम्मेलन बुलाना निश्चित किया गया। सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव द्वारा आयोग को यह आदेश दिया कि दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने में सहायता दे। लम्बी सन्धिवार्ता के बाद डचों ने अपनी सेनाएँ जावा और सुमात्रा से हटा लीं। २३ अगस्त, १९४७ को सम्बद्ध पक्षों का एक गोलमेज सम्मेलन हुआ जिसमें यह निश्चित हुआ कि ३० दिसम्बर, १९४९ तक इंडोनीशिया के गणराज्य को सर्वोच्च सत्ता हस्तांतरित कर दी जाय। यह निर्णय लागू हुआ और २७ दिसम्बर को इंडोनीशिया स्वतन्त्र गणराज्य मान लिया गया

(vi) **फिलीस्तीन की समस्या**—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद फिलिस्तीन की समस्या अत्यन्त गम्भीर हो गयी थी। प्रथम-विश्व-युद्ध के बाद इस पर ब्रिटेन का संरक्षण कायम हुआ था। लेकिन यहाँ पर कभी अमन-चैन नहीं रहा। अरबों और यहूदियों में बराबर संघर्ष होता रहा। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद स्थिति और भी नाजुक हो गयी। ब्रिटेन के लिए इस पर अपना संरक्षण कायम रखना असम्भव हो गया। फरवरी, १९४७ में ब्रिटेन ने यह निश्चय किया कि फिलिस्तीन की समस्या को संयुक्त राष्ट्रसंघ में रखा जाय और २ अप्रिल, १९४७ को यह समस्या संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में रखी गयी। १५ मई को इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सभा का विशेष अधिवेशन हुआ और उसी दिन इस समस्या के अध्ययन के लिए एक विशेष समिति नियुक्त हुई। १३ अगस्त, १९४७ को इस समिति ने यह निर्णय किया कि फिलिस्तीन को दो भागों में बाँट दिया जाय: एक भाग में अरब राज्य तथा दूसरे में यहूदी राज्य को स्थापना की जाय। इसके अतिरिक्त जेरूसलम में एक विशेष क्षेत्र की रचना की जाय और उसमें अन्तराष्ट्रीय शासन की व्यवस्था हो। संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने इस सुझाव को मान लिया और यह निश्चित किया कि फिलिस्तीन पर बिटिश संरक्षण का अन्त कर दिया जायगा और १ अगस्त, १९४८ तक वहाँ से अंग्रजी फौजें हट जायँगी।

संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा फिलिस्तीन के विभाजन की योजना का अरबों और यहूदियों दोनों ने विरोध किया। वहाँ पुनः बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे शुरू हुए। संयुक्त राष्ट्र फिलिस्तीन-आयोग ने संघ को यह सूचना दी कि फिलिस्तीन की स्थिति दिनोंदिन खराब होती जा रही है और यदि अंग्रेज वहाँ से हट गये तो पूर्ण अराजकता छा जायगी। इसलिए समस्या पर पुनर्विचार करने के के लिए साधारण सभा का एक दूसरा विशेष अधिवेशन बुलाया गया। सुरक्षा परिषद् के प्रयत्नों से अरबों और यहूदियों में एक समझौता हो गया और उनका युद्ध बन्द हो गया। बाद में इन दोनों में विराम-सन्धि होना निश्चित हुआ। सुरक्षा परिषद् ने एक विराम-सन्धि आयोग भी नियत कर दिया।

१५ मई, १९४८ को ब्रिटेन ने फिलिस्तीन पर से अपना संरक्षण उठा लिया। उसी दिन फिलिस्तीनके यहूदियों ने इजरायल राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी और संयुक्त राज्य अमेरिका

ने तुरत ही उसकी मान्यता दे दी। इसके तुरत बाद अरब राज्यों ने इजरायल के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई आरम्भ कर दी। सुरक्षा परिषद् की बैठक हुई और एक प्रस्ताव स्वीकृत
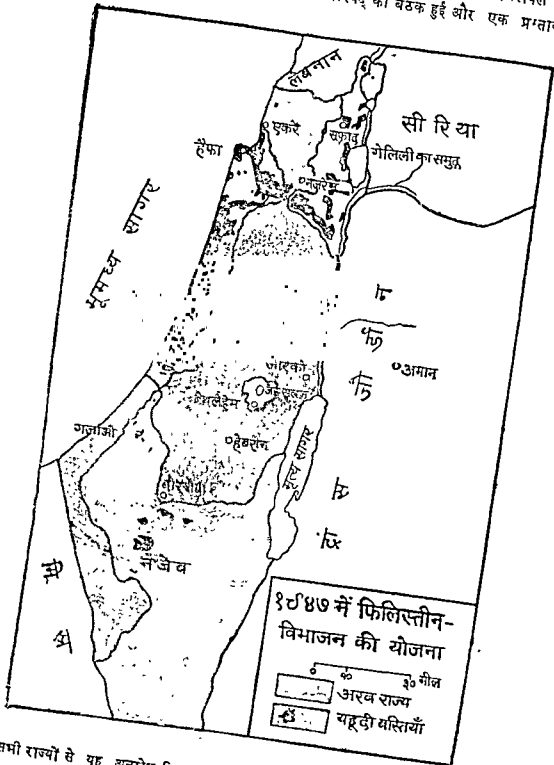
करके सभी राज्यों से यह अनुरोध किया गया कि वे फिलिस्तीन में सैनिक कार्रवाई को बन्द कर दें।

इसके पूर्व १४ मई, १९४८ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने फिलिस्तीन में शान्ति-स्थापना करने के लिए एक मध्यस्थ (mediator) की नियुक्ति का प्रस्ताव पास किया और स्वेडेन के काउन्ट बर्नाडाट को इस पद पर नियुक्त कर दिया गया। ११ जून को बर्नाडाट के प्रयास से चार सप्ताह के लिए दोनों पक्षों में विराम-सन्धि हो गयी, लेकिन इस अवधि के समाप्त होते ही अरबों ने यहूदियों पर फिर आक्रमण कर दिया। सुरक्षा-परिषद् में सोवियत संघ और अमेरिका से पहले-पहल एक साथ मिलकर इजरायल को सहायता देने का प्रस्ताव रखा, किन्तु सुरक्षा परिषद् के कुछ अन्य सदस्यों ने मतदान में भाग नहीं लिया और यह प्रस्ताव पास नहीं हो सका। उधर युद्ध के मैदान में इजरायल विजयी हो रहा था। ११ जून तक उसने अरबों को अपनी भूमि से खदेड़ दिया था।

इसी बीच सुरक्षा परिषद् ने एक और प्रस्ताव पास करके युद्धरत देशों के युद्ध बन्द कर देने का आदेश दिया। १८ जुलाई को युद्ध तो बन्द हो गया लेकिन उपद्रव होते ही रहे। १७ सितम्बर को यहूदियों ने बर्नाडाट की हत्या भी कर दी। उनके बाद उस पद पर डा० राल्फ बुंचे नियुक्त हुए। उनके प्रयासों से दोनों पक्षों के बीच विराम-संधि हो गयी। साधारण सभा ने बाद में एक सं० रा० समझौता आयोग की स्थापना की और लड़ाई पूर्णतया बन्द हो गयी। इजरायल को अपने पड़ोसी अरब राज्यों से सन्धियाँ हुई और तब जाकर इस प्रदेश में शान्ति कायम हुई।

(vii) स्पेन—अप्रिल १९४६ में पोलैंड के प्रतिनिधि ने यह प्रस्ताव रखा कि स्पेन में फ्रैंको का शासन अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा है। पश्चिमी राज्यों ने जब इस प्रस्ताव में कुछ संशोधन किये तो सोवियत संघ ने वीटो का प्रयोग कर दिया। लेकिन संघ की साधारण सभा ने यह प्रस्ताव पास किया कि फ्रैंको की सरकार को संघ की सदस्यता न दी जाय और सभी सदस्य राज्य उसके साथ कूटनीतिक सम्बन्ध खत्म कर दें बाद में जब अमेरिका ने फासिस्टवाद का समर्थन करने का पूर्ण निश्चय कर लिया तो उसके प्रभाव से साधारण सभा ने जनवरी, १९५० में अपने पुराने प्रस्ताव को रद्द करके स्पेन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना दिया।

(viii) कोर्फु चैनल विवाद—अक्टूबर १९४६ में अल्बेनिया के प्रादेशिक समुद्र में बिछायी गयी एक सुरंग से दो ब्रिटिश युद्धपोतों को क्षति पहुँची। ब्रिटेन सुरक्षा-परिषद् से इसके सम्बन्ध में शिकायत की और अल्बेनिया से क्षतिपूर्ति की मांग की। जब इस आशय का प्रस्ताव पास होने लगा तो सोवियत संघ ने वीटो का प्रयोग करके इसको रद्द करा दिया। अन्त में सुरक्षा परिषद् के एक प्रस्ताव पर ब्रिटेन इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले गया। वहाँ निर्णय उसके पक्ष में हुआ और अल्बेनिया को चौबीस लाख डालर क्षतिपूर्ति के लिए कहा गया। पर उसने इस हर्जाना को देने से साफ-साफ इन्कार कर दिया।

(ix) ट्रीस्टे की समस्या—१९४७ में इटली के साथ जो शांति-सन्धि हुई थी उसके अनुसार ट्रीस्टे को एक अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह बना दिया गया था। यह व्यवस्था की गयी थी कि इसके शासन का संचालन सुरक्षा परिषद् द्वारा नियत एक गवर्नर करेगा। गवर्नर की नियुक्ति तक ट्रीस्टे दो क्षेत्रों में बंटा था—क्षेत्र 'अ' पर ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस का अधिकार था और क्षेत्र 'ब' पर युगोस्लोविया का। १९४८ में पश्चिमी देशों ने ट्रीस्टे को इटली को देने की योजना बनायी थी। युगोस्लोविया ने इसका किया और २८ जुलाई, १९४८ को उसने

सुरक्षा परिषद् से यह प्रार्थना की कि क्षेत्र 'अ' में पश्चिमी गुटों द्वारा लागू की जानेवाली योजना इटली को सन्धि के विरुद्ध है, इसलिए इसको रद्द किया जाय तथा तुरत गवर्नर की बहाली हो। लेकिन इस प्रस्ताव के पक्ष में सात वोट नहीं आ सके। अतः इस पर विचार ही नहीं किया गया और गवर्नर की नियुक्ति भी नहीं हुई।

इसके बाद स्थिति और भी बिगड़ने लगी। अक्टूबर १९५३ में पश्चिमी राज्यों ने 'अ' क्षेत्र को इटली को सौंपने को पुनः एक योजना बनायी। इस पर युगोस्लाविया के मार्शल टीटो ने धमकी दी कि यदि उस क्षेत्र में इटली की सेना जायगी तो युगोस्लाविया भी अपनी सेना भेज देगा। स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी। लेकिन ब्रिटेन और अमेरिका ने संयम से काम लिया यद्यपि ट्रीस्टे ने अपने क्षेत्र से अपनी सेनाएँ नहीं हटायी। सुरक्षा परिषद् में बहुत दिनों तक इस प्रश्न पर वाद-विवाद होता रहा, पर कोई निष्कर्ष नहीं निकला। अन्त में इटली और युगोस्लोविया में इस प्रश्न पर अक्टूबर १९५४ में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार क्षेत्र 'अ' पर इटली का तथा 'ब' पर युगोस्लोविया का आधिपत्य मान लिया गया।

(x) **ब्रिटेन और फारस का तेल का झगड़ा**—फारस के आर्थिक जीवन का आधार पेट्रोल की खानें हैं और इन पर ऑंग्ल ईरानी तेल कम्पनी का पूर्ण अधिकार था। १ मई, १९५१ को फारस की संसद् ने इस कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर दिया। ब्रिटेन ने इसका विरोध किया और इस विवाद को वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले गया। जब अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय से कोई परिणाम नहीं निकला तो ब्रिटेन ने सुरक्षा-परिषद् को इस मामले को अपने हाथ में लेने को प्रार्थना की; लेकिन परिषद् इस पर कोई विचार नहीं प्रकट कर सकती थी, क्योंकि यह न्यायालय के विचाराधीन था।

(xi) **दक्षिण अफ्रिका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार का प्रश्न**—दक्षिण अफ्रिका में भारतीयों के साथ वहाँ की गोरी सरकार रंगभेद नीति के आधार पर बहुत ही बुरा बर्ताव करती रही है। १९४५ आते-आते रंगभेद की नीति अपने नग्न रूप में उपस्थित हो गयी। जो-जो अत्याचार पहले नहीं किये गये थे, वे सब अब होने लगे थे। अतएव जून, १९४६ में भारत इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्रसंघ में ले गया। दक्षिण अफ्रिका की सरकार पर मानव के मौलिक अधिकारों के उल्लंघन का आरोप लगाया गया। अफ्रिकी प्रतिनिधि ने प्रस्ताव का विरोध किया। उसका कहना था कि रंगभेद की नीति उसके राज्य का आन्तरिक मामला है और उसमें संयुक्त राष्ट्र संघ को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के जीवन में जितना विचार इस प्रश्न पर हुआ है उतना किसी अन्य प्रश्न पर नहीं हुआ है। साधारण सभा के प्रत्येक अधिवेशन में इस पर विचार होता है और प्रस्ताव पास होता है। फिर भी यह समस्या ज्यों-की-त्यों पूर्ववत् ही बनी हुई है। वास्तविक बात यह है कि दक्षिण अफ्रिका की सरकार को इस बात पर अमेरिका का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। स्वयं अमेरिका में इसी रंगभेद की नीति के आधार पर नीग्रो लोगों पर घोर अमानुषिक अत्याचार होता है। ऐसी हालत में अमेरिका किस मुँह से दक्षिणी अफ्रिका का विरोध करेगा। फिर, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दक्षिण अफ्रिका अमेरिका का प्रबल समर्थक तथा कट्टर कम्युनिस्ट विरोधी है। अमेरिका ऐसे मित्र को रंज नहीं कर सकता।

(xii) कश्मीर की समस्या

समस्या का सूत्रपात--१५ अगस्त, १९४७ को विभाजन के बाद भारतीय उपमहाद्वीप में दो राज्यों : भारत और पाकिस्तान की स्थापना हुई। स्वतंत्रता के पूर्व भारत में बहुत-से देशी राज्य थे जिनका ब्रिटिश सरकार के साथ विशेष सन्धियों के आधार पर सम्बन्ध कायम था। स्वतंत्रता देने के पूर्व ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा कर दी कि भारतीय देशी राज्य अपनी इच्छानुसार अपनी स्थिति का निर्धारण करेंगे। वे चाहें तो भारत या पाकिस्तान के साथ मिल सकते हैं। कश्मीर इसी तरह का एक देशी राज्य था जिसका शासक तो एक हिन्दू था, लेकिन जिसकी आबादी का बहुमत मुस्लिम था। कश्मीर के राजा ने स्वतंत्र रहने का निर्णय किया। लेकिन पाकिस्तान इस राज्य को अपने साथ मिलाना चाहता था। शुरू में उसने कश्मीर पर आर्थिक दबाव डाला जिससे बाध्य होकर वह पाकिस्तान के साथ मिल जाय। लेकिन जब ऐसा नहीं हो सका तब पाकिस्तान सरकार की सहायता और प्रेरणा से उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के कबायलियों ने २२ अक्टूबर, १९४७ को कश्मीर पर हमला कर दिया। हमलावर कबायलियों ने उत्तरी-पश्चिमी कश्मीर को जीतते हुए चार दिनों के अन्दर श्रीनगर से पचीस मील दूर बरामूला पहुँच गये। ऐसी नाजुक स्थिति में श्मीर के राजा के सामने कोई चारा नहीं रहा। उसने कश्मीर को भारत के साथ सम्मिलित करने के लिए भारत सरकार से प्रार्थना की और हमलावरों से रक्षा के लिए भारत से सैनिक सहायता की याचना की। भारत सरकार ने इस अनुरोध को मान लिया और तुरत ही सेना भेज दी गयी। युद्ध समाप्ति पर जनमत संग्रह की शर्त के साथ-साथ कश्मीर को भारत का अंग मान लिया गया।

कबायली लोग पाकिस्तान के मार्ग से कश्मीर पर आक्रमण कर रहे थे। अतएव भारत सरकार ने पाकिस्तान से आग्रह किया कि वह कबायलियों का रास्ता बन्द कर दे। लेकिन पाकिस्तान की सरकार ने इसका उत्तर तक न दिया। वास्तविक बात यह थी कि पाकिस्तान की सरकार स्वयं हमलावर कबायलियों को युद्धोपयोगी सामग्रियों से सहायता कर रही थी। इस हालत में भारत सरकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ चार्टर की धारा ३४ और ३५ के अन्तर्गत सुरक्षा-परिषद् से यह शिकायत की कि पाकिस्तान से सहायता पाकर कबायली लोग भारत के एक अंग कश्मीर पर आक्रमण कर रहे हैं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के भंग होने का भय है। अतएव सुरक्षा-परिषद् इस आक्रमण को बन्द कराने के लिए कदम उठावे। पाकिस्तान ने भारत के आरोपों का खण्डन किया और उस पर अनेक प्रत्यारोप लगाते हुए कहा कि भारत में कश्मीर का विलयन अवैध है। इस प्रकार सुरक्षा-परिषद् में एक ऐसा मामला आया जिसका इतिहास पश्चिमी राष्ट्रों की बेईमानी और अन्याय की एक दुःखद कहानी है।

भारत की शिकायत पर सुरक्षा-परिषद् को कोई निश्चित निर्णय लेना चाहिए था। उसको आक्रमण करने वालों के विरुद्ध तत्काल कार्रवाई करनी चाहिए थी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। बात यह थी कि सुरक्षा-परिषद् में आंग्ल-अमरीकी गुट का बहुमत था और भारत शीत-युद्ध के क्षेत्र में असंलग्नता की नीति का अवलम्बन कर रहा था जो अमेरिका को फूटी आँखों भी नहीं सुहाता था। इसके विपरीत पाकिस्तान इस गुट का एक पिछलगुआ था। अतएव अमरीकी गुट ने टालमटोल की नीति अपनाकर वास्तविक प्रश्न को ओझल करने का

यत्न किया। २० जनवरी को सुरक्षा-परिषद् ने तीन सदस्यों के एक आयोग की स्थापना का फैसला किया जिसका एक सदस्य भारत की सिफारिश पर, दूसरा पाकिस्तान की सिफारिश पर तथा तीसरा इन दोनों की सिफारिश पर नियुक्त होता। आयोग को जाँच पड़ताल और मध्यस्थता का काम सौंपा गया। भारत ने इस आयोग के लिए चेकोस्लोवाकिया को और पाकिस्तान ने अर्जेंटाइना को चुना, पर ये दोनों राज्य तीसरे नाम के लिए सहमत नही हो सके। इस कारण सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष ने संयुक्त राज्य अमेरिका को आयोग का तीसरा सदस्य मनोनीत कर दिया। २१ अप्रिल को सुरक्षा-परिषद् ने आयोग में दो और सदस्य बढ़ा दिये। ये सदस्य कोलम्बिया और बेल्जियम थे। इन पाँच राज्यों से आयोग बना और उसका नाम "भारत और पाकिस्तान के लिए संयुक्तराष्ट्र का आयोग" (United Nation Commission for India and Pakistan) पड़ा। इसी बीच सुरक्षा-परिषद् ने एक और प्रस्ताव पास किया और यह सिफारिश की कि कश्मीर से विदेशी कबायली, पाकिस्तान के नागरिक और भारतीय सेना हटा लिए जायँ और भारत भाषण-लेखन की स्वतंत्रता प्रदान करके जनमत सग्रह के लिए उचित वातावरण तैयार करे।

संयुक्त राष्ट्र आयोग (U. N. C. I. P.) के कार्य—संयुक्तराष्ट्र आयोग ने अपना काम तुरत ही शुरू कर दिया। विवाद के दोनों पक्षों से मिलने और उनके विचारों से अवगत होने के पश्चात् उसने दोनों पक्षों से युद्ध बन्द करने को कहा और समझौता करने के लिए एक प्रस्ताव रखा जिसके मुख्य सिद्धांत निम्नलिखित थे: (१) पाकिस्तान कश्मीर से अपनी सेना हटा ले तथा विदेशी कबायलियों और कश्मीर में सामान्य रूप से न रहने वाले पाकिस्तानी नागरिकों को वहाँ से हटाने का प्रयास करें, (२) इस प्रकार के क्षेत्र को जिसको पाकिस्तानी सेना ने खाली कर दिया है, उसका शासन प्रबन्ध आयोग के निरीक्षण में स्थानीय अधिकारी करें, (३) जब पाकिस्तान इन दोनों शर्तों को पूरा कर ले और आयोग इसकी सूचना भारत को दे दे तो भारत भी अपनी सेना का अधिकांश भाग कश्मीर से हटा लें, (४) अन्तिम समझौता होने तक भारत युद्ध विराम की सीमाओं के भीतर उतनी ही सीमाएँ रखें जितनी इस प्रदेश में कानून और व्यवस्था के लिए आवश्यक है।

शुरू में पाकिस्तान ने इन शर्तों को मानने में टालमटोल की, पर बाद में कुछ शर्तों के साथ इस प्रस्ताव को मान लिया। इसके बाद लम्बी वार्ता के बाद १ जनवरी, १९४९ को दोनों पक्ष युद्ध बन्द कर देने पर सहमत हो गये। एक युद्ध विराम रेखा निश्चित की गयी और इसकी देखभाल के लिए आयोग ने विभिन्न राष्ट्रों के निरीक्षक नियत किये। कश्मीर का अन्तिम फैसला जनमत संग्रह द्वारा होने को था। अतएव जनमत संग्रह के प्रशासन के लिए अमरीकी नागरिक श्री चेस्टर निमिट्ज को नियुक्त किया गया। प्रशासक बनकर वह कश्मीर पहुँचा और भारत तथा पाकिस्तान की सरकारों से जनमत संग्रह के सिद्धांतों पर बातें करने लगा। पर दोनों देश इस प्रश्न पर राजी नहीं हो सके। चेस्टर निमिट्ज ने तब पदत्याग कर दिया।

मैकनाटन-योजना—इसके बाद पाकिस्तान के आक्रामक इरादों के कारण कश्मीर समस्या पुनः गम्भीर होने लगी। इस हालत में २९ दिसम्बर, १९४९ को सुरक्षा परिषद् के तत्कालीन अध्यक्ष जेनरल मैकनाटन ने समस्या को सुलझाने के लिए एक प्रस्ताव रखा जिसके

नाटन योजना (Mc Naughton Plan) कहते हैं। इस योजना में भी पाकिस्तानी आक्रमण की कोई चर्चा नहीं थी और आक्रान्त तथा आक्रान्ता को एक ही स्तर पर रखा गया था। इसमें पाकिस्तानी सेना को हटाने के साथ-साथ भारतीय सेना को हटाने की बात भी थी। इस प्रकार कश्मीर का असैन्यकरण करके जनमत संग्रह का प्रस्ताव किया गया था। अनेक कारणों से भारत को यह प्रस्ताव मान्य नहीं था।[1] इसलिए उसने इस योजना को अस्वीकृत कर दिया।

डिक्सन मिशन—मैकनाटन योजना के विफल होने पर २४ फरवरी, १९५० को सुरक्षा परिषद् ने एक और प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसका आशय पाँच महीने के भीतर कश्मीर से दोनों पक्षों की सेनाएँ हटाने को था। इस काम को आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सर ओवेन डिक्सन को सौंपा गया। मई १९५० में डिक्सन ने अपना काम शुरू किया। उसने कश्मीर से दोनों पक्षों की सेनाएँ हटाने पर जोर दिया। डिक्सन की अन्तिम योजना समूचे कश्मीर में जनमत संग्रह के स्थान पर इसका विभाजन करने की थी। उसका यह प्रस्ताव था कि जो क्षेत्र पाकिस्तानी अधिकार में है वह उसके साथ रहे, जो भारतीय सेना द्वारा अधिकृत क्षेत्र है भारत में रहे और कश्मीर-घाटी का भाग्य निर्णय जनमत संग्रह द्वारा हो। लेकिन यह योजना दोनों पक्षों में किसी को भी मान्य न हुई। भारत अपनी सेना हटाने पर भी नहीं राजी हुआ क्योंकि उसके विचार में पाकिस्तान की सेना कश्मीर में आक्रमण करने के लिए आयी थी और भारतीय सेना कश्मीर सरकार के अनुरोध पर उसकी रक्षा के लिए गयी थी। सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि यद्यपि सर डिक्सन ने यह स्वीकार किया था कि "कश्मीर में विरोधी कार्यवाहियों तथा मई १९४८ में पाकिस्तान की नियमित सेनाओं का प्रवेश अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन था।" फिर भी उसने भारत और पाकिस्तान दोनों को एक ही स्तर पर रखा। इस हालत में डिक्सन यह समझ गया कि कश्मीर की समस्या उससे नहीं सुलझ सकती है। अतएव उसने सुरक्षा परिषद् से अनुरोध किया कि उसे उसके पद भार से मुक्त कर दिया जाय। सुरक्षा परिषद् को उसने यह भी परामर्श दिया कि दोनों पक्षों को प्रत्यक्ष वार्ता करके इस प्रश्न को हल करना चाहिये।

ग्राहम मिशन—सर ओवेन डिक्सन की विफलता के बाद लन्दन में राष्ट्र-मण्डलीय सम्मेलन ने कश्मीर समस्या का समाधान का एक और यत्न किया। इसमें असैन्यीकरण तथा पंचायती फैसले का प्रस्ताव रखा गया। लेकिन भारत को इस तरह का कोई भी प्रस्ताव मान्य नहीं हो सकता था। इसी समय कश्मीर की सरकार ने संविधान बनाने के लिए एक संविधान परिषद् के निर्वाचन की योजना बनायी। इस पर फरवरी १९५१ में पाकिस्तान ने कश्मीर के प्रश्न को पुनः सुरक्षा परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत किया। परिषद् ने ब्रिटेन और अमेरिका के एक संयुक्त प्रस्ताव को पास करके सर ओवेन डिक्सन के एक उत्तराधिकारी को नियत करने का फैसला

1. मैकनाटन योजना पर बोलते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारतीय प्रतिनिधि श्री बेनेगल नरसिंह राव ने कहा : "Today the position is that Pakistan which throughout 1948 denied giving any aid either to the invaders or to the "Azad Kashmir" forces, is now itself not only an invader but in actual occupation of nearly half the area of the state without any lawful authority from any source. This is naked aggression of which no one can approve but there is no sign of disapproval in the present proposal, the Mc Naughton proposal."

किया जो कश्मीर से दोनों पक्षों की सेनाओं को हटाकर जनमत संग्रह का रास्ता तैयार कर सके। २० अप्रिल को फिर एक अमरीकी नागरिक डा० फ्रैंक ग्राहम को इस पद पर नियत कर दिया गया।

ग्राहम अगले दो वर्षों तक इस समस्या को सुलझाने का प्रयास करता रहा। इसके लिए उसने अनेक प्रस्ताव[1] रखे। पर कोई भी प्रस्ताव दोनों पक्षों को मान्य नहीं था। २७ मार्च, १९५३ को ग्राहम ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट में डिक्सन की भाँति यह सुझाव दिया कि इस समस्या को सुलझाने के लिए भारत और पाकिस्तान में प्रत्यक्ष वार्ताएँ होनी चाहिए।

प्रधान मन्त्रियों की वार्त्ता—ग्राहम के उपर्युक्त सुझाव के अनुसार दोनों देशों के प्रधान मन्त्रियो ने लन्दन, कराँची और नयी दिल्ली में कश्मीर के सम्बन्ध में वार्तालाप किया जिसमें उन्होंने यह तय किया कि जनमत संग्रह १९५४ में कराया जाय और उसकी देख-रेख के लिए प्रशासक नियुक्त कर दिया जाय। परन्तु जनमत संग्रह के प्रशासक के नाम पर दोनों के बीच कोई समझौता नही हो सका। फिर भी, दोनों देशो के प्रधान मन्त्रियों के बीच पत्र व्यवहार होता रहा।

कश्मीर-समस्या के स्वरूप में परिवर्तन—इसी बीच कुछ ऐसी घटनाएँ घटी जिसके फलस्वरूप कश्मीर-समस्या के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया। १९५३-५४ में पाकिस्तान पश्चिमी गुट में शामिल हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका से उसकी एक सन्धि हुई जिसके अनुसार पाकिस्तान ने सैनिक सहायता लेना स्वीकार किया और बाद में पाकिस्तानी बगदाद पैक्ट और दक्षिण पूर्व एशिया (Seato) के सैनिक संगठनों में शामिल हो गया। कश्मीर की समस्या पर इन घटनाओं का तात्कालिक प्रभाव पड़ा। भारत ने अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को सैन्य सहायता देने का विरोध किया। कश्मीर में संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से जो अमरीकी नागरिक काम कर रहे थे उनको भारत सरकार ने ४८ घंटे के अन्दर निकल जाने का आदेश दिया। यद्यपि अमेरिका की सरकार ने यह कहा कि पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का उद्देश्य भारत को क्षति पहुँचाना नही है, लेकिन इस तर्क को कैसे माना जा सकता था। जब पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री ने कहा कि "सैनिक सहायता से कश्मीर की समस्या को सुलझाने में मदद मिलेगी" तो उनका इरादा स्पष्ट हो गया। स्थिति की गम्भीरता पर विचार करते हुए १ मार्च, १९५४ को पं० नेहरू ने भारतीय लोकसभा में कहा : "संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति ने कहा है कि पाकिस्तान को दी गयी सैनिक सहायता का यदि दुरुपयोग होता है, इससे दूसरों पर हमला किया जाता है तो वह ऐसे आक्रमण को रोकेगा। परन्तु हमारा पिछला अनुभव यह बतलाता है कि आक्रमण होता है और उसे रोकने का कोई यत्न नही किया जाता। साढ़े छः वर्ष पहले कश्मीर पर भीषण हमला हुआ था, किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका ने आज तक इसकी निन्दा नहीं की और हमें यह कहा जाता रहा है कि हम शान्ति बनाये रखने के लिए इस पर आग्रह नहीं करें। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को दी जानेवाली सहायता से आक्रमण को प्रोत्साहित करने वाली परिस्थितियों के उत्पन्न होने की सम्भावना है। पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री ने कहा है कि यह सहायता [illegible]

1. Hindustan Year Book, 1953, pp. 506-507.

को सुलझाने में सहायक सिद्ध होगी। यह इस बात का सूचक है कि उनका मन किस प्रकार सोचता है और वह सैनिक सहायता को किस प्रकार प्रयोग करना चाहते हैं।"[1]

संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा समर्थित सैन्य संगठनों में पाकिस्तान के शामिल हो जाने से कश्मीर की समस्या "शीत युद्ध" के क्षेत्र में आ गया। कश्मीर स्थित गिलगिट में अमेरिका हवाई अड्डा बनाना चाहता था। गिलगिट सोवियत संघ के बहुत निकट पड़ता है, इस हालत में वह कैसे इसको बर्दाश्त कर सकता था। यों तो पहले से ही साम्यवादी जगत की सहानुभूति भारत के प्रति रही है, पर अब तो सोवियत-संघ कश्मीर के मामले पर खुले आम भारत का पूर्ण समर्थन करने लगा। १९५५ में सोवियत रूस के प्रधान मन्त्री बुलगानिन तथा पार्टी के सेक्रेटरी श्री ख्रुश्चेव भारत आये। कश्मीर भ्रमण के समय उन्होंने घोषणा की कि "सोवियत संघ कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग मानता है···यदि आवश्यकता पड़े तो आप पहाड़ की चोटी पर खड़ा होकर आवाज दे दीजिएगा और हम आपके सहायतार्थ आ जायेंगे।"

इसी बीच कश्मीर के संविधान परिषद् ने यह निर्णय कर लिया कि २६ जनवरी, १९५७ को कश्मीर भारत के साथ अन्तिम रूप से सम्मिलित हो जायगा। पाकिस्तान द्वारा अमरीकी सैनिक गुट में शामिल हो जाने के कारण अब जनमत संग्रह का कोई मूल्य नहीं रह गया था। इसके कारण जनमत संग्रह करने के प्रस्ताव का मूल आधार ही नष्ट हो चुका था।

जारिंग मिशन—२६ जनवरी, १९५७ को कश्मीर संविधान परिषद् के निर्णयानुसार भारत के साथ कश्मीर का पूर्ण और अन्तिम विलयन होनेवाला था। अतएव इसके विरोध में पाकिस्तान ने सुरक्षा परिषद् से पुनः अपील की। २ जनवरी को पाकिस्तान के विदेश मन्त्री ने सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष को पत्र लिखा जिसका आशय यह था : "संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रतिनिधि के सुझाव के अनुसार पिछले तीन वर्षों में दोनों देशों के बीच प्रत्यक्ष वार्ता हो रही थी, लेकिन उसका कोई नतीजा नहीं निकला है। इसके अलावे हाल की घटनाओं से यह स्पष्ट हो गया कि प्रत्यक्ष वार्ता बेकार है। कश्मीर की तथा-कथित विधान परिषद् ने जो निर्णय हाल में किया है वह सुरक्षा परिषद् के ३१ मार्च, १९५१ के प्रस्ताव के विरुद्ध है। इससे एक भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है और इस पर शीघ्र विचार होना चाहिए।" इस प्रकार चार साल के कश्मीर का प्रश्न एक बार फिर से १६ जनवरी, १९५७ को सुरक्षा परिषद् के सामने आया।

सुरक्षा परिषद् में अमेरिका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और क्यूबा ने एक सम्मिलित प्रस्ताव रखा कि सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष गुन्नार जारिंग (स्वेडन) भारत और पाकिस्तान जाकर इस समस्या के समाधान का यत्न करें, १५ अप्रिल तक अपनी रिपोर्ट दें और पाकिस्तान के इस सुझाव पर विचार करें कि राज्य से दोनों पक्षों की सेना हटाने और जनमत संग्रह कराने तक संयुक्त राष्ट्रसंघ की संकटकालीन सेना को कश्मीर भेजा जाय। भारतीय प्रतिनिधि श्री वी० के० कृष्णमेनन ने संकटकालीन सेना भेजने का घोर विरोध किया। इसमें उन्हें सोवियत प्रतिनिधि श्री सोवोलोव का पूरा समर्थन मिला। सोवोलोव ने कहा कि कश्मीर के प्रश्न का निर्णय वहाँ की जनता कर चुकी है और वह भारत का अभिन्न अंग है। मूल प्रस्ताव में उसने संकटकालीन सेना को न भेजने का एक संशोधन पेश किया। परन्तु यह संशोधन साम्राज्यवादी गुट को मान्य नहीं हुआ। इसके बाद जब मूल प्रस्ताव पर सुरक्षा परिषद् में मतदान हुआ तो सोवियत प्रतिनिधि

1. J. L. Nehru, *Independence And After*, p. 108.

ने वीटो का प्रयोग करके पूरे प्रस्ताव को रद्द कर दिया। जब यह प्रस्ताव रद्द हो गया तो २१ फरवरी को सुरक्षा परिषद् में एक दूसरा प्रस्ताव पेश हुआ। इसमें जारिंग को भारत और पाकिस्तान जाने तथा रिपोर्ट देने की बात थी, सेना भेजने का कोई उल्लेख नहीं था। यह प्रस्ताव स्वीकार हो गया।

सुरक्षा परिषद् के इस प्रस्ताव के अनुसार गुन्नार जारिंग १४ मार्च, १९५७ को पाकिस्तान पहुँचे और उसके दस दिनों के बाद भारत आये। दोनों पक्षों से बातचीत करने के पश्चात् उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचते देर न लगी कि दोनों में समझौता कराना असम्भव है। यह स्वीकार करते हुए कि पिछले नौ वर्षों में कश्मीर की स्थिति में मौलिक परिवर्तन हो गया है रिपोर्ट में समस्या को सुलझाने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

पुनः ग्राहम मिशन—जिस दिन जारिंग रिपोर्ट सुरक्षा-परिषद् में पेश की गयी उसी दिन परिषद् को पाकिस्तान सरकार का एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें भारत के विरुद्ध तरह-तरह के आरोप लगाये गये थे। पाकिस्तान की इन शिकायतों पर विचार करने के लिए २४ सितम्बर, १९५७ को सुरक्षा-परिषद् की एक और बैठक हुई। दिसम्बर, १९५७ तक इस समस्या पर विचार होता रहा। परिषद् में घण्टों तक भारतीय और पाकिस्तानी प्रतिनिधियों के भाषण कई दिनों तक चलते रहे। अन्त में २ दिसम्बर को एक प्रस्ताव पास किया गया जिसके अनुसार समस्या को सुलझाने के लिए डा० फ्रैंक ग्राहम को पुनः भारत भेजने का निश्चय किया गया। प्रस्ताव के द्वारा दोनों देशों से यह आग्रह किया गया कि वे कोई ऐसा कार्य नहीं करें जिससे वातावरण खराब हो। सोवियत प्रतिनिधि ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। पर इस बार उसने वीटो का प्रयोग नही किया।

पारित प्रस्ताव के अनुसार डा० फ्रैंक ग्राहम १२ जनवरी से १५ जनवरी, १९५८ तक भारत और पाकिस्तान की सरकारों से बातचीत करते रहे। ३ अप्रिल, १९५८ को सुरक्षा-परिषद् में उन्होंने अपनी रिपोर्ट पेश की। इसमें समस्या को सुलझाने के लिए उन्होंने पाँच प्रस्ताव रखे थे। इस प्रस्तावों में प्रायः पुरानी बातों को ही दुहराया गया था; पाकिस्तानी आक्रमण की कोई चर्चा नहीं थी। इसलिए यद्यपि पाकिस्तान ने सिद्धान्त के रूप में इसे स्वीकार कर लिया, पर भारत ने इसको नामंजूर कर दिया।

१९६२-६४ में—इसके बाद कुछ दिनों तक सुरक्षा-परिषद् मौन रही। लेकिन जून १९६२ में अमेरिका के दबाव से बाध्य होकर आयरलैण्ड ने सुरक्षा-परिषद् में कश्मीर सम्बन्धित एक और प्रस्ताव रखा। जिसमें कहा गया था कि भारत और पाकिस्तान कश्मीर समस्या के समाधान के लिए प्रत्यक्ष वार्ता प्रारम्भ करे और ऐसी कोई कार्रवाई न करें जिससे उस क्षेत्र की शान्ति भंग हो जाने का खतरा उत्पन्न हो जाय। सोवियत संघ ने पुनः वीटो का प्रयोग करके इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया। इसके उपरान्त सुरक्षा-परिषद् ने कश्मीर के प्रश्न पर कोई कदम नहीं उठाया।

अक्टूबर, १९६२ में भारत पर चीनी आक्रमण के प्रारम्भ से कश्मीर की समस्या में एक नयी सरगर्मी आयी। इसी स्थिति में अमेरिका और ब्रिटेन की सलाह से भारत और पाकिस्तान के बीच मन्त्रियों के स्तर पर वार्ताएँ शुरू हुई। ऐसी उम्मीद की जाती थी कि मन्त्रियों के पर वार्ता सम्पन्न होने पर प्रधान मन्त्री नेहरू और राष्ट्रपति अयूब खाँ स्वयं बातचीत

लेकिन इन वार्ताओं से अन्ततः कोई लाभ नहीं हुआ। वातचीत के मध्य में फरवरी, १९६१ में पाकिस्तान ने चीन के साथ समझौता करके अधिकृत कश्मीर का एक बहुत बड़ा भू भाग चीन को दे दिया। भारत ने इसका विरोध किया। उसका कहना था कि कश्मीर में पाकिस्तान स्वयं हमलावर है और उसको किसी दूसरे के साथ कश्मीर पर किसी तरह का समझौता करने का अधिकार नहीं है। भारत सरकार ने इस समझौते पर विरोध प्रकट करते हुए सुरक्षा-परिषद् को इसकी सूचना दे दी। जून, १९६३ में मन्त्रियों के स्तर पर समझौते की जो वार्ता हो रही थी, वह समाप्त हो गयी और उससे कोई लाभ नहीं पहुँचा।

१९६४ के प्रारम्भिक महीनों में कश्मीर-समस्या के इतिहास में एक नया अध्याय हुआ। २८ दिसम्बर, १९६३ को श्रीनगर के हजरतबाल मस्जिद से पैगम्बर मुहम्मद साहब का पवित्र बाल चोरी चला गया। इस घटना को लेकर पाकिस्तानी नेताओं ने साम्प्रदायिक घृणा एवं विद्वेष फैलाये। पाकिस्तानी अखबारों ने भारत के विरुद्ध जहर उगलना शुरू किया। फलतः पूर्वी पाकिस्तान में बहुत बड़े पैमाने पर दंगे शुरू हो गये। इस दंगे में हजारों मरे और हजारों शरणार्थी भागकर पश्चिम बंगाल चले आये। इसके प्रतिक्रियास्वरूप भारत के कुछ भागों में भी साम्प्रदायिक दंगे हुए। पाकिस्तान ने इस स्थिति से लाभ उठाने का निश्चय किया और अप्रिल, १९६४ में कश्मीर की समस्या को पुनः सुरक्षा परिषद् में ले गया। हजरत बाल कांड को लेकर कश्मीर में जो सरगर्मी आयी उसको पाकिस्तान ने "कश्मीरियों का विद्रोह" बतलाया और संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप की मांग की। लेकिन इस बैठक में सुरक्षा-परिषद् कुछ न कर सकी और यह निश्चय किया गया कि ५ मई, १९६४ के दिन कश्मीर समस्या पर परिषद् विचार करे।

शुरू मई में कश्मीर की सरकार ने शेख अब्दुल्ला को जेल से मुक्त कर दिया। बहुत दिनों से पाकिस्तान यह प्रचार कर रहा था कि कश्मीर के एकमात्र नेता शेख अब्दुल्ला को जेल में बन्द करके भारत सरकार कश्मीर की जनता को कुचले हुए है। इस झूठे प्रचार का भंडाफोड़ करने के उद्देश्य से सरकार ने शेख को रिहा कर दिया। पर जेल से छुटते ही शेख ने कश्मीर के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार और जनमत संग्रह की मांग की। इसी वातावरण में ५ मई, १९६४ को कश्मीर के प्रश्न पर विचार करने के लिए सुरक्षा-परिषद् की बैठक में पाकिस्तान के प्रतिनिधि श्री भुट्टो तथा भारतीय प्रतिनिधि श्री छागला ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये। पाकिस्तानी प्रतिनिधि ने कश्मीर में जनमत संग्रह की अपनी पुरानी मांग रखी। भारतीय प्रतिनिधि ने पुनः इसका विरोध किया। अन्त में, अन्य अवसरों की तरह, इस बार भी सुरक्षा-परिषद् किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकी। परिषद् में एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसके द्वारा दोनों पक्षों से यह अनुरोध किया गया कि वे प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा समस्या के शांतिपूर्ण समाधान के लिए प्रयास करते रहें।

पाकिस्तान की घुसपैठी आक्रमण—अगस्त, १९६५ में कश्मीर की समस्या ने पुनः भयंकर रूप धारण कर लिया। ५ अगस्त को तीन हजार के लगभग पाकिस्तानी कश्मीर युद्ध-विराम रेखा को पार करके भारतीय क्षेत्र में घुस गये। इनमें से अधिकांश "आजाद कश्मीर सेना" के सैनिक थे, लेकिन वे असैनिक पोशाक में घुसे थे। ये घुसपैठी आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से लैस थे और इनका उद्देश्य भारतीय क्षेत्र में तोड़-फोड़, लूट और आंतक फैलाना था। सम्भवतः

पाकिस्तान का इरादा १६४७ के इतिहास को दुहराना था। ६ अगस्त को शेख अब्दुल्ला के कैद की वर्षगांठ के अवसर पर कश्मीर जनमत संग्रह दल ने एक विशाल प्रदर्शन का आयोजन किया था। उसी दिन घुसपैठियों को अपनी कार्रवाई शुरू करनी थी ताकि पाकिस्तान को यह कहने का मौका मिल जाय कि कश्मीर की जनता ने भारत के विरुद्ध विद्रोह कर [illegible] है। भारत सरकार ने इस घटना की सूचना विराम रेखा पर स्थित संयुक्त [illegible] दे दी। इन पर्यवेक्षकों ने स्थिति की जाँच पड़ताल की और [illegible] पर्यवेक्षक जेनरल निम्मो (General Nimmo) ने महासचिव को [illegible] असैनिक पोशाक में बहुत से लोग सीमा के उस पार से [illegible] को महासचिव यू थान्त ने भारतीय और पाकिस्तानी [illegible] कि वे अपनी सरकारों को संयम से काम लेने की [illegible]।

श्री पार्थसारथी ने कहा कि पाकिस्तान ने अपने आक्रमण के द्वारा १६४६ में कराची में हुए युद्ध-विराम समझौते को टुकड़े-टुकड़े कर दिया है और युद्ध-विराम रेखा को कसाईखाने के रूप में परिवर्तित कर दिया है। बहस का प्रारम्भ करते हुए श्री पार्थसारथी ने कहा कि सुरक्षा परिषद पिछले अठारह वर्षों से कश्मीर समस्या को सुलझाने में असफल रही है क्योंकि वह इस समस्या के साथ तथ्य, कि पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण किया है, मानने से हमेशा इनकार करती रही है। उन्होंने कहा कि "कश्मीर में आजकल जो हो रहा है वह पुनः एक भारी आक्रमण है। न्यायविहीन पाकिस्तानी दावे से सुरक्षा-परिषद् पथभ्रष्ट, भ्रम और बहकावे में पड़ गयी है।"

पाकिस्तानी प्रतिनिधि श्री सैयद अमजाद अली ने कहा कि भारतीय प्रतिनिधि द्वारा दिया हुआ एक भी वक्तव्य ऐसा नहीं है जो कि मनगढ़ंत न हो और तथ्यों के आधार पर तर्क-वितर्क नहीं किया जा सकता है। इसके बाद छः निर्वाचित सदस्यों की ओर से मलयेशिया ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें कश्मीर में अविलम्ब युद्ध विराम लागू करने के लिए भारत और पाकिस्तान से माँग की गयी थी। इसमें सम्मान करने और युद्ध विराम रेखा के अपने भागों में सब सैनिकों को वापस बुला लेने के लिए आग्रह करती है।

मलयेशियाई प्रतिनिधि श्री राधाकृष्ण रमानी ने कहा कि प्रस्ताव इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता, उसमें केवल अविलम्ब युद्ध को बन्द करने की मांग की गयी है। परिषद् ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

परिषद् का यह प्रस्ताव अनेक त्रुटियों से भरा पड़ा था। इसमें कश्मीर में पाकिस्तान के नये आक्रमण की निन्दा न करके पुनः उस ऐतिहासिक भूल को दुहराया गया जो १६४७ में पाकिस्तानी आक्रमण के समय की गयी थी। इस बार जब कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव स्पष्ट रूप से पाकिस्तान को वर्त्तमान हमले के लिए दोषी बताया था, तो सुरक्षा परिषद की यह उपेक्षा न्याय का गला घोंटने के समान थी। सुरक्षा-परिषद् की उक्त बैठक महासचिव थान्त की रिपोर्ट पर विचार के लिए जब बुलायी गयी थी तब उस पर कोई विचार हो न किया जाना विस्मयकारी था। यह विस्मय उस समय और अधिक हो जाता है जब कि मूल प्रश्न पर विचार न कर आक्रामक पाकिस्तान तथा आक्रान्त भारत को समान कोटि में रखने का प्रयत्न किया गया। सुरक्षा परिषद् में जो प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत बताया जाता है, उसमें भारत तथा पाकिस्तान दोनों से तत्काल युद्ध-विराम करने की अपील की गयी। लेकिन वास्तविकता को घोर अपेक्षा कर केवल औपचारिक कार्रवाई से कोई लाभ नहीं हो सकता। सुरक्षा परिषद् के सदस्यों ने इसपर तनिक भी विचार नहीं किया। युद्ध-विराम का प्रस्ताव स्वीकार कर फर्ज अदायगी तो कर दी गयी, किन्तु इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया कि आक्रमणकारी पाकिस्तान को अपनी सेना पीछे हटाने का आदेश दिया जाय। जबतक कश्मीर पर नया हमला करने वाले देश को न रोका जायग। तबतक आखिर युद्ध बन्द भी कैसे हो सकता है? इस बात की ओर सुरक्षा-परिषद् के अध्यक्ष तथा सदस्यों का ध्यान न जाना अत्यन्त खेदजनक था।

यह स्थिति उस समय और भी गम्भीर चिन्ता का कारण बन जाती है; जब कि महासचिव थान्त की कश्मीर सम्बन्धी रिपोर्ट पर कोई ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। एक ओर तो महासचिव श्री थान्त की पहली रिपोर्ट तथा उनके कश्मीर सम्बन्धी

वक्तव्य को प्रकाशित नही होने दिया गया; फिर जब तत्सम्बन्धी गोपनीय रिपोर्ट उपस्थित की गयी तब भी उसपर ध्यान न दिया जाना आश्चर्यजनक ही नहीं घोर अनर्थकारी भी था। इस रिपोर्ट मे महासचिव श्री थान्त ने जब पाकिस्तान को ही वर्तमान संघर्ष के लिए दोषी ठहराया तो फिर सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष और सदस्य को इसे कहने में संकोच क्यों हुआ ?

६ सितम्बर को युद्ध की स्थिति पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद् की दूसरी बैठक हुई। यू थान्त ने परिषद् को सूचित किया कि भारत और पाकिस्तान दोनों ने युद्ध बन्द करने से इन्कार कर दिया है। उस रात सुरक्षा परिषद् ने सर्वसम्मति से एक संकटकालीन प्रस्ताव पास किया जिसमें भारत और पाकिस्तान को तत्काल युद्ध बन्द करने के लिए कहा गया। उनसे यह भी अनुरोध किया गया कि वे अपने सशस्त्र सैनिकों को उन स्थानों पर लौटा लें जहाँ वे गत ५ अगस्त को थे। प्रस्ताव में महासचिव से प्रार्थना की गयी थी कि वे इस प्रस्ताव को तथा ४ सितम्बर के प्रस्ताव को मनवाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न का उपयोग करें।

उसी समय महासचिव ने यह घोषणा की कि वे बहुत शीघ्र युद्ध बन्द कराने के लिए पाकिस्तान और भारत जायेंगे।

यू थान्त का शान्ति अभियान—सुरक्षा परिषद् के इस प्रस्ताव के आधार पर ६ सितम्बर को यू थान्त कराँची पहुँचे। तीन दिनों तक पाकिस्तानी नेताओं से उन्होंने बातचीत की। पाकिस्तान ने युद्ध विराम के प्रस्ताव को मंजूर करने के लिए तीन शर्तें रखीं।

१. युद्ध विराम के बाद सम्पूर्ण कश्मीर से भारत और पाकिस्तान अपनी सेनाओं को पूरी तरह हटा लें।
२. जनमत संग्रह होने तक कश्मीर में शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने के लिए अफ्रिकी-एशियाई देशों की सेना रखी जाय।
३. तीन महीनों के भीतर कश्मीर में सुरक्षा परिषद् के ५ जनवरी, १९४९ के प्रस्ताव के अनुसार जनमत संग्रह के लिए मतदान किया जाय।

इन शर्तों ने स्पष्ट कर दिया कि पाकिस्तान युद्ध बन्द करने के लिए तैयार नही है, क्योंकि ये तीनों शर्तें ऐसी थी जिनको भारत किसी हालत में नही मान सकता था। १२ सितम्बर को महासचिव दिल्ली पहुँचे। दिल्ली में भारतीय प्रधान मन्त्री से उन्होंने तुरत युद्ध बन्द कर देने का प्रस्ताव रखा। भारत इस प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार था लेकिन साथ ही उसने यह स्पष्ट कर दिया कि वह अपनी प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखने के लिए स्वतन्त्र है। १५ सितम्बर को राष्ट्रपति अयूब खाँ ने युद्ध विराम के प्रस्ताव को अन्तिम रूप से अस्वीकार कर दिया। यू थान्त अपने शान्ति अभियान में विफल होकर न्यूयार्क लौट गया।

न्यूयार्क पहुँच कर १६ सितम्बर को महासचिव ने सुरक्षा परिषद् में अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट पेश की। इस प्रारम्भिक रिपोर्ट में बताया गया था कि यदि पाकिस्तान राजी हो तो भारत बिना शर्त युद्ध बन्द करने का सुझाव मानने को तैयार था। लेकिन पाकिस्तान ने इस प्रस्ताव के स्वीकार करने की सूचना नहीं दी है और वस्तुतः उसने प्रस्ताव को अप्रत्यक्ष रूप से ठुकरा दिया है।

सुरक्षा-परिषद् की तीसरी बैठक—१८ सितम्बर को यू थान्त की भारत-पाकिस्तान यात्रा की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद की बैठक फिर हुई। यू थान्त ने परिषद् से मांग की कि चार्टर की धारा ४० के अधीन सुरक्षा परिषद् भारत और पाकिस्तान को लड़ाई बन्द करने का आदेश दे और यदि वे युद्ध विराम न करें तो चार्टर की ३९ वीं धारा के अधीन उनके विरुद्ध कार्रवाई की जाय। महासचिव ने कहा कि चार्टर की ४० वीं धारा के अनुसार सुरक्षा परिषद् भारत पाकिस्तान को और आगे सैनिक कार्रवाई से विरत होने तथा युद्ध विराम के लिए आदेश दे सकती है। १९३८ में सुरक्षा परिषद् ने फिलिस्तीन के प्रश्न पर इस प्रकार का आदेश दिया था। यू थान्त ने कहा कि दोनों देशों के नेताओं से तुरत एक शीर्ष-सम्मेलन करने के लिए परिषद् अपील कर सकती है। यह सम्मेलन संघ के सहयोग से किसी तटस्थ देश में हो सकता है।

भारतीय प्रतिनिधि श्री एम० सी० छागला ने परिषद् से कहा कि पहले वह यह निश्चित करे कि भारत पाकिस्तान युद्ध में कौन आक्रामक है।

श्री छागला ने घोषणा की कि मौलिक प्रश्न यह है कि आक्रामक कौन है? यही उपयुक्त समय है जब कि आक्रमणकारी को आक्रमणकारी कहा जाय। उन्होंने कहा कि राष्ट्रसंघीय पर्यवेक्षकों की रिपोर्ट में यह बात साफ-साफ कही गयी है कि ५ अगस्त को कश्मीर में सशस्त्र अतिक्रमणकारी सीमा पार करके पाकिस्तान से भारत में घुसे।

श्री छागला ने कहा कि राष्ट्रपति अयूब खाँ का कट्टर और दुराग्रहपूर्ण रुख इसीलिए था कि वे कल की पिकिंग की धमकी के बारे में पहले से ही जानते थे। अयूब खाँ चाहते हैं कि भारत दोनों मोरचों पर लड़े। वे चाहते हैं कि चीन भारत पर हमला बोल दे।

उन्होंने कहा कि जानबूझकर राष्ट्रपति अयूब खाँ का नवीनतम पत्र यू थान्त को उसी समय दिया गया जब कि चीन ने भारत को चुनौती दी। चीन ने भारत को चुनौती दी थी कि यदि वह तिब्बत-सिक्किम सीमा के अपने सैनिक ठिकानों को नष्ट नहीं करता तो इसका परिणाम भयानक होगा।

श्री छागला ने कहा कि हमारी सरकार कश्मीर में किसी भी विदेशी सेना भेजने का विरोध करेगी। कश्मीर में जनमत संग्रह का भी भारत विरोध करेगा।

मलेयेशिया के प्रतिनिधि राधाकृष्ण रमानी ने बहस में भारत का समर्थन किया और कहा कि परिषद् को एक चतुर्सूत्रीय प्रस्ताव पास करना चाहिए जिसमें युद्ध विराम के लिए महासचिव की अपील स्वीकार करने की भारतीय तत्परता की सराहना की जाय, शर्तों की स्वीकृति बिना पाकिस्तान द्वारा उसे न मानने के हठ पर खेद प्रकट किया जाय, कश्मीर में पाकिस्तान के सशस्त्र अतिक्रमण की भर्त्सना की जाय तथा पाकिस्तान से लड़ाई बन्द करने को कहा जाय।

रूसी प्रतिनिधि ने भारत-पाकिस्तान संघर्ष से लाभ उठानेवाले पक्षों को चेतावनी दी और कहा कि ये पक्ष अपने विस्तारवादी इरादों और नापाक नीतियों के कारण यह सब कुछ कर रहे हैं। भारत पाकिस्तान के संघर्ष में केवल उन्हीं लोगों को लाभ पहुँच सकता है जो विश्व की जनता में नापाक इरादों से फूट डालना चाहते हैं तथा जिनके विस्तारवादी एवं साम्राज्यवादी इरादे हैं। सुरक्षा परिषद् को इस बात पर जोर देना है कि जो प्रस्ताव पास हुए हैं उनपर

तुरत अमल किया जाय। वियतनाम में अमरीकी आक्रमण से गम्भीर बनी स्थिति भारत पाकिस्तान के संघर्ष से और गम्भीर हो उठी है और एशिया में तनाव बढ़ गया है। संघर्ष रूस की सीमा के और निकट आ गया है। अतः रूस और ज्यादा चिन्तित है। अमेरिका और ब्रिटेन ने भी युद्ध-विराम का समर्थन किया।

सुरक्षा परिषद् के सदस्यों में केवल जोर्डन ही अकेला वह देश रहा जिसने पाकिस्तान का समर्थन करते हुए कहा कि सुरक्षा परिषद् को कश्मीर का प्रश्न हल करने के लिए अग्रसर होना चाहिए जो चल रहे संघर्षों की जड है। सुरक्षा परिषद् को कश्मीर का प्रश्न सुलझाने में अन्तिम निर्णय के अधिकार पर बल देने की जरूरत है। बिना इसके भारत-पाकिस्तान के बीच वार्ता के लिए कोई समान आधार नहीं दिखाई पड़ता।

सुरक्षा परिषद् ने अपनी २० सितम्बर की बैठक में दस मतों से निदरलैंड द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव पास किया। जोर्डान ने मतदान में भाग नहीं लिया। प्रस्ताव में परिषद् ने भारत और पाकिस्तान को आदेश दिया कि वे बुधवार को साढ़े बारह बजे से युद्ध बन्द करने का आदेश जारी करें और बाद में अपने सारे सैनिक उन स्थानों पर वापस हटा लें जहाँ वे अगस्त, १९६५ में थे। महासचिव से कहा गया कि वे युद्ध विराम के निरीक्षण और सेनाओं की वापसी के निगरानी के लिए आवश्यक सहायता की व्यवस्था करें। साथ ही सभी देशों से कहा गया कि वे ऐसी कोई कार्रवाई न करें जिससे स्थिति और बिगड़े। परिषद् ने इस बात पर विचार करने का भी निश्चय किया कि वर्तमान झगड़े में निहित राजनीतिक समस्या के हल के लिए युद्ध विराम के बाद क्या कदम उठाये जायें।

प्रस्ताव की समीक्षा—सुरक्षा परिषद् का यह प्रस्ताव भारत के साथ एक अन्याय था। इसके द्वारा भारत और पाकिस्तान को युद्ध बन्द करने का आदेश दिया गया था। लेकिन उक्त आदेश केवल पाकिस्तान को दिया जाना चाहिए था। कारण, पाकिस्तान ने ही सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव को अस्वीकार किया था। भारत ने तो उसे पहले ही बिना शर्त मान लिया था। भारत जब युद्धबन्दी के प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तैयार था तो कोई कारण नहीं कि उसे भी उक्त आदेश दिया जाय। आक्रमणकारी तथा आक्रान्ता दोनों के साथ एक प्रकार का यह व्यवहार बहुत ही खटकनेवाला था। युद्ध बन्द करने का आदेश तो उस देश को दिया जाना चाहिए जिसने युद्ध शुरू किया हो। पाकिस्तान ने ही भारत पर आक्रमण किया था और वह सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव को भी मानने के लिए तैयार नहीं था। ऐसी स्थिति में भारतीय प्रतिनिधि श्री छागला का यह कथन सर्वथा उचित एवं युक्तियुक्त रहा कि युद्धबन्दी का आदेश केवल पाकिस्तान को ही दिया जाय जिसने भारत पर आक्रमण किया है। प्रस्ताव में भारत को आदेश देने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं थी। वह तो पहले से ही इसके लिए तैयार था बशर्ते पाकिस्तान भी इसे स्वीकार करे।

प्रधान मन्त्री श्री शास्त्री तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव श्री थान्त के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ था उससे स्पष्ट है कि भारत तो शान्ति के निमित्त युद्ध विराम के लिए प्रस्तुत था किन्तु पाकिस्तान की दुराग्रही शर्तों के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। भारत इस बात के लिए प्रस्तुत था कि महासचिव थान्त के प्रस्ताव को मान ले किन्तु जब पाकिस्तान बिना शर्त युद्ध विराम के लिए तैयार ही नहीं हुआ तो क्या किया जाता। इस प्रकार महासचिव थान्त

को असफल बनाने का सारा दोष पाकिस्तान तथा उसे प्रोत्साहन देनेवाले देशों पर था। शुक्रवार की रात को सुरक्षा-परिषद् की बैठक में महासचिव श्री थान्त ने अपने इस प्रयास के बारे में जो रिपोर्ट दी, उससे भी उक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है। सुरक्षा-परिषद् को पहले ही महासचिव की रिपोर्ट पर विचार कर पाकिस्तान को आक्रमणकारी घोषित करना चाहिये था। यह न कर बहुत बड़ी गलती की गयी। थान्त के प्रयास को विफल कर पुनः पाकिस्तान ने हिमाकत की और शान्तिप्रिय देशों की इच्छा एवं आग्रह को ठुकराया। यही नहीं, पाकिस्तान राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध में भी जिस प्रकार की बातें करने लगा था, वह उसके औद्धत्य की सूचक था।

इस बार भी सुरक्षा परिषद् ने मूल प्रश्न की उपेक्षा कर पाकिस्तान के आक्रमणकारी स्वरूप पर पर्दा डालने की कोशिश की। यह पहला अवसर नहीं जब कि पाकिस्तान ने कश्मीर पर हमला किया हो। १९४७ में भी उसने यही काम किया था। अब जब कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के कश्मीर स्थित प्रधान पर्यवेक्षक जेनरल निम्मो ने स्पष्ट शब्दों में पाकिस्तान को हमला करनेवाला घोषित किया और उसकी पुष्टि महासचिव यू थान्त ने भी अपनी सुरक्षा-परिषद् की रिपोर्ट में की, इसके बाद भी पाकिस्तान को हमलावर घोषित न करना भारत के साथ सरासर अन्याय करना था। प्रस्ताव में यदि युद्धबन्दी का ही आदेश होता तो बात दूसरी होती। इसमें कश्मीर की राजनीतिक समस्या के समाधानों की भी चर्चा की गयी थी। प्रस्ताव में इसका उल्लेख अप्रासंगिक एवं अनावश्यक था। कारण कश्मीर पर भारत की प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं उठाया जा सकता। १९४७ में भी भारत ने ही कश्मीर पर पाकिस्तानी हमले की फरियाद की थी। उस समय भी भारत को न्याय नहीं मिला और पाकिस्तान के आक्रमणकारी रूप प्रकट होने पर भी वह किसी प्रकार लांछित एवं दण्डित नहीं हुआ। इस बार जब कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रतिनिधि तथा सर्वोच्च अधिकारी की यह रिपोर्ट थी कि पाकिस्तान ने कश्मीर पर हमला किया है, उस समय भी पाकिस्तान को आक्रमणकारी न घोषित करना बड़े ही आश्चर्य की बात है। स्पष्ट है कि सुरक्षा परिषद् गुटों के आधार पर बँटी हुई है तथा वहाँ राजनीतिक स्वार्थों के अनुसार निर्णय हुआ करते हैं। न्याय तथा सत्य का परिषद् के निर्णय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह बात सुरक्षा परिषद् के नये आदेश से स्पष्ट हो जाती है। सुरक्षा परिषद् की बैठक में युद्ध विराम के बाद संघर्ष की मूल समस्या के समाधान की जो बात कही वह बड़ी ही अनर्थमूलक था।

युद्ध-विराम—यद्यपि भारत के लिए इस प्रस्ताव को स्वीकार करना बड़ा कठिन था, लेकिन शान्ति के नाम पर उसने इसे स्वीकार कर लिया। पाकिस्तान ने २२ सितम्बर को इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। अतएव युद्ध-विराम का समय सुरक्षा परिषद् द्वारा बढ़ा दिया गया। २३ सितम्बर को सुबह ३ बजकर ३० मिनट पर दोनों पक्षों ने युद्ध बन्द कर दिया।

यद्यपि सुरक्षा परिषद् ने इस प्रस्ताव के द्वारा भारत के साथ न्याय नहीं किया लेकिन भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध बन्द करा देना उसकी एक बहुत बड़ी सफलता मानी जायगी। इस सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव यू थान्त के प्रयास भी सराहनीय माने जायेंगे।

(xiii) कोरिया की समस्या

सूत्रपात—युद्धोत्तर काल की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में कोरिया की समस्या सबसे गम्भीर और महत्त्वपूर्ण समस्या मानी जाती है, क्योंकि इसको लेकर १९५० में जो युद्ध छिड़ा उसको भावी तृतीय विश्वयुद्ध का एक छोटा रूप माना जाता था। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ के छोटे से इतिहास में इसका विशेष महत्त्व है। इस युद्ध में पहला दो विरोधी महाशक्तियाँ आमने-सामने खड़ी थी और इसलिए कोरिया में संयुक्तराष्ट्र की कार्यवाही अत्यन्त महत्त्वशील थी। इसने संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न सामने लाकर खड़े कर दिये।[1]

युद्ध के पूर्व कोरिया जापान के साम्राज्य के अन्तर्गत था। काहिरा और पोट्सडाम सम्मेलन में यह घोषणा की गयी थी कि युद्धोपरान्त कोरिया स्वतन्त्र रहेगा। युद्ध में जापान की पराजय के बाद कोरिया दो भागों में विभक्त हो गया, ३८ अक्षांश रेखा के उत्तर सोवियत संघ तथा दक्षिण में संयुक्त राज्य अमेरिका का आधिपत्य कायम हो गया। यही रेखा उत्तरी और दक्षिणी कोरिया को बाँटती है। इसके बाद यह प्रयास होने लगा कि दोनों कोरिया का एकीकरण हो। लेकिन शीत युद्ध के प्रारम्भ हो जाने के कारण यह असम्भव हो गया। उत्तर कोरिया में सोवियत संघ के प्रभाव के साम्यवादी व्यवस्था कायम हुई और दक्षिण कोरिया में अमेरिका अपना प्रभाव जमाने लगा। दोनों ही पक्ष कोरिया में अपनी स्थिति दृढ़ बनाना चाहते थे। इस हालत में कोरिया में एकीकरण के प्रश्न पर किसी समझौते का होना असम्भव हो गया।

सितम्बर, १९४७ में कोरिया का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा के सामने पेश हुआ। नवम्बर में सभा ने एक प्रस्ताव पास करके कोरिया के दोनों क्षेत्रों में चुनाव का आदेश दिया तथा चुनाव कराने के लिए "संयुक्त राष्ट्रसंघ का कोरिया पर अस्थायी" स्थापित किया। किन्तु रूस ने इस आयोग को उत्तर कोरिया में प्रवेश करने से रोक दिया। इस पर आयोग ने केवल दक्षिण कोरिया में ही चुनाव का प्रबन्ध किया जिसके फलस्वरूप डा० सिंगमन री के नेतृत्व में दक्षिण-पंथी दलों ने विजय प्राप्त की। इसके बाद दक्षिण कोरिया में डा० सिंगमन री की अध्यक्षता में एक गणराज्य की स्थापना हुई। १२ दिसम्बर, १९४७ को साधारण-सभा ने इसको कोरिया का वैध सरकार मान लिया। इसी बीच सोवियत संघ ने भी उत्तर कोरिया में जनरल किम इल संघ की अध्यक्षता में एक कोरियाई जनवादी गणराज्य की स्थापना कर दी। दक्षिण कोरिया की सरकार को अमेरिका के सभी पिछलगू देशों ने मान्यता प्रदान कर दी और उत्तर कोरिया सरकार को साम्यवादी देशों की मान्यता मिल गयी।

इसी बीच साधारण सभा ने एक और प्रस्ताव स्वीकृत करके अमेरिका और रूस को यह आदेश दिया कि वे कोरिया से अपनी-अपनी सेना हटा लें। इस प्रस्ताव के आधार पर १९४८ के अन्त में सोवियत सेना उत्तर कोरिया से तथा जून १९४९ में अमरीकी सेना दक्षिण कोरिया से हटा ली गयी। उधर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कोरिया के एकीकरण के लिए सात सदस्यों का एक आयोग बना दिया। लेकिन एकीकरण का कार्य बड़ा कठिन था। कोरिया शीत-युद्ध का अखाड़ा बन गया था और दोनों में संघर्ष अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा था। सीमाओं पर दिन-प्रतिदिन दोनों पक्षों में मुठभेड़ होती रहती थी। ऐसी परिस्थिति में कोरिया को समस्या जटिल बनती जा रही थी।

1. K. P. Karunakaran, *India in the World Affairs* (Vol II), p. 123

कोरिया युद्ध—२५ जून १९५० को "उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया।" संयुक्त राष्ट्रसंघ के कोरियाई आयोग ने यह संवाद दिया कि यह आक्रमण अघोषित, पूर्व आयोजित एवं पूर्ण तैयारी के साथ हुआ है। २७ जून को आक्रमण पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलायी गयी। एक प्रस्ताव पास हुआ कि "शान्ति भंग हुई है"
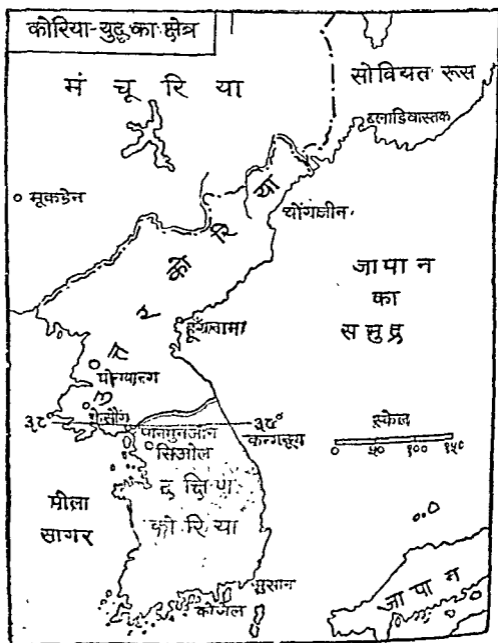
और इसलिए संघ के सदस्य-राज्य "कोरिया के प्रजातन्त्र को ऐसी सहायता प्रदान करें जो सशस्त्र आक्रमण को खदेड़ने तथा इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए आवश्यक है।" संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीनी सदस्यता के प्रश्न को लेकर सोवियत रूस इस समय तक सुरक्षा परिषद् का बहिष्कार किए हुए था। अतएव सोवियत संघ की अनुपस्थिति में ही परिषद् ने एक के विरुद्ध सात मतों से अमेरिका का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उधर कोरिया आक्रमणकारी

घोषित किया गया। अन्य राष्ट्रों से कहा गया कि वे संयुक्त राष्ट्रसंघ के इस कार्य में सहायता दें। अमेरिका से बाजाप्ता युद्ध शुरू हो गया। इस युद्ध को "संयुक्त राष्ट्र संघ का युद्ध" कहा गया। लेकिन वस्तुतः यह अमेरिका का युद्ध था। बात यह थी कि सुरक्षा परिषद् के निर्णय के पहले ही अमेरिका ने उत्तरी कोरिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। परिषद् की दूसरी बैठक में अमरीकी प्रतिनिधि ने स्पष्ट किया कि फारमोसा को आक्रमण से बचाने के लिए तथा दक्षिण कोरिया को मदद देने के निमित्त राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमरीकी सेनाएँ और नौ-सेनाएँ भेजने का आदेश जारी कर दिया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कुछ निष्पक्ष सदस्यों ने इस निर्णय का विरोध किया। वे सैनिक कार्रवाई के बदले शान्तिपूर्ण तरीके से समस्या के समाधान का सुझाव दे रहे थे। सोवियत-संघ ने इस प्रस्ताव की बड़ी निन्दा की। उसने परिषद् के सभी निर्णयों को गलत बतलाया, क्योंकि सारे निर्णय सुरक्षा-परिषद् के एक स्थायी सदस्य (रूस) की अनुपस्थिति में हुए थे। लेकिन सोवियत-विरोध पर ध्यान नहीं दिया गया। ७ जुलाई, १९५० को सुरक्षा-परिषद् ने एक और प्रस्ताव पास किया और इस युद्ध के लिए एक संयुक्त कमान बनाया और संयुक्त राज्य अमेरिका को इसका सेनापति निश्चित किया गया। जब सुरक्षा-परिषद् इस तरह का गैर कानूनी काम करती रही तब सोवियत-संघ के लिए परिषद् में पुनः लौट आना आवश्यक हो गया। अगस्त में सोवियत प्रतिनिधि जैकब मल्लिक ने परिषद् में अपना स्थान ग्रहण कर लिया।

इसी बीच "संयुक्त राष्ट्र.संघ की सेना" में सोलह राष्ट्र सम्मिलित हो गये। इसका प्रधान सेनापति जनरल मैकार्थर बनाया गया। युद्ध बड़ी तेजी से चलने लगा। पर प्रारम्भ में उत्तर कोरिया को विजय मिलती रही। थोड़े ही दिनों में उसने दक्षिण कोरिया की राजधानी सिओल पर कब्जा कर लिया। जब अमेरिका युद्ध में बुरी तरह हारने लगा तो उसने उत्तर कोरिया के विरुद्ध कीटाणु युद्ध (bacteriological warfare) शुरू कर दिया। यह अन्तर्राष्ट्रीय नियम का उल्लंघन था, लेकिन युद्ध में नियम की परवाह नहीं की जाती। कीटाणु युद्ध शुरू करने से अमेरिका की स्थिति कुछ सम्हली और वह उत्तरी कोरिया की सेना को पीछे की ओर हटाना शुरू किया। जब संयुक्त राष्ट्र संघ (अर्थात् अमेरिका) की सेना उत्तर में बढ़ने लगी तब भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल ने ३८ अक्षांश रेखा से आगे न बढ़ने की अपील की। लेकिन अमेरिका क्यों मानता। यह प्रशान्त महासागर और सम्पूर्ण पूर्वी एशिया में अमरीकी प्रभुता कायम करने का प्रश्न था। जनरल मैकार्थर न केवल उत्तरी सीमा पर स्थित यालू नदी तक अपनी सेनाएँ ले जाना चाहता था वरन् वह मंचूरिया पर भी अधिकार कर लेना चाहता था, क्योंकि उसके विचार से यहीं से उत्तर कोरिया को युद्ध-सामग्री पहुँच रही थी। इतना ही नहीं अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी नौ सेना के सातवें दस्ते को फारमोसा पर निगरानी रखने का भी आदेश दे दिया। यह चीन के आन्तरिक मामले में लज्जाहीन हस्तक्षेप था। इस हालत में कोरियाई युद्ध में जनवादी चीन का हस्तक्षेप अवश्यम्भावी हो गया।

चीन का हस्तक्षेप—जब अमेरिका के कीटाणु युद्ध के कारण उत्तरी कोरिया हारने लगा और मैकार्थर का आक्रामक इरादा स्पष्ट हो गया तो चीन ने कोरियाई युद्ध में हस्तक्षेप करने का निर्णय किया और युद्ध में कम्युनिष्ट चीन के "स्वयं-सेवक" भाग लेने लगे। इससे

युद्ध की समस्या और गम्भीर हो गयी। यह मामला तुरत सुरक्षा-परिषद् में लाया गया। वहाँ एक प्रस्ताव रखा गया कि चीन की सरकार उत्तरी कोरिया को मदद देना बन्द कर दे। परन्तु सोवियत वीटो के कारण यह प्रस्ताव रद्द हो गया। इस समय भारत ने दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने का बड़ा यत्न किया। भारत के कहने-सुनने पर चीन बातचीत करने पर राजी हुआ और संघ में अपना प्रतिनिधि भेजने का निश्चय किया। कोरिया में विराम सन्धि के लिए चीन की तीन माँगे थीं—फारमोसा की मुक्ति, कोरिया से विदेशी सेना हटाने तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ में जनवादी चीन का प्रतिनिधित्व। पर अमेरिका को यह प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ। १ फरवरी, १९५१ को अमेरिका के प्रभाव से साधारण सभा ने एक प्रस्ताव पास करके चीन को भी आक्रमणकारी घोषित कर दिया। यह एक मूर्खतापूर्ण प्रस्ताव था जिसका भारत ने जी-जान से विरोध किया।

विराम-सन्धि—कोरिया में युद्ध ने घनघोर रूप धारण कर लिया। राष्ट्रपति ट्रूमैन अणुबम का प्रयोग करने जा रहे थे। पर उनमें सुबुद्धि आयी और ब्रिटेन के कहने पर उन्होंने ऐसा नहीं करने का वादा किया। लेकिन मैकार्थर अपनी उग्र नीति को कार्यान्वित करने पर तुला हुआ था। वह राष्ट्रपति की अवहेलना करने पर आमादा था। इसलिए मैकार्थर को सेनापति पद से मुक्त कर दिया गया और जनरल रिजवे ने कमान ग्रहण की। २ मई, १९५१ को राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने एक और प्रस्ताव पास करके चीन और उत्तर कोरिया को युद्ध सामग्री भेजे जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। परन्तु इस समय तक लोग युद्ध से तंग आ गये थे। युद्ध में केवल अमेरिका के ही एक लाख बयालीस हजार सैनिक मारे जा चुके थे। अतएव विराम सन्धि की बातें चलने लगी। १० जुलाई, १९५१ को यह बातचीत प्रारम्भ हुई। लेकिन इस पर डेढ़ वर्ष तक बातचीत होती रही। युद्ध विराम-रेखा तो तय हो गयी लेकिन कोरिया के युद्ध-बन्दियों की समस्या सबसे जटिल थी। ८ जुलाई को दोनों पक्षों में एक समझौता हो गया। पाँच तटस्थ राष्ट्रों का एक आयोग बना जिसके जिम्मे युद्ध बन्दियों की अदला बदली का काम सौंपा गया। २७ जून १९५३ को युद्ध विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर हो गया और कोरिया का युद्ध बन्द हो गया।

प्रोफेसर शूमां कोरिया-युद्ध को सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्तों का एक सफल परीक्षण मानते हैं।[1] ए० ई० स्टीवेन्सन ने भी लिखा है कि 'कोरिया के युद्ध की निरर्थकता का विचार उसी समय फैला जब एक विराम सन्धि'के विषय में बातचीत आरम्भ हुई और वास्तव में, जब हमने आक्रमण को रोकने तथा आक्रमणकारियों को नहीं भगाने, जहाँ से वे आये थे, के प्रारम्भिक उद्देश्य की सिद्धी कर ली थी…। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रथम महान् सामूहिक सैनिक चेष्टा ने यह सिद्ध कर दिया कि यह संगठन शक्ति से काम लेने तथा शान्ति से काम लेने दोनों रूपों में प्रयत्न करने योग्य है।…हम लोगों ने सामूहिक सुरक्षा को एक मध्यस्थता की स्थापना की ओर ऐतिहासिक उन्नति कर ली है।"[2] जान फास्टर डलेश ने भी ऐसा ही दावा किया। लेकिन शीतयुद्ध के स्वरूप को समझने वाले इन तर्कों से कभी प्रभावित नहीं हुए। यह किसी भी हालत में संयुक्त राष्ट्रसंघ का युद्ध नहीं था, यह संयुक्त राज्य अमेरिका का युद्ध था जिसमें उसको हार माननी

1. Schuman, *International Politics*, (1953 ed.) pp. 219 and 225.
2. A. E. Stevenson, *Foreign Affairs*, April 1952.

पड़ी थी। संयुक्त राज्य के महासचिव ने १४ जुलाई, १९५० को पचास राज्यों से कोरिया में सेना-भेजने की अपील की थी, जिसमें ३५ ने तो इन्कार कर दिया या उत्तर ही नहीं दिया; शेष जिन राज्यों ने सेनाएँ भेजीं वे अमरीकी गुट के थे और उन्होंने भी बहुत कम मात्रा में सेना भेजी थी। यह एक विशुद्ध अमरीकी युद्ध था जिसका सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त से कोई मतलब नहीं था।

फिर भी कोरियाई युद्ध का संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन पर गहरा प्रभाव पड़ा। सर्वप्रथम इसने सैनिक कार्यवाही के सम्बन्ध में चार्टर की व्यवस्था में एक संशोधन करके इसे ऐच्छिक बना दिया। चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को मानना सदस्य-राज्यों के लिए आवश्यक था। लेकिन सुरक्षा परिषद् इस निर्णय का परिणाम जानती थी। इसलिए उसने सदस्यों से सेना भेजने के लिए सिफारिश की जिसका मतलब यह था कि यह सदस्यों की इच्छा पर है कि वे सैनिक सहायता दें या न दें। फिर शांति के लिए एकता का प्रस्ताव पास करके तथा सोवियत रूस की अनुपस्थिति में सुरक्षा परिषद् में निर्णय लेकर वीटो के सम्बन्ध में उसने एक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण कर दिया।

(xiv) बर्मा में चीनी सेनाएँ—१९५३ में बर्मा में राष्ट्रवादी चीन की सेनाएँ घुस कर उत्पात मचाना शुरू कर दी। बर्मा ने संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा में इस बात की शिकायत की और अनुरोध किया कि उन सैनिकों को तुरत बाहर निकाला जाय। २३ अप्रिल, १९५३ को साधारण सभा ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके बर्मा में राष्ट्रवादी चीन की सेनाओं की उपस्थिति की निन्दा की और उन्हें हट जाने का आदेश दिया। लेकिन इस प्रस्ताव का कोई विशेष नतीजा नहीं निकला। १९५४ में बर्मा ने सूचित किया कि इस विषय में बहुत ही कम प्रगति हुई है। इसी बीच अमेरिका सहित चार राष्ट्रों ने मिलकर इन सैनिकों को निकालना शुरू किया और कुछ ही दिनों में बर्मा इन सैनिकों से मुक्त हो गया।

(xv) ट्यूनिस और मोरक्को के प्रश्न—ट्यूनिस और मोरक्को दोनों पहले फ्रांस साम्राज्य के अन्तर्गत थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद इन देशों में स्वतन्त्रता के लिए जबरदस्त आन्दोलन चल पड़ा। १९५२ में कुछ अरब राज्यों ने सुरक्षा परिषद् में इन दो देशों की स्वतन्त्रता का प्रश्न उठाया। फ्रांस ने आपत्ति की कि यह उसका घरेलू मामला है और सुरक्षा परिषद् ने भी इस पर विचार नहीं करने का निर्णय किया। तब एशियाई अफ्रिकी राष्ट्रों ने इस प्रश्न को साधारण सभा में उठाया। फ्रांस ने फिर विरोध किया, पर सभा ने इन दोनों देशों को अति-शीघ्र स्वतन्त्रता प्रदान करने की सिफारिश की। इस पर फ्रांस का प्रतिनिधि सभा छोड़कर चला गया। सातवें और आठवें साधारण अधिवेशनों में इन प्रश्नों पर खूब गरमागरम बहस हुई। विश्व का लोकमत ट्यूनिस और मोरक्को के पक्ष में था। फ्रांस इसकी अवहेलना नहीं कर सकता था। इसलिए १९५५ में ट्यूनिस तथा १९५६ में मोरक्को को स्वतन्त्र कर देना पड़ा। १९५६ में ये दोनों स्वतन्त्र देश संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य बना लिये गये।

(xvi) स्वेज नहर की समस्या

स्वेज के संकट का प्रारम्भ—स्वेज नहर १८६९ में बना था और इसका संचालन एक स्वेज नहर कम्पनी करती थी जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस का अधिकांश शेयर था। इसकी रक्षा के

लिए ब्रिटिश सरकार एक सेना रखती थी। नवम्बर १९५० में मिस्र की सरकार ने यह माँग की कि १९३६ की सन्धि को, जिसके अनुसार ब्रिटेन मिस्र में स्वेज नहर के रक्षार्थ सेना रखता है, रद्द किया जाय और ब्रिटिश सेना स्वेज क्षेत्र को खाली कर दे। लेकिन ब्रिटेन ने इन माँगों को अस्वीकार कर दिया। इसी बीच मिस्र का राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ता गया और २७ जुलाई, १९५४ को ब्रिटेन को मिस्र के साथ एक नयी सन्धि करके स्वेज क्षेत्र से अपनी सेना हटा लेनी पड़ी। सन्धि के अनुसार यह तय हुआ कि यदि स्वेज नहर पर कोई खतरा उत्पन्न हो तो ब्रिटेन इसकी रक्षा के लिए पुनः सेना भेज सकता है। मिस्र की सरकार ने भी नहर में नौ-चालन की स्वतन्त्रता की गारटी दी।

इस समय तक मिस्र का राज्य-प्रधान कर्नल नासिर हो चुका था। राष्ट्रपति नासिर एक कट्टर राष्ट्रवादी और पश्चिमी साम्राज्यवाद का घोर विरोधी है। मिस्र के आर्थिक विकास के लिए वह नील नदी में अस्वान बाँध का निर्माण करना चहता था। यह अमेरिका और ब्रिटेन की सहायता से ही सम्भव था। अमेरिका ने उसके सामने यह प्रस्ताव रखा कि यदि वह अमरीकी गुट में शामिल हो जाता है तो उसको मुँह माँगी मदद दी जा सकती है। नासिर ने इन्कार कर दिया। फिर भी अमेरिका ने अस्वान बाँध के लिए मदद देने का वादा कर दिया।

इसी समय फिलिस्तीन युद्ध के लिए मिस्र को अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता पड़ी। अमेरिका ने यह समझ कर कि इन शस्त्रों का उपयोग इजरायल पर होगा, अस्त्र-शस्त्र देने से इन्कार कर दिया। नासिर तब सोवियत गुट से अस्त्र-शस्त्र खरीदने लगा। यह बात अमेरिका को एकदम पसन्द नहीं आयी। उसने मिस्र को फिर से डराना-धमकाना शुरू किया। जब नासिर इस पर भी उनके मनोकूल काम करने को तैयार नहीं हुआ तब अमेरिका और ब्रिटेन ने यह कह दिया कि वे अब अस्वान बाँध के लिए कोई मदद नहीं देंगे।

नासिर ईंट का जवाब पत्थर से देना जानता था। उसने २६ जुलाई, १९५६ को स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया और मिस्र में स्वेज नहर-कम्पनी की सम्पत्ति जब्त कर ली। इससे प्राप्त धन-राशि से ही उसने अस्वान बाँध को बनाने का निश्चय किया।

राष्ट्रीयकरण की प्रतिक्रिया—स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की उद्घोषणा से फ्रांस और ब्रिटेन में तहलका मच गया। ब्रिटेन की सरकार ने मिस्र के इस कार्य को स्वेच्छाचारितापूर्ण बतलाया और २७ जुलाई को मिस्र के पास एक विरोध-पत्र भेजा। नासिर ने इस विरोध पत्र को नामंजूर कर दिया। उसका कहना था कि मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीकरण अपनी संप्रभुता के आधार पर किया है और साथ ही स्वेज नहर में जहाजों के आवागमन में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं उपस्थित की गयी है। इस पर ब्रिटेन काफी रंज हुआ और उसने मिस्र के सभी स्टर्लिंग को जब्त कर लिया। मिस्र पर और भी आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये गये। फ्रांस ने भी ब्रिटेन का ही अनुसरण किया। अमेरिका सहित अन्य साम्राज्यवादी देशों से भी ब्रिटेन और फ्रांस का समर्थन किया। महान् शक्तियों में सोवियत संघ ने मिस्र का साथ दिया।

लन्दन सम्मेलन—ब्रिटेन और फ्रांस के लिए स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण एक घोर वज्रपात था। इसलिए इस संकट पर विचार करने के लिए २ अगस्त को ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के विदेशी मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ। यहाँ यह निर्णय किया गया कि स्वेज नहर

पर विचार करने के लिए लन्दन में चौबीस राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाया जाय जो स्वेज नहर के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को व्यवस्था पर विचार करे तथा मिस्र के हितों के साथ-साथ नहर को उपयोग करने वाले अन्य राष्ट्रों के हितों पर भी विचार हो ।

१६ अगस्त को लन्दन में सम्मेलन शुरू हुआ । उसमें बाइस राष्ट्रों ने ही भाग लेना स्वीकार किया ।[1] सम्मेलन में तीन योजनाएँ रखी गयीं : डलेस योजना, शेपीलोव योजना तथा मेनन योजना । डलेस योजना में १८८८ के समझौते की प्रस्तावना की ही भाँति यह कहा गया था कि इस नहर को सब देशों के लिए युद्ध और शांतिकाल में समान रूप से खुला रहना चाहिए । साथ ही, इस योजना में नहर पर मिस्र की सर्वोच्च सत्ता को मान्यता दी गयी तथा नहर को चलाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वेज नहर बोर्ड की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया । इस बोर्ड को अपने कार्यों की रिपोर्ट संयुक्त राष्ट्रसंघ को देनी थी और उसे कार्य करने के लिए अधिकार एवं सुविधाएँ मिस्र की सरकार से प्राप्त करनी थीं ।

रूसी विदेश मन्त्री शेपीलोव ने अपनी योजना में मिस्र के सम्प्रभु अधिकारों को मान्यता देते हुए सभी देशों के लिए नहर को हमेशा स्वतन्त्र और खुली रखने तथा मिस्र द्वारा नहर की सुरक्षा, मरम्मत आदि की व्यवस्था की माँग की । किन्तु भारतीय प्रतिनिधि श्री कृष्ण मेनन के प्रयास से शेपीलोव ने अपनी योजना वापस ले ली ।

डलेस योजना से सर्वथा भिन्न एक योजना (मेनन योजना) भारत ने प्रस्तुत की जिसमें नहर पर मिस्र की सर्वोच्च सत्ता का तथा इसे सदा खुला रखने का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए भौगोलिक प्रतिनिधित्व के आधार पर स्वेज नहर के उपयोग करनेवाले देशों की एक परामर्शदात्री संस्था बनाने की बात थी । परन्तु २३ अगस्त को सम्मेलन में भाग लेनेवाले सतरह देशों ने डलेस योजना का ही समर्थन किया । सम्मेलन ने इस योजना को आस्ट्रेलिया के प्रधान मन्त्री डा० मैंजीज के साथ काहिरा भेजने का निर्णय किया । डा० मैंजीज जब योजना के साथ काहिरा पहुँचे और योजना को पेश किया तो राष्ट्रपति नासिर ने उसको ठुकरा दिया ।

स्वेज नहर प्रभोक्ता संघ—जब नासिर ने लन्दन सम्मेलन की योजना को ठुकरा दिया तो १६ सितम्बर को लन्दन में फिर अट्ठारह राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ । इस सम्मेलन ने एक स्वेज नहर प्रभोक्ता संघ (Suez Canal Users' Association) की व्यवस्था की । इस संघ का एक कार्यालय खोला गया तथा अमेरिका में डेनमार्क के राजदूत बारेन्स को इसका प्रशासक भी नियुक्त कर दिया गया । लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस जान गये कि इस प्रभोक्ता संघ से भी स्वेज नहर पर उनका अपवित्र अधिकार फिर से कायम नहीं होने को है । अतः वे सारे विवाद को सुरक्षा-परिषद् में ले गये ।

सुरक्षा परिषद् का प्रस्ताव—२६ सितम्बर को स्वेज का विवाद सुरक्षा-परिषद् के सामने उपस्थित हुआ तथा १३ अक्टूबर १९५६ को सुरक्षा परिषद् ने स्वेज की समस्या को हल करने के लिए छः सिद्धान्तों का प्रतिपादन एक प्रस्ताव के रूप में किया । इनके अलावे नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण करने का सुझाव भी इसमें दिया गया था । पर सोवियत रूस ने वीटो का प्रयोग करके इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया ।

1. सम्मेलन में मिस्र और यूनान सम्मिलित नहीं हुए थे ।

मिस्र पर आक्रमण—अब ब्रिटेन और फ्रांस मिस्र पर हमला करके स्वेज नहर पर आधिपत्य जमाने की योजना बनाने लगे। उनके परामर्श और प्रोत्साहन से २६ अक्टूबर, १९५६ को इजरायल ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया। इसके दो दिन बाद ब्रिटेन और फ्रांस ने भी मिस्र पर हमला बोल दिया। ब्रिटेन ने इसको पुलिस कार्रवाई कहा और मिस्र पर गोलाबारी शुरू हुई। सुरक्षा परिषद् के दो स्थायी सदस्य और संसार के दो महाशक्ति चार्टर का उल्लंघन करते हुए संयुक्तराष्ट्र के एक सदस्य-राज्य पर आक्रमण कर दिये। संघ के जीवन में घोर संकट का समय आ गया था।

स० रा० सं० और मिस्र :—३० अक्टूबर को अमेरिका के आग्रह पर सुरक्षा-परिषद् की बैठक हुई और उसमें यह प्रस्ताव रखा गया कि कोई भी राष्ट्र मिस्र में शक्ति का प्रयोग नहीं करें। परन्तु ब्रिटेन और फ्रांस ने वीटो का प्रयोग कर इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया। इसके बाद युगोस्लाविया की माँग पर साधारण सभा के अधिवेशन को बुलाया गया। २ नवम्बर को संयुक्तराष्ट्र की साधारण सभा ने अमेरिका का एक प्रस्ताव स्वीकार किया। इसमें कहा गया था कि मिस्र में आँग्ल-फ्रांसीसी-इजरायली सैनिक कार्रवाई एक गम्भीर चिन्ता का विषय है, और इसको अविलम्ब बन्द किया जाय। ४ नवम्बर को सभा ने कनाडा का एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें कहा गया था कि संघ के महासचिव डाग हैमरशोल्ड मिस्र में लड़ाई बन्द करने तथा युद्ध विराम की देख भाल के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक आपातकालीन सेना की योजना प्रस्तुत करें। लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस ने इस प्रस्ताव को मानने में आनाकानी की। तब आयी ५ नवम्बर को सोवियत रूस की धमकी। सोवियत संघ के प्रधान मंत्री ने आक्रमणकारियों को स्पष्ट शब्दों में यह चेतावनी दी कि यदि एक निश्चित समय तक मिस्र पर हमला बन्द नहीं किया गया तो सोवियत संघ नवीनतम् शस्त्रों के साथ इस संकट में हस्तक्षेप करेगा। इस चेतावनी से सारी दुनिया में त्राहि-त्राहि मच गयी। तृतीय विश्व-युद्ध की सम्भावना दिखाई पड़ने लगी। ब्रिटेन और फ्रांस डर गये और उन्होंने युद्ध बन्द कर दिया।

७ नवम्बर, १९५६ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने एशियाई-अफ्रिकी देशों द्वारा प्रस्तुत यह प्रस्ताव पास किया कि ब्रिटिश, फ्रांसीसी और इजरायली सेनाएँ मिस्र से हटा ली जायँ और स्वेज नहर क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की व्यवस्था की जाय। इन प्रस्तावों के फलस्वरूप युद्ध बन्द हो गया। मिस्र ने इस आश्वासन पर कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना के रहने पर उसकी प्रभुसत्ता पर कोई आँच नहीं आयगी, इस प्रस्ताव को मान लिया। इधर संघ के महासचिव संयुक्तराष्ट्र की सेना के संगठन में जुट गये। इसमें प्रस्ताव के अनुसार दस देशों के छः हजार सैनिकों को शामिल किया जाना था। इस सेना के संचालन का भार मेजर जेनरल इ० एल० बर्न्स को सौंपा गया। १५ नवम्बर को इस सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुँचा।

अभी तक आक्रमणकारियों की सेना मिस्र से हटी नहीं थी। २४ नवम्बर को साधारण सभा ने एक प्रस्ताव पास करके आक्रमणकारियों को यह आदेश दिया कि वे यथाशीघ्र अपनी सेनाएँ वापस बुला लें। ब्रिटेन और फ्रांस ने तुरत ही ऐसा कर दिया। पर इजरायल हटने का नाम नहीं लेता था। इसपर संघ की साधारण सभा ने एक प्रस्ताव पास करके इजरायल को हट जाने का आदेश दिया। इजरायल ने इन प्रस्तावों पर भी ध्यान नहीं दिया। इसके बाद सभा ने एक और प्रस्ताव पास करके सदस्य-राज्यों को आदेश दिया कि वे इजरायल को किसी प्रकार

की आर्थिक या सैनिक सहायता न दें। इस पर इजरायल को भी हटना पड़ा। ७ मार्च, १९५७ तक मिस्र से सारी विदेशी सेनाएँ हट गयी।

स्वेज युद्ध के समय नहर में जहाजों को डुबो कर उसको नौ चालन के लिए सर्वथा बेकार बना दिया गया था। संयुक्तराष्ट्र की सहायता से मिस्र की सरकार ने उसे साफ करवाकर फिर से नौ चालन के योग्य बना दिया। बाद में मिस्र ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को यह सूचना दी कि नहर साधारण यातायात के लिए खोली गयी है। स्वेज पर मिस्र का पूर्ण अधिकार कायम हो गया और नहर को सभी देशों के लिए खोल दिया गया।

स्वेज-काण्ड के परिणाम:—कई दृष्टिकोणों से स्वेज का संकट अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण घटना माना जाता है इससे साम्राज्यवाद को एक गहरा धक्का लगा, ब्रिटेन में प्रधान मन्त्री ईडन का राजनीतिक जीवन समाप्त हो गया, नासिर की सत्ता मिस्र में सुरक्षित हो गयी तथा सोवियत संघ की शक्ति का खूब प्रचार हुआ। अमरीकी गुट में दरार पड़ गयी और एक कमजोर राष्ट्र की स्वतन्त्रता एवं मान-मर्यादा कायम रह गयी। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा। मिस्र में युद्ध बन्द करने और विदेशी सेना को हटाने में उसे पूरी सफलता मिली। इसका एक मात्र कारण यह था कि अमेरिका और रूस दोनों ऐसा चाहते थे। अतएव स्वेज सकट ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता का मुख्य आधार इन दो महाशक्तियो का सहयोग है।

(xvii) हंगरी का प्रश्न

पृष्ठ-भूमि—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद हंगरी में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हुई। १९४६ में सोवियत-संघ और हंगरी में एक समझौता हुआ था जिसके अनुसार रूस की सेनाएँ हंगरी में रहती थीं। २३ अक्टूबर, १९५६ को हंगरी के प्रतिक्रियावादी तत्त्वो के नेतृत्व में वहाँ विद्रोह हो गया। इन तत्त्वों को संयुक्त राज्य अमेरिका से सहायता मिल रही थी। अतएव हंगरी की सरकार ने सोवियत सरकार से यह अनुरोध किया कि वह हंगरी में अमन-चैन कायम रखने के लिए सैनिक सहायता दे। कुछ दिनों में विद्रोह दब गया, हंगरी-सरकार की इच्छा से सोवियत सेना वापस बुला ली गयी। लेकिन सोवियत सेनाओं के लौटते ही विद्रोहियों ने फिर अपना सर उठाया और बड़े पैमाने पर बलवे विद्रोह शुरू हुए। विद्रोहियों की मांग थी कि भूतपूर्व प्रधान मन्त्री इम्रे नॉज (Imre Nagy) को फिर से प्रधान मन्त्री मनाया जाय। अतएव नॉज को फिर से प्रधान मन्त्री बना दिया गया। इस समय तक विद्रोहियों को अमेरिका से काफी प्रोत्साहन मिल चुका था। अब वे हंगरी से सोवियत सेना हटाने की मांग करने लगे। इम्रे नॉज विवश होकर सोवियत सेना हटाने की मांग करने लगा। १ नवम्बर को हंगरी ने एक नयी संयुक्त सरकार बनायी, वारसा पैक्ट का परित्याग कर दिया और संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपनी तटस्थता की रक्षा करने की प्रार्थना की। इस पर हंगरी के समाजवादी पद्धति के समर्थकों ने इम्रे नॉज की सरकार को उलट दिया और जानोस काडार के नेतृत्व में एक नयी सरकार बनी। काडार ने तुरत ही विद्रोहियो को दबाने के लिए सोवियत सघ से सेना भेजने का अनुरोध किया। सोवियत संघ ने इस अनुरोध को स्वीकार करते हुए अपनी सेना भेज दी और हंगरी की प्रतिक्रान्ति तुरत ही दबा दी गयी।

सुरक्षा-परिषद् में हंगरी का प्रश्न—जब सोवियत संघ की सेना हंगरी में प्रतिक्रान्ति को दबाने के लिए आगे बढ़ रही थी, उसी समय इम्रे नॉज ने सुरक्षा-परिषद् से रूसी हस्तक्षेप के विरुद्ध अपने देश को रक्षा की प्रार्थना की। संयुक्त राज्य अमेरिका को एक अच्छा अवसर मिल गया। ४ नवम्बर, १९५६ को उसने सुरक्षा-परिषद् में एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें यह आशा व्यक्त की गयी थी कि सोवियत-संघ अपनी सेना को हंगरी से वापस बुलाकर अपने हस्तक्षेप का अन्त करे। प्रस्ताव पर बोलते हुए सोवियत प्रतिनिधि ने कहा कि उसकी सेना हंगरी में वहाँ की सरकार के बुलाने पर गयी है और इसलिए सुरक्षा-परिषद् को इस बात में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। उसने सुरक्षा परिषद् को इस प्रस्ताव को नहीं पास करने का अनुरोध किया। लेकिन जब अन्त में प्रस्ताव पर मतदान हुआ तो सोवियत संघ ने वीटो का प्रयोग करके उसे रद्द कर दिया।

साधारण सभा में हंगरी का प्रश्न—इसके बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने हंगरी के प्रश्न पर विचार करने के लिए साधारण सभा की बैठक की माँग की। ६ नवम्बर को साधारण सभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। यहाँ एक प्रस्ताव रखा गया जिसका आशय था कि रूस हंगरी से अपनी सेना हटा ले ताकि वहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ की देख-रेख में चुनाव कराया जा सके। सोवियत प्रतिनिधि ने इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया। लेकिन इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और सभा ने प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इसके बाद सोवियत विरोधी प्रस्तावों का तांता लग गया। हंगरी से सम्बन्धित दस प्रस्ताव साधारण सभा में प्रस्तुत और स्वीकार किये गये। शीत युद्ध के महारथियों को एक अच्छा मौका मिल गया था और वे इस अवसर को किसी भी मूल्य पर खोना नहीं चाहते थे।

१० जनवरी, १९५७ को सभा ने एक प्रस्ताव पास करके पाँच देशों की एक समिति स्थापित की और हंगरी की स्थिति का निरीक्षण करने के लिए महासचिव को भेजने का निश्चय किया। लेकिन हंगरी की सरकार ने इस प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर दिया। ३ दिसम्बर को उसने यह सूचना दी कि वह महासचिव को बाद में किसी तारीख को बुडापेस्ट में स्वागत करने के लिए तैयार है किन्तु वह किसी भी हालत में निरीक्षकों को हंगरी आने की अनुमति नहीं दे सकता। इसके पूर्व १२ दिसम्बर, १९५६ को सभा एक सोवियत विरोधी प्रस्ताव स्वीकार कर चुकी थी जिसमें कहा गया था कि "उसने हंगरी की स्वतन्त्रता का अपहरण करके हंगरी की जनता के मौलिक अधिकारों के उपयोग में बाधा डालकर चार्टर का उल्लंघन" किया है। निष्पक्ष विचार के लोग इस प्रस्ताव की गम्भीरता को तब समझते जब साधारण सभा इसी तरह के प्रस्ताव दक्षिण अफ्रिका तथा फ्रांस की सरकार के विरुद्ध पास किये होती। लेकिन इन देशों में अमेरिका के पिछलगुओं का शासन था और इसलिए यहाँ मानव के मौलिक अधिकारों का दमन नहीं हो रहा था। इस कारण इन प्रस्तावों के मूल में जो बातें थीं वे सभी समझते थे। रूस ने इन प्रस्तावों पर जरा भी ध्यान नहीं दिया और संयुक्त राष्ट्रसंघ (या अमेरिका) को कोई सफलता नहीं मिली।

लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका हंगरी के प्रश्न को संघ में बार-बार उठाता रहा। १० जनवरी, १९५७ के प्रस्ताव के आधार पर जिस समिति का संगठन हुआ था उसको हंगरी में प्रवेश की इजाजत नहीं मिली थी। इसलिए इसने हंगरी से भागकर आनेवाले कुछ शरणार्थियों

से भेंट की और उनकी गवाही के आधार पर एक रिपोर्ट तैयार की। इस रिपोर्ट में सोवियत संघ को हंगरी में हस्तक्षेप के लिए दोषी ठहराया गया। १० सितम्बर, १९५७ को साधारण सभा का ग्यारहवाँ अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। इस अधिवेशन में इस रिपोर्ट पर विचार हुआ और बाद में एक प्रस्ताव पास करके फिर सोवियत हस्तक्षेप की निन्दा की गयी। साथ ही, संयुक्त राष्ट्रसंघ के अध्यक्ष प्रिंस वान वैथियाकोन को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया कि वह हंगरी जाकर वहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ के लक्ष्य को पूरा करने का प्रयास करें। लेकिन हंगरी की सरकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी भी प्रस्ताव पर राजी नहीं हुई।

(xviii) **अल्जीरिया की समस्या और संयुक्त राष्ट्र**—उत्तरी अफ्रिका में स्थित अल-जीरिया फ्रांस का एक उपनिवेश था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद वहाँ फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन चल पड़ा। १ नवम्बर, १९५४ से इस आन्दोलन ने बड़ा उग्र रूप धारण कर लिया। फ्रांस ने बड़ी क्रूरता से इसके दमन का निश्चय किया। परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रवादी अल्जीरियाई प्रतिदिन सैकड़ों की संख्या में कीड़े मकोड़े की तरह मारे जाने लगे। जब स्थिति असह्य हो गयी तो एशियाई अफ्रिकी देशों ने इस प्रश्न को राष्ट्रसंघ में उठाने का निश्चय किया। १९५६ में संयुक्त राष्ट्र साधारण सभा के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर अल्जीरिया की स्वाधीनता का प्रश्न सभा में उठाया गया। फ्रांस ने अल्जीरिया विषयक प्रस्ताव का घोर विरोध किया। उसने अल्जीरिया के प्रश्न को घरेलू मामला बताया। फ्रांस ने संयुक्त राष्ट्रसंघ का बहिष्कार भी कर दिया किन्तु एशियाई अफ्रिकी देश अल्जीरियाई समस्या के समा-धान के लिए संघ में बराबर प्रस्ताव लाते रहे। ८ दिसम्बर, १९५९ को साधारण सभा की राज-नीतिक समिति ने इस विषय पर एक प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इसमें फ्रांस से अल्जीरिया को स्वतन्त्रता देने की बात कही गयी थी। लेकिन जब यह प्रस्ताव साधारण सभा में लाया गया तो आवश्यक बहुमत के नहीं मिलने के कारण पास नहीं हो सका। १९६० में फिर एक प्रस्ताव रखा गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की देख-रेख में जनमत संग्रह कराया जाय। फ्रांस ने इसे भी नहीं माना। पर १९६१ में विश्व के जनमत तथा अल्जीरिया युद्ध की बर्बादियों से बाध्य होकर फ्रांस को अल्जीरिया को स्वतन्त्र कर देना पड़ा।

(xix) कांगो की समस्या

विषय प्रवेश—संयुक्त राष्ट्रसंघ की सबसे कठिन परीक्षा कांगो में हुई। कांगो मध्य अफ्रिका में स्थित है और यह छः प्रान्तों में बँटा हुआ है—कटांगा, लिओपोल्डविले, कीवू, कसाई, ओरि-येन्टल और इक्वेटर। इसमें कई तरह की आदिम जातियाँ निवास करती हैं जिनकी अलग-अलग भाषाएँ हैं। कांगो अपनी खनिज सम्पदा को लेकर संसार का एक महत्त्वपूर्ण देश माना जाता है; यह देश संसार के औद्योगिक हीरों की अस्सी प्रतिशत आवश्यकता पूरा करता है। अणुबम के निर्माण का प्रधान तत्त्व यूरेनियम को लेकर संसार में इस देश का असाधारण महत्त्व है।

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण से १९५९ तक यह राज्य बेल्जियम के अधिकार में था। यहाँ का शासन एक गवर्नर जेनरल द्वारा होता था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस देश में बेल्जियम साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। इस आन्दोलन का एक नेता था भूतपूर्व डाकिया पेट्रिस लुमुम्बा। १९६० के जनवरी में उसे कैद की सजा दी गयी थी,

मगर उसे फौरन ही माफ कर दिया गया इसके बाद वह बेल्जियम की राजधानी ब्रसेल्स में होने-वाले गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने गया। इस सम्मेलन में यह निर्णय हुआ कि जून १६६० में कांगों को पूर्ण स्वतन्त्र कर दिया जायगा। ३० जून १६६० को कांगो स्वतन्त्र घोषित कर दिया गया। इस नवीन अफ्रिकी गणराज्य का प्रधानमन्त्री लुमुम्बा तथा राष्ट्रपति जोसेफ कसाबुबू नियुक्त किये गये।

किन्तु कांगो के लिए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अत्यन्त मँहगी साबित हुई। कांगो के राष्ट्रीय जीवन को दुर्भाग्यपूर्ण विशेषताएँ जातीयता और प्रान्तीयता थी। वहाँ के निवासियों में बड़ी फूट थी। अतएव स्वतन्त्रता के तुरत बाद कांगों के छः प्रान्तों में बसी हुई कबीले जातियाँ स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगी। दूसरी बात यह थी कि बेल्जियम ने सदिच्छा तथा उच्च भावनाओं से प्रेरित होकर कांगो को स्वतन्त्र नहीं किया था। उसे बाध्य होकर कांगों को स्वतन्त्र करना पड़ा था। संयुक्त राज्य अमेरिका भी कांगो की स्वतन्त्रता का पक्षपाती नहीं था, क्योंकि खनिज पदार्थों विशेषकर यूरेनियम को लेकर इस देश को अमरीकी प्रभाव में रखना अति आवश्यक माना जाता था। लेकिन पेट्रिस लुमुम्बा एक प्रगतिशील विचार का व्यक्ति था जो अपने देश पर किसी बाह्य प्रभाव को सहने के लिए तैयार नहीं था। जब साम्राज्यवादियों को यह विश्वास हो गया कि लुमुम्बा किसी तरह उनके जाल में नहीं फँसेगा तो उन्होंने पुरानी साम्राज्यवादी नीति 'फूट डालो और शासन करो' का अनुसरण किया। साथ ही, लुमुम्बा सरकार को असफल बनाने के लिए शीघ्र ही कार्रवाई भी शुरू कर दी गयी।

अभी तक कांगों के शासन और उसकी अर्थ-व्यवस्था बेल्जियम लोग ही चलाते आ रहे थे। कांगो वासियों को इसके लिए कभी कोई प्रशिक्षण नहीं दी गयी। कांगो के स्वतन्त्र होने के बाद ऐसे हजारों बेल्जियम स्वदेश लौट गये या जान-बूझकर बेल्जियम लौट आने के लिये प्रेरित किये। इस कारण कांगो का शासन और उसकी अर्थ-व्यवस्था बिल्कुल ठप पड़ गयी। सारे देश में अराजकता छा गयी। इस अवसर से लाभ उठाकर कांगों की विभिन्न जातियों ने पार्थक्यवादी आन्दोलन शुरू कर दिया। देश में सर्वत्र हिंसात्मक उपद्रव शुरू हुए। साम्राज्य-वादियों की चाल सफल होते दीखने लगी।

इस प्रकार प्रारम्भ से ही प्रधानमन्त्री लुमुम्बा को कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। देश में शासन व्यवस्था कायम रखने के लिए पचीस हजार सैनिकों की एक कांगोली सेना अवश्य थी, मगर इसमें कोई भी कांगोली अफसर नहीं था। इस कारण सेना में अनुशासन नामक कोई चीज नहीं थी। ६ जुलाई, १९६० को लिओपोल्डविले में सेना ने विद्रोह कर दिया। कांगोली सैनिक बेलजयन अफसरों तथा अपनी सरकार के आदेशों को अवज्ञा और अपने वेतन में वृद्धि की माँग करने लगे। लुमुम्बा ने इनकी कुछ मांग मान ली, पर कांगो की अराजक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। तुरन्त ही कांगो में बसे बेल्जियम तथा अन्य यूरोपीय नागरिकों पर आक्रमण होने लगे तथा उनकी सम्पत्ति लूटी जाने लगी। बेल्जियन सरकार ने इस पर बेल्जियनों की रक्षा के बहाने ६ जुलाई को कांगों में अपनी सेना भेज दी। यह बेल्जियन के द्वारा कांगों के मामले में खुला हस्तक्षेप था। लुमुम्बा ने इसका विरोध किया। इसके बाद ही बेल्जियम के षड्यन्त्र से ११ जुलाई को कांगो के एक प्रान्त

कटांगा ने शोम्बे के नेतृत्व में लिओपोल्ड के विरूद्ध विद्रोह करके एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य बनाने की घोषणा कर दी। शोम्बे सरकार को बेल्जियम ने मदद देना शुरू कर दिया। इस पर कांगो ने बेल्जियम पर सन्धि भंग करने का आरोप लगाया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में कांगो का मामला—लुमुम्बा सरकार ने इसको बेल्जियम द्वारा कांगों पर आक्रमण माना और १२ जुलाई को संयुक्त राष्ट्रसंघ से यह प्रार्थना की कि कांगों को बेल्जियम के आक्रमण से रक्षा करने के लिए तुरत सैनिक सहायता दी जाय। संयुक्त राष्ट्र में जाते ही कांगों का मामला शीत युद्ध क्षेत्र में चला आया। सोवियत संघ ने संयुक्त राज्य अमेरिका पर यह आरोप लगाया कि दंगे दबाने के बहाने वह बेल्जियम सेनाओं को पुनः 'औपनिवेशिक शासन स्थापित करने के लिए" भेजा जा रहा है। १३ जुलाई, १९६० को सुरक्षा परिषद् की बैठक हुई और महासचिव डाग हैमरशोल्ड ने कांगो सरकार को अविलम्ब सैनिक सहायता भेजने की प्रार्थना की। इस बैठक में रूस और अमेरिका बुरी तरह एक दूसरे के विरुद्ध उलझ पड़े। सोवियत संघ ने बेल्जियम के आक्रमण की निन्दा की तथा अमेरिका पर कांगो की स्वतन्त्रता छीनने का षड्यन्त्र का दोषारोपण किया। अमेरिका ने इस दोषारोपण का खण्डन किया। सुरक्षा परिषद् ने ट्यूनिसिया का एक प्रस्ताव पास किया जिसमें बेल्जियम को कांगो से अपनी सेना को हटाने का आदेश दिया गया था और महासचिव को यह अधिकार दिया गया कि जब तक कांगों की रक्षा करने वाली सेना अपने कार्यों में समर्थ न हो तब तक उसकी आवश्यक सैनिक सहायता दी जाय। इसी समय ख्रुश्चेव ने यह घोषणा की कि यदि कांगो पर पश्चिमी देशों का आक्रमण जारी रहा तो सोवियत संघ कार्रवाई करने में संकोच नहीं करेगा।

संघ द्वारा कांगों में हस्तक्षेप—सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव के अनुसार २८ जुलाई को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना कांगों पहुँच गयी। इसने बेल्जियम और कांगोली सैनिकों का संघर्ष बन्द कराया तथा हवाई अड्डों पर अधिकार कर लिया ताकि विदेशी सेना उनका उपयोग कर कांगों में हस्तक्षेप नहीं करे। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कांगोली सेना को प्रशिक्षण देना भी शुरू कर दिया ताकि सरकार स्वयं विद्रोहियों का दमन कर सके। जुलाई के अन्त तक संयुक्त राष्ट्र की सेनाएँ कटांगा को छोड़कर कांगो के सभी प्रान्तों में पहुँच गयीं। अब कांगो का मामला उलझने लगा। असल प्रश्न था बेल्जियम सेनाओं को हटाना तथा कटांगा की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त करना। बेल्जियम अपनी सेना को हटाने के लिए तैयार नहीं था और कटांगा के प्रधान मंत्री शोम्बे ने यह घोषणा की कि वह अपने प्रदेश में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना को प्रवेश नहीं करने देगा। उसने कटांगा को पूर्ण स्वतन्त्र घोषित करते हुए संयुक्त राष्ट्र के कार्य को अनुचित बतलाया। इस हालत में यह स्पष्ट था कि रक्तपात के बिना संघ की सेना कटांगा में नहीं प्रवेश कर सकती थी। हैमरशोल्ड इससे बचना चाहता था। उसने घोषणा की कि संघ की सेना कटांगा में नहीं घुसेगी। इसके बाद सुरक्षा परिषद् में इस पर विचार होने लगा। वहाँ एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसमें बेल्जियम फौजों को कटांगा से तुरत हट जाने की मांग थी। इस प्रस्ताव ने कटांगा में राष्ट्रसंघ की सेना का प्रवेश भी आवश्यक बतलाया। सुरक्षा परिषद् के इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए महासचिव हैमरशोल्ड स्वयं २४० व्यक्तियों की स्वेडिश सेना लेकर कटांगा के लिए रवाना हुए और अगस्त १६ अगस्त को यह सेना कटांगा में प्रवेश कर गयी।

सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव में कहा गया था कि कटांगा में संघ की फौज कांगों के गृह-युद्ध में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करेगी। इस कारण संघीय फौज के कटांगा पहुँचने से शोम्बे की स्थिति सुरक्षित हो गयी, क्योंकि संघ की सेना वहाँ थी तब तक लुमुम्बा उसे कांगों में सम्मिलित होने के लिए सैनिक दबाव नहीं डाल सकता था। लुमुम्बा इस स्थिति को भलीभांति समझ रहा था और ऐसी करने में हैमरशोल्ड का हाथ था। इसलिए उसने महासचिव के कार्यों का विरोध किया और उस पर अविश्वास प्रकट किया। उसने मांग की कि कटांगा में स्वेडिश सेना के बदले अफ्रिकी सेना भेजी जानी चाहिए क्योंकि संघ के यूरोपीय सेना के कारण वहाँ बेल्जियम की सत्ता सुदृढ़ हो रही है। साथ ही, उसने सुरक्षा परिषद् को यह भी बतला दिया कि यदि एक सप्ताह के अन्दर कटांगा के प्रश्न का सन्तोषजनक समाधान नहीं हुआ तो वह एक मित्र अफ्रिकी राज्य की सहायता से कटांगा में कांगोली सेना भेज देगा।

भीषण गृह-युद्ध—इसके बाद कांगों में भीषण गृह-युद्ध शुरू हुआ। उसके अन्य प्रान्त भी अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करने लगे। इसमें कसाई और किवू प्रान्त का विद्रोह अत्यन्त भीषण था। इसको दबाने के लिए लुमुम्बा ने सोवियत संघ से सहायता लेना शुरू किया। उधर बेल्जियम ने विद्रोहियो को मदद देना शुरू किया। कांगो में इस समय तक भीषण रक्तपात शुरू हो गया था। इस हालत में संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थिति बड़ी कठिन हो रही थी। विदेशी हस्तक्षेप से कांगो को बचाने के लिए संघ ने सभी हवाई अड्डों पर अधिकार कर लिया। लेकिन यह महासचिव हैमरशोल्ड का पक्षपातपूर्ण कार्य था। पार्थक्यवादियों को कांगो में पहुँची हुई बेल्जियम सेनाओं से तो खूब मदद मिल रही थी, लेकिन हवाई अड्डों पर संघ द्वारा आधिपत्य स्थापित कर लिए जाने के फलस्वरूप केन्द्रीय कांगोली सरकार को सोवियत सहायता मिलना बन्द हो गया था।

सितम्बर के प्रारम्भ में प्रधान मन्त्री लुमुम्बा और राष्ट्रपति कासाबुबू में संघर्ष छिड़ने के कारण कांगो की स्थिति और डवांडोल हो गयी। राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मन्त्री को और प्रधान मन्त्री द्वारा राष्ट्रपति को पदच्युत करने का नाटक बड़ी तीव्र गति से खेला जा रहा था। इस हालत में यह भी मुश्किल हो गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ किस सरकार को मान्यता प्रदान करे। गृह-युद्ध के अतिरिक्त कांगो की राजनीति में अब एक यह उलझन भी पैदा हो गयी। इसी स्थिति में ७ सितम्बर को हैमरशोल्ड ने कांगो की स्थिति पर राष्ट्रसंघ में अपनी एक रिपोर्ट रखी जिसमें विदेशी हस्तक्षेप की चर्चा की गयी थी। उसने यह सुझाव रखा की कांगो की सेनाओं को गृह-युद्ध के भीषण विस्फोट से पहले ही निःशस्त्र कर देना चाहिए। ८ सितम्बर को बेल्जियम द्वारा कटांगा में हथियार पहुँचाने की तथा बेल्जियम सेनाओं के वहाँ बने रहने की निन्दा की और सुरक्षा-परिषद् से इस विषय में कार्रवाई करने के लिए स्पष्ट आदेश मांगा। जब सितम्बर को सुरक्षा-परिषद् ने इस पर विचार करना शुरू किया तो इस समय इसमें भाग लेने के लिए कांगो से दोनों पक्षों के प्रतिनिधिमण्डल आये। अब सुरक्षा-परिषद् के सामने यह प्रश्न आ गया कि वह कासाबुबू या लुमुम्बा किसके प्रतिनिधि मण्डल को माने। अतएव सुरक्षा-परिषद् ने अपने अधिवेशन को स्थगित कर दिया और यह निश्चय किया कि १७ सितम्बर को कांगो को समस्या पर विचार करने के लिए साधारण सभा का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाय।

१३ सितम्बर को राष्ट्रपति कासाबुवू ने प्रधान मन्त्री लुमुम्बा को गिरफ्तार कर लिया था। लेकिन लुमुम्बा तुरत ही कैद से निकल भागा और ससद् के समर्थन से अपने को राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री दोनों ही घोषित कर लिया। कासाबुवू-लुमुम्बा सघर्ष से कांगोली सेना बहुत परेशान हो गयी थी। अतएव १४ सितम्बर को कर्नल मोबूतू ने दोनो पक्षों को तटस्थ बनाने के लिए कांगो की सत्ता अपने हाथ में ले ली और आदेश निकाल दिया कि १९६० के अन्त तक कांगो में सैनिक शासन रहेगा। जब तक देश की समस्याओं का समाधान नहीं हो जायगा तबतक कासाबुवू और लुमुम्बा दोनों निलम्बित समझे जायँ।

मोबूत को पार्थक्यवादियों और कासाबुवू का समर्थन प्राप्त था। उसने तुरत ही सोवियत नागरिकों और राजदूत को कांगो से चले जाने का आदेश दिया और लुमुम्बा के साथ बुरा व्यवहार करने लगा। अतएव लुमुम्बा संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाओं के सरक्षण में चला गया। लेकिन कुछ ही दिनों के बाद वह वहाँ से भाग निकला और मोबूत के विरुद्ध लोगों को उसकाना शुरू किया। उसने मांग रखी कि घाना और गिनी की सेनाओं के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ की अन्य सेनाओं को निकाल दिया जाय। कर्नल मोबूत ने यह मांग की कि सयुक्त राष्ट्रसंघ लुमुम्बा को समर्पित कर दे। पर संघ ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। इस पर कांगोली सैनिकों ने देश में उत्पात मचाना शुरू किया। लुमुम्बा के पक्षपातियों ने भी मोबूत का विरोध जारी रखा। किसी तरह कांगो में कुछ दिनों के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयास से शांति कायम हुई।

हैमरशोल्ड की स्थिति—कांगो के इस संघर्ष और गृह-युद्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव डाग हैमरशोल्ड की स्थिति अत्यन्त कठिन हो रही थी। वह कांगो की राजनीति में संयुक्त राष्ट्र को तटस्थ रखना चाहता था। उसकी इस नीति की सोवियत संघ तथा लुमुम्बा के समर्थक राष्ट्रों द्वारा बड़ी-बड़ी आलोचना हो रही थी। उनका कहना था कि राष्ट्रसंघ को लुमुम्बा की वैध सरकार का समर्थन करना चाहिए। सोवियत संघ ने यह मांग की कि चूँकि हैमरशोल्ड का कार्य पक्षपातपूर्ण हो रहा है इसलिए उसे तुरत पदत्याग कर देना चाहिए। लेकिन महासचिव ने पदत्याग करने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। इसके बाद भी सोवियत संघ ने आक्षेप जारी रखा। ख्रुश्चेव ने सचिवालय के संगठन के सुधार की मांग की। लेकिन हैमरशोल्ड अपनी स्थिति पर डटे रहे। उसने कांगो की समस्या पर परामर्श देने के लिए अट्ठारह सदस्यों की एक परामर्शदात्री समिति बनायी और भारत के श्री राजेश्वर दयाल को कांगो में अपना विशेष प्रतिनिधि नियुक्त किया। कुछ दिनों के बाद श्री राजेश्वर दयाल ने कांगो पर अपनी एक लम्बी-चौड़ी रिपोर्ट महासचिव को प्रस्तुत की जिसमें कांगो का एक अत्यन्त ही मार्मिक और भयावह चित्र उपस्थित किया गया था।

साधारण सभा में कांगो का प्रश्न—नवम्बर १९६० में जब संघ की साधारण-सभा कांगो की समस्या पर विचार करने लगी तो सबसे पहला प्रश्न यह उठा कि संघ कासाबुवू के प्रतिनिधि मण्डल और लुमुम्बा के प्रतिनिधि मण्डल किस को मान्यता दे। २३ नवम्बर, १९६० को साधारण सभा ने बहुमत से कासाबुवू के प्रतिनिधि मण्डल को मान्यता प्रदान कर दी। अभी संघ किसी निर्णय पर पहुँच भी नहीं पाया था कि कांगो में एक नाटक शुरू हो गया।

लूमुम्बा का भागना :—२७ नवम्बर को लुमुम्बा एक बार फिर संयुक्त राष्ट्रसंघ के संरक्षण से चुपचाप भाग खड़ा हुआ। ओरियन्टल प्रदेश में अभी भी उसके समर्थकों की संख्या काफी थी। अतएव वह इस प्रदेश की राजधानी स्टेनलीविले पहुँचकर अपना संघर्ष जारी रखना चाहता था। किन्तु स्टेनलीविले के रास्ते में ही कर्नल मोबूतू के सैनिकों ने उन्हें पकड़ लिया। मोबूत ने यह घोषणा की कि लुमुम्बा पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया जायगा।

सुरक्षा-परिषद् का प्रस्ताव—इस घटना से कांगो की स्थिति और खतरनाक हो गयी। ८ दिसम्बर को सुरक्षा-परिषद् ने इस पर विचार करना आरम्भ किया। सोवियत संघ ने एक प्रस्ताव रखकर यह मांग की कि लूमुम्बा को तुरत मुक्त किया जाय, मोबूतू की सेना को निरस्त्र किया जाय, उसके हथियार और आमदनी के स्रोतों का पता लगाने के लिए एशियाई-अफ्रिकी राज्यों का एक आयोग बनाया जाय, बेल्जियनों को कांगो से हटाया जाय तथा कांगोली संसद् का अधिवेशन तुरत बुलाया जाय। लेकिन पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत संघ के इस न्यायोचित प्रस्ताव को बहुमत से रद्द कर दिया और उसकी जगह एक दूसरा प्रस्ताव उपस्थित किया। इस प्रस्ताव को रूस ने अपना वीटो का प्रयोग करके रद्द कर दिया। जब सुरक्षा-परिषद् में इस प्रकार गतिरोध उत्पन्न हो गया तो १७ दिसम्बर को साधारण सभा में भारत, घाना, मिस्र, इंडोनिशिया इराक तथा यूगोस्लाविया ने एक सम्मिलित प्रस्ताव उपस्थित किया। इस प्रस्ताव से बेल्जियम को आदेश दिया गया कि वह अपनी सशस्त्र सेना कांगो से वापस बुलाये, सयुक्त राष्ट्रसंघ कांगो में शान्ति-व्यवस्था कायम रखने की जिम्मेवारी ले, सभी राजनीतिक बन्दियों को रिहा करके संसद् का अधिवेशन बलाया जाय, कोई विदेशी सत्ता कांगो में हस्तक्षेप नहीं करे, आदि-आदि। साधारण सभा ने इस प्रस्ताव को पास कर दिया। पर इसके बाद भी कांगो की स्थिति में कोई सन्तोषजनक सुधार नहीं हुआ।

लूमुम्बा की हत्या—१९६१ में कांगो की राजनीति में फिर से नाटकीय घटनाएँ घटने लगीं। १५ जनवरी को कासाबुबू ने यह मांग की कि राजेश्वर दयाल को कांगो से शीघ्र वापस बुलाया जाय, क्योंकि वे संयुक्त राष्ट्र के निष्पक्ष प्रतिनिधि नहीं हैं। १ जनवरी को प्राधिकृत रूप में कटांगा में यह घोषणा की गयी कि लुमुम्बा एक दिन पहले कटांगा के एक छोटे गाँव के निवासियों द्वारा मार डाले गये। प्रायः समस्त संसार में इस हत्या की तीव्र भर्त्सना की गयी लुमुम्बा की हत्या ग्रामवासियों द्वारा की गयी। इस समाचार पर किसी ने विश्वास नहीं किया। यह सन्देह किया जा रहा कि इसमें बेल्जियम का पूरा हाथ है। लुमुम्बा के साथ उसके कई अन्य साथियों की भी हत्या कर दी गयी।

सुरक्षा-परिषद् का प्रस्ताव—लुमुम्बा की हत्या एक गम्भीर घटना थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह साम्राज्यवादी साजिशों का परिणाम था जिसके लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव डाग हैमरशोल्ड की पक्षपातपूर्ण नीति बहुत हद तक जिम्मेवार थी। अतएव सोवियत संघ ने पुनः यह मांग की कि हैमरशोल्ड अपने पद से हट जायँ। १५ जनवरी को हैमरशोल्ड ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए पद त्याग करने से इन्कार कर दिया। कांगो की स्थिति दिन ब-दिन खराब होती जा रही थी। २१ जनवरी को सुरक्षा-परिषद् ने एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया था कि कांगो में गृह-युद्ध को रोकने के लिए आवश्यकता पड़ने पर संयुक्त राष्ट्रसंघ बल का प्रयोग भी करे। इसके तुरत

बाद संयुक्त राष्ट्र का एक कमान नियत किया गया। आयरलैंड के जेनरल सियन मैकओवन सेनाध्यक्ष बनाये गये। भारत ने संयुक्त राष्ट्र को तीन हजार सैनिक देने का वादा किया। जब यह प्रतीत होने लगा कि इस बार संयुक्त राष्ट्रसंघ कटांगा के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करेगा तो राष्ट्रसंघ के आदेशों की अवहेलना करते हुए बेल्जियम ने भी एक बहुत बड़ी सेना कटांगा में भेज दी। कटांगा सरकार ने भारतीय फौज के आगमन का कड़ा विरोध किया। १२ मार्च, १९६१ को कांगो में एक गोलमेज सम्मेलन हुआ जिसमें वहाँ के तीन नेताओं (जिसमें शोम्बे भी शामिल थे) ने कांगो के विभिन्न राज्यों का एक महासंघ स्थापित करने का निश्चय किया। किन्तु २ अप्रैल को शोम्बे ने महासंघ में होने से इन्कार कर दिया। जुलाई में संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में कांगोली संसद् का एक अधिवेशन बुलाया गया। इसके दूसरे दिन प्रधान मन्त्री जोसेफ इलियो की सरकार ने पद-त्याग कर दिया और २ अगस्त को साइरिल अदौला कांगो का प्रधान मन्त्री बनाया गया। इसके बाद से कांगो की केन्द्रीय सरकार के प्रति शोम्बे का रुख और भी अवज्ञापूर्ण हो गया और संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करने से उसने इन्कार कर दिया। १ दिसम्बर को संघ ने कटांगा सरकार के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और १३ सितम्बर को कटांगा प्रदेश पर नियन्त्रण रखने तथा केन्द्रीय कांगोली सरकार के अधिकार में उसे लाने के लिए एलिजाबेथविले के सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों पर कब्जा कर लिया। ब्रिटिश सरकार ने कटांगा में संघ के इस कार्य की बहुत बड़ी निन्दा की और इसे अवैध एवं अनुचित बतलाया। ब्रिटिश समाचार-पत्र और बी० बी० सी० ने कटांगा में अवस्थित भारतीय सैन्य दल के विरुद्ध लगातार निन्दा-भाषण शुरू किया। भारतीय सैनिकों द्वारा कटांका के नागरिकों पर किये गये तथाकथित अत्याचारों की कहानियाँ प्रचारित की गयीं।

हैमरशोल्ड की हत्या—इधर कुछ दिनों से, विशेषकर लुमुम्बा की हत्या के बाद से तथा सोवियत संघ की आलोचनाओं से घबड़ाकर महासचिव डाग हैमरशोल्ड कांगो की राजनीति में निष्पक्ष व्यवहार करने लगे थे। कटांगा को केन्द्रीय कांगोली शासन के अन्दर लाना उनकी निश्चित इच्छा हो गयी थी। यह बात अमेरिका और ब्रिटेन को एकदम पसन्द नहीं आयी। अतएव अब साम्राज्यवादियों द्वारा डाग हैमरशोल्ड का काम तमाम करने का षड्यन्त्र शुरू हो गया। इस षड्यन्त्र में बेल्जियन सेना के उच्च पदाधिकारी शोम्बे तथा उत्तरी रोडेशिया के प्रधान मन्त्री सर राय वेलेन्सकी सम्मिलित थे। सितम्बर के महीने में महासचिव कांगो की स्थिति का अध्ययन करने के लिए कांगो गये। उनके वायुयान को षड्यन्त्रकारियों ने मार गिराया और उसके सभी मुसाफिर इस दुर्घटना के कारण जलकर खत्म हो गये। इधर कुछ दिनों से हैमरशोल्ड शान्ति तथा संघ के सभी उच्च सिद्धान्तों के प्रतीक बन गये थे। उनकी हत्या से सारे संसार में शोक का वातावरण छा गया। १८ सितम्बर को ही इस घटना पर विचार करने के लिए सुरक्षा-परिषद् की एक बैठक बुलायी गयी। कांगो में संयुक्त राष्ट्र का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया था और उसके महासचिव ही अब नहीं रहे। चार्टर के द्वारा कोई महासचिव के पद की व्यवस्था नहीं थी। इसलिए एक नये महासचिव की नियुक्ति अविलम्ब करने की आवश्यकता थी। कुछ दिनों के बाद बर्मा के यू थान्त इस पद पर नियुक्ति किये गये।

विराम-सन्धि—हैमरशोल्ड की हत्या से सारे संसार में सनसनी फैल गयी और संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य भी समझने लगे कि कांगो में किसी तरह के गृह-युद्ध को बन्द करना आव

है। शोम्बे के विरुद्ध विश्व-व्यापी जनमत तैयार होने लगा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि अब संघ उसके विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करेगा जिसमें अमेरिका और रूस दोनों का समर्थन उसे प्राप्त होगा। अतएव शोम्बे ने संयुक्त राष्ट्रसंघ से एक समझौता कर लेना ही ठीक समझा। २० सितम्बर को कटांगा और संयुक्त राष्ट्रसंघ के बीच युद्ध बन्द करने के निमित्त एक इकरारनामा में हस्ताक्षर हुए। लेकिन ३ अक्टूबर को शोम्बे ने राष्ट्रसंघ के ऊपर इकरारनामा भंग करने का आरोप लगाकर संघ अधिकारियों और कटांगा के प्रतिनिधियों के बीच समझौते की जो बातचीत चल रही थी उसको भंग कर दिया। १३ अक्टूबर को संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रतिनिधियों और शोम्बे ने अन्तिम रूप से युद्ध बन्द करने के एक इकरारनामे पर हस्ताक्षर किये। लेकिन अब केन्द्रीय कांगोली सरकार की बारी थी। उसने इस इकरारनामे को मानने से इन्कार कर दिया जिससे संघ और कटांगा को सेना के बीच शत्रुतामूलक कार्रवाई फिर से शुरू हो गयी। इस बार संघ एक पृथक् प्रदेश के रूप में कटांगा के अस्तित्व को सदा के लिए मिटा देने का दृढ़ संकल्प कर चुका था, किन्तु ब्रिटिश सरकार की चालों के कारण उनके समस्त प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए। ब्रिटिश सरकार की नीति से क्षुब्ध होकर कटांगा में संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशेष प्रतिनिधि डा० कोनर ओब्राइन ने पद त्याग कर दिया। संघ द्वारा कांगो में जो जो सैनिक कार्रवाइयाँ की जा रही थी, उनका समर्थन करना तो दूर रहा, ब्रिटिश सरकार खुल्लमखुल्ला शोम्बे सरकार का पक्ष ग्रहण कर रही थी।

कांगो में संयुक्त राष्ट्रसंघ का धैर्य समाप्त हो रहा था। शोम्बे के शत्रुतापूर्ण रुख के कारण महासचिव को विवश होकर पुनः सैनिक कार्रवाई करनी पड़ी। इस बार संघ की सेना पूरी तैयार थी और बहुत बड़े पैमाने पर सैनिक कार्रवाई की गयी। संघ की सेना ने तेजी से बढ़ते हुए कई स्थानों पर कब्जा कर लिया तथा शोम्बे को भागकर दक्षिण रोडेशिया में शरण लेनी पड़ी। अन्त में शोम्बे को झुकना पड़ा और कासाबुबू के प्रमुख सैनिक गढ़ में आत्म समर्पण कर दिया। इसके बदले में अदौला सरकार द्वारा शोम्बे और उसके अन्य साथियो को क्षमा-दान का आश्वासन दिया गया। महासचिव यू थान्त ने कटांगा के एकीकरण के लिए एक छः सूत्री योजना प्रस्तुत की जो इस प्रकार है :

(१) केन्द्रीय प्रशासक आयोग द्वारा कटांगा प्रान्त प्रशासन का अस्थायी रूप से संचालन। इस संक्रान्ति काल में कटांगा सरकार के सभी अधिकारी अपने-अपने पदों पर काम करते रहेंगे।

(२) केन्द्रीय सेना में कटांगा की सेना और सैन्य अधिकारियों का विलयन।

(३) केन्द्रीय सरकार के विदेशी व्यापार एवं विदेशी विनिमय सम्बन्धी नियमों को कटांगा पर लागू किया जायगा।

(४) केन्द्रीय सरकार द्वारा कटांगा में बैंक का नियन्त्रण।

(५) कांगो को केन्द्रीय सरकार की मुद्रा का चलन।

(६) केन्द्रीय सरकार के आर्थिक विशेषज्ञों की कटांगा में नियुक्ति ताकि वे सम्पूर्ण देश की आर्थिक प्रगति में योग दे सकें।

अन्तिम समझौता—फरवरी १९६३ में कांगो की जटिल समस्याओं का समाधान हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के छः सूत्री प्रस्तावों के आधार पर कटांगा कांगो के साथ सम्मिलित कर लिया गया यद्यपि कटांगा को काफी स्वायत्तता मिली। इस समझौता के बाद शोम्बे का प्रभाव

पूरी तरह क्षीण हो गया और उन्हें भागकर पेरिस जाना पड़ा। केन्द्रीय सरकार द्वारा कटांगा प्रान्त का इस प्रकार पुनर्गठन किया गया कि शोम्बे अब किसी तरह सत्ता नहीं प्राप्त कर सके। बाद में राष्ट्रपति कासावुबू ने कांगोली संसद् को भी भंग कर दिया।

इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि कांगो में संघ को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई।

(xx) **साइप्रश की समस्या**—भूमध्यसागर में स्थित साइप्रश का द्वीप १८७८ से ब्रिटेन का एक उपनिवेश था। इस द्वीप के निवासी तुर्क और यूनानी हैं। यूनानी लोग आर्चबिशप मकारियास के नेतृत्व में 'इनोसिस' आन्दोलन चला रहे थे, जिसका उद्देश्य साइप्रश को यूनान के साथ मिला देना था। इसके विपरीत तुर्क-लोग इस द्वीप को तुर्की के अधीन रखना चाहते थे। 'इनोसिस' आन्दोलन को यूनान का समर्थन प्राप्त था और तुर्क लोगों की माँग को तुर्की का। उधर ब्रिटेन इस द्वीप के सामरिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए छोड़ने को तैयार नहीं था। साइप्रश के यूनानियों ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बहुत जोर से आन्दोलन चलाया। इयोका दल कायम करके साइप्रश में उन्होंने आतंक का राज्य कायम कर दिया। ब्रिटेन इस आन्दोलन को दबाता रहा। साइप्रश के प्रश्न को लेकर अतलान्तिक-संगठन में फूट पड़ने लगी। तुर्की, यूनान और ब्रिटेन तीनों इस संगठन के सदस्य थे और साइप्रश को लेकर तीनों का सम्बन्ध खराब होने लगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी यह प्रश्न गया, पर वह कुछ न कर सका। ब्रिटेन ने समझौता के अनेक प्रस्ताव रखे। जब यूनान कोई प्रस्ताव मंजूर करता तो तुर्की उसे नामंजूर कर देता और जब तुर्की किसी प्रस्ताव को मंजूर करता तो यूनान नामंजूर कर देता। साइप्रश की समस्या में जिच की स्थिति आ गयी। अतलान्तिक-संगठन में फूट पड़ते देख अमेरिका की चिन्ता बढ़ने लगी। अन्त में, उसके प्रयास से १९ फरवरी, १९५९ को लन्दन में साइप्रश के प्रश्न पर एक समझौता हो गया। इसके अनुसार साइप्रश न यूनान का अंग रहा और न तुर्की का। यह 'स्वतन्त्र गणराज्य' हो गया किन्तु ब्रिटेन के सैनिक अड्डे वहाँ पूर्ववत् बने हुए हैं।

साइप्रश में तुर्क और यूनानी दोनों रहते हैं।[1] गणतन्त्र का जो संविधान बना उसमें इस बात की चेष्टा की गयी कि दोनों सम्प्रदायों के अधिकार सुरक्षित रहें। चूँकि तुर्की अतलान्तिक संगठन का सदस्य है इसलिए संविधान के द्वारा तुर्कों को कई तरह के विशेषाधिकार भी दिये गये। कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर तुर्कों की अनुमति ले लेना संविधान के द्वारा आवश्यक बना दिया गया। लेकिन इसके कारण साइप्रश के शासन में गतिरोध उत्पन्न होने लगा। इस स्थिति को खत्म करने के उद्देश्य से नवम्बर १९६३ में राष्ट्रपति ने संविधान में संशोधन के लिए एक तेरह सूत्री प्रस्ताव रखा। तुर्कों ने इन प्रस्तावों का घोर विरोध किया क्योंकि यदि वे प्रस्ताव मान लिये जाते तो साइप्रश को राजधानी निकोशिया में उनकी स्थिति बड़ी हीन हो जाती। अतएव दिसम्बर १९६३ में यूनानी-तुर्क विरोध एकाएक प्रबल हो गया। साइप्रश की राजधानी निकोशिया में तुर्कों ने आतंकवादी कार्य आरम्भ कर दिया। बहुत बड़े पैमाने पर दंगे-फसाद शुरू हुए और कुछ दिनों में लगभग दो सौ व्यक्ति मार डाले गये। साइप्रश की पुलिस इन दंगों को रोक नहीं सकी, क्योंकि पुलिस में भी दोनों सम्प्रदाय के सिपाही थे और वे स्वयं आपस में ही संघर्ष करने लगे।[2]

१. साइप्रश में १०००,००० तुर्क, और ५००,००० यूनानी हैं।

२. साइप्रश गणराज्य की अपनी कोई सेना नहीं है। पुलिस के सिपाहियों की संख्या [illegible] है — १००० के लगभग तुर्क हैं।

इस हालत में तुर्की और यूनान के संघर्ष की सम्भावना वढ़ गयी। जब स्थिति बिगड़ने लगी तो ब्रिटेन ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव यू-थान्त से अनुरोध किया कि वह कोई कार्रवाई करे ताकि तुर्की और यूनान में यद्ध न छिड़ जाय। महासचिव ले० जेनरल पी० एस० ज्ञानी (भारत) का कुछ सैनिको के साथ साइप्रश भेजा जिसका काम साइप्रश में शान्ति-व्यवस्था कायम करना था। इसी बीच लन्दन में राजनीतिक समझौता के लिए सम्मेलन का आयोजन (जनवरी १९६४) हुआ जिसमें तुर्की, यूनान, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा साइप्रश के निवासी तुर्क एवं यूनानियों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में यह सुझाव रखा गया कि साइप्रश में शान्ति-व्यवस्था कायम रखने के लिए 'नाटो' संगठन की सेना भेजी जाय; पर राष्ट्रपति मकारियोस ने इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया; पर वे संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना के लिए तैयार थे।
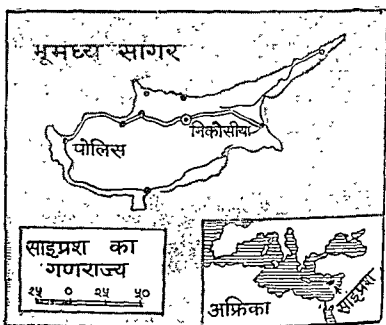
उधर साइप्रश में दोनों सम्प्रदायों के विद्वेप में जरा भी कमी नहीं आयी और छिटपुट दंगे होते ही रहे। इस हालत में साइप्रश की सरकार इस समस्या को लेकर सुरक्षा परिषद् पहुँची। सुरक्षा-परिषद् ने संयुक्त राष्ट्र के महासचिव को यह आदेश दिया कि वह साइप्रश में शान्ति बनाये रखने के लिए एक सेना संगठित करें और ३० जून, १९६४ तक साइप्रश की शान्ति-व्यवस्था की जिम्मेवारी इसी सेना पर रहे। इस तरह की एक सेना साइप्रश पहुँच गयी और किसी तरह वहाँ के दंगा को रोकने का प्रयास किया।

१८ जून, १९६४ को साइप्रश में पुनः एकाएक तुर्क और यूनानियों के बीच घनघोर संग्राम छिड़ गया। ३० जून को साइप्रश पर से संयुक्त राष्ट्र का नियन्त्रण हटने वाला था और तुर्क लोगों को यह आशंका थी कि ३० जून के बाद साइप्रश के यूनानी उन पर घोर अत्याचार करेंगे। तुर्की सरकार के प्रचार के कारण साइप्रश की स्थिति और भी खराब होती जा रही थी। इस स्थिति में साइप्रश की समस्या पर विचार करने के लिए २० जून, १९६४ को सुरक्षा-परिषद् की एक बैठक हुई और इस बैठक ने निश्चय किया कि साइप्रश में शान्ति-व्यवस्था

कायम रखने के लिए संयुक्त राष्ट्र की सेना २६ सितम्बर, १९६४ तक वहीं रहे। जुलाई १९६४ में ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सम्मेलन हुआ (साइप्रस भी राष्ट्रमण्डल का सदस्य है) और इस सम्मेलन में भी साइप्रस की समस्या पर विचार किया गया। लेकिन वहाँ भी कोई विशेष सफलता नहीं मिली।

८ अगस्त १९६४ को तुर्की के कुछ हवाई बम-वर्षकों ने साइप्रस की कुछ ग्रीक बस्तियों पर हमला कर दिया। तुर्की का यह कहना था कि साइप्रस की सेना उन बस्तियों की ओर जा रही थी जिधर तुर्क लोग निवास करते हैं और उनकी रक्षा के लिए इस सेना का सफाया करना आवश्यक था। तुर्की की इस सैनिक कार्रवाई फलस्वरूप बहुत-सी बस्तियाँ नष्ट हो गयीं और सैकड़ों की संख्या में लोग मारे गये।

इस स्थिति पर विचार करने के लिए तुरत ही सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलायी गयी। यूनान के प्रतिनिधि ने कहा कि यदि तुर्की तत्काल आक्रमण बन्द नहीं कर देता तो उसकी सरकार के लिए साइप्रस की समस्या में हस्तक्षेप करना आवश्यक हो जायगा। तुर्की के प्रतिनिधि ने अपने पक्ष में दलीलें पेश कीं। अन्त में यह निश्चय हुआ कि परिषद् के अध्यक्ष दोनों पक्षों से युद्ध बन्द करने की अपील करें। इसके बाद सुरक्षा-परिषद् ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया था कि (१) परिषद् सभी सम्बद्ध राज्यों से अविलम्ब युद्ध बन्द करने का आदेश देती है, (२) उनसे यह अपील करती है कि साइप्रस में शान्ति-व्यवस्था कायम करने के लिए वह साइप्रस में स्थित संयुक्त राष्ट्र के कमान से सहयोग करें तथा (३) ऐसी कोई कार्यवाही न करें जिससे स्थिति सम्हलने के बदले बिगड़ जाय।

सुरक्षा-परिषद् के इस प्रस्ताव को साइप्रस की सरकार ने तुरत मान लिया। तुर्की की सरकार ने भी परिषद् के आदेश का पालन करने का आश्वासन किया। इस प्रकार सुरक्षा परिषद् के हस्तक्षेप से भूमध्यसागर में उत्पन्न इस नये अन्तर्राष्ट्रीय संकट का समाधान हो गया और साइप्रस पर तुर्की का आक्रमण बन्द हो गया।

साइप्रस की समस्या के स्थायी समाधान के लिए इसके बाद कई प्रयास किये गये हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव ने यह सुझाव दिया कि समस्या से सम्बद्ध सभी देश आपस में वार्तालाप शुरू करें। लेकिन इसके लिए कोई तैयार नहीं हुआ। इसलिए समस्या के समाधान का प्रयास हमेशा स्थगित कर दिया जाता है। १९६५ में साइप्रस में रहने वाली संयुक्त राष्ट्रीय सेना की अवधि बढ़ा दी गयी। मार्च १९६५ में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त मध्यस्थ ने एक रिपोर्ट पेश की, लेकिन तुर्की की सरकार ने इसको मानने से इन्कार कर दिया। अतएव साइप्रस में गतिरोध बना हुआ है, लेकिन वहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना मौजूद है और इसलिए किसी आक्रमणात्मक कार्रवाई के प्रारम्भ होने की सम्भावना कम है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने प्रशंसनीय काम किये हैं। साइप्रस में आपातकालीन सेना की अवधि कई बार बढ़ायी जा चुकी है। आज भी यह सेना उसके कलह ग्रस्त क्षेत्र में तैनात है। लेकिन साइप्रस की समस्या के राजनीतिक समाधान के लिए अभी तक कोई प्रभावकारी कदम नहीं उठाया जा सका है।

(xxi) यमन की समस्या—१९ सितम्बर, १९६२ को यमन के अत्याचारी [illegible] अहमद की मृत्यु होने के उपरान्त २६ सितम्बर को एक क्रान्ति द्वारा राजतन्त्र की

दी गयी और कर्नल अब्दुल्ला सल्लाल के नेतृत्व में क्रान्तिकारी परिषद् ने गणराज्य की स्थापना की। इस नई सरकार को रूस एवं मिस्र ने २८ तथा २६ सितम्बर को मान्यता प्रदान कर दी। किन्तु राजतन्त्रवादियो की शक्ति पूर्णतः विलुप्त नही हो पायी थी। उनको अपने पक्ष में करके शाहजादे हसन ने सऊदी अरब के जिद्दा नामक स्थान में यमन की निर्वासित सरकार की स्थापना की जिसे सऊदी अरब वे जोर्डान का पूरा समर्थन मिला। चूँकि निर्वासित सरकार को इन दोनों देशों द्वारा सैनिक एवं शस्त्र सहायता मिलने की पूर्ण सम्भावना विद्यमान थी ताकि क्रान्तिकारी गणराज्य सरकार को अपदस्थ किया जा सके, अतः १३ मई को राष्ट्रपति नासिर ने यह घोषणा की कि वे यमन में हस्तक्षेप को बर्दाश्त नहीं करेंगे।

उपयु क्त दोनों यमनी सरकारों में एक-दूसरे को समाप्त करने की कूटनीतिक एवं सामरिक तैयारियाँ चल रही थीं कि इसी मध्य यह समाचार आया कि यमन के स्वर्गीय शासक इमाम अहमद का उत्तराधिकारी इमाम मुहम्मद जीवित है जो २६ सितम्बर की क्रान्ति में राजमहल से बच निकला था। अब तक समझा यही जाता था कि वह मारा जा चुका था और ध्वस्त महल के मलवे में दब गया था। जब निर्वासित सरकार के अध्यक्ष हसन को यह पता चला तो उसने प्रकट होने पर इमाम मुहम्मद को (जो रिश्ते में हसन का चाचा लगता था) शासन-सत्ता सौंप दी और स्वयं उसकी आज्ञा से प्रधानमन्त्री बन गया।

अब घटनाओं ने एक खूनी मोड़ लिया। अक्टूबर समाप्त होते-होते राजतन्त्रवादियों व गणतन्त्रवादियों में भीषण संघर्ष हो गया। सऊदी अरब जन-धन व शस्त्रों से राजतन्त्रवादियों की सहायता करने लगा और उधर मिस्र (संयुक्त अरब गणराज्य) ने गणराज्य वाली यमनी सरकार की सहायतार्थ दस हजार से भी अधिक सैनिक युद्ध में झोंक दिये। इस प्रकार यह युद्ध यमन का गृहयुद्ध न रह कर अब अरब राज्यों के युद्ध का रूप धारण करने लगा जिससे स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी।

यमन का युद्ध कहीं और अधिक भयावह रूप न धर लें, इससे आशंकित होकर संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा हस्तक्षेप किया गया। १४ मार्च १९६३ को संघ की ओर से राल्फ बुंच तथ्यों की जाँच के लिए यमन भेजे गये। डा० बुंच ने यमनी गणराज्य के राष्ट्रपति सल्लाल से मुलाकात की और युद्धग्रस्त क्षेत्रों का निरीक्षण किया। तत्पश्चात् वे काहिरा में राष्ट्रपति नासिर से मिले। उन्होंने दोनों पक्षों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे यमन के गृहयुद्ध में भेजे गये अपने सैनिकों को वापस बुला लें और समस्या का शान्तिपूर्ण तरीके से हल खोजने में सहायक हों। डा० बुंच के प्रयास सफल हुए। २० मार्च को संयुक्त राष्ट्र के एक प्रवक्ता ने न्यूयार्क में बताया कि राष्ट्रपति नासिर ने अपने लगभग पचीस हजार सैनिकों को इस शर्त पर यमन से वापस बुला लेना मान लिया है कि यमन की स्थलीय सीमाओं से कोई दूसरा देश भी सैनिक या अन्य प्रकार की युद्ध सामग्री नहीं पहुँचायेगा।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों के फलस्वरूप बाह्य शक्तियों ने यमन से धीरे धीरे अपनी सेनाएँ हटाना आरम्भ कर दी और यमन में शान्ति स्थापित हो गयी।

(xxii) वियतनाम की समस्या—१९५४ के जेनेवा समझौता के अनुसार वियतनाम दो भागों में बँट गया—उत्तरी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम। उत्तर में साम्यवादी व्यवस्था कायम हुई और दक्षिण में एक गैर साम्यवादी व्यवस्था जहाँ अमरीकी प्रभाव पूर्ण रूप

से कायम हुआ। यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि दोनों वियतनामों में कभी मेलजोल नहीं हो। शुरू से ही वे एक दूसरे के मिटाने की चेष्टा करते रहे और इस कारण इसी क्षेत्र में कभी पूर्ण शान्ति नहीं रही। लेकिन वियतनाम या उसके निकटवर्ती लाओस के उपद्रव कभी संयुक्त राष्ट्रसंघ के विचारार्थ पेश नहीं किये गये क्योंकि जेनेवा समझौते के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग की स्थापना हुई थी जो हिन्द चीन की समस्याओं को सुलझाने का यत्न करती रहती थी।

अगस्त १९६४ में वियतनाम की स्थिति एकाएक भयंकर हो गयी। ५ अगस्त को अमरीकी विमानों ने एकाएक उत्तरी वियतनाम के कुछ सैनिक अड्डों, जो टानकिन की खाड़ी के सटे स्थित थे, पर धावा बोल दिया। संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति ने एक टेलीविजन ब्राडकास्ट में कहा कि उत्तरी वियतनाम टानकिन की खाड़ी में गश्त लगानेवाले जहाजों पर यदा-कदा आक्रमण करता रहता है और यह स्थिति अब इतनी असह्य हो गयी है कि अमेरिका कार्यवाही करने से बाज नहीं आ सकता। आत्मरक्षा के नाम पर अमेरिका ने अपने आक्रामक कार्रवाई को उचित बतलाया। साथ ही, अपने आक्रमण से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद् में अपील भी कर दी। इस प्रकार हिन्द चीन की समस्या का एक पहलू पहले-पहल संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामने पेश हुआ।

७ अगस्त १९६४ को सुरक्षा परिषद् ने यह निश्चय किया कि समस्या पर विचार शुरू करने के पूर्व उत्तरी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम दोनों को परिषद् की बैठक बुलाया जाय। लेकिन उत्तरी वियतनाम ने परिषद् के निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। इस स्थिति में सुरक्षा परिषद् वियतनाम के सम्बन्ध में कुछ न कर सकी और तब से लेकर अमेरिका वहाँ मनमानी सैनिक कार्रवाई करता रहा। अमेरिका ने केवल वायटकांग छापामारों के खिलाफ ही काम नहीं किया, वरन् उत्तरी वियतनाम पर भी यदा-कदा आक्रमण करना शुरू किया। सम्पूर्ण १९६५ में अमेरिका की भड़कानेवाली कार्रवाई होती रही। संसार के लोकमत ने इसका बड़ा कड़ा विरोध किया, लेकिन इसका कोई परिणाम दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उधर युद्ध के मैदान में कम्युनिस्टों ने अमेरिका का बड़ा-कड़ा प्रतिरोध किया। अन्त में संसार के लोकमत के प्रभाव तथा विरोधी दल के सैनिक प्रतिरोध से बाध्य होकर अमेरिका को यह घोषणा करनी पड़ी कि वह १९६५ के क्रिस्मस से इस आशा पर उत्तरी वियतनाम के खिलाफ गोलाबारी बन्द करता है कि कम्युनिस्ट लोग भी युद्ध बन्द कर देंगे। लेकिन वियतनामी कम्युनिस्टों को यह प्रस्ताव स्वीकार्य नहीं हुआ और यदा-कदा उनके छिटपुट हमले होते रहे। इस हालत में तैंतीस दिनों के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने ३१ जनवरी, १९६६ से पुनः उत्तरी वियतनाम के महत्त्वपूर्ण स्थलों पर गोलाबारी शुरू कर दी।

सुरक्षा-परिषद् में वियतनाम का प्रश्न—संयुक्त राज्य अमेरिका यह जानता था कि उसकी इस कार्रवाई का सारा संसार विरोध करेगा। अतएव अपने को निर्दोष सिद्ध करने के उद्देश्य से उसने वियतनाम की समस्या को पुनः सुरक्षा परिषद् में उठाने का निश्चय किया। प्रचार के सिवा इसका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं था। संयुक्त राष्ट्रसंघ में अमरीकी प्रतिनिधि आर्थर गोल्डबर्ग ने सुरक्षा-परिषद् द्वारा वियतनाम की स्थिति पर विचार करने की माँग की। परिषद् की बैठक के पहले ही उत्तरी वियतनाम की सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह इस समस्या

के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ से सहयोग करने के लिए कतई तैयार नहीं है और यह संघ के किसी प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं है।

१ फरवरी, १९६६ को इस समस्या पर विचार करने के लिए सुरक्षा-परिषद् की बैठक हुई। अमरीकी प्रतिनिधि गोल्डबर्ग ने परिषद् से अनुरोध किया कि वह एक वियतनाम शान्ति सम्मेलन की व्यवस्था करे तथा उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम की प्रतिनिधियों को सुरक्षा-परिषद् की बैठक में भाग लेने के लिए बुलाया जाय। अमेरिका के इस प्रस्ताव का सोवियत संघ तथा फ्रांस ने विरोध किया। सोवियत प्रतिनिधि ने इस बात पर आपत्ति की कि अमेरिका सुरक्षा-परिषद् के मत को प्रचारात्मक कार्य के लिए प्रयोग कर रहा है। उनका कहना था कि वियतनाम समस्या को जेनेवा समझौता के अनुसार सुलझाना ठीक होगा। सोवियत प्रतिनिधि ने अमरीकी बमबारी की आलोचना की और कहा कि अमेरिका वियतनाम में आग के साथ खेल रहा है। फ्रांसीसी प्रतिनिधि ने भी वियतनाम में संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप का विरोध किया। उसका कहना था कि जब इस समस्या से सम्बद्ध दो राष्ट्रों (चीन और उत्तरी वियतनाम) का संयुक्त राष्ट्रसंघ में कोई प्रतिनिधित्व नहीं है, उस हालत में संघ को इस पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं है। फ्रांस और सोवियत संघ के अतिरिक्त परिषद् के कुछ अन्य सदस्यों ने भी अमरीकी प्रस्ताव का विरोध किया।

इस हालत में परिषद् में नौ आवश्यक वोटों के अभाव में यह भी निर्णय नहीं हो सका कि वियतनाम की समस्या पर सुरक्षा-परिषद् बहस करे। २ फरवरी को सुरक्षा-परिषद् ने बैठक को स्थगित कर दिया। वियतनाम की समस्या पर परिषद् कोई कार्यवाही नहीं कर सकी। अच्छा होता यदि परिषद् दोनों पक्षों को हमले और जवाबी हमले तथा भड़कानेवाली कार्रवाइयाँ करने से रोकने के लिए कोई कदम उठाती जिससे की आग और न बढ़े।

(xxiii) क्यूबा का प्रश्न—क्यूबा मध्य अमेरिका में वेस्ट इण्डीज का सबसे बड़ा टापू है। वहाँ अमेरिका-समर्थक सरकार को एक क्रान्ति द्वारा फिडेल कास्ट्रो ने २ जून, १९५९ को उखाड़ फेंका और अपनी रूस समर्थक सरकार की स्थापना कर दी। ३ सितम्बर, १९६२ में रूस ने घोषणा की कि रूस ने क्यूबा को शस्त्रास्त्रों की सहायता देना स्वीकार कर लिया है ताकि वह साम्राज्यवादियों के संकट से अपने देश की रक्षा कर सके। ४ सितम्बर को अमेरिकन राष्ट्रपति कैनेडी ने कहा कि रूस द्वारा क्यूबा को पच्चीस सौ मील तक मार करने वाले विमानभेदी प्रक्षेपणास्त्र एवं १००० मील तक प्रक्षेपणास्त्र फेकने वाली पनडुब्बियाँ आदि दी गयी हैं जिससे उनके राष्ट्र की सुरक्षा को गम्भीर खतरा पैदा हो गया है। अक्टूबर में राष्ट्रपति ने आरोप लगाया कि क्यूबा में सुरक्षा सैनिक सहायता से प्रक्षेपणास्त्र छोड़ने वाले शक्तिशाली अड्डे स्थापित किये जा रहे हैं और अब क्यूबा की सामुद्रिक नाकेबन्दी की जायगी ताकि इन अड्डों को आणविक शस्त्रों से सुसज्जित करने वाली सामग्री क्यूबा न पहुँच सके।

उपरोक्त घोषणा करने के बाद राष्ट्रपति कैनेडी ने क्यूबा का यह मामला सुरक्षा-परिषद् में और अमेरिकन राज्यों के संघ में भेजा तथा यह घोषणा की कि क्यूबा जाने वाले आक्रामक शस्त्रों से लदे जहाजों को वापिस लौटा दिया जायगा। राष्ट्रपति की इस घोषणा ने महान् अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न कर दिया क्योंकि यह रूस जैसी महाशक्ति को खुली चेतावनी थी कि वह कास्ट्रो सरकार को सैनिक सहायता न पहुँचाये।

घोषणा के अनुरूप अमेरिका द्वारा २४ अक्टूबर, १९६२ को क्यूबा की घेराबन्दी लागू कर दी गयी। संकट की गम्भीरता अनुभव करते हुए संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने इसी दिन रूसी प्रधानमन्त्री श्री ख्रुश्चेव और अमेरिका के राष्ट्रपति श्री केनेडी को पत्र लिखा। उन्होंने अमेरिका से यह अनुरोध किया कि वह दो सप्ताह तक जलयानों की तलाशी लेने की कार्यवाही स्थगित रखे। रूसी प्रधानमन्त्री से यह अनुरोध किया गया कि इस अवधि में रूस कोई प्रक्षेपणास्त्र या आणविक अस्त्र क्यूबा न भेजे। पत्र लिखने के पश्चात् महासचिव दोनों पक्षों के मध्य समझौता कराने को अथक रूप से प्रयत्नशील हो गये। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में भाषण करते हुए उन्होंने क्यूबा में प्रक्षेपणास्त्र अस्त्रों के विकास व निर्माण को तुरन्त रोक देने का समर्थन किया।

३० अक्टूबर को महासचिव इसी सिलसिले में स्वयं क्यूबा गये और उन्होंने क्यूबा सरकार के महत्त्वपूर्ण सदस्यों से संयुक्त राष्ट्रसंघीय पर्यवेक्षकों द्वारा निरीक्षण किये जाने के बारे में सलाह-मशविरा किया। महासचिव के प्रयत्नों के फलस्वरूप वातावरण में सुधार होने और तनाव कम होने में पूरी सहायता मिली और ३० अक्टूबर को ही ख्रुश्चेव ने घोषणा की कि वे क्यूबा से सभी प्रक्षेपणास्त्र और आक्रमणात्मक शस्त्रास्त्र हटाने को सहमत हैं और द्वीप पर स्थित सभी आक्रामक अस्त्रों को संयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख में तोड़ दिया जायगा।

तत्पश्चात् संघ के पर्यवेक्षकों की देख-रेख में सोवियत आक्रमणात्मक शस्त्र-शस्त्रों को क्यूबा से हटाने का कार्य सन्तोषजनक गति से पूर्ण हो गया और संघ ने एक बार पुनः विश्व को युद्ध के कगार से वापस लौटा लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

(xxiv) दक्षिण रोडेशिया की समस्या—अफ्रिका में प्रजातिवाद का एक अन्य अखाड़ा दक्षिण रोडेशिया है। वहाँ श्वेत अल्पसंख्यक यूरोपीय बहुसंख्यक अफ्रिकी निवासियों पर शासन कर रहे हैं और उन पर घोर अत्याचार हो रहा है। यह देश ब्रिटेन के मातहत में उन्नीसवीं शताब्दी में ही चला गया। १९५३ में इसको आन्तरिक मामले में स्वायत्तता मिली और १९६४ से इसके प्रधान मन्त्री इयान स्मिथ निरन्तर यह प्रयास करते थे कि दक्षिण रोडेशिया पूर्ण स्वतन्त्र हो जाय। लेकिन दक्षिण रोडेशिया को पूर्ण स्वतन्त्र करने में कुछ कठिनाइयाँ थीं। स्वतन्त्रता के पूर्व वहाँ के मूल निवासियों को श्वेत अत्याचार से रक्षा के लिए कोई व्यवस्था करना आवश्यक था। इसका एक मात्र उपाय यह था कि दक्षिण रोडेशिया के सभी निवासियों को मताधिकार का समान अधिकार दे दिया जाय। लेकिन अल्पसंख्यक यूरोपीय इस तरह की किसी व्यवस्था का समर्थन करने को तैयार न थे, क्योंकि ऐसा हो जाने से उसकी प्रभुसत्ता समाप्त हो जाती। १९५३ से ही दक्षिण रोडेशिया की सरकार पर श्वेत यूरोपीयों ने कब्जा कर लिया था और जब वहाँ के अफ्रिकी निवासी अपने अधिकारों की मांग करने लगे तो यूरोपीयों की ओर से यह प्रयास होने लगा कि दक्षिण रोडेशिया ब्रिटेन के प्रभुत्व से एकतरफी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दे। इस तरह की कोई कार्यवाही विद्रोह माना जाता। अतएव इआनस्मिथ की सरकार ने समझौता करके स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयास किया। लेकिन जब इसमें उसको सफलता नहीं मिली तो ११ नवम्बर, १९६५ को उसने एकतरफी स्वतन्त्रता का एलान कर दिया।

दक्षिण रोडेशिया द्वारा स्वतन्त्रता का इस तरह एलान किये जाने से संसार के समक्ष एक महान् संकट उपस्थित हो गया। यह सम्भव नहीं था कि उस देश के बहुसंख्यक अफ्रिकी चुपचाप

के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ से सहयोग करने के लिए कतई तैयार नहीं है और वह संघ के किसी प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं है।

१ फरवरी, १९६६ को इस समस्या पर विचार करने के लिए सुरक्षा-परिषद् की बैठक हुई। अमरीकी प्रतिनिधि गोल्डवर्ग ने परिषद् से अनुरोध किया कि वह एक वियतनाम शान्ति सम्मेलन की व्यवस्था करे तथा उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम की प्रतिनिधियों को सुरक्षा-परिषद् की बैठक में भाग लेने के लिए बुलाया जाय। अमेरिका के इस प्रस्ताव का सोवियत संघ तथा फ्रांस ने विरोध किया। सोवियत प्रतिनिधि ने इस बात पर आपत्ति की कि अमेरिका सुरक्षा-परिषद् के मत को प्रचारात्मक कार्य के लिए प्रयोग कर रहा है। उनका कहना था कि वियतनाम समस्या को जेनेवा समझौता के अनुसार सुलझाना ठीक होगा। सोवियत प्रतिनिधि ने अमरीकी बमबारी की आलोचना की और कहा कि अमेरिका वियतनाम में आग के साथ खेल रहा है। फ्रांसीसी प्रतिनिधि ने भी वियतनाम में संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप का विरोध किया। उसका कहना था कि जब इस समस्या से सम्बद्ध दो राष्ट्रों (चीन और उत्तरी वियतनाम) का संयुक्त राष्ट्रसंघ में कोई प्रतिनिधित्व नहीं है, उस हालत में संघ को इस पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं है। फ्रांस और सोवियत संघ के अतिरिक्त परिषद् के कुछ अन्य सदस्यों ने भी अमरीकी प्रस्ताव का विरोध किया।

इस हालत में परिषद् में नौ आवश्यक वोटों के अभाव में यह भी निर्णय नहीं हो सका कि वियतनाम की समस्या पर सुरक्षा-परिषद् बहस करे। २ फरवरी को सुरक्षा-परिषद् ने बैठक को स्थगित कर दिया। वियतनाम की समस्या पर परिषद् कोई कार्यवाही नहीं कर सकी। अच्छा होता यदि परिषद् दोनों पक्षों को हमले और जवाबी हमले तथा भड़कानेवाली कार्रवाइयाँ करने से रोकने के लिए कोई कदम उठाती जिससे की आग और न बढ़े।

(xxiii) क्यूबा का प्रश्न—क्यूबा मध्य अमेरिका में वेस्ट इण्डीज का सबसे बड़ा राष्ट्र है। वहाँ अमेरिका-समर्थक सरकार को एक क्रान्ति द्वारा फिडेल कास्ट्रो ने २ जून, १९५९ को उखाड़ फेंका और अपनी रूस समर्थक सरकार की स्थापना कर दी। ३ सितम्बर, १९६२ में रूस ने घोषणा की कि रूस ने क्यूबा को शस्त्रास्त्रों की सहायता देना स्वीकार कर लिया है ताकि वह साम्राज्यवादियों के संकट से अपने देश की रक्षा कर सके। ४ सितम्बर को अमेरिकन राष्ट्रपति कैनेडी ने कहा कि रूस द्वारा क्यूबा को पच्चीस सौ मील तक मार करने वाले विमानभेदी प्रक्षेपणास्त्र एवं १००० मील तक प्रक्षेपणास्त्र फेकने वाली पनडुब्बियाँ आदि दी गयी हैं जिससे उनके राष्ट्र की सुरक्षा का गम्भीर खतरा पैदा हो गया है। अक्टूबर में राष्ट्रपति ने आरोप लगाया कि क्यूबा में सुरक्षा सैनिक सहायता से प्रक्षेपणास्त्र छोड़ने वाले शक्तिशाली अड्डे स्थापित किये जा रहे हैं और अब क्यूबा की सामुद्रिक नाकेबन्दी की जायगी ताकि इन अड्डों को आणविक शस्त्रों से सुसज्जित करने वाली सामग्री क्यूबा न पहुँच सके।

उपरोक्त घोषणा करने के बाद राष्ट्रपति कैनेडी ने क्यूबा का यह मामला सुरक्षा-परिषद् में और अमेरिकन राज्यों के संघ में भेजा तथा यह घोषणा की कि क्यूबा जाने वाले आक्रामक शस्त्रों से लदे जहाजों को वापिस लौटा दिया जायगा। राष्ट्रपति की इस घोषणा ने महान अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न कर दिया क्योंकि यह रूस जैसी महाशक्ति को खुली चेतावनी थी कि वह कास्ट्रो सरकार को सैनिक सहायता न पहुँचाये।

घोषणा के अनुरूप अमेरिका द्वारा २४ अक्टूबर, १९६२ को क्यूबा की घेराबन्दी लागू कर दी गयी। संकट की गम्भीरता अनुभव करते हुए संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने इसी दिन रूसी प्रधानमन्त्री श्री ख्रु श्चेव और अमेरिका के राष्ट्रपति श्री कैनेडी को पत्र लिखा। उन्होंने अमेरिका से यह अनुरोध किया कि वह दो सप्ताह तक जलयानों की तलाशी लेने की कार्यवाही स्थगित रखे। रूसी प्रधानमन्त्री से यह अनुरोध किया गया कि इस अवधि में रूस कोई प्रक्षेपणास्त्र या आणविक अस्त्र क्यूबा न भेजे। पत्र लिखने के पश्चात् महासचिव दोनों पक्षों के मध्य समझौता कराने को अथक रूप से प्रयत्नशील हो गये। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में भाषण करते हुए उन्होंने क्यूबा में प्रक्षेपणास्त्र अड्डों के विकास व निर्माण को तुरन्त रोक देने का समर्थन किया।

३० अक्टूबर को महासचिव इसी सिलसिले में स्वयं क्यूबा गये और उन्होंने क्यूबा सरकार के महत्त्वपूर्ण सदस्यों से संयुक्त राष्ट्रसंघीय पर्यवेक्षकों द्वारा निरीक्षण किये जाने के बारे में सलाह-मशविरा किया। महासचिव के प्रयत्नों के फलस्वरूप वातावरण में सुधार होने और तनाव कम होने में पूरी सहायता मिली और ३० अक्टूबर को ही ख्रु श्चेव ने घोषणा की कि वे क्यूबा से सभी प्रक्षेपणास्त्र और आक्रमणात्मक शस्त्र हटाने को सहमत हैं और द्वीप पर स्थित सभी आक्रामक अड्डों को संयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख में तोड़ दिया जायगा।

तत्पश्चात् संघ के पर्यवेक्षकों की देख-रेख में सोवियत आक्रमणात्मक शस्त्र-शस्त्रों को क्यूबा से हटाने का कार्य सन्तोषजनक गति से पूर्ण हो गया और संघ ने एक बार पुनः विश्व को युद्ध के कगार से वापस लौटा लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

(xxiv) दक्षिण रोडेशिया की समस्या—अफ्रिका में प्रजातिवाद का एक अन्य अखाड़ा दक्षिण रोडेशिया है। वहाँ श्वेत अल्पसंख्यक यूरोपीय बहुसंख्यक अफ्रिकी निवासियों पर शासन कर रहे हैं और उन पर घोर अत्याचार हो रहा है। यह देश ब्रिटेन के मातहत में उन्नीसवीं शताब्दी में ही चला गया। १९५३ में इसको आन्तरिक मामले में स्वायत्तता मिली और १९६४ से इसके प्रधान मन्त्री इआन स्मिथ निरन्तर यह प्रयास करते थे कि दक्षिण रोडेशिया पूर्ण स्वतन्त्र हो जाय। लेकिन दक्षिण रोडेशिया को पूर्ण स्वतन्त्र करने में कुछ कठिनाइयाँ थीं। स्वतन्त्रता के पूर्व यहाँ के मूल निवासियों की श्वेत अत्याचार से रक्षा के लिए कोई व्यवस्था करना आवश्यक था। इसका एक मात्र उपाय यह था कि दक्षिण रोडेशिया के सभी निवासियों को मताधिकार का समान अधिकार दे दिया जाय। लेकिन अल्पसंख्यक यूरोपीय इस तरह की किसी व्यवस्था का समर्थन करने को तैयार न थे, क्योंकि ऐसा हो जाने से उसकी प्रभुसत्ता समाप्त हो जाती। १९५३ से ही दक्षिण रोडेशिया की सरकार पर श्वेत यूरोपीयों ने कब्जा कर लिया था और जब वहाँ के अफ्रिकी निवासी अपने अधिकारों की मांग करने लगे तो यूरोपीयों की ओर से यह प्रयास होने लगा कि दक्षिण रोडेशिया ब्रिटेन के प्रभुत्व से एकतरफी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दे। इस तरह की कोई कार्यवाही विद्रोह माना जाता। अतएव इआनस्मिथ की सरकार ने समझौता करके स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयास किया। लेकिन जब इसमें उसकी सफलता नहीं मिली तो ११ नवम्बर, १९६५ को उसने एकतरफी स्वतन्त्रता का एलान कर दिया।

दक्षिण रोडेशिया द्वारा स्वतन्त्रता का इस तरह एलान किये जाने से संसार के समक्ष एक महान् संकट उपस्थित हो गया। यह सम्भव नहीं था कि उस देश के बहुसंख्यक अफ्रिकी चुपचाप

श्वेत अत्याचारों को सहन करते रहें। इसके अतिरिक्त इस बात का भी खतरा था कि पड़ोस के अफ्रिकी राज्य अपने रोडेशियाई बन्धुओं की सहायता के लिए कदम उठावें। इसका मतलब होता दक्षिण रोडेशिया की सरकार तथा अफ्रिकी देशों के बीच युद्ध। इस प्रकार एकतरफी स्वतन्त्रता की घोषणा ने जिन परिस्थितियों को उत्पन्न किया उनमें एक युद्ध की सम्भावना दीखने लगी। इसमें ब्रिटिश सरकार का पार्ट बड़ा ही निन्दनीय था। उसे तुरत स्मिथ-सरकार के खिलाफ सैनिक कार्रवाई करनी चाहिए था। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। इस कारण विश्व का लोकमत बड़ा विक्षुब्ध था।

इस हालत में अपने कार्यों पर पर्दा डालने के लिए ब्रिटिश सरकार ने सुरक्षा-परिषद् से अनुरोध किया कि वह दक्षिण रोडेशिया सरकार द्वारा एकतरफी स्वतन्त्रता की घोषणा से उत्पन्न परिस्थिति पर विचार करे। इसी तरह की मांग कई एशियाई-अफ्रिकी देशों की ओर से भी की गयी।

१२ नवम्बर, १९६५ को सुरक्षा-परिषद् की बैठक दक्षिण रोडेशिया की समस्या पर विचार करने के लिए हुई। परिषद् ने दक्षिण अफ्रिका, पुर्तगाल और भारत को कार्यवाही में भाग लेने के लिए विशेष आमन्त्रण भेजा, लेकिन दक्षिण अफ्रिका तथा पुर्तगाल ने इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया। परिषद् में भाषण देते हुए ब्रिटिश विदेश मन्त्री माइकेल स्टुअर्ट ने स्मिथ सरकार की कार्रवाई की निन्दा की और संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों से अनुरोध किया कि वे स्मिथ सरकार के विद्रोह को दबाने में ब्रिटिश सरकार की सहायता करें तथा दक्षिण रोडेशिया सरकार को किसी प्रकार की मदद नहीं दें।

ब्रिटिश विदेश मन्त्री के इस भाषण ने स्पष्ट कर दिया कि उसमें नेकनियती का पूर्ण अभाव था और उसका उद्देश्य संसार को केवल धोखा देना था। ब्रिटेन को स्मिथ सरकार की कार्रवाई को विद्रोह मानना चाहिए था और उसे कुचलने के लिए सैनिक कार्रवाई करनी चाहिए थी। लेकिन इस तरह के किसी कार्यक्रम का उल्लेख नहीं किया गया। ब्रिटिश विदेश मंत्री ने दक्षिण रोडेशिया के खिलाफ प्रतिबन्ध लगाने का भी सुझाव दिया, लेकिन तेल पर प्रतिबन्ध लगाने की कोई चर्चा नहीं की गयी। बाद में परिषद् ने जोर्डान के एक प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इस प्रस्ताव में कहा था कि "सुरक्षा-परिषद् दक्षिण रोडेशिया की अल्पसंख्यक प्रजातिवादी सरकार की एकतरफी स्वतन्त्रता की घोषणा की निन्दा करती है तथा संघ के सदस्यों से अनुरोध करती है कि वे इस अवैध सरकार को मान्यता प्रदान न करें तथा उसके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखें।" यह प्रस्ताव परिषद् में निर्विरोध स्वीकार कर लिया गया, लेकिन फ्रांस ने मतदान में हिस्सा इसलिए नहीं लिया कि वह दक्षिण रोडेशिया की समस्या को "ब्रिटेन की आन्तरिक समस्या" मानता था। फिर भी फ्रांस ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह स्मिथ सरकार के कार्य की निन्दा करता है।

१३ नवम्बर को इस समस्या पर विचार करने के लिए सुरक्षा-परिषद् की बैठक पुनः बुलायी गयी। इसमें ब्रिटेन ने एक प्रस्ताव रखा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य-राज्य ब्रिटिश सरकार को स्मिथ सरकार के विद्रोह को दबाने में हर तरह की मदद करें। इसी बैठक में संघ के छत्तीस अफ्रिकी सदस्यों की ओर से आइवरी कोस्ट ने एक प्रस्ताव रखा जिसका उद्देश्य स्मिथ सरकार के विद्रोह को कुचलने के लिए एक संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना का निर्माण करना

था। इस प्रस्ताव में स्मिथ-सरकार के खिलाफ सैनिक कार्रवाई पर विशेष बल दिया गया था। लेकिन परिषद् किसी प्रस्ताव पर कोई निर्णय नहीं कर सकी और १६ नवम्बर, १६६५ को उसकी बैठक स्थगित कर दी गयी। २० नवम्बर को सुरक्षा परिषद् ने पुनः इस समस्या पर विचार किया। दक्षिण रोडेशिया के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने का निर्णय किया गया और यह निश्चित हुआ कि तेल का निर्यात बिल्कुल बन्द कर दिया जाय। यह समझा गया कि तेल के अभाव में स्मिथ की सरकार संकट में पड़ जायगी और उसके दुराग्रह का अन्त हो जायगा। लेकिन अभी तक स्मिथ सरकार के अन्त का कोई आसार नहीं दिखाई पड रहा है और निष्कर्ष के रूप में यही कहना पड़ता है कि दक्षिण रोडेशिया के श्वेत अल्पसंख्यक सरकार के अत्याचार से बहुसंख्यक अफ्रिकियों की रक्षा करने में संयुक्त राष्ट्रसंघ पूर्णतया असफल रहा है।

(xxv) डोमीनिकन गणराज्य में अमरीकी हस्तक्षेप—२५ अप्रिल, १६६५ को लैटिन अमेरिका के एक छोटे से देश डोमीनिकन गणराज्य में गृह-युद्ध छिड़ गया, विद्रोहियों ने संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा समर्थित सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और शासन पर अधिकार जमा लिया। क्रान्तिकारियों की सरकार संयुक्त राज्य अमेरिका की विरोधी थी और इसलिए अपने पड़ोस में एक ऐसी सरकार की स्थापना अमेरिका नहीं देख सकता था। उसने इस गृह-युद्ध में हस्तक्षेप करके विद्रोही सरकार को कुचलने का निश्चय किया और डोमीनिकन गणराज्य में बसे हुए अमरीकी नागरिकों की रक्षा के नाम पर अमरीकी सरकार ने वहाँ एक विशाल सेना रवाना कर दिया। गणराज्य की जनता ने अमेरिका के इस हस्तक्षेप का विरोध किया और उसके विरुद्ध खुला विद्रोह कर दिया।

सोवियत संघ ने अमेरिका की इस कार्यवाही का विरोध किया और १ मई को सुरक्षा परिषद् से अनुरोध किया कि वह हस्तक्षेप करके डोमीनिकन गणराज्य में अमरीकी आक्रमण को बन्द कराये। ४ मई को परिषद की बैठक हुई। अमरीकी प्रतिनिधि अदलाई स्टीवेनसन ने कहा कि गणराज्य में गड़बड़ी के मूल में कम्युनिस्ट है और अमेरिका ने अमेरीकी नागरिकों के रक्षार्थ सेना भेजा है। सोवियत प्रतिनिधि ने प्रतिवाद करते हुए कहा कि अमरीकी नागरिकों की रक्षा का प्रश्न एक निरा बहाना है और अमेरिका गणराज्य में आक्रमण का नग्न नृत्य कर रहा है। इसी बीच अमरीकी राज्यों के संगठन के प्रयास से गृह-युद्ध कुछ समय के लिए बन्द हो गया। १४ मई को सुरक्षा परिषद् की दूसरी बैठक हुई और सर्वसम्मत से यह निर्णय हुआ कि राष्ट्रसंघ डोमीनिकन गणराज्य की स्थिति का अध्ययन करने ने लिए एक पर्यवेक्षक भेजे। पर्यवेक्षक ने अपनी रिपोर्ट में गणराज्य की स्थिति को चिन्ताजनक बताया।

२३ मई को संयुक्त राज्य अमेरिका और लैटिन अमेरिका के चार राज्यों ने मिलकर एक अन्तर अमरीकी शान्ति सेना का संगठन किया और अमरीकी राज्यों के संगठन (OAS) ने इस सेना को यह अधिकार दिया कि वह डोमीनिकन गणराज्य में शान्ति स्थापना का कार्य करे। अन्तर-अमरीकी शान्ति सेना गणराज्य पहुँची और वहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप करने लगी। सोवियत संघ ने पुनः इसका विरोध किया और सुरक्षा परिषद् में यह माँग रखी कि तथाकथित शान्ति सेना को गणराज्य से हटाया जाय और उसकी जगह पर एक राष्ट्रसंघीय सेना कायम किया जाय। लेकिन सुरक्षा परिषद् को यह प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ और डोमीनिकन

गणराज्य में अमेरिका का हस्तक्षेप जारी रहा। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा स्थापित अन्तर-अमरीकी शान्ति सेना गणराज्य में बनी हुई है। डोमीनिकन में गृह-युद्ध बन्द हो गया है और वहाँ अमेरिका द्वारा समर्थित सरकार काम कर रही है। संघ की यह एक प्रमुख असफलता है।

(xxvi) **अरब-इजरायल संघर्ष** – अरब-इजरायल सम्बन्ध का विस्तृत वर्णन हम आगे उपयुक्त स्थान पर करेंगे। यहाँ हम इस संघर्ष में केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ की भूमिका का वर्णन करेंगे।

१९५६ के अरब-इजरायल संघर्ष में युद्ध-विराम होने पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सेना गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात की गयी थी ताकि मिस्र और इजरायल के बीच किसी संघर्ष के विस्फोट को रोका जा सके। १९६७ के प्रारम्भ से ही इजरायल और अरब राज्यों का सम्बन्ध तनावपूर्ण हो रहा था। मई के शुरू में उनके बीच बढ़ती हुई तनातनी अत्यन्त विस्फोटक हो गयी। इस हालत में राष्ट्रपति नासिर ने संघ के महासचिव यू थान्त के समक्ष यह मांग रखी कि वे गाजा और मिस्र के अन्य क्षेत्रों से संघीय सेना हटा ले। मिस्र को इस तरह की मांग करने का पूरा अधिकार था, लेकिन सम्भावित खतरे को ध्यान रखकर महासचिव को कड़ा रुख अपनाना चाहिए था और संघीय सेना को वापस नहीं बुलाना चाहिए था। यू थान्त ने इस तरह का काम नहीं किया। वे मिस्र की सम्प्रभुता का ख्याल रखते हुए संघीय सेना वापस बुलाने पर राजी हो गये और सेना हटाने का काम शुरू भी हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना के हट जाने के उपरांत इजरायल और संयुक्त अरब गणराज्य की सीमाओं पर स्थिति अत्यन्त खतरनाक हो गयी। अब दोनों को संघर्ष से कोई रोकनेवाला नहीं था। दोनों राष्ट्रों की सेनाएँ आमने-सामने हो गयीं। सीरिया और जोर्डान में भी युद्ध की तैयारी होने लगी। इधर संघर्ष को टालने के लिए महासचिव के प्रयास भी जारी रहे।

मिस्र, साऊदी अरब तथा इजरायल से सटे अकाबा की खाड़ी है जो इजरायली जहाजों को लाल सागर में पहुँचने के लिए रास्ता देती है। इजरायल इस खाड़ी को अपनी जीवन-रेखा मानता है। २३ मई, १९६७ को राष्ट्रपति नासिर ने इजरायली जहाजों को अकाबा की खाड़ी में प्रवेश करने की मनाही कर दी। इस घोषणा ने स्थिति को अत्यन्त गम्भीर बना दिया। इजरायल ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी कि भीषणतम युद्ध का खतरा झेलकर भी वह अकाबा की खाड़ी को अपने लिए खुला रखेगा।

ऐसी हालत में अब यह प्रायः निश्चित हो गया कि पश्चिम एशिया में एक भयंकर विस्फोट होकर रहेगा। स्थिति की गम्भीरता को देखकर महासचिव यू-थान्त बीच-बचाव के लिए काहिरा पहुँचे और मध्यस्थता करके संकट को टालने का यत्न किया। लेकिन काहिरा में उन्हें ऐसा कोई उत्साहपूर्वक लक्षण दिखाई नहीं पड़ा जिससे शान्ति के प्रयत्नों को और मजबूत किया जा सके। अतः निराश होकर यू थान्त न्यूयार्क लौट आये।

सुरक्षा परिषद् की बैठकें—२४ मई, १९६७ को पश्चिम एशिया की इस विस्फोटक स्थिति पर विचार करने के लिए सुरक्षा-परिषद् की बैठक हुई। इस बैठक में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ ने एक दूसरे को स्थिति को विस्फोटक बनाने के लिए जिम्मेवार ठहराया। सोवियत प्रतिनिधि ने स्थिति को बिगाड़ने की सारी जिम्मेवारी इजरायल पर मढ़ा और ब्रिटेन तथा अमेरिका पर यह आरोप लगाया कि वे इजरायल को आक्रमण कार्यों में बढ़ावा दे रहे हैं। जवाब में अमेरिका ने तनाव के लिए सोवियत कूटनीति को जिम्मेवार बतलाया। इस गतिरोध

की स्थिति में परिषद् की बैठक स्थगित हो गयी। बाद में भी परिषद् की कई बैठकें हुईं लेकिन उनसे कोई नतीजा नहीं निकला।

५ जून, १९६७ को अरब देशों और इजरायल के बीच घमासान लड़ाई शुरू हो गयी। युद्ध के छिड़ते ही न्यूयार्क में सुरक्षा-परिषद् की बैठक बुलायी गयी। भारतीय प्रतिनिधि ने परिषद् में मांग की कि वह अरब-इजरायल युद्ध बन्द करने और दोनों पक्षों को अपनी सेना ४ जून की स्थिति में लाने की मांग करे। उधर युद्ध में इजरायल को विजय हासिल हो रही थी। उसने सीरिया, जोर्डान तथा संयुक्त अरब गणराज्य के बहुत बड़े भू-भाग पर अपना कब्जा जमा लिया था। परिषद् की इस बैठक में अमरीकी प्रतिनिधि ने भी एक प्रस्ताव रखा। इसमें कहा गया था कि पश्चिम एशिया में तनातनी नहीं बढ़ने देना चाहिए और कूटनीतिक उपायों के जरिये किसी समाधान तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए। यह अमरीकी प्रस्ताव सोवियत संघ को मान्य नहीं था। यदि अमेरिका इस प्रस्ताव के पक्ष में पर्याप्त मत प्राप्त कर लेता तो सोवियत संघ वीटो का प्रयोग अवश्य करता। अतः प्रस्ताव पर मतगणना का कार्य टाल दिया गया। बैठक में इजरायली प्रतिनिधि ने बड़ा कड़ा रुख अपनाया। उसने कहा कि अकाबा की खाड़ी पर अपने अधिकार के सम्बन्ध में इजरायल दृढ़ है और उसमें जहाजों के अबाध रूप में बेरोकटोक यात्रा करने की स्थिति के अलावा कोई भी दूसरी स्थिति उसको मान्य नहीं है। सीरियाई प्रतिनिधि ने युद्ध का सारा दोष इजरायल पर मढ़ा। सोवियत प्रतिनिधि फेदोरेंको ने साम्राज्यवादी शक्तियों को पश्चिमी एशियाई संकटों के लिए जिम्मेवार ठहराते हुए अरब राष्ट्रों को हर तरह की सहायता देने का आश्वासन दिया। अन्त में, ६ जून को परिषद् ने युद्ध बन्द करने का एक प्रस्ताव पास किया। इजरायली प्रतिनिधि ने घोषणा की कि उसकी सरकार युद्ध बन्द कर देने को तैयार है, लेकिन अरब देशों की ओर से इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया गया।

उधर युद्ध में जोर्डान की हालत बहुत खराब होती जा रही थी अतएव उसने युद्ध बन्द कर देने की मांग स्वीकार कर ली। ७ जून को परिषद् ने एक दूसरा प्रस्ताव स्वीकार किया। इस प्रस्ताव में यह मांग की गयी थी कि युद्धरत् सभी देश रात आठ बजे से (ग्रीनवीच समय) युद्ध बन्द कर दें। सुरक्षा का यह आदेशात्मक प्रस्ताव था। युद्ध में मिस्र का भी पूरा पलायन हो गया था। अतएव उसके समक्ष युद्ध बन्द करने के सिवा कोई चारा नहीं रहा। ८ जून को इजरायल और मिस्र के बीच युद्ध बन्द हो गया। सीरिया ने भी अपनी ओर से युद्ध बन्द कर देने की घोषणा कर दी।

युद्ध में संलग्न सभी राष्ट्रों द्वारा इस घोषणा के बावजूद कि वे युद्ध विराम की मांग को कार्यान्वित करेंगे ९ जून को स्वेज नहर के किनारे और इजरायल सीरिया सीमावर्ती पहाड़ियों पर युद्ध जारी रहा। इजरायल ने सीरिया पर अपनी आक्रामक कार्रवाई जारी रखी। वह सीरिया के क्षेत्र में स्थित कुछ सामरिक महत्त्व के स्थानों पर कब्जा कर लेना चाहता था। इस हालत में पश्चिम एशिया के प्रश्न पर विचार करने के लिए ९-१० जून को पुनः सुरक्षा परिषद् की बैठक हुई। भारत और सोवियत संघ के प्रतिनिधि ने मांग की कि इजरायल को आक्रामक घोषित किया जाय। लेकिन ब्रिटेन और अमेरिका ने ऐसा नहीं होने दिया। महासचिव को यह कहा गया कि वे वस्तुस्थिति का पता लगायें। महासचिव ने जो रिपोर्ट

दी उसमें स्पष्ट था कि इजरायली सेना आक्रामक कार्रवाई में संलग्न है और युद्ध चल रहा है। अतएव सुरक्षा परिषद् ने एक और प्रस्ताव पास करके यह आदेश दिया कि सीरिया और इजरायल दो घंटों में युद्ध बन्द कर दें। इजरायल का सामरिक उद्देश्य पूरा हो चुका था। वह जिन स्थलों पर कब्जा करना चाहता था, उस पर कब्जा कर चुका था। सीरिया की सामरिक क्षमता समाप्त हो चुकी थी। अतएव दोनों पक्षों ने तत्काल युद्ध-विराम स्वीकार कर लिया और १० जून को दोनों पक्षों में पूर्णतया लड़ाई बन्द हो गयी। इस युद्ध विराम के बाद भी स्वेज क्षेत्र में झड़पे होती रही जिनसे युद्ध पुनः भड़क उठने का खतरा उपस्थित हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने दोनों पक्षों से युद्ध विराम का यथोचित रूप से पालन करने की अपील की। १० जुलाई को स्वेज के किनारे संयुक्त राष्ट्र संघीय पर्यवेक्षक रखने पर संयुक्त अरब गणराज्य सहमत हो गया। १६ जुलाई को स्वेज नहर क्षेत्र में संघ के पर्यवेक्षकों की देख रेख में युद्ध-विराम पुनः लागू हो गया।

युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इस क्षेत्र में शान्ति की स्थापना के लिए कई प्रयास किये हैं जो सफलता और असफलताओं एवं आशा और आकांक्षाओं के बीच झूलते रहे हैं। ८ अक्टूबर, १९६८ को संयुक्त राष्ट्र में इस समस्या को हल करने के लिए इजरायल ने एक नौ-सूत्री प्रस्ताव पेश किया। लेकिन संयुक्त अरब गणराज्य ने इसको तत्काल ही नामंजूर कर दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की निगरानी के बावजूद अरब राज्यों और इजरायल में प्रायः सैनिक झड़पे हो जाती हैं। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण झड़प २८ दिसम्बर १९६८ को हुआ जब इजरायली हेलिकाप्टरों के हमले से बेरूत के हवाई अड्डे पर तेरह अरब जहाज क्षतिग्रस्त हो गये। यह हमला इतना गम्भीर था कि इसके लिए इजरायल को चेतावनी देने के लिए सोवियत संघ और अमेरिका सहमत हुए और १ जनवरी १९६९ को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पास करके बेरूत पर हमला करने के लिए इजरायल को गम्भीर चेतावनी दी। लेकिन इजरायल पर इस चेतावनी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। ११ फरवरी, १९६९ को अरब और इजरायल छापामारों में पुनः गोलाबारी हुई और ८ मार्च को स्वेज नहर के पास संयुक्त अरब गणराज्य के तेल कारखानों पर इजरायली सैनिकों ने हमला करके उसे बड़ी क्षति पहुँचाया। ८ अप्रिल १९६९ को पुनः इजरायल और अरब राष्ट्रों के सैनिकों में मुठभेड़ हुई। यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रेक्षक इस क्षेत्र में तैनात हैं, फिर भी दोनों पक्षों में इस प्रकार की झड़पें हमेशा होती जा रही है। वस्तुतः इस तरह की विस्फोट घटनाएँ तबतक घटती रहेंगी जब तक अरब-इजरायल कटुता का कोई राजनीतिक समाधान नहीं ढूँढ लिया जाय। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों के फलस्वरूप अरबों तथा इजरायलियों के बीच तत्काल के लिए युद्ध बन्द हो गया लेकिन स्थायी शान्ति अभी कोसों दूर है। इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ को सतत् प्रयत्नशील रहना है।

(xxvii) चेकोस्लोवाकिया का संकट[1]—२१ अगस्त, १९६८ को सोवियत संघ और वारसा सन्धि के देशों की फौजों ने चेकोस्लोवाकिया में प्रवेश किया। इस सैनिक कार्रवाई के कई कारण थे। लेकिन तुरत ही इस ममले को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् में उठाया गया। परिषद् के सात सदस्य-राष्ट्रों ने एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें सोवियत संघ की कार्रवाई को आक्रमण

१ चेकोस्लोवाकिया संकट के सम्बन्ध में विशेष वर्णन हम आगे (चौदहवें अध्याय में) करेंगे।

करना चाहिए। इन सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने मजदूरों के कल्याण को आवश्यक माना और इसके लिए निम्नलिखित कार्यक्रम बनाया—

(१) जीवन निर्वाह और पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक और पूरी मजदूरी मिले।
(२) मजदूरों की सामाजिक सुरक्षा के लिए कार्यों का विस्तार हो।
(३) मजदूरों के लिए पर्याप्त भोजन एवं निवास गृहों की व्यवस्था हो।
(४) मजदूरों को सामूहिक रूप से सौदा करने (collective bargain) का अधिकार प्रदान किया जाय।
(५) उन्हें अवसरों की पूरी समानता मिले।
(६) उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा की अच्छी व्यवस्था हो ।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए १९४६ में इस संगठन को संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ सम्बद्ध कर लिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का मुख्य लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा मजदूरों की दशा को उन्नत करना, उनके जीवन मान को ऊँचा उठाना तथा आर्थिक और सामाजिक स्थिरता को बढ़ावा देना है। इसके लिए संगठन विविध प्रकार के श्रमिक समझौतों (Conventions) तथा सिफारिशों (Recommendations) को तैयार करती है। इनका उद्देश्य श्रम सम्बन्धी दशाओं का अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डो का निर्माण करना है। इसके सदस्य राज्य इन समझौतों और सिफारिशों को मानकर उनके अनुरूप कानून बनाते हैं तथा श्रमिकों की दशा में सुधार करते हैं। १९६५ तक ऐसे एक सौ नवासी समझौतों का अनुमोदन विभिन्न सरकार कर चुकी है। संगठन की कई सफारिशों को भी सदस्य राज्यों ने मान लिया है।

खाद्य और कृषि संगठन

खाद्य और कृषि संगठन संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत १९४५ में युद्ध के बाद स्थापित होने वाला पहला संगठन था। यह संस्था अटलान्टिक घोषणा पत्र में प्रकट की गयी। ऐसी शान्ति की स्थापना की आशा से कायम की गयी थी जिससे दुनिया के प्रत्येक व्यक्ति को यह विश्वास हो सके कि वह अपना जीवन किसी तरह की कमी महसूस किये बिना व्यतीत कर सकता है। इसकी स्थापना १६ अक्टूबर, १९४५ को हुई जब क्यूबेक में इसके संविधान पर हस्ताक्षर किये गये।

संगठन—खाद्य और कृषि संगठन के मुख्य अंग एक सम्मेलन, एक परिषद् तथा डाइरेक्टर जनरल और उसका स्टॉफ है। सम्मेलन में हर सदस्य देश का एक-एक प्रतिनिधि होता है। यह सम्मेलन संगठन की नीति का निर्धारण करता है तथा बजट स्वीकार करता है। परिषद् में सम्मेलन द्वारा चुने गये चौबीस सदस्य होते हैं। परिषद् सम्मेलन के अधिवेशन समाप्त होते और शुरू होने की अवधि में काम करती है। इसका प्रधान कार्यालय रोम में स्थित है। इस कार्यालय का प्रधान डाइरेक्टर जनरल होता है।

उद्देश्य—खाद्य और कृषि संगठन का मुख्य उद्देश्य पौष्टिक खुराक की व्यवस्था, रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करना; ऐसी व्यवस्था करना कि फार्मों, जंगलो और मछली उद्योग वाले क्षेत्र में सभी तरह की खाने पीने की चीजों और अनाज आदि का उत्पादन बढ़े और उनका

समुचित बटवारा हो। इसके लिए कई तरह की कोशिश करती है, ग्रामीणों की हालत सुधार करने का सुझाव देती है और इन उपायों से दुनिया में बहुत बड़े पैमाने पर बचत करने में मदद देती है।

इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए यह संस्था दुनिया के भूमि और पानी के मूल साधनों के विकास में योग देती है, और माल की खपत के लिए एक स्थिर अन्तर्राष्ट्रीय मण्डी बनाने को बढ़ावा देती है, और अन्य कामों के अलावा यह दुनिया भर में नये किस्म के पौधों की अदला-बदली को भी बढ़ावा देती है। संसार के देशों में कृषि के उन्नत तरीकों का प्रचार करती है। मवेशियों के बीमारियों को रोकथाम के लिए यह कार्यक्रम बनाती है और इसके लिए विविध देशों को तकनीकी सहायता देती है। पौष्टिक खुराक और खाने-पाने की चीजों की व्यवस्था करना, भूमि के कटाव को रोकना, जंगल लगाना, सिंचाई के लिए सुझाव देना, जमा की हुई खाद्यानों को नष्ट होने से बचाना और रसायनिक खाद तैयार करने में राष्ट्रों की सहायता करना इसके अन्य कार्य हैं।

खाद्य और कृषि संगठन का एक काम अविकसित देशों की विकास योजना में सहायता देने के लिए विशेषज्ञों की योजना भी है। यह खाद्य और कृषि के प्रत्येक समस्या पर विभिन्न देशों को तकनीकी सहायता और परामर्श देता है तथा प्रतिवर्ष विश्व खाद्यान्नो का सर्वेक्षण करता है। भारत के कई प्रदेशों में इसने बजर भूमि को कृषि योग्य बनाने में बड़ी सहायता की है। संसार के अन्य कई देश भी इस संगठन से लाभ उठा चुके हैं। इसने कृषि सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने के लिए कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया है। राष्ट्रसंघ में इस प्रकार का कोई संगठन नहीं था।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.) की स्थापना २७ सितम्बर, १६४५ को हुई थी, जबकि ब्रिटेन-उड्स समझौता के अनुसार इसके कोष का अस्सी प्रतिशत भाग विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जमा कर दिया था। ३१ दिसम्बर, १६६१ तक स्वर्ण एव विभिन्न देशों की मुद्राओं में इसकी प्राप्त पूँजी पन्द्रह अरब, चार करोड़ चौतिस लाख डालर था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पारस्परिक सहयोग के आधार पर सुदृढ़ एवं विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में कृत्रिम रुकावट को शीघ्र हटाना; न्यून अवधि के विनिमय की सुविधा देना, अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय को सुदृढ़ करना, सदस्य राष्ट्रों के बीच भुगतान की बहुपार्श्व-प्रणालियों की स्थापना आदि इसके उद्देश्य हैं। इन उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष वैदेशिक मुद्रा या सोना की बिक्री सदस्यों के बीच करता है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सहायता मिलती है। यह विभिन्न राष्ट्रों की सरकारों को आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में परामर्श भी देता है। यह लागत के मामले में मुद्रा-स्फीति को रोकता है तथा आयात पर होनेवाले नियंत्रण में कमी लाने की सिफारिश करता है। इसके अतिरिक्त यह वैदेशिक विनिमय के साधन सभी सदस्यों के लिए सुलभ करता है। अभ्यर्थना पर यह किसी भी सदस्य-राष्ट्र के पास उसकी आर्थिक एवं मुद्रा-सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिए विशेषज्ञों को भेजता है। इसके सत्रह कारी संचालकों में पाँच ऐसे सदस्य होते हैं, जो सबसे अधिक राशि प्रदान करने वाले द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। शेष बारह सदस्य-राष्ट्रों के गवर्नरों द्वारा चुने जाते हैं।

एक प्रबन्ध संचालक और एक उप-प्रबन्ध-संचालक होता है। इसका मुख्य कार्यालय वाशिंगटन में है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण विकास बैंक (I. B R. D.)

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण विकास बैंक की योजना का सूत्रपात भी ब्रिटेन वुड्स सम्मेलन में ही हुआ था, किन्तु इसने अपना कार्य जून १९४६ में प्रारम्भ किया। इसका उद्देश्य उत्पादन सम्बन्धी कामों के लिए पूँजी लगाने की सुविधा देकर सदस्य देशों के प्रदेशों के विकास और पुनर्निर्माण में सहायता देना; गैर-सरकारी विदेशी पूँजी लगाने को बढ़ावा देना; और अगर गैर-सरकारी पूँजी आसानी से प्राप्त न हो तो गैर-सरकारी पूँजी की कमी को अपने कोष और अपने दूसरे साधनो में से उत्पादन-कार्यों के लिए कर्ज के रूप में देकर पूरा करना; अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संतुलित विकास को बढ़ावा देना और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के सदस्यों के उत्पादन के साधनो के विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूँजी लगाने को बढ़ावा देकर रखना अदायगी की स्थिति मे संतुलन बनाए; उद्योग के पुनर्निर्माण तथा आर्थिक विकास की सुविधाओं के लि कर्ज देना या कर्ज की गारण्टी देना है। ऐसा करके यह उत्पादन-कार्यों के लिए राष्ट्रों के बीच पूँजी के हेर फेर का बढ़ावा देता है। ये कर्ज सदस्य देशों, उनकी राजनीतिक उपशाखाओं और उनके प्रदेशो मे गैरसरकारी उद्योगों को दिए जा सकते हैं। बैंक की सहायता सिर्फ कर्ज देने या कर्ज की गारण्टी तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह देशो की प्रार्थना पर अलग-अलग कामो के लिए प्रतिनिधि-मंडल भी भेजा करता है।

संगठन—गवर्नरों का एक बोर्ड, जिसमें हर सदस्य देश द्वारा नियुक्त एक गवर्नर और एक वैकल्पिक गवर्नर होता है। बोर्ड को बैंक के पूरे अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रबन्ध डायरेक्टर, जिसमे से पाँच की नियुक्ति वे देश करते हैं जिनके सबसे अधिक शेयर होते हैं और दूसरो का चुनाव बाकी सदस्यों के गवर्नर करते हैं। गवर्नरों के बोर्ड ने प्रबन्ध डायरेक्टरों को, समझौते की धाराओं द्वारा गवर्नरों के लिए सुरक्षित अधिकारों के अलावा सभी अधिकारों के प्रयोग की अनुमति दे रखी है। इसके अलावा प्रबन्ध-डायरेक्टरों द्वारा चुना गया एक प्रधान और अन्तराष्ट्रीय स्टाफ होता है। प्रधान अपने पद की हैसियत से प्रबन्ध-डारेक्टरों का 'एक्सआफि-शियो' चेयरमैन और बैंक के स्टाफ का अध्यक्ष है।

प्रधान नीति सम्बन्धी सवालों के बारे में प्रबन्ध-डायरेक्टरों का निर्णय मुख्य है। इस पर बैंक के काम-काज और बैंक के अफसरों तथा स्टाफ के संगठन, उनकी नियुक्तियों और उनकी बर्खास्तगी आदि करने की जिम्मेदारी होती है। बैंक के अफसरों में उप-प्रधान विभिन्न विभागों के मुखिया भी शामिल हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I. F. C.)

इसकी स्थापना जुलाई, १९५६ में की गयी। २० फरवरी, १९५७ से यह संयुक्त राष्ट्र संघ के एक विशिष्ट अभिकरण के रूप में कार्य कर रहा है। यह यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है, तथापि इसका स्वतन्त्र वैधानिक अस्तित्व है। इसका कोष अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के कोष से बिल्कुल पृथक् है।

इसका उद्देश्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राष्ट्रों, विशेषकर कम विकसित क्षेत्रों में उत्पादक निजी उद्यमों की बढ़ती को प्रोत्साहित करके उनके आर्थिक विकास को आगे बढ़ाना है। यह निजी उद्योगों की उत्पादन शक्ति बढ़ाने के लिए कर्ज देता है। उन कर्जों की अदायगी के लिए संबद्ध राष्ट्रों की सरकारों से किसी तरह की गारण्टी नहीं ली जाती। अधिकांशतः ऐसे सदस्य-राष्ट्रों को कर्ज दिये जाते हैं, जो औद्योगिक एवं आर्थिक विकास के क्षेत्र में पिछड़े हुए हैं तथा जिनको पर्याप्त निजी पूँजी की कमी है। गृह एवं वैदेशिक क्षेत्रों में उत्पादन-लागत की वृद्धि करने में यह नियम सहायक होता है। साठ विभिन्न देशों द्वारा इसकी प्रार्थित पूँजी (सब्सक्राइब्ड कैपिटल) नौ करोड़ साठ लाख डालर है। ३१ जनवरी १९६२ तक इसने अट्ठारह देशों को पौने छः करोड़ डालर दिये हैं। इसके कार्य संचालन के निमित्त एक संचालक मंडल है, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के सभी कार्य-पालक निर्देशक, जो कम-से-कम एक राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं, सदस्य होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के अध्यक्ष पदेन अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-निगम के संचालक-मण्डल के अध्यक्ष होते हैं। इसका प्रधान कार्यालय वाशिंगटन में है।

संचार सम्बन्धी संगठन और कार्य

अन्तर्राष्ट्रीय सिविल एविएशन संगठन (I. C. A. O.)

१९४४ में शिकागो में अन्तर्राष्ट्रीय सिविल एविएशन सम्मेलन में राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत इकरारनामे के अनुसार इसकी स्थापना ४ अप्रैल, १९४७ को हुई। अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन-सम्बन्धी प्रतिमान एवं विनियमन निश्चित करना तथा उड्डयन-सम्बन्धी अन्य समस्याओं का अध्ययन करना इसका प्रमुख उद्देश्य है। यह अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन-विधियों एवं समझौतों का प्रारूप तैयार करता है। इसका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय वायु परिवहन से सम्बद्ध अनेक आर्थिक समस्याओं से है। इस संगठन के कार्य-सम्पादन के लिए सदस्य-राष्ट्रों के प्रतिनिधियों द्वारा गठित एक सामान्य समिति होती है। इस समिति की बैठक वर्ष में एक बार हुआ करती है, जिसमें इसका अनुमानित व्यय निश्चित किया जाता है। समिति द्वारा चुने गये इक्कीस राष्ट्रों के प्रतिनिधियों से एक परिषद् का गठन होता है। इसके गठन में वायु परिवहन की दृष्टि महत्त्वपूर्ण देशों, अन्तर्राष्ट्रीय असामरिक उड्डयन में सुविधाएँ प्रदान करनेवाले देश एवं भौगोलिक दृष्टि से विस्तृत क्षेत्र में फैले देशों का ध्यान रखा जाता है। यह परिषद् इस संगठन की कार्यकारिणी समिति है, जो सदस्य-राष्ट्रों को उड्डयन-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करती है। परिषद् अपने एक अध्यक्ष का निर्वाचन करती है। इसका प्रधान कार्यालय मैण्ट्रियल (कनाडा) में है। उसके महामंत्री हैं रोनाल्ड सेक्डोलन।

विश्व-डाक-संघ (W. P. U.)

इसकी स्थापना ९ अक्टूबर, १८७४ को बर्न में हुए डाक-सम्मेलन के स्वीकृत इकरारनामे के आधार पर १ जुलाई, १८७५ को की गयी। इसके प्रमुख उद्देश्य हैं:--इस संघ में सम्मिलित हुए सभी देशों में डाक-सम्बन्धी सुविधाओं का विकास करना, डाक सम्बन्धी कठिनाइयों का निराकरण करना, एक देश की डाक दूसरे देश में भेजने की दर, नियमादि निश्चित करना आदि। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य मान लेता है कि 'उसके अपने देश की डाक को भेजने के

लिए जो सर्वोत्तम साधन हैं, उन्हीं साधनों द्वारा वह अन्य सदस्य-राष्ट्रों की डाक को भेजने की व्यवस्था करेगा।' इसका कार्य संचालन विश्व-डाक महासभा द्वारा निर्वाचित बीस सदस्यों की कार्यकारिणी समिति करती है। इसके वर्त्तमान निर्देशक एडवर्ड वेबर (स्विट्जरलैंड) है। इसका प्रधान कार्यालय स्विट्जरलैंड के बर्न नगर में है।

अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ (I. T.U.)

इसकी स्थापना सर्वप्रथम १८६५ में 'इन्टरनेशनल टेलिग्राफ यूनियन' के नाम से हुई। १६३२ में मैड्रिड में हुए रेडियो टेलिग्राफ-सम्मेलन में स्वीकृत अनुबन्ध के अनुसार इसका नाम अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार-संघ (इण्टरनेशनल टेलि-कम्युनिकेशन यूनियन) पड़ा। १६४७ में इसका पुनर्गठन हुआ। २२ दिसम्बर, १६५१ को ब्युनिस एरीज में हुए पूर्ण अधिकार-प्राप्त राजदूत सम्मेलन में स्वीकृत अनुबन्ध के अनुसार १ जनवरी, १६५४ से इसका शासन-कार्य चल रहा है। तार टेलिफोन और रेडियो की सेवाओं के उत्तरोत्तर प्रसार एवं विकास तथा सर्वसाधारण को कम-से-कम दर पर इनकी सेवाएँ सुलभ कराने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियमादि बनाना इसका प्रमुख उद्देश है। यह हर प्रकार के दूरसंचार (टेली-कम्युनिकेशन) के व्यवहार के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाता है तथा प्राविधिक सुविधाओं में वृद्धि करता है। यह सभी राष्ट्रों के दूर-संचार-विषयक समान उद्देश्य में सामंजस्य स्थापित करता है।

इसके कार्य संचालन के लिए पूर्णाधिकार-प्राप्त राजदूतों का एक संघ है, जिसकी बैठक हर पाँचवें वर्ष हुआ करती है। अट्ठारह सदस्यों की इसकी प्रशासकीय परिषद् है। इसकी बैठक वर्ष में साधारणतया एक बार होती है, लेकिन छः सदस्यों के अनुरोध पर विशेष बैठकें भी हो सकती हैं। इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा में है।

विश्व ऋतु-विज्ञान संगठन (W. M. O.)

विश्व ऋतु-विज्ञान संस्था की संधि सितम्बर, १६४७ में वाशिंगटन में अन्तर्राष्ट्रीय ऋतु-विज्ञान संस्था के डायरेक्टरों के बारहवें सम्मेलन में स्वीकार की गयी थी। २३ मार्च १६५० को इसका उद्घाटन हुआ, जब कि तीस स्वीकृति पत्र जमा कर दिये गए।

संगठन—विश्व ऋतु-विज्ञान काँग्रेस, जिसमें सभी सदस्यों की ओर से उनकी ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी व्यवस्थाओं के अध्यक्ष प्रतिनिधित्व करते हैं। इसकी हर चार वर्ष में कम से कम एक बार बैठक होती है। यह ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी प्रथाओं और कार्यविधियों के बारे में टेकनिकल नियम स्वीकार करती है और आम नीति निर्धारित करती है।

उसकी प्रबन्ध कमिटी कांग्रेस के प्रस्तावों के पालन की देख-रेख करती है, अध्ययन की प्रेरणा देती है और उन मामलों के बारे में सिफारिशें करती है जिन पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कदम उठाना आवश्यक हो। यह सदस्यों को टेकनिकल जानकारी, सलाह और सहायता देती है। इसकी बैठक वर्ष में कम-से-कम एक बार अवश्य होती है। इसके सदस्य विश्व ऋतु-विज्ञान संस्था के प्रधान और उप प्रधान, संस्था की ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी छः प्रादेशिक संगठनों के छः निर्वाचित सदस्य होते हैं।

छः प्रादेशिक ऋतु-विज्ञान संगठन (अफ्रिका, एशिया; दक्षिण अमेरिका, उत्तर और मध्यम अमेरिका, यूरोप और दक्षिण- पश्चिम प्रशान्त) टेकनिकल कमीशन तथा सचिवालय इस संस्था के अन्य अंग है ।

उद्देश्य—इस संगठन के उद्देश्य ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी पड़ताल के केन्द्र या ऋतु-विज्ञान के बारे में भूगर्भ सम्बन्धी पड़ताल के लिए केन्द्र स्थापित करने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को सरल बनाना, ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी सेवाओं की व्यवस्था के लिए केन्द्र की स्थापना करना और उन्हें ठीक तरह से संचालित करना है। मौसम सम्बन्धी जानकारियों के शीघ्रतम आदान-प्रदान के लिए व्यवस्था करना, ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी पड़ताल के मापदण्ड निश्चित करने को प्रोत्साहित करना और पड़ताल और आँकड़ों के बारे में एक-सी जानकारी का प्रकाशन करना, तथा विमान संचालन, जहाजरानी, कृषि और दूसरे मानवीय उद्योगों में ऋतु-विज्ञान से लाभ उठाने को बढ़ावा देना भी इसके कार्य हैं। ऋतु-विज्ञान के बारे में खोज और ट्रेनिंग को बढ़ावा देना और इस प्रकार की खोज और ट्रेनिंग के अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं में सम्पर्क बनाये रखने में यह मदद देता है ।

इस संगठन सम्बन्धी समझौते को इकोन राज्यों ने मंजूर किया और इसलिए वे ही इसके मूल सदस्य है ।

अन्तर-सरकारी नागरिक सलाहकार-संस्था

संगठन—इस संस्था के समस्त सदस्यों की एक असेम्बली है जिसका अधिवेशन हर दूसरे वर्ष होता है। वही संस्था की नीति निर्धारित करती है।

असेम्बली के अधिवेशनों के बीच एक कौंसिल संगठन के समस्त कार्य चलाती है। वह जहाजरानी सुरक्षा के नियमों को स्वीकार करने के लिए सदस्यों से सिफारिशें करने के अतिरिक्त अन्य काम भी करती है। कौंसिल में सोलह सदस्य होते हैं, जिनमें आठ उन देशों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय जहाजरानी सेवाएँ उपलब्ध करने में अभिरुचि हो तथा आठ उन देशों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय जल मार्ग व्यापार में अभिरुचि हो।

इस संस्था की एक जहाजरानी सुरक्षा समिति है जो जहाजरानी सुरक्षा सम्बन्धी नियमों के बारे में सदस्यों की सिफारिशें भेजती है। इस समिति में चौदह सदस्य होते हैं जिनका चुनाव असेम्बली द्वारा उन-सदस्य राष्ट्रों में से किया जाता है, जिनकी जहाजरानी सुरक्षा में महत्त्वपूर्ण अभिरुचि हो ।

उद्देश्य :—इस संस्था का उद्देश्य सागर में सुरक्षा और दूसरे टेकनिकल मामलों के लिए सरकारी नियम और व्यवहार में सरकारों के बीच सहयोग की व्यवस्था करना, सरकारों के अनावश्यक प्रतिबन्धों और भेदभाव को दूर करने में मदद देना, जहाज कम्पनियों के अनुचित प्रतिबन्धों से सम्बन्ध रखने वाले मामलों पर विचार करना, जहाज रानी के बारे में ऐसे किसी भी मामलों पर विचार करना जिसे संयुक्त राष्ट्र का कोई अंग या विशेष एजेंसी पेश करे, और संस्था के विचाराधीन मामलों के बारे में सरकारों के बीच सूचना देने की व्यवस्था करना है।

यह संस्था इन कामों की व्यवस्था भी करती है—समझौतों और सन्धियों का मसविदा तैयार करना और उनके लिए सरकारों और विभिन्न सरकारी संस्थाओं से सिफारिश

करना, और जरूरत पड़ने पर सम्मेलन बुलाना। यह सलाह-मशविरा करती है और सलाह भी देती है

इस संगठन के लिए पैंतीस राष्ट्रों द्वारा संयुक्त राष्ट्र मेरोटाइप कॉन्फ्रेंस में एक समझौता तैयार किया गया था, जो ६ मार्च, १९४८ को हस्ताक्षरों के लिए रखा गया। यह समझौता १७ मार्च, १९६८ को उस समय लागू हुआ जबकि इक्कीस राज्यों ने स्वीकार कर लिया।

संयुक्तराष्ट्र शिक्षा, विज्ञान तथा सांस्कृतिक संस्था
(UNESCO)

सांस्कृतिक कार्यक्रम :—संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान तथा सांस्कृतिक संस्था (United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation, UNESCO) की स्थापना ४ नवम्बर, १९४६ को हुई थी। यह एक विशेषज्ञों की संस्था है जिसका सम्बन्ध शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति के विकास से है। यह मित्रराष्ट्रों के शिक्षा मन्त्रियों के युद्ध कालीन सम्मेलनों के परिणामस्वरूप विकसित हुआ। नवम्बर, १९४५ में इसके संविधान का निर्माण आरम्भ हुआ। आरम्भ में इसके केवल बीस सदस्य थे लेकिन अब इसकी संख्या एक सौ चौबीस तक पहुँच गयी है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में यह जो घोषणा की गयी कि संसार के सब लोगों की जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेदभाव के बिना मानवीय अधिकार एवं मौलिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी, इसके प्रति न्याय एवं विधिवत् शासन के प्रति आदर की वृद्धि करना इसका मुख्य उद्देश्य है। इसके संविधान में इसका उद्देश्य शान्ति और सुरक्षा की वृद्धि बताया गया है और इसकी प्रस्तावना में कहा गया है कि "युद्ध मनुष्य के दिमाग में पैदा होता है, इसलिए शान्ति को सुरक्षित रखने की आधारशिलाएँ भी मनुष्य के दिमाग में बनायी जानी चाहिए।" अतः यूनेस्को का उद्देश्य मानव के दिमाग को इस तरह बदल देना है कि युद्ध की सम्भावना समाप्त हो जाय। इसका उद्देश्य न्याय, कानून के नियम, मानव अधिकारों और मूल बातों में स्वतन्त्रता के प्रति सम्मान की भावना जगाने के लिए जिनकी संयुक्त राष्ट्रसंघ घोषणा-पत्र में सभी राष्ट्रों के लोगों के लिए जाति, लिंग, भाषा और धर्म के भेद-भाव के बिना गारण्टी दी गयी है—शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति द्वारा राष्ट्रों के बीच मेल-जोल बढ़ाकर शांति और सुरक्षा की स्थापना में योग देता है।

अपने लक्ष्यों को पूरा करने के लिए यह बड़े पैमाने पर प्रचार के लिए उपलब्ध समस्त जन-सम्पर्कीय साधनों के द्वारा राष्ट्रों में आपसी ज्ञान और सद्भावना बढ़ाने के कार्य में योग देती है। संस्कृति और शिक्षा के प्रचार को नयी प्रेरणा देती है, और ज्ञान को जीवित रखती है, उसकी वृद्धि करती है और उसका प्रचार करती है तथा विज्ञान को शिक्षा और समझ बूझ को प्रोत्साहित करती है।

संगठन—यूनेस्को के तीन अंग हैं—सामान्य सम्मेलन (General Conference), कार्यवाहक बोर्ड (Executive Board), तथा सचिवालय। सामान्य सम्मेलन में सदस्य राज्यों का एक-एक प्रतिनिधि रहता है। इसकी बैठक वर्ष में एक बार होती है। यह संस्था की नीति एवं कार्य-क्रम का निर्धारण करती है। कार्यवाहक बोर्ड में चौबीस सदस्य होते हैं जिनका चुनाव सामान्य सम्मेलन करता है। वर्ष में इसकी दो बैठकें होती हैं और यूनेस्को के कार्य-क्रम

को कार्यान्वित करती है। सचिवालय एक डायरेक्टर के मातहत में काम करता है। इसका प्रधान कार्यालय पेरिस में है।

कार्य-क्रम—यूनेस्को का कार्य-क्रम मुख्य रूप से आठ भागों में विभक्त है। ये निम्न-लिखित है :

(१) शिक्षा—यूनेस्को ने शिक्षा के सम्बन्ध में तीन लक्ष्यों को अपनाया है—शिक्षा का विस्तार, शिक्षा की उन्नति तथा विश्व समुदायों में रहने की शिक्षा। इसमें मौलिक शिक्षा और साक्षरता के प्रचार पर विशेष बल दिया गया है। शिक्षा के विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में परा-मर्श देने के लिए यूनेस्को विविध देशों में परामर्श देनेवाले विशेषज्ञों को भेजता है। सामूहिक शिक्षा पर यूनेस्को ने बड़ा बल दिया है। यूनेस्को का ध्येय अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करनी भी है। अतएव यह विभिन्न देशों की शिक्षा सम्बन्धी अनेकानेक योजनाओं में सहायता देती है। इसका एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य युद्ध उत्पन्न करनेवाले विचारों के विरुद्ध संसार के लोगों को शिक्षित करना है। युद्ध का एक कारण प्रजातीय श्रेष्ठता का मिथ्याभिमान होता है। यूनेस्को इसका अन्त करने का उद्देश्य रखता है और इसलिए प्रजातिवाद के विरुद्ध इसने विभिन्न भाषाओं में साहित्य प्रकाशित किया है। साम्प्रदायिक संघर्ष और तनाव शान्ति भंग कर देते हैं, इन तनावों के मूल कारणों की खोज यूनेस्को की ओर से की गयी है।

प्राकृतिक विज्ञान—प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में इसने वैज्ञानिकों के सभा सम्मेलनों का आयोजन, वैज्ञानिक संगठनों की सहायता, अनुसन्धान, प्रकाशन तथा वैज्ञानिक शिक्षा का कार्य किया है।

सामाजिक विज्ञान—सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में इसके प्रधान कार्य इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संघों का निर्माण और सहायता, विचार-गोष्ठियों का आयोजन अन्तर्राष्ट्रीय तनावों पर साहित्य का प्रकाशन करना है। यह अन्तर्राष्ट्रीय समाज विज्ञान बुलेटिन (International Social Science Bulletin) का प्रकाशन करता है।

सांस्कृतिक कार्य—इसका सांस्कृतिक कार्य विभिन्न देशों के कलाओं और दर्शन से सम्ब-न्धित है, इनके विषय में अनुसन्धान, सभा-सम्मेलनों और विचार गोष्ठियों का आयोजन तथा विविध प्रकार के साहित्य का प्रकाशन है।

विद्वानों का आदान-प्रदान—विद्वानों के आदान-प्रदान की भी व्यवस्था भी यूनेस्को करता है। इस कार्य-क्रम के अन्तर्गत विभिन्न देशों के विद्वानों को दूसरे देशों में भेजा जाता है, विभिन्न समूहों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किये जाते हैं।

सामूहिक शिक्षा—सामूहिक शिक्षा और प्रचार में इसका कार्य क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसमें अन्धों के शिक्षण की व्यवस्था की गयी है। यूनेस्को ने सब देशों में शिक्षाप्रसार के विभिन्न साधनों—प्रेस, फिल्म, रेडियो द्वारा शिक्षा सामग्री के स्वतन्त्र प्रवाह सम्बन्धी अनेक प्रकार के कार्य हैं।

पुनर्वास—इसने संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा आदि में जनकल्याणकारी संस्थाओं द्वारा धन संग्रह करके इससे विभिन्न देशों के शरणार्थियों के पुनर्वास में बड़ी सहायता पहुँचायी है।

तकनीकी सहायता— संघ के अन्य विशेष संगठनों की भाँति यह प्राविधिक सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत अपने विशेषज्ञों द्वारा विभिन्न प्रदेशों को उपयुक्त परामर्शों द्वारा लाभ पहुँचाता है।

स्वास्थ्य एवं कल्याणकारी कार्य

अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति एजेंसी—इस अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति एजेंसी (International Atomic Agency) की स्थापना २९ जुलाई, १९५६ को हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान कार्यालय, न्यूयार्क में हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में २६ अक्टूबर, १९५६ को उसकी नियमावली स्वीकार की गयी थी और वह तब लागू हुई जब कि कम-से-कम आठ हस्ताक्षरकर्ता राज्यों ने, जिनमें कनाडा, फ्रांस, सोवियत रूस, ब्रिटेन और अमेरिका भी थे, अपने स्वीकृति-पत्र जमा कर दिये। एजेंसी का संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ कार्य-सम्बन्ध संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा द्वारा नवम्बर, १९५६ तथा एजेंसी की जेनरल कान्फ्रेंस के द्वारा अक्टूबर, १९५७ में स्वीकार किया गया।

उद्देश्य—संसार भर में शान्ति, व्यवस्था तथा सम्पन्नता में अणु-शक्ति के योग को बढ़ावा देना तथा विस्तृत करना और यह सुनिश्चित करना कि उसके द्वारा की जाने वाली सहायता का नैतिक उद्देश्यों के लिए उपयोग नहीं किया जायगा।

संगठन—नियमावली में एक साधारण सभा सम्मेलन, एक गवर्नर बोर्ड, एक कर्मचारी मण्डल जिसका मुखिया एक महानिर्देशक होता है, की व्यवस्था है। साधारण सभा में एजेंसी के समस्त सदस्य होते हैं। इसके नियमित वार्षिक अधिवेशन होते हैं तथा आवश्यकतानुसार विशेष अधिवेशन भी बुलाये जा सकते हैं। सभी अन्य बातों के अलावा गवर्नर बोर्ड के सदस्यों को निर्वाचित करती है, बोर्ड की वार्षिक रिपोर्ट पर विचार करती है, एजेंसी के बजट को स्वीकार करती है और संयुक्त राष्ट्र को पेश करने के लिए रिपोर्ट स्वीकार करती है। साधारण सभा नियमावली के क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी विषय पर विचार कर सकती है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (W. H. O.)

विश्व-व्यापी पैमाने पर स्वास्थ्य की समस्या के समाधान के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत एक विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organisation) की स्थापना की गयी है। सामाजिक और आर्थिक परिषद् ने एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्मेलन का आयोजन करके इसका संविधान बनवाया और ७ अप्रिल, १९४८ को इस संगठन की स्थापना कर दी गयी।

इस संगठन के तीन अंग हैं: (१) सब सदस्य राज्यों के प्रतिनिधियों की असेम्बली, (२) असेम्बली द्वारा चुने गये अट्ठारह व्यक्तियों द्वारा नियत होने वाले चिकित्सा आदि का विशेष ज्ञान रखने वाले अट्ठारह व्यक्तियों का कार्यवाहक (Executive) बोर्ड तथा (३) सचिवालय। अफ्रिका, अमेरिका, दक्षिण-पूर्वी एशिया, यूरोप, पूर्वी भूमध्यसागर और पश्चिमी प्रशान्त महासागर के क्षेत्रों के लिए इसके प्रादेशिक संगठन हैं। इसका मुख्य कार्यालय जेनेवा में है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन का उद्देश्य संसार को बीमारी से मुक्त करना है। इसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठन निम्न कामों को करता है—(१) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य के कार्यों का संचालन तथा सम्बन्ध (२) महामारियों तथा बीमारियों के उन्मूलन के कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करना, (३) स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनुसन्धान, (४) आकस्मिक चोटों को रोकने का यत्न करना, (५) मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्य करना, (६) बीमारियों के अन्तर्राष्ट्रीय नामों के निदान सम्बन्धी कार्यों में एकरूपता स्थापित करना, (७) लोगों के वातावरणीय स्वास्थ्य की तथा आहार, पोषण, सफाई, निवासगृह तथा काम करने की दशाओं को उन्नत करना, (८) खाद्य-पदार्थों, दवाइयों तथा अन्य ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मापक निश्चित करना, (९) स्वास्थ्य के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा इसके विशेष संगठनों तथा अन्य स्वास्थ्य सम्बन्धी संस्थाओं में सहयोग स्थापित करना, तथा (१०) स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रशासनात्मक और सामाजिक प्रविधियों का अध्ययन करना।

विश्व-स्वास्थ्य-संगठन ने अपने क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं और इन कार्यों का अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से लगाया जा सकता है :—इसने यूनान में मलेरिया निरोध के लिए बड़े पैमाने पर सहायता की और वहाँ इस बीमारी के उन्मूलन में संगठन को पर्याप्त सफलता मिली। भारत में इसने क्षय-रोग के निवारण के लिए बी० सी० जी० वैक्सीन पर्याप्त मात्रा में दी। ईथियोपिया की सरकार के लिए चिकित्सा के शिक्षण की एक विस्तृत योजना बनायी तथा इटालीयन सरकार को बन्दरगाहों में स्वास्थ्य की परिस्थितियाँ उत्कृष्ट बनाने में सहायता दी। इसने विभिन्न देशों को आवश्यक दवाइयाँ तथा डाक्टरी का बहुमूल्य सामान उपलब्ध कराया तथा अल्पविकसित देशों को सरकारों द्वारा सुझाये गये सरकारी अफसरों के सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी उच्च अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियाँ प्रदान की हैं। मलेरिया निरोध के लिए विभिन्न देशों को डी० डी० टी० तथा अन्य बीमारियों को रोकने के लिए पेन्सिलीन आदि दवाइयाँ बहुत बड़ी मात्रा में प्रदान की हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय बाल-आपातकालीन कोष

बच्चों के स्वास्थ्य पर विशेष रूप से ध्यान देने के लिए संघ के अन्तर्गत साधारण-सभा ने ११ सितम्बर १९४६ को अन्तर्राष्ट्रीय बाल-आपातकालीन कोष की स्थापना की। यह संस्था आर्थिक और सामाजिक परिषद् की देख-रेख में काम करती है। १९५० में संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने इसके कार्य-क्षेत्र को बढ़ाकर संसार भर के विशेषकर अविकसित देशों के बालकों को हर तरह की आवश्यकता की पूर्ति की व्यवस्था की। १९५३ में यह कोष स्थायी बना दिया गया। इन दिनों इसका कार्य संसार के प्रायः सभी देशों में हो रहा है। इसके द्वारा मलेरिया, यक्ष्मा आदि कठिन रोगों का निवारण, प्रसूतिकागृहों एवं शिशुकल्याण-केन्द्रों की स्थापना, धातृविद्या-प्रशिक्षण, शिशु-आहार की व्यवस्था, दुग्ध संरक्षण और वितरण आदि कार्य किये जाते हैं। इन कार्यों के अतिरिक्त भूकम्प, बाढ़ आदि के समय यह विभाग प्रसूतिकाओं एवं शिशुओं की अपेक्षित सहायता करता है।

इस संस्था की सहायता से भारत के विभिन्न स्थानों में अस्पतालों और स्कूलों में सौ से अधिक प्रशिक्षण-केन्द्र स्थापित हो चुके हैं; जहाँ परिचारिकाओं को धातृविद्या की शिक्षा दी

जाती है। मातृमंगल एवं शिशु-कल्याण के लिए यह संस्था विशेष रूप से कार्य कर रही है। १९६२ में इस संस्था के कार्यों का बहुत विस्तार किया गया। इस समय एक सौ सोलह देशों एवं क्षेत्रों में इसकी पाँच सौ परियोजनाएँ चल रही हैं।

विश्व-शरणार्थी-संगठन (U. N. H. C. R.)

इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण-सभा द्वारा १ जनवरी, १९५१ को हुई थी। प्रारम्भ में इसका कार्य-काल १९५८ तक ही रखा गया था, किन्तु पुनः इसकी अवधि-वृद्धि १९६६ तक के लिए की गयी। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य शरणार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण देना है। यह संस्था शरणार्थियों को स्वदेश लौटाकर अथवा उनका एक नवीन समुदाय स्थापित कर उनकी समस्याओं का स्थायी रूप से समाधान करने का प्रयत्न करती है। शरणार्थियों के लिए काम-धन्धे, न्याय, शिक्षा, धार्मिक स्वतन्त्रता, साहाय्य आदि प्राप्त करने के अधिकार इस संस्था द्वारा स्वीकार किये गये हैं। शरणार्थियों को विभिन्न देशों में यात्रा करने के लिए रिपोर्ट भी दी जाती है।

जो शरणार्थी बसाये नही जा सके थे, उनकी संख्या १९६२ के आरम्भ में अस्सी हजार (१९६१) से घटकर अट्ठावन हजार हो गयी है। उसी प्रकार उक्त काल में कैम्प में रहनेवालों की संख्या पन्द्रह हजार से घटकर नौ हजार रह गयी। इस संस्था के वर्त्तमान उच्चायुक्त फेलिक्स श्नीडर (स्विट्जरलैंड) है।

संघ के गैर-राजनीतिक कार्यों का मूल्यांकन

पुराने राष्ट्रसंघ की तरह संयुक्त राष्ट्रसंघ को गैर-राजनीतिक कार्यों में सराहनीय सफलता मिली है। आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक तथा ऐसे ही अन्य कार्यों में संयुक्त राष्ट्रसंघ की विभिन्न संस्थाओं-संगठनों से संसार के लोगों को अत्यधिक लाभ पहुँचा है। इसके श्रम संगठन ने मजदूरों की दशा को उन्नत किया है तथा खाद्य एवं कृषि संगठन ने अन्न का उत्पादन बढ़ा कर अकालों को नियन्त्रित करने का प्रयास किया है। विश्व स्वस्थ्य संगठन ने बीमारियों के प्रतिरोध में बड़ी सहायता पहुँचायी है और यूनेस्को ने मनुष्य के सांस्कृतिक विकास के लिए बड़े प्रशंसनीय कार्य किये है। एक समालोचक ने ठीक ही कहा है कि 'निरस्त्रीकरण और राजनीतिक कार्यों का खरगोश तो अभी झपकी ले रहा, किन्तु संघ की विशेष संस्थाओं की प्राविधिक सहायता और सहयोग का कछुआ बहुत आगे बढ़ गया है।" वस्तुतः संयुक्त राष्ट्रसंघ के कल्याणकारी कार्य उसके राजनीतिक कार्यों की अपेक्षा बहुत अधिक सफल रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन

महान प्रयोग की असफलता—युद्धों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना मानव-इतिहास की एक बहुत बड़ी घटना थी। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में इतने विशाल पैमाने पर पहले कभी प्रयोग नहीं हुआ था। चार्टर में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की उन बुराइयों को दूर करने का यत्न किया गया जिनके कारण पुराना राष्ट्रसंघ असफल हो गया था और संयुक्त राष्ट्रसंघ को पहले की अपेक्षा एक उत्कृष्ट और शक्तिशाली संगठन बनाया गया था। इसका संगठन और कार्य-

पद्धति का सिलसिला उन्नीसवीं शताब्दी के किसी भी व्यक्ति को महान् आश्चर्य में डाल दे सकता है। यदि उस युग का कोई आदमी जी उठे और संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान कार्यालय न्यूयार्क में पहुंच जाय तो वह इस प्रयोग को देखकर दंग हो जा सकता है। इतने पवित्र और महान् प्रयोग के लिए वह द्वितीय विश्व-युद्धकालीन राजनेताओं को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने संघ की मशीन का निर्माण किया। लेकिन कुछ दिनों के अध्ययन के बाद उसको पता चल जायगा कि संघ की मशीन त्रुटियों से परिपूर्ण है और इसके भाग दूसरे से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं है। अपने २४-२५ वर्ष के जीवन में संयुक्त राष्ट्रसंघ को प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्य में प्रायः विफलता का सामना ही करना पड़ा है। इसकी विफलताएँ निम्नलिखित तथ्यों से प्रकट हो जाती है :

१. संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक उद्देश्य राष्ट्रों के बीच हथियारबन्दी की होड़ को रोकना था। लेकिन संघ अभी तक निरस्त्रीकरण के सम्बन्ध में विभिन्न देशों के बीच समझौता नहीं करा सका है।

२. दक्षिण अफ्रिका की श्वेत-सरकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर और उद्देश्यों का अतिक्रमण किया है। वह भारतीय तथा अश्वेत जातियों के साथ प्रजातीय दुर्व्यवहार करके संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा उद्घोषित मौलिक मानवीय अधिकारों का उल्लंघन करती रही है। इसके अतिरिक्त अभी तक संयुक्त राष्ट्रसंघ इस सरकार से राष्ट्रसंघ के संरक्षित प्रदेश दक्षिण-पश्चिमी अफ्रिका को वापस नहीं ले सका है।

३. संयुक्त राष्ट्रसंघ का उद्देश्य संसार के एक ऐसे सहयोग का वातावरण कायम करना था जिसमें युद्ध की सम्भावनाएँ कम हों। लेकिन पूर्व और पश्चिम के मतभेदों तथा महाशक्तियों के वैमनस्य और विरोध को मिटाने में यह पूर्णतया असफल रहा है।

४. सदस्यता के सम्बन्ध में भी संयुक्त राष्ट्रसंघ असफल रहा है। इसके अन्दर आपसी मतभेद इतना अधिक है कि अभी तक चीन, जर्मनी, कोरिया आदि देश इसके सदस्य नहीं बन पाये हैं। संघ में इन राज्यों का अभी तक न शामिल होना इसकी त्रुटियों का द्योतक है।

५. महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में संयुक्त राष्ट्रसंघ बहुत असफल रहा है। इसके समक्ष कश्मीर का प्रश्न १९४७ से ही पड़ा हुआ है, लेकिन संघ इस समस्या को नहीं सुलझा पाया है जिसके कारण १९६५ में पाकिस्तान और भारत के बीच तीन सप्ताहों तक भयंकर-युद्ध हुआ। संसार में संकट पैदा करने वाले अभी तीन स्थल हैं— जर्मनी, कोरिया और वियतनाम और संयुक्त राष्ट्रसंघ में इन समस्याओं को सुलझाने का कोई यत्न नहीं हुआ है।

इतने विशाल अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग की महान् विफलता इतनी अल्प-अवधि में क्यों और कैसे हो गयी ? इसका एक ही उत्तर है—अमरीकी और सोवियत गुट का मतभेद। संयुक्त राष्ट्रसंघ का मूल आधार महान् शक्तियों में सहयोग था। चार्टर के जन्मदाताओं ने सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को स्वीकार कर संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म दिया था और इस सिद्धान्त के मूल में यह बात थी कि शान्तिप्रिय राज्य मिल-जुलकर काम करेंगे और शान्ति भंग करनेवाले के विरुद्ध संगठित होकर कार्रवाई करेंगे। लेकिन ऐसा नहीं हो सका और संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने जन्म के

तुरत ही बाद पूर्व और पश्चिम के संघर्ष का अखाड़ा बन गया। महाशक्तियों के परस्पर विरोधी स्वार्थ संघ के रंगमंच पर इतने जल्दी प्रकट हुए कि एक ही दशाब्दी में उसके भाग्य का फैसला हो गया। यदि ये राष्ट्र सहयोग की भावना से प्रेरित होकर काम करते तो उन्हें अवश्य सफलता मिलती। उदाहरण के लिए १९६५ में भारत-पाकिस्तान युद्ध से उत्पन्न स्थिति को सम्हालने में संयुक्त राष्ट्रसघ इसलिए सफल रहा कि सुरक्षा-परिषद् के सभी सदस्यों ने एक दूसरे के साथ सहयोग किया। सितम्बर १९६५ में जो भी प्रस्ताव सुरक्षा-परिषद् में पारित हुए उन सबों पर महाशक्तियों के बीच अपूर्व मतैक्य देखा गया। संघ के इतिहास मे यह एक असाधारण बात थी। इस घटना को हम संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता का चरम सीमा मान सकते हैं और इसके मूल में महाशक्तियों का सहयोग था। लेकिन अभी तक तो संघ का इतिहास रहा है उसको देखकर संयुक्त राष्ट्रसंघ को विभक्त राष्ट्रसंघ (Disunited Nations) कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। इस बात को मान लेने में हमें कोई आपत्ति नही करनी चाहिए कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्रसंघ असफल रहा है और युद्ध के कारणों का निवारण, जो उसका प्रधान उद्देश्य है, अभी तक नही कर सका है। विश्व में ऐसी अनेकानेक समस्याएँ बनी हुई हैं जिनको लेकर किसी भी क्षण युद्ध शुरू हो जा सकता है।

संघ की उपलब्धियाँ (Achievements)—इस तथ्य के बावजूद हम यही नहीं कह सकते कि संयुक्त राष्ट्रसंघ पूर्ण रूप से असफल रहा है। यह महत्त्वपूर्ण समस्याओं को सुलझाने में विफल अवश्य रहा है, लेकिन इन विफलताओं को अतिरंजित करना भी ठीक नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ को कुछ उल्लेखनीय सफलताएँ भी मिली हैं।

राजनीतिक विवादों के समाधान—संयुक्त राष्ट्रसंघ को कई राजनीतिक विवादों के समाधान में भी सफलता मिली है। इनका वर्णन इस प्रकार है :

१ यद्यपि सघ कश्मीर की समस्या का समाधान नहीं कर सका है, लेकिन इस विवाद में उनकी तीन सफलताएँ उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रथम, उसने भारत और पाकिस्तान में शुरू-शुरू में युद्ध को बन्द कराया। उसके बाद लगभग अट्ठारह वर्षों तक कश्मीर में युद्ध विराम-रेखा पर पहरा देकर दोनों देशों को युद्ध छेड़ने से रोका है, और अन्त में जब सितम्बर, १९६५ में भारत और पाकिस्तान के बीच बाजाप्ता युद्ध शुरू हुआ तो उस युद्ध को बन्द कराने में संयुक्त राष्ट्रसंघ को बड़ी सफलता मिली।

२. इण्डोनीशिया की स्वतन्त्रता के प्रश्न को लेकर जब इण्डोनीशियाई गणराज्य और डच सरकार के बीच युद्ध हुआ तो उस युद्ध का अन्त कराने में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने बड़ी सफलतापूर्वक हस्तक्षेप किया और संघ के दबाव के कारण युद्ध बन्द करना पड़ा। बाद में पश्चिमी इरियन को लेकर इन दोनों पक्षों में पुनः तनातनी बढ़ी तो संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव ने प्रयास करके इस समस्या के समाधान में सहायता पहुँचायी।

३. १९५० में जब उत्तर कोरिया और दक्षिण कोरिया में युद्ध छिड़ा तो संयुक्त राष्ट्रसंघ ने पुनः हस्तक्षेप करके इस युद्ध को फैलने से बचाया। कुछ लोग कोरिया की घटना को सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की सफलता मानते हैं।

४. स्वेज के मामले में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल आक्रमण से मिस्र की रक्षा करने तथा युद्ध को रोकने में पूरी सफलता पायी है। उस समय यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ

न होता तो सम्भवतः मिस्र बर्बाद हो जाता, मध्य पूर्व में युद्ध फैल जाता तथा साम्राज्यवादी राज्य स्वेज नहर को हड़प लेते। राष्ट्रसंघ इराक, सीरिया तथा लेबनान से विदेशी सेनाएँ हटाने में भी सफल हुआ है।

५. यूरोप में बर्लिन के घेरे की समस्या को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बहुत बढ़ गया था। संघ ने इस तनाव को दूर करने में सफलता पायी है।

६. साइप्रस को लेकर तुर्की और यूनान में युद्ध होने की पूरी सम्भावना १९६४ में हो गयी थी। इस मामले में हस्तक्षेप करके संयुक्त राष्ट्रसंघ ने ऐसे युद्ध को छिड़ने से रोका है और यह उसकी एक सफलता मानी जा सकती है।

७. १९६२ में क्यूबा को लेकर सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका में युद्ध छिड़ सकता था। इस संकट के समाधान में भी संघ का कार्य उल्लेखनीय रहा।

इस प्रकार हम पण्डित नेहरू के शब्दों में कह सकते हैं कि "संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कई बार हमारे उत्पन्न होनेवाले संकटों को युद्ध में परिणत होने से बचाया है। इसके बिना हम आधुनिक विश्व की कल्पना नहीं कर सकते हैं।" इसके अतिरिक्त यह संघ अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को रोकने में सेफ्टीवाल्व (safety valve) का काम भी करता है। यह विभिन्न देशों के गुस्सों को शान्त करने का एक अत्यन्त प्रभावकारी माध्यम है। जब भी कोई संकटकालीन परिस्थिति संघ के समक्ष आती है उससे सम्बद्ध राष्ट्र संघ के रंगमंच से बोलकर अपना गुस्सा शान्त कर लेते हैं। संघ भी कोई काम चलाऊ उपाय निकालकर तत्काल के लिए युद्ध की सम्भावना को टाल देता है। और जब एकबार यह सम्भावना टल जाती है तो बाद में इसके शांतिपूर्ण समाधान के लिए रास्ता खुल जाता है। चीन द्वारा अमरीकी हवाबाजों की गिरफ्तारी पर अमेरिका में कम्युनिस्ट चीन के खिलाफ रोष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था और इस कारण दोनों पक्षों के बीच युद्ध छिड़ने की पूरी सम्भावना हो गयी थी। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव के प्रयासों के फलस्वरूप यह सम्भावना टल गयी। उस समय डा० बुन्चे ने ठीक ही कहा था कि "संयुक्त राष्ट्रसंघ की मुख्य विशेषता यह है कि यह राष्ट्रों को बातचीत में व्यस्त रखता है। वे जितनी अधिक देर तक बात करते रहें, उतना ही अधिक अच्छा है, क्योंकि इतने समय तक युद्ध की सम्भावना टल जाती है।"

उपनिवेशवाद के उन्मूलन में सफलता—संयुक्त राष्ट्रसंघ को उपनिवेशवाद के उन्मूलन में भी पर्याप्त सफलता मिली है। इण्डोनीशिया, मोरक्को, ट्यूनिसिया तथा अल्जीरिया को स्वतन्त्र कराने में संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। शुरू में इन देशों की स्वतन्त्रता के प्रश्न को काफी टालने का प्रयत्न किया गया, किन्तु अन्त में उपनिवेशवादी राज्यों को विवश होना पड़ा और उन्हें स्वतन्त्रता देनी पड़ी। इस काम में संयुक्त राष्ट्रसंघ का दवाब एक निर्णायक दवाब सिद्ध हुआ। इनके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण-पद्धति के अन्तर्गत भी कई उपनिवेश अब तक स्वतन्त्र हो चुके हैं। ये सारी बातें संघ की महत्त्वपूर्ण सफलताएँ मानी जायँगी।

गैर-राजनीतिक क्षेत्रों की सफलताएँ—गैर राजनीतिक क्षेत्रों में तो संयुक्त राष्ट्रसंघ को बहुत ही सफलताएँ मिली हैं। आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी

क्षेत्रों में उसकी सफलताएँ असंदिग्ध, निर्विवाद तथा सराहनीय है। खाद्य संगठन (FAO) ने अन्न का उत्पादन बढ़ाकर दुर्भिक्षों का तथा भुखमरी का निवारण किया है, श्रम-संगठन (ILO) ने श्रमिकों की दशा को बहुत उन्नत किया है। स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने बड़े पैमाने पर पेन्सिलीन, डी० डी० टी० आदि दवाइयों के वितरण से बीमारियों के प्रतिरोध में बड़ी सहायता पहुँचायी है, महामारियों का प्रसार रोका है। यूनेस्को ने निरक्षरता उन्मूलन, नवीन ज्ञान के विश्वव्यापी प्रचार तथा सांस्कृतिक कार्यों में बड़ा सहयोग दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय बाल-आपातकालीन कोष (UNICEF) ने संसार के बच्चों की हिफाजत के लिए सराहनीय कार्य किये हैं। इन उपलब्धियों का वर्णन हम पहले कर चुके हैं।

नैतिक दबाव का कारण :—संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व के लोकमत का रंगमंच और नैतिक दबाव का एक शक्तिशाली साधन है। यह आक्रामक देशों के इरादों का भंडाफोड़ करने का बड़ा ही उपयुक्त स्थान है। रूसी प्रतिनिधियों ने इस मंच का अपने प्रचार के लिए खूब उपयोग किया है और अमेरिका के ढोंग और मिथ्याचार का पर्दाफाश किया है। उपनिवेशवादी शक्तियों के बर्बर कृत्यों तथा क्रूरतापूर्ण अत्याचारों की चर्चा जब यहाँ की जाती है तो उसका प्रचार क्षण भर में सारे संसार में हो जाता है। सभी देशों पर इसका प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार आक्रामक प्रवृत्ति के राष्ट्रों पर संयुक्त राष्ट्रसंघ नैतिक दबाव डालकर उन्हें अच्छे रास्ते पर आने के लिए बाध्य करता है। यह नैतिक दबाव सैनिक दबाव से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। इसी कारण रूस ने ईरान से सेनाएँ हटायी थी, फ्रांस को अपनी उत्तरी अफ्रिका के उपनिवेशों का परित्याग करना पड़ा था तथा इंडोनीशिया को स्वतन्त्रता मिली थी। इस दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ बड़ा ही उपयोगी संगठन है।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का स्थल :—संयुक्त राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थल है। इसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द और भ्रातृत्व में बड़ी वृद्धि हुई है। यहाँ कई देशों के विभिन्न प्रजातियों तथा धर्मावलम्बियों के प्रतिनिधि एक सभा-मंच पर एकत्र होते हैं और वार्ताएँ करते हैं, गोष्ठियों और वार्तालाप में सम्मिलित होते हैं, प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करके परस्पर मित्र बनते हैं। इसके फलस्वरूप कई जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान सरल हो जाता है। फोस्टर डलेस ने लिखा है कि फरवरी १९४९ में बर्लिन को घेरे की समस्या जब बहुत गम्भीर हो गयी और इस सम्बन्ध में गतिरोध पैदा हो गया तो लेक सक्सेस में प्रतिनिधियों के कमरे में रूसी प्रतिनिधि मलिक की उपस्थिति से इस प्रश्न पर पुनः वार्ता हुई और इससे समस्या के समाधान में बड़ी सहायता मिली।[1]

संयुक्त राष्ट्रसंघ की कुछ समस्याएँ

संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना के खर्च की समस्या :—संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य काम युद्ध के कारणों का निवारण करके शान्ति की स्थापना करना है। इसके सदस्य-राज्यों में तरह-तरह के मतभेद हैं और कभी-कभी यह मतभेद उग्र रूप धारण कर लेता है। यद्यपि संघ के सदस्यों ने शांतिपूर्ण ढंग से अपने विवादों को सुलझाने का वादा किया है, लेकिन जब महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय स्वार्थ की समस्या उनके समक्ष आती है तो वे बल प्रयोग से भी बाज नहीं आते। ऐसे ही समय में संयुक्त राष्ट्रसंघ की आवश्यकता पड़ती है कि वह हस्तक्षेप करके युद्ध को बन्द कराये।

1. Dulles, *War and Peace*, p. 52

इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए संघ को एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना की आवश्यकता है; लेकिन चार्टर के निर्माण के समय यह सम्भव नहीं था। संघ को सेना का अभाव था और यह निश्चय किया गया कि शान्ति के रक्षार्थ जब भी संघ को सैनिक कार्रवाई करने की आवश्यकता पड़ेगी तो सदस्य-राज्य अपनी सेना से उसकी सहायता करेंगे।

संघ के बीस वर्ष के जीवन काल में कई बार इस तरह का प्रयोग करना पड़ा है। कश्मीर और फिलिस्तीन में युद्ध विराम-रेखा की रक्षा तथा विपक्षियों के बीच शान्ति बनाये रखने के लिए उसे सेना की आवश्यकता पड़ी है। कोरिया के युद्ध में भी उसे सेना की जरूरत पड़ी थी। साइप्रस में शान्ति बनाये रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना उस क्षेत्र में काम कर रही है। लेकिन संघ को बहुत बड़े पैमाने पर कांगो में सैनिक कार्रवाई करनी पड़ी है। संघ को जब भी सेना की आवश्यकता पड़ी है, सदस्य राज्यों ने उसकी मदद की है।

इसके साथ ही शान्ति के रक्षार्थ संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना के खर्च की समस्या भी है। कांगो में संघ की सैनिक कार्रवाई के कारण खर्च की जो समस्या सामने आयी उसने कुछ दिनों के लिए १९६४-६५ में संयुक्त राष्ट्रसंघ को एकदम निष्क्रिय बना दिया था और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि इसी कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ का अन्त हो जायगा। संघ के जीवन में यह बड़ा ही संकटपूर्ण उलझन था। अतएव इसका विस्तृत विवेचन वाँछनीय है।

गाजा क्षेत्र में मिस्र और इजरायल के बीच शान्ति बनाये रखने तथा कांगो में सैनिक कार्रवाई करने के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपार धन का व्यय करना पड़ा था। यह सोचा गया था कि इस खर्च को सदस्य-राज्यों को चन्दे से पूरा किया जायगा। यद्यपि रूस ने राष्ट्रसंघीय कार्रवाई का समर्थन किया था और चन्दा देने का वादा किया था, लेकिन बाद में जब उसे कांगो में संयुक्त राष्ट्रसंघ की नीति पसन्द नहीं आयी तो उसने अपना हिस्सा देने से इन्कार कर दिया। पूर्वी यूरोप के अन्य समाजवादी देशों ने भी रूस का अनुकरण करते हुए अपना हिस्सा नहीं दिया और फ्रांस ने भी इस तरह चन्दा देने से इन्कार कर दिया। नतीजा यह हुआ कि १९६३-६४ के वित्तीय वर्ष में संघ के बजट में एक सौ चौतीस लाख डालर घाटा हो गया। इस घाटे के बजट ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक महान् वित्तीय संकट पैदा कर दिया जिसके कारण संघ का काम चलना असम्भव हो गया है।

वित्तीय संकट के अतिरिक्त इस समस्या ने एक राजनीतिक संकट भी उत्पन्न कर दिया। चार्टर की उन्नीसवीं धारा में यह व्यवस्था की गयी है कि यदि सदस्य राज्य अपने हिस्से का चन्दा लगातार दो वर्ष तक नहीं देंगे तो उन्हें वोट के अधिकार से वंचित कर दिया जायगा। कांगो में संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्रवाई को अमेरिका का पूरा समर्थन प्राप्त था। अतएव यह चाहता था कि सोवियत संघ अपने हिस्से के चन्दे का भुगतान कर दे। उधर सोवियत संघ ने उस कार्रवाई की प्रक्रिया का विरोध किया था, इसलिए उसने यह कहा कि कांगो में कार्रवाई के द्वारा संघ के चार्टर का उल्लंघन हुआ है, उसने चन्दा नहीं दिया। इस हालत में चन्दे की यह समस्या पूर्व और पश्चिमी के शीत-युद्ध का एक अंग बन गयी। अमेरिका ने निश्चय किया कि वह चार्टर की उन्नीसवीं धारा के अनुसार सोवियत संघ को वोट के अधिकार से [illegible] करने का प्रस्ताव साधारण-सभा में रखेगा। इस हालत में यदि यह प्रस्ताव पास [illegible] तो सोवियत संघ के समक्ष संयुक्त राष्ट्र छोड़ने के सिवा कोई चारा नहीं [illegible]

परिणाम होता है संयुक्त राष्ट्रसंघ का अन्त। इस प्रकार संघ के जीवन में एक अत्यन्त संकटापन्न स्थिति आ गयी।

१९६३ के अन्त में इस समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष रखा गया। न्यायालय ने यह विचार व्यक्त किया कि कांगो में जो खर्च हुआ है वह चार्टर की १७ (२) धारा के अनुसार ठीक है और सोवियत रूस को अपने हिस्से का चन्दा अदा कर देना चाहिए। लेकिन रूस ने न्यायालय के इस निर्णय को स्वीकार नहीं किया। इस हालत में १९६४ में जब साधारण सभा का उन्नीसवाँ साधारण अधिवेशन प्रारम्भ हुआ तो यह वित्तीय समस्या अमेरिका और रूस के बीच द्वन्द्व का एक मुख्य कारण बन गया। अमेरिका ने धमकी दी कि वह चार्टर की उन्नीसवीं धारा के अनुसार कार्रवाई करने की माँग करेगा। इस निश्चय ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के भविष्य को अनिश्चित बना दिया।[1]

आशंका के इस वातावरण में संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा का उन्नीसवाँ साधारण अधिवेशन सितम्बर १९६४ में प्रारम्भ हुआ। दोनों पक्ष अपने-अपने स्थान पर डिगे हुए थे और इस कारण संघ के अन्त की सम्भावना बहुत बढ़ गयी थी। फलतः इस अधिवेशन में कोई भी महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं किया जा सका और ऐसा कोई भी प्रस्ताव नहीं रखा गया जिससे वोट की नौबत आवे और अमेरिका तथा रूस को ताकत आजमाने का मौका मिले। वित्तीय संकट से उत्पन्न स्थिति को सुलझाने के लिए साधारण सभा ने इक्कीसवीं राष्ट्रों को मिलाकर एक समिति और चार राष्ट्रों की एक सद्भावना समिति का निर्माण किया। इस समिति के जिम्मे यह काम सौंपा गया कि वे बीच-बचाव करके इन समस्या के समाधान का यत्न करें। समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की कि संघ के बजट के घाटे की पूर्ति के लिए सदस्य-राज्य स्वेच्छा से कुछ धन (voluntary peace keeping fund) दे दें ताकि तत्काल के लिए संघ को वित्तीय संकट से छुटकारा मिले। अमरीकी विदेश सचिव डीन रस्क तथा सोवियत विदेश मन्त्री ग्रोमिको के बीच इस प्रस्ताव पर वार्ताएँ हुईं और सोवियत संघ स्वेच्छा से कुछ चन्दा देने को तैयार हो गया। लेकिन ग्रोमिको ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह कांगो में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा किये गये खर्च में औपचारिक रूप से किसी तरह का हिस्सा वहन नहीं करेगा। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका यह माँग करता रहा कि रूस को इस मद में अपने हिस्सा का थोड़ा भी भाग चुका देना चाहिए और तभी वह संघ की संस्थाओं में वोट दे सकता है।

इस प्रकार गतिरोध ज्यों-का-त्यों बना रहा और साधारण-सभा के अधिवेशन को दो बार स्थगित करना पड़ा। १९ फरवरी १९६५ को साधारण-सभा ने अपने अध्यक्ष एलेक्स क्वेयसन साके (घाना) को इस समस्या पर विचार करने के लिए एक दूसरी समिति को निर्माण करने का

1. "Washington's threat of demand for the invocation of Article 19th of the Charter has produced a first rate international crisis. A possible Russian walk-out would have been the start of a big crumble, the beginning of the end of the United Nations. France too is in the same boat with her. A U. N. without proper Chinese representation is little less than itself, a U. N. without Russia or France seems unthinkable,"—*Hindustan Times*, September 8, 1964.

अधिकार दिया। २७ फरवरी को अध्यक्ष ने तैंतीस राज्यों को मिलाकर एक समिति का निर्माण किया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा का बीसवाँ अधिवेशन २१ सितम्बर, १९६५ को प्रारम्भ होने वाला था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि इस बार भी १९६४ के अधिवेशन की भाँति संघ में गतिरोध रहेगा और कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं हो सकेगा। अतएव ब्रिटेन और अमेरिका ने इस प्रश्न पर झुक जाना ही उचित समझा। १६ जुलाई, १९६५ को ब्रिटिश विदेश मन्त्रालय से यह घोषणा की गयी कि ब्रिटिश सरकार का यह विचार है कि रूस, फ्रांस आदि देशों के पास जो बकाया है उसको खत्म कर दिया गया। इसके ठीक एक महीने बाद इसी तरह की घोषणा संयुक्त राष्ट्रसंघ में अमरीकी प्रतिनिधि श्री गोल्डवर्ग ने की। इस प्रकार वित्तीय संकट से उत्पन्न गतिरोध का अन्त हुआ। बीसवें अधिवेशन के प्रारम्भ के पूर्व एलेक्स क्वेयसन माके समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। समिति ने सिफारिश की थी कि बकाया के भुगतान को माफ कर दिया जाय और सदस्य-राज्य स्वेच्छा से संघ की आर्थिक सहायता दें। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ पर से एक महान् संकट टला।

इण्डोनीशिया द्वारा सदस्यता का परित्याग—१९६५ का वर्ष संघ के जीवन में और कारणों से भी संकट का वर्ष था। इसी वर्ष २१ जनवरी को इण्डोनीशिया ने यह घोषणा की कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ को छोड़ रहा है और मार्च आते-आते उसने संघ के साथ अपने सारे सम्बन्ध विच्छेद कर लिये। संयुक्त राष्ट्रसंघ के जीवन में यह पहला अवसर था जब कि किसी सदस्य ने अपनी सदस्यता का परित्याग किया हो। सदस्यता के परित्याग पर संघ का चार्टर मौन है। इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि राष्ट्रों को एकबार सदस्य बन जाने के बाद उसे छोड़ना नहीं है। लेकिन इण्डोनीशिया की कार्यवाही ने इसको गलत साबित कर दिया और ऐसा मालूम पड़ा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ अब वही रास्ता अपना रहा है जिसके कारण पुराने राष्ट्रसंघ का पतन हुआ था। राष्ट्रसंघ से निकलनेवाला पहला देश जापान था और उसके बाद सदस्यता छोड़ने का एक तांता बँध गया। राष्ट्रसंघ के लिए यह प्रवृत्ति बड़ा घातक सिद्ध हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष भी अब इसी तरह की परिस्थिति आ गयी। संघ के भविष्य के लिए यह बात अच्छी नहीं थी। लेकिन संघ के राज्य में यह बीमारी फैलने नहीं पायी और कुछ दिनों के उपरान्त इण्डोनीशिया भी पुनः संघ में शामिल हो गया।

भारत-पाकिस्तान युद्ध—जब संयुक्त राष्ट्रसंघ इसी संकट की स्थिति से गुजर रहा था उसी समय कश्मीर को लेकर सितम्बर, १९६५ में भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध शुरू हो गया। सुरक्षा परिषद् ने प्रस्ताव पास करके दोनों युद्धरत देशों से युद्ध बन्द करने का अनुरोध किया और महासचिव यूथान्त शान्ति के प्रयास में स्वयं भारतीय उपमहादेश में आये। लेकिन इन दोनों देशों में युद्ध बन्द नहीं हुआ। इस संकट के समाधान में संघ की प्रारम्भिक असफलता ने इसके भविष्य को और अनिश्चित बना दिया। लेकिन बाद में भारत और पाकिस्तान ने सुरक्षा-परिषद् के आदेशों को मानकर युद्ध बन्द कर दिया। इस संकट के अवसर पर सुरक्षा परिषद् में महाशक्तियों के बीच पूरा मतैक्य रहा और उनके अपूर्व सहयोग के फलस्वरूप एशिया का एक खूनी युद्ध बन्द हो गया। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की बहुत बड़ी सफलता थी। इसके बाद निराशा के सारे बादल उमड़ गये और जिन क्षेत्रों में संघ के भविष्य

परिणाम होता है संयुक्त राष्ट्रसंघ का अन्त। इस प्रकार संघ के जीवन में एक अत्यन्त संकटापन्न स्थिति आ गयी।

१९६३ के अन्त में इस समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष रखा गया। न्यायालय ने यह विचार व्यक्त किया कि कांगो में जो खर्च हुआ है वह चार्टर की १७ (२) धारा के अनुसार ठीक है और सोवियत रूस को अपने हिस्से का चन्दा अदा कर देना चाहिए। लेकिन रूस ने न्यायालय के इस निर्णय को स्वीकार नहीं किया। इस हालत में १९६४ में जब साधारण सभा का उन्नीसवाँ साधारण अधिवेशन प्रारम्भ हुआ तो यह वित्तीय समस्या अमेरिका और रूस के बीच द्वन्द्व का एक मुख्य कारण बन गया। अमेरिका ने धमकी दी कि वह चार्टर की उन्नीसवी धारा के अनुसार कार्रवाई करने की माँग करेगा। इस निश्चय ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के भविष्य को अनिश्चित बना दिया।[1]

आशंका के इस वातावरण में संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा का उन्नीसवाँ साधारण अधिवेशन सितम्बर १९६४ में प्रारम्भ हुआ। दोनों पक्ष अपने-अपने स्थान पर डिगे हुए थे और इस कारण संघ के अन्त की सम्भावना बहुत बढ़ गयी थी। फलतः इस अधिवेशन में कोई भी महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं किया जा सका और ऐसा कोई भी प्रस्ताव नहीं रखा गया जिससे वोट की नौबत आवे और अमेरिका तथा रूस को ताकत आजमाने का मौका मिले। वित्तीय संकट से उत्पन्न स्थिति को सुलझाने के लिए साधारण सभा ने इक्कीसवीं राष्ट्रों को मिलाकर एक समिति और चार राष्ट्रों की एक सद्भावना समिति का निर्माण किया। इस समिति के जिम्मे यह काम सौंपा गया कि वे बीच-बचाव करके इन समस्या के समाधान का यत्न करें। समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की कि संघ के बजट के घाटे की पूर्ति के लिए सदस्य-राज्य स्वेच्छा से कुछ धन (voluntary peace keeping fund) दे दें ताकि तत्काल के लिए संघ को वित्तीय संकट से छुटकारा मिले। अमरीकी विदेश सचिव डीन रस्क तथा सोवियत विदेश मन्त्री ग्रोमिको के बीच इस प्रस्ताव पर वार्ताएँ हुईं और सोवियत संघ स्वेच्छा से कुछ चन्दा देने को तैयार हो गया। लेकिन ग्रोमिको ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह कांगो में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा किये गये खर्च में औपचारिक रूप से किसी तरह का हिस्सा वहन नहीं करेगा। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका यह माँग करता रहा कि रूस को इस मद में अपने हिस्सा का थोड़ा भी भाग चुका देना चाहिए और तभी वह संघ की संस्थाओं में वोट दे सकता है।

इस प्रकार गतिरोध ज्यों-का-त्यों बना रहा और साधारण-सभा के अधिवेशन को दो बार स्थापित करना पड़ा। १६ फरवरी १९६५ को साधारण-सभा ने अपने अध्यक्ष एलेक्स क्वेयसन साके (घाना) को इस समस्या पर विचार करने के लिए एक दूसरी समिति को निर्माण करने का

1. "Washington's threat of demand for the invocation of Article 19th of the Charter has produced a first rate international crisis. A possible Russian walk-out would have been the start of a big crumble, the beginning of the end of the United Nations. France too is in the same boat with her. A U. N. without proper Chinese representation is little less than itself, a U. N. without Russia or France seems unthinkable."—*Hindustan Times*, September 8, 1964.

अधिकार दिया। २७ फरवरी को अध्यक्ष ने तैंतीस राज्यों को मिलाकर एक समिति का निर्माण किया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा का बीसवाँ अधिवेशन २१ सितम्बर, १६६५ को प्रारम्भ होने वाला था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि इस बार भी १६६४ के अधिवेशन की भाँति संघ में गतिरोध रहेगा और कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं हो सकेगा। अतएव ब्रिटेन और अमेरिका ने इस प्रश्न पर झुक जाना ही उचित समझा। १६ जुलाई, १६६५ को ब्रिटिश विदेश मन्त्रालय से यह घोषणा की गयी कि ब्रिटिश सरकार का यह विचार है कि रूस, फ्रांस आदि देशों के पास जो बकाया है उसको खत्म कर दिया गया। इसके ठीक एक महीने बाद इसी तरह की घोषणा संयुक्त राष्ट्रसंघ में अमरीकी प्रतिनिधि श्री गोल्डबर्ग ने की। इस प्रकार वित्तीय संकट से उत्पन्न गतिरोध का अन्त हुआ। बीसवें अधिवेशन के प्रारम्भ के पूर्व एलेक्स क्वेयसन साके समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। समिति ने सिफारिश की थी कि बकाया के भुगतान को माफ कर दिया जाय और सदस्य-राज्य स्वेच्छा से संघ की आर्थिक सहायता दें। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ पर से एक महान् संकट टला।

इण्डोनेशिया द्वारा सदस्यता का परित्याग—१६६५ का वर्ष संघ के जीवन में और कारणों से भी संकट का वर्ष था। इसी वर्ष २१ जनवरी को इण्डोनेशिया ने यह घोषणा की कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ को छोड़ रहा है और मार्च आते-आते उसने संघ के साथ अपने सारे सम्बन्ध विच्छेद कर लिये। संयुक्त राष्ट्रसंघ के जीवन में यह पहला अवसर था जब कि किसी सदस्य ने अपनी सदस्यता का परित्याग किया हो। सदस्यता के परित्याग पर संघ का चार्टर मौन है। इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि राष्ट्रों को एकबार सदस्य बन जाने के बाद उसे छोड़ना नहीं है। लेकिन इण्डोनेशिया की कार्यवाही ने इसको गलत साबित कर दिया और ऐसा मालूम पड़ा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ अब वही रास्ता अपना रहा है जिसके कारण पुराने राष्ट्रसंघ का पतन हुआ था। राष्ट्रसंघ से निकलनेवाला पहला देश जापान था और उसके बाद सदस्यता छोड़ने का एक तांता बँध गया। राष्ट्रसंघ के लिए यह प्रवृत्ति बड़ा घातक सिद्ध हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष भी अब इसी तरह की परिस्थिति आ गयी। संघ के भविष्य के लिए यह बात अच्छी नहीं थी। लेकिन संघ के राज्य में यह बीमारी फैलने नहीं पायी और कुछ दिनों के उपरान्त इण्डोनेशिया भी पुनः संघ में शामिल हो गया।

भारत-पाकिस्तान युद्ध—जब संयुक्त राष्ट्रसंघ इसी संकट की स्थिति से गुजर रहा था उसी समय कश्मीर को लेकर सितम्बर, १६६५ में भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध शुरू हो गया। सुरक्षा परिषद् ने प्रस्ताव पास करके दोनों युद्धरत देशों से युद्ध बन्द करने का अनुरोध किया और महासचिव यूथान्त शान्ति के प्रयास में स्वयं भारतीय उपमहादेश में आये। लेकिन इन दोनों देशों में युद्ध बन्द नहीं हुआ। इस संकट के समाधान में संघ की प्रारम्भिक असफलता ने इसके भविष्य को और अनिश्चित बना दिया। लेकिन बाद में भारत और पाकिस्तान ने सुरक्षा-परिषद् के आदेशों को मानकर युद्ध बन्द कर दिया। इस संकट के अवसर पर सुरक्षा परिषद् में महाशक्तियों के बीच पूरा मतैक्य रहा और उनके अपूर्व सहयोग के फलस्वरूप एशिया का एक खूनी युद्ध बन्द हो गया। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की बहुत बड़ी सफलता थी। इसके बाद निराशा के सारे बादल उमड़ गये और जिन क्षेत्रों में संघ के भवि-

के सम्बन्ध में आशंका व्यक्त की जा रही थी वह समाप्त हो गयी। वित्तीय संकट का समाधान और भारत-पाक युद्ध को बन्द कराने में सफलता इन दोनों बातों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक नयी जान फूँक दी और उसका भविष्य बहुत ही आशापूर्ण हो गया। २४ अक्टूबर १९६५ को संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्मोत्सव सारे संसार में बड़ी धूमधाम से मनाया गया। इस अवसर पर महासचिव यू-थान्त ने जो सन्देश दिया था वह आशावादिता से परिपूर्ण था। महासचिव ने यह आशा व्यक्त की कि दस वर्षों के बाद संघ का चार्टर राष्ट्रों का सम्बन्ध नियमित करने का एकमात्र साधन रह जायगा। विगत चौबीस वर्षों में यद्यपि संघ को आशातीत सफलताएँ नहीं मिली हैं लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि संघ के कारण दुनिया कई संकटों से बच गयी है।[1] संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपलब्धियों तथा उसके भविष्य में विश्वास का यह प्रबल प्रमाण माना जायगा।

अरब-इजरायल-युद्ध—जून १९६७ में अरब-इजरायल युद्ध के कारण भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष एक विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी। उस समय भी कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के मतभेदों के कारण संघ पूरी तरह असफल रहेगा और तृतीय विश्व-युद्ध की सम्भावना भी बहुत बढ़ गयी। लेकिन इस संकट में भी संयुक्त-राष्ट्र संघ ने *अपनी उपयोगिता का परिचय दिया और सतत् प्रयत्न के बाद युद्ध बन्द कराने में उसको* सफलता मिली। युद्ध-विराम के बाद भी अरब राष्ट्रों और इजरायल के मध्य बराबर झड़पें हो रही हैं, लेकिन संघ की जागरूकता ने इस युद्ध को फैलने से रोका है।

उपसंहार - संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुए आज चौबीस वर्ष हो चुके हैं। इस काल के दौरान में इसने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं वे यद्यपि सन्तोषजनक नहीं हैं, फिर भी उपयोगिता की दृष्टि से उनको ओझल नहीं किया जा सकता। संयुक्त राष्ट्रसंघ जिन लक्ष्यों को लेकर आगे बढ़ रहा है वे महत्त्वपूर्ण हैं। यह मूल रूप से संसार को युद्ध से मुक्ति दिलाना चाहता है ताकि मानवता को उन बुरे परिणामों को भुगतने का मौका न मिले जिन्हें वह विगत दो युद्धों द्वारा भुगत चुकी है। यह एक मात्र संगठन है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्थिरता ला सकती है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि सभी क्षेत्रों में संघ की क्षमता और उसके साधनों का उप- *योग बुद्धिमत्ता तथा विवेक के साथ किया जाय और संघ के सदस्य,* विशेषकर महान् राष्ट्र, चार्टर के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान रहकर उनपर क्रियात्मक आचरण करें। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता का यह मूल आधार है।

---

1. "After another decade I would like to see the U. N. Charter actually used by all the nations as the guide working to the realities of the 20th century that is what it was intended to be. That is what it can be if the policies of nations take account of today's realities rather than those of the past."
U Thant. *Hindustan Times*, October 24, 1965.

की स्थापना हुई। १६१६-१६३६ के वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत संघ के साथ कैसा व्यवहार किया, इसका अध्ययन हम कर चुके हैं। लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध के समय हिटलर के आतंक ने सोवियत संघ को पश्चिमी राज्यों का मित्र बना दिया और २६ मई, १६४२ को सोवियत संघ तथा ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध पारस्परिक सहायता की एक बीस वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये। पाश्चात्य देशों के अविश्वास को दूर करने के लिए २२ मई, १६४४ को सोवियत संघ ने पश्चिमी विरोधी प्रचार की एक प्रमुख संस्था 'कामिन्टार्न' के विघटन की घोषणा की। १६४२ के बाद मित्रराष्ट्रों के कैसाब्लाँका, हाट स्प्रिंग, मास्को, काहिरा, तेहरान, ब्रिटेन वुड्स, डाम्बर्टनओक्स, याल्टा तथा सैनफ्रांसिस्को में कई सम्मेलन हुए और इनमें सोवियत संघ ने पश्चिमी राष्ट्रों के साथ मिल-जुलकर काम किया। २७ फरवरी, १६४५ को चर्चिल ने कहा कि "सोवियत संघ के नेतागण पश्चिमी गणतंत्रों के साथ समान तथा सम्मानपूर्ण मैत्री का जीवन बसर करना चाहते हैं। उनके शब्द ही इनकी प्रतिज्ञाएँ हैं। चार दिन बाद राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने बतलाया कि "मुझे विश्वास है कि याल्टा समझौते के फलस्वरूप यूरोप की राजनीतिक स्थिति में स्थिरता आयगी।" इन विचारों से ऐसा प्रतीत होने लगा कि लन्दन और वाशिंगटन युद्धोत्तर काल की समस्याओं के समाधान में मास्को से सहयोग लेगा। लेकिन सोवियत नेताओं की सारी आशाएँ व्यर्थ सिद्ध हुईं और विजय के उपरान्त उनका सम्बन्ध पश्चिमी राष्ट्रों की उग्र नीति के कारण खराब होने लगा तथा उनका "अनोखा गठबन्धन" अस्त व्यस्त होने लगा। युद्ध-काल के साथी ही युद्धोपरान्त एक दूसरे के लिए अजनबी बन गये तथा आनेवाले वर्षों में वे एक दूसरे के प्राणों के प्यासे हो गये। उनकी पुरानी शत्रुता तथा सन्देह पुनः जग उठे जिसने शीत-युद्ध का जन्म दिया। इस शीत-युद्ध की उत्पत्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे :

१. **द्वितीय मोर्चा का प्रश्न**—शीत युद्ध की उत्पत्ति का पहला कारण युद्धकाल में दोनों पक्षों का एक दूसरे के प्रति बढ़ता हुआ सन्देह और अविश्वास था। ऐसा देखा गया है कि प्रायः सभी युद्धों के बाद युद्धकालीन मित्रराष्ट्र एक दूसरे के विरोधी या कट्टर दुश्मन बन जाते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद फ्रांस और ब्रिटेन के बीच इसी प्रकार का मतभेद हो गया था। पर इस बार अमेरिका और रूस में युद्ध के समय से ही सन्देह और मतभेद शुरू हो गया था। इसका एक प्रबल कारण "द्वितीय मोर्चे" से सम्बन्धित था। जिस समय युद्ध चल रहा था और हिटलर सोवियत-संघ को दबोचे हुए थे, उस समय स्टालिन अपने मित्र-राज्यों से पश्चिमी यूरोप में हिटलर के विरुद्ध एक दूसरा युद्ध मोर्चा खोलने के लिए बराबर अनुरोध करता था। उसके इस अनुरोध का उद्देश्य यह था कि यदि पश्चिम में मोर्चा खुल गया तो सोवियत संघ पर जर्मनी के प्रहार में बहुत कमी आ जायगी क्योंकि उस हालत में जर्मनी को दो मोर्चों पर लड़ना पड़ता) और सोवियत संघ को सांस लेने का मौका मिल जायगा। पर महीनों तक रूजवेल्ट और चर्चिल इस अनुरोध को टालते रहे। उसी समय से स्टालिन को अपने मित्र-राष्ट्रों की नेकनियती में शंका होने लगी। सोवियत इतिहासकारों का कहना है कि अमेरिका और ब्रिटेन ने खूब सोच-समझकर तथा जान-बूझ कर यह देर की थी ताकि जर्मनी किसी तरह रूस की साम्यवादी व्यवस्था का काम तमाम कर दे।[1]

1. G. Dadyants, "The Second Front : Fact and Fiction", in *International Affairs*, (Moscow), March 1959, pp. 13-18

१९४४ के प्रारम्भ में जब द्वितीय मोर्चा खोलने की योजना बनने लगी तब स्टालिन की शंका और पुष्ट होने लगी। जिस धोखेबाजी से हिटलर ने सोवियत संघ पर चढ़ाई की थी उसको ध्यान में रखकर मास्को के नीति-निर्धारक इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि यदि सोवियत संघ को भावी खतरे से बचाना हो तो उसे जर्मनी और रूस के बीच के देशों पर अपना प्रभुत्व कायम कर लेना अत्यावश्यक है।[1] दूसरे शब्दों में स्टालिन पूर्वी यूरोप के देशों को सोवियत प्रभाव क्षेत्र में परिवर्तित कर लेना चाहता था। चर्चिल इस रहस्य को भली-भाँति समझता था। अतएव जब दूसरा मोर्चा खोलने की बात होने लगी तो उसने यह योजना रखी कि ब्रिटेन और अमेरिका की सेनाएँ फ्रांस की तरफ से नहीं; वरन् बाल्कन प्रायद्वीप से यूरोप में उत्तर की ओर बढ़ें ताकि रूस की सेना पूर्वी यूरोप में बहुत आगे न बढ़ सके। इस योजना से रूजवेल्ट सहमत नहीं हुआ, लेकिन इसने पूँजीवादी देशों की मानसिक प्रवृति को तो स्पष्ट कर ही दिया। स्टालिन भली-भाँति समझ गया कि ब्रिटेन और अमेरिका उसके कैसे शुभचिन्तक हैं।

२. **पुरातन-व्यवस्था की स्थापना का प्रयास**—तो, इस प्रकार पूर्वी यूरोप पर प्रभुत्व कायम करने की प्रतिद्वन्द्विता युद्ध-काल में ही शुरू हो गयी। इसीलिए दोनों पक्ष जर्मनी से जीते गये प्रदेशों में उसके विरुद्ध स्वातन्त्र्य संघर्ष करने वाले विभिन्न दलों में अपना समर्थन करने वाले दलों का समर्थन करने तथा मान्यता देने लगे। उधर इटली अभी पूरी तरह परास्त भी नहीं हुआ था कि इधर कम्युनिस्टों को समाप्त करने के लिए ब्रिटेन और अमेरिका मुसोलिनी के फासिस्ट दल से सहयोग करने लगे। यूगोस्लाविया में कम्युनिस्ट नेता मार्शल टीटो को रूस का जबरदस्त समर्थन प्राप्त होने लगा, और दूसरी ओर ब्रिटेन और अमेरिका वहाँ पुनः राजतन्त्र और पुरातन व्यवस्था कायम करने की योजना बनाने लगे। चुनाव में भी ब्रिटेन कम्युनिस्ट विरोधी राजसत्तावादी दल का समर्थन कर रहा था। इन कारणों से रूस के मन में सन्देह की धारणा दिन-प्रति-दिन पुष्ट होने लगी।[2]

३. **रूस द्वारा याल्टा और बाल्कन समझौते का अतिक्रमण**—सोवियत संघ की ओर से भी ऐसी ही कार्रवाइयाँ होने लगीं। रूस की विजयी लाल सेना जहाँ भी पहुँचती कम्युनिस्टों को प्रोत्साहित और उनके विरोधी तत्त्वों का सफाया करती। इससे ब्रिटेन और अमेरिका का चिन्तित होना स्वाभाविक था। सोवियत संघ के प्रति ब्रिटेन का सन्देह तो इतना बढ़ गया कि अक्टूबर, १९४४ में उसने रूस के साथ समझौता करके यह तय कर लिया कि लाल सेना का प्रभाव-क्षेत्र रूमानिया और बुल्गेरिया समझा जाय, यूनान आंग्ल-अमरीकी अधिकार में रहे तथा यूगोस्लाविया तथा हंगरी पर दोनों का प्रभुत्व स्वीकार किया जाय। लेकिन इस समझौते से सन्देह

1. Schuman, *International Politics* (5th. Ed.) p. 95.

2. "The causes of the cold war should be sought not in the alleged desire of the Soviet Union to impose a new order of things upon other countries, but in the real desire of some Western Powers *to impose the old order* upon peoples who did not want them. The cold war was caused by the reckless plans of the most aggressive circles of imperialism which; overestimating their own strength, seriously sought to turn back the march of History."—G. Dadyants," "The Cold War : Past and Present." in *International Affairs*, Moscow June 1960 pp. 5–10.

की स्थापना हुई। १६१६-१६३६ के वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत संघ के साथ कैसा व्यवहार किया, इसका अध्ययन हम कर चुके हैं। लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध के समय हिटलर के आतंक ने सोवियत संघ को पश्चिमी राज्यों का मित्र बना दिया और २६ मई, १६४२ को सोवियत संघ तथा ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध पारस्परिक सहायता की एक बीस वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये। पाश्चात्य देशों के अविश्वास को दूर करने के लिए २२ मई, १६४४ को सोवियत संघ ने पश्चिमी विरोधी प्रचार को एक प्रमुख संस्था 'कामिन्टार्न' के विघटन की घोषणा की। १६४२ के बाद मित्रराष्ट्रों के कैसाब्लाँका, हाट स्प्रिंग, मास्को, काहिरा, तेहरान, ब्रिटेन वुड्स, डाम्बर्टनओक्स, याल्टा तथा सैनफ्रांसिस्को में कई सम्मेलन हुए और इनमें सोवियत संघ ने पश्चिमी राष्ट्रों के साथ मिल-जुलकर काम किया। २७ फरवरी, १६४५ को चर्चिल ने कहा कि "सोवियत संघ के नेतागण पश्चिमी गणतंत्रों के साथ समान तथा सम्मानपूर्ण मैत्री का जीवन बसर करना चाहते हैं। उनके शब्द ही इनकी प्रतिज्ञाएँ हैं। चार दिन बाद राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने बतलाया कि "मुझे विश्वास है कि याल्टा समझौते के फलस्वरूप यूरोप की राजनीतिक स्थिति में स्थिरता आयगी।" इन विचारों से ऐसा प्रतीत होने लगा कि लन्दन और वाशिंगटन युद्धोत्तर काल की समस्याओं के समाधान में मास्को से सहयोग लेगा। लेकिन सोवियत नेताओं की सारी आशाएँ व्यर्थ सिद्ध हुईं और विजय के उपरान्त उनका सम्बन्ध पश्चिमी राष्ट्रों की उग्र नीति के कारण खराब होने लगा तथा उनका "अनोखा गठबन्धन" अस्त व्यस्त होने लगा। युद्ध काल के साथी ही युद्धोपरान्त एक दूसरे के लिए अजनबी बन गये तथा आनेवाले वर्षों में वे एक दूसरे के प्राणों के प्यासे हो गये। उनकी पुरानी शत्रुता तथा सन्देह पुनः जग उठे जिसने शीत-युद्ध का जन्म दिया। इस शीत-युद्ध की उत्पत्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे :

१. द्वितीय मोर्चा का प्रश्न—शीत युद्ध की उत्पत्ति का पहला कारण युद्धकाल में दोनों पक्षों का एक दूसरे के प्रति बढ़ता हुआ सन्देह और अविश्वास था। ऐसा देखा गया है कि प्रायः सभी युद्धों के बाद युद्धकालीन मित्रराष्ट्र एक दूसरे के विरोधी या कट्टर दुश्मन बन जाते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद फ्रांस और ब्रिटेन के बीच इसी प्रकार का मतभेद हो गया था। पर इस बार अमेरिका और रूस में युद्ध के समय से ही सन्देह और मतभेद शुरू हो गया था। इसका एक प्रबल कारण "द्वितीय मोर्चे" से सम्बन्धित था। जिस समय युद्ध चल रहा था और हिटलर सोवियत-संघ को दबोचे हुए थे, उस समय स्टालिन अपने मित्र-राज्यों से पश्चिमी यूरोप में हिटलर के विरुद्ध एक दूसरा युद्ध मोर्चा खोलने के लिए बराबर अनुरोध करता था। उसके इस अनुरोध का उद्देश्य यह था कि यदि पश्चिम में मोर्चा खुल गया तो सोवियत संघ पर जर्मनी के प्रहार में बहुत कमी आ जायगी क्योंकि उस हालत में जर्मनी को दो मोर्चों पर लड़ना पड़ता) और सोवियत संघ को सांस लेने का मौका मिल जायगा। पर महीनों तक रूजवेल्ट और चर्चिल इस अनुरोध को टालते रहे। उसी समय से स्टालिन को अपने मित्र-राष्ट्रों की नेकनियती में शंका होने लगी। सोवियत इतिहासकारों का कहना है कि अमेरिका और ब्रिटेन ने खूब सोच-समझकर तथा जान-बूझ कर यह देर की थी ताकि जर्मनी किसी तरह रूस की साम्यवादी व्यवस्था का काम तमाम कर दे।[1]

1. G, Dadyants, "The Second Front : Fact and Fiction", in *International Affairs*, (Moscow), March 1959, pp. 13-18

१९४४ के प्रारम्भ में जब द्वितीय मोर्चा खोलने की योजना बनने लगी तब स्टालिन की शंका और पुष्ट होने लगी। जिस प्रोवेशाजी से हिटलर ने सोवियत संघ पर चढ़ाई की थी उसको ध्यान में रखकर मास्को के नीति-निर्धारक इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि यदि सोवियत संघ को भावी खतरे से बचाना हो तो उसे जर्मनी और रूस के बीच के देशों पर अपना प्रभुत्व कायम कर लेना अत्यावश्यक है।[1] दूसरे शब्दों में स्टालिन पूर्वी यूरोप के देशों को सोवियत प्रभाव क्षेत्र में परिवर्तित कर लेना चाहता था। चर्चिल इस रहस्य को भली-भाँति समझता था। अतएव जब दूसरा मोर्चा खोलने की बात होने लगी तो उसने यह योजना रखी कि ब्रिटेन और अमेरिका की सेनाएँ फ्रांस की तरफ से नहीं; वरन् बाल्कन प्रायद्वीप से यूरोप में उत्तर की ओर बढ़ें ताकि रूस की सेना पूर्वी यूरोप में बहुत आगे न बढ़ सके। इस योजना से रूजवेल्ट सहमत नहीं हुआ, लेकिन इसने पूँजीवादी देशों की मानसिक प्रवृत्ति को तो स्पष्ट कर ही दिया। स्टालिन भली-भाँति समझ गया कि ब्रिटेन और अमेरिका उसके कैसे शुभचिन्तक हैं।

२. पुरातन-व्यवस्था की स्थापना का प्रयास—तो, इस प्रकार पूर्वी यूरोप पर प्रभुत्व कायम करने की प्रतिद्वन्द्विता युद्ध-काल में ही शुरू हो गयी। इसीलिए दोनों पक्ष जर्मनी से जीते गये प्रदेशों में उसके विरुद्ध स्वातन्त्र्य संघर्ष करने वाले विभिन्न दलों में अपना समर्थन करने वाले दलों का समर्थन करने तथा मान्यता देने लगे। उधर इटली अभी पूरी तरह परास्त भी नहीं हुआ था कि इधर कम्युनिस्टों को समाप्त करने के लिए ब्रिटेन और अमेरिका मुसोलिनी के फासिस्ट दल से सहयोग करने लगे। यूगोस्लाविया में कम्युनिस्ट नेता मार्शल टीटो को रूस का जबरदस्त समर्थन प्राप्त होने लगा, और दूसरी ओर ब्रिटेन और अमेरिका वहाँ पुनः राजतन्त्र और पुरातन व्यवस्था कायम करने की योजना बनाने लगे। यूनान में भी ब्रिटेन कम्युनिस्ट विरोधी राजसत्तावादी दल का समर्थन कर रहा था। इन कारणों से रूस के मन में सन्देह की धारणा दिन-प्रति-दिन पुष्ट होने लगी।[2]

३. रूस द्वारा याल्टा और बाल्कन समझौते का अतिक्रमण—सोवियत संघ की ओर से भी ऐसी ही कार्रवाइयाँ होने लगीं। रूस की विजयी लाल सेना जहाँ भी पहुँचती कम्युनिस्टों को प्रोत्साहित और उनके विरोधी तत्त्वों का सफाया करती। इससे ब्रिटेन और अमेरिका का चिन्तित होना स्वाभाविक था। सोवियत संघ के प्रति ब्रिटेन का सन्देह तो इतना बढ़ गया कि अक्टूबर, १९४४ में उसने रूस के साथ समझौता करके यह तय कर लिया कि लाल सेना का प्रभाव-क्षेत्र रूमानिया और बुल्गेरिया समझा जाय, यूनान आंग्ल-अमरीकी अधिकार में रहे तथा यूगोस्लाविया तथा हंगरी पर दोनों का प्रभुत्व स्वीकार किया जाय। लेकिन इस समझौते से सन्देह

1. Schuman, *International Politics* (5th. Ed.) p. 95.

2. "The causes of the cold war should be sought not in the alleged desire of the Soviet Union to impose a new order of things upon other countries, but in the real desire of some Western Powers *to impose the old order* upon peoples who did not want them. The cold war was caused by the reckless plans of the most aggressive circles of imperialism which; overestimating their own strength, seriously sought to turn back the march of History."—G. Dadyants." 'The Cold War : Past and Present." in *International Affairs,* Moscow June 1960 pp. 5–10.

की स्थापना हुई। १९१९-१९३९ के वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत संघ के साथ कैसा व्यवहार किया, इसका अध्ययन हम कर चुके हैं। लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध के समय हिटलर के आतंक ने सोवियत संघ को पश्चिमी राज्यों का मित्र बना दिया और २६ मई, १९४२ को सोवियत संघ तथा ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध पारस्परिक सहायता की एक बीस वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये। पाश्चात्य देशों के अविश्वास को दूर करने के लिए २२ मई, १९४४ को सोवियत संघ ने पश्चिमी विरोधी प्रचार की एक प्रमुख संस्था 'कामिन्टार्न' के विघटन की घोषणा की। १९४२ के बाद मित्रराष्ट्रों के कैसाब्लांका, हाट स्प्रिंग, मास्को, काहिरा, तेहरान, ब्रिटेन वुड्स, डाम्बर्टनओक्स, याल्टा तथा सैनफ्रांसिस्को में कई सम्मेलन हुए और इनमें सोवियत संघ ने पश्चिमी राष्ट्रों के साथ मिल-जुलकर काम किया। २७ फरवरी, १९४५ को चर्चिल ने कहा कि "सोवियत संघ के नेतागण पश्चिमी गणतंत्रों के साथ समान तथा सम्मानपूर्ण मैत्री का जीवन बसर करना चाहते हैं। उनके शब्द ही इनकी प्रतिज्ञाएँ हैं। चार दिन बाद राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने बतलाया कि "मुझे विश्वास है कि याल्टा समझौते के फलस्वरूप यूरोप की राजनीतिक स्थिति में स्थिरता आयगी।" इन विचारों से ऐसा प्रतीत होने लगा कि लन्दन और वाशिंगटन युद्धोत्तर काल की समस्याओं के समाधान में मास्को से सहयोग लेगा। लेकिन सोवियत नेताओं की सारी आशाएँ व्यर्थ सिद्ध हुईं और विजय के उपरान्त उनका सम्बन्ध पश्चिमी राष्ट्रों की उग्र नीति के कारण खराब होने लगा तथा उनका "अनोखा गठबन्धन" अस्त व्यस्त होने लगा। युद्ध-काल के साथी ही युद्धोपरान्त एक दूसरे के लिए अजनबी बन गये तथा आनेवाले वर्षों में वे एक दूसरे के प्राणों के प्यासे हो गये। उनकी पुरानी शत्रुता तथा सन्देह पुनः जग उठे जिसने शीत-युद्ध का जन्म दिया। इस शीत-युद्ध की उत्पत्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे :

१. **द्वितीय मोर्चा का प्रश्न**—शीत युद्ध की उत्पत्ति का पहला कारण युद्धकाल में दोनों पक्षों का एक दूसरे के प्रति बढ़ता हुआ सन्देह और अविश्वास था। ऐसा देखा गया है कि प्रायः सभी युद्धों के बाद युद्धकालीन मित्रराष्ट्र एक दूसरे के विरोधी या कट्टर दुश्मन बन जाते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद फ्रांस और ब्रिटेन के बीच इसी प्रकार का मतभेद हो गया था। पर इस बार अमेरिका और रूस में युद्ध के समय से ही सन्देह और मतभेद शुरू हो गया था। इसका एक प्रबल कारण "द्वितीय मोर्चे" से सम्बन्धित था। जिस समय युद्ध चल रहा था और हिटलर सोवियत-संघ को दबोचे हुए थे, उस समय स्टालिन अपने मित्र-राज्यों से पश्चिमी यूरोप में हिटलर के विरुद्ध एक दूसरा युद्ध मोर्चा खोलने के लिए बराबर अनुरोध करता था। उसके इस अनुरोध का उद्देश्य यह था कि यदि पश्चिम में मोर्चा खुल गया तो सोवियत संघ पर जर्मनी के प्रहार में बहुत कमी आ जायगी क्योंकि उस हालत में जर्मनी को दो मोर्चों पर लड़ना पड़ता) और सोवियत संघ को सांस लेने का मौका मिल जायगा। पर महीनों तक रूजवेल्ट और चर्चिल इस अनुरोध को टालते रहे। उसी समय से स्टालिन को अपने मित्र-राष्ट्रों की नेकनियती में शंका होने लगी। सोवियत इतिहासकारों का कहना है कि अमेरिका और ब्रिटेन ने खूब सोच-समझकर तथा जान-बूझ कर यह देर की थी ताकि जर्मनी किसी तरह रूस की साम्यवादी व्यवस्था का काम तमाम कर दे।[1]

1. G. Dadyants, "The Second Front : Fact and Fiction", in *International Affairs*, (Moscow), March 1959, pp. 13-18

१९४४ के प्रारम्भ में जब द्वितीय मोर्चा खोलने की योजना बनने लगी तब स्टालिन की शंका और पुष्ट होने लगी। जिस धोखेबाजी से हिटलर ने सोवियत संघ पर चढ़ाई की थी उसको ध्यान में रखकर मास्को के नीति-निर्धारक इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि यदि सोवियत संघ को भावी खतरे से बचाना हो तो उसे जर्मनी और रूस के बीच के देशों पर अपना प्रभुत्व कायम कर लेना अत्यावश्यक है।[1] दूसरे शब्दों में स्टालिन पूर्वी यूरोप के देशों को सोवियत प्रभाव क्षेत्र में परिवर्तित कर लेना चाहता था। चर्चिल इस रहस्य को भली-भाँति समझता था। अतएव जब दूसरा मोर्चा खोलने की बात होने लगी तो उसने यह योजना रखी कि ब्रिटेन और अमेरिका की सेनाएँ फ्रांस की तरफ से नहीं; वरन् बाल्कन प्रायद्वीप से यूरोप में उत्तर की ओर बढ़ें ताकि रूस की सेना पूर्वी यूरोप में बहुत आगे न बढ़ सके। इस योजना से रूजवेल्ट सहमत नहीं हुआ, लेकिन इसने पूँजीवादी देशों की मानसिक प्रवृति को तो स्पष्ट कर ही दिया। स्टालिन भली-भाँति समझ गया कि ब्रिटेन और अमेरिका उसके कैसे शुभचिन्तक है।

२. पुरातन-व्यवस्था की स्थापना का प्रयास—तो, इस प्रकार पूर्वी यूरोप पर प्रभुत्व कायम करने की प्रतिद्वन्द्विता युद्ध-काल में ही शुरू हो गयी। इसीलिए दोनों पक्ष जर्मनी से जीते गये प्रदेशों में उसके विरुद्ध स्वातन्त्र्य संघर्ष करने वाले विभिन्न दलों में अपना समर्थन करने वाले दलों का समर्थन करने तथा मान्यता देने लगे। उधर इटली अभी पूरी तरह परास्त भी नहीं हुआ था कि इधर कम्युनिस्टों को समाप्त करने के लिए ब्रिटेन और अमेरिका मुसोलिनी के फासिस्ट दल से सहयोग करने लगे। यूगोस्लाविया में कम्युनिस्ट नेता मार्शल टीटो को रूस का जबरदस्त समर्थन प्राप्त होने लगा, और दूसरी ओर ब्रिटेन और अमेरिका वहाँ पुनः राजतन्त्र और पुरातन व्यवस्था कायम करने की योजना बनाने लगे। चुनाव में भी ब्रिटेन कम्युनिस्ट विरोधी राजसत्तावादी दल का समर्थन कर रहा था। इन कारणों से रूस के मन में सन्देह की धारणा दिन-प्रति-दिन पुष्ट होने लगी।[2]

३. रूस द्वारा याल्टा और वाल्कन समझौते का अतिक्रमण—सोवियत संघ की ओर से भी ऐसी ही कार्रवाइयाँ होने लगी। रूस की विजयी लाल सेना जहाँ भी पहुँचती कम्युनिस्टों को प्रोत्साहित और उनके विरोधी तत्त्वों का सफाया करती। इससे ब्रिटेन और अमेरिका का चिन्तित होना स्वाभाविक था। सोवियत संघ के प्रति ब्रिटेन का सन्देह तो इतना बढ़ गया कि अक्टूबर, १९४४ में उसने रूस के साथ समझौता करके यह तय कर लिया कि लाल सेना का प्रभाव-क्षेत्र रूमानिया और बुल्गेरिया समझा जाय, यूनान आंग्ल-अमरीकी अधिकार में रहे तथा यूगोस्लाविया तथा हंगरी पर दोनों का प्रभुत्व स्वीकार किया जाय। लेकिन इस समझौते से सन्देह

1. Schuman, *International Politics* (5th, Ed.) p. 95.

2. "The causes of the cold war should be sought not in the alleged desire of the Soviet Union to impose a new order of things upon other countries, but in the real desire of some Western Powers *to impose the old order* upon peoples who did not want them. The cold war was caused by the reckless plans of the most aggressive circles of imperialism which; overestimating their own strength, seriously sought to turn back the march of History."—G. Dadyants," 'The Cold War : Past and Present." in *International Affairs*, Moscow June 1960 pp. 5–10.

का अन्त नहीं वरन् उसमें और वृद्धि हुई। कूटनीतिक दाव-पेंच लगते रहे और युद्ध खत्म होते ही सोवियत संघ पूर्वी यूरोप के प्रायः सभी देशों में साम्यवादी व्यवस्था कायम कराने में सफल हो गया। यह कार्रवाई अमेरिका और ब्रिटेन को एकदम पसन्द नहीं आयी। १९४५ के याल्टा सम्मेलन में मित्रराष्ट्रों ने यह फैसला किया था कि "नात्सियों को मुक्त किये राष्ट्र अपनी इच्छानुसार लोकतन्त्रीय संस्था चुनेंगे तथा इसके लिए मित्रराष्ट्रों के बीच सम्मिलित विचार-विनिमय किया जायगा।" अतएव उन लोगों ने अब यह दोषारोपण किया कि सोवियत संघ के ये कार्य याल्टा के निर्णयों के विरुद्ध हैं।

४. ईरान से रूसी सेनाओं का न हटाया जाना—युद्ध के दौरान सोवियत सेनाओं ने ब्रिटेन की सहमति से उत्तरी ईरान पर कब्जा कर लिया था, किन्तु युद्ध के बाद आंग्ल-अमरीकी सेनाएँ तो दक्षिणी ईरान से शीघ्र ही हटा ली गयीं, पर सोवियत सेनाएँ अपने स्थान पर ज्यों-की-त्यों जमी रहीं। काफी समय के बाद अमेरिका तथा इङ्गलैण्ड द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ की सहायता से रूस पर संयुक्त दबाव डालने के परिणामस्वरूप ही सोवियत सेनाएँ वहाँ से हटने के लिए तैयार हुईं।

५. तुर्की पर रूसी दबाव—युद्ध के बाद सोवियत संघ तुर्की पर दबाव डालकर उसे कुछ तुर्की की भूमि और बोसफोरस में नौ सैनिक अड्डे बनाने का अधिकार मांग रहा था। पश्चिमी राष्ट्रों ने इसका बड़ा कड़ा विरोध किया।

६. यूनान में सोवियत संघ का दबाव—जर्मनी के आत्म-समर्पण से पूर्व ही रूसी सेनाओं ने यूनान के उत्तर में पूर्वी तथा दक्षिणी-पूर्वी यूरोप के अधिकांश भाग पर कब्जा कर लिया। तथा वहाँ साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना कर दी गयी। इस क्षेत्र के अधिकांश देशों में साम्यवादी दल बहुत छोटे-छोटे तथा अपेक्षाकृत नगण्य अनुयायियों वाले थे। फिर भी सोवियत सेनाओं ने इन साम्यवादी दलों को खुली और पूर्ण सहायता दी। कुछ ही वर्षों में यूनान तथा बाल्टिक समुद्र के मध्य बसे हुए सभी राज्यों में 'सर्वहारा की तानाशाही' स्थापित कर दी गयी।

७. रूस का अमेरिका विरोधी प्रचार-अभियान—युद्ध के खत्म होते ही रूस के समाचार-पत्रों ने अमरीकी नीतियों तथा नीति-निर्धारकों पर प्रहार करना शुरू कर दिया। इससे अमेरिका बड़ा क्रुद्ध हुआ। अमरीकी समाचार-पत्रों ने भी ऐसा ही रुख अपनाया और सोवियत संघ तथा सोवियत सेनाओं पर गालियों की बौछार होने लगी। इस हालत में दोनों देशों का सम्बन्ध बिगड़ना अनिवार्य था।

८. अणुबम का आविष्कार—शीत-युद्ध के सूत्रपात का एक और प्रमुख कारण अणुबम का आविष्कार था। यह कहा जाता है कि अणुबम ने हिरोशिमा और नागाशाकी को ही विध्वंस नहीं किया, अपितु युद्धकालीन मित्रराष्ट्रों की मित्रता का भी अन्त कर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका में अणुबम पर अनुसंधान-कार्य और उसका परीक्षण बहुत पहले से चल रहा था। अमेरिका ने इस अनुसंधान की प्रगति से ब्रिटेन को तो पूरा परिचित रखा लेकिन सोवियत रूस से इसका रहस्य जान-बूझकर गुप्त रखा गया। रूस को इससे जबरदस्त सदमा पहुँचा और उसने इसे एक घोर विश्वासघात माना। उधर अमेरिका और ब्रिटेन को अणुबम के कारण यह अभिमान

हो गया कि अब उन्हें सोवियत सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है। अतएव इस कारण भी दोनों पक्षों में मनमुटाव बढ़ा।

६. **सोवियत विरोधी प्रचार अभियान**—इस समय पश्चिमी देशों के समाचार-पत्र साम्यवादी देशों के प्रति खुलेआम घृणा-प्रचार में संलग्न थे। साम्यवादी खतरे को खूब तूल देकर और बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित किया गया तथा मास्को के भावी इरादों के प्रति जनता में भय की भावना पैदा की गयी। ज्योंही सोवियत सेनाएँ बर्लिन के निकट पहुँची अमरीकी समाचार-पत्रों ने निम्न प्रकार के अनर्गल शीर्षकों से अपने पन्ने रंगने शुरू कर दिये। उदाहरणार्थ 'साम्यवादी प्रसार से ईसाई सभ्यता के डूबने का खतरा' (Red Wave Threatens to Drown Christian Civilization) —'हार्टस न्यूयार्क जनरल' तथा "सोवियत संघ विश्व का एकमात्र आक्रामक राज्य (Soviet Union is the only Aggressor in the World)—'शिकागो ट्रिब्यून' आदि में इस तरह के शीर्षक से समाचार प्रकाशित होने लगे।

सोवियत अधिकारियों के लिए एक ऐसे देश, जिसके प्रति उनके हृदय में पहले से ही काफी अविश्वास था, के समाचार-पत्रों की इन घोषणाओं पर क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था।

इन कारणों से युद्ध समाप्त होते-होते दोनों पक्षों में घोर मतभेद उत्पन्न हो गया और समय के साथ-साथ इसकी उग्रता भी बढ़ती गयी। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं, सम्मेलनों आदि में ये मतभेद प्रकट होने लगे। इसके बाद समाचार-पत्रों और रेडियो द्वारा भाषण, वाग्युद्ध और प्रचार-युद्ध आरम्भ हुआ। शीघ्र ही सारी दुनिया दो गुटों में बँट गयी, अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिम गुट (western bloc) और सोवियत संघ के नेतृत्व में कम्युनिस्ट गुट। पश्चिमी गुट अपने को "स्वतन्त्र विश्व" (free world) कहने लगा। सोवियत गुट को "लौह परदे" (iron curtain) की उपाधि दी गयी। फिर संसार के लोगों के सामने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का हौवा उपस्थित किया गया। अमेरिका की ओर से यह प्रचार किया जाने लगा कि सोवियत संघ के "नये साम्राज्यवादी" सारे संसार पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं। इससे संसार को बचाना आवश्यक है। उधर सोवियत संघ ने डालर साम्राज्यवाद और वाल स्ट्रीट के पूँजीपतियों का भंडाफोड़ शुरू किया। अमेरिका ने इस युद्ध को एक सैद्धान्तिक[1] रूप प्रदान किया कि यह साम्यवादी दासता और प्रजातांत्रिक स्वतन्त्रता का संघर्ष है। इन आरोपों और प्रत्यारोपों में युद्धोत्तर विश्व की सारी समस्याएँ गौण पड़ गयी।

शीत-युद्ध की प्रगति—एक बार जब शीत-युद्ध शुरू हो गया तो उसमें कोई कमी आये इसकी परवाह किसी को भी न रही। संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन दोनों के संघर्ष के अखाड़े बन गये। सुरक्षा-परिषद् की पहली बैठक में ही सोवियत प्रतिनिधि ने पश्चिमी गुट

---

१. सत्य बात यह है कि इस मतभेद में सिद्धान्त का कोई प्रश्न निहित नहीं है। अमेरिका का झगड़ा साम्यवादी "दासता" से नहीं वरन् साम्यवादी आर्थिक व्यवस्था से था। यदि वह तथाकथित साम्यवादी "दासता" से घृणा करता तो समय-समय पर उस "दासता" के एक देश यूगोस्लाविया को क्यों मदद देता रहा है और संसार के जिस क्षेत्र को "स्वतन्त्र विश्व" कहा जाता है उसमें स्पेन, पुर्तगाल, दक्षिण अमेरिका के फासिस्टवादी देश भी तो सम्मिलित हैं। इन सब तथ्यों के आधार पर यह कहा जाता है कि सोवियत संघ और अमेरिका के मतभेद का मौलिक कारण आर्थिक है। एक विद्वान लेखक ने लिखा है कि यदि किसी तरह अमेरिका भी आज साम्यवादी व्यवस्था वाला देश होता तो सोवियत संघ से इसी आर्थिक कारण को लेकर दोनों देशों में मतभेद रहता।

पर बड़े कड़े और उग्र आक्षेप किये। फिर उसको जवाब भी वैसे ही स्पष्ट मिले। उसके बाद शायद ही ऐसी कोई बैठक या अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ हो जिसमें दोनों ने एक-दूसरे पर भीषण आरोप-प्रत्यारोप न लगाये हों। एक के बाद दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय घटना घटती गयी और शीत-युद्ध का इतिहास बढ़ता गया। फारस ने रूसी सेना या यूनान से ब्रिटिश सेना हटाने का प्रश्न हो या कोई दूसरा प्रश्न सब शीत-युद्ध के इतिहास के ही भाग हैं। शीत-युद्ध का सबसे भीषण अखाड़ा संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् साबित हुआ। आरम्भ में साधारण सभा में रूस को केवल पाँच और पश्चिमी गुट के बत्तीस वोट थे। लेकिन सुरक्षा-परिषद् में रूस ने अपने वीटो के अधिकार का पूरा लाभ उठाया। उसके लिए इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह गया था।

शीत-युद्ध को भयानक बनाने का असल श्रेय कुटिल और घोर साम्राज्यवादी राजनेता विन्सटन चर्चिल को है। १९४६ में अमेरिका के फुल्टन नामक नगर में भाषण करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में उसने एक नयी पद्धति का सूत्रपात किया। "हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर," चर्चिल ने ५ मार्च, १९४६ को राष्ट्रपति ट्रूमैन की उपस्थिति में कहा, "उसके दूसरे स्वरूप के संस्थापन को रोकना चाहिए।" उसने "स्वतन्त्रता की दीपशिखा प्रज्ज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए" एक आंग्ल-अमरीकी गठबन्धन की मांग की। उसका सुझाव था कि साम्यवाद के प्रसार को सीमित रखने के लिए (Containment of Communism) हर सम्भव एवं नैतिक अनैतिक उपाय का अवलम्बन किया जाय। अमेरिका में चर्चिल के विचारों का सबसे बड़ा समर्थक अमरीकी सिनेट का एक सदस्य वैण्डेनबर्ग था। उसके बाद क्या पूछना था? समूचे अमेरिका में सोवियत विरोधी भावना का तूफान फूट पड़ा। २९ सितम्बर, १९४६ को बिर्नेस के कहने पर राष्ट्रपति ट्रूमैन ने, भूतपूर्व उपराष्ट्रपति तथा तत्कालीन वाणिज्य सचिव हेनरी ए० वेलेस से त्यागपत्र देने को कहा, क्योंकि उसने १२ सितम्बर को न्यूयार्क में एक सार्वजनिक भाषण में सोवियत संघ तथा अमेरिका के बीच मैत्री-स्थापना की अपील की थी। राज्य सचिव डीन एचिसन ने १९ फरवरी, १९४७ को सिनेट के सम्मुख कहा कि "रूस की विदेश-नीति आक्रामक तथा विस्तारवादी है।" अप्रिल १९४६ के बाद दोनों पक्षों ने अपने मतभेदों को खुलेआम उगलना शुरू किया तथा पूर्व और पश्चिम को शत्रुता एक नग्न तथ्य बन गया। १२ मार्च, १९४७ को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने "सोवियत विस्तार को रोकने के लिए" ट्रूमैन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ५ जून, १९४७ को साम्यवाद के विरोध के नाम पर प्रसिद्ध मार्शल-योजना का सूत्रपात हुआ। सोवियत गुट के देशों ने इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया और सारी योजना को अमरीकी साम्राज्यवाद की योजना कहकर उसकी निंदा की। २५ अक्टूबर को मार्शल-योजना के जवाब में यूरोप के नौ कम्युनिस्ट देशों का कोमिनफार्म स्थापित किया गया। अब बात-बात पर झगड़ा होने लगा। पराजित राज्यों के साथ कैसा व्यवहार किया जाय इसके सम्बन्ध में दोनों पक्षों में उग्र मतभेद था।

चीन में साम्यवादी व्यवस्था कायम होने पर शीत-युद्ध की भयंकरता और बढ़ी। चार्टर के अनुसार चीन सुरक्षा परिषद् का एक स्थायी सदस्य है। जब च्यांग-काई शेक की सरकार भागकर फारमोसा चली गयी, तो कम्युनिस्ट चीन ने सुरक्षा-परिषद् में अपनी जगह की माँग की। लेकिन पश्चिमी गुट नहीं चाहता था कि सुरक्षा-परिषद् में सोवियत संघ का एक और समर्थक बढ़ जाय। अतएव संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीन की नयी सरकार को मान्यता देने से इन्कार

कर दिया और संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसको स्थान मिलने का विरोध किया। इस कारण आज तक चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपना स्थान नहीं मिल सका है। इसके मूल में शीत-युद्ध ही विद्यमान है।

बर्लिन का घेरा और कोरिया के युद्ध के समय शीत-युद्ध अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। बर्लिन के घेरा के समय ही दोनों पक्षों को ताकत आजमाने का मौका पहले-पहल मिला और शीत युद्ध में अमेरिका का रुख कड़ा हो गया। अब सोवियत संघ का विरोध करने के लिए अमेरिका तरह-तरह के सैनिक संगठनों की स्थापना करने लगे।[1] कोरिया का युद्ध वास्तव में पश्चिमी गुट और कम्युनिस्ट गुट के बीच युद्ध था। इस अवसर पर शीत-युद्ध सशस्त्र युद्ध में परिणत हो गया। अमेरिका ने सुरक्षा-परिषद् से सोवियत संघ की अनुपस्थिति का खूब नाजायज फायदा उठाया। उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित करवाया और उसके विरुद्ध सैनिक कार्रवाई का प्रस्ताव पास करवाया। यद्यपि १९५३ में कोरिया युद्ध बन्द हो गया, लेकिन दोनों गुटों के बीच शीत-युद्ध चलता रहा।

१९५३ में शीत-युद्ध की तीव्रता में कुछ परिवर्तन आया। इस युद्ध के महान् उन्नायक राष्ट्रपति ट्रूमैन और स्टालिन थे। जनवरी, १९५३ में आइसनहावर अमेरिका के राष्ट्रपति बने। उनके विदेश सचिव डलेस अब संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति के मुख्य निर्धारक हुए। इसी समय ५ मार्च, १९५३ को स्टालिन की मृत्यु हो गयी। अगस्त १९५३ में सोवियत संघ का प्रथम आणविक परीक्षण हुआ। हथियार के क्षेत्र में दोनों गुटों के मध्य जो खाई थी अब वह धीरे-धीरे कम होने लगी।

इसके बाद आया हिन्द चीन का प्रश्न। फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध वहाँ चलने वाले युद्ध में दोनों गुटों ने अलग-अलग पक्षों का समर्थन किया। शीत-युद्ध के कारण हिन्द चीन का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बन गया। फिर अमेरिका ने साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सैनिक समझौतों और सैन्य संगठनों को स्थापित करने की नीति अपनायी तथा नाटो, सीटो और बगदाद पैक्ट बनाये। रूस ने इनकी बड़ी कड़ी आलोचना की और इनके जवाब में वारसा पैक्ट कायम कर लिया। इन संगठनों के विषय में हम आगे चलकर अध्ययन करेंगे। इसी तरह संसार के सबसे प्रमुख प्रश्न निरस्त्रीकरण पर दोनों में घोर मतभेद चला। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रत्येक प्रश्न पर शीत-युद्ध के पृष्ठाधार में दोनों देशों के दृष्टिकोण निर्धारित होने लगे। अमेरिका स्वभावतः पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का समर्थक है। उसके मित्र देश साम्राज्यवादी थे। इस हालत में रूस ने ब्रिटेन और फ्रांस के उपनिवेशवाद का उग्र विरोध किया। उसने खुले शब्दों में पराधीन देशों की आजादी का समर्थन किया। इस दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर शीत युद्ध का कम-से-कम एक लाभ अवश्य प्रतीत होता है। ऐसे तो सोवियत रूस शुरू से ही उपनिवेशवाद का विरोधी रहा है, लेकिन शीत-युद्ध के कारण इस विरोध में और उग्रता आयी।

1. "The Berlin blockade, from early 1948 until may 1949 was the first open test in the cold war. It was a struggle fought with weapons of blockade and air lift and not only this test did harden American resolution to carry containment to completion, it also helped to bring about the birth of the North Atlantic Treaty Organisation in April.—Peter Lyons, *Neutralism* p, 32.

सोवियत संघ दिन-रात उपनिवेशवाद पर हमला करता रहा और इस प्रकार साम्राज्यवादियों को अपना अपवित्र अधिकार हटाने पर बाध्य किया।

१९५५ से १९५८ तक पश्चिमी एशिया शीत-युद्ध का भयंकर अखाड़ा बना रहा। इस क्षेत्र के सामरिक महत्त्व और तेल कूपों पर प्रभुता कायम रखने के लिए दोनों में घोर संघर्ष होता रहा। फारस का तेल-विवाद, स्वेज नहर का संकट, लेबनान में अमरीकी फौज का उतरना, इराक की क्रान्ति आदि अवसरों पर दोनों पक्ष ताल ठोंककर मैदान में डट गये। जब राष्ट्रपति आइसनहावर ने अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त—आइसनहावर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो दोनों पक्षों का संघर्ष और भी उग्र हो गया। इस तरह के सैकड़ों दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। संक्षेप में, कोई भी ऐसी घटना इधर नहीं घटी है जो शीत-युद्ध का परिणाम न हो या उससे प्रभावित न रहा हो।

ख्रुश्चेव की अमरीकी यात्रा—१९५९ के मध्य में कुछ कारणों से शीत-युद्ध में कुछ कमी पड़ी। ३ अगस्त को "बीसवीं शताब्दी का सबसे महान् कूटनीतिक चमत्कार" हुआ। उस दिन मास्को में विदेश मन्त्रालय के प्रवक्ता और वाशिंगटन में स्वयं राष्ट्रपति आइसनहावर ने एक ही समय में यह घोषणा की कि कुछ ही दिनों में सोवियत रूस के प्रधान मन्त्री निकेता ख्रुश्चेव संयुक्त राज्य अमेरिका का और उसके बाद राष्ट्रपति आइसनहावर सोवियत संघ का भ्रमण करेंगे। सारे संसार में इस समाचार का स्वागत हुआ। अब ऐसा प्रतीत होने लगा कि शीत-युद्ध सदा के लिए बन्द हो गया और दोनों देश मिलकर संसार में स्थायी शान्ति की नींव डाल देंगे। इसके पूर्व मिकोयान अमेरिका का और उपराष्ट्रपति निक्सन रूस यात्रा कर चुके थे। इन यात्राओं का महत्त्व अब सबको ज्ञात होने लगा। बहुत दिनों से दुनिया में एक शिखर-सम्मेलन (summit conference) की माँग हो रही थी। इसका तात्पर्य यह था कि महाशक्तियों के शासनाध्यक्ष एक जगह मिलें और संसार की कठिन समस्याओं का समाधान कर लें। ३ अगस्त की घोषणा ने इस सम्मेलन के मार्ग को प्रशस्त कर दिया।

१५ सितम्बर को ख्रुश्चेव अमेरिका पहुँचा। लगभग एक महीने तक वह अमेरिका के विविध स्थानों का भ्रमण करता रहा। एक ही अपवाद को छोड़कर कभी कोई अप्रिय घटना नहीं घटी। सर्वत्र उसका स्वागत हुआ। इस यात्रा के फलस्वरूप यह आशा जमने लगी कि अब शीत-युद्ध में कमी आयगी और अन्ततः उसका अन्त हो जायगा। ख्रुश्चेव के अमेरिका भ्रमण का परिणाम अच्छा ही निकला। यह तय हुआ कि मई, १९६० में पेरिस में शिखर सम्मेलन हो और उसके बाद वहीं से राष्ट्रपति आइसनहावर सोवियत रूस की यात्रा करें। सरकारी तौर पर सोवियत-संघ ने उन्हें निमन्त्रण भी भेज दिया। लेकिन इसी समय अमेरिका के पागलपन ने सारी आशाओं पर पानी फेर दिया। इसका कारण था यू-२ जासूसी विमान-कांड।

यू-२ विमान-कांड :—एक मई, १९६० को अमेरिका का एक वायुयान सोवियत सीमा का अतिक्रमण करके दो हजार कीलोमीटर अन्दर घुस गया। जब उसके आक्रामक इरादों का पता स्पष्ट रूप से चल गया तो स्वर्डलोवास्क के निकट उसे राकेट द्वारा नीचे गिरा दिया गया। विमान के निरीक्षण से पता चला कि यह एक जासूसी विमान था क्योंकि इसमें जासूसी के अनेक यन्त्र और उपकरण पकड़े गये। सौभाग्यवश इस विमान का चालक पावर्स बच गया और पकड़ लिया गया। उसने इस बात को कबूल किया कि उसे सोवियत-संघ के आकाश में सैनिक निरीक्षण तथा सैनिक अड्डों की सूचना प्राप्त करने के लिए भेजा गया था। विमान में विशेष

यन्त्र लगे हुए थे जो सोवियत प्रदेश पर उड़ते-उड़ते विभिन्न स्थानों का फोटो ले रहे थे। ख्रुश्चेव ने हल्ला मचाना शुरू कर दिया। शुरू में तो अमरीकी सरकार ने ऐसी उड़ान का खण्डन किया, लेकिन बाद में यह समझकर कि पावर्स सम्भवतः मर चुका है, यह कहा कि तुर्की में सोवियत सीमान्त के पास एक विमान ऋतु के वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए उड़ रहा था। किन्तु जब पावर्स के जीवित रहने और दोष स्वीकार करने का पता चला तो उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि यह विमान सोवियत आकाश में सैनिक अड्डों की जानकारी प्राप्त करने के लिए भेजा गया था।

यदि बात इतनी ही तक रहती तो सम्भवतः मामला नहीं बढ़ता। लेकिन राष्ट्रपति आइसनहावर ने कहा कि अमेरिका इस तरह की कार्रवाई जान-बूझकर करता है और भविष्य में भी करेगा। उनका कहना था कि सोवियत संघ की सामरिक कार्रवाइयाँ गुप्त रहती हैं और पर्ल हार्बर जैसे आकस्मिक आक्रमणों की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए स्वतन्त्र विश्व के लिए ऐसा करना आवश्यक है। इस वक्तव्य के बाद ख्रुश्चेव गुस्सा से आगबबूला हो गया। उसने इस जासूसी उड़ान को एक अत्यन्त उत्तेजनात्मक कार्य और सोवियत राष्ट्र का घोर अपमान बताया। उसने गर्जन करते हुए अमेरिका से स्थिति को बिगाड़ने वाली तथा शान्ति को संकट में डालनेवाली ऐसी घटनाओं को बन्द करने की मांग की और साथ-ही-साथ यह धमकी दी कि यदि भविष्य में इस प्रकार की कोई घटना हुई और युद्ध छिड़ा तो उसके लिए एकमात्र संयुक्त राज्य अमेरिका जिम्मेवार होगा। संसार में सब जगह अमरीकी कार्रवाई की निन्दा हुई। जब अमेरिका ने क्षतिपूर्ति करने और माफी मांगने से इन्कार कर दिया तो सोवियत संघ ने सुरक्षा-परिषद् में इस घटना की शिकायत की। परिषद् में सोवियत प्रतिनिधि ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें अमेरिका के इस जासूसी कारनामे की निन्दा की गयी थी और इसको चार्टर के सिद्धान्तों के प्रतिकूल बतलाया गया था। प्रस्ताव में अमेरिका से अनुरोध किया गया था कि वह ऐसे कार्यों को शीघ्र बन्द कर दे।

अमरीकी प्रतिनिधि हेनरी केबट लॉज ने कहा कि इस जासूसी उड़ान को 'आक्रमण' नहीं कहा जा सकता। उसने अमेरिका और अन्य देशों में रूसी जासूसी का दृष्टान्त देना शुरू किया। उसने कहा कि सोवियत प्रतिनिधि का यह कथन सत्य नहीं है कि सोवियत प्रदेश पर ऐसी उड़ानें निरन्तर करते रहना अमरीकी सरकार की नीति है। राष्ट्रपति आइसनहावर ने यह आश्वासन दे दिया है कि ऐसी उड़ानें बन्द कर दी गयी हैं। सुरक्षा-परिषद् में प्रस्ताव पर खूब गरमागरम और नाटकीय ढंग[1] से बहस हुई। लेकिन अन्त में प्रस्ताव रद्द हो गया। इसके पक्ष में केवल रूस और पोलैंड के वोट आये।

इस बीच ख्रुश्चेव ने अपने भाषणों और वक्तव्यों से अमेरिका पर प्रबल आक्षेप किये और भविष्य में ऐसी जासूसों के विरुद्ध राकेटों द्वारा कड़ी कार्रवाई करने की चेतावनी दी। यू २

१. अमरीकी प्रतिनिधि केबट लॉज ने बड़े ही नाटकीय ढंग से परिषद् के मेज पर एक वस्तु रखी। यह अमेरिका की सरकारी राजमुद्रा की एक काष्ट प्रतिकृति थी जिसको रूसी सरकार ने मास्को में अमरीकी राजदूत को दूतावास में लगाने के लिए भेंट की थी। इसमें अमरीकी दूतावास में होनेवाले सभी वार्तालाप को अंकित करने तथा बाहर सम्वाद भेजने के अति सूक्ष्म यन्त्र लगे हुए थे। यह मुद्रा बहुत दिनों तक दूतावास के कार्यालय में लगी रही और इससे राजदूत के वार्तालाप की सूचना सोवियत अधिकारियों को मिलती रही।

विमान पाकिस्तान, तुर्की और नार्वे में स्थित अमरीकी हवाई अड्डे से उड़ते थे। ख्रुश्चेव ने इन देशों को भी चेतावनी दी कि वे अपने यहाँ से ऐसे अड्डे हटा लें। इन देशो को उसने कहा: "आग से मत खेलिये। यदि भविष्य में कोई विमान इन देशो के अड्डो से आया तो रूस अपने प्रक्षेपणास्त्रों (missile) द्वारा उसको नष्ट कर देगा" रूस में पावर्स पर मुकदमा चला और उसे जासूसी कार्य करने के अभियोग पर दस वर्ष की सख्त सजा दी गयी।[1]

यू-२ कांड ने शीत-युद्ध में तूफान ला दिया। रूस ने इसका खूब प्रचार किया और उससे खूब लाभ उठाया। ख्रुश्चेव ने यह सिद्ध करने में कोई कसर नहीं उठायी कि रूस शान्ति का सबसे बड़ा समर्थक और अमेरिका उसका सबसे बड़ा दुश्मन है तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के लिए वही एकमात्र जिम्मेवार है। अमेरिका के सैन्य संगठन रूस पर आक्रमण करने के लिए बनाये गये हैं। यू २ विमान इन सैन्य संगठनो के देश—तुर्की एवं पाकिस्तान—से होकर आया था और इसका लक्ष्य नाटो के सदस्य-राज्य नार्वे पहुँचना था। अतएव रूस को इन देशों को चेतावनी देने का अवसर मिल गया। अब अमरीकी अड्डों को इजाजत देनेवाले देश यह अनुभव करने लगे कि यू-२ विमानो को अपने देश में ठहराना भयंकर खतरों को मोल लेना है। लेकिन यू-२ काण्ड का सर्वाधिक घातक प्रभाव पेरिस के शिखर-सम्मेलन पर पड़ा।

पेरिस का शिखर-सम्मेलन—शिखर-सम्मेलन की माँग बहुत दिनों से हो रही थी। जब सोवियत प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव अमेरिका गये तो कैम्पडेविड में राष्ट्रपति आइसनहावर से मुलाकात करने के समय यह निश्चय हुआ कि पेरिस में एक शिखर-सम्मेलन हो। इस निश्चय के बाद "शीत-युद्ध के वर्फ में पहली दरार" दीखने लगी। पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद यह निश्चय हुआ कि १६ मई, १९६० को यह सम्मेलन पेरिस में शुरू हो। इसमें अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस के शासनाध्यक्ष सम्मिलित हों, बर्लिन जर्मनी, निरस्त्रीकरण आदि जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार तथा उनके समाधान का प्रयास किया जाय।

लेकिन शिखर-सम्मेलन शुरू होने के दो सप्ताह पूर्व (१ मई) यू-२ विमानकांड हो गया। इसको लेकर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव फिर बढ़ गया। फिर भी यह सम्भावना नही प्रतीत हो रही थी कि शिखर-सम्मेलन असफल हो जायगा। ११ मई को सुप्रिम सोवियत में बोलते हुए ख्रुश्चेव ने इस आशय का आश्वासन भी दिया था। "संयुक्त राज्य अमेरिका के इस उत्तेजनापूर्ण कार्य से" ख्रुश्चेव ने कहा, "हमें अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने के प्रयत्नों में शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए। पेरिस में यू-२ का विषय नहीं उठाया जायगा।" लेकिन जब पेरिस में शिखर सम्मेलन शुरू हुआ तो ख्रुश्चेव ने यू-२ का प्रश्न उठा ही दिया। अमेरिका की जासूसी कार्रवाई की तीव्र भर्त्सना करते हुए उसने बड़े ही नाटकीय ढंग से कुछ माँगें रखी। उसने कहा कि अमेरिका को अपनी जासूसी काम की निन्दा करनी चाहिए, उसके लिए माफी माँगनी चाहिए, भविष्य में ऐसे उत्तेजनात्मक कार्य को बन्द करना चाहिए तथा इस घटना के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिए। "यदि ऐसा नहीं किया जाता," ख्रुश्चेव ने कहा, "तो सोवियत संघ शिखर-सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ वार्ता करना एकदम बेकार समझता है और वह उसमें भाग नहीं ले सकता। इस सम्मेलन को कुछ दिनों के लिए स्थगित

---

१. पीछे पावर्स को छोड़ दिया गया।

कर दिया जाय ताकि यह अमरीकी राष्ट्रपति के चुनाव के बाद जनवरी में हो सके।" ख्रुश्चेव ने राष्ट्रपति आइसनहावर को अपमानित भी किया। दगाल और मेकमिलन से तो उसने हाथ मिलाया, पर जब आइसनहावर ने हाथ बढ़ाया तो ख्रुश्चेव ने इन्कार कर दिया। आइसनहावर शिखर-सम्मेलन के बाद सोवियत रूस जानेवाले थे। सारा कार्यक्रम बन चुका था। ख्रुश्चेव ने कहा कि सोवियत रूस इस निमन्त्रण को वापस लेता है और अमरीकी राष्ट्रपति को अब रूस जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ख्रुश्चेव के इस आचरण से आइसनहावर स्तब्ध रह गया। उसने आश्वासन दिया कि यू-२ की घटना के बाद जासूसी उड़ानों को स्थगित कर दिया गया है और भविष्य में शुरू करने का कोई इरादा नहीं है। इसलिए सम्मेलन का कार्य बन्द करने के लिए इस घटना को बहाना बनाना अनुचित है। ख्रुश्चेव ने कहा कि भविष्य में इन उड़ानों को शुरू करने का इरादा हो या नहीं, यदि फिर कोई जासूसी विमान आया तो उसकी भी वही दुर्गति होगी जो यू-२ का हुआ है। उसको आइसनहावर के आश्वासन से सन्तोष नहीं हुआ और अपनी मांगों पर वह डटा रहा। दगाल और मैकमिलन ने गतिरोध को दूर करने का यत्न किया, पर वे विफल रहे। सम्मेलन के दूसरे सत्र में ख्रुश्चेव नहीं आया इसलिए सम्मेलन की कार्यवाही बन्द कर देनी पड़ी।

शिखर-सम्मेलन की असफलता शीत-युद्ध के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसके लिए दोनों पक्षों ने एक दूसरे को दोषी ठहराया। ख्रुश्चेव सम्मेलन में एक ऐसे आक्रामक देश के राष्ट्रपति के साथ बातचीत करने को तैयार न था जिसने अपना अपराध ही स्वीकार नहीं किया था। दूसरी ओर आइसनहावर का कहना था कि ख्रुश्चेव ने जान-बूझकर तोल का ताड़ बनाया है। अमेरिका ने जासूसी उड़ानों को बन्द कर देने का आश्वासन दे दिया है। इस पर भी यदि सोवियत प्रधान मन्त्री नहीं मानते हैं तो इसकी असफलता का सारा उत्तरदायित्व उन पर है। सोवियत प्रधान मंत्री का व्यवहार, आइसनहावर का कहना था, यह व्यक्त करता है कि वे मास्को से पेरिस केवल सम्मेलन को विफल बनाने के लिए आये थे।

शिखर-सम्मेलन की असफलता से सारे संसार में गहरी निराशा छा गयी। जो लोग सोचते थे कि शीत-युद्ध का अन्त हो जायगा उनकी आशा पर पानी फिर गया। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव फिर से बढ़ गया। अपराधी ने तो अपना अपराध स्वीकार नहीं किया और वह हँसते-गाते वाशिंगटन वापस लौट आया, लेकिन पेरिस की घटना से ख्रुश्चेव को ग्लानि अवश्य हुई। अतएव कुछ दिनों के बाद उसे कहना पड़ा कि "रूस अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बिगाड़ने का कोई कार्य नहीं करेगा।" १० नवम्बर, १९६० को ख्रुश्चेव का एक और महत्त्वपूर्ण वक्तव्य हुआ। उसमें उसने कहा: "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सब प्रकार के तनाव उत्पन्न होते हैं, किन्तु समय बीतने के साथ ऐसे सम्बन्धों की कटुता दूर हो जाती है। इसकी परवाह न कीजिए कि समुद्र कितना तूफानी है। तूफानी के बाद हमेशा शान्ति आती है। यही अन्ततः यू-२ विमान की घटना के सम्बन्ध में होगा। इसकी जासूसी उड़ान एक शत्रुतापूर्ण कार्य था, किन्तु कुछ समय बाद यह तूफान भी शान्त हो जायगा।"

इसके बाद संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का चुनाव हुआ और इनमें जॉन फिट्जेरल्ड कैनेडी निर्वाचित हुए। नये राष्ट्रपति से यह आशा की जाने लगी कि वह शीत-युद्ध में कमी करने के लिए अवश्य ही प्रयास करेगा। बधाई देते हुए ख्रुश्चेव ने ऐसी ही आशा व्यक्त की थी

और केनेडी ने एक अत्यन्त ही आशावादी जवाब दिया था। लेकिन नया राष्ट्रपति पुराने से एक कदम आगे बढ़ गया। क्यूबा में उसकी जो करतूतें हुई उससे यही निष्कर्ष निकाला सकता है कि अमेरिका की नीति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। नया प्रशासन भी शीत-युद्ध का उतना ही बड़ा समर्थक बना रहा।

क्यूबा की घटना—१९५८ में क्यूबा में डा० फिडेल कैस्ट्रो के नेतृत्व में एक क्रांतिकारी जनवादी सरकार की स्थापना हुई। इस घटना ने शीत-युद्ध के इतिहास में एक नया अध्याय खोला। वर्षों से क्यूबा संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्राज्यवाद का घोर शिकार बना हुआ था उसके आर्थिक जीवन पर अमरीकी पूँजीपतियों का एकाधिकार था। कैस्ट्रो के हाथ में क्यूबा की सत्ता आने के बाद इस स्थिति में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी हो गया। समाजवादी व्यवस्था में विश्वास करनेवाला यह क्रान्तिकारी व्यक्ति संयुक्त राज्य के डालर साम्राज्यवाद का घोर विरोधी था। उसने तुरत ही अपने देश के आर्थिक साधनों का राष्ट्रीयकरण करना शुरू किया। इससे सर्वाधिक घाटा संयुक्त राज्य के उन पूँजीपतियों को पहुँचा जो अमेरिका के प्रशासन पर प्रभाव रखते थे। तत्कालीन विदेश सचिव जॉन फास्टर डलेस का भी क्यूबा में अपना व्यक्तिगत आर्थिक स्वार्थ था। अतएव संयुक्त राज्य के नीति-निर्धारकों के क्षेत्र में खलबली का मचना स्वाभाविक था।

कैस्ट्रो ने अपने देश में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना शुरू कर दी। साथ ही कम्युनिस्ट गुट के साथ भी उनका सम्बन्ध निरन्तर बढ़ने लगा। सोवियत संघ के साथ उसका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध कायम हुआ। कैस्ट्रो के समाजवादी प्रयत्नों से चिढ़कर संयुक्त राज्य अमेरिका उसका बहिष्कार करने लगा और उसके प्रभाव में आकर अन्य अमरीकी गणराज्य भी क्यूबा के साथ अछूत-सा व्यवहार करने लगे। उसे "अमरीकी राज्यों के संगठन" से निकाल दिया गया। इस हालत में क्यूबा अधिकाधिक मात्रा में सोवियत संघ के मैत्री और सद्भावना पर आश्रित होने लगा। उधर संयुक्त राज्य के लिए यह बड़ी चिन्ता का विषय बन रही थी। अमरीकी महाद्वीप के बीच में लाल झण्डा फहराये यह कैसे सह्य हो सकता था। "स्वस्थ अमरीकी शरीर में क्यूबा एक कोढ़" माना जाने लगा। इस हालत में संयुक्त राज्य कैस्ट्रो की सरकार को उलट कर उसकी जगह पर कुछ पिछलगुओं एवं प्रतिक्रियावादियों की सरकार कायम करने का षड्यन्त्र करने लगा। विदेश-नीति के क्षेत्र में राष्ट्रपति कैनेडी का यह दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य था।

क्यूबा में जब कैस्ट्रो की सरकार कायम हुई तो उस समय कुछ क्यूबन भागकर संयुक्त राज्य चले गये। इन्हीं शरणार्थियों के नाम पर संयुक्त राज्य में एक "क्यूबा मुक्ति सेना" संगठित की जाने लगी। लेकिन वास्तव में इस "सेना" के सैनिक संयुक्त राज्य के सैनिक थे। इस सेना द्वारा क्यूबा पर आक्रमण करने की तैयारी होने लगी। क्यूबा का अपराध था समाजवादी व्यवस्था को अपनाना तथा सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध बढ़ाना। १९६१ के अप्रिल में क्यूबा पर आक्रमण करने की जब पूरी तैयारी हो गयी तो १७ तारीख को तथाकथित क्यूबा निवासियों ने एक अस्थायी सरकार कायम कर सैनिक आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। सोवियत रूस की सरकार ने इस आक्रमण के पीछे संयुक्त राज्य अमेरिका का हाथ बतलाया। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस आरोप को स्वीकार नहीं किया। इस पर सोवियत संघ ने धमकी दी कि यदि क्यूबा पर

बहुत बड़े पैमाने पर आक्रमण हुआ तो सोवियत संघ चुपचाप नहीं बैठा रहेगा। सारी दुनिया में संयुक्त राज्य अमेरिका की इस कार्रवाई की निन्दा की गयी। इस कारण क्यूबा में अमेरिका का षड्यन्त्र पूरा नहीं हो सका और आक्रमणकारियों को कैस्ट्रो सरकार की सेना ने बुरी तरह पराजित कर दिया। यह राष्ट्रपति कैनेडी की बहुत बड़ी पराजय और कैस्ट्रो की बहुत बड़ी विजय थी। आक्रमण में भाग लेने वाले बहुतेरे अमरीकी पकड़ लिये गये और जब कैस्ट्रो ने संयुक्त राज्य से युद्ध का हरजाना वसूल लिया तभी इन कैदियों को मुक्त किया गया।

अमेरिका की इस कार्रवाई के परिणामस्वरूप क्यूबा और सोवियत संघ का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ होने लगा। कैस्ट्रो की सरकार को सोवियत संघ से बड़ी मात्रा में आर्थिक और सैनिक सहायता मिलने लगी। क्यूबा के वायुयान चालक रूसी मीग विमान को चलाने की प्रशिक्षण चेकोस्लोवाकिया में पाने लगे। अमरीकी महादेश में अपना एक समर्थक पा लेना समाजवादी जगत् का एक बहुत बड़ी सफलता थी। इसीलिए क्यूबा अमेरिका की आँखों का काँटा बन रहा था।

अक्टूबर, १९६२ में क्यूबा की समस्या ने अत्यन्त ही गम्भीर रूप धारण कर लिया। रूस ने वहाँ नये-नये सैनिक अड्डे कायम कर लिये थे। इन अड्डों में राकेट प्रक्षेपास्त्र (rocket missile) रखे जाने लगे। संयुक्त राज्य अमेरिका ने कहा कि वह इस स्थिति को किसी हालत में कबूल नहीं कर सकता कि रूस के आक्रामक हथियार अमेरिका के इतने नजदीक रखे जायँ। राष्ट्रपति कैनेडी ने इसका कड़ा विरोध किया और कुछ ऐसा कदम उठाया जिससे विश्व-शान्ति पर खतरा उपस्थित हो गया। शीत-युद्ध अपनी चरम सीमा पर आ गया।

२२ अक्टूबर, १९६२ को राष्ट्रपति कैनेडी ने क्यूबा के नाकेबन्दी (blockade) की घोषणा की। अमरीकी नौ-सेना को आदेश दिया गया कि वह ऐसे सभी जहाजों को जो आक्रामक हथियार लादकर क्यूबा जा रहे हों उनको रोका जाय ताकि वे क्यूबा नहीं पहुँच सकें। इसी समय सोवियत संघ के कुछ जहाज क्यूबा जा रहे थे। अब प्रश्न यह था कि सोवियत जहाजों को अमरीकी नौ-सेना रोकेगा, सोवियत संघ इसका विरोध करेगा और जब अमेरिका नहीं मानेगा तो दोनों महान् शक्तियों में युद्ध शुरू जायगा जिसका मतलब था—तृतीय विश्व-युद्ध। लेकिन यह एक सन्देहजनक बात है कि राष्ट्रपति कैनेडी विश्व-युद्ध की जोखिम मोल लेने को तैयार थे। उनका इरादा सम्भवतः क्यूबा से कस्ट्रो-शासन का अन्त करना था। लेकिन उनकी कार्रवाई से सोवियत-संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच प्रत्यक्ष तनाव तो उत्पन्न हो ही गया।

संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव यू-थान्त ने देखा कि स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी है और इससे युद्ध छिड़ सकता है। अतएव उन्होंने एक सुझाव रखा कि एक निश्चित काल तक अमेरिका नाकेबन्दी को लागू नहीं करे और इस काल में सोवियत संघ कैरेबियन समुद्र में अपना जहाज न भेजे तथा इस बीच में बातचीत करके इस समस्या के समाधान का प्रयत्न किया जाय। ख्रुश्चेव ने क्यूबा समस्या पर विचार करने के लिए शिखर-सम्मेलन की माँग की। लेकिन राष्ट्रपति कैनेडी "अभी या कभी नहीं" पर तुले हुए थे। उन्होंने इन दोनों सुझावों को नामंजूर कर दिया। विश्व युद्ध के काले बादल मँडराने लगे।

खुश्चेव शीत युद्ध की इस राजनीति को भली-भाँति समझ रहा था। विश्व-युद्ध का तो उसे भय नहीं था, लेकिन इस संकट से क्यूबा की कैस्ट्रो-सरकार का अन्त अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा था। अतएव काफी सोच-समझकर वह क्यूबा में स्थित सभी सोवियत अड्डों को हटा लेने पर राजी हो गये। यह तय हुआ कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख में सारे सोवियत यन्त्र क्यूबा से हटा लिये जायेंगे।

क्यूबा की यह घटना शीत-युद्ध के इतिहास में सोवियत संघ की सबसे बड़ी पराजय और संयुक्त राज्य अमेरिका की सबसे बड़ी सफलता मानी जाती है। यह कहा जाता है कि सोवियत संघ को अमेरिका ने चुनौती दी लेकिन रूस युद्ध के डर से दबकर पीछे हट गया। ऊपर से देखने से तो ऐसा ही प्रतीत होता है। लेकिन कुछ लोग इस घटना को अमेरिका की विजय नहीं मानते। उनका कहना है कि १९६२ के क्यूबा-संकट में असल प्रश्न विश्व-युद्ध का नहीं वरन् कैस्ट्रो सरकार के कायम रहने का था और खुश्चेव ने क्यूबा से सैनिक अड्डा हटाकर कैस्ट्रो सरकार का पतन से बचा लिया। इस दृष्टि से वास्तविक विजय सोवियत संघ की हुई। इस तर्क में कुछ तथ्य अवश्य है। कहा जाता है कि जब सोवियत संघ ने अड्डे हटाने की बात मान ली तो वाशिंगटन की सरकारी हलकों में घोर निराशा छा गयी थी। यह निराशा इसलिए हुई की अमेरिका की मनोकामना पूरी नहीं हो सकी।

शीत-युद्ध में शिथिलता

क्यूबा-संकट के बाद शीत-युद्ध में कुछ शिथिलता आयी और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में बहुत सुधार हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ दोनों ने अनुभव किया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तनावपूर्ण वातावरण बनाये रखना व्यर्थ है और कैनेडी और खुश्चेव दोनों ने पारस्परिक सम्बन्ध में सुधार के लिए कई सराहनीय कार्य किये। क्रेमलिन तथा ह्वाइट हाउस दोनों के बीच सीधा सम्पर्क कायम करने के लिए सीधा टेलिफोन की लाइन (hot line) की व्यवस्था की गयी ताकि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संकट के समय दोनों देशों के शासनाध्यक्ष प्रत्यक्ष वार्ता कर सकें। इस नये वातावरण में निरस्त्रीकरण की दिशा में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। २५ जुलाई, १९६३ को अमेरिका, ब्रिटेन और सोवियत संघ के मध्य वायुमंडल के बाह्य अन्तरिक्ष तथा समुद्र में अणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगानेवाली एक संधि हुई। १९५५ की आस्ट्रिया की शान्ति-संधि के बाद पूर्व और पश्चिम का यह सबसे बड़ा समझौता था। संधि पर हस्ताक्षर करते समय यह घोषणा की गयी कि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव घटाने तथा शान्ति को सुदृढ़ करने की दिशा में यह पहला बड़ा पग है।

रूस-चीन के सैद्धान्तिक विवाद का शीत-युद्ध पर प्रभाव-रूस और चीन के मध्य सैद्धान्तिक विवाद के कारण भी शीत-युद्ध में शिथिलता आयी है। क्यूबा सकट के समय ख्रुश्चेव ने जो संयम से काम लिया था। यह इस बात का प्रमाण था कि सोवियत संघ शीत-युद्ध की राजनीति में विश्वास नहीं करता और विश्व-शान्ति को कायम रखने के लिए वह बहुत कुछ त्याग कर सकता है। नहीं तो, यदि ख्रुश्चेव डट जाता तो तृतीय विश्व-युद्ध को रोकना असम्भव था। सारे संसार में ख्रुश्चेव ने अपनी शांतिपूर्ण सहजीवन की नीति की नेकनियती का साबित कर दिया। इन्हें संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी पीछे चलकर बड़े संयम से काम लिया। क्यूबा में अमरीकी माँगों को

रूस द्वारा स्वीकार कर लेने का अर्थ रूस की पराजय नहीं लगाया गया। राष्ट्रपति केनेडी ने खु्श्चेव की बड़ी तारीफ की और उसे संसार का महान् राजनेता कहा। निःसन्देह यह शीत-युद्ध की भाषा नहीं थी।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत हुआ कि दोनों देशों की नीति में कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। सोवियत संघ की नीति में तो अवश्य ही परिवर्तन हो चुका था। खु्श्चेव के नेतृत्व में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी स्टालिनवादी नीति को छोड़कर राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण सह-जीवन की नीति अपना रही थी। खु्श्चेव का कहना था कि विश्व में समाजवाद का प्रचार युद्ध के द्वारा नहीं हो सकता। युद्ध होने पर सारे संसार का विनाश हो जायगा। "लेकिन हमने एक नयी दुनिया—समाजवादी दुनिया बसायी है और हम शान्तिपूर्ण वातावरण में इसका पूर्ण उपभोग करना चाहते है।" अतएव पूँजीवाद के साथ खु्श्चेव शांतिपूर्ण प्रतिद्वन्द्विता चाहता था। उसका अटल विश्वास था कि साम्यवादी व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था से करोड़ गुना श्रेष्ठ है और अन्त में इसकी विजय निश्चित है। इस विजय को शान्तिपूर्वक हासिल किया जा सकता है।

साम्यवादी दुनिया में ठीक इसके विपरीत एक दूसरी विचारधारा थी जिसका नेतृत्व चीन की कम्युनिस्ट पार्टी करती है। चीन के कम्युनिस्टों का कहना है कि पूँजीवाद के साथ समाजवाद का अस्तित्व एक बेतुकी बात है। देवता और दानव एक साथ अगल-बगल में नहीं रह सकते। दानव रूपी पूँजीवाद का विनाश करना प्रत्येक कम्युनिस्ट का परम पुनीत कर्त्तव्य है। शान्तिपूर्ण सहजीवन की बात करने वाले असल मार्क्सवादी नहीं हो सकते।

इस प्रकार, साम्यवादी दुनिया में भयंकर सैद्धांतिक मतभेद (*ideological differences*) उत्पन्न हो गया और दोनों विचारधाराओं में जमकर संघर्ष शुरू हुआ। इसको लेकर सोवियत संघ और जनवादी चीन का सम्बन्ध बहुत खराब हो गया। सोवियत संघ की पार्टी में भी इस प्रश्न पर मतभेद था। वहाँ अभी भी कुछ ऐसे व्यक्ति थे जिनको स्टालिनवादी कहा जाता था और वे खु्श्चेव की नीति के प्रबल विरोधी थे। कहा जाता है कि क्रेमलिन में स्टालिनवादियों और खु्श्चेववादियों में निरन्तर संघर्ष चल रहा था। स्टालिनवादी इस ताक में लगे हुए थे कि मौका पाकर खु्श्चेव के तख्ता को उलट दिया जाय।

कम्युनिस्ट दुनिया के इस संघर्ष का प्रभाव शीत-युद्ध पर पड़ा। पश्चिमी गुट के देश इस हालत में तो ऐसा काम करना नहीं चाहते जिसमें खु्श्चेव की पराजय और बदनामी हो, और उसे लाभ उठाकर क्रेमलिन में स्टालिनवादी सत्तारूढ़ हो जायँ। खु्श्चेव के बने रहने से अमेरिका को कुछ लाभ दीखता हो या नहीं, पर अमरीकी गुट के अन्य प्रमुख देश, जिनका कल्याण शान्ति बने रहने में ही है, अवश्य ही खु्श्चेव की शान्तिपूर्ण सहजीवन की नीति से प्रभावित थे। अतएव संयुक्त राज्य पर उनका दबाव था कि वह कोई ऐसा उत्तेजनात्मक कार्य न करे जिससे खु्श्चेव की बदनामी हो, और उसका पलड़ा कमजोर पड़ जाय। पश्चिमी गुट समझता था कि उसका हित इसी में है कि सोवियत-संघ और जनवादी चीन का मतभेद और गहरा हो। चीन की आक्रामक नीति से सब के सब त्रस्त थे। इस हालत में चीन को संसार में अकेला करने में उनका भी हित निहित था। इस नये तथ्य के सामने आने से अब इस बात की चर्चा चल पड़ी कि एक ऐसा दिन भी आ सकता है जब चीन के विरुद्ध अमेरिका और सोवियत रूस का एक सयुक्त

मोर्चा बने ।[1] ख्रुश्चेव के पतन के बाद भी रूस और चीन के मतभेदों का अन्त नहीं हुआ इस कारण, अर्थात् रूस और चीन के सैद्धान्तिक मतभेद के कारण, शीत-युद्ध में कुछ शिथिलता आ गयी इसमें कोई सन्देह नहीं। अब देखना है कि यह स्थिति कबतक कायम रहती है।

इस प्रकार ख्रुश्चेव और कैनेडी दोनों के प्रयत्नों तथा नयी परिस्थिति के फलस्वरूप शीत-युद्ध में कुछ शिथिलता आयी और शान्तिप्रिय देशों की जनता यह अनुभव करने लगी कि वे दोनों महान् नेता संसार में शीघ्र ही विश्वास और शान्ति का वातावरण प्रस्तुत कर देंगे। क्यूबा की घटना के बाद राष्ट्रपति कैनेडी ने अधिक संयम से काम लिया और ऐसी किसी उग्र नीति का अवलम्बन नहीं किया जिससे शीत-युद्ध पुनः प्रारम्भ हो जाय। सम्भवतः अमरीकी प्रशासन रूस और चीन के झगड़े का परिणाम देखने के लिए उत्सुक था और इसके बाद ही वह इस सम्बन्ध में कोई फैसला करना चाहता था। इस तथ्य के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि राष्ट्रपति कैनेडी एक उदारवादी प्रवृत्ति के नेता थे और शीत-युद्ध को रोकने के लिए पक्षपाती थे। लेकिन दुर्भाग्यवश २३ नवम्बर, १९६३ को अमेरिका के प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के षड्यन्त्र के फलस्वरूप डालास नगर में उनकी हत्या कर दी गयी। इसके लगभग एक वर्ष बाद १५ अक्टूबर, १९६४ को रूस की कम्युनिस्ट पार्टी ने ख्रुश्चेव को प्रधान मन्त्री के पद से मुक्त कर दिया।

१९६४ के बाद शीत-युद्ध—कैनेडी के मृत्यु के बाद उपराष्ट्रपति लिंडन जॉनसन ने संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति का पद सम्हाला। नये राष्ट्रपति ने आश्वासन दिया कि वे भूतपूर्व राष्ट्रपति की नीतियों को ही कार्यान्वित करेंगे और शीत-युद्ध को फैलाने की कोई चेष्टा नहीं करेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रपति जॉनसन ने अपने शासन का प्रारम्भिक दिनों में अपने दिये गये वचनों का पालन किया और अमेरिका की ओर से तत्काल कोई कार्रवाई नहीं की गयी जिसके आधार पर यह कहा जाय कि अमरीकी प्रशासन शीत-युद्ध के फैलाव के लिए चेष्टा कर रहा हो।

उधर ख्रुश्चेव के पतन के बाद अक्टूबर १९६४ में सोवियत संघ का नेतृत्व दो व्यक्तियों-कोसिजिन और ब्रेजनेव के हाथों में आया। इस क्षेत्र में बहुत-से क्षेत्रों में आशंका हुई कि सोवियत संघ का नया नेतृत्व स्टालिनवादी होगा और इसलिए सोवियत संघ की विदेश-नीति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आयगा। लेकिन यह आशंका शीघ्र ही जाती रही। सोवियत संघ के नेताओं ने तुरत ही यह घोषणा की कि वे भूतपूर्व प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव की विदेश-नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं करेंगे। उन्होंने कहा कि सोवियत संघ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त में विश्वास करता रहेगा, निरस्त्रीकरण के लिए प्रयास करेगा तथा शीत-युद्ध में तीव्रता नहीं आने देगा।

कैनेडी और ख्रुश्चेव के उत्तराधिकारियों ने यद्यपि उन्हीं की नीतियों का अनुसरण करते हुए शीत-युद्ध को शिथिल करने का आश्वासन दिया, लेकिन दुर्भाग्यवश कई कारणों से ऐसा नहीं हो सका और संसार को इससे पूर्ण मुक्ति नहीं मिल सकी। इसके लिए अमरीकी प्रशासन की जिम्मेवारी सबसे अधिक है जिसने वियतनाम की राजनीति में जबरदस्ती हस्तक्षेप करके शीत-युद्ध के दबते हुई आग को खोदकर भड़काने का प्रयास किया है। राष्ट्रपति-पद को सम्हालने के कुछ दिनों के बाद जॉनसन ने वियतनाम के प्रति एक अति उग्र और आक्रामक नीति का

1. S. M. : International [illegible] *Times*, p. 63.

अवलम्बन किया। उत्तरी वियतनाम की सीमा में बार-बार घुसकर अमेरिका के वायुयानों ने बम बरसाना शुरू किया और वियतनाम युद्ध को अधिकाधिक फैलाने की कोशिश की गयी। सोवियत संघ ने अमेरिका के इस आक्रामक कार्रवाई का बड़ा कड़ा विरोध किया और इस समस्या को लेकर दोनों के बीच शीत-युद्ध पुनः शुरू हुआ।

वियतनाम-युद्ध के अलावे समय-समय पर अनेक अन्य घटनाएँ भी घटीं जिनसे शीत-युद्ध में उतार-चढ़ाव चलता रहा। १९६४ में रूस द्वारा कांगो आदि में संयुक्त राष्ट्र के शान्ति-स्थापक कार्यों के व्यय के अपने अंश की अदायगी से इन्कार करने और अमेरिका की इस मांग ने कि यदि रूस अपना अंश अदा नहीं करे तो चार्टर के अनुसार उसे साधारण सभा में मताधिकार से वंचित कर दिया जाय, शीत-युद्ध को अत्यधिक उग्र करके एक बड़ी संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर दी। इस प्रश्न पर अमेरिका और सोवियत संघ दोनों ने बड़ा कड़ा रुख अपनाया और ऐसा प्रतीत हुआ कि इनके विवाद के चलते विश्व-संस्था टूट जायगा। लेकिन बाद में इस समस्या का एक सर्वमान्य समाधान निकल आया और इस प्रकार शीत युद्ध का एक अध्याय समाप्त हुआ।

अरब-इजरायल संघर्ष और शीत-युद्ध—मई, १९६७ में अरब-इजरायल सम्बन्ध मे पुनः तनाव आया और पश्चिम एशिया में युद्ध की स्थिति पैदा हो गयी। सोवियत संघ ने इजरायल के विरुद्ध अरब राज्यों का पक्ष लिया और अमेरिका पर यह आरोप लगाया कि वह इजरायल को आक्रामक कार्रवाई के लिए प्रोत्साहित कर रहा है। इसके जवाब में अमेरिका ने तनाव की वृद्धि के लिए सोवियत कूटनीति को दोषी ठहराया। जब राष्ट्रपति नासिर ने अकाबा की खाड़ी की नाकेबन्दी की घोषणा की तो अमेरिका और ब्रिटेन ने इसे गलत बताया। सोवियत संघ ने अरब राज्यों का पुनः जोरदार शब्दों में समर्थन किया। उसने पश्चिमी राष्ट्रों को चेतावनी दी कि वे पश्चिम एशिया की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करें। इस प्रकार पश्चिम एशिया के संकट को लेकर दोनों देशों के बीच तनाव बहुत बढ़ गया और दोनों के जहाजी बेड़े भूमध्यसागर में चक्कर काटने लगे। स्थिति बड़ी नाजुक हो गयी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के बीच इजरायल और अरब जगत् की आड़ में सीधी टक्कर हो जायगी।

अरब इजरायल संघर्ष के समय शीत युद्ध का यह अनोखा नाटक सुरक्षा-परिषद् की प्रत्येक बैठकों में देखने को मिला जहाँ अमेरिका और सोवियत संघ एक दूसरे पर आरोप तथा प्रत्यारोप करते रहे और एक दूसरे को अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि तथा पश्चिम एशिया में युद्ध के विस्फोट के लिए जिम्मेवार ठहराते रहे।

अरब-इजरायल युद्ध का परिणाम सोवियत संघ के मनोनुकूल नहीं हो सका। उसके जबरदस्त समर्थन के बावजूद अरब राज्य इजरायल से युद्ध में बुरी तरह पराजित हुए। इजरायल को अमेरिका और ब्रिटेन दोनों से प्रत्यक्ष और परोक्ष सहायता मिली थी, लेकिन सोवियत संघ ने अरबों को युद्ध में कोई सक्रिय सहायता नहीं की। इस कारण अरब जगत् तथा अन्य क्षेत्रों में सोवियत नीति और इरादों का गलत अर्थ लगाया जाने लगा और सोवियत संघ को बदनाम करने की कोशिश की गयी। सोवियत संघ पर यह आक्षेप किया गया कि कोई मित्र-राज्य उस पर भरोसा नहीं कर सकता है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए सोवियत संघ ने अरब जगत् में अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए अरब राज्यों का पक्ष लेते हुए यह मांग की कि

अरब-इजरायल संघर्ष का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में पेश किया जाय। शुरू में अमेरिका ने इस प्रस्ताव का विरोध किया लेकिन बाद में वह राजी हो गया और १८ जून, १९६७ को अरब-इजरायल संघर्ष से उत्पन्न विवाद साधारण सभा में पेश हुआ। सोवियत प्रधानमन्त्री कोसिजिन स्वयं इस आपात्कालीन अधिवेशन में भाग लेने के लिए न्यूयार्क पहुँचे। कोसिजिन ने साधारण सभा में स्वयं एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। यह प्रस्ताव अरब भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका और इसके सहयोगी राज्य इसको मानने के लिए तैयार नहीं थे। अतः १९ जून की बैठक में सोवियत प्रतिनिधिमण्डल ने सभा से वाकआउट करके अपने रोष का परिचय दिया। कोसिजिन ने अमरीकी प्रशासन पर कड़वे प्रहार किये। अरब-इजरायल संघर्ष के सन्दर्भ में यह शीत-युद्ध का चरम विकास था।

ग्लासबरो का शिखर-सम्मेलन—संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा के अधिवेशन में आये हुए सोवियत प्रधान मन्त्री कोसिजिन ने राष्ट्रपति जॉनसन से ग्लासबरो में मुलाकात की। शुरू में दिली ख्वाहिश होने के बावजूद जॉनसन और कोसिजिन में से कोई भी शिखर-वार्ता के लिए उत्सुक नहीं दीखना चाहता था। पश्चिमी साम्राज्यवादियों से साँठ-गाँठ करने के चीन और अल्बेनिया के प्रकट आरोपों, टीटो जैसे नेताओं द्वारा "मुलायमियत" की शिकायत और सशंक अरब देशों की भावनाओं को देखते हुए कोसिजिन ने शुरू में ही यह बताया कि संयुक्त राष्ट्र में वह अपनी बात मनवाने आये हैं; अमेरिका से कोई लेन-देन का समझौता करने नहीं। जॉनसन की ओर से भी कुछ ऐसा ही दृष्टिकोण अपनाया गया। लेकिन एकाएक यह निश्चय हुआ कि ग्लासबरो नगर में दोनों शासनाध्यक्ष मिलें तथा वर्तमान समस्या पर विचार-विमर्श करें।

सोवियत संघ और अमेरिका के शासनाध्यक्षों का यह शिखर-सम्मेलन ग्लासबरो में २३ जून से २६ जून (१९६७) तक चला। १९६१ के जेनेवा सम्मेलन के बाद यह दोनों देशों के शासनाध्यक्षों का प्रथम सम्मेलन था। इस सम्मेलन के सम्बन्ध में संसार के समाचारपत्रों में तरह-तरह की अटकलबाजियाँ लगायी गयी। यह कहा गया कि सोवियत संघ और अमेरिका के मध्य एक गुप्त समझौता हो गया है जिसमे सोवियत संघ ने पश्चिमी एशिया में इस शर्त पर अपना रुख नरम करने का वादा किया है कि अमेरिका वियतनाम के युद्ध को सीमित कर देगा। लेकिन इस तरह की कोई बात नहीं हुई। दोनों नेताओं ने घंटों एकान्त में मन्त्रणा की। वियतनाम तथा पश्चिमी एशिया पर मुख्य रूप से वैचारिक आदान-प्रदान हुए और निरस्त्रीकरण तथा परमाणु शक्ति के विस्तार के सवाल भी अछूते नहीं रहे।

शिखर-सम्मेलन पर चीन के हाईड्रोजन बम परीक्षण का साया पड़ रहा था। चीन की उग्रवादी नीतियों और हर क्षेत्र में अन्तर्विरोधों का फायदा उठाकर मतभेदों की दरार में अपनी टांग अड़ाने की कोशिशें दोनों महती शक्तियों को समय-समय पर असमंजस में डालकर एक दूसरे के नजदीक लाती रही हैं। ग्लासबरो में निश्चय ही कोई सौदेबाजी नहीं हुई, लेकिन इस सम्मेलन के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी अवश्य आयी। महती शक्तियों के बीच पश्चिमएशिया के सम्बन्ध मे सहमति का दायरा बढ़ता दिखायी पड़ा। इस शिखर-सम्मेलन के बाद शीत-युद्ध की उग्रता में कमी अवश्य आयी और दोनों देश कुछ अधिक संयम से भाषा का प्रयोग करने लगे।

वियतनाम युद्ध—पश्चिम एशिया के संकट के अतिरिक्त १६६७ ६८ में वियतनाम के प्रश्न ने शीत-युद्ध में अग्नि का काम किया है। वियतनाम में चलनेवाला संघर्ष शीत-युद्ध में उत्तरोत्तर वृद्धि करता गया। इस प्रश्न को लेकर पश्चिम और पूर्व एक-दूसरे पर आरोपों पर प्रत्यारोपों की झड़ी लगाते रहे और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि होती रही है। लेकिन अप्रिल १६६८ में राष्ट्रपति जॉनसन द्वारा पुनः अमरीकी राष्ट्रपति के लिए उम्मीदवार न होने तथा उत्तरी वियतनाम पर बमबारी रोकने की घोषणा से तनाव में बहुत कमी आयी। वियतनाम में शान्ति-समझौता के लिए वार्ताएँ हो रही हैं और यदि यह सफल हुआ तो सम्भव है कि शीत-युद्ध का एक और महान् कारण लुप्त हो जाय।

मार्च १६६६ का बर्लिन संकट—शीत-युद्ध के इतिहास में एक उभार तब आया जब पश्चिम जर्मनी की सरकार ने निश्चय किया कि ५ मार्च, १६६६ को फेडरल जर्मनी के राष्ट्रपति का चुनाव पश्चिम बर्लिन में सम्पन्न किया जाय। पूर्वी जर्मनी की सरकार ने इसका विरोध किया। उसका कहना था कि पश्चिम बर्लिन अब भी १९४५ के पोट्सडाम समझौते के अधीन है। इसलिए पश्चिम जर्मनी के शासकों को इस तरह के समारोह करके उसे पश्चिम जर्मनी का ही एक भाग सिद्ध करने का कोई अधिकार नहीं है। पूर्वी जर्मनी का यह भी कहना था कि पश्चिम जर्मनी के राष्ट्रपति के चुनाव बर्लिन में कराने का निर्णय पूर्वी जर्मनी के दावे के खंडन के लिए किया गया है।

अतएव पूर्वी जर्मनी की सरकार ने पश्चिम बर्लिन जाने वाले मार्गों पर प्रतिबन्ध लगा दिया ताकि राष्ट्रपति के चुनाव में हिस्सा लेनेवाला निर्वाचक मंडल बर्लिन नहीं पहुँच सके। पूर्व जर्मनी के इस प्रतिबन्ध की प्रतिक्रिया पश्चिम जर्मनी पर यह हुई कि पश्चिम बर्लिन में ही यह चुनाव कराने का उसका निश्चय और भी दृढ़ हो गया। हवाई यातायात चूँकि इस प्रतिबन्ध से मुक्त है, इसलिए चुनाव मंडल के अधिकांश सदस्य और उनके लगभग तीन सौ कर्मचारियों को पूर्व जर्मनी के ११० मील के प्रवेश पर से उड़ान करके पश्चिम बर्लिन पहुँचाने का निश्चय किया गया। पश्चिम जर्मनी की इस कार्यवाही को पश्चिमी राष्ट्रों का पूरा-पूरा समर्थन प्राप्त था। बताया जाता है कि पश्चिम बर्लिन में राष्ट्रपति चुनाव कराने के निर्णय से पहले बॉन की सरकार ने अपने पश्चिमी मित्र देशों से अच्छी तरह सलाह-मशविरा कर लिया था, क्योंकि पश्चिम बर्लिन की रक्षा की जिम्मेवारी अन्ततः उन्हीं पर है।

पूर्वी जर्मनी के उग्र विरोध को सोवियत संघ का समर्थन मिलना स्वाभाविक ही था। अतएव सोवियत संघ की ओर से विरोध प्रकट किया गया और पश्चिम जमनी को यह चेतावनी दी गयी कि चुनाव कार्य को बर्लिन में सम्पन्न कर वह स्थिति को भड़काने का कार्य नहीं करे। सोवियत संघ के इस रुख से ऐसा प्रतीत होने लगा था कि बर्लिन को लेकर एक बार पुनः शीत-युद्ध अपने पुराने स्वरूप को धारण कर लेगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ और राष्ट्रपति के चुनाव का कार्य पश्चिम बर्लिन में ही सम्पन्न हुआ।

वस्तुतः बात यह थी कि इस प्रश्न को लेकर सोवियत संघ कोई बड़ा पूर्व-पश्चिम संकट खड़ा करने के पक्ष में नहीं था। राजनैतिक प्रेक्षकों का ख्याल था कि इस तरह के संकट को खड़ा करने से सोवियत संघ का कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं हो रहा था। उलटे अमेरिका के साथ

प्रक्षेपास्त्रों के बारे में रूस की प्रस्तावित बातचीत पर बुरा असर पड़ता। नये अमरीकी राष्ट्रपति श्री निक्सन के साथ सोवियत संघ के शिखर-सम्मेलन की जो योजना है, उस पर भी इसका विपरीत असर पड़ सकता था। अतएव इस संकट के समय सोवियत संघ ने बड़े संयम से काम लिया। पूर्व जर्मनी को खुश करने के लिए उसे विरोध प्रकट करना था; लेकिन उसने शीत-युद्ध को पुनः शुरू होने से रोक दिया। इस अवसर पर सोवियत संघ ने जो अत्यन्त संयम से काम लिया उसके मूल में एक और बात थी। बर्लिन में चुनाव सम्पन्न होने के तीन दिन पहले (२ मार्च १६६६) चीन के साथ पूर्वी एशिया में एक मामूली सैनिक झड़प हो गयी। इस घटना के कारण भी बर्लिन-संकट पर सोवियत संघ उतना अधिक ध्यान नहीं दे सका, अन्यथा शीत-युद्ध को उभाड़ने के लिए इस संकट ने एक अच्छा अवसर प्रदान किया था।

शीत-युद्ध की वर्त्तमान स्थिति—यह कहना सर्वथा गलत होगा कि शीत-युद्ध अब खत्म हो गया है लेकिन उसकी उग्रता इधर हाल के वर्षों में अवश्य घटी है। विभिन्न मतभेदों के उतार चढ़ावों के बावजूद स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् धीरे-धीरे पूर्व और पश्चिम के शीत-युद्ध की तीव्रता में निश्चित रूप से कमी आयी है। अब दोनों ही गुट यह महसूस करने लगे हैं कि बिना एक संहारक महायुद्ध के दूसरे गुट का दमन सम्भव नहीं है और यदि कोई ऐसा युद्ध हुआ तो इसमें दोनों ही गुटों का सर्वनाश हो जायगा। इस अनुभूति ने दोनों ही पक्षों को सह-अस्तित्व की अनिवार्यता में विश्वास दिला दिया है जिससे शीत-युद्ध की गर्मी बहुत हद तक शान्त होती जा रही है और एक प्रकार से उसने ठढे सह-अस्तित्व (cool co-existence) का रूप धारण कर लिया है। सोवियत संघ ने पूँजीवादी अमेरिका को मिटाने के संकल्प का परित्याग कर दिया है और अमेरिका भी सोवियत संघ पर अब विश्वास करने लगा है। इस प्रकार १६५३ के बाद के शीत-युद्ध के इतिहास के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि समय-समय पर ऐसी घटनाएँ होती रही हैं जिनसे यदा-कदा काफी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा हो जाता है, फिर भी, एडवर्ड क्रैंकशा के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि "क्यूबा के बाद ज्वार एक ही दिशा में बढ़ रहा है। वाशिंगटन के साथ एक लगातार और गुप्त कथोपकथन के साथ 'उष्ण स्थलों का एक क्रमिक शीतलीकरण' (damping down) हुआ है।"[1] इधर हाल के वर्षों से इन दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों को देखने से यह स्पष्ट लगता है कि अमेरिका और सोवियत संघ दोनों ही अपने आपसी सम्बन्ध को सुधारने में जुटे हुए हैं। परमाणु शक्ति के विस्तार पर दोनों रोक लगाना चाहते हैं। दूसरे मामलों में भी 'हॉट लाइन' का उपयोग किया जाता है। १६६७ में जब अमेरिका का एक जहाज जासूसी करता हुआ उत्तरी कोरिया की समुद्र-सीमा में पकड़ा गया तो उसकी रिहाई के लिए अमेरिका के अधिकारियों ने सब से पहले क्रेमलिन से सम्बन्ध स्थापित किया। रूसी नेताओं ने उत्तर कोरिया पर दबाव डालना उचित नहीं समझा, यह बात अलग है। उत्तर वियतनाम के बन्दरगाह हाईफाङ्ग में रूसी जहाज सैनिक साज-सामान पहुँचाते रहते हैं, लेकिन अमेरीकी नौसेना रोक टोक नहीं करती; शायद इसलिए कि सीधे छेड़खानी करके युद्ध का विस्तार अमेरिका नहीं करना चाहता। इस अलिखित समझौते या मर्यादा पालन के बावजूद दोनों पक्ष ईंट का जवाब पत्थर से विधिवत् देते रहे हैं। अमेरिका ने यदि उत्तर वियतनाम पर बमबारी करके युद्ध का विस्तार किया है तो सोवियत संघ ने भी

1. *Hindustan Times*, July 25, 1964.

उसका जवाब उत्तर वियतनाम को उन्नत अस्त्र-शस्त्र भेज कर दिया है। कहा जाता है कि रूस ने वियतनाम को ऐसे प्रक्षेपास्त्र भेजे हैं जो समुद्र तट से बीस मील की दूरी तक शत्रु के युद्धपोतों को नष्ट कर सकते हैं। यह टोंगकिन की खाड़ी में अमेरिकी विमान वाहक पोतों के लिए चेतावनी है। इस प्रकार भीतर-ही-भीतर एक दूसरे की काट चलती रहती है, लेकिन शीत-युद्ध अपना पुराना उग्र रूप धारण नहीं कर रहा है।

सैन्य सन्धियाँ और संगठन

विषय प्रवेश--द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जब संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर बना तो, उसकी ५२वीं धारा में प्रादेशिक सैन्य संगठनों (regional military alliances) को मान्यता दी गयी। उसमें कहा गया कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को स्थापित रखने के लिए ऐसे प्रादेशिक संगठनों और अभिकरणों की स्थापना की जा सकती है जो चार्टर में सन्निहित उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों से मेल खाते हों।

चार्टर की यह व्यवस्था किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं प्रतीत होती। इसके कई कारण हैं। एक तो ये शीत युद्ध के परिणाम हैं और फिर कई तरह से इन्होंने शीत युद्ध को प्रभावित करके अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को बढ़ाया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसने संयुक्त राष्ट्रसंघ के महत्त्व को ही कम कर दिया है। विश्व शान्ति कायम रखने के लिए १९१९ में ही शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया गया था और उसकी जगह पर सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया गया था। लेकिन इन सैन्य संगठनों ने शक्ति सन्तुलन के उस पुराने और असफल सिद्धान्त को फिर से एक नया जीवन प्रदान किया है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद सैन्य संगठनों की स्थापना के आन्दोलन का सूत्रपात करने का श्रेय ब्रिटिश राजनीतिज्ञ विन्सटन चर्चिल को दिया जाता है। १९४६ में अमेरिका के फुल्टन नामक नगर में इस वयोवृद्ध राजनेता का एक ऐतिहासिक भाषण हुआ जिसमें उसने लौह आवरण (iron curtain) को सीमित करने तथा कम्युनिज्म के प्रसार को रोकने के लिए हर सम्भव उपायों का अवलम्बन करने की अपील की। अमेरिका में शीत-युद्ध के महारथियों ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया। ११ जून, १९४८ को अमेरिका के सीनेट ने वैंडेनबर्ग का एक प्रस्ताव चौंसठ के विरुद्ध चार मतों से स्वीकार कर लिया जिसमें कहा गया था कि संयुक्त राज्य "निरन्तर एवं प्रभावपूर्ण आत्मनिर्भरता एवं पारस्परिक सहायता के आधार पर व्यक्तिगत एवं सामूहिक आत्मरक्षा के लिए प्रादेशिक और सामूहिक संगठनों" को क्रमिक रूप से विकसित करने का प्रयास करें।[1] फलस्वरूप, पिछले वर्षों में इस प्रकार के संगठनों और समझौतों की बाढ़ आ गयी। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव डालनेवाले कुछ प्रमुख समझौते तथा संगठन निम्नलिखित हैं —

(१) अमरीकी राज्यों का संगठन—१९४८ में कोलम्बिया के बेगोटा नगर में अमरीकी राज्यों का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुकूल अमरीकी महाद्वीपों में एक प्रादेशिक संगठन की स्थापना की गयी। इसका नाम है अमरीकी राज्यों का संगठन (Organisation of ı merican States, O. A. S.)। इस संगठन का एक विधान

1. Schuman, *International Politics* (4th Ed.), p. 489.

है जिसमें सदस्य राज्यों के अधिकार-कर्त्तव्य, विवादों के शान्तिपूर्ण हल, सामूहिक सुरक्षा तथा आर्थिक, सामाजिव और सांस्कृतिक सहयोग का उल्लेख किया गया है। कनाडा के सहित अमरीकी महाद्वीप के सभी राज्य इसके सदस्य हो सकते हैं। इस संगठन के पाँच अंग हैं—(१) **अन्तर अमरीकी सम्मेलन,** जो सगठन के सभी अंगों के स्वरूप, कार्य-संगठन, नीति तथा कार्यक्रम का निर्धारण करता है। इसकी बैठक पाँच वर्ष में एक बार होती है। (२) **विदेश मंत्रियों की बैठक,** जो आवश्यक विषयों पर विचार करती है। इसकी बैठक किसी सशस्त्र आक्रमण की स्थिति में बुलायी जा सकती है। इसकी सहायता के लिए एक परामर्शदात्री प्रतिरक्षा समिति भी होती है। (३) **परिषद्,** जिसका प्रधान कार्यालय वाशिंगटन में स्थित है। यह एक स्थायी और निरन्तर काम करनेवाली संस्था है। इस अंग का प्रधान कार्य शान्ति-सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों तथा इस संगठन के विभिन्न अंगों के कार्यों की देखभाल करना है। (४) **अखिल अमरीकी यूनियन,** जो संगठन का सचिवालय है। ५) **विशिष्ट संगठन,** जो विशिष्ट कार्यों का सम्पादन करता है।

अमरीकी राज्यों के संगठन में रीओ सन्धि (Rio Treaty) का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। पारस्परिक सहायता के इस अन्तर-अमरीकी-संघ का लक्ष्य पश्चिमी गोलार्द्ध में सैनिक आक्रमण होने अथवा शान्ति भंग का भय होने की स्थिति में सामूहिक कार्रवाई की व्यवस्था करना है। इसके द्वारा उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक के अमरीकी क्षेत्र में एक सुरक्षा क्षेत्र निश्चित किया गया है जिसपर होनेवाला कोई भी आक्रमण सब राज्यों पर आक्रमण समझा जायगा और इस सन्धि के सभी हस्ताक्षरकारी राज्य इसके प्रतिरोध में सहायता प्रदान करेगा।

ब्रुसेल्स संधि संगठन—बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स में १७ मार्च, १९४८ को ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, नीदरलैंड तथा लक्जमवर्ग ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे जिसको ब्रुसेल्स पैक्ट कहते हैं। इस सन्धि की अवधि पचास वर्ष की है। इसका उद्देश्य पश्चिमी यूरोप में सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना तथा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सहयोग को पैदा करना है। इस सन्धि की चौथी धारा में यह कहा गया है कि यदि इसपर हस्ताक्षर करने वाले किसी भी देश पर सैनिक आक्रमण होता है तो अन्य देश अपनी सम्पूर्ण सैनिक तथा अन्य सहायता आक्रमण का शिकार बने देश को प्रदान करेंगे। १९५४ में पेरिस के एक अन्य समझौते के अनुसार इस सन्धि में जर्मनी और इटली को भी शामिल कर लिया गया और अब संगठन का नया नाम पश्चिमी यूरोपीय संघ (Western European Union) रखा गया है। इस सन्धि में सम्मिलित राज्यों ने पारस्परिक परामर्श के लिए प्रत्येक देश के विदेश मन्त्रियों द्वारा निर्मित्त एक यूरोपीय परिषद् (Council of Europe) की रचना की है।

स्पष्ट है कि यह सन्धि सोवियत संघ के विरुद्ध की गयी है। जब तक जर्मनी और इटली इसमें शामिल नहीं हुए थे, तबतक यह कहा जा सकता था कि यह जर्मनी के पुनरोत्थान को रोकने के लिए किया गया है।[1] लेकिन भूतपूर्व नात्सी और फासिस्ट शक्तियों के शामिल हो जाने से इसका स्वरूप एकदम स्पष्ट हो गया है।

---

1. जर्मन आक्रमणों के विरुद्ध ४ मार्च, १९४६ को ब्रिटेन और फ्रांस के बीच पचास वर्षों के लिए एक सन्धि हुई थी, जिसको डंकर्क की सन्धि कहते है। इस सन्धि के अनुसार जर्मन आक्रमण की स्थिति में या जर्मनी द्वारा आक्रामक नीति का अनुसरण करने की स्थिति में अथवा सुरक्षा परिषद् द्वारा जर्मनी के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की स्थिति में दोनों देशों द्वारा एक दूसरे को सैनिक तथा अन्य प्रकार की सहायता देने की व्यवस्था है।

उत्तर अत्लान्तिक सन्धि संगठन—युद्धोत्तर काल के सैन्य संगठनों में उत्तर अत्लान्तिक सन्धि संगठन (North Atlantic Treaty Organisation, NATO) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। ४ अप्रिल, १९४९ को वाशिंगटन में संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा और पश्चिम यूरोप के दस राज्यों[1] ने एक बीस वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर करके 'नाटो' के संगठन का जन्म दिया। फरवरी १९५२ में यूनान और तुर्की तथा मई १९५५ में पश्चिमी जर्मनी भी इसमें शामिल हो गया। इस प्रकार नाटो की कुल सदस्य संख्या अभी पन्द्रह है। इस संगठन का उद्देश्य पश्चिमी यूरोप में रूस के तथाकथित विस्तार को रोकना है और इसको जन्म देने में दो कारणों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है—सोवियत रूस की बढ़ती हुई शक्ति तथा सम्भावित सोवियत आक्रमण के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ से पर्याप्त सुरक्षा न पा सकने की सम्भावना। इस सन्धि का रहस्य इसकी पाँचवी धारा से निहित है। यह इस प्रकार है : 'सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले पक्ष यह स्वीकार करते हैं कि यूरोप अथवा उत्तरी अमेरिका में उनमें से किसी एक या एक से अधिक पर आक्रमण उन सबके विरुद्ध आक्रमण समझा जायगा और इसलिए वे यह स्वीकार करते हैं कि यदि इस प्रकार का सशस्त्र आक्रमण होता है, तो उनमें से प्रत्येक, संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की ५१वीं धारा द्वारा प्रदत्त व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार के अनुसार कार्य करता हुआ शीघ्र ही व्यक्तिगत रूप से या अन्य पक्षों के साथ, इस प्रकार के आक्रान्त दल अथवा दलों की सहायता करने के लिए ऐसी कार्रवाई करेगा, जैसा वह आवश्यक समझेगा, जिसमें उत्तरी अत्लान्तिक क्षेत्र में सुरक्षा की पुनः स्थापना के लिए सशस्त्र शक्ति का प्रयोग भी सम्मिलित है।" सन्धि की अन्य धाराओं में सन्धिकर्त्ताओं ने आर्थिक सहयोग का तथा सशस्त्र आक्रमण के प्रतिरोध की क्षमता विकसित करने का वर्णन है।[2]

नाटो के संगठन में शीर्ष स्थान पर उत्तर अत्लान्तिक परिषद् है जिसकी वर्ष में दो या तीन बैठकें होती हैं तथा जिसमें प्रत्येक देश का विदेश मन्त्री या प्रतिरक्षा मन्त्री भाग ले सकते हैं। इसका मुख्य कार्यालय पेरिस में है। इसके सभापति प्रतिवर्ष बारी-बारी से विभिन्न देशों के मन्त्री होते हैं। नाटो के कार्य संचालन के लिए एक मुख्य सचिव और उसका सचिवालय होता है। मुख्य सचिव की नियुक्ति परिषद् करती है।

नाटो की एक सैनिक समिति है जिसके सदस्य नाटो देशों के मुख्य सैनिक अधिपति (Chief of Staff) होते हैं। इस समिति का मुख्य कार्य परिषद् को सैनिक मामलों में परामर्श देना है। १९५० में परिषद् ने पश्चिमी यूरोप की रक्षा के लिए सब देशों की एक संयुक्त सेना का निर्माण किया और इसको मित्र शक्तियों के मुख्य कार्यालय (Supreme Headquarter of Allied Powers in Europe, SHAPE) के अधीन रखा। इसके प्रथम सर्वोच्च सेनापति जेनरल आइसनहावर १९५५ में बनाये गये थे। "शेप" के अतिरिक्त नाटो की दो और कमाने

१. बेल्जियम, डेनमार्क, फ्रांस, आयरलैंड, इटली, लक्जमबर्ग, हालैंड पुर्तगाल, ब्रिटेन और नार्वे।

२. इसके अतिरिक्त १ सितम्बर, १९५१ को आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका को मिलाकर एक और सुरक्षा-सन्धि कायम हुई जिसको अन्जूस पैक्ट (Anzus Pact) कहते हैं। इसके अनुसार इन राज्यों के बीच पारस्परिक परामर्श को कायम रखने तथा प्रशान्त महासागर को शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिए विदेश मन्त्रियों की एक परिषद् की व्यवस्था की गयी है। यह सन्धि अनिश्चित काल के लिए है, किन्तु यदि कोई राज्य इस संगठन को छोड़ना चाहे तो उसे एक वर्ष की नोटिस देकर ऐसा करने का अधिकार है।

है—अटलान्टिक सागर कमान और चैनल कमान। १९५३ में नाटो की अमरीकी सेनाओं को एटम हथियारों से लैस किया गया।

नाटो के दो प्रमुख लक्ष्य हैं। एक तो यह सोवियत संघ को चेतावनी है कि यदि उसने नाटो के किसी सदस्य-राज्य पर आक्रमण किया तो हस्ताक्षर करने वाले सभी देश उसका प्रतिरोध करेंगे। इसका दूसरा लक्ष्य संयुक्त राज्य अमेरिका को हमेशा युद्ध के लिए तैयार रखना है ताकि आक्रमण होने की स्थिति में वह युद्ध में शीघ्र ही शामिल हो जाय। पिछले दो विश्व-युद्धों की तरह लड़ाई में सम्मिलित होने में वह अब देर नहीं लगायेगा। लेकिन नाटो को वास्तव में प्रादेशिक संगठन की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है क्योंकि इसमें टर्की, यूनान और इटली जैसे वे देश भी शामिल हैं जिनको अटलान्टिक क्षेत्र में शामिल नहीं किया जा सकता।

नाटो की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एकदम विषाक्त हो गया। सोवियत संघ इसको एक आक्रामक सैन्य संगठन मानता रहा और इसका प्रबल विरोध करता है। शीत-युद्ध को विस्तृत करने और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को बढ़ाने में इसने काफी हाथ बँटाया है।

नाटो संगठन के उतार-चढ़ाव

शीत-युद्ध की उग्रता में कमी और फ्रांस में राष्ट्रपति दगाल के उदय के कारण नाटो के संगठन में बहुत कमजोरी आ गयी थी और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि यह सैन्य संगठन धीरे-धीरे अब समाप्त हो जायगा। इन परिस्थितियों के कारण नाटो विघटन के कगार पर खड़ा था। लेकिन १९६७ और १९६८ में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिनके फलस्वरूप वह पुनः अपनी शक्ति संगठित करने के लिए प्रयत्नशील हो गया है।

भूमध्य सागर में रूसी जहाजों का प्रवेश—१९६७ के अरब इजरायल युद्ध के दौरान अरब राष्ट्रों के समर्थन में सोवियत संघ के बहुत से जंगी जहाज भूमध्यसागर में उतरे। फिलहाल लगभग पच्चास रूसी युद्ध पोत भूमध्यसागर में चक्कर लगा रहे हैं जब कि १९६७ के प्रारम्भ में वहाँ एक भी युद्धपोत नहीं था। इस क्षेत्र में जहाजों की शृंखला रखकर सोवियत संघ ने मध्यपूर्व पर अपना प्रभाव ऐसी निश्चयता के साथ बढ़ा लिया है जिसकी कल्पना पहले कभी नहीं की गयी थी। सोवियत संघ का ध्येय केवल यह साबित करना नहीं है कि भूमध्यसागर एक अमरीकी झील मात्र नहीं है। उसने अपने सागर-सीमाओं को मिस्र के दक्षिण और अल्जीरिया के पश्चिम तक फैला दिया है।[1]

इस प्रकार भूमध्यसागर में रूस के प्रवेश ने नाटो राज्यों के बीच सनसनी पैदा कर दी है। स्वेज पूर्व से ब्रिटिश सैनिकों की वापसी के निर्णय ने स्थिति को और भी उलझनपूर्ण बना दिया है। विशेषकर यूनान और टर्की बहुत हद तक चिन्तित हो गये हैं। यूनान ने तो बुल्गेरिया की सीमा पर से अपने कुछ सैनिक हटाकर उन्हें तटीय सुरक्षा के लिए तैनात कर

१. ब्रिटेन के वरिष्ठ प्रतिरक्षा अधिकारी अलस्तेयर बुकन के अनुसार भूमध्य सागर में सोवियत संघ की उपस्थिति का एक उद्देश्य यह लगता है कि वह हिन्द महासागर की ओर स्वेज नहर के मुँह की रक्षा कर सके। उनके अनुसार सोवियत संघ विश्व की दूसरी बड़ी नौसैनिक शक्ति है और उसने ३८८ पनडुब्बी युद्ध-पोतों को इस प्रकार फैला रखा है कि यदि यूरोप में कोई संकट पैदा होगा तो सोवियत संघ विश्व के किसी भी कोने में शत्रु को परेशान कर सकता है।

दिया है और दोनों देश अपनी नौ-सेना में सुधार के लिए अमेरिका से सहायता मांगने लगे हैं तथा नाटो को और सुदृढ़ करने की बात करने लगे हैं।

चेकोस्लोवाकिया-काण्ड की प्रतिक्रिया—अगस्त १९६८ में चेकोस्लोवाकिया में सोवियत सेनाओं के प्रवेश ने उत्तर अतलांतिक सैन्य संगठन के देशों के कान खड़े कर दिये और विघटनशील नाटो एक बार पुनः संगठित होने लगा। आज से लगभग एक वर्ष पूर्व ऐसा प्रतीत होता था कि फ्रांस के नाटो से हट जाने और ब्रिटेन, अमेरिका आदि द्वारा बड़ी संख्या में अपने सैनिकों को वापस बुला लिये जाने के बाद नाटो एक औपचारिक संगठन मात्र रह जायगा। किन्तु चेकोस्लोवाकिया में घटी घटनाओं ने पश्चिमी यूरोपीय देशों को अपनी सुरक्षा के प्रति सतर्क कर दिया। अप्रिल १९६८ में फ्रांस ने यह संकेत दे दिया था कि वह नाटो से हटने में अपने निर्णय पर पुनर्विचार कर रहा है। चेकोस्लोवाकिया-घटना के बाद जब रूसी नेताओं ने पश्चिम जर्मनी में संयुक्त घोषणा-पत्र के अन्तर्गत सैनिक हस्तक्षेप करने का अपना अधिकार जताया तो स्थिति बहुत बदल गयी। नाटो शक्तियों ने पश्चिम जर्मनी की सुरक्षा के लिए हर सम्भव कार्रवाई करने का आश्वासन दिया। फ्रांस ने घोषणा की कि वह फिलहाल नाटो में बना रहेगा। ब्रिटेन और अमेरिका ने उन सैनिक टुकड़ियों को पुनः पश्चिम जर्मनी में तैनात करने का निर्णय किया जो उन्होंने कुछ समय पहले ही सैनिक व्यय में कुछ बचत करने के उद्देश्य से वापस बुला ली थी। बेल्जियम ने घोषणा की कि वह अब तीन के स्थान पर चार डिवीजनें पश्चिम जर्मनी में तैनात करेगा, यूनान, तुर्की, इटली आदि ने भी अपनी समर-नीति में परिवर्तन करने के संकेत दिये। भूमध्यसागर में रूसी नौसैनिक बेड़े की उपस्थिति ने तुर्की और यूनान को अपनी तटीय सुरक्षा के लिए चिंतित कर दिया। साइप्रस पर मतभेद होने के बावजूद ये दोनों देश एक-दूसरे के निकट आ गये। १४ अक्टूबर को लिस्बन में नाटो समिति की एक बैठक हुई जिसमें पुर्तगाल ने जोरदार शब्दों में मांग की कि नाटो का विस्तार दक्षिण अतलांतिक तक किया जाय। इटली, जिसके पास आधुनिकतम नौसैनिक बेड़ा है, इन दिनों अपने नौसैनिक अधिकारियों को श्रेष्ठतम प्रशिक्षण देने और बेड़े को आधुनिकतम उपकरणों से सज्जित करने के लिए प्रयत्न कर रहा है। पश्चिम जर्मनी के चांसलर कीसिंगर ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि यूरोप में अमेरिका की उपस्थिति अनिवार्य है, अमेरिका ने आश्वासन दिया है कि राष्ट्रपति निक्सन की सरकार भी अपने यूरोपीय वायदे निभायगी। १४ नवम्बर, १९६८ को नाटो के प्रतिरक्षा मन्त्रियों की ब्रुसेल्स में बैठक हुई और नवीन परिस्थिति पर विचार किया गया। इसके उपरान्त अप्रिल १९६९ में वाशिंगटन में नाटो देशों के मन्त्रियों की एक दूसरी बैठक हुई। इस बैठक के समाप्त होते ही सोवियत संघ और पश्चिमी देशों के मध्य एक नया वाक् युद्ध आरम्भ हो गया। वाशिंगटन में आयोजित इस बैठक के समाप्त होते ही सोवियत संघ की एक विज्ञप्ति में नाटो सन्धि की 'आक्रामक' और 'अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-विरोधी' नीति की सख्त आलोचना की गयी है। सरकारी समाचार एजेंसी के अनुसार "इस सम्मेलन में भाग लेना ही यह सिद्ध करता है कि उसने यूरोप में युद्ध के लिए उत्तेजना पैदा करने का काम ही नहीं किया बल्कि यह स्वयं पश्चिमी यूरोप के देशों और उन की समाज परिवर्तन की इच्छा के विरुद्ध एक बाधा बन गया है"

इस प्रकार नाटो को लेकर दोनों गुटों में पुनः तनाव पैदा हो गया है।

वारसा पैक्ट---नाटो के जवाब में कम्युनिस्ट देशों को मिलाकर सोवियत संघ ने जो संगठन कायम किया है उसको वारसा पैक्ट या पूर्वी यूरोपीय सन्धि संगठन कहते हैं। शुरू में सोवियत संघ ने नाटो का घोर विरोध किया, पर जब इस विरोध का कोई परिणाम नहीं निकला तो १४ मई, १९५५ को पूर्वी यूरोप के आठ देशों—अल्बेनिया, बुल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, पोलैंड, रूमानिया और सोवियत रूस—को मिलाकर बीस वर्ष के लिए एक सन्धि की गयी। "सुरक्षा और शान्ति" के इस समझौते की भूमिका में यूरोप में सामूहिक सुरक्षा की पद्धति स्थापित करने पर बल दिया गया है और यह कहा गया है कि पश्चिमी यूरोप के संघ तथा पश्चिमी जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकरण से यह आवश्यक हो गया है कि वे अपनी सुरक्षा सुदृढ़ करें और यूरोप में शान्ति स्थापित रखें। इस पैक्ट की मुख्य
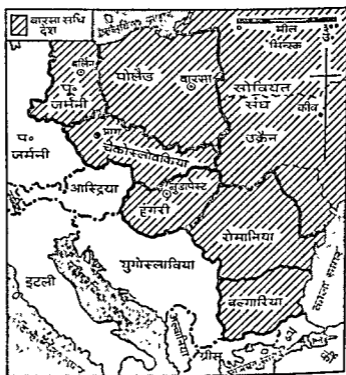
व्यवस्था इसकी तीसरी धारा में सन्निहित है। इसमें कहा गया है कि यदि सन्धि में सम्मिलित किसी सदस्य पर सशस्त्र आक्रमण होता है तो अन्य सभी देश उसकी सैनिक सहायता देंगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पाँचवीं धारा में एक संयुक्त सैनिक कमान की स्थापना की गयी है। इसके अधीन इन सब देशों की सेनाएँ रहती हैं और इनका एक सर्वोच्च सेनापति होता है। वह पैक्ट के महासचिव तथा सेनापति जेनरल स्टाफ के साथ परामर्श करके सेनाओं को संगठित करता है और उन्हें विभिन्न प्रदेशों में वितरित करता है। यूरोप में इसकी तीन कमानें और पूर्वी एशिया में एक कमान रखी गयी है। इस प्रकार वारसा पैक्ट नाटो का पूरा जवाब है।

वारसा पैक्ट में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विषयों में घनिष्ठ सहयोग की व्यवस्था की गयी है और कहा गया है कि इसके सदस्य शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे तथा अपने

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निवटारा शान्तिपूर्ण उपायों से करेंगे। सामान्य प्रश्नों पर विचार करने के लिए एक राजनीतिक परामर्शदात्री समिति बनायी गयी है। इसकी वर्ष में दो वार बैठकें होती हैं। इससे अन्य सहायक संस्थाओं को स्थापित करने का भी अधिकार है। इसका मुख्य कार्यालय मास्को में है।

वारसा पैक्ट के अतिरिक्त कम्युनिस्ट देशों में पारस्परिक सहायता की बीस सन्धियाँ हुई हैं। १४ फरवरी, १९५० को चीन और रूस में तीस वर्ष के लिए एक मित्रता एवं पारस्परिक सहायता की सन्धि हुई। इसके द्वारा मास्को ने कम्युनिस्ट चीन पर जापान अथवा जापान के साथ सम्बद्ध किसी शक्ति द्वारा सैनिक आक्रमण होने की दशा में पूरी सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया है।

केन्द्रीय सन्धि संगठन तथा बगदाद पैक्ट—आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वेज नहर और तेल कूपों को लेकर पश्चिम एशिया (मध्य पूर्व) का अत्यधिक महत्त्व है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व इस क्षेत्र पर ब्रिटेन का प्रभुत्व था, लेकिन युद्ध के बाद पश्चिम एशिया में राष्ट्रीयता का तूफान आ गया। इस तूफान का शिकार ब्रिटिश साम्राज्यवाद हुआ। ब्रिटिश फौज को मिस्र और स्वेज का प्रदेश खाली कर देना पड़ा और अन्य देश भी ब्रिटिश दासता से मुक्त होने लगे। इस कारण संयुक्त राज्य अमेरिका को यह चिन्ता हुई कि इस क्षेत्र में ब्रिटिश प्रभाव के हट जाने से कहीं उसकी जगह पर सोवियत रूस का प्रभाव न बढ़ जाय। इसलिए अमेरिका के लिए इस क्षेत्र में कुछ करना था ताकि यहाँ साम्यवादी प्रसार न हो सके। इसके लिए एक योजना बनायी गयी जिसके अन्तर्गत आँग्ल-अमरीकी गुट एक ऐसी प्रतिरक्षा सन्धि की स्थापना करना चाहता था जिसमें अरब तथा पश्चिम एशिया के अन्य राष्ट्र सम्मिलित हो जायँ। सर्वप्रथम मिस्र को इस जाल में फँसाने की कोशिश की गयी। पर जब उस देश ने इसमें सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया तो ब्रिटेन और अमेरिका तुर्की की ओर झुके और वहाँ के शासकों को इस दिशा में कदम उठाने पर राजी कर लिया। ६ जनवरी, १९५५ को तुर्की का प्रधान मन्त्री मेंडरेस एक सद्भावना मण्डल के साथ इराक पहुँचा और छः दिनों तक इराक के शासकों से बातचीत करने के बाद उन्हें एक सन्धि करने पर राजी कर लिया। इस प्रकार ब्रिटेन की प्रेरणा और निर्देश से २४ जनवरी, १९५५ को तुर्की-इराक सन्धि के रूप में एक संगठन का जन्म हुआ। चूँकि इस सन्धि पर हस्ताक्षर बगदाद में हुआ इसलिए इसको बगदाद-सन्धि कहते थे। प्रकट रूप से इस सन्धि का उद्देश्य साम्यवादी प्रसार को रोकना था, किन्तु इसका वास्तविक उद्देश्य पश्चिमी एशिया विशेषतः अरब देशों की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता तथा पश्चिमी उपनिवेशवाद विरोधी भावनाओं को दबाने के लिए अरब देशों में गहरी फूट पैदा करना था। इस कारण अरब लोगों ने इस सन्धि का घोर विरोध किया। लेकिन इन विरोधों का कोई असर नहीं हुआ और बगदाद सन्धि कायम हो गयी।

बगदाद सन्धि की पाँचवीं धारा में कहा गया था कि उसकी सदस्यता ऐसे सभी राज्यों के लिए खुली हुई है जो पश्चिमी एशिया की सुरक्षा में सक्रिय रूप से सम्बद्ध हैं। पैक्ट का उद्देश्य ऐसे उपायों को निश्चित करना था जिससे प्रतिरक्षा के क्षेत्र में इस क्षेत्र के विभिन्न देशों में सहयोग की स्थापना की जा सके। अतएव पैक्ट का लक्ष्य एक सैनिक गुट की रचना

था जिसका प्रधान उद्देश्य सोवियत संघ की दक्षिणी सीमा में लगे राज्यों में उसके विरुद्ध गुटबन्दी तथा उन देशों में अमेरिका के सैनिक और हवाई अड्डे स्थापित करना था। इसलिए सोवियत संघ ने इसका उग्र विरोध किया। पैक्ट का एक सदस्य पाकिस्तान था। इसलिए भारत भी बहुत कड़े शब्दो में इसकी आलोचना करता रहा।

१९५८ में बगदाद सन्धि-परिषद् की चौथी बैठक १४ जुलाई से इस्तन्बूल में होनेवाली थी। जिस समय इराक के शाह फैजल और प्रधान मन्त्री नूरी अस्सईद इस्तन्बूल जाने की तैयारी

कर रहे थे उसी समय इराकी सेना के प्रगतिशील अफसरो ने सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और शाह तथा प्रधान मन्त्री दोनों को मार डाला। नूरी अस्सईद साम्राज्यवादियों का परम मित्र था। बगदाद सन्धि की स्थापना में उसका बहुत बड़ा हाथ था। उसकी मौत के साथ ही बगदाद सन्धि का भविष्य अन्धकारमय हो गया। नयी क्रांतिकारी सरकार ने तुरत ही घोषणा कर दी कि उसकी इस सैन्य संगठन से कोई मतलब नही रहेगा। अब सवाल था बगदाद के बिना बगदाद सन्धि का क्या हो? अपने भारत भ्रमण के समय खु्रुश्चेव ने कहा था कि "बगदाद सन्धि शीघ्र ही बैलून की तरह आप ही आप फूट जायगी।" उसका कथन ठीक निकला।

लेकिन अमेरिका और ब्रिटेन हार मानने को तैयार नही थे। संधि को भंग कर देना एक बहुत बड़ी कूटनीतिक पराजय होती। अतएव उसी समय से बगदाद सन्धि के स्थान पर एक दूसरा सुदृढ़ संगठन कायम करने का प्रयास होने लगा। २४ मार्च, १९५९ को इराक इस सन्धि सगठन से बाजाप्ता पृथक् हो गया। इस हालत में इराक की राजधानी बगदाद पर इसका नामकरण निरर्थक हो गया। अतएव २१ अगस्त, १९५९ को बगदाद सन्धि को केन्द्रीय संधि संगठन [Central Treaty Organisation (CTO)] का नाम दिया गया। इराक को छोड़ कर पुराने बगदाद पैक्ट के सभी सदस्य इस संधि के सदस्य रह गये हैं।

दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन.—द्वितीय-युद्ध के बाद चीन में च्यांग काई शेक की सरकार का प्रभाव और कम्युनिस्टो के उद्‌भव ने संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रतिष्ठा को जबरदस्त धक्का पहुँचाया। चीन के कम्युनिस्ट सत्ता पर अधिकार जमाने के बाद पड़ोस के देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को मदद देने लगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसका उद्देश्य साम्यवाद का प्रसार था। कोरिया-युद्ध में चीन के हस्तक्षेप का एक यह भी कारण था। कम्युनिस्ट चीन ने

मलाया और हिन्द चीन के कम्युनिस्टों को भी मदद देनी शुरू की। इस कारण पश्चिमी गुट की चिन्ता बढ़ी। १९५३ में ही चर्चिल ने कम्युनिस्ट चीन के साम्यवादी प्रसार के विरोध के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के आगे यह प्रस्ताव रखा कि दक्षिण पूर्व एशिया के लिए नाटो जैसे एक संगठन का निर्माण किया जाय। आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड भी प्रशान्त महासागर में साम्यवाद का प्रसार करने के लिए घातक समझ रहे थे। लेकिन शुरू में संयुक्त राज्य इस क्षेत्र के लिए एक सैन्य संगठन का उतना बड़ा समर्थक नहीं था। लेकिन हिन्दचीन की लड़ाई के परिणामों ने अमेरिका को इस ओर कदम उठाने पर बाध्य कर दिया। १९५४ के शुरू में हिन्द चीन की लड़ाई बड़ी गम्भीर हो गयी। डॉ० हो ची मीन्ह के नेतृत्व में वियतनाम के राष्ट्रवादियों ने अमरीकी सहायता के बावजूद फ्रेंच साम्राज्यवाद पर करारे प्रहार किये। जब स्थिति बहुत गम्भीर हो गयी तो हिन्द चीन की समस्या पर विचार करने के लिए जेनेवा में जुलाई, १९५४ में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। यहाँ एक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप उत्तरी वियतनाम कम्युनिस्टों के हाथ में चला गया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस निर्णय को नहीं माना।

इसके बाद अमरीकी विदेश सचिव जान फास्टर डलेस ने नाटो की तरह दक्षिण-पूर्व एशिया में एक सैन्य संगठन कायम करने के लिए जमीन-आसमान एक कर दिया। उसने इस क्षेत्र में अपने समर्थकों को संगठित करने का प्रयास किया जिसके फलस्वरूप ८ सितम्बर, १९५४ को मनीला में आस्ट्रेलिया, फ्रांस, ब्रिटेन, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान, फिलिपाइन्स, थाइलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच पारस्परिक सहायता और सामूहिक सुरक्षा की एक सन्धि हुई। इसी सन्धि के आधार पर दक्षिण-पूर्व एशिया संधि संगठन, (South East Asia Treaty *Organisation*, SEATO) की स्थापना हुई।

सीटो सन्धि की पहली धारा में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण निपटारे की तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी भी रूप में शक्ति-प्रयोग और धमकी का मार्ग न अपनाने की प्रतिज्ञा की गयी है। इसकी तीसरी धारा में आर्थिक उन्नति और सामाजिक कल्याण के लिए सहयोग करने का वचन दिया गया है। लेकिन संधि की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चौथी धारा है जिसमें कहा गया है कि इस सन्धि के अन्तर्गत किसी भी देश के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण होने या शांति भंग का भय होने पर सबके लिए समान खतरे की स्थिति होगी। पाँचवीं धारा में इस संधि से सम्बन्धित सभी मामलों पर विचार करने के लिए या किसी योजना पर सलाह लेने के लिए प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र में एक एक प्रतिनिधि से निर्मित होनेवाली एक परिषद् का वर्णन है। इसका प्रधान कार्यालय थाईलैण्ड की राजधानी बैंकाक में है।

संधि के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका का एक व्याख्यापत्र भी जुटा हुआ है। इसमें यह कहा गया है कि धारा चार में वर्णित आक्रमण का अभिप्राय साम्यवादी आक्रमण से है। इसका यह अर्थ है कि अमेरिका कम्युनिस्टों द्वारा आक्रमण होने पर ही इन राज्यों को सहायता देगा।

यदि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हम सीटो सन्धि पर विचार करते हैं तो हमें इसकी धाराओं में प्रयुक्त भाषा और उसके वास्तविक उद्देश्यों में घोर अन्तर दिखाई पड़ता है। इस तथ्य को समझने के लिए हमें इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना पड़ेगा। सामरिक दृष्टि से हिन्द-चीन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब १९५४ में कम्युनिस्टों को वहाँ विजय मिलने लगी तो पश्चिमी जगत् में घोर निराशा व्याप्त हो गयी। वे अनुभव करने लगे कि हिन्द-चीन

खो देने का मतलब थाइलैण्ड, बर्मा तथा मलय प्रायद्वीप पर कम्युनिस्ट आधिपत्य का कायम हो जाना होगा।[1] स्वयं राष्ट्रपति आइजनहावर ने कहा था कि दक्षिण पूर्व एशिया में राज्यों की एक ऐसी कतार लगी है जिसमें एक के पतन के बाद सम्पूर्ण ढांचा ही बालू की भीत की तरह ढहकर खत्म हो जायगा। अमेरिका किसी भी हालत में इस स्थिति को आने की अनुमति नहीं दे सकता था। अतएव राष्ट्रीयता तथा साम्यवाद के वेग को रोकने के लिए सीटो की स्थापना उसके दृष्टिकोण से अत्यन्त आवश्यक हो गया। इसके संगठन के मूल में एक ही बात थी : कम्बोडिया, दक्षिणी वियतनाम तथा लाओस को कम्युनिस्टों के प्रभाव में जाने से रोकना। १९५४ के बाद दक्षिण पूर्व एशिया और विशेषकर हिन्द-चीन में जो घटनाएँ घटी हैं उनके मूल में संयुक्त राज्य अमेरिका की यही धारणा है।

अमेरिका के अतिरिक्त जो अन्य देश इस सन्धि में शामिल हुए हैं, उनका भी अपना-अपना स्वार्थ है। एक तो वे सब साम्यवाद के विरोधी हैं और दूसरे, ब्रिटेन और फ्रांस किसी तरह अपने पुराने उपनिवेशों पर अपना नियन्त्रण कायम रखना चाहते हैं। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा फिलिपाइन्स ने जापान के उत्कर्ष को रोकने के उद्देश्य से इस सन्धि का साथ दिया है तथा पाकिस्तान भारत के साथ कश्मीर की समस्या हल करवाने के लिए इस सन्धि में सम्मिलित हुआ है।

एशिया के सभी स्वतन्त्रता-प्रेमी देशों ने इस संधि का घोर विरोध किया है। यह एशियाई देशों में फूट पैदा करने तथा उनपर पश्चिमी साम्राज्यवाद लादे रहने के निमित्त कायम किया गया है। वी० के० कृष्ण मेनन ने इस संगठन को "संरक्षण पद्धति (Protectorate) का आधुनिक रूप" कहा था। पं० नेहरू ने इस सम्बन्ध में कहा था कि यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के विरुद्ध है, इससे विश्व शान्ति में वृद्धि के स्थान पर तनाव और असुरक्षा बढ़ेगी। यह एक प्रकार का मुनरो सिद्धान्त है जिसे दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों पर जबरदस्ती थोपा गया है। चीन के प्रधान मन्त्री चाऊ एन लाई ने इसे "सामूहिक सुरक्षा के आवरण से आवेष्टित आक्रमण का साधन" बताया था। वस्तुतः सीटो पुराने उपनिवेशवाद का आधुनिक संस्करण है

सैन्य संगठनों का प्रभाव—इस संक्षिप्त अध्ययन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि युद्धोत्तर विश्व में सैनिक संगठनों की एक बाढ़ आ गयी है। आश्चर्य तो यह है कि ये सारी सन्धियाँ शान्ति और संयुक्त राष्ट्र चार्टर के नाम पर की गयी हैं। इनके औचित्य को स्थापित करने के लिए हमेशा चार्टर की ५१ वीं और ५२ वीं धारा का हवाला दिया जाता है। लेकिन वास्तव में यह चार्टर के सिद्धांतों के विपरीत है और इसे शक्ति-सन्तुलन के प्राचीन और व्यर्थ सिद्धांत को पुनः एक नया जीवन मिला है। चार्टर ने तो अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषदों पर सौंपा था और वह सुरक्षा परिषदों कायम है। फिर उसके ऊपर दर्जनों सुरक्षा परिषद् को निर्माण करने की क्या आवश्यकता है? इन संगठनों का अस्तित्व संयुक्त राष्ट्रसंघ की शक्ति को क्षीण करता है। ये शांति के अग्रदूत नहीं वरन् युद्ध के निमन्त्रण हैं। इसने संयुक्त राष्ट्रसंघ के विकास की समस्त सम्भवनाओं को नष्ट कर दिया है।[2] जवाहरलाल

1. Friedmann, *An Introduction to World Politics*, p. 309.

2. Grayson Kirk, *The Changing Environment of International Relations*, p. 136.

नेहरू के शब्दों में ये चार्टर की व्यवस्थाओं से मेल नही खाते। उनके कारण सुरक्षा में कोई वृद्धि नही होती वरन् शीत-युद्ध और भय में ही वृद्धि होती है।

ये गुटबन्दियाँ अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के समाधान नही हैं। उनका उपस्थिति ही युद्ध के दूषित वातावरण को तैयार करतो और समस्याओं को उलझती रहती हैं। एक गुट दूसरे गुट के सैन्य संगठनो को अपने सीने पर तने हुए कटार की भाँति समझता है। ये प्रत्येक राष्ट्र को "हमेशा युद्ध की स्थिति में रहो" की स्थिति में रहने के लिए बाध्य करते हैं। इनके कारण सन्धि के सदस्य राष्ट्रों को अपने देश की भूमि पर विदेशी सेना रखना पड़ता है जो उस राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए बड़ा ही खतरनाक साबित हो सकता है। लेकिन इससे सबसे बड़ा खतरा तो यह है कि इसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय तनाव हमेशा बना रहता है और शीत-युद्ध में तबतक कमी नही हो सकती जबतक इन संगठनो का अस्तित्व बना रहे। इनके ही कारण निरस्त्रीकरण की समस्या भी नहीं सुलझ रही है।

निरस्त्रीकरण की समस्या

शीत-युद्ध ने सबसे अधिक निरस्त्रीकरण की समस्या को प्रभावित किया है। इसी के कारण आजतक इस समस्या का समाधान नही हो सका है। द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्त होने के तुरत बाद ही यह समस्या पुनः सामने खड़ी हो गयी। इस पर शीघ्र ही विचार-विमर्श शुरू हुआ जो आज भी बिना कोई सफलता प्राप्त किये जारी है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह समस्या और भी जटिल होकर सामने आयी। युद्ध के पहले तो यह प्रश्न पुराने तरीकों के अस्त्र-शस्त्रों (conventional weapons) तक ही सीमित था। लेकिन इस बार राष्ट्रों के शस्त्रागार में एक नये भयानक अस्त्र का प्रवेश हो चुका था। वह था परमाणु बम। फलस्वरूप संसार के सभी शांति प्रेमी लोगों की यह कामना थी कि शस्त्रास्त्र के उत्पादन में धन और जनशक्ति का अपव्यय बंद किया जाय और उसका मनुष्य जाति के समृद्धि एवं सुख के लिए प्रयोग हो। इसी अनुभव के कारण, समस्या की जटिलता के बावजूद, निरस्त्रीकरण के लिए प्रयास होते आ रहे हैं, यद्यपि अभी तक ये सारे प्रयास असफल हो रहे हैं। यहाँ पर इन असफलताओं को गिनाना आवश्यक नहीं है। फिर भी, निरस्त्रीकरण की समस्या की जटिलता और रहस्य को जानने के लिए उनका एक संक्षिप्त विवरण आवश्यक है।

समस्या की उत्पत्ति—संयुक्त राष्ट्रसंघ-चार्टर का दूसरी धारा में निरस्त्रीकरण की चर्चा की गयी है। १९४६ के अन्तिम दिनों में रूस ने सर्वप्रथम निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर विचार करने का प्रस्ताव रखा। लिटविनोव की तरह सोवियत विदेश मन्त्री मोलोतोव ने हर प्रकार के हथियारों के उत्पादन को पूर्ण रूप से बन्द कर देने का प्रस्ताव रखा। १४ सितम्बर, १९४६ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने एक प्रस्ताव पास करके सुरक्षा-परिषद् को इस आशय का [illegible] दिया कि वह हथियारबन्दी की होड़ को बन्द करे और निरस्त्रीकरण के लिए योजना [illegible] इसके बाद दो आयोगों की स्थापना हुई : अनुशक्ति आयोग और परम्परागत [illegible] आयोग। पहले का उद्देश्य परमाणु बम के उत्पादन को सीमित करना था [illegible] तथा सेनाओं को कम करने की योजना बनाना था। लेकिन, निरस्त्रीकरण [illegible] ऊपर कहा जा चुका है, अब कोई साधारण समस्या नहीं रह गयी थी।

और जापान पर उसके प्रयोग के बाद अस्त्र-शस्त्रों के इतिहास में एक नया युग आरम्भ हो चुका था। उस समय परमाणु बम पर केवल अमेरिका का ही एकाधिकार था। अपने को कमजोर स्थिति में पाकर रूस ने प्रस्ताव रखा कि परमाणु बम के उत्पादन पर शीघ्र ही नियन्त्रण हो जाना चाहिए और जितने बमों का उत्पादन हो चुका है, उन्हें जल्द-से-जल्द बर्बाद कर देना उचित होगा। इस समय तक शीत-युद्ध शुरू हो चुका था। दुनिया दो भागों में बँट चुकी थी। कूटनीतिक पैंतरेबाजी शुरू हो गयी थी। ऐसी स्थिति में रूसी प्रस्ताव को मनाना असम्भव था। अमेरिका ने जोर-शोर से परमाणु बम का उत्पादन शुरू किया। रूस ने अमेरिका पर यह दोषारोपण किया कि अमेरिका विश्व-शान्ति का शत्रु है और वह युद्ध की तैयारी कर रहा है। निरस्त्रीकरण के सम्मेलनों में दोनों दलों की तरफ से तरह-तरह के प्रस्ताव और योजनाएँ प्रस्तुत की जाने लगीं। अमेरिका बराबर वैसा प्रस्ताव प्रस्तुत करता रहा, जिसको वह जानता था कि रूस कभी स्वीकार नहीं करेगा। उसी तरह रूस भी वैसा ही प्रस्ताव रखता रहा, जिसको वह जानता था कि अमेरिका उसे किसी भी हालत में स्वीकार नहीं करेगा। निरस्त्रीकरण वार्तालाप ठप्प पड़ गया। पीछे चलकर रूस द्वारा परमाणु-बम का अविष्कार किये जाने पर भी अमेरिका अपने जिद् पर अड़ा रहा। रूसी परमाणु बम के उत्तर में अमेरिका ने पश्चिमी जर्मनी का अस्त्र-शस्त्रों से लैस करना शुरू किया। तरह-तरह के सैन्य-संगठन और सैन्य-संधियाँ कायम की गयीं। विश्व शांति का भविष्य, पुनः अन्धकारमय हो गया। फलतः उपर्युक्त दोनों आयोगों में गतिरोध उत्पन्न हो गया। लेकिन, इसके साथ-साथ निरस्त्रीकरण वार्तालाप भी जारी रहा। अक्टूबर १९५० में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यह सुझाव दिया कि दोनों आयोगों को मिलाकर एक आयोग की रचना कर दी जाय। साधारण सभा ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और एक निस्त्रीकरण आयोग की स्थापना हुई जिसके सदस्य सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्य और कनाडा बनाये गये। परन्तु इस आयोग की स्थापना से भी कोई प्रगति नहीं हुई। इसलिए १९५३ में गतिरोध के निराकरण के लिए साधारण सभा ने यह सुझाव दिया कि इस काम के लिए एक उपसमिति की रचना की जाय। अतएव निरस्त्रीकरण समस्या पर विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अप्रिल, १९५४ में एक उपसमिति की स्थापना की। इसके सदस्य रूस, अमेरिका ब्रिटेन, फ्रांस और कनाडा हुए। इसी उपसमिति में वर्षों तक निरस्त्रीकरण प्रश्न पर बातचीत होती रही। भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रस्ताव रखे जाते रहे। दुनिया के लोगों को आशा बँधती कि अब शान्ति की मंजिल अधिक दूर नहीं है। फिर एकाएक कोई पक्ष उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है और सभी आशाओं पर पानी फिर जाता है। इसी चढ़ाव-उतराव में निरस्त्रीकरण की समस्या परिक्रमा करती रहती है।

निरस्त्रीकरण की राजनीति—वास्तविक बात यह है कि निरस्त्रीकरण वार्तालाप का असल ध्येय केवल प्रचार करना होता है। इन सम्मेलनों में प्रस्ताव केवल इसी उद्देश्य से पेश किये जाते हैं कि अगर विपक्षी उसे स्वीकार कर लेगा तो सामरिक दृष्टिकोण से उसकी स्थिति कमजोर हो जायगी, और अगर वह उसे अस्वीकार कर देगा तो संसार में यह प्रचार करने का मौका मिल जायगा कि अमुक देश शान्ति का शत्रु है और युद्ध करना चाहता है! इसे शत्रु-पक्ष को किंकर्तव्यविमूढ़ करने की कूटनीति कहते हैं। इन वार्तालापों में शतरंज की एक-एक गोटी खूब

सोच समझकर चली जाती है ताकि साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। अतः जब रूस परमाणु-बम के क्षेत्र में अमेरिका से बहुत पीछे था तब वह बराबर इसी प्रस्ताव को रखा करता था कि परमाणु-बम के उत्पादन और प्रयोग को बन्द कर दिया जाय। उधर पश्चिम के राष्ट्र यह जानते हुए कि सोवियत संघ पुराने तरीकों के अस्त्र शस्त्रो में उनसे काफी आगे है बराबर यह प्रस्ताव रखते थे कि इन हथियारों को सीमित करना चाहिए। यह तय था कि कोई भी पक्ष एक दूसरे के प्रस्ताव को नही मानेगा। कटुता और मनमुटाव के इस वातावरण में निरस्त्रीकरण वार्तालाप चलता रहा, सम्मेलन होता रहा। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि योजनाएँ केवल प्रचार के लिए प्रस्तुत की जाती थी, निरस्त्रीकरण के उद्देश्य से नही। जबतक इस तरह का दूषित वातावरण रहेगा, तब तक ऐसा अनुमान करना कि कोई भी दल निरस्त्रीकरण का कोई प्रस्ताव मान लेगा, केवल एक भ्रम होगा।

१९५५ का समझौता:—इस तरह की स्थिति में निरस्त्रीकरण-वार्तालाप तभी कुछ संतोषजनक हो सकता है जब दोनों पक्ष हथियारों के उत्पादन में एक समान स्तर पर पहुँच जायँ: कोई पक्ष न किसी से कम हो और न अधिक। हथियारों में एक संतुलन का स्तर हो जाय। इस तरह की स्थिति १९५५ के मध्य में कुछ हो गयी थी। अतः उस साल सोवियत संघ ने पश्चिमी राष्ट्रों में बहुत-से प्रस्ताव स्वीकार कर लिये थे और पश्चिमी राष्ट्रों ने भी बहुत-से रूसी प्रस्ताव मान लिये थे। उस समय जब निरस्त्रीकरण उपसमिति की बैठक हुई तो एक सामान्य समझौता सम्पन्न हो गया। इसके अनुसार आणविक तथा बड़े पैमाने के विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों के बनाने तथा उपयोग पर नियन्त्रण लाने, शस्त्र-सेनाओं तथा परम्परागत शस्त्रों में भारी कमी लाने, प्रभावकारी नियन्त्रणकारिणी संस्था की स्थापना करने, सैनिक खर्चे कम करने, सशस्त्र सेनाओं की संख्या घटाने, आणविक शक्ति के शान्तिकारी प्रयोग करने आदि की व्यवस्थाएँ मान्य हो गयी थीं। फिर भी ब्योरे को लेकर उलझन बनी ही रही। यह निश्चित नही हो सका कि इसे कब लागू किया जायगा।

जेनेवा सम्मेलन:—जुलाई १९५५ में जेनेवा में अमेरिका के राष्ट्रपति, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस के प्रधान मन्त्रियों का शिखर-सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में राष्ट्रपति आइसनहावर ने अपनी 'खुले आकाशो की योजना' (Open Skies Plan) को प्रस्तुत किया। इस योजना में यह प्रस्ताव रखा गया था कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ एक दूसरे को अपनी सैनिक गतिविधियों से अवगत कराया करें और एक देश को दूसरे देश के आकाश पर निरीक्षण करने का अवसर दिया जाय। उनका कहना था कि इस प्रकार निरस्त्रीकरण को सम्भव बनाने के लिए प्रभावशाली निरीक्षण पद्धति को शुरू किया जा सकता था। लेकिन सोवियत प्रधान मंत्री ने इसकी बड़ी कड़ी आलोचना की। किसी भी हालत में यह सोवियत संघ को मान्य नही हो सकता था। कारण, अमेरिका के सैनिक अड्डे संसार भर में फैले हुए थे और रूस का केवल अपने देश में। इस हालत में अमेरिका तो रूस का सारा भेद जान जाता और सोवियत संघ कुछ भी पता न लगा पाता। अतएव सोवियत प्रधान मंत्री बुलगानिन ने एक दूसरा प्रस्ताव सम्मेलन में प्रस्तुत किया जिसमें यह मांग की गयी थी कि निरस्त्रीकरण को कार्यान्वित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण एजेन्सी की स्थापना की जाय जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय

पर निरीक्षकों की नियुक्ति हो, सभी देशों से विदेशी सैनिक अड्डों को खत्म किया जाय, आणविक शस्त्रों के परीक्षण पर पाबन्दी लगायी जाय और परम्परागत शस्त्रास्त्रों में कमी की जाय। यह प्रस्ताव पश्चिम को मान्य नहीं हुआ। शिखर-सम्मेलन में यह मतभेद सुलझ नहीं सका और बाद में जब अक्टूबर १९५५ में समस्या के समाधान के लिए विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ तो उसे भी इस कार्य में सफलता नहीं मिली। इसके बाद १ दिसम्बर १९५५ को भारत ने भी एक प्रस्ताव रखा। इसमें आणविक शस्त्रों के परीक्षण पर पाबन्दी लगाने की मांग की गयी थी। शस्त्रास्त्रों के सम्बन्ध में एक अल्पकालीन सन्धि का सुझाव दिया गया था। लेकिन अमेरिका ने इस प्रस्ताव को भी मानने से इन्कार कर दिया।

लन्दन सम्मेलन—इसके बाद १९५६ के फरवरी तक निरस्त्रीकरण उपसमिति की कई बैठकें हुईं। लेकिन इस समय तक दोनों गुटों का मतभेद बहुत गहरा हो चुका था। वहाँ पूर्ण गतिरोध उत्पन्न हो गया था। इस हालत में १४ जून, १९५७ को लन्दन में निरस्त्रीकरण आयोग की उपसमिति की एक बैठक शुरू हुई। इसमें सोवियत संघ ने तीन सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया। यह इस प्रकार था: (१) दो वर्ष के लिए आणविक परीक्षण बन्द कर दिये जायँ, (२) परीक्षण की बन्दी को कार्यान्वित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की जाय तथा (३) उपयुक्त वैज्ञानिक यन्त्रों के सहित अमेरिका रूस, ब्रिटेन को मिलाकर प्रशांत महासागर-क्षेत्र में नियन्त्रण चौकियाँ स्थापित की जायँ ताकि इस समझौते के कार्यकरण पर निगरानी रखी जा सके। लेकिन पश्चिमी राष्ट्रों को यह ठोस प्रस्ताव भी मान्य नहीं हुआ और इसको स्वीकार करने के बजाय वे अपना ही सुझाव देते रहे। लगभग सत्तर सप्ताहों तक उपसमिति इन विभिन्न दृष्टिकोणों पर विचार करती रही। इस विचार-विमर्श के दौरान में आइसनहावर ने अपने 'खुले आकाशों' के प्रस्ताव को पुनः पेश किया। यह प्रस्ताव किसी भी हालत में सोवियत संघ को मान्य नहीं हो सकता था। सोवियत प्रतिनिधि जोरिन ने बड़े-बड़े भाषण दिये। लेकिन पश्चिमी राष्ट्रों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में ६ सितम्बर, १९५७ को उपसमिति में निरस्त्रीकरण की बात-चीत की असफलता घोषित कर दी गयी। उसके बाद उसकी बैठक बन्द हो गयी।

भारत का प्रस्ताव—२६ सितम्बर को भारत ने संयुक्त राष्ट्र साधारण सभा में एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें यह माँग की गयी कि निरस्त्रीकरण आयोग और उसकी उपसमिति में सदस्यों की संख्या बढ़ायी जाय। इस प्रस्ताव में और भी कई अन्य सुझाव दिये गये थे जिसमें आणविक शस्त्रास्त्रों को खत्म करने पर अधिक जोर दिया गया था। प्रस्ताव तो स्वीकृत हो गया लेकिन उसपर कोई कदम नहीं उठाया गया।

स्पूतनिक कूटनीति—इसी बीच २६ अगस्त, १९५७ को सोवियत संघ ने यह दावा किया कि उसने अन्तर महादेशीय दूर-क्षेपक अस्त्र (inter-continental blasstic missile) का सफल परीक्षण कर लिया है और इससे विध्वंसक बम के गोले को दुनिया के किसी भी हिस्से में एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में फेंका जा सकता है। यह रॉकेटों तथा प्रबल शक्तिशाली ईंधनों का परिणाम था। पश्चिम को पहले तो इस पर विश्वास ही नहीं हुआ लेकिन जब ४ अक्टूबर, १९५८ (प्रोफेसर शुमां के शब्दों में मानव इतिहास की चिरस्मरणीय तिथि) को रूस ने पृथ्वी के

चारों ओर घूमनेवाला एक कृत्रिम उपग्रह (Sputnik) छोड़ दिया तो सारा पश्चिम जगत् स्तब्ध रह गया। निरस्त्रीकरण की समस्या पर इसका तात्कालिक प्रभाव पड़ा। जैसा कि हम कह आये हैं, निरस्त्रीकरण-वार्तालाप तभी कुछ सन्तोषजनक हो सकता है जब हथियारों के क्षेत्र में कुछ सन्तुलन स्थापित हो जाय। लेकिन, जब भी इस तरह का सन्तुलन बिगड़ जाय और हथियारों के क्षेत्र में एक पक्ष का पलड़ा भारी हो जाय तो निरस्त्रीकरण का वार्तालाप कभी भी आगे नहीं बढ़ सकता है। अन्तर महादेशीय दूर क्षेपक अस्त्र तथा स्पूतनिक ने इस सन्तुलन को बिगाड़ दिया। फलस्वरूप सोवियत संघ अब कड़ा रुख अवलम्बन करने लगा।

२७ अक्टूबर, १६५७ को संयुक्त राष्ट्र के महासचिव डाग हैमरशोल्ड को सोवियत विदेश मंत्री ग्रोमिको का एक पत्र मिला। इसमें यह सुझाव दिया गया था कि निरस्त्रीकरण उपसमिति को भंग कर दिया जाय और उसके स्थान पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों द्वारा निर्मित एक स्थायी-निरस्त्रीकरण आयोग की रचना की जाय। यह आयोग हमेशा काम करता रहे तथा इसके अधिवेशन खुले रूप से हों। सोवियत विदेश मंत्री ने इस बात पर विरोध प्रकट किया कि अभी तक निरस्त्रीकरण की समस्या पर महाशक्तियाँ गुप्त तरीकों से इस प्रकार बात करती चली आयी हैं जैसे यह उनकी व्यक्तिगत समस्या हो। वस्तुतः इस समस्या में सभी राष्ट्रों की दिलचस्पी है और इस कारण निरस्त्रीकरण आयोग में सबों को स्थान मिलना चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा में इस प्रस्ताव पर विचार हुआ और १६ नवम्बर, १६५७ को उसने निरस्त्रीकरण आयोग की सदस्य-संख्या १२ से बढ़ाकर २५ करने का निश्चय किया। सुरक्षा परिषद् के ग्यारह सदस्यों के अतिरिक्त इसमें १३ और राज्य निर्वाचित किये गये। निरस्त्रीकरण आयोग और उपसमिति को भंग करने का सोवियत प्रस्ताव रद्द कर दिया गया। इस पर सोवियत प्रतिनिधि ने यह सूचना दे दी कि नये आयोग की प्रस्तावित सदस्यता उसे मान्य नहीं है और इसलिए वह अब से आयोग की कार्यवाहियों में भाग नहीं लेगा।

बुलगानिन योजना—इस पृष्ठभूमि में सोवियत संघ की ओर से आये हुए प्रस्तावों को पश्चिमी गुट हमेशा शंका की दृष्टि से देखने लगा। फिर भी, ३ फरवरी, १६५८ को प्रधान मन्त्री बुलगानिन ने राष्ट्रपति आइसनहावर के सम्मुख निरस्त्रीकरण की एक विस्तृत योजना रखी इसमें निम्नलिखित बातों पर बल दिया गया था : (क) अणुबमों के परीक्षण को बन्द किया जाय, (ख) अमेरिका, रूस और ब्रिटेन आणविक शस्त्रों का परित्याग कर दें, (ग) नाटो तथा वारसा पैक्ट के देशों में अनाक्रमण समझौता हो, (घ) जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों में विदेशी सेनाओं को घटाया जाय, तथा ङ) आकस्मिक आक्रमणों को रोका जाय। १५ मार्च, १६५८ को सोवियत विदेश मन्त्रालय ने इन्हीं प्रस्तावों के आधार पर कुछ प्रस्ताव रखे। इसमें सैनिक प्रयोजनों के लिए बाह्य आकाश (outer space) के प्रयोग का निषेध तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख में एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा उपर्युक्त निषेध के पालन का निरीक्षण सम्मिलित था। पर, अमरीकी गुट की ओर से इसका कोई भी सन्तोषजनक जवाब नहीं आया।

रापाकी योजना—इसी समय (१४ फरवरी, १६५८) पोलैण्ड के विदेश मन्त्री रापाकी एक अपनी योजना प्रस्तुत की। इस योजना में यूरोप में सुरक्षा और शान्ति बनाये रखने के लिए पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी की अणुहीन क्षेत्र (atom free zone)

बनाने का सुझाव दिया था। अर्थात् इन देशों में आणविक अस्त्रों का निर्माण, संग्रह और उपयोग नहीं हो। सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया, पर अमेरिका के तरफ से फिर कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला।

जब सोवियत संघ के विविध प्रस्तावों की इस तरह अवहेलना होती रही तो ३१ मार्च, १९५८ को उसने निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में एक एकतरफा कदम उठाया जो उस समय अत्यन्त ही सराहनीय माना गया। उस दिन सुप्रिम सोवियत ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया। जिसमें कहा गया था कि सोवियत संघ ने इस आशा में सभी प्रकार के आणविक परीक्षणों को बन्द कर रहा है कि अन्य देश भी उसका अनुकरण करेंगे। किन्तु यदि दूसरे देश आणविक परीक्षण बन्द नहीं करेंगे तो सोवियत संघ भी उन्हें पुनः शुरू कर देगा।

आइसनहावर का जवाब—अमरीकी प्रशासन सोवियत संघ के स्पूतनिक कूटनीति से तंग आ गया था। इसीलिए २ अप्रिल, १९५८ को राष्ट्रपति आइसनहावर ने रूस के इन प्रस्तावों का जवाब दिया। उन्होंने कहा कि सोवियत संघ के ये सारे प्रस्ताव और आणविक परीक्षण के स्थगन का प्रस्ताव प्रचारात्मक कार्य है। उन्होंने सोवियत संघ के इन कार्रवाइयों का उल्लेख किया जिनके कारण निरस्त्रीकरण की सारी योजनाएँ अब तक असफल हुई थी। इसके बाद ८ अप्रिल को उसने यह घोषणा की कि एनीवीटोक में चल रहे अमरीकी आणविक परीक्षण के समाप्त होने पर अमेरिका को यदि यह निश्चय हो गया कि सोवियत संघ ने वास्तव में परीक्षण बन्द कर दिये हैं तो संयुक्त राज्य भी उन्हें बन्द करने की बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेगा।

जेनेवा सम्मेलन—३१ अक्टूबर, १९५८ से जेनेवा में निरस्त्रीकरण पर अनेक प्रस्ताव पास किये गये। रूस ने यह प्रस्ताव रखा कि ये परीक्षण हमेशा के लिए बन्द कर दिये जायँ। लेकिन अमेरिका और ब्रिटेन का कहना था कि पर्याप्त निरीक्षण के साथ इसे केवल एक वर्ष तक के लिए बन्द किया जाय। कुछ बातों पर दोनों पक्ष सहमत भी हुए, लेकिन मतभेद अभी भी इतना उग्र था कि समझौते की कोई गुंजाइश नहीं रह गयी थी।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में ख्रुश्चेव का प्रस्ताव—अपनी अमरीकी यात्रा (१९५९) के दौरान सोवियत प्रधान मंत्री ने संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा में एक भाषण दिया। इसमें उसने निरस्त्रीकरण सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव प्रस्तुत किये जिसका साधारण सभा ने एकमत से अनुमोदन किया और जिन्हें समूचे संसार को जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ। यह पूर्ण एवं सामान्य निरस्त्रीकरण (complete and general disarmament) का प्रस्ताव था। अपनी नेकनीयती को सिद्ध करने के लिए सोवियत संघ ने निरस्त्रीकरण के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के लिए रुके बिना अपनी सैनिक शक्ति के बारह लाख सिपाहियों की कटौती कर दी। सोवियत सरकार के इस कदम को समूचे संसार की शान्ति-प्रिय जनता ने एकमत से स्वागत किया।

ख्रुश्चेव का पूर्ण एवं सामान्य निरस्त्रीकरण का प्रस्ताव तीन मंजिलों के भीतर निरस्त्रीकरण के कार्य को सम्पन्न करने की एक वृहत योजना था। ख्रुश्चेव ने सुझाव दिया कि चार

वर्ष की अवधि में सब राज्यो को पूर्ण निरस्त्रीकरण कर लेना चाहिए ताकि उसके बाद किसी राज्य के पास युद्ध करने का कोई साधन न रह जाय। पूर्ण निरस्त्रीकरण का तात्पर्य सभी राज्यो द्वारा सब प्रकार की सशस्त्र सेनाओं का परित्याग करना था। इसके लिए कोई अपवाद नही हो सकता था। केवल आन्तरिक सुरक्षा के लिए राज्य थोड़ी सी आवश्यक पुलिस और सेना रख सकते हैं। ख्रुश्चेव जानता था कि पश्चिम को यह योजना स्वीकार नहीं होगी। अतएव उसने इसी के साथ एक आंशिक निरस्त्रीकरण को योजना भी प्रस्तुत की। इसमें निम्नलिखित बातें रखी गयी थीं : (१) नाटो संगठन के सदस्यों तथा पश्चिमी राज्यो के साथ वारसा पैक्ट के राज्यो का एक अनाक्रमण सन्धि हो, (२) एक राज्य दूसरे राज्य पर आकस्मिक आक्रमण रोकने के विषय में समझौता करें, (३) यूरोपीय राज्यों से सभी विदेशी सेनाओ को हटाया जाय, (४) विदेश के प्रदेशों से सभी सैनिक अड्डे हटा लिये जायँ, (५) मध्य यूरोप में आणविक आयुधो से रहित (nuclear free zone) क्षेत्र कायम किया जाय, तथा (६) एक विशेष क्षेत्र में नियन्त्रण और निरीक्षण की व्यवस्था स्थापित की जाय। नियन्त्रण के सम्बन्ध में ख्रुश्चेव ने कहा : "वे (पश्चिमी राज्य) ऐसे प्रस्ताव रखते हैं जिनमें न आम निरस्त्रीकरण की बात रहती है और न पूर्ण निरस्त्रीकरण की, बल्कि जिनमें निरस्त्रीकरण की बात ही नहीं रहती है। केवल हथियारो पर नियन्त्रण सम्बन्धी कार्यवाहियों की अर्थात् निरस्त्रीकरण के बिना नियन्त्रण की बात रहती है। किन्तु यह कोई देखे बिना नही रह सकता कि निरस्त्रीकरण के बिना नियंत्रण स्थापित करना अन्तर्राष्ट्रीय जासूसी प्रणाली को स्थापित करना होगा जिससे शान्ति को सुदृढ़ करने में मदद मिलनी तो दूर रही, सम्भावित आक्रमणों के लिए जनगण के लिए खतरनाक योजनाएँ कार्यान्वित करना सुगम हो जायगा। निरस्त्रीकरण का समझौता हो जाने के बाद हम उसे कार्यान्वित करने के लिए कठोर नियन्त्रण के पक्ष में हैं, किन्तु हम निरस्त्रीकरण के बिना नियन्त्रण को नही चाहते।"

ख्रुश्चेव की इस योजना का स्वागत सर्वत्र संसार में हुआ। लेकिन शीतयुद्ध के महारथियों को यह बात समझ में नहीं आयी। ख्रुश्चेव के इस प्रस्ताव को वैसी ही खिल्ली उड़ायी गयी जैसे १९३२ के जेनेवा निरस्त्रीकरण सम्मेलन में रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव के पूर्ण निरस्त्रीकरण के प्रस्ताव की उड़ायी गयी थी। अतएव निरस्त्रीकरण-समस्या का गतिरोध दूर नही हो सका।

जेनेवा-सम्मेलन—१९६० में जेनेवा में फिर निरस्त्रीकरण आयोग पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन शुरू हुआ। इस बार एक ही साथ दो सम्मेलन चल रहे थे, एक दस राष्ट्रों का निरस्त्रीकरण सम्मेलन तथा दूसरे आणविक क्लब (Atom club) के तीन सदस्यों का आणविक परीक्षणों को निषेध करने के सम्बन्ध में वार्ता। लेकिन इन दोनों सम्मेलनों में भी कोई प्रगति नहीं हो सकी। निरस्त्रीकरण और नियन्त्रण पर दोनों पक्षों के बीच गतिरोध उत्पन्न हो जाना अवश्यम्भावी था। अतएव २९ जून, १९६० को दस राष्ट्रों का निरस्त्रीकरण सम्मेलन भंग हो गया।

यदि हम १९४६ से १९६० तक की निरस्त्रीकरण-समस्या का विश्लेषण करें तो दोनों पक्षों में घोर मतभेद देखने को मिलता है। इस मतभेद को इस प्रकार रखा जा सकता है :—

	अमरीकी गुट का दृष्टिकोण	सोवियत संघ का दृष्टिकोण
१. आणविक परीक्षण—	आणविक परीक्षण के निरीक्षण की उपयुक्त व्यवस्था पर समझौता होने के बाद ये परीक्षण दो वर्ष के लिए बन्द किये जायँ। जब आणविक आयुधों का उत्पादन बन्द हो जाय तो ऐसे परीक्षण बिल्कुल बन्द कर दिये जायँ।	ऐसे सब आणविक परीक्षण बन्द कर दिये जायँ जिनका वर्तमान साधनों से पता लगाया जाना सम्भव नहीं है। जबतक इनके पता लगाने का विश्वसनीय साधन नहीं निकल आता तब तक सभी आणविक शक्तियाँ स्वेच्छा से ऐसे परीक्षण बन्द कर दें।
२. नियन्त्रण—	पहले नियन्त्रण की व्यवस्था निश्चित की जाय और तब निरस्त्रीकरण हो।	पहले निरस्त्रीकरण पर समझौता हो जाय और तब बाद में कठोर नियंत्रण कायम करके उसको कार्यान्वित किया जाय।
३. आणविक आयुध—	आणविक विस्फोट होने वाली सामग्री के उत्पादन पर एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण पद्धति होनी चाहिए और इस पद्धति को कार्यान्वित होते ही सब आयुधों का उत्पादन बन्द होना चाहिए।	आणविक आयुधों का प्रयोग सर्वथा बन्द होना चाहिए और जब दोनों पक्ष अपनी सेनाओं को हटा लें तो इन्हें सर्वथा नष्ट कर देना चाहिए।
४. सैनिकों की संख्या—	संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस की सेनाएँ २१ लाख तक सीमित होनी चाहिए। अन्य देशों की सेनाओं के सम्बन्ध में उसमें कोई व्यवस्था नहीं थी।	संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन, सोवियत संघ प्रत्येक १७ लाख सैनिक रखें तथा ब्रिटिश और फ्रांसीसी सेना की अधिकतम संख्या साढ़े नौ लाख हो।

	अमरीकी गुट का दृष्टिकोण	सोवियत संघ का दृष्टिकोण
५. खुला आकाश	उत्तरी अमेरिका, सोवियत रूस तथा उत्तरी महासागर के बड़े भाग के आकाश दोनों देशों के लिए खुले रहने चाहिए।	लन्दन, रीगा, एथेन्स और मैड्रिड से घिरा हुआ यूरोपीय क्षेत्र तथा अमेरिका के पश्चिमी भाग से तथा सोवियत संघ के पूर्वी भाग से लगा हुआ प्रशांत महासागर के क्षेत्र के आकाश को उन्मुक्त रखा जाय।
६. बाह्य अन्तरिक्ष—	बाह्य अन्तरिक्ष में राकेट छोड़ने वाले देशों को अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण संस्था को इसकी सूचना देनी चाहिए। बाह्य अन्तरिक्ष में सैनिक प्रयोजन के लिए राकेट नही भेजना चाहिए।	सैनिक राकेटों को नष्ट कर देना चाहिए और उसका उत्पादन एकदम बन्द होना चाहिए।

जुलाई १९६० से अगस्त १९६३ तक निरस्त्रीकरण में प्रगति इस प्रकार निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर दोनों गुटों में मौलिक मतभेद है। दिसम्बर १९६० में सोवियत संघ ने दस राष्ट्रों के निरस्त्रीकरण आयोग का बहिष्कार कर दिया। उसका कहना था कि निरस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों का एक आयोग बनना चाहिए। यह सुझाव पश्चिमी देशों को मान्य नहीं हुआ। १९६१ में अठारह राष्ट्रों के निरस्त्रीकरण आयोग की स्थापना करके इन दोनों विचारधाराओं में कुछ मेल कराया गया। अब निरस्त्रीकरण की समस्या पर यही संस्था विचार करती रहती है। इस आयोग के अठारह सदस्य निम्नलिखित हैं : संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, कनाडा, इटली, सोवियत संघ, बुल्गेरिया, रूमानिया, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, ब्राजील, वर्मा, भारत, मिस्र, मेक्सिको, अबीसीनिया, स्वेडेन और नाइजीरिया। फ्रांस ने शुरू में ही कह दिया कि वह इस सम्मेलन में भाग नहीं लेगा। अतएव यह वस्तुतः सतरह राष्ट्रों का आयोग रह गया है।

१९६१ में निरस्त्रीकरण की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया जा सका। १९५८ में सोवियत संघ ने आणविक परीक्षणों को बन्द कर दिया था। लेकिन अधिक दिनों तक वह इन परीक्षणों को बन्द नहीं कर सका। अक्टूबर, १९६१ में उसने पुनः इसको इस आधार पर शुरू कर दिया कि "*रूस द्वारा परीक्षण बन्द करने की अवधि में ब्रिटेन और अमेरिका ने अधिकतम* सैनिक लाभ उठाया है।" सोवियत संघ ने यह घोषणा की कि वह अक्टूबर के अन्त में एक पचास मेगाटन बम का परीक्षण करेगा। २८ अक्टूबर को संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा ने एक पास करके सोवियत संघ से यह अपील की कि वह इस परीक्षण को न करें। लेकिन

यदि हम १९४६ से १९६० तक की निरस्त्रीकर
दोनों पक्षों में घोर मतभेद देखने को मिलता है। इस
सकता है :—

	अमरीकी गुट का -
१. आणविक परीक्षण—	आणविक परीक्षण निरीक्षण की उपयुक्त व्य पर समझौता होने के प परीक्षण दो वर्ष के लि किये जायँ। जब आ आयुधों का उत्पादन जाय तो ऐसे परीक्षण बन्द कर दिये जायँ।
२. नियन्त्रण—	पहले नियन्त्रण व्यवस्था निश्चित की और तब निरस्त्रीकरण
३. आणविक आयुध—	आणविक होने वाली सामग्री के दन पर एक अ नियन्त्रण पद्धति होनी और इस पद्धति को न्वित होते ही सब का उत्पादन बन्द चाहिए।
४. सैनिकों की संख्या—	संयुक्त राज्य तथा रूस की सेना लाख तक सीमित चाहिए। अन्य दे सेनाओं के सम्बन्ध कोई व्यवस्था नही

खु्श्चेव और मेरे बीच समझौते के अनुसार किया गया है।" इस घोषणा में यह कहा गया है कि इस प्रश्न पर विचार करने के लिएआगामी मध्य जुलाई तक राष्ट्रपति केनेडी और प्रधान मन्त्री मैकमिलन के विशेष दूत मास्को जायेंगे।

१४ जुलाई को अमीरकी दूत श्री हैरिमन और ब्रिटेन का लॉर्ड हेलशम मास्को पहुँचे और १६ जुलाई से सोवियत प्रतिनिधि श्री अन्द्रोई ग्रोमिको से उनकी वार्ताएँ शुरू हुई और २५ *जुलाई, १९६३ को तीनों देशों के बीच एक समझौता हो गया।* इसके *अनुसार बाह्य आकाश,* वायुमण्डल और जल के भीतर अब परमाणविक परीक्षण बन्द कर देने का निश्चय किया गया। भूगर्भ परीक्षण पर रोक लगाने के सम्बन्ध में समझौता नहीं हो सका। अगस्त १९६३ में तीनो देशो के विदेश मंत्रियो ने इस समझौता पर हस्ताक्षर कर दिये और १० अक्टूबर को संधि लागू कर दी गयी। संधि के द्वारा यह निश्चय किया गया कि वे अपने अधिकार-क्षेत्र और नियंन्त्रण में विद्यमान किसी भी प्रदेश के वायुमण्डल में, इसकी सीमाओ में, बाह्य अन्तरिक्ष में, प्रादेशिक अथवा महासमुद्रों के जल में कोई भी आणविक विस्फोट नही करेंगे और इस प्रकार के आणविक विस्फोटों को रोक देंगे।

सन्धि में यह भी उल्लिखित है कि यह असीमित अवधि के लिए है, हालाँकि हस्ताक्षरकर्ता प्रत्येक देश को यह अधिकार होगा कि वह अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का प्रयोग करते हुए उस समय स्वयं को उस सन्धि की बाध्यताओं से मुक्त कर ले, जब वह यह निर्णय करे कि इस सन्धि से सम्बन्धित ऐसी असामान्य घटना घटित हुई है कि उससे उस देश का सर्वोच्च हित संकट में पड गया है। इस धारा में कहा गया है कि उपर्युक्त अवस्था में सन्धि से हटने की इच्छा करने वाले देश सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले अन्य देशों को तीन महीने पहले अपने पृथक् होने का नोटिश दे देगा। यही इसकी पृथक् होने वाली धारा कहलाती है। सन्धि की इस पृथकरण की धारा में स्पष्ट है कि यदि फ्रांस और चीन अपने अणु परीक्षण जारी रखते हैं और भारत को *या अन्य किसी राष्ट्र को ऐसा अनुभव होता है कि उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा को संकट है,* तो वे इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने पर भी इससे अलग होकर अपने प्रति सुरक्षात्मक साधनों को बढ़ाने के लिए तैयार हो सकते हैं।

इस सन्धि में स्थल, जल और आकाश में किये जाने वाले अणु-परीक्षणो पर ही प्रतिबन्ध लगाया गया है। अतः स्वभावतः यह प्रश्न पैदा होता है कि भूमिगत (Underground) परीक्षण पर प्रतिबन्ध क्यो नही लगाया गया। ऐसा इसलिए नही हुआ कि भूमिगत परीक्षणों को पकड़ने के लिए इनकी जाँच करने की कोई सन्तोषजनक और सर्वसम्मत विधि नही निकल सकी तथा रूस ने इस बात का घोर विरोध किया कि ऐसे परीक्षणों की जाँच विस्फोट के स्थान पर जाकर की जाय। रूस को यह अभीष्ट न था कि अमेरिका रूसी प्रदेश में जाकर अणु-परीक्षणों के स्थानो का निरीक्षण करें। रूस ने इसका विरोध करते हुए कहा कि ये निरीक्षण बेकार हैं, क्योंकि अब ऐसे यन्त्र बन चुके हैं जो दूरवर्ती स्थानों की भूमि के भीतर होने वाले विस्फोटों की हलचल अंकित करते रहते हैं। सभी दृष्टिकोण के विपरीत अमेरिका का विचार था कि भूमि के अन्दर किये जाने वाले आणविक विस्फोटों की भूचाल के धक्के से पृथक् करना असम्भव है।

इसमें कोई सन्देह नही कि तीन महान् शक्तियों के बीच आणविक परीक्षण सम्बन्धित यह सन्धि निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में ही नही वरन् सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक

संघ पर इस प्रस्ताव का कोई असर नहीं पड़ा और इस बम का परीक्षण कार्य-क्रम के अनुसार ही किया गया।

३ नवम्बर, १६६१ को संयुक्त राष्ट्र साधारण सभा की राजनीतिक समिति में पाँच राष्ट्रों के साथ मिलकर भारत ने प्रस्ताव रखा कि अणु परीक्षण तब तक बन्द कर दिये जायँ जब तक इस पर कोई समझौता नहीं हो जाता है। इन प्रस्तावों का संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत संघ और फ्रांस चारों ने विरोध किया। फिर भी, प्रस्ताव एक जबरदस्त बहुमत से स्वीकार हो गया। ६ नवम्बर को इसी प्रस्ताव की साधारण सभा ने भी ७१ वोटों से स्वीकार कर लिया। २४ अक्टूबर को आणविक आयुधों के नियन्त्रण पर साधारण सभा ने एक और प्रस्ताव स्वीकार किया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि आणविक आयुधों का प्रयोग संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का खुला उल्लंघन है। इसके द्वारा आणविक शक्तियों से अपील की गयी थी कि वे शीघ्र इस बात पर कोई समझौता कर लें। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि अफ्रिका में किसी तरह का आणविक परीक्षण नहीं हो। सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया, लेकिन पश्चिमी राष्ट्रों ने इसके विरोध में अपना मत दिया।

फरवरी १६६२ में राष्ट्रपति केनेडी और प्रधान मन्त्री मैकमिलन ने मिलकर सोवियत संघ के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि १४ मार्च को शुरू होने वाली निरस्त्रीकरण-वार्ता के पूर्व अमेरिका, ब्रिटेन तथा सोवियत संघ के विदेश मन्त्री इस समस्या पर विचार-विमर्श करें। पहले ख्रुश्चेव ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और सुझाव रखा कि इस वार्त्ता के लिए निरस्त्रीकरण आयोग के सदस्य-राष्ट्रों का १८ देशीय शिखर-सम्मेलन हो। लेकिन मार्च में वह विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन पर राजी हो गया। विदेश मन्त्रियों का यह सम्मेलन हुआ भी, पर उसे कोई सफलता नहीं मिली। इसी बीच मार्च में जेनेवा में निरस्त्रीकरण आयोग का सम्मेलन शुरू हुआ। भारत ने प्रस्ताव रखा कि आणविक परीक्षणों का पता लगाने के लिए तटस्थ देशों में स्टेशन कायम किये जायँ। निष्फल वार्ताएँ चलती रहीं। लेकिन जब अप्रिल में संयुक्त राज्य ने आणविक परीक्षण शुरू कर दिया तो ये वार्ताएँ भी बेकार हो गयीं। जुलाई में सोवियत संघ ने भी परीक्षण शुरू कर दिया और निरस्त्रीकरण की सारी आशाएँ लुप्त हो गयीं। ऐसे राष्ट्रपति केनेडी और श्री ख्रुश्चेव के बीच इस प्रश्न पर पत्राचार होता रहा। १३ फरवरी, १६६३ को जेनेवा में फिर से निरस्त्रीकरण आयोग का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। उसी दिन सोवियत संघ ने यह प्रस्ताव रखा कि दोनों गुट यह समझौता करें कि दूसरे देशों की भूमि में तीन महान् आणविक शक्तियाँ आणविक अड्डे नहीं कायम करेंगे। सोवियत प्रतिनिधि वेसलों कुजनेटसोव ने इसके लिए एक सन्धि का ब्योरेवार मसविदा भी प्रस्तुत किया। लेकिन पश्चिमी गुट को यह प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ। जब अमेरिका ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया तो सोवियत संघ ने उसको नहीं माना। निरस्त्रीकरण आयोग में इसी तरह के प्रस्ताव आते रहते हैं, उन पर कभी मतैक्य भी होगा यह कहना कठिन है।

१६६३ का आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध संधि—निरस्त्रीकरण आयोग का कार्य इसी मन्थर गति से जेनेवा में चल रहा था। उसी समय १० जून, १६६३ को राष्ट्रपति केनेडी ने यह घोषणा की कि आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध विषयक सन्धि के लिए अमेरिका, ब्रिटेन, और रूस के बीच शीघ्र ही मास्को में वार्ता शुरू होगी। "यह निर्णय प्रधान मन्त्री मैकमिलन,

ग्रु श्चेव और मेरे बीच समझौते के अनुसार किया गया है।" इस घोषणा में यह कहा गया है कि इस प्रश्न पर विचार करने के लिएआगामी मध्य जुलाई तक राष्ट्रपति केनेडी और प्रधान मन्त्री मैकमिलन के विशेष दूत मास्को जायेंगे।

१४ जुलाई को अमीरकी दूत श्री हैरिमन और ब्रिटेन का लॉर्ड हेलशम मास्को पहुँचे और १६ जुलाई से सोवियत प्रतिनिधि श्री अन्द्रोई ग्रोमिको से उनकी वार्तायें शुरू हुई और २५ जुलाई, १९६३ को तीनों देशों के बीच एक समझौता हो गया। इसके अनुसार वाह्य आकाश, वायुमण्डल और जल के भीतर अब परमाणविक परीक्षण बन्द कर देने का निश्चय किया गया। भूगर्भ परीक्षण पर रोक लगाने के सम्बन्ध में समझौता नहीं हो सका। अगस्त १९६३ में तीनों देशों के विदेश मंत्रियों ने इस समझौता पर हस्ताक्षर कर दिये और १० अक्टूबर को संधि लागू कर दी गयी। संधि के द्वारा यह निश्चय किया गया कि वे अपने अधिकार-क्षेत्र और नियन्त्रण में विद्यमान किसी भी प्रदेश के वायुमण्डल में, इसकी सीमाओं में, वाह्य अन्तरिक्ष में, प्रादेशिक अथवा महासमुद्रों के जल में कोई भी आणविक विस्फोट नहीं करेंगे और इस प्रकार के आणविक विस्फोटों को रोक देंगे।

सन्धि में यह भी उल्लिखित है कि यह असीमित अवधि के लिए है, हालाँकि हस्ताक्षरकर्ता प्रत्येक देश को यह अधिकार होगा कि वह अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का प्रयोग करते हुए उस समय स्वयं को उस सन्धि की बाध्यताओं से मुक्त कर ले, जब वह यह निर्णय करे कि इस सन्धि से सम्बन्धित ऐसी असामान्य घटना घटित हुई है कि उससे उस देश का सर्वोच्च हित संकट में पड़ गया है। इस धारा में कहा गया है कि उपर्युक्त अवस्था में सन्धि से हटने की इच्छा करने वाले देश सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले अन्य देशों को तीन महीने पहले अपने पृथक् होने का नोटिश दे देगा। यही इसकी पृथक् होने वाली धारा कहलाती है। सन्धि की इस पृथक्करण की धारा में स्पष्ट है कि यदि फ्रांस और चीन अपने अणु परीक्षण जारी रखते हैं और भारत को या अन्य किसी राष्ट्र को ऐसा अनुभव होता है कि उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा को संकट है, तो वे इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने पर भी इससे अलग होकर अपने प्रति सुरक्षात्मक साधनों को बढ़ाने के लिए तैयार हो सकते हैं।

इस सन्धि में स्थल, जल और आकाश में किये जाने वाले अणु-परीक्षणो पर ही प्रतिबन्ध लगाया गया है। अतः स्वभावतः यह प्रश्न पैदा होता है कि भूमिगत (Underground) परीक्षण पर प्रतिबन्ध क्यों नहीं लगाया गया। ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि भूमिगत परीक्षणों को पकड़ने के लिए इनकी जाँच करने की कोई सन्तोषजनक और सर्वसम्मत विधि नहीं निकल सकी तथा रूस ने इस बात का घोर विरोध किया कि ऐसे परीक्षणों की जाँच विस्फोट के स्थान पर जाकर की जाय। रूस को यह अभीष्ट न था कि अमेरिका रूसी प्रदेश में जाकर अणु-परीक्षणों के स्थानों का निरीक्षण करें। रूस ने इसका विरोध करते हुए कहा कि ये निरीक्षण बेकार हैं, क्योंकि अब ऐसे यन्त्र बन चुके हैं जो दूरवर्ती स्थानों की भूमि के भीतर होने वाले विस्फोटों की हलचल अंकित करते रहते हैं। सभी दृष्टिकोण के विपरीत अमेरिका का विचार था कि भूमि के अन्दर किये जाने वाले आणविक विस्फोटों की भूचाल के धक्के से पृथक् करना असम्भव है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि तीन महान् शक्तियों के बीच आणविक परीक्षण सम्बन्धित यह सन्धि निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक

महत्त्वपूर्ण और युगान्तरकारी घटना मानी जायगी। चीन और फ्रांस को छोड़कर सारे संसार ने इस समझौते का स्वागत किया। इस समझौते का महत्त्व संसार के महान् राजनेताओं की प्रतिक्रियाओं को जानकार ही स्पष्ट हो जाता है। समझौते के बाद टेलीविजन कार्यक्रम पर बोलते हुए राष्ट्रपति केनेडी ने कहा कि सोवियत संघ के साथ आंशिक परमाणविक परीक्षण रोक सन्धि पूरब और पश्चिम के शीत-युद्ध रूपी अन्धकार में एक प्रकाश-स्तम्भ है। राष्ट्रपति ने कहा कि "मैं आशान्वित होकर आज बोल रहा हूँ। यद्यपि इससे दुनिया की सारी समस्याएँ खत्म नहीं हो जाती, फिर भी यह मानव-जाति के लिए जीत है। इस सन्धि का अर्थ सिर्फ यही है कि और अधिक परीक्षणों को हम तीनों समान रूप से खतरनाक मानते हैं। इस सन्धि से हमारे सारे विवादों का हल नही होगा और न यह युद्ध का खतरा मिटा देता है। लेकिन यह एक महत्त्वपूर्ण कदम है, शांति और विवेक की दिशा में, दुनिया में तनाव घटाने और समझौता का क्षेत्र व्यापक बनाने में यह एक कदम हो सकता है। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री मैकमिलन ने इस सन्धि पर बोलते हुए कहा कि आंशिक परमाणविक परीक्षण रोक सन्धि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है और यह पहला अवसर है कि इस भयानक शक्ति को नियंत्रित करने की दिशा में हम· लोग एक बात पर राजी हुए हैं। श्री ख्रुश्चेव ने भी इसी सन्धि की "एक अच्छी शुरुआत" और युगान्तरकारी घटना बतलाया। लंका के प्रधान मंत्री श्रीमती भंडारनायक ने खुशी जाहिर करते हुए कहा कि तीन महान् राष्ट्रों द्वारा वर्तमान समझौता "अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास के नये युग का श्री गणेश करेगा तथा सामान्य और पूर्ण निरस्त्रीकरण का मार्ग खोल देगा।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आणविक परीक्षण पर रोक से सम्बन्धित यह समझौता केवल निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में ही एक महान् घटना नहीं था, वरन् शीत-युद्ध की समाप्ति की दिशा में भी एक असरदार शुरुआत था जिसके फलस्वरूप संसार के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ।

निरस्त्रीकरण के अन्य प्रयास—इस सन्धि पर अभी तक लगभग एक सौ आठ देशों ने अपने हस्ताक्षर कर चुके हैं। केवल चीन और फ्रांस द्वारा इस समझौते का विरोध हुआ। पर शांति के समर्थकों को इससे कोई विशेष निराशा नहीं हुई। इस सन्धि से जो पारस्परिक सद्भाव का वातावरण उपस्थित हुआ उसका प्रभाव निरस्त्रीकरण सम्मेलन पर अनिवार्य रूप से पड़ा। २१ जनवरी, १९६४ को जेनेवा से पुनः इस आयोग का सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। लेकिन इस सम्मेलन में पुनः कोई सफलता प्राप्त नही हो सकी। १८ सितम्बर, १९६४ को इसका अधिवेशन समाप्त हो गया। इसी के कुछ दिनों के बाद चीन ने अपने प्रथम अणुबम का परीक्षण किया। १९६३ के जेनेवा समझौते का यह प्रथम उल्लंघन था। सारे संसार में इसकी बड़ी कटु आलोचना हुई। २९ नवम्बर, १९६४ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने एक प्रस्ताव पास करके निरस्त्रीकरण आयोग से आग्रह किया कि परमाणविक आयुधों के सम्बन्ध में शीघ्रता-पूर्वक कोई समझौता होना चाहिए। संघ को इस छः सूत्री प्रस्ताव का सोवियत संघ ने विरोध किया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि एक बार पुनः अमेरिका और रूस इस बात पर उलझ जायेंगे।

७ दिसम्बर, १९६४ को उस समय ११५ सदस्यों वाली साधारण सभा में रूसी विदेश मन्त्री ग्रोमिको ने एक ११ सूत्री निरस्त्रीकरण कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसका उद्देश्य विश्व-तनाव

को कम करना और निरस्त्रीकरण की दिशा में तेजी से अग्रसर होना था। यह प्रस्ताव संक्षेप में इस प्रकार था : १. सैनिक बजट में कमी, २. दूसरे देशों में स्थित सैनिकों को हटाना तथा उसमें कमी करना, ३ अन्य देशों में विदेशी सैनिक अड्डों की समाप्ति, ४. अणु-आयुधों के विस्तार पर रोक, ५ अणु-आयुधों के प्रयोग पर रोक, ६. अणु विहीन क्षेत्रों का निर्माण, ७. बमवर्षक विमानों की समाप्ति, ८. भूमिगत आणविक आयुधों के परीक्षण पर प्रतिबन्ध ९ 'नाटो और वारसा' देशों में अनाक्रमण सन्धि, १०. आकस्मिक आक्रमण पर रोक; तथा सैनिकों की कुल संख्या में कमी।

रूस का यह प्रस्ताव अमरीकी गुट को स्वीकार्य नहीं हुआ।

दोनों पक्षों के मतभेदों को दूर करने के उद्देश्य से २७ जुलाई, १९६५ को जेनेवा में निरस्त्रीकरण आयोग की बैठक फिर बुलायी गयी। इस सम्मेलन ने अपने द्वारा अब तक के किये गये कार्यों की विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की, परन्तु सम्मेलन के आरम्भ होने के समय ही रूसी और अमरीकी मतभेद तेजी से उभर आये। दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों ने ऐसे-ऐसे भाषण दिये कि सम्मेलन के भाग्य का फैसला हो गया। यद्यपि दोनों ही पक्षों में आणविक आयुधों की भयानकता के सम्बन्ध में कोई मतभेद न था, लेकिन इन आयुधों को नियंत्रित करने के तरीकों के बीच स्पष्टतः तीव्र मौलिक मतभेद थे। निरस्त्रीकरण सम्मेलन ने अपनी सफलता के विषय में रिपोर्ट का प्रकाशन भी किया जिसमें उसने स्वीकार किया कि वह इस अधिवेशन में किसी भी विशेष समझौते पर नहीं पहुँच सका है, न तो आम और पूर्ण निरस्त्रीकरण के प्रश्नों पर ही और न अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने के उपायों पर ही किसी तरह की कोई सफलता मिली है। आयोग अथवा समिति ने यह विश्वास अवश्य प्रकट किया कि अधिवेशन में हुए वाद-विवाद और विचारों के आदान-प्रदान आयोग के भावी समझौता प्रयासों में अवश्य लाभदायक हो सकती है। सितम्बर में आयोग का यह सम्मेलन भी समाप्त हो गया।

१६ नवम्बर, १९६५ को भारत सहित एकसठ अन्य सदस्य राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक समिति में यह प्रस्ताव रखा कि अक्टूबर १९६४ के काहिरा सम्मेलन के निर्णयों को संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा स्वीकार किया जाय और इस पर विस्तार से विचार करने के लिए साम्यवादी चीन सहित अठारह राष्ट्रों का एक निरस्त्रीकरण सम्मेलन जेनेवा में १९६६ के पहले बुलाया जाय। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया जाय, लेकिन साम्यवादी चीन सम्मेलन में शामिल होने के लिए राजी नहीं हुआ।

२७ जनवरी, १९६६ को निरस्त्रीकरण आयोग का सम्मेलन पुनः जेनेवा में शुरू हुआ जो अगस्त १९६६ तक पूरे सात महीने तक चलता रहा। सम्मेलन के प्रारम्भ में महासचिव यूथान्त ने एक सन्देश भेजा जिसमें कहा गया कि परमाणविक आयुधों के सम्बन्ध में इस बार आयोग को अवश्य ही कुछ करना चाहिए। पोप पाल छठे, राष्ट्रपति जॉनसन और रूसी प्रधान मन्त्री कोसीजिन ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये। दोनों ही ओर से प्रस्ताव पर प्रस्ताव आये किन्तु दोनों ने एक दूसरे के मसविदे को दोषपूर्ण बताते हुए अस्वीकार कर दिया। १६ [illegible] १९६६ को संयुक्त राज्य अमेरिका के अणु-आयुधों की नीति की आलोचना करते हुए

प्रतिनिधि रोचीन ने बड़े जोरदार शब्दों में कहा कि संयुक्त राज्य अमेरिका एक तरफ तो सम्मेलनों में अणु-आयुधों के नियन्त्रण की बात कह कर संसार को गुमराह कर रहा है और दूसरी तरफ 'नाटो' के माध्यम से पश्चिमी जर्मनी तथा गैर अणु-आयुधों वाले अन्य राष्ट्रों में भी अणु आयुधो का विस्तार कर रहा है जैसा कि जुलाई, १९६६ में इस बारे में नाटो संगठन के राष्ट्रों का निर्णय हो चुका है।

इसी सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका ने रूस से आग्रह किया कि वह अपने 'अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों के द्वारा सुरक्षा-व्यवस्थाओं' का तुरत परित्याग करे। सम्मेलन में भाग लेने वाले भारत, ब्राजील, बर्मा, इथोपिया, मेक्सिको, नाइजीरिया, स्वीडेन और संयुक्त अरब गणराज्य आठ तटस्थ राष्ट्रों ने इस बात की मांग की कि संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस भूगर्भ अणु परीक्षणों को भी बन्द करने की बात तुरत स्वीकार करें, परन्तु सम्मेलन में दोनों ही शक्तियाँ अपनी हठवादी प्रवृत्ति का प्रदर्शन करती रही जिसका स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि यह सम्मेलन भी बिना किसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण निर्णय के ही समाप्त हो गया।

१९६८ की परमाणविक संधि

नवम्बर १९६६ में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा की राजनीतिक समिति ने परमाणु अस्त्रों के प्रसार और निर्माण-सम्बन्धी रोक के एक समझौते (non-proliferation treaty) का प्रस्ताव पास कर दिया। संघ के ११२ सदस्यों में से ११० ने पक्ष में मतदान किया। अल्बेनिया विरोध कहता रहा और क्यूबा तटस्थ रहा। प्रस्ताविक संधि का उद्देश्य यह था कि परमाणु अस्त्रों को बनाने पर रोक लगे, जो देश परमाणु अस्त्रविहीन हैं वे इसे न बनावें जो परमाणु अस्त्रों से लैस हैं-वे भी अब इसका निर्माण बन्द करें।

महासभा द्वारा प्रस्ताव स्वीकार कर लिये जाने के बाद समस्या को जेनेवा निरस्त्रीकरण आयोग के समक्ष लाया गया जो संधि का एक मसविदा तयार करता। १८ मार्च, १९६७ को संधि-वार्ता का सिलसिला छः सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया गया।

अगस्त १९६७ के अन्तिम सप्ताह में अमरीकी प्रतिनिधि फास्टर और सोवियत प्रतिनिधि रास्चिन ने यह ऐलान किया कि परमाणु अस्त्र संधि के मसविदे के बारे में सोवियत संघ और अमेरिका में मोटे तौर पर समझौता हो गया है और उस समझौते के अनुसार संधि का एक मसविदा हम विचारार्थ यहाँ पेश कर रहे हैं। दो बड़े राष्ट्रों में रजामंदी होने की यह खबर मिलते ही इस मामले से सम्बद्ध छोटे राष्ट्रों के प्रतिनिधि चौकन्ने होकर बैठ गये। संधि का मसविदा बड़ा लम्बा-चौड़ा था और उसकी भूमिका भी खास लम्बी-चौड़ी थी, तो भी परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्रों की शंकाओं और उनके सन्देहों का कोई समाधान नहीं हो सका।

मसविदे के पहले अनुच्छेद में यह कहा गया था कि परमाणु-अस्त्र सम्पन्न राष्ट्र परमाणु अस्त्र विहीन राष्ट्रों को परमाणु अस्त्र प्राप्त करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे।

दूसरे अनुच्छेद में कहा गया कि हस्ताक्षर करने वाले परमाणु अस्त्र-विहीन राष्ट्र परमाणु अस्त्र बनाने की कोई कोशिश नहीं करेंगे।

तीसरा अनुच्छेद परमाणु अस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाने की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सम्बन्ध में था। इस अनुच्छेद में कुल एक पंक्ति थी।

चौथा अनुच्छेद उन राष्ट्रों को आश्वस्त करने के लिए रखा गया था जिन्होंने अपने यहाँ आणविक उद्योग का काफी विकास कर लिया है। इसमें कहा गया था कि हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों को असैनिक कार्यों के लिए परमाणु शक्ति का विकास करने में पूरी छूट रहेगी।

पाँचवें, छठे और सातवें अनुच्छेद में कार्य-विधि-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ थी।

लेकिन प्रस्तावित सन्धि में कहीं भी यह नहीं बताया गया था कि अगर किसी परमाणु अस्त्र-विहीन राष्ट्रो पर कोई परमाणु-अस्त्रधारी राष्ट्र हमला करता है तो हस्ताक्षर करने वाले देश उसके बचाव की क्या व्यवस्था करेंगे। तीसरे अनुच्छेद के बारे में कोई समझौता न हो सकने के कारण फिलहाल किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की परिकल्पना भी नही हो सकी है जो किसी परमाणु अस्त्र-विहीन राष्ट्र को परमाणु-अस्त्र बनाने से रोक सके, जो विभिन्न देशों के परमाणु-शक्ति के विकास के कार्यक्रमों का निरीक्षण और नियन्त्रण करके यह गारन्टी दे सके कि असैनिक उपयोग के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह सैनिक उपयोग में नहीं आयगा, और जो हस्ताक्षर करने वाले परमाणु शक्ति विहीन राष्ट्रों को शान्तिपूर्ण उपयोगों के लिए परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों में परमाणु शक्ति के बारे में आवश्यक जानकारी और सामग्री दिला सके।

स्पष्ट है कि इस तरह की व्यवस्थाओं के अभाव में सन्धि का कोई महत्त्व नही रह जाता है। इसीलिए परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्रों ने मसविदे की जम कर आलोचना की। फ्रांस और चीन बिरादरी से बाहर रहने वाले इन दो परमाणु अस्त्र-सम्पन्न देशों ने भी मसविदे का विरोध किया। चीन की सरकारी समाचार एजेंसी ने इस सन्धि को सोवियत संशोधनवाद और अमरीकी साम्राज्यवाद की सन्धि ठहराया और कहा कि इसका मुख्य उद्देश्य चीन के विरुद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तैयार करना है।

पेरिस में फ्रांसीसी सरकार ने पहले मसविदे पर कोई भी टिप्पणी करने से इन्कार कर दिया क्योंकि फ्रांस जेनेवा वार्ता से सम्बद्ध नहीं था। बाद में एक सरकारी प्रवक्ता ने कहा कि हम यह मानते हैं कि परमाणु-अस्त्र के प्रसार पर रोक लगनी चाहिए, हम यह भी स्वीकार करते हैं कि सभी राष्ट्र परमाणु-अस्त्र बनाने लगेंगे तो सभ्यता का सर्वनाश हो जायगा। लेकिन साथ में हम यह कहना चाहते हैं कि फिलहाल सबसे बड़ा खतरा अमेरिका और सोवियत संघ जैसे उन बड़े राष्ट्रों से है जिन्होने बड़े पैमाने पर परमाणु-अस्त्र बना कर रख लिये हैं। अतः यह आवश्यक है कि वे परमाणु-अस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगा दें और इस समय उनके पास जितने परमाणु-अस्त्र है उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय देख-रेख में नष्ट करवा दें। पश्चिमी जर्मनी के एक सरकारी प्रवक्ता ने कहा कि सब कुछ मसविदे के तीसरे अनुच्छेद पर निर्भर है और इस अनुच्छेद के बारे में अब तक कोई समझौता नही हो सका है। स्पेन के समाचार-पत्रों ने लिखा कि प्रस्तावित सन्धि और कुछ नही, परमाणु-शक्ति के क्षेत्र में सोवियत संघ और अमरिका का एकाधिकार बनाये रखने की सन्धि है।

सन्धि पर सबसे ज्यादा आपत्ति पश्चिमी जर्मनी, इटली और भारत की थी। पश्चिम जर्मन और इटली यह महसूस करते हैं कि परमाणु-अस्त्र-सम्पन्न सोवियत संघ, फ्रांस और ब्रिटेन के

सामने वे यूरोप में नगण्य होकर रह जायेंगे। भारत को परमाणु-अस्त्र-सम्पन्न चीन से जबरदस्त खतरा है और प्रस्तावित सन्धि इस खतरे को दूर नहीं कर सकती।

कुल मिला कर प्रस्तावित सन्धि का महत्व मात्र इतना रह गया है कि सोवियत संघ और अमेरिका अपने किसी मित्र राष्ट्र को परमाणु अस्त्र न देने के विषय में सहमत हो गये और यह इस बात का और प्रमाण है कि वे यह मानने लगे हैं कि मित्रों और पिछलगुओं को भुलाकर सीधे आपस में बाँट कर खा लेना ज्यादा सुविधाजनक और लाभप्रद रहेगा। अगर प्रस्तावित सन्धि मूल रूप में स्वीकार कर लिया जाता तो परमाणु अस्त्र-सम्पन्न होने के नाते सोवियत संघ और अमेरिका दो बड़े पद पर कुछ और इत्मीनान से प्रतिष्ठित हो जाते। निरीक्षण और नियन्त्रण-सम्बन्धी व्यवस्था हो जाने पर वे वैज्ञानिक और औद्योगिक दृष्टि से विकसित किन्तु परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्रों में परमाणु-शक्ति कार्यक्रमों की जासूसी खुलेआम और विधिवत करते रहते।

२४ अप्रिल, १९६८ को साधारण सभा का विशेष अधिवेशन इस प्रस्तावित परमाणविक आयुद्ध प्रसार प्रतिबन्ध सन्धि पर विचार करने के लिए प्रारम्भ हुआ। लगभग सात सप्ताह तक इस प्रारूप पर सभा की राजनीतिक समिति में विचार-विमर्श होता रहा। ११ जून को समिति ने एक प्रबल बहुमत से सन्धि पर अपनी स्वीकृति देते हुए यह अनुरोध किया कि इस पर हस्ताक्षर लेने का काम शुरू हो और यथासम्भव शीघ्र इसकी पुष्टि की जाय। समिति ने आशा व्यक्त की कि अधिक से-अधिक राष्ट्रों द्वारा इस सन्धि का पालन किया जायगा।

१३ जून, १९६८ को यह प्रस्ताव साधारण सभा के अधिवेशन में प्रस्तुत किया गया। सन्धि के पक्ष में पनचानवे और विपक्ष में चार वोट आये। इक्कीस सदस्यों ने मतदान में भाग नहीं लेनेवालों में भारत भी था। मतदान में फ्रांस का भाग लेना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। कम्यूनिस्ट चीन भी इस सन्धि से बाध्य नहीं होगा। अल्बेनिया ने, जो पिकिंग समर्थक माना जाता है, प्रस्ताव के विरुद्ध वोट दिया। विपक्ष में वोट देनेवाले अन्य तीन सदस्य क्यूबा, तमानिया और जाम्बिया थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि निरस्त्रीकरण की दिशा में यह परमाणविक आयुद्ध प्रसार प्रतिबन्ध सन्धि कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अगस्त १९६३ के परमाणविक प्रतिबन्ध विषय सन्धि के बाद निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में यह एक दूसरा ऐतिहासिक कदम है जिसके फलस्वरूप निरस्त्रीकरण के अन्य पहलुओं के समाधान की सम्भावना बढ़ गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृष्टिकोण से भी इस सन्धि का महत्त्व कम नहीं है: यह सन्धि इसलिए सम्भव हो सकी कि इसके लिए सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों ने मिल-जुलकर प्रयास किया। इस बात से तथ्य की पुष्टि होती है कि दो महान् शक्तियाँ आपस में मिल जुलकर काम करें तो विश्व की सारी कठिन समस्याएँ सुलझायी जा सकती है। वस्तुतः दोनों ही देशों द्वारा यह भली-भाँति समझा जाने लगा है कि परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों की संख्या जितनी अधिक होती जायगी, परमाणु अस्त्रों द्वारा संसार को विनाश के कगार तक पहुँचाने की सम्भावना उतनी ही बढ़ती जायगी। इस स्थिति में परमाणु अस्त्रों के प्रसार को रोकना आवश्यक माना जा रहा है। १९५ में अमेरिका की महान् परमाणु शक्ति से अपने बचाव का केवल एक रास्ता सोवियत संघ का

दिखाई पड़ा था। वह रास्ता था स्वयं परमाणु शक्ति सम्पन्न हो जाने का। आज स्थिति यह है कि वह अमेरिका के साथ कदम-से-कदम मिलाकर दुनिया के दूसरे परमाणु शक्ति-सम्पन्न अथवा परमाणु शक्ति विहीन देशों को घेर-घार कर परमाणु-शक्ति सम्बन्धी एक सन्धि पर दस्तखत कर देने को बाध्य कर रहा है। इसका कारण है कि आज स्थिति बदल चुकी है। परमाणु अस्त्रों का आगार केवल अमेरिका और सोवियत संघ के पास नहीं रह गया है। दूसरे देश भी इस शक्ति से धनी हो उठे हैं। यही वजह है कि सोवियत संघ और अमेरिका दोनों परमाणु अस्त्रों के उत्पादन और प्रसार पर प्रतिबन्ध लगाने के प्रबल समर्थक हो गये हैं।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह सन्धि त्रुटि रहित है। इस सन्धि में तो एक ओर यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि जो राष्ट्र अबतक परमाणु बम नहीं बना पाये हैं वे भविष्य में भी कभी नहीं बनायेंगे और दूसरी ओर अणु-आयुद्ध के आक्रमण से उन्हें बचाने के लिए जो आश्वासन दिया गया है वह यह कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से आक्रान्त देशों की अणु-आयुद्ध से सहायता की जायगी और इसका निर्णय सुरक्षा-परिषद् करेगी। संयुक्त-राष्ट्रसंघ ने "आक्रमण" शब्द की व्याख्या नहीं की है जिससे किसी को यह भ्रम बना रहेगा कि सुरक्षा-परिषद् किस हालत में किसको आक्रमणकारी समझेगी। दूसरी बात यह है कि यदि सुरक्षा-परिक्षद् में किसी स्थायी सदस्य ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग कर किसी आक्रान्त देश की रक्षा के अश्वासन से वञ्चित कर दिया तो फिर आश्वासन का क्या महत्त्व रह जायगा। इस प्रकार सन्धि में और भी कई बातें हैं जो त्रुटिपूर्ण हैं।

उपसंहार :—निरस्त्रीकरण के दुःखद इतिहास का संक्षिप्त अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों पक्षों में कुछ मौलिक मतभेद है। लेकिन विश्व शान्ति के लिए इस समस्या का हल अत्यन्त आवश्यक है और यह भी अति शीघ्र होना चाहिए। इसका एक कारण यह है कि अभी तक आणविक क्लब (nuclear club) की सदस्यता बहुत ही सीमित है। केवल अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस तथा चीन अभी तक इन बमों को बना पाये हैं। लेकिन यह निश्चित है कि इस क्लब की समस्यता बढ़ती जायगी। हर देश में इस पर शोधकार्य हो रहे हैं।* ऐसा विश्वास किया जा रहा है कि भारत, अर्जेन्टाइना, ब्राजिल, दक्षिण अफ्रिका तथा स्वेडन आदि देशों ने परमाणविक विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति कर ली है और वे शीघ्र ही इन आयुद्धों से अपने को सम्पन्न कर लेंगे। इसके अतिरिक्त अब यह भी प्रयास होने लगा है कि सरल तथा सस्ती विधि से परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का उत्पादन हो। वैज्ञानिक लोग इस कार्य में जुटे हुए हैं। यदि ऐसा हो गया तो इन विध्वंसक आयुद्धों पर नियन्त्रण असम्भव हो जायगा। परमाणु बमों से भी अधिक भयंकर उनको ढोनेवाले साधन हैं जिनमें दिन प्रतिदिन सनसनी खेज प्रगति होती जा रही है। रॉकेट तथा अन्तर महाद्वीपीय दूर क्षेपक यन्त्र तो पहले से थे ही; अब पोलरिस क्षेपक यन्त्रों (Polaris missile) का विज्ञान भी बहुत आगे बढ़ चुका है। पोलरिस क्षेपक यन्त्र मध्यम दर्जे (medium range) के ऐसे रॉकेट हैं जिनमें परमाणविक आयुद्ध लदे रहते हैं। उनसे स्थल, समुद्र और समुद्र के भीतर से बम छोड़ा जा सकता है। इससे एक क्रांतिकारी परिवर्त्तन आ गया है जिसके कारण आणविक आयुद्धों की सामरिक स्थिति में घोर परिवर्त्तन हो गया है। स्थलीय अड्डों से रॉकेट द्वारा अणुबम छोड़ने में एक जोखिम था कि शत्रु के रॉकेट उनको नष्ट न कर दें। लेकिन पोलरिस क्षेपक यन्त्र पनडुब्बियों में लदे रहते

* सम्भवतः इजरायल ने भी इसे बना लिया है।

है और पानी के भीतर से वहीं से सूचना मिलते आणविक आयुद्धों को छोड़ सकते हैं। चूँकि ये पन्डुब्बियाँ पानी के भीतर बराबर चलती-फिरती हैं इसलिए शत्रुपक्ष को इसका पता नहीं लग सकता है और वे नष्ट होने से बच सकती हैं। स्कॉटलैंड के होलीलाच में अमेरिका का एक पोलरिस अड्डा कायम हो गया है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मनुष्य अपने विनाश की पूरी तैयारी में सलग्न हो गया है और अब लौटने की स्थिति नहीं आयगी। इस कारण निरस्त्रीकरण समस्या का तुरत समाधान अत्यन्त आवश्यक हो गया है। इसके लिए सबसे पहले शीत-युद्ध का बन्द करने की आवश्यकता है। जब तक शीत-युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव रहेगा तब तक निरस्त्रीकरण की कोई वार्ता सफल नहीं हो सकती। सौभाग्य की बात है कि आज विश्व का जनमत इसके लिए पहले से बहुत अधिक सचेष्ट हो गया है, क्योंकि निरस्त्रीकरण की असफलता का अर्थ संसार का विनाश।

अध्याय १३ ८

संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति

(Foreign Policy of the U. S. A.)

अमेरीकी विदेश-नीति का मूलाधार—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश-नीति में एक महान् क्रान्ति हुई। हम इस पुस्तक में पढ़ चुके हैं कि प्रथम विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राज्य ने विश्व राजनीति में, सदा की भाँति, पार्थक्यवादी नीति का ही अनुसरण किया। लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में नयी परिस्थितियों के आगमन के कारण अमेरिका के लिए फिर से पार्थक्यवादी नीति का अनुसरण करना असम्भव हो गया। इसका सर्वोपरि कारण था युद्ध के बाद एक नवीन शक्ति के रूप में सोवियत संघ का प्रादुर्भाव।[1] अमरीकी प्रशासन ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की खतरे की संज्ञा दी और अपने को विश्व का नेता मानकर संसार को इस खतरे से बचाने के लिए दौड़ पड़ा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत सहायता से जिस तरह पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी व्यवस्था संगठित की गयी थी उसको अमेरिका ने रूस की विस्तारवादी नीति का परिणाम बतलाया। युद्धोत्तर काल में इस प्रकार रूस के प्रभाव में जो वृद्धि हुई उससे अमेरिका भयभीत और सशंकित हो गया। यह स्वाभाविक भी था। अमेरिका पूँजीवाद का गढ़ है और सोवियत संघ की साम्यवादी व्यवस्था उसके लिए सबसे बड़ी चुनौती थी। सोवियत संघ के प्रभाव में वृद्धि का अर्थ था अमेरिकी पूँजीपतियों द्वारा सर्वसाधारण के विश्वव्यापी शोषण का अन्त। इस तरह की स्थिति निहित स्वार्थ (vested interests) के लोगों ने कभी भी स्वीकार नहीं किया है और भविष्य में भी नहीं करेंगे। अतएव द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका की विश्व-नीति का मूलाधार साम्यवादी प्रभाव के प्रसार को रोकना और यदि संभव हो तथा मौका मिल जाय तो उसका पूर्ण विनाश करना था।[2] इस प्रकार युद्ध के बाद अमेरिका ने साम्यवाद के विरुद्ध जेहाद बोलने का निर्णय कर लिया। शीत-युद्ध की उत्पत्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि इसके महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए।

---

1. "America could safely afford isolationism after 1920, for the defeat of the Central Powers was followed by a new balance of power in Europe and Asia. America could not safely afford isolationism after 1945, for the defeat of the Triplice was followed by a new hegemony of the Communist Powers over Europe and Asia."

—F. L. Schuman, *International Politics* (5th Ed.) p. 157

2. 'यह तथ्य जॉर्ज अर्ल की इस उक्ति से स्पष्ट हो जायगा। अमरीकी सिनेट के इस सदस्य ने रूस के प्रति अमेरिका की नीति को इन पंक्तियों में व्यक्त किया था —"Soviet- Russia is a menace far greater than the Nazis. the U. S. A. must prepare in her self-defence to wipe out every city and village in Russia."

ट्रूमैन सिद्धान्त

पूर्वी यूरोप के अतिरिक्त फ्रांस, इटली, यूनान और तुर्की में साम्यवादी आन्दोलन बहुत शक्तिशाली था और युद्ध के बाद ऐसा प्रतीत हो रहा था कि इन देशों में भी कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो जायगी। इसके लिए इन देशों की आर्थिक और राजनीतिक स्थिति बहुत ही अनुकूल थी। अतएव राष्ट्रपति ट्रूमैन ने शीघ्र ही यह निर्णय किया कि इन देशों को आर्थिक सहायता देकर साम्यवाद के प्रसार को यूरोप में सीमित किया जाय। आर्थिक सहायता को सफल बनाने के लिए राजनीतिक स्थिति को भी अपने पक्ष में करना आवश्यक था। अतएव इन देशों की आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप करने का निर्णय भी साथ-ही-साथ लिया गया। इस तरह सोवियत संघ और अमेरिका में एक नये प्रकार का युद्ध प्रारम्भ हुआ। इसका पहला स्थल यूनान था।

यूनान की समस्या—युद्ध-काल में यूनान में साम्यवादी आन्दोलन काफी प्रगति कर चुका था। लेकिन अपने विश्व-व्यापी साम्राज्यवादी हित के संरक्षण के लिए ब्रिटेन इस देश पर अपना प्रभाव कायम रखना चाहता था। १९४४ के अक्टूबर में सोवियत संघ तथा ब्रिटेन में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार यूनान को ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र मान लिया गया। अब ब्रिटेन ने यूनानी साम्यवादी पार्टी की विरोधी पार्टी—राजसत्तावदी पार्टी—का समर्थन करना और यूनान की राजनीति में हस्तक्षेप करके कुम्युनिस्टों का दमन करना शुरू किया। यह १९४४ के समझौते का उल्लंघन था। इसी स्थिति में मार्च, १९४५ में यूनान में चुनाव हुआ जिसमें राजसत्तावादियो को पूर्ण बहुमत मिला और सितम्बर में वहाँ राजतन्त्र की स्थापना कर दी गयी। अब कम्युनिस्टो का दमन और जोर-शोर से शरू हुआ। इस दमन से बचने के लिए वे उत्तर की पहाड़ियों में जा छिपे और वही से यूनानी सरकार के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध छेड़ दिया। इसमें कोई सन्देह नही कि इन कम्युनिस्ट गुरिल्लो को निकट के साम्यवादी देशो से सहायता मिल रही थी। रूस इस मामले में गहरी दिलचस्पी ले रहा था। यह बिल्कुल स्वाभाविक था। यदि राजसत्तावादी दल विदेशी सहायता से प्रतिक्रियावादी नीति का अनुसरण करके कम्युनिस्टों का दमन कर रहा था, तो पड़ोस के साम्यवादी देश इसका सहन कैसे कर सकते थे।

दिसम्बर, १९४६ में यूनान ने सुरक्षा-परिषद् में "विद्रोही दलों को विदेशों से सहायता दिये जाने की" शिकायत पेश की। सयुक्त राष्ट्रसंघ की एक आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि यूनान के विद्रोहियो को यूगोस्लाविया, अल्बेनिया आदि देशों से सहायता मिल रही है। ब्रिटेन के लिए अकेले कम्युनिस्टो का मुकाबला करना अत्यन्त कठिन था। उसकी आर्थिक स्थिति युद्ध के बाद इतनी खराब हो गयी थी कि यूनान में वह और अधिक सेना नहीं भेज सकता था। उसने अमेरिका से यूनान को साम्यवादी खतरे से बचाने का अनुरोध किया। उसने वाशिंगटन को यह सूचित किया कि "ब्रिटिश सरकार आर्थिक कारणों से विवश होकर वर्तमान वित्तीय वर्ष की समाप्ति तक पाँच सप्ताह के भीतर अपनी सेनाएँ यूनान से हटा लेगी।" ब्रिटेन के इस निश्चय ने संयुक्त राज्य अमेरिका को चिन्तित कर दिया, क्योंकि ब्रिटिश फौजों को हटते ही वह सम्पूर्ण क्षेत्र साम्यवाद की बाढ़ में डूब जाता। २६ फरवरी, १९४७ को ट्रूमैन ने यह निश्चय किया कि अमेरिका को "ऐसे देशों की रक्षा" अवश्य करनी चाहिए। इसी निश्चय के फलस्वरूप अमेरिका ने यूनान को आर्थिक सहायता देने का कार्यक्रम बनाया।

तुर्की की समस्या :—तुर्की क्षेत्र में स्थित दो जलडमरूमध्यो को लेकर युद्ध के बाद तुर्की और सोवियत संघ का सम्बन्ध अत्यन्त तनावपूर्ण हो गया। १६३६ में मांत्रो का एक समझौता हुआ था जिसके अनुसार तुर्की ने वादा किया था कि वह जलडमरूमध्य से सभी राष्ट्रों के युद्धपोतो और व्यापारिक जहाजो को स्वतन्त्रतापूर्वक गुजरने देगा। लेकिन १६५५ में परिस्थिति बहुत बदल चुकी थी। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय धुरी राष्ट्रों के अनेक रणपोत इस रास्ते से गुजरे थे और तुर्की ने इसमें उनकी सहायता की थी। सोवियत सुरक्षा के लिए यह बहुत ही खतरनाक स्थिति थी। अतएव अपनी सुरक्षा-व्यवस्था को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से ७ अगस्त, १६४६ को मास्को ने तुर्की के सम्मुख जलडमरूमध्यो के सम्बन्ध में यह माँग की कि ये युद्ध और शान्तिकाल में सब देशो के व्यापारिक जहाजो के लिए खुले रहें, काला सागर की शक्तियो के युद्धपोतों के लिए ये सदा खुले रहें, विशेष अवस्था को छोड़ कर काला सागर से भिन्न शक्तियो के युद्धपोतो का इनमें से गुजरना निषिद्ध हो, जलडमरूमध्यों का शासन प्रबन्ध तुर्की और काला सागर की शक्तियों द्वारा हो तथा उनकी रक्षा तुर्की और सोवियत संघ के सामान्य साधनों से हो।

यदि तुर्की पर यह बात छोड़ दी जाती तो सम्भवतः वह इन सभी माँगों को मान लेता। लेकिन अमेरिका की सलाह पर उसने इन प्रस्तावों को मानने से इन्कार कर दिया। इस पर सोवियत संघ और तुर्की के बीच तनातनी बढ़ी। अमेरिका ने यह आरोप लगाया कि सोवियत संघ तुर्की पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा है, अमरीकी अखबारों के "विशेष प्रतिनिधियो" ने इन अफवाहो की पुष्टि की। अब तुर्की बहुत डर गया। तुर्की को अमरीकी जाल में फंसाने का प्रयत्न पूरी तरह सफल हो गया। १६४६ का बजट तुर्की संसद् के समक्ष पेश हुआ। उसमें आधा से अधिक सैनिक कार्यों के लिए था, लेकिन तुर्की के लिए प्रतिरक्षा पर इतनी बड़ी रकम व्यय करना असम्भव था। इससे उसकी अर्थ व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती और इतना करने पर भी रूस जैसी महाशक्ति का मुकाबला वह नहीं कर सकता था। उसने अब अमेरिका से सहायता माँगी और ट्रूमैन ने इसको सहर्ष स्वीकार कर लिया।

ईरान की समस्या—द्वितीय महायुद्ध में, तेल का एक प्रधान उत्पादक और रूस को पश्चिमी सहायता पहुँचाने का मार्ग होने के कारण, ईरान का सामरिक महत्त्व बहुत बढ़ गया था। अतः युद्ध काल में अगस्त १६४१ में रूसी सेनाओं ने उत्तरी ईरान पर और ब्रिटिश सेनाओं ने दक्षिणी ईरान पर अधिकार कर लिया। १६४२ में ईरान के साथ ब्रिटेन और रूस की एक सन्धि हुई जिसमें उत्तरी और दक्षिणी ईरान में सोवियत एवं ब्रिटिश सेनाओं के अधिकार को स्वीकार करते हुए यह व्यवस्था कर दी गयी कि युद्ध के समाप्ति के बाद छः महीने के भीतर विदेशी सेनाएँ ईरान से हटा ली जायँगी।

१६४५ में जर्मनी के परास्त होने पर यह निश्चित हुआ कि २ मार्च, १६४६ तक ईरान से ब्रिटिश और अन्य सभी विदेशी सेनाएँ हटा ली जायेंगी। परन्तु इसी समय यह घटना घटी कि नवम्बर, १६४५ में रूसी अधिकृत आजर-बाइजान में तुदेह पार्टी ने ईरान की राजधानी तेहरान के विरुद्ध विद्रोह करते हुए अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की; जब तेहरान ने इस विद्रोह को दबाने के लिए अपनी सेनाएँ वहाँ भेजी तो रूसी सेनाओं ने उन्हें वहाँ प्रविष्ट नहीं होने दिया। इस समस्या के हल के लिए रूस पर दबाव डालने की दृष्टि से अमेरिका ने कहा कि यदि सभी विदेशी

सेनाएँ ईरान से हट जायँ तो वह १ जनवरी, १९४६ तक अपनी सेनाएँ हटा लेगा। ३ दिसम्बर को रूसियों द्वारा अमेरिका का प्रस्ताव अस्वीकार कर लिये जाने पर १९ जनवरी, १९४६ को ईरान ने यह प्रश्न सुरक्षा-परिषद् में उठाया। रूस ने विरोध करते हुए कहा कि यह विषय संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकारक्षेत्र में नहीं आता। परिषद् ने दोनों ही पक्षों को प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा इस प्रश्न का समाधान करने को कहा। अन्त में अप्रिल, १९४६ में सोवियत संघ का तेहरान के साथ एक समझौता हुआ जिसके अनुसार यह निर्णय किया गया कि १ मई, १९४६ तक सोवियत सेना ईरान खाली कर दे और ५१ प्रतिशत रूसी हिस्से वाली सोवियत ईरानी तेल कम्पनी स्थापित की जाय। समझौते के अनुसार मई में सोवियत फौजें ईरान से हट गयीं और जून में सम्पूर्ण अजर-बाइजान तेहरान के अधिकार में आ गया। लेकिन इसके बाद ही ईरान की पार्लियामेंट (मजलिस) ने संयुक्त तेल कम्पनी स्थापित करनेवाला समझौता अस्वीकृत कर दिया।

अमरीकी विदेश विभाग ने यूनान, तुर्की और फारस की घटनाओं का अर्थ यह लगाया कि इस क्षेत्र में सोवियत संघ अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए कृत संकल्प है। अपने हित के रक्षार्थ उसने इसको रोकना आवश्यक माना। अतएव ट्रूमैन ने इन देशों को आर्थिक सहायता देकर "साम्यवादी प्रसार" को रोकने की नीति अपनायी। इस प्रकार की जो नीति अपनायी गयी उसको ट्रूमैन सिद्धान्त (Truman Doctrine) कहते हैं।

ट्रूमैन सिद्धान्त—राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमरीकी कांग्रेस से यह सिफारिश की कि यूनान और तुर्की को सहायता देने के लिए ४० करोड़ डालर का अनुदान स्वीकार किया जाय। १२ मार्च, १९४७ को राष्ट्रपति का ऐतिहासिक भाषण हुआ जिसमें कहा गया था कि स्वतन्त्र देशों को वाह्य प्रभाव से रक्षा करना संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति होनी चाहिए। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कहा : "आज यूनानी राज्य की सत्ता संकट में है। इसका कारण कम्युनिस्टों की सरकार को चुनौती देने वाले कई हजार सशस्त्र व्यक्तियों के आतंकवादी कार्य है···यूनानी सरकार इस स्थिति का सामना करने में असमर्थ है। उसको सहायता की आवश्यकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका को उसे सहायता देनी चाहिए। तुर्की की भी यही स्थिति है। अभी हाल में दुनिया के कई देशों में सर्वाधिकारवादी शासन वहाँ की जनता की इच्छा के विरुद्ध स्थापित कर दिये गये हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका ने याल्टा समझौते को भंग करते हुए पोलैण्ड, रुमानिया, बुल्गेरिया में धमकी और दबाव से स्थापित शासनों के विरुद्ध प्रतिवाद किया है।

"मेरा विश्वास है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की यह नीति होनी चाहिए कि वह वाह्य दबाव से या सशस्त्र अल्पसंख्या द्वारा स्थापित किये जाने वाले शासनों का प्रतिरोध करने वाली स्वतन्त्र जनता का समर्थन करे। मेरा विश्वास है कि हमें स्वतन्त्र जनता को अपने तरीकों से अपना भाग्य निर्माण करने में सहायता देनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि हमारी सहायता प्रधानतः आर्थिक और वित्तीय सहायता के द्वारा होनी चाहिए, जो कि आर्थिक स्थायित्व और सुव्यवस्थित राजनीतिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। यदि यूनान सशस्त्र अल्पसंख्यकों के हाथ में आ जाता है तो इसका तात्कालिक और भीषण प्रभाव इसके पड़ोसी राज्यों पर पड़ेगा। समस्त मध्य-पूर्व में गड़बड़ और अव्यवस्था का साम्राज्य कायम हो जायगा। इसका प्रभाव यूरोप में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाली जनता पर पड़ेगा। स्वतन्त्र संस्थाओं का विध्वंस और स्वाधीनता का अपहरण न केवल उसके लिए वरन् समस्त विश्व के लिए घातक होगा।"

"सर्वाधिकारवादी शासनों के बीच लोग दुःख और दरिद्रता में पनपते हैं। उनका विकास और वृद्धि निर्धनता तथा संघर्ष में होता है। जब जनता में उत्कृष्ट जीवन के लिए आशा नष्ट होती है तो इसका पूर्ण विकास होता है, हमें यह आशा नष्ट नहीं होने देनी चाहिए।

"स्वतंत्र जगत की स्वतन्त्र जनता अपनी स्वाधीनता बनाये रखने के लिए हमारी ओर देख रही है। यदि हमने नेतृत्व में चूक की तो समस्त विश्व की शान्ति संकट में पड़ जायगी। हम अपने राष्ट्र के कल्याण को संकटपूर्ण बना देंगे। समय तथा परिस्थिति के परिवर्तन के कारण हमारे ऊपर बड़ा भारी उत्तरदायित्व आ गया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि कांग्रेस उन समस्त उत्तरदायित्वों को पूर्ण रूप से निभायगी।"

यह था ट्रूमैन सिद्धान्त जिसने युद्धोतर काल में अमरीकी साम्राज्यवाद की नींव रखी। अमरीकी कांग्रेस ने तुरत इसको स्वीकार कर लिया और यूनान तथा तुर्की को चालीस करोड़ डालर की सहायता देने का राष्ट्रपति ट्रूमैन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

ट्रूमैन सिद्धान्त कई दृष्टियों से एक क्रान्तिकारी कदम था जिसने अमेरिका की विदेश-नीति को एक नया मोड़ दिया। इसने सारी दुनिया को ही संयुक्त राज्य अमेरिका मान लिया। जैसा कि राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कहा था : "दुनिया में जहाँ कहीं शान्ति भंग करनेवाला प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रामक कार्य होगा, वहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका की सुरक्षा संकट में मानी जायगी और वह इसको रोकने का पूरा प्रयत्न करेगा। इस प्रकार इस घोषणा के द्वारा अमेरिका ने अपने को सारे संसार का रक्षक नियुक्त कर लिया। इसके पूर्व अमेरिका अपना कार्यक्षेत्र अमरीकी गोलार्द्ध को ही समझता आ रहा था। अब यह कार्य-क्षेत्र विश्वव्यापी हो गया। इसी दृष्टिकोण से ट्रूमैन सिद्धान्त मुनरो सिद्धान्त का वृहत् और विश्वव्यापी रूप बनकर आया। इस सिद्धान्त के और भी कई महत्त्व थे। यह आनेवाली शीत-युद्ध की घोषणा और मास्को के साथ सहयोग करने कि नीति के परित्याग की सूचना थी। इसके फलस्वरूप संसार अब स्पष्टतः दो विरोधी गुटों में बँट गया।

लेकिन ट्रूमैन सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप कुछ दूसरा ही था। इसके द्वारा उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के जीवन में एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। वस्तुतः यह साम्राज्यवाद का एक नया रूप था जिसको अमेरिका का डालर साम्राज्यवाद कहा जाता है। बात यह थी कि अमेरिका के कथनानुसार मध्यपूर्व में ब्रिटिश प्रभाव के घट जाने से एक "राजनीतिक शून्यता" कायम हो गयी थी और सोवियत संघ इस परिस्थिति से लाभ उठाना चाहता था। वह ब्रिटिश प्रभाव को समाप्त कर स्वयं इस क्षेत्र में अपना प्रभुत्व कायम करना चाहता था। इसके पहले स्वयं अमेरिका इस क्षेत्र में घुस जाना चाहता था। तुर्की और यूनान की स्वतन्त्रता की रक्षा के नाम पर सहायता देना ढोंग के सिवा कुछ और नहीं था, क्योंकि उस समय इन दोनों देशों में स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र नामक कोई चीज नहीं थी जिनकी रक्षा के लिए अमरीकी सहायता आवश्यक थी। सोवियत इतिहासकारों के अनुसार यह "मध्यपूर्व के अविकसित देशों की आर्थिक कठिनाइयों का अपने स्वार्थ के लिए लाभ उठाना था। सहायता के नाम पर इन देशों के साथ ऐसे समझौते होते हैं जिनसे अमरीकी अर्थ-व्यवस्था इन पर लद जाती है। यह इन देशों के कच्चे मालों पर अधिकार कर लेता है तथा सैनिक अड्डों को अपने अधीन कर लेता है।" ट्रूमैन स्वतन्त्रता या लोकतन्त्र की रक्षा नहीं, किन्तु इसके नाम पर अमेरिका के लिए

तेल की रक्षा करना चाहता था। जैसा कि उसने स्वयं कहा था : "यदि ईरान के तेल पर रूसियों का अधिकार हो गया तो विश्व का शक्ति-सन्तुलन बिगड़ जायगा और पश्चिमी देशों की अर्थ-व्यवस्था को इससे भारी क्षति पहुँचेगी।"

ट्रूमैन सिद्धान्त संयुक्त राष्ट्रसंघ पर एक घातक प्रहार था। यदि तुर्की और यूनान के लिए सहायता आवश्यक थी तो इसको संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से जाना चाहिए था। अमेरिका द्वारा उन्हें सीधी सहायता देने का अर्थ संघ को निर्बल बनाना था। लेकिन इस समय संयुक्त राज्य अमेरिका साम्यवाद के विरोध में पागल हो गया था और उसको किसी चीज की परवाह नहीं थी।

मार्शल योजना– युद्ध के कारण यूरोप की अर्थ-व्यवस्था एकदम छिन्न-भिन्न हो गयी थी और चारों ओर असन्तोष, दरिद्रता और आर्थिक कष्ट का साम्राज्य छाया हुआ था। ऐसी हालत में यूरोप में साम्यवादी व्यवस्था फैल जाने की संभावना बहुत अधिक बढ़ गयी थी। अतएव अमेरिका के सामने प्रश्न था : युद्ध से विध्वंश यूरोप का पुनर्निर्माण करके उसे साम्यवाद से बचाना। अमरीकी विदेश सचिव जॉर्ज मार्शल इस स्थिति को भलीभाँति समझ रहा था। अप्रिल १९४७ में जब वह यूरोप से लौटकर वाशिंगटन पहुँचा तो उसने इस बात पर बल दिया कि यदि इस समय तुरत यूरोप के आर्थिक पुनरोद्धार का यत्न नहीं किया गया तो वह कम्युनिस्ट हो जायगा। ५ जून, १९४७ को हार्वार्ड विश्वविद्यालय में अपने सुप्रसिद्ध भाषण में उसने यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रम को सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। इसी आधार पर 'भुखमरी, गरीबी, निराशा एवं अव्यवस्था" का सामना करने के लिए मार्शल योजना (Marshal Plan) का निर्माण हुआ। इसके अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका ने चार वर्ष की अवधि (१९४८-५२) के लिए पश्चिमी यूरोप के सोलह देशों को बीस अरब डालर की सहायता देना स्वीकार किया।

मार्शल-योजना के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह "समसामयिक कूटनीतिक इतिहास की सर्वाधिक दिलचस्प और युग-प्रवर्त्तक घटनाओं में से एक थी।" सम्भव है, इसका स्वरूप ऐसा रहा हो, लेकिन तत्काल के लिए इसने रूस और पश्चिम के विरोध को अत्यन्त उग्र बना दिया। इस योजना के अन्तर्गत चार वर्षों में अमेरिका ने यूरोप को लगभग ग्यारह मिलियन डालर की सहायता दी। यूरोप साम्यवाद के चपेट में आने से बच गया, लेकिन यूरोप पर संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभुत्व अवश्य कायम हो गया। इस योजना के आधार पर अमेरिका यूरोपीय देशों को हर तरह का आदेश देने लगा और सहायता पाने के लिए इन आदेशों का पालन आवश्यक था। उदाहरणार्थ, मार्शल योजना के अन्तर्गत सहायता पाने के लिए यह शर्त्त लगायी गयी कि सहायता पाने वाले देश अपनी सरकारों में कम्युनिस्टों को कोई जगह नहीं देंगे। १९४६-४७ में फ्रांस की सरकार में कम्युनिस्ट लोग भी शामिल थे। १९४६ में ब्लुम फ्रांस के लिए कर्ज लाने वाशिंगटन गया। वहाँ उसे स्पष्ट शब्दों में कहा गया कि वह पहले पेरिस लौटे, कम्युनिस्टों को सरकार से निकाले और तब पुनः वाशिंगटन आकर सहायता की याचना करे। इटली के साथ भी अमेरिका का ऐसा ही व्यवहार हुआ। इस प्रकार फ्रांस और इटली को मार्शल-योजना के अन्तर्गत सहायता पाने के लिए अमेरिका का आदेश पालन करके अपने देश की सरकारों से साम्यवादी तत्वों को निकालना पड़ा।

मार्शल योजना में शामिल होने के लिए साम्यवादी देशों को भी आमन्त्रित किया गया। लेकिन उनलोगों ने इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया। सोवियत-संघ ने इस पर प्रबल आक्षेप

किये और इसको अमरीकी साम्राज्यवाद को लादने का यत्न बताया। उसने इसे एक विशुद्ध साम्यवाद विरोधी योजना के रूप में ग्रहण करते हुए इसका प्रत्युत्तर सितम्बर १९४७ में कामिनफार्म की स्थापना के रूप में दिया।

एक प्रकार से मार्शल योजना ट्रूमैन सिद्धान्त का पूरक था और उसने कम्युनिस्टों के खिलाफ अवरोध की नीति को और आगे बढ़ाने का काम किया। जैसा कि जो० सी० स्मिथ ने लिखा है : "इसका उद्देश्य राष्ट्रपति ट्रूमैन द्वारा पहले ही घोषित अवरोध नीति के अनुसार अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिम यूरोप की अर्थ व्यवस्थाओं को सुदृढ़ करना था।"

चार सूत्री कार्यक्रम—मार्शल-योजना का उद्देश्य केवल यूरोप की आर्थिक व्यवस्था को मजबूत बनाना था। इसी बीच चीन में साम्यवादी व्यवस्था कायम हुई। इस घटना से संयुक्त राज्य अमेरिका को बेचैन कर दिया। अब उसे नवजाग्रत राज्यों तथा उपनिवेशों की चिन्ता हुई। अविकसित देशों में साम्यवाद के प्रसार की सम्भावना बहुत बढ़ गयी। अल्प विकसित देश साम्यवादी प्रसार के शिकार आसानी से हो सकते थे। अतएव अमरीकी प्रशासन ने इन प्रदेशों में साम्यवादी प्रसार के अवरोध के लिए अमरीकी विदेश नीति की चार सूत्री कार्यक्रम (Point Four Programme) की घोषणा की। २० जनवरी १९४९ को ट्रूमैन ने कहा : "आगामी वर्षों में शान्ति और स्वतन्त्रता के कार्यक्रम में चार प्रधान बातों पर बल दिया जायगा : (१) संयुक्त राष्ट्रसंघ का अविचलित समर्थन, (२) विश्व के आर्थिक पुनरोद्धार को जारी रखना, (३) आक्रमणों के खतरों के विरुद्ध स्वतन्त्रता-प्रिय राज्यों की शक्ति बढ़ाना, तथा (४) अल्पविकसित देशों के विकास के लिए प्राविधिक सहायता देना।" ट्रूमैन के प्रशासन काल में, चाहे इसका वास्तविक उद्देश्य जो भी रहा हो, इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर अमेरिका की विदेश नीति संचालित होती रही।

कांग्रेस ने १९५० के "अन्तर्राष्ट्रीय विकास-अधिनियम" के द्वारा इस कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। इसके द्वारा अविकसित देशों को तकनीकी और आर्थिक सहायता देने की नींव पड़ी जो आगे के दिनों में उत्तरोत्तर बढ़ती रही। इस सहायता में अमेरिका का निःस्वार्थ भाव कम था। उसने इस कार्यक्रम को इसलिए अपनाया कि इसके द्वारा उसके राष्ट्रीय हितों की रक्षा हो रही थी। अमेरिका का उद्देश्य शीत-युद्ध में इन राज्यों का समर्थन प्राप्त करना था।

सैनिक संधियों की नीति—संयुक्त राज्य अमेरिका केवल आर्थिक सहायता कार्य-क्रम से ही सन्तुष्ट नहीं हो रहा था। वह सोवियत संघ को चारों तरफ से सैनिक संगठनों एवं अमरीकी नियन्त्रित सैनिक अड्डों से घेर कर रखना चाहता था। अतएव १९४८ में सिनेट ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया और उसके आधार पर संसार के विभिन्न देशों के साथ सैनिक संधियाँ और समझौते किये गये और विविध प्रकार के सैनिक संगठन कायम किये गये। इसका अध्ययन हम पहले ही कर चुके हैं। इन संगठनों के अतिरिक्त नवम्बर १९४९ में यूरोपीय देशों की सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए तथा उन्हें नवीनतम रण सामग्री से लैस करने के लिए पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता का कार्य-क्रम (mutual defence assistance programme) बनाया गया। फिर अक्तूबर १९५१ में पारस्परिक सहायता सुरक्षा कानून बना। इसके अतिरिक्त यू० एस० ए० मिचुअल सिक्यूरिटी एप्रोप्रियेशन ऐक्ट (U.S.A. Mutual Security Appropriation Act.) पास हुआ। जिसके अनुसार संयुक्त राज्य के साथ सैनिक संधि करनेवाले देशों की सहायता के लिए गाल खरब,

तैंतीस करोड़ डालर की सहायता की व्यवस्था की गयी। बहुत से देशों को इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत सैनिक सहायता मिली। इन कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप संसार भर में अमेरिका के सैनिक अड्डे कायम हो गये और सहायता पाने वाले देश सामरिक दृष्टिकोण से पूर्णतया अमेरिका के प्रभाव में आ गये। १९५१ तक अमेरिका का नाटो में सम्मिलित यूरोप के राज्य और जापान, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा फिलिपाइन्स के साथ पारस्परिक प्रतिरक्षा सन्धि हो चुकी थी

साम्यवाद के साथ शक्ति-परीक्षण— इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका बड़ी तेजी से सैनिक संधियों के मार्ग पर आगे बढ़ने लगा। इस नीति को कार्यान्वित करने में वह तब और बेचैन हुआ जब १९४९ में सोवियत संघ ने एटम बम के रहस्यों को खोज निकाला और अमेरिका के परमाणविक एकाधिकार को समाप्त कर दिया। सोवियत संघ द्वारा एटम बम के सफल परीक्षण से संयुक्त राज्य अमेरिका की सर्वोच्च शक्ति को खतरा पैदा हो गया। अमेरिका के लिए अब साम्यवादी खतरा पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गया। इस कारण संयुक्त राज्य अमेरिका का चिन्तित होना स्वाभाविक था। अब उसने निश्चय किया कि इसके पहले ही सोवियत संघ बहुत शक्तिशाली हो जाय, उसको युद्ध में फँसाकर उसकी सामरिक शक्ति का विनाश कर दिया जाय। दूसरे शब्दों में, रूस द्वारा अणुबम के सफल परीक्षण के बाद अमेरिका में प्रतिकारात्मक युद्ध (preventive war) की भावना बहुत बलवती हो गयी। जून १९५० का कोरिया का युद्ध इसी नीति का परिणाम था।

कोरिया में युद्ध के विस्फोट की जिम्मेवारी उत्तर कोरिया के मत्थे मढ़ी गयी और संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी ऐसा ही प्रस्ताव पास किया कि उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण किया है। उस समय सुरक्षा परिषद् में सयक्त राज्य अमेरिका का प्रभाव सर्वोच्च था और सोवियत रूस परिषद् का बहिष्कार किये हुए था। अतएव इस प्रस्ताव को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इसके विपरीत ऐसे बहुत से प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि युद्ध का प्रारम्भ दक्षिण कोरियाई सरकार और अमरीकी नीति का परिणाम था। उदाहरण के लिए एक अमरीकी सेनापति ने बतलाया था कि यदि कोरिया नहीं होता तो हमें कोरिया का प्रश्न बनाना पड़ता। दक्षिण कोरिया के अधिकारियों ने युद्ध की तैयारी पहले से कर रखी थी। दक्षिण कोरिया की सरकार ने प्रधान सिंघमनरी ने यह कई बार कहा था कि मई और जून १९५० कोरिया के इतिहास में अत्यन्त ही संकटपूर्ण काल होगा। गृह-मंत्री कीम आई शेक ने तो यहाँ तक कहा था कि यद्यपि हमलोग हमला प्रारम्भ करेंगे, किन्तु उचित कारण के लिए एक बहाना जरूर बनाना होगा। इन तथ्यों और प्रमाणों के आधार पर दक्षिण कोरिया तथा अमेरिका को ही युद्ध के विस्फोट के लिए जिम्मेवार नहीं माना जा सकता है।

कोरिया-युद्ध जून १९५० से जुलाई १९५३ तक चला और इसके परिणाम ने सिद्ध कर दिया कि साम्यवादी जगत् से खुली टक्कर में अमेरिका के लिए निर्णायक विजय पाना असम्भव है। सम्भवतः इसी अनुभव ने अमेरिका को युद्ध बन्द करने को प्रेरित किया।

अमरीकी विदेश नीति में खुले संघर्ष का काल—अमरीकी विदेश-नीति में कोरिया-युद्ध का विशेष महत्त्व है। इसके पूर्व अमरीकी विदेश-नीति शीत-युद्ध से प्रभावित रही। लेकिन १९५०-५३ तक काकाल शीत-युद्ध की जगह खुले संघर्ष या सक्रिय युद्ध का रहा। इसलिए यह काल खुले संघर्ष का काल माना जाता है। इस अवधि में अवरोध नीति के राजनीतिक और आर्थिक

पक्ष की अपेक्षा सैनिक पक्ष को विशेष महत्त्व दिया गया। अमरीकी नीति में सैनिक शक्ति के उपयोग एवं सैनिक तथा प्रतिरक्षा समझौता के महत्त्व की विचारधारा बलवती हुई। इस प्रकार अब अमेरिका अपनी विदेश नीति में आर्थिक और सैनिक दोनों ही तत्त्वों को प्रधानता देने लगा। आज भी ये दोनों तत्त्व अमरीकी विदेश नीति के प्रधान अंग बने हुए हैं।

"साम्यवाद से मुक्ति" की नीति—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में १९५३ कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। जनवरी १९५३ में जनरल आइसनहावर का नये राष्ट्रपति के रूप में चुनाव हुआ। अपने निर्वाचन-अभियान के समय उसने कोरिया-युद्ध को समाप्त करने का वचन दिया था और जुलाई १९५३ में कोरिया का युद्ध समाप्त भी हो गया। इसके पूर्व ही मार्च १९५३ में स्टालिन की मृत्यु हो चुकी थी। स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ का नेतृत्व जिन लोगों के हाथ में आया उन्होंने पूर्वापेक्षा कुछ लचीली और समझौतापूर्ण नीतियाँ अपनानी चाहीं। रूस द्वारा परमाणु बम का निर्माण और अगस्त १९५३ में हाइड्रोजन बम का सफल परीक्षण) तथा विपुल अमरीकी सहायता के बावजूद साम्यवाद की विजय, इन दो बातों से यह उम्मीद हुई कि अमेरिका अपनी विदेश नीति पर एक नयी दृष्टि डालेगा। कोरिया-युद्ध में किसी भी पक्ष को निर्णायक विजय प्राप्त न होने से आइसनहावर-प्रशासन ने इस बात को भली-भाँति समझ लिया कि एक महा-विनाशकारी युद्ध के बिना,जिसमें विजेता और विजित दोनों ही नष्ट हो जायेंगे, साम्यवादी रूस को पराजित नहीं किया जा सकता है। यह उम्मीद की गयी कि इन नवीन तथ्यों तथा अनुभूति के फलस्वरूप अमेरिका अपनी, पुरानी नीति का परित्याग कर रूस के साथ सह आस्तित्व के सिद्धान्त को इच्छा अथवा अनिच्छापूर्वक स्वीकार कर लेगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

हम पढ़ चुके हैं कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अमेरिका की विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के आतंक से प्रभावित रही। यह तथ्य ही उसकी नीति का मध्यबिन्दु था और इसी साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए अमेरिका ने अपनी पूरी नीति का निर्धारण किया। इस नीति का उद्घाटन १९४७ में ट्रूमैन सिद्धान्त के प्रतिपादन से शुरू हुआ था और इसको साम्यवाद के अवरोध (Containment of Communism) की संज्ञा दी गयी थी। इसका उद्देश्य यह था कि जिन देशों में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना हो गयी है उनको ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया जाय, लेकिन दूसरे अन्य देशों में इसका विस्तार नहीं होने दिया जाय। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्थिक सहायता की नीति और सैन्य संगठनों के तरीकों को अपनाया गया था। लेकिन १९५३ में इस नीति में परिवर्तन हुआ। राष्ट्रपति आइसनहावर के विदेश सचिव डलेस ने अवरोध सिद्धान्त को "नकारात्मक अर्थहीन अथा अनैतिक" बताया और उसने लोगों को साम्यवादियों के भार से 'मुक्त' (Liberate) करने की योजनाओं का जिक्र छेड़ा। राष्ट्रपति आइसनहावर ने भी कहा :

> "हम कुछ काल्पनिक लाभों की प्राप्ति के लिए किसी भी देश-जनता को दासत्व के पंजों द्वारा जकड़े जाते हुए नहीं देख सकते···जिस स्वतन्त्रता की हम अमरीकी देशों तथा यूरोप में अनुभूति एवं रक्षा करते हैं वही स्वतन्त्रता आज एशिया में खतरों से घिरी हुई है।"

इस नयी नीति की प्रथम क्रियात्मक अभिव्यक्ति २ फरवरी,१९५३ को हुई जब आइसनहावर ने फारमोसा के शासक च्यांग-काई-शेक से कहा कि अमरीकी सातवाँ बेड़ा के प्रयोग-सम्बन्धी सब प्रतिबन्ध हटाया जा रहा है, और अब उसने वहाँ के 'राष्ट्रवादियों' को 'मुख्य-चीन वापस

जाने' की अनुमति दे दी। आइसनहावर के इस कदम को 'फारमोसा के नि:तटस्थीकरण' (De-Neutralization of Farmosa) की संज्ञा दी जाती है। जून १९५३ को जुलियस रोजेनवर्ग तथा उसकी पत्नी ईथेल रोजेनवर्ग को सोवियत संघ को आणविक 'भेद' हस्तांतरित करने के आरोप में, विद्युत् द्वारा फांसी दे दी गयी। **मैकार्थीवाद**, (Macarthyism) या साम्यवाद-विरोधी धारणाएँ अमेरिका के प्रत्येक नागरिक के मस्तिष्क पर विकृत प्रभाव डालने लगीं। जून १९५३ में आइसनहावर ने घोषणा की :

"हम किसी ऐसी व्यवस्था या सन्धि में हिस्सा नहीं लेंगे जिसका उद्देश्य पूर्वी यूरोपीय देशों पर सोवियत प्रभुत्व को उनकी इच्छा के विरुद्ध जारी रखना हो, अथवा इन देशों को जनता के अनैच्छिक दासत्व पर मोहर लगानी हो।"

इस प्रकार अमेरिका की नीति उग्रतर होती गयी और लोगों में यह भ्रम पैदा हो गया कि एक सैनिक जेनरल अमेरिका के राष्ट्रपति के रूप में (आइसनहावर) अमेरिका को पूरी तरह युद्ध में ढकेल देगा। इसी समय दक्षिण पूर्व एशिया में हिन्द चीन में साम्यवादी आन्दोलन बड़े जोरों पर था और फ्रांसीसी साम्राज्यवाद का वहाँ से पलायन हो रहा था।

जब मई १९५४ में डीन-बीन-फू का पतन हुआ तो पश्चिमी राष्ट्र गंभीरता-पूर्वक यह महसूस करने लगे कि जिस शक्ति के पास हिन्द चीन का राजनीतिक नियन्त्रण होगा उस शक्ति की कृपा पर ही थाईलैंड का अस्तित्व कायम रह सकता है, उसका वर्मा पर जबरदस्त प्रभाव रहेगा और अन्ततोगत्वा वह मलायन प्रायद्वीप को दूसरे देशों से अलग करने में सफलता प्राप्त कर लेगा।[1] इस अनुभूति की अभिव्यक्ति भूतपूर्व अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहावर के कथन से होती है जिसमें उन्होंने यह प्रकट किया कि दक्षिणी-पूर्वी एशिया में राज्यों की एक ऐसी कतार लगी है जिसमें यदि एक राज्य का पतन हुआ तो सब राज्यों का सम्पूर्ण ढांचा ही गिर कर खत्म हो जायगा। संयुक्त राज्य अमेरिका भला इस स्थिति की अवहेलना कैसे कर सकता था। यद्यपि उसका न इस क्षेत्र में औपनिवेशिक साम्राज्य था और न इस क्षेत्र से किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही था, तो भी उसके लिए इसके अतिरिक्त कोई चारा न था कि साम्यवाद और राष्ट्रवाद की वेगवती धारा को इस क्षेत्र में अवरुद्ध करने की प्रत्येक कोशिश की जाय।

अतएव जब जुलाई १९५४ में हिन्द-चीन की समस्या के समाधान के लिए जेनेवा में सम्मेलन हुआ तो अमेरिका ने इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया और अमरीकी विदेश मंत्री डलेस ने हर कोशिश की ताकि सम्मेलन असफल हो जाय। लेकिन इसमें अमेरिका को असफलता मिली। हिन्द चीन के सम्बन्ध में समझौता हो गया। तब बाद में सितम्बर १९५४ में उसने थाईलैंड, फिलिपाइन्स, पाकिस्तान, ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड को मिलाकर दक्षिण पूर्व एशिया सामूहिक सुरक्षा संधि का जन्म दिया और सीटो (Seato) की स्थापना की।

पारस्परिक सहिष्णुता की नीति—परन्तु अमेरिका की यह मुक्ति दिलानेवाली नीति अधिक दिनों तक नहीं चल सकी। १९५४ के अन्त में परिस्थितियाँ बदली जिनके कारण "मुक्ति की नीति" का परित्याग करना पड़ा तथा उसकी जगह पर पारस्परिक सुलह या समझौता (Policy of Accommodation) की नीति अपनानी पड़ी। साम्यवाद के विरोध के नाम पर अमेरिका के नागरिकों से इतना अधिक कर वसूल किये जाने लगा कि वहाँ इस नीति का विरोध शुरू हुआ। यूरोपीय-देशों को यह भय था कि बढ़ती हुई सैनिक नाकेबन्दी तथा उत्तरोत्तर

1. Friedmaun, Introduotion to world polities, p. 309.

बढ़ते हुए तनावों से कहीं युद्ध की अग्नि न प्रज्वलित हो उठे। अमेरिका में भी यह महसूस किया जा रहा था कि बल प्रयोग की चर्चा और सैनिकवाद के प्रदर्शन से विदेशों में अपने मित्रों की संख्या में वृद्धि नहीं की जा सकती तथा इन चीजों से वाह्य-जनों को प्रभावित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, ५ मार्च १९५३ को स्तालिन की मृत्यु के बाद मास्को लगातार पश्चिम देशों के साथ मैत्रिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा व्यक्त कर रहा था। पाश्चात्य जगत्, विशेषकर अमरीका में लोग इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं तथा स्थितियों पर सोवियत नेताओं के वक्तव्यों का वास्तविक अर्थ क्या है। कुछ लोग ऐसे थे जो रूसियों की सत्यनिष्ठा का समर्थन करते थे तथा कुछ, जिनका नेता डलेस था, ऐसे थे जिनको यह विश्वास था कि रूस के नये शासक-वर्ग के वचनों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सोवियत सेनाओं ने अपनी मूल धाराएँ परिवर्तित या संशोधित कर ली हैं। लेकिन शान्ति की माँग इतनी शक्तिशाली हो गयी थी कि डलेस जैसे राजनीतिज्ञ भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे और अमरीकी विदेश नीति में अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रति सुलह की भावना का समावेश होने लगा। १९५५ में विश्व में सर्वत्र जनता तथा राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क पर शान्तिपूर्ण सहजीवन की भावना हावी थी और अमेरिका को अपनी नीति के एक मूल मान्यता का परित्याग करना पड़ा। इसका परिणाम था जुलाई, १९५५ का जेनेवा का शिखर सम्मेलन जिसमें अमेरिका के आइसनहावर, ब्रिटेन के ईडन, फ्रांस के फावरे तथा सोवियत संघ के बुलगानिन सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन के बाद शीत-युद्ध में कुछ कमी आयी और विश्व में सद्भावना का एक नया वातावरण पैदा हुआ जिसे 'जेनेवा की भावना' (Spirit of Geneva) की संज्ञा दी गयी।

पश्चिमी एशिया (Middle East) और अमेरिका

तेल-राजनीति—युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने पश्चिमी एशिया की राजनीति में बड़ी दिलचस्पी दिखलायी है। इसका एक कारण है कि यह क्षेत्र सोवियत संघ से बहुत निकट पड़ता है। लेकिन इससे भी बढ़कर पश्चिमी एशिया के देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका की रुचि का कारण वहाँ का पेट्रोल है। युद्ध काल में संयुक्त राज्य का पश्चिमी एशिया के तेल-व्यवसाय में काफी हिस्सा हो गया था। १९३९ में इसमें अमेरिका की हिस्सेदारी तेरह प्रतिशत थी। १९४४ में यह बयालीस प्रतिशत तक पहुँच गयी।[1] १९५० में अरब देशों में अमेरिका की कुल लागत अरसठ करोड़ डालर हो गयी थी। इस प्रकार पश्चिमी एशिया के तेल पर अपना नियन्त्रण कायम करने के बाद अमेरिका इस क्षेत्र के आन्तरिक मामलों में भी दिलचस्पी लेने लगा। यह आवश्यक भी था। जब तक इन देशों पर अमेरिका का अदृश्य साम्राज्य कायम नहीं हो जाता तबतक तेल कैसे सुरक्षित रह सकता था। अतएव इसके लिए अमेरिका ने पश्चिमी एशिया में सैनिक गठबन्धनों को प्रश्रय दिया है तथा भग्न राजतन्त्रों एवं सामन्तवादी शासनों का समर्थन किया है।

पश्चिमी एशिया में अमरीकी हस्तक्षेप—युद्ध के बाद तुर्की और फारस के साथ संयुक्त राज्य के सम्बन्धों का वर्णन हम कर चुके हैं। इन देशों के अतिरिक्त संयुक्त राज्य, सौदी अरेबिया एवं फिलिस्तीन में भी दिलचस्पी रखता था। सौदी अरेबिया के तेल कूपों पर तो अमेरिका का

1. George Kirk, *The Middle East in War*, p. 25.

जाने' की अनुमति दे दी। आइसनहावर के इस कदम को 'फारमोसा के निःतटस्थीकरण' (De-Neutralization of Farmosa) की संज्ञा दी जाती है। जून १९५३ को जुलियस रोजेनवर्ग तथा उसकी पत्नी ईथेल रोजेनवर्ग को सोवियत संघ को आणविक 'भेद' हस्तांतरित करने के आरोप में, विद्युत् द्वारा फांसी दे दी गयी। मैकार्थीवाद, (Macarthyism) या साम्यवाद-विरोधी धारणाएँ अमेरिका के प्रत्येक नागरिक के मस्तिष्क पर विकृत प्रभाव डालने लगीं। जून १९५३ में आइसनहावर ने घोषणा की:

"हम किसी ऐसी व्यवस्था या सन्धि में हिस्सा नहीं लेंगे जिसका उद्देश्य पूर्वी यूरोपीय देशों पर सोवियत प्रभुत्व को उनकी इच्छा के विरुद्ध जारी रखना हो, अथवा इन देशों को जनता के अनैच्छिक दासत्व पर मोहर लगानी हो।"

इस प्रकार अमेरिका की नीति उग्रतर होती गयी और लोगों में यह भ्रम पैदा हो गया कि एक सैनिक जेनरल अमेरिका के राष्ट्रपति के रूप में (आइसनहावर) अमेरिका को पूरी तरह युद्ध में ढकेल देगा। इसी समय दक्षिण पूर्व एशिया में हिन्द चीन में साम्यवादी आन्दोलन बड़े जोरों पर था और फ्रांसीसी साम्राज्यवाद का वहाँ से पलायन हो रहा था।

जब मई १९५४ में डीन-बीन-फू का पतन हुआ तो पश्चिमी राष्ट्र गंभीरता-पूर्वक यह महसूस करने लगे कि जिस शक्ति के पास हिन्द चीन का राजनीतिक नियन्त्रण होगा उस शक्ति की कृपा पर ही थाईलैंड का अस्तित्व कायम रह सकता है, उसका वर्मा पर जबरदस्त प्रभाव रहेगा और अन्ततोगत्वा वह मलायन प्रायद्वीप को दूसरे देशों से अलग करने में सफलता प्राप्त कर लेगा।[1] इस अनुभूति की अभिव्यक्ति भूतपूर्व अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहावर के कथन से होती है जिसमें उन्होंने यह प्रकट किया कि दक्षिणी-पूर्वी एशिया में राज्यों की एक ऐसी कतार लगी है जिसमें यदि एक राज्य का पतन हुआ तो सब राज्यों का सम्पूर्ण ढांचा ही गिर कर खत्म हो जायगा। संयुक्त राज्य अमेरिका भला इस स्थिति की अवहेलना कैसे कर सकता था। यद्यपि उसका न इस क्षेत्र में औपनिवेशिक साम्राज्य था और न इस क्षेत्र से किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही था, तो भी उसके लिए इसके अतिरिक्त कोई चारा न था कि साम्यवाद और राष्ट्रवाद की वेगवती धारा को इस क्षेत्र में अवरुद्ध करने की प्रत्येक कोशिश की जाय।

अतएव जब जुलाई १९५४ में हिन्द-चीन की समस्या के समाधान के लिए जेनेवा में सम्मेलन हुआ तो अमेरिका ने इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया और अमरीकी विदेश मंत्री डलेस ने हर कोशिश की ताकि सम्मेलन असफल हो जाय। लेकिन इसमें अमेरिका को असफलता मिली। हिन्द चीन के सम्बन्ध में समझौता हो गया। तब बाद में सितम्बर १९५४ में उसने थाईलैंड, फिलिपाइन्स, पाकिस्तान, ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड को मिलाकर दक्षिण पूर्व एशिया सामूहिक सुरक्षा संधि का जन्म दिया और सीटो (Seato) की स्थापना की।

पारस्परिक सहिष्णुता की नीति—परन्तु अमेरिका की यह मुक्ति दिलानेवाली नीति अधिक दिनों तक नहीं चल सकी। १९५४ के अन्त में परिस्थितियाँ बदली जिनके कारण "मुक्ति की नीति" का परित्याग करना पड़ा तथा उसकी जगह पर पारस्परिक सुलह या समझौता (Policy of Accommodation) की नीति अपनानी पड़ी। साम्यवाद के विरोध के नाम पर अमेरिका के नागरिकों से इतना अधिक कर वसूल किये जाने लगा कि वहाँ इस नीति का विरोध शुरू हुआ। यूरोपीय-देशों को यह भय था कि बढ़ती हुई सैनिक नाकेबन्दी तथा उत्तरोत्तर

1. Friedmaun, Introduction to world polities, p. 309.

बढ़ते हुए तनावों से कहीं युद्ध की अग्नि न प्रज्ज्वलित हो उठे। अमेरिका में भी यह महसूस किया जा रहा था कि बल प्रयोग की चर्चा और सैनिकवाद के प्रदर्शन से विदेशों में अपने मित्रों की संख्या में वृद्धि नहीं की जा सकती तथा इन चीजों से बाह्य-जनों को प्रभावित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, ५ मार्च १९५३ को स्तालिन की मृत्यु के बाद मास्को लगातार पश्चिम देशों के साथ मैत्रिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा व्यक्त कर रहा था। पाश्चात्य जगत्, विशेषकर अमरीका में लोग इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं तथा स्थितियों पर सोवियत नेताओं के वक्तव्यों का वास्तविक अर्थ क्या है। कुछ लोग ऐसे थे जो रूसियों की सत्यनिष्ठा का समर्थन करते थे तथा कुछ, जिनका नेता डलेस था, ऐसे थे जिनको यह विश्वास था कि रूस के नये शासक-वर्ग के वचनों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सोवियत सेनाओं ने अपनी मूल धाराएँ परिवर्तित या संशोधित कर ली हैं। लेकिन शान्ति की माँग इतनी शक्तिशाली हो गयी थी कि डलेस जैसे राजनीतिज्ञ भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे और अमरीकी विदेश नीति में अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रति सुलह की भावना का समावेश होने लगा। १९५५ में विश्व में सर्वत्र जनता तथा राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क पर शान्तिपूर्ण सहजीवन की भावना हावी थी और अमेरिका को अपनी नीति के एक मूल मान्यता का परित्याग करना पड़ा। इसका परिणाम था जुलाई, १९५५ का जेनेवा का शिखर सम्मेलन जिसमें अमेरिका के आइसनहावर, ब्रिटेन के ईडन, फ्रांस के फावरे तथा सोवियत संघ के बुलगानिन सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन के बाद शीत-युद्ध में कुछ कमी आयी और विश्व में सद्भावना का एक नया वातावरण पैदा हुआ जिसे 'जेनेवा की भावना' (Spirit of Geneva) की संज्ञा दी गयी।

पश्चिमी एशिया (Middle East) और अमेरिका

तेल-राजनीति—युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने पश्चिमी एशिया की राजनीति में बड़ी दिलचस्पी दिखलायी है। इसका एक कारण है कि यह क्षेत्र सोवियत संघ से बहुत निकट पड़ता है। लेकिन इससे भी बढ़कर पश्चिमी एशिया के देशों में संयुक्त राज्य *अमेरिका की रुचि का कारण वहाँ का पेट्रोल है। युद्ध काल में संयुक्त राज्य का पश्चिमी* एशिया के तेल-व्यवसाय में काफी हिस्सा हो गया था। १९३९ में इसमें अमेरिका की हिस्सेदारी तेरह प्रतिशत थी। १९४४ में यह बयालीस प्रतिशत तक पहुँच गयी।[1] १९५० में अरब देशों में अमेरिका की कुल लागत अरसठ करोड़ डालर हो गयी थी। इस प्रकार पश्चिमी एशिया के तेल पर अपना नियन्त्रण कायम करने के बाद अमेरिका इस क्षेत्र के आन्तरिक मामलों में भी दिलचस्पी लेने लगा। यह आवश्यक भी था। जब तक इन देशों पर अमेरिका का अदृश्य साम्राज्य कायम नहीं हो जाता तबतक तेल कैसे सुरक्षित रह सकता था। अतएव इसके लिए अमेरिका ने पश्चिमी एशिया में सैनिक गठबन्धनों को प्रश्रय दिया है तथा भग्न राजतन्त्रों एवं सामन्तवादी शासनों का समर्थन किया है।

पश्चिमी एशिया में अमरीकी हस्तक्षेप—युद्ध के बाद तुर्की और फारस के साथ संयुक्त राज्य के सम्बन्धों का वर्णन हम कर चुके हैं। इन देशों के अतिरिक्त संयुक्त राज्य, सौदी अरेबिया एवं फिलिस्तीन में भी दिलचस्पी रखता था। सौदी अरेबिया के तेल कूपों पर तो अमेरिका का

1. George Kirk, *The Middle East in War*, p. 25.

जाने' की अनुमति दे दी। आइसनहावर के इस कदम को 'फारमोसा के निःतटस्थीकरण' (De-Neutralization of Farmosa) की संज्ञा दी जाती है। जून १९५३ को जुलियस रोजेनबर्ग तथा उसकी पत्नी ईथेल रोजेनबर्ग को सोवियत संघ को आणविक 'भेद' हस्तांतरित करने के आरोप में, विद्युत् द्वारा फांसी दे दी गयी। मैकार्थीवाद, (Macarthyism) या साम्यवाद-विरोधी धारणाएँ अमेरिका के प्रत्येक नागरिक के मस्तिष्क पर विकृत प्रभाव डालने लगी। जून १९५३ में आइसनहावर ने घोषणा की :

“हम किसी ऐसी व्यवस्था या सन्धि में हिस्सा नहीं लेंगे जिसका उद्देश्य पूर्वी यूरोपीय देशों पर सोवियत प्रभुत्व को उनकी इच्छा के विरुद्ध जारी रखना हो, अथवा इन देशों को जनता के अनैच्छिक दासत्व पर मोहर लगानी हो।”

इस प्रकार अमेरिका की नीति उग्रतर होती गयी और लोगों में यह भ्रम पैदा हो गया कि एक सैनिक जेनरल अमेरिका के राष्ट्रपति के रूप में (आइसनहावर) अमेरिका को पूरी तरह युद्ध में ढकेल देगा। इसी समय दक्षिण पूर्व एशिया में हिन्द चीन में साम्यवादी आन्दोलन बड़े जोरों पर था और फ्रांसीसी साम्राज्यवाद का वहाँ से पलायन हो रहा था।

जब मई १९५४ में डीन-बीन-फू का पतन हुआ तो पश्चिमी राष्ट्र गंभीरता-पूर्वक यह महसूस करने लगे कि जिस शक्ति के पास हिन्द चीन का राजनीतिक नियन्त्रण होगा उस शक्ति की कृपा पर ही थाईलैंड का अस्तित्व कायम रह सकता है, उसका वर्मा पर जबरदस्त प्रभाव रहेगा और अन्ततोगत्वा वह मलायन प्रायद्वीप को दूसरे देशों से अलग करने में सफलता प्राप्त कर लेगा।[1] इस अनुभूति की अभिव्यक्ति भूतपूर्व अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहावर के कथन से होती है जिसमें उन्होंने यह प्रकट किया कि दक्षिणी-पूर्वी एशिया में राज्यों की एक ऐसी कतार लगी है जिसमें यदि एक राज्य का पतन हुआ तो सब राज्यों का सम्पूर्ण ढांचा ही गिर कर खत्म हो जायगा। संयुक्त राज्य अमेरिका भला इस स्थिति की अवहेलना कैसे कर सकता था। यद्यपि उसका न इस क्षेत्र में औपनिवेशिक साम्राज्य था और न इस क्षेत्र से किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही था, तो भी उसके लिए इसके अतिरिक्त कोई चारा न था कि साम्यवाद और राष्ट्रवाद की वेगवती धारा को इस क्षेत्र में अवरुद्ध करने की प्रत्येक कोशिश की जाय।

अतएव जब जुलाई १९५४ में हिन्द-चीन की समस्या के समाधान के लिए जेनेवा में सम्मेलन हुआ तो अमेरिका ने इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया और अमरीकी विदेश मंत्री डलेस ने हर कोशिश की ताकि सम्मेलन असफल हो जाय। लेकिन इसमें अमेरिका को असफलता मिली। हिन्द चीन के सम्बन्ध में समझौता हो गया। तब बाद में सितम्बर १९५४ में उसने थाईलैंड, फिलिपाइन्स, पाकिस्तान, ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड को मिलाकर दक्षिण पूर्व एशिया सामूहिक सुरक्षा संधि का जन्म दिया और सीटो (Seato) की स्थापना की।

पारस्परिक सहिष्णुता की नीति—परन्तु अमेरिका की यह मुक्ति दिलानेवाली नीति अधिक दिनों तक नहीं चल सकी। १९५४ के अन्त में परिस्थितियाँ बदली जिनके कारण “मुक्ति की नीति” का परित्याग करना पड़ा तथा उसकी जगह पर पारस्परिक सुलह या समझौता (Policy of Accommodation) की नीति अपनानी पड़ी। साम्यवाद के विरोध के नाम र अमेरिका के नागरिकों से इतना अधिक कर वसूल किये जाने लगा कि वहाँ इस नीति का रोष शुरू हुआ। यूरोपीय-देशों को यह भय था कि बढ़ती हुई सैनिक नाकेबन्दी तथा उत्तरोत्तर

1. Friedmaun, Introduction to world polities, p. 309.

बढ़ते हुए तनावों से कहीं युद्ध की अग्नि न प्रज्ज्वलित हो उठे। अमेरिका में भी यह महसूस किया जा रहा था कि बल प्रयोग की चर्चा और सैनिकवाद के प्रदर्शन से विदेशों में अपने मित्रों की संख्या में वृद्धि नहीं की जा सकती तथा इन चीजों से बाह्य-जनों को प्रभावित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, ५ मार्च १६५३ को स्तालिन की मृत्यु के बाद मास्को लगातार पश्चिम देशों के साथ मैत्रिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा व्यक्त कर रहा था। पाश्चात्य जगत्, विशेषकर अमरीका में लोग इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं तथा स्थितियों पर सोवियत नेताओं के वक्तव्यों का वास्तविक अर्थ क्या है। कुछ लोग ऐसे थे जो रूसियों की सत्यनिष्ठा का समर्थन करते थे तथा कुछ, जिनका नेता डलेस था, ऐसे थे जिनको यह विश्वास था कि रूस के नये शासक-वर्ग के वचनों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सोवियत सेनाओं ने अपनी मूल धाराएँ परिवर्तित या संशोधित कर ली हैं। लेकिन शान्ति की माँग इतनी शक्तिशाली हो गयी थी कि डलेस जैसे राजनीतिज्ञ भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे और अमरीकी विदेश नीति में अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रति सुलह की भावना का समावेश होने लगा। १६५५ में विश्व में सर्वत्र जनता तथा राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क पर शान्तिपूर्ण सहजीवन की भावना छायी थी और अमेरिका को अपनी नीति के एक मूल मान्यता का परित्याग करना पड़ा। इसका परिणाम था जुलाई, १६५५ का जेनेवा का शिखर सम्मेलन जिसमें अमेरिका के आइसनहावर, ब्रिटेन के ईडन, फ्रांस के फावरे तथा सोवियत संघ के बुलगानिन सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन के बाद शीत-युद्ध में कुछ कमी आयी और विश्व में सद्भावना का एक नया वातावरण पैदा हुआ जिसे 'जेनेवा की भावना' (Spirit of Geneva) की संज्ञा दी गयी।

पश्चिमी एशिया (Middle East) और अमेरिका

तेल-राजनीति—युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने पश्चिमी एशिया की राजनीति में बड़ी दिलचस्पी दिखलायी है। इसका एक कारण है कि यह क्षेत्र सोवियत संघ से बहुत निकट पड़ता है। लेकिन इससे भी बढ़कर पश्चिमी एशिया के देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका की रुचि का कारण वहाँ का पेट्रोल है। युद्ध काल में संयुक्त राज्य का पश्चिमी एशिया के तेल-व्यवसाय में काफी हिस्सा हो गया था। १६३६ में इसमें अमेरिका की हिस्सेदारी तेरह प्रतिशत थी। १९४४ में यह बयालीस प्रतिशत तक पहुँच गयी।[1] १६५० में अरब देशों में अमेरिका की कुल लागत अरसठ करोड़ डालर हो गयी थी। इस प्रकार पश्चिमी एशिया के तेल पर अपना नियन्त्रण कायम करने के बाद अमेरिका इस क्षेत्र के आन्तरिक मामलों में भी दिलचस्पी लेने लगा। यह आवश्यक भी था। जब तक इन देशों पर अमेरिका का अदृश्य साम्राज्य कायम नहीं हो जाता तबतक तेल कैसे सुरक्षित रह सकता था। अतएव इसके लिए अमेरिका ने पश्चिमी एशिया में सैनिक गठबन्धनों को प्रश्रय दिया है तथा भग्न राजतन्त्रों एवं सामन्तवादी शासनों का समर्थन किया है।

पश्चिमी एशिया में अमरीकी हस्तक्षेप—युद्ध के बाद तुर्की और फारस के साथ संयुक्त राज्य के सम्बन्धों का वर्णन हम कर चुके हैं। इन देशों के अतिरिक्त संयुक्त राज्य, सौदी अरेबिया एवं फिलिस्तीन में भी दिलचस्पी रखता था। सौदी अरेबिया के तेल कूपों पर तो अमेरिका का

1. George Kirk, *The Middle East in War*, p. 25.

अधिकार था ही, वह वहाँ सोने की खानों को भी अपने नियन्त्रण में करना चाहता था। इसके लिए वहाँ अमरीकी पूँजी से सौदी अरेबिया माइनिंग सिण्डीकेट की स्थापना की गयी और इस संस्था को सोना निकालने का अधिकार दे दिया गया। अमेरिका फिलिस्तीन के विभाजन और यहूदी राज्य इजरायल की स्थापना का बहुत बड़ा समर्थक था, क्योंकि उसको विश्वास था की पश्चिमी एशिया में यहूदी राज्य की स्थापना से अमरीकी प्रभाव के प्रसार के लिए एक सुरक्षित साधन प्राप्त हो जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अमेरिका की यह मनोकामना पूरी हुई। इसके अतिरिक्त युद्ध के बाद पश्चिमी एशिया के राज्यों में जो इतनी सैनिक क्रान्तियाँ हुई हैं वे ज्यादातर अमरीकी हस्तक्षेप के कारण ही हुई। फारस तो पूर्णतया अमेरिका के नियन्त्रण में चला गया। १६४७ में अमेरिका ने फारस को दो करोड़, साठ लाख डालर के हथियार उधार दिये और तेहरान में एक अमरीकी सैनिक मिशन की स्थापना की। १६४६ में फारस और अमेरिका के बीच एक और समझौता हुआ जिसके द्वारा यह निश्चित हुआ कि फारस के सैनिक विषय संयुक्त राज्य अमेरिका की स्वीकृति के बिना किसी दूसरे देश के सैनिक विशेषज्ञों को परामर्श के लिए नहीं सौंपे जायँगे। नवम्बर, १६४९ में फारस का शाह अमेरिका गया और आर्थिक एवं सैनिक सहायता के बदले अपने देश को पूरी तरह बेच आया। जब वह अमेरिका से लौटा तो जनवरी १६५० में फारस के मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन हुआ। अमरीकी दूतावास के सिफारिश पर प्रतिक्रियावादी जनरल अली रजमरा को प्रधान मन्त्री बनाया गया। लेकिन १६५१ में फारस में राष्ट्रीयता की लहर दौड़ पड़ी। इस समय तक डॉ० मुसद्दिक वहाँ का प्रधान मन्त्री हो गया था। उसने तेल कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इससे सबसे अधिक नुकसान तो ब्रिटेन को हो रहा था, लेकिन मुसद्दिक के राष्ट्रीयकरण की योजना को असफल बनाने में संयुक्त राज्य अमेरिका ने कोई कसर नहीं उठा छोड़ी। अमेरिका के दबाव से मुसद्दिक को झुकना पड़ा, शाह ने उसको बरखास्त करके देश में फौजी शासन लागू कर दिया। तब से फारस शान्त है। वह कुख्यात "बगदाद सन्धि" (अब "सेन्टो") का सदस्य बना लिया गया है और अमेरिका के पूर्ण नियन्त्रण में है।

पश्चिमी एशिया में अमेरिका का सैन्य संगठन—संसार के अन्य क्षेत्रों की तरह अमेरिका शुरू से ही पश्चिमी एशिया और निकट के अफ्रिकी देशों को मिलाकर एक सैन्य संगठन कायम करना चाहता था। लेकिन बहुत दिनों तक उसको इसमें सफलता नहीं मिली। अन्त में वह बगदाद सन्धि कायम करने में सफल रहा। पश्चिम एशिया की राजनीति में इस सन्धि (अब सेन्टो) का काफी प्रभाव रहा है।

आइसनहावर सिद्धांत—१६५६ का स्वेजयुद्ध पश्चिम एशिया के इतिहास में वर्तन-बिन्दु माना जा सकता है। इसने इस क्षेत्र में ब्रिटेन और फ्रांस के बचे-खुचे प्रभाव को सदा के लिए खत्म कर दिया और मिस्र का राष्ट्रपति नासिर इस क्षेत्र का सबसे बड़ा नेता साबित हुआ। नासिर को सोवियत संघ की सहायता से इतनी बड़ी विजय हासिल हुई थी। अतएव वह उसके प्रति सहानुभूति रखता था। पश्चिमी एशिया में सोवियत-प्रभाव को इस तरह बढ़ते देख अमेरिका में घोर चिन्ता और निराशा हुई। अमेरिका ने तो कभी इस बात को माना ही नहीं कि इस क्षेत्र की असल समस्या राष्ट्रीयता की है। अतएव उसने अरब राष्ट्रीयता की उपेक्षा करते हुए शक्ति रिक्तता (power vacuum) के सिद्धान्त की मान्यता दी। इसका तात्पर्य यह था कि

ब्रिटिश-प्रभाव के हट जाने से इस क्षेत्र में एक तरह की राजनीतिक शून्यता आ गयी है और इस कारण इस बात का खतरा बहुत बढ़ गया है कि लन्दन द्वारा रिक्त किया गया स्थान मास्को न ले ले। अतएव इस स्थिति का सामना करने के लिए ५ जून, १९५६ को राष्ट्रपति आइसनहावर ने पश्चिमी एशिया के सम्बन्ध में एक नीति की घोषणा की जिसको आइसनहावर सिद्धान्त (Eishenhower Doctrine) कहते हैं।

आइसनहावर सिद्धान्त की घोषणा ५ जनवरी, १९५७ को राष्ट्रपति आइसनहावर द्वारा कांग्रेस को भेजे गये एक संदेश में की गयी। यह संदेश मध्यपूर्व के सम्बन्ध में अमेरिका की नीति की घोषणा थी। इस संदेश के अनुसार कांग्रेस के दोनो सदनों ने एक कानून का निर्माण किया। इस कानून के अन्तर्गत राष्ट्रपति को मध्यपूर्व के किसी भी देश में अपनी विवेक बुद्धि से "साम्यवादी आक्रमण" को रोकने के लिए फौज भेजने तथा सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार मिला। इसकी मुख्य व्यवस्थाएँ निम्न थी :

(क) इसके प्रथम भाग में मध्यपूर्व में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह "मध्यपूर्व के सामान्य क्षेत्र में राष्ट्रीय स्वाधीनता बनाये रखने वाले" किसी देश को आर्थिक सहायता दे सकता है।

(ख) अधिनियम के दूसरे भाग के द्वारा राष्ट्रपति को 'मध्य पूर्व के राष्ट्रों की अखण्डता और स्वतंत्रता तथा विश्व शान्ति की सुरक्षा के लिए' उन देशों के द्वारा चाहने पर सैनिक सहायता देने के अधिकार दिये गये। साथ ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद द्वारा नियंत्रित किसी देश से सशस्त्र आक्रमण होने की स्थिति में सुसज्जित सेना भेजने का भी अधिकार दिया गया।

(ग) अधिनियम के तीसरे भाग में इस सहायता की व्यवस्था सम्बन्धी बातों का उल्लेख है और पाँचवें भाग में इस कार्य की प्रति वर्ष जनवरी और जुलाई में कांग्रेस को रिपोर्ट देने की व्यवस्था है।

कांग्रेस ने आइसनहावर सिद्धान्त के अन्तर्गत अमेरिकन सहायता के इच्छुक मध्यपूर्व के देशों की सहायता के लिए दो सौ मिलियन डालर की धनराशि की स्वीकृति दी।

आइसनहावर सिद्धांत का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि यह सिद्धांत ट्रूमैन सिद्धान्त का एक विकसित रूप था :

प्रथम, ट्रूमैन सिद्धान्त में सहायता का क्षेत्र तुर्की और यूनान था, जबकि आइसनहावर सिद्धान्त के अन्तर्गत अमेरिका का राष्ट्रपति मध्यपूर्व के विशाल प्रदेश में किसी भी देश को सहायता दे सकता था।

दूसरे, इसके अन्तर्गत दी जाने वाली सहायता का क्षेत्र भी अधिक व्यापक था। जहाँ ट्रूमैन सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रधानतः आर्थिक सहायता की व्यवस्था की गयी थी वहाँ आइसनहावर सिद्धान्त के अन्तर्गत आर्थिक और सैनिक दोनों प्रकार की सहायता की व्यवस्था थी।

तीसरे, इस सिद्धान्त ने राष्ट्रपति को ट्रूमैन सिद्धान्त की अपेक्षा सेनाएँ भेजने तथा लड़ाई छेड़ने के अधिक विस्तृत अधिकार प्रदान किये।

चौथे, इस सिद्धान्त में आक्रमण की प्रवृत्ति की भी अधिक स्पष्ट व्याख्या की गयी है। यह स्पष्ट कर दिया गया कि सहायता बाध्य साम्यवादी आक्रमण अथवा उसकी आशंका पर सम्बन्धित देशों की प्रार्थना और इच्छा पर ही भेजी जायगी।

आइसनहावर सिद्धान्त की प्रतिक्रियाएँ और सिद्धान्त का विश्लेपण—आइसनहावर सिद्धान्त और कांग्रेस द्वारा निर्मित कानून पर मिश्रित प्रतिक्रियाएँ हुई। मध्यपूर्व में जोर्डन, लेवनान, ईरान, ईराक, सऊदी अरब और पाकिस्तान आदि ने इसका स्वागत किया। परन्तु, मिस्र और सीरिया आदि ने इसे एक साम्राज्यवादी चाल बताया। सोवियत संघ ने इसका घोर विरोध करते हुए इसे संयुक्त राज्य अमेरिका की आक्रामक नीति की शृंखला की एक और कड़ी कहा। जवाहरलाल नेहरू ने शक्ति शून्य के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा : 'यदि पश्चिमी एशिया में एक शून्य है तो यह स्वयं उस क्षेत्र के देशों के द्वारा भरा जाना चाहिए। यदि दूसरे लोग आने का प्रयत्न करते हैं तो विपत्ति प्रारम्भ हो जाती है और सुरक्षा के स्थान पर हम उसका उल्टा पाते हैं।" इंगलैंड के जनमत के एक बड़े हिस्से ने भी आइसनहावर सिद्धान्त के प्रति अपनी नाराजगी प्रकट की। अनेक अंग्रेजों द्वारा यह कह कर इस सिद्धान्त की आलोचना की गयी कि अमेरिका का वास्तविक उद्देश्य मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रसार के विरुद्ध रक्षा कवच तैयार करना न होकर ब्रिटिश और फ्रेन्च प्रभाव समाप्त करके उसके स्थान पर अपना प्रभाव स्थापित करना है। प्रसिद्ध विद्वान डी० एफ फ्लेमिंग का मत है कि आइसनहावर ने शीत-युद्ध को प्रोत्साहित करने में बड़ी सहायता दी।[1] मिस्र और सीरिया ने आरोप लगाया कि अमेरिका का यह कदम ब्रिटिश फ्रेन्च साम्राज्यवाद का जुआ उतार फेंकने वाली अरब राष्ट्रीयता को कुचलने की और इजरायल को अरबों के विरुद्ध आक्रमण के लिए प्रोत्साहित करने की साजिश है।

आइसनहावर सिद्धान्त का प्रयोग—इस सिद्धान्त की घोषणा होते ही अमेरिका पश्चिमी एशिया के राज्यों को इसके जाल में फँसाने की चेष्टा करने लगा। कुछ दिनों के बाद इजरायल, लेबनान और लीबिया ने भी इसे स्वीकार कर लिया। परन्तु, सीरिया और यमन ने इसे अस्वीकार कर दिया तथा सूडान और मिस्र इस पर मौन रह गये। लेबनान और जोर्डन में इस सिद्धान्त का प्रयोग किया गया, पर दोनों जगह वह असफल रहा।

लेबनान में अमरीकी सेना का प्रवेश—लेबनान का राष्ट्रपति चामौं तथा प्रधान मन्त्री सामी सोलह पश्चिमी गुट के समर्थक होने के नाते आइसनहावर सिद्धान्त को स्वीकार कर चुके थे। लेकिन यहाँ की जनता इसके विरुद्ध थी। अतएव मई १९५८ में इस सरकार के विरुद्ध व्यापक विद्रोह हो गया। लेबनान के विदेश मन्त्री ने यह आरोप लगाया कि इस विद्रोह को राष्ट्रपति नासिर ने भड़काया है और वही विद्रोहियों की सहायता कर रहा है। लेबनान की सरकार इस आरोप के साथ अपनी शिकायत सुरक्षा-परिषद् में ले गयी। सुरक्षा-परिषद् ने एक आयोग की स्थापना की। जाँच-पड़ताल के बाद आयोग ने लेबनान के आरोपों को गलत बतलाया। लेकिन लेबनान की सरकार ने आयोग की रिपोर्ट को स्वीकार नहीं किया।

जुलाई १९५८ में अमरीकी सरकार ने राष्ट्रपति चामौं से यह प्रार्थना करवायी कि लेबनान की स्थिति ठीक करने के लिए अमरीकी सेना वहाँ भेजी जाय और पन्द्रह जुलाई को डेढ़ हजार अमरीकी सैनिक बेरूत में उतर पड़े। २० जुलाई तक इन सैनिकों की संख्या दस हजार तक पहुँच गयी। अमरीकी सेना की सहायता से विद्रोह तुरत दबा दिया गया लेकिन लेबनान की जनता ने अमरीकी सेना का घोर विरोध किया। सोवियत संघ ने सुरक्षा-परिषद् में यह प्रस्ताव रखा कि लेबनान से अमरीकी सेना वापस बुला ली जाय। लेकिन अमरीकी बहुमत से नियन्त्रित

1. D. F. Fleming, *The Cold War and its Origins*, p. 848.

सुरक्षा-परिषद् ने इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। इसके बाद यह प्रश्न साधारण सभा में रखा गया। २१ अगस्त को यहाँ एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसमें अमेरिका को अपनी सेना वापस बुलाने की मांग की गयी थी लेकिन अमेरिका ने ऐसा करने से साफ-साफ इन्कार कर दिया।

उधर लेबनान में अमरीकी सेना के बावजूद छिट-पुट गृह-युद्ध चल ही रहा था। जब ३१ जुलाई को चेहब नया राष्ट्रपति चुना गया तो गृह-युद्ध शान्त हो गया। चेहब की सरकार ने मांग की कि अमरीकी फौज तुरत लेबनान से हटा ली जाय। जब अमेरिका के सामने बहाना करने का कोई चारा नहीं रहा और उसे अपनी सेना हटाने पर बाध्य होना पड़ा तो २६ अक्टूबर, १९५८ को काफी अपमानित होकर अमरीकी सेना को वापस लौट जाना पड़ा।

जोर्डान में हस्तक्षेप—१४ जुलाई, १९५८ को ईराक में एक सैनिक क्रांति हुई और पश्चिमी गुट के सभी समर्थक मार डाले गये। जोर्डान पर इस क्रांति का तुरत प्रभाव पड़ा। ऐसा प्रतीत होने लगा कि अरब राष्ट्रीयता का दूसरा शिकार अब जोर्डान का शाही परिवार ही होगा। इस स्थिति में जोर्डान के शाह हुसेन ने पश्चिमी राज्यों से सहायता मांगी। ब्रिटेन ने शीघ्र ही अपनी सेना जोर्डान भेज दी। इसमें अमेरिका का पूरा समर्थन उसे प्राप्त था। स्वयं अमेरिका ने शाह हुसेन को पचहत्तर लाख डालर की नयी आर्थिक सहायता दी।

लेकिन यहाँ भी अमेरिका की कुछ न चल सकी और उसके साथी ब्रिटेन को संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा के १३ अगस्त वाले प्रस्ताव के अनुसार अपनी सेना वापस बुलानी पड़ी।

आइसनहावर सिद्धान्त का मूल्यांकन—आइसनहावर सिद्धान्त के प्रयोग के संक्षिप्त अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इसको कोई सफलता नहीं मिली और पश्चिमी एशिया पर अमेरिका का वैसा नग्न साम्राज्य नहीं कायम हो सका जिसका वह इरादा रखता था। इस क्षेत्र में शान्ति-स्थापना की बात तो दूर रही, इसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में खूब वृद्धि हुई और कई बार विश्व को तृतीय विश्व-युद्ध के भय से त्रस्त होना पड़ा। इन घटनाओं के कारण पश्चिमी एशिया में अमरीकी विरोधी भावना की एक लहर दौड़ पड़ी और साम्यवादी तत्त्वों को काफी सहारा मिला। अमेरिका का नाम समूचे पश्चिम एशिया से सामन्तवाद तथा प्रतिक्रियावाद के समर्थकों के साथ जुट गया।

ट्रूमैन सिद्धान्त की तरह आइसनहावर सिद्धान्त भी संयुक्त राष्ट्रसंघ को निर्बल बनाने वाला था, क्योंकि इसके द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ का काम संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अपने हाथ में लेने का यत्न किया गया था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्रीय प्रेक्षक दल की रिपोर्ट के विरुद्ध लेबनान में अपनी सेनाएँ भेजीं जो अनुचित था। यह इसके साम्राज्यवाद का सूचक और संघ में उसके अविश्वास का परिचायक था। संघ के प्रेक्षक दल की रिपोर्ट के बाद भी अमेरिका की यह कार्रवाई यह सिद्ध करती थी कि वह सामरिक और आर्थिक दृष्टि से इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में अपने प्रभाव और नियन्त्रण का भूखा था।

आइसनहावर का सिद्धान्त असफल रहा, इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि यह अरब राष्ट्रीयता की उपेक्षा पर आधारित था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अरब देशों ने राष्ट्रीयता

का नवीन जागरण हुआ था और इसलिए अरब देश अब किसी प्रकार के विदेशी हस्तक्षेप को सहने को तैयार नही था। इसकी असफलता का दूसरा कारण है राष्ट्रपति कर्नल नासिर का व्यक्तित्व जो बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी साम्राज्यवाद का सबसे महान् विरोधी सिद्ध हुआ है।

आइसनहावर सिद्धान्त को मध्यपूर्व में साम्यवादी और सोवियत प्रभाव को रोकने में सफलता नहीं मिली। लेबनान और जोर्डान में सैनिक हस्तक्षेप का प्रभाव उल्टा पड़ा और इन दोनो देशों में पश्चिम-विरोधी भावनाओं की जड़ मजबूत हो गयी। जोर्डान में अमरीकी सहायता से शाह हुसैन के विरुद्ध विद्रोह तो दबा दिया गया, परन्तु सीरिया, ईराक और मिस्र में सोवियत प्रभाव की वृद्धि हुई और ईराक बगदाद पैक्ट से अलग हो गया।

पश्चिमी यूरोप में अमरीकी प्रभाव में ह्रास

सैनिक गठबन्धन और आर्थिक सहायता की नीति के कारण प्रायः सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप अमेरिका का प्रभाव-क्षेत्र बन गया था। यह स्थिति यूरोप के कुछ राष्ट्रों को एकदम अच्छी नहीं लगी। विशेषकर फ्रांस इसके लिए बहुत चिन्तित था। लेकिन अमेरिका पश्चिमी यूरोप के देशों को नाटो संगठन का सदस्य बनाकर ही सन्तुष्ट नही था। उसका विचार था कि नाटो का कार्यक्षेत्र केवल प्रतिरक्षात्मक तथा सैनिक संगठन तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, बल्कि इसका अन्य क्षेत्रों तक विस्तार किया जाना चाहिए। २४ अप्रैल, १९५६ को डलेस ने कहा कि 'नाटो' एक प्रतिरक्षात्मक गठबन्धन से "कुछ अधिक बन सकता है तथा उसको ऐसा बनाया भी जाना चाहिए।" अब समय आ गया है कि 'नाटो' को अपने प्रारम्भिक चरण से विकसित करके पूर्ण अर्थ प्रदान किया जाय।" इसी प्रकार कनाडा के विदेश मन्त्री लेस्टर बी० पियर्सन ने १२ अप्रैल को कहा कि 'नाटो' को "प्रतिरक्षात्मक नीति की एक एजेन्सी मात्र से कुछ अधिक होना चाहिए।" फलतः 'उत्तरी एटलांटिक परिषद्' ने ४-५ मई, १९५६ को, कुछ अन्य बातों के अतिरिक्त, तीन मन्त्रियों की एक समिति नियुक्त करने का निश्चय किया जो "नाटो-सहयोग को गैर-सैनिक क्षेत्रो तक विस्तृत करने तथा अतलांतिक-समुदाय में अधिक एकता लाने के लिए समुचित साधन तथा तरीके जुटा सके।" इस समिति ने एक ३६ सूत्रीय प्रश्न-तालिका संकलित की तथा 'नाटो' के सदस्यो में समान हित के मामलो पर "स्वाभाविक विचार-विनिमय या मन्त्रणा", सांस्कृतिक तथा आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता के उन्मूलन, और अधिक-से-अधिक अवसरों पर सैनिक अभ्यास करने के सुझाव दिये।

नाटो में मतभेद—अमेरिका के इस प्रयास से पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रो की चिन्ता और भी बढ़ गयी और वे नाटो संगठन से धीरे-धीरे सशंकित होने लगे। इसी हालत में १९५६ में स्वेज का संकट आया और इस संकट के समय नाटो संगठन में पहले-पहल तनाव उत्पन्न हुआ। अमेरिका ने इंगलैंड और फ्रांस द्वारा मिस्र पर किये गये आक्रमण का विरोध किया। ११-१४ दिसम्बर, १९५६ को नाटो की परिषद् में डलेस ने मिस्र पर आंग्ल-फ्रांसीसी आक्रमण की निन्दा की तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों का समर्थन किया। इस पर ब्रिटेन और उससे भी अधिक फ्रांस अमेरिका से नाराज हुआ।

इसके बाद नाटो संगठन के आन्तरिक मतभेद कई बार स्पष्ट रूप से सामने आये। साइप्रस के विवाद को लेकर नाटो के दो सदस्य-राज्य—यूनान और तुर्की—एक दूसरे से उलझ

गये। १६५८ में यूनान की सरकार ने नाटो के किसी भी सम्मेलन में भाग लेने से इन्कार कर दिया। मतभेद तब और तीव्र हो गया जब नाटो ने दिसम्बर १६६१ में गोआ-विवाद में पुर्तगाल की ओर से सशस्त्र हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया।

यूरोपीय राज्यों में फ्रांस सबसे अधिक सशंकित था। नाटो संगठन के प्रति उसकी कई शिकायतें थी। अतएव फ्रांस को प्रसन्न करने के लिए १६५६ में निम्नलिखित निर्णय किये गये :

१ फ्रांस को अपने भूमध्यसागरीय नौसेना दस्ते पर युद्धकाल में भी पूर्ण राष्ट्रीय नियन्त्रण बनाये रखने का अधिकार दे दिया गया।

२. अमरीकी लड़ाकू तथा बमवर्षक सैन्य टुकड़ियों को फ्रांस से हटाकर ब्रिटेन तथा पश्चिमी जर्मनी के अड्डों में भेजने का निश्चय किया गया।

१९५६ के बाद नाटो के संगठन में कई दरारें उत्पन्न हो गयीं और अमेरिका की सारी पश्चिमी यूरोपीय नीतियाँ असफल होने लगी। नाटो का संगठन शीत-युद्ध का परिणाम था। जब शीत-युद्ध अपनी चरम सीमा पर था और सोवियत विस्तार का कुछ भय था तो पश्चिमी यूरोप के राज्यों के लिए अमरीकी प्रभाव को स्वीकार करना स्वाभाविक था। लेकिन जैसे-जैसे शीत-युद्ध की बर्फ पिघलने लगी वैसे-वैसे अमरीकी प्रभुत्व को चुनौती मिलने लगी। परमाणु-शक्ति पर संयुक्त राज्य अमेरिका का एकाधिकार तथा आर्थिक कमजोरियों ने पश्चिमी यूरोप के देशों को अमरीकी नेतृत्व स्वीकार कर लेने को विवश कर दिया था, किन्तु समय बीतने पर ये दोनों स्थितियाँ बदल गयी और नाटो के सदस्य राज्य "स्वतन्त्रता" का प्रदर्शन करने लगे। वे अब अमरीकी आदेशों के विरुद्ध अपनी अनिच्छा प्रदर्शित करने लगे क्योंकि अटलांटिक गुट राष्ट्रीय आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक नहीं रह गया था।

परमाणविक अस्त्रों के विकास ने युद्ध-कला को एकदम परिवर्तित कर दिया। पश्चिमी यूरोप के देश अब यह अनुभव करने लगे कि पूर्व और पश्चिम के बीच कोई भी भावी युद्ध परमाणविक युद्ध होगा जिसमें स्थल सेनाओं की कोई उपयोगिता नहीं रहेगी और ऐसे युद्ध में सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि दोनों अणुशक्तियों में से किसके पास शत्रु की प्रतिशोधात्मक सामर्थ्य (retaliatory capacity) को जल्दी समाप्त करने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त परमाणविक शस्त्रों की निषेधात्मक सामर्थ्य (deterrent capacity) ने एक तृतीय विश्व-युद्ध की सम्भावना को खत्म कर दिया। सोवियत गुट और अमरीकी गुट यह समझने लगे कि एक परमाणविक युद्ध में किसी भी पक्ष के लिए विजय असम्भव है। पश्चिमी गुट में यह धारणा फैलने लगी कि मानव का भविष्य सैनिक गठबन्धनों से नहीं; पारस्परिक सद्भावना से ही उज्ज्वल बनाया जा सकता है।

यही कारण है कि फ्रांस नाटो की ओर से निरन्तर विमुख होता गया और उसने कई बातों में नाटो से सहयोग करने से इन्कार कर दिया। फ्रांस की ओर से मार्च १६६६ में यह घोषणा भी कर दी गयी कि तीन वर्ष के अन्दर इस संगठन के साथ वह अपना सम्पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद कर लेगा। इस प्रकार नाटो का संगठन महत्त्वहीन हो गया। अमेरिका की युद्धोत्तर यूरोपीय नीति का विशाल भवन वस्तुतः धराशायी होने लगा।

पूर्वी एशिया और संयुक्त राज्य

चीन और अमेरिका—१९४५ में जापान की पराजय के बाद, संयुक्त राज्य अमेरिका ने पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व कायम करने की चेष्टा की। जापान पराजित होकर अमेरिका के सैनिक कब्जे में आ गया किन्तु चीन में राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों के बीच जो गृह-युद्ध चल रहा था उसकी चरम परिणति समीप आ रही थी। अमेरिका ने साम्यवादियों के दमन के लिए च्यांग काई शेक की सरकार को पूरी सहायता की। इसके बावजूद चीन की राष्ट्रवादी सरकार हारती गयी और साम्यवादी जीतते रहे। १९४९ आते-आते चीन की राष्ट्रवादी सेना चीन की मुख्य भूमि से पराजित होकर हटती गयी और अन्त में फारमोसा भागकर चली आयी। अमेरिका की लाख सैनिक सहायता भी च्यांग की भ्रष्ट सरकार की रक्षा नहीं कर सकी। यह संयुक्त राज्य अमेरिका की युद्धोत्तर काल की सबसे बड़ी पराजय थी। द्वितीय विश्व-युद्ध के फलस्वरूप प्रशान्त महासागर पर अमेरिका का पूर्ण प्रभुत्व कायम हो गया था। चीन में कम्युनिस्ट शक्ति का अभ्युदय इस प्रभुत्व के लिए सबसे महान् चुनौती बन गया।[1] चीन में साम्यवादी व्यवस्था के कायम होने से चीन केवल संयुक्त राज्य अमेरिका के नियन्त्रण से ही मुक्त न हो गया, अपितु उसने पूर्वी एशिया के शक्ति सन्तुलन में एक महान् परिवर्तन उपस्थित कर दिया जो अमेरिका के विरुद्ध था। चीन जो पिछले एक शताब्दी तक साम्राज्यवादी शोषण का शिकार बना हुआ था; अब एक नया जन्म पाकर उठ खड़ा हुआ।

लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका इस परिवर्तन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। अतः उसने चीन की नयी सरकार को अभी तक मान्यता नहीं प्रदान की है और न उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य ही बनने दिया है। अमेरिका फारमोसा की सरकार को ही मान्यता देता है और इस कठपुतली सरकार के रक्षार्थ इसने इस क्षेत्रमें सैनिक गतिविधि को बड़े पैमाने पर बढ़ा दिया है। नीति का अनुसरण करके संयुक्त राज्य ने काहिरा पोट्सडाम की घोषणाओं का उल्लंघन किया है। अमेरिका द्वारा साम्यवादी चीन को मान्यता नहीं प्रदान करने तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसका स्थान नहीं दिलाने के कारण पूर्वी एशिया की राजनीति हमेशा तनावपूर्ण स्थिति में रहती है। चीन अमेरिका को अपना शत्रु नम्बर एक मानता है।

साम्यवादी चीन के कारण कोरिया की राजनीति भी उलझ गयी। कोरियाई समस्या में संयुक्त राज्य अमेरिका ने जिस नीति का अवलम्बन किया उसकी पूरी चर्चा हम इस पुस्तक में अन्यत्र कर चुके हैं।

जापान और अमेरिका—द्वितीय विश्व-युद्ध में जापान पराजित होकर अमेरिका के सैनिक कब्जे में चला गया। किन्तु रूस के साथ मतभेद होने के कारण जापान के साथ शान्ति-सन्धि नहीं हो सकी और बहुत दिनों तक जापान पर अमेरिका का सैनिक शासन कायम रहा। जेनरल मैकआर्थर के सेनापतित्व में जापान में जो अमरीकी शासन कायम हुआ उसके फलस्वरूप वह देश पूरी तरह से संयुक्त राज्य के नियन्त्रण में आ गया। फिर, १९५१ में सैनफ्रांसिस्को के सम्मेलन में जापान के साथ अन्य युद्धरत देशों की सन्धि हो गयी। इसके द्वारा जापान को कोरिया और फारमोसा पर से अपना अधिकार हटाना पड़ा तथा पेस्काडर्स, क्यूराईल तथा शखालीन के भाग

1. V. M. Dean, *American's Future in the Pacific*, p. 232.

अमेरिका को सौंपने पड़े। जापान ने संयुक्त राज्य अमेरिका का मित्र तथा संरक्षित राज्य होने की शर्त पर अपनी राजसत्ता को पुनः प्राप्त कर ली। ८ सितम्बर, १९५१ को संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान के साथ अनिश्चित काल के लिए प्रतिरक्षा समझौता (U. S. Japanese Defence Pact) किया। इसके अन्तर्गत जापान पर वाह्य सशस्त्र आक्रमण होने की दशा में अथवा वाह्य शक्तियों को भड़काने से या हस्तक्षेप से तथा बड़े पैमाने पर उपद्रव होने की दशा में जापान के भीतर जापानी सरकार को सैनिक सहायता देने की व्यवस्थाएँ हैं। इसके बदले में संयुक्त राज्य अमेरिका को जापान ने अपने देश में जल, स्थल तथा वायु सेनाएँ रखने का अधिकार पूर्वी एशिया में शान्ति सुरक्षा बनाये रखने के लिए दिया है। जापान संयुक्त राज्य अमेरिका की स्वीकृति के बिना किसी तीसरी शक्ति को अपने देश में अड्डे बनाने, किलाबन्दी करने, सेना रखने या इसके गुजरने का मार्ग नहीं दे सकता। निश्चय ही इस सन्धि के द्वारा जापान की स्थिति अमेरिका के एक संरक्षित राज्य जैसी हो गयी है। जापान की जनता ने इसका घोर विरोध किया है, पर अमेरिका के सैन्य बल के सामने उनकी कुछ न चल सकी है।

१ सितम्बर, १९५१ को प्रशान्त महासागर में शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से अमेरिका ने आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के साथ भी एक सुरक्षा सन्धि की। इसके पहले ३० अगस्त, १९५१ को फिलिपाइन्स के साथ भी उसकी एक पारस्परिक प्रतिरक्षा सन्धि हो चुकी थी।

हिन्द चीन की समस्या और अमेरिका साम्यवादी चीन के अभ्युदय ने हिन्दचीन के प्रति अमरीकी नीति को भी प्रभावित किया। हिन्दचीन की लड़ाई में अमेरिका फ्रेंच साम्राज्यवाद का पक्ष लेकर कूद पड़ना चाहता था। लेकिन परिस्थिति के अनुकूल नहीं रहने के कारण वह ऐसा नहीं कर पाया। १९५४ में हिन्दचीन के सम्बन्ध में जो जेनेवा समझौता हुआ उसको अमेरिका का पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं था। लेकिन हिन्दचीन के युद्ध और उसमें कम्युनिस्टों की विजय ने अमेरिका को दक्षिण पूर्व एशिया के लिए एक सैनिक संगठन कायम करने पर बाध्य किया। दक्षिण पूर्व एशिया सन्धि संगठन की स्थापना अमेरिका की इसी नीति का परिणाम थी।

जेनेवा समझौता के द्वारा कम्बोडिया और लाओस को तटस्थ राज्य घोषित किया गया था। लेकिन संयुक्त राज्य को यह स्थिति पसन्द नहीं थी। वह इन राज्यों को अपने जाल में फँसाने की कोशिश करने लगा। १९५९ में अमरीकी षड्यन्त्र के फलस्वरूप लाओस का तटस्थ प्रधान मंत्री प्रिंस सुवर्ण फुम्मा पदच्युत करा दिया गया और वहाँ पर अमेरिका की एक कठपुतली सरकार कायम हो गयी। इस कारण लाओस में गृह-युद्ध की स्थिति पैदा हो गयी। कई वर्षों तक यह गृह-युद्ध चलता रहा। अमरीकी अभी भी हिन्दचीन में इसी तरह आक्रामक नीति का अनुसरण कर रहा है जिसके कारण वहाँ की राजनीति हमेशा तनावपूर्ण बनी रहती है। जून, १९६४ में कम्बोडिया की सरकार ने संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा-परिषद् में अमेरिका पर यह आरोप लगाया कि वह कम्बोडिया के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप कर रहा है। सुरक्षा-परिषद् में इस पर काफी बहस हुई और कम्बोडिया को सोवियत संघ का जबर्दस्त समर्थन प्राप्त हुआ। हिन्दचीन की राजनीति में इस तरह के बवंडर हमेशा उठा करते हैं और इसके लिए अमेरिका की आक्रामक नीति एकमात्र जिम्मेवार है।

कैनेडी-प्रशासन-काल में अमरीकी विदेश-नीति

विदेश-नीति की नवीन सीमा—८ नवम्बर, १९६० से अमरीकी विदेश-नीति की बागडोर राष्ट्रपति कैनेडी के हाथों में आ गयी। कैनेडी अमेरिका का सबसे अधिक युवा राष्ट्रपति और अद्भुत साहस तथा सूझबूझ के व्यक्ति थे। उनके नेतृत्व में अमेरिका ने अपनी विदेश-नीति में अत्यन्त साहसपूर्ण दूरगामी परिवर्तन किये। अमरीकी विदेश-नीति के विश्लेषणकर्त्ता १९६० के वर्ष को असफल वर्ष मानते हैं। इस वर्ष बर्लिन का झगड़ा पुनः उभर आया तथा मई का शिखर-सम्मेलन विफल सिद्ध हुआ था। जून में जापान में सुरक्षा-सन्धि के विरुद्ध कई उपद्रव हुए जिसके फलस्वरूप राष्ट्रपति को अपना दौरा स्थगित कर देना पड़ा था। क्यूबा में अमेरिका की बड़ी मानहानि हुई थी तथा अटलान्टिक सन्धि में दरारें उत्पन्न हो गयी थीं। नये राष्ट्रपति ने इन सारी बातों को समझा। १५ जुलाई, १९६१ को उन्होंने कहा : "हम आज एक नयी सीमा की आर पर खड़े हैं—यह १९६० का सीमा प्रदेश है।" तत्कालीन खतरों और समस्याओं की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि ये खतरे काफी समय तक बने रहेंगे। इन समस्याओं की समाप्ति अनिश्चित है, लेकिन उनके समाधान के लिए हमें प्रयास तो शुरू ही कर देना चाहिए।

कैनेडी के प्रशासन-काल में वैदेशिक नीति के मूल सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, लेकिन राष्ट्रपति ने उसे इतना सजीव और सचेतन बना दिया कि ऐसा लगने लगा कि मानो अमेरिका की विदेश-नीति में एक नयी जान आ गयी हो। कैनेडी का विश्वास था कि समझौते और वार्तालाप के द्वारा पूर्व और पश्चिम के भेदों को मिटाया जा सकता है, उनका यह भी कहना था कि दुनिया में सबसे बड़ी चुनौती उस भाग से दी जा रही है जो कि शीत-युद्ध में शामिल नहीं है। कैनेडी ने यह कहा कि विश्व में साम्यवाद के अतिरिक्त गरीबी और अन्य प्रकार की तानाशाहियाँ भी शत्रु हैं। यह एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण वक्तव्य था और अमरीकी विदेश-नीति के लिए एक सर्वथा नवीन मोड़ था। अमरीकी प्रशासन ने पहले पहल इस तथ्य को मान्यता दी कि विश्व की सारी परेशानियों का कारण केवल साम्यवाद ही नहीं है। यदि दुनिया की समस्याओं का उचित समाधान निकलता है तो संयुक्त राज्य अमेरिका को विश्व की आर्थिक और सांस्कृतिक सीमा-प्रदेशों पर भी ध्यान देना होगा; केवल सैनिक बल पर भरोसा करके इनका समाधान नहीं होगा।

सितम्बर १९५९ में आइसनहावर और ख्रुश्चेव के मिलन के बाद जो कैम्प डेविड की भावना आयी थी, कैनेडी प्रशासन ने उसे मान लिया और उसके अनुरूप आचरण करने का आश्वासन दिया। राष्ट्रपति ने कहा कि अब महाशक्तियों को यह समझ लेना चाहिए कि उसके हित स्पष्ट हैं और अधिक दिनों तक वे अपने पारस्परिक सम्बन्ध को खराब बनाये नहीं रख सकते। जून १९६१ में वियना में राष्ट्रपति कैनेडी की मुलाकात ख्रुश्चेव से हुई। वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने कहा : "केवल इस प्रकार के विचार-विमर्श के द्वारा ही मैं इस बारे में निश्चित हो सका कि ख्रुश्चेव यह जानते हैं कि हम वर्तमान तथा भविष्य को किस प्रकार भिन्न रूप से सोचते हैं। हमारा दृष्टिकोण पूरी तरह परस्पर विरोधी है किन्तु अन्त में हम यह तो जान गये कि हम कहाँ खड़े हैं।" कैनेडी का कहना था कि दोनों गुटों के बीच अस्पष्टता, सन्देह तथा गलतफहमी के कारण अनेक संकट एवं परेशानियाँ उत्पन्न हो जाती हैं किन्तु विचारों के प्रत्यक्ष आदान-प्रदान से उन्हें मिटाया जा सकता है।

इस प्रकार राष्ट्रपति कैनेडी ने अपने प्रशासन-काल के प्रारम्भिक दिनों में अमरीकी विदेश नीति को एक नयी सीमा देने का प्रयास किया। इसके परिणाम स्वरूप जनवरी १९६१ में राष्ट्रपति ने यह निर्णय लिया कि लाओस की समस्या के कारण सोवियत संघ और अमेरिका के बीच जो विवाद बढ़ता जा रहा है उसे कम किया जाय। इसी महीने उन्होंने आणविक परीक्षण के प्रयोग पर नियन्त्रण लगाने के सम्बन्ध में महाशक्तियों के गतिरोध को दूर करने का यत्न किया। इन सारी बातों से यह प्रतीत हुआ कि नये राष्ट्रपति ने साम्यवादी व्यवस्था के प्रति सह-अस्तित्व का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है। इसके साथ ही, जब अवसर आया तो उन्होंने सोवियत संघ के प्रति दृढ़ नीति का भी अवलम्बन किया। इस दृष्टिकोण से 'नाटो' के आर्थिक और राजनैतिक आधारों को मजबूत करने की ओर महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये और "वफादार मित्रों" की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। जून १९६१ में सोवियत संघ ने जर्मनी के सम्बन्ध में यह धमकी दी कि वह पूर्वीय जर्मनी के साथ पृथक् रूप से सन्धि कर लेगा तथा पश्चिमी राष्ट्रों को बर्लिन में प्रवेश करने वाले सन्धि का अन्त कर देगा। इस पर कैनेड़ी ने बड़ी दृढ़ता के साथ सोवियत संघ को यह चेतावनी दी कि रूस की एक पक्षीय कार्यवाही उन्हें किसी भी अवस्था में मान्य नहीं होगी। राष्ट्रपति ने इस प्रश्न पर इतना कड़ा रुख अपनाया कि सोवियत संघ को अपने इरादों को बदलना पड़ा।

क्यूबा का संकट—वैदेशिक नीति के क्षेत्र में राष्ट्रपति कैनेडी के प्रशासन काल में क्यूबा का संकट सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी। ऐसा कहा जाता है कि इस घटना ने राष्ट्रपति की विदेश नीति को पूर्णतया सफल सिद्ध किया। लेकिन इसके साथ ही इसने यह भी सिद्ध कर दिया कि अमरीकी विदेश नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है और "नवीन सीमा" की बात नयी बोतल में पुराने शराब की कहावत चरितार्थ करती है।

क्यूबा-संकट के बारे में हम इस पुस्तक में पहले ही विचार कर चुके हैं। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि ४ सितम्बर, १९६२ को अपने एक वक्तव्य में राष्ट्रपति ने बतलाया कि सरकार को प्राप्त एक सूचना के अनुसार सोवियत संघ में क्यूबा में एक गगनभेदी प्रक्षेपणास्त्र तथा अन्य सामरिक सामग्री भेज रहा है जिससे अमरीकी सुरक्षा खतरे में पड़ गयी है। राष्ट्रपति ने सोवियत संघ को चेतावनी दी कि वह इस तरह का खतरनाक काम नहीं करे।

क्यूबा में रूसी सैनिक अड्डा कायम होने से निश्चय ही संयुक्त राज्य अमेरिका की सुरक्षा खतरे में पड़ सकती थी और राष्ट्रपति को इस तरह की चेतावनी देने का अधिकार भी था। लेकिन उस समय कैनेडी महोदय यह भूल रहे थे कि अमेरिका ने स्वयं सारे विश्व में और सोवियत संघ के हर दरवाजे पर अपना सैनिक अड्डा कायम कर लिया है। यदि अमेरिका को इस तरह सैनिक अड्डा कायम करने का हक था तो यह हक सोवियत संघ को भी मिल सकता था लेकिन विश्व का सर्वाधिक ताकतवर राष्ट्र होने के नाते संयुक्त राज्य अमेरिका दूसरों के हक को इस तरह की मान्यता नहीं दे सकता था। अतः २३ अक्टूबर, १९६२ को क्यूबा में रूसी अड्डों की स्थापना की निन्दा करते हुए राष्ट्रपति ने क्यूबा की नाकेबन्दी घोषणा कर दी जिसके अनुसार अमेरिका के जहाजों द्वारा क्यूबा के बन्दरगाहों को घेर लेना था ताकि यहाँ के अड्डों को प्राणा[illegible] शस्त्रों से सुसज्जित करने वाली सामग्री नहीं भेजी जा सके। राष्ट्रपति कैनेडी की इस घोषणा ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महान् संकट उत्पन्न कर दिया क्योंकि उनका यह कार्य सोवियत संघ को १९४८

धमकी थी कि वह क्यूबा को सैनिक सहायता देना बन्द कर दे अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाय। इस मौके पर सोवियत संघ ने दूरदर्शिता से काम लिया और क्यूबा में अड्डों को उठा लेने की बात पर सहमत हो गया। राष्ट्रपति कैनेडी ने ख्रुश्चेव के इस निर्णय को "एक महान् राजनेता का निर्णय" कहा, लेकिन कुछ अमरीकी पत्रों ने खुले शब्दों में कहा कि "रूस ने हमारी चुनौती स्वीकार नहीं की।"

क्यूबा के संकट के उपरान्त राष्ट्रपति कैनेडी ने दूरदर्शिता से काम लिया और सोवियत संघ को अनावश्यक रूप से अपमानित करने का कोई प्रयास नहीं किया। इसके तुरत ही बाद कैनेडी-प्रशासन ने निरस्त्रीकरण की दिशा में प्रगति करने का भरसक प्रयास किया। इसके फलस्वरूप २५ जुलाई, १९६३ को अमेरिका, ब्रिटेन और सोवियत संघ के बीच अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध-सन्धि पर हस्ताक्षर हुआ। शीत-युद्ध को कम करने में इस सन्धि से बड़ी सहायता मिली।

क्यूबा और वियतनाम के प्रति अमरीकी नीति को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि कैनेडी के नेतृत्व में संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति कुछ परिवर्तनों के साथ अपनी पुरानी लकीरों पर ही चलती रही। इस काल में अमेरिका की विदेश-नीति के आधारभूत सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

राष्ट्रपति जॉनसन के काल में अमरीकी विदेश-नीति

२२ नवम्बर १९६३ को राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या के उपरान्त तत्कालीन उपराष्ट्रपति लिन्डन जॉनसन संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति बने और बाद में १९६४ के निर्वाचन में विजयी होकर पुनः इस पद पर नियुक्त हुए। राष्ट्रपति पद ग्रहण करने के तुरत बाद जॉनसन ने घोषणा की कि वे विदेश-नीति के क्षेत्र में भूतपूर्व राष्ट्रपति के पद चिह्नों पर ही चलेंगे और अमरीकी विदेश नीति के मूल में किसी तरह का परिवर्तन नहीं किया जायगा। जॉनसन ने अपनी नीति-निर्धारण के सम्बन्ध में इस बात पर ध्यान रखा है और उसके प्रशासन-काल में अमरीकी नीति लगभग वही रही है जो पहले थी। जॉनसन ने शीत-युद्ध के विस्तार को रोकने का यत्न करते हुए विश्व के मामलों पर उसी तरह के उग्र और आक्रामक दृष्टिकोण को अपनाया है जो राष्ट्रपति कैनेडी के थे। जॉनसन-प्रशासन की विदेश-नीति का अध्ययन हम मुख्यतः दो समस्याओं के सन्दर्भ में करेंगे : वियतनाम तथा १९६७ के पश्चिम एशिया संकट।

वियतनाम संघर्ष और अमेरिका:—वियतनाम की समस्या पर हम आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। फिलहाल के लिए हम इतना ही कहेंगे कि वियतनाम समस्या पर आक्रामक रुख अपनाने का निर्णय राष्ट्रपति कैनेडी के काल में ही लिया गया था और जॉनसन के काल में यह नीति उत्तरोत्तर उग्रतर और आक्रामक होती गयी। १९६०-६१ में दक्षिण वियतनाम में वियत-कांग छापामारों की गतिविधि बहुत बढ़ गयी। इस हालत में दक्षिण वियतनाम की सरकार ने अमेरिका से सहायता की याचना की जिसके लिए अमरीकी सरकार सहर्ष तैयार हो गयी। ४ जनवरी, १९६२ को सैगोन में एक अमरीकी सैनिक कमान स्थापित की गयी और चार हजार अमरीकी सैनिक वहाँ उतार दिये गये। अगस्त १९६४ में वियतनाम में विषम परिस्थिति उत्पन्न

हो गयी। अमरीकी सेना पर वियतकांग छापामारों का निरन्तर हमला होता रहा। इसके प्रतिरोधस्वरूप अमेरिका ने ७ फरवरी, १९६५ को उत्तरी वियतनाम पर हवाई हमले आरम्भ कर दिये। फलतः संयुक्त राज्य अमेरिका और उत्तरी वियतनाम में प्रत्यक्ष युद्ध की शुरुआत हो गयी। उस समय से मार्च, १९६८ तक अमेरिका ने उत्तरी वियतनाम को पराजित करने की भरपूर कोशिश की, लेकिन उनके सभी प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुए। हजारों की संख्या में अमरीकी सैनिक, जहाज आदि इस युद्ध में नष्ट हुए। इसका प्रभाव अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ा और अमरीकी मुद्रा डालर संकट में फँस गया। इन सभी कारणों से वियतनाम युद्ध के प्रति जॉनसन प्रशासन का रुख स्वयं अमेरिका में गम्भीर आलोचना का पात्र बन गया। अमरीकी नागरिकों की एक बहुत बड़ी संख्या ने इस नीति का विरोध किया। यदि अमेरिका वियतनाम पर अपनी विनाशकारी बमवर्षा बन्द करके सहयोग का रचनात्मक वातावरण पैदा करता तो युद्ध-विराम करके समझौते का मार्ग निश्चित रूप से प्रशस्त हो सकता था। यह विचार दुनिया के सभी समझदार लोगों का है और अमेरिका के अभिन्न मित्रों ने भी उस पर ऐसा करने के लिए दबाव डाला है। लेकिन मार्च १९६८ तक संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसा करने पर किसी तरह राजी नहीं था। उसने महासचिव यूथान्त के विविध अपीलों पर भी ध्यान नहीं देते हुए अपने दुराग्रह का परिचय दिया। लगभग तीन वर्षों से अमेरिका ने प्रबल बमवर्षा द्वारा हनोई को सन्धि वार्ता के लिए बाध्य करने की कोशिश की, परन्तु इसका प्रभाव उल्टा ही पड़ा। इस बमवर्षा ने उत्तरी वियतनाम में निरन्तर संघर्ष चलाने के लिए अपूर्व साहस और दृढ़ता का संचार किया। १९६७ के अन्त तक इस युद्ध में अमेरिका का पलड़ा भारी रहा। लेकिन १९६८ के शुरू होते ही उत्तर वियतनामी सेना तथा वियतकांग छापामारों ने बड़े जोश के साथ युद्ध में प्रवेश किया और मार्च, १९६८ में अमेरिका को कई भीषण पराजयों का सामना करना पड़ा। इस युद्ध में अमेरिका की अपार क्षति हुई और इसने वियतनाम के प्रति अमरीकी नीति में परिवर्तन करने को बाध्य कर दिया।

अमरीकी नीति में परिवर्तन :—३१ मार्च, १९६८ को राष्ट्र के नाम वियतनाम के प्रश्न पर राष्ट्रपति जॉनसन का एक ब्राडकास्ट हुआ। इस ब्राडकास्ट में राष्ट्रपति ने दो मुख्य बातें कहीं : (१) वियतनाम में शान्ति वार्ता के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए उन्होंने उत्तरी वियतनाम की बमबारी आंशिक रूप से बन्द कर देने का आदेश दे दिया है और (२) "मैं राष्ट्रपति पद के चुनाव में भाग नहीं लूँगा और उसके लिए डेमोक्रेटिक पार्टी का मनोनयन नहीं स्वीकार करूँगा।" राष्ट्रपति की ये दोनों घोषणाएँ अत्यन्त नाटकीय और आकस्मिक थी।

इन घोषणाओं से शान्ति-वार्ता के लिए हनोई की शर्तें पूरी नहीं हुई फिर भी सोवियत समाचार एजेन्सी तास के शब्दों में "अभी यह कहना मुश्किल है कि यह कदम वियतनामी नीति की विफलता की सार्वजनिक स्वीकारोक्ति है अथवा चुनाव पूर्व की एक चाल।" बमबारी कम करने और उम्मीदवारी की वापसी की घोषणाएँ चाहे जिस उद्देश्य से की गयी हों उनके महत्त्व को इन्कार नहीं किया जा सकता। सर्वप्रथम यह उन विश्व-शान्ति के समर्थकों की सबसे बड़ी सफलता है जो वर्षों से संयुक्त राज्य अमेरिका को वियतनाम में अपने आक्रमण को बन्द करने की सलाह दे रहे थे। दक्षिण वियतनाम में अमेरिका की करारी सैनिक हार हुई है। यह भी स्पष्ट हो गया कि दक्षिण वियतनाम की सरकार को किसी तरह का पचड़ा देकर खड़ा नहीं रखा जा सकता है

यह भी कहा जा सकता है कि वियतनाम के सम्बन्ध में जॉनसन का निर्णय शान्ति की भावना से प्रेरित नहीं था। यह ट्रूमैन के कार्य-काल के समय से लेकर अबतक ओढ़ी हुई अन्तर्राष्ट्रीय चौकसी की जिम्मेवारियों का निर्वाह न कर सकने की प्रथम स्वीकारोक्ति थी। "मुनरो सिद्धान्त" के अधीन संयुक्त राज्य अमेरिका अमरीकी गोलार्द्ध को ही अपने प्रभाव-क्षेत्र की परिधि में शामिल करता था। लेकिन धीरे-धीरे परिस्थितियों ने उसका दायरा अटलांटिक और प्रशान्त महासागर पार करके हिन्द महासागर के देशों तक पसार दिया। इस विपुल विस्तार में अमेरिका का सामर्थ्य पसर कर ऐसे विन्दु पर पहुँच गया कि या तो वह सिमट कर अपनी रक्षा करे अथवा बिखर जाय। अमेरिका ने अपनी रक्षा का ही निर्णय लिया। इसके अतिरिक्त यह वियतनाम से अमेरिका के सम्भावित वापसी (चाहे वह जब हो) का पहला लक्षण था। इस घोषणा से यह सिद्ध हो गया कि यह "हम लोगों के जमाने का स्पेन का फोड़ा" था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्पेन में नेपोलियन बोनापार्ट की जो दुर्गति हुई थी उसी तरह की दुर्गति और अपमान वियतनाम में जॉनसन को सहना पड़ा।

राष्ट्रपति जॉनसन के ३१ मार्च के ब्राडकास्ट को जो भी महत्त्व हो, यह तो मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसके साथ ही वियतनाम के प्रति अमरीकी नीति का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया।

कोरिया और प्वेब्लो संकट

राष्ट्रपति आइसनहावर के कार्यकाल में अमेरिका ने अन्तर्राष्ट्रीय चौकदारी की जो जिम्मेदारी ले रखी थी, उसके कार्यक्षेत्र को राष्ट्रपति जॉनसन ने और भी बढ़ा दिया। इधर हाल के वर्षों में सम्पूर्ण विश्व में अमरीकी सी० आइ० ए० (Central Intelligence Agency) की गतिविधि बहुत बढ़ी है और अमेरिका के जासूसी वाहक सदैव संसार के सभी देशों, विशेषकर समाजवादी तथा तटस्थतावादी देशों, का निरीक्षण करते रहते हैं। इसी तरह के एक जासूसी पोत प्वेब्लो (Peublo) को २३ जनवरी, १९६८ का उत्तर कोरियों ने अपने प्रादेशिक जल में पकड़ लिया और उस पर सवार ८३ व्यक्तियों को हिरासत में ले लिया। अमरीकी सरकार का कहना था

"The announcement that the USA was putting a stop to its illegal bombing raids over most parts of the territory of the Democratic Republic of Vietnam together with the other announcement that President Johnson will not stand for re-election is the biggest political victory up to date of the peace living forces throughout the world who have been demanding an end to the U. S. A's war of aggression in Vietnam.

Above all it is indicative of the resounding military defeats that the U. S. aggressors have already suffered at the hands of the heroic people of South Vietnam as well as in its political raids over North Vietnam.

Together with the military debacle, the entire superstructure of the U. S. puppet administration in South Vietnam has crumbled, with the aggressive forces reduced to holding on to a number of cities, towns and military bases in South Vietnam.

New Age, (Delhi), April, 1968

कि ९०६ टन वजनी यह पोत वास्तव में जासूसी पोत नहीं था, बल्कि "सूचना-संग्रह का सहायक पोत" था और उसे जापान सागर में समुद्र तट से पचीस मील दूर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गिरफ्तार किया गया था। इसीलिए उत्तर कोरिया की सरकार को उसे अपने अधिकार में करने का कोई अधिकार नही था। लेकिन उत्तर कोरिया ने जलपोत को छोड़ने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। अमरीकी सरकार ने सोवियत संघ की सरकार से भी अनुरोध किया कि वह अपना प्रभाव डालकर उत्तर कोरिया की सरकार को पोत वापस भेजने के लिए बाध्य करे। लेकिन सोवियत प्रधान मन्त्री कोसिजिन ने कहा कि जबतक मामले की छानबीन नही हो जायगी और तथ्यो का पता नही लग जायगा तबतक सोवियत सरकार अमेरिका को सन्तुष्ट करने के लिए कोई कदम नही उठायगी।

संयुक्त राज्य अमेरिका के समक्ष एक बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो गयी, क्योंकि उत्तर कोरिया की सरकार ने जलपोत पर पकड़े गये अमरीकियों पर जासूसी का मुकदमा चलाने का निश्चय किया। उत्तर कोरिया को डराने-धमकाने के उद्देश्य से अमेरिका ने सैनिक तैयारी शुरू कर दी। तीन दिनो के भीतर ही उसने एक बहुत बड़े पैमाने पर सैनिक तैयारियाँ पूरी कर ली थी। दक्षिण कोरिया में स्थित अमेरिका के पचपन हजार सैनिक अपनी बन्दूक लेकर उठ खड़े हुए। अमेरिका की सरकार ने अपनी वायुसेना और नौ-सेना के सैनिकों को तुरत युद्ध-भूमि में रवाना हो जाने के लिए तैयार रहने का आदेश दिया।

इन धमकियों से डरे बिना उत्तर कोरिया ने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया कि वह किसी भी हालत में जासूस पोत वापस नही करेगा। संयुक्त राज्य ने तब इस मामले को सुरक्षा-परिषद् में उठाने की बात की। इस पर उत्तर कोरिया की सरकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में पारित कोई भी प्रस्ताव उसे स्वीकार नहीं होगा।

प्वेब्लो-कांड के समय संयुक्त राज्य अमेरिका ने उतना ही संयम से काम लिया जितना क्यूबा-संकट के समय सोवियत संघ ने लिया था। अपनी तमाम सैनिक सन्नद्धता के बावजूद उसने जल्दीबाजी में कोई कदम नही उठाया। इसी बीच सोवियत प्रधान मन्त्री कोसिजिन ने यह राय दी कि यदि अमरीकी अपनी इस गुस्ताखी की माफी मांग ले तो प्वेब्लो को रिहा किया जा सकता है। अन्त में अमेरिका को इसी समाधान का आश्रय लेना पड़ा और तब जाकर प्वेब्लो-कांड से उठा हुआ तूफान शान्त हुआ। अमरीकी विदेश सचिव डीन रस्क ने एक ब्राड-कास्ट में यह कबूल किया कि प्वेब्लो जासूसी पोत "भूल से उत्तर कोरिया के प्रादेशिक जाल में भटक गया था।" इसी स्वीकारोक्ति के पश्चात् उत्तर कोरिया की सरकार ने प्वेब्लो को छोड़ दिया और इस प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय संकट का समाधान हुआ।

१९६७ से पश्चिम एशिया का संकट और जॉनसन-प्रशासन की नीति :—जून १९६७ के प्रथम सप्ताह में अरब राज्यो और इजरायल के मध्य जो युद्ध शुरू हुआ उसमें अमरीकी सरकार ने जो रुख अपनाया वह स्पष्टतः अरब विरोधी था। अरब गणराज्य ने युद्ध शुरू होते ही यह आरोप लगाया कि इजरायली आक्रमण की तैयारी बहुत पहले ही की जा रही थी और संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा इस आक्रमण की योजना बनायी गयी थी। अपने इस कथन के समर्थन में अरब राज्य अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। प्रथमतः संयुक्त राज्य अमेरिका ने पश्चिम जर्मनी को

सरकार पर इस बात का दबाव डाला कि वह इजरायल को हथियार दे। बाद में इस बात का भेद खुल गया और जब अरब राज्यों ने इसका विरोध किया तो पश्चिम जर्मनी की सरकार ने शेष हथियार को भेजना बन्द कर दिया। इस पर संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वयं इजरायल को हथियार देना शुरू किया। द्वितीयतः संयुक्त राज्य अमेरिका ने अरब देशों में अपनी जासूसी गतिविधि बढ़ाकर अरब राज्यों की सामरिक स्थिति का पता इजरायल को दिया। सी० आई० ए० के एजेन्ट अरब राज्यों को सैनिक स्थिति को जानने का हर सम्भव प्रयास करते रहे। सारी बातें अरब राज्यों को इजरायल के युद्ध बन्दियों से मालूम हुईं।

इसके अतिरिक्त कूटनीतिक दृष्टिकोण से अरब राज्यों को धोखा में रखने के लिए भी संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर से जानबूझकर कई कार्रवाइयाँ की गयीं। इजरायली आक्रमण से पूर्व राष्ट्रपति जॉनसन के कुछ ऐसे वक्तव्य प्रकाशित हुए जिनका उद्देश्य केवल अरब राज्यों को धोखा में रखने को था। पश्चिम एशिया में जब स्थिति बिगड़ने लगी तो संयुक्त राज्य अमेरिका ने कूटनीतिक वार्ता के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। उधर कूटनीतिक वार्ताएँ चल रही थीं और दूसरी ओर सं ्क्त राज्य अमेरिका इजरायल को आक्रमण की योजना बनाने में मदद कर रहा था।

जून के प्रथम सप्ताह में जब सैनिक कार्यवाही शुरू हुई तो अमेरिका ने निश्चय ही अरब विरोधी रुख अपनाया। संघर्ष प्रारम्भ होने पर अमेरिका के अधिकारी इस बात से अपनी अनभिज्ञता जाहिर करते रहे कि आक्रमणकारी कौन है। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रवक्ताओं ने इस संघर्ष में तटस्थ रहने की बात कही जो कि उनकी पूर्व घोषणाओं के विरुद्ध थी कि वह इस क्षेत्र में आक्रमण का विरोध करता है और मध्यपूर्व के सभी राज्यों को प्रादेशिक अखण्डता का समर्थन करता है। सुरक्षा-परिषद् में अमरीकी प्रतिनिधि का व्यवहार पक्षपातपूर्ण रहा तथा वह प्रारम्भ से ही इस बात का विरोध करता रहा कि आक्रमणकारी सेनाएँ वापस जायँ। जब सुरक्षा-परिषद् सीरिया की भूमि पर हुए आक्रमण पर विचार करने जा रही थी तो संयुक्त राज्य अमेरिका और इजरायल के प्रतिनिधियों ने मिलकर इस प्रकार का षड्यन्त्र किया ताकि इजरायल के आक्रमण को रोकने से सम्बन्धित प्रस्ताव को पारित होने में विलम्ब किया जा सके। अमेरिका द्वारा सुरक्षा-परिषद् में जो प्रस्ताव का प्रारूप रखा गया था उसमें यह कहा गया था कि अरब क्षेत्रों से इजरायली सेना की वापसी कुछ शर्तों के साथ हो। इसका अर्थ यह था कि पहले फिलिस्तीन से सम्बन्धित अन्य समस्याओं का समाधान हो और तभी इजरायली सेना हटायी जाँय। संयुक्त राज्य अमेरिका ने सोवियत संघ के उस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया जिसमें इजरायल के वापस हटने की तथा इजरायल के आक्रमण की निन्दा करने की बात कही गयी थी। संयुक्त राज्य अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा के अधिवेशन को बुलाने के रूसी प्रस्ताव का भी विरोध किया और जब साधारण-सभा की बैठक हुई तो अमरीकी प्रशासन ने सदस्य राज्यों पर दबाव डालकर इसे व्यर्थ सिद्ध करा दिया।

अरब-इजरायल संघर्ष में संयुक्त राज्य अमेरिका के इस दृष्टिकोण का अमरीकी हित पर अच्छा असर नहीं पड़ा। सभी अरब देशों ने अमेरिका के साथ अपना कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर दिया और सम्पूर्ण अरब जगत् में अमेरिका विरोधी भावना का तूफान फूट पड़ा। काहिरा स्थित अमरीकी दूतावास में जनता ने आग लगा दी और सभी अरब राज्यों ने अपने

देश में निवास करने वाले अमरीकी नागरिकों को तत्काल वापस चले जाने का आदेश दे दिया। इन सभी घटनाओं के बावजूद अभी भी संयुक्त राज्य अमेरिका के अरब-विरोधी दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। पहले की भाँति वह आज भी इजरायल का पूरा समर्थन कर रहा है। २५ नवम्बर, १९६८ को संयुक्त राज्य ने इजरायल को अमरीकी हथियार बेचने का निर्णय किया। अरब जगत् के नेताओं ने इस निर्णय को दुर्भाग्यपूर्ण बताया।

२८ दिसम्बर, १९६८ को इजरायली हेलिकाप्टरों के हमलों से बेरुत के हवाई अड्डों पर तेरह अरब जहाज क्षतिग्रस्त हो गये। इजरायल के इस हमले की खबर आग की तरह सारे विश्व में फैल गयी और सभी ने एक स्वर से इस हमले की भर्त्सना की। अमरीकी प्रशासन ने भी इस कृत्य की कटु शब्दों में आलोचना की। पिछले दिनों अमेरिका ने इजरायल को जो पच्चास फैंटम लड़ाकू जहाज देने का फैसला किया था उस पर भी अमरीकी अधिकारी पुनर्विचार करने लगे। लड़ाकू जहाज देने की बात को लेकर अरब राष्ट्रों का अमेरिका के प्रति रवैया पहले से ही काफी उग्र हो चला था और अब उन्होंने खुलकर कहना शुरू किया कि अमेरिका द्वारा इजरायल को फैंटम बमवर्षक देने का मतलब अरबों को कुचलने के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। अरब राष्ट्रों की इस तीव्र प्रतिक्रिया को ध्यान में रखते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका ने इजरायल को चेतावनी देने की आवश्यकता महसूस की और सुरक्षा परिषद् की बैठक में इस सम्बन्ध में लाये गये एक प्रस्ताव पर सोवियत संघ के साथ मतदान किया जिसमें इजरायली कार्रवाई की निन्दा की गयी थी। इसी प्रकार २६ मार्च १९६९ को जोर्डन के नागरिकों पर जब इजरायली विमानों ने बमबारी की तब अमेरिका के सुझाव पर ही सुरक्षा परिषद् में एक दूसरा निन्दा का प्रस्ताव पास हुआ।

इसी बीच जनवरी, १९६९ में फ्रांस ने अरब-इजरायल विवाद को तय करने के लिए चार बड़े राष्ट्रों के सम्मेलन का प्रस्ताव रखा। सोवियत संघ और ब्रिटेन ने तुरत ही इस प्रस्ताव पर अपनी सहमति प्रकट की, लेकिन अमेरिका ने अपने रुख को तत्काल प्रकट नहीं किया। इसका एक कारण यह था कि अमेरिका में नये राष्ट्रपति ने अभी इस समस्या पर अपनी नये प्रशासन की नीति का अन्तिम रूप से निर्धारण नहीं किया था। फिर बाद में जब अमेरिका ने इस सम्बन्ध में अपनी नीति निर्धारित की तो वह निश्चय ही अरब विरोधी था। इस प्रकार, पश्चिम एशिया संकट के मामले में अमेरिका का रुख हमेशा से अरब-विरोधी तथा इजरायल समर्थक रहा है। इसी कारण जब ३ अप्रिल, १९६९ को पश्चिम एशिया विवाद का हल ढूढ़ने के लिए चार बड़े राष्ट्रों की वार्ता न्यूयार्क में शुरू हुई तो उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिली।

राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन की विदेश नीति

२० जनवरी, १९६९ को संयुक्त राज्य अमेरिका के सैंतीसवें राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने अपने पद का कार्य भार सम्हाला। कैपिटल हिल से हाइट हाउस तक के दो मील लम्बे रास्ते में असंख्य जनसमूह ने तालियों की गड़गड़ाहट से उनकी जय-जयकार की। लेकिन इसी अवसर पर लगभग चार सौ प्रदर्शनकारी वियतनाम-युद्ध विरोधी नारे लगाकर निक्सन खतरे से अगाह कर रहे थे।

रिचर्ड निक्सन ने अपने उद्घाटन भाषण में देश और विश्व को बहुत-से भरोसे दिलाये और विश्व-शान्ति स्थापित करने के लिए उन्होंने अन्य राष्ट्रों से साझेदारी की बात की। अपने भाषण के दौरान में उन्होंने कहा कि आज लोग युद्ध से इतना उकता चुके हैं कि शायद इससे पहले वे कभी नहीं उकताये होंगे। आज हर व्यक्ति और हर देश शान्ति चाहता है। शान्ति के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हुए नये राष्ट्रपति ने कहा कि हमें यह व्रत लेना चाहिए कि जहाँ शान्ति नहीं है वहाँ शक्ति की तनिक भी आशा का स्वागत करना चाहिए, जहाँ शान्ति कम है, वहाँ उसे मजबूत बनाना चाहिये और जहाँ शान्ति अस्थायी है, वहाँ उसे स्थायी बनाने की कोशिश करनी चाहिए। हम हर एक को अपना मित्र बनाने की अपेक्षा नहीं कर सकते लेकिन हम यह जरूर कोशिश कर सकते है कि हमारा कोई शत्रु नही हो। निक्सन ने कुछ शक्तियों को चुनौती देते हुए कहा कि जो हमारे विरुद्ध हैं उन्हें हमारे साथ शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता में शामिल होना चाहिए। इसका मतलब सीधा-सा है कि हमें दूसरे इलाकों को हथियाने में अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहिए, बल्कि इनसानी जिन्दगी को खुशहाल बनाने के लिए काम करना चाहिए।

नये राष्ट्रपति के इस उद्घाटन भाषण से यह स्पष्ट झलकता है कि अमेरिका का नया प्रशासन विश्व-शान्ति के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहेगा। लेकिन जैसा कि हम आगे देखेंगे, विगत पाँच छः महीनों में निक्सन ने संसार की समस्याओं पर जिस रुख को अपनाया है उसको देखते हुए नये राष्ट्रपति के आश्वासनों पर भरोसा नहीं रह जाता है।

यूरोप की सद्भाव यात्रा—२३ फरवरी १९६९ को राष्ट्रपति निक्सन ने यूरोप की आठ दिवसीय यात्रा शुरू की। अपनी यात्रा शुरू करने के पहले निक्सन ने कहा था कि वह नये यूरोप की खोज में निकल रहे हैं। उन्हें इन देशों के अधिकारियों से बातचीत करके उनकी समस्याएँ और कठिनाइयों को समझने का मौका मिलेगा। निक्सन वियतनाम और पश्चिम एशिया के बारे में भी इन देशों से अपने विचारो का आदान-प्रदान करना चाहते थे। इस यात्रा के दौरान बेल्जियम को छोड़कर राष्ट्रपति जहाँ-जहाँ (लन्दन, पेरिस, बौन, रोम) गये, अमेरिका विरोधी नारे भी उनका पीछा करते रहे। ब्रिटेन में राष्ट्रपति निक्सन और प्रधान मंत्री विलसन में ब्रिटेन-अमेरिका सम्बन्धों, पूर्व-पश्चिम समस्याओं, नाटो और साझा बाजार के बारे में काफी लम्बी बातचीत हुई। लेकिन फ्रांस, पश्चिम जर्मनी और रोम में उनके इस यात्रा पर कोई विशेष उत्साह का प्रदर्शन नही हुआ। फ्रास में अमेरिका विरोधी इश्तहार और नारे लगाये गये। पश्चिम जर्मनी में अणु-प्रसार निरोध सन्धि पर चान्सलर डा॰ कुर्त जार्ज कीसिंजर हस्ताक्षर करने को सहमत नही हुए। इस प्रकार, राष्ट्रपति की यह यात्रा कोई विशेष महत्त्व की नही रही। फिर भी, यह तो मानना पड़ेगा कि निक्सन की इस व्यस्त यात्रा के दौरान उन्हें यूरोप की समस्याओं के बारे में नये सिरे से नयी जानकारी हासिल हुई है। यह बात सही है कि रूस में होनेवाली निक्सन की बातचीत में यूरोप की यह यात्रा मार्ग-दर्शन का काम करे। इसके अतिरिक्त निक्सन को यह भी पता चल गया कि यूरोप की "कठोर" धरती अब काफी "नरम" पड़ गयी है और शीतयुद्ध को उभाड़ने में पश्चिमी यूरोपीय राज्यों का उन्हें पूरा-पूरा समर्थन नहीं मिलेगा। अतः यह सम्भव है कि अमेरिका की विदेश नीति पहले की अपेक्षा अब कम आक्रामक रहे।

वियतनाम समस्या के प्रति रुख--निक्सन को वियतनाम की समस्या विरासत के रूप में मिली। राष्ट्रपति-पद को ग्रहण करने के तुरत बाद निक्सन ने एक संवाददाता सम्मेलन में बताया कि वियतनाम समस्या सुलझाने के लिए उनके पास कई नये प्रस्ताव हैं और इस समस्या को नये परिप्रेक्ष्य में देखा जायगा। अतएव राष्ट्रपति बनते ही निक्सन ने पेरिस के वियतनामवार्ता से प्रमुख अमरीकी प्रतिनिधि हैरिमैन को हटाकर उसकी जगह पर हेनरी कैबेट लॉज की नियुक्ति की। लोगों का ख्याल है कि लॉज अमेरिका का पक्ष प्रभावशाली ढंग से पेश करने में कामयाब होगा। यदि ऐसा हो गया और वियतनाम समस्या का अन्ततः हल ढूढ़ लिया गया तो निक्सन-प्रशासन की यह सबसे बड़ी सफलता होगी। लेकिन अभी तक अमरीकी पक्ष का जैसा रुख रहा है उसको देखते हुए कोई आशाजनक उमीद नहीं बँधती है। वियतनाम शान्ति-वार्ता का दूसरा दौर २१ जनवरी १९६९ को शुरू हुआ। लॉज ने सुझाव दिया कि उत्तर और दक्षिण वियतनाम में तुरत एक सेना-विहीन क्षेत्र बनाया जाय। उत्तर वियतनाम और राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को यह सुझाव स्वीकार नहीं हुआ। ६ फरवरी को वार्ता का जब तीसरा दौर प्रारम्भ हुआ तो गतिरोध ज्यों-का-त्यों बना रहा। इस स्थिति में अभी यह कहना असम्भव है कि नये राष्ट्रपति ने वियतनाम के प्रति अमरीकी नीति में किसी तरह का परिवर्तन किया है।

पश्चिम एशिया की समस्या और निक्सन-प्रशासन—राष्ट्रपति पद को सम्हालने के बाद निक्सन ने पश्चिम एशिया की समस्या पर भी प्रकाश डाला। पश्चिम एशिया की स्थिति को विस्फोटक बतलाते हुए उन्होंने कहा कि इस विषय पर ठंढे दिमाग से सोचने की आवश्यकता है। इसके पूर्व फ्रांस की ओर से अरब-इजरायल विवाद को तय करने के लिए चार बड़े राष्ट्रों के एक सम्मेलन का प्रस्ताव रखा जा चुका था। इस प्रस्ताव पर अमरीकी प्रशासन की जो प्रतिक्रिया हुई उससे पश्चिम एशिया में शान्ति की सम्भावना अनिश्चित हो गयी। सम्मेलन के प्रस्ताव पर अमेरिका के जो जवाब आये उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं (१) अमरीकी प्रशासन ने फिलिस्तीन के शरणार्थियों के आन्दोलन को आतंकवाद कहा, (२) अमेरिका ने उस सीमा रेखा को भी मानने से इन्कार कर दिया जहाँ तक इजरायली सेना को हटने के लिए कहा जा रहा था, (३) मिस्री इलाके में विसैन्यीकरण की बात कही गयी, पर इजरायली इलाके के बारे में इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया।

पश्चिम एशिया के सम्बन्ध में इस अमरीकी सुझाव को प्रकाश में आते ही अरबों का गुस्सा बढ़ गया और अरब देशों में इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। संयुक्त अरब गणराज्य ने अमेरिका पर यह आरोप लगाया कि उसने पुनः इजरायल का उसी तरह समर्थन किया है जिस प्रकार वह अभी तक करता आया है। पश्चिम एशिया के संकट पर अमेरिका के इस रवैया से शान्ति की आशा नहीं बँधती है और वहाँ का वातावरण ज्यों-का-त्यों अशान्त बना हुआ है।

उत्तर कोरिया में अमरीकी जासूसी—निक्सन-प्रशासन की आक्रामक नीति का सबसे प्रबल प्रमाण उत्तर कोरिया के प्रति उसका रुख है। इस अध्याय में हम प्वेब्लो जासूसी पोत की चर्चा कर चुके हैं। इससे भी अधिक भयंकर एक जासूसी घटना अप्रिल १९६९ में घटी। उत्तर कोरिया ने अमेरिका के एक जासूसी हवाई जहाज ई०सी० १२१ को मार गिराया।

जहाज उत्तर कोरिया की सीमा में घुसकर जासूसी कर रहा था। अमेरिका ने इस घटना पर कड़ा विरोध प्रकट किया। उसका कहना था कि अमरीकी जहाज कोरिया की सीमा में नही घुसा था, फिर भी उत्तर कोरिया ने उसे मार गिराया। बाद में उसने यह भी कहा कि दक्षिण कोरिया और प्रशान्त महासागर में अमरीकी स्वार्थों के रक्षार्थ उत्तर कोरिया की सैनिक तैयारियो की जानकारी प्राप्त करते रहने के लिए अमेरिका के लिए इस तरह का टोह लेते रहना आवश्यक है और अमेरिका इस तरह की कार्रवाई को जारी रखेगा। हवाई उड़ानों को अबाध गति से जारी रखने के लिए अमेरिका ने अपने असंख्य नौसैनिक बेड़ों का उत्तर कोरिया के आसपास के समुद्रो में एकत्र कर लिया। इसका मतलब यह था कि अब अमेरिका के जहाज उड़ान करेंगे और यदि उत्तर कोरिया ने पुनः किसी जहाज को मार गिराया तो नौ सेना से उसका जवाब दिया जायगा। उधर उत्तर कोरिया ने भी स्पष्ट रूप से कह दिया कि यदि फिर कोई जासूसी जहाज उड़ान करेगा तो उसे भी मार गिराया जायगा।

अमेरिका की उपरोक्त सैनिक कार्रवाई सरासर अन्याय है। यह एक बड़े राष्ट्र द्वारा एक छोटे राष्ट्र को धमकाने की कार्रवाई है जिसका कोई औचित्य नही है। जब निक्सन ने राष्ट्रपति का कार्यभार सम्हाला था तो उन्होने कहा था कि जहाँ शान्ति अस्थायी है उसे वे स्थायी बनाने का कार्य करेंगे। लेकिन एक सम्प्रभुसत्ता युक्त राज्य के इलाके में इस तरह की धमकी देकर जासूसी का काम करना किसी भी दृष्टिकोण से शान्ति को स्थायी बनाने का कार्य नही कहा जा सकता है।

अमरीकी विदेश-नीति का मूल्यांकन

संयुक्त राज्य अमेरिका के द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर विदेश नीति के इस संक्षिप्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि उसकी नीति उपनिवेशवाद विरोधी कभी नहीं रही है। उल्टे अमेरिका ने स्वयं आर्थिक और सैनिक सहायता की नीति द्वारा विश्व में अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार करने का प्रयास किया है। लैटिन अमेरिका और पूर्वी एशिया के देशों में अमेरिका के साम्राज्यवादी आकांक्षाओं ने खुलकर खेला है। उसने हर जगह के राष्ट्रीय आन्दोलनों का विरोध किया है। यह बात ठीक है कि अमेरिका ने अपने उपनिवेश फिलीपाइन्स को स्वतन्त्र कर दिया है और उसका प्रत्यक्ष उपनिवेश कहीं नहीं है। इसका कारण यह है कि अमेरिका इस बात को भलीभाँति जानता है कि आज के युग में युद्ध-पूर्व साम्राज्यवादी व्यवस्था को कायम नहीं किया जा सकता है। अमेरिका को प्रत्यक्ष साम्राज्य नहीं है लेकिन संसार के अधिकांश भाग में उसका अदृश्य साम्राज्य तो कायम ही है। उसने संसार के अनेक देशों में अपने सैनिक अड्डे कायम कर लिये हैं और असंख्य देशों के साथ असमान आर्थिक और सैनिक सन्धियाँ कर ली हैं जिसके परिणामस्वरूप उन देशों को वही काम करना पड़ता है जो अमरीकी प्रशासन को मंजूर होता है। पश्चिमी एशिया के पेट्रोल पर कब्जा करने के लिए उसने इस क्षेत्र के आन्तरिक मामलों में खुल कर हस्तक्षेप किया है। पूर्वी एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया को अपने भाव में रखने के लिए उसने चीन में च्यांग काई शेक, दक्षिणी कोरिया में सिंगमन री और वियतनाम में बाओ दाई के भ्रष्ट शासनों का समर्थन किया है। लैटिन अमेरिका के फासिस्ट शासनतन्त्र उसी के समर्थन से आज तक कायम हैं। यूरोप के फासिस्ट तत्वों को भी उसका पूरा समर्थन प्राप्त है। अमेरिका स्पेन के फासिस्ट फ्रैंको और पश्चिमी जर्मनी के

भूतपूर्व नात्सियों का सबसे बड़ा समर्थक है। उसने संसार भर में सैन्य संगठनों को स्थापित करके विश्व का राजनीतिक वातावरण दूषित कर दिया है। निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर वह इसी तरह अपने जिद्द पर डटा हुआ है। संसार के तटस्थ राष्ट्र उसकी आँखों के काँटे बने हुए हैं और अपनी अपार सम्पदा के बल पर वह उन्हें खरीद लेने का इरादा रखता है। इसी नीति के परिणामस्वरूप अमेरिका की प्रतिष्ठा में कोई वृद्धि नहीं है, बल्कि उसमें बहुत कमी हुई है। उसके पुराने साथी भी उसकी नीति से ऊब कर अमरीकी चंगुल से निकलने का प्रयास कर रहे हैं। इधर हाल में फ्रांस के राष्ट्रपति दगाल ने इसको भलीभाँति स्पष्ट कर दिया है। अमरीकी विदेश-नीति की असफलता का इससे बढ़कर दूसरा प्रमाण क्या हो सकता है? एक अमरीकी लेखक ने ठीक ही लिखा है कि "आज एशिया और अफ्रिका में हमारी पहचान स्वतन्त्रता के प्रतीक की हैसियत से नहीं अपितु बन्दूकों से होती है।" १९६६ के मध्य में हम इन "बन्दूकों" के साथ सी० आइ० ए० को भी जोड़ दे सकते हैं।

—:o—

अध्याय १४

सोवियत संघ की विदेश-नीति

(Foreign Policy of the Soviet Union)

सोवियत विदेश-नीति के मूलाधार :—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से सोवियत-संघ विश्व-राजनीति का एक मुख्य केन्द्र बना हुआ है। सोवियत-संघ एक साम्यवादी राष्ट्र है जहाँ मार्क्स के विचारों को सर्वप्रथम कार्यान्वित किया गया था। इस कारण सोवियत संघ के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन पर साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रभाव आवश्यक रूप से पड़ा है। विचारधारा की दृष्टि से सोवियत संघ विश्व को दो स्पष्ट भागों में बँटा हुआ मानकर चलता है। पहला भाग समाजवादी है और दूसरा पूँजीवादी। पहले भाग का नेता वह स्वयं को मानता है। मार्क्सवादी एवं लेनिनवादी विचारधारा ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद का स्वाभाविक परिणाम माना है। जब पूँजीवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो उसमें अनेक अन्तर्विरोध पैदा हो जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप उसका स्वतः पतन आरम्भ हो जाता है। पूँजीवाद के प्रसार से ही साम्राज्यवादी युद्धों का जन्म होता है, उपनिवेश बसते हैं तथा प्रतिक्रिया स्वरूप इन उपनिवेशों में पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष का उदय होता है। मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा के अनुसार दुनिया की सारी बुराइयों की जड़ में पूँजीवादी व्यवस्था ही है। इसके मतानुसार युद्धों का अस्तित्व तबतक रहेगा जबतक पूँजीवादी व्यवस्था रहेगी। यह विचारधारा इस बात में भी विश्वास करती है कि पूँजीवाद का पतन समाजवाद के आगमन का आधार है। इस दृष्टिकोण से समाजवादी देश सोवियत संघ को हमेशा पूँजीवादी देशों के विरुद्ध रहना है। सोवियत संघ की विदेश-नीति मौलिक रूप से इसी मान्यता पर आधारित है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के उपरान्त सोवियत संघ की विदेश-नीति को स्पष्टतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : स्टालिन की नीति तथा स्टालिनोत्तर काल की नयी विदेश नीति। पहला काल अगस्त १९४५ से मार्च १९५३ तक है जब स्टालिन की मृत्यु हुई। दूसरा काल अप्रिल, १९५३ से प्रारम्भ होता है। चूँकि सोवियत संघ की विदेश-नीति अमरीकी विदेश-नीति के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और उसकी अधिकांश घटनाओं का वर्णन पिछले अध्यायों में हो चुका है, अतः यहाँ हम केवल रूसी विदेश-नीति की कुछ मुख्य विशेषताओं का ही विशेष अध्ययन करेंगे।

स्टालिन-युग में सोवियत विदेश-नीति

विदेश-नीति का निर्धारण :—द्वितीय विश्व-युद्ध के समय सोवियत संघ ने पश्चिमी देशों के साथ पूर्ण सहयोग किया था। युद्धकालीन सम्मेलनों में भाग लेकर उसने अपने इस

निश्चय को प्रकट किया कि वह न केवल युद्ध को जीतने का आकांक्षी है, अपितु वह युद्ध के बाद की शान्ति को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सद्भावना की मजबूत आधारशिला पर खड़ा करना चाहता है। २७ फरवरी, १९४५ को ब्रिटिश लोकसभा में बोलते हुए विन्सटन चर्चिल ने भी इस बात की पुष्टि की थी। "सोवियत नेता" चर्चिल ने कहा था, "पश्चिमी प्रजातन्त्र के साथ सम्मानपूर्ण मैत्री एवं समानता के साथ रहना चाहते हैं।" लेकिन पश्चिमी जगत् के नीति निर्धारक वैसे व्यक्ति थे जो आरम्भ से ही सोवियत संघ से घृणा करते आ रहे थे। इसलिए युद्ध के बाद उनसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे अपनी घृणा और अविश्वासों को छोड़कर उसके साथ सहयोग करें। दूसरा मोर्चा खोलने में विलम्ब, अणुवम की गोपनीयता आदि बातों, जिनके कारण शीत-युद्ध शुरू हुआ, को लेकर दोनों पक्षों में युद्धकाल से ही मन-मुटाव पैदा होने लगा। स्पष्टता अविश्वास विश्वास का जन्म नहीं दे सकता था और युद्ध के बाद सोवियत संघ को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि उसके प्रति पश्चिमी राष्ट्रों के रुख में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है। वे अभी भी सोवियत संघ के विनाश के लिए प्रयत्नशील हैं और उनके साथ मैत्री असम्भव है। पहले से ही अविश्वास ग्रस्त स्टालिन तब पूरी तरह भड़क उठा जब दूसरे गुट ने युद्धोत्तर स्थिति से अनुचित लाभ उठाने की कोशिश की। स्टालिन ने बड़ा ही कड़ा रुख अपनाया। उसने निश्चय कर लिया कि पश्चिम के साथ उसका समझौता किसी भी हालत में नहीं हो सकता है। इस विचार ने विश्व-राजनीति में गृह-युद्ध के खत्म होते ही शीत-युद्ध को जन्म दिया।

सोवियत संघ ने इस परिस्थिति में अपना मुख्य लक्ष्य संयुक्त राज्य अमेरिका को बनाया। युद्ध के बाद अमेरिका सोवियत संघ के भीषण प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्रकट हुआ और उसके मार्ग में हर तरह की बाधाएँ उपस्थित करने लगा। सोवियत संघ के प्रति उसका दृष्टिकोण उत्तरोत्तर कड़ा होता गया। अतः सोवियत संघ ने संयुक्त राज्य अमेरिका को अपना दुश्मन नम्बर एक माना और आर्थिक, राजनैतिक, सैनिक तथा अन्य सभी क्षेत्रों में उसे नीचा दिखाना सोवियत संघ की विदेश-नीति का मुख्य लक्ष्य हो गया।

विश्व में साम्यवादी क्रान्ति के प्रसार की नीति—समूचे विश्व में साम्यवादी सिद्धांत का प्रसार कर पूँजीवाद का उन्मूलन करना तथा साम्यवादी व्यवस्था कायम करना मार्क्सवाद का एक मौलिक सिद्धान्त है और युद्ध के बाद सोवियत संघ को ही यह काम करना था। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद विश्व की परिस्थिति बदल गयी थी और वह सोवियत संघ के पक्ष में थी। युद्ध काल में वह यूरोप के मध्य तक पहुँच गया था। इसके पूर्व संसार के दो शक्तिशाली राज्य : जर्मनी और जापान विश्व-राजनीति के रंगमंच से गायब हो गये थे। सोवियत प्रभुत्व को जबरदस्त चुनौती इन्हीं दो शक्तियों से मिल सकती थी। लेकिन अब इनका कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। पश्चिमी यूरोप की हालत भी अत्यन्त चिन्ताजनक थी। युद्ध के कारण वे बिल्कुल वर्बाद हो चुके थे। वहाँ की सरकारों में स्थिरता नहीं थी। यूरोप के उपनिवेशों में राष्ट्रीयता की जबर्दस्त लहर दौड़ रही थी। इस हालत में रूस के लिए अपना प्रभाव बढ़ाने तथा साम्यवाद के विश्वव्यापी प्रचार के लिए स्वर्ण अवसर था। ६ नवम्बर को मोलोतोव ने ठीक ही कहा था : "हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें सभी सड़कें साम्यवाद की ओर ले जाने वाली हैं।" सोवियत संघ ने इस परिस्थिति को समझकर अपनी नीति को इस तरह बदलने

की चेष्टा की जिससे विश्व का पलड़ा उसी की ओर झुका रहे। स्टालिन युद्धोत्तर विश्व की समस्या के समाधान में शीघ्रता करना नहीं चाहता था। वह अड़ंगेबाजी करके इसमें विलम्ब करना चाहता था ताकि संसार की स्थिति सोवियत संघ के लिए और भी अनुकूल हो। मास्को के विदेश मन्त्री सम्मेलन में अमरीकी विदेश मन्त्री मार्शल जब सोवियत नीति से व्याकुल हो गया तो स्टालिन ने उसे कहा था: "घबड़ाने की कोई बात नहीं है। समय हमारे पक्ष में है, वह स्वयं समझौता करा देगा।" मार्शल को इसका अर्थ समझने में देर नहीं लगी।

स्टालिन का विचार था कि इस समय पश्चिमी देशों पर प्रबल दबाव डालकर विश्व में साम्यवाद का प्रसार किया जा सकता है। अतः उसने अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने के लिए हर जगह भीषण दबाव डालना शुरू किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्टालिन ने विदेशी राज्यों में सोवियत समर्थक आन्दोलनों को प्रोत्साहित करने तथा विरोधी राष्ट्रों के आपसी फूट से लाभ उठाने की नीति को अपनाया। तुर्की, फारस और यूनान के प्रति सोवियत नीति, बर्लिन का घेरा, कोरिया युद्ध में साम्यवादी पक्ष का समर्थन, अमेरिका के साथ तीव्र शीत-युद्ध आदि घटनाएँ इसी पृष्ठाधार में समझी जा सकती हैं। स्टालिन की इस नीति के फलस्वरूप शीत-युद्ध काफी उग्र हो गया। इसका प्रभाव अमेरिका की विदेश-नीति पर पड़ा। साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिए उसने हर सम्भव उपाय किये। यह सत्य है कि यदि संयुक्त राज्य अमेरिका इस तरह की नीति नहीं अपनाये रहता तो आज संसार के अधिकांश हिस्सों में समाजवादी व्यवस्था कायम हो गयी रहती।

पूर्वी यूरोप पर सोवियत प्रभाव की स्थापना :— द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान सोवियत संघ का अपार विनाश हुआ था। आइसनहावर ने इस सम्बन्ध में लिखा है: "१९४५ में जब हवाई जहाज से हम सोवियत रूस गये तो हमने इसकी पश्चिमी सीमा से मास्को तक के विशाल प्रदेश में एक भी मकान खड़ा नहीं देखा।"[1] विनाश और विध्वंश के इस ताण्डव में रूस द्वारा उठायी गयी असीम जन-धन की हानि का सही अन्दाज लगाना अत्यन्त कठिन है। कहा जाता है कि युद्ध में कम-से-कम डेढ़ करोड़ सोवियत नागरिक अवश्य ही मारे गये थे। सम्पत्ति की हानि का अन्दाजा ६७९,०००,०००,००० रूबल लगाया जाता है। बर्बादी में १७०० ध्वस्त नगरों तथा ७०,००० उजाड़े गये ग्रामों के ६,०००,००० भवन जिनमें ८४,००० स्कूल, ४३,००० पुस्तकालय, ३१,००० कारखाने, १३,००० पुल तथा ४०,००० मील रेल की लाइनें थीं।[2] रूस पर इस बर्बादी का गहरा प्रभाव पड़ा और उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि उनकी विदेश-नीति का संचालन इस प्रकार होना चाहिए कि उसके पश्चिम में स्थित पड़ोसी राज्य उसके समर्थक बन जायँ। १९१९ से १९४५ तक के इतिहास और पश्चिमी राज्यों का सोवियत संघ के प्रति रुख ने उसे बाध्य किया कि वह अपने चारों ओर समर्थक कम्युनिस्ट राज्य स्थापित करे, अणुबम के रहस्यों का पता लगावे, जर्मनी और जापान को तब तक के लिए दुर्बल बनाये रखे जबतक वहाँ साम्यवादी व्यवस्था न कायम हो जाय और चीन, तुर्की, फारस आदि देशों पर उसका प्रभाव कायम हो जाय।

लेकिन राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से युद्ध के तुरत बाद यह आवश्यक था कि पूर्वी यूरोप के पड़ोसी राज्यों पर सोवियत प्रभुत्व कायम हो। इसके लिए परिस्थिति सोवियत संघ के साथ

1. Eishenhower, *Crusade in Europe*, p. 53.
2. Schuman, *International, Politics* (5th Ed.) p. 429.

थी। पूर्वी यूरोप के सभी देशो को जर्मनी की दासता से सोवियत संघ ने ही मुक्ति दिलाई थी। इस कारण इन देशो में सोवियत संघ के प्रति अपार सहानुभूति थी। इसके अतिरिक्त युद्ध-काल में इन देशों में कम्युनिस्ट आन्दोलन ने बहुत उन्नति कर ली थी। इसलिए युद्ध समाप्त होने के दो वर्ष के भीतर ही इन देशो में कम्युनिस्ट शासन स्थापित हो गया। अल्बेनिया, रूमानिया, पोलैंड, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया पर कुछ ही समय में सोवियत संघ का आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व कायम हो गया। याल्टा सम्मेलन में पश्चिमी शक्तियो ने पूर्वी यूरोप के देशो को "रूसी प्रभाव क्षेत्र" मान लिया था। रूस ने पहले तो इन देशो में राष्ट्रीय एकता वाली सब दलों की मिली-जुली सरकारो का संगठन किया, लेकिन बाद मे गैर कम्युनिस्टों को बदनाम करके उन्हें सरकार से निकालना शुरू किया और कुछ ही दिनो मे कम्युनिस्टो का पूर्ण प्रभुत्व इन राज्यो पर कायम हो गया। पश्चिमी शक्तियों को रूस की इस प्रभाव वृद्धि से शंका का होना स्वाभाविक था। इसीलिए युद्ध के बाद पूर्वी यूरोप के देशों ने सोवियत संघ और पश्चिमी शक्तियो के बीच तनाव की स्थिति पैद करा दी। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह सोवियत संघ की आश्चर्यजनक सफलता थी। इतनी अल्प अवधि में और संगठित विरोध के बावजूद पूर्वी यूरोप के सात देशों को "लाल" बना लेना कोई मामूली बात नही हो सकती थी।

राजनीतिक क्षेत्र में पूर्वी यूरोप पर सोवियत प्रभाव स्थापित होने का आघात तो पश्चिमी शक्तियों को लगा ही था, आर्थिक क्षेत्र में भी रूस के व्यापक प्रभुत्व से पश्चिमी देशों और रूस के तनावों में अभिवृद्धि हुई। पूर्वी यूरोप परम्परा से पश्चिम देशो को खाद्यान्न एवं कच्चे माल का निर्यात करता था। पश्चिमी के कुछ देश तो अपनी अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के लिए पूर्वी यूरोप पर आश्रित थे, उदाहरणार्थ इमारती लकड़ी और निकिल (Nickel) पश्चिम को अधिकांशतः पूर्वी यूरोपीय देशो से ही प्राप्त होती थी। ये देश के सोवियत प्रभाव क्षेत्र में चले जाने से पश्चिम के लिए 'निर्यातक' देश नहीं रहे जिससे पश्चिम के कुछ देशों की आर्थिक व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ा। साथ ही पूर्वी यूरोप में बैंकों, कारखानो और उद्योग धन्धों के राष्ट्रीयकरण हो जाने से पश्चिमी देशो की जो पूँजी इन देशों में लगी हुई थी; जिससे भी उन्हें हाथ धोना पड़ा। इन सब बातो का परिणाम यही निकला कि पश्चिमी देशो में सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के साम्यवादी शासन-तन्त्रो के प्रति पूर्ण कटुता पैदा हो गयी।

लेकिन इसकी परवाह किये बिना सोवियत संघ और इन राज्यों के बीच घनिष्ठ आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक सम्बन्ध कायम हुआ। सोवियत संघ ने इन देशों को हर तरह की आर्थिक और प्राविधिक सहायता दी ताकि उनका पुनर्निर्माण जल्द-से-जल्द हो सके। पश्चिमी राष्ट्रों की धमकी भरी कार्रवाइयो ने इस बात को भी आवश्यक बना दिया कि इन देशों से घनिष्ठ सैनिक सम्बन्ध कायम हो। अतएव सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में मित्रता तथा पारस्परिक सहायता की अनेक सन्धियाँ हुईं। इन सभी सन्धियों में १९५५ का वारसा पैक्ट अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

पूर्वी यूरोप के देशो के साथ सोवियत संघ के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण बात है। प्रायः यह कहा जाता है कि पूर्वी यूरोप के देश स्वतन्त्र नहीं है, वरन् वे सोवियत संघ के [illegible] बन गये हैं। उन्हें पिछलगुआ राज्य (Satellite States) तथा सोवियत संघ को इन [illegible]

पर साम्राज्यवादी देश कहा जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या पूर्वी यूरोप को सोवियत संघ के साम्राज्य की संज्ञा दी जा सकती है। शीत-युद्ध की भाषा में इस तरह के सारे आरोप ठीक हैं, लेकिन वास्तविकता के दृष्टिकोण से पूर्वी यूरोप के देशों को न तो सोवियत उपनिवेश कहना ही ठीक जँचता है और न पिछलगुआ राज्य ही। इन देशों के साथ सोवियत-संघ का वैसा सम्बन्ध नहीं है जो साम्राज्यवादी देशों और उपनिवेशों में पाये जाते हैं। साम्राज्यवादी देश अपने लाभ के लिए उपनिवेशो का शोषण करते है। लेकिन सोवियत संघ ने ऐसा नहीं किया है। १९४५ के पूर्व इन देशो में भ्रष्ट जमींदारों और पूँजीपतियों का शासन कायम था। सोवियत संघ ने इन निहित स्वार्थों की शक्ति के उन्मूलन में अवश्य ही इन राज्यो की सहायता की है और उनके आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया है। इसको मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता कि साम्यवादी व्यवस्था कायम होने के बाद इन देशों को जनता का रहन-सहन का स्तर काफी ऊँचा उठा है। इन तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रूसी साम्राज्यवाद की बात बिल्कुल निराधार है।

इसी तरह पूर्वी यूरोप के देशों को सोवियत संघ का कठपुतली या पिछलगुआ राज्य कहना भी अनुचित है। इन देशो का पारस्परिक सम्बन्ध समानता के स्तर पर कायम है। एक बहुत छोटी-सी बात इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हो सकती है। १९६२ में सोवियत संघ और चीन में घोर सैद्धान्तिक मतभेद शुरू हुआ और उस मतभेद में छोटे से कम्युनिस्ट राज्य अल्बेनिया ने सोवियत संघ का विरोध करते हुए चीन का साथ दिया। यदि अल्बेनिया रूस का उपनिवेश या कठपुतली राज्य रहता तो उसके लिए ऐसा करना कैसे सम्भव था।

फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि स्टालिन के जीवन-काल में पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों पर सोवियत संघ का गहरा प्रभाव रहा। यह आवश्यक भी था। स्टालिन किसी ऐसे जोखिम को लेने के लिए तैयार नही था जिसके कारण सोवियत सुरक्षा-व्यवस्था किसी तरह कमजोर पड़ जाय। पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह कराने के लिए अमरीकी प्रशासन से करोड़ों डालर खर्च करने की व्यवस्था अपने बजट में कर ली थी। इस कारण स्टालिन हमेशा सशंकित रहता था। कम्युनिस्ट देशों पर उसकी कड़ी निगरानी रहती थी जिससे साम्यवादी व्यवस्था के नष्ट होने की कोई सम्भावना नहीं रहे। इस हालत में इन देशों की राजनीति में सोवियत संघ का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया।

स्टालिन और यूगोस्लाविया—सोवियत संघ की इस नीति का प्रभाव साम्यवादी परिवार पर तुरत पड़ा। यूगोस्लाविया को यह नीति एकदम पसन्द नहीं आयी। यूगोस्लाविया में मार्शल टीटो के नेतृत्व में साम्यवादी व्यवस्था कायम हुई थी। मार्शल टीटो एक बहुत बड़ा राष्ट्रवादी था। टीटो ने रूसी सेना की सहायता से नहीं किन्तु अपने बल से यूगोस्लाविया को जर्मनी की दासता से मुक्त किया था। अतः उसे स्टालिन के प्रति कृतज्ञ होने की आवश्यकता नहीं थी। फिर भी यह स्वाभाविक था कि इन दोनों साम्यवादी देशों में घनिष्ठतम सम्बन्ध कायम रहे। अतएव १९४६ में दोनों देशों के बीच एक सहयोग एवं मैत्री-सन्धि हुई। इसके अनुसार दोनों ने एक दूसरे को मदद देने का वादा किया। यूगोस्लाविया

"कामिन फार्म"[1] का सदस्य भी बन गया और अपना भाग्य सोवियत-संघ के साथ जुटा दिया। क्या संयुक्त राष्ट्रसंघ में, क्या किसी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में, सब जगह वह सोवियत-संघ का समर्थन करता रहा। सोवियत-संघ साम्यवादी दुनिया का नेता था, दोनों देशों की व्यवस्था एक-सी थी, दोनों एक ही सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। अतः दोनो देशो के बीच लड़ाई-झगड़ा का कोई प्रश्न ही नही उठता था।

सैद्धान्तिक एकता पर आधारित यह मित्रता अटूट न थी। कुछ कारणवश मित्रता की इस दीवार में भीतर-ही-भीतर दरारें पड़ने लगी। मार्शल टीटो को यह सूचना मिली कि यूगोस्लाविया स्थित सोवियत 'लाल सेना' अपने अधिकार की सीमा पार कर यूगोस्लाविया के आन्तरिक मामलो में हस्तक्षेप कर रही है। टीटो इसको सहने के लिए तैयार नहीं था। वह इन सेनाओ को वापस बुलाने की माँग करने लगा तथा सोवियत नागरिक और सैनिक अफसरो की गतिविधियों पर कड़ी निगरानी रखने लगे। स्टालिन टीटो की इन 'हरकतो' को सहने के लिए तैयार नही था। उसने टीटो को इन कार्रवाइयो का कड़ा विरोध किया। 'कामिनफार्म' के सम्मुख यह झगड़ा पेश हुआ। उस संस्था ने अपना फैसला सोवियत संघ के पक्ष में ही दिया। स्टालिन अब टीटो को धमकाने-डराने लगा। यूगोस्लाविया के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद कर लिये गये और उसके विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी कर दी गयी। यूगोस्लाविया को 'कामिनफार्म' से भी निकाल दिया गया।

'लोहे के पर्दे' (Iron Curtain) की नीति—युद्ध के तुरत बाद सोवियत संघ के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी राज्यो की नीति उग्रतर होती जा रही थी। अमेरिका ने साम्यवादी प्रचार को सीमित (containment of communism) की नीति अपनायी। इसके अन्तर्गत साम्यवादी देशों की जनता को साम्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध भड़काकर विद्रोह कराने का कार्यक्रम भी रखा गया। साम्यवादी देशों के इर्द-गिर्द अज्ञात रेडियो स्टेशन कायम किये गये जिनका नाम "आजाद हंगरी रेडियो" "आजाद पोलैंड रेडियो" आदि रखे गये और इनके माध्यम से जहरीला प्रचार-कार्य शुरू हुआ। स्टालिन को यह समझते देर नही लगी कि पश्चिमी राज्य साम्यवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न जोर-शोर से शुरू कर चुके है। अमेरिका के इस उद्देश्य को विफल बनाने का एक ही उपाय था : साम्यवादी जगत के चारों ओर ऐसी दीवार खड़ा करना कि उसके भीतर अमरीकी प्रचार का प्रवेश न होने पाये। स्टालिन ने यह निर्णय कर लिया कि साम्यवादी जगत् और गैर साम्यवादी देशों के बीच किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखा जाय और १९४५ के बाद इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए सोवियत संघ में कई कानून बने। विदेशियों के साथ सोवियत नागरिकों के विवाह को मनाही कर दी गयी। युद्ध काल में अनेक रूसी स्त्रियो ने विदेशी सैनिकों के साथ विवाह कर लिया था। युद्ध के

१. १९४७ में वारसा में यूगोस्लाविया, हंगरी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, बुल्गेरिया, रूमानिया, सोवियत संघ और इटली की कम्युनिस्ट पार्टियों के नेताओं का एक सम्मेलन हुआ और इसके द्वारा बेल्ग्रेड में साम्यवादी सूचना संस्थान (Cominform) की स्थापना की गयी। इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में विभिन्न देशों के केन्द्रीय साम्यवादी दलों की केन्द्रीय समिति के दो प्रतिनिधि होते थे। इसका कार्य "पारस्परिक सहमति के आधार पर कम्युनिस्ट पार्टियों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना" था। कामिनफार्म का वास्तविक उद्देश्य विश्वव्यापी कम्युनिस्ट आन्दोलन का नेतृत्व करना था। १९५६ में जब सोवियत विदेश-नीति में परिवर्तन हुआ तो कामिनफार्म को भंग कर दिया गया।

वाद वे अपने पति के पास जाना चाहती थी लेकिन सोवियत सरकार ने इसकी अनुमति नहीं दी।

विदेशी राजदूतों तथा पत्र-प्रतिनिधियों के साथ भी बड़ी कड़ाई का व्यवहार किया गया। विदेशों के जो राजदूत मास्को में रहते थे उनको सोवियत संघ में घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता नहीं थी। वे निश्चित स्थानों पर तथा निश्चित अधिकारियों से ही बातचीत कर सकते थे। अन्य कम्युनिस्ट देश भी विदेशी राजदूतों के साथ ऐसा ही व्यवहार करते थे। विदेशी पत्र-प्रतिनिधियों पर तो और भी कड़ा प्रतिबन्ध था। एक तो उन्हें सोवियत संघ में आने की इजाजत ही नहीं मिलती थी और वे यदि किसी तरह का इजाजत पाकर आ गये तो उन्हें निश्चित स्थानों पर ही रहना पड़ता था। इसके अतिरिक्त रूसी नागरिकों के विदेश भ्रमण पर नियन्त्रण लगा दिया गया था। गैर कम्युनिस्ट देशों के व्यक्तियों को भी रूस जाने की आज्ञा बहुत कम मिलती थी। स्टालिन स्वयं किसी से न मिलता-जुलता था और न अधिक बातें करता था। युद्ध की समाप्ति के बाद अपनी मृत्यु तक उसने भारतीय राजदूत डा० राधाकृष्णन् के अतिरिक्त किसी राजदूत से मुलाकात नहीं की।

सोवियत संघ की इस नीति और व्यवस्था को नये-नये शब्दों को गढ़ने में दक्ष ब्रिटिश राजनीतिज्ञ चर्चिल ने लौह आवरण या लोहे के पर्दे (Iron Curtain) की संज्ञा दी। इसमें कोई सन्देह नहीं की यह लौह आवरण था और अमेरिका की उग्र आक्रामक नीति के कारण यह आवश्यक भी था।

उपनिवेशवाद का विरोध और शान्ति का समर्थन:—लौह आवरण को लेकर सोवियत-व्यवस्था की आलोचना भले ही की जाय; पर एक बात निश्चय है कि उपनिवेशवाद या साम्राज्यवाद का विरोध सोवियत विदेश-नीति का शुरू से ही मूलाधार रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जहाँ एक ओर संयुक्त राज्य ने सब जगह उपनिवेशवाद का समर्थन किया, वहाँ सोवियत संघ ने उसका घोर विरोध किया है। युद्धोत्तर काल में एशिया और अफ्रिका के सभी राष्ट्रीय संघर्षों को सोवियत संघ का जोरदार समर्थन मिला है।

युद्धोपरान्त सोवियत संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव दूर करने तथा स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए हमेशा प्रयत्न किया है। यह आवश्यक भी था। युद्ध का क्या परिणाम होता है, इसको सोवियत संघ भली-भाँति समझता था। युद्ध में जितनी हानियाँ उसको हुई थीं उतनी किसी की नहीं। इसलिए युद्धोत्तर काल में परमाणु बमों के आतंक से पीड़ित मानवता के परित्राण के लिए उसने शान्ति आन्दोलन पर बहुत बल दिया और पश्चिमी देशों को युद्ध-लोलुप (war-morger) कहकर उन्हें बदनाम किया। १९४८ में सोवियत संघ की प्रेरणा से पोलैंड के नगर ब्रोस्लाफ में विश्व शान्ति-सम्मेलन बुलाया गया और इसके बाद लगातार संसार के कई नगरों में इसके अनेक सम्मेलन हुए तथा विश्व शान्ति-सम्मेलन की स्थापना हुई। १९५० में इस समिति की बैठक स्टॉकहोम में हुई जिसमें अणुबमों पर पाबन्दी लगाने की जोरदार अपील की गयी। सोवियत संघ द्वारा चलाया गया यह आन्दोलन संसार भर में काफी लोकप्रिय हुआ है। इसने एशिया और अफ्रिका के लोगों को विशेष रूप से प्रभावित किया जो साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए तथा सोवियत संघ को पश्चिम की अपेक्षा शान्तिप्रिय और उपनिवेशवाद विरोधी मानने लगे। लेकिन पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत संघ के इस शक्तिशाली आन्दोलन को एक "निरे ढोंग" की संज्ञा दी और कहा कि यह तटस्थ एवं गैर साम्यवादी देशों को अपनी ओर आकृष्ट करने तथा समर्थक बनाने का सोवियत कूटनीतिक जाल है।

मार्च १९५१ में सुप्रिम सोवियत ने एक कानून पास किया जिसका नाम शान्ति प्रतिरक्षा कानून है। इस कानून के द्वारा सोवियत संघ में युद्ध के पक्ष में प्रचार को दंडनीय अपराध घोषित कर दिया गया है। स्थायी शान्ति के लिए सोवियत संघ निरस्त्रीकरण को परम आवश्यक मानता है। इसीलिए शुरू से ही उसने निरस्त्रीकरण का जबरदस्त समर्थन किया है। इस क्षेत्र में सोवियत संघ का रुख अत्यन्त सन्तुलित रहा है। यदि उसके निरस्त्रीकरण के प्रस्तावों को मान लिया जाता तो आज संसार का वातावरण इस तरह दूषित नहीं हुआ रहता।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति सोवियत नीति—स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माण में सक्रिय भाग लिया था। वस्तुतः संयुक्त राष्ट्र इसी विश्वास पर आधारित था (और है) कि महाशक्तियाँ विशेषतः सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका सहयोगपूर्वक कार्य करते हुए संघ के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक बनेंगी। परन्तु दुर्भाग्यवश यह आशा पूरी न हो सकी और अपने जन्म काल के कुछ ही समय उपरान्त संघ शीत-युद्ध का प्रधान अखाड़ा बन गया। लगभग प्रत्येक समस्या पर दोनों राष्ट्र अथवा दोनों गुट दो विरोधी दृष्टिकोण लेकर संघ के मंच पर उपस्थित हुए। चूँकि संघ में पश्चिमी शक्तियों और उनके समर्थकों का स्पष्ट बहुमत था, अतः सोवियत रूस ने अपने को एक स्थायी एवं निरन्तर अल्पमत में पाया। ऐसी स्थिति में अपनी इच्छा के प्रतिकूल होने वाले निर्णयों को रोकने के लिए उसके पास इसके अतिरिक्त कोई उपाय न था कि वह सुरक्षा परिषद् में खुल कर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करे जिससे संयुक्त राष्ट्रसंघ पश्चिम शक्तियों के इशारों पर नाचता हुआ उनके पक्ष में कोई प्रभावशाली कार्य न कर सके। कोरिया-युद्ध के समय अल्पकाल के लिए रूस ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की बैठकों का बहिष्कार कर दिया। लेकिन यह बहिष्कार उसके लिए घाटे का सौदा सिद्ध हुआ, क्योंकि इस बहिष्कार के कारण ही संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएँ दक्षिणी कोरिया की सहायता के लिए भेजी जा सकीं। इस घटना से रूस ने यह समझ लिया कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाहियों में भाग लेकर, परिषद् की बैठकों में उपस्थित होकर पश्चिमी राष्ट्रों के इरादों को अधिक अच्छी तरह रोक सकता है बनिस्पत इसके कि वह संघ से बाहर रहे और ऐसी चेष्टा करे। इस अनुभूति के बाद से ही फिर कभी रूस ने संघ की बैठकों का बहिष्कार नहीं किया। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सोवियत संघ ने सुरक्षा-परिषद् में अपने निषेधाधिकार के प्रयोग से पश्चिम के अनेक अन्यायपूर्ण प्रस्तावों को धाराशायी किया है। सोवियत संघ ने ही इस विश्व संस्था को अमरीकी स्टेट डिपार्टमेंट का एक अंग बनने से रोका है।

स्टालिन की नीति का मूल्यांकन:—एक दृष्टि से स्टालिन की नीति अवश्य ही सफल रही है। सोवियत संघ के साथ १९१९ के बाद मित्रराष्ट्रों का जैसा व्यवहार हुआ था और हिटलर ने उस पर जिस तरह आक्रमण किया था उस पर नजर रखते हुए युद्ध के समय में ही स्टालिन ने यह निश्चय कर लिया था कि भावी खतरों से बचने के लिए वह अपने चारों ओर ऐसे समर्थक कम्युनिस्ट राज्य स्थापित करे जो भावी युद्ध में उसकी सीमाओं को सुरक्षा प्रदान करें और विरोधी शक्तियों के अड्डे न बनें। इस उद्देश्य की पूर्ति में स्टालिन को पूरी सफलता मिली। लेकिन स्टालिन की नीति के कुछ भयानक परिणाम भी निकले। इसके फलस्वरूप सोवियत संघ के विरोधी गुट में सुदृढ़ एकता कायम हो गयी। उसकी कठोर और दबाव की नीति से भयभीत होकर संयुक्त राज्य अमेरिका और पश्चिम राष्ट्रों ने रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को

रोकने तथा साम्यवादी प्रसार को सीमित करने के अनेक उपाय किये। ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, अतलांतिक समझौता आदि की स्थापनाएँ इसी नीति के परिणामस्वरूप हुईं। तुर्की, यूनान और ईरान में हस्तक्षेप की नीति के कारण सोवियत संघ की काफी बदनामी हुई। बहुत अंशों में इसी कारण कोरिया तथा हिन्द चीन में संकट उत्पन्न हुए। तटस्थ-राष्ट्रों की मित्रता के लिए भी सही माने में सोवियत संघ सचेष्ट नहीं हो सका। जो देश उसके कट्टर समर्थक नहीं थे उन्हें वह अपना शत्रु समझता था। भारत को ही, उसकी असंलग्नता की नीति के कारण, स्टालिन अपना विरोधी मानता था। १९५२ में विशिंस्की ने कृष्ण मेनन को फटकारते हुए कहा था: "अच्छे-से-अच्छे रूप में तुम स्वप्नदर्शी और आदर्शवादी हो। बुरे-से-बुरे रूप में तुम अपनी स्थिति नहीं जानते और भयंकर अमरीकी नीति के प्रच्छन्न समर्थक हो।" इससे भी बढ़कर यूगोस्लाविया के साथ झगड़ा करके उसने साम्यवादी परिवार में फूट पैदा कर दी। रूस के वैदेशिक सम्पर्क को कम करके उसने अविश्वास और सन्देह का जन्म दिया। सोवियत संघ के समर्थकों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई और शक्ति-सन्तुलन का पलड़ा सोवियत गुट की ओर नहीं झुक सका। वस्तुतः, १९५२ तक, जॉर्ज एफ० केनन के शब्दों में सोवियत नीति "अनुर्वर हो गयी थी।" इस परिस्थिति में यह आवश्यक था कि स्टालिन की मृत्यु (५ मार्च, १९५३) के बाद इस नीति में परिवर्तन हो।

स्टालिनोत्तर विदेश-नीति

स्टालिन के बाद मेलेन्कोव सोवियत संघ का प्रधान मन्त्री बना और तुरत ही सोवियत नीति में परिवर्तन के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे। स्टालिन पूँजीवाद और समाजवाद में संघर्ष और पूँजीवाद के "अवश्यम्भावी विनाश" में विश्वास करता था। शान्तिपूर्ण सह-जीवन के सिद्धान्त में उसको कोई आस्था नहीं थी। लेकिन उसके उत्तराधिकारी मेलेन्कोव ने यह आश्वासन दिया कि अब "समाजवादी और पूँजीवादी देशों के बीच शांतिपूर्ण सहजीवन स्थापित करने की दिशा में प्रबल प्रयत्न किया जायगा।" १५ मार्च, १९५३ को सुप्रिम सोवियत में मेलेन्कोव का जो भाषण हुआ उसमें नवीन शासन की विदेश-नीति का महत्वपूर्ण उल्लेख किया गया था। "सोवियत विदेश-नीति का संचालन" उसने कहा, "शान्ति को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से किया जायगा। कोई ऐसा विवाद नहीं है जिसका शान्तिपूर्ण समाधान नहीं हो सकता है। यह सिद्धान्त संयुक्त राज्य सहित विश्व के सभी देशों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।" इस वक्तव्य से पूर्ण स्पष्ट हो जाता है कि सोवियत संघ की विदेश-नीति में परिवर्तन का क्रम प्रारम्भ हो गया था। पश्चिमी देशों के विरुद्ध रूस द्वारा किये जानेवाले प्रचार की उग्रता में बहुत कमी आयी। पश्चिम के विरुद्ध विष वमन का कार्य बन्द हो गया तथा विदेश मन्त्री विशिंस्की ने संयुक्त राज्य अमेरिका से "मित्रता की सुरंग में आधे रास्ते तक आगे बढ़कर रूस से मिलने" का अनुरोध किया।

नयी विदेश नीति के परिणाम शीघ्र ही दृष्टिगोचर होने लगे। कोरियाई युद्ध का गतिरोध खत्म हो गया तथा १६ अप्रिल १९५३ को उसके सम्बन्ध में एक समझौता हो गया। फिनलैण्ड के सैनिक अड्डे सोवियत सैनिकों ने खाली कर दिये। जापान के साथ युद्ध की स्थिति समाप्त हो गयी तथा पश्चिमी जर्मनी, यूनान एवं इजरायल के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। आस्ट्रिया के साथ सन्धि हुई तथा तुर्की के प्रति कुछ मृदु नीति अंगीकार की

गयी। युगोस्लाविया के साथ मतभेदों को दूर करके उसे पुनः साम्यवादी परिवार में लाने की चेष्टा की गयी। कामिनफार्म को भंग कर दिया गया तथा सोवियत सैनिकों की संख्या घटा दी गयी। सोवियत संघ ने निरस्त्रीकरण के नये प्रस्ताव रखे तथा कुछ समय के लिए आणविक परीक्षणों को बन्द कर दिया। बाह्य दुनिया से निकटतम सम्पर्क कायम करने का प्रयास किया गया ताकि सोवियत संघ लोहे की दीवार में बन्द नहीं समझा जाय। स्टालिन विश्व को दो विरोधी गुटों में बँटा मानता था, लेकिन नयी नीति के अनुसार इसको शक्ति-सन्तुलन की प्रक्रिया माना गया और इसको अपने पक्ष में करने के लिए तटस्थ राष्ट्रों की सदिच्छा प्राप्त करने की चेष्टा की गयी। इसके लिए सोवियत रूस के नये नेताओं ने 'यात्रा कूटनीति' का अवलम्बन किया। अब सोवियत-संघ के उच्च नेता दूसरे देशों का भ्रमण करने और उन देशों से मैत्री कायम करने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए रूस के नेता 'शिखर सम्मेलन' पर बल देने लगे। दीर्घकालीन झगड़े और समस्याओं को तय करने के लिए विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन समय-समय पर बुलाये जाने लगे ताकि वह शिखर-सम्मेलन के मार्ग को प्रशस्त कर सके। सोवियत संघ ने विश्व के पिछड़े राष्ट्रों के प्रति भी अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की और उन्हें यथासम्भव सहायता देने का वचन दिया। इन सब कारणों से शीत-युद्ध की उग्रता कम हुई और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में मन्दी आयी।

हंगरी तथा सोवियत संघ—८ फरवरी, १९५५ को मेलेन्कोव प्रधान मन्त्री के पद से हट गया और मार्शल बुलगानिन प्रधान मन्त्री बनाया गया। ख्रुश्चेव पार्टी का सेक्रेटरी नियुक्त हुआ। १४ फरवरी, १९५६ को सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस का बीसवाँ अधिवेशन हुआ। इसमें ख्रुश्चेव ने स्पष्ट शब्दों में स्टालिन की व्यक्ति पूजा (personality cult) की तथा उसकी कठोर दमन-नीति की निन्दा की। ख्रुश्चेव ने स्टालिनवाद को धज्जी-धज्जी उड़ा दी तथा स्टालिन को देवता के पद से गिराते हुए सब विषयों में उसके प्रभाव और सिद्धान्तों को हटाने की निरस्टालिनीकरण (Destalinisation) की नीति ग्रहण की। युगोस्लाविया को मिलाने का प्रयत्न किया गया। अक्टूबर, १९५५ में ही ख्रुश्चेव टीटो को मनाने बेलग्रेड जा चुका था। वहाँ १९५६ की घटनाओं पर उसने सार्वजनिक तौर पर खेद प्रकट किया और टीटो से अपील की गयी कि वह बीती बातों को भूल जाय। जून, १९५६ में मार्शल टीटो को सोवियत संघ बुलाया गया। इसके पूर्व टीटो को प्रसन्न करने के लिए टीटो विरोधी सोवियत विदेश मन्त्री मोलोतोव को हटाकर सेपिलोव को उस पद पर लाया गया। टीटो प्रसन्न हो गया। साम्यवादी दुनिया में एकता कायम हो गयी, ऐसी एकता जो अभी तक कायम नहीं हुई थी।

कुछ ही दिनों में यह पता चलने लगा कि साम्यवादी जगत् की एकता उतनी सुदृढ़ नहीं है जितना सोचा गया था। स्टालिन विरोधी ख्रुश्चेव की घोषणाओं और टीटो के अपराधों को क्षमा होते देख, पूर्वी यूरोप के अन्य साम्यवादी देश काफी प्रभावित हुए। इन सभी देशों में स्टालिनवादी थे। यदि सोवियत-संघ से स्टालिनवाद खत्म हो गया, टीटो को साम्यवादी समुदाय में पुनः वापस ले लिया गया, तो अन्य देशों में स्टालिनवादी क्यों शासन करेंगे? इन देशों के 'टीटो', जो जेल में बन्द थे, उनको छोड़ने की मांग होने लगी। सबसे पहले इस तरह की मांग पोलेण्ड में हुई। पोलैण्ड के 'टीटो' गोमुलका थे और स्टालिनवादी रकोस्वस्की। जून, १९५६ में पोलैंड में एक बलवा (पोजनान बलवा) हो गया। यह बलवा तो दबा दिया गया,

लेकिन कुछ ही दिनो में स्टालिनवाद के विरुद्ध एक जबरदस्त विद्रोह हो गया, इसके फलस्वरूप स्टालिनवादियो का शासन पोलैंड से उठ गया और गोमुलका पोलैंड के कम्युनिस्ट पार्टी का सेक्रेटरी बनाया गया। गोमुलका के नेतृत्व में सोवियत संघ और पोलैंड के सम्बन्ध पूर्ववत् अच्छे रहे हैं।

पोलैंड का विद्रोह तो दब गया, लेकिन एक पड़ोसी साम्यवादी देश हंगरी पर इसका तात्कालिक प्रभाव पड़ा। २३ अक्टूबर, १९५६ को हंगरी में प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के नेतृत्व में हंगरी में एक साम्यवाद-विरोधी विद्रोह हो गया। कई दिनों तक बुडापेस्ट की सड़कों पर सोवियत-सेना (जो वारसा-सन्धि के अन्तर्गत वहाँ रखी गयी थी) और साम्यवाद-विरोधी तत्त्वों (जिनको अमरीकी सहायता मिल रही थी) के बीच युद्ध होता रहा। विद्रोहियों की मांग थी कि स्टालिनवादियों को हटाया जाय और टीटोवादियों को हंगरी की सत्ता सौंपी जाय। २५ अक्टूबर को नैरो पार्टी-सेक्रेटरी के पद से हटा दिया गया और कादर उसकी जगह पर नियुक्त हुआ। इम्रे नॉज प्रधानमंत्री बना। इस समय तक विद्रोहियो को अमेरिका से काफी प्रोत्साहन और सहायता मिल चुकी थी। विद्रोही अब हंगरी से सोवियत सेना हटाने की मांग करने लगे। इम्रे नॉज विवश होकर सोवियत सेना हटाने की मांग करने लगा। इस पर हंगरी सरकार ने उसको कैद कर लिया। पीछे १९५८ में उसको फांसी दे दी गयी। इम्रे नॉज के हट जाने पर हंगरी का विद्रोह दबा दिया गया। हंगरी के प्रश्न को लेकर पश्चिमी राज्यों ने काफी हो-हल्ला मचाया। बहुत-दिनों तक संयुक्त राष्ट्रसंघ में इस प्रश्न पर गरमागरम बहस होती रही। इसी समय स्वेज संकट भी प्रारम्भ हो गया था। इन दोनों घटनाओ को लेकर शीत-युद्ध में फिर उग्रता आ गयी। इसके कारण फिर से सोवियत संघ और यूगोस्लाविया का सम्बन्ध खराब हो गया। यूगोस्लाविया के दूतावास से इम्रे नॉज को छल-प्रपंच से ले जाया गया था। टीटो ने इसका घोर विरोध किया। संसार में सोवियत संघ की काफी बदनामी हुई। हंगरी में उसके हस्तक्षेप को अनुचित बतलाया गया और कहा गया कि ऐसा करके सोवियत संघ ने साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का परिचय दिया है। लेकिन सोवियत संघ ने अपने हस्तक्षेप के पक्ष में तीन तर्क प्रस्तुत किये हैं। पहली बात यह कि सोवियत हस्तक्षेप हंगरी की सरकार के अनुरोध पर किया गया था। द्वितीय, सोवियत संघ की सुरक्षा के लिए यह हस्तक्षेप आवश्यक था। हंगरी में प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की विजय से सोवियत संघ की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती। तृतीय, हंगरी के विद्रोह में वहाँ के फासिस्ट नेता होर्थी का महत्त्वपूर्ण हाथ था और फासिस्टवाद का दमन करने के लिए युद्धकालीन मित्रराष्ट्र वचनबद्ध थे।

सोवियत विदेशी-नीति में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त

स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ की विदेश-नीति में एक मूल तत्व के रूप में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का समावेश हुआ। इसका उद्भव मेलेन्कोव के काल में ही हुआ, लेकिन ख्रुश्चेव और कोसिजिन के प्रधान मंत्रीत्व काल में इसका पूर्ण विकास हुआ। विकसित रूप में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन रूसी साम्यवादी दल की बीसवीं कांग्रेस (१९५६) में हुई। साथ ही सोवियत संघ की नवीन विदेश-नीति के मुख्य लक्षणों का प्रतिपादन किया गया। इस विदेश-नीति की पाँच मुख्य विशेषताएँ बतलायी गयीं :

(i) स्टालिन युग में सभी गैर-साम्यवादी देशों को सोवियत संघ का शत्रु माना जाता था। एशिया और अफ्रिका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति भी स्टालिन की नीति अनुदार रही। खु्रश्चेव ने इस नीति को अस्वीकार किया और यह माना की सभी गैर-साम्यवादी देश सोवियत संघ के शत्रु नहीं हैं।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान पर बल दिया गया। स्टालिन की उग्रवादी, कठोर और शंकालु नीति का परित्याग कर दिया गया।

(iii) सोवियत संघ द्वारा विश्व के अल्प विकसित देशों को आर्थिक सहायता देने की नीति अपनायी गयी।

(iv) यात्राओ की कूटनीति स्वीकार की गयी। यह माना गया कि दूसरे देशो से अच्छा सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सोवियत नेताओ को लौह आवरण को शिथिल कर अन्य देशों की यात्रा करनी चाहिए तथा गैर साम्यवादी देशों से मधुर सम्बन्ध की स्थापना करनी चाहिए।

(v) पश्चिमी शक्तियों को साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी मानते हुए उनकी निन्दा करनी चाहिए। लेकिन उनके साथ खुले संघर्ष की नीति का परित्याग करना चाहिए। इस सम्बन्ध में स्वयं खु्रश्चेव ने कहा था : "सोवियत संघ शान्ति और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को मानता है। हम संयुक्त राज्य अमेरिका या अन्य किसी भी देश के विरुद्ध युद्ध करने को नहीं सोच रहे हैं। हम शान्तिपूर्ण निर्माण और रचनात्मक कार्य में प्रतियोगिता करना चाहते हैं।"

चूँकि शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त सोवियत विदेश नीति का एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण पहलू हो गया है, अतः हम पहले इसी पर विचार करेंगे।

शान्ति सह-अस्तित्व की नई सोवियत नीति के अनुसार गैर-साम्यवादी देशों को तीन वर्गों में बाँटा गया, (१) संयुक्त राज्य अमेरिका, (२) अमेरिका के समर्थक और सहयोगी देश, एवं (३) तटस्थ देश, जैसे—भारत, इण्डोनीशिया, वर्मा, मिस्र, सीरिया, यूगोस्लाविया, अफगानिस्तान, स्विट्जरलैंड। पहले रूस दुनिया में दो ही रंग के फूल देखता था : लाल और सफेद। अब वह इसमें लाल, पीले, नीले, हरे सभी प्रकार के फूल देखने लगा। पहले उसकी नीति लाल रंग के फूलों के अतिरिक्त सब तरह के फूलों के समूलोन्मूलन की थी, अब वह सब के साथ-साथ रहने के 'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व' की बात करने लगा। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए १५ मई, १९५६ को तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री बुल्गानिन ने कहा था :

> "शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व कोई कोरा सिद्धान्त नहीं है, अपितु वह एक जीवित यथार्थ है। वह सोवियत संघ तथा यूरोप और एशिया के बहुत से देशों की वैदेशिक नीति का मूल तत्व है, और ऐसा होना भी चाहिए क्योंकि आज की परिस्थिति में और कोई दूसरा मार्ग सम्भव नहीं है। हमारे सामने केवल दो ही मार्ग हैं—शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व अथवा इतिहास का सबसे अधिक विनाशकारी युद्ध। इनके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं है। इसलिए समस्त जनगण की चाहे वे समाजवादी परिस्थितियों में रहते हों अथवा पूँजीवादी परिस्थितियों में यह आकांक्षा है कि सह-अस्तित्व को स्थाई एवं स्थिर बनाया जाय।"

खु्रश्चेव ने इस सिद्धान्त को एक ऐतिहासिक पृष्ठाधार भी दिया। उसने यह दावा किया कि अन्य सामाजिक व्यवस्था वाला देशों के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त लेनिन

की देन है। सोवियत नेताओं का कहना है कि यदि विभिन्न सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं वाले देश को युद्ध की धमकी दी गयी तो इसको देनेवाला सोवियत संघ या समाजवादी गुट नहीं होगा। इसका कारण यह है कि कोई भी समाजवादी देश युद्ध छेड़ने की बात सोच ही नहीं सकता। युद्ध पूँजीवादी व्यवस्था की विशेषता है जहाँ वर्ग-विभेद रहता है और विभिन्न वर्ग वाले युद्ध का सहारा लेकर अपनी उन्नति का यत्न करते हैं। सोवियत संघ या कोई भी समाजवादी देश युद्ध नहीं छेड़ सकता, क्योंकि वहाँ वर्ग-भेद को मिटा दिया गया है।

पश्चिमी देशों के अनेक समीक्षकों का मत है कि यह सिद्धान्त सोवियत नीति की एक चाल है और वह मौका पाते ही युद्ध छेड़ने से बाज नहीं आयगा। इसके प्रत्युत्तर में सोवियत नेताओं का कहना है कि जो लोग यह कल्पना करते हैं कि समाजवादी देश भी युद्ध छेड़ सकते हैं वे इस प्रकार का हौवा इसलिए उठाते हैं ताकि उनकी विश्व-विजय की योजनाओं तथा प्रजातंत्र एवं समाजवाद की हत्यापूर्ण कार्यवाहियों पर पर्दा डाला जा सके। सोवियत रूस पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि एक तरफ तो वह शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की बात करता है और दूसरी ओर वह अन्य देशों में हिंसात्मक क्रान्तियों को प्रेरणा देता है ताकि वहाँ पूँजीवाद का नाश हो सके। इस उत्तर में सोवियत नेताओं का कहना है कि यद्यपि वे पूँजीवाद का विरोध करते हैं, लेकिन किसी भी देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का उनका इरादा नहीं रहता। स्वतन्त्रता बाहर से नहीं थोपी जाती, वह स्वयं पैदा होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सोवियत संघ दो व्यवस्थाओं के बीच शान्तिपूर्ण सम्बन्धों में विश्वास करता है। लेकिन सोवियत नेता यह छिपाने का यत्न नहीं करते कि उनका संघर्ष पूँजीवाद से है, पूँजीवाद का विनाश और समाजवाद की विजय अवश्यम्भावी है और साम्यवाद अन्ततः सभी देशों में आयगा ही। इस आधार पर कुछ पाश्चात्य समीक्षक यह कहते हैं कि जब सोवियत संघ साम्यवाद की स्थापना के लिए लड़ रहा है तो उसके साथ शान्तिपूर्ण कैसे रहा जा सकता है। इसके जवाब में सोवियत नेताओं का कहना है कि यह लड़ाई बन्दूकों और बमों की नहीं, वरन् सिद्धान्तों की है।

समाजवाद की विजय का अर्थ यह सिद्ध करना है कि उत्पादन का समाजवादी तरीका पूँजीवादी उत्पादन के तरीके से अधिक लाभदायक है। जब विश्व के मजदूरों को साम्यवाद के गुणों का परिचय प्राप्त हो जायगा तब निश्चय ही वे समाजवादी समाज की स्थापना कर लेंगे। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का अर्थ यह है कि पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनों व्यवस्थाएँ साथ-साथ रहें तथा अपनी श्रेष्ठता के चलते साम्यवादी व्यवस्था विश्व भर में व्याप्त हो जाय। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का अर्थ दो भिन्न समाज व्यवस्थाओं के साथ-साथ रहने से कुछ अधिक है। आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न देशों के बीच विश्वास को मजबूत किया जाय और उनके बीच सहयोग की स्थापना हो। पूर्व और पश्चिम के विरोध का एक मात्र समाधान है, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व। इस मान्यता का अर्थ यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि अब साम्यवादी देश पश्चिम के साथ मित्रता कर लेंगे। वस्तुतः साम्यवादी लोग शांति को भी एक संघर्ष मानते हैं। युद्ध और शान्ति में केवल साधनों का अन्तर है, दोनों का साध्य एक ही है। शान्ति का अर्थ केवल सैनिक संघर्ष का अभाव है। इसे मानते समय साम्यवादी लोग निश-

क्रान्ति के विचार को छोड़ नहीं देते वरन् कुछ समय के लिए टाल देते हैं। इस विचार का प्रतिपादन शेपिलोव ने निम्न शब्दों में किया है :

> "क्रान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व संघर्ष विहीन जीवन नहीं है। जब तक विभिन्न प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थाएँ कायम रहेंगी उनके बीच मनमुटाव होना अपरिहार्य है। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व एक राजनैतिक, आर्थिक एवं सैद्धान्तिक संघर्ष है। सह-अस्तित्व का अर्थ एक दूसरे के साथ लड़ना नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को हथियारों से सुलझाने का प्रयत्न करना है किन्तु वह शान्तिपूर्ण कार्यों तथा आर्थिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं द्वारा प्रतियोगिता करना है। हम यदि जीवन के मूलभूत नियमों को, वर्ग संघर्ष के नियमों को भुला देंगे तो हम मार्क्सवादी या लेनिनवादी नहीं रह जायेंगे।"

सोवियत नेताओं का कहना है कि यदि अमरीकी सरकार यह स्वीकार कर ले कि विश्व में एक समाजवादी दुनिया भी कायम है जिसको जीने तथा अपने आदर्शों के अनुरूप उन्नति करने का अधिकार है तो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को खत्म होते देर नहीं लगेगी। सोवियत संघ इस बात को किसी हालत में स्वीकार नहीं कर सकता कि संसार के प्रत्येक देश पर संयुक्त राज्य अमेरिका हावी हो जाय। यदि अमरीका पूँजीवादी विश्व का सर्वाधिक विकसित और शक्तिशाली देश है तो सोवियत संघ भी सबसे शक्तिशाली देश है। अतएव इन दोनों देशों के लिए यह वांछनीय है कि वे अपने पारस्परिक मतभेदों का समाधान युद्ध के द्वारा नही वरन् आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता द्वारा करें। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए ख़ुश्चेव ने कहा था :

> "हम कहते हैं कि समाज का विकास उसके नियमों के अनुसार होता है और आज वह युग आ गया है जबकि पूँजीवाद को अपने से अधिक विकसित सामाजिक-प्रणाली समाजवाद के लिए मार्ग खाली करना पड़ेगा। यह बात मुझ कम्युनिस्ट पर आश्रित नहीं है और न तुम एक पूँजीवादी पर आश्रित है। नहीं, यह एक वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक प्रक्रिया है। इस बात को मार्क्स और एंजिल्स ने अच्छी प्रकार से प्रमाणित कर दिया है और इसे लेनिन ने भली-भाँति विकसित किया है। मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि सोवियत संघ शान्ति तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व चाहता है। यदि हमारे देश पर आक्रमण नहीं किया गया तो हमारा देश कभी युद्ध नही करेगा। हम न तो संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध युद्ध करने की बात सोचते है और न किसी दूसरे देश के खिलाफ हमारा ऐसा इरादा है—चाहे वह देश सोवियत संघ के निकट हो अथवा दूर, क्योंकि ऐसा करना हमारे सिद्धान्त का उल्लंघन करना है। हम शान्तिपूर्ण निर्माण और रचनात्मक कार्य में प्रतियोगिता करना चाहते है।"

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में सोवियत संघ का अटूट विश्वास है, इस बात को प्रमाणित करने के लिए निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

(१) जुलाई, १९५३ में कोरिया-युद्ध को समाप्त करने के लिए सोवियत संघ ने अपना सहयोग दिया।

(२) जनवरी-फरवरी १९५४ में चार महान् शक्तियों के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें यह निश्चय किया गया कि अप्रिल में हिन्द-चीन की समस्या पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन हो। यह सम्मेलन हुआ और हिन्द-चीन की समस्या को सुलझाने के लिए एक करार पर हस्ताक्षर हुआ।

(३) मई, १९५५ में आस्ट्रिया के साथ सन्धि हुई।

(४) जुलाई, १९५५ में चार महान् शक्तियों का एक शिखर-सम्मेलन हुआ। १९४४ के पोट्सडाम-सम्मेलन के बाद यह चार बड़ों की पहली बैठक थी।

(५) जून, १९५५ में सोवियत संघ ने कृष्ण सागरीय प्रदेश में तुर्की के विरुद्ध अपनी प्रादेशिक माँगों के परित्याग की घोषणा की।

(६) १९५५ में संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव के चुनाव के सम्बन्ध में गतिरोध उत्पन्न हो गया था। सोवियत संघ नहीं चाहता था कि डाग हैमरशोल्ड की नियुक्ति इस पद पर हो। लेकिन बाद में सोवियत नेताओं ने अपने दुराग्रह को छोड़ दिया और हैमरशोल्ड को महासचिव स्वीकार कर लिया।

(७) १९५५ में रूस के समर्थन से चीन ने अमेरिका के ग्यारह विमान-चालक बन्दियों को रिहा कर दिया।

(८) १९५५ में ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता को बढ़ाने के लिए सोवियत संघ और पश्चिमी राज्यों के बीच एक समझौता हुआ। इसके पूर्व सोवियत संघ नये राज्यों की सदस्यता का विरोधी था। फलतः दिसम्बर, १९५५ में अठारह नये राज्यों को संघ की सदस्यता मिली।

(९) १९५६ में कामिनफार्म को भंग कर दिया गया।

(१०) १९६३ में परमाणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि पर हस्ताक्षर हुआ। निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में यह पहली सफलता थी।

(११) इसी वर्ष वाशिंगटन और मास्को के बीच सीधा टेलिफोन और रेडियो सम्पर्क स्थापित हुआ। इसका उद्देश्य यह था कि किसी भी संकटकालीन स्थिति में दोनों देशों के शासनाध्यक्ष सीधी वार्ता कर सकें ताकि किसी तरह की गलतफहमी नहीं फैले।

(१२) १९६५ के भारत-पाकिस्तान संघर्ष को खत्म कराने में उसने अपूर्व सहयोग का परिचय दिया।

(१३) १९६८ में निरस्त्रीकरण से सम्बन्धित दूसरी सन्धि सम्भव हुई।

इस प्रकार शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के आधार पर ख्रुश्चेव और बाद में कोसिजिन के काल में पूर्व और पश्चिम के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुधार हुए और शीत-युद्ध की उग्रता में बड़ी कमी आयी।

लेकिन इन बातों को लेकर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका परस्पर मित्र बन गये। इसके विपरीत राजनैतिक शत्रु के रूप में दोनों की स्थिति यथापूर्व रही और दोनों अपनी कूटनीतिक दाँव-पेंच में संलग्न रहे। फर्क केवल साधन और तरीकों में आया। स्टालिनकालीन उग्रवादी नीति का स्थान चातुर्यपूर्ण और गहन कूटनीतिक उदार नीति ने ले लिया। दोनों के सम्बन्ध में कई ऐसे मौके आये जब तनाव बढ़ गया और शीत-युद्ध में उग्रता आ गयी। १९५६ का स्वेज तथा हंगरी संकट, १९६० का यू-२ विमानकांड, १९६२ का क्यूबा संकट, १९६५-६८ का वियतनाम युद्ध तथा १९६७ का पश्चिम एशिया संकट इसके कुछ उदाहरण हैं जब दोनों महाशक्तियाँ संघर्ष के बहुत निकट आ गयीं और तृतीय विश्व-युद्ध की सम्भावना बहुत बढ़ गयी। फिर भी इस बात को स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि प्रत्येक अवसर पर संकट को टालने के लिए दोनों पक्षों ने

विवेक और संयम से काम लिया है। सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों ही इस बात का अनुभव करने लगे हैं कि शक्ति अथवा युद्ध के द्वारा एक दूसरे को समाप्त करने की नीति अव्यावहारिक और आत्मघाती है और यदि सह-अस्तित्व के सिद्धांत को नहीं माना गया तो उसका एकमात्र विकल्प होगा सह-विनाश।

यात्रा कूटनीति और आर्थिक सहायता की नीति

स्टालिन के समय में सोवियत संघ एक फौलादी घेरे के अन्दर रहता था। गैर-साम्यवादी देशों से उसका सम्पर्क बिल्कुल नहीं रहता था। लेकिन, लौह आवरण की इस नीति के कुछ बड़े दुष्परिणाम निकले। इसके कारण अन्य देशों में सोवियत संघ के प्रति सन्देह और अविश्वास की भावनाएँ उत्पन्न हुईं जिससे सोवियत गुट के समर्थकों की संख्या और शक्ति में काफी कमी हुई। स्टालिनोत्तर सोवियत संघ ने इस नीति का परित्याग कर दिया और दूसरे देशों के साथ सम्पर्क बढ़ाने की नयी नीति का अवलम्बन करने का निश्चय किया। इस काल में सोवियत संघ से अनेक संसदीय, सांस्कृतिक, सद्भावना शिष्टमण्डल दूसरे-दूसरे देशों में भेजे गये और उन देशों से ऐसे शिष्टमण्डल सोवियत संघ आने के लिए आमन्त्रित किये गये। यात्राओं का आदान-प्रदान यहीं तक सीमित नहीं रहा। अब सोवियत संघ के चोटी के नेता भी अन्य देशों का भ्रमण करने लगे। यह स्टालिन की नीति के सर्वथा विपरीत था। स्टालिन केवल एक बार तेहरान-सम्मेलन में भाग लेने के लिए सोवियत संघ से बाहर निकला था। लेकिन सोवियत संघ के नये नेताओं ने दूसरे देशों का सद्भाव और मैत्री प्राप्त करने के लिए विदेशों में यात्रा करना आरम्भ किया। इसी तरह अन्य देशों के राज्याध्यक्ष, प्रधान मन्त्री आदि को सोवियत संघ आने के लिए आमन्त्रित किया गया। जून १९५५ में भारत के प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू सोवियत सरकार के आमन्त्रण पर रूस गये। जुलाई १९६० में भारतीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने सोवियत संघ का भ्रमण किया। रूस की सर्वसाधारण जनता ने भारतीय राजनेताओं का भव्य स्वागत किया। स्टालिन के समय ऐसी बात की कल्पना नहीं की जा सकती थी। नवम्बर-दिसम्बर १९५५ में सोवियत संघ के प्रधान मन्त्री बुलगानिन तथा पार्टी के सेक्रेटरी ख्रुश्चेव भारत भ्रमण के लिए आये। इसी क्रम में इन लोगों ने बर्मा और हिन्देशिया की यात्रा भी की। बुलगानिन और ख्रुश्चेव के भारत-भ्रमण से सोवियत संघ और भारत के सम्बन्धों में बहुत सुधार हुआ। दोनों देशों के बीच मैत्री और सद्भावना में काफी वृद्धि हुई। कलकत्ता में जनता द्वारा ख्रुश्चेव का जो स्वागत हुआ, शायद आज तक कहीं भी किसी राजनेता का नहीं हुआ है। १९५६ में बुलगानिन और ख्रुश्चेव ब्रिटेन गये। १९५९ के आरम्भ में सोवियत-संघ के एक मन्त्री श्री मिकोयान ने अमेरिका की यात्रा की। १७ जनवरी को राष्ट्रपति आइसनहावर ने ह्वाइट हाउस में रूसी राजनीतिज्ञ का भव्य स्वागत किया। १९४५ के बाद अमेरिका और सोवियत संघ के सम्बन्ध में ऐसी घटना पहले-पहल हुई थी। मिकोयान ने शीत-युद्ध बन्द करने की अपील की और उसके स्थान पर "शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता" पर बल दिया। आइसनहावर का उत्तर भी उतना ही मधुर था। कहीं भी साम्यवादी दासता, मुक्ति-आन्दोलन साम्यवाद को सीमित करना या पीछे ढकेलने की चर्चा उन्होंने नहीं की। इसके कुछ ही दिनों बाद, सोवियत सरकार के आमन्त्रण पर अमरीकी उपराष्ट्रपति निक्सन ने सोवियत संघ का भ्रमण किया।

लेकिन यात्राओं की यह कूटनीति अगस्त, १९५९ में अपनी चरम सीमा पर पहुँची जब उस दिन यह घोषणा हुई कि कुछ ही दिनों के अन्दर सोवियत संघ के प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव संयुक्त राज्य अमेरिका का और उसके बाद राष्ट्रपति आइसनहावर सोवियत संघ का भ्रमण करेंगे। सारी दुनिया ने इस समाचार का स्वागत किया। इन यात्राओं के महत्त्व पर ब्रिटिश समाचार-पत्र डेली मेल ने जो टिप्पणी लिखी वह इस प्रकार है : "इन दो राजनेताओं की यात्राओं के आदान-प्रदान के फलस्वरूप वह दिन अब दूर नहीं कि जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में एक नया युग प्रारम्भ हो जायगा। इस युग में न केवल संसार की जटिल समस्याओं—निरस्त्रीकरण, परमाणविक परीक्षण. शीत-युद्ध इत्यादि का ही समाधान होगा, बल्कि यदि दोनों देशों के बीच एक अनाक्रमण सन्धि हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नही होगी। वह दिन अब दूर नहीं जब माओ-त्से-तुंग अमेरिका की यात्रा और अमरीकी राष्ट्रपति चीन को यात्रा करेंगे···और फिर···अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक नया युग"[1]

१५ अगस्त, १९५९ को ख्रुश्चेव अमेरिका पहुँचा और २८ सितम्बर तक वह संयुक्त राज्य अमेरिका का भ्रमण करता रहा। १७ सितम्बर को संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में उसका ऐतिहासिक भाषण हुआ जिसमें उसने शीत-युद्ध तथा हथियारबन्दी की होड़ को समाप्त करने पर तथा सब देशो द्वारा शान्तिपूर्ण सहजीवन और मैत्रीपूर्ण सहयोग के पालन पर बल दिया। २५ सितम्बर को कैम्प डेविड में उसने राष्ट्रपति आइसनहावर से मुलाकात की। तीन दिनों तक दोनों राजनेताओं के बीच विश्व की विभिन्न समस्याओं पर विचार-विमर्श होता रहा। २८ सितम्बर को ख्रुश्चेव ने कहा कि "राष्ट्रपति आइसनहावर से मेरी बड़ी मधुर वार्ता हुई है। हमने जिन प्रश्नो पर विचार किया है उन सबके बारे में यह पाया गया है कि दोनों पक्षों के दृष्टिकोण और विचार एक से हैं।" ख्रुश्चेव की इस यात्रा से दोनो देशों में बड़े सौहार्द और प्रीति का वातावरण उत्पन्न हुआ। इस सौहार्द को कैम्पडेविड की भावना (Spirit of Camp David) का नाम दिया गया। यह कहा गया कि इस भावना से प्रेरित होकर दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को दूर करने का सम्मिलित प्रयास करेंगे, जिसमें शीत-युद्ध की बरफ पिघलेगी और विश्व-शान्ति की नींव मजबूत पड़ जायगी। कैम्प डेविड वार्ता के बाद जो संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित हुआ वह भी इसी भावना से ओत-प्रोत था। "श्री ख्रुश्चेव और आइसनहावर इस बात पर सहमत हैं," वक्तव्य में कहा गया था कि "सभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो का निर्णय शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा वार्तालाप और चर्चा के माध्यम से किया जाना चाहिए।" कैम्प डेविड से वाशिंगटन लौटने पर ख्रुश्चेव ने यह घोषणा की कि राष्ट्रपति आइसनहावर ने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है और "उनके पोतों ने यह तय किया है कि राष्ट्रपति १९६० के अन्त में सोवियत संघ की यात्रा करें। इस शर्त को उनके दादाओं" ने मान लिया है।

ख्रुश्चेव की यह अमरीकी यात्रा युद्धोत्तर काल के कूटनीतिक इतिहास में एक क्रान्तिकारी घटना थी। जो देश कुछ वर्ष पूर्व एक दूसरे के कट्टर दुश्मन थे वे अपने को एक ही परिवार का सदस्य मानने लगे। इसमें कोई सन्देह नही कि उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि पूर्व और पश्चिम का तनाव तथा संघर्ष अब तुरत ही खत्म हो जायगा।

1. *Hindustan Times* (Delhi), 18 August 1959.

फरवरी-मार्च १९६० में खुश्चेव ने भारत, वर्मा, अफगानिस्तान तथा हिन्देशिया की यात्रा की। इन देशों के लाखों व्यक्तियों ने उनके दर्शन किये और भाषण सुने।

शिखर-सम्मेलन—यात्राओं की कूटनीति के अतिरिक्त इस समय रूसी नेताओं ने शासनाध्यक्षों के शिखर-सम्मेलन पर भी बहुत जोर दिया। जुलाई, १९५५ में जेनेवा का सम्मेलन, जिसमें हिन्दचीन की समस्या सुलझाया गया था, इसी नीति का परिणाम था। लेकिन विश्व में और भी समस्याएँ थीं जिनके समाधान के लिए शिखर-सम्मेलन आवश्यक था। कैम्प डेविड में आइसन हावर और खुश्चेव ने इसकी आवश्यकता महसूस की थी। पश्चिमी देश इस तरह के सम्मेलन के लिए अब राजी होने लगे थे। इसी समस्या पर विचार करने के लिए १९ से २१ दिसम्बर १९५९ तक पेरिस में राष्ट्रपति आइसनहावर, फ्रांस के राष्ट्रपति दगाल, ब्रिटिश प्रधान मन्त्री मैकमिलन, पश्चिमी जर्मनी के चांसलर कोनार्ड आडेनौर से मिले जहाँ अन्य समस्याओं के साथ शिखर-सम्मेलन बुलाने की सम्भावना पर भी विचार किया गया। सोवियत संघ से वार्त्ता करने के बाद यह तय हुआ कि ४ मई, १९६० को पेरिस में चार बड़े राष्ट्रों—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ—के शासनाध्यक्षों का शिखर-सम्मेलन हो। उस दिन शिखर-सम्मेलन तो प्रारम्भ हुआ लेकिन इसके कुछ दिन पूर्व यू २ विमान-कांड घटित हो चुका था। इस विमान-कांड ने शिखर-सम्मेलन के भाग्य का ही फैसला कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव फिर बढ़ गया, शीत-युद्ध में पुनः प्रखरता आयी। कैम्प डेविड की भावना लुप्त होने लगी और संसार का भाग्य पुनः अनिश्चित हो गया।

आर्थिक सहायता की नीति—युद्ध के बाद ट्रूमैन-सिद्धान्त और मार्शल-योजना के अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका युद्ध-ध्वंश देशों के पुनर्निमाण में पर्याप्त सहायता कर रहा था। कुछ दिनों के बाद उसने अविकसित राज्यों के विकास के लिए भी आर्थिक सहायता देनी शुरू कर दी। अमेरिका की यह सहायता केवल उसके मित्र राज्यों तक ही सीमित नहीं रही, वरन् इसमें वे तटस्थ देश भी शामिल किये गये थे जो बहुत बातों पर अमेरिका का विरोध करते थे। एक तरफ जहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका इस कार्य पर करोड़ों डालर खर्च कर रहा था, वहाँ उसका प्रतिद्वन्द्वी सोवियत संघ स्टालिन के नेतृत्व में लौह-आवरण की नीति का अनुसरण कर रहा था। सोवियत संघ के नये नेताओं ने इस नीति का परित्याग कर दिया और दूसरे देशों में साम्यवाद के प्रसार के लिए अमेरिका का अनुसरण करते हुए आर्थिक सहायता की नीति ग्रहण की। इस नीति के अन्तर्गत उसने एशिया में अनेक अविकसित देशों की सहायता की है। भारत में सोवियत सहायता से भिलाई में लोहे का कारखाना तथा अन्य भारी मशीनों के कारखाने खोले गये। दवा बनाने के कारखाने भी सोवियत सहयोग से खोले गये। सोवियत वैज्ञानिक भारत में तेल के अनुसंधान के कार्य में लगे हुए हैं। इसी तरह १९५६ में बर्मा को रूस ने तीन करोड़ रूबल एक प्राविधिक संस्था, एक चिकित्सालय, एक होटल तथा एक स्टेडियम बनाने के लिए दिये। अन्य देश जिनको बहुत बड़ी मात्रा में सोवियत आर्थिक सहायता मिली है या मिल रही है वे हैं मिस्र, इण्डोनीशिया, अफगानिस्तान, नेपाल आदि। सोवियत सहायता और अमरीकी सहायता में एक बहुत बड़ा अन्तर है। अमरीकी सहायता में किसी-न-किसी तरह की शर्त्त अवश्य लगी रहती है। उदाहरणार्थ, १९६३ में जब लंका की सरकार ने कुछ उद्योगों का, जिसमें अमरीकी पूँजी भी सम्मिलित थी, राष्ट्रीयकरण कर दिया तो अमरीकी

सरकार ने लंका को सहायता देना बन्द कर दिया। लेकिन सोवियत संघ बिना किसी शर्त के सहायता प्रदान करता रहा। आर्थिक क्षेत्र में सोवियत संघ की इस नीति के कारण पश्चिम के पूँजीवादी देशों में काफी घबड़ाहट उत्पन्न हो गयी है। जैसा कि वाल्टर लिप्मैन ने लिखा है ''पहले सोवियत रूस ने परमाणविक आयुद्धों पर पश्चिम के एकाधिकार को भंग किया; अब वह अविकसित देशों का आर्थिक नेतृत्व ग्रहण करके पश्चिम के आर्थिक एकाधिकार को तोड़ने लगा है।''

स्टालिन के लौह आवरण को तोड़ने के लिए ख्रुश्चेव-काल में एक और काम हुआ है। विदेशियों के रूस भ्रमण पर पहले जो कठोर प्रतिबन्ध था, उसमें काफी ढिलाई कर दी गयी। मास्को में एक पैट्रिक लुमुम्बा विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी है जहाँ संसार भर के कुछ चुने हुए प्रतिभाशाली विद्यार्थी सोवियत संघ के खर्च पर अध्ययन करने के लिए बुलाये जाते हैं।

सोवियत संघ और जर्मनी :—हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप का औचित्य रहा हो या नहीं, लेकिन इसने शीत-युद्ध में एक नया अध्याय प्रारम्भ कर दिया। इस कारण जर्मनी की राजनीति में एक नयी सरगर्मी आयी। १९४८ में बर्लिन की नाकेबन्दी के बाद जर्मनी की समस्या को लेकर १९५८ के ग्रीष्म तक कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं घटी। लेकिन उस वर्ष नवम्बर में सोवियत प्रधान मन्त्री खुश्चेव ने जर्मनी के सम्बन्ध में एक सनसनीखेज की घोषणा कर दी। उसने कहा कि सोवियत संघ पूर्वी जर्मनी से शान्ति-समझौता करके पूर्वी बर्लिन का शासन उसी को हस्तान्तरित करने का निश्चय कर चुका है। उसने पश्चिमी राज्यों को चुनौती दी कि मई १९५९ तक वे जर्मनी के सम्बन्ध में कोई सर्वमान्य निर्णय पर पहुँच जायँ, अन्यथा सोवियत संघ पूर्वी जर्मनी के साथ अकेले ही सन्धि कर लेगा। यह घोषणा सुनकर पश्चिमी जगत् में खलबली मच गयी। पश्चिमी राष्ट्र खुश्चेव के प्रस्ताव को किसी तरह मानने को तैयार नहीं थे। अमेरिका और उसके सहयोगियों के सामने दो मार्ग थे : या तो वे सोवियत संघ को, जो वह करना चाहता है, करने दे, अन्यथा ताकत का प्रयोग कर उसका विरोध करे, जिसका अर्थ होता तृतीय विश्व-युद्ध। यह स्वाभाविक है कि दोनों में से कोई मार्ग उन्हें मान्य नहीं होता। युद्ध उस दशा में किया जा सकता था, जब शत्रु कमजोर प्रतीत हो। पर, अब स्थिति ऐसी नहीं रह गयी थी। इस पर भी तत्कालीन अमरीकी विदेश-सचिव सोवियत संघ के साथ बर्लिन के प्रश्न पर लोहा लेने को तैयार था। लेकिन अमेरिका के यूरोपीय साथी यह जोखिम उठाने के लिए कतई तैयार नहीं थे। वे कूटनीतिक वार्ता द्वारा जर्मन-समस्या का कोई समाधान ढूंढ़ने के पक्ष में थे। स्थिति की गम्भीरता का अनुभव करके ब्रिटिश प्रधान मन्त्री मैकमिलन फरवरी, १९५९ में दौड़े दौड़े मास्को गये और खुश्चेव को मई तक के अन्तिमेत्थम को अनिश्चित काल तक के लिए बढ़ा लेने पर राजी कर लिया। अमरीकी क्षेत्रों में मैकमिलन की इस मास्को यात्रा की तुलना चेम्बरलेन की म्युनिख यात्रा से की गयी। लेकिन मैकमिलन को पूर्ण विश्वास था कि कूटनीतिक वार्ता के द्वारा जर्मन-समस्या का समाधान हो सकता है। मास्को के बाद वे वाशिंगटन गये और राष्ट्रपति आइसनहावर से मुलाकात करके बड़े राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों के एक सम्मेलन के लिए उन्हें राजी करा लिया। इसी बीच अमेरीकी विदेश सचिव जॉन फास्टर डलेस की मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु के परिणामस्वरूप अमरीकी विदेश नीति में कुछ परिवर्तन

हुआ और अमेरिका वार्ता के लिए तैयार हो गया। जर्मनी की समस्या पर विचार करने के लिए मई, १९५९ में ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका और सोवियत संघ के विदेश-मन्त्रियों का एक सम्मेलन जेनेवा में शुरू हुआ।

विदेश मंत्रियों का जेनेवा-सम्मेलन :—इस सम्मेलन के आरम्भ में पश्चिमी देशों ने संयुक्त रूप से जर्मनी के एकीकरण के लिए कुछ प्रस्ताव रखे। ग्रोमिको ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और ९ जून को उसमें अपना अलग प्रस्ताव पेश किया जिसमें तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था। ग्रोमिको ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यदि पश्चिमी राष्ट्र इन सिद्धान्तों के आधार पर दो वर्ष के भीतर कोई समझौता नहीं कर सके तो रूस पूर्वी जर्मनी के साथ अलग से सन्धि कर लेगा। पश्चिमी राष्ट्रों ने ग्रोमिको के इस प्रस्ताव को अल्तिमेत्थम की संज्ञा दी और अमेरिका ने इसे पूर्णतया अस्वीकार्य बताया। इस प्रकार जेनेवा-सम्मेलन में गतिरोध उत्पन्न हो गया। जर्मनी के प्रश्न पर सोवियत संघ और पश्चिमी गुट में जो मतभेद हैं वे मुख्यतः इन दोनों बातों पर हैं : (१) रूस का पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी को समानता के स्तर पर रखता है और इसी आधार पर बात चलाना चाहता है। पश्चिमी राज्य इस समानता को स्वीकार नहीं करते। वे पूर्वी जर्मनी को मान्यता देने के लिए तैयार नहीं हैं। (२) सोवियत संघ पश्चिमी बर्लिन को एक निश्चित अवधि में अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के आधिपत्य से मुक्त करा लेना चाहता है। किन्तु पश्चिमी देश इसे खाली करने को तैयार नहीं हैं और इसमें आने-जाने के सभी मार्ग खुले रखने की गारन्टी चाहते हैं। इन मतभेदों के कारण जेनेवा विदेश मन्त्री-सम्मेलन में जर्मनी की समस्या का कोई समाधान नहीं हो सका। पर यह तय हुआ कि मई, १९६० में होने वाले शिखर-सम्मेलन में इस पर विचार किया जाय। लेकिन यू-२ घटना के कारण उस शिखर-सम्मेलन की भ्रूण हत्या हो गयी और जर्मनी की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही।

शिखर-सम्मेलन के बाद—शिखर-सम्मेलन के भंग होते ही खुश्चेव ने कहा कि रूस पूर्वी जर्मनी से पृथक् सन्धि कर लेगा। लेकिन १९ मई, १९६० को पूर्वी बर्लिन में बोलते हुए उसने वादा किया कि जर्मनी के सम्बन्ध में वह ऐसी कोई कार्रवाई नहीं करेगा जिससे शान्ति भंग होने का खतरा उत्पन्न हो जाय। उसने कहा : "हम सन्धि वार्ता की प्रतीक्षा करेंगे। यदि अगला राष्ट्रपति (संयुक्त राज्य अमेरिका का) हमारे साथ सन्धि चर्चा नहीं करेगा तो हम उसके बाद चुने जाने वाले राष्ट्रपति की प्रतीक्षा करेंगे।......जर्मनी से सम्बन्धित सन्धि नये शिखर-सम्मेलन के बाद होगी और सोवियत संघ इस अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बिगाड़ने का कोई कार्य नहीं करेगा।"

वियना सम्मेलन के बाद—जून १९६१ में राष्ट्रपति कैनेडी वियना गये और वहाँ ३ से ५ जून तक सोवियत प्रधान मन्त्री खुश्चेव से वार्तालाप किया। खुश्चेव ने उन्हें जर्मनी और बर्लिन के सम्बन्ध में एक स्मृति पत्र दिया। पश्चिम और पूर्व जर्मनी की स्वतन्त्र सत्ता की स्वीकृति, जर्मनी के साथ सन्धि और पश्चिम बर्लिन को निरस्त्र स्वाधीन नगर के रूप में परिणत करना यही स्मृति-पत्र का प्रस्ताव था। खुश्चेव ने एक बार फिर धमकी दी कि एक निश्चित अवधि के भीतर ये सारे कार्य सम्पन्न हो जाने चाहिए। इस कारण एक बार फिर से जर्मनी तथा बर्लिन की समस्या को लेकर यूरोप की राजनीति जटिल हो गयी।

सरकार ने लंका को सहायता देना बन्द कर दिया। लेकिन सोवियत संघ बिना किसी शर्त्त की सहायता प्रदान करता रहा। आर्थिक क्षेत्र में सोवियत संघ की इस नीति के कारण पश्चिम के पूँजीवादी देशों में काफी घबड़ाहट उत्पन्न हो गयी है। जैसा कि वाल्टर लिप्मैन ने लिखा है: "पहले सोवियत रूस ने परमाणविक आयुद्धों पर पश्चिम के एकाधिकार को भंग किया; अब वह अविकसित देशों का आर्थिक नेतृत्व ग्रहण करके पश्चिम के आर्थिक एकाधिकार को तोड़ने लगा है।"

स्टालिन के लौह आवरण को तोड़ने के लिए ख्रुश्चेव-काल में एक और काम हुआ है। विदेशियों के रूस भ्रमण पर पहले जो कठोर प्रतिबन्ध था, उसमें काफी ढिलाई कर दी गयी। मास्को में एक पैट्रिक लुमुम्बा विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी है जहाँ संसार भर के कुछ चुने हुए प्रतिभाशाली विद्यार्थी सोवियत संघ के खर्च पर अध्ययन करने के लिए बुलाये जाते हैं।

सोवियत संघ और जर्मनी :—हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप का औचित्य रहा हो या नहीं, लेकिन इसने शीत-युद्ध में एक नया अध्याय प्रारम्भ कर दिया। इस कारण जर्मनी की राजनीति में एक नयी सरगर्मी आयी। १९४८ में बर्लिन की नाकेबन्दी के बाद जर्मनी की समस्या को लेकर १९५८ के ग्रीष्म तक कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं घटी। लेकिन उस वर्ष नवम्बर में सोवियत प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव ने जर्मनी के सम्बन्ध में एक सनसनीखेज की घोषणा कर दी। उसने कहा कि सोवियत संघ पूर्वी जर्मनी से शान्ति-समझौता करके पूर्वी बर्लिन का शासन उसी को हस्तान्तरित करने का निश्चय कर चुका है। उसने पश्चिमी राज्यों को चुनौती दी कि मई १९५९ तक वे जर्मनी के सम्बन्ध में कोई सर्वमान्य निर्णय पर पहुँच जायँ, अन्यथा सोवियत संघ पूर्वी जर्मनी के साथ अकेले ही सन्धि कर लेगा। यह घोषणा सुनकर पश्चिमी जगत् में खलबली मच गयी। पश्चिमी राष्ट्र ख्रुश्चेव के प्रस्ताव को किसी तरह मानने को तैयार नहीं थे। अमेरिका और उसके सहयोगियों के सामने दो मार्ग थे: या तो वे सोवियत संघ को, जो वह करना चाहता है, करने दे, अन्यथा ताकत का प्रयोग कर उसका विरोध करे, जिसका अर्थ होता तृतीय विश्व-युद्ध। यह स्वाभाविक है कि दोनों में से कोई मार्ग उन्हें मान्य नहीं होता। युद्ध उस दशा में किया जा सकता था, जब शत्रु कमजोर प्रतीत हो। पर, अब स्थिति ऐसी नहीं रह गयी थी। इस पर भी तत्कालीन अमरीकी विदेश-सचिव सोवियत संघ के साथ बर्लिन के प्रश्न पर लोहा लेने को तैयार था। लेकिन अमेरिका के यूरोपीय साथी यह जोखिम उठाने के लिए कतई तैयार नहीं थे। वे कूटनीतिक वार्ता द्वारा जर्मन-समस्या का कोई समाधान ढूँढ़ने के पक्ष में थे। स्थिति की गम्भीरता का अनुभव करके ब्रिटिश प्रधान मन्त्री मैकमिलन फरवरी, १९५९ में दौडे दौड़े मास्को गये और ख्रुश्चेव को मई तक के अन्तिमेत्थम को अनिश्चित काल तक के लिए बढ़ा लेने पर राजी कर लिया। अमरीकी क्षेत्रों में मैकमिलन की इस मास्को यात्रा की तुलना चेम्बरलेन की म्यूनिख यात्रा से की गयी। लेकिन मैकमिलन को पूर्ण विश्वास था कि कूटनीतिक वार्ता के द्वारा जर्मन-समस्या का समाधान हो सकता है। मास्को के बाद वे वाशिंगटन गये और राष्ट्रपति आइसनहावर से मुलाकात करके बड़े राष्ट्रों के विदेश-मन्त्रियों के एक सम्मेलन के लिए उन्हें राजी करा लिया। इसी बीच अमेरीकी विदेश सचिव जॉन फास्टर डलेस की मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु के परिणामस्वरूप अमरीकी विदेश नीति में कुछ परिवर्तन

हुआ और अमेरिका वार्ता के लिए तैयार हो गया। जर्मनी की समस्या पर विचार करने के लिए मई, १९५९ में ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका और सोवियत संघ के विदेश-मन्त्रियों का एक सम्मेलन जेनेवा में शुरू हुआ।

विदेश मंत्रियों का जेनेवा-सम्मेलन :—इस सम्मेलन के आरम्भ में पश्चिमी देशों ने संयुक्त रूप से जर्मनी के एकीकरण के लिए कुछ प्रस्ताव रखे। ग्रोमिको ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और ९ जून को उसमें अपना अलग प्रस्ताव पेश किया जिसमें तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था। ग्रोमिको ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यदि पश्चिमी राष्ट्र इन सिद्धान्तों के आधार पर दो वर्ष के भीतर कोई समझौता नही कर सके तो रूस पूर्वी जर्मनी के साथ अलग से सन्धि कर लेगा। पश्चिमी राष्ट्रों ने ग्रोमिको के इस प्रस्ताव को अल्तिमेटम की संज्ञा दी और अमेरिका ने इसे पूर्णतया अस्वीकार्य बताया। इस प्रकार जेनेवा-सम्मेलन में गतिरोध उत्पन्न हो गया। जर्मनी के प्रश्न पर सोवियत संघ और पश्चिमी गुट में जो मतभेद हैं वे मुख्यतः इन दोनो बातो पर हैं : (१) रूस का पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी को समानता के स्तर पर रखता है और इसी आधार पर बात चलाना चाहता है। पश्चिमी राज्य इस समानता को स्वीकार नहीं करते। वे पूर्वी जर्मनी को मान्यता देने के लिए तैयार नहीं हैं। (२) सोवियत संघ पश्चिमी बर्लिन को एक निश्चित अवधि में अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के आधिपत्य से मुक्त करा लेना चाहता है। किन्तु पश्चिमी देश इसे खाली करने को तैयार नही हैं और इसमें आने-जाने के सभी मार्ग खुले रखने की गारन्टी चाहते हैं। इन मतभेदों के कारण जेनेवा विदेश मन्त्री-सम्मेलन में जर्मनी की समस्या का कोई समाधान नहीं हो सका। पर यह तय हुआ कि मई, १९६० में होने वाले शिखर-सम्मेलन में इस पर विचार किया जाय। लेकिन यू-२ घटना के कारण उस शिखर-सम्मेलन की भ्रूण हत्या हो गयी और जर्मनी की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही।

शिखर-सम्मेलन के बाद—शिखर-सम्मेलन के भंग होते ही खुश्चेव ने कहा कि रूस पूर्वी जर्मनी से पृथक् सन्धि कर लेगा। लेकिन १९ मई, १९६० को पूर्वी बर्लिन में बोलते हुए उसने वादा किया कि जर्मनी के सम्बन्ध में वह ऐसी कोई कार्रवाई नहीं करेगा जिससे शान्ति भंग होने का खतरा उत्पन्न हो जाय। उसने कहा : "हम सन्धि वार्ता की प्रतीक्षा करेंगे। यदि अगला राष्ट्रपति (संयुक्त राज्य अमेरिका का) हमारे साथ सन्धि चर्चा नही करेगा तो हम उसके बाद चुने जाने वाले राष्ट्रपति की प्रतीक्षा करेंगे।......जर्मनी से सम्बन्धित सन्धि नये शिखर-सम्मेलन के बाद होगी और सोवियत संघ इस अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बिगाड़ने का कोई कार्य नही करेगा।"

वियना सम्मेलन के बाद—जून १९६१ में राष्ट्रपति कैनेडी वियना गये और वहाँ ३ से ५ जून तक सोवियत प्रधान मन्त्री खुश्चेव से वार्तालाप किया। खुश्चेव ने उन्हें जर्मनी और बर्लिन के सम्बन्ध में एक स्मृति पत्र दिया। पश्चिम और पूर्व जर्मनी की स्वतन्त्र सत्ता की स्वीकृति, जर्मनी के साथ सन्धि और पश्चिम बर्लिन को निरस्त्र स्वाधीन नगर के रूप में परिणत करना यही स्मृति-पत्र का प्रस्ताव था। खुश्चेव ने एक बार फिर धमकी दी कि एक निश्चित अवधि के भीतर ये सारे कार्य सम्पन्न हो जाने चाहिए। इस कारण एक बार फिर से जर्मनी तथा बर्लिन की समस्या को लेकर यूरोप की राजनीति जटिल हो गयी।

वर्लिन की दीवार—जब युद्ध में जर्मनी हार रहा था, उसी समय जर्मनी के सम्बन्ध में लन्दन का जो समझौता हुआ था उसके द्वारा यह निश्चय किया गया था कि वर्लिन यद्यपि विभाजित रहेगा लेकिन उसके सभी क्षेत्रों के बीच आवागमन के सभी साधन खुले रहेंगे और उन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाया जायगा। लेकिन इसी बीच जब शीत-युद्ध शुरू हुआ और जर्मनी समस्या को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न होने लगे तो पश्चिमी देशों ने पश्चिमी वर्लिन में अपना जासूसी अड्डा कायम कर लिया। यही से ये जासूस पूर्वी वर्लिन में अपना कार्य किया करते थे। इसके अतिरिक्त पूर्वी वर्लिन के निवासी कुछ भड़काने पर और कुछ पश्चिमी वर्लिन में अच्छी नौकरी प्राप्त करने की लालसा से प्रेरित होकर पूर्वी वर्लिन को छोड़कर भागने लगे। ऐसे लोगो को पश्चिमी राज्यों से वैसे शरणार्थियों की संज्ञा दी जो "सोवियत गुलामी से" मुक्ति पाने के लिए पूर्वी वर्लिन से भाग रहे थे। ऐसे लोगो को पूर्वी वर्लिन छोड़ने के लिए काफी प्रोत्साहन भी दिया जाता था। जब पश्चिमी राष्ट्रों के गैर-कानूनी कार्य अपनी सीमा पार कर गये तो १७ अगस्त को सोवियत संघ ने एक महत्त्वपूर्ण निर्णय किया जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव फिर बढ़ गया। पूर्वी और पश्चिमी वर्लिन के बीच विभाजक-रेखा पर पूर्वी जर्मनी की सरकार ने एक मजबूत दीवार खड़ी कर दी ताकि दोनो वर्लिन में किसी प्रकार का सम्पर्क न रहे और विना सरकारी आज्ञा प्राप्त किये इधर के लोग न उधर जायँ और न उधर से लोग इधर आवे। सोवियत संघ की प्रेरणा से पूर्वी जर्मनी सरकार के इस कार्य से भी दोनों गुटों के वीच काफी उत्तेजना फैली।

जुलाई, १९६२ में वर्लिन की दीवार को लेकर स्थिति बहुत ही तनावपूर्ण हो गयी। पूर्वी बर्लिन के कुछ नागरिक अवैध रूप से दीवार फाँदकर पश्चिम बर्लिन पहुँचने के प्रयास करते समय कम्युनिस्ट प्रहरियो द्वारा या तो पकड़ लिये गये या गोली से मार दिये गये। इस घटना से भी सोवियत संघ और पश्चिमी देशों के बीच खूब तनाव बढ़ा, पर कुछ ही दिनो में यह तनाव कम हो गया।

वर्लिन को लेकर मार्च १९६९ में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव की सम्भावना फिर बढ़ गयी जब पश्चिम जर्मनी की सरकार ने पश्चिम वर्लिन में राष्ट्रपति के चुनाव कराने का निश्चय किया। पूर्वी जर्मनी की सरकार ने इसका विरोध किया और यह चेतावनी दी कि निर्वाचन में भाग लेनेवालो को पूर्वी जर्मनी के क्षेत्र से गुजर कर पश्चिम जर्मनी नही जाने दिया जायगा। इस पर पश्चिमी जर्मनी ने वायुमार्ग के जरिये निर्वाचक मंडल के सदस्यो को पश्चिम बर्लिन पहुँचाने का निश्चय किया।

इस वात को लेकर पूर्वी और पश्चिम जर्मनी में तनाव में काफी वृद्धि हुई। सोवियत संघ ने पूर्वी जर्मन के दावे का समर्थन किया। सोवियत सघ ने यह धमकी दी कि जो जहाज वर्लिन से होकर उड़ेंगे-उसके यात्रियो और जहाजो की सुरक्षा की गारटी सोवियत संघ नहीं देगा। इस पर पश्चिम जर्मनी के चान्सलर कीसिंगर ने यह कहा कि वर्लिन से उड़ान भरनेवाले हर जहाज और हर यात्री की सुरक्षा का दायित्व बतौर अन्तर्राष्ट्रीय अनुबन्ध के रूप पर है।

५ मार्च, १९६९ को वर्लिन में चुनाव का कार्य सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर सोवियत संघ ने अत्यन्त संयम से काम लिया। चुनाव को रोकने के लिए उसने कोई उत्तेजनात्मक कार्रवाई नहीं की। इसका एक कारण था रूस-चीन सीमान्त पर इन दोनों देशों के बीच एक

मामूली सैनिक झड़प। इसके अतिरिक्त सोवियत संघ शीत-युद्ध को पुनः उभाड़ना नहीं चाहता था। इन सब कारणों से बर्लिन का संकट जो पुनः उभर रहा था, धीरे-धीरे शान्त हो गया।

क्यूबा का संकट और सोवियत संघ १९६२ का क्यूबा संकट सोवियत विदेश-नीति की एक बड़ी कठिन परीक्षा थी। १९५९ में क्यूबा में फिडेल कास्ट्रो के नेतृत्व में जिस क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना हुई उनका स्पष्ट झुकाव सोवियत संघ की ओर था। इस सरकार को मिटाने के लिए अमरीकी सरकार शुरू से ही कटिबद्ध थी। इसलिए सोवियत संघ ने इसको आर्थिक और सैनिक सहायता देना शुरू किया। क्यूबा के प्रति सोवियत नीति के सम्बन्ध में कई बातें कही गयी हैं। तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री ह्यूम का मत था कि वस्तुतः ख्रुश्चेव का उद्देश्य संयुक्त राज्य अमेरिका पर आक्रमण का न होकर अपनी शक्ति को बढ़ाना और उसका प्रदर्शन करना मात्र था ताकि सोवियत रूस अमेरिका से जर्मन, बर्लिन आदि के प्रश्नों पर शक्ति की स्थिति (Position of Strength) से बात कर सकता। रूस को यह विश्वास था कि अमेरिका को क्यूबा के सोवियत अड्डों से घेर कर और अमरीकी नगरों को अपने प्रक्षेपणास्त्रों का सुगम लक्ष्य बनाने के बाद वह अमेरिका में मनमानी रियायतें प्राप्त कर सकेगा। यह वस्तुतः संयुक्त राज्य अमेरिका की कठोर अग्निपरीक्षा थी। पर, रूस की यह योजना दो कारणों से विफल हुई : प्रथम तो योजनापूर्ण होने से पहले ही उसका भेद खुल गया जिससे रूस तथा अमेरिका के शक्ति-सन्तुलन में कोई अन्तर न आ सका, और दूसरे अमरीकी राष्ट्रपति ने दृढ़ संकल्प तथा संयम का प्रदर्शन किया।

मास्को ने क्यूबा संकट को चाहे किसी कारण से उत्पन्न किये हो, किन्तु यह निश्चित है कि इस संकट की समाप्ति कैनेडी की दृढ़ता तथा ख्रुश्चेव के विवेक दोनों से हुई।

सोवियत संघ और चीन

प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के कुछ ही दिनों बाद चीन में साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों के बीच गृह-युद्ध छिड़ गया। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद इस गृह-युद्ध का स्वरूप भयानक हो गया। सोवियत संघ के लिए बिल्कुल स्वाभाविक था कि वह उस गृह-युद्ध की गतिविधि को अच्छी तरह देखे। लेकिन चीन के साम्यवादियों को सोवियत संघ से कोई सहायता नहीं मिली। जहाँ एक ओर संयुक्त राज्य अमेरिका च्यांग काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार की सहायता जी-जान से कर रहा था वहाँ सोवियत संघ तटस्थ राज्य की तरह खड़ा होकर इस गृह-युद्ध की प्रगति को देख रहा था। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण था। स्टालिन चीन के आन्दोलन को साम्यवादी आन्दोलन नहीं मानता था। १ जुलाई, १९४९ को माओत्सेतुंग ने "जनता के लोकतन्त्रीय अधिनायकतन्त्र" के विषय पर लिखे अपने सुप्रसिद्ध लेख में बताया कि चीन का नवीन लोकतन्त्र चार वर्गों—मजदूर, किसान, लघु बुर्जुआ तथा राष्ट्रीय बुर्जुआ—का सम्मिलित संगठन होगा। इसका नेतृत्व साम्यवादी दल द्वारा किसान और मजदूर करेंगे। एक साम्यवादी व्यवस्था का स्वरूप ऐसा भी हो सकता है इसको समझने में स्टालिन लाचार था। पर चीन में साम्यवादी आन्दोलन की जड़ इतनी मजबूत हो गयी थी कि सोवियत सहायता के अभाव में भी कम्युनिस्टों को विजय मिली, च्यांग-काई-शेक पराजित कर दिया गया और १ अक्टूबर, १९४९ को पेकिंग में चीन के जनवादी गणराज्य की घोषणा हो गयी।

पारस्परिक सुरक्षा समझौता—जब चीन में कम्युनिस्ट राज्य कायम हो गया तो सोवियत संघ के लिए बिल्कुल स्वाभाविक था कि साम्यवादी परिवार के इस नये सदस्य का वह हार्दिक स्वागत करे। चीन के इस नये गणराज्य पर भयंकर खतरे थे। संयुक्त राज्य अमेरिका इसका अस्तित्व मिटाने के लिए उपयुक्त अवसर की ताक में लगा रहता था। अतएव अमरीकी आक्रमण से चीन की रक्षा के लिए सोवियत संघ ने फरवरी १९५० में उसके साथ पारस्परिक सुरक्षा की सन्धि की। इस सन्धि के द्वारा दोनों देशों ने वादा किया कि जापान द्वारा अथवा उससे सम्बद्ध किसी अन्य राज्य द्वारा आक्रमण होने की स्थिति में वे एक दूसरे की सहायता करेंगे। यह सन्धि तीस वर्ष की अवधि के लिए की गयी है। इसी सन्धि के द्वारा सोवियत संघ ने चीन को चांगहुन रेलवे और दाइरन तथा पोर्ट आर्थर के बन्दरगाह लौटा दिये। इसके अतिरिक्त, इसी सन्धि के अनुसार सोवियत संघ ने चीन को तीन अरब डालर का कर्ज देना भी स्वीकार किया। इसके बाद भी कई अन्य समझौते हुए और चीन को सोवियत संघ द्वारा कई तरह की सहायता मिलती रही।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन की मान्यता का प्रश्न—चीन में नये गणराज्य की स्थापना के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसके प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठा। अमेरिका ने चीन के साम्यवादी गणराज्य को मान्यता नहीं दी और वह च्यांग-काई-शेक की फारमोसा स्थित सरकार को ही चीन का वास्तविक सरकार मानता रहा। इसी कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ में जनवादी चीन को उसका न्यायपूर्ण स्थान नहीं मिल सका। १९४९ से ही सोवियत संघ इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्रसंघ में बार-बार उठाता रहा। वह बराबर इस बात की मांग करता रहा है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ और उसकी सुरक्षा-परिषद् में चीन की कम्युनिस्ट सरकार को प्रतिनिधित्व दिया जाय। शुरू में जब सोवियत संघ को इसमें सफलता नहीं मिली तो उसने स्वयं संयुक्त राष्ट्रसंघ का बहिष्कार कर दिया। लेकिन जब कोरिया में लड़ाई शुरू हुई और सुरक्षा-परिषद् में परिस्थिति बदलने लगी तो रूस पुनः संयुक्त राष्ट्रसंघ में वापस चला आया। उसके बाद से वह बराबर चीन के प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठाता रहा है।

चीन और रूस का पहला मतभेद—१९५६ के हंगरी-कांड को लेकर सोवियत संघ और चीन में पहले-पहल मतभेद हुआ। फरवरी, १९५७ में माओत्से तुंग ने हंगरी में सोवियत कार्रवाई की बड़ी कड़ी निन्दा की। इसी अवसर पर माओ का प्रसिद्ध "सैकड़ों फूलों को एक साथ खिलने दो" वाला भाषण हुआ। दूसरे शब्दों में माओ ने राष्ट्रीय साम्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। साम्यवादी उद्यान में हरे रंग के फूल खिलने चाहिए, इसी में उसकी श्रीवृद्धि है। एक दूसरे दृष्टिकोण से यह शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन था। इस पृष्ठाधार में आज आश्चर्य होता है कि चीन अब "सैकड़ों फूलों के खिलने" और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में क्यों विश्वास नहीं करता।

चीन और रूस का सैद्धान्तिक झगड़ा—सोवियत संघ और जनवादी चीन में आजकल एक भयंकर सैद्धान्तिक झगड़ा चला रहा है और इसके मूल में शान्तिपूर्ण सहजीवन का सिद्धान्त है। स्टालिन के बाद शान्तिपूर्ण सहजीवन का सिद्धान्त सोवियत विदेश-नीति का एक प्रमुख तत्त्व बन गया है। शुरू में, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, चीन के साम्यवादी नेता भी इस सिद्धान्त में विश्वास करते थे और इसमें उनका विश्वास सोवियत संघ से अधिक गहरा था।

लेकिन विगत सात-आठ वर्षों से चीन के कम्युनिस्ट शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त को गलत मानने लगे हैं। उनका ख्याल है कि पूँजीवाद अब केवल "कागजी शेर" रह गया है जो अब अन्तिम साँसें ले रहा है। उसे केवल एक धक्का लगाने की देर है, उसका अन्त अवश्यम्भावी है। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करके नहीं, वरन् इसको खूब बढ़ाकर यह अन्तिम धक्का लगाया जा सकता है। इसके लिए चीन तृतीय विश्व-युद्ध की जोखिम लेने के लिए भी तैयार है। स्टालिन की तरह चीन राष्ट्रों की तटस्थता में भी विश्वास नहीं करता। चीन के कम्युनिस्टों के अनुसार संसार में केवल दो ही शक्तियाँ हैं—साम्यवादी और गैर-साम्यवादी। यही कारण है कि १९६२ के अक्टूबर में क्यूबा के प्रति सोवियत-संघ की बरती गयी नीति की निन्दा चीन में सार्वजनिक तौर से की गयी। चीन के दृष्टिकोण से सोवियत संघ ने क्यूबा में दबकर साम्यवादी आन्दोलन को गहरा धक्का लगाया है। फिर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को बढ़ाने के लिए ही चीन ने अक्टूबर १९६२ में भारत पर आक्रमण किया। सैद्धान्तिक और शांतिपूर्ण सहजीवन के सिद्धान्त के आधार पर सोवियत संघ ने चीन के कम्युनिस्ट नेताओं के इस दृष्टिकोण का विरोध किया। चीन में इसको शत्रुतापूर्ण कार्य माना गया। सोवियत रूस द्वारा भारत का समर्थन चीन के लिए एक आघात था और चीन के नेताओं ने अभी तक सोवियत संघ को इसके लिए क्षमा नहीं किया है। फलतः आज साम्यवादी दुनिया में गहरी फूट पैदा हो गयी है। सोवियत संघ और चीन का सम्बन्ध बहुत बिगड़ गया है। चीन को रूस से जो आर्थिक और प्राविधिक सहायता मिल रही थी उसको सोवियत सरकार ने बन्द कर दिया है। इसके अतिरिक्त भारत की तरह, सोवियत संघ के साथ भी चीन का सीमा-विवाद शुरू हो गया है।

जुलाई १९६३ का सम्मेलन—चीन और रूस के इस सैद्धान्तिक मतभेद को सुलझाने के लिए प्रयास भी किये गये हैं। मार्च १९६३ में ख्रुश्चेव ने माओत्से-तुंग को मास्को आकर इस मतभेद को वार्त्ता द्वारा तय करने का प्रस्ताव रखा। माओत्से-तुंग, जो अपने को साम्यवादी जगत् का सबसे वरिष्ठ नेता मानता है, ने मास्को जाने से इन्कार कर दिया। काफी विचार-विमर्श के बाद यह तय हुआ कि ५ जुलाई, १९६३ को मास्को में दोनो देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हो जिसमें इस मतभेद पर विवाद करके इसको सुलझाने का प्रयास किया जाय। इस सम्मेलन के शुरू होने के एक सप्ताह पूर्व सोवियत संघ की सरकार ने मास्को स्थित चीनी दूतावास के कुछ प्रमुख पदाधिकारियों को दो दिन के अन्दर सोवियत भूमि को छोड़ने का आदेश दिया। उन पर सोवियत विरोधी पर्चे बाँटने और कार्य करने का आरोप लगाया था। चीन की सरकार ने इसका घोर विरोध किया। ऐसी हालत में ५ जुलाई से शुरू होने वाले सम्मेलन के भाग्य का निर्णय हो गया। कटुता का वातावरण इतना व्याप्त गया था कि लगभग दस दिनों की वार्त्ताओं के बाद भी सम्मेलन किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा और साम्यवादी जगत् के दोनों देशों का सम्मेलन भंग हो गया।

सैद्धान्तिक मतभेद को सुलझाने वाले दोनों देशों के सम्मेलन की असफलता के बाद चीन और सोवियत संघ का पारस्परिक सम्बन्ध और भी खराब हो गया है। अभी फिलहाल दोनों देश एक दूसरे के विरुद्ध कड़ुवा प्रचार कर रहे हैं और यह अफवाह भी सुनने में आता रहता है कि वह दिन अब दूर नहीं जब सोवियत संघ और चीन का कूटनीतिक सम्बन्ध भी भंग हो जाय।

१६६६ तक घटी घटनाओं ने भी यह स्पष्ट कर दिया कि चीन और सोवियत संघ का विरोध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अब एक स्थायी तथ्य हो गया है। चीन ने जिस तरह अफ्रीकी एशियाई राष्ट्रों के सम्मेलन में रूस के भाग लेने का विरोध किया वह इस बात का सूचक था कि अब पेकिंग तथा मास्को निकट भविष्य में कभी एक दूसरे के समीप नहीं आ सकेंगे। मार्च, २३-२६, १६६४ को चौबीस एशियाई अफ्रिका देश का कोलम्बो में एक सम्मेलन हुआ जिसका उद्देश्य संसार के सभी एशियाई-अफ्रिकी देशों का सम्मेलन बुलाना था। सम्मेलन में यह तय किया गया कि अक्टूबर १९६४ में काहिरा में तटस्थ राज्यों का एक सम्मेलन हो। इस सम्मेलन में किन-किन देशों को बुलाया जाय। इस पर विचार करने के लिए जकार्ता में बीस राज्यों का सम्मेलन हुआ। भारत आदि देशों का विचार था कि सोवियत संघ को भी एक एशियाई राज्य माना जाय और उसे भी प्रस्तावित सम्मेलन में भाग लेने के लिए बुलाया जाय। लेकिन चीन ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उसका कहना था कि किसी भी दृष्टि से सोवियत संघ को एशिया में शामिल नहीं किया जा सकता। यद्यपि उसके कुछ भाग एशिया में है पर मूलतः वह एक यूरोपीय देश है। रूस के खिलाफ चीन का प्रबल विरोध हुआ और इसलिए यह निश्चय हो गया है कि प्रस्तावित सम्मेलन में सोवियत संघ को आमन्त्रित न किया जाय।

इसी समय चीन के रेडियो और समाचार-पत्र खुलेआम खुश्चेव पर व्यक्तिगत हमला करने लगे। खुश्चेव को अमेरिका का पिट्ठू कहा गया। सोवियत नेतृत्व पर और भी कई प्रत्यक्ष आक्षेप किये गये। रूस की ओर से भी ऐसा ही जवाब आया। लेकिन सोवियत संघ के जवाब की भाषा संयमित थी। किसी चीनी नेता का नाम लेकर चीन पर आक्षेप नही किये गये। १९६४ के मध्य में चीन की ओर से कई लेख प्रकाशित किये गये जिनमें सोवियत संघ के दोषों को गिनाया गया तथा यह बतलाने का यत्न किया गया कि सोवियत संघ साम्यवाद के मार्ग से दूर हट गया है और इसके लिए खुश्चेव के नेतृत्व को एकमात्र दोषी बतलाया गया। कुछ दिनों के बाद सोवियत समाचार-पत्रों में चीन के विरुद्ध कई आरोप प्रकाशित हुए।

खुश्चेव का पतन और चीन-रूस विवाद—१६ अक्टूबर, १६६४ को सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी ने खुश्चेव को प्रधान मन्त्री के पद से अपदस्थ कर दिया। चीन में खुश्चेव के इस पतन के उपलक्ष्य में खुशियाँ मनायी गयी। चीन के नेताओ में यह विश्वास पैदा हुआ कि अन्त में सोवियत संघ की पार्टी ने उनके सिद्धान्तो को स्वीकार कर लिया है और खुश्चेव के हटाने से दोनों देशों का पुराना मधुर सम्बन्ध फिर से स्थापित हो जायगा। लेकिन यह एक भ्रम सिद्ध हुआ। खुश्चेव के बाद कोसिजिन सोवियत संघ के प्रधान मन्त्री और ब्रेजनोव पार्टी के सेक्रेटरी नियुक्त हुए। नये नेतृत्व ने तुरत ही स्पष्ट कर दिया कि सोवियत संघ अपने सिद्धान्त पर डटा हुआ है और इस विषय पर पेकिंग से समझौता करने का कोई प्रश्न नही उठता। सोवियत पत्र 'प्रावदा' ने खुश्चेव के पतन के तुरत बाद चीन-विरोधी लेखों को प्रकाशित करना शुरू किया। इससे इस बात की पुष्टि हो गयी कि नये नेतृत्व ने नीति में किसी तरह का परिवर्त्तन नही किया है।

ब्रेजनोव द्वारा सार्वजनिक तौर पर यह घोषित किया जाना कि सोवियत संघ खुश्चेव द्वारा निर्धारित नीति को परित्याग करने को तैयार नही है, चीन के नेताओ को अप्रसन्न करने के

लिए पर्याप्त था। फिर ख्रुश्चेव के पतन से लाभ उठाने के लिए चीन के नेताओं ने एक प्रयास किया। रूसी बोल्शेविक क्रान्ति के ४७ वें वार्षिकोत्सव में भाग लेने के लिए प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई मास्को गये। अल्बेनिया, जो रूस-चीन विवाद में चीन का समर्थन करता है, को इस उत्सव में भाग लेने के लिए आमन्त्रित नही किया गया था। यह इस बात का संकेत था कि सोवियत संघ अपने स्थान से डिगने का इरादा नही रखता। फिर भी, चाऊ-एन-लाई ने इस अवसर से लाभ उठाने का यत्न किया। क्रेमलिन के भाषण में उसने सोवियत नेताओ से अपील की कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन की एकता के लिए प्रयास करना परम आवश्यक है, और सोवियत नेताओं को इस कार्य में चीन का साथ देना चाहिए। उसने साम्यवादी जगत् में फूट पैदा करने की जिम्मेवारी अमेरिका पर रखी और सोवियत नेताओ को साम्राज्यवादी चालो से सावधान रहने की चेतावनी दी। अपने जवाब में सोवियत नेताओं ने स्पष्ट कर दिया कि शान्ति-पूर्ण सह-जीवन के सिद्धान्त मे उनका अटूट विश्वास है और किसी भी हालत में वे इस सिद्धान्त का परित्याग नहीं करेंगे। इस हालत में समझौता के सारे प्रयास बेकार हो गये और चाऊ-एन-लाई को निराश होकर पेकिंग लौटना पड़ा।

इसके एक वर्ष के बाद ३१ अक्टूबर, १९६५ को जब सोवियत संघ क्रान्ति वार्षिकोत्सव मनाने जा रहा था, चीन ने बहुत बड़े पैमाने पर सोवियत संघ के खिलाफ प्रचार युद्ध शुरू कर कर दिया। पेकिंग पिपुल्स डेली में प्रकाशित एक लेख से सोवियत संघ के खिलाफ सभी आरोपों को बहुत कड़े शब्दो में दुहराया गया। दो सप्ताह पूर्व यही अल्बेनिया की कम्युनिस्ट पार्टी के पत्र में प्रकाशित हुआ था। लेख में कहा गया था कि वियतनाम को हड़पने के लिए अमेरिका और सोवियत संघ में एक गुप्त समझौता हुआ है और इसलिए सोवियत संघ वियतनाम में अमरीकी आक्रमण की उपेक्षा कर रहा है। इसमें सोवियत संघ की निर-स्त्रीकरण की नीति की कटु आलोचना की गयी थी और इसको एक ऐसा चाल बतलाया था जिसमें अमेरिका और रूस अन्य देशो को सैनिक दृष्टि से कमजोर बनाकर अपना प्रभुत्व कायम करना चाहते है।

सोवियत संघ और साम्यवादी चीन का सैद्धान्तिक मतभेद अब बहुत गहरा हो चुका है और इसके अन्त की कोई सम्भावना नही है। यह तभी खत्म हो सकता है कि दोनो में से कोई पक्ष अपने सिद्धान्त को एकदम छोड़ दे। इस मतभेद में समझौता करने का कोई सवाल नही रह गया है, क्योंकि समझौता के लिए दोनों पक्षो के सिद्धान्तो मे कुछ सामान्य बातो का होना आवश्यक है और इस तरह की कोई बात देखने को नही मिल रही है। मिलन कोवनर के शब्दो में "एक विशाल ज्वालामुखी की तरह विरोध और संघर्ष की चिनगारियाँ जो अबतक मित्रता एवं सद्भावना के आवरण से आच्छादित थीं; पूर्ण सक्रिय होकर चमक उठी हैं और उसके शान्त होने की सम्भावना निकट भविष्य में नहो दिखायी देती।"

रूस-चीन सीमा-विवाद

चीन और सोवियत संघ का यह सैद्धान्तिक मतभेद दिनोदिन उग्रतर रूप धारण करता जा रहा है। २ मार्च, १९६९ को पूर्वी एशिया में उसूरी नदी के टापू दमिस्क (जिसको चीनी चेनपाओ कहते हैं) को लेकर इन दो साम्यवादी देशों में सीधी सैनिक भिड़न्त हो गयी। दोनों पक्षों ने एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाया। चीन ने इस सैनिक झड़प के लिए रूस को और

रूस ने इसके लिए चीन को जिम्मेवार ठहराया। २ मार्च की झड़प की याद अभी बासी भी नहीं हो पायी थी कि १५ मार्च को दोनो पक्षों में उसी टापू को लेकर फिर एक झड़प हो गयी। रूस के प्रतिरक्षा मंत्री ग्रेचको जो उन दिनों पाकिस्तान की यात्रा पर थे, उसे स्थगित करके स्वदेश वापस लौट गये। दूसरी भिड़न्त के बाद भी फिर वही पहले जैसा आरोप-प्रत्यारोप शुरू हुआ। रूसी सूत्रों के अनुसार पहली झड़प में चीन के कोई तीन सौ सैनिक खेत रहे और रूसी पक्ष के इकतीस सैनिक मारे गये और चौदह घायल हुए। रूस का एक कर्नल भी चीनी गोलियों का शिकार हुआ। छोटी-से टापू पर कर्नल की उपस्थिति से राजनैतिक प्रेक्षक यह अनुमान लगाने लगे है कि रूस और चीन का सीमा-विवाद धीरे-धीरे युद्ध का रूप धारण करता जा रहा है। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि १९६० में दोनों देशों में जो सशस्त्र संघर्ष हुआ था वह हाल के संघर्ष से बड़ा था। फिर भी, भविष्य में समझौते की सम्भावना को दृष्टिगत रखते हुए किसी भी पक्ष ने उसका विवरण प्रकाशित नही किया था। लेकिन इस बार ऐसा नहीं हुआ जिससे स्थिति की गम्भीरता का स्पष्ट आभास मिलता है।

रूस और चीन के मध्य यह भिड़न्त अकेली इस निर्जन छोटे-से द्वीप के लिए नहीं है, वरन् यह मध्य एशिया और पूर्वी यूरोप के विस्तीर्ण भाग के लिए है। रूस और चीन की सामान्य सीमा पैंतालीस सौ मील लम्बी है। दोनो को इस सम्मिलित सीमा का अधिकतर भाग मध्य एशिया के ऊँचे पहाड़ों और मरूस्थल में से गुजरता है। रूस के क्षेत्र में कजाखस्तान, किरगिज

और उजबेक गणराज्य हैं तो चीन के इलाके में सिकियांग का प्रान्त है। पूर्वी एशिया में दोनों देशो की सीमाएँ आमूर और उसूटी नदियाँ निर्धारित करती हैं। दोनों देशों की वर्तमान सीमाएँ
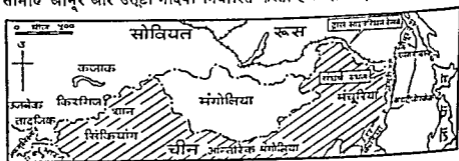
रूस-चीन सीमा-विवाद के संघर्ष स्थल

रूस के जारो और मंचू सम्राटों के मध्य हुई सन्धियों द्वारा निश्चित की गयी थीं जो १८५८ और १८६० में की गयी थीं। इन अपमान और आरोपित संधियों के फलस्वरूप चीन को पाँच लाख

वर्गमील का विस्तीर्ण क्षेत्रफल रूस को दे देने पड़े थे। चीन में कम्युनिस्ट शासन स्थापित होने के प्रारम्भिक वर्षों में चीन ने सम्भवतः विश्वास के आधार पर यह प्रश्न नहीं उठाया कि एक साम्यवादी देश दूसरे साम्यवादी देश के भू-भाग को स्वेच्छा से लौटा देगा। २७ सितम्बर, १९२० को लेनिन ने यह वादा भी किया था कि चीन में जैसे ही लोकप्रिय सरकार कायम होगी चीन के इन सारे भू-भागों को लौटा दिया जायगा।[1] लेकिन जब सोवियत सरकार ने इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया और लेनिन के वादे की उपेक्षा करती रही तो १९५७ में पहली बार पेकिंग ने उन्नीसवीं सदी में खोए हुए भू-भाग को लौटाने की मांग की। निकिता ख्रुश्चेव और कोसिजिन के रूस ने चीन के इन दावों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया कि वे पुरानी किताबों या पुरखों की हड्डियों के आधार पर किसी दावे को नहीं मानते! सोवियत संघ चीन के इस दावे को मानने के लिए तैयार नहीं है क्योंकि यह प्रशान्त महासागर की एक बड़ी शक्ति के रूप में रूस को चुनौती है और साथ ही साइबेरिया रेलवे तथा ब्लादीवोस्टक के सभी महत्त्वपूर्ण बन्दरगाहों के लिए खतरा आमन्त्रित करना है।

चीन की ओर से यह स्वीकार किया जाता है कि दोनों देशों के बीच सन्धियाँ हुई थीं जिनके अनुसार चीन को अपने विस्तृत भू-भाग से हाथ धोना पड़ा था। लेकिन उनका कहना है कि इन सन्धियों को ताकत से जबरदस्ती कमजोर चीनी मंचू शासकों पर लादा गया था। इसलिए उन्हें वैध स्वीकार नहीं किया जा सकता। चीन के शासक अपने नये नक्शों में रूस के विस्तीर्ण प्रदेश को "अधिकृत प्रदेश" के रूप में पृथक् दिखला रहे हैं। १९६० से सीमावर्ती प्रदेशों में यद्यपि कई बार मुठभेड़ हो चुकी है तथापि पिछले दिनों हुई दोनों सेनाओं की भिड़न्त सीधी लड़ाई से कम नहीं थी। पश्चिमी प्रेक्षकों ने दोनों ही पक्षों के विवरणों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है (और इस निष्कर्ष के लिए किसी अध्ययन की आवश्यकता नहीं थी) कि इस मुठभेड़ के लिए चीनी जिम्मेवार थे और इसके लिए उन्होंने अच्छी तैयारी की थी। "घटना क्रम और विश्व-राजनीति की वर्तमान स्थिति देखते हुए", टिप्पणी करते हुए "दिनमान" (२३ मार्च, १९६९) ने लिखा था, "यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि संघर्ष में पहले चीन ने की, भले ही वह धुआँधार प्रचार करके उसका उत्तरदायित्व रूसी नेताओं के मत्थे मढ़ने का प्रयत्न करे।"

सीमा संघर्ष के लिए वास्तविक जिम्मेवारी का निर्धारण कुछ कठिन कार्य अवश्य है। पर इस स्थल पर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि इस टक्कर का तात्कालिक लक्ष्य क्या था? चीनियों का कहना है कि मई १९६९ में मास्को में जो विश्व-कम्युनिस्ट सम्मेलन होनेवाला था, उसमें अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए रूसियों ने यह सब किया है। लेकिन इस सम्पूर्ण विवाद में एक बात निश्चित है कि इस सीमा प्रदेश में रूस का कोई दावा नहीं है; दावा स्वयं चीन का है। अतः रूस के अनुसार भड़कानेवाली कार्यवाही का प्रारम्भ चीन ने ही किया है। कहते हैं

1. "All the treaties concluded by the previous Russian Government with China are null and void, and it (Soviet Government) renounces all the seized Chinese territories and all Russian concession in China and return to China gratis and for ever everything the Tsarist government and the Russian bourgeoized seized rapaciously from her."—*Lenin, quoted in Liberation, vol. 2, No. 6.*, April 1969, p. 70.

कि सीमा-संघर्ष के बाद जल्दी ही चीनी कम्युनिस्ट दल का सम्मेलन होने वाला था। वहाँ राष्ट्रीय संकट की गम्भीरता दिखलाकर दल के सूत्रधार अपनी स्थिति मजबूत करना चाहते थे। यह भी कहा जाता है कि बर्लिन के संकट के क्षणों में रूस को नये मोर्चे पर उलझाने के लिए पूर्वी एशिया में संकट का नया विस्फोट कर दिया। ५ मार्च को पश्चिमी बर्लिन में पश्चिमी जर्मनी के राष्ट्रपति का चुनाव होनेवाला था। सोवियत संघ इसका बड़ा प्रबल विरोध कर रहा था और एक दूसरे बर्लिन संकट की सम्भावना पैदा हो गयी थी। चुनाव के ठीक तीन दिन पहले रूस-चीन सीमा पर संघर्ष शुरू हो गया। इससे बर्लिन के मामले में रूस का पक्ष कमजोर हुआ और सीमा संकट को देखते हुए उस समय रूस ने पश्चिमी गुट से विवाद बढ़ाना उचित नहीं समझा। अतएव सोवियत संघ के ध्यान को विभाजित करने के लिए चीन ने सीमा संघर्ष पैदा किया।

चीन के उद्देश्य के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि वह सोवियत संघ से झड़प करके अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता था। जैसा कि एक समीक्षक ने लिखा है, "चीन नहीं चाहता है कि उत्तरी वियतनाम पूर्णतया रूसी प्रभाव में चला जाय। पाकिस्तान को हाल में जो रूसी सैनिक सामग्री मिली है उसे भी चीनी नेता यह सोचने लगे हैं कि कहीं पाकिस्तान भी उनके हाथ से न निकल जाय। रूसी रक्षा मन्त्री मार्शल ग्रेचिको की पाकिस्तानी-यात्रा के दौरान रूसी नौ-सेना के उपाध्यक्ष ने इस बात पर बल दिया था कि भारतीय उपमहाद्वीप में शान्ति के लिए पाकिस्तानी नौ सेना का सुदृढ़ होना आवश्यक है। चीन के नेता इस कथन के दूरगामी परिणाम को समझते हैं। रूस से सीमा पर संघर्ष छेड़कर वे पाकिस्तान तथा उत्तरी वियतनाम को यह बताना चाहते हैं कि चीन भी एक शक्तिशाली देश है और वे अपने हितों की रक्षा के लिए उन पर निर्भर रह सकते हैं।"

साम्यवादी खेमे में इन दो बड़े देशों के इस संघर्ष का उनके आपसी सम्बन्धों पर क्या दूरगामी प्रभाव पड़ेगा, इस पर अभी कुछ कहना कठिन है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इससे विश्व का शान्ति-सन्तुलन बहुत कुछ प्रभावित हुआ है। नेपथ्य में बैठा चीन किसी भी समय मैदान में कूद कर शक्ति-संतुलन को बदल सकता है। पिछले दिनों ब्रिटेन के प्रतिरक्षा मन्त्री डेनिस हीले ने कहा था कि चीन द्वारा रूस के प्रति आक्रामक रुख अपना लेने से यूरोप में युद्ध का संकट समाप्त हो गया है। उनका यह कथन निराधार नहीं है। रूसी नेतृत्व अब अमेरिका के स्थान पर चीन को शत्रु नम्बर एक समझने लगा है। उधर अमेरिका में भी चीन के प्रति रवैया बदलने की मांग जोर पकड़ती जा रही है। कुछ अमरीकी राजनीतिज्ञों ने तो यह स्पष्ट मांग की है कि अमेरिका को न केवल चीन-यात्रा पर लगे प्रतिबन्ध ढीले कर देने चाहिए, बल्कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसके प्रवेश का विरोध करना भी छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार सम्भव है कि इस घटना का प्रभाव विश्व के शक्ति-संतुलन पर पड़े। इसके अतिरिक्त, इस घटना के चलते सोवियत संघ और अमेरिका के बीच चल रही निरस्त्रीकरण तथा परमाणु अस्त्र-विस्तार विरोध संधि वार्ताओं की प्रगति अवरुद्ध हो गयी है। इसलिए अब यह विचार व्यक्त किया जाने लगा है कि वार्ताओं की सफलता के लिए इनमें चीन का सम्मिलित होना आवश्यक है क्योंकि चीन के अलग रहते हुए सोवियत संघ और अमेरिका निरस्त्रीकरण की दिशा में पहल करके अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारने की भूल नहीं करेंगे।

अमेरिका और सोवियत संघ में भीषण प्रचार-युद्ध शुरू हो सकता था। लेकिन सोवियत नेताओं ने स्थिति को बिगाड़ने का जरा भी यत्न नहीं किया है और उनका प्रयास यही रहा है कि वियतनाम की समस्या वार्ता द्वारा सुलझ जाय। सोवियत संघ की इस नीति की आलोचना केवल चीन में ही नही वरन् कुछ अन्य हल्कों में भी हुई है। कुछ लोगों का कहना है कि अमेरिका को युद्ध बन्द करने को बाध्य करने के लिए सोवियत संघ को कड़ा रुख अपनाना चाहिए। सम्भव है चीन के साथ अपने मतभेदों के कारण सोवियत संघ इस तरह रुख नहीं अपना रहा है क्योंकि उत्तरी वियतनाम की कम्युनिस्ट सरकार सैद्धान्तिक झगड़े में चीन का समर्थन करती है। लेकिन चीन के साथ झगड़े को लेकर सोवियत संघ जैसा महान् देश अपना अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को भूल जाय, यह बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण माना जायगा। वियतनाम समस्या के सम्बन्ध में विश्व-शान्ति के लिए, सोवियत नीति का पुनर्निधारण आवश्यक प्रतीत होता है।

ताशकंद : सोवियत कूटनीति का नया अध्याय—१९६५ के सितम्बर में सोवियत कूटनीति ने एक नया मोड़ लिया। १ सितम्बर को भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर के झगड़े को लेकर युद्ध शुरू हुआ और देखते-देखते इस युद्ध ने भयंकर रूप धारण कर लिया। ऐसी हालत में सोवियत संघ बड़ा पेशोपेश में पड़ गया। उसे भय था कि एशिया के दो पड़ोसी देशों के युद्ध से अमेरिका और ब्रिटेन का साम्राज्यवादी गुट तथा चीन दोनों नाजायज फायदा उठाने का प्रयास करेंगे। अतएव स्थिति को सम्भालने के लिए सोवियत प्रधान मन्त्री कोसिजिन ने पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खाँ तथा भारत के प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री को पत्र लिखकर उनसे अनुरोध किया कि वे तत्काल युद्ध बन्द कर दें। सोवियत प्रधान मन्त्री ने अपने पत्र में यह भी कहा कि यदि दोनों पक्ष समझौता-वार्ता करने को तैयार हैं तो सोवियत संघ अपनी भूमि पर शान्तिपूर्ण वातावरण में बातचीत करने के लिए उन्हें सुविधा प्रदान करने को तैयार है। यदि दोनों पक्षों को समझौता के लिए सोवियत संघ की आवश्यकता पड़ी तो वह इसके लिए सब कुछ करने को तैयार है।

सोवियत संघ का यह सुझाव सोवियत कूटनीति का एक महत्त्वपूर्ण और क्रान्तिकारी कदम था। अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान में सोवियत संघ ने मध्यस्थता के सिद्धान्त को स्वीकार नही किया था। लेकिन दो राष्ट्रों के बीच मध्यस्थ बनकर उनके आपसी झगड़ों को सुलझाने के सोवियत प्रस्ताव ने संसार को स्तब्ध कर दिया। ऑग्ल अमरीकी गुट में इस सुझाव पर छींटे उड़ाये गये और इसको उपहास्यास्पद बताया गया। अमेरिका और विशेषकर ब्रिटेन में यह विचार व्यक्त किया गया कि सोवियत संघ का यह प्रयास निरर्थक है और इसे कोई लाभ नहीं होगा। वस्तुतः बात यह थी कि अभी तक इन दोनों देशों पर ब्रिटेन का कूट-नीतिक प्रभाव बहुत अधिक था। सोवियत संघ के हस्तक्षेप से इस प्रभाव का अन्त जरूरी-सा था। अतएव पश्चिम के प्रेक्षकों ने इस प्रस्ताव की असफलता की भविष्यवाणी की।

सोवियत संघ के प्रस्ताव को भारत ने तुरत और कुछ आनाकानी के बाद पाकिस्तान ने स्वीकार कर लिया। युद्ध बन्द हो जाने के बाद यह निश्चय हुआ कि ४ जनवरी, १९६६ के सोवियत संघ के प्राचीन नगर ताशकन्द में भारतीय प्रधान मन्त्री तथा पाकिस्तानी राष्ट्रपति मिलें और समझौता का प्रयास करें। सोवियत संघ ने यह आश्वासन दिया कि यदि आव-

श्यकता पड़ी तो प्रधान मन्त्री कोसिजिन इस प्रयास को सफल बनाने में हर तरह की सहायता करेंगे ।

४ जनवरी, १९६६ को ताशकन्द के "दूरमिये भवन" में जिसका अर्थ "तटस्थता भवन" है, भारत के प्रधान मन्त्री, पाकिस्तान के राष्ट्रपति और सोवियत प्रधान मन्त्री का शिखर-सम्मेलन प्रारम्भ हुआ । संसार में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति था जिसको यह आशा थी कि ताशकन्द सम्मेलन सफल होगा । यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व पाकिस्तान के राष्ट्रपति कह चुके थे कि कश्मीर के बिना भारत के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं करेंगे । भारत के प्रधान मन्त्री ने भी कहा कि वे कश्मीर के प्रश्न पर किसी तरह की वार्त्ता नहीं करेंगे । सोवियत संघ में भी समझौते के प्रश्न पर सन्देह प्रकट किया गया । 'तास' ने अपने विशेष समाचार में कहा कि दोनो देशों के विवाद को, जो लगभग अठारह वर्षों से विग्रह की स्थिति में है, सुलझाना आसान काम नहीं है । फिर भी, सम्मेलन शुरू होने के पहले प्रधान मन्त्री कोसिजिन ने कहा कि 'रूस की जनता को आशा है कि यह वार्ता सफल होगी ।" सोवियत विदेश मन्त्रालय के एक प्रवक्ता ने कहा कि ताशकन्द का वायुमण्डल आशाप्रद है और उसमें फलदायक परिणामों की आशा की जा सकती है ।

पाँच दिनों की वार्त्ता के बाद यह स्पष्ट होने लगा कि सम्मेलन किसी हालत में सफल नही हो सकता । पाकिस्तान कश्मीर का प्रश्न उठाने की जिद् पर डटा हुआ था और भारत वार्ता करने से इन्कार कर रहा था । भारत का कहना था कि दोनो देशों को "युद्ध नहीं करो" की घोषणा करनी चाहिए । पाकिस्तान इस प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं था । इस हालत में जैसे-जैसे ताशकन्द वार्त्ता का अन्त करीब आता गया वैसे-वैसे भारत-पाकिस्तान में मतैक्य की आशा क्षीण होती गयी । ९ जनवरी को एक पाकिस्तानी प्रवक्ता ने पत्र-प्रतिनिधियों के सामने यह घोषित कर दिया कि पाकिस्तान को 'भारत का युद्ध न करो' का प्रस्ताव स्वीकार नहीं है । पाकिस्तानी प्रवक्ता ने कहा कि जब तक कश्मीर के प्रति पाकिस्तानी दावे का निपटारा नहीं हो जाता या इस दावे को निबटाने के लिए कोई व्यवस्था नही कर ली जाती, भारत पाकिस्तान के बीच युद्ध नही करने का कोई समझौता व्यर्थ होगा । पाकिस्तानी प्रवक्ता के कथन के बाद अपने प्रेस सम्मेलन में भारत के विदेश मन्त्रालय के सचिव श्री सी० एस० झा ने पाकिस्तान द्वारा भारतीय प्रस्ताव के ठुकराये जाने की पुष्टि की और कहा कि दोनों पक्षों की स्थिति एक दूसरे से काफी दूर है । उन्होने कहा कि वार्ता में बहुत कम प्रगति हुई है ।

सोवियत कूटनीति का जादू—११ जनवरी, १९६६ को सवेरे यह प्रायः निश्चय हो गया था कि ताशकन्द वार्ता असफल हो गयी और सम्भवतः सम्मेलन के अन्त पर एक संयुक्त विज्ञप्ति का निकालना भी कठिन है । लेकिन सोवियत कूटनीति अत्यन्त सक्रिय थी । ताशकन्द में सोवियत संघ के शीर्ष नेता मौजूद थे और १० जनवरी को उनके अथक प्रयास के फलस्वरूप गतिरोध टूट गया और ४ बजे संध्या को यह संकेत मिलने लगा कि भारत और पाकिस्तान में किसी तरह का समझौता हो जायगा । ६ बजे रात को तालियों की गड़गड़ाहट के बीच राष्ट्रपति अयूब खाँ तथा प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने प्रधानमन्त्री कोसिजिन की उपस्थिति में एक समझोते पर हस्ताक्षर कर दिये । जो बात केवल बारह घटे पूर्व असम्भव प्रतीत होती थी उसको सोवियत कूटनीति के जादू ने सम्भव बना दिया । ताशकन्द वार्ता की सफलता केवल प्रधान मंत्री

कोसिजिन की सफलता ही नहीं, वरन् पिछले कुछ वर्षों में सोवियत कूटनीति की सबसे महान् सफलता थी।[1]

सोवियत कूटनीति की सफलता के कारण—सभी भविष्यवाणियो के बावजूद ताशकन्द सम्मेलन सफल हुआ। इसका प्रमुख कारण है सोवियत कूटनीति की ईमानदारी और निष्पक्षता। यह बात सत्य है, जैसा कि सोवियत न्यूज एजेन्सी 'तास' ने कहा था कि "यह बात सभी भली भाँति जानते हैं कि भारत और पाकिस्तान में शत्रुता का बीज उपनिवेशवादियों द्वारा बोया गया है जो दोनो देशो की जनता को शान्ति और मैत्रीपूर्ण वातावरण में रहने देने के इच्छुक नहीं हैं।" सोवियत कूटनीति में इस तरह का कोई स्वार्थ नही था। उसने एक निष्पक्ष वातावरण में दोनो देशो के कर्णधारो को मिलाया और समझौता कराने में उनकी सहायता की जिसमें स्वार्थ की भावना का सर्वथा अभाव था। सोवियत नेताओ के सहानुभूतिपूर्ण आचरण तथा सद्भावना से सम्मेलन को सफल बनाने में सफलता मिली।

सोवियत कूटनीति की सफलता का एक और कारण था और यह कारण भौगोलिक था। सोवियत संघ यूरोप के साथ-साथ एशिया का भी एक देश है और एशिया में शान्ति बने रहे यह उसके हक में भी अच्छा है। अतएव सोवियत नेताओं के कार्य एशिया में शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से हुए। इस प्रकार का कार्य ईमानदारी के साथ किया जाय तो उसमें सफलता का मिलना अवश्यम्भावी होता है।[2]

---

1 "The agreement which Prime Minister Shastri and President Ayub Khan signed at Tashkent on January 11 is not a triumph of Indian diplomacy. It is also not a triumph of Pakistani diplomacy. It is an outstanding triumph of Soviet diplomacy. At Tashkent, the Soviet Union emerged as a major factor in Asian affairs; it pushed aside China and kept off any western intervention. In bringing together India and Pakistan outside the pale of the Security Council the Soviet Union did something which the Security Council could not do and any other big Power could not have hoped to do. For the first time over Kashmir, India and Pakistan have agreed to carry out certain obligations directly between themselves, and this is the measure of the Soviet success.

—M. Chalpathi Rao, "The Taskent Agreement in ' *The Illustrated Weekly of India*, March 6, 1966, p. 15.

1 "With Tashkent, something altogether new has come into the world. The Tashkent episode will have an emotional impact on the relationship between the three great neighbours : India, Pakistan and Russia.

Kosygin was able to do what neither Harold Wilson nor Lyndon Johnson could have done that is not because he is clever than they, but in the last analysis, because he is nearer.

Great Britain, in spite of the ties of the Commonwelth, has been helpless, the United States, in spite of its wealth and power, has been ineffective.

The critical advantage of Soviet Union has not been due to race, colour or culture, but to geography. The Soviet Union can talk with authority about peace in Asia because it is a power with an Asian frontier of thousands of miles."
—*Hindustan Times*, January 8, 1966.

पाकिस्तान के प्रति नवीन दृष्टिकोण :—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के कतिपय प्रेक्षकों का अनुमान है कि ताशकन्द सम्मेलन और भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों में सोवियत संघ की रुचि उसके पाकिस्तान के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण का प्रतीक है। शुरू में सोवियत संघ पाकिस्तान से बड़ा रुष्ट था। इसके कई कारण थे : पाकिस्तान सोवियत विरोधी सैनिक गुटों (सेंटो सीटो) का सदस्य था। उसने अपनी भूमि में अमेरिका को सैनिक अड्डा दे रखा था। सोवियत संघ इस बात को नहीं भूल सकता था कि रूसी सैनिक अड्डों का पता लगाने के लिए भेजा गया यू० २ विमान पाकिस्तान के पेशावर हवाई अड्डा से ही उड़ा था। अतः रावलपिंडी के प्रति सोवियत रूस का कड़ा रूख स्वाभाविक था।

लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई किसी का स्थायी मित्र या दुश्मन नहीं होता। ख्रुश्चेव के पतन के बाद सोवियत संघ और पाकिस्तान के सम्बन्धो में भी सुधार होने लगा। इस सुधार के लक्षण १९६५ में प्रकट हुए जब उस वर्ष के अप्रिल में पाकिस्तान के राष्ट्रपति और विदेश मन्त्री ने रूस की यात्रा की तथा दोनों देशों के बीच अनेक व्यापारिक, आर्थिक और राजनीतिक समझौते हुए। रूस की इस नीति में परिवर्त्तन आने का कारण सम्भवतः पाकिस्तान की चीन से बढ़ती हुई मैत्री थी। सोवियत संघ के लिए अभिष्ट नही था कि उसके एक पड़ोसी देश में उसके प्रतिस्पर्धी चीन के प्रभाव में वृद्धि हो। इसके अतिरिक्त उसे यह भी अनुभव हुआ कि सीटो तथा सेंटो संधि संगठनों का सदस्य होते हुए भी यदि पाकिस्तान साम्यवादी चीन से घनिष्ठता बढ़ा सकता है तो सोवियत संघ के साथ भी उसकी मैत्री बढ़ सकती है।

इस पृष्ठाधार में दोनों देशों के सम्बन्ध में पर्याप्त सुधार हुआ है। कश्मीर के विवाद में ख्रुश्चेव खुले रूप से भारत के साथ था। लेकिन १९६५ के भारत-पाकिस्तान संघर्ष और बाद में ताशकन्द सम्मेलन के समय सोवियत संघ ने भारत और पाकिस्तान को समान स्तर पर माना। राजनीतिक प्रेक्षको का मत है कि यह पाकिस्तान के प्रति सोवियत संघ के बदलते हुए दृष्टिकोण का परिचायक है। पाकिस्तान की तरफ सोवियत नीति में मैत्री पूर्ण रुख अपनाये जाने के मूल में यह उद्देश्य निहित प्रतीत होता है कि पाकिस्तान को अपना मित्र बनाकर वह उस पर चीन और अमेरिका के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव पर अंकुश लगाना चाहता है। अप्रैल १९६८ में प्रधान मन्त्री कोसिजिन ने पाकिस्तान की यात्रा की। यद्यपि इस यात्रा के दौरान अन्तर्राष्ट्रीय विवादो पर दोनो के दृष्टिकोणों में महान् अन्तर स्पष्टतया दिखायी पड़ा, लेकिन यह मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता कि दोनो के सम्बन्ध में पर्याप्त सुधार हुआ है।

जुलाई १९६८ में सोवियत संघ ने पाकिस्तान को फौजी सहायता देने का निर्णय किया। सोवियत संघ के इस निर्णय का भारत में बड़ी कड़ी आलोचना हुई है और कुछ आलोचक इसवे भारत की विदेश-नीति के मुँह पर करारा तमाचा मारते हैं। लेकिन वस्तुतः बात यह है कि सोवियत संघ का यह निर्णय भारतीय उपमहाद्वीप के प्रति उसकी दूरगामी नीति का परिणाम है। यह सोवियत संघ और चीन के बीच बढ़ते हुए आपसी प्रतिद्वन्द्विता का भी परिणाम है। चीन के साथ पाकिस्तान के बढ़ते हुए मेल-जोल को समाप्त करने की दिशा में इसको एक महत्त्वपूर्ण कदम माना जा सकता है।

अरब-इजरायल युद्ध और सोवियत संघ :—जून १९६७ के अरब-इजरायल संघर्ष में सोवियत-संघ ने अरब राज्यों का खुलकर समर्थन किया और उसका रुख निश्चय ही इजरायल

विरोधी रहा। इजरायल की स्थापना के समय सोवियत संघ का रुख कुछ दूसरा ही था। जिस समय इजरायल की स्थापना हुई उस समय सोवियत-संघ ने उसको तत्काल अपनी मान्यता प्रदान की। १९४८ के फिलीस्तीन संघर्ष में भी उसने इजरायल का समर्थन किया था और अरब राज्यों के आक्रमण को अनुचित तथा अन्यायपूर्ण बतलाया था। बाद में जब सोवियत संघ ने यह अनुभव किया कि मध्यपूर्व के अरब राज्यो में समाजवादी क्रान्ति सम्भव हो सकती है और वहाँ सोवियत प्रभाव को बढ़ाया जा सकता है तो उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया और अरब-इजरायल सम्बन्ध के प्रति उसकी नीति बदल गयी। अरब-इजरायल विवाद में उसने अरबों को नैतिक समर्थन देना शुरू किया और बाद में सैनिक सहायता भी दी गयी। १९५५ और १९६७ के बीच अरब राज्यो को सोवियत संघ से बहुत बड़ी मात्रा में सामरिक साजो-सामान प्राप्त हुए। मिस्र और सीरिया की सेनाओ को सोवियत विशेषज्ञो द्वारा प्रशिक्षित किया जाने लगा। १९५६ के स्वेज-संकट के समय सोवियत संघ ने इजरायल के आक्रमण की बड़ी कड़ी आलोचना की और अरबों का पूर्ण समर्थन किया।

१९६७ के संकट के समय सोवियत संघ बड़े पेशोपेश में पड़ा रहा। युद्ध शुरू होने से पहले उसने स्पष्ट रूप से अरबों का समर्थन किया था। इजरायल का कहना है कि सोवियत संघ के प्रचार अभिकरणो ने इजरायल के सम्बन्ध में जिन बातों का प्रचार किया वे अरब राज्यों को उभाड़नेवाली थीं। ९ जून, १९६७ को राष्ट्रपति नासिर ने कहा कि "सोवियत संघ में हमारे मित्रो ने पिछले माह के प्रारम्भ में ही मास्को गये संसदीय प्रतिनिधि मंडल को यह चेतावनी दी थी कि (इजरायल में) सीरिया के विरुद्ध आक्रमण करने की योजना बनायी जा रही है।" इसके पूर्व २८ मई, १९६७ को सोवियत संघ के मार्शल ग्रेचकों ने कहा : "सोवियत संघ, उसकी सशस्त्र सेना, उसकी जनता और सरकार अरबों के साथ है और उनको निरन्तर प्रोत्साहन तथा समर्थन प्रदान करती रहेंगी। हम तुम्हारे सच्चे मित्र हैं और हम तुमको सहायता प्रदान करते रहेंगे क्योंकि यह सोवियत राष्ट्र की, उसके दल की तथा उसकी सरकार की नीति है। सुरक्षा मन्त्रालय की ओर से तथा सोवियत राष्ट्र के नाम पर हम तुम्हारी सफलता और जीत की कामना करते हैं।"

इस प्रकार का कथन युद्धरत राष्ट्रों को भड़काने के लिए पर्याप्त होता है। जून १९६७ में जब संघर्ष शुरू हो गया तो सोवियत संघ इस क्षेत्र में विश्व युद्ध का जोखिम उठाने के लिए भी तैयार था यदि साम्राज्यवादी शक्तियाँ इजरायल का पक्ष लेकर अरब राज्यों पर आक्रमण कर देती। फिर भी इस सम्भावना को ख्याल में रखते हुए उसने अपने कई युद्धपोतों को भूमध्य सागर में ला छोड़ा। अरब देशों की जनता को यह विश्वास था कि बुरे समय में सोवियत-संघ अवश्य अरबों का साथ देगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। संयुक्त अरब गणराज्य और सीरिया पिटते रहे लेकिन सोवियत संघ ने हस्तक्षेप नहीं किया। इस कारण बहुत क्षेत्रों में सोवियत संघ पर आक्षेप किये गये कि कोई मित्र राज्य उस पर भरोसा नहीं कर सकता है। लेकिन इस तरह का आरोप सर्वथा निराधार है। सोवियत-संघ का इस युद्ध में कूदना तीसरे विश्व-युद्ध को निमंत्रण देना था। वह इसकी जोखिम भी उठा सकता था; लेकिन सोवियत-संघ का हस्तक्षेप तभी उचित होता जब अमेरिका और ब्रिटेन भी खुल्लम-खुल्ला इजरायल का पक्ष लेकर लड़ते। अरब देशों का कहना है कि इजरायल को अमरीकी और ब्रिटिश सहायता मिली थी; लेकिन सोवियत संघ ने इस बात को नहीं माना था।

फिर भी, सोवियत-संघ को अपनी स्थिति का पता था। वह जानता था कि अरब जगत या अन्य क्षेत्रो में उसकी नीति और इरादो का गलत अर्थ लगाया जायगा और उसे बदनाम करने का प्रयास किया जायगा। अतएव कूटनीतिक स्तर पर सोवियत-संघ ने इजरायल के खिलाफ बड़ा कड़ा रुख अपनाया। सुरक्षा-परिषद् में सोवियत प्रतिनिधि बार-बार इजरायल को आक्रामक कहता रहा। बाद में इजरायल ने युद्ध जारी रखा तब सोवियत सरकार ने इजरायल को चेतावनी दी कि यदि वह युद्ध नही बन्द करता है तो इजरायल की आर्थिक नाकेबन्दी की जायगी और सम्भवतः सोवियत गुट के देश उसके साथ अपना कूटनीतिक सम्बन्ध भी तोड़ लेंगे। इजरायल पर इन धमकियों का कोई असर नही पड़ा और युद्ध-विराम मान लेने पर भी सीरिया पर उसकी आक्रामक कार्रवाई जारी रही। इस हालत में सोवियत संघ ने इजरायल के साथ अपना कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिया। समाजवादी खेमा के अन्य देशो ने भी ऐसा ही किया।

इजरायल के साथ सोवियत-संघ का कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लेना ही पर्याप्त नहीं था। ऐसा प्रतीत हुआ कि पश्चिम एशिया में सोवियत कूटनीति असफल हो गयी। वहाँ पश्चिम एशिया में विश्वास जाने लगा कि सोवियत-संघ शाब्दिक सान्त्वना से अधिक उन्हें कुछ नहीं दे सकता है; जबकि अमेरिका का बेबाक हाथ इजरायल की पीठ पर है। चीन के प्रचार ने इस बात पर विशेष बल दिया और उसकी ओर से सोवियत-संघ को बदनाम करने के भरसक प्रयास किये गये। इन सारी बातो को ध्यान में रखकर सोवियत-संघ अपनी स्थिति को फिर से कायम करने के लिए काफी परेशान हुआ। अरब देशो ने अपनी लोकप्रियता हासिल करने के लिए और इस आशा से कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा दूसरे दृष्टिकोण से समस्या पर विचार करे, सोवियत-संघ ने साधारण सभा के आपातकालीन अधिवेशन बुलाने की माँग की और प्रधानमंत्री कोसिजिन स्वयं इसमें भाग लेने के लिए न्यूयार्क पहुँचे। सभा में उन्होने स्वयं एक प्रस्ताव रखा जिसमें इजरायली आक्रमण की निन्दा की गयी थी तथा हस्तगत अरब क्षेत्रों से इजरायली सेना को हटाने की मांग की गयी थी। कोसिजिन का कहना था कि जबतक इजरायल की सेनाएँ इन क्षेत्रो में बनी रहेंगी उस समय तक किसी भी क्षण पश्चिमी एशिया में युद्ध छिड़ सकता है। इस प्रस्ताव पर बोलते हुए जब इजरायल के विदेश मंत्री अब्बा ईबान ने सोवियत नीति की घोर निन्दा की तो सोवियत प्रधान मंत्री और विदेश मंत्री दोनों ने ही सभा का बहिष्कार कर दिया और बाहर आ गये।

पश्चिम एशिया में युद्ध-विराम के बाद २१ जून, १९६७ को सोवियत राष्ट्रपति नासिर के साथ राजनीतिक तथा कूटनीतिक वार्ता के लिए काहिरा पधारे। आगमन के समय हवाई अड्डे पर सोवियत राष्ट्रपति ने घोषणा की कि "हम विजय प्राप्त करने तक लड़ते रहेंगे"। मार्शल जखारोव के नेतृत्व में एक रूसी सैनिक प्रतिनिधिमण्डल भी संयुक्त अरब गणराज्य पहुँचा तथा युद्ध के बाद उसकी सुरक्षात्मक आवश्यकताओं का अध्ययन किया। इन सब वार्ताओं के बाद यह आश्वासन दिया गया सोवियत संघ संयुक्त अरब गणराज्य को इतने आधुनिकतम सामरिक साधन सौंपेगा ताकि हस्तगत किये गये क्षेत्रों से इजरायल को हटाया जा सके तथा भविष्य में उसके आक्रमण की सम्भावनाओं को रोका जा सके। इसके बाद संयुक्त अरब गणराज्य को अपार मात्रा में सोवियत संघ से सैनिक सहायता मिली।

अगस्त-सितम्बर १९६८ में पश्चिम एशिया के संकट ने पुनः गम्भीर रूप धारण कर लिया। इजरायल और अरब देशों के नेताओं की ओर से यह कहा जाने लगा कि उन्हें एक दूसरे की ओर से जबरदस्त आक्रमण का खतरा है। जोर्डान और इजरायली सेनाओं के बीच जहाँ-तहाँ मुठभेड़ का क्रम दिनोदिन तेज होता गया। इस उत्तेजनात्मक स्थिति से सोवियत संघ पुनः चिन्तित हुआ। इस वातावरण में इजरायल को चेतावनी के रूप में सोवियत संघ ने अपनी एक नयी शान्ति योजना (सितम्बर १६६८) रखी। सोवियत संघ ने कड़े शब्दों में चेतावनी दी कि इजरायल अरब राज्यों के विरुद्ध भड़कानेवाली कार्यवाहियाँ बन्द करे नहीं तो उसके नतीजे भुगतने के लिए तैयार हो जाय। चेतावनी के साथ-साथ सोवियत संघ ने पश्चिम एशिया में शान्ति की अपनी नयी योजना के लिए अमरीकी अधिकारियों से सम्पर्क स्थापित किया और एक चार सूत्री प्रस्ताव रखा। इस योजना में निम्नलिखित बातें थी : (१) इजरायली सेनाओं की जून १६६७ से पहले की सीमाओं पर वापसी। (२) शान्ति बनाये रखने के लिए सीमाओं पर सुदृढ़ संयुक्त राष्ट्र की व्यवस्था। (३) दोनों पक्षों के चार बड़े देश अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ दोनों पक्षों के बीच युद्ध फिर से नहीं छिड़ने दें। (४) अरब राष्ट्रों द्वारा इजरायल के विरुद्ध युद्ध की स्थिति की समाप्ति। इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि पश्चिम एशिया को हथियार देनेवाले देशों को इन हथियारों की सप्लाई सीमित करनी चाहिए जिससे कि अस्त्रों की होड़ समाप्त की जा सके। लेकिन सोवियत संघ का यह प्रस्ताव इजरायल और उसके कई अन्य समर्थक देशों को मान्य नहीं हुआ।

इसके पश्चात् दिसम्बर, १६६८ में सोवियत संघ के विदेश मंत्री ग्रोमिको ने संयुक्त अरब गणराज्य का दौरा किया और राष्ट्रपति नासिर से लगातार कई दिनों तक बातचीत करते रहे। इस वार्ता के दौरान सैनिक सहायता की बात मुख्य रूप से उठी; यदि अमेरिका इजरायल को पैटन टैंक देगा तब सोवियत संघ अरब देशों की सहायता कहाँ तक करेगा। ग्रोमिको ने इस सम्बन्ध में अरब नेता को पूरा आश्वासन देकर उनके मनोबल को दृढ़ किया। २८ दिसम्बर १६६८ को इजरायली हेलिकाप्टरों ने जब बेरुत के हवाई अड्डे पर आक्रमण किया तो सोवियत संघ ने इस हमले को उकसाने और भड़कानेवाली कार्रवाई बताते हुए कहा कि इजरायल और अन्य पश्चिमी देश एशिया की स्थिति को बदस्तूर बनी रहने देना चाहते हैं और वे वहाँ तनाव कम करने के पक्ष में नहीं हैं। फिर, इस हमले के लिए इजरायल को सोवियत संघ ने पुनः चेतावनी दी।

फिर इसके उपरान्त फ्रांस का यह प्रस्ताव आया कि पश्चिम एशिया की समस्या के समाधान के लिए चार बड़े राष्ट्रों का एक सम्मेलन हो। सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव पर तुरत अपनी सहमति भी प्रकट कर दी। ३ अप्रिल १६६६ को न्यूयार्क में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ का यह सम्मेलन शुरू भी हुआ। इस सम्मेलन में भी सोवियत संघ ने अरब राज्यों का प्रबल समर्थन किया।

फिलहाल पश्चिम एशिया के विवाद में सोवियत संघ के दृष्टिकोण के दो पहलू हैं। उसकी सारी सहानुभूति अरब राज्यों के साथ है। अतएव कूटनीतिक स्तर पर वह उनका पूर्ण समर्थन कर रहा है। साथ ही, अरब राज्यों को उनके सैनिक पुनर्निर्माण के लिए उन्हें हर तरह की सहायता दे रहा है।

सोवियत संघ और वियतनाम

१९६२ के बाद ख्रु़श्चेव ने वियतनाम के प्रश्न में रुचि लेना बन्द कर दिया था, हालाँकि वह वियतकांग का समर्थक और अमरीकी हस्तक्षेप का विरोधी था। वियतनाम के प्रति सोवियत संघ की इस तटस्थतावादी नीति के मूल में चीन के साथ सैद्धान्तिक मतभेद था। ख्रु़श्चेव का कथन था कि वियतनाम संघर्ष में उत्तरी वियतनाम और वियतकांग को सहायता देने का अर्थ अन्ततः चीन को सहायता देना तथा दक्षिण पूर्व एशिया में उसको प्रबल बनाना था, क्योंकि वियतनाम के कम्युनिस्ट चीन के प्रभाव में थे। फिर, यदि सोवियत संघ वियतनाम में समझौता कराके शान्ति स्थापित करने का यत्न करता तो वह चीन को अपने विरुद्ध यह प्रचार करने का अवसर प्रदान करता कि मास्को अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में साम्यवादी देशों की सहायता नहीं कर रहा है तथा वह उनका नेतृत्व करने की योग्यता नहीं रखता। इससे साम्यवादी जगत में सोवियत संघ बहुत बदनाम हो जाता। सोवियत संघ ऐसी किसी भी स्थिति को ठीक नहीं मानता था। अतः ख्रु़श्चेव ने इस प्रश्न पर कम-से-कम रुचि लेना ही उचित समझा।

परन्तु १९६४ में अमेरिका द्वारा वियतनाम में खुले सैनिक हस्तक्षेप के बढ़ जाने से सोवियत संघ वियतनाम के प्रति अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिए बाध्य हो गया। सोवियत संघ के प्रधान मंत्री कोसिजिन ने यह घोषणा की (जनवरी १९६५) कि चूँकि अमेरिका ने उत्तरी वियतनाम के सैनिक ठिकानों पर बम वर्षा करने का निश्चय किया है, अतएव सोवियत संघ उत्तर वियतनाम को अपने बचाव के लिए आवश्यक सहायता प्रदान करेगा। उसी महीने में प्रधान मंत्री कोसिजिन हनोई पहुँचे। अब स्पष्ट हो गया कि सोवियत नेता दक्षिण पूर्व एशिया में गहरी रुचि रखने लगे थे। इसके बाद ही उत्तर वियतनाम में सोवियत संघ से प्रचुर मात्रा में जेट विमान तथा भूमि से आकाश में फेंके जानेवाले प्रक्षेपणास्त्र पहुँचने लगे। १३ अप्रिल, १९६७ को वियतनाम और सोवियत संघ में सैनिक सहायता देने की बात पर एक समझौता हुआ और उत्तर वियतनाम को लगातार सोवियत संघ से सैनिक सहायता मिलती रही। सोवियत संघ ने वियतनाम में अमरीकी नीति की कटु आलोचना की है। ३१ मार्च को जब राष्ट्रपति जॉनसन ने वियतनाम में बमबारी को सीमित करने की घोषणा की तब सोवियत संघ ने इसको पहली अप्रिल का मजाक कहा। उसका कहना है कि जॉनसन की घोषणा से उत्तर वियतनाम की माँगें पूरी नहीं होतीं। फिर भी समझौता-वार्ता के लिए सोवियत संघ पूरी सहायता देने के लिए तैयार है।

पश्चिम के प्रति सोवियत संघ का नया रुख

ख्रु़श्चेव के बाद की सोवियत विदेश-नीति में पश्चिम के प्रति किसी विशेष परिवर्तन का संकेत नहीं मिला है। अक्टूबर १९६६ में सोवियत विदेश मन्त्री ग्रोमिको ने अमरीकी राष्ट्रपति से मुलाकात कर निरस्त्रीकरण और वियतनाम के प्रश्न पर बातचीत की, यद्यपि उनमें किसी प्रकार का मतैक्य प्रकट नहीं हो पाया। अमरीकी राष्ट्रपति जॉनसन द्वारा सोवियत प्रधान मन्त्री कोसिजिन को अमेरिका आने का निमन्त्रण दिया गया और यह भी संकेत किया गया कि बदले में वह सोवियत संघ की यात्रा के निमन्त्रण का स्वागत करेंगे। जून १९६७ में हुए अरब इजरायल संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न हुए पश्चिमी एशियाई संकट पर संयुक्त

राष्ट्र साधारण सभा का जो अधिवेशन जून १९३७ में हुआ उसमें भाग लेने के लिए सोवियत प्रधानमन्त्री कोसिजिन स्वयं उपस्थित हुए। इस मौके से लाभ उठाकर ग्लासबोर में दोनों नेताओं ने घण्टों एकान्त में मन्त्रणा की। वियतनाम और पश्चिमी एशिया पर मुख्य रूप से वैचारिक आदान-प्रदान हुआ तथा निशस्त्रीकरण और परमाणु शक्ति के विस्तार के सवाल भी अछूते नहीं रहे। मुलाकात के बाद परमाणु अस्त्रों के विस्तार पर रोक लगाने के बारे में दोनों पक्षों की ओर अनुकूल वातावरण बन सकने की बात कही गयी।

दोनों नेताओं की पारस्परिक वार्ता और दोनों राष्ट्रों की एक दूसरे के प्रति संयम बरतने की कूटनीति से यही लगता है कि आधुनिक विश्व की राजनीति में सोवियत संघ और साम्यवादी चीन की अपेक्षा सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका एक दूसरे के अधिक नजदीक आने लगे हैं तथा विचार-विनिमय द्वारा समस्याओं के हल का प्रयास करने लगे हैं। किन्तु यह स्थिति आगे कबतक बनी रहेगी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि क्रेमलिन में यूरोप के साम्यवादी देशों के प्रतिनिधियों की जून १९६७ में हुई बैठक में सोवियत नेताओं की इस बात के लिए कटु आलोचना की गयी थी कि वे अमेरिका और अनेक पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति उदार नीति को अपना रहे हैं।

साम्यवादी जगत् की नयी प्रवृत्तियाँ : चेकोस्लोवाकिया कांड

१९६० तक साम्यवादी जगत् में अटूट और सुदृढ़ एकता थी। यूगोस्लाविया को छोड़कर सभी साम्यवादी राज्य सोवियत संघ के नेतृत्व को मानते थे। किन्तु १९६० से यह एकता टूटती नजर आने लगी और साम्यवादी जगत् में उग्र मतभेद उत्पन्न होने लगे। इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ सोवियत संघ और चीन के सैद्धान्तिक मतभेद से शुरू हुआ। इस मतभेद ने अब अत्यन्त ही गम्भीर रूप धारण कर लिया है। यहाँ तक कि सीमा-विवाद को लेकर दोनों देशों के बीच संघर्ष भी शुरू हो गया है। पोलैंड में भी सोवियत-विरोधी भावना बढ़ी है। कुछ समय पूर्व उन्नीसवीं शताब्दी के जारशाही के समय रूस विरोधी लिखा गया नाटक "जादी" वहाँ बड़ा लोकप्रिय था। इसमें कहा गया है कि "मास्को से बेवकूफ और जासूस आते हैं।" जब सरकार ने इस नाटक पर प्रतिबन्ध लगाया तो विद्यार्थियों ने इसका विरोध किया और जनवरी १९६८ में कई अवसरों पर विद्यार्थियों तथा पुलिस के बीच मुठभेड़ें हुईं। रूमानिया भी अपना एक अलग रास्ता चुनने में व्यस्त है। उसने सोवियत संघ समर्थित परमाणु अस्त्र प्रसार निरोधक संधि का विरोध किया है। वह वारसा संधि की भी आलोचना करने लगा है और स्वतन्त्र विदेश नीति का समर्थक बनता जा रहा है। साम्यवादी देशों के मतभेदों का एक और उदाहरण संसार के साम्यवादी दलों का बुडापेस्ट सम्मेलन (मार्च १९६८) है। इससे पहले विश्व-साम्यवादी सम्मेलन में ८१ देशों ने भाग लिया था। बुडापेस्ट में केवल ६६ देशों ने भाग लिया। इस प्रकार ऐसा लगता है कि साम्यवादी जगत् में मतभेद की प्रवृत्ति प्रबल हो रही है। अगस्त १९६८ का चेकोस्लोवाकिया कांड इस प्रवृत्ति का महान् व्यक्त रूप है।

चेकोस्लोवाकिया में उदारवाद :—१९६७ के मध्य से चेकोस्लोवाकिया के जीवन में कुछ नयी प्रवृत्तियों का समावेश होने लगा और वहाँ उदारवाद धीरे-धीरे जड़ पकड़ने लगा। वहाँ पर अभी भी स्टालिनवादियों का प्रभुत्व था। चेक साम्यवादी दल के महामंत्री तथा राष्ट्रपति

नोवोत्नी थे जो अभी तक चेकोस्लोवाकिया में स्टालिन की नीति का ही अनुसरण कर रहे थे। जनवरी १९६८ में महामंत्री के पद से और मार्च में राष्ट्रपति के पद से उन्हें हटने के लिए विवश किया गया। उनके साथ ही उनके समर्थकों, सहयोगियों तथा स्टालिनवादी नीति का अनुसरण करनेवाले अनेक महत्वपूर्ण अधिकारियो को पदत्याग करने के लिए विवश होना पड़ा। मुख्य रूप से यह बुद्धिजीवियों का विद्रोह था और इसका नेतृत्व एलेक्जेन्डर डुबचेक कर रहे थे। जनवरी १९६८ में डुबचेक नोवोत्नी के स्थान पर चेक साम्यवादी दल के महामंत्री बने। पार्टी के नवीन नेतृत्व ने समाजवादी लोकतंत्रीकरण के सिद्धान्त को अपनाया और उदारवाद का समर्थन करते हुए निम्नलिखित सुधारो का प्रस्ताव किया : (१) सेन्सरशिप को हटा दिया जाय और भाषण और प्रकाशन की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय। (२) स्वतन्त्र चुनाव कराये जायँ और संसद् में विरोधी दल को मान्यता दिया जाय। (३) वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर लगाये गये प्रतिबन्ध हटा दिये जायँ। (४) सरकार के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव लाने की अनुमति दी जाय। (५) अन्य साम्यवादी देशों में प्रचलित व्यवस्था के प्रतिकूल साम्यवादी दल और सरकार को पृथक् रूप से कार्य करने दिया जाय। (६) उद्योग धन्धे राज्य द्वारा संचालित न करके विशेष संगठनों द्वारा संचालित किये जायँ और विदेशी मंडियो को तलाश करने की व्यवस्था हो। (७) श्रमिक संघ या ट्रेड यूनियन कम्युनिस्ट पार्टी का अंग न होकर स्वतन्त्र रहते हुए अपने मजदूरों के हितों की रक्षा करे, भले ही इसमें साम्यवादी सरकार का विरोध करना पड़े। (८) साम्यवादी या गैर-साम्यवादी सभी नागरिको को सरकारी नौकरी पाने या उद्योगों में कार्य करने का समान अधिकार हो तथा सबको संगठन बनाने की स्वतन्त्रता हो। (९) चुनाव गुप्त मतदान

प्रणाली से हो। (१०) साहित्य, संस्कृति और कला को सभी प्रकार के राजनीतिक बन्धनों से मुक्त रखा जाय। (११) राजनीतिक अपराधों के लिए बनायी गयी विशेष पुलिस समाप्त कर दी जाय तथा सबको स्वतन्त्रतापूर्वक यात्रा करने, घूमने-फिरने और विदेश जाने की स्वतन्त्रता हो।

सोवियत संघ का विरोध:—स्पष्ट है कि उपरोक्त सुधार कार्यक्रम समाजवाद के प्रचलित सिद्धान्तों के विरुद्ध है। समाजवादी व्यवस्था का अस्तित्व कुछ मूल सिद्धान्तों पर निर्भर करता है और इसके अभाव में यह व्यवस्था विकसित नहीं हो सकती। अतएव सोवियत संघ ने इस अत्यधिक उदारवादी प्रवृत्ति का पहले धीरे-धीरे विरोध किया। जुलाई, १९६८ में

राष्ट्र साधारण सभा का ज
प्रधानमन्त्री कोसिजिन स्व
नेताओं ने घण्टों एकान्त
वैचारिक आदान-प्रदान हु
अछूते नहीं रहे। मुलाकात के
पक्षों की ओर अनुकूल वातावर

दोनों नेताओं की पारस्प
की कूटनीति से यही लगता है कि
चीन की अपेक्षा सोवियत संघ और र
लगे हैं तथा विचार-विनिमय द्वारा सम
आगे कबतक बनी रहेगी, यह निश्चित रूप
साम्यवादी देशों के प्रतिनिधियों की जून १९
के लिए कटु आलोचना की गयी थी कि वे अ
नीति को अपना रहे हैं।

साम्यवादी जगत् की नयी प्रवृत्ति

१९६० तक साम्यवादी जगत् में अटूट और सु
सभी साम्यवादी राज्य सोवियत संघ के नेतृत्व को म
टूटती नजर आने लगी और साम्यवादी जगत् में उग्र मत
प्रारम्भ सोवियत संघ और चीन के सैद्धान्तिक मतभेद से शुरू
गम्भीर रूप धारण कर लिया है। यहाँ तक कि सीमा-विवाद
संघर्ष भी शुरू हो गया है। पोलैंड में भी सोवियत-विरोधी भ
उन्नीसवीं शताब्दी के जारशाही के समय रूस विरोधी लिखा गया ना
प्रिय था। इसमें कहा गया है कि "मास्को से बेवकूफ और जासूस
ने इस नाटक पर प्रतिबन्ध लगाया तो विद्यार्थियों ने इसका विरोध कि
में कई अवसरों पर विद्यार्थियों तथा पुलिस के बीच मुठभेड़ें हुई। रूम
अलग रास्ता चुनने में व्यस्त है। उसने सोवियत संघ समर्थित परमाणु अ
संधि का विरोध किया है। वह वारसा संधि की भी आलोचना करने लगा
विदेश नीति का समर्थक बनता जा रहा है। साम्यवादी देशों के मतभेदों का एक
संसार के साम्यवादी दलों का बुडापेस्ट सम्मेलन (मार्च १९६८) है। इससे प
साम्यवादी सम्मेलन में ८१ देशों ने भाग लिया था। बुडापेस्ट में केवल ६६ देशों
लिया। इस प्रकार ऐसा लगता है कि साम्यवादी जगत् में मतभेद की प्रवृत्ति प्रबल हो र
अगस्त १९६८ का चेकोस्लोवाकिया कांड इस प्रवृति का महान् व्यक्त रूप है।

चेकोस्लोवाकिया में उदारवाद :—१९६७ के मध्य से चेकोस्लोवाकिया के जीवन में
कुछ नयी प्रवृत्तियों का समावेश होने लगा और वहाँ उदारवाद धीरे-धीरे जड़ पकड़ने लगा।
वहाँ पर अभी भी स्टालिनवादियों का प्रभुत्व था। चेक साम्यवादी दल के महामंत्री तथा राष्ट्रपति

जरूरी मालूम थी, लेकिन क्रान्ति एवं समाजवाद विरोधियों को विदेशी सहायता मिलने की पूरी सम्भावना हो गयी थी। चेकोस्लोवाकिया के प्रति पश्चिम जर्मनी का इरादा शुरू से ही शंका उत्पन्न कर रहा था। पश्चिम जर्मनी को सरकार का पूरा प्रयास होने लगा कि वह आर्थिक दृष्टिकोण से किसी तरह चेकोस्लोवाकिया में प्रवेश कर जाय। इसलिए उसने यह घोषणा की कि वह चेकोस्लोवाकिया को हर तरह की आर्थिक सहायता देने को तैयार है। इसके बाद पश्चिम जर्मनी के अखबारों में "चेकोस्लोवाकिया के तटस्थीकरण" की चर्चा भी होने लगी। यहाँ तक कि एक नये "लघु मैत्री संघ" की स्थापना (देखिये पृष्ठ १०) की बात भी की गयी। स्पष्ट है कि इस प्रकार का संघ पश्चिम समर्थक और सोवियत विरोधी होता।

पूर्वी यूरोप की रक्षा के दृष्टिकोण से चेकोस्लोवाकिया का एक महत्वपूर्ण सामरिक महत्त्व है और चेकोस्लोवाकिया के बिना वारसा पैक्ट का कोई सैनिक महत्व नहीं रह जाता है। चेकोस्लोवाकिया को जीतने के बाद ही हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण किया था। इस दृष्टिकोण से वहाँ पश्चिम जर्मनी के षड्यन्त्रों को चुपचाप देखते रहना कई दृष्टियों से खतरनाक था। यह ठीक है कि तत्काल पश्चिम जर्मनी की ओर से आक्रमण का कोई खतरा नहीं था, लेकिन उसके प्रोत्साहन से चेकोस्लोवाकिया में समाजवादी विरोधी तत्वों के हौसले बहुत बढ़ रहे थे। इस हालत में सोवियत संघ और वारसा सन्धि के राष्ट्रों के समक्ष दो ही रास्ते थे; तुरत कोई कार्रवाई करके इन विरोधी तत्वों का सफाया कर दिया जाय अथवा तबतक रुका

---

of press, criticized the Soviet Union. After the Bratislava agreement too, the criticism continued, even though the Czechs had agreed to restrain the press. The danger was real that the press war could estrange relations between the two countries.

"Czechoslovakia was very different from the other East European countries. Bohemia had been part of the German State system, for over three centuries, before it became independent. Its aristocracy was Germanized, it was the *middle class which emerged in 19th century as the leaders of Czech and* Slovak nationalism. It had a modern industry and its working class was very similar to the German or the Austrian working class. It was the only East European country that successfully worked the Western liberal democratic system in the inter-war period. Though geographically a part of east-central Europe, politically it was a part of West Europe. The other East European states were different. They did not possess modern industry on the same scale, the middle class was not dominant, the working class developed. The differences were accentuated by political developments after the war. The 1948 Communist takeover did not lead to an exodus. The Czech middle class accepted the revolution and adopted themselves to it. The result has been that even today a large number of people with a middle class background not only outside the Communist party but inside it, took advantage of the liberalization measures to come into the open. They can outbid the Communists on *nationalism and on liberalization* and their challenge may lead Czechoslovakia to drift to social democracy."

—*Link*, September 1, 1968, pp. 11-12.

"रूस-हंगरी मैत्री सभा" में भाषण करते हुए सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के सेक्रेटरी ब्रेजनेव न कहा : "प्रत्येक देश में समाजवाद की स्थापना का स्वरूप मौलिक होना चाहिए, किन्तु समाजवादी देशों को सामान्य मूल सिद्धान्तो को मान्यता अवश्य देनी चाहिए, अन्यथा समाजवाद का अस्तित्व मिट जायगा।" उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि इसके विना समाजवाद बना नही रह सकता है। यही कारण है कि अपने देश में साम्यवाद का निर्माण करते हुए हम दूसरे देश में समाजवादी निर्माण की ओर से उदासीन नहीं रह सकते हैं।

चेकोस्लोवाकिया की उदारवादी प्रवृत्ति से वहाँ के समाजवाद विरोधियों ने लाभ उठाना शुरू किया और गुप्त रूप से चेकोस्लोवाकिया में कई विदेशी अड्डे कायम हो गये जिनका उद्देश्य चेकोस्लोवाकिया से साम्यवादी व्यवस्था का अन्त करना था। पश्चिमी जर्मनी इस कार्य में विशेष रूप से सक्रिय प्रतीत होता था। इस हालत में चेकोस्लोवाकिया की घटनाओ से सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशो का चिन्तित होना स्वाभाविक था। अतएव डुवचेक पर हर तरह के दवाव डाले गये ताकि सुधारों की गति धीमी हो। साम्यवादी खेमें में भी इस दबाव का विरोध हुआ। कहा गया कि युगोस्लाविया भी एक कम्युनिस्ट देश था जहाँ कई तरह के उदारवादी सुधार लागू हुए; फिर भी वहाँ समाजवाद की नींव दृढ़ बनी रही। इसके जवाब में यह कहा गया कि चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया में तुलना करना ही बेकार है; क्योंकि यूगोस्लाविया में जो भी सुधार लागू हुए वे धीरे-धीरे हुए। लेकिन चेकोस्लोवाकिया के साथ ऐसी बात नही थी। वहाँ सुधारो की रफ्तार बहुत तेज थी अतः इस बात की पूरी आशंका हो गयी थी कि वहाँ क्रान्ति के विरुद्ध प्रतिक्रान्ति हो हो जायगी, क्योंकि समाजवाद से विरोधी तत्त्वो को अपना सर उठाने का मौका मिल जाता। चेकोस्लोवाकिया की परिस्थिति पूर्वी यूरोप के अन्य साम्यवादी देशों की परिस्थिति से एकदम भिन्न थी। उसके एक प्रान्त बोहेमिया में अभी भी ऐसे लोग निवास करते हैं जिनका पश्चिम जर्मनी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे लोग किसी भी क्षण राज्य के अस्तित्व के लिए खतरनाक हो सकते थे।[1] ऐसे तत्त्वो को कुचलने के लिए चेकोस्लोवाकिया की सरकार

---

1. "It was more than anything the pace of liberalisation that was the bone of contention. The argument that Yugoslavia has introduced the reforms without shaking the foundation of the regime is not a valid one for there it was by a process of trial and error extending over two decades that the present stage has been reached. The Czechoslovak pace was breath taking, there was a real danger that it would create a situation which would encourage counter-revolutionary forces."

"This is not more idle speculation. The French Revolution itself started when the autocracy started dismantling itself, there was no holding back after the Estates had been summoned. This was what the Soviet Union feared. Unrestricted freedom of press and opinion, it felt, would encourage the anti-socialists to emerge as the champions of Czech nationalism. By criticizing the Soviet Union and other Warsaw Pact countries they would win support and even Communists whose faith was lukewarm, would follow. This process had already started. The Czechoslovak press and radio in the name of freedom

काफी ताकतवर थी, लेकिन क्रान्ति एवं समाजवाद विरोधियों को विदेशी सहायता मिलने की पूरी सम्भावना हो गयी थी। चेकोस्लोवाकिया के प्रति पश्चिम जर्मनी का इरादा शुरू से ही शंका उत्पन्न कर रहा था। पश्चिम जर्मनी की सरकार का पूरा प्रयास होने लगा कि वह आर्थिक दृष्टिकोण से किसी तरह चेकोस्लोवाकिया में प्रवेश कर जाय। इसलिए उसने यह घोषणा की कि वह चेकोस्लोवाकिया को हर तरह की आर्थिक सहायता देने को तैयार है। इसके बाद पश्चिम जर्मनी के अखबारों में "चेकोस्लोवाकिया के तटस्थीकरण" की चर्चा भी होने लगी। यहाँ तक कि एक नये "लघु मैत्री संघ" की स्थापना (देखिये पृष्ठ ९०) की बात भी की गयी। स्पष्ट है कि इस प्रकार का संघ पश्चिम समर्थक और सोवियत विरोधी होता।

पूर्वी यूरोप की रक्षा के दृष्टिकोण से चेकोस्लोवाकिया का एक महत्त्वपूर्ण सामरिक महत्त्व है और चेकोस्लोवाकिया के बिना वारसा पैक्ट का कोई सैनिक महत्व नहीं रह जाता है। चेकोस्लोवाकिया को जीतने के बाद ही हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण किया था। इस दृष्टिकोण से वहाँ पश्चिम जर्मनी के षड्यन्त्रों को चुपचाप देखते रहना कई दृष्टियों से खतरनाक था। यह ठीक है कि तत्काल पश्चिम जर्मनी की ओर से आक्रमण का कोई खतरा नहीं था, लेकिन उसके प्रोत्साहन से चेकोस्लोवाकिया में समाजवादी विरोधी तत्त्वों के हौसले बहुत बढ़ रहे थे। इस हालत में सोवियत संघ और वारसा सन्धि के राष्ट्रों के समक्ष दो ही रास्ते थे; तुरत कोई कार्रवाई करने इन विरोधी तत्त्वों का सफाया कर दिया जाय अथवा तबतक रुका

---

of press, criticized the Soviet Union. After the Bratislava agreement too, the criticism continued, even though the Czechs had agreed to restrain the press. The danger was real that the press war could estrange relations between the two countries.

"Czechoslovakia was very different from the other East European countries. Bohemia had been part of the German State system, for over three centuries, *before it became independent. Its aristocracy was Germanized;* it was the middle class which emerged in 19th century as the leaders of Czech and Slovak nationalism. It had a modern industry and its working class was very similar to the German or the Austrian working class. It was the only East European country that successfully worked the Western liberal democratic system in the inter-war period. Though geographically a part of east-central Europe, politically it was a part of West Europe. The other East European states were different. They did not possess modern industry on the same scale, the middle class was not dominant, the working class developed. The differences were accentuated by political developments after the war. The 1948 Communist takeover did not lead to an exodus. The Czech middle class accepted the revolution and adopted themselves to it. The result has been that even today a large number of people with a middle class background not only outside the Communist party but inside it, took advantage of the liberalization measures to come into the open. They can outbid the Communists on nationalism and on liberalization and their challenge may lead Czechoslovakia to drift to social democracy."

—*Link*, September 1. 1968, pp. 11-12.

"रूस-हंगरी मैत्री सभा" में भाषण करते हुए सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के सेक्रेटरी ब्रेजनोव ने कहा : "प्रत्येक देश में समाजवाद की स्थापना का स्वरूप मौलिक होना चाहिए, किन्तु समाजवादी देशों को सामान्य मूल सिद्धान्तों को मान्यता अवश्य देनी चाहिए, अन्यथा समाजवाद का अस्तित्व मिट जायगा।" उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि इसके बिना समाजवाद बना नहीं रह सकता है। यही कारण है कि अपने देश में साम्यवाद का निर्माण करते हुए हम दूसरे देश में समाजवादी निर्माण की ओर से उदासीन नहीं रह सकते हैं।

चेकोस्लोवाकिया की उदारवादी प्रवृत्ति से वहाँ के समाजवाद विरोधियों ने लाभ उठाना शुरू किया और गुप्त रूप से चेकोस्लोवाकिया में कई विदेशी अड्डे कायम हो गये जिनका उद्देश्य चेकोस्लोवाकिया से साम्यवादी व्यवस्था का अन्त करना था। पश्चिमी जर्मनी इस कार्य में विशेष रूप से सक्रिय प्रतीत होता था। इस हालत में चेकोस्लोवाकिया की घटनाओं से सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों का चिन्तित होना स्वाभाविक था। अतएव डुबचेक पर हर तरह के दबाव डाले गये ताकि सुधारों की गति धीमी हो। साम्यवादी खेमें में भी इस दबाव का विरोध हुआ। कहा गया कि युगोस्लाविया भी एक कम्युनिस्ट देश था जहाँ कई तरह के उदारवादी सुधार लागू हुए; फिर भी वहाँ समाजवाद की नींव दृढ़ बनी रही। इसके जवाब में यह कहा गया कि चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया में तुलना करना ही बेकार है; क्योंकि युगोस्लाविया में जो भी सुधार लागू हुए वे धीरे-धीरे हुए। लेकिन चेकोस्लोवाकिया के साथ ऐसी बात नहीं थी। वहाँ सुधारों की रफ्तार बहुत तेज थी अतः इस बात की पूरी आशंका हो गयी थी कि वहाँ क्रान्ति के विरुद्ध प्रतिक्रान्ति हो हो जायगी, क्योंकि समाजवाद से विरोधी तत्त्वों को अपना सर उठाने का मौका मिल जाता। चेकोस्लोवाकिया की परिस्थिति पूर्वी यूरोप के अन्य साम्यवादी देशों की परिस्थिति से एकदम भिन्न थी। उसके एक प्रान्त बोहेमिया में अभी भी ऐसे लोग निवास करते हैं जिनका पश्चिम जर्मनी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे लोग किसी भी क्षण राज्य के अस्तित्व के लिए खतरनाक हो सकते थे।[1] ऐसे तत्त्वों को कुचलने के लिए चेकोस्लोवाकिया की सरकार

1. "It was more than anything the pace of liberalisation that was the bone of contention. The argument that Yugoslavia has introduced the reforms without shaking the foundation of the regime is not a valid one for there it was by a process of trial and error extending over two decades that the present stage has been reached. The Czechoslovak pace was breath taking, there was a real danger that it would create a situation which would encourage counter-revolutionary forces."

"This is not more idle speculation. The French Revolution itself started when the autocracy started dismantling itself; there was no holding back after the Estates had been summoned. This was what the Soviet Union feared. Unrestricted freedom of press and opinion, it felt, would encourage the anti-socialists to emerge as the champions of Czech nationalism. By criticizing the Soviet Union and other Warsaw Pact countries they would win support and even Communists whose faith was lukewarm, would follow. This process had already started. The Czechoslovak press and radio in the name of freedom

काफी ताकतवर थी, लेकिन क्रान्ति एवं समाजवाद विरोधियों को विदेशी सहायता मिलने की पूरी सम्भावना हो गयी थी। चेकोस्लोवाकिया के प्रति पश्चिम जर्मनी का इरादा शुरू से ही शंका उत्पन्न कर रहा था। पश्चिम जर्मनी को सरकार का पूरा प्रयास होने लगा कि वह आर्थिक दृष्टिकोण से किसी तरह चेकोस्लोवाकिया में प्रवेश कर जाय। इसलिए उसने यह घोषणा की कि वह चेकोस्लोवाकिया को हर तरह की आर्थिक सहायता देने को तैयार है। इसके बाद पश्चिम जर्मनी के अखबारो में "चेकोस्लोवाकिया के तटस्थीकरण" की चर्चा भी होने लगी। यहाँ तक कि एक नये "लघु मैत्री संघ" की स्थापना (देखिये पृष्ठ ९०) की बात भी की गयी। स्पष्ट है कि इस प्रकार का संघ पश्चिम समर्थक और सोवियत विरोधी होता।

पूर्वी यूरोप की रक्षा के दृष्टिकोण से चेकोस्लोवाकिया का एक महत्त्वपूर्ण सामरिक महत्त्व है और चेकोस्लोवाकिया के बिना वारसा पैक्ट का कोई सैनिक महत्व नही रह जाता है। चेकोस्लोवाकिया को जीतने के बाद ही हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण किया था। इस दृष्टिकोण से वहाँ पश्चिन जर्मनी के षड्यन्त्रों को चुपचाप देखते रहना कई दृष्टियों से खतरनाक था। यह ठीक है कि तत्काल पश्चिम जर्मनी की ओर से आक्रमण का कोई खतरा नही था, लेकिन उसके प्रोत्साहन से चेकोस्लोवाकिया में समाजवादी विरोधी तत्त्वो के हौसले बहुत बढ़ रहे थे। इस हालत में सोवियत संघ और वारसा सन्धि के राष्ट्रों के समक्ष दो ही रास्ते थे; तुरत कोई कार्रवाई करने इन विरोधी तत्त्वो का सफाया कर दिया जाय अथवा तबतक रूका

of press, criticized the Soviet Union. After the Bratislava agreement too, the criticism continued, even though the Czechs had agreed to restrain the press. The danger was real that the press war could estrange relations between the two countries.

"Czechoslovakia was very different from the other East European countries. Bohemia had been part of the German State system, for over three centuries, before it became independent. Its aristocracy was Germanized; it was the middle class which emerged in 19th century as the leaders of Czech and Slovak nationalism. It had a modern industry and its working class was very similar to the German or the Austrian working class. It was the only East European country that successfully worked the Western liberal democratic system in the inter-war period. Though geographically a part of east-central Europe, politically it was a part of West Europe. The other East European states were different. They did not possess modern industry on the same scale, the middle class was not dominant, the working class developed. The differences were accentuated by political developments after the war. The 1948 Communist takeover did not lead to an exodus. The Czech middle class accepted the revolution and adopted themselves to it. The result has been that even today a large number of people with a middle class background not only outside the Communist party but inside it, took advantage of the liberalization measures to come into the open. They can outbid the Communists on nationalism and on liberalization and their challenge may lead Czechoslovakia to drift to social democracy."

—*Link*, September 1, 1968, pp. 11-12.

रहा जाय जबतक ये तत्त्व चेकोस्लोवाकिया में अत्यन्त प्रबल नहीं हो जाते हैं। इन उपायों में एक को चुनना बड़ा ही कठिन कार्य था। फिर भी सोवियत संघ ने प्रथम उपाय का अवलम्बन करना ही उचित समझा। चेकोस्लोवाकिया में सोवियत संघ और वारसा सन्धि के चार अन्य राज्यों के हस्तक्षेप की यही पृष्ठभूमि थी।

सोवियत हस्तक्षेप—वारसा सन्धि के पाँच सदस्य देशों-सोवियत संघ, हंगरी, पूर्वी जर्मनी और बुल्गेरिया ने १४-१५ जुलाई के वारसा सम्मेलन के बाद एक संयुक्त पत्र चेकोस्लोवाकिया को भेजा। पत्र में चेकोस्लोवाकिया की नयी सरकार पर "प्रतिक्रान्तिकारी" और समाजवादी व्यवस्था को खतरा पैदा करने वाली होने का आरोप लगाते हुए चेक नेताओं को यह चेतावनी दी गयी कि यदि उन्होंने अपना रवैया नहीं बदला तो उनके विरुद्ध कठोर कार्रवाई की जायगी। पत्र में कहा गया : हम यह कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते हैं कि साम्राज्यवाद समाजवादी व्यवस्था में मतभेद पैदा करे और यूरोप में शक्ति-संतुलन अपने पक्ष में कर ले—चाहे यह काम शान्तिपूर्ण अथवा अशान्तिपूर्ण उपायों से किया जाय फिर चाहे यह भीतर से हो या बाहर से।

"आप के प्रेस, रेडियो और टेलीविजन के वारसा सन्धि की सेनाओं के अभ्यास के विरुद्ध अभियान छेड़ रखा है। सम्भवतः यह सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों के प्रति अविश्वास पैदा करने तथा आक्रामक भावनाएँ भड़काने के उद्देश्य से किया जा रहा है।

"आप की पार्टी और आप के देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की न तो इच्छा थी और न है…हम अतीत की भाँति आप के समक्ष आ कर आप को यह बताना नहीं चाहते हैं कि समाजवादी विधान के उल्लंघन सहित जो भूलें आप ने की हैं उन्हें सुधार लें।

"इसके साथ ही हम इससे भी सहमत नही हो सकते हैं कि शत्रु-शक्तियाँ आपके देश को समाजवाद के पथ से भ्रष्ट करें और चेकोस्लोवाकिया के समाजवादी समुदाय से अलग होने का खतरा पैदा करें।"

वारसा सन्धि के इस संयुक्त पत्र की चेकोस्लोवाकिया में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। चेकोस्लोवाकिया कम्युनिस्ट पार्टी ने पत्र में लगाये गये आरोपो का खण्डन किया और यह इच्छा व्यक्त की कि समस्या के समाधान के लिए रूस तथा अन्य कम्युनिस्ट पार्टियों से सीधी द्विपक्षीय वार्त्ता होनी चाहिए। चेकोस्लोवाकी कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष-मण्डल ने संयुक्त पत्र के उत्तर में इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि चेकोस्लोवाकिया की स्थिति और पार्टी के उद्देश्यों को इतना गलत समझा गया। उत्तर में कहा गया :

"इसमें कोई संदेह नही है कि हमारी भावी गतिविधियो के सम्बन्ध में सचाईपूर्वक दिये गये इस परामर्श में गतिशील सामाजिक विकास की तमाम पेचीदगियों को ध्यान में नही रखा गया।

"हम यह स्वीकार करते हैं कि चेकोस्लोवाकिया में विभिन्न शक्तियाँ उभर कर सामने आयी है, जिन में कुछ दक्षिणपंथी हैं और कुछ जनवरी से पूर्व की स्थिति में लौटने के हिमायती हैं। किन्तु, इन शक्तियो से कोई गंभीर खतरा नही है।

"पार्टी पड़ोसी देशों की आशंकाओं को समझती है किन्तु यह भी अनुभव करती है कि ये आशंकाएँ निराधार हैं। वर्त्तमान समस्याएँ अनेक वर्षों के नौकरशाही केन्द्रवाद का परिणाम है।

"इन पद्धतियों को पुनः अपनाने का कोई भी संकेत पार्टी सदस्यों के प्रबल बहुमत, श्रमजीवी वर्ग, मजदूरों, सरकारी किसानों और बौद्धिकों की प्रतिरोध क्षमता को भड़का देगा। इस प्रकार का कदम उठा कर पार्टी अपने राजनैतिक नेतृत्व को पंगु बना देगी और ऐसी स्थिति पैदा कर देगी जिसमें वास्तविक सत्ता-संघर्ष छिड़ जायगा।"

अपने उत्तर में चेकोस्लोवाकी कम्युनिस्ट पार्टी ने सुधार के अपने कार्यक्रम पर दृढ़ रहने का निश्चय व्यक्त किया और समाजवादी व्यवस्था के प्रति अपनी आस्था दोहरायी।

इन पत्रों के आदान-प्रदान के बाद साम्यवादी जगत में घटनाएँ तीव्र गति से घटने लगीं और २१ अगस्त, १८६६ को सोवियत संघ तथा वारसा सन्धि के देशों की सेना चेकोस्लोवाकिया में घुस कर उसके कई नगरों पर कब्जा कर लिया। इन सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया की राष्ट्रीय असेम्बली के १६६ सदस्यों को घेर लिया और चेक कम्युनिस्ट पार्टी के नेता डुबचेक को गिरफ्तार कर लिया। इसी बीच सम्पूर्ण चेकोस्लोवाकिया में पश्चिम जर्मनी के एजेन्ट सक्रिय हो गये जिन्होंने देश के भीतर कई "स्वतन्त्र चेक रेडियो" की स्थापना कर ली। इन रेडियो स्टेशनों से सोवियत और समाजवाद-विरोधी प्रचार बड़े धड़ल्ले से होने लगे। पर कुछ ही घण्टों में सम्पूर्ण चेकोस्लोवाकिया हस्तक्षेपकारियों के कब्जे में आ गया। सोवियत आधिपत्य के विरुद्ध में प्राग में हुई हड़ताल और चेक नागरिकों ने "रूसी हत्यारो लौट जाओ" के नारे लगाये। लेकिन कहीं भी व्यापक पैमाने पर हिंसात्मक कार्रवाई नहीं हुई। सम्पूर्ण सैनिक अभियान के दौरान केवल तेईस व्यक्ति मारे गये।

चेकोस्लोवाकिया में रूसी हस्तक्षेप ने शीत-युद्ध के महारथियों को एक नया अवसर दिया। पश्चिमी यूरोप, ब्रिटेन और अमेरिका ने "चेक जनता की मुक्ति संग्राम" का समर्थन किया और शीघ्र ही इस मामले को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में उठाया गया। सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पास करके सोवियत संघ और उसके साथी देशों के इस कदम की निन्दा की। (मतदान में भारत और पाकिस्तान समेत छः देशों ने भाग नहीं लिया।)

मास्को समझौता :—इन घटनाओं के तुरत बाद चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति लुडविक स्वोवोदा चेकोस्लोवाकिया की वर्तमान स्थिति पर विचार-विमर्श करने के लिए मास्को गये। मास्को की सड़कों पर उनका अभूतपूर्व राजकीय स्वागत हुआ। बाद में चेक पार्टी के नेता डुबचेक तथा प्रधान मंत्री चेर्निक को भी बातचीत में हिस्सा लेने के लिए मास्को बुलाया गया। दो दिनों की वार्ता के बाद २६ अगस्त को दोनों पक्षों के बीच एक समझौता हुआ जिसके मुताबिक यह तय हुआ कि राष्ट्रपति स्वोवोदा अलेक्जेन्डर डुबचेक और प्रधान मंत्री चेर्निक अपने पदों पर बने रहेंगे और सोवियत सेनाएँ चेकोस्लोवाकिया से क्रमशः वापस आती जायेंगी। लेकिन इसके साथ ही यह निश्चय हुआ कि स्थिति के सामान्य होने तक सोवियत सेनाएँ चेकोस्लोवाकिया में बनी रहेंगी।

मास्को समझौता के बाद :- मास्को समझौता के उपरान्त चेक नेताओं को उन सुधार की सभी योजनाओं को खत्म करना पड़ा और इस प्रकार चेकोस्लोवाकिया में स्थिति धीरे-धीरे

सामान्य होने लगी। लेकिन कुछ दिनों बाद चेकोस्लोवाकिया की स्थिति पुनः गम्भीर रूप धारण करने लगी। कुछ चेक लोगों ने सोवियत कार्रवाई के खिलाफ आत्मदाह करना शुरू किया। आत्मदाहों की शृंखला ने चेक नेताओं को बहुत परेशान किया। पालाच नामक एक आत्मदाही की शव यात्रा में कोई पाँच लाख व्यक्ति शामिल हुए। २८ मार्च, १९६९ को प्राग में पुनः एक उग्र सोवियत विरोधी प्रदर्शन हुआ। क्रुद्ध भीड़ ने रूसी सैनिक अड्डों पर धावा बोल दिया। चेक नेताओं की अपील और सोवियत संघ के विरोध के बावजूद प्रदर्शन होते रहे। स्थिति को बिगड़ते देखकर सोवियत सरकार ने चेक सरकार को उपद्रव पर तत्काल काबू पाने की चेतावनी दी। इन प्रदर्शनों से सोवियत संघ और चेकोस्लोवाकिया का सम्बन्ध और भी बिगड़ गया। सोवियत संघ ने चेक नेताओं के समक्ष कुछ शर्तें रखीं जिनको पूरा न किये जाने पर पुनः सैनिक हस्तक्षेप करने की धमकी दी। ४ अप्रिल को इस धमकी को पुनः दुहराया गया। १७ अप्रिल को डुबचेक को चेकोस्लोवाकी कम्युनिस्ट पार्टी के प्रथम सचिव के पद से हटना पड़ा। १८ अप्रिल को पार्टी के उदारवादी नेता जोसेफ स्मर्कोवस्की का भी प्रीजीडियम से निष्कासन हो गया। डुबचेक की जगह गेस्तात हसाक को प्रथम सचिव का पद दिया गया। इस परिवर्तन के बाद चेकोस्लोवाकिया की स्थिति धीरे-धीरे सामान्य होती जा रही है।

सोवियत विदेश नीति का मूल्यांकन

सोवियत-संघ की विदेश नीति विशेषकर स्टालिनोत्तर काल की विदेश-नीति आज शान्ति को स्थायी और सुरक्षित बनाने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व साबित हो रहा है। उसने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का जो नारा फिर से बुलन्द किया है उसका प्रभाव आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पड़ता दिखायी पड़ रहा है। लेकिन इस बात पर आज विद्वानों और कुशल प्रेक्षकों के बीच घोर मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि सोवियत संघ के सह-अस्तित्व का नारा एक ढोंग है जो तटस्थ राष्ट्रों को अपना समर्थक बनाने के लिए रचा गया है। रूस वास्तव में नहीं वरन् दिखलाने के लिए शान्तिवाद के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता है। कुछ दूसरे समीक्षक इसको सोवियत व्यवस्था में सन्निहित दुर्बलताओं और अन्तर्विरोधों का परिचायक मानते हैं। कुछ और लोगों का कहना है विश्व-क्रान्ति में रूस का उत्साह मन्द पड़ गया है। इसीलिए सोवियत संघ अधिक उदारवादी हुआ है और नयी विदेश नीति का निर्धारण साम्यवादी सिद्धान्त पर आधारित न होकर वस्तु-स्थिति पर आधारित है। प्रोफेसर टायनवी ने साम्यवादी आन्दोलन की तुलना इस्लाम [illegible] है। उनके मतानुसार साम्यवाद इस्लाम की तरह सैनिकवादी आन्दोलन [illegible] शिथिल पड़ता जा रहा है। इस्लाम के प्रारम्भिक अनुयायियों ने अनेक देशों को जीतकर असंख्य लोगों को मुसलमान [illegible]। पर [illegible] मन्द पड़ गया और दूसरे धर्मों के साथ समझौता करने [illegible] उग्र प्रचार और अप्रत्याशित प्रसार के बाद साम्यवा[illegible] पड़ गया है और वे शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की बात क[illegible] हुये टायनवी के इस विचार से सहमत नहीं है। उन्हीं[illegible] मन्दता कई शताब्दियों के बाद लाखों व्यक्तियों को [illegible]

शक्तियों के प्रवल होने से आयी थी। साम्यवाद में अभी ऐसी कोई अवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती।"

सोवियत संघ के सह-अस्तित्व के नारे पर इस तरह के कई विचार प्रकट किये गये हैं और भविष्य में भी किये जायेंगे। पर इन सबों में अमरीकी दृष्टिकोण अत्यन्त हास्यास्पद है। इसके अनुसार सोवियत संघ की आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही है। रूस में उदारवादी प्रवृत्ति का अभ्युदय तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का नारा इसी आर्थिक विघटन का परिणाम है। पर यदि तथ्यों के आधार पर इस दृष्टिकोण का विश्लेषण किया जाय तो यह निराधार प्रतीत होता है। शान्ति के लिए सोवियत संघ का प्रयास उसकी दुर्बलता का परिचायक नहीं है। सैनिक दृष्टि से आज का सोवियत संघ संसार का सबसे शक्तिशाली देश है। आर्थिक क्षेत्र में भी उसने पहले की अपेक्षा अधिक प्रगति की है। सोवियत संघ के सामाजिक जीवन का स्तर भी ऊँचा उठा है। अतएव स्तालिनोत्तर सोवियत विदेश-नीति का अध्ययन हमें इन सभी आर्थिक, सामाजिक और सामरिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में करना होगा। पिछले बीस वर्षों में सोवियत संघ ने जो प्रगति की है उसके फलस्वरूप सोवियत नागरिकों और नेताओं को अपनी साम्यवादी व्यवस्था की श्रेष्ठता में अटूट विश्वास कायम हो गया है। इसके साथ ही वे यह भी समझने लगे हैं कि संसार के लोगों के सामने इस श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए युद्ध का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं रह गयी है। यह श्रेष्ठता शान्तिमय वातावरण में आप ही आप सिद्ध हो जायगी। वर्तमान सोवियत विदेश नीति, और उसके शान्तिपूर्ण सह जीवन का मूल सिद्धान्त इसी विश्वास पर आधारित है।

अध्याय १५

विश्व-राजनीति में यूरोप, एशिया और अफ्रिका

(१) यूरोपीय समस्याएँ

विश्व-राजनीति में यूरोप की स्थिति—आज से केवल पचीस-तीस वर्ष पहले यूरोप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सभी गतिविधियों का केन्द्र था। संसार की सभी समस्याओं का समाधान लंदन, पेरिस, बर्लिन, रोम इत्यादि राजधानियों में बैठे-बैठे हो जाता था। लेकिन आज ये सब जगह ऐतिहासिक स्थान हो गये हैं। कभी-कभी इन जगहों के नाम अखबार के प्रथम पृष्ठ पर छप जाते हैं; लेकिन उनका पुराना महत्त्व अब समाप्त हो चुका है। आज यूरोप के देश जर्जर होकर पस्त पड़े हुए हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध से उनको इतनी अपार क्षति पहुँची कि वे अपने को सम्हाल नहीं पा रहे हैं। एशिया और अफ्रिका के उनके अधिकांश उपनिवेश समाप्त हो चुके हैं और जो बच रहे हैं, वे बोझ बन गये हैं। बहुत दिनों तक सारा पश्चिमी यूरोप अमेरिका पर आश्रित था। यदि अमेरिका कुछ समय के लिए अपनी सहायता बन्द कर देता तो इन देशों की आँखों के सामने अन्धेरा छा जाता था। युद्ध-कला में परिवर्तन हो जाने के कारण इनका महत्त्व और भी गौण पड़ गया है। पश्चिमी यूरोपीय देशों को केवल ब्रिटेन और फ्रांस को छोड़कर, न तो परमाणु बम है और न द्रुतगामी वायुयान ही। सामरिक दृष्टि से वे साधारण शक्ति हो चुके हैं। जिस यूरोप ने कभी संसार पर शासन किया वह अब जर्जर होकर लड़खड़ा रहा है। संसार का शक्ति-सन्तुलन अब उनके ऊपर निर्भर नहीं करता। उनकी आन्तरिक स्थिति अब इतनी खराब हो गयी है कि सब के सब अब अपने घर को सम्हालने में ही व्यस्त हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से यूरोप का स्थान उपेक्षित हो गया है। युद्ध के बाद सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रमुख शक्तियों के रूप में उत्कर्ष पश्चिम यूरोप के देशों को व्यथित करने लगा है। इन दो नवीन महाशक्तियों के बीच में पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों के लिए आत्मरक्षा और उन्नति का विकट प्रश्न उपस्थित हो गया है। परन्तु इन देशों को सबसे अधिक भय सोवियत साम्यवाद से लगता है। इस भय के निराकरण के लिए इन राज्यों ने अब अपना आर्थिक और राजनीतिक एकीकरण आवश्यक समझा है।

युद्ध के बाद यूरोपीय एकता का आन्दोलन सर्वप्रथम चर्चिल ने चलाया। १९४६ में ज्यूरिच में नयी परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए उसने कहा : "इसका सर्वोत्तम उपाय क्या है? इलाज एक यूरोपीय परिवार की रचना है और उसे एक ऐसा ढाँचा प्रदान करना है जिसके नियन्त्रण में यह शान्ति, सुरक्षा तथा स्वतन्त्रता के साथ रह सके। हमें एक प्रकार का "यूरोप का संयुक्त राज्य" कायम करना चाहिए। केवल इसी मार्ग का अनुसरण करके करोड़ों मेहनत-

कशो को उन प्रसन्नताओं और आशाओं की उपलब्धि हो सकेगी जिनसे रहने योग्य जीवन का निर्माण होता है।"
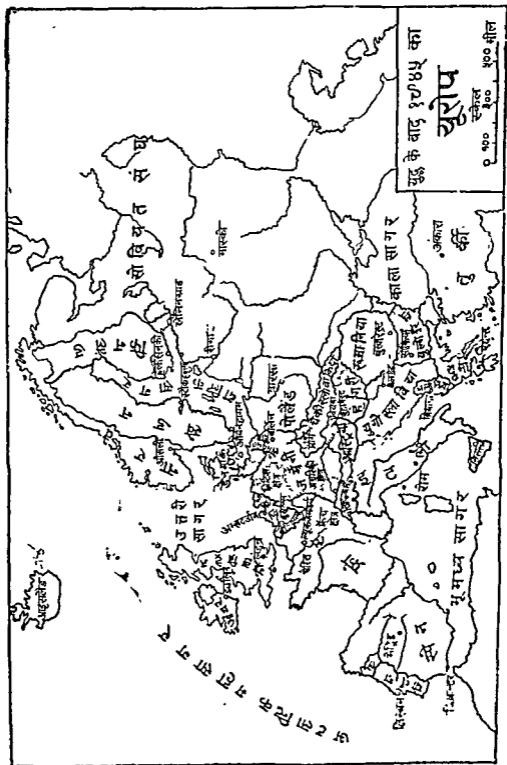
संयुक्त राज्य अमेरिका भी ऐसे संगठनो को आवश्यक समझता था। ५ जून, १९४७ को अमरीकी विदेश सचिव मार्शल ने पश्चिमी यूरोप के देशों से यह अनुरोध किया कि वे अपनी आर्थिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए आपस में एकता स्थापित करें। उसने आश्वासन दिया कि इस काम में अमेरिका उन्हें सहायता देने के लिए तैयार है। इन वक्तव्यों से प्रेरणा लेकर जनवरी, १९४८ में ब्रिटिश विदेश-मन्त्री बेविन ने यूरोप के एकीकरण का एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया जिसके फलस्वरूप पश्चिमी देशो में विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग स्थापित करने के उद्देश्य से अनेक योजनाएँ तैयार की गयी। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण योजनाएँ निम्नलिखित हैं—

यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन—१६ अप्रिल, १९४८ को यूरोप के सत्रह राष्ट्रों ने पेरिस में एक बैठक बुलाकर यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन (Organisation for European Economic Co-operation) का निर्माण किया। इसमें यूरोप के अठारह राज्य सम्मिलित हुए। इसका उद्देश्य इसके सदस्यों की ऐसी सहायता करना था जिससे वे बाह्य सहायता के बिना अपने आर्थिक क्रियाकलाप सन्तोषजनक स्तर तक पहुँचा सकें, अपना उत्पादन बढ़ायें, अपने औद्योगिक संस्थानों तथा कृषि व्यवस्था का विकास और आधुनिकीकरण करें, व्यापार का विस्तार करें, व्यापारिक प्रतिबन्धों को घटाएँ, तथा अपनी अर्थव्यवस्था और मुद्रा-पद्धति को सुदृढ़ बनाएँ। इसके निर्माण का उद्देश्य मार्शल योजना अथवा यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम के अन्तर्गत दी जानेवाली आर्थिक सहायता को व्यवस्थित तथा उपयोगी बनाना था। १९५२ के बाद से इस संगठन ने व्यापार, उत्पादन-वृद्धि तथा अणुशक्ति के शांतिपूर्ण प्रयोग के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं।

१९६० में संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा को इस संस्था में सम्मिलित करने के लिए इस संस्था का पुनर्गठन कर इसका नाम आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (Organisation for Economic Co-operation and Development) रखा गया। इसके कार्य-संचालन के लिए एक परिषद् तथा एक कार्य-समिति है। इसका प्रधान कार्यालय पेरिस में है।

यूरोपीय कौंसिल—५ मई १९४९ को अपने सामान्य आदर्शों तथा सिद्धान्तों की सुरक्षा के निमित्त सदस्यों के बीच अधिकतम एकता कायम करने तथा आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति को प्रोत्साहित करने के लिए यूरोपीय कौंसिल (Council of Europe) की स्थापना हुई। ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, डेनमार्क, आयरलैंड, इटली, नार्वे, स्वेडन, नीदरलैंड आदि इसके सदस्य थे। फिर टर्की, यूनान, आयरलैंड, पश्चिमी जर्मनी, आस्ट्रिया तथा १९६१ में साइप्रस को भी इसकी सदस्यता दे दी गयी। इसका प्रधान कार्यालय स्ट्रासबर्ग में है। इसकी एक मन्त्रिपरिषद् और एक परामर्शदात्री सभा है।

यूरोपीय अदायगी संघ—सितम्बर, १९५० में इस संघ की स्थापना हुई और यह यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन से सम्बद्ध था। इसका प्रयोजन अन्तर यूरोपीय व्यापार को सुविधाजनक बनाना था। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और अदायगियों के भुगतान में बड़ी सुविधा मिली। २७ दिसम्बर, १९५८ को जब पश्चिमी यूरोप की मुद्रा-व्यवस्था में संगठनात्मक परिवर्तन किये [illegible] कर दिया गया।

यूरोपीय कोयला एवं इस्पात समुदाय—१९५० में फ्रांस के विदेश मन्त्री शूमाँ के प्रस्ताव के आधार पर १० अगस्त, १९५२ को यूरोपीय कोयला एवं इस्पात समुदाय (European Coal and Steel Community) की स्थापना की गयी। १८ अप्रिल १९५१ को वेल्जियम, निदरलैंड, लक्जमवर्ग, फ्रांस, इटली और पश्चिमी जर्मनी के प्रतिनिधियों ने पेरिस में एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये और समुदाय का जन्म हुआ। इसका उद्देश्य सदस्य-राज्यों के बीच कोयले तथा इस्पात के उद्योग में होने वाली प्रतिस्पर्द्धा को दूर कर एकता स्थापित करना है। इसमें सम्मिलित देशों को कोयला तथा इस्पात के साधनों को समान शर्तों के आधार पर पहुँचने की सुविधा है। सदस्य-राज्यों के लिए एक सम्मिलित बाजार की व्यवस्था की गयी है। उक्त वस्तुओं पर लगनेवाले कई प्रकार के व्यावसायिक कर उठा दिये गये हैं तथा भेदपूर्ण नीति का बहिष्कार कर दिया गया है।

यूरोपीय आणविक शक्ति-समुदाय—१ जनवरी, १९५८ को यूरोपीय आणविक शक्ति समुदाय (Euratom) नामक संस्था कायम हुई। इसके सदस्य हैं: फ्रांस, पश्चिम जर्मनी, वेल्जियम, इटली, निदरलैंड और लक्जमवर्ग। यह संस्था आणविक शक्ति के सम्बन्ध में कार्य करती है। सदस्य राष्ट्रों में पाये जानेवाले यूरेनियम और थोरियम पर समुदाय का प्राथमिक अधिकार होता है और वही बिना किसी भेद-भाव के इसका वितरण अणुशक्ति प्रतिष्ठानों के बीच करता है। इस समुदाय को ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा का समर्थन भी प्राप्त है। इसका कार्य-संचालन एक आयोग के द्वारा होता है।

यूरोपीय आर्थिक समुदाय—उपर्युक्त छः राष्ट्रों ने २५ मार्च, १९५७ को रोम की एक बैठक में कोयला और इस्पात के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं का भी एक सम्मिलित बाजार कायम करने, आर्थिक ऐक्य स्थापित करने, व्यावसायिक नीति के एकीकरण आदि के उद्देश्य से एक सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसके फलस्वरूप १ जनवरी, १९५८ को यूरोपीय आर्थिक नामक संस्था की नींव पड़ी। पीछे चलकर इसका नाम यूरोपीय सम्मिलित बाजार (European Common Market) पड़ा।

यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार परिषद्—१९५९ को ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, नार्वे, डेनमार्क, पुर्तगाल, स्वेडेन और स्विट्जरलैंड ने यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार परिषद् (European Free Trade Association) कायम किया। १९६१ में फिनलैण्ड भी इसमें सम्मिलित हो गया। इसका उद्देश्य सदस्य-राष्ट्रों के बीच होने वाले व्यापार की कठिनाइयों को दूर कर विभिन्न प्रकार के औद्योगिक उत्पादनों पर लगनेवाले आन्तरिक करों में क्रमशः कमी करना तथा अन्ततः उठाना है। इसकी योजनानुसार १९७० तक सभी आयात कर तथा वाणिज्य शुल्क उठाने का लक्ष्य रखा गया। यह समस्त पश्चिमी यूरोप को एक ही आर्थिक प्रणाली के अन्तर्गत लाना चाहता है। इसके कार्य-संचालन के लिए एक मन्त्रि परिषद् है और इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा में है।

ग्रेट ब्रिटेन की विदेश-नीति

वर्तमान विश्व की राजनीति में संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के अतिरिक्त शक्ति स्तर पर जिस देश का स्थान है, वह निश्चय ही ग्रेट ब्रिटेन है। लेकिन विश्व-राजनीति

में उसका वह पुराना महत्त्व अब नहीं रह गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व वह संसार का सबसे महान् देश था। दुनिया के हर कोने में उसके उपनिवेश थे। ब्रिटिश साम्राज्य एक ऐसा साम्राज्य था जिसमें सूर्य कभी नहीं डूबता था, लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध ने ब्रिटेन के इस सर्वोपरि स्थान को सदा के लिए समाप्त कर दिया। युद्ध के पूर्व अपने विस्तृत साम्राज्य की रक्षा करना तथा यूरोप में शक्ति-सन्तुलन की स्थापना करना ब्रिटिश विदेश-नीति की दो विशेषताएँ थीं। लेकिन वर्तमान विश्व-राजनीति में ब्रिटेन के पास न तो बड़ा साम्राज्य ही रहा और न शक्ति-सन्तुलन कायम रखने का सामर्थ्य ही। अतः उसने शान्तिकाल में ही सुरक्षा-सन्धियों की व्यवस्था निर्माण करना आरम्भ कर दिया।

ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका—संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ युद्ध के बाद से ही ब्रिटेन ने घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न किया है। दोनों के बीच गहरे बन्धन कायम हुए। एक बार चर्चिल ने कहा था कि "हमारे अस्तित्व की सम्पूर्ण नींव संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ सन्धि, मित्रता तथा बढ़ती हुई भाईचारे की भावना पर आधारित है।" वस्तुतः युद्ध के बाद ब्रिटेन की दयनीय आर्थिक दशा ने उसको अमेरिका के साथ सहयोग करने के लिए बाध्य कर दिया। अपनी आर्थिक दशा को सुधारने के लिए उसने मार्शल योजना को स्वीकार किया और उसके अन्तर्गत पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त की। इसके बाद उसने ट्रूमैन सिद्धान्त को भी मान लिया। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच जो शीत-युद्ध प्रारम्भ हुआ उसमें ब्रिटेन ने अमेरिका का पूरा-पूरा समर्थन किया।[1] यद्यपि ब्रिटेन अमरीकी गुट में एक सहायक के रूप में रहा, फिर भी यह स्पष्ट हो गया कि पाश्चात्य जगत् का नेतृत्व अब ब्रिटेन के हाथ में नहीं है। अतः अमेरिका के साथ रहने के कारण ब्रिटेन की प्रतिष्ठा पर गहरा आघात पहुँचा है। उसका साम्राज्य लुप्त होता गया और अनेक स्थानों पर उसका स्थान संयुक्त राज्य अमेरिका ने ले लिया। न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया जैसे पुराने ब्रिटिश डोमिनियनों ने राष्ट्र मण्डल से बाहर सुरक्षा प्राप्त करने के लिए अमेरिका के साथ पैक्ट बनाना उचित समझा। पश्चिम एशिया और अन्य क्षेत्रों में ब्रिटेन के चले जाने से जो शक्ति-रिक्तता पैदा हुई उसे अमेरिका ने भरा।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जिन चार शक्तियों का जर्मनी में अधिकार हुआ था उनमें से एक ग्रेट ब्रिटेन भी था। पश्चिमी जर्मनी में अपने भाग का शासन चलाते समय उसने फ्रांस तथा अमेरिका के साथ पूरा-पूरा सहयोग किया। निरस्त्रीकरण सम्बन्धी सभी वार्ताओं में ब्रिटेन और अमेरिका की नीति में सामान्यतः सामंजस्य रहा और लन्दन ने वाशिंगटन को पूर्ण समर्थन दिया। सितम्बर, १९५४ में ब्रिटेन ने संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, न्यूजीलैंड,

१. द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद सोवियत संघ के प्रति ब्रिटेन की नीति यथार्थवादी रही। उस समय उसने कुछ ऐसा व्यवहार अवश्य किया था ताकि पश्चिम के साथ सोवियत संघ का सहयोग सम्भव बन सके। ब्रिटेन के लोगों ने सोवियत संघ के प्रति अमरीकी दृष्टिकोण एवं व्यवहार की आलोचना की। ब्रिटेन की दोनों प्रमुख राजनीतिक पार्टियाँ इस बात पर एकमत थीं कि सोवियत संघ एवं अन्य साम्यवादी देशों के साथ सहयोगपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हों। यही कारण है कि ब्रिटेन ने सोवियत संघ तथा उसके गुट के अन्य देशों के साथ विस्तृत व्यापारिक सम्बन्ध कायम रखने की नीति को अपनाने का सुझाव दिया। लेकिन आर्थिक दृष्टिकोण से ब्रिटेन संयुक्त राज्य अमेरिका पर इस हद तक आश्रित हो गया था कि अमेरिका का विरोध वह एकदम नहीं कर सकता था।

पाकिस्तान, फिलिपाइन्स, थाइलैंड आदि के साथ पारस्परिक सहायता और सामूहिक सुरक्षा पर हस्ताक्षर करके 'सीटो' को जन्म दिया। ब्रिटेन ने १९५७ में प्रतिपादित आइसनहावर सिद्धान्त के प्रयोग में अमेरिका का जबरदस्त समर्थन किया और जोर्डान में उसने स्वयं इस सिद्धान्त का प्रयोग किया।

इन दोनों के बीच इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी दोनों विश्व के विभिन्न मसलों पर कभी-कभी विपरीत दृष्टिकोण भी रखते आ रहे हैं और अपने तीव्र मतभेदों को व्यक्त करते रहे हैं। दोनों देशों के बीच मतभेद कई बातों पर है, लेकिन कुछ मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :

ब्रिटेन चीन के साथ समझौतापूर्ण रवैया अपनाना चाहता है। इसी कारण उसने अमेरिका के विरोध के बावजूद साम्यवादी चीन को मान्यता दी और उसका विचार है कि चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने दिया जाय। उपनिवेशवाद के सम्बन्ध में भी अमरीकी रुख के प्रति ब्रिटेन में असन्तोष रहा है। उसका मत है कि हिन्द-चीन, उत्तरी अफ्रिका, पश्चिमी एशिया आदि क्षेत्रों में ब्रिटिश लक्ष्यों और हितों के प्रति अमेरिका का रुख विशेष सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहा है। १९५६ में जब राष्ट्रपति नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण किया और ब्रिटेन तथा फ्रांस द्वारा इस सम्बन्ध में जो आक्रामक नीति अपनायी गयी उसका भी समर्थन अमेरिका ने नहीं किया। अमेरिका ने मिस्र की भूमि में ब्रिटिश और फ्रांसीसी फौज के प्रवेश का घोर विरोध किया।

ब्रिटेन ने भी कई बार अमेरिका की आक्रामक नीति पर अंकुश लगाने का यत्न किया है। कोरिया युद्ध (१९५१-५२) में जब अमेरिका हारने लगा तो उसने अणुबम के प्रयोग का निश्चय किया। ब्रिटेन ने दबाव डालकर अमेरिका के इस इरादे को कार्यान्वित होने से रोका। १९६२ के क्यूबा संकट में भी ब्रिटेन ने अमेरिका को संयम से काम लेने की चेतावनी दी। वियतनाम युद्ध के सम्बन्ध में भी ब्रिटेन का रुख अमेरिका की अपेक्षा अधिक नरम रहा है। १९६७ के अरब-इजरायल संघर्ष में भी ब्रिटिश और अमरीकी नीतियों में सामीप्य नहीं था।

संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ अपने सम्बन्धों को दृढ़ करने के अतिरिक्त ब्रिटेन ने अन्य पश्चिमी देशों को भी साथ लेने की कोशिश की और अपनी सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए उसने क्षेत्रीय योजनाओं का विकास किया। इस नीति पर चलते हुए ४ मार्च, १९४७ को ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य डन्कर्क की सन्धि हुई जिसका उद्देश्य भावी जर्मन आक्रमणों के विरुद्ध एक-दूसरे की सहायता करना था। इसके बाद १७ मार्च, १९४८ को ब्रिटेन ने बेल्जियम, निदरलैंडस, लक्जमबर्ग और फ्रांस के साथ मिलकर ब्रुसेल्स-सन्धि की। इस सन्धि ने पश्चिमी यूरोपीय संघ को जन्म दिया। इसके द्वारा यह निश्चय हुआ कि यदि हस्ताक्षर-कर्त्ता देशों में से किसी एक पर सैनिक आक्रमण हुआ तो अन्य देश संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा ५१ के अन्तर्गत आक्रान्त देश की सहायता करेंगे। इसके पश्चात् नाटो की रचना हुई जिसका ब्रिटेन एक प्रभावशाली सदस्य बना। नाटो में सम्मिलित होकर ब्रिटेन ने संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ खुला सैनिक गठबन्धन कर लिया और साम्यवाद के खिलाफ जेहाद में अमेरिका का विश्वासपात्र सहयोगी बन गया। इसके अतिरिक आर्थिक स्थिति को ठीक करने के लिए उसने

कई यूरोपीय संगठनों को कायम करने में हाथ बँटाया। इन संगठनों की चर्चा इस पुस्तक में पहले ही की जा चुकी है।

ब्रिटेन और यूरोपीय साझा बाजार—जनवरी, १९५८ में बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, नीदरलैंड तथा लक्जमबर्ग को मिलाकर एक यूरोपीय साझा बाजार (European Common Market) की स्थापना हुई। शुरू में ब्रिटेन मुख्यतः तीन कारणों से इसमें सम्मिलित नहीं हुआ। सर्वप्रथम, उसे इसकी सफलता में बड़ा सन्देह था। द्वितीयतः, राष्ट्रमण्डल के देश नहीं चाहते थे कि ब्रिटेन इस साझा बाजार में शामिल हो। इस हालत में राष्ट्रमण्डलीय देशों की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। तृतीयतः, विश्व में अपनी स्थिति ऊँचा बनाये रखने के लिए ब्रिटेन किसी ऐसे संगठन में सम्मिलित होना नहीं चाहता था जिसमें वह अपना पूरा प्रभाव नहीं डाल सके।

यूरोपीय साझा बाजार में नहीं शामिल होने का नतीजा ब्रिटेन के लिए बड़ा बुरा सिद्ध हुआ, इसका कुप्रभाव उसकी अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने लगा। इससे बचने के लिए ब्रिटेन ने एक यूरोपीय मुक्त व्यापार संघ (European Free Trade Association) कायम किया। लेकिन यह संघ यूरोपीय साझा बाजार का मुकाबला नहीं कर सका। ब्रिटेन का यूरोपीय बाजार संकुचित होने लगा। यूरोप के साथ उसका निर्यात-व्यापार घट गया, उसकी कृषि-वस्तुओं की मंडी समाप्त हो गयी और यह शंका व्यक्त की जाने लगी कि यूरोप के साथ उसका सारा व्यापारिक सम्बन्ध टूट जायगा। इस हालत में ब्रिटेन अब यूरोपीय साझा बाजार में सम्मिलित होने के लिए यत्न करने लगा। लेकिन फ्रांस ने उसके प्रवेश का कड़ा विरोध किया। इसका कारण यह था कि यदि ब्रिटेन साझा बाजार में सम्मिलित हो जाता तो फ्रांस की प्रभुता का अन्त हो जाता। इसलिए जब जनवरी १९६३ में इस संगठन का विशेष अधिवेशन ब्रिटेन को सदस्यता प्रदान करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए बुलाया गया तो फ्रांस ने इस प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर दिया और वीटो का प्रयोग कर उसे रद्द कर दिया। इसके बाद भी ब्रिटेन साझा मंडी का सदस्य बनने का निरन्तर प्रयास करता रहा। लेकिन अभी तक इस प्रयास में उसको सफलता नहीं मिली है।

अन्य देशों के साथ ब्रिटेन का सम्बन्ध—एशिया और अफ्रिका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति ब्रिटेन का रुख अच्छा नहीं रहा है। इस कारण इन क्षेत्रों में उसकी बड़ी कड़ी आलोचना होती है। भारत के साथ कश्मीर के मसले पर तथा मिस्र के साथ स्वेज एवं इजरायल के मामले पर ब्रिटेन ने न्याय का गला घोटने का प्रयास किया है। १९५६ तथा १९६७ में क्रमशः स्वेज नहर तथा अरब-इजरायल संघर्ष के प्रति उसने जिस दृष्टिकोण को अपनाया उसके कारण आज भी पश्चिम एशिया के देशों के साथ उसका सम्बन्ध तनावपूर्ण बना हुआ है। उसने रंग भेद नीति के प्रति दक्षिण अफ्रीकी सरकार तथा रोडेशिया की इआन स्मिथ के साथ विशेष सहानुभूति दर्शाया है। उनके खिलाफ किसी भी सक्रिय कार्यवाही का उसने विरोध किया है। अफ्रिका में वह रोडेशिया की अल्पसंख्यक गोरी सरकार की नीतियों को वह नहीं रोक सका है। इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं कि रोडेशिया की स्मिथ सरकार को ब्रिटेन का गुप्त एवं अप्रत्यक्ष समर्थन प्राप्त है।

विश्व-राजनीति में ब्रिटेन की वर्तमान स्थिति—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विश्व-राजनीति पर से ब्रिटेन का प्रभाव निरन्तर घटता ही गया है। दुनिया का यह पुराना शेर अब बिल्कुल पस्त पड़ गया है और अपने अस्तित्व और विकास के लिए पूर्णतया अमेरिका पर आश्रित हो गया है। फिर भी अभी हाल तक कुछ लोगों की यह धारणा थी कि "ब्रिटेन चाहे विश्व की सर्वोच्च शक्ति न हो, किन्तु फिर भी वह एक महान् शक्ति अवश्य है तथा उसे विश्व व्यापी रूप में सोचना ही पड़ता है।" इस धारणा को स्वयं ब्रिटेन ने ही अब निमू ल सिद्ध कर दिया है। पूर्वी तथा पश्चिमी एशिया में ब्रिटेन के अभी भी बहुत सारे स्वार्थ हैं। इनकी रक्षा के लिए वह हाल तक यत्नशील रहा है। इसके लिए उसने कई सैनिक दायित्व भी कबूल किये थे। लेकिन ब्रिटेन की आर्थिक अवस्था दिनोदिन इतनी खराब होती जा रही है कि वह अब इन बोझों को ढोने के लिए तैयार नहीं है। इसलिए १९६७ के अन्तिम दिनों में ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने यह घोषणा की कि ब्रिटेन 'स्वेज से पूर्व' (East of Suez) के अपने सभी दायित्वों को छोड़ने जा रहा है। इस नीति का तत्काल प्रभाव पूर्व एशिया पर पड़ने वाला है। अभी तक इस क्षेत्र को ब्रिटेन का सैनिक संरक्षण प्राप्त था। लेकिन ब्रिटेन के हटते ही इस क्षेत्र की सुरक्षा की समस्या गम्भीर हो जायगी। लेकिन ब्रिटेन अब किसी को अनुग्रहित करने में अपने को लाचार पा रहा है। किसी ने ठीक ही कहा है कि "इंगलैंड जो पहले दूसरों को जीतने के लिए था, उसने अब स्वयं को विजित कर लिया है।"

फ्रांस की विदेश नीति

आश्रित फ्रांस और विदेश-नीति—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद यूरोपीय राजनीति में फ्रांस का स्थान बिल्कुल नगण्य हो गया। उसकी सारी शक्ति और ख्याति समाप्त हो गयी। देश की अस्थिर राजनीति ने उसकी परेशानी को और भी बढ़ा दिया। १९४६ से १९५८ के बीच फ्रांस में २२ मंत्रिमंडल बने और टूटे। युद्ध के विध्वंश और अस्थिर राजनीति ने फ्रांस को इतना पंगु बना दिया कि वह किसी प्रकार की प्रभावशाली विदेश नीति नहीं अपना सकता था। अपनी सुरक्षा और आर्थिक उन्नति के लिए वह पूर्णतया अमेरिका पर आश्रित हो गया। मार्च, १९४७ में उसने ब्रिटेन के साथ डन्कर्क की सन्धि की, फिर संयुक्त राज्य अमेरिका से मार्शल-योजना के अन्तर्गत सहायता पाकर अपनी आर्थिक स्थिति को सम्हालने का यत्न किया। उसने पश्चिम यूरोप के राजनीतिक एकीकरण की विभिन्न योजनाओं में सहयोग किया, ब्रुसेल्स पैक्ट और नाटो का सदस्य बना तथा बहुत दिनों बाद यूरोप के पाँच राज्यों से मिलकर यूरोपीय साझा बाजार की स्थापना की।

फ्रांस और जर्मनी की शत्रुता बहुत पुरानी थी। १८७०-७१ में ही उसे जर्मनी के साथ प्रथम बार पराजित होना पड़ा था। फिर, प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान भी जर्मनी ने उसको बुरी तरह कुचला था। यही बात द्वितीय विश्व-युद्ध के समय हुई। इस पृष्ठाधार में यह उम्मीद की जा सकती थी कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद फ्रांस जर्मनी को कुचल कर रखेगा और कभी उसको उत्थान का मौका नहीं देगा। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति इससे भिन्न थी। वह जर्मनी को सोवियत संघ के विरुद्ध शक्तिशाली बनाकर खड़ा करना चाहता था। इस हालत में

कई यूरोपीय संगठनों को कायम करने में हाथ बँटाया। इन संगठनों की चर्चा इस पुस्तक में पहले ही की जा चुकी है।

ब्रिटेन और यूरोपीय साझा बाजार—जनवरी, १९५८ में बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, नीदरलैंड तथा लक्जमबर्ग को मिलाकर एक यूरोपीय साझा बाजार (European Common Market) की स्थापना हुई। शुरू में ब्रिटेन मुख्यतः तीन कारणों से इसमें सम्मिलित नहीं हुआ। सर्वप्रथम, उसे इसकी सफलता में बड़ा सन्देह था। द्वितीयतः, राष्ट्रमण्डल के देश नहीं चाहते थे कि ब्रिटेन इस साझा बाजार में शामिल हो। इस हालत में राष्ट्रमण्डलीय देशों की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। तृतीयतः, विश्व में अपनी स्थिति ऊँचा बनाये रखने के लिए ब्रिटेन किसी ऐसे संगठन में सम्मिलित होना नहीं चाहता था जिसमें वह अपना पूरा प्रभाव नहीं डाल सके।

यूरोपीय साझा बाजार में नहीं शामिल होने का नतीजा ब्रिटेन के लिए बड़ा बुरा सिद्ध हुआ, इसका कुप्रभाव उसकी अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने लगा। इससे बचने के लिए ब्रिटेन ने एक यूरोपीय मुक्त व्यापार संघ (European Free Trade Association) कायम किया। लेकिन यह संघ यूरोपीय साझा बाजार का मुकाबला नहीं कर सका। ब्रिटेन का यूरोपीय बाजार संकुचित होने लगा। यूरोप के साथ उसका निर्यात-व्यापार घट गया, उसकी कृषि-वस्तुओं की मंडी समाप्त हो गयी और यह शंका व्यक्त की जाने लगी कि यूरोप के साथ उसका सारा व्यापारिक सम्बन्ध टूट जायगा। इस हालत में ब्रिटेन अब यूरोपीय साझा बाजार में सम्मिलित होने के लिए यत्न करने लगा। लेकिन फ्रांस ने उसके प्रवेश का कड़ा विरोध किया। इसका कारण यह था कि यदि ब्रिटेन साझा बाजार में सम्मिलित हो जाता तो फ्रांस की प्रभुता का अन्त हो जाता। इसलिए जब जनवरी १९६३ में इस संगठन का विशेष अधिवेशन ब्रिटेन को सदस्यता प्रदान करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए बुलाया गया तो फ्रांस ने इस प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर दिया और वीटो का प्रयोग कर उसे रद्द कर दिया। इसके बाद भी ब्रिटेन साझा मंडी का सदस्य बनने का निरन्तर प्रयास करता रहा। लेकिन अभी तक इस प्रयास में उसको सफलता नहीं मिली है।

अन्य देशों के साथ ब्रिटेन का सम्बन्ध—एशिया और अफ्रिका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति ब्रिटेन का रुख अच्छा नहीं रहा है। इस कारण इन क्षेत्रों में उसकी बड़ी कड़ी आलोचना होती है। भारत के साथ कश्मीर के मसले पर तथा मिस्र के साथ स्वेज एवं इजरायल के मामले पर ब्रिटेन ने न्याय का गला घोंटने का प्रयास किया है। १९५६ तथा १९६७ में क्रमशः स्वेज नहर तथा अरब-इजरायल संघर्ष के प्रति उसने जिस दृष्टिकोण को अपनाया उसके कारण आज भी पश्चिम एशिया के देशों के साथ उसका सम्बन्ध तनावपूर्ण बना हुआ है। उसने रंग भेद नीति के प्रति दक्षिण अफ्रीकी सरकार तथा रोडेशिया की इआन स्मिथ के साथ विशेष सहानुभूति दर्शाया है। उनके खिलाफ किसी भी सक्रिय कार्यवाही का उसने विरोध किया है। अफ्रिका में वह रोडेशिया की अल्पसंख्यक गोरी सरकार की नीतियों को वह नहीं रोक सका है। इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं कि रोडेशिया की स्मिथ सरकार को ब्रिटेन का गुप्त एवं अप्रत्यक्ष समर्थन प्राप्त है।

विश्व-राजनीति में ब्रिटेन की वर्तमान स्थिति—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विश्व-राजनीति पर से ब्रिटेन का प्रभाव निरन्तर घटता ही गया है। दुनिया का यह पुराना शेर अब बिल्कुल पस्त पड़ गया है और अपने अस्तित्व और विकास के लिए पूर्णतया अमेरिका पर आश्रित हो गया है। फिर भी अभी हाल तक कुछ लोगों की यह धारणा थी कि "ब्रिटेन चाहे विश्व की सर्वोच्च शक्ति न हो, किन्तु फिर भी वह एक महान् शक्ति अवश्य है तथा उसे विश्व व्यापी रूप में सोचना ही पड़ता है।" इस धारणा को स्वयं ब्रिटेन ने ही अब निर्मूल सिद्ध कर दिया है। पूर्वी तथा पश्चिमी एशिया में ब्रिटेन के अभी भी बहुत सारे स्वार्थ हैं। इनकी रक्षा के लिए वह हाल तक यत्नशील रहा है। इसके लिए उसने कई सैनिक दायित्व भी कबूल किये थे। लेकिन ब्रिटेन की आर्थिक अवस्था दिनोंदिन इतनी खराब होती जा रही है कि वह अब इन बोझों को ढोने के लिए तैयार नहीं है। इसलिए १९६७ के अन्तिम दिनों में ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने यह घोषणा की कि ब्रिटेन 'स्वेज से पूर्व' (East of Suez) के अपने सभी दायित्वों को छोड़ने जा रहा है। इस नीति का तत्काल प्रभाव पूर्व एशिया पर पड़ने वाला है। अभी तक इस क्षेत्र को ब्रिटेन का सैनिक संरक्षण प्राप्त था। लेकिन ब्रिटेन के हटते ही इस क्षेत्र की सुरक्षा की समस्या गम्भीर हो जायगी। लेकिन ब्रिटेन अब किसी को अनुग्रहित करने में अपने को लाचार पा रहा है। किसी ने ठीक ही कहा है कि "इगलैंड जो पहले दूसरों को जीतने के लिए था, उसने अब स्वयं को विजित कर लिया है।"

फ्रांस की विदेश नीति

आश्रित फ्रांस और विदेश-नीति—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद यूरोपीय राजनीति में फ्रांस का स्थान बिल्कुल नगण्य हो गया। उसकी सारी शक्ति और ख्याति समाप्त हो गयी। देश की अस्थिर राजनीति ने उसकी परेशानी को और भी बढा दिया। १९४६ से १९५८ के बीच फ्रांस में २२ मंत्रिमंडल बने और टूटे। युद्ध के विध्वंश और अस्थिर राजनीति ने फ्रांस को इतना पंगु बना दिया कि वह किसी प्रकार की प्रभावशाली विदेश नीति नही अपना सकता था। अपनी सुरक्षा और आर्थिक उन्नति के लिए वह पूर्णतया अमेरिका पर आश्रित हो गया। मार्च, १९४७ में उसने ब्रिटेन के साथ डन्कर्क की सन्धि की, फिर संयुक्त राज्य अमेरिका से मार्शल-योजना के अन्तर्गत सहायता पाकर अपनी आर्थिक स्थिति को सम्हालने का यत्न किया। उसने पश्चिम यूरोप के राजनीतिक एकीकरण की विभिन्न योजनाओं में सहयोग किया, ब्रुसेल्स पैक्ट और नाटो का सदस्य बना तथा बहुत दिनों बाद यूरोप के पाँच राज्यों से मिलकर यूरोपीय साझा बाजार की स्थापना की।

फ्रांस और जर्मनी की शत्रुता बहुत पुरानी थी। १८७०-७१ में ही उसे जर्मनी के साथ प्रथम बार पराजित होना पड़ा था। फिर, प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान भी जर्मनी ने उसको बुरी तरह कुचला था। यही बात द्वितीय विश्व-युद्ध के समय हुई। इस पृष्ठाधार में यह उम्मीद की जा सकती थी कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद फ्रांस जर्मनी को कुचल कर रखेगा और कभी उसको उत्थान का मौका नही देगा। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति इससे भिन्न थी। वह जर्मनी को सोवियत संघ के विरुद्ध शक्तिशाली बनाकर खड़ा करना चाहता था। इस हालत में

फ्रांस को अपनी इच्छा के विरुद्ध अमेरिका के साथ सहयोग करना पड़ा और जर्मनी के सम्बन्ध में उसको उसी नीति का अवलम्बन करना पड़ा जो संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन चाहते थे। जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न पर वह सोवियत संघ के विरुद्ध ब्रिटेन और अमेरिका का साथ देता रहा।

युद्धोत्तर काल के एशियाई विवादों में फ्रांस ने कोई महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लिया। युद्ध के तुरत बाद उसे हिन्दचीन में राष्ट्रवादियों के साथ जूझना पड़ा। इस युद्ध में फ्रांस निरन्तर हारता रहा और अन्त में उसे हिन्द-चीन को छोड़ना पड़ा। कोरिया के युद्ध में भी फ्रांस प्रमुख भाग नहीं ले सका, क्योंकि इस समय वह हिन्द-चीन के युद्ध में फँसा हुआ था। १९५६ में ब्रिटेन के साथ मिलकर उसने मिस्र पर आक्रमण किया; लेकिन वहाँ भी उसे सफलता नही मिली। इस प्रकार १९५८ के मध्य तक फ्रांस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं अदा करा सका।

राष्ट्रपति दगाल का उदय—मई, १९५८ में राजनीतिक अस्थिरता से तंग आकर फ्रांस ने दगाल को प्रधान मंत्री चुना और पाँचवें गणराज्य का उदय हुआ। सितम्बर १९५९ में एक नये संविधान के अनुसार दगाल राष्ट्रपति बनाया गया। इस समय फ्रांस अल्जीरिया के राष्ट्रवादी आन्दोलन में फँसा हुआ था। अल्जीरिया में फ्रांस का गहरा स्वार्थ था। इसलिए दगाल के पहले के सभी फ्रांसीसी नेता कह चुके थे कि वे अल्जीरिया से किसी भी हालत में नहीं हटेंगे। इस कारण वहाँ का राष्ट्रवादी आन्दोलन उग्रतर होता जा रहा था और उसको दबाने में फ्रांस को अपार धन और जन की क्षति उठानी पड़ रही थी। अल्जीरिया युद्ध को लेकर फ्रांस की आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो रही थी। दगाल ने अल्जीरिया युद्ध के इस स्वरूप को समझा और युद्ध को खत्म करने के लिए समझौता करने का निश्चय किया। फ्रांस में इस नीति का बड़ा कड़ा विरोध हुआ, लेकिन दगाल अपने निश्चय पर डटा रहा और १ जुलाई, १९६२ को अल्जीरिया को स्वतन्त्रता प्रदान कर दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सम्मान पाने की चेष्टा—अल्जीरिया-संघर्ष को समाप्त करके दगाल फ्रांस के लिए पुनः अन्तर्राष्ट्रीय गौरव प्राप्त करने का प्रयास करने लगा। इसके लिए फ्रांस को अमरीकी और ब्रिटिश प्रभाव से मुक्त करना आवश्यक था। इसी नीति से प्रेरित होकर उसने यूरोपीय साझा बाजार में ब्रिटेन को प्रवेश नहीं करने दिया। इस कारण अटलांटिक संगठन में फूट पड़ गयी। संयुक्त राज्य अमेरिका बहुत चाहता था कि ब्रिटेन को यूरोपीय साझा बाजार की सदस्यता मिल जाय। इसके लिए उसने फ्रांस पर बहुत अधिक दबाव भी डाला। लेकिन फ्रांस ने इसकी परवाह नहीं की और ब्रिटेन को साझा बाजार में नहीं घुसने दिया। इतना ही नहीं, कुछ और बातों को लेकर भी फ्रांस तथा ब्रिटेन और अमेरिका के बीच गहरे मतभेद पैदा हो गये। निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर इनमें मतैक्य नहीं। जब फ्रांस को संयुक्त राष्ट्र निरस्त्रीकरण आयोग का सदस्य बनाया गया तो उसने उसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया। फ्रांस की इस नीति से पश्चिमी गुट की एकता को जबर्दस्त धक्का पहुँचा है।

लेकिन इससे भी बढ़कर घटना नाटो को पोलरिश यंत्र से युक्त करने के प्रस्ताव को लेकर घटी। अमेरिका ने निश्चय किया कि नाटो की सेना को इस आधुनिकतम यन्त्र से लैस

किया जाय। ब्रिटेन इसके लिए तैयार हो गया। १९६२ में राष्ट्रपति कैनेडी और प्रधान मंत्री मैकमिलन के बीच नाशु का समझौता हुआ जिसके द्वारा यह तय हो गया कि नाटो राज्यों की सेनाओं को पोलरिश यन्त्रों से लैस किया जाय। पर फ्रांस ने इसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया और उसने निर्णय ले लिया कि वह इस कार्य में साथ नहीं देगा।

एक और बात को लेकर राष्ट्रपति दगाल विश्व-राजनीति की समस्या बना रहा। १९६३ में फ्रांस की सरकार ने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य कई देशों ने इसका घोर विरोध किया। दगाल पर कूटनीतिक दवाव भी डाले गये। पर, इसका कोई असर नही पड़ा और चीन तथा फ्रांस के बीच राजदूतों का आदान-प्रदान हो गया। यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस कार्य ने यह सिद्ध कर दिया कि राष्ट्रपति दगाल का अपना अलग ही रास्ता है जो नाटो राज्यों से भिन्न है।

चीन की कूटनीतिक मान्यता प्रदान करने के अतिरिक्त राष्ट्रपति दगाल ने संसार के समक्ष एक और सुझाव रखा। उसका कहना था कि दक्षिण-पूर्व एशिया की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त डॉवाडोल है। इसलिए इस क्षेत्र का अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करके तटस्थीकरण (Neutralisation of S. E. Asian region) कर दिया जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके साथी राज्यों ने राष्ट्रपति दगाल के इस सुझाव का भी विरोध किया है। जुलाई, १९६३ में जब अमेरिका, ब्रिटेन और सोवियत संघ में आणविक परीक्षण से सम्बन्धित एक समझौता हुआ तो दगाल ने स्पष्ट शब्दो में एलान कर दिया कि फ्रांस इस सन्धि को नहीं मानेगा।

ब्रिटेन को यूरोपीय सम्मिलित बाजार में शामिल नही होने देना, नाशु समझौते के अनुसार नाटो के सैन्य संगठन में परिवर्तन को रोकना, चीन को कूटनीतिक मान्यता प्रदान करना, आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध-संधि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार करना तथा दक्षिण-पूर्व एशिया तटस्थीकरण का प्रस्ताव रखना ये ऐसी घटनाएँ हैं जिनके कारण अटलांटिक समुदाय की एकता भंग होती है।

फ्रांस द्वारा नाटो के परित्याग की योजना—१२ मार्च, १९६६ को राष्ट्रपति दगाल ने यह घोषणा कर दी कि फ्रांस नाटो संगठन से अलग हो जाना चाहता है। फ्रांस का यह निर्णय पश्चिमी गुट पर एक विनम्र वज्रपात था। नाटो का प्रधान कार्यालय फ्रांस की राजधानी पेरिस में है। यदि फ्रांस इस संगठन से अलग हो गया तो नाटो को अपने सारे कार्यालय यहाँ से हटाने पड़ेंगे। फ्रांस ने यह भी निश्चय कर लिया है कि तीन वर्ष के अन्दर वह अपने सभी अफसरों को नाटो की सेवा से वापस बुला लेगा और उसके साथ अपने सारे सम्बन्धो को समाप्त कर लेगा। इस घोषणा के कारण पश्चिमी गुट पर एक महान् संकट आ गया है। इसके और भी भयंकर परिणाम हो सकते हैं। नाटो में पश्चिमी जर्मनी को इस शर्त पर १९५५ में शामिल किया गया था कि पश्चिमी जर्मनी स्वतन्त्र रूप से सैनिक शक्ति नही बढ़ायगा। इस शर्त के लिए फ्रांस बहुत दृढ़ था। जब फ्रांस नाटो से निकल जायगा तो पश्चिमी जर्मनी भी इस शर्त से मुक्त हो जायगा और तब वहाँ सैन्य शक्ति में वृद्धि करने का कार्यक्रम जोर-शोर से चल सकता है। पश्चिमी जर्मनी द्वारा सैनिक शक्ति बढ़ाने के प्रयास की प्रतिक्रिया सोवियत गुट के देशों में होगी

और इस हथियारबन्दी की होड़ का कुचक्र फिर जोरो से चलना शुरू होगा। राष्ट्रपति दगाल का यह निर्णय कई भयंकर परिणामो से युक्त था। इसके कारण यूरोप की कूटनीतिक स्थिति खराब हो सकती थी और पश्चिमी जर्मनी को लेकर युद्ध की सम्भावना बढ़ सकती थी।

दगाल युग का अन्त—२८ अप्रिल, १९६९ को फ्रांस के एक जनमत-संग्रह के परिणामो की पृष्ठभूमि में जनरल दगाल ने राष्ट्रपति का पद छोड़ दिया और इस प्रकार फ्रांस के इतिहास में ही नहीं वरन् यूरोप के इतिहास में एक युग का अन्त हुआ। १ जून, को फ्रांस में राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव हुआ।

यूरोपीय राजनीति से दगाल के प्रस्थान से कई तरह की सम्भावनाएँ पैदा हो गयी हैं। इससे ब्रिटेन के साझा बाजार में शामिल होने के आसार बढ़ गये हैं और सम्भव है कि फ्रांस की नयी सरकार इसमें कोई विशेष अड़चन नही डाले। इटली के विदेश मन्त्री नेठ्ठी ने कहा भी है कि अब उनका देश ब्रिटेन को साझा बाजार में शामिल करने के प्रयास को अधिक तेज कर देगा।

दगाल के बाद दूसरी सम्भावना नाटो के प्रति फ्रांस के रवैया में नरमी की है। मित्र देशों में इस बात की चर्चा जोरो पर है कि फ्रांस और मित्र देशो की फौजों में अब पहले से अधिक सहयोग की भावना पैदा होगी। वैसे यह दगाल के शासनकाल में ही साफ हो चुकी थी। पर इसका यह मतलब नही कि मौजूदा फ्रांस की सरकार नाटो के पुनर्गठन और पुनः एकीकरण की पहल करेगी। फ्रांस की नीति में इस परिवर्तन के मूल में चेकोस्लोवाकिया की घटना है।

(२) एशियाई समस्याएँ

एशिया और अफ्रिका देशो में नव जागरण बीसवी शताब्दी के इतिहास का सबसे महान् और महत्त्वशील तथ्य है। सदियो तक एशिया और अफ्रिका के देश यूरोपीय साम्राज्यवाद के चंगुल में फँसे रहे। एशिया के देश तो पुराने साम्राज्यवाद के युग में ही यूरोपीय साम्राज्यवाद के अनन्त अन्धकार में डूब गये, लेकिन अफ्रिका कुछ दिनो तक इस रोग से बचा रहा। नवीन साम्राज्यवाद के आगमन से अफ्रिका भी यूरोपीय साम्राज्य का शिकार होने से नही बच सका। द्वितीय विश्व-युद्ध के शुरू होने के समय यूरोपीय देशों के इस विशाल साम्राज्य-क्षेत्र में संसार की जनसंख्या के आधे से अधिक लोग निवास करते थे और उनका अबाध शोषण होता रहता था। परन्तु, द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद स्थिति बदली और नये संसार का अभ्युदय होने लगा। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में इन देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन बड़े जोर-शोर से प्रारम्भ हुए जिनके फलस्वरूप जो देश कल तक दासता के बन्धनो में जकड़े हुए थे, वे आज बन्धन मुक्त होकर प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भी उन्होने अब अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। जिन देशों को कल तक अपने जीवन का निर्माण करने का अधिकार नही था, वे अब अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के संचालन में प्रमुख हिस्सा ले रहे हैं। वास्तव में, बीसवी शताब्दी

एशिया और अफ्रिका के पुनर्जागरण का युग है। इस तरह स्थिति में जो परिवर्तन हुआ है उसको लाने में भारत की स्वतन्त्रता और जनवादी चीन के अभ्युदय से बड़ी सहायता मिली है।

चीन का जागरण और साम्यवादी चीन

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही नेपोलियन ने चीन के सम्बन्ध में एक चेतावनी देते हुए कहा था: "वहाँ एक दैत्य पड़ा सो रहा है। उसको सोने दो क्योंकि जब वह उठेगा तो दुनिया को हिला देगा।,, चीन में साम्यवादी दल के अभ्युदय और उत्कर्ष ने आज इस भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध कर डाला है। यूरोपीय साम्राज्यवाद को एक जबर-दस्त धक्का देने में इस घटना का भी महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा है। इस घटना ने एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवाद का टिकना असम्भव बनाया है। अतएव इसका संक्षिप्त विवरण आवश्यक है।

१ अक्टूबर, १६४६ को पेकिंग में चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना, चीन के गृह-युद्ध में च्यांग-काई-शेक के राष्ट्रवादी दल की पराजय और माओ-त्से-तुंग की विजय कैसे हुई, इसका वर्णन करना इस अध्ययन के क्षेत्र में नही आता। इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि सोवियत संघ की उदासीनता और संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रबल विरोध के बावजूद २२ वर्ष के निरन्तर संघर्ष के बाद साम्यवादियों को चीन में ऐसी सफलता मिली जिसकी कल्पना नही की गयी थी। संयुक्त राज्य अमेरिका ने च्यांग-काई शेक की पूरी सहायता की ताकि वह अपने भ्रष्ट शासन को चीनी जनता पर कायम रखे रहे, लेकिन इस कार्य मे उसकी जबर्दस्त पराजय हुई और च्यांग-काई-शेक को भागकर फारमोसा के द्वीप में शरण लेनी पड़ी। उसने वही चीन की "निर्वासित सरकार" की स्थापना कर ली है। अमेरिका तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ इसी सरकार को चीन की वास्तविक सरकार मानते हैं।

मान्यता का प्रश्न:—चीन की मान्यता का यह प्रश्न १६४६ से आज तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक प्रमुख विषय बना हुआ है। इसके कारण शीत-युद्ध में उग्रता आई है और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ा है। जनवादी सरकार की स्थापना के तुरत बाद सोवियत संघ ने साधारण सभा में यह प्रस्ताव रखा कि राष्ट्रवादी प्रतिनिधि को निष्कासित करके चीन की नयी सरकार के प्रतिनिधि को संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्थान दिया जाय। लेकिन सभा ने इस प्रस्ताव को नही माना। इस पर जनवरी १९५० को सोवियत संघ ने सुरक्षा-परिषद् तथा संघ के उन सभी अंगों का बहिष्कार करने की घोषणा की जिनमें चीनी "राष्ट्रवादियों" को स्थान दिया गया था। संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन को प्रतिनिधित्व दिलाने के लिए तब से लेकर आज तक प्रत्येक वर्ष प्रयास किया जाता है, पर हर बार का प्रयत्न अमेरिका के विरोध के कारण असफल हो जाता है। लेकिन अभी तक संसार के करीब पैंतीस राज्य इसको मान्यता दे चुके हैं। इस तरह इसे दुनिया की दो तिहाई आबादी का समर्थन प्राप्त है। इसके विपरीत संसार के ब्यालीस देश आज भी च्यांग-काई-शेक को मान्यता देते हैं। इनमें से बीस लैटिन अमेरिका के राज्य हैं तथा शेष अमेरिका के मित्र राज्य हैं। फिर भी जनवादी चीन का पैंतीस राज्यों के साथ राजदूतों का आदान-प्रदान हो चुका है, जबकि फारमोसा सरकार के साथ केवल बारह राज्य ही सम्बन्ध रखे हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन की क्रान्ति का महत्त्व

चीन की क्रान्ति के महत्त्व का वर्णन करते हुए फ्रीडमैन ने लिखा है : "साम्यवादी नेतृत्व में एक एकीकृत राष्ट्रीय शक्ति के रूप में चीन का उदय अर्वाचीन वर्षों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है।"[1] वस्तुतः साम्यवादी चीन का उदय एक ऐसी घटना है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नया मोड़ दिया है और अनेक नूतन तथा विषम परिस्थितियों को जन्म दिया है। चीन के अभ्युदय से विश्व की राजनीति में एक हलचल पैदा हो गयी। एशिया के देशों पर इसका विशेष रूप से गहरा प्रभाव पड़ा है।

चीन की स्थिति पर प्रभाव :—इस क्रान्ति ने स्वयं चीन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर गहरा प्रभाव डाला है। यद्यपि साम्यवादी क्रांति के पूर्व ही चीन की गणना विश्व की महान शक्तियों में होती थी, किन्तु वास्तविक रूप में चीन महान् शक्ति कहलाने योग्य नहीं था। १९४९ की क्रान्ति के फलस्वरूप चीन वास्तव में एक महान् शक्ति के रूप में उदित हुआ है। यह सत्य है कि चीन को संसार के अधिकांश देशों की मान्यता प्राप्त नहीं हुई है और संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसको अपना स्थान अभी तक नहीं मिल पाया है। फिर भी, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् की प्रत्येक घटना उसके व्यवहार से प्रभावित होती है और विश्व का कोई भी राष्ट्र उसकी उपेक्षा करने की स्थिति में नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ जैसी महान शक्तियों के लिए भी चीन आज एक चुनौती बना हुआ है।

संयुक्त राज्य अमेरिका पर प्रभाव—शूमाँ के शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण से चीनी क्रांति की सफलता युद्धोत्तर काल को राजनीति में सोवियत संघ की प्रबल सफलता और संयुक्त राज्य अमेरिका को महान् पराजय है।[2] जापान की पराजय के उपरान्त अमेरिका ने चीन की तत्कालीन राष्ट्रवादी सरकार की विपुल आर्थिक और सैनिक सहायता की थी। परन्तु इतनी प्रचुर सहायता के बावजूद च्यांग-काई-शेक साम्यवादियों के हाथों बुरी तरह पराजित हुआ जिससे संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचा।

नवीन शक्ति सन्तुलन—चीन में साम्यवादियों की विजय ने साम्यवादी और पश्चिमी शक्तियों के मध्य एक नया शक्ति-संतुलन स्थापित कर दिया। द्वितीय महायुद्ध से पहले एक मात्र सोवियत संघ ही विश्व का साम्यवादी देश था। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त पूर्वी यूरोप के विभिन्न देश तथा उत्तरी कोरिया और बाह्य मंगोलिया में साम्यवादी शासन की स्थापना हो गयी। लेकिन साम्यवादी चीन के उदय से पूर्व जनसंख्या, सैन्य शक्ति, आर्थिक स्रोतों आदि सभी दृष्टिकोणों से पश्चिमी गुट साम्यवादी गुट से अधिक शक्तिशाली था। साम्यवादी चीन के उदय से पासा पलट गया। आज स्थिति यह है कि यदि सम्पूर्ण साम्यवादी जगत और पश्चिमी जगत को शक्ति की दृष्टि से आंका जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि पश्चिमी गुट किसी श्रेष्ठतर स्थिति में है। जनसंख्या की दृष्टि से तो साम्यवादी गुट पश्चिमी गुट से आगे बढ़ा हुआ है ही, लेकिन सैनिक शक्ति के क्षेत्र में भी वह पश्चिमी गुट को पछाड़ने की स्थिति में आने लगा है।

---

1. W. Friedmann, *An Introduction to World Politics*, p. 239.
2. F. L. Schuman, *International Politics*, (6th Ed.). p. 537.

एशिया और अफ्रिका पर प्रभाव—साम्यवादी चीन की क्रान्ति के फलस्वरूप एशिया का इतिहास बहुत अधिक प्रभावित हुआ और इस महादेश में साम्यवाद के विस्तार का रास्ता पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया। पामर और पर्किन्स के मतानुसार, "चीन की साम्यवादी क्रान्ति का सम्पूर्ण एशिया पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ना निश्चित है।" एक ओर तो इसने एशिया और अफ्रिका में राष्ट्रवादी शक्तियों को विशेष रूप से प्रभावित किया है और दूसरी तरफ विश्व के सभी पिछड़े हुए राष्ट्रों के औद्योगिक विकास के लिए परीक्षण-स्थल होता जा रहा है। पूँजीवाद के विरुद्ध साम्यवादी व्यवस्था की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए यह एक महान प्रयोग के रूप में काम कर रहा है। इस कारण इस घटना ने अमेरिका को विशेष रूप से चिन्तित बना दिया है। एशिया में साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए उसे अपनी नीति में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने पड़े हैं। जैसे :

(क) अमेरिका ने फारमोसा में च्यांग की भगोड़ी राष्ट्रवादी सरकार की रक्षा को अपना उत्तरदायित्व मान लिया।

(ख) उसने यूरोप के अतिरिक्त एशिया में भी साम्यवाद के अवरोध की नीति पर आचरण करना शुरू कर दिया। इसके लिए एक तरफ तो एशियाई देशों के गैर-साम्यवादी तत्वों को अधिकाधिक आर्थिक सहायता देने की नति अपनाई गयी और दूसरी तरफ उन्हें सैनिक साज-सामान दिया गया तथा साम्यवादी विरोधी प्रादेशिक सुरक्षा संगठनों की स्थापना करने के मार्ग का अनुसरण किया गया। दक्षिणी पूर्वी एशिया में सीटो और पश्चिमी एशिया में बगदाद पैक्ट या सेन्टो की स्थापना इसी नीति का परिणाम था।

(ग) अमेरिका ने यह भी निश्चय की कि यदि आवश्यकता हुई तो वह स्वयं अपने सैनिक साधनों से प्रत्यक्ष रूप में साम्यवादी प्रसार का विरोध करेगा। इसी निश्चय के फलस्वरूप १९५० में दक्षिणी कोरिया की रक्षा के लिए अमरीकी फौज साम्यवादियों से युद्धरत हुई और आज वियतनाम में लगभग पाँच लाख अमरीकी सेना उत्तरी वियतनाम के विरुद्ध अपना सैनिक अभियान चलाये हुये है। एशिया महाद्वीप के और भी अनेक राष्ट्र साम्यवाद के अवरोध के नाम पर अमरीकी सैनिक सहायता और सैनिक संगठनों के जाल में फँसाये गये।

(घ) विपुल सैनिक सहायता के बावजूद च्यांग-काई-शेक की पराजय ने अमरीकी नीति-निर्माताओं को इस तथ्य की अनुभूति करा दी कि केवल सैनिक सहायता से साम्यवाद के प्रसार को नहीं रोका जा सकता। अतः विश्व के अल्पविकसित और पिछड़े हुए देशों को अधिकाधिक मात्रा में आर्थिक और प्राविधिक सहायता देने की नीति का अनुसरण किया गया। विशेष रूप से अमेरिका ने जापान और भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण में सहायता देकर उन्हें लोकतन्त्र का सुदृढ़ दुर्ग बनाने का प्रयत्न किया। अमेरिका इस बात को समझ गया कि बेकारी, भुखमरी और गरीबी वे परिस्थितियाँ हैं जो साम्यवाद के प्रसार के लिए विशेष रूप से अनुकूल होती हैं। अतः इन परिस्थितियों का निराकरण किया जाना अनिवार्य है।

सोवियत संघ पर प्रभाव—चीन की साम्यवादी क्रान्ति ने केवल अमेरिका के समक्ष ही नहीं वरन् सोवियत संघ के समक्ष भी एक महान् समस्या ला खड़ी कर दी है। शुरू में चीन में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना सोवियत संघ के लिए वरदान सिद्ध हुई क्योंकि इस क्रान्ति के फलस्वरूप साम्यवादी जगत् साधन, स्रोतों और सैन्य बल में काफी सम्पन्न बन गया।

लेकिन कुछ ही वर्षों के अन्दर चीन सोवियत संघ के लिए महान् संकट का कारण बन गया। माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन आजकल सोवियत संघ का कट्टरतम प्रतिद्वन्द्वी बन गया है और यहाँ तक कि दोनों के मध्य शक्ति संघर्ष की आशंका भी बहुत बढ़ गयी है। इसने साम्यवादी जगत् में सोवियत संघ के नेतृत्व को चुनौती दी है। सोवियत संघ के लिए यह एक गम्भीरतम समस्या बन गयी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चीन में साम्यवादियों की विजय का विश्व-राजनीति पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और दूरगामी प्रभाव पड़ा है। इससे नवीन समस्याएँ और उलझनें उत्पन्न हुई हैं तथा पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया विश्व राजनीति का केन्द्र स्थल बन गया है। १९२१ में जनरल स्मट्स द्वारा कहे गये ये शब्द कि "रंगमंच अब यूरोप से दूर पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर में पहुँच गया है", सम्भवतः उस समय सत्य नहीं था, परन्तु साम्यवादी चीन के उदय के फलस्वरूप विश्व राजनीति में उत्पन्न हुए परिवर्तनों से आज ये शब्द विश्व-राजनीति की यथार्थता के परिचायक बन गये हैं।

चीन की विदेश नीति के आधार और लक्ष्य

साम्यवादी विचारधारा– चीन की विदेश-नीति का मुख्य आधार मार्क्स और लेनिन की विचारधारा है। साम्यवादी विचारधारा को ही अपनाकर चीन ने अपने अतीत के अपमान को धोया है। चीन में आधुनिक कृषि, उद्योग, विज्ञान एवं सांस्कृतिक विकास इसलिए सम्भव हो सका है कि उसने क्रान्ति द्वारा साम्राज्यवादी, सामन्तवादी और पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंका है। मार्क्सवाद और लेनिनवाद के सफल परीक्षण के फलस्वरूप ही चीन के जन-जीवन में महान् क्रान्ति आयी है। इस कारण यह स्वाभाविक है कि चीन की विदेश नीति इन विचारधाराओं से प्रभावित रही। इस दृष्टि से एशिया और अफ्रिका के पददलित राष्ट्रों में साम्यवाद का प्रचार-प्रसार में चीन अपना उत्तरदायित्व मानता है।

उपनिवेशवाद और पूँजीवाद का विरोध—साम्यवादी देश होने के कारण चीन पूँजीवाद का कट्टर विरोधी है। वह ब्रिटेन और अमेरिका जैसे पूँजीवादी और उपनिवेशवादी देशों से साथ प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण सम्बन्ध रखता है। इस सम्बन्ध के पीछे अतीत के अनुभवों की कटुता काम करती है जबकि उसे साम्राज्यवादी शक्तियों के अत्याचार एवं शोषण का शिकार बनाना पड़ा था। अतएव इस समय जहाँ भी कहीं उपनिवेशवादी शक्तियों का विरोध होता है वहाँ चीन का हस्तक्षेप प्रायः अनिवार्य हो जाता है। चीन के नेताओं की कथन है कि सम्पूर्ण शोषित देशों में चीनी जनता अपना प्रतिबिम्ब देखती है। इसलिए एशिया, अफ्रिका और लैटिन अमेरिका के देशों में जहाँ भी साम्राज्यवाद के खिलाफ राष्ट्रीय आन्दोलन चला है, चीन ने यथाशक्ति इन संघर्षों में अपना योगदान दिया है। शोषित देशों में राष्ट्रवादी तत्त्वों को उभाड़कर वहाँ साम्यवादी क्रांति के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना चीन की विदेश-नीति का मूल सिद्धान्त तथा आधारभूत तत्त्व रहा है।

राष्ट्रीय हित का तत्त्व— किसी भी देश की विदेश-नीति राष्ट्रीय हित की उपेक्षा नहीं कर सकती। चीन की विदेश-नीति पर भी यह सिद्धान्त लागू होता है। लेकिन वहाँ सिद्धान्त और राष्ट्रीय हित दोनों साथ-साथ चलते हैं। 'सिद्धान्त' राष्ट्रीय हित को प्रभावित

करता है तथा 'राष्ट्रीय हित' के अनुसार सिद्धान्त को ढालने का यत्न किया जाता है। इसीलिए जहाँ सोवियत संघ निरस्त्रीकरण पर जोर देते हुए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति पर चल रहा है, वहाँ चीन द्वारा इन बातों की कटु आलोचना होती है। चीन के नेताओं का ख्याल है कि इन नीतियों को अपनाकर चीन का राष्ट्रीय हित नहीं सधता है। अतएव चीन के नेताओं के प्रत्येक कार्य का मूल लक्ष्य देश के शक्ति-स्तर को बढ़ाना है। वे चीन को सोवियत संघ और अमेरिका के समकक्ष बनाने का इरादा रखते हैं। वे महान शक्ति बनने के लिए सभी साधनों को जुटाने में यत्नशील हैं। इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए चीन के नेता हर तरह का बलिदान करने को तैयार हैं।

विदेश-नीति के साधन—सम्पूर्ण संसार में साम्यवाद का प्रचार करना चीन अपनी विदेश-नीति का मुख्य लक्ष्य मानता है। इसके लिए वह किसी भी साधन का प्रयोग करने और हर तरह का बलिदान करने को तैयार है। एक बार चाऊ एन-लाई ने कहा था : "यदि आधे विश्व को साम्यवादी बनाने के प्रयत्न में चीन की आधी जनसंख्या की बलि देनी पड़े तो भी हमें कोई परवाह नहीं होगी।" इसलिए वे युद्ध से नहीं डरते। चीन के विदेश-नीति के निर्माता युद्धलोलुप या जंगखोर नहीं हैं (जैसा कि उन्हें चित्रित किया जाता है) लेकिन यदि लक्ष्य की पूर्ति के लिए आवश्यक हो हो जाय तो वे इस जोखिम को उठाने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। माओ-त्से-तुंग ने लिखा है : "हम साम्यवादी युद्ध को सर्वव्यापक मानते हैं। यह युद्ध अनुचित न होकर उचित मार्क्सवादी होता है। रूस ने बन्दूक की जोर पर समाजवाद कायम किया है। सारा संसार केवल बन्दूक की सहायता से ही बदला जा सकता है। बन्दूक से छुटकारा पाने के लिए बन्दूक हाथ में लेनी होगी।" अतएव चीन के नेता शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका ख्याल है कि साम्यवाद तथा पूँजीवाद में संघर्ष अनिवार्य है और इस संघर्ष के लिए पूरी तरह तैयार रहना है।

चीन के नेताओं का विश्वास है कि साम्यवाद और पूँजीवाद का संघर्ष तुरत खत्म होनेवाला नहीं है। संघर्ष की उनकी योजना काफी लम्बी है। उनका विचार है कि पूँजीवादी देशों में दृढ़ निश्चय तथा साहस नहीं होता। इसलिए जब उनके विरुद्ध सावधानी के साथ अवसर देखकर एक लम्बा संघर्ष छेड़ा जायगा तो वे टिक नहीं सकेंगे। लम्बे संघर्ष के कार्यक्रम के अधीन पूँजीवादी और पाखंडी समाजवादी देशों का तीव्र विरोध किया जाता है और अन्य देशों के साम्यवादी दलों की सहायता की जाती है। चीन का कहना है कि दुनिया में जब तक पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था रहेगी तब तक शान्ति नहीं स्थापित हो सकती। दुनिया में स्थायी शान्ति के लिए इनको नष्ट करना परम आवश्यक है।

साम्यवादी चीन की विदेश नीति

मार्क्सवादी तथा लेनिनवादी विचारधारा को ध्यान में रखते हुए सितम्बर, १९४९ में जन परामर्शदात्री सम्मेलन में साम्यवादी चीन की विदेश नीति इस प्रकार निर्धारित की गयी : "चीनी गणराज्य का विदेश नीति का उद्देश्य देश की स्वतंत्रता, संप्रभुता तथा प्रादेशिक सम्मान की रक्षा करना, स्थायी विश्व-शान्ति को सुरक्षित रखना, विभिन्न राज्यों में मैत्रीपूर्ण सहयोग को प्रोत्साहित करना तथा आक्रमण और युद्ध की साम्राज्यवादी नीति का विरोध करना है।

चीनी गणराज्य विदेशों में बसनेवाले चीनियों के उचित अधिकारों और हितों की रक्षा के लिए भरसक प्रयास करेगा। चीनी गणराज्य उन सभी लोगो को राजनीतिक शरण प्रदान करेगा जो जनहित, शान्ति तथा जनतन्त्र के लिए संचालित संघर्ष में भाग लेने के कारण अपनी सरकार द्वारा सताये गये हों।"

इसके आधार पर १ अक्टूबर, १९४९ को चीन की साम्यवादी सरकार ने अपनी विदेश नीति के निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किये : चीन की स्वतंत्रता तथा अखंडता की रक्षा करना, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सभी देशों के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग के लिए प्रयत्न करना, उन विदेशी सरकारों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना जो राष्ट्रवादी चीन से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर चुकी हों, साम्राज्यवादियों और विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध संघर्ष में साम्यवादी देशो का साथ देना तथा प्रवासी चीनियों के हितों तथा अधिकारों की रक्षा करना।

साम्यवादी चीन और फारमोसा—चीन की विदेश नीति का प्रथम लक्ष्य चीन की स्वतंत्रता और अखंडता की रक्षा करना है। इस लक्ष्य का अभिप्राय यह है कि साम्यवादी चीन देश के उन भू-भागों पर भी अपना अधिकार मानता है जिन पर कोमिन्तांग सरकार का अधिकार है। इस प्रकार फारमोसा या ताइवान पर चीन की सरकार अपना प्रभुत्व मानती है। वस्तुतः फारमोसा हमेशा से ही चीन का अभिन्न अंग रहता आया है। १९०८ में इस पर जापान का अधिकार कायम हुआ था लेकिन १९४५ में जापान जब युद्ध में हार गया तो फारमोसा पुनः चीन को वापस मिल गया। चीन की सरकार ने इस द्वीप समूह का नाम ताइवान रखा। जब १९४९ में साम्यवादियों ने च्यांग-काई-शेक की राष्ट्रवादी सेना को चीन की मुख्य भूमि से खदेड़ दिया तो च्यांग ने भागकर फारमोसा द्वीप में शरण ली। फारमोसा के पश्चिम पेस्काडोर्स के अड़तालीस छोटे टापू और चीन के तट से बारह मील दूर स्थित किमाय और मात्सु टापू हैं। इस समय इन सब टापुओं पर च्यांग-काई-शेक का अधिकार है। परन्तु साम्यवादी चीन इन टापुओं को अपना अंग मानता और इनको अपने अधिकार में लाना चाहता है। उसने इन टापुओं को हस्तगत करने के लिए पिछले वर्षों में प्रयत्न भी किये हैं जिससे एक महान अन्तर्राष्ट्रीय संकट पैदा हुआ है। इन द्वीप समूहों पर चीन के आक्रमण को रोकने की जिम्मेवारी संयुक्त राज्य अमेरिका ने ले ली है। उसने शुरू में च्यांग को सहायता देना आरम्भ किया। जब १९५० में कोरिया की लड़ाई शुरू हुई तो राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिका के सातवें सैनिक बेड़े (U. S. Seventh Fleet) को आज्ञा दी कि वह फारमोसा की सुरक्षा के लिए चला जाय। १९५४ में फारमोसा और अमेरिका के बीच एक पारस्परिक सुरक्षा समझौता हुआ। इस समझौता के अनुसार फारमोसा की सुरक्षा अमेरिका की जिम्मेवारी हो गयी।

चीन का कहना है कि फारमोसा पर अमेरिका नौसेना की सहायता से च्यांग का शासन उसकी सुरक्षा के लिए बहुत बड़ा खतरा है। अतएव वह इसकी मुक्ति के लिए बराबर प्रयत्नशील रहता है। इन टापुओं को जीतने का प्रयास उसने १९५५ में किया था। लेकिन अमेरिका के प्रतिरोध के कारण उसे सफलता नहीं मिल सकी। १९५८ में किमाय और मात्सु को जीतने का प्रबल प्रयास हुआ। २३ अगस्त को चीन ने इन टापुओं पर भीषण गोलाबारी

आरम्भ कर दी। यह प्रयास बहुत जवर्दस्त था। अमरीकी रक्षा-वेड़े को इन टापुओं में कुमक पहुँचाने मे वीस दिन लग गये। जब संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह धमकी दी कि किमाय और मात्सु को लेकर अत्यन्त भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी तो ख्रुश्चेव ने अमेरिका को यह चेतावनी दी कि यदि चीन पर कोई आक्रमण हुआ तो सोवियत संघ इसको अपने ऊपर आक्रमण समझेगा। भारतीय प्रधान मंत्री पंडित नेहरू ने भी इस प्रश्न पर चीन का समर्थन किया। उन्होने कहा था कि कोई देश अपने समुद्र तट से बारह मील दूर के टापू को आक्रमण का अड्डा बनाना बर्दास्त नही कर सकता। लेकिन ७ अक्टूबर को चीन ने स्वयं गोलाबारी बन्द करने की घोषणा कर दी। तत्काल यह संकट शान्त हो गया किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि पुनः कब इसका विस्फोट हो जाय। साम्यवादी चीन अभी भी फारमोसा को अपना महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय अंग मानता है और उसको विदेश नीति का एक लक्ष्य इस टापू को किसी तरह प्राप्त करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध की स्थापना—१९४९ से १९५३ तक की अवधि में साम्यवादी चीन ने विदेश-नीति के क्षेत्र में मुख्यतः सोवियत संघ का अनुसरण किया। उसका अपना कोई स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं रहा। लेकिन १९५३ में स्टालिन की मृत्यु के बाद चीन की अपनी विदेश-नीति उभरने लगी। यह मृदुतावादी नीति थी और उस समय चीन ने शान्तिपूर्ण सहजीवन का नारा बुलन्द किया। इसका उद्देश्य एशिया और अफ्रिका के देशो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम करना था। इस काल में चीन को पहले-पहले एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने का मौका मिला। यह था हिन्द चीन से सम्बन्धित जेनेवा सम्मेलन (१९५४)। इस सम्मेलन में चीन के प्रधान मंत्री ने यह अनुभव किया कि विभिन्न सरकारों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध और संधियाँ स्थापित करके चीन की शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। इस नीति पर चलते हुए चीन ने सर्वप्रथम अप्रिल १९५४ में तिब्बत के बारे में भारत से सन्धि की और पंचशील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। बहुत अर्से तक चीन की विदेश-नीति पंचशील के सिद्धान्तों से अनुप्राणित रही। १९५५ में उसने एशियाई-अफ्रिकी देशों के बांडुंग सम्मेलन में भाग लिया।

चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका—प्रोफेसर शूमाँ ने लिखा है: "लाल चीन की विदेश नीति, अधिकांश रूप में, अमेरिका के विरुद्ध थी, क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका के नये शासन के शत्रुओं को हथियार दिये थे, उसे मान्यता देने से इन्कार कर दिया था, निरन्तर उसको उलटने की चेष्टा की थी, फारमोसा में राष्ट्रवादी सरकार का संरक्षण किया था तथा चीन की मुख्य भूमि के सम्भावित छुटकारे की दृष्टि से च्यांग को नवीन सहायता दी थी। यही कारण था कि पेकिंग को सहानुभूति सोवियत संघ के साथ घनिष्ठ सहयोग तथा हिन्द चीन, मलाया तथा अन्यत्र साम्राज्यवाद विरोधी लाल विद्रोहियों की सहायता की ओर थी।" साम्यवादी चीन अमेरिका को अपना सबसे बड़ा शत्रु समझता है। वस्तुतः पश्चिमी राज्यों के प्रति चीन-वासियों की परम्परा घृणा और विरोध का बदला साम्यवादी चीन अमेरिका से चुकाने पर उतारू प्रतीत होता है और अमेरिका को अपमानित करने तथा नीचा दिखाने का कोई मौका वह हाथ से नहीं जाने देता।

अमेरिका के प्रति चीन के इस दृष्टिकोण के कई कारण हैं और इनमें सबसे प्रमुख है अमेरिका द्वारा चीन का नामोनिशान मिटाने का इरादा। वस्तुतः १९४९ से ही चीन अमेरिका की आँखों का काँटा बना हुआ है। शुरू में अमेरिका ने च्यांग-काई-शेक की पूरी सहायता की ताकि साम्यवादी किसी तरह गृह-युद्ध में नहीं जीते। बाद में जब कोमिन्तांग दल स्वयं को फारमोसा में चीन के गणराज्य के रूप में स्थापित कर दिया तो कम्युनिस्ट चीन के लिए यह खतरा पैदा हो गया कि कहीं अमरीकी शस्त्रास्त्रों की सहायता से हस्तक्षेप द्वारा चीन का नवजात साम्यवादी शासन को नष्ट करने का यत्न न हो। अमेरिका के चीन विरोधी कार्रवाइयों का अन्त यहीं नहीं हुआ। वह फारमोसा की कोमिन्तांग सरकार को ही चीन की वास्तविक सरकार मानती रही। इसलिए साम्यवादी चीन को कूटनीतिक मान्यता नहीं दी और संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन के प्रवेश को रोका। इसके अलावे साम्यवादी चीन के उदय के प्रारम्भिक वर्षों में अमेरिका में एक राजनीतिक विवाद शुरू हुआ जिसमें कई सुप्रसिद्ध अमरीकी विद्वानों एवं राजनीतिज्ञों ने चीन में साम्यवादियों की विजय के लिए ट्रूमैन-प्रशासन को उत्तरदायी ठहराया। इस विवाद के संदर्भ में अमेरिका में जो विचार प्रकट किये गये उसके फलस्वरूप चीन के नेताओं का यह विश्वास दृढ़ हो गया कि अमेरिका वाले अभी चीन के विनाश का स्वप्न देख रहे हैं। इस कारण चीनी साम्यवादियों में अमेरिका के प्रति घोर घृणा का जन्म हुआ। चीनी युवक और युवतियों के मस्तिष्क में यह बात ठूंस-ठूंस कर भर दी गयी कि संसार में अमेरिका ही उनका महानतम शत्रु है।

१९५० के कोरिया युद्ध ने इस धारणा को और पुष्ट कर दिया। कोरिया में अमरीकी सैनिक कार्यवाही चीनियों को अपने एक निकटवर्ती मित्र-राज्य के विरुद्ध अमरीकी आक्रमण के समान प्रतीत हुई। साम्यवादी चीन किसी भी हालत में यह सहने को तैयार नहीं था। अतएव ज्योंही अमरीकी सेना चालू नामक स्थान के पास पहुँची त्योंही चीनी सैनिकों ने उनका बड़ा कड़ा प्रतिरोध किया और कोरिया का युद्ध अब प्रधानतः अमेरिका और चीन का युद्ध बन गया। कोरियाई युद्ध के फलस्वरूप अमरीकी नीति-निर्माताओं ने चीन को डराने-धमकाने के उद्देश्य से फारमोसा की कोमितांग सरकार को और भी अधिक सैनिक सहायता देने का निश्चय किया। इसी समय अमेरिका विश्व के विविध क्षेत्रों में कई सैनिक संगठन कायम किये। साम्यवादी चीन ने इन सैन्य सगठनों की भर्त्सना यह कहकर की इन सबका उद्देश्य विश्व में अमरीकी प्रभुत्व की स्थापना करना है। अमरीकियों के लिए चीन की मुख्य भूमि के द्वार बन्द कर दिये गये। अमरीकी पत्रकारों तक को प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी गयी। चीन स्थित अमरीकी सम्पत्ति भी जब्त कर ली गयी। अमेरिका के साथ व्यापारिक सम्बन्ध पूर्णतः क्षत-विक्षत कर दिये गये। उसके साथ सामाजिक, सांस्कृतिक, कूटनीतिक सभी प्रकार के सामानों पर रोक लगा दी गयी। कोरियाई-युद्ध में जिन अमरीकी चालकों को बन्दी बना लिया गया था, उन्हें भी बड़े वाद-विवाद के बाद और सोवियत रूस के आग्रह पर मुक्त किया गया

१९५४ में हिन्द-चीन के प्रश्न पर भी दोनों देशों में काफी तनाव पैदा हो गया। डीन-बिन-फू में फ्रेंच सेनाओं की निर्णायक पराजय के उपरान्त जब वाशिंगटन ने भारी संख्या में अपनी सेनायें फ्रांस की सहायतार्थ भेजने का निश्चय किया तो अमेरिका और साम्यवादी चीन

में प्रत्यक्ष युद्ध का गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया लेकिन जेनेवा-समझौता सम्पन्न होने के कारण यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति टल गयी। १९५९ में चीन और अमेरिका के बीच संघर्ष का एक और नया कारण उपस्थित हो गया। लाओस में संघर्ष के लिए चीन ने अमेरिका को उत्तरदायी ठहराया और कहा कि वह वियतनाम के प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य एवं चीन की सुरक्षा को सीधी चुनौती देने के लिए ही सुदूर पूर्व में संघर्ष चाहता है। तिब्बत के बारे में संयुक्त राज्य अमेरिका का रुख देख कर भी चीन को भारी असन्तोष हुआ। इसके अतिरिक्त जनवरी, १९६० में जापान तथा अमेरिका के बीच सहयोग एवं सुरक्षा की सन्धि हुई। इससे भी चीन और अमेरिका के सम्बन्ध कटु बने। पेकिंग रेडियो ने अमेरिका पर एशिया में साम्राज्यवादी षड्यन्त्र रचने का आरोप लगाया। ९ सितम्बर, १९६२ को साम्यवादी चीन की वायु-सेना ने कुओमिंतांग सेना के एक यू० २ सैनिक जाँच-वायुयान को चीन की मुख्य भूमि पर मार गिराया। चीन की सरकार ने इस घटना पर एक विस्तृत बयान जारी किया और इस विमान की उड़ान का उत्तरदायित्व अमेरिका को ठहराया। अक्टूबर, १९६२ में क्यूबा-संकट के समय साम्यवादी चीन द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध घोर विष-वमन किया गया। सम्पूर्ण चीन में क्यूबा समर्थक विशाल प्रदर्शन संगठित किये गये, क्यूबा समर्थक नारे लगाये गये और क्यूबा के नेताओं के चित्र प्रदर्शित किये गये। १९६२ में ही संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीनी आक्रमण के विरुद्ध भारत को प्रभावशाली सैनिक सहायता भेजी। इससे भी साम्यवादी चीन के आक्रोष में वृद्धि हुई।

१९६५-६६ में वियतनाम समस्या को लेकर अमेरिका और चीन की कटुता में पुनः वृद्धि हुई। वियतनाम में शान्ति-स्थापना के कार्य में विलम्ब के लिए बहुत अंशों में साम्यवादी चीन भी जिम्मेवार है। यह मुख्यतः चीन की नीति का ही परिणाम है कि उत्तरी वियतनाम की सरकार सभी शान्ति-प्रस्तावों के विरुद्ध कठोर रुख ग्रहण किये हुए केवल अपने ही प्रस्तावों को मानने पर जोर दे रही है। उत्तरी वियतनाम की सरकार को पेकिंग ने निरन्तर अपना समर्थन देकर उत्तर वियतनामियों का मनोबल ऊँचा रखा है। वियतनाम के प्रति अमरीकी नीति को चीन अपने विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्रवाई मानता है और वियतनाम की समस्या को इसी दृष्टिकोण से देखता है।

चीन की उग्र विदेश नीति का उदय—अमेरिका के इस तरह के निरन्तर चीन-विरोधी नीति ने चीन की मृदुतावादी नीति का परित्याग करने और एक अत्यन्त उग्र विदेश-नीति का अवलम्बन करने के लिए बाध्य किया है। १९६६ के अन्तिम महीनों से चीन की विदेश नीति में इस तरह का परिवर्तन दिखायी पड़ता है। अपनी नयी उग्र नीति का प्रारम्भ करते हुए चीन ने सर्वप्रथम उन मांगों का प्रबल विरोध किया जिसके अनुसार साम्यवाद की नीति में कुछ संशोधन होना चाहिए था। इसको लेकर बाद में चीन और सोवियत संघ के विरुद्ध घोर सैद्धान्तिक मतभेद प्रारम्भ हुआ। इसके बाद चीन ने प्रायः सभी अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर कड़ा रुख अपनाना शुरू किया और उसकी नीति अधिकाधिक उग्र और आक्रामक होती गयी। तिब्बत के प्रति उसने बड़ी ही कड़ी नीति का अवलम्बन किया और दलाई लामा को देश छोड़ने पर विवश किया। भारत के साथ सीमा-विवाद में भी उसका रुख शनैः शनैः कठोर होता गया। १९६२ में इस विवाद को लेकर दोनों देशों के बीच एक युद्ध भी हुआ। उधर रूस शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का समर्थक बनता गया। इस कारण उसके प्रति भी चीन का दृष्टिकोण अधिकाधिक विरोधपूर्ण होता गया। यह विरोध निरन्तर बढ़ता ही गया और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो

गयी कि समाजवादी जगत् दो खेमों मे विभाजित हो गया। चीन को उत्तर कोरिया, उत्तर वियतनाम तथा अल्वेनिया का समर्थन प्राप्त हुआ लेकिन अन्य समाजवादी राज्य रूस का समर्थन करते रहे। अतः उन देशों के साथ भी चीन का सम्बन्ध सन्तोषजनक नहीं रहा। अब तो रूस के विरुद्ध चीन ने खुला संघर्ष आरम्भ कर दिया है और साम्यवादी जगत् पर सोवियत संघ के प्रभाव को उसने बहुत बड़ी चुनौती दे दी है। इस चुनौती में चीन को पर्याप्त सफलता मिली है। आज साम्यवादी दुनिया दो भागों में बँट गयी है। एक भाग चीन के नेतृत्व को स्वीकार करने लगा है। संसार में शायद ही कोई ऐसा देश है जहाँ की चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के समर्थक न हों।

साम्यवादी चीन और एशिया पर प्रभाव-स्थापना का प्रश्न—साम्यवादी व्यवस्था स्थापित होने के बाद जब चीन ने दृष्टि उठाकर चारों ओर देखा तो उसे पूर्वी, दक्षिण पूर्वी एशिया में सर्वत्र अव्यवस्था, असन्तोष, अशान्ति ही दिखायी पड़ी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इस क्षेत्र में बिल्कुल अराजक स्थिति छायी हुई थी। युद्धोपरान्त यूरोप की भी यह दशा थी और स्टालिन ने इस स्थिति से लाभ उठाकर पूर्वी यूरोप पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया था। यूरोप में सोवियत संघ की सफलता देख चीनी साम्यवादियों की "लिप्सा भी जग उठी और उन्होंने यह स्वप्न देखना शुरू कर दिया कि जिस प्रकार यूरोप में रूस साम्यवादी जगत् की धुरी है उसी प्रकार साम्यवादी चीन भी समस्त एशिया पर अपना प्रभुत्व और नियन्त्रण कायम कर सकता है। ऐसा करने के लिए तात्कालिक परिस्थितियाँ भी अत्यधिक अनुकूल थी, क्योंकि स्थानीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति सहानुभूति प्रकट कर वह सहज ही उनकी सहानुभूति प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार बिना आक्रमण किये हुए दक्षिण एशिया में इसके प्रभाव-विस्तार का मार्ग खुला हुआ था। अतएव साम्यवादी चीन ने समस्त एशिया पर अपना प्रभाव कायम करने को अपनी विदेश-नीति का लक्ष्य बनाया। इस प्रकार एशिया में साम्यवादी चीन के निम्नलिखित लक्ष्य बन गये :

(१) सम्पूर्ण एशिया में साम्यवाद की स्थापना,

(२) एशिया का नेतृत्व ग्रहण करना,

(३) दक्षिण-पूर्व एशिया के राष्ट्रीय आन्दोलनों का उपयोग अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के लिए करना,

(४) साम्यवाद का नेतृत्व रूस के हाथ से शनैः-शनै छीनकर संसार से साम्यवाद का एकछत्र नेता बनना,

(५) पहले सह-अस्तित्व का नारा बुलन्द कर एशियाई देशों का विश्वास प्राप्त करना और उन्हें बेखबर और अरक्षित पाकर अपने नियन्त्रण में लाना,

(६) यदि आवश्यकता पड़े तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिंसा, विद्रोह, तोड़-फोड़ और हर प्रकार के विध्वंसात्मक उपायों का अवलम्बन करना।

कोरिया के युद्ध में हस्तक्षेप, हिन्द-चीन में साम्यवादी आन्दोलन का सक्रिय समर्थन और भारत के साथ सीमा-युद्ध इन सारी घटनाओं को इन्हीं लक्ष्यों की पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है। साम्यवादी चीन द्वारा दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में संघर्षरत तत्वों को सैनिक सहायता देने के बाद स्थिति निरन्तर विषम होती गयी। इस नीति का परिणाम है कि लगभग आधा हिन्द-चीन इस समय साम्यवादियों के कब्जे में है और अपने अधिकार-क्षेत्र का विस्तार

करने के किसी भी प्रयास को ये हाथ से नहीं जाने दे रहे हैं। वियतनाम और लाओस में उत्पन्न स्थिति इसके ज्वलन्त उदाहरण है।

अपनी नवीन उग्र नीति के कारण चीन ने दिसम्बर १९६२ से नया कूटनीतिक अभियान शुरू किया। अफ्रिका के देशों में उसका स्थान पहले से ही ऊँचा था, क्योंकि उसने अफ्रीकी देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों का शुरू से ही समर्थन किया। अल्जीरिया के स्वतन्त्रता संग्राम में चीन ने विशेष दिलचस्पी ली थी। अफ्रीकी महादेश को चीन क्रान्ति के लिए एकदम उपयुक्त मानता है। इसलिए वहाँ अपने प्रभाव के प्रसार के लिए दिसम्बर १९६३ में चीनी प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई ने विभिन्न अफ्रीकी देशों की यात्रा की। आठ सप्ताह की इस यात्रा में उसने संयुक्त अरब गणराज्य, मोरक्को, अल्जीरिया, ट्यूनीशिया, घाना, माली, गिनी, सुडान, इथोपिया, सोमालिया आदि देशों की यात्रा की। फिर फरवरी, १९६४ में बर्मा, पाकिस्तान और लंका की यात्रा की।[1] अपनी इस यात्रा के दौरान चाऊ ने इस बात का पूरा प्रयास किया कि इस क्षेत्र पर से सोवियत प्रभाव उठ जाय और उसके बदले में चीन का प्रभाव कायम हो जाय तथा भारत के साथ चीन के विवाद में इन देशों का समर्थन उसे मिल जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति में उस समय चीन को आंशिक सफलता अवश्य मिली। पाकिस्तान उसका एक बहुत बड़ा समर्थक बन गया।

चीन की विदेश नीति का मूल्यांकन

उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान रखकर इस पुस्तक के १९६४ के संस्करण में चीन की विदेश-नीति का मूल्यांकन इन शब्दों में किया गया था :

"हम भले ही कहते कि चीन की विदेश-नीति मूलतः आक्रामक है और वह सम्पूर्ण एशिया पर अपना साम्राज्य कायम करने का इरादा रखता है, लेकिन यदि निष्पक्ष भाव से हम उसका मूल्यांकन करें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि विदेश-नीति के क्षेत्र में चीन को अधिक-से-अधिक सफलता मिली है। इसके निम्न-लिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं:

(१) 'नाटो' और 'सीटो' संगठनों में दरार पैदा करने में चीनी कूटनीति सफल रही है। फ्रांस से कूट-नीतिक मान्यता प्राप्त करके तथा पाकिस्तान को अपना समर्थक बनाकर उसने संयुक्त राज्य अमेरिका को ही नहीं कितने अन्य देशों को आश्चर्यित कर दिया है।

(२) अफ्रिका के कई देशों में चीन का प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। १९६३-६४ में चीन के प्रधानमन्त्री ने कई अफ्रीकी देशों का भ्रमण किया और वहाँ उसका शानदार स्वागत हुआ। यह तथ्य भी चीनी विदेश-नीति की सफलता का प्रबल प्रमाण है।

(३) बर्मा, घाना, और इंडोनेशिया पर चीन का जबरदस्त प्रभाव है। भारत-चीन विवाद में बर्मा ने चीन का ही अधिक समर्थन किया। यही हाल इंडोनेशिया का भी है। आज इंडोनेशिया मलयेशिया का जो प्रबल विरोध कर रहा है उसके पीछे चीन की कूटनीति बहुत सक्रिय है। यहाँ तक कि लंका भी भारत-चीन विवाद में चीन का अधिक समर्थन करता है। लंका की राजधानी कोलम्बो चीन द्वारा भारत विरोधी प्रचार का एक मुख्य केन्द्र है।

१९६६ के मध्य में अब यह आवश्यक हो गया है कि चीन की विदेश-नीति के मूल्यांकन के सम्बन्ध में दूसरा निष्कर्ष निकाला जाय। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन की स्थिति अब बहुत

१. बर्मा, नेपाल और पाकिस्तान के साथ चीन का कुछ सीमा सम्बन्धी विवाद था। १९६६ में समझौता के द्वारा इन विवादों का अन्त कर दिया गया।

डाँवाडोल हो गयी है। १९६४ के नवम्बर में ख़ुश्चेव के पतन के बाद यह आशा पैदा हुई थी कि चीन और सोवियत संघ के मतभेद का अन्त हो जायगा तो दोनों साम्यवादी देश पुनः सहयोग और मैत्री के बन्धन में बँध जायँगे। इसके लिए चीन की ओर से प्रयास भी हुए, लेकिन सोवियत संघ के नये नेतृत्व ने अपने सिद्धान्त को छोड़कर चीन के साथ समझौता करने से इनकार कर दिया। इस घटना ने यह स्पष्ट कर दिया कि सोवियत संघ के साथ चीन का मतभेद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक स्थायी तत्त्व बनकर आया है। ख़ुश्चेव के पतन के बाद भी सोवियत संघ से समझौता नहीं कर पाना चीन की विदेश नीति की एक प्रमुख विफलता है।

बेनबेल्ला द्वारा शासित अल्जीरिया में चीन का अत्यधिक प्रभाव था। बेनबेल्ला साम्यवादी चीन का एक बहुत बड़ा समर्थक था। इसलिए चीनी कूटनीति से प्रेरित होकर उसने जून, १९६५ में अल्जीयर्स में एक एशियाई अफ्रीकी सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन के जरिये चीन अफ्रिका में अपनी धाक जमाना चाहता था। परन्तु सम्मेलन शुरू होने से पहले ही बेनबेल्ला-सरकार का पतन हो गया। इस प्रकार चीन को यहाँ भी कूटनीतिक पराजय का सामना करना पड़ा।

१९६५ के मध्य तक संसार के तीन देश चीन के बहुत बड़े समर्थक थे। ये देश थे पाकिस्तान, घाना और इंडोनीशिया। लेकिन १९६६ के प्रारम्भ में चीन को इन देशों की मित्रता को भी गँवा देना पड़ा है। सितम्बर, १९६५ में भारत पाकिस्तान युद्ध के समय चीन ने पाकिस्तान का जबर्दस्त समर्थन किया। भारत पर सैनिक दबाव डालकर परोक्ष रूप से पाकिस्तान की सहायता करने के लिए उसने भारत-चीन सीमान्त पर सैनिक हलचल शुरू कर दी और भारत को एक धमकी से भरा अन्तिमेत्थम भेजा। लेकिन चीन की इन सारी करतूतों से पाकिस्तान को कोई फायदा नहीं हुआ। वस्तुतः पाकिस्तान के हक में इसका असर बुरा ही हुआ। चीन के साथ उसके गठबन्धन के कारण न तो अमेरिका ही उसकी मदद के लिए तैयार हुआ और न सोवियत संघ ने ही उसका समर्थन किया। भारत-पाकिस्तान-युद्ध के समय पाकिस्तान के कूटनीतिक पलायन के मूल में चीन के साथ उसकी बढ़ती हुई मैत्री थी।

घाना के राष्ट्रपति इन्क्रुमा चीन के जबरदस्त समर्थक थे और चीनी नेताओं का उनपर बेहद प्रभाव था। वस्तुतः घाना के माध्यम से ही चीन अफ्रिका में अपना प्रभाव फैला रहा था। लेकिन फरवरी, १९६६ में घाना में एक सैनिक क्रान्ति हो गयी जिसके फलस्वरूप राष्ट्रपति इन्क्रुमा को अपदस्थ हो जाना पड़ा। जिस समय घाना की राजधानी आक्करा में यह नाटकीय परिवर्तन हो रहा था उस समय राष्ट्रपति इन्क्रुमा पेकिंग में ही थे।

अफ्रिका के रंगमंच पर से इन्क्रुमा के हटने से चीन की नीति को जबरदस्त धक्का लगा। इसके कारण अफ्रिका में चीन के प्रभाव का विस्तार बिल्कुल रुक गया। यह सत्य है कि घाना की सैनिक क्रान्ति का एक मूल कारण इनक्रुमा पर चीन का बढ़ता हुआ प्रभाव था।

चीन के दूसरे मित्र राज्य इंडोनीशिया की भी कुछ ऐसी ही दुर्गति हुई। राष्ट्रपति सुकर्ण चीन के बहुत बड़े समर्थक थे। इंडोनीशिया की कम्युनिस्ट पार्टी रूस-चीन सैद्धान्तिक विवाद में चीन का समर्थन करती है और इंडोनीशियाई कम्युनिस्ट पार्टी के सहयोग से सुकर्ण शासन चला रहे थे। १९६५ के १ अक्टूबर को इंडोनीशिया की कम्युनिस्ट पार्टी ने सरकार पर अधिकार कर लेने के उद्देश्य से एक विद्रोह शुरू कराया और प्रारम्भ में इस विद्रोह को कुछ

सफलता भी मिली। कहा जाता है कि विद्रोह में चीन का भी हाथ था। विद्रोहियों ने सेना के कुछ उच्च पदाधिकारियों की हत्या कर दी। बाद में इंडोनीशिया में इस कम्युनिस्ट विद्रोह के खिलाफ एक प्रतिक्रिया हुई और वहाँ एक जबरदस्त कम्युनिस्ट तथा चीन विरोधी आन्दोलन चल पड़ा। इंडोनीशिया में कम्युनिस्टों और गैर कम्युनिस्टों के बीच बाजाप्ता युद्ध शुरू हो गया। इस क्रम में केवल पाँच महीनों के अन्दर नब्बे हजार के लगभग कम्युनिस्टों को मौत के घाट उतार दिया गया। इतनी बड़ी संख्या में हत्या की जिम्मेवारी बहुत अंशों में चीन की विदेश नीति को दिया जा सकता है।

इंडोनीशिया में कम्युनिस्टों के खिलाफ जो विद्रोह हुआ उसने चीन के प्रभाव को वहाँ से भी मिटा दिया है। इस आन्दोलन के क्रम में कई बार चीनी दूतावास में उपद्रव हुए और चीन विरोधी प्रदर्शन हुए। चीन को बराबर इन घटनाओं के विरुद्ध धमकी भरा विरोध पत्र भेजना पड़ा। लेकिन इंडोनीशिया में चीन विरोधी अभियान १२ मार्च १९६६ को चरम सीमा पर पहुँच गया जब जनरल सुहार्तो ने राष्ट्रपति सुकर्ण के खिलाफ विद्रोह करके शासन का सम्पूर्ण भार अपने ऊपर ले लिया। इस विद्रोह का मुख्य कारण राष्ट्रपति सुकर्ण द्वारा जनरल नसूतियों को सरकार से हटाया जाना था क्योंकि नसूतियाँ चीन के विरोधी माने जाते थे। इंडोनीशिया की अन्तिम घटना चीन के विरुद्ध है। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि नयी सरकार ने अपने विदेश मन्त्री डा० सुबान्ड्रियों को कैद कर लिया और उन पर मुकदमा चलाने का निश्चय किया। स्पष्ट है कि इंडोनीशिया से भी चीन का प्रभाव समाप्त हो गया। पाकिस्तान और इंडोनीशिया को मिलाकर एशिया में एक नया संगठन कायम करने का चीनी स्वप्न समाप्त हो गया, इन्क्रुमा के पतन से अफ्रिका में भी उसके प्रभाव का विस्तार रुक गया तथा चीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अब बिल्कुल अकेला पड़ गया।

१९६६ में चीन में एक सांस्कृतिक क्रान्ति (Cultural Revolution) प्रारम्भ किया गया जिसका उद्देश्य "चीन के सभी क्षेत्रों में पूँजीवादी विचारधारा का समूलोन्मूलन करना" तथा ऐसे बुद्धिवादियों का प्रबल प्रतिवाद करना था जो "सामन्तवादी, पूँजीवादी तथा संशोधनवादी विचारों का प्रचार कर रहे हैं।" इसके लिए लाल रक्षकों का एक दल संगठित किया गया। लाल रक्षकों की गतिविधियों के कारण चीन में गृह-युद्ध जैसी स्थिति उत्पन्न हो गयी। विदेश में रहनेवाले चीनियों का स्थानीय लोगों के साथ और पेकिंग स्थित दूतावासों में रहनेवाले एशियाइओं के साथ भी लाल रक्षकों का व्यवहार बड़ा अभद्र रहा। इन वारदातों के कारण भी चीन अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में बदनाम हुआ है।

उत्तर वियतनाम पर से भी चीन का प्रभाव घटता हुआ प्रतीत होता है। चीन चाहता था कि उत्तर वियतनाम किसी हालत में अमेरिका के साथ समझौता वार्ता के लिए तैयार नहीं हो और इस उद्देश्य से वह उत्तरी वियतनामी सरकार को हमेशा उत्तेजित करता रहता था। लेकिन जब से सोवियत संघ ने उत्तर वियतनाम को सैनिक सहायता देना शुरू किया तबसे चीन का प्रभाव घटने लगा। उत्तर वियतनाम द्वारा अमेरिका के समझौता प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाना (३ अप्रिल, १९६८) इस बात का प्रमाण प्रतीत होता है कि चीन का प्रभाव उस देश पर से घटा है।

इधर हाल में चीन ने सोवियत संघ के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष प्रारम्भ कर दिया है। रूस-चीन सीमा पर दोनो पक्षों के बीच मार्च, १६६६ में जो सैनिक संघर्ष हुए हैं उनसे इन दोनों देशों का सम्बन्ध बहुत खराब हुआ है। आज वस्तु स्थिति यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन एकदम आकेला पड़ गया है।

पाकिस्तान की विदेश नीति

पाकिस्तान का जन्म—१४ अगस्त, १९४७ को भारतीय उपमहाद्वीप का विभाजन करके पाकिस्तान की स्थापना हुई। मुस्लिम लीग के अध्यक्ष मुहमद अली जिन्ना पाकिस्तान के पहला गवर्नर जनरल बने और प्रधान मंत्री का पद श्री लियाकत अली खाँ ने सम्हाला। अपने जन्म के कुछ दिनो के बाद ही पाकिस्तान संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। जिन्ना पाकिस्तान के सबसे बड़े नेता थे। कोई भी राजनीतिक नेता उनका विरोध नही कर सकता था। १६४८ में उनकी मृत्यु हो गयी जिसके फलस्वरूप पाकिस्तान के राजनीतिक जीवन में एक प्रकार की रिक्तता आ गयी। जिन्ना के उपरान्त पाकिस्तान का राजनीतिक नेतृत्व प्रधान मंत्री लियाकत अली खाँ ने सम्हाला, लेकिन जिन्ना की तुलना में वे लोकप्रिय न थे। उस समय पाकिस्तान के समक्ष जो समस्याएँ थीं उनमें कश्मीर की समस्या, नहरी पानी की समस्या, आर्थिक समस्या तथा शरणार्थियों की समस्याएँ प्रमुख थीं। लियाकत अली खाँ अपने शासनकाल में इनमें से किसी भी समस्या का समाधान नहीं कर पाये। देश में असन्तोष बढ़ता गया और अक्टूबर, १९५१ को सार्वजनिक सभा में एक अफगान युवक ने उनकी हत्या कर दी। इस घटना के बाद ख्वाजा निजामुद्दीन प्रधान मंत्री तथा गुलाम मुहम्मद गवर्नर जनरल बने। लेकिन देश की किसी भी समस्या का समाधान ये लोग नही कर सके।

सैनिक तानाशाही की स्थापना :—१६५३ तक इन समस्याओ ने गम्भीर रूप धारण कर लिया और ७ अप्रिल, १६५३ को गवर्नर जनरल ने निजामुद्दीन मंत्रिमण्डल को भंग कर दिया और अमेरिका स्थित पाकिस्तान के राजदूत श्री मुहम्मद अली को प्रधान मन्त्री बनाया। इसके बाद पाकिस्तान को अमेरिका से सैनिक सहायता मिलने लगी।

लेकिन पाकिस्तान की राजनीतिक अस्थिरता का अन्त नहीं हुआ। प्रशासन में भ्रष्टाचार का बोलबाला था। उधर अमेरिका से बहुत बड़ी मात्रा में सैनिक सहायता मिल रही थी। अब पाकिस्तान की सेना पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली और प्रभाव सम्पन्न बन गयी थी। उसके जनरलों के मन में सत्ता की प्यास जाग उठी थी। ७ अक्टूबर, १६५८ को प्रधान सेनापति जनरल अयूब के नेतृत्व में सेना ने सरकार के विरूद्ध विद्रोह कर दिया और सत्ता हस्तगत कर लिया। प्रेसिडेन्ट इस्कन्दर मिर्जा ने घोषणा करके देश में मार्शल लॉ लागू कर दिया, नवनिर्मित संविधान स्थगित कर दिया, संविधान सभा भंग कर दी गयी, और समस्त राजनीतिक दलों को समाप्त कर दिया गया।

कुछ दिनों तक इस्कन्दर मिर्जा और जनरल अयूब मिल-जुलकर शासन चलाते रहे। लेकिन वे अधिक समय तक सहयोग नहीं कर सके। इस्कन्दर मिर्जा को अपना पद छोड़ना पड़ा और सत्ता पूरी तरह जनरल अयूब के हाथो में आ गयी। इसके उपरान्त जनरल अयूब पाकिस्तान के सैनिक तानाशाह बन गये और पाकिस्तान में अभी उनकी यही तानाशाही कायम है। जनता को कोई राजनीतिक अधिकार नहीं है। १७ फरवरी, १६६० को हुए "चुनावों" में उन्होंने पाकिस्तान में "मौलिक लोकतन्त्र" (Basic Democracy) लागू करने की घोषणा की।

पाकिस्तान की विदेश नीति :—पाकिस्तान की विदेश-नीति का केवल एक ही लक्ष्य है—भारत को नीचा दिखाना और इसका मूल आधार कश्मीर की समस्या है। कश्मीर के प्रश्न पर भारत को झुकने के लिए बाध्य करना और कश्मीर को भारत से विलग कर पाकिस्तान में मिलाना पाकिस्तान का एकमात्र लक्ष्य रहा है। अतएव आरम्भ से ही उसे भारत के विरुद्ध अपना पक्ष मजबूत करने और सैनिक शक्ति को बढ़ाने के लिए ऐसे मित्रों की आवश्यकता थी जो कश्मीर के प्रश्न पर उसका समर्थन करते और साथ ही पूरी सैनिक सहायता भी देते। अतएव इन परिस्थितियों में पाकिस्तान ने प्रारम्भ से ही तटस्थता की नीति का परित्याग कर दिया। कश्मीर के अतिरिक्त एक और तथ्य ने पाकिस्तानी विदेश-नीति को प्रभावित किया है। संसार का सबसे बड़ा इस्लामी राज्य होने के नाते पाकिस्तान की यह इच्छा रही कि वह सम्पूर्ण इस्लामी जगत् का नेतृत्व करे। लेकिन पाकिस्तान को इस नीति में सफलता नहीं मिल सकी।

पाकिस्तान ने पश्चिमी देशों के साथ सैनिक गठबन्धन में बँध जाने का निर्णय किया। इसका वास्तविक कारण साम्यवाद का विरोध नहीं था। इस नीति को अपनाने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :

१. पश्चिमी देशों और अन्य देशों के साथ सैनिक गठबन्धनों में बँधकर भारत को भयभीत एवं आतंकित करना।

२. सैनिक दृष्टि से अपने को इतना शक्तिशाली बना लेना कि भारत किसी भी हालत में उससे सैनिक दृष्टि से श्रेष्ठ न हो पावे।

३. भारत के विरुद्ध पश्चिम राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त करना।

४. भारत के मुकाबले अधिक शक्तिशाली होकर कश्मीर समस्या को अपने अनुकूल हल कराने के लिए भारत को बाध्य करना।

इस प्रकार भारत को अपना घोर शत्रु मानना पाकिस्तान की विदेश-नीति का मुख्य आधार है। यदि आवश्यकता पड़े तो वह भारत को हानि पहुँचाने और कठिनाई में डालने के लिए साम्यवाद से भी गठबन्धन करने को तैयार रहता है, जैसा कि आजकल चीन के साथ उसके मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध से स्पष्ट है। यद्यपि पाकिस्तान सभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर अधिकांशतः पश्चिमी देशों का समर्थन करता रहा है, लेकिन उधर कुछ वर्षों से साम्यवादी देशों के प्रति उसकी नीति में कुछ परिवर्तन आया है। अब वह साम्यवादी देशों से भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सचेष्ट है। पाकिस्तान के शासक कई बार पश्चिमी देशों को इस बात की चेतावनी भी दे चुके हैं कि यदि उन्होंने कश्मीर के प्रश्न पर भारत के विरुद्ध पाकिस्तान का पूरा-पूरा समर्थन नहीं किया तो उसे अपनी विदेश नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। चीन के प्रति पाकिस्तान की मैत्रीपूर्ण नीति उसकी अवसरवादिता का नहीं वरन् भारत के प्रति उसकी दुर्भावना का परिचायक है।

इस सम्बन्ध में पाकिस्तान ने सोवियत संघ को भी अपने पक्ष में करने का प्रयत्न [illegible] संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ के विरोध के कारण ही पाकिस्तान की [illegible] मनोकामना पूरी नहीं हो पायी है। अतएव पाकिस्तान ने सोवियत संघ के प्रति [illegible] परिवर्तन करके उसको भी अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया है।

खाँ की सोवियत रूस की यात्रा इसी उद्देश्य से हुई थी। इसके उपरान्त पाकिस्तान के विदेश मन्त्री जुलफिकार अली भुट्टो भी कई बार सोवियत संघ का दौरा कर चुके थे।

जनवरी, १९६६ में ताशकन्द वार्ता में सोवियत प्रधान मन्त्री के आमन्त्रण पर शामिल होना पाकिस्तान की शान्तिवादी विदेश-नीति का परिचायक नहीं वरन् सोवियत संघ को प्रसन्न करने का प्रयत्न ही माना जायगा। लेकिन कश्मीर के प्रश्न पर सोवियत संघ की नीति में अभी तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। वह कश्मीर को भारत का अंग मानता है। दूसरे, चीन और पाकिस्तान के बीच बढ़ते हुए मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध को भी रूस शंका की दृष्टि से देखता है। इसके अतिरिक्त भारतीय उपमहाद्वीप में शीत-युद्ध लाने के लिए सोवियत संघ पाकिस्तान को ही दोषी मानता है। १९५४ में अमेरिका के साथ पाकिस्तान की जो सैनिक सन्धि हुई और जिसके फलस्वरूप पाकिस्तान को साम्यवाद के विरोध के नाम पर जो सैनिक सहायता मिली, उसे सोवियत संघ कैसे भूल सकता है। पाकिस्तान में अमेरिका के कई सैनिक अड्डे भी कायम है जो सोवियत संघ की सुरक्षा की दृष्टि से बड़े खतरनाक हैं। कई बार सोवियत नेता पाकिस्तान को रूस विरोधी कार्यवाही के लिए चेतावनी भी दे चुके हैं। यू २ विमान-कांड के अवसर पर सोवियत प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव ने यहाँ तक कह दिया था कि यदि पाकिस्तान ने अपने हवाई अड्डों को सोवियत रूस के विरुद्ध जासूसी उड़ाने करनें के लिए प्रयुक्त होने दिया तो रूस एक ही प्रहार से उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर देगा।

कश्मीर नीति का मूलाधार :—जैसा कि हम कह चुके हैं, पाकिस्तान भारत को अपना सबसे प्रबल शत्रु मानता है। वस्तुतः पाकिस्तान के शासकों और भारत के शासक वर्ग में पुरानी सैद्धान्तिक शत्रुता चली आ रही है। भारत के स्वाधीनता संघर्ष में ये एक दूसरे के विरोधी थे और दो राष्ट्रों के सिद्धान्तों को लेकर उनमें निरन्तर उग्र मतभेद रहे थे। उन्हें यह भी मालूम था कि भारत के नेताओं ने इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। अतः उनकी पुरानी विरोधी भावना मरी नहीं और वे भारत का हर बात पर विरोध करने और उसे अपना शत्रु मानने पर तुले हुए थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस मतभेद ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया। पाकिस्तान का जन्म धर्म के आधार पर हुआ था। अतएव भारत और पाकिस्तान के बीच मौलिक मतभेद है। यह मध्यकालीन धर्मान्धता तथा आधुनिक धर्म निरपेक्षता तथा समाजवाद और सैनिक तानाशाही का मतभेद है। अतएव यह मानना कि पाकिस्तान और भारत में कश्मीर के प्रश्न को लेकर झगड़ा है, गलत होगा। वास्तविकता यह है कि यदि कश्मीर की समस्या न होती तो इस तरह की किसी दूसरी समस्या को खड़ा करना पड़ता। बात यह है कि पाकिस्तान को अपना पड़ोसी भारत फूटी आँखों नहीं भाता।

इसके अतिरिक्त पाकिस्तान की आन्तरिक राजनीति भी कश्मीर के प्रश्न का एक कारण है। देश की जनता का ध्यान आन्तरिक अव्यवस्था और समस्याओं से हटाने के लिए एक सरल उपाय यह होता है कि कोई विदेशी दुश्मन पैदा कर दिया जाय। जन साधारण को विदेशी दुश्मन द्वारा उत्पन्न खतरे की बात आसानी से समझ में आ जाती है। इसके फलस्वरूप देश में अस्थायी तौर पर एकता भी स्थापित की जा सकती है। इस भूमिका के लिए पाकिस्तान ने भारत को चुना है और पाकिस्तान की विदेश-नीति का मुख्य उद्देश्य पाकिस्तानियों के दिल-दिमाग में भारत के प्रति घृणा और क्रोध की आग जलाना है। इस एक लक्ष्य के समक्ष पाकिस्तान अन्य

बातों को महत्त्व नहीं देता। इस हालत में यदि कश्मीर का प्रश्न नहीं रहता तो भी उसे पैदा किया जाता। पाकिस्तान ने विभिन्न देशों के साथ जो सैनिक संधियाँ की हैं, वह वस्तुतः पश्चिमी देशों अथवा सम्बन्धित देशों से सहानुभूति रखने के कारण नहीं, बल्कि अपने हितों की रक्षा के लिए की गयी है।

मुस्लिम जगत का नेतृत्व—पाकिस्तान के विदेश-नीति का दूसरा उद्देश्य विश्व के सभी मुस्लिम देशों को एकता के सूत्र में बाँधकर एक पान इस्लामिक संघ की स्थापना करना भी था। उसने इस बात का बड़ा यत्न किया है कि वह पश्चिम एशिया और समस्त अरब देशों का एक संघ बनाकर उसका नेतृत्व करे। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत से अधिक सम्मानित और प्रतिष्ठित स्थान पाना इसका उद्देश्य है। लेकिन मिस्र के राष्ट्रपति नासिर के विरोध के कारण पाकिस्तान की यह नीति सफल नहीं हो सकी; यद्यपि अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पाकिस्तान ने कई कदम भी उठाये। पाकिस्तान में १९५० और १९५४ में दो बार मुस्लिम देशों के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन का आयोजन हुआ। पाकिस्तान द्वारा पराधीनता की बेड़ी में जकड़े हुए कई मुस्लिम देशों का समय-समय पर समर्थन भी हुआ है। इस्लामी देशों के प्रमुख प्रवक्ता और समर्थक के रूप में उसने अपने आप को प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया। लेकिन स्वेज नहर संकट के समय जब एक मुस्लिम देश पर विपत्ति आयी तो उसने साम्राज्यवादी देशों का ही साथ दिया जिसके कारण उसकी प्रतिष्ठा को बहुत ठेस पहुँची। अफगानिस्तान के सम्बन्ध बिगड़ने के कारण भी मुस्लिम जगत् की एकता सम्बन्धी पाकिस्तान का स्वप्न साकार नहीं हुआ। आज भी यह समस्या पूर्ववत् कायम है और पख्तूनिस्तान के प्रश्न को लेकर अफगानिस्तान और पाकिस्तान के सम्बन्धों में तनाव अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। डूरन्ड रेखा को पाकिस्तान-अफगानिस्तान सीमा-रेखा बनाये रखने में पाकिस्तान की विदेश नीति सदा सक्रिय रही है।

पाकिस्तान की विदेश नीति के कुछ तथ्य :—इस विश्लेषण के बाद पाकिस्तान की विदेश नीति के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

(१) पाकिस्तान अमेरिका के साथ एक सैनिक सुरक्षा संधि से आबद्ध है। इस सन्धि के अन्तर्गत पाकिस्तान को अमेरिका से मुक्त सैनिक सहायता मिलती है।

(२) पाकिस्तान ने १९५४ में अमेरिका और तुर्की के साथ पारस्परिक सुरक्षा संधि कर ली और बगदाद संधि (अब सेंटो) और सीटो में भी सम्मिलित हो गया। इन सैनिक संधियों में शामिल होकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में वह खुले रूप से पश्चिमी देशों का समर्थक बन गया।

(३) लेकिन पाकिस्तान की विदेश-नीति का मुख्य उद्देश्य भारत का विरोध करना है। अतएव पिछले पाँच-छः वर्षों से उसकी विदेश नीति कई तरह की कलाबाजियाँ दिखा रही हैं। एक तरफ तो पश्चिमी गुट में शामिल है और दूसरी तरफ उस गुट के प्रधान शत्रु चीन के साथ भी मेलजोल बढ़ा रहा है।

(४) एशियाई देशों के संगठन और एकता में पाकिस्तान का विश्वास नहीं है क्योंकि विभिन्न जातियों और धर्मावलम्बियों के एक सूत्र में आबद्ध होने और मित्र बनकर रहने के सिद्धान्त में पाकिस्तान विश्वास नहीं करता।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थतावाद पर पाकिस्तान को जरा भी विश्वास नहीं है। यद्यपि समय-समय पर पाकिस्तान के कुछ दलों ने तटस्थ नीति अपनाने के पक्ष में अपना मत प्रकट किया है, लेकिन पाकिस्तान के शासक इस नीति को राष्ट्रीय हित में हानिकारक मानते हैं। वस्तुतः पाकिस्तान की विदेश-नीति का निर्धारण वहाँ के राजनीतिक नेताओं द्वारा नहीं बल्कि विशेषज्ञों द्वारा होता रहा है।

भारत पाक युद्ध और वर्तमान विदेश नीति—१९६५ के मध्य में एशिया की राजनीति में एक नवीन तथ्य का उदय हो रहा था। पाकिस्तान, चीन और इन्डोनीशिया के सम्बन्ध दिनोदिन बहुत बढ़ रहे थे और इसको देखकर "पिंडी-पेकिंग-जकार्ता धुरी" की स्थापना की बात की जा रही थी। वस्तुतः इन तीनों देशों का सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ठ हो गया था। इस बात का प्रबल प्रमाण तब मिला जब सितम्बर १९६५ में भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड़ गया। कम्युनिस्ट चीन ने खुलेआम पाकिस्तान का समर्थन ही नहीं किया, बल्कि पाकिस्तान को सहायता देने के उद्देश्य से भारत के विरुद्ध बड़ा कड़ा रुख अपनाया तथा चीन-भारत-सीमा पर सैनिक गतिविधि भी प्रारम्भ कर दिया। भारत के साथ युद्ध में पाकिस्तान को इससे अवश्य ही कुछ लाभ हुआ। कम-से-कम कुछ दिनों तक पाकिस्तानियों का मनोबल तो उसने ही ऊँचा किया। चीन की इस मित्रतापूर्ण कारवाई के लिए पाकिस्तान के शासकों ने अपनी कृतज्ञता भी प्रकट की।

इंडोनीशिया से भी पाकिस्तान को वैसा ही समर्थन मिला। राष्ट्रपति सुकर्ण ने भारत को कड़े शब्दों में चेतावनी दी, पाकिस्तान को सैनिक सहायता का भरोसा दिया और इंडोनेशिया के नागरिकों को भारतीय दूतावास में उपद्रव करने को भड़काया गया। यद्यपि पाकिस्तान को युद्ध में इससे कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं हुआ, लेकिन एशिया में जिस "धुरी" का उदय हो रहा था उसके सुदृढ़ होने की सम्भावना स्पष्ट होने लगी। चीन के तरफ से भी कोई प्रभावकारी कदम नहीं उठाया गया। इससे पाकिस्तान को कुछ निराशा अवश्य हुई।

भारत के साथ युद्ध के समय पाकिस्तान को और भी निराशाएँ हुईं। पश्चिमी राज्यों ने भी उसका पूरा समर्थन नहीं किया। अमेरिका और ब्रिटेन ने सैनिक सहायता देना स्थगित कर दिया। जब टर्की और ईरान ने पाकिस्तान को सहायता देने का वचन दिया तो बहुत अंशों में पश्चिमी राज्यों के दबाव के कारण वे भी वैसा नहीं कर सके। सुरक्षा परिषद् में जोर्डान के सिवा किसी राज्य ने खुलकर पाकिस्तान का समर्थन नहीं किया। मलयेशिया के प्रतिनिधि ने तो पाकिस्तान की कड़ी आलोचना की।[1] पाकिस्तान को सैनिक पराजय नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिक दबाव ने भी भारत के साथ युद्ध बन्द कर देने को बाध्य किया। इस युद्ध ने पाकिस्तान की सम्पूर्ण नीति—सैनिक और कूटनीतिक के खोखलापन को स्पष्ट कर दिया।

ताशकन्द सम्मेलन—ताशकन्द सम्मेलन को पाकिस्तान की विदेश-नीति में एक महत्वपूर्ण अध्याय माना जा सकता है। जिस समय भारत और पाकिस्तान में युद्ध चल रहा था उसी

1. मलयेशिया के इस रुख के विरोध में पाकिस्तान ने बाद में (२ अक्टूबर, १९६५) उसके साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये। लेकिन इस सम्बन्ध विच्छेद में कश्मीर के प्रश्न पर मलयेशिया की नीति उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी। वास्तविक बात यह थी कि इंडोनेशिया शुरू से ही मलयेशिया का दुश्मन रहा और इंडोनेशिया को प्रसन्न करने के लिए पाकिस्तान उसके साथ अपना सम्बन्ध तोड़ लेना ही अच्छा समझा।

समय सोवियत प्रधानमन्त्री की ओर से युद्ध बन्द करने और सोवियत भूमि पर समझौता-वार्ता करने के लिए राष्ट्रपति अयूब खाँ को एक पत्र मिला। ऐसा ही पत्र भारत के प्रधान मन्त्री को भी प्राप्त हुआ। भारत ने तो इसे तुरत स्वीकार कर लिया, लेकिन पाकिस्तान ने पहले आनाकानी की। बाद में इसको डूबते को तिनका का सहारा मानकर स्वीकार कर लिया गया। लेकिन पाकिस्तान ने ऐसे किसी सम्मेलन पर विश्वास नहीं किया। ताशकन्द में सम्मेलन होने के कुछ ही दिनों पूर्व अमरीकी राष्ट्रपति जॉनसन के समक्ष गिड़गिड़ाने के लिए जब अयूब खाँ संयुक्त राज्य अमेरिका गये तो इस अवसर से लाभ उठाकर उन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक भाषण दिया। उस भाषण में कहीं भी ताशकन्द सम्मेलन की चर्चा नहीं की गयी। ये सारी बातें इस बात के द्योतक हैं कि पाकिस्तान के शासकों मे विदेश नीति के सम्बन्ध में एक स्पष्ट रूपरेखा नहीं थी। शुरू में सोवियत संघ द्वारा आयोजित ताशकन्द सम्मेलन की उपेक्षा करना और बाद में फिर स्वीकार करके उस सम्मेलन में भाग लेना इस तथ्य का सूचक है कि विदेश नीति के क्षेत्र में उस समय पाकिस्तान के शासक किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गये थे। किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की यह स्थिति आज भी पाकिस्तान की विदेश नीति में वर्तमान है।

पाकिस्तान की विदेश नीति आज वस्तुतः एक चौराहे पर खड़ी है और यह कब कैसा मोड़ ले कहा नही जा सकता। भारत को नीचा दिखलाने और कश्मीर को हड़पने के लिए साम्यवाद के विरोध के नाम पर उसने पहले पश्चिम राष्ट्रों का साथ दिया। जब उसे कोई लाभ नही हुआ तो उसने चीन के साथ गठबन्धन किया लेकिन चीन की मैत्री से भी उसे कोई लाभ नही पहुँचा। अब पाकिस्तान एक दूसरे प्रयोग में संलग्न है। वह अब सोवियत संघ की ओर झुक रहा है। ताशकन्द सम्मेलन में शामिल होना और सोवियत संघ की बात मानकर भारत के साथ एक अस्थायी समझौता कर लेना इस नीति का प्रारम्भ था। इसके बाद सोवियत संघ के साथ उसका सम्बन्ध निरन्तर बढ़ रहा है। इधर हाल में सोवियत संघ और पाकिस्तान में कई समझौते हुए हैं और दोनों देशो के राजनेताओ का भ्रमण जारी है। अप्रिल १९६८ में प्रधान मंत्री कोसिजिन की पाकिस्तान यात्रा से दोनों देशो के बीच सम्बन्ध का एक नया अध्याय शुरू हुआ। सोवियत सहायता से पूर्वी पाकिस्तान में एक इस्पात कारखाना तथा एक आणविक शक्ति केन्द्र खुलने जा रहा है। यदि सोवियत संघ के साथ पाकिस्तान का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ तो यह भारत और एशिया की शान्ति के हक में एक अच्छा कदम होगा। सोवियत संघ के मैत्रीपूर्ण तथा सहानुभूति पूर्ण नीति के प्रभाव से कश्मीर की समस्या का उचित समाधान हो सकता है, पाकिस्तान में धर्म निरपेक्षता तथा समाजवाद की भावना बढ़ सकती है और भारत एवं पाकिस्तान के सम्बन्ध में सुधार हो सकता है। सोवियत संघ पाकिस्तान को चीन की तरफ से विमुख करने के लिए भी प्रयत्नशील है। इसी उद्देश्य से उसने जुलाई, १९६८ में पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का निश्चय किया।

३१ मार्च, १९६९ को पाकिस्तान के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ जब राष्ट्रपति अयूब खाँ ने पदत्याग दे दिया और उनकी जगह पर जेनरल याह्या खाँ राष्ट्रपति बने। अयूब खाँ का पदत्याग पाकिस्तान की आन्तरिक राजनीति का परिणाम था। सम्भव है, वहाँ की विदेश-नीति पर इसका कोई प्रभाव नही पड़े। नये राष्ट्रपति ने इस आशय का वक्तव्य भी दिया है। अतः निकट भविष्य में पाकिस्तान की विदेश-नीति में कोई विशेष परिवर्तन की कोई सम्भावना नही है।

दूसरी पुलिस कार्यवाही :—१६ सितम्बर, १९४८ को युद्ध विराम संधि पुनः भं कर दी गयी और दोनों पक्षों में भीषण संघर्ष छिड़ गया। गणराज्य को सेना तितर-बितर क दी गयी और उसके नेताओं को कैद कर लिया गया। सुरक्षा परिषद् के एक संकटकालीन बैठक में २२ दिसम्बर को समस्या पर पुनः विचार किया गया। उसने हालैंड की लड़ाई बन्द करने, गणराज्य के प्रधान तथा अन्य राजनीतिक कैदियों को छोड़ने के लिए कहा। इसी बीच २० जनवरी, १९४९ से २३ जनवरी तक नयी दिल्ली में इण्डोनीशिया की समस्या पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसमें डच कार्यवाही की जोरदार निन्दा की गयी। २८ जनवरी, १९४९ को सुरक्षा परिषद् ने दूसरा युद्ध-विराम आदेश जारी किया। डचों ने कुछ समय तक तो इस प्रस्ताव का विरोध किया। किन्तु, बाद में अमेरिका के दबाव में २ मार्च, १९४९ को वे हेग में इस विषय में गोलमेज सम्मेलन बुलाने के लिए तैयार हो गये। लम्बी संधि वार्ता के बाद डचों ने अपनी सेनाएँ जावा और सुमात्रा से हटा लीं। हेग का सम्मेलन २३ अगस्त से २ नवम्बर, १९४९ तक हुआ। २ नवम्बर को एक समझौता पर हस्ताक्षर हुआ जिसके अनुसार संयुक्तराज्य इंडोनीशिया को १६ राज्यों सहित नीदरलैंड्स की साझेदारी में एक ही सम्प्रभु की छत्रछाया में समान स्तर पर एक सार्वभौम लोकतन्त्रात्मक गणराज्य में परिणत करने का निश्चय किया गया। लेकिन प्रस्तावित संघ सरकार में 'डच न्यूगिनी' या 'वेस्ट इरियन' को समाविष्ट नहीं किया गया। २७ दिसम्बर, १९४९ को एक औपचारिक समारोह में इंडोनीशिया ने डच शासकों से पूर्ण सार्वभौमिकता प्राप्त की। राजधानी का नाम बटेविया से बदलकर जकार्ता (Djakarta) रखा गया। वाशिंगटन ने शीघ्र ही नये राज्य को कूटनीतिक मान्यता प्रदान की तथा उसको राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्राप्त हो गयी।

इंडोनीशिया गणराज्य की स्थापना—लेकिन डच 'क्राउन' की छत्रछाया में बने 'संघीय संयुक्त राज्य इंडोनीशिया' की स्थापना से भी देश में शान्ति का वातावरण न बन सका। इंडोनीशियावासी नीदरलैण्ड्स से पूर्णरूपेण पृथक एक 'एकात्मक' राज्य के इच्छुक थे। उन्होंने राज्य के 'संघीय' स्वरूप को खत्म करने के लिए एक आन्दोलन आरम्भ किया तथा १५ अगस्त, १९५० को सोलह राज्यों के मूल संघ (federation) के स्थान पर 'इंडोनीशिया गणतन्त्र' (Republic of Indonesia) के नाम से सोलह प्रान्तों वाले एक एकात्मक राज्य की स्थापना की गयी। १० अगस्त, १९५४ को पारस्परिक सहमति से इंडोनीशिया तथा नीदरलैण्डस के मध्य प्रस्तावित संघ को भी दफना दिया गया तथा दोनों देशों ने परस्पर सार्वभौम राज्यों वाले सम्बन्ध स्थापित किये।

पश्चिम इरियन की समस्या—लेकिन इसके बाद भी इंडोनीशिया और हालैंड में पारस्परिक मतभेद बना रहा। यह मतभेद कई बातों पर था जिनमें सबसे प्रमुख विवाद पश्चिमी इरियन (Irian) की समस्या के साथ सम्बद्ध था। हालैंड ने इंडोनीशिया को तो स्वतन्त्र कर दिया लेकिन डच न्यूगिनी (इरियन) इंडोनीशिया को सौंपने से इन्कार कर दिया। यह स्वाभाविक था कि इन्डोनीशिया डच साम्राज्यवाद के इस अवशेष को अपनी भूमि से मिटाने का प्रयास करे। गोआ का भारत के साथ मिलन के बिना जिस तरह भारत की स्वाधीनता अपूर्ण थी उसी प्रकार न्यूगिनी का एक अंश जब तक हालैंड के अधीन रहता तब तक इंडोनीशिया

की स्वाधीनता भी अपूर्ण थी। इसके अतिरिक्त डचों के इस प्रदेश में बने रहने से इंडोनीशिया की स्वाधीनता के लिए हमेशा एक खतरा बना रहता था।

इंडोनीशिया गणराज्य अपने जन्म के समय से ही पश्चिमी इरियन को वापस किये जाने की जोरदार मांग करता रहा। हालैंड ने यह आश्वासन दिया था कि १९५० तक यह समस्या सुलझा ली जायगी, लेकिन यह आश्वासन पूरा नहीं हुआ। पश्चिमी इरियन की समस्या पर विचार करने के लिए एक संयुक्त आयोग की स्थापना की गयी जिसमें डच और इंडोनीशिया के प्रतिनिधि शामिल किये गये, लेकिन मतभेद सुलझाया नहीं जा सका। २३ दिसम्बर को आयोग की वार्ता खत्म हो गयी और इंडोनीशिया के प्रधान मन्त्री ने यह घोषणा की कि अब इस प्रश्न पर हालैंड से वार्ता केवल सत्ता के हस्तान्तरण के प्रश्न पर ही होगी। राष्ट्रपति सुकर्ण ने इरियन को मुक्त करने की घोषणा की। १८ अगस्त, १९५४ को इंडोनीशिया की सरकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में यह अनुरोध किया कि वह इस मामले में दिलचस्पी लेकर दोनों पक्षों को उचित हल ढूँढ़ने में सहायता करे। हालैंड ने इसका विरोध किया।

१६ नवम्बर, १६५७ को संयुक्त राष्ट्रसंघ में उन्नीस अफ्रेशियाई राष्ट्रों ने पश्चिमी इरियन से सम्बन्धित एक प्रस्ताव पेश किया। लेकिन साधारण सभा में इस प्रस्ताव को दो-तिहाई बहुमत नहीं मिल सका। संघ में समर्थन न मिलने के कारण इंडोनीशिया की जनता में व्यापक रोष पैदा हुआ। जनता ने उपद्रव शुरू करके डच उद्योग, कारखानों, बैंकों कार्यालयों आदि पर अधिकार करना शुरू किया। इंडोनीशिया में डचों को सारी सम्पत्ति पर अधिकार करने की चेष्टा की गयी। इंडोनीशिया की सरकार ने भी कठोर कार्रवाई की। उसने दस हजार डच नागरिकों को निष्कासित कर दिया।

इंडोनीशिया के पड़ोसी आस्ट्रेलिया ने हालैंड का समर्थन किया और दोनों ने इंडोनीशिया की इस कार्रवाई का बड़ा विरोध किया। हालैंड ने अपने दो युद्धपोत न्यूगिनी के लिए रवाना कर दिये। इसके बाद बहुत-से सैनिक वहाँ भेजे गये। इंडोनीशिया ने इसका विरोध किया। पश्चिम-इरियन को हस्तांतरित करने के प्रश्न पर हालैंड की अड़ंगेबाजी तथा इस प्रकार की सैनिक कार्रवाई को देखते हुए राष्ट्रपति सुकर्ण ने हालैंड के साथ राजनीतिक सम्बन्ध भंग करने की घोषणा कर दी।

इंडोनीशिया और हालैंड का सम्बन्ध पुनः बिगड़ते देख अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव यूथांत ने पश्चिम इरियन की समस्या के समाधान के लिए यत्न करना शुरू किया। लेकिन वाशिंगटन में राष्ट्रपति कैनेडी की प्रेरणा से हालैंड के प्रतिनिधि और इंडोनीशियाई राजदूत के मध्य जो वार्ता हुई उसका कोई संतोषजनक परिणाम नहीं निकला। इसी समय अमरीकी कूटनीतिज्ञ एल्सवर्थ बंकर ने समस्या के समाधान हेतु एक योजना प्रस्तुत की जो बंकर योजना कहलायी। इस योजना के आधार पर हालैंड और इंडोनीशिया में पश्चिम इरियन के प्रश्न पर समझौता हो गया और दोनों देशों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से समस्या को हल करने की बात स्वीकार कर ली। कुछ ही दिनों के बाद दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया और मई, १९६४ में पश्चिम इरियन को डच प्रभुसत्ता से मुक्ति मिल गयी तथा वह इंडोनीशिया के अधिकार में आ गया। इस प्रकार तेरह वर्ष के लम्बे विवाद का शान्तिपूर्ण समाधान हुआ।

इंडोनीशिया की आन्तरिक राजनीति—विश्व राजनीति के प्रति इंडोनीशिया का दृष्टिकोण बहुत कुछ उसकी अपनी आन्तरिक परिस्थतियों से प्रभावित रहा है। अतएव इंडोनीशिया की विदेश नीति को समझने के लिए उसकी आन्तरिक राजनीति को समझना आवश्यक है। जब देश विदेशी आधिपत्य से मुक्त हुआ तो उसकी अस्सी प्रतिशत जनता अशिक्षित थी। इसके अतिरिक्त जनसंख्या के बहुजातीय स्वरूप के कारण देश में फूट तथा मतभेदों का जन्म हुआ और कुछ काल तक गणराज्य में पूर्ण अराजकता कायम रही। राजनीतिक पार्टियों की अधिकता ने देश में पूर्ण अव्यवस्था फैला दी। इंडोनीशिया में 'राष्ट्रवादी दल' (The Nationalists or the PNI) 'साम्यवादी दल' (The PKI) तथा मुसलमान में दो संगठन 'मुस्लिम संघ' या, मसजुमी (The Muslim Federation or the Masjumi) तथा 'रूढ़ीवादी इस्लाम' (Orthodox I lam) चार मुख्य प्रतिद्वन्द्वी थे। अक्टूबर १६५६ में राष्ट्रपति सुकर्ण ने इतने सारे राजनीतिक दलों के प्रति अपना विरोध स्पष्ट रूप से प्रकट किया तथा एशियाई देशों के लिए पाश्चात्य उदारवादी गणतन्त्र को हानिकारक बताया।

१६५२ में पश्चिमी राष्ट्रों की समर्थक मसजुमी सरकार को पारस्परिक सुरक्षा योजना के अन्तर्गत अमरीकी सहायता स्वीकार करने के कारण एक अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा अपदस्थ कर दिया गया तथा राष्ट्रवादियों ने साम्यवादियों की सहायता से डा० अली शास्त्र-मिदजोजो के नेतृत्व में नयी सरकार का निर्माण किया। इंडोनीशिया में प्रथम संसदीय चुनाव सितम्बर १६५५ में हुआ। इसमें बाईस राजनीतिक दलों ने अपने-अपने उम्मीदवार खड़े किये। अतएव किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल सका और एक मिली-जुली सरकार की स्थापना की गयी। इसके शीघ्र ही बाद सरकार की आर्थिक नीति से असन्तुष्ट होकर सुमात्रा और कुछ अन्य द्वीपों के लोगों ने विद्रोह कर दिया और १४ मार्च, १६५७ को डा० शास्त्रोमिदजोजो के मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र दे देना पड़ा। राष्ट्रपति सुकर्ण ने सारे देश में सैनिक शासन लागू कर दिया और डा० जुआंडा को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया। उनके मन्त्रिमण्डल में केवल विशेषज्ञों को ही रखा गया। राष्ट्रपति सुकर्ण ने देश के समक्ष अपने दिग्दर्शित लोकतन्त्र (Guided Democracy) की योजना रखी। लेकिन सुमात्रा, बोर्नियो तथा सेलिबिस केन्द्रीय सरकार के आदेशों का पालन करने से इन्कार करते रहे और उन्होंने अपना विद्रोह जारी रखा। विद्रोहियों की क्रान्तिकारी परिषद् ने १० फरवरी, १६५८ को इन्डोनीशिया की सरकार को यह अल्टिमेटम दिया कि वह साम्यवादियों से सहानुभूति रखने वाली डा० जुआंडा की सरकार को भंगकर साम्यवादी विहीन मन्त्रिमण्डल का गठन करे और दिग्दर्शित लोकतन्त्र के ढोंग का परित्याग कर दे। १५ फरवरी, १९५८ को सुमात्रा के विद्रोहियों ने एक पृथक् सरकार स्थापित कर ली। इस समय राष्ट्रपति सुकर्ण अवकाश में थे और विदेश भ्रमण पर गये थे। वे तुरत वापस आये और विद्रोहियों को कुचलने का आदेश जारी कर दिया। १५ मार्च, १६५८ को विद्रोहियों पर पूरी शक्ति के साथ आक्रमण किया गया और सारे देश में आपात् की घोषणा कर दी गयी। चार महीनों के अन्दर सारे विद्रोही कुचल दिये गये और इंडोनीशिया की केन्द्रीय सरकार पुनः अपनी सत्ता सम्पूर्ण इंडोनीशिया पर स्थापित करने में सफल हो गयी।

१२ जनवरी, १६६० को सुकर्ण ने "दिग्दर्शित लोकतन्त्र" को अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिए देश के सभी राजनीतिक दलों का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया।

इसके थोड़े ही दिनों बाद अपनी अध्यक्षता में राष्ट्रपति ने नेशनल फ्रंट के नाम से एक नया राजनीतिक संगठन तथा पिपुल्स कन्सल्टेशन कांग्रेस के नाम से सर्वोच्च राज्य संस्था की स्थापना की घोषणा की। ५ मार्च, १९६० को सुकर्ण ने संसद् को भंग कर दिया। इस प्रकार राष्ट्रपति सुकर्ण इन्डोनीशिया के तानाशाह बन बैठे। इसके विरोध में १९६३ में राष्ट्रपति सुकर्ण की हत्या के दो यत्न किये गये। लेकिन षड्यन्त्रकारियों को सफलता नहीं मिली।

इंडोनीशिया की विदेश-नीति

तटस्थता का दृष्टिकोण :—आन्तरिक क्षेत्र में राजनीतिक अस्थिरता तथा आर्थिक कठिनाई के कारण इन्डोनीशिया को विश्व राजनीति के प्रति असंलग्नता की नीति ही सर्वोत्तम दिखाई पड़ी। इन्डोनीशिया के नेताओं पर विश्व राजनीति के प्रति भारत के दृष्टिकोण का बहुत प्रभाव था तथा १९५१ में ही संयुक्त राष्ट्रसंघ दिवस पर बोलते हुए राष्ट्रपति सुकर्ण ने घोषणा की थी कि "हमारी स्थिति विरोधी गुटों से अलग रहने की है। हम इन विरोधी गुटों के बीच एक पुल के रूप में सहायक होने की आशा रखते हैं।"[1] आजादी की लड़ाई के समय सोवियत संघ ने जिस जोश के साथ इन्डोनीशिया का समर्थन किया था, उसको इन्डोनीशिया के नेता अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। इसका कारण था कि वे शीत-युद्ध को अपने देश में नहीं लाने देना चाहते थे। फलतः शुरू में इन्डोनीशिया के साम्यवादियों को कैद कर लिया गया था। रूस ने इन्डोनीशिया की गड़बड़ स्थिति से लाभ उठाने में अपनी असफलता के कारण शीघ्र ही रुख बदल दिया और कटुता को न बढ़ने देने के लिए २० सितम्बर, १९५४ को इन्डोनीशिया के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इसी तरह इन्डोनीशिया को अमेरिका से भी नफरत थी। स्वतन्त्रता के संघर्ष में अमेरिका कई तरह से डचों की सहायता करता था। फिर भी इन्डोनीशिया ने संयम से काम लिया और दोनों गुटों के साथ तटस्थता की नीति के आधार पर अपने सम्बन्ध कायम किये। इन्डोनीशिया ने अमरीकी तकनीकी सहायता स्वीकार किया लेकिन उसने अमेरिका के पारस्परिक सुरक्षा समझौते में भाग लेने से इन्कार कर दिया। उसने १९५४ में स्थापित दक्षिण पूर्व एशिया सैन्य संगठन (Seato) का विरोध किया, किन्तु १९५६ में अमरीकी सचिव डलेस का जकार्ता में हार्दिक स्वागत किया गया तथा उसी वर्ष राष्ट्रपति सुकर्ण का भी वाशिंगटन में उतने ही गरम जोशों से स्वागत हुआ। इन्डोनीशिया की सरकार ने शीघ्रता से साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान की तथा फिलिपाईन्स के साथ स्थायी मैत्री की एक सन्धि की। जकार्ता ने कोरिया में चीन को आक्रमणकारी घोषित करने के अमरीकी सुझाव को स्वीकार नहीं किया। उसने इसी प्रकार एशिया, अफ्रिका तथा मध्य-पूर्व में पश्चिमी साम्राज्यवाद की भर्त्सना की। उसने कई अवसरों पर संयुक्त राष्ट्रसंघ में सोवियत संघ की भी निन्दा की। इन्डोनीशियाई नेताओं ने भारत की 'तटस्थता' तथा उपनिवेशवाद विरोधी नीति की प्रशंसा की, लेकिन उन्होंने नई दिल्ली का अन्धानुकरण न करके राष्ट्रसंघ में कई अवसरों पर भारत से पृथक् मार्ग भी अपनाया।

---

1. Schuman, *International Politics*, (6th ed.), p. 389.

एशियाई देशों को संगठित करना और उन्हें एकता के सूत्र में आबद्ध करना इन्डोनीशिया की प्रारम्भिक विदेश-नीति का एक मुख्य लक्ष्य रहा है। उसने इस काम मे इतनी दिलचस्पी ली कि उसके सम्मान में १९५५ में जकार्ता से पचहत्तर मील दूर बांडुंग में एशियाई-अफ्रीकी सम्मेलन आयोजित किया गया। बांडुंग-सम्मेलन आधुनिक एशिया के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इन्डोनीशिया और चीन:—इन्डोनीशिया और चीन का सम्बन्ध विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि इन्डोनीशिया में हजारों की संख्या में चीनी लोग निवास करते हैं। शुरू में चीन के साथ इन्डोनीशिया का सम्बन्ध बड़ा अच्छा रहा। इन्डोनीशिया ने तुरत चीन को मान्यता दी और कोरिया-युद्ध में चीन को आक्रामक घोषित करने के प्रस्ताव का विरोध किया। १६५५ के बांडुंग-सम्मेलन में चीन और इन्डोनीशिया के नेताओं में प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हुआ और दोनों देशों की सरकारों ने इन्डोनीशिया में बसे चीनियो की स्थिति की देख-रेख के लिए एक समझौता किया। इसके वाद दोनों देशों का सम्बन्ध बड़ा मैत्रीपूर्ण रहा।

लेकिन १६५६ के आरम्भ में मैत्री के ये धागे टूटने लगे। उस समय इन्डोनीशिया की सरकार ने चीनियों के व्यापारिक गतिविधियो पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिया। चीनी व्यापारी इन्डोनीशिया के व्यापारिक जीवन पर एकाधिकार कायम किये हुए थे जिसका प्रभाव इन्डोनीशिया की अर्थ व्यवस्था पर बड़ा बुरा पड़ रहा था। कम्युनिस्ट चीन की सरकार ने इन्डोनीशिया की इस नीति का बड़ा विरोध किया। २२ दिसम्बर, १६५६ को चीन ने सुझाव दिया कि प्रवासी चीनियो की स्थिति पर चीन और इन्डोनीशिया में कोई समझौता हो जाना चाहिए। इन्डोनीशिया की सरकार इसके लिए तैयार नही हुई। फलतः दोनों देशों का सम्बन्ध वड़ा कटु हो गया। लेकिन १६६० में इन्डोनीशिया में बसे प्रवासी चीनियों के सम्बन्ध में दोनों देशो के बीच समझौता हो गया तथा चीन और इन्डोनीशिया का सम्बन्ध पुनः अच्छा हो गया।

मलयेशिया का निर्माण—इसी समय इन्डोनीशिया के पड़ोस में मलयेशिया का निर्माण की योजना बनी। इसी योजना ने चीन और इन्डोनीशिया को बहुत निकट ला दिया। कम्युनिस्टो के प्रभाव को रोकने के उद्देश्य से ही मलाया के प्रधान मन्त्री टंकु अब्दुल रहमान द्वारा मलयेशिया संघ की योजना बनायी गयी थी। चीन के लिए इसका विरोध करना स्वाभाविक था। उधर इन्डोनीशिया में भी राष्ट्रपति सुकर्ण साम्यवादी पार्टी पी० के० आई० के सहयोग पर आश्रित थे। अतएव दोनों देशों ने मलयेशिया संघ की योजना को असफल बनाने का निश्चय किया। राष्ट्रपति सुकर्ण ने खुलेआम यह घोषणा की कि वे इस संघ को शक्ति का प्रयोग का अन्त कर देंगे। इस तरह की धमकी वे शुरू से अन्त तक देते आये हैं। इस कार्य में चीन ने उनका पूरा समर्थन किया।

इसके विपरीत पश्चिमी शक्तियों ने मलयेशिया संघ का पूरा समर्थन किया क्योंकि यह संघ चीनी साम्यवाद के प्रभाव को सीमित करने के उद्देश्य से बनाया गया था। अतएव इन्डोनीशिया पश्चिमी गुट का बहुत कड़ा विरोधी हो गया है। इस बात को लेकर भारत के साथ भी उसका सम्बन्ध खराब हो गया। सीमा सम्बन्धी विवाद को लेकर भारत और चीन का सम्बन्ध बहुत खराब हो गया था। इस हालत में जब चीन मलयेशिया का विरोध

कर रहा था तो भारत के लिए यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि वह मलयेशिया के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करे। भारत का हित इसी में है कि चीन के प्रभाव का विस्तार न हो और मलयेशिया की स्थापना इसी प्रभाव को बढ़ने से रोकने के लिए की गयी थी। अतएव इस कारण भारत और इन्डोनीशिया का सम्बन्ध बिगड़ने लगा और इन्डोनीशिया में भारत विरोधी अभियान शुरू हुआ।

एशिया में नयी शक्ति संगठन—इस प्रकार मलयेशिया की स्थापना और उसके प्रति इन्डोनीशिया की नीति एशिया की राजनीति और शक्ति संगठन (group alignment) में एक घोर परिवर्तन कर दिया। इन्डोनीशिया पश्चिमी शक्तियों का कट्टर विरोधी बन गया तथा भारत के साथ उसका अच्छा सम्बन्ध भी समाप्त हो गया। इसके साथ ही इन्डोनीशिया और कम्युनिस्ट चीन एक दूसरे के बहुत निकट आ गये। इसमें एक तीसरी शक्ति का भी प्रवेश हो गया। वह था पाकिस्तान। हम कह आये हैं कि पाकिस्तान की विदेश-नीति का एकमात्र लक्ष्य कश्मीर को प्राप्त करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह पहले पश्चिमी गुट में शामिल हुआ। लेकिन अब इससे कोई लाभ नहीं हुआ तो वह चीन की ओर झुकने लगा। १९६०-६२ के मध्य चीन और पाकिस्तान के सम्बन्धों में काफी सुधार हुआ। अब एशिया के तीन राज्यों—कम्युनिस्ट चीन, पाकिस्तान और इन्डोनीशिया में बड़ा घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ। प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय घटना पर ये तीनों देश एक-से विचार प्रकट करने लगे और एक दूसरे के साथ सहयोग करने लगे। इनका सहयोग इतना बढ़ गया कि इनके इस सहयोग को "पिंडी-पिकिंग-जकार्ता-धुरी" की संज्ञा दी जाने लगी। १९६४ के अक्टूबर में हुए काहिरा के तटस्थ राष्ट्रों के सम्मेलन में इन तीनों देशों ने एक नीति का अनुसरण किया और तीनों का सहयोग पराकाष्ठा पर पहुँच गया।

मलयेशिया के विरोध में इन्डोनीशिया एकदम अन्धा हो गया। उसने अमेरिका के साथ अपने सारे आर्थिक सम्बन्ध तोड़ लिये। मलयेशिया के प्रति इन्डोनीशिया की घृणा इतनी तीव्र हो गयी थी कि जनवरी १९६५ में उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता छोड़ने की भी घोषणा कर दी। चूँकि मलयेशिया सुरक्षा परिषद् का सदस्य चुन लिया गया, इसके विरोध में इन्डोनीशिया ने यह कार्यवाही की। राष्ट्रपति सुकर्ण ने यह भी धमकी दी कि वे एशिया और अफ्रिका के विक्षुब्ध देशों को मिलाकर एक दूसरे संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना करेंगे।

भारत-पाक युद्ध और इन्डोनीशिया:—एशिया के इतिहास में १९६५ का वर्ष भारत और पाकिस्तान के बीच हुए युद्ध के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहेगा। इस युद्ध में इन्डोनीशिया और चीन ने पाकिस्तान के आक्रामक कार्रवाई का पूरा-पूरा समर्थन किया। पिंडी-पेकिंग-जकार्ता धुरी के सहयोग का इस अवसर पर चरम विकास हुआ। इन्डोनीशिया के उपद्रकारियों ने भारतीय दूतावास को लूट लिया और सरकार ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया। चीन ने भी सीमान्त पर सैनिक गतिविधि शुरू कर दी। पाकिस्तान ने यह धमकी दी कि यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ उसके मनोनुकूल कार्य नहीं करता तो वह भी संघ से पृथक् कर लेगा। बाद में पाकिस्तान ने मलेशिया के साथ अपना सम्बन्ध विच्छेद कर क्योंकि सुरक्षा परिषद् में मलयेशियाई प्रतिनिधि ने पाकिस्तान की आक्रामक कार्रवाई

कड़ा विरोध किया था। भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय ऐसा प्रतीत होने लगा था कि "पिंडी पिंकिंग-जकार्ता धुरी" अब एशिया की राजनीति में एक तथ्य बनकर आया है जो अस्थायी सिद्ध होगा।

इन्डोनीशिया की आन्तरिक गड़बड़ी तथा पिंडी-पिंकिंग-जकार्ता-धुरी का अन्त :— लेकिन पाकिस्तान, कम्युनिष्ट चीन तथा इन्डोनेशिया का यह नवीन संगठन स्थायी सिद्ध नहीं हुआ। इसका कारण था इन्डोनीशिया की आन्तरिक उथल-पुथल। इन्डोनीशिया की पी० के० आई० चीन कम्युनिस्ट पार्टी को छोड़कर एशिया के सभी कम्युनिस्ट पार्टियों में शक्तिशाली थी। इस दल की संख्या १९६५ के मध्य में साढ़े सत्तरह लाख थी। इस दल के नेता डी० एन० एदित (D. N. Aidit) थे। रूस और चीन के बीच जो सैद्धान्तिक विवाद चल रहा था उसमें एदित की सहानुभूति चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के साथ थी। राष्ट्रपति सुकर्ण पर पी० के० आई० का प्रबल प्रभाव है और इसी प्रभाव के कारण चीन और इन्डोनीशिया का सम्बन्ध निरन्तर बढ़ रहा था। दोनों के मैत्री का वार्षिकोत्सव दोनों राष्ट्रों की राजधानियों में बड़े समारोह के साथ मनाया जाता था। जकार्ता में मालिनोवस्की के मुकाबले में लिन शाओ चीन का स्वागत हमेशा शानदार रहा। इन्डोनीशियाई कम्युनिस्ट दल ने सुकर्ण का पूरा साथ दिया है। जबतक पश्चिमी इरियन की समस्या थी तबतक देश के राजनीतिक दलों में एकता बनी रही। लेकिन पश्चिमी इरियन का शासन सम्हालने के बाद संकटकालीन स्थिति समाप्त हो गयी और आर्थिक समस्या सर्वोपरि हो गयी। अबतक इन्डोनीशियाई सेना और पी० के० आई पश्चिमी इरियन को हथियाने की मांग के साथ रहे, पर जब आर्थिक प्रश्न सामने आया तो दोनों में संघर्ष अनिवार्य हो गया। कम्युनिस्ट दैनिक पत्र "हैरियन रनजात" ने इस संकट के बारे में चेतावनी देते हुए लिखा था : "समस्या हमारे सामने यह है कि बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों के हितों में किसका हित सर्वाधिक जरूरी है—नगरों एवं ग्रामों की जनता का अथवा अपहर्ताओं का ? इन दो में से एक का परित्याग तो करना ही होगा। दोनो के स्वार्थों की रक्षा एक साथ सम्भव नहीं।" १९६५ के मध्य आते-आते इन्डोनीशिया की कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रपति सुकर्ण की आर्थिक नीति से पूरी तरह असन्तुष्ट हो गयी थी और उनके खिलाफ विद्रोह करने की साजिश में जुट गयी थी।

३० सितम्बर, १९६५ को कम्युनिस्ट द्वारा प्रेरित राष्ट्रपति सुकर्ण के खिलाफ एक सैनिक विद्रोह हो गया। राष्ट्रपति भवन के सैनिकों का कमाण्डर ले० क० उन्टुंग (Lt. Col. Untung) ने एकाएक भवन पर धावा करके राष्ट्रपति सुकर्ण के शासन का अन्त करने का बड़ा ही साहसी यत्न किया। ले० क० उन्टुंग ने सुरक्षा मन्त्री जनरल नसूतियों तथा इन्डोनीशियाई सेना के कई उच्च अफसरों को कैद कर लिया और राष्ट्रपति डा० सुकर्ण को 'रक्षात्मक कैद" में रख दिया। पैंतालीस व्यक्तियों की एक क्रान्तिकारी परिषद् बना ली गयी जिसका काम देश का शासन चलाना होता।

लेकिन यह विद्रोह तुरत ही दबा दिया गया। राष्ट्रपति सुकर्ण के प्रति वफादारी रखनेवाली सेना ने तुरत काम किया और विद्रोह को कुचल दिया। विद्रोहियों ने सेना के छः उच्च पदाधिकारियों की हत्या कर दी और वे जावा की राजधानी जकार्ता भाग गये। जनरल नसूतियों और राष्ट्रपति सुकर्ण की जान किसी तरह बच गयी।

राष्ट्रपति सुकर्ण इन्डोनीशियाई कम्युनिस्ट पार्टी की शक्ति से परिचित थे। अतएव उन्होने इस घटना को भूल जाने की अपील की और विद्रोहियो को क्षमा कर देने का आश्वासन दिया। लेकिन इन्डोनीशियाई सेना और कम्युनिस्ट पार्टी में बहुत दिनों से घोर विरोध चला आ रहा था। इसके अतिरिक्त वहाँ कुछ ऐसी पार्टियाँ भी थीं जो धार्मिक कट्टरता से प्रभावित थीं। इन लोगों ने कम्युनिस्टो का सफाया करने का इसे अच्छा अवसर समझा। अतएव देश में छिट-पुट कम्युनिस्टो और इन शक्तियों में संघर्ष होने लगा। ५ अक्टूबर, १९६५ को इन्डोनीशिया के एकाधिक संगठनों ने यह माँग की कि पी० के० आई० को अवैध संस्था घोषित कर दिया जाय। इन मांगो के साथ-साथ कम्युनिस्ट विरोध प्रदर्शन और बलवे भी शुरू हुए। १८ अक्टूबर को सेना ने पी० के० आई० को अवैध घोषित कर दिया। तथा पार्टी के कार्यालय तथा समाचार-पत्र जब्त कर लिये गये।

इन्डोनीशियाई कम्युनिस्ट पार्टी के विरोध ने चीन विरोधी आन्दोलन का रूप भी धारण कर लिया। जकार्ता में एक चीनी विश्वविद्यालय था। इसमें आग लगा दी गयी। चीनी दूतावास पर भी हमले हुए। लोगों का ख्याल था कि ३० सितम्बर के विद्रोह में चीन का हाथ था और इसलिए वे चीन के साथ सम्बन्ध-विच्छेद की मांग करने लगे। इन्डोनीशिया में चीन विरोधी अभियान के विरूद्ध चीन की सरकार ने बड़ा कड़ा विरोध पत्र भेजा। ऐसा प्रतीत हुआ कि चीन और इन्डोनीशिया का सम्बन्ध अब सदा-सर्वदा के लिए समाप्त हो गया। पिंडी-पिकिंग-जकार्ता-धुरी की बात हवा में उड़ गयी। राष्ट्रपति सुकर्ण पाकिस्तान की कोई मदद नही कर सके।

इन्डोनीशिया की आन्तरिक गड़बड़ी एशिया के इतिहास की एक युगान्तकारी घटना मानी जा सकती है। इसने इन्डोनीशिया को ही शक्तिहीन नहीं बना दिया है, वरन् एशिया में जो एक नये शक्ति संगठन का उदय हो रहा था, उसका भी अन्त कर दिया। राष्ट्रपति सुकर्ण ने कई बार एकता के लिए अपील की, लेकिन उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सम्पूर्ण इन्डो-नीशिया में कम्युनिस्ट और चीन-विरोधी लहर चल पड़ी और इसको लेकर वहाँ की राजनीति बिलकुल अनिश्चित हो गयी थी। अक्टूबर १९६५ से फरवरी १९६६ तक शायद ही कोई ऐसा दिन रहा हो जब इन्डोनीशिया में कोई उपद्रव नही हुआ हो। राष्ट्रपति सुकर्ण पूरी तरह से कम्यु-निस्ट विरोधी शक्तिशाली सेना के प्रभाव में आ गये और वे किसी भी मूल्य पर चीन को प्रसन्न नही कर सकते थे। इन्डोनीशिया में चीन के विरुद्ध जो वातावरण तैयार हुआ उसने पिंडी-पिकिंग-जकार्ता-धुरी का अन्त करके ही छोड़ा।

१२ मार्च, १९६६ को इन्डोनीशिया का यह राजनीतिक नाटक अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। उस दिन ले० जनरल सुहार्तो के नेतृत्व में सैनिक नेताओ ने राष्ट्रपति सुकर्ण के साथ लम्बी बातचीत के बाद इन्डोनीशिया में शान्तिपूर्ण ढंग से सत्ता अपने हाथ में ले ली। जकार्ता रेडियो ने घोषित किया कि राष्ट्रपति सुकर्ण ने जनरल सुहार्तो को अपने सारे अधिकार सौंप दिये हैं। इस घटना की पृष्ठभूमि में पुनः कम्युनिस्ट विरोधी आन्दोलन था। ११ मार्च को दिन भर छात्रों के कम्युनिस्ट विरोधी प्रदर्शनो के कारण स्थिति काफी उग्र हो गयी थी। इस हालत में सेना ने हस्तक्षेप करके राष्ट्रपति सुकर्ण से सत्ता अपने हाथ में ले ली। इन्डोनीशियाई कम्युनिस्ट पार्टी पर तुरत रोक लगा दी गयी। यद्यपि सुकर्ण राष्ट्रपति बने रहे लेकिन वास्तविक सत्ता उनके हाथ से छीन ली गयी इस घोषणा का इन्डोनीशिया पर तत्काल प्रभाव पड़ा। सेना ने बड़ा

विजयोत्सव मनाया और इस विजयोत्सव में लाखों छात्रों एवं नागरिकों ने भी भाग लिया और खुशियाँ मनायी। सुहार्तो ने छत्तीस सदस्यों के एक मन्त्रिमण्डल की घोषणा की जिसके प्रधान मन्त्री वे स्वयं बने। डा० अदम मलिक विदेश मन्त्री नियुक्त हुए। सुकर्ण के सारे अधिकार छीन लिये गये।

इन्डोनीशिया में इस आन्तरिक राजनीति का विदेश-नीति पर तत्काल प्रभाव पड़ा। नये विदेश-मन्त्री डा० मलिक ने घोषणा की कि इन्डोनीशिया "मलयेशिया कुचल दो" आन्दोलन का अन्त करने का इरादा रखता है। जून १९६६ में उन्होंने मलयेशिया के विदेश मन्त्री तुन अब्दुल रजाक के साथ बैंकाक में मलयेशिया विरोधी अभियान समाप्त करने के सिलसिले में मैत्री-पूर्ण वार्ता की और अगस्त १९६६ में इन दोनो देशो के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया। सुकर्ण ने "नव उपनिवेशवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद" को नष्ट करने के आवेश में विश्व-संस्थाओं, संयुक्त राष्ट्रसंघ, विश्व बैंक आदि से त्याग पत्र दे दिया था। इन्डोनीशिया की नयी सरकार पुनः इन संस्थाओं की सदस्यता प्राप्त करने की चेष्टा की और सितम्बर १९६६ में पुनः संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रविष्ट हो गया। मलयेशिया के अतिरिक्त अन्य देशों के साथ भी इन्डोनीशिया के सम्बन्धो में सुधार हुआ।

मलयेशिया का प्रश्न

वर्षों के ब्रिटिश दासता के बाद १९५७ में मलाया की स्वतन्त्रता मिली थी। दक्षिण पूर्व एशिया के देशो में मलाया बहुत ही सम्पन्न देश माना जाता है। रबर और टीन यहाँ की मुख्य पैदावार है और इनके व्यापार से मलाया में काफी धन आ जाता है। लेकिन राजनीतिक दृष्टि से मलाया को कुछ कठिनाइयाँ भी थी। एक तो यहाँ कम्युनिस्ट आन्दोलन बड़ा ही प्रबल था और दूसरे यहाँ प्रवासी चीनी लोग बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं।[1] दक्षिण पूर्व एशिया में चीन का प्रभाव फैलाने के लिए तो वे महत्त्वपूर्ण माध्यम थे ही; अधिक संख्या के कारण मलाया में राजनीतिक जीवन पर भी उनका प्रभुत्व हो गया था। मलाया के लिए यह एक विकट समस्या थी। इस समस्या के समाधान के लिए मलाया के प्रधान मन्त्री टंकु अब्दुल रहमान ने मलाया, सिंगापुर, उत्तरी बोर्नियो, ब्रुनी और सारवाक को मिलाकर मलयेशिया नामक एक संघ बनाने का प्रस्ताव किया। इस संघ के उद्देश्य थे: (१) चीन के विस्तार को रोकना, (२) इस क्षेत्र के राजनीतिक जीवन पर प्रवासी चीनियो के प्रभाव को कम करना तथा (३) इस क्षेत्र का आर्थिक विकास करना।

पहले तो सिंगापुर ने इसमें सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। पीछे इस प्रश्न पर जनमत संग्रह कराया गया। इस जनमत में सिंगापुर के ७१ प्रतिशत लोगो ने सिंगापुर को मलयेशिया में शामिल होने के पक्ष में वोट दिया। कुछ कारणो से फिलीपाइन्स ने भी मलयेशिया संघ का विरोध किया, पर ब्रिटेन के हस्तक्षेप से वह भी शान्त हो गया।

---

१. मलयेशिया की जनता—

	कुल	चीनी
(१) मलाया	७०,००,०००	२६,००,०००
(२) सिंगापुर	७,५०,०००	२,६०,०००
(३) उत्तरी बोर्नियो	४,५०,०००	१,००,०००
(४) सारावाक	७,५०,०००	२४,०००
	८९,५०,०००	२९,८४,०००

मलयेशिया संघ के प्रश्न को लेकर १९६३ के प्रारम्भ में एक अन्तर्राष्ट्रीय संकट खड़ा हो गया था। दक्षिण पूर्व एशिया पर चीन की छाया निरन्तर पसर रही थी। मलयेशिया का निर्माण उसकी इस छाया से बचने के लिए एक प्रयत्न था। इसी कारण चीन इसका विरोधी था। इसी कारण वह इंडोनीशिया को भड़का रहा था कि वह मलयेशिया का विरोध करे। इंडोनीशिया ने इस संघ का प्रबल विरोध किया। वह नहीं चाहता था कि उसके पड़ोस में एक शक्तिशाली संघ की स्थापना हो जाय। इससे उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा पर खतरा पैदा हो सकता। था। इस कारण इंडोनिशिया ने इसका विरोध किया। वहाँ के विदेश-मंत्री सुवान्ड्रियो ने मलाया को यह धमकी दी थी कि यदि मलयेशिया संघ कायम हो गया तो इंडोनीशिया इसके विरुद्ध युद्ध घोषित कर देगा। इंडोनीशिया की सदिच्छा प्राप्त करने के लिए मलाया ने दक्षिण-पूर्व एशिया में मलयेशिया, इंडोनीशिया और फिलिपीन्स को मिलाकर "माफिलिन्दो" संघ बनाना स्वीकार कर लिया। इससे आशा की जाती थी कि मनीला समझौता के बाद इंडोनीशिया शान्त हो जायगा। लेकिन इसकी यह आशा पूर्ण नहीं हो सकी। इंडोनीशिया उसका विरोध करता ही रहा।

अनेक विघ्न बाधाओं के बाद अन्ततः १६ सितम्बर, १९६३ को मलयेशिया संघ का निर्माण हो गया। संघ को ब्रिटेन की पूरी सहानुभूति प्राप्त थी। मलयेशिया संघ का निर्माण के विरोध में जकार्ता में ब्रिटिश दूतावास के समक्ष इंडोनीशिया के निवासियों ने हिंसात्मक उग्र प्रदर्शन किये और दूतावास की इमारत को काफी क्षति पहुँचायी। इस हिंसात्मक प्रदर्शन की मलयेशिया संघ पर भी बहुत ही प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई और १७ दिसम्बर को क्वालालम्पुर स्थित इंडोनीशियाई दूतावास के समक्ष मलयेशिया की जनता ने उग्र और हिंसात्मक प्रदर्शन किये। यही नहीं, मलयेशिया की नवनिर्मित सरकार ने विरोध प्रकट करते हुए इंडोनीशिया और फिलिपीन्स दोनों से ही कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिये। इसी दिन इंडोनीशिया की सरकार ने मलयेशिया को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी इंडोनीशिया ने मलयेशिया के प्रतिनिधित्व पर आपत्ति की।

मलयेशिया संघ को लेकर इंडोनीशिया ने काफी उत्पात मचाया। राष्ट्रपति सुकर्ण ने घोषणा की कि वे बलपूर्वक इस संघ का नामोनिशान मिटा देंगे। मई १९६४ में इन दोनों राज्यों के बीच तनातनी खूब बढ़ी। ऐसा प्रतीत होता था कि दोनों के बीच युद्ध शुरू होकर ही रहेगा। इस स्थिति को टालने के लिए २० जून, १९६४ को टोकियो में एक शिखर-सम्मेलन हुआ जिसमे इंडोनीशिया, फिलिपीन्स तथा मलयेशिया के शासनाध्यक्ष शामिल हुए। लेकिन मतभेद इतना गहरा था कि किसी तरह का समझौता नही हो सका। इंडोनीशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने घोषणा की कि वे मलयेशिया को कुचलकर ही दम लेंगे।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि इंडोनीशिया द्वारा मलयेशिया का इतना उग्र विरोध क्यों हुआ? तथ्य यहाँ यह है कि पश्चिमी इरियन को प्राप्त करके ही सुकर्ण की प्रादेशिक महत्वाकांक्षा खत्म नही हुई। उनका नजर उत्तरी बोर्नियो पर बराबर रही है और सुकर्ण उसे भी इंडोनीशिया के छत्र-छाया में लाना चाहते थे। इसी प्रश्न को लेकर मलयेशिया के साथ उनका सारा मतभेद था। इंडोनीशिया की मांग यह थी कि पहले उत्तरी बोर्नियो को ब्रिटेन आजाद कर दे और तदुपरान्त स्वतन्त्र बोर्नियो मलयेशिया में शामिल होने या न होने का फैसला करे। लेकिन ब्रिटेन उसकी यह माँग स्वीकार करने को तैयार नही हुआ। इसलिए इंडोनीशिया ने मलयेशिया के निर्माण का विरोध किया और राष्ट्रपति सुकर्ण ने इसका नामोनिशान मिटाने की कसम खायी।

मलयेशिया संघ और सिंगापुर—सिंगापुर शुरू में ही मलयेशिया संघ में शामिल होना नहीं चाहता था। लेकिन अमेरिका और ब्रिटेन ने उसको संघ में शामिल होने के लिए वाध्य किया। संघ में शामिल होकर सिंगापुर की आर्थिक कठनाई पहले से बहुत बढ़ गयी। अतएव ६ अगस्त, १६६५ को सिंगापुर मलयेशिया सघ से अलग हो गया। ६ ७ अगस्त को मलयेशिया संघ और सिंगापुर में एक सन्धि हुई। सिंगापुर के सुरक्षा के काम तथा विदेश-नीति के सम्बन्ध में मलयेशिया की सरकार से परामर्श लेने का वचन दिया। यह तय हुआ कि सिंगापुर किसी ऐसे देश के साथ कोई सन्धि-समझौता नहीं करेगा जिससे मलयेशिया की सुरक्षा खतरा में पड़ जाय। सिंगापुर स्वतन्त्र होकर संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। अब मलयेशिया संघ में मलाया, उत्तरी बोर्नियो, ब्रुनो, सारवाक रह गये हैं।

मलयेशिया की वर्तमान स्थिति—मलयेशिया संघ से सिंगापुर के अलग हो जाने से इंडोनीशिया के विरोध में कोई कमी नहीं आयी। मलयेशिया दक्षिण-पूर्व एशिया में अन्तर्राष्ट्रीय संकट का मुख्य कारण बना रहा। लेकिन यह निश्चय हो गया कि इंडोनीशिया के किसी विरोध के कारण इस संघ का अन्त नही हो सकता। अक्टूबर १६६५ से स्वयं इंडोनीशिया में भयंकर गृह-कलह प्रारम्भ हुआ। इस हालत में इंडोनीशिया के नेताओं को "मलयेशिया कुचलो" अभियान को बन्द करना पड़ा। इंडोनीशिया की आन्तरिक राजनीति को देखकर यह प्रायः निश्चित हो गया कि मलयेशिया के चलते दक्षिण पूर्व एशिया में कोई गड़बड़ी पैदा नहीं होगी और धीरे-धीरे दोनों देश इस कटुतापूर्ण अध्याय को भूलकर अपने सम्बन्धों का एक नया अध्याय शुरू करेंगे।

हिन्द-चीन की समस्या

दक्षिण-पूर्व एशिया की दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या हिन्द-चीन की है। उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रांस ने इस देश पर आधिपत्य कायम किया था। अपने इस उपनिवेश को फ्रांस ने कई भागों में बाँट लिया था। कोचीन चीन पर उसका प्रत्यक्ष शासन था, लेकिन आन्नाम, टोंगकिंग, कम्बोडिया तथा लाओस फ्रांस के संरक्षित राज्य थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के काल में इस देश पर जापान का अधिकार कायम हुआ। लेकिन जब युद्ध खत्म हुआ तो फ्रांस ने पुनः यहाँ अपना साम्राज्य कायम करने का प्रयास किया। इसका विरोध हुआ और हो चो मिन्ह के नेतृत्व में वियतनाम (आन्नाम) में स्वाधीनता प्राप्ति के लिए संघर्ष शुरू हुआ। हो चो मिन्ह कम्युनिस्ट था। अतएव रूस और चीन से उसको सहायता मिलने लगी। पाँच वर्ष के युद्ध के बाद फ्रांस की सरकार की हार होने लगी। मार्च १६५४ में डीनबीन फू का प्रसिद्ध दुर्ग साम्यवादियों के कब्जे में आ गया। इस स्थिति में हिन्द चीन के युद्ध में अमेरिका ने हस्तक्षेप करने का निर्णय किया। विदेश सचिव डलेस ने कहा कि अमेरिका हिन्द-चीन को कम्युनिस्टों के हाथ में नही पड़ने देगा। इसका अर्थ अमेरिका द्वारा युद्ध मे कूदना और तीसरे विश्व युद्ध का श्री गणेश था क्योंकि सोवियत सघ पहले से एक पक्ष का समर्थन कर रहा था।

जेनेवा समझौता—लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस युद्ध के पक्ष में नहीं थे और इसलिए अमेरिका की कुछ नहीं चली। २१ जुलाई, १६५४ को हिन्द चीन की समस्या पर विचार करने के लिए जेनेवा में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसमें उन्नीस देशों ने भाग लिया और अन्त में एक

समझौता हो गया जिसको जेनेवा-समझौता कहते हैं। इस समझौते के अनुसार वियतनाम दो भागों में बँट गया—उत्तरी वियतनाम तथा दक्षिणी वियतनाम। दसवीं अक्षांश रेखा के उत्तर में हनोई नदी से लगे हुए सारे प्रदेश साम्यवादियों को और इनसे दक्षिण के सारे प्रदेश दक्षिणी वियतनाम को प्राप्त हुए। समझौते की शर्तों को पूरी तरह पालन करने के लिए तीन सदस्यों का अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग भी स्थापित किया गया। भारत, पोलैंड और कनाडा इसके सदस्य बनाये गये।

लाओस—लेकिन जेनेवा-समझौता से हिन्द चीन की समस्या का अन्तिम समाधान नहीं हो सका। इसके द्वारा *लाओस को एक तटस्थ राज्य बनाया गया था, लेकिन अमेरिका* इसको अपने गुट में मिलाना चाहता था। अतएव उसका षड्यन्त्र शुरू हुआ जिसके फलस्वरूप १६५९ में लाओस में गृह-युद्ध की स्थिति पैदा हो गयी। जब अमेरिका के समर्थकों ने नवम्बर १६५७ के वियन्टिया के समझौते को भंग कर दिया, तब पैथेट लाओ ने गुरिल्ला-युद्ध शुरू कर दिया। लाओस की सरकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपील की। सुरक्षा-परिषद् की एक उपसमिति घटना-स्थल पर पहुँची। जनवरी १६६० में जेनरल फूमी के नेतृत्व में सैनिक दबाव के कारण फुइ सानानिकों ने त्याग-पत्र दे दिया। नये निर्वाचन में 'राष्ट्रीय हित रक्षा समिति' को बहुमत प्राप्त हुआ। इसने जून, १६६० में सोमसानिथ के अधीन एक दक्षिण पक्षीय सरकार की स्थापना हुई। ९ अगस्त, १६६० को कैप्टन कांगलो के नेतृत्व में एक सैनिक विद्रोह हो गया। उसने लाओस की राजधानी वेन्टियाने पर अधिकार कर लिया और वहाँ की फूमिनौसावन-सरकार को उखाड़ फेंका। इसके साथ ही उसने सोवन्नाफूमि के नेतृत्व में एक तटस्थ सरकार की स्थापना की। फूमि की सरकार को कम्युनिस्ट देशों ने मान लिया। इस पर दिसम्बर १६६० में सेनापति फूमिनौसावन ने दक्षिण की ओर से सेना इकट्ठी कर अमेरिका की सहायता से राजधानी वेन्टियाने पर अधिकार कर लिया और प्रिंसवान ओम को प्रधान मन्त्री बनाया। कैप्टेन कांगलो भागकर उत्तर की ओर चला गया और वहाँ पैथेट लाओ गुरिल्ला लड़ाकुओं तथा वियतनाम के जरिये रूस से सहायता प्राप्त कर आक्रमण करना शुरू कर दिया। इस तरह एक भीषण गृह-युद्ध शुरू हुआ जिसमें एक पक्ष का समर्थन सोवियत संघ और दूसरे पक्ष का अमेरिका करने लगा। १६६१ के आरम्भ में कम्युनिस्ट सेना नें उत्तर-पूरब के तीन प्रान्तों पर अधिकार कर लिया।

लाओस के गृह-युद्ध में अमेरिका और रूस के हस्तक्षेप से विश्व-शान्ति पर खतरा उत्पन्न हो गया। इस पर भारत ने जेनेवा-समझौता द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग (जिसके सदस्य भारत पोलैंड और कनाडा हैं) को पुनर्जीवित करने का सुझाव रखा जो मान लिया गया। २४ अप्रिल १६६१ को ब्रिटेन और सोवियत संघ ने सम्मिलित भाव से लाओस में युद्ध बन्द करने का आह्वान किया। इसके चार दिनों बाद दिल्ली में अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग को पुनर्जीवित किया गया और लाओस के सेनापतियों ने युद्ध बन्द करने का आदेश जारी कर दिया।

इस बीच लाओस की समस्या पर विचार करने के लिए कम्बोडिया ने यह प्रस्ताव रखा कि चौदह राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाया जाय। रूस, ब्रिटेन और हो चो मिन्ह ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। प्रस्ताव में कहा गया था कि एशिया के किसी तटस्थ राष्ट्र में यह सम्मेलन हो और उसमें वे राष्ट्र जो १६५४ के जेनेवा समझौते के हस्ताक्षरकारी हैं, अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग

के तीनो सदस्य तथा लाओस के तीन पड़ोसी देशों (वर्मा, थाइलैंड और दक्षिण वियतनाम) को बुलाया जाय। यह प्रस्ताव मान लिया गया और १२ मई, १९६१ को जेनेवा में चौदह राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। लेकिन यहाँ इस प्रश्न पर कोई निर्णय नहीं हो सका कि लाओस का प्रतिनिधित्व कौन करे। पीछे अमेरिका और सोवियत संघ इस बात पर सहमत हो गये कि सम्मेलन में लाओस के तीनो पक्ष के प्रतिनिधि भाग लें। १७ मई को इन तीनों प्रतिनिधिमण्डलों ने इस सिद्धान्त को मान लिया कि लाओस में एक संयुक्त सरकार का संगठन किया जाय। २१ जून को इन तीनों पक्षो में एक समझौता हो गया और वे लाओस को एक राष्ट्रीय संघ सरकार गठित करने पर राजी हो गये। ८ अक्टूबर, १९६१ को तटस्थ नेता राजकुमार सौवन्ना फौउमा को भावी स्थायी सरकार का प्रधान मन्त्री बनाना स्वीकार कर लिया। ११ दिसम्बर का चौदह राष्ट्रों के लाओस-सम्मेलन में लाओस के संयुक्त मन्त्रिमण्डल के गठन पर वहाँ के सभी राजकुमार एकमत हुए और २३ जून के दिन यह सौवन्ना फौउमा के प्रधानमन्त्रित्व में संयुक्त मन्त्रिमण्डल संगठित कर दिया गया। ऐसा विश्वास किया गया कि लाओस की स्थिति शान्त रहेगी। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ दिनों तक लाओस में शान्तिपूर्ण स्थिति बनी रही। लेकिन १९६३ के मार्च में अमरीकी षड्यन्त्र के कारण लाओस के विदेश मन्त्री की हत्या हो गयी और वहाँ पुनः गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया।

लाओस में भविष्य में भी इस तरह की स्थिति बनी रहेगी। यद्यपि इस क्षेत्र को शांति-व्यवस्था की देख-रेख के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आयोग है, पर यह आयोग शायद ही दो विरोधी गुटों के सघर्ष को रोकने में समर्थ रहे। फिलहाल (जून १९६६) इस क्षेत्र में शान्ति कायम है।

कम्बोडिया—९ नवम्बर, १९५३ को कम्बोडिया ने अपने को पूर्ण स्वतन्त्र राज्य घोषित किया। यहाँ की मन्त्रिपरिषद् के अध्यक्ष नरोत्तम सिंहनक हैं। कम्बोडिया भारत की तरह स्वतन्त्र और तटस्थ नीति का अनुयायी है और साम्यवादी देशो के साथ भी अच्छे सम्बन्ध रखने के लिए सचेष्ट है। दक्षिण-पूर्व एशिया में लाओस और वियतनाम में साम्यवादियों और गैर-साम्यवादियों के बीच जो संघर्ष चल रहा है उसमें सिंहनक तटस्थ हैं और किसी का पक्ष नहीं ले रहे हैं। सिंहनक ने दक्षिण-पूर्व एशिया सैन्य संगठन में शामिल होने से इन्कार कर दिया। इसी ए शुरू से ही अमेरिका उनसे कुपित है। उसके बढ़ाने चढ़ाने पर थाइलैण्ड हमेशा कम्बोडिया विरोधी कारंवाई करता रहता है। उन्होंने कई बार यह चेतावनी दी है कि थाइलैंड का अनुचित हस्तक्षेप कम्बोडिया को साम्यवादी गुट की ओर झुकने को बाध्य कर रहा है।

नरोत्तम सिंहनक का झुकाव चीन की ओर कुछ अधिक प्रतीत होता था। १९६३ के नवम्बर में उन्होने यह घोषणा की कि कम्बोडिया की सरकार भविष्य में किसी प्रकार की अमरीकी सहायता नही लेगी। इसका कारण बताते हुए उन्होने यह कहा है कि अमेरिका की सरकार विरोधियों को अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करती है तथा थाइलेण्ड के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्यवाही करने के लिए उसकाती है।

नरोत्तम सिंहनक की यह घोषणा अमेरिका के लिए अत्यन्त अपमानजनक बात थी। उसने सिंहनक के इस कार्रवाई का बदला लेने का निश्चय किया और थाइलैण्ड की आड़ में कम्बोडिया की राजनीति में हस्तक्षेप करना शुरू किया। कम्बोडिया सरकार के लिए ऐसी स्थिति असह्य हो गयी। अमेरिका के खिलाफ ३ जून, १९६४ की सुरक्षा परिषद् की बैठक में मोरक्को की ओर से एक प्रस्ताव पेश किया गया जिसमें सभी राष्ट्रों से यह अपील की गयी थी कि वे कम्बोडिया के घरेलू मामले में हस्तक्षेप नहीं करे। यह भी प्रस्ताव रखा गया कि सुरक्षा-परिषद् के तीन सदस्यों का एक मिशन कम्बोडिया जाकर वहाँ की स्थिति का अध्ययन करे। लेकिन अमेरिका के विरोध के कारण इस समस्या पर कोई कार्रवाई नही हो सकी। फिलहाल कम्बोडिया की स्थिति शांत है।

वियतनाम की समस्या

वियतनाम आज सम्पूर्ण विश्व में सर्वाधिक नृशंस संहार और युद्ध का केन्द्र बना हुआ है और इस बात की सम्भावना है कि यदि यहाँ की बिगड़ती हुई स्थिति पर शीघ्रता से काबू नहीं पाया गया तो वियतनाम का युद्ध तृतीय विश्व-युद्ध में परिवर्तित हो सकता है।

जेनेवा समझौता—वियतनाम हिन्द-चीन का सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र था। इसका क्षेत्रफल १, २७, ००० वर्ग मील है। लगभग दो हजार से भी अधिक समय से यह राष्ट्र कई नामों से अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। एक समय इस पर चीन का भी अधिकार था। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में जब हिन्द चीन पर फ्रांस का अधिकार कायम हुआ, तो वियतनाम भी फ्रांस के कब्जे में चला गया। १९५४ के जेनेवा-समझौता के अनुसार वियतनाम में दो राज्यों का जन्म हुआ—वियतनाम गणराज्य और वियतमिन्ह। वियतमिन्ह को उत्तरी वियतनाम तथा वियतनाम गणराज्य को दक्षिणी वियतनाम भी कहते है। उत्तर वियतनाम पर साम्यवादियों का नियन्त्रण कायम हुआ और हो चो मिन्ह इसके राष्ट्रपति हुए। दक्षिण वियतनाम के प्रधान मन्त्री निगोदिन दिएम थे जो कट्टर प्रतिक्रियावादी और अमेरिका के पूर्ण प्रभाव में थे।

२१, जुलाई, १९५४ को जेनेवा में हिन्द-चीन के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ। उसके द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि १९५६ में वियतनाम के एकीकरण के लिए मतदान होगा। इस बात के लिए कि दोनो पक्ष संधि-शर्तों का पूरी तरह पालन करें। एक त्रिसदस्यीय अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग (International control Commission) भी स्थापित किया गया। इसके ऊपर जेनेवा-समझौते का पालन कराने और दक्षिण-पूर्व एशिया में शान्ति स्थापित रखने का दायित्व डाला गया। भारत, कनाडा और पोलैंड इस कमीशन के सदस्य नियुक्त किये गये।

वापस लौटकर उसने अपनी सरकार से यह सिफारिश की कि दक्षिणी वियतनाम की अमरीकी सहायता में वृद्धि की जाय। इस पर राष्ट्रपति कैनेडी ने अक्टूबर १९६१ में मेक्सवेल टेलर को दक्षिण वियतनाम इसलिए भेजा कि वह "साम्यवादी चुनौती" का सामना करने के लिए सैगोन सरकार की आवश्यकताओं को आंके।

१० दिसम्बर को अमरीकी प्रशासन के स्टेट डिपार्टमेंट ने "शान्ति को खतरा" के नाम से दो भागों में एक श्वेत-पत्र निकाला और यह आरोप लगाया कि वियतकांग मुक्ति-आन्दोलन का निर्देशन तथा संचालन उत्तरी वियतनाम से होता है। दक्षिण वियतनाम की सरकार और अमरीकी प्रशासन का यह खुला आरोप था कि हनोई सरकार का यह प्रयास है कि वह दक्षिण वियतनाम की सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने वाले साम्यवादी वियतकांग लोगों के शस्त्रास्त्रों की सहायता देकर वहाँ की सरकार को नष्ट कर दे और दक्षिण वियतनाम को उत्तर वियतनाम के साथ मिला ले।

वस्तुतः यह श्वेत-पत्र वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप के लिए एक बहाना था। ४ जनवरी, १९६२ को संयुक्त राज्य अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम को आर्थिक और सैनिक सहायता देने की योजना घोषित की। लगभग एक महीने बाद सैगोन में एक अमरीकी सैनिक कमान स्थापित की गयी और वहाँ चार हजार अमरीकी सैनिक उतार दिये गये। वियतनाम में प्रत्यक्ष अमरीकी आक्रमण का इतिहास यही से शुरू होता है।

सोवियत संघ ने अमेरिका के इस हस्तक्षेप का विरोध किया। इसके फलस्वरूप स्थिति गम्भीर हो गयी। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग को वह काम सौंपा गया कि वह वियतनाम में शान्ति-स्थापना के लिए प्रयास करे। आयोग ने विराम-सन्धि की व्यवस्था की। जून १९६२ में आयोग की एक विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में आयोग ने कहा था कि उत्तरी वियतनाम में ऐसा आन्दोलन चल रहा है जिसका लक्ष्य दक्षिणी वियतनाम को नष्ट करना है। लेकिन पोलैण्ड इससे सहमत नही हुआ। इस कारण वियतनाम के संकट का कोई स्थायी हल नहीं हो पाया है।

वास्तविक बात यह थी कि वियतनाम गणराज्य में निगोदिन दिएम की तानाशाही थी और जनता उसके अत्याचारों से एकदम तंग आ गयी थी। उसकी प्रतिक्रियावादी नीति के कारण वियतनाम में आतंक का राज्य छाया हुआ था। सरकार की धार्मिक असहिष्णुता की नीति से वियतनाम की बौद्ध जनता अत्यन्त क्षुब्ध हो गयी और कई बौद्ध भिक्षुओं ने सरकार के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए सार्वजनिक रूप से अपने प्राणों का होम किया। अनेक बौद्ध

जेनेवा-समझौता के बाद से दोनों वियतनामों के एकीकरण की माँग वियतनामियों द्वारा बराबर होती रही और उत्तर के कम्युनिस्टों ने इस माँग का पूरा समर्थन किया। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका के दबाव से प्रभावित होकर दक्षिण वियतनाम की सरकार हमेशा इस माँग को ठुकराती रही। जब शान्तिपूर्ण तरीकों से एकीकरण की माँगों की एकदम उपेक्षा कर दी गयी तो दक्षिण वियतनाम की जनता ने इसके लिए आन्दोलन शुरू किया और वियतकांग (Vietcong के नाम से एक संगठन कायम करके सरकार के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यवाही शुरू कर दी। वियतकांग आन्दोलन को उत्तरी वियतनाम का पूरा समर्थन मिल गया। वियतकांग संगठन ने बाद में छापामार युद्ध शुरू कर दिये जिसने पीछे चलकर वियतनाम में एक गृह-युद्ध का रूप धारण कर लिया।
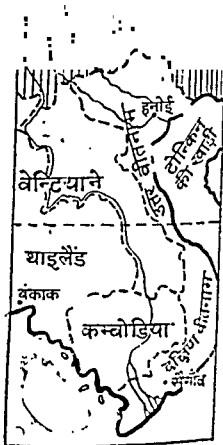
गृह-युद्ध का आरम्भ—१९५४ में युद्ध-विराम के बाद जैसे ही साम्यवादी वियतमिन्ह ने हनोई में अपने पैर जमाये, उसने जेनेवा-समझौते के उपरान्त सत्तरहवीं अक्षांश रेखा के दक्षिण का क्षेत्र खाली करते समय विशाल संख्या में अस्त्र-शस्त्र छिपाकर छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त कुछ छापामार दस्तों को भी वे पीछे छोड़ते गये। विभाजन के उपरान्त हनोई स्थित साम्यवादी सरकार ने तेजी के साथ अपनी सैनिक शक्ति बढ़ानी शुरू की और चीन तथा सोवियत संघ से काफी सैनिक सहायता प्राप्त की। सैनिक शक्ति बढ़ा लेने के बाद हनोई सरकार ने दिएम के आक्रामक कार्यवाइयों से तंग आकर वियतनाम के साम्यवादियों को मदद देना शुरू कर दिया। वियतकांग छापामार दस्तों को हनोई से सहायता मिलने लगी। सितम्बर १९६० में लाओ डोंग पार्टी का हनोई में तीसरा सम्मेलन हुआ और इसमें दक्षिण वियतनाम को मुक्त करने का निर्णय लिया गया। इस निर्णय के तीन महीने बाद हनोई में दक्षिणी वियतनाम को मुक्त करने के लिए एक मोर्चा संगठित किया गया और इसके बाद दिसम्बर १९६१ में दक्षिणी वियतनाम के लिए वियतनामी पीपुल्स रिवोल्यूशनरी पार्टी नामक एक दल भी संगठित कर दिया गया। इस स्थिति ने वियतनाम की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी और १९६१ में यहाँ पर यहाँ पुनः गृह-युद्ध छिड़ गया। इस संघर्ष ने एक निश्चित युद्ध का रूप धारण कर लिया। स्थिति काबू से बाहर होते देख, दक्षिण वियतनाम के राष्ट्रपति ने अमेरिका से सैनिक सहायता माँगी। मई १९६१ में अमरीकी उपराष्ट्रपति लिन्डन जानसन ने सैगोन का दौरा किया

वापस लौटकर उसने अपनी सरकार से यह सिफारिश की कि दक्षिणी वियतनाम की अमरीकी सहायता में वृद्धि की जाय। इस पर राष्ट्रपति कैनेडी ने अक्टूबर १९६१ में मेक्सवेल टेलर को दक्षिण वियतनाम इसलिए भेजा कि वह "साम्यवादी चुनौती" का सामना करने के लिए सैगोन सरकार की आवश्यकताओं को आंके।

१० दिसम्बर को अमरीकी प्रशासन के स्टेट डिपार्टमेंट ने "शान्ति को खतरा" के नाम से दो भागों में एक श्वेत-पत्र निकाला और यह आरोप लगाया कि वियतकांग मुक्ति-आन्दोलन का निर्देशन तथा संचालन उत्तरी वियतनाम से होता है। दक्षिण वियतनाम की सरकार और अमरीकी प्रशासन का यह खुला आरोप था कि हनोई सरकार का यह प्रयास है कि वह दक्षिण वियतनाम की सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने वाले साम्यवादी वियतकांग लोगों के शस्त्रों की सहायता देकर वहाँ की सरकार को नष्ट कर दे और दक्षिण वियतनाम को उत्तर वियतनाम के साथ मिला ले।

वस्तुतः यह श्वेत-पत्र वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप के लिए एक बहाना था। ४ जनवरी, १९६२ को संयुक्त राज्य अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम को आर्थिक और सैनिक सहायता देने की योजना घोषित की। लगभग एक महीने बाद सैगोन में एक अमरीकी सैनिक कमान स्थापित की गयी और वहाँ चार हजार अमरीकी सैनिक उतार दिये गये। वियतनाम में प्रत्यक्ष अमरीकी आक्रमण का इतिहास यहीं से शुरू होता है।

सोवियत संघ ने अमेरिका के इस हस्तक्षेप का विरोध किया। इसके फलस्वरूप स्थिति गम्भीर हो गयी। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग को यह काम सौंपा गया कि वह वियतनाम में शान्ति-स्थापना के लिए प्रयास करे। आयोग ने विराम-सन्धि की व्यवस्था की। जून १९६२ में आयोग की एक विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में आयोग ने कहा था कि उत्तरी वियतनाम में ऐसा आन्दोलन चल रहा है जिसका लक्ष्य दक्षिणी वियतनाम को नष्ट करना है। लेकिन पोलैण्ड इससे सहमत नहीं हुआ। इस कारण वियतनाम के संकट का कोई स्थायी हल नहीं हो पाया है।

वास्तविक बात यह थी कि वियतनाम गणराज्य में निगोदिन दिएम की तानाशाही थी और जनता उसके अत्याचारों से एकदम तंग आ गयी थी। उसकी प्रतिक्रियावादी नीति के कारण वियतनाम में आतंक का राज्य छाया हुआ था। सरकार की धार्मिक असहिष्णुता की नीति से वियतनाम की बौद्ध जनता अत्यन्त क्षुब्ध हो गयी और कई बौद्ध भिक्षुओं ने सरकार के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए सार्वजनिक रूप से अपने प्राणों का होम किया। अनेक बौद्ध

भिक्षु अपने वदन पर पेट्रोल छिड़क कर सड़कों पर जल मरे। लेकिन दिएम सरकार की नीति, जो उसकी भावज ऊनू द्वारा नियन्त्रित होती थी, तनिक भी नरम नहीं पड़ी। यहाँ तक कि दिएम सरकार ने अमरीका के परामर्श पर भी ध्यान नहीं दिया है।

दिएम की इस नीति के विरोध में १ नवम्बर, १९६३ को वियतनाम गणराज्य की सेना में दिएम सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और सरकार का तख्ता उलट दिया। विद्रोहियों द्वारा स्थापित सैनिक जुन्टा ने यह स्पष्ट घोषणा की कि बौद्धों के प्रति सरकार की असहिष्णु नीति के कारण ही उन्हें सरकार के विरुद्ध शस्त्र उठाने के लिए विवश होना पड़ा। राष्ट्रपति दिएम और उसके भाई को गिरफ्तार कर गोली से उड़ा दिया। सैनिक क्रान्ति के नेता मेजर जनरल आंगवान मिन्ह ने घोषणा की कि वियतनाम साम्यवाद के विरुद्ध अपना संघर्ष जारी रखेगा तथा उन सभी समझौतों का सम्मान करेगा जो पिछली सरकार ने अन्य देशों के साथ किये हैं। वस्तुतः नयी सरकार का साम्यवादियों के खिलाफ जेहाद जारी रहा और इसलिए समझौता की सारी आशाएँ लुप्त हो गयी। संयुक्त राज्य अमेरिका के समर्थन और सहायता से दक्षिण वियतनाम की सरकार वियतकांग छापामारों का दमन करती रही।

दक्षिण वियतनाम की नयी सरकार को अमरीकी सहायता और समर्थन का आश्वासन देने के लिए दिसम्बर १९६३ में अमरीकी प्रतिरक्षा सचिव रोबर्ट मैकनमारा ने कुछ अन्य उच्च अधिकारियों के साथ सैगोन का दौरा किया और घोषणा की कि दक्षिण वियतनाम को जबतक आवश्यकता होगी, अमरीकी सैनिक सहायता दी जायगी। किन्तु अमेरिका की इस घोषणा से वियतकांगो के साहस में कोई कमी नहीं आयी। ८ मार्च, १९६४ को मैकनमारा और अन्य सैनिक तथा राजनैतिक अधिकारी पुनः सैगोन गये। २३ जून, १९६४ को राष्ट्रपति जॉनसन द्वारा संयुक्त सेनाध्यक्षों के प्रधान और अमरीका के वरिष्ठ सैनिक अधिकारी जनरल मैक्सवेल टेलर को दक्षिण वियतनाम में राजदूत नियुक्त किया गया। इन सारी घटनाओं से यह स्पष्ट हो गया कि संयुक्त राज्य अमेरिका वियतनाम में अपनी वृहत् आक्रामक कार्रवाई करने के लिए पूरी तरह तैयार हो गया है।

उत्तर वियतनाम पर अमरीकी आक्रमण—अगस्त १९६४ में वियतनाम में और भी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। ६ अगस्त को दक्षिण वियतनाम में आपत्कालीन स्थिति की घोषणा की गयी और उत्तर वियतनाम के खिलाफ प्रत्याक्रमण की योजना बनायी। संयुक्त राज्य अमेरिका यही चाहता था। ५ अगस्त को अमरीकी विमानों ने एकाएक उत्तरी वियतनाम के कुछ सैनिक अड्डों, जो टानकिन की खाड़ी से सटे स्थित थे, पर धावा बोल दिया। अमेरिका का कहना था कि उत्तरी वियतनाम टानकिन की खाड़ी में गश्त लगाने वाले अमरीकी जहाजों पर यदा-कदा आक्रमण करता रहता है और यह स्थिति अब असह्य हो गयी है। इसलिए अमेरिका कार्रवाई करने के लिए विवश है। अमेरिका की इस आक्रामक कार्रवाई से वियतनामी कम्युनिस्ट अत्यन्त उत्तेजित हो उठे और उन्होंने बहुत बड़े पैमाने पर छापामार युद्ध शुरू किया। सोवियत संघ ने अमेरिका को यह चेतावनी दी कि यदि हमला हुआ तो वह उत्तरी वियतनाम को भरपूर सहायता देने को बाध्य होगा। चीन ने भी घोषणा की कि यद्यपि पेकिंग ने हिन्द-चीन में एक भी सैनिक नहीं भेजा है, लेकिन यदि उत्तरी वियतनाम पर आक्रमण हुआ तो उसके सेब्र का बाँध टूट जायगा।

परिस्थिति दिन-प्रतिदिन विषमतर होती गयी। साम्यवादी वियतकांग छापामारों ने दक्षिण वियतनाम के सैनिक अड्डों को तहस-नहस करने का प्रयास शुरू कर दिया। १ नवम्बर, १९६४ को वियतकांग छापामारों ने वियेत होआ के हवाई अड्डे पर भीषण हमला करके सत्ताइस विमान नष्ट कर दिये। इस आक्रमण में अनेक अमरीकी सैनिक मरे और घायल हुए। इस घटना के बाद राष्ट्रपति जॉनसन ने अपनी वियतनामी नीति पर बोलते हुए स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि अमेरिका उत्तरी वियतनाम द्वारा वियतकांग छापामारों को दी जाने वाली सैनिक सहायता बन्द करने के लिए शक्ति का प्रयोग करेगा। जानसन ने कहा कि यह सैनिक सहायता लाओस मार्ग से जा रही है जो जेनेवा समझौते के सर्वथा प्रतिकूल है। दिसम्बर, १९६४ को ह्वाइट हाउस से एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गयी जिसमें दक्षिण वियतनाम को सैनिक सहायता देने का वचन दिया गया। १९६५ के आरम्भ में दक्षिण वियतनाम में बौद्ध धर्मावलम्बियों ने अमेरिका विरोधी प्रदर्शन किये जिससे स्थिति विशेष तनावपूर्ण हो गयी। इन प्रदर्शनों को, जिनमें युद्ध-विराम वार्ता आरम्भ करने तथा वियतनाम के पुनः एकीकरण की मांग की गयी थी, क्रूरतापूर्वक दबा दिया गया।

इसके बाद ही अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम में अमरीकी सेना पर वियतकांग के आक्रमण के प्रतिशोधस्वरूप ७ फरवरी, १९६५ को उत्तरी वियतनाम पर हवाई हमले आरम्भ कर दिये। अमेरीकी वायुयान वियतकांग सैनिकों को सहायता पहुँचाने वाले सैनिक -अड्डों, पुलों, तेल भंडारों और सामरिक महत्त्व के अन्य ठिकानों पर भीषण बमबारी करने लगे। २७ फरवरी, १९६५ को वाशिंगटन ने अपनी नीति को पुष्ट करने के लिए उत्तरी वियतनाम द्वारा दक्षिण वियतनाम पर वियतकांग छापामारों द्वारा किये जाने वाले हमलों का विस्तृत विवरण एक श्वेतपत्र के रूप में प्रकाशित किया। इसमें यह दिखलाने का प्रयास किया गया कि वियतकांग; आन्दोलन दक्षिण वियतनाम का स्थायी आन्दोलन नहीं वरन् उत्तर वियतनाम सरकार द्वारा प्रेरित आन्दोलन है। वियतकांग संगठन को उत्तरी वियतनाम से हर तरह की सहायता मिलती है और इसमें चीन भी शामिल है। इस श्वेत-पत्र के प्रकाशन का उद्देश्य वियतनाम में अमरीकी आक्रामक नीति को सही बताना था। लेकिन दुनिया में प्रायः हर जगह अमरीकी कारवाई का विरोध हुआ। सोवियत रूस और चीन ने अमेरीकी बमवर्षा की कटु आलोचना की और कड़े शब्दों में अमेरिका को चेतावनी दी। परन्तु, अमेरिका पर इसका कोई असर नहीं हुआ और मार्च महीने से उसके हवाई हमले की गति में तेजी आने लगी। इस हमले में अमेरिका ने विषैली गैसों (Npalm bomb) का प्रयोग भी शुरू किया जो युद्ध-नियम के सर्वथा खिलाफ है। ये हमले रेलवे, रोड,पुल, बाँध औद्योगिक और सैनिक अड्डों पर होते थे और उनका उद्देश्य उत्तरी वियतनाम की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को अस्त व्यस्त करना था। अमेरिका के जंगखोर-नीति निर्धारिकों का विश्वास था कि उत्तरी वियतनाम इस नुकसान की पृष्ठभूमि में अधिक दिनों तक प्रतिरोध नहीं कर सकेगा और हथियार डाल देगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

समझौते का प्रयास—वियतनाम में अमेरिका की कारवाई की निन्दा सर्वत्र हुई। इस कारवाई में विश्व-युद्ध की सम्भावनाएँ थी क्योंकि चीन उत्तर वियतनाम की ओर था और सोवियत संघ की सहानुभूति भी उसे प्राप्त थी। यदि चीन और सोवियत संघ खुलकर उत्तरी

वियतनाम के पक्ष में आ जाते तो यह संघर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका तथा चीन और सोवियत संघ के बीच का संघर्ष हो जाता। साम्यवादी गुट में पैदा हुए फूट से यह सम्भावना टली रही लेकिन यह कहना कठिन था कि सोवियत संघ और चीन कबतक उत्तरी वियतनाम की अमेरिका के हाथो इस तरह हत्या होते देखते रहेंगे। अतएव चारों ओर से यह माँग होने लगी कि अमेरिका हवाई हमला बन्द कर दे और वार्ता के लिए प्रयास करे। भारत और फ्रांस की सरकारों ने एक दूसरे जेनेवा-सम्मेलन की माँग की। संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव यूथान्त ने अविलम्ब वार्ता शुरू करने की अपील की और संसार के सत्तरह असंलग्न राष्ट्रों ने युद्ध को तत्काल बन्द कर देने का अनुरोध किया।

७ अप्रिल १९६५ को राष्ट्रपति जॉनसन ने कहा कि वे उत्तरी वियतनाम के साथ "बिना शर्त की बातचीत" करने के लिए तैयार हैं यदि दक्षिण वियतनाम की स्वतन्त्रता मान ली जाय और संयुक्त राज्य अमेरिका को वहाँ सेना रखने की अनुमति मिली। यह "बिना शर्त की बातचीत" का उपहास था, क्योंकि दूसरे ही वाक्य में दो शर्तें लगा दी गयी थीं। उत्तरी वियतनाम ने इस प्रस्ताव को नामंजूर करते हुए १२ अप्रिल को चार सूत्रों वाला समझौता का प्रस्ताव रखा जिसमें कहा गया था कि वियतनाम से सभी विदेशी सेनाएँ हटा ली जायँ, जेनेवा समझौता को पूरी तरह लागू किया जाय, दक्षिण वियतनाम की सरकार में वियतकांग को जगह मिले और १९५४ के जेनेवा-समझौते के अनुसार वियतनाम के एकीकरण के लिए मतदान हो। अमेरिका को यह प्रस्ताव मंजूर नहीं हुआ और इस प्रकार समझौता के सारे प्रयास बेकार हो गये।

अमरीकी नीति के उद्देश्य – वियतनाम में अमरीकी नीति का उद्देश्य दक्षिण पूर्व एशिया में चीन के प्रभाव के विस्तार को रोकना बताया जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अमेरिका वियतनाम में सब कुछ करने को तैयार है। वह दक्षिण वियतनामी सरकार की सहायता ही नहीं कर रहा है, वरन् स्वयं प्रत्यक्ष रूप से युद्ध में शामिल होकर उत्तर वियतनाम पर लगातार हमला करके आग के साथ खिलवाड़ करता रहा है। वियतनाम के युद्ध को उसने अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया है और इसके लिए वह किसी भी स्थिति का सामना करने को तैयार है।[1]

विश्व-लोकमत के दबाव के कारण १३ मार्च, १९६५ को पाँच दिनों के लिए अमेरिका ने हवाई हमला बन्द कर दिया। अमरीकी विदेश मंत्रालय के एक प्रवक्ता ने बतलाया कि हमला बन्द करने का उद्देश्य उत्तरी वियतनाम सरकार को वार्ता प्रारम्भ करने के लिए प्रोत्साहित करना था। लेकिन वस्तुतः अमेरिका इस विरामकाल में अपनी सैनिक स्थिति को संगठित

1. American interest in the affairs of South Vietnam streams from U. S. policy to restrain China from spreading its influence in the region. In pursuance of this policy, the U. S. has been doing all it could to help the South Vietnamese Government to meet the challenge of the Vietcong insurrection. It has poured men, money and materials into the country in a "now or never" bid to stem the advance of communism in this part of the world—*Current Affairs*, August 1965.

कर लेना चाहता था। इसी समय हजारों की संख्या में अमरीकी सैनिक वियतनाम में उतारे गये और १८ मई को उत्तरी वियतनाम पर हवाई हमला फिर शुरू कर दिया गया।

राष्ट्रमंडल द्वारा समझौते के प्रयास—जून १९६५ में राष्ट्रमंडल (Commonwealth) के प्रधान मन्त्रियों का चौदहवाँ सम्मेलन लन्दन में शुरू हुआ। सम्मेलन की कार्यवाही में सबसे मुख्य बात वियतनाम की समस्या थी। प्रधान मंत्रियो ने बातचीत द्वारा यह तय किया कि एक राष्ट्रमंडलीय शान्ति-मिशन की स्थापना करके वियतनाम संकट को सुलझाया जाय। इस मिशन को हनोई, सैगोन, वाशिंगटन, मास्को और पेकिंग भेजने का निश्चय किया गया। लेकिन, सोवियतसंघ, चीन तथा उत्तरी वियतनाम की सरकारों ने 'मिशन से बातचीत करने से इन्कार कर दिया। अतएव यह प्रयास भी बेकार ही रहा।

इसी समय बरसात का मौसम आ गया और इस मौसम में वियतनाम छापामारो की सामरिक स्थिति अच्छी हो गयी। अमेरिका के कई अड्डो पर हमले करके उनको तहस-नहस करने में छापामारों को काफी सफलता मिली। इससे क्रुद्ध होकर अमेरिका ने और जोरों का हवाई हमला शुरू कर दिया। सोवियत संघ और चीन ने अमेरिका को चेतावनी दी कि वह अपनी आक्रामक कार्रवाई तुरत बन्द कर दे अथवा स्थिति काबू से बाहर हो जायगी।

इस परिस्थिति में ८ जुलाई १९६५ को ब्रिटिश प्रधान मंत्री हैरोल्ड विल्सन ने अपने मंत्रिमंडल के एक सदस्य हैरोल्ड डेविस को हनोई भेजा। डेविस राष्ट्रपति हो चे मिन्ह का व्यक्तिगत मित्र था और यह आशा की गयी थी कि वह अपने प्रभाव से उत्तरी वियतनाम को समझौता-वार्त्ता कराने के लिए राजी कर लेगा। लेकिन डेविस को भी कोई सफलता नहीं मिली। उत्तरी वियतनाम को अटूट विश्वास था कि युद्ध में अमेरिका की पराजय निश्चित है।

इसी समय घाना के राष्ट्रपति इन्क्रुमा ने राष्ट्रपति हो चे मिन्ह को एक पत्र लिखा और हनोई आने की इच्छा व्यक्त की। राष्ट्रपति हो चे मिन्ह ने उनका अपने देश में स्वागत करने का आश्वासन दिया, लेकिन साथ ही यह भी कहा कि अमरीकी हवाई हमले की स्थिति में उनका हनोई आना खतरे से खाली नहीं है। तदुपरान्त इन्क्रुमा ने अपने विदेश मन्त्री को राष्ट्रपति जॉनसन के पास भेजा और उनसे यह अनुरोध किया कि वे हवाई हमले को बन्द करने की आज्ञा दें ताकि घाना के राष्ट्रपति समझौता-वार्ता के लिए रास्ता साफ करने के लिए हनोई जा सकें। लेकिन अमरीकी राष्ट्रपति ने किसी तरह का आश्वासन देने से इन्कार कर दिया।

संयुक्त राष्ट्र साधारण सभा के अध्यक्ष के प्रयास—नवम्बर १९६५ में एक इटालियन नागरिक प्रोफेसर गिऔर्गियो लापिरा (Georgio La Pira) ने हनोई में राष्ट्रपति हो चे मिन्ह से मुलाकात की और संयुक्तराष्ट्रसंघ के अध्यक्ष एमिन्टोर फनफानी (Amintore Fanfani) को गुप्त ढंग से यह सूचित किया कि राष्ट्रपति मिन्ह बिना शर्त्त समझौता वार्ता के लिए तैयार हैं। श्री फनफानी ने इस सूचना के आधार पर राष्ट्रपति जॉनसन को बतलाया कि शान्ति स्थापना के लिए हो चे मिन्ह "किसी व्यक्ति से किसी जगह" मिलने को तैयार हैं और अमरीकी फौज को पहले हटा लेने की कोई शर्त्त नहीं है। यह उम्मीद की गयी थी कि जबतक यह बात पूरी तरह स्पष्ट न हो जाय तबतक इसका भेद नहीं खोला जाय। लेकिन अमेरिका शान्ति नहीं चाहता था और इस प्रयास को असफल करने के उद्देश्य से १६ दिसम्बर

१९६५ को उसकी ओर से दो पत्र प्रकाशित किये गये : एक पत्र जिसको २० नवम्बर को श्री फनफानी ने लिखा था और दूसरा विदेश सचिव डीन रश्क को पत्र जिसको उन्होंने जवाब में ४ सितम्बर को श्री फनफानी को लिखा था।

पत्रों के प्रकाशन ने सम्भवतः हनोई सरकार को असमंजस में डाल दिया और १८ दिसम्बर को उसने स्पष्टतः इन्कार किया कि उसने कभी भी किसी के समक्ष समझौता वार्ता प्रारम्भ करने का प्रस्ताव रखा है। हनोई सरकार ने शान्ति समझौता के लिए पुनः उन चार शर्तों को रखा जिसका प्रस्ताव वह पहले १३ अप्रिल को कर चुका था। इस प्रकार शान्ति का यह प्रयास विफल रहा।

१९६६ के हवाई हमले—१९६५ के क्रिसमस के अवसर पर अमरीकी विदेश मन्त्रालय ने यह घोषणा कि कुछ दिनों के लिए अमेरिका इस उम्मीद पर हवाई हमला बन्द कर रहा है कि उत्तर वियतनाम की सरकार समझौता वार्ता के लिए तैयार हो जायगी। सैंतीस दिनों तक यह हमला बन्द रहा। लेकिन ३१ जनवरी, १९६६ को अमेरिका ने पुनः बहुत बड़े पैमाने पर हमला शुरू कर दिया। इसके साथ ही उसने प्रचार के उद्देश्य से सुरक्षा-परिषद् की बैठक बुलाने का अनुरोध भी किया। सुरक्षा-परिषद् में कोई निर्णय नहीं हो सका और वियतनाम पर अमरीकी गोलाबारी जारी रही।

१९६६ में सम्पूर्ण वियतनाम समस्या का समाधान के अनेक प्रयास किये जाते रहे, किन्तु उत्तरी वियतनाम निम्नलिखित चार बातों पर डटा रहा :

(क) संयुक्त राज्य अमेरिका दक्षिण वियतनाम से अपनी सारी सेनाएँ तुरत हटाये।

(ख) दक्षिण वियतनाम में संधि-वार्ता छापामार वियतकांग सैनिकों के राजनीतिक संगठन 'राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे' से की जाय क्योंकि वह दक्षिण वियतनामी जनता का एकमात्र प्रतिनिधि है।

(ग) समझौते के लिए उत्तरी वियतनाम की चतुसूत्री योजना स्वीकार की जाय।

(घ) उत्तरी वियतनाम पर की जाने वाली बमबारी को तुरंत बन्द किया जाय।

राष्ट्रपति हो चे मिन्ह ने ब्रिटेन, कनाडा, भारत आदि अनेक देशों को और समाजवादी राष्ट्रों को पत्र भेजे जिनमें उपर्युक्त बातों पर बल दिया गया। ये पत्र जनवरी, १९६६ में भेजे गये थे। भारत के राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने प्रत्युत्तर में लिखा कि अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग का अध्यक्ष होने के नाते भारत १९५४ के जेनेवा-समझौते के अनुसार दोनों देशों के एकीकरण का समर्थक है। डा० राधाकृष्णन ने लिखा कि भारत का संयुक्त राज्य अमेरिका से यही अनुरोध है कि बम वर्षा बन्द की जाय और संयुक्त राष्ट्रसंघ की अध्यक्षता में तटस्थ देशों से सेना प्राप्त करके एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना का संगठन किया जाय जो इस समस्या का समाधान होने तक दोनों देशों की सीमाओं पर शान्ति स्थापित करने का कार्य करे। प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाँधी ने वियतनाम में युद्ध-विराम के लिए जेनेवा-सम्मेलन के पुनः आमंत्रित किये जाने का प्रस्ताव रखा। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका बिना शर्त बम वर्षा बन्द करने को सहमत न था और सोवियत संघ जेनेवा-सम्मेलन को तबतक बुलाने के लिए तैयार नहीं था जब तक कि उत्तरी वियतनाम इसके लिए सहमत न हो जाय।

फ्रेंच राष्ट्रपति दगाल ने भी उत्तरी वियतनाम पर अमरीकी बम-वर्षा और दक्षिण वियतनाम में उसके हस्तक्षेप का घोर विरोध किया। एशियाई देशों की अपनी यात्रा के दौरान राष्ट्रपति ने इस बात पर बहुत बल दिया कि अमेरिका को दक्षिण वियतनाम से सभी फौजें हटा लेनी चाहिए और वियतनाम-समस्या का समाधान जेनेवा-समझौते के अनुसार दोनों भागों का पुनः एकीकरण करके तथा इनको तटस्थ देश बना कर किया जाना चाहिये।

मनीला सम्मेलन—नवम्बर, १६६६ में दक्षिण वियतनाम में गहरी रुचि रखनेवाले और अमरीकी पिछलगुए राज्यों का एक सम्मेलन मनीला में हुआ। इसमें दक्षिण वियतनाम, आस्ट्रेलिया, दक्षिण कोरिया, फिलिपिन्स, न्यूजीलैंड, थाईलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका के शासनाध्यक्ष सम्मिलित हुए। सम्मेलन में यह कहा गया है कि सम्मिलित राज्यों का उद्देश्य "वियतनामी जनता को गुलामी से मुक्त करना है।" इसके अतिरिक्त सम्मेलन में वियतनाम की समस्या के हर पहलू पर विचार किया गया। अमरीकी राष्ट्रपति ने अपने प्रथम विदेश यात्रा के लिए एशिया को ही चुनकर मनोवैज्ञानिक रूप से अपने मित्रों को यह आश्वासन देने का यत्न किया कि एशियाई देशों की सुरक्षा को अमेरिका सर्वोपरि मानता है। एशिया में कम्युनिस्ट प्रभाव को रोकने के लिए आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्य पर विचार किया गया। दक्षिण वियतनाम में सैनिक सफलता के बाद पहला स्थान आर्थिक विकास को ही माना गया।

मनील सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य वियतनाम में युद्ध प्रयत्नों को अधिक चुस्त बनाना था। इसमें युद्ध के सामरिक पहलू पर हर दृष्टि से विचार किया गया और निश्चय किया गया कि युद्ध को जल्द-से-जल्द जीतने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये जायँ। निश्चय ही इस नीति से वियतनाम की समस्या सुलझने वाली नहीं थी।

इसी बीच यू थांत पूरे एक कार्यकाल के लिए सर्वसम्मत से संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव चुन लिये गये। महासचिव का पद ग्रहण करने के तुरत बाद ही उन्होंने सम्बद्ध पक्षों से वियतनाम में युद्ध बन्द करने का आग्रह किया और यह चेतावनी दी कि यदि ऐसा नहीं होता है, तो विश्व-युद्ध की सम्भावना बहुत बढ़ जायगी। इस तरह के वक्तव्य उन्होंने कई बार दिये। उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका से विशेष रूप से आग्रह किया कि अपनी तरफ से वह वियतनाम में युद्ध बन्द कर दे। परन्तु अमेरिका पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उत्तर वियतनाम पर अमरीकी बमबारी जारी रही, युद्ध का विस्तार होता रहा और समस्या दिनोंदिन उलझती गयी।

लार्ड रसेल की "अदालत" का निर्णय—इस बीच विख्यात दार्शनिक लार्ड रसेल की अदालत ने अमेरिका को वियतनाम के युद्ध में युद्ध-अपराधी घोषित किया। लगभग एक सप्ताह की बैठक के बाद १० मई, १६६७ को अदालत ने मान लिया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत वियतनाम में अमेरिका ने आक्रामक कारवाई की है और उत्तर वियतनाम पर बमबारी की जिम्मेवारी अमेरिका पर है। इस गैर-सरकारी अदालत ने अपनी जाँच-पड़ताल १६२८ के केलौगब्रियां पैक्ट, संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर, न्यूरेम्बर्ग युद्ध के अपराधी अदालत और वियतनाम सम्बन्धी १६५४ के जेनेवा-समझौते के आधार पर किया। अदालत ने फिलहाल अमेरिका को कोई "दंड" नहीं दिया, लेकिन अगले अधिवेशन में शायद अमेरिका को "दंड" दिया जाय।

१६६७ का अन्त आते-आते वियतनाम-युद्ध ने भयंकर रूप धारण कर लिया। रसायनिक और अन्य संहारक अस्त्रों का अमेरिका ने खुलकर प्रयोग किया। उत्तर वियतनाम और वियतकांग

सैनिकों तथा सैनिक ठिकानों पर इतने अधिक बम गिराये गये जितने दूसरे विश्व-युद्ध के दौरान जर्मनी ने ब्रिटेन पर भी नहीं गिराये थे। युद्ध के चरमोत्कर्ष के समय लगभग दो सौ विमानों ने साठ दिनों तक हर रात एक-एक टन भार के बम गिराये थे। इस भीषण युद्ध में अब हताहतों की संख्या बताना व्यर्थ है। अनुमान है कि लगभग एक हजार अमरीकी हवाई जहाज उत्तर वियतनाम में लड़ते हुए नष्ट हुए हैं। ये लड़ाकू जहाज अत्यन्त आधुनिक प्रकार के शस्त्रों से लैस थे और इनका मूल्य तीन अरब डालर से कम नहीं पड़ेगा। उत्तर वियतनाम और दक्षिण वियतनाम में उत्तर वियतनामी सेना और वियतकांग छापामारों से लड़ने के लिए अमेरिका का खर्च प्रतिवर्ष दो-ढाई अरब डालर हो गया था। इतना खर्च के बाद भी अमेरिका उत्तर वियतनाम को आत्मसमर्पण करने पर विवश नहीं कर सका है। बम-वर्षा के कारण उत्तर वियतनाम की प्रायः सभी जीवन-रेखाएँ (life lines) नष्ट कर दी गयी। फिर भी वह युद्ध में डटा रहा और डटकर मुकाबला करता रहा। वियतनाम की जनता इस बात पर दृढ़ है कि भले ही उनका सारा देश नष्ट हो जाय, लेकिन वे लड़ना नहीं छोड़ेंगे। एक पर्यटक के अनुसार उत्तर वियतनाम के लोग साम्यवाद के लिए नहीं अपने देश के लिए लड़ रहे थे। उत्तर वियतनाम में अमेरिका एक ऐसी शक्ति का पक्ष लेकर लड़ रहा है जिसके दिन अब लद चुके हैं।

वियतनाम सम्बन्धी अमरीकी नीति स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका में भीषण आलोचना का विषय बन गया। १९६८ में अमेरिका के राष्ट्रपति के चुनाव के संदर्भ में यह आलोचना दिन-प्रतिदिन गम्भीर होती गयी। मनोनयन के लिए जॉनसन के विरोधी रिपब्लिक नेता सिनेटर यूजीन मैकार्थी ने "वियतनाम के गृह-युद्ध में अमरीकी दखलन्दाजी" की कटु आलोचना की और कहा कि "राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक दृष्टि से वियतनाम का युद्ध अब वांछनीय नहीं है" और अमेरिका को अपना हस्तक्षेप शीघ्रतया बन्द कर देना चाहिए। इसी तरह के विचार राष्ट्रपति पद पर मनोनयन के लिए एक अन्य डेमोक्रेटिक उम्मीदवार रावर्ट कैनेडी द्वारा भी व्यक्त किये गये। अमेरिका का जनमत जिस तरह वियतनाम के प्रश्न पर जॉनसन-नीति का विरोधी होता जा रहा था, उसको देखकर आगामी चुनाव में जॉनसन की पराजय निश्चित प्रतीत होने लगी थी।

अमरीकी जनमत का जॉनसन-विरोधी होने का एक और विशेष कारण था। वियतनाम-युद्ध में दिन-प्रति-दिन के खर्च का जो हिसाब था, उसको अभी तक अमेरिका जैसा देश ही बर्दाश्त कर रहा था। दुनिया का कोई अन्य देश इस अपार खर्च को किसी भी हालत में सहन नहीं कर सकता था। लेकिन वियतनाम-युद्ध का आर्थिक भार अमेरिका के लिए भी असह्य होता गया और वहाँ एक भीषण आर्थिक संकट के सभी आसार दिखायी पड़ने लगे। अमेरिका के शोध-सन्तुलन में घाटे की वृद्धि होने लगी जिसके फलस्वरूप दुनिया भर में फैले डालरों की कीमत गिरने लगी। इस स्थिति का मुकाबला अमरीकी सरकार खर्च में कमी करके ही कर सकती थी। लेकिन जॉनसन प्रशासन की टांग वियतनामी मगरमच्छ के मुँह में ऐसी फँस गयी थी कि खर्च कम करना तो दूर इसे बढ़ाने की नौबत आ रही थी। वियतनाम में अतिरिक्त व्यय के कारण अमेरिका में मँहगाई और मुद्रा स्फीति का दुष्चक्र शुरू हो गया और अमरीकी जनता पर नये नये कर लगाने की नौबत आ गयी। इस हालत में जॉनसन सरकार के विरुद्ध बुलन्द आवाज उठने लगे।

फरवरी-मार्च १९६८ का युद्ध—फरवरी १९६८ के प्रारम्भ में उत्तरी वियतनाम के सैनिकों ने बड़े वृहत् पैमाने पर दक्षिण वियतनाम के सैनिक ठिकानों पर हमला शुरु किया। १७ फरवरी को रात में वियतकांग सैनिकों ने आधुनिकतम रॉकेटों और मोर्टरों के गोलों से अमरीकी शक्ति के प्रतीक—पूर्वी पैंटगान (सैगोना स्थित जेनरल वेस्टमोरलैंड का मुख्यालय) पर धावा बोल दिया और अमेरिका के मित्रराष्ट्रों के सैनिक ठिकानों की अच्छी खासी खबर ली। इसके साथ ही दक्षिण वियतनाम के सैंतीस शहरों तथा सामरिक महत्त्व के ठि ानों पर भी उनका हमला हुआ। इन हमलों में खेमान्ह और हुए नगर पर हुए हमले काफी महत्त्वपूर्ण थे। कुछ दिन पहले अमरीकियों ने यह दावा किया था कि उत्तर वियतनाम अब पराजित हो रहा है और अमेरिका शीघ्र ही वियतनाम में पूर्ण सैनिक विजय प्राप्त कर लेगा। लेकिन फरवरी में जिस विद्युत् गति से वियतकांगों का दक्षिण वियतनाम पर आक्रमण हुआ और जिस तरह उन्होंने अमरीकी दूतावास में घुसकर वहाँ युद्ध का संचालन किया उससे यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका के लिए वियतनाम का युद्ध जीतना असम्भव है। सैगोन के पास और शहर के कई भीतरी भागों में भी वियतकांग और अमरीकी सेना के बीच भीषण युद्ध हुआ। फरवरी मार्च १९६८ की अवधि में वियतकांग ने एक के बाद एक लगातार तीन सुनियोजित आक्रमण करके जहाँ एक ओर यह सिद्ध कर दिया कि उसके हौसले पहले जैसे ही बुलन्द है, वहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके सहयोगियों को अपार क्षति का सामना करना पड़ा और लाखों दक्षिण वियतनामी नागरिक अपने ही देश में शरणार्थी बन गये। मार्च में वियतकांग छापामारो का आक्रमण और भी उग्र हो गया। केवल फरवरी-मार्च के इस युद्ध में ही दोनों ही पक्षो के लगभग तीस-पैंतीस हजार व्यक्ति मारे गये। इनमें हजारों की संख्या मे असैनिक नागरिक भी सम्मिलित थे।

वियतकांगों के इस हमले का प्रतिरोध करने में अमरीकी कमान अब असमर्थ महसूस करने लगा। इसलिए जेनरल वेस्टमोरलैंड ने राष्ट्रपति जॉनसन से दो लाख और सैनिक वियतनाम भेजने की मांग की। १३ फरवरी को अमेरिका ने वियतनाम में और दस हजार सैनिक भेजने का फैसला किया और २४ फरवरी को यह घोषणा भी की गयी कि संयुक्त राज्य अमेरिका वियतनाम में परमाणु अस्त्रों के प्रयोग की बात सोच रहा है। वियतनाम में अब अमरीकी सैनिकों की संख्या पाँच लाख, दस हजार हो गयी।

आर्थिक संकट—अमेरिका के इस निर्णय से यह निश्चय हो गया कि वियतनाम में अब पहले से भी अधिक युद्ध का विस्तार होने जा रहा है। इस सम्भावना ने एक विकट आर्थिक संकट पैदा कर दिया जिसके चपेट में केवल अमेरिका ही नही वरन् यूरोप के अन्य देश भी आ गये। जैसे ही जेनरल वेस्टमोरलैंड ने राष्ट्रपति जॉनसन से दो लाख और सैनिक वियतनाम में भेजने की मांग की कि यूरोप के बैंको और सट्टेबाजों ने डालर फेंककर सोने के लिए मुँह पसारना शुरू किया। सोने का बाजार तेज हो गया। डालर की साख समूचे विश्व में धड़ल्ले से गिरने लगी। संकट ने पेरिस से मुँह पसारना शुरू किया। पेरिस के स्वर्ण बाजार में पैंतालिस डालर प्रति औंस की दर से सोना बिकने लगा (सरकारी भाव पैंतीस डालर प्रति औंस था)। सरकारी तौर पर देखने से वियतनाम में युद्ध के विस्तार से सोने की मांग का कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी पड़ा, लेकिन इसका पूरा सम्बन्ध वियतनाम से था। इस तरह की भगदड़ ने अमेरिका के समक्ष भयंकर आर्थिक संकट उत्पन्न कर दिया। इस पर नियन्त्रण पाने के लि

बैंक दर में एक प्रतिशत की वृद्धि कर दी गयी। लेकिन इस पर भी डालर की साख मजबूत नहीं हुई। अमेरिका के वित्तीय विशेषज्ञ अब यह कहने लगे कि अमेरिका को स्वर्ण-विनिमय मान को तिलांजली देकर डालर की मौजूदा विनिमय दर की रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार, संयुक्त राज्य अमेरिका पूरी तरह एक आर्थिक संकट के भँवर जाल में फँस गया।

वियतनाम में शान्ति की सम्भावनाएँ— फरवरी-मार्च की सैनिक पराजय और आर्थिक संकट ने सिद्ध कर दिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका को अन्ततः वियतनाम से वापस आना ही पड़ेगा। उधर देश के अन्दर जॉनसन का विरोध बढ़ता जा रहा था। राष्ट्रपति जॉनसन के समक्ष अब कोई रास्ता नहीं रहा। ३१ मार्च, १९६८ को राष्ट्रपति ने विस्मयजनक भाषण दिया जिसमें उन्होने उत्तर वियतनाम पर बमबारी सीमित करने तथा राष्ट्रपति पद की अपनी उम्मीदवारी की वापसी की घोषणा की। जॉनसन की इस घोषणा का सर्वत्र स्वागत हुआ और इसके फलस्वरूप वियतनाम में शान्ति-स्थापना की सम्भावना बहुत बढ़ गयी। अगले दिन राष्ट्रपति ने यह भी घोषणा की कि वे वियतनाम युद्ध में सम्मिलित सहयोगी राष्ट्रों से विचार विमर्श करने के लिए हवाई द्वीप जायँगे।

जॉनसन द्वारा उत्तर वियतनाम पर बमबारी सीमित करने का उद्देश्य यह बतलाया गया कि इससे शांति वार्ता के लिए मार्ग खुलेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका और वियतनाम के प्रतिनिधियों में क्या समझौता होगा यह बहुत दूर की बात है क्योंकि उत्तर वियतनाम अभी केवल समझौता-वार्ता के लिए बातचीत चलाने के लिए राजी हुआ है। ३ अप्रिल को हनोई रेडियो ने युद्धबन्दी की अपनी पुरानी शर्तों का उल्लेख करते हुए अन्त में कहा था "जो कुछ भी हो, उत्तर वियतनाम सरकार ने बिना शर्त के बमबारी बन्द करने और हमारे खिलाफ युद्ध की दूसरी कार्रवाइयाँ बन्द करने के बारे में अमरीकी प्रतिनिधि से सम्पर्क करने का फैसला किया है जिससे कि बातचीत शुरू की जा सके।" हनोई की इस प्रतिक्रिया से वियतनाम में शान्ति की सम्भावना बढ़ गयी। लेकिन दोनों पक्षों के बीच कूटनीतिक दाव पेंच चलते रहे। पूरे अप्रिल भर इसी बात पर विवाद रहा कि शान्ति-वार्ता किस स्थान पर हो। अन्त में इसके लिए पेरिस स्थान नियत किया गया और १३ मई, १९६८ में उत्तर वियतनाम तथा अमरीकी प्रतिनिधियों के बीच वार्ताएँ शुरू भी हो गयीं।

पेरिस की शान्ति वार्ता—१३ मई, १९६८ से पेरिस में अमरीकी और उत्तर वियतनामी प्रतिनिधियों के बीच वियतनाम-विवाद को हल करने के लिए जो वार्ता चली उसकी प्रगति को देखकर यही अन्दाज लगाया गया था कि दोनों पक्ष एक दूसरे से अधिक-से-अधिक प्राप्त करने का यत्न करते रहे।

उत्तर वियतनाम प्रतिनिधिमण्डल के नेता हानोई की वही माँग दोहराते सुने जाते थे कि उत्तर वियतनाम पर तुरंत और बिना शर्त बमबारी बन्द करने से ही समस्या का समाधान हो सकता है। प्रति सप्ताह बातचीत की मेज पर यही वाक्य दोहराते उत्तर वियतनामी प्रतिनिधि को सुना जा सकता था। बार-बार दोहराये जाने वाले इस वाक्य की अमेरिकी प्रतिनिधि दल पर होने वाली प्रतिक्रिया का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। अमेरिकी प्रतिनिधि श्री हैरीमैन यह कहते सुने गये कि साढ़े तीन महीने की इस बातचीत में उत्तर वियतनामी प्रतिनिधि-दल की ओर से कोई और नया सुझाव नहीं आया। इस पर उत्तर वियतनामी प्रतिनिधि ने

उसी समय यह जवाब दिया कि जब तक आप हमारे देश पर आक्रमण जारी रखेंगे मैं बराबर यही कहता रहूँगा। इसी तरह अमेरिकी प्रतिनिधि बराबर यह कहते सुने जाते थे कि अमेरिका उसी हालत में उत्तर वियतनाम पर बमबारी बन्द कर सकता है जब हानोइ संघर्ष को फैलने न देने का आश्वासन दे। इसे उत्तर वियतनामी प्रतिनिधि द्वारा हमेशा अस्वीकार कर दिया जाता था, उस पर श्री हैरीमैन उत्तर वियतनामी से यही पूछते सुने जाते थे कि यदि हमने बमबारी बन्द भी कर दिया तो क्या होगा ? इस पर उत्तर वियतनामी प्रतिनिधि का यही उत्तर होता था : "तब हम बात करेंगे।" वार्तालाप का यह क्रम मध्य नवम्बर तक चलता रहा।

वार्ता का एक मुख्य विषय था कि सम्मेलन में कौन-कौन पक्ष भाग ले। उत्तर वियतनाम ने शुरू में ही स्पष्ट कर दिया था कि शान्ति वार्ता में राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा को पृथक् प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और अमेरिका इस प्रस्ताव पर राजी हो गया। लेकिन तब दक्षिण वियतनामी सरकार ने यह कह कर वार्ता में शामिल होने से इन्कार कर दिया कि वह राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा को मान्यता नहीं देता और इसलिए उसके साथ वार्ता नही कर सकता। अमेरिका के दबाव से बाध्य होकर, अन्त में २८ नवम्बर, १९६८ को दक्षिण वियतनामी सरकार पेरिस वार्ता में भाग लेने के लिए अपना प्रतिनिधि दल भेजने को बात पर सहमत हो गया। यह निश्चय हुआ कि ७ दिसम्बर से पूरी वार्ता प्रारम्भ होगी।

लेकिन पेरिस-वार्ता में पुनः गतिरोध उत्पन्न हो गया। 'कौन कहाँ बैठे' इस प्रश्न को लेकर सभी पक्ष पेरिस में उलझ गये। इस समस्या के समाधान के लिए हानोई और राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा के प्रतिनिधियों ने यह सुझाव दिया कि वार्ता एक गोलमेज पर हो। सम्बन्धित पक्ष अपनी इच्छानुसार उस पर बैठने का स्थान चुन सकते हैं। लेकिन वार्ता के दूसरे पक्ष पर अमेरिका और दक्षिण वियतनाम इस सुझाव को मानने के लिए तैयार नहीं हुए क्योंकि ये दोनों राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा को मान्यता नहीं देते और गोलमेज की बात मान लेने पर मोर्चा को इनकी मान्यता प्राप्त हो जाती थी। काफी वाद-विवाद के बाद किसी तरह इस समस्या का एक समाधान निकल गया और सम्मेलन की कार्यवाही शुरू होने की सम्भावना बढ़ गयी।

इसी बीच संयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपति का चुनाव हुआ और २० जनवरी, १९६९ को निक्सन ने कार्यभार सम्हाला। दक्षिण वियतनाम के शासक जॉनसन-प्रशासन द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि एवेरल हैरिमन को पसन्द नहीं करते थे, क्योंकि उनके अनुसार १९६२ की वार्ता में उन्होंने "लाओस को कम्युनिस्टों के हाथों बेच" दिया था। इस लिए उनका कहना था कि दक्षिण वियतनाम के हित उनके हाथ में सुरक्षित नहीं है। इस बात को ध्यान में रखते हुए नये राष्ट्रपति ने हैरिमन की जगह पर हैनरी कैबट लॉज को पेरिस वार्ता के लिए अमरीकी प्रतिनिधि नियुक्त किया।

६ फरवरी, १९६९ को पेरिस में वार्ता का तीसरा दौर प्रारम्भ हुआ, लेकिन गतिरोध ज्यों-का-त्यों बरकरार रहा। २३ फरवरी को वियतकांग छापामारों द्वारा दक्षिण वियतनाम पर भारी बमबारी की गयी। ८ मई, १९६९ को पेरिस सम्मेलन में राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा के प्रतिनिधि ने वियतनाम समस्या के समाधान के लिए एक दस-सूत्री योजना प्रस्तुत किया। इस प्रस्ताव में दक्षिण वियतनाम से विदेशी सेनाओं की वापसी और वहाँ के लिए अस्थायी संयुक्त सरकार के संगठन की बात कही गयी थी। दक्षिण वियतनाम से प्रस्ताव के आधार पर आगे वार्ता

के लिए तैयार हो गया लेकिन संयुक्त सरकार की बात उसे मान्य नहो थी। इसके पूर्व दक्षिण वियतनाम के राष्ट्रपति ने यह भी कहा था कि वे गुप्त रूप से राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा के प्रतिनिधियों के साथ बात कर सकते हैं। मई, १९६९ में अमेरिका ने वियतनाम से पचास हजार के लगभग अमरीकी सेनाओं को वापस बुलाने का भी फैसला किया और शान्ति-स्थापना के लिए एक सात-सूत्री प्रस्ताव रखा। इन सब बातों से मध्य १९६९ में ऐसा प्रतीत होता है कि वियतनाम की समस्या का कोई समाधान निकल जाय।

(३) पश्चिम एशिया और अरब जगत्

पश्चिम एशिया और अरब जगत् पर प्रभाव डालने वाले तत्त्व—विश्व की राजनीति में पश्चिम एशिया और अरब जगत ने दो विश्व-युद्धान्तर काल में एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इस क्षेत्र के प्रमुख देश हैं—फारस, इराक, इजरायल, सीरिया, जोर्डान, लेबनान, मिस्र, (संयुक्त अरब गणराज्य), अल्जीरिया, मोरक्को, ट्यूनिसिया, यमन, सऊदी अरेबिया आदि। इस क्षेत्र की राजनीति को समझने के पहले हमें उन तत्त्वों का अध्ययन करना पड़ेगा जिन्होने यहाँ की राजनीति को प्रभावित किया है।

मार्ग—पश्चिमी एशिया पूर्व और पश्चिम का संगम-स्थल है। पूर्व से पश्चिम के बीच आने-जाने का मार्ग इसी क्षेत्र से गुजरता है। महत्त्वपूर्ण स्वेज नहर इसी क्षेत्र में स्थित है तथा बड़ी-बड़ी हवाई कम्पनियो के जहाजों के वायुमार्ग इसी क्षेत्र से गुजरते हैं। इसलिए इस क्षेत्र पर बड़ी-बड़ी शक्तियाँ अपना प्रभुत्व रखना चाहती हैं। स्वेज का जलमार्ग यूरोप को दक्षिणी पूर्वी एशिया, आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा अफ्रिका से जोड़ता है। पश्चिमी यूरोप के औद्योगिक कारखानों में तैयार होने वाले माल दक्षिण-पूर्वी एशिया के इसी प्रदेश के जलमार्ग से होकर जाता है और उसे अपने उद्योग-धन्धों को चलाने का एक प्रधान आवश्यक तत्त्व पेट्रोल भी इसी मार्ग से प्राप्त होता है। स्वेज नहर के बन्द हो जाने से पूर्व और पश्चिम का व्यापार खत्म हो सकता है या उसमें बड़ी बाधा पड़ सकती है। अतएव इस जलमार्ग की सुरक्षा पश्चिमी यूरोप के लिए जीवन तथा मरण का प्रश्न है। इसीलिए द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संसार पर प्रभाव और आधिपत्य कायम करने के लिए अमेरिका और सोवियत संघ में होड़ चली तो यह क्षेत्र बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया। अमरीकी सरकार ने इस क्षेत्र के महत्त्व को निम्न दृष्टि से देखना शुरू किया : यदि पश्चिमी एशिया में सोवियत प्रभाव दृढ़ जाता है और पश्चिमी यूरोप के लिए यह मार्ग बन्द हो जाता है तो तेल सुगमतापूर्वक उपलब्ध न होने से उसका सारा आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त तथा विछिन्न हो जाता है। इस कारण पश्चिमी यूरोप और अमेरिका इस क्षेत्र में अपने विरोधी सोवियत संघ की प्रभाव-वृद्धि को कभी सहन नहीं कर सकते!

पश्चिमी एशिया के देशों का एक बड़ा महत्त्व यह भी है कि ये इस समय टर्की से अफगानिस्तान तक सोवियत संघ की सीमा माने जाते हैं। यदि इन देशों में अमेरिका को सैनिक अड्डे प्राप्त हो जायें तो युद्ध होने की स्थिति में वहाँ सुगमतापूर्वक आक्रमण किया जा सकता है। इसी दृष्टि से इस क्षेत्र में सैनिक संगठनों की स्थापना की गयी। बगदाद पैक्ट का निर्माण इसी दृष्टिकोण से किया गया। बगदाद सन्धि के खत्म होने पर केन्द्रीय सन्धि-संगठन को कायम करने का भी यही उद्देश्य था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पश्चिमी राज्य विशेषतया ब्रिटेन इस क्षेत्र से अपनी सेना हटाना नहीं चाहता था जिसके कारण मिस्र, ईराक इत्यादि देशों

में प्रवल राष्ट्रीय आन्दोलन चला। युद्ध के बाद अमेरिका ने इस क्षेत्र में अपने सैनिक अड्डे कायम करने शुरू किये। इस समय अमेरिका के पास धाहरन (सऊदी अरेबिया) में एक बहुत बड़ा हवाई अड्डा है और यहाँ अमरीकी सेना भी रहती है। और भी, कई अन्य जगहों पर इसके अनेक फौजी अड्डे हैं। उसके समुद्री बेड़े इस क्षेत्र के समुद्रों पर चक्कर काटते रहते हैं। पूर्व से पश्चिम को यात्रियों तथा माल ढोने वाले अमरीकी हवाई कम्पनियों के मार्गों का जाल भी इस क्षेत्र में विस्तीर्ण है।

स्वेज की भाँति भूमध्य सागर का तथा इसे कृष्ण सागर के साथ जोड़नेवाले जलडमरूमध्यों का भी बड़ा सामरिक महत्त्व है। इस समय इन पर तुर्की का अधिकार है। पिछले शताब्दी से रूस इन्हें तुर्की से हस्तगत करके भूमध्यसागर में पहुँचना चाहता था। लेकिन ब्रिटेन के विरोध के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। फिर भी, रूस इस पर आधिपत्य करने की महत्त्वाकांक्षा पालता रहा। द्वितीय, विश्व-युद्ध की समाप्ति पर भी उसने तुर्की पर इसके लिए दवाव डाला, किन्तु पश्चिमी राज्यों के तीव्र विरोध के कारण वह अभी तक इस उद्देश्य में सफल नहीं हो सका। यदि रूस इन जलडमरूमध्यों पर अधिकार कर ले तो उसके जंगी जहाज पूर्वी भूमध्य सागर से होकर एशिया और आस्ट्रेलिया को जानेवाले मार्ग की सुरक्षा को संकट में डाल सकते हैं। इस क्षेत्र की सुरक्षा की दृष्टि से रूस का इस क्षेत्र में प्रवेश अवांछनीय माना जाता है। इन जलडमरूमध्यों को रूस के हाथ में जाने देने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि यूनान और तुर्की को रूसी माँगों का तथा आक्रमण का प्रतिरोध करने में समर्थ बनाया जाय। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद ट्रूमैन सिद्धान्त तथा आइजनहावर सिद्धान्त की घोषणा इसी दृष्टि से की गयी। इसी प्रकार भूमध्यसागर के तट पर यदि रूस को कोई अनुकूल देश प्राप्त हो जाय तो पश्चिम का मित्र तुर्की उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओं से घिर जायगा और तब उस हालत में पश्चिमी देशों के लिए पूर्वी भूमध्यसागर में अपनी स्थिति बनाये रखना बड़ा कठिन हो जायगा। इसलिए पश्चिम को यह विशेष चिन्ता है कि सीरिया और लेबनान में सोवियत प्रभाव न बढ़ने पाये। *इसी कारण आइसनहावर सिद्धान्त के अनुसार १५ जुलाई, १९५८ को लेबनान में अमरीकी फौजें* उतारी गयी थीं।

तेल-भण्डार—पश्चिमी एशिया की महत्ता का दूसरा कारण वर्तमान औद्योगिक जीवन के एक प्रमुख आधार पेट्रोल का यहाँ प्रचुर मात्रा में पाया जाना है। विश्व में पेट्रोल जितना पैदा होता है, उसका ६६ प्रतिशत भाग इसी क्षेत्र से निकाला जाता है और यहाँ इससे भी अधिक तेल मिलने की सम्भावना है। यह तेल यूरोप के आर्थिक जीवन की जान है। सोवियत रूस के लिए यह प्रबल आकर्षण है और पश्चिमी एशिया के उद्योगहीन गरीब देशों के लिए आय का मुख्य स्रोत है अपने उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए सारा यूरोप इसी पर आश्रित है। यदि यूरोप को यहाँ से तेल का मिलना बन्द हो जाय तो वहाँ का सारा जीवन ठप्प पड़ जायगा। वहाँ के वायुयान, समुद्री जहाज, मोटरें, गाड़ियाँ और कल-कारखानों का चलना एकदम बन्द हो जा सकता है। युद्धकाल में यदि यह प्रदेश पश्चिम के हाथ में नहीं रहा तो युद्ध में उसका लड़ना भी असम्भव हो जायगा। इस कारण पाश्चात्य जगत् इस क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व बनाये रखना चाहता है।

तेल को लेकर पश्चिम एशिया के देशों पर यूरोपीय देश तथा अमेरिका का आर्थिक नियन्त्रण भी कायम हो गया। जो कम्पनियाँ इस क्षेत्र की खानों से तेल निकालती हैं, उनको साफ करके उनका वितरण करती हैं, वे मुख्यतः यूरोपीय और अमेरिकी हैं। इस समय अमेरिका की एक अरब डालर की पूँजी पश्चिमी एशिया के तेल-व्यापार में लगी हुई है। उसने रास अल तनूरा, कुवैत और बहरीन में तेल शोधक कारखाने बनाये हैं और सऊदी अरेबिया से लेबनान के समुद्रतट तक पाइप-लाइन बना ली हैं। इस प्रदेश में इतनी पूँजी लगी होने तथा तेल-जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु की प्राप्ति का स्रोत होने के कारण अमेरिका इन देशों में अपना पूरा प्रभुत्व बनाये रखना चाहता है। यहाँ सोवियत-प्रभाव की वृद्धि उसे एकदम सह्य नहीं है। इस कारण भी इस समय यह क्षेत्र दोनों महाशक्तियों के बीच संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ है।

राष्ट्रीयता :—पश्चिमी एशिया की राजनीति का एक मुख्य तत्त्व वहाँ के देश की राष्ट्रीयता है। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय सम्पर्क तथा बीसवीं शताब्दी में यूरोपीय साम्राज्यवाद के कारण इस क्षेत्र में राष्ट्रीयता की भावना का बड़ा विकास हुआ है। इस राष्ट्रीयता की मुख्य विशेषता पश्चिमी साम्राज्यवाद का उग्र विरोध तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है। यह राष्ट्रीयता आर्थिक और सामाजिक सुधारों पर भी बल देता है। पश्चिमी देशों ने अपने आर्थिक स्वार्थों को ध्यान में रखते हुए इन देशों पर राजनीतिक प्रभुता स्थापित की थी और उसके बाद निरन्तर इन देशों का साम्राज्यवादी शोषण हो रहा है। इसके कारण इन देशों की अर्थव्यवस्था का समुचित विकास नहीं हो रहा है। इसके लिए पश्चिमी एशिया के देश निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं और द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद उनको इसमें काफी सफलता भी मिली है।

यहूदीवाद :—पश्चिमी एशिया की राजनीति को यहूदीवाद ने बड़ा ही प्रभावित किया है। इसका उद्देश्य फिलिस्तीन में यहूदियों के एक राज्य को पुनः स्थापित करना था। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के विभिन्न राज्यों और अमेरिका में यहूदी बसे हुए थे। लेकिन यूरोप के कुछ देशों में उन पर भीषण अत्याचार होने लगा था। अतएव वे उन देशों को छोड़ कर भाग रहे थे और फिलिस्तीन में अपने एक राज्य की स्थापना करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने बड़ा ही संगठित आन्दोलन चलाया। उस समय (प्रथम विश्व-युद्ध के बाद) फिलिस्तीन पर अँगरेजों का संरक्षण था। अँगरेजों की ओर से यहूदी आन्दोलन को बड़ा प्रोत्साहित किया गया। लेकिन फिलिस्तीन के अरब-निवासी इस यहूदी राज्य की स्थापना के बड़े विरोधी थे। यहूदीवाद का उन्होंने बड़ा कड़ा विरोध किया, किन्तु उनके विरोधों के बावजूद १९४६ में इजरायल नामक यहूदी राज्य की स्थापना फिलिस्तीन में हो गयी। इस राज्य की स्थापना में अमेरिका ने यहूदियों की बड़ी मदद की थी। इसलिए सारे अरब राज्य अमेरिका के कट्टर विरोधी हो गये। फिलहाल अरब राज्यों की नीति इस यहूदी राज्य का विरोध करना, उस पर सशस्त्र आक्रमण करके उसका नामोनिशान मिटा देना है। इस कारण इस क्षेत्र की स्थिति हमेशा तनावपूर्ण रहती है। यहूदियों और अरबों में बराबर संघर्ष होते रहते हैं।

अरब राष्ट्रीयता का विस्फोट :—पश्चिम एशिया में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रीयता का प्रबल तूफान आया। दूसरी ओर आंग्ल-अमरीकी गुट विविध लाभों को ध्यान में रखकर इस क्षेत्र पर अपना आर्थिक और सैनिक नियन्त्रण कायम रखना चाहता था। इस कारण अरब राष्ट्रवाद तथा पश्चिमी साम्राज्यवाद में सीधी टक्कर हो गयी। इस टक्कर में सोवियत संघ ने

[illegible]

विश्व-राजनीति में मिस्र

मिस्र और ब्रिटेन का सम्बन्ध — [illegible] ब्रिटेन [illegible] १९२२ में ब्रिटेन ने मिस्र को एक [illegible] राज्य घोषित कर दिया। लेकिन ब्रिटेन इस [illegible] को [illegible] होता रहा। [illegible] तब से मिस्र में ब्रिटेन के खिलाफ बराबर [illegible] चलता रहा।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद तक मिस्र और ब्रिटेन का सम्बन्ध १९३६ की सन्धि के आधार पर कायम था जिसकी [illegible] वर्ष की थी। यद्यपि इस सन्धि के द्वारा मिस्र को स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया था तो भी उसकी भूमि पर ब्रिटिश सेना रहती थी और उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के बहुत रास्ते मौजूद थे। फलतः १९३६ में [illegible] ब्रिटेन ने मिस्र पर पुनः अपना साम्राज्यवादी शिकंजा मजबूत कर लिया।

युद्ध समाप्त हो जाने पर मिस्र ने १९३६ की सन्धि में संशोधन तथा मिस्र से ब्रिटिश फौज हटाने की माँग की। साथ ही उसने यह माँग भी की कि सूडान की समस्या का हल दोनों देशों की एकता के आधार पर होनी चाहिए। १९४६ में काफी विचार-वार्ता के बाद ब्रिटेन और मिस्र में यह तय पाया कि ३१ मार्च, १९४६ तक स्वेज क्षेत्र तथा सितम्बर, १९४९ तक शेष मिस्री प्रदेश से ब्रिटेन अपनी सेना हटा लेगा। किन्तु सूडान के प्रश्न पर गतिरोध हो जाने से यह समझौता लागू नहीं हो सका।

जुलाई १९४७ में मिस्र ने सुरक्षा-परिषद् से अपील की कि वह अँगरेजी सेना हटाने में उसकी सहायता करे और सूडान से ब्रिटिश शासन का अन्त कराये। ब्रिटेन ने १९३६ की सन्धि का हवाला देते हुए मिस्र में अपनी सेना रखने के अधिकार को उचित बतलाया। सुरक्षा-परिषद् इस पर कोई निर्णय नहीं ले सकी।

इसके बाद मिस्र में ब्रिटिश विरोधी भावना बड़ी उग्र हो गयी। अक्टूबर, १९५१ में मिस्री प्रधानमन्त्री नहस पाशा ने १९३६ की सन्धि के रद्द होने की घोषणा कर दी और ब्रिटेन से अनुरोध किया कि वह अपनी सेना वापस बुला ले। उस समय मिस्र का राजा फारूक था। अँगरेजों का उस पर गहरा प्रभाव था। उनके बहकावे में आकर उसने नहस पाशा को बर्खास्त कर दिया। मिस्र की सेना में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। २३ जुलाई, १९५२ को काहिरा में बादशाह के विरुद्ध एकाएक सैनिक क्रान्ति हो गयी। इसके नेता जेनरल नगीब और कर्नल नासिर थे। पुरानी सरकार को अपदस्थ करके नगीब की अध्यक्षता में एक सैनिकतन्त्र की स्थापना हुई। फारूक मिस्र छोड़कर भाग गया।

क्रान्तिकारी सरकार ने देश की उन्नति के लिए अनेक कार्य किये। लेकिन प्रमुख प्रश्न मिस्र की भूमि से अंग्रेजी सेना को हटाना था। उधर ब्रिटेन हटने का नाम नहीं ले रहा था। अंग्रेजों के खिलाफ मिस्र वाले ने आतंकवादी आन्दोलन शुरू किया। इसका स्वरूप इतना उग्र हो गया कि जुलाई, १९५४ में ब्रिटेन को मिस्र के साथ समझौता करके यह वादा करना

पड़ा कि उसकी सेना बीस महीनों के अन्दर स्वेज नहर-क्षेत्र खाली कर देगी। इस समय तक देशद्रोह के अभियोग में नगीव को वर्खास्त कर दिया गया था और कर्नल नासिर मिस्र का शासनाध्यक्ष वन चुका था।

मिस्र का राष्ट्रपति नासिर एक कट्टर राष्ट्रवादी और पाश्चात्य साम्राज्यवाद का कट्टर दुश्मन है। यह नील नदी में अस्वान-बाँध का निर्माण करना चाहता था। यह अमेरिका और ब्रिटेन की सहायता से ही सम्भव था। अमेरिका ने उसके सामने यह प्रस्ताव रखा कि यदि वह आंग्ल-अमेरिकी गुट में सम्मिलित हो जाय तो उसको मुँहमाँगी मदद दी जा सकती है, लेकिन नासिर ने इन्कार कर दिया। जब अमेरिका को पूरी तरह पता चल गया कि नेहरू की तरह नासिर उसके जाल में फँसने वाला नहीं है तव उसने अस्वान-बाँध के लिए वेशर्त मदद देने का वादा कर दिया।

इस समय फिलिस्तीन-युद्ध के लिए मिस्र को अस्त्र-शस्त्र की जरूरत पड़ी। अमेरिका ने यह जानकर कि इन शस्त्रों का प्रयोग इजरायल पर होगे, अस्त्र-शस्त्र देने से इन्कार कर दिया। नासिर अब सोवियत गुट से अस्त्र-शस्त्र खरीदने लगा। यह वात अमेरिका को एकदम पसन्द नही आयी। उसने उसे फिर से डराना-धमकाना शुरू किया। जब नासिर इस पर भी उसके मनोनुकूल काम करने को तैयार नहीं हुआ तो अमेरिका और ब्रिटेन ने कह दिया कि अस्वान-बाँध के लिए वे कोई मदद नही देंगे।

स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण—नासिर ईंट का जवाव पत्थर से देना जानता था। उसने तुरत ही स्वेज-नहर का राष्ट्रीयकरण (२६ जुलाई, १९५६) कर दिया। स्वेज-नहर के अधिकांश शेयर ब्रिटेन और फ्रांस के थे। इन देशो ने काफी हो-हल्ला मचाया। स्वेज-नहर को वन्द कराने के अनेक प्रयास किये गये। नासिर को डराने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किये गये और जव इस पर फौलादी तत्त्वो का बना नासिर नही झुका तो इस प्रश्न को सुरक्षा-परिषद् में ले जाया गया। यहाँ भी समस्या का कोई समाधान नहीं हो सका। निराश होकर ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल ने मिलकर २९ अक्टूबर को मिस्र पर आक्रमण कर दिया। नासिर ने बहादुरी के साथ शत्रुओं के साथ सामना किया। अन्त में सोवियत संघ की धमकी से डरकर आक्रमणकारियों को युद्ध वन्द करना पड़ा। ७ नवम्बर को युद्ध समाप्त हो गया। स्वेज नहर पर मिस्र का पूर्ण अधिकार कायम हो गया। अब मिस्र अकेले ही उसका संचालन कर रहा है।

स्वेज-नहर की इस घटना के फलस्वरूप पश्चिमी एशिया के देशों में ब्रिटेन की प्रतिष्ठा बहुत अधिक नीचे गिर गयी। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री एन्थोनी ईडन को पदत्याग करना पड़ा और इस क्षेत्र से ब्रिटेन का प्रभाव सदा के लिए खत्म हो गया।

पश्चिमी एशिया और अरब दुनिया में कर्नल नासिर का व्यक्तित्व अत्यन्त महत्त्वशील है। वह अरब राष्ट्रीयता और एकता का प्रतीक माना जाता है। सारे अरब जगत् में "नासिरवाद" एक जबरदस्त आन्दोलन हो गया है। इस क्षेत्र के किसी भी घटना में उसके व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव आवश्य रहता है। वह समूचे अरब जगत् का त्राता और रक्षक माना जाता है। विदेश-नीति में नासिर 'तटस्थतावाद' का समर्थक है।

फारस और ब्रिटेन :—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद राष्ट्रीयता की जो लहर एशियाई देशों में चली उससे फारस अछूता नहीं रह सका। फारस यद्यपि एक स्वतन्त्र राज्य था, फिर भी प्रत्येक दृष्टि से उस पर ब्रिटेन का प्रभाव था। इस देश के आर्थिक जीवन का आधार पेट्रोल की खानें हैं और इस पर आंग्ल ईरानी-तेल-कम्पनी का पूर्णतया अधिकार था। १ मई, १९५१ को फारस की संसद् (मजलिस) ने इस कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर दिया। डा० मुसद्दिक उस समय फारस के प्रधान मन्त्री थे। ब्रिटेन ने उसकी सरकार को उखाड़ फेंकने के अनेक प्रयास किये। जब उसको इस कुकार्य में सफलता नहीं मिली तो इस विवाद को सुरक्षा-परिषद् में ले जाया गया। सुरक्षा-परिषद् इसका कोई समाधान नहीं निकाल सकी। यह मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भी गया। न्यायालय ने यह फैसला दे दिया कि यह मामला उसके क्षेत्राधिकार से बाहर है।

जब साम्राज्यवादियों ने देखा कि किसी तरह उनकी दाल नहीं गलती तब वे मुसद्दिक-सरकार को उलटने का षड्यन्त्र करने लगे। इसके लिए शाह का समर्थन पाना आवश्यक था। शाह षड्यन्त्रकारियों के चक्रमें में आ गया। १५ अगस्त, १९५३ को कर्नल नासीर के नेतृत्व में मुसद्दिक-सरकार को उलटने का प्रथम प्रयास हुआ। यह विद्रोह असफल रहा। विद्रोह कुचल दिये गये। शाह रोम भाग खड़ा हुआ। जाते-जाते उसने मुसद्दिक को बर्खास्त कर दिया और उसकी जगह जेनरल जहदी को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया। १९ अगस्त को मुसद्दिक के विरुद्ध एक दूसरा विद्रोह हो गया। यह विद्रोह सफल हुआ। मुसद्दिक कैद कर लिया गया। उसपर मुकदमा चलाया गया और तीन साल की सजा दी गयी। अगस्त, १९५६ को उसे मुक्त कर दिया गया।

८ अगस्त, १९५४ को तेल-विवाद का 'समाधान' हो गया। इसके अनुसार फारस के तेल कूपों का संचालन अब आठ अन्तर्राष्ट्रीय तेल कम्पनियों की एक संयुक्त संस्था द्वारा होता है। फारस को मुनाफा का लगभग पचास प्रतिशत हिस्सा मिल जाता है।

ईराक की क्रान्ति :—युद्धोत्तर काल में एशिया में पश्चिमी साम्राज्यवाद का सबसे जबर्दस्त गढ़ ईराक था, जहाँ पर शाह फैजल और उसके प्रधानमन्त्री नूरी सईद साम्राज्यवाद के एजेन्ट के रूप में अपना स्वेच्छाचारी शासन कर रहे थे। मध्यपूर्व में बगदाद अमेरीकी सुरक्षा-पद्धति का केन्द्र था। कुख्यात 'बगदाद-सन्धि' का संचालन वहीं से होता था। १४ जुलाई, १९५८ को उस सन्धि-संगठन की एक बैठक इस्ताम्बुल में होनेवाली थी। कहा जाता है कि जिस समय शाह फैजल और नूरी सईद इस्ताम्बुल जाने की तैयारी कर रहे थे, उसी समय ईराकी सेना के प्रगतिशील अफसरों ने सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। यह क्रांति पूर्णरूपेण सफल रही। ईराक का प्रतिक्रियावादी तानाशाह नूरी सईद शाही परिवार के साथ मौत के घाट उतार दिये गये। कर्नल कासिम के नेतृत्व में ईराक में एक गणतन्त्र की स्थापना की गयी। नयी क्रान्तिकारी सरकार ने 'बगदाद सन्धि' के प्रधान दफ्तर में अपना ताला बन्द कर दिया।

युद्धोत्तर-काल की क्रान्तियों में इराक की यह क्रान्ति सबसे महत्त्वपूर्ण क्रान्ति थी। बगदाद पश्चिमी साम्राज्यवाद का गढ़ था और इसी गढ़ में आग लग गयी। नूरी सईद-जैसा वफादार भाड़े का टट्टू पश्चिमी देशों को आज तक नहीं मिले थे। 'बगदाद-सन्धि' उसी का

सृजन था। उसकी मौत के साथ-साथ ऐसा प्रतीत होने लगा कि अरब-जगत् से पश्चिमी साम्राज्यवाद की अन्तिम निशानी मिट चुकी है। अमेरिका और ब्रिटेन इस स्थिति को कबूल नहीं कर सकते थे। ठीक इसी समय लेबनान में एक गृह-युद्ध चल रहा था। विद्रोहियों को दबाने के लिए लेबनान की सरकार अमरीकी सैन्य-सहायता की याचना कर रही थी। ईराकी-क्रान्ति के तुरत बाद अमेरिका ने लेबनान में अपनी फौज उतार दी। उधर जोर्डान के शाह से ब्रिटेन को अनुरोध कराया गया कि वह भावी सकट को टालने के लिए ब्रिटेन से सैनिक मदद ले। कुछ ही घंटो में ब्रिटिश फौज भी जोर्डान में उतर गयी। अमरीकी और ब्रिटिश फौज को लेबनान और जोर्डान में लाने का असल उद्देश्य यह था कि मौका पाकर ईराक पर आक्रमण कर नयी क्रान्तिकारी सरकार को खत्म कर दिया जाय। राष्ट्रपति नासिर ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि यदि ईराक पर कोई आक्रमण हुआ तो मिस्र चुपचाप नहीं बैठा रहेगा। वह दौड़ा मास्को गया और ख्रुश्चेव से बातें करके सोवियत-आश्वासन प्राप्त कर लिया। सोवियत संघ ने भी घोषणा कर दी कि यदि ईराक में हस्तक्षेप हुआ तो तृतीय विश्व-युद्ध छिड़ सकता है। अमेरिका और ब्रिटेन को पता चल गया कि ईराक में उनकी दाल नहीं गलेगी। अतः कुछ ही दिनो के बाद उन्होंने अपनी सेना को वापस बुला लिया। इस तरह एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय संकट टल गया।

१९६३ की क्रांति :—१९५८ से १९६३ के मार्च तक ईराक में कर्नल कासिम के नेतृत्व में सैनिकतंत्र कायम रहा। शुरू में तो ईराक के क्रान्तिकारी नेताओं को कर्नल नासिर की सहानुभूति प्राप्त थी, लेकिन वे मिस्र के प्रभाव से अपने को मुक्त रखना चाहते थे। अतएव मिस्र और ईराक का सम्बन्ध तुरत बिगड़ गया। इसका एक और कारण था। कर्नल कासिम साम्यवादी विचार धारा से कुछ प्रभावित था और इराकी कम्युनिस्टो का समर्थन भी उसे प्राप्त था। इन सब बातों को लेकर ईराक की आन्तरिक राजनीति बड़ी तनावपूर्ण रहती थी। सेना भी दो दलो—नासिर पक्षी और नासिर विरोधी—में बँटी थी। मार्च १९६३ में नासिरवाद के पक्षपाती सैनिक अफसरो ने एक दूसरी क्रान्ति करके कासिम की सरकार को उलट दिया और उसकी हत्या कर दी।

अरब-एकता

संयुक्त अरब गणराज्य :—अरब देशो में राष्ट्रीयता का अर्थ अरब राज्यों की एकता भी है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इस आन्दोलन ने जड़ पकड़ ली है और अरब राज्यों में अपने को एक सूत्र में बाँधने की इच्छा बड़ी प्रबल हो रही है। १९४५ में अरब लीग की स्थापना इसी एकता की भावना का परिणाम था। अरबों के मध्य में इजरायल के सृजन से इस भावना को और भी बल मिला है। अतएव अरब देशों में एकता के लिए सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर एक आन्दोलन चल पड़ा है। स्वेज युद्ध के इर्द-गिर्द जोर्डान, सीरिया और मिस्र को मिलाकर एक संघ कायम करने की बात चल रही थी। जोर्डान पीछे चल[illegible] इससे अलग हो गया। तब १९५७ में सीरिया और मिस्र को मिलाकर एक संयुक्त [illegible] (U. A. R.) बना लिया गया। सीरिया और मिस्र एक [illegible] गये। [illegible] जोर्डान और ईराक ने मिलकर अपना एक अलग संघ का[illegible] लेकिन [illegible] की-क्रान्ति [illegible] फलस्वरूप इस संघ का अन्त हो गया।

सीरिया और मिस्र का संयुक्त अरब गणराज्य वस्तुतः एकता का परिणाम न होकर सीरिया में साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का प्रयास था। पश्चिम एशिया में सीरिया एक ऐसा राज्य था जिसका सोवियत गुट के देशों के साथ बड़ा अच्छा सम्बन्ध था और इस अच्छे सम्बन्ध में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। इस कारण यह भावना पुष्ट होने लगी कि सीरिया तुरत ही साम्यवादी व्यवस्था अपना लेगा। वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी भी बहुत शक्तिशाली थी। इस स्थिति में यह अफवाह बराबर उड़ती थी कि पश्चिमी देश किसी-न-किसी बहाने सीरिया में हस्तक्षेप करेंगे। इस सम्भावना से बचने के लिए सीरिया ने मिस्र के साथ मिल जाने का निर्णय किया।[1]

मिस्र के साथ मिल जाने से सीरिया को राजनीतिक और आर्थिक घाटा हुआ। इस संघ के निर्माण से सीरिया को कोई लाभ नहीं पहुँचा और उसकी आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ गयीं। अतएव सितम्बर, १९६१ में सीरिया में कुछ सैनिक अफसरों ने क्रान्ति करके संयुक्त अरब गणराज्य से निकल जाने की घोषणा कर दी। राष्ट्रपति नासिर ने पहले तो इसका विरोध किया और सीरिया में इस "विद्रोह" को दबाने के लिए एक सेना भी भेजी गयी। लेकिन जब सीरिया ने प्रतिरोध करने का निश्चय किया तो सेना वापस बुला ली गयी। संयुक्त अरब गणराज्य में सम्मिलित होने कारण सीरिया के संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता समाप्त हो गयी थी। लेकिन मिस्र से अलग होने पर उसने फिर संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करने की इच्छा प्रदर्शित की और उसे पुनः संघ की सदस्यता दे दी गयी।

मार्च, १९६३ में ईराक की क्रान्ति के तुरत बाद सीरिया में भी एक क्रान्ति हो गयी। इस सैनिक क्रान्ति के नेता नासिर के पक्षपाती थे। अतएव अब फिर यह चर्चा चल पड़ी कि ये तीनों अरब राज्य (ईराक, सीरिया और मिस्र) मिलकर एक संघ बना लें। लेकिन इसका कोई नतीजा नहीं निकला।

अरब लीग :—अरब एकता को कायम रखने तथा उसे पुष्ट करने के उद्देश्य से २२ मार्च, १९४५ को काहिरा में अरब राष्ट्रों ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर करके एक संघ का निर्माण किया जिसको अरब लीग (Arab League) कहते हैं। इस संघ में पहले सात राज्य शामिल हुए थे: मिस्र, इराक, सीरिया, जोर्डान, सउदी अरब, यमन और लेबनान। बाद में लीबिया भी इसमें शामिल हुआ। १९५६ में सूडान, १९५८ में ट्यूनिशिया और मोरक्को, १९६१ में कुवैत तथा १९६२ में अल्जीरिया इसके सदस्य बन गये। अरब लीग का प्रमुख उद्देश्य सदस्य-राष्ट्रों के बीच हुए समझौतों को क्रियात्मक रूप देना, उनके आपसी सम्बन्ध को सुदृढ़ बनाना, समय-समय पर इसकी बैठकें बुलाना, राजनीतिक क्षेत्र में सहयोग, सदस्य-राष्ट्रों की स्वाधीनता एवं प्रभुसत्ता की रक्षा, अरब राष्ट्रों से सम्बद्ध कार्यों पर विचार-विमर्श तथा आर्थिक, वित्तीय, सांस्कृतिक एवं परिवहन सम्बन्धी क्षेत्रों में पारस्परिक सहयोग करना है।

लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सदस्य राष्ट्रों के आपसी झगड़े, वैमनस्य तथा कटुता के कारण अरब लीग अभी तक कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर पाया है। अरब राज्यों में एकता का

१. मार्च, १९५८ में अपनी स्वतन्त्रता और राजनैतिक सत्ता कायम रखते हुए यमन भी संयुक्त अरब गणराज्य में सम्मिलित हुआ था। लेकिन जनवरी १९६० में उसने संयुक्त अरब गणराज्य से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

सर्वथा अभाव है। पश्चिमी शक्तियाँ अपने स्वार्थ-साधन के लिए उनमें हमेशा फूट डालती आयी हैं। फलस्वरूप इस संघ में वह मजबूती नही पायी जाती जिसकी आवश्यकता है। कुछ अरब राज्यो ने आइसनहावर सिद्धान्त को मानकर इस संगठन की जड़ को खोखला बना दिया है। मिस्र की महत्त्वाकांक्षा से भी इसको आघात पहुँचा है। राष्ट्रपति नासिर इस संघ पर अपना प्रभुत्व कायम रखना चाहता है और अन्य अरब राज्य इसका विरोध करते हैं। इसलिए १९५६ में ट्यूनिशिया इससे अलग हो गया था, लेकिन १९६१ में वह पुनः लीग में शामिल हो गया।

अरब-इजरायल सम्बन्ध

फिलिस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना :—फिलिस्तीन के अन्तर्गत एक यहूदी-राज्य कायम हो, इसके लिए यहूदी जाति के लोग बहुत दिनों से प्रयास करते आ रहे थे। प्रथम विश्व-युद्ध के समय और बाद जब फिलिस्तीन पर ब्रिटिश संरक्षण स्थापित हुआ तब यह आन्दोलन और भी प्रबल हो गया। यहूदी आन्दोलन के साथ ब्रिटिश सरकार की पूरी सहानुभूति था। लेकिन दो विश्व-युद्धो के मध्य के काल में फिलिस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना नही हो सकी। उस समय फिलिस्तीन मुख्य रूप से अरबों की बस्ती थी और उन्होंने अपनी भूमि पर किसी भी यहूदी राज्य को स्थापना का प्रबल विरोध किया। फलतः द्वितीय विश्व-युद्ध तक यहूदियों को अपने लक्ष्य-पूर्ति की दिशा में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली।

१९४५ में द्वितीय विश्व-युद्ध के खत्म होते ही फिलिस्तीन में यहूदी आन्दोलन पुनः सक्रिय हो उठा। फिलिस्तीन पर अभी भी ब्रिटिश संरक्षण कायम था। जब १९४५ में ब्रिटेन में आम चुनाव हुआ और लेबर पार्टी सत्तारूढ़ हुई तो यहूदियो को इससे प्रसन्नता हुई। उनका विश्वास था कि नयी सरकार उनकी माँगो पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेगी। लेकिन जब लेबर पार्टी की सरकार ने इस दिशा में कोई कदम नही उठाया तो यहूदी व्यग्र हो उठे और उपद्रव मचाने लगे। युद्ध के समाप्त होते ही फिलिस्तीन में अरबों और यहूदियो के सैनिक संगठन काम हो गये थे। इसका नतीजा यह हुआ कि फिलिस्तीन अरबो और यहूदियों के बीच गृह युद्ध की आग में झुलसने लगा। चारों ओर अशान्ति और अराजकता फैल गयी। यहूदी लोग फिलिस्तीन में इस तरह की अव्यवस्था पैदा कर देना चाहते थे कि अंग्रेज फिलिस्तीन छोड़कर भाग जायँ और तब वे अरबों को पराजित करके अपने राज्य की स्थापना कर लें।

युद्धोपरान्त ब्रिटेन एक अत्यन्त कमजोर राष्ट्र बन गया। फिलिस्तीन में व्यवस्था कायम रखना उनके सामर्थ्य को बात नही रही। ब्रिटेन ने स्थिति को काबू से बाहर जाते देख फिलिस्तीन को छोड़ने का निश्चय कर लिया और १९४७ में सारा मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ को सौंप दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने स्थिति की जाँच-पड़ताल के लिए एक विशेष आयोग नियुक्त किया। ३० अगस्त, १९४७ को इस आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसमें यह सिफारिश की गयी थी कि फिलिस्तीन को दो भागों में विभाजित कर दिया जाय : एक भाग में अरब राज्य की स्थापना हो और दूसरे में यहूदी राज्य की। इसके बाद जेरुजेलम के विशेष क्षेत्र की रचना की जाय और उसमें अन्तर्राष्ट्रीय शासन की व्यवस्था हो। संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने आयोग द्वारा प्रस्तावित योजना को स्वीकार कर लिया और इसको कार्यान्वित करने के

लिए एक फिलिस्तीन आयोग नियुक्त किया। ग्रेट ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि वह १५ मई, १९४८ को संरक्षण की अवधि पूरी होने पर अपनी सेनाएँ और प्रभुत्व फिलिस्तीन से हटा लेगा।

फिलिस्तीन आयोग ने बड़ी कठिन परिस्थिति में अपना काम प्रारम्भ किया। संघ द्वारा निर्धारित फिलिस्तीन विभाजन की योजना यहूदियों और अरबों दोनों के लिए असन्तोषजनक थी। अरब इस बात पर तुले हुए थे कि उनकी मातृभूमि से कोई विदेशी राज्य स्थापित नहीं हो। दूसरी ओर यहूदी लोग अपना राज्य कायम करने के लिए दृढ़ निश्चय थे। फलतः दोनों ही पक्षों ने अपनी इच्छा की पूर्त्ति के लिए संघर्ष का सहारा लिया और फिलिस्तीन गृह-युद्ध का अखाड़ा बन गया। दोनो पक्षों ने घोर हिंसापूर्ण उपायों का आश्रय लिया।

प्रथम अरब-इजरायल युद्ध (१९४८):—१४-१५ मई, १९४८ को मध्य रात्रि में फिलिस्तीन पर से ब्रिटेन ने अपना प्रभुत्व हटा लिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के फैसले के लिए इन्तजार न करके यहूदियों ने उसी समय तेल अवीव में इजरायल राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। इस नये राज्य को तुरत ही संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ और ब्रिटेन की मान्यता मिल गयी।

अरब राष्ट्र इजरायल की स्थापना को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। जिस दिन इस यहूदी राज्य की स्थापना हुई उसी दिन मिस्र, जोर्डान, ईराक और सीरिया की सेनाएँ फिलिस्तीन में घुस पड़ीं और इजरायल पर आक्रमण शुरू कर दिया। लेकिन इजरायल ने डटकर अरबों का मुकाबला किया और अपने उत्कृष्ट रण कौशल तथा विदेशी सहायता के कारण विजयी रहा। इस युद्ध के दौरान में लाखों अरबों को इजरायल छोड़ कर भागना पड़ा। संयुक्त राष्ट्रसंघ के मध्यस्थ राल्फ बुँच के प्रयत्नों से १९४९ में दोनों पक्षों के बीच युद्ध बन्द हुआ।

जिस समय दोनों पक्षों में युद्ध बन्द हुआ उस समय इजरायल का पलड़ा बहुत भारी था। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इजरायल का क्षेत्रफल छप्पन सौ वर्गमील तय किया था। लेकिन युद्ध के बाद उसका क्षेत्रफल छिहत्तर सौ वर्गमील हो गया। इस सम्पूर्ण क्षेत्र में बसने वाले अरबों को उन्होंने निकाल बाहर किया। इस युद्ध में मिस्र ने गाजा तथा बीरशेवा पर अधिकार कर लिया था और जेरूसलम के उत्तरी भाग से यहूदियों को भगा दिया था। इस हालत में संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से जो समझौता हुआ उसके अनुसार मिस्र का गाजा पट्टी पर अधिकार स्वीकार किया गया और यहाँ अरब शरणार्थियों को बसाने का प्रबन्ध किया गया। जेरुसलम नगर दो हिस्सों में बाँट दिया गया। लगभग एक लाख की आबादी वाला बड़ा हिस्सा यहूदियों के कब्जे में आया और पचास हजार की अरब आबादी वाला हिस्सा जोर्डान के अधिकार में रहा। इस तरह दोनो राज्यों की सीमा इस नगर में से होकर गुजरती हुई रखी गयी। इजरायल ने भागे हुए अरबों को लौटने की अनुमति नहीं दी, वरन् बचे हुए अरबों को भी इजरायल से भगाना शुरू किया। १९५३ तक दस लाख अरबियों को इजरायल छोड़कर भाग जाना पड़ा।

अरब-इजरायल विरोध—इजरायल राज्य की स्थापना और फिर युद्ध में इजरायल के हाथों पराजय ने सम्पूर्ण अरब जगत् को इजरायल का स्थायी दुश्मन बना दिया। अरब राज्यों

को [illegible], सीरिया, जॉर्डन आदि को इस बात का बड़ा दुःख और डर था कि इतने [illegible] वे फिलिस्तीन के विभाजन को नहीं रोक सके और जब इजरायल की स्थापना हो गयी और उन्होंने युद्ध के मैदान में उसका विरोध किया तो भी उन्हें पराजित होना पड़ा। लेकिन इन अरब राज्यों ने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने निश्चय किया कि इजरायल का आर्थिक बहिष्कार करके उसका गला घोंटा जायगा। अतएव इजरायल के लिए मिस्र ने स्वेज नहर बन्द कर दिया। इजरायली बन्दरगाहों से सामान लाने और वहाँ से सामान ले जाने वाले जहाजों का आवागमन पूर्णतः बन्द कर दिया गया। इजरायल के साथ सभी अरब देशों ने अपने व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ लिये। इराक ने पेट्रोल भेजना बन्द कर दिया।

इजरायल राज्य इस तरह एक ही साथ विभिन्न समस्याओं से घिर गया। इसी समय दुनिया के हर कोने से निर्वासित यहूदी इजरायल में आकर बसने लगे। इजरायली सरकार के सामने इन शरणार्थियों को बसाने और उनके जीवन-यापन के साधनों की व्यवस्था करने की समस्या थी। इसके अतिरिक्त इजरायल में रेतीली भूमि थी और पानी की कमी के कारण इसको आबाद नहीं किया जा सकता था। इन सभी समस्याओं के ऊपर हर समय अरबों से संघर्ष [illegible] युद्ध की सम्भावना थी।

उत्तेजित किया। २९ अक्टूबर, १९५६ को इजरायल ने एकाएक सिनाई प्रायद्वीप पर आक्रमण कर दिया। इजरायल ने कहा कि यह प्रदेश फेदाचिन संगठन का अड्डा है जहाँ से इजरायल पर हमेशा आक्रमण होता रहता है। उसका उद्देश्य इन्ही अड्डो को नष्ट करना है। इसके बाद ब्रिटेन और फ्रांस ने भी मिस्र पर आक्रमण कर दिया। इस तरह मिस्र को अकेले ही तीन शक्तियों से जूझना पड़ा।

पाँच दिनों को लड़ाई के बाद लगभग सम्पूर्ण सिनाई प्रायद्वीप पर इजरायल का नियन्त्रण स्थापित हो गया। मिस्र पर तीन राष्ट्रों के इस हमले का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में रखा गया और ७ नवम्बर, १९५६ को संघ की साधारण सभा ने प्रस्ताव पास करके युद्धबन्दी का आदेश दिया और यह कहा कि ब्रिटेन, फ्रांस तथा इजरायल अविलम्ब मिस्र की भूमि से अपनी सेना हटा लें। इसी प्रस्ताव के अनुसार महासचिव द्वारा दस देशो की सैनिक टुकड़ियों से बनी अन्तर्राष्ट्रीय सेना के छः हजार सैनिको को संघ की अध्यक्षता में यहाँ शान्ति स्थापित करने के लिए भेजा गया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव का पालन करते हुए ब्रिटेन और फ्रांस ने २२ दिसम्बर, १९५६ को मिस्र से अपनी फौजें हटा ली। किन्तु इजरायल ने गजापट्टी तथा शर्मल-शेख-क्षेत्र से अपनी फौजें हटाने से इन्कार कर दिया। १९ जनवरी तथा २ फरवरी, १९५७ को साधारण सभा ने इजरायल द्वारा फौजें हटाने तथा महासचिव को इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के दो अन्य प्रस्ताव पास किये। इजरायल ने इसका भी पालन नही किया तब इन शक्तियों के एक अन्य प्रस्ताव को स्वीकार करके साधारणसभा ने यह निर्णय किया कि इजरायल द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ के आदेशों का पालन न करने के कारण सभी देश उसे आर्थिक तथा सैनिक सहायता देना बन्द कर दें। इस पर १ मार्च, १९५७ को इजरायल ने कुछ शर्तों के साथ सेनाएँ हटाना स्वीकार कर लिया और ७ मार्च को मिस्र से सब सेनाएँ हटाली गयी। इजरायल की प्रमुख शर्तें ये थीं: अकाबा की खाड़ी तथा तिरान (Tiran) जलडमरूमध्यों में[1] इजरायल सहित सब देशों के लिए नौ-चालन की पूरी स्वतंत्रता हो और संयुक्त राष्ट्रसंघ उस समय तक गाजापट्टी पर अपना प्रशासन रखे जब तक कि इसके भविष्य के सम्बन्ध में कोई समझौता नही हो जाता।

इजरायल और अरब राज्यों के बीच तनाव के कारण—यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप के कारण मिस्र और इजरायल के संघर्ष की समाप्ति हो गयी लेकिन दोनों पक्षों में स्थायी शान्ति कायम नही हो सकी। अरब राज्यो ने इजरायल के अस्तित्व को स्वीकार करने

---

१. अकाबा की खाड़ी लाल सागर के उत्तर-पश्चिम में इसका सिनाई प्रायद्वीप और सऊदी अरेबिया के मध्य में बढ़ा हुआ भाग है। इजरायल राज्य का दक्षिणी छोर इस खाड़ी के उत्तर में है। इजरायल के लिए इसका सामरिक महत्त्व यह है कि यदि मिस्र उसके लिए स्वेज नहर नहीं खोलता तो वह एशिया और अरब से आनेवाले जहाजों का माल इस खाड़ी में जहाजों को लाकर प्राप्त कर सकता है और स्वेज नहर के अभाव में भी अपना काम चला सकता है। तिरान लाल सागर के उत्तरी सिरे पर अकाबा खाड़ी के प्रवेश द्वार पर सऊदी अरेबिया के अधिकार में एक टापू है। वहाँ से अकाबा खाड़ी में जाने वाले जहाजों को नियन्त्रित किया जा सकता है। अतः इजरायल की दृष्टि में यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

को विशेषतः मिस्र, सीरिया, जोर्डन आदि को इस बात का बड़ा दुःख और सदमा था कि प्रथम तो वे फिलिस्तीन के विभाजन को नहीं रोक सके और जब इजरायल की स्थापना हो गयी और उन्होंने युद्ध के मैदान में उसका विरोध किया तो भी उन्हें पराजित होना पड़ा। लेकिन इस पर भी अरब राज्यों ने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने निश्चय किया कि इजरायल का आर्थिक बहिष्कार करके उसका गला घोंटा जायगा। अतएव इजरायल के लिए मिस्र ने स्वेज नहर बन्द कर दिया। इजरायली बन्दरगाहों से सामान लाने और वहाँ से सामान ले जाने वाले जहाजों का आवागमन पूर्णतः बन्द कर दिया गया। इजरायल के साथ सभी अरब देशों ने अपने व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ लिये। इराक ने पेट्रोल भेजना बन्द कर दिया।

इजरायल राज्य इस तरह एक ही साथ विभिन्न समस्याओं से घिर गया। इसी समय दुनिया के हर कोने से निर्वासित यहूदी इजरायल में आकर बसने लगे। इजरायली सरकार के समक्ष इन शरणार्थियों को बसाने और उनके जीवन-यापन के साधनों की व्यवस्था करने की समस्या थी। इसके अतिरिक्त इजरायल में रेतीली भूमि थी और पानी के कमी के कारण उनको आबाद नहीं किया जा सकता था। इन सभी समस्याओं के ऊपर हर क्षण अरबों से संघर्ष छिड़ जाने की सम्भावना थी।

इजरायल ने बड़े धैर्य और साहस के साथ इन सारी कठिनाइयों का मुकाबला किया। उसने यूरोपीय देशों के साथ व्यापारिक समझौते किये और अमेरिका के सम्पन्न यहूदियों से विपुल आर्थिक सहायता प्राप्त की। देखते ही देखते मरुस्थल में हरे-भरे खेत लहराने लगे, आधुनिक उद्योग-धन्धे स्थापित हो गये। अरबों को चुनौती यहूदियों की प्रगति नहीं रोक सकी और इजरायल पश्चिमी एशिया का सबसे सम्पन्न और विकसित देश हो गया।

इजरायल की प्रगति ने अरब राज्यों को और भी चिन्तित कर दिया और वे इजरायल का नामोनिशान मिटाने लिए दृढ़ संकल्प हो गये। अतः सीमावर्ती अरब राज्यों और इजरायल के मध्य छिटपुट सैनिक झड़पें होने लगीं। इस तरह की मुठभेड़ अधिकतर इजरायल-जोर्डन सीमा पर होती रही। सितम्बर १९५४ में इजरायली-मिस्री सीमा पर भी स्थिति गम्भीर हो गयी। २८ फरवरी, १९५५ को मिस्री और इजरायली सेना में जो मुठभेड़ हुई उसके फलस्वरूप दोनो पक्षों के कई सैनिक हताहत हुए। २ नवम्बर, १९५५ को इजरायल के प्रधानमंत्री ने अरब-इजरायल समस्याओं के समाधान के लिए अरब राज्यों के साथ एक गोलमेज सम्मेलन का प्रस्ताव रखा, लेकिन अरबों ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इसके बाद इजरायल और अरब की सीमा और भी विस्फोटक हो गयी। १९५५ में मिस्र और सीरिया के साथ इजरायल की कई सैनिक झड़पें हुईं। मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी गया। मई १९५६ में संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव ने इस क्षेत्र का दौरा किया। इसके फलस्वरूप इन क्षेत्रों के तनाव में थोड़ी कमी आयी।

द्वितीय अरब-इजरायल संघर्ष (१९५६)—जुलाई १९५६ में स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के पश्चात इजरायल, मिस्र और जोर्डन की सीमाओं पर स्थिति पुनः गम्भीर हो गयी। इस बार ब्रिटेन और फ्रांस ने इजरायल को अपना हथकंडा बनाया और मिस्र पर प्रत्यक्ष आक्रमण करने का बहाना बनाने के लिए उन्होंने इजरायल को मिस्र के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के लिए

उत्तेजित किया। २६ अक्टूबर, १६५६ को इजरायल ने एकाएक सिनाई प्रायद्वीप पर आक्रमण कर दिया। इजरायल ने कहा कि यह प्रदेश फेदाचिन संगठन का अड्डा है जहाँ से इजरायल पर हमेशा आक्रमण होता रहता है। उसका उद्देश्य इन्हीं अड्डों को नष्ट करना है। इसके बाद ब्रिटेन और फ्रांस ने भी मिस्र पर आक्रमण कर दिया। इस तरह मिस्र को अकेले ही तीन शक्तियों से जूझना पड़ा।

पाँच दिनों की लड़ाई के बाद लगभग सम्पूर्ण सिनाई प्रायद्वीप पर इजरायल का नियन्त्रण स्थापित हो गया। मिस्र पर तीन राष्ट्रों के इस हमले का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में रखा गया और ७ नवम्बर, १६५६ को संघ की साधारण सभा ने प्रस्ताव पास करके युद्धबन्दी का आदेश दिया और यह कहा कि ब्रिटेन, फ्रांस तथा इजरायल अविलम्ब मिस्र की भूमि से अपनी सेना हटा लें। इसी प्रस्ताव के अनुसार महासचिव द्वारा दस देशों की सैनिक टुकड़ियों से बनी अन्तर्राष्ट्रीय सेना के छः हजार सैनिको को संघ की अध्यक्षता में यहाँ शान्ति स्थापित करने के लिए भेजा गया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव का पालन करते हुए ब्रिटेन और फ्रांस ने २२ दिसम्बर, १६५६ को मिस्र से अपनी फौजें हटा लीं। किन्तु इजरायल ने गजापट्टी तथा शर्मल-शेख-क्षेत्र से अपनी फौजें हटाने से इन्कार कर दिया। १६ जनवरी तथा २ फरवरी, १६५७ को साधारण सभा ने इजरायल द्वारा फौजें हटाने तथा महासचिव को इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के दो अन्य प्रस्ताव पास किये। इजरायल ने इसका भी पालन नहीं किया तब इन शक्तियों के एक अन्य प्रस्ताव को स्वीकार करके साधारणसभा ने यह निर्णय किया कि इजरायल द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ के आदेशों का पालन न करने के कारण सभी देश उसे आर्थिक तथा सैनिक सहायता देना बन्द कर दें। इस पर १ मार्च, १६५७ को इजरायल ने कुछ शर्तों के साथ सेनाएँ हटाना स्वीकार कर लिया और ७ मार्च को मिस्र से सब सेनाएँ हटाली गयीं। इजरायल की प्रमुख शर्त्तें ये थीं: अकाबा की खाड़ी तथा तिरान (Tiran) जलडमरूमध्यों में[1] इजरायल सहित सब देशों के लिए नौ-चालन की पूरी स्वतंत्रता हो और संयुक्त राष्ट्रसंघ उस समय तक गाजापट्टी पर अपना प्रशासन रखे जब तक कि इसके भविष्य के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो जाता।

इजरायल और अरब राज्यों के बीच तनाव के कारण—यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप के कारण मिस्र और इजरायल के संघर्ष की समाप्ति हो गयी लेकिन दोनों पक्षों में स्थायी शान्ति कायम नही हो सकी। अरब राज्यों ने इजरायल के अस्तित्व को स्वीकार करने

१. अकाबा की खाड़ी लाल सागर के उत्तर-पश्चिम में इसका सिनाई प्रायद्वीप और सऊदी अरेबिया के मध्य में बढ़ा हुआ भाग है। इजरायल राज्य का दक्षिणी छोर इस खाड़ी के उत्तर में है। इजरायल के लिए इसका सामरिक महत्त्व यह है कि यदि मिस्र उसके लिए स्वेज नहर नहीं खोलता तो वह एशिया और अरब से आनेवाले जहाजों का माल इस खाड़ी में जहाजों को लाकर प्राप्त कर सकता है और स्वेज नहर के अभाव में भी अपना काम चला सकता है। तिरान लाल सागर के उत्तरी सिरे पर अकाबा खाड़ी के प्रवेश द्वार पर सऊदी अरेबिया के अधिकार में एक टापू है। वहाँ से अकाबा खाड़ी में जाने वाले जहाजों को नियन्त्रित किया जा सकता है। अतः इजरायल की दृष्टि में यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

को विशेषतः मिस्र, सीरिया, जोर्डान आदि को इस बात का बड़ा दुःख और सदमा था कि प्रथम तो वे फिलिस्तीन के विभाजन को नही रोक सके और जब इजरायल की स्थापना हो गयी और उन्होंने युद्ध के मैदान में उसका विरोध किया तो भी उन्हें पराजित होना पड़ा। लेकिन इस पर भी अरब राज्यों ने हिम्मत नही हारी। उन्होंने निश्चय किया कि इजरायल का आर्थिक बहिष्कार करके उसका गला घोटा जायगा। अतएव इजरायल के लिए मिस्र ने स्वेज नहर बन्द कर दिया। इजरायली बन्दरगाहों से सामान लाने और वहाँ से सामान ले जाने वाले जहाजों का आवागमन पूर्णतः बन्द कर दिया गया। इजरायल के साथ सभी अरब देशों ने अपने व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ लिये। इराक ने पेट्रोल भेजना बन्द कर दिया।

इजरायल राज्य इस तरह एक ही साथ विभिन्न समस्याओं से घिर गया। इसी समय दुनिया के हर कोने से निर्वासित यहूदी इजरायल में आकर बसने लगे। इजरायली सरकार के समक्ष इन शरणार्थियों को बसाने और उनके जोवन-यापन के साधनों की व्यवस्था करने की समस्या थी। इसके अतिरिक्त इजरायल में रेतीली भूमि थी और पानी के कमी के कारण उनको आबाद नही किया जा सकता था। इन सभी समस्याओं के ऊपर हर क्षण अरबों से संघर्ष छिड़ जाने की सम्भावना थी।

इजरायल ने बड़े धैर्य और साहस के साथ इन सारी कठिनाइयो का मुकाबला किया। उसने यूरोपीय देशों के साथ व्यापारिक समझौते किये और अमेरिका के सम्पन्न यहूदियो से विपुल आर्थिक सहायता प्राप्त की। देखते ही देखते मरुस्थल में हरे-भरे खेत लहराने लगे, आधुनिक उद्योग-धन्धे स्थापित हो गये। अरबों की चुनौती यहूदियों को प्रगति नही रोक सकी और इजरायल पश्चिमी एशिया का सबसे सम्पन्न और विकसित देश हो गया।

इजरायल की प्रगति ने अरब राज्यों को और भी चिन्तित कर दिया और वे इजरायल का नामोनिशान मिटाने लिए दृढ़ संकल्प हो गये। अतः सीमावर्ती अरब राज्यों और इजरायल के मध्य छिटपुट सैनिक झड़पें होने लगीं। इस तरह की मुठभेड़ अधिकतर इजरायल-जोर्डान सीमा पर होती रही। सितम्बर १६५४ में इजरायली-मिस्री सीमा पर भी स्थिति गम्भीर हो गयी। २८ फरवरी, १६५५ को मिस्री और इजरायली सेना में जो मुठभेड़ हुई उसके फलस्वरूप दोनों पक्षो के कई सैनिक हताहत हुए। २ नवम्बर, १६५५ को इजरायल के प्रधानमंत्री ने अरब-इजरायल समस्याओं के समाधान के लिए अरब राज्यों के साथ एक गोलमेज सम्मेलन का प्रस्ताव रखा, लेकिन अरबो ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इसके बाद इजरायल और अरब की सीमा और भी विस्फोटक हो गयी। १९५५ में मिस्र और सीरिया के साथ इजरायल की कई सैनिक झड़पें हुई। मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी गया। मई १६५६ में संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव ने इस क्षेत्र का दौरा किया। इसके फलस्वरूप इन क्षेत्रों के तनाव में थोड़ी कमी आयी।

द्वितीय अरब-इजरायल संघर्ष (१६५६)—जुलाई १६५६ में स्वेज नहर के राष्ट्रीय-करण के पश्चात इजरायल, मिस्र और जोर्डान की सीमाओं पर स्थिति पुनः गम्भीर हो गयी। इस बार ब्रिटेन और फ्रांस ने इजरायल को अपना हथकंडा बनाया और मिस्र पर प्रत्यक्ष आक्रमण करने का बहाना बनाने के लिए उन्होंने इजरायल को मिस्र के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के लिए

उत्तेजित किया। २९ अक्टूबर, १९५६ को इजरायल ने एकाएक सिनाई प्रायद्वीप पर आक्रमण कर दिया। इजरायल ने कहा कि यह प्रदेश फेदाचिन संगठन का अड्डा है जहाँ से इजरायल पर हमेशा आक्रमण होता रहता है। उसका उद्देश्य इन्हीं अड्डों को नष्ट करना है। इसके बाद ब्रिटेन और फ्रांस ने भी मिस्र पर आक्रमण कर दिया। इस तरह मिस्र को अकेले ही तीन शक्तियों से जूझना पड़ा।

पाँच दिनों की लड़ाई के बाद लगभग सम्पूर्ण सिनाई प्रायद्वीप पर इजरायल का नियन्त्रण स्थापित हो गया। मिस्र पर तीन राष्ट्रों के इस हमले का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में रखा गया और ७ नवम्बर, १९५६ को संघ की साधारण सभा ने प्रस्ताव पास करके युद्धबन्दी का आदेश दिया और यह कहा कि ब्रिटेन, फ्रांस तथा इजरायल अविलम्ब मिस्र की भूमि से अपनी सेना हटा लें। इसी प्रस्ताव के अनुसार महासचिव द्वारा दस देशों की सैनिक टुकड़ियों से बनी अन्तर्राष्ट्रीय सेना के छः हजार सैनिकों को संघ की अध्यक्षता में यहाँ शान्ति स्थापित करने के लिए भेजा गया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव का पालन करते हुए ब्रिटेन और फ्रांस ने २२ दिसम्बर, १९५६ को मिस्र से अपनी फौजें हटा लीं। किन्तु इजरायल ने गजापट्टी तथा शर्मल-शेख-क्षेत्र से अपनी फौजें हटाने से इन्कार कर दिया। १९ जनवरी तथा २ फरवरी, १९५७ को साधारण सभा ने इजरायल द्वारा फौजें हटाने तथा महासचिव को इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के दो अन्य प्रस्ताव पास किये। इजरायल ने इसका भी पालन नहीं किया तब इन शक्तियों के एक अन्य प्रस्ताव को स्वीकार करके साधारणसभा ने यह निर्णय किया कि इजरायल द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ के आदेशों का पालन न करने के कारण सभी देश उसे आर्थिक तथा सैनिक सहायता देना बन्द कर दें। इस पर १ मार्च, १९५७ को इजरायल ने कुछ शर्तों के साथ सेनाएँ हटाना स्वीकार कर लिया और ७ मार्च को मिस्र से सब सेनाएँ हटाली गयीं। इजरायल की प्रमुख शर्त्तें ये थीं: अकाबा की खाड़ी तथा तिरान (Tiran) जलडमरूमध्यों में[1] इजरायल सहित सब देशों के लिए नौ-चालन की पूरी स्वतंत्रता हो और संयुक्त राष्ट्रसंघ उस समय तक गाजापट्टी पर अपना प्रशासन रखे जब तक कि इसके भविष्य के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो जाता।

इजरायल और अरब राज्यों के बीच तनाव के कारण—यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप के कारण मिस्र और इजरायल के संघर्ष की समाप्ति हो गयी लेकिन दोनों पक्षों में स्थायी शान्ति कायम नहीं हो सकी। अरब राज्यों ने इजरायल के अस्तित्व को स्वीकार करने

१. अकाबा की खाड़ी लाल सागर के उत्तर-पश्चिम में इसका सिनाई प्रायद्वीप और सऊदी अरेबिया के मध्य में बढ़ा हुआ भाग है। इजरायल राज्य का दक्षिणी छोर इस खाड़ी के उत्तर में है। इजरायल के लिए इसका सामरिक महत्त्व यह है कि यदि मिस्र उसके लिए स्वेज नहर नहीं खोलता तो वह एशिया और अरब से आनेवाले जहाजों का माल इस खाड़ी में जहाजों को लाकर प्राप्त कर सकता है और स्वेज नहर के अभाव में भी अपना काम चला सकता है। तिरान लाल सागर के उत्तरी सिरे पर अकाबा खाड़ी के प्रवेश द्वार पर सऊदी अरेबिया के अधिकार में एक टापू है। वहाँ से अकाबा खाड़ी में जाने वाले जहाजों को नियन्त्रित किया जा सकता है। अतः इजरायल की दृष्टि में यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

से इन्कार कर दिया। अरब नेताओं ने अपने इस इरादे को कि उनका उद्देश्य इजरायल के अस्तित्व को समाप्त करना है ताकि विश्व के मानचित्र से उसका नामोनिशान मिट जाय, कभी छिपाने का यत्न नहीं किया। अरबों के इस संकल्प के मूल में कई बातें हैं। इसका प्रथम कारण सीमा सम्बन्धी विवाद है। इजरायल चारों तरफ से अरब राज्यों एवं यहूदी-विरोधी जातियों से घिरा हुआ है। ये सभी देश उसका अस्तित्व मिटाना चाहते हैं। इन देशों का मत है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने १९४७ में जो विभाजन किया था और इजरायल की जो सीमा निर्धारित की थी उसी में इजरायल का राज्य रहे। १९४८ के युद्ध में उसने जिन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था, उसको वह छोड़ दे। चूँकि इजरायल इन प्रदेशों पर से अपना अधिकार हटाने के लिए तैयार नहीं है इसलिए अरब राज्यों के साथ बराबर उसका सशस्त्र संघर्ष चलता रहता है। मार्च, १९६२ में टाइबेरिस झील के प्रदेश में सीरिया और इजरायल के मध्य जो संघर्ष हुआ उसके मूल में यही बात थी।

अरबों और इजरायल के मध्य झगड़ा का दूसरा कारण शस्त्रास्त्रों की दौड़ है। जुलाई, १९६२ में अरब गण राज्य का यह रहस्य खुल गया कि वे इस प्रकार के सैनिक प्रक्षेपणास्त्र बनाने संलग्न हैं जिनकी सहायता से इजरायल को शीघ्र ही पराजित किया जा सके। ऐसी स्थिति में इजरायल को अपनी रक्षा-व्यवस्था शक्तिशाली बनाने के लिए कदम उठाना जरूरी हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका अभी तक मध्यपूर्व के देशों को हथियार न देने की नीति अपना रहा था; किन्तु अब वह यह मानने लगा कि इस क्षेत्र में शान्ति तभी रहेगी जबकि यहाँ की सैनिक शक्ति में संतुलन बना रहे। इसी मान्यता के आधार पर संयुक्त राज्य अमेरिका ने सितम्बर, १९६२ में यह निर्णय लिया कि वह इजरायल को ऐसे प्रक्षेपणास्त्र देगा जो कि अल्प दूरी तक मार सकें तथा शत्रु के वायुयानों को गिरा सकें। इजरायल की मांग ऐसे प्रक्षेपणास्त्रों के लिए थी जिनके माध्यम से वे अपने देश में रह कर ही शत्रु के अड्डों को नष्ट कर सकें। अमेरिका द्वारा जो भी सहायता इजरायल को प्रदान की गयी उसे अरब राज्यों द्वारा शत्रुतापूर्ण कार्य माना गया।

अरब राज्यों तथा इजरायल के बीच झगड़े का तीसरा कारण जोर्डान नदी का जल है। यह नदी केवल डेढ़ सौ मील लम्बी है, फिर भी इजरायल और अरब राज्यों के बीच यह तीव्र कलह का कारण बनी हुई है इसका कारण है कि यह सीरिया, लेबनान, इजरायल और जोर्डान के चार राज्यों से होकर बहती है। इसकी दो धाराएँ हैं। इनमें से एक लेबनान और दूसरी सीरिया से निकलती है। दोनों मिलकर जोर्डान नदी के रूप में परिणित हो जाती हैं और इजरायल में प्रवेश करती हैं तथा इजरायल और जोर्डान राज्यों की सीमा को विभाजित करती हैं। इस नदी के जल का उपयोग कौन करे और कैसे करे, यह विवाद का एक विषय है। इसके पानी के उपयोग के सम्बन्ध में झगड़ा इतना बढ़ गया कि एरिफ जॉन्स्टन को मध्यस्थता करनी पड़ी। इसके बाद यह निश्चय किया गया कि जल का ६७ प्रतिशत भाग अरब राज्यों को तथा ३३ प्रतिशत भाग इजरायल को उपयोग के लिए प्रदान किया जाय। इजरायल ने अपने जल का उपयोग करने के लिए योजना आरम्भ कर दी। इस योजना के कार्यान्वित होने से उसका नगेव का मरुस्थल हरा-भरा हो जाता, इजरायल समृद्ध हो जाता तथा अपनी जनसंख्या बढ़ाकर शक्ति का विकास

कर लेता। अरब राज्य इन सारी बातों को बर्दास्त नहीं कर सकते थे। फलतः जनवरी, १९६४ में तेरह अरब राज्यों का काहिरा में एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें जोर्डान नदी के के जल, अरब राज्यों की संयुक्त सेना तथा इजरायल के अस्तित्व को समाप्त करने की समस्याओं पर विचार किया गया। किन्तु अरब राज्यों के बीच गहरा मतभेद होने के कारण इस सम्मेलन का कोई नतीजा नहीं निकला।

अरबों और यहूदियो में मतभेद का तीसरा कारण अरब शरणार्थियों की समस्या है। इजरायल की स्थापना के बाद यहूदियों द्वारा जो नीतियाँ अपनाई गईं उनके कारण फिलिस्तान के दस लाख से भी अधिक अरबो को देश छोड़ कर भागना पड़ा। वे सब पड़ोसी अरब राज्यों में शरणार्थियों के रूप में रहने लगे। शरणार्थियों की समस्या ने अरब राज्यों के ऊपर अनेक उत्तरदायित्व डाल दिये तथा कठिनाइयाँ पैदा कर दीं। ये राज्य इन शरणार्थियों को अपने राज्य में बसाने तथा उसका नागरिक बनने के इच्छुक नही थे। दूसरी ओर इजरायल भी इन्हें वापस बुलाने के लिए तैयार नहीं था। संयुक्त राष्ट्रसंघ को सहायता एवं कार्य अभिकरण को इन शरणार्थियो की देखभाल करने का काम सौंपा गया। यह अभिकरण १९६३ तक के लिए था। इसके अध्यक्ष डा० जॉनसन के मतानुसार इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया जाय कि शरणार्थियों की इच्छा जान कर तदनुसार उन्हें उसी देश में बसा दिया जाय। यह सुझाव किसी भी पक्ष को मान्य न था। फलतः संघ ने एक अन्य प्रस्ताव पास करके शरणार्थियों की देख-भाल करने वाले इस कार्य की अवधि ३० जून, १९६५ तक कर दी। शरणार्थियो के कष्ट और कठिनाइयाँ दोनों पक्षों के बीच मनमुटाव बढ़ाने में एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है।

१९५७ से अरब इजरायल संघर्ष का एक संक्षिप्त इतिहासः—इन सब कारणो से अरब राज्यों और इजरायल के पारस्परिक सम्बन्ध हमेशा तनावपूर्ण बने रहे। १९५७ में इजरायल और जोर्डान की सीमाओं पर अनेक छिट-पुट घटनाएँ हुईं। इनके कारण दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों में तनावपूर्ण स्थिति आ गई और संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव को इस क्षेत्र का दौरा करना पड़ा। मिस्र और इजरायल के सम्बन्ध भी पुनः तनावपूर्ण होते गये। फरवरी-मार्च १९५९ में स्वेज के रास्ते से जानेवाले इजरायल से सुदूरपूर्वी देशों को निर्यात किये गये माल के अनेक विदेशी जहाजों को संयुक्त अरब गणराज्य ने रोक लिया। परिणामस्वरूप दोनो देशों में बहुत अधिक तनाव बढ़ गया। इजरायल द्वारा सुरक्षा-परिषद् से शिकायत की गई। इजरायली प्रतिनिधि ने परिषद् के सदस्यों को लिखे गये एक पत्र में संयुक्त अरब गणराज्य के इस कदम की निन्दा की और आरोप लगाया कि यह "स्वेज नहर समझौते तथा सुरक्षा-परिषद् के १ सितम्बर, १९५१ के उस प्रस्ताव को जिसमें मिस्र से किसी भी दिशा में जा रहे माल और जहाजो को स्वेज नहर से गुजरने देने के लिए कहा गया था, नग्न अवहेलना है।" दूसरी ओर काहिरा ने यह कहा कि इजरायल को स्वेज नहर से अपने मालवाहक जहाजों को भेजने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि इजरायल और अरब देशों के मध्य 'युद्ध की स्थिति' अभी तक मौजूद है। मई १९४९ में संयुक्त अरब गणराज्य द्वारा एक डेनिश मालवाहक जहाज को जो हैफा बन्दरगाह से इजरायली सामान हांगकांग तथा जापान ले जा रहा था, रोक लिया गया। इजरायली प्रधानमन्त्री ने इस कार्यवाही को इजरायली हितों तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर और सुरक्षा परिषद् के निर्णयों पर एक भारी चोट बताया।

अगस्त, १९५९ में पुनः ऐसी ही घटनाएँ घटी और इजरायल प्रतिनिधि ने सुरक्षा-परिषद् का ध्यान आकर्षित करते हुए संयुक्त अरब-गणराज्य की इन कार्यवाहियों को समुद्री डकैती के कार्य बताया।

सीरिया के साथ भी इजरायल के झगड़े चलते रहे। फरवरी १९६० में तावफिक नामक स्थान पर दोनों की सैनिक टुकड़ियों में जबरदस्त मुठभेड़ हुई। फरवरी के अन्तिम सप्ताह में इजरायल से लगती सीमा पर संयुक्त अरब गणराज्य की सेनाओं के जमाव से बड़ी तनावपूर्ण स्थिति पैदा हो गई। इजरायल ने सुरक्षा परिषद् को सूचित किया कि इस क्षेत्र में शांति तभी स्थापित हो सकती है जबकि संयुक्त अरब गणराज्य इजरायल के प्रति सक्रिय शत्रुता की नीति का परित्याग कर दे। मार्च १९६० में इजरायली प्रधानमन्त्री डेविड बेनगुरिया अमेरिका गये। राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने उन्हें आश्वासन दिया कि अरब-आक्रमण की स्थिति में अमेरिका इजरायल को सहायता देगा। दूसरी ओर कर्नल नासिर ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को सूचित किया कि इजरायल द्वारा सीरियाई क्षेत्र पर आक्रमण मिस्र पर आक्रमण समझा जायगा तथा संयुक्त अरब गणराज्य स्थिति के अनुकूल प्रतिरक्षा की व्यवस्था करेगा।

अरब राष्ट्रों और इजरायल के सम्बन्ध दिन-प्रति-दिन बिगड़ते चले गये। मार्च १९६२ में इजरायल-सीरिया सीमा पर फिर से दुर्घटनायें होने लगी। सुरक्षा-परिषद् में पारित एक प्रस्ताव में कहा गया कि दोनों देशों को युद्ध विराम समझौते पर अमल करना चाहिए। अगस्त, १९६२ में सीरिया और इजरायल में पुनः गम्भीर सैनिक मुठभेड़ें हुईं। सुरक्षा-परिषद् की एक विशेष बैठक में समस्या पर विचार किया गया और महासचिव ऊथांउ ने दोनों देशों से आत्म-नियन्त्रण रखने की अपील की। परिषद् में संयुक्त राज्य अमेरिका ने निन्दा करने का प्रस्ताव रखा, परन्तु सोवियत संघ ने इसे निषेधाधिकार द्वारा समाप्त कर दिया।

जून १९६७ की पूर्व की स्थितिः—१९६४ के काहिरा शिखर सम्मेलन के उपरान्त अरब-इजरायल सम्बन्ध में पुनः तनाव बढ़ने लगा। इजरायल के अस्तित्व को मिटाने के अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अरब राज्यों द्वारा इजरायल में घुसपैठ करके तोड़फोड़ करने की कार्यवाही अब बहुत बड़े पैमाने पर शुरू हुई। सीरिया और जोर्डान से घुसपैठियों के दस्ते इजरायल में घुस आते थे और तरह-तरह के उत्पात मचाते थे। ४ नवम्बर, १९६६ को इजरायल ने इन कार्रवाइयों के विरुद्ध सुरक्षा-परिषद् में शिकायत की। परिषद् में समस्या के समाधान के लिए जो एक प्रस्ताव रखा गया वह सोवियत 'वीटो' के कारण गिर गया। इसके दो सप्ताह बाद इजरायल ने जोर्डान के उन अड्डों पर आक्रमण कर दिया (नवम्बर १३) जहाँ से घुसपैठी इजरायल में घुसते थे। ७ अप्रैल, १९६७ को इजरायल ने सीरिया के विरुद्ध भी ऐसी ही कार्रवाई की। दोनों देशों के बीच छिटपुट झड़प होती रही। इजरायल ने सीरिया के छः मीग विमानों को मार गिराया। इस समय सीरिया और संयुक्त अरब गणराज्य हाल ही की एक सन्धि में बँधे हुए थे। इस सन्धि के द्वारा यह निश्चय किया गया था कि यदि एक पर इजरायल हमला कर दे तो उसको दूसरा भी अपने पर हमला मानेगा। लेकिन सीरिया और इजरायल की इस झड़प में संयुक्त अरब गणराज्य शांत रहा और उसने किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं किया।

७ अप्रिल की घटना के बाद इजरायल और सीरिया की सीमा पर स्थिति अत्यन्त तनावपूर्ण हो गयी। सीमाओं पर दोनों पक्ष के सैनिकों का जमाव होने लगा। ऐसा समझा गया कि

इजरायल सीरिया पर आक्रमण करने की पूरी तैयारी में व्यस्त है। बाद में, जैसा कि राष्ट्रपति नासिर ने बतलाया, उन्हें सोवियत सूत्रों से यह जानकारी मिली कि इजरायल सीरिया पर आक्रमण करने की पूरी तैयारी कर चुका है।

इस विस्फोटक स्थिति में अरब देशों में भी सैनिक तैयारी होने लगी। गाजा क्षेत्र में १९५६ से ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की आपात् सेना रखी गयी थी ताकि मिस्र और इजरायल में संघर्ष को रोका जाय। राष्ट्रपति नासिर ने यह माँग की कि यह सेना इस क्षेत्र से हटा ली जाय। संघ के महासचिव ने इस माँग को स्वीकार कर लिया और आपात् सेना हटा ली गयी। इसके तुरत ही बाद संयुक्त अरब गणराज्य की सेना सिनाई प्रायद्वीप से सटे मिस्र-इजरायली सीमा पर आ डटी। सीरिया और जोर्डन में भी युद्ध की तैयारी होने लगी।

मिस्र, सऊदी अरब तथा इजरायल से सटे अकावा की खाड़ी है जो इजरायल को लाल सागर में पहुँचने का रास्ता देती है। इजरायल इस खाड़ी को अपनी 'जीवन-रेखा' मानता है। २३ मई, १९६७ को संयुक्त अरब गणराज्य की सरकार ने इजरायली जहाजों को अकावा की खाड़ी में प्रवेश की मनाही कर दी। नासिर ने घोषणा की कि खाड़ी कोई अन्तर्राष्ट्रीय जल मार्ग नहीं है। यह मिस्र और सऊदी अरब के प्रादेशिक क्षेत्र में पड़ता है और इसलिए इजरायल को इधर से आवागमन करने का कोई अधिकार नहीं है।

संयुक्त अरब गणराज्य की इस घोषणा ने स्थिति को अत्यन्त गम्भीर बना दिया। इजरायल के लिए स्वेज नहर पहले ही बन्द थी; अकाबा की खाड़ी बन्द करके उसका गला घोंटने का नया प्रयास किया गया। ऐसी हालत में अब यह प्रायः निश्चित हो गया कि पश्चिम एशिया में भयंकर विस्फोट होकर रहेगा। स्थिति की गम्भीरता को देखकर संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव यूथांत काहिरा पहुँचे और मध्यस्थता करके इस संकट को टालने का प्रयास किया। लेकिन काहिरा में उन्हें कोई ऐसा उत्साहवर्द्धक लक्षण दिखायी नहीं पड़ा जिससे शांति के प्रयासों को और मजबूत किया जा सके। अतः निराश होकर महासचिव न्यूयार्क लौट आये।

उधर पश्चिमी एशिया की तनावपूर्ण स्थिति पर सुरक्षा-परिषद् में विचार शुरू हुआ। परिषद् की २४ मई की बैठक में सोवियत संघ ने स्थिति को बिगाड़ने की जिम्मेवारी इजरायल पर मढ़ा और ब्रिटेन तथा अमेरिका पर यह आरोप लगाया कि वे इजरायल को बढ़ावा दे रहे हैं। जवाब में अमेरिका ने तनाव में वृद्धि के लिए सोवियत कूटनीति को जिम्मेवार बतलाया। इस गतिरोध की स्थिति में सुरक्षा-परिषद् की बैठक स्थगित हो गयी।

ब्रिटेन और अमेरिका ने अकाबा की खाड़ी के घेराव को गलत तथा अन्तर्राष्ट्रीय नियम का उल्लंघन बताया। २६ मई को इन दोनों ने इजरायल के प्रधान मंत्री एश्कोल्ल को इस बात का आह्वान दिया कि वह अकावा की खाड़ी की नाकाबन्दी खत्म करने के लिए कार्रवाई करे। साथ ही, ब्रिटेन ने पश्चिमी यूरोप के देशों से अनुरोध किया कि खाड़ी को स्वतन्त्र करने में वे सहयोग दें। पश्चिम यूरोप के देशों ने इन झगड़ों में पड़ने से इन्कार कर दिया और राष्ट्रपति दगाल ने साफ-साफ शब्दों में कहा दिया कि वे ऐसी किसी कार्रवाई में सहयोग करने को तैयार नहीं हैं। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि पश्चिम एशिया के सम्बन्ध में चार बड़े राष्ट्रों की एक बैठक हो। लेकिन सोवियत-संघ को यह प्रस्ताव मान्य नहीं था।

ब्रिटेन और अमेरिका वरदहस्त पाकर इजरायल ने घोषणा की कि अकाबा की नाकेबन्दी आक्रमण तुल्य है और यदि यह खत्म नहीं किया गया तो इजरायल बल प्रयोग करके इस नाकेबन्दी को तोड़ देगा। स्थिति उत्तरोत्तर गम्भीर होने लगी। सोवियत-संघ के युद्ध पोत दर्रा दानियाल पार करके भूमध्यसागर में प्रविष्ट करने लगे। अमेरिका और ब्रिटेन के युद्धपोत भी भूमध्यसागर में चक्कर काटने लगे। अरब देशों की सैनिक तैयारी भी शुरू हुई। जोर्डान के शाह हुसैन काहिरा पहुँचे और नासिर को यह वचन दिया कि यदि इजरायल से संघर्ष छिड़ गया तो जोर्डान अरब राज्यों का साथ देगा। ट्यूनिसिया, मोरक्को, लेबनान और सूडान ने भी ऐसी ही घोषणाएँ कीं। अल्जीरिया ने पश्चिम एशिया में तत्काल फौज भेजने का निर्णय किया। इजरायल में भी युद्ध की तैयारी होने लगी। जनरल डायन जो १६५६ के मिस्र-इजरायल युद्ध में ख्याति प्राप्त कर चुके थे, को इजरायल का रक्षा-मंत्री नियुक्त किया गया और देश में लामबन्दी की घोषणा कर दी गयी। सारा पश्चिम एशिया देखते ही देखते युद्ध के मैदान में परिणत हो गया। किसी भी क्षण युद्ध का विस्फोट हो सकता था और इसको विश्व-युद्ध में परिणत होने की सम्भावना थी। स्थिति ऐसी आ गयी थी कि लगता था कि संयुक्त-राज्य अमेरिका और सोवियत-संघ के बीच इजरायल और अरब जगत की आड़ में सीधी टक्कर हो जायगी। इस बीच सुरक्षा-परिषद् की कई बैठकें हुईं, लेकिन उनसे कोई नतीजा नहीं निकला।

तृतीय अरब-इजरायल युद्ध (१६६७)—इस विषम परिस्थिति में पिछले बीस वर्षों से लगातार फूट पड़ने के लिए बेचैन पश्चिम एशिया को अरब बनाम यहूदी राजनीति का अस्थिर ज्वालामुखी ५ जून, १६६७ को अचानक विस्फोट के साथ एकाएक फूट हो पड़ा। यहूदी राज्य और अरब जगत के बीच एक तरह से यह युद्ध अनिवार्य और अवश्यम्भावी था। पिछले पखवारे अरब देशों ने यह निश्चय कर लिया था कि इजरायल की किरकिरी उन्हें अपनी आँखों से निकालनी ही है। अरब देशों को अपनी सेनाएँ इजरायल के इर्द-गिर्द उपयुक्त ठिकानों पर पहुँचाने के लिए कम-से-कम दस दिन का समय और चाहिए था। तब इजरायल की स्थिति और नाजुक हो गयी होती। इस हालत में इजरायल ने अति शीघ्र शत्रु पर हमला करने का निश्चय किया। ५ जून को इजरायली विमानों ने एकाएक काहिरा और मिस्र के अन्य हवाई अड्डों पर हमला कर दिया। संयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल की सीमा पर गाजा पट्टी से लेकर दक्षिण इजरायल के नगव क्षेत्र तक, दोनों ओर की फौजों में मुठभेड़ हो गयी। युद्ध के प्रथम दिन उभय पक्षों ने अपनी-अपनी कामयाबी के बारे में उद्‌घोषणाएँ कीं। लेकिन दूसरे ही दिन यह स्पष्ट हो गया कि यह हमलोगों के जमाने का रूस-जापान युद्ध था। संयुक्त अरब गणराज्य की बुरी पराजय हुई। सम्पूर्ण सिनाई प्रायद्वीप इजरायली सेना के कब्जे में आ गया और वे स्वेज नहर पूर्वी किनारे तक पहुँच गये।

संयुक्त अरब गणराज्य पर आक्रमण होने के साथ ही जोर्डान और सीरिया के साथ भी इजराइल का युद्ध शुरू हुआ। युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में सीरियाई फौज को कुछ सफलता अवश्य मिली, लेकिन जोर्डान आठ घण्टे भी इजराइल की मार को नहीं सह सका। इजरायली सेना ने जेरुसलम के नगर तथा इसके उत्तर-पूर्व के इलाकों पर कब्जा कर लिया। जोर्डान को हथियार डालने पर विवश होना पड़ा। चन्द ही दिनों में जोर्डान के लगभग बीस हजार सैनिक

और असैनिक नागरिक मारे गये। अरब देशों की मदद के लिए अल्जीरिया, सूडान, यमन, कुवैत और सऊदी अरब का कुमकें इजरायल की सीमा की ओर अवश्य बढ़ी थी, लेकिन युद्ध की स्थिति पर इसका कोई असर नहीं पड़ा।

सुरक्षा-परिषद् और युद्ध विराम—युद्ध के छिड़ते ही न्यूयार्क में सुरक्षा-परिषद् की बैठक बुलायी गयी। भारतीय प्रतिनिधि ने परिषद् में माँग की कि वह अरब-इजरायल युद्ध बन्द करने और दोनो पक्षों को अपनी सेना ४ जून की स्थिति में वापस लाने की मांग करे। ६ जून को परिषद् ने युद्ध बन्द करने का एक प्रस्ताव पास किया। इजरायल युद्ध बन्द करने को तैयार हो गया, लेकिन अरब देशों की ओर से यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। उधर युद्ध में जोर्डान की हालत सबसे बुरी हो रही थी। अतएव उसने युद्ध बन्द कर देने की माँग स्वीकार कर ली। ७ जून को परिषद् ने एक दूसरा प्रस्ताव स्वीकार किया। इस प्रस्ताव में यह मांग की गयी थी कि युद्धरत सभी देश रात के आठ बजे से (ग्रीनवीच समय) युद्ध बन्द कर दें। सुरक्षा-परिषद् का यह आदेशात्मक प्रस्ताव था। युद्ध में भी मिस्र का पूरा पलायन हो गया था। अतएव उसके समक्ष युद्ध बन्द करने के सिवाय कोई चारा नहीं रहा। ८ जून को इजरायल और मिस्र के बीच युद्ध बन्द हो गया। सीरिया ने भी अपनी ओर से युद्ध बन्द करने की घोषणा कर दी।

युद्ध में संलग्न सभी राष्ट्रों द्वारा इस घोषणा के बावजूद कि वे युद्ध विराम की माँग को कार्यान्वित करेंगे ९ जून को स्वेज नहर के किनारे और इजरायल-सीरिया सीमावर्ती पहाड़ों में युद्ध जारी रहा। सीरिया पर इजरायल ने अपनी आक्रामक कार्रवाई जारी रखी। वह सीरिया के क्षेत्र में स्थित कुछ सामरिक महत्त्व के स्थानों पर कब्जा कर लेना चाहता था। इस हालत में पश्चिम एशिया के प्रश्न पर विचार करने के लिए ९-१० जून को पुनः सुरक्षा-परिषद् की बैठक हुई। भारत और सोवियत संघ के प्रतिनिधि ने माँग की कि इजरायल को आक्रामक घोषित किया जाय। लेकिन ब्रिटेन और अमेरिका ने ऐसा नही होने दिया। महासचिव को यह कहा गया कि वे वस्तुस्थिति का पता लगायें। महासचिव ने जो रिपोर्ट दी उसमें स्पष्ट था कि इजरायली सेना आक्रामक कार्रवाई में संलग्न है और युद्ध चल रहा है। अतएव सुरक्षा-परिषद् ने एक और प्रस्ताव पास करके यह आदेश दिया कि सीरिया और इजरायल दो घंटों में युद्ध बन्द कर दें। इजरायल का सामरिक उद्देश्य पूरा हो चुका था। वह जिन स्थलों पर कब्जा करना चाहता था, उस पर कब्जा कर चुका था। सीरिया की सामरिक क्षमता समाप्त हो चुकी थी। अतएव दोनो पक्षो ने तत्काल युद्ध-विराम स्वीकार कर लिया और १० जून को दोनों पक्षों में पूर्णतया लड़ाई बन्द हो गयी।

राष्ट्रपति नासिर की स्थिति--यह निश्चय था कि संयुक्त अरब गणराज्य के सैनिक पलायन का प्रभाव अरब देशों की आन्तरिक राजनीति पर पड़े। संयुक्त अरब गणराज्य को करारी हार हुई और वह भी एक ऐसे घृणित दुश्मन के हाथों जिसका अस्तित्व मिटाने के लिए राष्ट्रपति नासिर निकले थे। ९ जून को एक रेडियो प्रसारण में उन्होंने इस बात को कबूल किया कि अरब देशों की बहुत बड़ी हार हुई है। अपनी जिम्मेवारी स्वीकार करते हुए नासिर ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। नासिर ने अमेरिका और ब्रिटेन पर यह आरोप लगाया कि उनके विमानों ने इजरायल की सहायता की और युद्ध में हिस्सा लिया है। इस तरह का

अभियोग उन्होने ७ जून को ही लगाया था। लेकिन अमेरिका और ब्रिटेन ने इसका खण्डन किया। अरब जगत पर इन खण्डनो का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इन सभी देशों ने ब्रिटेन और अमेरिका के साथ अपना कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और सम्पूर्ण अरब जगत में अमेरिका विरोधी भावना का तूफान फूट पड़ा। काहिरा स्थित अमरीकी दूतावास में आग लगा दी गयी। अरब राज्यो ने आदेश दिया कि सभी अमरीकी और ब्रिटिश नागरिक अपने देश लौट जायँ। यह भी घोषित किया गया कि युद्ध में जिन देशों ने इजरायल की सहायता की है उनको अरब देश तेल की आपूर्ति नही करेंगे।

राष्ट्रपति नासिर द्वारा यह घोषित किये जाने पर वे अपने पद से अलग हो रहे हैं, सारे अरब देशो में खलबली मच गयी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नासिर अरब दुनिया के बहुत बड़े नेता हैं और जनता में उनकी काफी लोकप्रियता है। अरब जनता मानती है कि नासिर के सिवा दूसरा कोई व्यक्ति उनका नेतृत्व नही कर सकता है। अतएव रेडियो प्रसारण के कुछ ही क्षणो बाद काहिरा में प्रदर्शन शुरू हुए और यह माँग की गयी कि नासिर अपने पद पर बने रहें। इस तरह की माँग अन्य अरब देशो के नागरिको तथा सरकारों से भी आयी। इस लोकमत के समक्ष नासिर को झुकना पड़ा और उन्होने अपना इस्तीफा वापस ले लिया।

शान्ति-समझौता—युद्ध की समाप्ति के बाद शान्ति-समझौता का कार्य दूसरा कदम होता है। इस शान्ति-समझौता का स्वरूप क्या हो? यह स्पष्ट है युद्ध में एक पक्ष बुरी तरह हारा था और दूसरा पक्ष विजय के मद में चूर था। इसलिए इजरायल ने अपनी ओर से भावी शान्ति-समझौता के लिए दो-चार शर्तें रखीं। उसकी पहली शर्त है कि वह जीती हुई कुछ जगहों को नहीं छोड़ेगा। इन जगहों में गाजापट्टी, शर्मलशेख, जेरुसलम और जोर्डान नदी के पश्चिम के भू-भाग तथा सीरियाई क्षेत्र के कुछ पहाड़ी भाग सम्मिलित हैं। इजरायल की यह भी माँग है कि स्वेज नहर तथा अकाबा की खाड़ी से उसके आवागमन के अधिकार को मान्यता मिले। इस मौके से इजरायल एक तीसरा लाभ उठाना चाहता था। अभी तक अरब देशों ने इजरायल को मान्यता नही प्रदान की है। इजरायल इसे प्राप्त कर लेना चाहता है। उसका कहना है कि इजरायल विविध अरब राज्यो से पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष संधि-वार्ता करेगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ शान्ति के सिद्धांतों का प्रतिपादन कर दे, लेकिन वार्ता का काम सम्बद्ध राज्यों द्वारा अलग-अलग हो। इस प्रकार इजरायल विजेता की भाषा में बात करने लगा है और चाहता है कि आक्रमण से उत्पन्न लाभ को वह सुदृढ़ कर दे।

जाहिर है कि इनमें से कई माँगें महज सौदाबाजी की दृष्टि से पेश की गयी थीं। किन्तु राष्ट्रपति नासिर झुकने को तैयार नही थे। युद्ध में पराजय के बाद अरब देशो के नेता तटस्थ देशों तथा सोवियत संघ की सहायता से कूटनीतिक मोर्चा पर जीतने के लिए अब जी-जान से जुटे हुए हैं। उन्होंने घोषित किया है कि वे एक इंच अरब भूमि भी हाथ से नहीं जाने देंगे, अपनी प्रभुसत्ता में सूई की नोक के बराबर कमी नही आने देंगे तथा इजरायल को युद्ध द्वारा हथियाई गयी जमीन का कोई फायदा नही उठाने देंगे।

इस प्रकार अरब राज्यों और इजरायल द्वारा जो नीतियाँ अपनायी जा रही हैं वे एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं और निकट भविष्य में उनके बीच कोई मेल होने की सम्भावना नहीं दिखायी पड़ती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से यद्यपि अरब-इजरायल समस्या के समाधान के

लिए विभिन्न प्रयास हो रहे हैं, किन्तु अभी तक स्थिति विशेष आशाप्रद नहीं हुई है। सीरिया और संयुक्त अरब गणराज्य युद्ध में विनष्ट अपनी सैन्य सामग्री की पूर्ति सोवियत संघ की सहायता से कर चुके हैं और इजरायल भी पश्चिमी देशों विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका की सहायता से अपनी विनष्ट शक्ति को बहुत कुछ पूरा कर चुका है। दोनों पक्षों के बीच तनाव की स्थिति कायम है और इस कारण सीमा पर हमेशा सैनिक झड़पें होती रहती हैं।

पश्चिम एशिया में अरब राज्यों और इजरायल के बीच शान्ति-समझौता कराने के लिए कई प्रयास हुए हैं। नवम्बर १९६७ में सुरक्षा परिषद् द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव ने दोनों पक्षों में समझौता वार्ता कराने के लिए गुन्नार जारिंग को पश्चिम एशिया भेजा। जारिंग ने लगभग एक वर्ष तक इस दिशा में प्रयास किया, लेकिन वे सब पूर्ण रूप से विफल सिद्ध हुए। इसमें जारिंग का कोई दोष नहीं था। सच बात तो यह है कि एक वर्ष तक शान्ति स्थापना के प्रयासों का जिन्दा रखना भी एक बड़ा काम था, क्योंकि १९६७ के नवम्बर में सुरक्षा परिषद् ने जो प्रस्ताव पारित किया था वह इतना अस्पष्ट था कि जारिंग के प्रयत्नों के सफल होने में किसी को भी आशा नहीं थी। सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव को अलग-अलग पक्षों ने अलग अलग ढंग से ग्रहण किया, उसकी अलग-अलग व्याख्याएँ कीं। इसलिए अरब और इजरायली प्रतिनिधियों के बीच वार्ता, पत्र-व्यवहार और एक-दूसरे पर दोषारोपण से आगे नहीं बढ़ पायी। जब अरबों को इस बात का विश्वास हो गया कि इस प्रकार की वार्ता से उन्हें कुछ मिलनेवाला नहीं है तो उन्होंने वार्ता से पीछे हटने का फैसला किया।

जारिंग मिशन की असफलता के उपरान्त दोनों पक्षों में तनातनी खूब बढ़ गयी। अरब और इजरायली सेनाओं के बीच जहाँ तहाँ मुठभेड़ का क्रम दिनों-दिन तेज होता गया। दोनों पक्षों के बीच भयंकर तनातनी के इस वातावरण में इजरायल को चेतावनी के रूप में सोवियत संघ ने अपनी एक शान्ति योजना सितम्बर १९६८ में रखी। सोवियत संघ ने कड़े शब्दों में चेतावनी दी कि इजरायल अरब राज्यों के विरुद्ध भड़काने वाली कार्रवाई बन्द करे नहीं तो उसके नतीजे भुगतने के लिए तैयार हो जाय। चेतावनी के साथ-साथ सोवियत संघ ने पश्चिम एशिया में शान्ति स्थापना के लिए एक चार सूत्री शान्ति-योजना रखी जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं : (१) इजरायली सेनाओं का जून १९६७ से पहले की सीमाओं पर वापसी, (२) शान्ति बनाये रखने के लिए सीमाओं पर सुदृढ़ संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा व्यवस्था, (३) दोनों पक्षों के चार बड़े देश, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ दोनों पक्षों के बीच युद्ध फिर से नहीं छिड़ने दें, (४) अरब राष्ट्रों द्वारा इजरायल के विरुद्ध युद्ध की स्थिति की समाप्ति।

चेतावनी के साथ रखी गयी इस शान्ति-योजना पर इजरायली प्रतिक्रिया तुरत सामने आयी। इजरायल के विदेश मंत्री एबान ने सोवियत योजना को अस्वीकार करते हुए कहा कि इसमें कोई नयी बात नहीं है। एबान का तर्क था कि निश्चित और स्पष्ट सीमा-रेखा की मान्यता के बिना सोवियत संघ इजरायली सेनाओं की वापसी चाहता है। उनके विचार में सोवियत योजना में अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग में स्वतन्त्र जहाजरानी के कानूनी अधिकार को नहीं

माना गया। इसलिए इसमें स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। इजरायली प्रधान मंत्री एश्कोल ने सोवियत चेतावनी के उत्तर में कहा कि सोवियत संघ इजरायल पर युद्ध की तैयारी का आरोप लगाकर अरबों को युद्ध के लिए फिर भड़का रहा है। इसके साथ ही ८ अक्टूबर, १९६८ को इजरायल ने पश्चिम एशिया की समस्या के हल के लिए एक नौ सूत्री कार्यक्रम पेश किया। लेकिन संयुक्त अरब गणराज्य ने इसको तत्काल अस्वीकार कर दिया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना होने पर भी दोनों पक्षों की ओर से एक दूसरे पर हमले होते रहते हैं। इस सिलसिला में २८ दिसम्बर, १९६८ के दिन का बेरुत के हवाई अड्डे पर इजरायली हमला सबसे महत्वपूर्ण था। लेबनान की राजधानी बेरुत में तेरह व्यापारी जहाज खड़े थे। इजरायली हेलीकाप्टरों ने एकाएक इन पर हमला करके इन्हें विनष्ट कर दिया। विश्व भर में इजरायल की इस कार्रवाही की आलोचना और भर्त्सना हुई और १ जनवरी १९६९ को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पास करके इजरायल को गम्भीर चेतावनी दी।

फरवरी-मार्च, १९६९ में पश्चिम एशिया की स्थिति पूर्ण विस्फोटक हो उठी। ११ फरवरी को अरब-इजरायल छापामारों के बीच जमकर गोलाबारी हुई, २४ फरवरी को इजरायल ने सीरिया के कुछ नगरों पर बम गिराये और २५ फरवरी को राष्ट्रपति नासिर ने संयुक्त अरब गणराज्य में आपात् की घोषणा कर दी। ८ मार्च, १९६९ को स्वेज नहर के पास संयुक्त अरब गणराज्य के तेल के कारखानों पर इजरायली सैनिकों ने बड़े पैमाने पर हमला कर दिया। इसी मुठभेड़ के दौरान संयुक्त अरब गणराज्य के सेनाध्यक्ष ले० जेनरल मोनेम रियाद् की मृत्यु हो गयी। मार्च में ही जोर्डान के साथ भी इजरायल की झड़पें हुई।

जनवरी, १९६९ और मार्च, १९६९ के बीच इस तरह के लगातार सैनिक मुठभेड़ों के मूल में यह बात थी कि पश्चिम एशिया की समस्या के समाधान के लिए न्यूयार्क में चार बड़े राष्ट्रों के बीच वार्ताएँ हो रही थी और इजरायल आक्रामक कार्रवाई करके इस वार्ता को असफल बनाना चाहता था। चार बड़े राष्ट्रों के सम्मेलन का प्रस्ताव जनवरी १९६९ में फ्रांस ने रखा था और अमेरिका, ब्रिटेन तथा सोवियत संघ इस पर राजी हो गये थे। ३ अप्रिल, १९६९ को न्यूयार्क में यह वार्ता शुरू हुई। लेकिन इजरायल ने शुरू से ही इसका विरोध किया। एक सरकारी विज्ञप्ति में इजरायल ने कहा कि वह पश्चिम एशिया से बाहर के राष्ट्रों की बैठक में इस क्षेत्र के सम्बन्ध में सिफारिशें करने का विरोध करता है। इस तरह की पद्धति से इस-क्षेत्र के देशों द्वारा आपस में शान्ति-वार्ता करने के उत्तरदायित्व पर आघात पहुँचता है। इजरायल के अनुसार यह वार्ता केवल बड़े राष्ट्रों की जोर-आजमाई का परिणाम है। १२ मई, १९६९ को इजरायल के नये प्रधान मंत्री ने और भी स्पष्ट शब्दों में इजरायल के दृष्टिकोण को रखा। उन्होंने कहा कि पश्चिम एशिया की समस्या के समाधान के लिए चार बड़े राष्ट्रों द्वारा रखे गये किसी प्रस्ताव पर विचार-विमर्श तक करने को इजरायल तैयार नहीं है। इस सम्बन्ध में उनका कोई भी फैसला व्यर्थ होगा।

लेकिन यह निश्चय है कि चार बड़ों का सम्मेलन कोई निर्णय नहीं कर सकेगा। इस सम्मेलन का कुल नतीजा यही निकला है कि चार बड़े राष्ट्र विश्व के सबसे विस्फोटक समस्या के

अफ्रिका यूरोपीय साम्राज्यवाद के चंगुल में फँसा रहा। अधिकांश अफ्रिका महादेश विभिन्न यूरोपीय शक्तियों के मध्य इस प्रकार बँटा हुआ था :

क्र० स०	नाम	क्षेत्रफल	१९६१ के जनगणना के अनुसार जनसंख्या
१	फ्रांसीसी अफ्रिका	४०,२२,१५०	४,४१,५२,६००
२	ब्रिटिश अफ्रिका	२०,२५,७१९	६,२४,३३,६४५
३	बेल्जियम अफ्रिका	९,२४,३००	१,२०,००,०००
४	पुर्तगाली अफ्रिका	७,७८,०००	९५,००,०००
५	स्पेनी अफ्रिका	१,३४,२००	१,४,९५,०००

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अफ्रिका के देशों में एक नयी जागृति आयी और वहाँ स्वतन्त्रता की भावना अंगड़ाई लेने लगी। सम्पूर्ण अफ्रिका में स्वतन्त्रा के लिए व्यापक संघर्ष हुआ जिसके फलस्वरूप अफ्रिकी देश एक-एक करके स्वतन्त्र होने लगे। इस काल में अफ्रिकी देशों को इस क्रम में स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई है :

क्र० स०	नाम प्रदेश	स्वतन्त्रता पूर्व प्रशासकीय देश	क्षेत्रफल (वर्गमील)	१९६१ के अनुसार जनसंख्या	स्वतंत्र होने की तिथि
१.	लिबिया	इटली	६,७९,३५८	१२ करोड़	नवम्बर १९५१
२.	इरिट्रिया	,,	,,	—	सितम्बर १९५२
३.	सूडान	ब्रिटेन	९,६७,५००	१० करोड़	जनवरी १९५४
४.	मोरक्को	फ्रांस	—	—	मार्च १९५६
५.	ट्यूनिशिया	फ्रांस	४८,३१३	३९,२५,०००	मार्च १९५६
६.	घाना	ब्रिटेन	९१,८४३	४८ लाख	मार्च १९५७
७.	गिनी	फ्रांस	१,०५,२००	३,००,०००	अक्टूबर १९५८
८.	कैमरून	फ्रांस	१,६६,४८९	३२,६५,०००	जनवरी १९६०
९.	मोरक्को (कुछ अंश)	स्पेन	—	—	मार्च १९६०
१०.	टोगा	फ्रांस	४,२१,८९३	१२ लाख	अप्रिल १९६०
११.	मालीसंघ	फ्रांस	—	—	जुलाई १९६०
१२.	कांगोली गणराज्य	बेल्जियम	९,४३,०००	१,३० करोड़	जुलाई १९६०
१[illegible].	सोमालिया	ब्रिटेन व इटली	—	—	जुलाई १९६०

क्र० सं०	नाम प्रदेश	स्वतन्त्रता पूर्व प्रशासकीय देश	क्षेत्रफल (वर्गमील)	१९६१ के अनुसार जनसंख्या	स्वतन्त्र होने की तिथि
१४.	मालागासी गणराज्य	फ्रांस	२,२८,०००	५१,७४,५२३	जुलाई १९६०
१५.	छाद	फ्रांस	४,९६,०००	२५,८०,०००	अगस्त १९६०
१६.	नाइजर	फ्रांस	४९,४५,०००	२४ लाख	अगस्त १९६०
१७.	आइवरी कोस्ट	फ्रांस	—	—	अगस्त १९६०
१८.	वोल्टाई गणराज्य	फ्रांस	—	—	अगस्त १९६०
१९.	गेबेन	फ्रांस	१,०३,०००	४,१२,५००	अगस्त १९६०
२०.	होमी	फ्रांस	४५,९००	१७,११,०००	अगस्त १९६०
२१.	कांगो गणराज्य	—	—	—	अगस्त १९६०
२२.	मध्यवर्ती अफ्रिका	—	—	—	अगस्त १९६०
२३.	नाइजीरिया	ब्रिटेन	३,७३,२५०	३.५ करोड़	अक्टूबर १९६०
२४.	मारितेनिया	फ्रांस	४,१५,९००	५ लाख	नवम्बर १९६०
२५.	सियरालियोन	फ्रांस	—	—	अप्रिल १९६१
२६.	रूआंडा-उरांडी	बेल्जियम	२०,५४०	४६,३०,०००	जुलाई १९६२
२७.	अल्जीरिया	फ्रांस	५८,२६,०००	१,०२,६५,०००	सितम्बर १९३२
२८.	युगाँडा	ब्रिटेन	९३,९८१	७५,१७,०००	अक्टूबर १९६२
२९.	तंगानिका	ब्रिटेन	३,६२,६८८	९० लाख	दिसम्बर १९६२
३०.	केनिया	ब्रिटेन	—	—	दिसम्बर १९६३
३१.	जंजीबार	ब्रिटेन	—	—	दिसम्बर १९६३
३२.	मलावी	ब्रिटेन	—	—	— १९६४
३३.	जेम्बिया	ब्रिटेन	—	—	— १९६४
३४.	गेम्बिया	ब्रिटेन	—	—	— १९६५
३५.	गुआना	ब्रिटेन	—	—	मई १९६६
३६.	बोत्सवाना	ब्रिटेन	—	—	सितम्बर १९६६
३७.	लेसोथो	ब्रिटेन	—	—	अक्टूबर १९६६
३८.	बारबाडोस	ब्रिटेन	—	—	नवम्बर १९६६
३९.	मारिशस	ब्रिटेन	—	—	मार्च १९६८

अल्जीरिया का स्वाधीनता संग्राम

उपर्युक्त सभी देशों को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष करना पड़ा, लेकिन इन सभी स्वतन्त्रता संग्रामों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृष्टिकोण से अल्जीरिया की आजादी की लड़ाई विशेष महत्त्व रखती है। अफ्रिका में यूरोपीय साम्राज्यवाद का सबसे दर्दनाक पहलू अल्जीरिया में देखने को मिला था। फ्रांस में जनरल दगाल की तानाशाही की स्थापना से अल्जीरिया की समस्या तो संसार के स्वतन्त्रता प्रेमियों के लिए और भी गम्भीर चिन्ता का

विषय बन गयी थी। अल्जीरिया पर फ्रांस का अधिकार १८३० में ही कायम हुआ था। अच्छी जलवायु के कारण यहाँ बहुत-से फ्रांसीसी आकर बस गये और अल्जीरिया के सभी भू-भाग तथा प्राकृतिक साधनों पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया। अल्जीरिया के निवासी बराबर इसका विरोध करते रहे, परन्तु फ्रांस हमेशा इनका क्रूर दमन करता रहा। अल्जीरिया वालों को शान्त करने के लिए फ्रांस की सरकार ने फ्रांस को राष्ट्रीय सभा में उन्हें प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया। लेकिन अल्जीरिया वाले इससे सन्तुष्ट नहीं हुए। १ जुलाई, १९६१ को उन्होंने एक राष्ट्रीय मोर्चा का निर्माण किया जो राष्ट्रीय स्वाधीनता के मोर्चे (Front of National Liberation, F. N. L.) के नाम से विख्यात हुआ। १ नवम्बर १९५४ को इस संगठन ने फ्रांस के विरुद्ध स्वतन्त्रता के लिए सशस्त्र संग्राम छेड़ दिया जो १९६२ तक लगातार चलता रहा और जिसमें दोनों पक्षों के लोग हजारों हजार की संख्या में कीड़े-मकोड़े की तरह मारे गये।[1] अल्जीरिया में युद्ध बन्द करने के अनेक प्रयास हुए, लेकिन सबके सब व्यर्थ। यह प्रश्न संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी उठाया गया लेकिन फ्रांस की हठधर्मी के कारण वहाँ कुछ न हो सका। फिर भी अल्जीरिया वालों ने अपना संग्राम जारी रखा। स्वाधीनता के संघर्ष को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए काहिरा में फरहठ अब्बास की अध्यक्षता में सितम्बर, १९५८ में अल्जीरिया की एक समानान्तर सरकार की स्थापना भी कर दी गयी। इस सरकार को चीन ने मान्यता प्रदान कर दी। इस स्थिति का सामना करने के लिए फ्रांस के राष्ट्रपति दगाल ने आत्मनिर्णय एवं जनमत के आधार पर अल्जीरिया को स्वतन्त्रता देने का आश्वासन दिया। विद्रोहियों की ओर से यह मांग की गयी कि जनमत संग्रह करने के पूर्व फ्रांसीसी सेना अल्जीरिया से हटा ली जाय। किन्तु दगाल इसे मानने के लिए तैयार नही हुआ। १९६० में राष्ट्रपति दगाल अल्जीरिया गया और वहाँ से लौटकर अल्जीरिया के प्रश्न पर अल्जीरिया तथा फ्रांस मे जनमत संग्रह करने का प्रस्ताव किया। यद्यपि जेनरल दगाल ने।"अल्जीरिया वालो के लिए" के प्रश्न पर जनमत कराने का प्रस्ताव रखा था, फिर भी, अब्बास ने दगाल के प्रस्ताव का स्वागत नही किया और अपने अनुयायियों को वोट नहीं देने का आदेश दिया। तो भी जनवरी, १९६१ में जनमत संग्रह का कार्य हुआ। इसमें डेढ़ करोड़ लोगो ने अल्जीरिया में स्वायत्त-शासन स्थापित होने के पक्ष में और पचास लाख इसके विपक्ष में वोट दिये। साठ लाख मनुष्यों ने वोट नहीं दिया। इस प्रकार "अल्जीरिया अल्जीरियावालों के लिए" के पक्ष में अधिकांश मत आये। लेकिन दगाल द्वारा प्रस्तावित स्वायत्त शासन प्राप्त करने पर भी अल्जीरिया पूर्ण स्वतन्त्र नहीं होता था। किसी-न-किसी रूप में उस पर फ्रांस का अधिकार बना ही रहता। कुछ दिनो के बाद अल्जीरिया की अस्थायी सरकार ने बातचीत करने की इच्छा प्रकट की और ऐसा प्रतीत होने लगा कि अल्जीरिया की समस्या का कोई समाधान हो जायगा।

फ्रांस में कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो जनरल दगाल की अल्जीरियाई नीति को बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे। इसमें सेना के कुछ अधिकारी प्रमुख थे जिन्होने दगाल का विरोध करने के लिए एक संगठन (OAS) कायम कर लिया था। जब इस बात की सम्भावना प्रतीत होने लगी कि

१. फ्रांसीसी विवरण के अनुसार १९६१ तक इस युद्ध में १,४१,००० मुस्लिम विद्रोही सैनिक और १६,२५० फ्रांसीसी सैनिक मारे गये। असामरिक हताहतों की संख्या इसमें सम्मिलित नहीं है। अल्जीरिया के शहरों में मारे गये असामरिक मनुष्यों की संख्या महीने में ५०० से अधिक थी। अल्जीरिया के राष्ट्रवादी नेताओं का कहना है कि १० लाख से अधिक अल्जीरियाई मारे जा चुके हैं।

दोनों दलों में कोई समझौता हो जायगा तो २२ अप्रिल १९६१ को कुछ अवकाश प्राप्त फ्रांसीसी सैनिक अधिकारियों ने सहसा अल्जियर्स पर आक्रमण करके उसपर आधिपत्य कायम कर लिया। किन्तु, दगाल ने इस सैनिक विद्रोह को दबा दिया और २० मई, १९६१ को इरियन में अल्जीरिया के राष्ट्रवादियों के साथ वार्त्ता शुरू कर दी। किन्तु यह वार्त्ता सफल नहीं हुई। ३० दिसम्बर को एक दूसरे सम्मेलन के फलस्वरूप राष्ट्रपति दगाल ने स्वतन्त्र अल्जीरिया के साथ एक समझौता करने की घोषणा की। १८ मार्च, १९ २ को फ्रांसीसी सरकार की ओर से घोषणा की गयी कि अल्जीरिया और फ्रांस के बीच युद्ध विराम समझौता सम्पन्न हुआ। १ जुलाई १९६२ को अल्जीरिया स्वतन्त्र हो गया और इस प्रकार एक महान् स्वतन्त्रता संग्राम का अन्त हुआ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरत बाद अल्जीरिया की राजनीतिक स्थिति कुछ डॉवाडोल हो गयी। बेन बेला और बेन खेदा के बीच सत्ता प्राप्त करने के लिए संघर्ष शुरू हो गया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि कांगो की स्थिति अल्जीरिया में भी उत्पन्न हो जायगी। लेकिन दोनों नेताओं में समझौता हो गया और अल्जीरिया एक गृह-युद्ध से बच गया। १९६४ में अल्जीरिया में सैनिक क्रांति हो गयी और वहाँ का शासन सूत्र सैनिक अफसरों के हाथ में आ गया।

अफ्रिका के परतन्त्र देश—अल्जीरिया की स्वतन्त्रता के बाद भी अभी अफ्रिका में कुछ स्वतन्त्र राज्य बने हुए हैं। पुर्तगाल के अन्दर अंगोला, मौजाम्बिक, पुर्तगीज गीनी, केपवर्डे, मेडोरा टापू और एजोर टापू; फ्रांस के अधीन, फ्रेंच सोमालीलैंड, सहारा, फ्रेंच इक्वेटोरियल अफ्रिका तथा रीनियन टापू; स्पेन के अधीन, रिओडिओरा, स्पेनिश गीनी, कनारी, द्वीप समूह और स्पेनिश सहारा एवं ब्रिटेन के अधिकार में, सेंटहेलना, एसन्सन, स्वीजीलैंड तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख में दक्षिण पश्चिम अफ्रिका अभी तक अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर पाये हैं। लेकिन इन देशों की स्वतन्त्रता को अब अधिक दिनों तक नहीं रोका जा सकता है।

अफ्रिकी एकता का आन्दोलन— अफ्रिकी देशों के सामने उपनिवेशवाद से उत्पन्न कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिनका समाधान तभी हो सकता है जब उसमें एकता कायम रहे। इस एकता की प्राप्ति के लिए अफ्रिका के नव स्वतन्त्र राज्य सचेष्ट हैं। सामान्य समस्याओं पर विचार करने और उसका समाधान ढूँढ़ने के लिए अफ्रिका के राज्यों में सहयोग करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है। अप्रिल १९५८ का अफ्रिका के स्वतन्त्र राष्ट्रों का अकरा-सम्मेलन इसका प्रबल प्रमाण है। यह स्वतन्त्र अफ्रिकी राष्ट्रों का पहला सम्मेलन था जिसको घाना के प्रधान मन्त्री डा० इन्क्रूमा ने बुलाया था और जिसमें भाग लेने वाले राष्ट्र थे अबीसीनिया, घाना, लीबिया, लाइबेरिया, मोरक्को, सूडान, ट्यूनिसिया और संयुक्त अरब गणराज्य। इस सम्मेलन का उद्देश्य सामान्य हितों के प्रश्न पर विचार विनिमय करना, अफ्रिकी राष्ट्रों की स्वतन्त्रता की रक्षा करना, और सुदृढ़ बनाना, औपनिवेशिक शासन के अधीन पड़े हुए राष्ट्रों की मुक्ति का रास्ता ढूँढ़ना और विश्व-शांति के प्रश्न पर विचार करना था। सम्मेलन में विविध विषयों पर प्रस्ताव पास किये गये। अफ्रिकी राष्ट्रों के बीच राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सहयोग स्थापित करने तथा प्रतिवर्ष १५ अप्रिल को अफ्रिकी स्वतन्त्रता-दिवस मनाने का निश्चय किया गया।

दिसम्बर १९५८ में अकरा में ही अखिल अफ्रिकी जन-सम्मेलन का पहला अधिवेशन हुआ। इसमें अफ्रिका के विविध देशों के राजनीतिक दलों, ट्रेड यूनियनों, छात्र आन्दोलन

अन्य संस्थाओं के दो सौ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। यद्यपि इस सम्मेलन का आयोजन सरकारी स्तर पर नहीं किया गया था तथापि इसमें सभी स्वतन्त्र अफ्रिकी देशों के शासक दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। सम्मेलन में यह सुझाव लाया गया कि अफ्रिका में अहिंसात्मक क्रांति लाने के लिए महात्मा गाँधी की पद्धति का अनुकरण करते हुए योजना तैयार की जाय और उस पर अमल किया जाय। सम्मेलन एक प्रस्ताव ने पास करके संयुक्त राष्ट्रसंघ से अनुरोध किया कि वह साम्राज्यवादी राष्ट्रों को अफ्रिका से हट जाने का आदेश दे। एक दूसरे प्रस्ताव के द्वारा अफ्रिका के स्वतन्त्र राज्यों से यह अनुरोध किया गया कि वे अफ्रिका के परतन्त्र देशों को स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयास में हर सम्भव सहायता दें और प्रजातीय विभेद की नीति बरतनेवाली दक्षिण अफ्रिका की सरकार से अपना कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लें। एक और प्रस्ताव में उसने अल्जीरिया की अस्थायी सरकार को मान्यता देने तथा अफ्रिकी लोगों की रक्षा के लिए एक अफ्रिकी स्वयंसेवक दल तैयार करने को कहा था। सम्मेलन के स्वतन्त्र अफ्रिकी राष्ट्रों का एक राष्ट्रमंडल बनाने का भी निश्चय किया। इस योजना के अन्तर्गत सम्पूर्ण अफ्रिकी राष्ट्रों को पाँच समूहों में बाँटने का विचार हुआ जो एक अखिल अफ्रिकी कामनवेल्थ में सम्मिलित रहेंगे।

अफ्रिकी राष्ट्रों का एक तीसरा सम्मेलन जनवरी १९६२ में नाइजेरिया के एक शहर लागोस में हुआ। इसे लागोस-सम्मेलन कहा जाता है और इसमें बीस अफ्रिकी राज्यों[1] के प्रतिनिधि भाग लिये। यहाँ मुख्यतः अफ्रिकी देशों की आर्थिक समस्या पर विचार किया गया। सम्मेलन में सम्मिलित राज्यों ने अपने आर्थिक विकास के लिए एक सनद स्वीकार की जिसमें निम्नलिखित बातें कही गयी थीं:

(१) सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों के बीच आर्थिक एवं सामाजिक बन्धन को मजबूत बनाने की चेष्टा की जायगी जिससे भविष्य में सारे अफ्रिका में एक अखण्ड आर्थिक व्यवस्था कायम हो सके।

(२) अफ्रिका की आर्थिक उन्नति के लिए विभिन्न राज्यों के राजनीतिक क्रिया-कलापों में समन्वय किया जाय।

(३) विभिन्न देशों की स्वास्थ्य और शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था में परस्पर सहयोग कायम हो।

(४) सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों की आर्थिक सहयोगिता के उद्देश्य से एक संस्था गठित की जाय जिसके द्वारा विभिन्न देशों के बीच वाणिज्यिक प्रतिबन्ध को दूर करने की चेष्टा की जा सके। यूरोप में जिस प्रकार एक साझा बाजार कायम हुआ उसी प्रकार का एक साधारण प्रशुल्क इलाका कायम किया जाय जिसके सदस्य देश एक ही दर पर बहिःशुल्क का प्रवर्त्तन न करें।

आदिस अबाबा का सम्मेलन :—अफ्रिकी महादेश की राजनीति में मई, १९६६ के आदिस अबाबा सम्मेलन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा। इस सम्मेलन में अफ्रिका के बत्तीस स्वतन्त्र राज्यों के राज्यप्रधान शामिल हुए थे। सम्मेलन का सबसे प्रमुख काम प्रजातिवाद तथा उपनिवेश-

१. लागोस सम्मेलन में नाइजेरिया, अबीसीनिया, गैम्बिया, सियरालियोन, लीबिया, मडागास्कर, रोडेशिया, लाइबेरिया, अल्जीरिया, ट्यूनिशिया, अन्गोला, केनिया, टोगोलैंड, सूडान, कैमरून, उगांडा, टैंगनिका, सोमाली तथा दक्षिण अफ्रिका शामिल हुए थे।

वाद के विरुद्ध प्रस्ताव पास करना था। इस प्रस्ताव में उपनिवेशवादी राज्यों को अपने उपनिवेशों को यथाशीघ्र स्वतन्त्र कर देने का आग्रह किया गया था। साथ ही, एक 'स्वतन्त्रता फण्ड' भी कायम किया गया। इस फण्ड में जो धन जमा होगा उसका प्रयोग अफ्रिका के पराधीन राज्य की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए किया जायगा। सम्मेलन में यह भी निर्णय हुआ कि अफ्रिका के सभी स्वतन्त्र राज्य पुर्तगाल और दक्षिणी अफ्रिका की सरकार के साथ अपने कूटनीतिक और आर्थिक सम्बन्ध तोड़ लें तथा उसके जहाजों को अफ्रिकी बन्दरगाहों पर लगाने की सुविधा नहीं दें। इस निर्णय के अनुसार अभी तक अनेक अफ्रिकी राज्यों ने पुर्तगाल और दक्षिण अफ्रिका की सरकारों के साथ अपने सम्बन्ध तोड़ लिये हैं।

आदिस अबाबा सम्मेलन की सबसे महत्त्वपूर्ण सफलता "अफ्रिकी एकता का चार्टर" का प्रतिपादन है। इस चार्टर में ३६ धाराएँ हैं और इसका मुख्य उद्देश्य अफ्रिकी देशों को एकता के सूत्र में बाँधना है। चार्टर के द्वारा अफ्रिकी राज्यों के राज्याध्यक्षों का एक संगठन कायम हुआ है जिसको एसेम्बली कहा जाता है। इस एसेम्बली की बैठक प्रत्येक साल होगी और यह अफ्रिकी राज्यों के संगठन की सर्वोच्च संस्था रहेगी। इसके अतिरिक्त अफ्रिकी राज्यों के विदेश मन्त्रियों की एक कौंसिल निर्मित की गयी है। इस कौंसिल की बैठक साल में दो बार होगी। कौंसिल का काम अफ्रिकी राज्यों के विविध कार्यों में यथासम्भव एकरूपता लाना होगा और यह राज्याध्यक्षों की एसेम्बली के प्रति उत्तरदायी रहेगी। इस संगठन का एक सचिवालय भी होगा जिसका प्रधान एक महासचिव होगा। सचिवालय अफ्रिकी राज्यों के संगठन का एक स्थायी प्रशासकीय संस्था होगी। एसेम्बली, कौंसिल और सचिवालय के अतिरिक्त संगठन के और कई आयोग—आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सुरक्षा, वैज्ञानिक तथा स्वास्थ्य, आदि—होंगे जो सम्बद्ध समस्याओं पर संगठन में सम्मिलित राज्यों को परामर्श देंगे। इसके अतिरिक्त मध्यस्थता और पंचनिर्णय के लिए एक कमीशन भी स्थापित की गयी जो सदस्य-राष्ट्रों के सभी पारस्परिक विवादों का समाधान करेगा। सम्मेलन में उपस्थित राष्ट्रों ने यह भी वचन दिया कि वे एक दूसरे के विरुद्ध किसी प्रकार की विध्वंसात्मक कार्यवाही नहीं करेंगे। अपने सभी विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग पर हल करेंगे। नये संगठन के निम्न लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं—

(१) पराधीन अफ्रिकी राष्ट्रों को स्वतन्त्रता प्राप्त कराने में भरसक सहायता और सक्रिय सहयोग।

(२) दूसरे राज्य के घरेलू मामले में अहस्तक्षेप की नीति।

(३) विवादों का शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा शान्तिपूर्ण समाधान।

(४) एक दूसरे की संप्रभुता और प्रादेशिक अखंडता का सम्मान।

(५) तटस्थता की नीति का पालन।

दूसरे शब्दों में आदिस अबाबा सम्मेलन में अफ्रिकी देशों के राज्याध्यक्षों ने कुछ उसी प्रकार के उद्देश्यों की घोषणा की जैसे कुछ वर्ष पूर्व बांडुंग सम्मेलन द्वारा की गयी थी। इस दृष्टि से यदि हम आदिस अबाबा सम्मेलन को "अफ्रिका का बांडुंग" कहें तो कोई गलत न होगा।

अफ्रिकी राज्यों की एकता और स्वतन्त्रता की दिशा में इस संगठन का निर्माण एक युगान्तरकारी घटना है। यह इस बात का द्योतक है कि अफ्रिका के राज्य अब जग उठे हैं और उनका शोषण अब सम्भव नहीं है। इस तथ्य को अबीसीनिया के सम्राट् हाइले सिलेसी ने अपने भाषण में स्पष्ट कर दिया था।[1]

स्वतन्त्र अफ्रिका और संयुक्त राष्ट्रसंघ—अफ्रिका के देशों की स्वतन्त्रता ने सबसे अधिक संयुक्त राष्ट्रसंघ के स्वरूप को प्रभावित किया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में उनकी सदस्य-संख्या अब पैंसठ तक पहुँच गयी है और इस तरह संघ में उनका एक नया शक्तिशाली गुट कायम हो गया है जो अमरीकी और सोवियत गुटों से पृथक् है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा का कोई निर्णय अफ्रिका के राष्ट्रों के मतदान पर ही अब निर्भर करता है। यदि ये संगठित होकर काम करें तो कोई भी प्रस्ताव इनके सहयोग के अभाव में नहीं पारित हो सकता है। यह एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है जो संयुक्त राष्ट्रसंघ कुछ वर्ष पूर्व संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथों का खिलौना था, उस पर अब वस्तुतः अफ्रिका का प्रभुत्व कायम हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन का यह एक नया लक्षण है जिसकी अवहेलना अब नहीं की जा सकती है।

अफ्रिका का भविष्य—अफ्रिका एक अत्यन्त ही धनवान महादेश है। प्राकृतिक साधनों से यह परिपूर्ण है। लेकिन यहाँ का राजनीतिक जीवन कई कारणों से बहुत अस्थिर है। यहाँ की जनजातियों में शिक्षा और एकता का अभाव है, लोकतन्त्र के सिद्धान्त से वे कम परिचय हैं और परिपक्व राजनीतिक नेतृत्व की बड़ी कमी है। प्राविधिक विशेषज्ञ अथवा अन्य क्षेत्रों में काम करने वाले अनुभवी व्यक्तियों की भी कमी है। इन सब कारणों से यहाँ आन्तरिक शान्ति और सुशासन की समस्या बड़ी जटिल है। इस स्थिति में, आज के युग में, जब संसार पर प्रभुत्व कायम करने के लिए दो महाशक्तियों में होड़ लगी हुई है, इस बात की सम्भावना बहुत बढ़ गयी है कि अफ्रिका पूरब और पश्चिमी के संघर्ष का स्थल बन जाय। हाल के वर्षों में कांगो में जो कुछ हुआ है उसको देखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सोवियत और अमरीकी दोनों गुट यहाँ अपना प्रभाव जमाना चाहते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अफ्रिका की समस्याएँ विश्व-राजनीति की प्रमुख समस्या बनी रहेंगी। आगे के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के मुख्य स्थल अफ्रिका के देश ही होंगे और अफ्रिका की राजनीति पर संसार की शान्ति का भाग्य निर्भर करेगा।

दक्षिण रोडेशिया का संकट

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—जम्बेजी नदी तथा उत्तरी ट्रांसवाल के मध्य में स्थित दक्षिणी रोडेशिया अफ्रिका का एक देश है जिसके पूर्व में पुर्तगाली पूर्वी अफ्रिका तथा पश्चिमी में बेचुआनालैंड है। इसका क्षेत्रफल १ लाख, ५० हजार और ३३३ वर्गमील है। यहाँ की अफ्रिकी जनसंख्या २४ लाख २० हजार है तथा यहाँ के २ लाख यूरोपीय और १४ हजार अन्य देशों के

1. "The summit conference would stand as a shining landmark in African history······It had given us all courage and faith for the future. May this continental union last many a thousand years."

—Emperor Haile Selassise, *Hindustan Times*, May 26, 1963.

लोग निवास करते हैं। ११ नवम्बर, १६६५ को इआन स्मिथ के प्रधान मंत्रीत्व में यहाँ के श्वेत सरकार ने ब्रिटेन के खिलाफ एकतरफी स्वतन्त्रता की घोषणा (Unilateral Declaration of Independence) करके एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय संकट को खड़ा कर दिया।

आधुनिक दक्षिणी रोडेशिया में उन्नीसवीं शताब्दी में मशोने और मताबिले नामक दो राज्य थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में रोड नामक एक महत्वाकांक्षी अंग्रेज ने इस क्षेत्र में प्रवेश करके इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। उसी के नाम पर इस देश का नाम रोडेशिया पड़ा। उत्तर-पश्चिमी रोडेशिया उत्तर-पूर्व रोडेशिया को मिलाकर उत्तरी रोडेशिया का नाम दिया तथा शेष दक्षिणी रोडेशिया कहलाया। अतएव दोनों पर ब्रिटिश साउथ कम्पनी का शासन चलता रहा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से दक्षिणी रोडेशिया में काफी संख्या में यूरोपीय आकर बसने लगे। १९२३ में यहाँ एक मतदान हुआ जिसमें यह पूछा गया कि दक्षिण रोडेशिया के यूरोपीय निवासी दक्षिण अफ्रिका यूनियन के साथ मिलना चाहते है या अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखना चाहते हैं। मतदान पृथक् स्वशासी रहने के पक्ष में हुआ। अतएव १९२३ में दक्षिण रोडेशिया एक स्वशासी राज्य बन गया।

मध्य अफ्रिका संघ—१८९१ में ब्रिटिश सरकार ने पड़ोस के न्यासालैंड पर भी अपना अधिकार कायम कर लिया। १९२४ में ब्रिटेन ने उत्तरी रोडेशिया का शासन अपने हाथ में ले लिया और १९५३ में ब्रिटिश सरकार ने उत्तरी रोडेशिया, न्यासालैंड तथा दक्षिण रोडेशिया को मिलाकर मध्य अफ्रिकी संघ (Central African Federation) बना डाला। उत्तरी रोडेशिया और न्यासालैंड के लोगों ने इस संघ का विरोध किया लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला। इस संघ में अफ्रिकी लोगों का बाहुल्य था। संघ की कुल छिहत्तर लाख आबादी में तेईस लाख अफ्रिकी थे।[1] फिर भी विडम्बना यह थी कि वहाँ अफ्रिकी लोग पराधीनता का जीवन बिता रहे थे और सर्वत्र दक्षिणी रोडेशिया के अल्पसंख्यक यूरोपीयों का प्रभाव था। संघ का जो संविधान बना उसमें यह व्यवस्था की गयी कि विधान सभा के कुल उनसठ सीटों में तिरपन सीटें निर्वाचन से भरे जायें। लेकिन निर्वाचक की योग्यता कुछ इस प्रकार रखी गयी कि कोई अफ्रिकी चुनाव में खड़ा नहीं हो सके। निर्वाचन कानून ऐसा बनाया गया कि शायद ही कोई अफ्रिकी उसकी योग्यता पूरी करके उम्मीदवार हो सके। इस प्रकार की प्रतिबन्धित योग्यताओं के परिणाम संघ के प्रथम चुनाव में दृष्टिगोचर हो गये। उस चुनाव में दक्षिणी रोडेशिया चालिस हजार यूरोपियों ने मत डाले थे और केवल चार सौ उनतीस अफ्रिकियों को ही इसका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उत्तरी रोडेशिया में तो केवल तीन अफ्रिकियों को यह अधिकार मिला था।

संघ के अफ्रिकी निवासियों की स्थिति दक्षिण अफ्रिकी यूनियन के अफ्रिकियों की स्थिति से कोई अच्छी नहीं थी। प्रजातीय भेदभाव यहाँ भी चरम सीमा पर था जिसके कारण आज

---

१. यूरोपीयों और अफ्रिकियों का अनुपात :—
(i) दक्षिणी रोडेशिया—१ : १२
(ii) उत्तरी रोडेशिया —१ : ४२
(iii) न्यासालैंड —१ : ५८८

भी दक्षिण रोडेशिया का अफ्रिकी जन अपने ही देश में अपार कष्ट भोग रहे हैं। यहाँ के अफ्रिकी यूरोपियो के साथ होटलों में खा-पी नहीं सकते, पार्क में बैठ नहीं सकते और गाड़ियों में चल नहीं सकते हैं। जीवन के हर पहलू में मूल निवासियों के साथ घोर अत्याचार और उनका प्रबल शोषण होता है। इस स्थिति में अफ्रिकी निवासियों के लिए इस व्यवस्था का विरोध करना स्वाभाविक था। उत्तरी रोडेशिया तथा न्यासालैंड के अफ्रिकी संघ से अलग होकर अपनी स्वंतन्त्रता की माँग करने लगे।

लंदन सम्मेलन—रोडेशिया और न्यासालैंड के भविष्य पर विचार करने के लिए १९६० में लन्दन में एक सम्मेलन हुआ जिसमें सुप्रसिद्ध अफ्रिकी नेता हेस्टिंग्स बांदा अन्य राष्ट्रवादी नेताओं के साथ तथा कट्टरपन्थी गोरों की तरह से संघ के प्रधान मंत्री राय वेलन्स्की शामिल हुए थे। अफ्रिकी राष्ट्रवादियों ने यह मांग की कि न्यासालैंड को संघ से पृथक् करके स्वतन्त्र कर दिया जाय। लेकिन राय वेलन्स्की ने इस मांग का घोर विरोध किया। मध्य अफ्रिकी संघ को कायम करने में यह चाल थी कि इन तीनो देशों में ब्रिटेन का शासन खत्म करके स्थानीय गोरों का शासन स्थापित किया जाय। संघ को अफ्रिकी जनता इस चाल को समझती थी और इसलिए संघ से अलग होना चाहती थी। उधर प्रधान मंत्री वेलन्स्की जर्जर संघ के ढाँचे को कायम रखने का जी तोड़ प्रयास कर रहे थे। ऐसी दशा में लन्दन सम्मेलन का कोई परिणाम नहीं निकला।

वेलन्स्की का प्रयास—लन्दन वार्त्ता के भंग होने पर वेलन्स्की सोलसबरी वापस आये और अल्पसंख्यक गोरी के प्रभुत्व को सुदृढ़ करने के कार्य में लग गये। उन्होंने विद्यमान विधान सभा को भंग कराकर नये चुनाव करवाने की घोषणा की। २७ अप्रिल १९६० को चुनाव का दिन निश्चित किया गया और चुनाव में इस बात का निर्णय करना था कि संघ कायम की रहे अथवा नही। अफ्रिकियों ने इस निर्णय का विरोध किया क्योंकि वेलन्स्की जनता और मतदान से अभिप्राय गोरे लोगों से था; बहुत कम ही अफ्रिकी वोट दे सकते थे। अतएव सभी अफ्रिकी राष्ट्रवादियो ने घोषणा की कि वे चुनाव का बहिष्कार करेंगे। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि किसी भी हालत में संघ में रहना पसन्द नही करेंगे।

अफ्रिकियो में बढ़ते हुए राष्ट्रीयता को भावना को कुचलने के लिए वेलन्स्की सरकार ने पूरे वेग से दमन चक्र चलाना शुरू किया। अपनी कार्रवाइयों को उचित सिद्ध करने के लिए उसने यह झूठा आरोप लगाया कि अफ्रिकी नेताओं ने संघ सरकार के मंत्रियो की हत्या करने की योजना बनायी है। इसके बाद बांदा और अन्य अफ्रिकी नेताओं को कैद कर लिया गया और शान्ति-व्यवस्था की रक्षा के नाम पर न्यूनतम नागरिक स्वतन्त्रता को भी छीन लिया गया। किन्तु इस दमनचक्र की प्रतिक्रिया अच्छी नहो हुई और अशान्ति का वातावरण कायम ही रहा। अफ्रिकी जनमत का विरोध इतना प्रबल हो गया कि अन्त में विवश होकर वेलन्स्की सरकार को सभी नेताओं को मुक्त कर देना पड़ा। डाक्टर बांदा ने संघ के प्रदेशों तथा लन्दन का दौरा किया और स्वतन्त्रता की अपनी माँग फिर बुलन्द की।

मांकटन कमीशन—मध्य अफ्रिकी संघ की इस विषम राजनीतिक परिस्थिति में ब्रिटिश सरकार का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया। संघ पर उसका प्रभुत्व था और यदि वह चाहता

तो वेलन्स्की सरकार को अफ्रिकियों पर अत्याचार को रोक सकता था। लकिन ब्रिटिश सरकार की पूरी सहानुभूति गोरों के साथ थी। यह तो आरम्भ से ही स्पष्ट हो चुका था कि अंग्रेजों ने यह असमान और कृत्रिम संघ इसलिए बनाया था कि दक्षिणी अफ्रिका की तरह केन्द्रीय अफ्रिका पर भी गोरों का प्रभुत्व रहे। किन्तु स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र तथा समाजवाद की प्रबल लहर ने, जो समस्त अफ्रिकी महादेश में उठने लगी थी, उनका यह स्वप्न पूरा होने में विघ्न डाल दिया। अतएव ब्रिटिश सरकार ने परिवर्तन की हवा का रुख देखकर कुछ बुद्धिमानी से काम लिया और संघ की कार्य प्रणाली पर पुनर्विचार करके प्रतिवेदन पेश करने के लिए मांकटन कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन में अफ्रिकियो का प्रतिनिधित्व नाम-मात्र का था। मांकटन कमीशन का प्रतिवेदन बड़ा ही निराशाजनक था। इसमें इस बात का स्पष्ट संकेत किया गया था कि संघीय रूप को विनष्ट करने के बजाय उसमें उचित सुधार करना ही अच्छा रहेगा। रिपोर्ट की सारी सिफारिशों की अन्तर्ध्वनि मौजूदा संघ-व्यवस्था को किसी तरह बनाये रखने के पक्ष में था। शायद इसीलिए मास्को रेडियो ने मांकटन-रिपोर्ट की आलोचना करते हुए अफ्रिकी नेताओं की साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार के भ्रम-जाल में फँसने के विरुद्ध चेतावनी दी थी। इसके बावजूद अफ्रिकी राष्ट्रीयता को ध्यान में रखते हुए कमीशन को यह भी कहना पड़ा कि संघ के किसी इकाई को पृथक् होने की छूट कुछ शर्तों के साथ या निर्दिष्ट वर्षों के बाद दी जा सकती है। इस प्रकार कमीशन के प्रतिवेदन में अफ्रिकियो की स्वतन्त्रता की मांग सारे रूप में स्वीकार कर ली गयी।

वेलन्स्की की सरकार ने विक्षुब्ध होकर इस रिपोर्ट को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया और अफ्रिकियों के विरुद्ध पहले की तरह फिर से दमनचक्र चलाने के लिए यूरोपीय सेना को बड़े पैमाने पर संगठित करना शुरू किया। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने प्रतिवेदन पर अपना कोई आधिकारिक विचार प्रकट नही किया; किन्तु प्रतिक्रियाओं से यह ध्वनित हुआ कि वह मांकटन कमीशन की रिपोर्ट को मान लेने के लिए तैयार है। दिसम्बर १९६१ में लन्दन में समस्या पर विचार करने के लिए एक दूसरा गोलमेज सम्मेलन हुआ। लेकिन इस बार भी निर्णय नही हो सका। सर वेलेन्स्की की सरकार इस बात की कोशिश करती रही कि मध्य अफ्रिकी संघ में आतंक फैलाकर ब्रिटिश सरकार को मांकटन कमीशन की रिपोर्ट रद्दी की टोकरी में फेंकने के लिए विवश कर दिया जाय।

न्यासालैण्ड और उत्तरी रोडेशिया की स्वतन्त्रता—ब्रिटिश सरकार अफ्रिकी राष्ट्रीयता की उपेक्षा अधिक दिनों तक नहीं कर सकी। १ फरवरी, १९६३ को न्यासालैण्ड को आन्तरिक स्वशासन प्राप्त हो गया और हेस्टिंग्स बॉदा इसके प्रधान मन्त्री बने। १९६४ में न्यासालैण्ड के साथ-साथ उत्तरी रोडेशिया भी पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। लेकिन दक्षिण अफ्रिका के अफ्रिकी निवासी गुलामी के जंजीर में बँधे ही रहे। इसी समय वेलन्स्की ने पद त्याग कर दिया और उसके बाद इआन स्मिथ दक्षिण रोडेशिया के प्रधान मन्त्री बने।

एकतरफी स्वतन्त्रता की घोषणा की ओर:—नये प्रधान मन्त्री इआन स्मिथ (Ian Smith) ने पुनः पुराना राग अलापना शुरू किया। उन्होंने ब्रिटिश सरकार से मांग की कि वह दक्षिण रोडेशिया को पूर्ण स्वतन्त्र कर दे। साथ ही यह धमकी भी दी गयी कि यदि ब्रिटेन ऐसा नही करता तो दक्षिणी रोडेशिया की सरकार अपनी ओर से स्वतन्त्रता को

घोषणा कर देगी। ब्रिटिश सरकार भीतर ही भीतर इस मांग से सहानुभूति रखती थी। लेकिन संसार के लोकमत के भय से उसने बाहर से इस मांग का विरोध किया। दक्षिण रोडेशिया की स्वतन्त्रता के लिए उसने दो शर्तें रखी : (१) व्यापक मताधिकार के सिद्धान्त को मान्यता ताकि सभी वयस्क अफ्रिकियों को वोट देने का अधिकार मिले तथा (२) दक्षिण रोडेशिया श्वेत सेना का विघटन। स्मिथ सरकार ने इन शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया और स्पष्ट कर दिया कि उनकी सरकार स्वतन्त्रता की घोषणा करने का निश्चय कर चुकी है।

इस निश्चय को "जनता" द्वारा अनुमोदित कराने के लिए स्मिथ सरकार ने एक चुनाव का नाटक रचा। मई १९६५ में दक्षिणी रोडेशिया में एक आम चुनाव हुआ जिसमें विधान सभा के पचासी सीटों पर इआन स्मिथ की पार्टी के उम्मीदवार विजयी रहे। लेकिन यह चुनाव केवल ढोंग था, क्योंकि इसमें बहुसंख्यक अफ्रिकियों ने भाग नहीं लिया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में दक्षिणी रोडेशिया का प्रश्न :—स्मिथ सरकार की हरकतों से *अन्य अफ्रिकी राष्ट्रों का संशकित होना बिल्कुल स्वाभाविक था। अतएव कुछ अफ्रिकी राष्ट्रों* ने संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा में इसके प्रश्न को उठाया और सभा में कई बार इस आशय के प्रस्ताव स्वीकृत हुए कि प्रजातान्त्रिक न्याय के आधार पर दक्षिणी रोडेशिया को स्वतन्त्र करना चाहिए।

लन्दन सम्मेलन :—चुनाव के बाद इआन स्मिथ ने जोरों से स्वतन्त्रता की मांग की और पुनः उस धमकी को दुहराया कि यदि ब्रिटेन उसे स्वतन्त्र नहीं कर देता है तो दक्षिणी रोडेशिया की सरकार स्वयं अपने को स्वतन्त्र घोषित कर देगी। लेकिन ऐसा करना विद्रोह होता। अतएव स्मिथ सरकार ब्रिटिश सरकार की सहमति से ही कोई कार्य करना चाहती थी। अक्टूबर, १९६५ में लन्दन में स्मिथ और ब्रिटिश प्रधान मन्त्री हैरोल्ड विल्सन के बीच पुनः इस प्रश्न पर वार्ताएँ हुईं, लेकिन गतिरोध का अन्त नहीं हो सका। सम्मेलन की असफलता पर स्मिथ ने घोषणा कर दी कि वे दक्षिण रोडेशिया लौटकर कोई *"महत्त्वपूर्ण कदम"* उठायेंगे। इस महत्त्वपूर्ण कदम का अर्थ था एकतरफी स्वतन्त्रता की घोषणा। सोल्सबरी लौटकर उसने घोषित किया कि दिसम्बर के अन्त होने के पूर्व ही उनकी सरकार स्वतन्त्रता की घोषणा कर देगी। इस पर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने कहा कि यदि ऐसा हुआ तो ब्रिटिश सरकार इसको विद्रोह मानेगी और विद्रोह को कुचलने के लिए सभी सम्भव उपायों का अवलम्बन करेगी।

स्वतन्त्रता की घोषणा :—लेकिन इआन स्मिथ को विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार की धमकी में वास्तविकता का अंश लेशमात्र के लिए भी नहीं है। इस परिस्थिति में उसने जल्द-से-जल्द काम करने का निश्चय किया और ११ नवम्बर १९६५ को एक तरफी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी गयी। इस कार्य का विरोध संयुक्त राज्य अमेरिका न करे इसके लिए अमरीकी इतिहास का उदहरण प्रस्तुत किया। वर्तमान संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रारम्भिक तेरह उपनिवेश अठारहवीं शताब्दी में ब्रिटेन के मातहत में थे। उनलोगों ने भी विद्रोह करके अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की थी। दक्षिणी रोडेशिया भी उन्हीं का अनुकरण कर रहा है। लेकिन दक्षिणी रोडेशिया तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में बहुत भेद था। अमेरिका में बहुसंख्यक और

अल्पसंख्यक का कोई प्रश्न नहीं था। दक्षिणी रोडेशिया का यही मुख्य प्रश्न था कि क्या अल्पसंख्यक गोरों को बहुसंख्यक अफ्रिकियों पर शासन करने का अधिकार है?

स्वतन्त्रता की घोषणा की प्रतिक्रिया :—दक्षिणी रोडेशिया की गोरी सरकार की इस कार्रवाई की प्रतिक्रिया सारे संसार में हुई और सबों ने इसका विरोध किया। संसार के लोकमत ने यह मांग की कि ब्रिटेन को हस्तक्षेप करके इस विद्रोह को कुचल देना चाहिए। लेकिन यह सारा काण्ड तो ब्रिटेन की गुप्त सम्मति से हुआ था और इसलिए वह कोई सैनिक कार्रवाई करके विद्रोह दबाने के पक्ष में नहीं था। फिर भी, दुनिया को अपनी नेकनीयती जताने के लिए ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि वह एकता की स्वतन्त्र-घोषणा को मान्यता नहीं प्रदान करता है। दक्षिण रोडेशिया के गवर्नर हम्फ्रे गिब्बस ने स्मिथ सरकार को पदच्युत कर दिया और ब्रिटिश नागरिकों को आदेश दिया गया कि वे स्मिथ की गैर कानूनी सरकार से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रखें। चीनी रेडियो ने इसको "व्यर्थ का धौंस" कहा था क्योंकि इआन स्मिथ की सरकार तो वैधानिक रूप से पदच्युत कर दी गयी थी पर इसके हाथ से सत्ता छीनने की कोई कोशिश नहीं की गयी। स्मिथ की गैर कानूनी सरकार के विरुद्ध कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगाये गये। ब्रिटेन ने अपने सारे राजनीतिक, कूटनीतिक, सैनिक और आर्थिक सम्बन्धों का अन्त कर दिया और इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा-परिषद् के समक्ष रखा गया। सुरक्षा-परिषद् कई दिनों तक इस प्रश्न पर विचार करती रही, लेकिन उसका तात्कालिक परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। दक्षिणी रोडेशिया के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध और तेल के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने के प्रस्ताव स्वीकार किये गये।

अफ्रिकी एकता संगठन के समक्ष रोडेशिया का प्रश्न :—दक्षिणी रोडेशिया की गोरी सरकार की एकतरफी स्वतन्त्रता की घोषणा से अफ्रिका के अन्य राज्य अत्यन्त क्षुब्ध थे। इस समस्या का मुकाबला करने के लिए अफ्रिका एकता संगठन (Organisation of African Unity) की एक बैठक आदिस अबाबा में १ दिसम्बर, १५६५ को हुई। इस सम्मेलन ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके यह निश्चय किया कि यदि १५ दिसम्बर तक ब्रिटेन दक्षिणी रोडेशिया के विद्रोह को नहीं कुचल देता है तो अफ्रिका के सभी स्वतन्त्र राज्य उसके साथ दौत्य सम्बन्ध को समाप्त कर देंगे। यह भी निश्चय हुआ कि अफ्रिका का कोई देश दक्षिणी रोडेशिया के साथ कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं रखे और दक्षिणी रोडेशिया से आने-जाने वाले वायुयानों को अपने आकाश से नहीं गुजरने दे। ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध विच्छेद के निश्चय को १५ दिसम्बर, १६६५ को गिनी और टैन्जेनिया ने कार्यान्वित कर दिया, लेकिन अन्य अफ्रिकी देश परिस्थिति का अध्ययन ही करते रहे, उनकी उम्मीद सुरक्षा-परिषद् पर लगी हुई है और वे यह आशा करते हैं कि सुरक्षा-परिषद् ऐसी कोई कार्रवाई करेगी जिसे बहुसंख्यक अफ्रिकियों को दक्षिणी रोडेशिया में न्यायोचित अधिकार मिल सके।

दक्षिणी रोडेशिया के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध का कोई प्रभावकारी परिणाम नहीं हुआ है क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन के साम्राज्यवादी-प्रजातिवादी पूंजीपतियों का समर्थन और सहानुभूति स्मिथ की गैर कानूनी सरकार को प्राप्त है। दक्षिण अफ्रिकी यूनियन और पुर्तगाल के अफ्रिकी उपनिवेश की सीमाएँ दक्षिणी रोडेशिया से मिली-जुली हैं और

वहाँ से दक्षिणी रोडेशिया को हर तरह के सामान प्राप्त होते रहते हैं और इसलिए आर्थिक प्रतिबन्ध का कोई महत्त्व नहीं रह गया है।

दक्षिणी रोडेशिया के इस संकट पर सितम्बर १९६६ में लंदन से राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्री सम्मेलन में विचार किया गया। सम्मेलन में भाग लेने वाले अफ्रीकी प्रधान मन्त्रियों का मत था कि ब्रिटेन को स्मिथ-सरकार के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करना चाहिए क्योंकि उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध सफल नहीं हो सकते और इस प्रकार के दबाव से उसे सही रास्ते पर नहीं लाया जा सकता। किन्तु, विश्व लोकमत की अवहेलना करते हुए ब्रिटेन द्वारा अब तक दक्षिणी रोडेशिया की गोरी सरकार के विरुद्ध कोई सैनिक कार्रवाई नहीं की गयी है और उसका रुख अपेक्षाकृत नरम पड़ता जा रहा है। आलोचकों का मत है कि ब्रिटेन का व्यवहार गुप्त रूप से स्मिथ सरकार को प्रोत्साहित करने का है। उनका आरोप है कि भूतकाल में इस प्रकार की परिस्थितियाँ एशिया के कुछ देशों में होने पर ब्रिटेन ने सैनिक कार्यवाही करने पर किसी प्रकार की देरी नहीं की थी जबकि दक्षिणी रोडेशिया में गोरी सरकार के विरुद्ध उसने वास्तविक रूप में कोई कठोर रुख को नहीं अपनाया है।

ब्रिटेन द्वारा दिसम्बर, १९६६ में दक्षिणी रोडेशिया के साथ शान्तिपूर्वक तरीके से समस्या का हल निकालने हेतु प्रयत्न किया गया। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री विल्सन और रोडेशिया के प्रधान मन्त्री स्मिथ की मुलकात जिब्राल्टर के निकट हुई। दोनों प्रधान मन्त्रियों में दो दिनों तक मन्त्रणा होने के बाद एक गुप्त समझौता हुआ और यह आशा कि गयी कि रोडेशिया संकट का शांतिपूर्ण हल निकल आयगा। परन्तु स्वदेश लौटने पर १० दिसम्बर, १९६६ को रोडेशिया के प्रधान मन्त्री स्मिथ ने समझौते की किसी बात को मानने से इन्कार कर दिया। ब्रिटेन द्वारा विवश हो कर संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-परिषद् में रोडेशिया के विरुद्ध संघ के चार्टर की धारा ४१ के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव किया गया, जो स्वीकार हो गया। इसके द्वारा दक्षिणी रोडेशिया को भेजे जाने वाली बारह मुख्य वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। परन्तु उल्लेखनीय बात यह रही कि प्रतिबन्धित वस्तुओं में तेल को सम्मिलित नहीं किया गया क्योंकि ब्रिटेन का कहना था कि ऐसा करने से दक्षिणी अफ्रीका के मोजम्बिक के पड़ोसी राज्यों को कष्ट उठाना पड़ेगा।

ब्रिटेन द्वारा दक्षिणी रोडेशिया के विरुद्ध प्रस्तावित आर्थिक प्रतिबन्ध असफल सिद्ध हुए हैं। ब्रिटेन स्मिथ सरकार के विरुद्ध कोई भी कठोर कार्रवाई करने से किसी-न-किसी बहाने बचता रहा है। अतः इस बात की कोई सम्भावना नजर नहीं आती कि दक्षिणी रोडेशिया की अल्पसंख्यक गोरी सरकार का बहुसंख्यक अफ्रीकनों पर से निरंकुश शासन निकट भविष्य में समाप्त हो सकेगा।

मार्च १९६८ में रोडेशिया का प्रश्न पुनः उभर कर सामने आया। ७ मार्च को वहाँ तीन राष्ट्रवादी अफ्रिकियों को फांसी पर लटका दिया गया। १२ मार्च तक कुछ और अफ्रिकी भी फाँसी पर लटकाये गये। समस्त संसार में इस अमानुषिक कार्य पर समवेदना व्यक्त की गयी। पोप पॉल ने गोरी सरकार से अपील की कि वह "मुजरिमों" को मृत्युदण्ड न दे। लेकिन स्मिथ सरकार पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी रोडेशिया सरकार के इस कार्य की तीव्र निन्दा की गयी। ब्रिटिश सरकार से यह कहा गया कि अपने उपनिवेश में इस प्रकार

के अपराध को होने देना उसकी सबसे बड़ी असफलता है। अफ्रिकी अभियुक्तों को फाँसी देकर महारानी एलिज़ाबेथ और प्रिवी कौंसिल के आदेशों की अवहेना करके स्मिथ ने इस बात का पर्याप्त प्रमाण दिया है कि वह विलसन की धमकियों की परवाह नहीं करता।

रोडेशिया में कानून-व्यवस्था के भंग होने तथा आर्थिक प्रतिवन्ध की विफलता पर विचार करने के लिए २३ अप्रिल, १९६८ को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा-परिषद् की बैठक हुई। परिषद् में रोडेशिया के विरुद्ध पूर्ण नाकेबन्दी के प्रश्न पर विचार हुआ। ३० मई, १९६८ को सुरक्षा-परिषद् ने अपनी दूसरी बैठक में रोडेशिया के विरुद्ध पूर्ण नाकेबन्दी का प्रस्ताव पास कर दिया। लेकिन रोडेशिया की अर्थ-व्यवस्था पर इस नाकेबन्दी का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। १३ अक्टूबर, १९६८ को रोडेशिया की समस्या पर विचार करने के लिए ब्रिटिश प्रधान मंत्री विलसन और रोडेशियाई प्रधाम मंत्री इआन के बीच पुनः वार्ता हुई, लेकिन इसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। ६ जनवरी १९६९ को राष्ट्रमंडल के प्रधान मन्त्रियों के सम्मेलन में इस प्रश्न पर पुनः विचार हुआ लेकिन इसका भी कोई नतीजा नहीं निकला रोडेशिया की गोरी सरकार ने अब अपना एक संविधान भी बना लिया है। इस संविधान के लागू हो जाने से रोडेशिया पर गोरो का प्रभुत्व हमेशा के लिए कायम हो जायगा।

(५) एशियाई-अफ्रिकी देशों के संगठन की समस्या

सैकड़ों वर्षों तक एशिया और अफ्रिका के देश यूरोपीय देशों के गुलाम रहे। इन दो महादेशों पर उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक यूरोपीय देशों का पूरा कब्जा हो गया। एशिया के के देशो में चेतना का संचार नहीं हो इसके लिए साम्राज्यवादी शक्तियो द्वारा कई तरह के प्रयास किये गये। लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के बाद कई कारणों से एशिया के देशों में जागृति आयी और उनमें राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। रूस की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद इन आन्दोलनों ने बड़ा उग्र रूप धारण कर लिया। १९२७ में साम्यवादियो तथा कुछ प्रगतिशील तत्त्वों ने पहले-पहल अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर संसार के पराधीन देशों के एक सम्मेलन का आयोजन बेल्जियम के नगर ब्रुसेल्स में किया। इस सम्मेलन में संसार के पराधीन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनो के नेता सम्मिलित हुए और पहले पहल उनके बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हुआ। उसके बाद एशिया के पराधीन देशों ने अपना संगठन कायम करने का प्रयास किया ताकि पाश्चात्य साम्राज्यवाद का विरोध संगठित रूप से किया जा सके। भारत की काँग्रेस पार्टी ने पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में इस कार्य में सक्रिय भाग लिया, लेकिन पराधीनता के कारण इस दिशा में कोई विशेष सफलता नहीं मिली।

प्रथम एशियाई सम्मेलन—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व एशियाई देशों को संगठन करने के आन्दोलन में भारत की रुचि बहुत बढ़ गयी थी और इसलिए अभी देश स्वतन्त्र भी नहीं हुआ था कि पंडित नेहरू की प्रेरणा से इंडियन कौंसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स (Indian Council of World Affairs) ने मार्च-अप्रिल १९४७ में एशियाई देशों के एक सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें अट्ठाइस देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। यद्यपि इस सम्मेलन को किसी सरकार का समर्थन प्राप्त नहीं था लेकिन इसका महत्त्व इस बात में था कि एशिया के विभिन्न देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों के नेता इसमें शामिल हुए थे। इस सम्मेलन ने एशियाई देशों की राजनीतिक स्वतन्त्रता, आर्थिक विकास, प्रजातीय विभेद आदि विविध समस्याओं

और एक स्थायी संगठन कायम करने के प्रस्ताव पर विचार हुआ। एशियाई देशों के इस सम्मेलन से यह आशा करना कि वह कोई युगान्तरकारी निर्णय कर पायगा, बेकार था। सम्मेलन में यह भी स्पष्ट हो गया कि यद्यपि एशियाई देशों कई समस्याएँ एक-सी नही है और उनका समाधान संयुक्त प्रयास से ही सम्भव हो सकेगा, फिर भी कई मतभेद स्पष्ट हो गये। लेकिन ये सारे मतभेद महत्त्वपूर्ण न थे। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि एशिया के देश एक सम्मेलन में एक जगह मिले और अपनी-अपनी समस्याओं पर विचार विनमय कर सके। दूसरे, इसने इस बात की ओर भी संकेत किया कि एशिया के देश अब जागरूक हो चुके हैं और उनका साम्राज्यवादी शोषण नहीं हो सकता है। प्रथम एशियाई सम्मेलन ने यह स्पष्ट कर दिया कि एशिया के देश अब यूरोपीय साम्राज्यवाद का विरोध करने के लिए पूरी तरह तैयार हैं। कुछ ही दिनो में डच-इंडोनेशिया संघर्ष के समय एशियाई देशो के संगठन का महत्त्व पता चल गया।

द्वितीय एशियाई सम्मेलन—एशियाई देशो का द्वितीय सम्मेलन दिल्ली में ही २०-२३ जनवरी, १९४९ को हुआ। इस सम्मेलन का उद्देश्य इंडोनीशिया पर डच आक्रमण से उत्पन्न परिस्थिति पर विचार करना था। सम्मेलन में डच कार्यवाही की जोरदार निन्दा की गयी। डच आक्रमण को विफल राष्ट्र बनाने के लिए कई तरह के कार्यक्रम बनाये गये और संयुक्त सुरक्षा परिषद् को आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड का सहयोग प्राप्त कर हालैंड के प्रति कड़ा रुख अपनाने को बाध्य किया। संगठित एशिया की उपेक्षा करना अब सरल काम नहीं रहा। १९१९ के सम्मेलन ने यह स्पष्ट कर दिया कि एशिया के देशों पर यूरोपीय साम्राज्य-वाद को लादे रखना अब असम्भव है।

बांडुंग सम्मेलन—२८-२९ दिसम्बर १९५६ को भारत, लंका, इंडोनीशिया तथा पाकिस्तान के प्रधान मंत्रियो का एक सम्मेलन इंडोनीशिया के एक नगर बोगोट में हुआ। बोगोट में वार्ता करने के पश्चात् एशिया और अफ्रिका के महादेशो के राष्ट्रों में सद्भावना और सहयोग विकसित करने लिए और पारस्परिक आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक समस्याओ एवं विश्व-शान्ति तथा सहयोग में अपने योगदान पर विचार करने के लिए एशियाई और अफ्रिकी राष्ट्र का एक सम्मेलन आयोजित करने का निश्चय किया गया।

इस निश्चय के अनुसार १९५५ में १८ अप्रिल से २४ अप्रिल तक इडोनीशिया के नगर बांडुंग में एशिया और अफ्रिका के उन्नतीस राष्ट्रों के प्रतिनिधि एक सम्मेलन शामिल हुए।

बांडुंग सम्मेलन में निम्नलिखित देश सम्मिलित हुए थे—भारत, पाकिस्तान, बरमा, लंका, इंडोनीशिया, चीन, जापान, तुर्की, अफगानिस्तान, वियतनाम, वितमिन्ह, कम्बोडिया, लाओस, मिस्र, सूडान, गोल्डकोस्ट, लाईबेरिया, ईराक, लीबिया, फारस, सीरिया, लेबनान, जोर्डान, अफ्रिकी मध्य संघ, सऊदी अरेबिया, यमन और नेपाल। थाइलैंड और फिलीपाइन्स ने निमंत्रण स्वीकार नही किया था।

सम्मेलन का उद्घाटन इंडोनीशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने किया। अपने स्वागत भाषण में उन्होंने कहा कि "मुझे आशा है; यह सम्मेलन मानव-समाज का मार्ग निर्देशन करेगा। मुझे आशा है कि यह इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करेगा कि एशिया और अफ्रिका का पुनर्जन्म हो चुका है।"

सम्मेलन की वास्तविक उपलब्धियों का सबसे अच्छा तथा विस्तारपूर्वक उल्लेख अन्तिम दिन प्रकाशित एक विज्ञप्ति में किया गया। इसने "विदेशी सहायता, एक राष्ट्रसंघ फंड

(U. N. Fund), तकनीकी ज्ञान तथा बहुपक्षीय-व्यापार के आदान प्रदान एवं भिन्न-भिन्न प्रकार के निर्यात द्वारा विश्व के एशियाई एवं अफ्रीकी क्षेत्र के आर्थिक विकास की आवश्यकता" पर जोर दिया। इसने एशियाई व अफ्रिकी देशों के पर्याप्त प्रतिनिधित्व से युक्त एक अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति-संस्था (International Atomic Energy Agency) की स्थापना" की मांग की, प्रजातिभेदवाद तथा उपनिवेशवाद के प्रत्येक स्वरूप—विशेषकर उत्तरी तथा दक्षिणी अफ्रिका के प्रजातिभेदभाव—की उसको मानवीय सम्मान के विरुद्ध" कहकर निन्दा की, "फिलिस्तीन में अरब लोगों के अधिकारों का समर्थन" किया; "फिलिस्तीन-समस्या के शान्तिपूर्ण हल तथा राष्ट्रसंघीय प्रस्ताव को क्रियान्वित करने की अपील की; "वेस्ट इरियन पर इण्डोनेशियाई दावे का समर्थन" किया; "राष्ट्रसंघ की सदस्य-संख्या में वृद्धि तथा अफ्रिका एवं एशिया को अधिक प्रतिनिधित्व देने" की माँग की; 'निरस्त्रीकरण, प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में आणविक शास्त्रों के निषेध तथा ऐसे शास्त्रो के परीक्षणों को बन्द करने'' की पुकार की तथा "शान्ति" स्वतन्त्रता, मानवीय अधिकारों के प्रति आदर-प्रदर्शन द्वारा सहिष्णुता सभी राज्यों के ऐक्य तथा सम्प्रभुता, प्रत्येक राज्य और जाति को समानता, अहस्तक्षेप, राष्ट्रसंघ-के चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्तिगत अथवा सामूहिक सुरक्षा के अधिकार, शक्ति-राजनीति एवं आक्रमणकारी प्रपंचो से पृथकत्व और झगड़ों के शान्तिपूर्ण हल" का समर्थन किया।[1]

२७ अप्रिल १९५५ को जब यह सम्मेलन खत्म हुआ तो समस्त संसार को यह विश्वास हो *गया कि एशिया और अफ्रिका एक नयी आवाज और एक नये सन्देश के साथ जाग उठा है।* यह आवाज विद्रोह और सशस्त्र क्रान्ति तथा शीत-युद्ध की नहीं बल्कि शान्ति, मैत्री, सद्भावना तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की थी। इस नयी आवाज और इस नये सन्देश को बुलन्द करनेवालो मे प्रमुख थे, भारत के जवाहरलाल नेहरू, चीन के चाऊ-एन-लाई, इंडोनीशिया के शास्त्र मिड्जोजो तथा मिस्र के कर्नल नासिर।

बांडुंग सम्मेलन में भाग लेनेवाले एशियाई और अफ्रिकी राष्ट्रो के जीवन में एक नए आत्मविश्वास और आशा का उदय हुआ। एक नई आवाज एशिया के पूर्वी छोर से उठ कर अफ्रिका तक के विशाल भूखण्ड में गूंज उठी। वह आवाज यह थी कि एशियावासी और अफ्रिका के लाखों करोड़ो शोषित नर-नारी पराधीन नहीं रहेंगे। वे अपने हाथों अपने भविष्य का निर्णय करेंगे। उनको बहकाया अथवा लुभाया नही जा सकेगा। उन्होंने यह भी भली प्रकार समझ लिया कि स्वतन्त्रता और शान्ति परस्पर आश्रित हैं और संसार के किसी भी भाग में पराधीनता का अस्तित्व शान्ति के लिए एक खतरा है ठीक उसी प्रकार जैसे शान्ति के अभाव में संसार के हर कोने में स्वतन्त्रता के विकास में बाधाएँ पड़ती हैं। और, इसी बात को दृष्टि में रखकर, सम्मेलन ने निरशस्त्रीकरण, आणविक शस्त्रास्त्रों के पूर्ण बहिष्कार और शस्त्रास्त्रो के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण का पूरा समर्थन किया और संयुक्त राष्ट्रसंघ को विश्व में शान्ति स्थापित रखने के एकमात्र प्रभावशाली साधन के रूप में मान्यता दी। सम्मेलन ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ और उसकी एजेंसियों में एशियाई प्रदेशों का प्रतिनिधित्व अपर्याप्त हैं। सम्मेलन में प्रत्येक राष्ट्र के अपनी रक्षा करने के अधिकार को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया और यह भी माना कि उन्हें व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से

1. Schuman, *International Politics* (6th. Ed.) p. 643.

आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा करने का संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार स्पष्टतः अधिकार है। परन्तु इसके साथ ही यह चेतावनी भी दी गयी कि इस प्रकार की सामूहिक सुरक्षा-प्रणाली को बड़े राष्ट्रों के स्वार्थ-साधन के उपकरणों के रूप में परिणत न होने दिया जाय।

एशिया की राजनीति के दृष्टिकोण से बांडुंग सम्मेलन के दो महत्वपूर्ण परिणाम निकले। इसने विश्व-राजनीति की समस्याओं के प्रति एशिया और अफ्रिका में एक समान दृष्टिकोण का जन्म दिया तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक ऐसी एशियाई-अफ्रिकी ग्रुप की आधारशिला रखी जिसने बाद में पूर्व-पश्चिम संघर्ष में सन्तुलन पैदा करने का काम किया। पाँच वर्षों के अन्दर (१९६० तक) संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा में अफ्रिका तथा एशिया के राज्यों की संख्या पैंतालीस हो गयी। अब दो तिहाई बहुमत से पास होनेवाले प्रस्ताव के लिए इस गुट का समर्थन आवश्यक हो गया।

बांडुंग सम्मेलन के परिणामस्वरूप साम्यवादी चीन को एशिया के देश के मध्य अपनी स्थिति को प्रकट करने का मौका मिला। अभी तक चीन के सम्बन्ध में संसार में कई तरह की धारणाएँ थीं। लेकिन बांडुंग सम्मेलन में चीन के प्रधान मंत्री चाऊ-एन-लाई ने एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया जिसके फलस्वरूप चीन की नयी सरकार एशियाई देशों में लोकप्रियता हासिल करने लगी। चाऊ-एन लाई ने सम्मेलन में लाये गये प्रस्तावों का जोरदार समर्थन किया और बारबार कहा कि—

> "हम एशियावासी एक ही प्रकार के अत्याचार से पीड़ित रहे हैं और हमारा लक्ष्य भी एक है" हम एशिया और अफ्रिकावासी सदैव ही एक -दूसरे के प्रति सहानुभूति और हमदर्दी रखते हैं। "एशिया और अफ्रिका के हम लोग उपनिवेशवाद की लूट और अत्याचारों के शिकार हुए हैं और इस प्रकार गरीबी और पिछड़ेपन की स्थिति में रहने के लिए मजबूर किये गये हैं। हमारी आवाज जबरन दबाई गयी है। हमारी महत्वाकांक्षाओं को कुचला गया है और हमारा भाग्य दूसरों की दया पर निर्भर रहा है। अतएव इस दासता के विरुद्ध विद्रोह करने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई विकल्प शेष नहीं।"

चीन के प्रधान मंत्री ने एशिया और अफ्रिका के राष्ट्रीय आन्दोलन का जोरदार समर्थन किया। एशियाई तथा अफ्रिकी देशों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। चीन जो अभी तक अछूत देश था, एशियाई देशों की मंडली में प्रवेश पा गया, यद्यपि बाद में जाकर यह प्रकट हो गया कि चाऊ-एन-लाई के इस नम्र और अत्यधिक विनयशील एवं सहयोगात्मक रुख के पीछे वास्तविक रहस्य क्या था। बाद में चीन की नीति ने इसे स्पष्ट कर दिया कि उसने बांडुंग के प्लेटफार्म को केवल प्रचार के लिए प्रयोग किया था।

बांडुंग-सम्मेलन के प्रारम्भ होने के पूर्व पश्चिमी देशों को उसके उद्देश्यों और लक्ष्यों के सम्बन्ध में बहुत सन्देह था। उन्हें भय था कि पश्चिम के विरोधी तत्त्व सम्मेलन का उपयोग एशिया और अफ्रिका में पश्चिमी विरोधी भावना को और अधिक उग्र बनाने और सम्भवतः पश्चिमी देशों की कटु आलोचना करने के लिए करेंगे। परन्तु सम्मेलन की कार्यवाही जिस ढंग पर हुई और जिस समय, धैर्य, विवेक और दूरदर्शिता का परिचय अनेक एशियाई देशों के नेताओं ने सम्मेलन के मंच पर दिया, उसने इन देशों के भय का निराकरण ही नहीं कर दिया,

बल्कि उनमें यह विश्वास भी पैदा कर दिया कि एशिया के देश उनसे शान्तिपूर्ण और रचनात्मक सहयोग करने के लिए उत्सुक हैं और पुरानी दुश्मनी और वैमनस्य भूल कर विश्व-शांति और समृद्धि के हित में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं।

अफ्रिका-एशिया समैक्य सम्मेलन—अफ्रिका-एशिया समैक्य-सम्मेलन (अफ्रो एशियन सॉलिडैरिटी कॉन्फ्रेन्स) का अधिवेशन अराजकीय स्तर पर काहिरा (मिस्र) में १६५७ के २६ दिसम्बर से १६५८ को १ जनवरी तक हुआ। इस सम्मेलन में दोनों महादेशों के अनेक देशों एवं औपनिवेशिक क्षेत्रों से पाँच सौ प्रतिनिधि आये थे। कुछ राष्ट्रों ने इसका स्वरूप साम्यवादी समझकर इसमें अपना प्रतिनिधि भेजना अस्वीकार कर दिया। ये राष्ट्र थे—साइबेरिया, पाकिस्तान, थाइलैंड, फिलिपाइन, दक्षिण वियतनाम, मोरक्को, मलाया, कम्बोडिया और लाओस। सोवियत-संघ से यहाँ सत्ताइस व्यक्तियों का एक प्रतिनिधि मण्डल आया था। इस सम्मेलन में कई प्रस्ताव पास किये गये—साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और प्रजाति भेदवाद, तथा संरक्षण पद्धति आदि की निन्दा की गयी। केनिया, कैमरून, युगाण्डा, मडागास्कर, सोमालीलैंड आदि देशों की स्वतन्त्रता एवं साइप्रस के आत्मनिर्णय की मांग की गयी, उत्तर और दक्षिण कोरिया एवं उत्तर और दक्षिण वियतनाम को मिला देने का समर्थन किया गया, बगदाद सन्धि और आइसनहावर सिद्धान्त को अरबराष्ट्रों की स्वतन्त्रता का बाधक तथा इजरायल को साम्राज्यवाद का एक अड्डा कहा गया एवं राष्ट्रसंघ में साम्यवादी चीन और मंगोलिया को सम्मिलित करने पर जोर दिया गया। काहिरा ने इस संगठन को एक स्थायी संस्था कायम करने का भी निश्चित हुआ। इस सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन अप्रिल, १६६० में कोमाकरी में हुआ।

अफ्रिका-एशिया आर्थिक सम्मेलन—यह सम्मेलन १६५८ के ८ से ११ दिसम्बर तक काहिरा (मिस्र) में हुआ, जिसमें अफ्रिका और एशिया के बीस देशों से व्यवसाय-मण्डल के प्रतिनिधि आये थे। भारत भी इसमें सम्मिलित था। इस सम्मेलन की अध्यक्षता मिस्र के मुहम्मद रशीद ने की। सम्मेलन ने दोनों महादेशों के आर्थिक सहयोग के लिए एक स्थायी संस्था—अफ्रिका एशिया आर्थिक सहयोग-संगठन (अफ्रो-एशियन इकोनॉमिक को-ऑपरेशन ऑरगेनिजेशन) की स्थापना की, जिसका तात्कालिक कार्यालय काहिरा में रखा गया। संगठन की एक परामर्शदात्री समिति बनाई गयी, जिसमें चीन, इथोपिया, घाना, इंडोनीशिया, भारत, इराक, गिनी, लीबिया, पाकिस्तान, सूडान और संयुक्त अरब-गणतन्त्र के प्रतिनिधि रखे गये। संगठन की रूपरेखा तैयार करने का भार इसी समिति पर छोड़ा गया। सम्मेलन में दोनों महादेशों के उद्योग-धन्धों और वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति के सम्बन्ध में कई दूसरे प्रस्ताव भी पास किये गये। इस सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन ३६ अप्रिल, १६६० को काहिरा में हुआ।

बेलग्रेड सम्मेलन—एशियाई और अफ्रिकी देशों का तृतीय सम्मेलन १६६१ में यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में हुआ। इसको तटस्थ राज्यों का सम्मेलन कहना अधिक उचित है, क्योंकि इसमें एशिया और अफ्रिका महादेशों के अतिरिक्त अन्य महादेशों के देश भी शामिल हुए थे। बेलग्रेड सम्मेलन के पहले राष्ट्रपति सुकर्ण ने एक दूसरे बांडुंग सम्मेलन को बुलाने का प्रस्ताव रखा। कम्युनिस्ट चीन ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया,

और इस कारण द्वितीय बांडुंग सम्मेलन की योजना सफल नहीं हो सकी, क्योंकि यूगोस्लाविया संयुक्त अरब गणराज्य तथा भारत तीनों चीन के विरोधी हो गये थे। इसी बीच अप्रिल, १९६१ में राष्ट्रपति टीटो संयुक्त अरब गणराज्य गये और वहीं बेलग्रेड सम्मेलन का निर्णय किया गया। २६ अप्रिल, १९६१ को राष्ट्रपति नासिर और टीटो ने अट्ठाइस तटस्थ राज्यों को पत्र भेजा और उन्हें एक सम्मेलन में शामिल होने के लिए निमन्त्रित किया। सम्मेलन की तैयारी करने के लिए पहले काहिरा में तटस्थ राज्यों के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ (५-१२ जून)। तदुपरान्त १ सितम्बर १९६१ को बेलग्रेड में अट्ठाइस तटस्थ राज्यों के शासनाध्यक्ष का सम्मेलन शुरू हुआ। सम्मेलन को बुलाने के निम्नलिखित उद्देश्य थे :

उस समय जर्मनी की समस्या को लेकर शीत-युद्ध बड़ा उग्र हो गया था और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध निरन्तर खराब हो रहा था। संसार की शान्ति के लिए बड़ा ही खतरनाक वातावरण उत्पन्न हो गया था। सम्मेलन ने संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ से अनुरोध किया कि वे शीत-युद्ध की उग्रता कम करें की समस्या और जर्मनी का समाधान ढूंढ़ निकालें। हथियार बन्दी की होड़ और अमेरिका द्वारा परमाणविक परीक्षण भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। सम्मेलन ने इस ओर भी सम्बद्ध राष्ट्रों का ध्यान आकृष्ट कराया। लेकिन सम्मेलन का यह दुर्भाग्य था कि जिस दिन उसकी कार्यवाही शुरू हुई उसी दिन सोवियत संघ ने पुनः परमाणविक परीक्षण शुरू कर दिया। फिर भी सम्मेलन ने निश्चय किया कि तटस्थ राज्यों की ओर से एक प्रतिनिधिमंडल संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ भेजा जाय और राष्ट्रपति केनेडी तथा प्रधान मंत्री खुश्चेव से अनुरोध किया जाय कि प्रत्यक्ष वार्ता करके निरस्त्रीकरण, परमाणविक परीक्षण तथा शीत-युद्ध की समस्याओं का समाधान करें। सम्मेलन ने शान्ति की समस्या पर विशेष जोर दिया, यद्यपि उपनिवेशवाद का विरोध भी इसकी कार्यवाही का मुख्य विषय रहा। सम्मेलन ने यह विचार व्यक्त किया कि हर तरह का उपनिवेशवाद तथा प्रजातीय विभेदवाद संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के सिद्धान्तों का उल्लंघन है और संसार के पराधीन देशों को तुरत ही मुक्त किया जाय।

बेलग्रेड सम्मेलन में एशियाई देशों के कई मतभेद भी स्पष्ट हुए। इंडोनीशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने उपनिवेशवाद को समकालीन विश्व की सभी बुराइयों की जड़ बताया। उनका कहना था कि विश्व की एकमात्र समस्या उपनिवेशवाद है और संसार के तटस्थ राज्यों को उपनिवेशवाद के अन्त के लिए प्रयास करना चाहिए। इसके विपरीत भारत के प्रधान मन्त्री पंडित नेहरू ने विश्व-शान्ति की स्थापना को मुख्य स्थान दिया और इस बात पर इन्हें राष्ट्रपति टीटो तथा कर्नल नासिर का पूरा समर्थन प्राप्त हुआ। इस प्रकार सम्मेलन में दो दृष्टिकोण में परस्पर टक्कर हो गयी और सम्मेलन विफल होते-होते बचा। अन्त में निश्चय हुआ कि सम्मेलन के प्रस्ताव को लेकर राष्ट्रपति सुकर्ण तथा टीटो अमेरिका जायें और वहाँ राष्ट्रपति केनेडी से मिलकर उन्हें सम्मेलन के निर्णयों से अवगत करायें। इसी तरह का दायित्व पण्डित नेहरू और इन्क्रूमा को दिया गया जो खुश्चेव से मिलने मास्को गये। वाशिंगटन और मास्को में शान्ति के इन दूतों का यथोचित सत्कार हुआ, लेकिन वास्तविक राजनीति पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

पश्चिमी राष्ट्र बेलग्रेड सम्मेलन से बहुत नाराज थे, क्योंकि इसके द्वारा सोवियत संघ की नीति पर उतना जोरदार प्रहार नहीं किया गया था जितना अमरीकी गुट की नीति पर। सम्मेलन के महत्त्व को संसार के हर देश में समझा गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि दुनिया में एक नयी शक्ति का आविर्भाव हो रहा है। लेकिन सम्मेलन की कार्यवाही ने एशियाई देशों की आपसी मतभेद और फूट को भी स्पष्ट कर दिया। उसी समय यह भी स्पष्ट हो गया कि एशियाई-अफ्रिकी देशों को एक शक्तिशाली गुट में संगठित करने का प्रयास अनेक कठिनाइयों से भरा पड़ा है और उनके बीच जो दरार है उसको भरा नहीं जा सकता है। कम्युनिस्ट चीन की नीति ने इन मतभेदों को और भी गहरा कर दिया। यद्यपि चीन को इस सम्मेलन में प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त हुआ था। (क्योंकि वह तटस्थ राज्य नहीं था), फिर भी इन्डोनीशिया के जरिये चीन का प्रभाव सम्मेलन पर काम करता रहा। चीन की विश्व-व्यापी महत्त्वाकांक्षा ने एशियाई-अफ्रिकी संगठन और एकता की आशा पर पानी फेर दिया।

काहिरा सम्मेलन—तटस्थ राज्यों का दूसरा सम्मेलन और एशियाई-अफ्रिकी राज्यों का पाँचवाँ सम्मेलन ५ अक्टूबर, १९६४ को काहिरा में शुरू हुआ और ११ अक्टूबर को यह खत्म हुआ। इस सम्मेलन का उद्देश्य तटस्थतावादी क्षेत्र को विस्तृत करना तथा इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को खत्म करना था। इस सम्मेलन में भी पुनः दो विचारधाराओं के बीच संघर्ष उत्पन्न हो गया और सम्मेलन विफल होते-होते बचा। सम्मेलन के अन्त में एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई जिसमें उपनिवेशवाद के पूर्ण अन्त की बात कही गयी। विज्ञप्ति में हर तरह के उपनिवेशवाद की निन्दा की गयी। यह कहा गया कि स्वाधीन होना प्रत्येक राष्ट्र का अधिकार है और पराधीन देश अपनी स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए उपनिवेशवादी राज्यों के खिलाफ शस्त्र का प्रयोग कर सकते हैं। सम्मेलन ने संसार की मुख्य-मुख्य समस्याओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफारिशें कीं :

१. राष्ट्रों के अपने आपसी झगड़े शान्तिपूर्ण ढंग से तय करना चाहिए और उन्हें शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में पूरी आस्था रखनी चाहिए।

२. पूर्ण निरस्त्रीकरण का होना अत्यन्त आवश्यक है। सम्मेलन में शामिल होनेवाले देशों ने यह निश्चय किया कि वे कभी परमाणविक परीक्षण नहीं करेंगे और अन्य राष्ट्रों को भी ऐसा ही निश्चय करने का अनुरोध किया। सम्मेलन ने यूरोप, और अफ्रिका के कुछ भागों तथा महासागरों को "परमाणु रहित क्षेत्र" घोषित करने की सिफारिश भी की।

३. यदि दक्षिण रोडेशिया की सरकार एकतरफी स्वतन्त्रता की घोषणा करे तो उसको मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। ब्रिटेन को चाहिए कि दक्षिण रोडेशिया की समस्या के समाधान के लिए एक वैधानिक सम्मेलन बुलाये और रोडेशिया के लिए एक संविधान का निर्माण करे जिसमें वहाँ के मूल निवासियों का न्यायोचित अधिकार मिले।

४. सम्मेलन ने यह सिफारिश की कि सभी देश रंग-भेद की नीति बरतनेवाली दक्षिण अफ्रिका के साथ अपने सारे कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लें और उसके विरुद्ध तबतक आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये रखें जबतक वह रंगभेद की नीति का परित्याग नहीं कर देता। सम्मेलन ने स्पष्ट कर दिया कि दक्षिण अफ्रिका की सरकार के साथ तबतक कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाय जबतक वह अपनी रंगभेद की नीति को नहीं छोड़ देता।

५. सम्मेलन ने संसार के पराधीन देशों को अविलम्ब स्वतन्त्र किये जाने की सिफारिश की। इसने कांगो, क्यूबा, साइप्रश, अदन तथा अफ्रिका के पराधीन देशों से साम्राज्यवादियों को निकल जाने का अनुरोध किया और लैटिन अमेरिका के देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका की उपनिवेशवादी नीति की निन्दा की।

६. सम्मेलन ने यह माँग भी की कि कम्बोडिया तथा वियतनाम में विदेशी हस्तक्षेप का अन्त हो और फिलिस्तीन में अरबों के अधिकारों को मान्यता मिले।

७. अन्त में सम्मेलन द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन के प्रवेश का समर्थन किया गया।

अल्जीयर्स सम्मेलन

एशियाई अफ्रिकी देशों का छठा सम्मेलन अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स में करने का विचार हुआ। जून १६६५ में यह सम्मेलन शुरू होनेवाला था। सम्मेलन की कार्यवाही को निश्चित करने के लिए एशियाई-अफ्रिकी देशों के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन अल्जीयर्स में शुरू होने ही वाला था कि १६ जून, १६६५ को अल्जीरिया में सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और वेन वेल्ला सरकार का तख्ता पलट दिया। इस क्रान्तिकारी परिषद् ने अल्जीरिया के शासन का भार अपने ऊपर ले लिया और कर्नल हाउआरी बुमेडीने (Col. Houari Boumedinne) नयी सरकार के प्रधान बने। वेन वेल्ला को कैद में डाल दिया गया। इस विद्रोह तथा इससे उत्पन्न परिस्थिति के कारण अफ्रिकी-एशियाई देशों के विदेश मन्त्रियों ने यह निश्चय किया कि वह ५ नवम्बर, १६६५ तक के लिए प्रस्तावित सम्मेलन को स्थगित कर दिया जाय। साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि सम्मेलन के मिलने के पूर्व स्थिति पर विचार करने के लिए १८ अक्टूबर को विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन हो। इस निश्चय के अनुसार अल्जीयर्स में विदेश मन्त्रियों का पुनः सम्मेलन शुरू हुआ और अल्जीरिया की असाधारण स्थिति को ध्यान में रखते हुए १ नवम्बर, १६६५ को यह निश्चय किया गया कि अफ्रिकी-एशियाई देशों का सम्मेलन फिलहाल अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया जाय।

अल्जीयर्स में विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन के इस निर्णय ने एशियाई-अफ्रिकी संगठन की भावना को गहरी ठेस पहुँची। इस निश्चय के बाद अब इस बात पर भी सन्देह होने लगा कि एशियाई-अफ्रिकी संगठन की भावना नामक कोई चीज है या नहीं। सम्मेलन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर देने से यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अब एशियाई-अफ्रिकी देशों का कोई सम्मेलन कभी होगा। इसकी सारी जिम्मेवारी चीन पर है। शुरू में जब जून १६६५ में यह सम्मेलन शुरू होने वाला था और अल्जीरिया के विद्रोह से उत्पन्न परिस्थिति के कारण इसे स्थगित करना आवश्यक था तो चीन ने इस बात का जी तोड़ प्रयास किया कि सम्मेलन पूर्व निश्चित योजना के अनुसार अवश्य हो। लेकिन जब नवम्बर में सम्मेलन शुरू करने की बात आयी तो उसने इसका बड़ा कड़ा विरोध किया और यह धमकी दी कि वह सम्मेलन का बहिष्कार करेगा। इस बार निश्चित था कि सम्मेलन में चीन की नीति का भण्डाफोड़ होता और एशियाई-अफ्रिकी देशों के बीच वह बड़ा बदनाम होता। इसके अतिरिक्त चीन के गुट में इस समय शान्ति नहीं थी। भारत के साथ युद्ध में हारकर पाकिस्तान पस्त पड़ा हुआ था। इन्डोनीशिया में आन्तरिक उपद्रव हो रहे थे। चीन को अपने दो सहयोगी राज्यों के सहयोग मिलने की कोई आशा नहीं थी। अतएव उसने सम्मेलन को अनिश्चित काल

तक के लिए स्थगित करने की नीति का अवलम्बन किया और इसमें उसकी सफलता भी प्राप्त हुई। एशियाई-अफ्रिकी गुट में फूट पैदा कराने वाली चीन की नीति सफल हो गयी और इस प्रकार बांडुंग की भावना का अन्त हो गया। पुनः यह भावना पनप सकेगी, यह एक संदिग्ध विषय है।

लेकिन इसके लिए एकमात्र चीन को दोषी ठहराना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से गलत होगा। एशियाई और अफ्रिकी देशों के संगठन का मुख्य आधार पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध था और जैसे जैसे उपनिवेशवाद का अन्त होता गया वैसे-वैसे संगठन की भावना भी कमजोर होती जा रही है। एशिया और अफ्रिका के विविध देशों के अपने अलग-अलग हित और स्वार्थ हैं और इन हितों में परस्पर संघर्ष का हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। इस स्थिति में एशियाई-अफ्रिकी संगठन के आन्दोलन को कोई ठोस आधार नहीं मिल पाया है। इस अभाव के कारण संगठन और एकता की भावना को व्यावहारिक राजनीति में पूरी तरह लागू नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त एशियाई-अफ्रिकी देशों के संगठन की भावना कभी सुनिश्चित और सुस्पष्ट नहीं थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में यह एक अस्थायी और क्षणभंगुर आन्दोलन था जिसका प्रयोग कुछ अंशों में उपनिवेशवाद के विरुद्ध किया गया था।

अध्याय १६

राष्ट्रमंडल और भारत

(India and Commonwealth)

राष्ट्रमंडल का स्वरूप—ब्रिटिश साम्राज्य, (British Empire), 'ब्रिटिश राष्ट्रमंडल (British Commonwealth) और 'राष्ट्रमंडल' (Commonwealth) एक ही संस्था के द्योतक हैं। ये तीनों शब्द लगभग समानार्थक हैं और विकल्पानुसार प्रयोग में लाये जाते हैं। किन्तु आजकल 'राष्ट्रमंडल' शब्द का ही अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है।

राष्ट्रमंडल एक विचित्र प्रकार का संगठन है जिसे न तो प्रादेशिक संगठन कहा जा सकता है और न एक राज्य (State) की संज्ञा ही दी जा सकती है। यह न राष्ट्र है, न मैत्री-संधि और न संघ ही है। इसे राज्योपरि संस्था भी नहीं कहा जा सकता है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में बोलते हुए कनाडा के तत्कालीन प्रधान मंत्री लॉरेन ने १० जनवरी, १९५१ को कहा था : "राष्ट्रमडल एक राजनीतिक इकाई नहीं माना जा सकता है। वह एक संधि-व्यवस्था भी नहीं है। उसकी कोई सामान्य नीति नहीं है। विश्व-राजनीति की समस्याओं के सम्बन्ध में राष्ट्रमंडल के सदस्य-राष्ट्र पृथक्-पृथक् सोचते और निर्णय करते हैं और उसका कोई भी सदस्य स्वतंन्त्र निर्णय के अपने अधिकार का परित्याग करने को तैयार नहीं है।" राष्ट्रमंडल एक प्रादेशिक संगठन अथवा संधि इसलिए नहीं है कि यह अत्यधिक बिखरा हुआ है और इसकी चालक-शक्ति कभी-कभी व्यावहारिक कम लेकिन भावनात्मक अधिक होती है। जो सूत्र इसके सदस्यों को बाँधते हैं वे एक साथ ही अत्यन्त शक्तिहीन और अनौपचारिक तथा अत्याधिक गहरी जडों वाले और परम्परागत हैं।[1] राष्ट्रमंडल के सम्बन्ध में इकोनोमिस्ट (Economist) ने लिखा था : "ब्रिटिश राष्ट्रमंडल राष्ट्रों के एक अव्यवस्थित संग्रह से अधिक कुछ नहीं है। इसमें विश्व के मामलों में परस्पर संगति रखने की कोई कार्य-पद्धति नहीं है और न किसी प्रकार के सामान्य उत्तरदायित्व है। इसमें कई राष्ट्र एक-दूसरे से झगड़ा भी करते रहते हैं। ये राष्ट्र मिलकर एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति उपस्थित करते हैं जिसे राष्ट्रमंडल कहना इस शब्द का उपहास करना होगा।"

इन त्रुटियों के बावजूद राष्ट्रमंडल के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। आधुनिक युग का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मच है जिसमें प्रस्तावों और निर्णयों का विश्व-को

1. "The Commonwealth is too scattered and its driving forces at times less practical than sentimental The ties that bind its members are at once too loose and informal and too deep-rooted and traditional. While its members consult with each other regularly on many matters, they have deliberately avoided setting up elaborate machinery for Commonwealth cooperation."
—Perkins and Palmer, *International Relations*, p. 612.

राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रों के बीच यह स्वेच्छापूर्ण सहयोग का एक प्रतीक है और अन्तर्राष्ट्रीय जगत की एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली यथार्थता है। यह एक ऐसा मंच है जिस पर विश्व के कुछ देश समय-समय पर एकत्रित होते हैं। एक इसके विचारों को जानने की चेष्टा करते हैं और जिन बातों पर सहमत होते हैं उनमें पारस्परिक सहयोग के लिए कार्यक्रम बनाते हैं और उसे कार्यान्वित करते हैं। सदस्य-राज्यों के बीच अनेक मतभेदों के बावजूद राष्ट्रमंडल सहयोग का प्रतीक है।

राष्ट्रमंडल का उद्भव और विकास—राष्ट्रमंडल के उद्भव का इतिहास लार्ड डरहम (Lord Durham) के इस प्रतिवेदन में खोजा जा सकता है जो उन्होने १८३९ में कनाडा के उपनिवेशो मे व्याप्त असन्तोष के कारणो के बारे में ब्रिटिश सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया था। इस प्रतिवेदन में उन्होंने कहा था कि भविष्य में गवर्नर को ऐसे मंत्री नियुक्त करने चाहिए जिन्हें स्थानीय जनता का विश्वास प्राप्त हो अन्यथा ये उपनिवेश भी अमरीकी उपनिवेशो का रास्ता अपना सकते हैं। उल्लेखनीय है कि ब्रिटेन के अमरीकी उपनिवेशो ने अठारहवीं शताब्दी के अन्त में संगठित रूप से ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध स्वाधीनता संग्राम छेड दिया था जिसके फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थापना हुई। लार्ड डरहम के प्रतिवेदन की सिफारिशों को ब्रिटिश सरकार ने महत्त्व दिया और १८४७ में कनाडा में उत्तरदायी सरकार की स्थापना कर दी गयी। उसके तुरत बाद आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, उत्तरी अमेरिका के उपनिवेश और दक्षिण अफ्रिका में भी यह व्यवस्था लागू की गयी। इस प्रकार स्वशासी उपनिवेशो (self-governing colonies) की स्थापना हुई। इन स्वशासी उपनिवेशो की स्थापना के बाद एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता का अनुभव किया गया जो ब्रिटिश सरकार के इनके सम्बन्धो की देखभाल कर सके।

औपनिवेशिक सम्मेलन—१८८७ में साम्राज्ञी विक्टोरिया की जुबली के हेतु लन्दन में स्वशासी उपनिवेशो के प्रधान मंत्री एकत्र हुए। इस अवसर का लाभ उठाकर स्वशासी उपनिवेशो तथा साम्राज्य के कुछ बड़े उपनिवेशो के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन सम्पन्न किया गया। यह प्रथम औपनिवेशिक सम्मेलन (Colonial Conference) कहलाया। सात वर्ष बाद एक दूसरा अनौपचारिक औपनिवेशिक सम्मेलन ओटावा में हुआ। इसमें ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा एवं संचार-व्यवस्था तथा व्यापारिक सम्बन्धों पर विचार हुआ। फिर १८९७ में साम्राज्ञी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती के हेतु औपनिवेशिक प्रधान मंत्रियो के आगमन का लाभ उठाकर द्वितीय औपनिवेशिक सम्मेलन लन्दन में किया गया। १९०२ में सम्राट् अष्टम् एडवर्ड के राज्यारोहण के अवसर पर औपनिवेशिक सम्मेलन का तीसरा सम्मेलन हुआ। चौथा औपनिवेशिक सम्मेलन १९०७ में हुआ। उपरोक्त सभी सम्मेलनों में यह महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि इसने सम्मेलन को एक स्थायी रूप दिया। इसमें निम्नलिखित निर्णय किये गये :

(i) सम्मेलन का नाम औपनिवेशिक सम्मेलन (Colonial Conference) से बदलकर इम्पीरियल कान्फ्रेंस (Imperial Conference) रख दिया गया और यह निश्चय हुआ कि इनका अधिवेशन प्रत्येक चौथे वर्ष किया जायगा।

(ii) इम्पीरियल कान्फ्रेंस के सदस्य ब्रिटेन और डोमिनियनें (Dominions)[1] ही होंगे जहाँ वे अपने समान हितों के प्रश्नों पर विचार-विमर्श करेंगे।

---

१. सम्मेलन के निर्णय के अनुसार स्वशासी उपनिवेशों का नाम बदलकर डोमिनियन रख दिया गया।

(iii) सम्मेलन ने जानकारी एकत्र करने, उनके प्रस्तावों के सम्बन्ध में कार्यवाही करने तथा अन्य कार्यों के सम्बन्ध में पत्र व्यवहार करने के लिए एक स्थायी सचिवालय के निर्माण की स्वीकृति प्रदान की।[1]

नये विधान के अनुसार प्रथम इम्पीरियल कान्फ्रेंस १९११ में हुआ। इसने १९०७ के कार्य को आगे बढ़ाया और सम्मेलन के गठन, उपनिवेश कार्यालय के पुनर्गठन और संधियों के सम्बन्ध में डोमिनियनों से परामर्श के सम्बन्ध में कार्यवाही की। विदेश-नीति, संधि-समझौते, युद्ध प्रारम्भ या बन्द करने के क्षेत्र में डोमिनियनों को कोई शक्ति नहीं दी गयी फिर भी संधियों के सम्बन्ध में सम्मेलन ने इस आशय का एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया कि हेग सम्मेलन (Hague Conference, 1911) के ब्रिटिश प्रतिनिधियों को दिये जानेवाले अनुदेशकी (instructions) तैयार करते समय डोमिनियनों से भी परामर्श लिया जायगा और उस सम्मेलन में अस्थायी रूप से स्वीकृत किये गये डोमिनियनों को प्रभावित करनेवाले कन्वेंशनों को उनके विचार के लिए डोमिनियन की सरकारों को भेजा जायगा।

विदेश-नीति के सम्बन्ध में डोमिनियनों के सीमित अधिकार का पता इससे चलता है कि ४ अगस्त, १९१४ को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा डोमिनियनों से परामर्श लिए बिना ही कर दी गयी। ब्रिटिश सरकार ने इस घोषणा के द्वारा डोमिनियनों को भी युद्ध में शामिल कर लिया। डोमिनियनों ने इसका विरोध नहीं किया और बड़े उत्साह से वे युद्ध-प्रयासों में जुट गये। विश्व-युद्ध में डोमिनियनों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

विश्व-युद्ध के कारण १९१५ में होनेवाला इम्पीरियल कान्फ्रेंस नहीं हो सका, लेकिन डोमिनियन मंत्रियों की लन्दन यात्रा का लाभ उठाकर उनसे विचार-विमर्श किया गया। इस विचार-विमर्श के क्रम में डोमिनियन सरकारों के प्रतिनिधियों ने यह मांग की कि ब्रिटिश विदेश नीति के निर्धारण में हिस्सा बँटाने का अवसर उन्हें भी मिलना चाहिए। डोमिनियनों की यह मांग न्यायोचित थी। ब्रिटिश विदेश-नीति का प्रभाव उन पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ रहा था। इसी के परिणामस्वरूप उन्हें युद्ध में शामिल होना पड़ा था और युद्ध में उन्हें अपार धन-जन का बलिदान करना पड़ रहा था। लेकिन प्रारम्भ में ब्रिटिश सरकार इस मांग को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हुई। १९१६ में जब लायड जार्ज प्रधान मंत्री हुए तो उन्होंने इस प्रस्ताव पर विचार किया और इस पर निर्णय के लिए डोमिनियनों के प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन के साथ-साथ इम्पीरियल वॉर कैबिनेट (Imperial War Cabinet) की स्थापना भी की गयी। वॉर कैबिनेट की बैठकों में युद्ध और शान्ति दोनों समस्याओं पर विचार होता रहा। वॉर कैबिनेट की बैठकों से समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों में प्रधान मंत्रियों से सलाह-मशविरा करने की प्रथा चल पड़ी। यदि देखा जाय तो आजकल होनेवाले प्रधान मंत्री सम्मेलन का यह पूर्व रूप था। सम्मेलन में यह भी निर्णय किया गया कि इम्पीरियल वॉर कैबिनेट का सम्मेलन प्रतिवर्ष बुलाया जाय।

---

१. यह प्रस्ताव कार्य रूप में कभी परिणत नहीं हो सका और प्रस्तावित सचिवालय के कार्यों का संचालन उपनिवेश कार्यालय (Colonial Office) द्वारा किया जाता रहा। लेकिन उपनिवेश कार्यालय में इसके लिए एक पृथक् विभाग कायम किया गया।

सम्मेलन में भारत का प्रवेश—१८८७ में जब औपनिवेशिक सम्मेलन की स्थापना हुई तब से १९१६ तक भारत को न तो औपनिवेशिक सम्मेलन में और न इम्पीरियल कान्फ्रेंस में भाग लेने का अवसर दिया गया। कभी-कभी भारत सचिव या इंडिया ऑफिस के किसी वरिष्ट पदाधिकारी को प्रेक्षक के रूप में बैठने के लिए अवश्य आमन्त्रित किया गया, लेकिन औपचारिक रूप से इस काल में भारत कभी भी सम्मेलन में सदस्य के रूप में शामिल नहीं हुआ। पर भारत शुरू से ही सम्मेलन में प्रविष्ट पाने का इच्छुक था। औपनिवेशिक सम्मेलन या उसके बाद इम्पीरियल कान्फ्रेंस में कई ऐसी बातों पर विवाद होता था जिनका प्रत्यक्ष रूप से भारत का सम्बन्ध था। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड जानेवाली संचार-व्यवस्था में भारत की विशेष रुचि थी और डोमिनियनों में प्रवासी भारतीयों की समस्या भी थी। व्यापारिक सम्बन्ध पर भी भारत के अपने हित थे। इसलिए भारत सरकार और भारत का लोकमत सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधित्व के लिए उत्सुक था। लेकिन ब्रिटिश सरकार और विशेषकर डोमिनियनों की सरकारें भारत के प्रवेश के पक्ष में न थीं। डोमिनियन सरकारों का कहना था कि इम्पीरियल कान्फ्रेंस स्वशासी राज्यों का संगठन है और भारत की जो राजनीतिक स्थिति (Political status) है उसके अनुरूप वह सम्मेलन में प्रवेश पाने का अधिकारी नहीं है।

प्रथम विश्व-युद्ध में ब्रिटिश सरकार के आदेशानुसार भारत भी युद्ध में शामिल हुआ और युद्ध में उसने सक्रिय रूप से भाग लिया। युद्ध-प्रयास में वह डोमिनियनों से किसी तरह कम नहीं था। इस परिस्थिति में भारत ने पुनः इम्पीरियल कान्फ्रेंस में प्रवेश पाने की बात उठायी। २२ सितम्बर, १९१५ को इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में एक प्रस्ताव पेश हुआ जिसके द्वारा भारत के लिए इम्पीरियल कांफ्रेंस की सदस्यता की मांग की गयी। प्रस्ताव पर बोलते हुए गवर्नर जेनरल लार्ड हार्डिन्ज ने आश्वासन दिया कि भारत सरकार भारत को इम्पीरियल कान्फ्रेंस की सदस्यता दिलाने के लिए यथेष्ट प्रयास करेगी। कौंसिल ने सर्व सम्मत से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी इस आशय के प्रस्ताव पास किये। भारतीयों की इस मांग को कई ब्रिटिश राजनीतिज्ञों, विशेषकर राउन्ड टेबुल ग्रुप का समर्थन प्राप्त हुआ। विश्व-युद्ध में भारतीयों का बलिदान देखकर डोमिनियनों का विरोध भी मन्द पड़ने लगा था।

इन्हीं परिस्थितियों में लार्ड हार्डिंज ने भारत-सचिव पर दबाव डालना शुरू किया कि वे भारत को इम्पीरियल कान्फ्रेंस की सदस्यता दिलाने का प्रयास करें। हार्डिंज के उत्तराधिकारी लार्ड चेम्सफोर्ड ने इस प्रयास को जारी रखा। इंडिया ऑफिस भी अत्यन्त सक्रिय हो गयी। इसी बीच १९१६ में प्रधान मंत्री लायड जार्ज ने इम्पीरियल वॉर कैबिनेट तथा इम्पीरियल वॉर कान्फ्रेंस को बुलाने की घोषणा की। इस घोषणा में भारत का कोई उल्लेख नहीं किया गया था। भारत-सचिव आस्टिन चेम्बर लेन ने निरन्तर प्रयास करके प्रधान मंत्री को इस बात पर राजी करा लिया कि इम्पीरियल वॉर कैबिनेट और इम्पीरियल वॉर कान्फ्रेंस में शामिल होने के लिए भारत को भी आमन्त्रित किया जाय।[1] यह तय हुआ कि भारत सरकार का चुना हुआ प्रतिनिधि इन सम्मेलनों में सम्मिलित हुआ।

(1) देखिये—(i) Sir Charles Petrie, *The Life and Letters of the Right Hon. Sir Austin Chamberlain*, Vol. II; pp. 72-74.
(ii) David Lloyd George, *War Memoirs*, vol. IV, pp. 1737-38.

४ अप्रिल १६१७ को इम्पीरियल कान्फ्रेंस ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके भारत को स्थायी रूप से अपना सदस्य बना लिया। इसके बाद भारत प्रत्येक इम्पीरियल कांफ्रेंस के सम्मेलनों में नियमित ढंग तथा सदस्य के रूप में भाग लेता रहा। भारत के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। यह निर्णय इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि भारत की डोमिनियन स्थिति प्राप्त करने की आकांक्षाओं को पहली बार स्वीकृति मिली और स्वशासी अधिराज्य हुए बिना कुछ अंशों में उसको डोमिनियन का दर्जा मिल गया।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद राष्ट्रमंडल का विकास—प्रथम विश्व-युद्ध के बाद राष्ट्रमंडल का स्वरूप निखरने लगा। डोमिनियनों को पृथक् रूप से पेरिस के शान्ति सम्मेलन में भाग लेने का अधिकार मिला और उनके प्रतिनिधियों ने स्वतन्त्र रूप से वर्साय-संधि एवं अन्य शान्ति-सन्धियों पर हस्ताक्षर किये। वे राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बनाये गये। डोमिनियनों के साथ-साथ भारत को भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को विकसित करने का मौका मिला।

पेरिस के शान्ति-सम्मेलन के उपरान्त डोमिनियनों को तेजी से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतन्त्र देशों का दर्जा दिया जाने लगा। डोमिनियन सरकारें अब विदेशों में अपने कूटनीतिक तथा वाणिज्य प्रतिनिधि भेजने लगी थीं। १६२६ में कनाडा ने वाशिंगटन में अपने दूत नियुक्त किये। डोमिनियन सरकारें विदेशी सरकारों के साथ सभी प्रकार की पृथक् संधियों के सम्बन्ध में बातचीत करने लगी थीं। इस प्रकार डोमिनियनें अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना स्थान बनाते रहे। यह प्रक्रिया कभी तेजी से चलती कभी मन्द गति से।

१६२६ का इम्पीरियल कांफ्रेंस—१६२६ के इम्पीरियल कान्फ्रेंस में ग्रेट ब्रिटेन और डोमिनियनों का ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत बराबर का दर्जा स्वीकार किया गया और उन्हें घरेलू तथा वैदेशिक दोनों ही मामलों में स्वतन्त्र राष्ट्र मान लिया गया। साथ ही यह भी अंगीकार किया गया कि वे सम्राट् के प्रति सामान्य निष्ठा द्वारा तथा ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के बराबरी के सदस्यों के रूप में आपस में बँधे हुए हैं। बालफोर घोषणा (Balfour Declaration) में कहा गया था कि "डोमिनियन ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वतन्त्रता प्राप्त राष्ट्र है जो अपनी स्थिति में पूर्णतया समान तथा घरेलू या विदेशी-नीति में किसी भी तरह अधीन नहीं हैं। सम्राट् के प्रति सामूहिक वफादारी के आधार पर वे संयुक्त हैं और ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के नाते एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं।" इसी सम्मेलन में गवर्नर की स्थिति पर भी विचार लिया गया। गवर्नर जेनरल की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया कि "डोमिनियन में गवर्नर-जेनरल सम्राट् का प्रतिनिधि है, जिसे डोमिनियन के शासकीय मामलों के प्रशासन में सभी महत्त्वपूर्ण युद्धों के सम्बन्ध में वैसी स्थिति प्राप्त है जैसी की ग्रेट ब्रिटेन के सम्राट् को प्राप्त है और यह कि वह ग्रेट ब्रिटेन के सम्राट की सरकार का या उस सरकार के किसी विभाग का प्रतिनिधि या एजेन्ट नहीं है।"

१६३० का इम्पीरियल कान्फ्रेंस—१६३० के इम्पीरियल कान्फ्रेंस में यह बात स्वीकार की गयी कि डोमिनियनों के गवर्नर जेनरल की नियुक्ति ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की सलाह से नहीं प्रत्युत डोमिनियन के मंत्रिमण्डल की सलाह पर की जानी चाहिए।

स्टेच्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर—१९३१ में जो स्टेच्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर (Statute of Westminster) स्वीकार हुआ उसने राष्ट्रमण्डल को एक वैधानिक रूप प्रदान किया। इस

अधिनियम में डोमिनियनो के सम्बन्ध में यह कहा गया कि ये राष्ट्र (डोमिनियन) "ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासी जनसमुदाय हैं, दर्जा में समान हैं, किसी भी प्रकार कोई एक सदस्य अपने आन्तरिक और वैदेशिक मामलो में दूसरे सदस्य के अधीन नहीं है, यद्यपि ये सब ब्रिटिश क्राउन के प्रति समान निष्ठा से आवद्ध और स्वेच्छा से ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में सम्मिलित है।" उल्लेखनीय है कि वेस्टमिन्स्टर स्टेच्यूट की स्वीकृति के पूर्व ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की व्यवस्था "औपनिवेशिक विधि मान्यता अधिनियम" (Colonial Law Validity Act) के अनुसार की जाती थी जिससे उपनिवेशो पर तरह-तरह के वैधानिक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। १८६५ में बने इस अधिनियम के अनुसार डोमिनियनो द्वारा बनाया जानेवाला प्रत्येक नियम अवैधानिक माना जाता था जो ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा पारित नियमो के विरुद्ध हो। ब्रिटिश सम्राट् किसी भी औपनिवेशिक विधान को रद्द कर सकता था। दूसरे शब्दो मे डोमिनियनो की संसदें ब्रिटिश पार्लियामेंट के अधीनस्थ मानी जाती थी। स्टेच्यूट ऑफ वेस्टमिन्स्टर ने डोमिनियन ससदो को इस वन्धन से मुक्त कर दिया।

राष्ट्रमण्डल और द्वितीय विश्व-युद्ध—डोमिनियनो की स्वतन्त्र और विशिष्ट स्थिति का भान द्वितीय विश्व-युद्ध के शुरू होने पर हुआ है। यह प्रथा स्पष्ट हो गयी कि राष्ट्रमंडल के सदस्य राज्यो को स्वतन्त्र रूप से यह निर्णय करने का अधिकार है कि वे युद्ध में भाग लेना चाहते हैं या नही। प्रथम विश्व-युद्ध के समय डोमिनियनो को यह अधिकार नहीं था।

राष्ट्रमण्डल का वर्त्तमान स्वरूप—द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्त तक राष्ट्रमण्डल मुख्यतः कुछ श्वेत देशों की संस्था थी, लेकिन युद्धोपरान्त राष्ट्रमण्डल ने एक नये युग मे प्रवेश किया। युद्ध के वाद एशिया और अफ्रिका के कई ब्रिटिश उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये और उन्होने राष्ट्रमण्डल में बने रहने का निश्चय किया। राष्ट्रमण्डल का वर्त्तमान स्वरूप १९४७ में भारतीय उपमहाद्वीप की स्वाधीनता के वाद सामने आया। स्वाधीनता प्राप्त करने के वाद भारत और पाकिस्तान ने राष्ट्रमण्डल में बने रहने का निश्चय किया। १९५० में गणराज्य वन जाने पर भी भारत ने राष्ट्रमण्डल से अलग न होने का फैसला किया और ब्रिटिश सम्राट् को राष्ट्रमण्डल के प्रधान के रूप में स्वीकार किया। इस कारण 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' के स्थान पर इसे केवल 'राष्ट्रमण्डल' कहने का निश्चय किया गया। यह वात उल्लेखनीय है कि जहाँ भारत, पाकिस्तान, लंका आदि ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद भी राष्ट्रमण्डल का सदस्य रहना स्वीकार किया वहाँ वर्मा और दक्षिणी आयरलैंड इसकी सदस्यता से अलग हो गये। वाद में जो भी ब्रिटिश उपनिवेश स्वाधीन हुए उन्होंने राष्ट्रमण्डल की सदस्यता स्वीकार कर ली। इस समय राष्ट्रमण्डल के सदस्य-देशो की संख्या अठाईस है जिनके नाम हैं : ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, भारत, पाकिस्तान, लंका, घाना, नाइजीरिया, साइप्रस, सियरा लिओन, जमैका, त्रिनीदाद, टांबैगो, उगांडा, केन्या, मलयेसिया, तांजानिया, मलावी, माल्टा, जाम्बिया, गाम्बिया, सिंगापुर, गुयाना, बोत्स्वाना, लेसोथ, वर्वाडोस, मारिशश और स्वाजीलैंड। इनके अलावा हांगकांग, जिब्राल्टर, फाकलैंड द्वीप, ब्रितानी होंडूरस, फिजी, गिलवर्ट आदि भी राष्ट्रमण्डल से सम्बद्ध हैं। ये सभी ब्रिटेन के संरक्षित अथवा आश्रित प्रदेश हैं। राष्ट्रमण्डल के स्वाधीन सदस्य देशों की कुल जनसंख्या अस्सी करोड से भी अधिक है और ये एक करोड वर्गमील से भी अधिक भू-भाग पर फैले हुए हैं।[1]

[1] १९६५ में स्वतन्त्रता की एकतरफा घोषणा करके रोडेशिया ने राष्ट्रमण्डल से अपना सम्पर्क नहीं रखने का निश्चय किया। इसके पूर्व १९६१ मे दक्षिणी अफ्रिकी संघ राष्ट्रमण्डल से हट गया था।
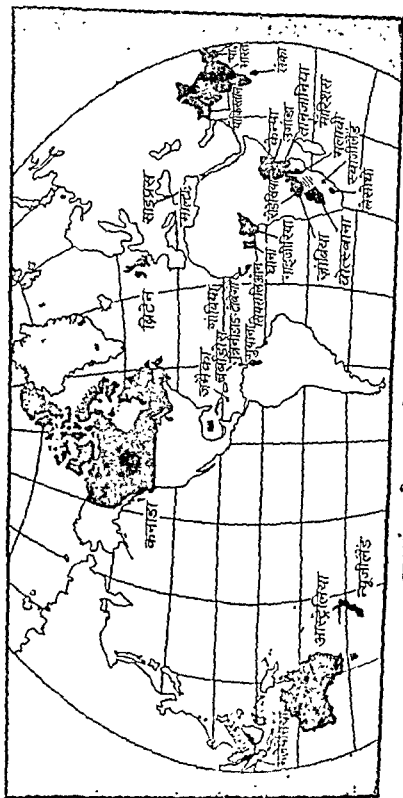
राष्ट्रमंडल के सदस्य-देश (१९६७ में)

राष्ट्रमण्डल का संगठन—जुलाई, १९६५ तक ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशों के मामले औपनिवेशिक कार्यालय से सम्बद्ध थे। १९६५ में ब्रिटेन तथा राष्ट्रमण्डल के स्वाधीन सदस्यों

के सम्बन्धों के लिए डोमिनियन के मामलों के लिये एक अलग मंत्री की नियुक्ति की गयी। जुलाई, १९४७ में डोमिनियन मामलों के मंत्री और कार्यालय के नाम बदल कर क्रमशः राष्ट्रमण्डल मंत्री (Secretary of State for Commonwealth Affairs) और राष्ट्रमण्डल सम्बन्ध कार्यालय रख दिये गये। अगस्त १९६६ में औपनिवेशिक कार्यालय (Colonial Office) का राष्ट्रमण्डल कार्यालय में विलय कर दिया गया और राष्ट्रमण्डल कार्यालय की स्थापना की गयी। १७ अक्तूबर, १९६८ को ब्रिटेन के विदेश-मंत्रालय (Foreign Office) में राष्ट्रमण्डल कार्यालय को भी मिला दिया गया। यह प्रशासनिक समस्याओं को दूर करने की दृष्टि से किया गया।

जुलाई १९६४ के राष्ट्रमण्डल के प्रधान मन्त्री सम्मेलन के बाद प्रकाशित विज्ञप्ति में राष्ट्रमण्डल सचिवालय की स्थापना के लिए प्रस्ताव तैयार करने के निर्देश दिये गये थे। जून, १९६५ के सम्मेलन में ये प्रस्ताव स्वीकार कर लिये गये। फलस्वरूप राष्ट्रमण्डल सचिवालय का विधिवत् गठन हुआ। कनाडा के आर्नोल्ड स्मिथ राष्ट्रमण्डल के पहले महासचिव बनाये गये जिन्होंने १७ अगस्त, १९६८ को कार्यभार सम्हाला।

ब्रिटिश क्राउन राष्ट्रमण्डल का प्रमुख अंग है जिसे सभी सदस्य-राज्य राष्ट्रमण्डल के प्रधान के रूप में स्वीकार करते हैं। यद्यपि इसको सदस्य राज्यों के सम्बन्ध में कोई वैधानिक शक्ति प्राप्त नहीं है। ताज (Crown) अथवा सम्राट् या साम्राज्ञी केवल प्रतीक के रूप में राष्ट्रमण्डल का अध्यक्ष माना जाता है।

राष्ट्रमंडल का दूसरा और सर्वाधिक प्रभावशाली अंग राष्ट्रमंडलीय प्रधान मंत्री सम्मेलन (Commonwealth Prime Ministers' Conference) है। इसका अधिवेशन समय-समय पर लन्दन में ब्रिटिश प्रधान मंत्री की अध्यक्षता में होता है। १९४४ से लेकर अबतक (१९६९ तक) इस तरह के सत्रह सम्मेलन हुए हैं। इन सम्मेलनों में राजनीतिक और आर्थिक मसले चर्चा के मुख्य विषय रहे हैं। सम्मेलन अपने समय के उभरते हुए अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करता है। १९६५ के सम्मेलन में वियतनाम में शान्ति स्थापना की दृष्टि से ब्रिटिश प्रधान मंत्री हेराल्ड विल्सन की अध्यक्षता में एक शान्ति-समिति बनायी गयी। इसके जिम्मे यह काम सौंपा गया कि यह वियतनाम-समस्या से सम्बन्धित राज्यों से विचार-विनिमय करके वियतनाम में शान्ति-स्थापना के प्रयास करे। इसी सम्मेलन में रोडेशिया के संकट पर भी विचार किया गया।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि राष्ट्रमंडल के अन्य प्रकार के और भी अनेक सम्मेलन सदस्यराष्ट्रों में विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग स्थापित करने की दृष्टि से होते रहते हैं। राष्ट्रमंडल के अन्तर्गत शिक्षा और विज्ञान विशेषज्ञों के कई सम्मेलन हुए हैं। इसके अतिरिक्त विगत सत्रह वर्षों में राष्ट्रमंडलीय देशों के वित्त मंत्रियों के भी पाँच सम्मेलन हो चुके हैं।

राष्ट्रमंडलीय देशों के समय-समय पर विभिन्न प्रकार के सम्मेलन तो होते ही रहते हैं; इनके अतिरिक्त, सदस्य राज्यों के पारस्परिक सहयोग के लिए इसके अन्तर्गत कुछ स्थायी संस्थाएँ भी कार्य करती हैं। इन संस्थाओं में निम्नलिखित विशेष महत्त्व के हैं :

(i) राष्ट्रमंडलीय संसदीय संघ जिसके तत्वावधान में राष्ट्रमंडल के सदस्य-राज्यों के संसद्-सदस्यों के सम्मेलन होते हैं।

(ii) राष्ट्र मंडलीय कृषि ब्यूरो जो सदस्य राज्यो को उन्नत कृषि सम्बन्धी सूचनाएँ और परामर्श देता है।

(iii) राष्ट्र मंडलीय आर्थिक सलाहकार परिषद् जो सदस्य-राज्यो को आर्थिक उन्नति से सम्बन्धित विषयों पर महत्त्वपूर्ण परामर्श देती है।

राष्ट्रमंडल की विशेषता—लम्बी प्रक्रिया के बाद राष्ट्रमंडल का जो स्वरूप आज हमारे सामने है उसे देखते इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है :

(i) राष्ट्रमंडल विविधताओं से परिपूर्ण एक संस्था है जिसमें विविध प्रजाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा और संस्कृति के देश शामिल हैं। इसके सदस्य राज्य राजनीतिक एकता के सूत्र में बँधे हुए नहीं है। इसके सभी राष्ट्र स्वतन्त्र और समान है। इनमें ब्रिटिश सम्राट् या साम्राज्ञी के प्रति किसी प्रकार की राजभक्ति होना आवश्यक नही है; यद्यपि ब्रिटिश सम्राट् या साम्राज्ञी राष्ट्रमंडल का अध्यक्ष होता या होती है और इसके सम्मेलन प्रायः ब्रिटेन में ही होते हैं। पर राष्ट्रमंडलीय देश *अपनी आन्तरिक या बाह्य नीतियो के निर्धारण में पूर्ण स्वाधीन है।* इसके सदस्य राज्य एक दूसरे के साथ *अपने पारस्परिक सम्बन्धो में पूर्णतया स्वतंत्र और सार्वभौम हैं। लेकिन उनसे यह* आशा रखी जाती कि वे आपस में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखेंगे।

(ii) राष्ट्रमंडल के राज्यो की एक पहचान यह है कि इनके *राजदूत एक दूसरे के देश में* उच्चायुक्त (High Commissioner) कहे जाते हैं। उन्हे राजदूत (ambassador) नही कहा जाता। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रमंडल के देश एक दूसरे के नागरिको को अपने यहाँ विशिष्ट प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

राष्ट्रमंडल के उद्देश्य—राष्ट्रमण्डल के स्वरूप उसकी प्रकृति आदि के वर्णन से यह भली प्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्रमंडल उन बिखरी हुई सरकारों का एक ऐसा समूह है जो ब्रिटिश मुकुट को स्वेच्छापूर्ण सहयोग के प्रतीक के रूप में राष्ट्रमण्डल का प्रधान अथवा अध्यक्ष मानते हैं, कुछ *समान आदर्शों में विश्वास करते हैं और इन आदर्शों को पाने के लिए तथा पारस्परिक सहयोग* को बढ़ाने के लिए नियमित विचार-विमर्श के तरीके अपनाने के लिए तैयार है। राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यो के बीच परस्पर कोई एकता नही है और नही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य करने हेतु इसके कोई अनिश्चित लक्ष्य या ध्येय हैं। फिर भी सामान्यतः यह माना और कहा जाता है कि इसके सदस्य राज्यों में कुछ विषयो पर प्रायः सहमति हो जाती है।

१९४४ से लेकर अब तक जो राष्ट्रमंडल प्रधान मंत्री के सत्रह सम्मेलन हुए हैं उनमें अन्तर्राष्ट्रीय, राजनैतिक और आर्थिक मामले ही चर्चा का मुख्य विषय रहे हैं। वैसे सदस्य देशों के बीच सहयोग पर भी विचार-विमर्श होता रहा है। *जहाँ तक राष्ट्रमंडल के कार्यक्षेत्र का सम्बन्ध है वह आर्थिक, राजनैतिक,* सामाजिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक और स्वास्थ्य जैसे अनेक क्षेत्रों में फैला हुआ है। राष्ट्रमंडल में विकसित और विकासोन्मुख दोनो ही प्रकार के देश हैं जिनमें परस्पर आर्थिक सहयोग, ऋण आदि के रूप में चल रहा है। शिक्षा के विकास के लिए राष्ट्रमंडल को अपनी एक योजना है। इस प्रकार स्वास्थ्य और विज्ञान की प्रगति के लिए भी राष्ट्रमंडल एक निश्चित योजना के साथ कार्य कर रहा है। *परन्तु इन सबके बावजूद* राष्ट्रमंडल का राजनैतिक पक्ष ही अधिक उजागर हुआ है। कभी दक्षिण अफ्रिका और दूसरे

अफ्रिकी देशों की प्रजातीय असहिष्णुता और कभी रोडेशिया की समस्या का राजनैतिक रूप इस पर हावी रहा है। यद्यपि राष्ट्रमंडल सदस्य देशों के आपसी झगड़ों में सम्बन्धित देशों की सहमति के बिना हस्तक्षेप नहीं करता है, फिर भी कभी कश्मीर की समस्या और कभी नाइजीरिया के गृह-युद्ध को लेकर उसे उलझना पड़ता है। १९६५ के भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने जो वक्तव्य दिया था आपसी झगड़ों में राष्ट्रमंडल को हस्तक्षेप न करने की नीति के विरुद्ध था। भारत में तो इस वक्तव्य को लेकर सरकार से माँग हो गयी कि वह राष्ट्रमंडल से सम्बन्ध विच्छेद कर ले क्योंकि उससे उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती जिसके लिए उसकी स्थापना की गयी थी।

यह ठीक है कि राष्ट्रमंडल अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में पूर्ण सफल नहीं रहा है फिर भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाद यह एक ऐसा सबसे बड़ा मंच है जिस पर उसके सदस्य देशों को आपसी मतभेद के बावजूद इकट्ठा बैठने और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श करने का अवसर मिलता है। वस्तुतः राष्ट्रमंडलीय सम्मेलनों का उद्देश्य कोई एक सामान्य नीति तैयार करना अथवा संयुक्त कार्रवाई की योजना बनाना नहीं है, बल्कि इस बात की अभिव्यक्ति करना है कि सभी राष्ट्रमंडलीय सरकारें किसी एक प्रश्न विशेष पर समान दृष्टि से सोचती हैं और वे प्रत्येक सदस्य राष्ट्र की नीतियों में निहित सिद्धान्तों और उद्देश्यों का सम्मान करती हैं। संक्षेप में राष्ट्रमंडल की बैठकों का उद्देश्य आपसी समझदारी के उच्चतम पैमाने तैयार करना रहा है, न कि समझौते करना।

सदस्य राष्ट्रों का एक यह भी आदर्श है कि राष्ट्रमंडल परिवार का सदस्य होने के नाते वे सभी आर्थिक कल्याण और सामान्य हित के लिए अग्रसर होंगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रमंडल के राज्य समय-समय पर विभिन्न प्रकार के सम्मेलन करते रहते हैं और सामान्य हितों की नीतियों का निर्धारण करने का प्रयास करते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति की भावना से प्रेरित होकर सदस्य राष्ट्रों के प्रधान मन्त्री, वित्त मन्त्री, व्यापार मन्त्री, शिक्षा मन्त्री आदि समय-समय पर सम्मेलनों में मिलते रहते हैं। ब्रिटेन द्वारा यूरोपीय साझा बाजार में शामिल होने की सम्भावना पर सभी राष्ट्रमंडलीय राष्ट्रों से परामर्श किया गया ताकि उनके सामान्य हितों की रक्षा हो सके। इसी तरह कोलम्बो योजना (Colombo Plan) राष्ट्रमंडलीय राष्ट्रों के आर्थिक कल्याण की एक महत्त्वपूर्ण योजना है

कोलम्बो योजना

१९४९ के बाद से राष्ट्रमंडल द्वारा सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास की दिशा में जो प्रयत्न किये गये हैं, उनमें कोलम्बो योजना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस योजना का प्रारम्भ १९५० में हुआ। जनवरी, १९५० में आस्ट्रेलिया, कनाडा, लंका, भारत, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान और ग्रेट ब्रिटेन के विदेश मन्त्री दक्षिणी तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में रहने वाले करोड़ों व्यक्तियों के राजनीतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर विचार करने के लिए कोलम्बो में एकत्रित हुए। उन्होंने इस बात पर सहमति प्रकट की कि यदि इन क्षेत्रों में राजनीतिक स्थायित्व लाना है और विश्व-अर्थ व्यवस्था में संतुलन स्थापित करना है तो इन क्षेत्रों का आर्थिक विकास करना परम आवश्यक है। इस निश्चय के बाद इस क्षेत्र के आर्थिक

विकास की योजनाओं पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की गयी। समिति ने इस क्षेत्र के आर्थिक विकास के लिए जुलाई, १६५१ से प्रारम्भ होने वाले एक छः वर्षीय कार्यक्रम का प्रस्ताव रखा और इस सम्बन्ध में राष्ट्रमंडलीय और राष्ट्रमंडल के बाहर के विभिन्न देशों के सुझाव आमंत्रित किये। अक्टूबर में योजना को अन्तिम रूप दे दिया गया और २८ नवम्बर को 'कोलम्बो योजना' के नाम से इसे प्रसारित किया गया। यह १ जुलाई, १६५१ से प्रारम्भ होने वाली एक छः वर्षीय योजना थी जिसे बाद में बढ़ाया जाता रहा।

कोलम्बो योजना में इस बात पर बल दिया गया कि योजना में भाग लेने वाले देशों के द्वारा अपनी ओर से अधिकतम योगदान दिया जाना चाहिए और बाहरी सहायता नितान्त आवश्यक होने पर ही ली जानी चाहिये। योजना का मूल उद्देश्य पूँजी एवं प्राविधिक ज्ञान की ऐसी सुविधाएँ उपलब्ध कराना है जिसके आधार पर निजी क्षेत्र के अन्तर्गत आर्थिक विकास किया जा सके। इसके अन्तर्गत कृषि-कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी जाती है।

यद्यपि कोलम्बो योजना को राष्ट्रमंडलीय देशों के लिए प्रारम्भ किया गया था, लेकिन बाद में इसके मौलिक भौगोलिक क्षेत्र में परिवर्तन हो गया। १६५६ तक उत्तर वियतनाम को छोड़ दक्षिण-पूर्व एशिया के लगभग सभी देश इसमें सम्मिलित हो गये। जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी इस योजना से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया। इस प्रकार इस योजना के अन्तर्गत सत्रह देश आ गये : भारत, पाकिस्तान, लंका, मलाया, सिंगापुर, सारवाक, उत्तरी बोर्नियो, दक्षिण वियतनाम, कम्बोडिया, लाओस, वर्मा, नेपाल, इन्डोनेशिया, थाइलैंड, फिलीपाइन्स, ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूजीलैंड, जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका।

कोलम्बो योजना में सम्मिलित देशों का सम्मेलन प्रति वर्ष होता है और इनमें विचार-विमर्श होता है। योजना के अन्तर्गत सदस्यों को आर्थिक तथा प्राविधिक सहायता दी जाती है। कभी-कभी पूँजी लगाकर भी सदस्य राज्यों के आर्थिक विकास में सहायता प्रदान की जाती है। पाकिस्तान में एक बाँध के निर्माण के लिए कनाडा ने ६६,२००,००० डालर की पूँजी दी और ब्रिटेन ने दुर्गापुर के इस्पात कारखाने के लिए १५,०००,००० डालर की सहायता भारत को दी। इस योजना के अन्तर्गत विद्यार्थियों को विदेशों में अध्ययन के लिए छात्र-वृत्तियाँ मिली है।

राष्ट्रमंडल में भारत की स्थिति

राष्ट्रमंडल की सदस्यता भारत में बड़ा ही विवादास्पद विषय रहा है। स्मरणीय है कि राष्ट्रमंडल की पूर्ववर्ती संस्था इम्पीरियल कान्फ्रेंस में भारत ने १६१७ में प्रवेश किया और तब से लेकर आज तक वह इसका सदस्य बना हुआ है। १६४७ में जब भारत स्वतन्त्र हुआ तब यह सवाल उठा कि भारत राष्ट्रमंडल का सदस्य रहे या नहीं। भारत सरकार ने राष्ट्रमंडल का सदस्य बने रहने का निश्चय किया। १६५० में भारत का गणतान्त्रिक संविधान लागू हुआ। उस समय यह प्रश्न उठा कि एक गणराज्य किस प्रकार वैसी संस्था का सदस्य रह सकता है जिसका प्रधान एक राजा है। लेकिन इन समस्याओं का समाधान एक समझौता द्वारा हो गया। भारतीय लोकमत को सन्तुष्ट करने के लिए 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' से 'ब्रिटिश' शब्द को हटा दिया गया और इस तरह इस संगठन का नाम 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' के स्थान पर

केवल 'राष्ट्रमण्डल' हो गया। अब प्रश्न था कि ब्रिटिश सम्राट् के प्रति भारत का रुख क्या होगा। वह राष्ट्रमण्डल का प्रतीक और अध्यक्ष था और एक गणराज्य के लिए इस स्थिति को कबूल करना कुछ कठिन था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए शब्दाडम्बरों का प्रयोग किया गया। २८ अप्रिल, १९४९ को भारत के तत्कालीन उप-प्रधान मन्त्री सरदार वल्लभ भाई पटेल ने प्रेस सम्मेलन में स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा : "भारत के एक सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न गणराज्य की स्थिति किसी प्रकार भी इस सदस्यता से प्रभावित नहीं होती है क्योंकि इसमें महामहिम राजा के प्रति निष्ठा रखने का कोई प्रश्न नहीं उठता। राजा तो केवल हमारे उन्मुक्त सम्पर्क का अन्य सदस्यों की तरह केवल प्रतीक रहेगा ... जहाँ तक हमारे संविधान का सम्बन्ध है वह सभी आन्तरिक और वाह्य क्षेत्रों में गणराज्य के रूप में रहेगा। आप देखेंगे कि राजा के राष्ट्रमण्डल की प्रधानता केवल उसके स्वतन्त्र राष्ट्रों के उन्मुक्त सम्पर्क के प्रतीक होने तक ही सीमित रहेगी।"

इस प्रकार भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्ति और अपने को गणराज्य घोषित करने के उपरान्त राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने का निश्चय किया। इसके सम्बन्ध में कई प्रतिक्रियाएँ हुईं। कुछ लोगों का कहना था कि भारत के आत्मसम्मान के लिए राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहना एक कलंक का टीका है। जिस देश ने हमें सैकड़ों वर्षों तक दास बनाकर रखा और भारत का शोषण किया उससे सम्बन्ध बनाये रखना और उसके सम्राट् को नाममात्र के लिए ही अध्यक्ष स्वीकार करना हमारी दास मनोवृत्ति का परिचायक है। भारत का राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनाये रखने के भारत-सरकार के निर्णय ने कई लोगों को आश्चर्य में डाल दिया। राष्ट्रमण्डल की पूर्ववर्ती संस्था इम्पीरियल कान्फ्रेंस में भारत ने १९१७ में प्रवेश किया था और इसके लिए देश में एक आन्दोलन भी चला था। लेकिन इस आन्दोलन को भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के उदारवादी नेताओं (जो ब्रिटेन के प्रति पूरी राजभक्ति रखते थे) तथा लिबरल फेडरेशन (Liberal Federation of India) के उन उन्नायकों ने चलाया था जो अंग्रेज के पिट्ठू थे। लेकिन गाँधी-युग में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने १९२९ में पूर्ण स्वराज्य की माँग को रखा। अध्यक्ष-पद से बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि भारत पूर्ण स्वराज्य की स्थापना की मांग करता है और इस पूर्ण स्वराज्य का अर्थ होगा कि वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखेगा। पंडित नेहरू का कहना था कि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के साथ यदि भारत अपना सम्बन्ध बनाये रखेगा तो उसको ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समर्थन करना पड़ेगा। भारत के लिए यह एक घृणास्पद स्थिति होगी।[1] भारतीय राष्ट्रीय

1. 'Jawaharlal Nehru considered the very idea of a vast and ancient country like India remain a dominion of England [which implied the membership of the British Commonwealth] to be ridiculous and humiliating. He did not believe in reforming imperialism by entering into a partnership with it. The British Commonwealth, in spite of its high sounding name, he pointed out, did not stand for true international co-operation. It was an exclusive system whose membership would deprive India of the freedom to develop contact with the world at large, especially with the countries of Asia...One of his great objections to the dominion states was that it would mean the involment of India in the reactionary foreign policy of Britain."

—S. R. Mehrotra, *India and the Commonwealth*, p.

कांग्रेस ने नेहरू के तर्कों से प्रभावित होकर लाहौर अधिवेशन (१६२६) में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव स्वीकार किया। इस प्रस्ताव को स्वीकार करने का अर्थ था कि कांग्रेस ने जवाहरलाल के विचारों को मानकर निश्चय कर लिया कि भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से हर प्रकार के सम्बन्धों को तोड़ लें।[1]

स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री बनने के उपरान्त लाहौर कांग्रेस की अध्यक्षता करने वाले उसी नेहरू की सरकार ने निश्चय किया कि भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहेगा। अपनी इस परिवर्तित मनोवृत्ति को उचित ठहराते हुए नेहरू ने कहा : "वर्तमान विश्व में जबकि अनेक विध्वसकारी शक्तियाँ सक्रिय है और हम प्रायः युद्ध की कगार पर खड़े हैं, मैं सोचता हूँ कि किसी समुदाय से सम्बन्ध विच्छेद करना अच्छी बात नही है...एक ऐसे सहकारी समुदाय को नष्ट करने की अपेक्षा जीवित रखना ही अच्छा है जो वर्तमान विश्व में कुछ हितकारी कार्य कर कसता है...राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत के और सम्पूर्ण विश्व के हित के लिए लाभदायक है। इससे भारत को लक्ष्यों की प्राप्ति में सहयोग मिलेगा।"[2]

इस स्थल पर इस प्रश्न का उठना बिल्कुल स्वाभाविक है कि नेहरू के विचारों में इस तरह का परिवर्तन किन-किन कारणों से प्रेरित हुआ था। भारतीय संविधान सभा में बोलते हुए नेहरू ने राष्ट्रमण्डल में बने रहने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये :

(१) यह समझौता स्वतंत्र इच्छा पर आधारित है और स्वतंत्र इच्छा द्वारा ही रद्द भी किया जा सकता है।

(२) परस्पर मैत्रीपूर्ण व्यवहार तथा सहयोग की इच्छा के अतिरिक्त किसी सदस्य पर किसी तरह का कोई दायित्व या बन्धन नही है और उसमें भी यह शर्त है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने इस व्यवहार व सहयोग की मात्रा का निश्चय स्वयं अपनी नीति के आधार पर करेगा।

(३) ब्रिटिश सम्राट को राष्ट्रमंडल का प्रतीक माना गया है परन्तु व्यवहार में वह नितान्त प्रभावहीन है।

(४) भारत की स्वाधीनता तथा स्वतन्त्रता इस निर्णय से जरा भी सीमित या प्रभावित नही हुई है।

(५) भारत राष्ट्रमण्डल को न तो किसी ऐसी उच्चतर संस्था का स्थान देने को ही तैयार है कि वह राष्ट्रों की संप्रभुता को सीमित करने वाली बने, और न भारत इस बात के लिए कभी सहमति देगा कि सदस्य-राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों को राष्ट्रमण्डल के सम्मुख पेश किया जाय। यह एक अलग बात है कि भारत सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों पर मैत्रीपूर्ण वार्ता में भाग लेने के लिए तैयार हो जाय।

(६) भारत प्रजातिभेद और उपनिवेशवाद पर अपने दृष्टिकोण को अटल रखेगा और उसे इन प्रश्नों पर स्वतंत्र निर्णय लेने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

1. "Thus the Congress had accepted Jawaharlal Nehru's view that India must sever all connections with the British Commonwealth."

—R. Coupland, *The Indian Problem*. p. 200.

2. "*Constituent Assembly Debates*, May 16, 1949.

(७) राष्ट्रमण्डल से भारत के लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायता मिलेगा। अन्य देश भी पारस्परिक लाभ के सिद्धांत के आधार पर ही भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता प्रदान करना चाहते हैं। आज एक दूसरे पर निर्भरता का युग है। भारत अपने व्यापार, वाणिज्य और अपनी अनेक वस्तुओं के लिए दूसरों पर निर्भर है। ब्रिटेन से हमारा प्राचीन सम्बन्ध है और हम कुछ वस्तुओं के लिए बहुत कुछ उस पर निर्भर करते हैं। अतः उसके साथ पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद कर देने से हमारी अर्थ-व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

(८) सम्पूर्ण विश्व यह बात देखेगा और समझेगा कि भारत उनके साथ भी सहयोग स्थापित कर सकता है जिनके विरुद्ध अब तक उसने संघर्ष किया है।

(९) राष्ट्रमण्डल की सदस्यता अन्य देशों के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण और सहयोगी सम्बन्धों की स्थापना के मार्ग में बाधक नहीं।

(१०) राष्ट्रमण्डल से पृथकता का अर्थ होगा भारत को कुछ समय के लिए विश्व से पूर्णतः पृथक हो जाना। यह एक असंभव स्थिति होगी और वातावरण के प्रभाव से हमारा झुकाव किसी न किसी ओर अवश्य होगा।

इन तथ्यों के अतिरिक्त नेहरू को एक दो और बातों ने राष्ट्रमण्डल में भारत के बने रहने के निश्चय की ओर प्रेरित किया। इसका एक आर्थिक कारण था। आर्थिक दृष्टि से भारत का अधिकांश व्यापार ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल के देशों पर निर्भर था। इस हालत में एकाएक राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने में कठिनाई थी।

सैनिक दृष्टिकोण से उस समय भारत पूर्णतया ब्रिटेन पर आश्रित था। अपने विस्तृत समुद्रतटीय सीमा की रक्षा के लिए भारत ब्रिटेन की नौ-सेना पर आश्रित था। भारत का पूरा सैनिक संगठन ब्रिटिश पद्धति पर आधारित था और सैनिक आयुधों के लिए वह ब्रिटेन का मुँहताज था।

राष्ट्रमण्डल में बने रहने के निर्णय में कुछ लोगों के व्यक्तित्व ने निर्णायक पार्ट अदा किया। अन्तिम ब्रिटिश गवर्नर जेनरल लार्ड माउन्टबेटन ने नेहरू को निश्चित रूप से प्रभावित किया। स्वयं नेहरू की 'अंगरेजीयत' ने अन्तिम फैसला में महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा किया।[1] जिस समय जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रमंडल में बने रहने का फैसला किया उस समय उनके सामने अन्य उद्देश्यों के साथ शायद एक उद्देश्य यह भी रहा होगा कि इस मंच के द्वारा भारत नवोदित अफ्रिकी और एशियाई देशों का सरगना बन सकता है। स्वाधीनता की तरह दूसरे मामलों में भी उनका मार्गदर्शन कर सकता है। किन्तु नेहरू की नीतियों की विफलता के कारण ऐसा नहीं हो सका और आज स्थिति यहाँ तक आ पहुँची कि भारत में न केवल विरोधी पक्षों (विशेषकर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी) की ओर से राष्ट्रमंडल छोड़ने

(१) अंग्रेजी संस्था तथा विचारधारा के प्रति नेहरू को बड़ा मोह था। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है: "All my predilection (apart from the political plane) are in favour of England and English people and if I have become what is called an uncompromising opponent of British rule in India it is almost in spite of myself." Jawaharlal Nehru, *An Autobiography*, p. 419.

की मांग की जाती है, बल्कि प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी भी परोक्ष रूप से यह स्वीकार करने लगी हैं कि हो सकता है कि ऐसा समय आवे जब कि राष्ट्रमंडल से भारत को अलग होना पड़े। फिर भी, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राष्ट्रमडल में भारत के बने रहने का जवाहरलाल नेहरू का निर्णय बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। गणतंत्र बनने के बाद नेहरू के भारत ने राष्ट्रमंडल में बने रहने का जो निर्णय किया उससे प्रभावित होकर ही ब्रिटेन के अन्य उपनिवेश स्वाधीन होने के बाद राष्ट्रमंडल में शामिल हुए और उसे विशाल संगठन का रूप दिया। इसी कारण जवाहरलाल को आधुनिक राष्ट्रमंडल का पिता माना जाता है।

राष्ट्रमंडल के साथ भारत का सम्बन्ध—इसमें कोई सन्देह नही कि राष्ट्रमंडल में रहने से भारत की स्वतंत्रता पर कोई आँच नहीं आती और अपनी नीति के निर्धारण में वह पूर्णतया स्वच्छन्द है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रमंडल की सदस्यता भारत के लिए पूरी तरह उपयोगी है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि राष्ट्रमंडल का नेता ब्रिटेन है और यह एक मूलतः ब्रिटिश संस्था है। पर भारत के कुछ अन्तर्राष्ट्रीय विवादो में भारत के प्रति ब्रिटेन का रुख अमैत्रीपूर्ण रहा है। भारत और पाकिस्तान के संदर्भ में यह बात विशेष रूप से सत्य है। उसने भारत के विरुद्ध पाकिस्तान का हमेशा समर्थन किया है। १९६५ के कच्छ के मामले पर उसने पाकिस्तान का पक्ष लिया। कश्मीर के प्रश्न पर उसने सदा पाकिस्तान का समर्थन किया है। १९६५ के भारत-पाकिस्तान संघर्ष में ब्रिटेन ने भारत को आक्रामक कहा और मुसीबत के क्षणों में भारत को सैनिक सहायता देने से इन्कार किया। ब्रिटेन के लिए भारत और पाकिस्तान दोनों ही देश समान थे, क्योंकि दोनों राष्ट्रमंडल के सदस्य थे। लेकिन ब्रिटिश सरकार पहले तटस्थ रही और अपनी आँखें पाकिस्तानी घुसपैठियों की ओर से बन्द कर ली। भारत-पाक संघर्ष में ब्रिटेन ने निश्चय ही एकपक्षीय दृष्टिकोण अपनाया।

भारत में ब्रिटेन के इस रवैये के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई और २४ सितम्बर १९६५ में भारतीय संसद में हुए बहस के दौरान यह मांग की गयी कि भारत राष्ट्रमंडल का परित्याग कर दे। एक सदस्य ने कहा कि भारत के समक्ष अब दो ही रास्ते हैं : वह राष्ट्रमंडल को छोड़ दे या ब्रिटेन को राष्ट्रमंडल का नेतृत्व करने से रोक दे।

केन्या के प्रवासी भारतीयो की समस्या को लेकर १९६८ के प्रारम्भ में ब्रिटेन और भारत के सम्बन्ध में पुनः तनाव पैदा हुआ और भारत में राष्ट्रमंडल के परित्याग की बात उठने लगी। १९६३ में जब केन्या स्वतंत्र हुआ उस समय वहाँ पचीस हजार के लगभग भारतीय निवास करते थे। केन्या की स्वतंत्रता के अवसर पर भारतीयों के समक्ष एक विकट समस्या उत्पन्न हो गयी। यह समस्या उनकी नागरिकता से सम्बन्धित थी। उस समय भारत सरकार चार हजार भारतीयों को पासपोर्ट दिया और शेष भारतीय ब्रिटेन के पासपोर्ट पर ब्रिटेन में रहने लगे।

हाल के वर्षों में अफ्रिकी देशों में सदियों की गुलामी के बाद 'अफ्रिकीकरण' की जो भावना पैदा हुई उससे केन्या की सरकार अछूती नही रह सकी। केन्या से पहले तांजानिया और उगांडा से एशियाई गैर-नागरिकों को निष्कासित किया जा चुका था। फरवरी, १९६८

में केन्या की सरकार ने यह निश्चय किया कि ऐसे एशियाई लोगों को जो वहाँ के नागरिक नहीं हैं उन्हें केन्या में गैर-नागरिक जैसा व्यवहार किया जाय। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि केन्या में वसे एशियाइयो को जीवन-यापन से वंचित हो जाना पड़ेगा।

केन्या सरकार के इस निर्णय से प्रवासी भारतीयो में तहलका मच गया। १६६३ में केन्या की स्वाधीनता के समय ब्रिटिश पासपोर्ट प्राप्त करके वे ब्रिटिश नागरिक बन गये थे। अतः यह उम्मीद की जा सकती थी कि ब्रिटेन इन लोगों के प्रति अपनी जिम्मेवारी का निर्वाह करेगा, लेकिन जब केन्या के भारतीय मूल के ब्रिटिश नागरिक अपने को वहाँ अरक्षित अनुभव करके ब्रिटेन भागने लगे, तो ब्रिटेन ने "एशियाई बाढ़" को रोकने के उद्देश्य से संसद् में एक विधेयक पेश किया। इस विधेयक का उद्देश्य १ मार्च १९६८ के बाद केन्याई भारतीयों को ब्रिटेन में प्रवेश से रोकना था। ब्रिटिश संसद् ने इस विधेयक को पारित कर दिया। ब्रिटेन के इस कानून के मुताबिक उस पासपोर्ट की कोई कीमत नहीं रही जो ब्रिटेन ने दिये थे तथा केन्या के भारतीय अब ब्रिटेन में जाकर नही बस सकते थे।

इस घटना ने भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध में तनाव उत्पन्न कर दिया। केन्या के भारतीय मूल के ब्रिटिश नागरिकों की जिम्मेदारी स्पष्टतः ब्रिटेन पर थी। लेकिन ब्रिटेन ने इस जिम्मेवारी को निभाने से मुँह मोड़ लिया। इस स्थिति में भारत क्या करता? जहाँ तक कानूनी स्थिति का सम्बन्ध था, भारत पर उनकी कोई जिम्मेदारी नही थी। किन्तु समस्या का एक मानवीय पक्ष भी था। इसके अतिरिक्त केन्या और ब्रिटेन के निर्णयो से प्रभावित होने वाले भारतीय ही सबसे अधिक थे।

जिस समय ब्रिटिश संसद् में ब्रिटेन में आनेवाले एशियाइयो को रोकने का विधेयक पेश हुआ उस समय भारत में इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अखिल भारतीय कांग्रेस को संसदीय पार्टी में यह सुझाव दिया गया कि ब्रिटिश सरकार से बदला लेने के लिए राष्ट्रमंडल छोड़ दिया जाय और भारत में ब्रिटिश सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण किया जाय। यद्यपि प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाँधी ने इन सुझावों को अव्यावहारिक बतलाया, फिर भी भारत सरकार ने ब्रिटिश हाई कमिश्नर जॉन फ्रीमैन को यह बतला दिया कि एशियाइयो को ब्रिटेन-प्रवेश से रोकने वाले अधिनियम का भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों पर सांघातिक असर पड़ेगा। ब्रिटिश सरकार पर इस विरोध का कोई प्रभाव नही पड़ा और २९ फरवरी १९६८ को उक्त विधेयक स्वीकार करके केन्या के प्रवासी भारतीयों के ब्रिटिश प्रवेश को रोक दिया गया।

राष्ट्रसंघ का भविष्य—ब्रिटेन की नीति के कारण राष्ट्रमंडल की बुनियाद निरन्तर खोखली होती जा रही है। ब्रिटेन में पहले राष्ट्रमंडलीय देशो को नागरिकों के विशेष सुविधा दी जाती थी। परन्तु १९६२ में ब्रिटेन ने राष्ट्रमंडलीय प्रवास अधिनियम (Commonwealth Immigration Act) द्वारा राष्ट्रमंडलीय देशों के नागरिकों की विशेष स्थिति को समाप्त कर उन्हे लगभग सामान्य विदेशियो की स्थिति में ला दिया है। यूरोपीय साझा बाजार में शामिल होने की ब्रिटिश आकांक्षा ने राष्ट्रमण्डल की स्थिति को अत्यन्त डावाँडोल बना दिया है। २६ अक्टूबर, १९६४ से ही ब्रिटिश सरकार ने खाद्य पदार्थों आदि को छोड़ कर लगभग सभी आयातित वस्तुओं पर—चाहे वे राष्ट्रमंडलीय देशो से आयातित हों अथवा अन्य देशों से—उनके

का पन्द्रह प्रतिशत शुल्क लगा दिया है, जिससे राष्ट्रमण्डलीय देशों को मिलाने वाला व्यापारिक लाभ एक बड़ी सीमा तक नष्ट हो गया। रोडेशिया के प्रति ब्रिटेन के ढुलमुल नीति ने राष्ट्रमण्डल के अफ्रेशियाई देशों के विश्वास को एकदम खत्म कर दिया है। अब ब्रिटेन द्वारा साझा बाजार में सम्मिलित हो जाने पर तो राष्ट्रमण्डलीय देशों को और भी अधिक व्यापारिक हानि उठानी पड़ेगी। ब्रिटेन के इस प्रकार के कदमों से अनेक राष्ट्रमण्डलीय देशों को, जिनमें भारत भी है, राष्ट्रमण्डल की भावी उपयोगिता के विषय में सन्देह होने लगा है और कुछ देश इससे अलग हो हो जाने के बारे में भी सोचने लगे हैं। ब्रिटेन के साझा बाजार में शामिल होने के फैसले से राष्ट्रमण्डल पर कितना घातक प्रभाव पड़ सकता है उसका पता बहुत कुछ इसी बात से चल जाता है कि भारत में इस विचार को बल मिल रहा है कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री विलसन "राष्ट्रमण्डल के मित्र देशों के साथ धोखा करने जा रहे हैं और ब्रिटेन की परम्परा को भी वह छोड़ रहे हैं। ब्रिटेन की राष्ट्रमण्डल देशों के माल पर सीमा शुल्क में रियायत देने की परम्परा रही है। भारत को आशंका यह है कि साझा बाजार में शामिल होने के बाद ब्रिटेन को भारतीय माल के आयात पर ब्रूसेल्स कमीशन की सिफारिश के अनुसार सीमा शुल्क लगाना ही पड़ेगा।"

जनवरी १९६९ में लंदन में हो रहे राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्रियों के सम्मेलन में भाग लेने के लिए रवाना होने के पूर्व प्रधान मंत्री इन्दिरा गाँधी ने यह कहा कि "कुल मिलाकर राष्ट्रमण्डल का एक विचार-विनिमय मंच से अधिक नहीं है।" उन्होंने यह भी कहा कि आवश्यकता पड़ने पर भारत राष्ट्रमण्डल से अलग हो सकता है। लेकिन इस सम्बन्ध में उन्होने एक शर्त जोड़ दी। श्रीमती गाँधी ने कहा :" १९४४ से चले आ रहे इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विधान की जिम्मेवारी हम नहीं लेना चाहते, लेकिन यदि अफ्रेशियायी देशो को यह महसूस होने लगता है कि इसकी उपयोगिता खत्म हो चुकी है तो भारत-सरकार इसमें बने रहना भी नहीं चाहेगी।" इस प्रकार तत्काल के लिए इस समस्या को टाल दिया गया। लेकिन इस संस्था की व्यर्थता अब धीरे-धीरे स्पष्ट होती जा रही है। रोडेशिया जैसे महत्वपूर्ण मसलों पर यह पूर्णतया निरर्थक सिद्ध हुआ है। राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्रियों के सत्रहवें सम्मेलन (१९६९) में इस विषय पर चर्चा अवश्य हुई, लेकिन उसका कोई परिणाम नही निकला। इस सम्मेलन में राष्ट्रमण्डल के महासचिव आर्नोल्ड स्मिथ ने अपने १९६६-६८ के प्रतिवेदन में लिखा था कि प्रजातीय असहिष्णुता, नव पृथकतावाद और धनी तथा निर्धन राष्ट्रों के बीच की बढ़ती हुई खाई कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जो विश्व की सुख-शान्ति के लिए अभिशाप बनी हुई हैं। राष्ट्रमण्डल के सत्रहवें अधिवेशन पर इन्ही प्रवृत्तियों का प्रभाव रहा और यही वाद-विवाद के मुख्य विषय रहे। सम्मेलन शुरू होने के पहले ही जमैका, त्रिनीदाद आदि ने यह प्रस्ताव रखा कि लन्दन में एक ऐसा विशेष ब्यूरो स्थापित किया जाय जो राष्ट्रमंडल सचिवालय के अंग के रूप में सदस्य देशो की प्रजातीय और अप्रवासीय समस्याओं का निदान करे। आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में भी वाद-विवाद हुए, लेकिन सम्मेलन ने निर्णायक ढंग से कोई ऐसा निर्णय नहीं किया जो सदस्य राष्ट्रों को लाभ पहुँचाता।

इन बातो को देखकर राष्ट्रमण्डल के भविष्य के सम्बन्ध में अब निश्चित रूप से तरह-तरह की आशंकाएँ व्यक्त की जाने लगी हैं। राष्ट्रमण्डल के कार्यों से न केवल भारत में असंतोष है, बल्कि कुछ अन्य सदस्य देश, जिन में अधिकतर कैरेबियन और अफ्रिकी देश हैं, भी असंतुष्ट

हैं। यदि यह असंतोष इसी प्रकार बना रहा तो राष्ट्रमंडल की स्थापना का उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। जिस समय राष्ट्रमण्डल की स्थापना की गयी थी, इस बात को ध्यान में रखा गया था कि संबद्ध देशों के ब्रिटिश सरकार के प्रति सम्बन्धों तथा उनके आपसी विवादों को निपटाने की दशा में वह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा। संक्षेप में सदस्य देशों के लिए वह एक ऐसा मंच साबित होगा जिस पर एकत्र होकर वे अपनी आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं के समाधान खोज सकेंगे किन्तु राष्ट्रमण्डल की उपलब्धियों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि उसने अपने इस लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है। जातीय असहिष्णुता, नव-पृथकतावाद और धनी तथा निर्धन देशों के बीच बढ़ती हुई खाई ऐसी समस्याएँ हैं जो राष्ट्रमण्डल की बुनियाद को ही खोखला बना रही है। ब्रिटेन ने अब तक राष्ट्रमण्डल के प्रति अपने दायित्वों को भली प्रकार नहीं निभाया है और उसके इस रवैये के कारण ही कई देश असन्तुष्ट हैं। यह ठीक है कि राष्ट्र-मण्डल अब ब्रिटेन की बपौती संस्था नहीं रह गयी है और न इसको "केवल श्वेतों का क्लब" ही माना जा सकता है। परन्तु यह तो सच ही है कि आज भी ब्रिटेन का ताज राष्ट्रमण्डल का प्रधान माना जाता है और इस दृष्टि से राष्ट्रमण्डल की समस्याओं के निराकरण में ब्रिटेन की ही जिम्मेदारी सबसे अधिक है। ब्रिटेन इस जिम्मेदारी को कहाँ तक और किस प्रकार निभाता है इस पर राष्ट्रमण्डल का भविष्य निर्भर करता है। लेकिन फिलहाल ब्रिटेन जिस नीति का अवलम्बन कर रहा है उसको देखकर यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रमण्डल के विघटन की प्रक्रिया शुरू हो गयी है।

—०—

भारत की विदेश-नीति

(Foreign Policy of India)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :—१५ अगस्त, १६४७ को ब्रिटिश दासता से मुक्त होने के उपरान्त भारत का प्रवेश स्वतन्त्र राष्ट्रों की मण्डली में हुआ। उसी दिन भारत को अपनी आंतरिक तथा विदेश-नीति के निर्धारण का पूरा-पूरा अधिकार मिला। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भारत की स्वतन्त्रता एक युगान्तकारी घटना थी। यह एशिया में नवीन युग के आगमन का द्योतक थी।

यह सत्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही भारत अपनी इच्छानुसार विदेश-नीति का निर्धारण करने लगा, लेकिन यह समझ लेना कि ब्रिटिश काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत ने कोई हिस्सा नहीं लिया एक गलत दृष्टिकोण होगा। वस्तुतः स्वतन्त्र भारत की विदेश-नीति का एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठाधार है और अपनी विदेश-नीति से सम्बन्धित वक्तव्यों में पं० नेहरू ने कई बार इस तथ्य की ओर संकेत भी किया था।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास—प्राचीन काल से ही भारत का सम्बन्ध विदेश के कई देशों से रहा है। लेकिन ब्रिटिश राज्य की स्थापना के फलस्वरूप भारत का स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व समाप्त हो गया और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत वह ब्रिटिश साम्राज्य का अंग हो गया। स्वतन्त्र रूप से वह न तो किसी देश के साथ कोई सन्धि कर सकता था और न किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन या संगठन में हिस्सा ले सकता था। ऐसे अवसरों पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का प्रतिनिधित्व ब्रिटिश सरकार किया करती थी। भारत को अपना कोई स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व नहीं था।

ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रिका आदि कुछ स्वशासी डोमिनीयनें भी थी। उन्नीसवीं शताब्दी तक उनकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भी भारत के समान ही थी। विदेशों से वे किसी तरह का सम्पर्क नहीं स्थापित कर सकते थे। चूँकि वे स्वशासित उपनिवेश थे, अतएव नीति निर्धारण के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार ने उनसे सलाह-मशविरा करने का निर्णय किया तथा इसके लिए लन्दन में औपनिवेशिक सम्मेलन (Colonial Conference) करने का निश्चय किया। इस तरह का पहला औपनिवेशिक सम्मेलन १८८७ में हुआ। भारत को इस सम्मेलन में भाग लेने का अधिकार नहीं मिला। इसी तरह १८६७, १६०२, १६०५, १६०७ भी औपनिवेशिक सम्मेलन हुए, लेकिन भारत को विधिवत् इसमें कोई स्थान नहीं मिला।

१६१४ में प्रथम विश्व-युद्ध के शुरू होने पर भारत ने युद्ध में ब्रिटेन की बड़ी सहायता की। इसी तरह की सहायता उसे अन्य स्वशासी उपनिवेशों से भी मिली। ये उपनिवेश अब

---

1. "It should not be supposed that we are starting on a clean slate. It is a policy which flowed from our past, from recent history, and from our national movement and its development and from various ideals we have proclaimed."

J. L. Nehru, *Lok Sabha Debate*, March, 1950.

इस बात की मांग करने लगे कि ब्रिटिश विदेश-नीति के निर्धारण मे हिस्सा बँटाने का अधिकार उन्हें भी मिले। उनका कहना था कि वे युद्ध में मित्रराष्ट्रों की अपार सहायता कर रहे हैं और इसलिए युद्धोपरान्त विश्व के पुनर्निर्माण के काम में हिस्सा बँटाने के लिए उन्हें भी अधिकार मिलना चाहिए। इस माँग पर विचार करने के लिए १९१७ में एक दूसरा औपनिवेशिक सम्मेलन हुआ। भारत सरकार और भारत की जनता की ओर से यह माँग की गयी कि १९१७ के औपनिवेशिक सम्मेलन में भाग लेने के लिए उन्हें भी अधिकार मिले। भारत के युद्ध प्रयासो को देखकर अब इस माँग की उपेक्षा नही की जा सकती थी और १९१७ के औपनिवेशिक सम्मेलन में भारत को शामिल होने की बात मान ली गयी। इस तरह भारत पहले-पहल एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सदस्य हुआ। १९०७ में ही औपनिवेशिक सम्मेलन का नाम बदलकर "इम्पीरियल कान्फ्रेंस" (Imperial Confe-ence) रख दिया गया जो बाद में चलकर "ब्रिटिश कामनवेल्थ" कहलाया।[1]

ब्रिटिश कामनवेल्थ की सदस्यता ने भारत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने के लिए रास्ता खोल दिया। १९१७ के इम्पीरियल कान्फ्रेंस ने यह निश्चय किया कि शान्ति सम्मेलन में भाग लेने के लिए इम्पीरियल कान्फ्रेंस के सभी राज्यों को अवसर दिया जाय। पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में राष्ट्रपति विल्सन और फ्रांसीसी प्रधान मन्त्री विलमेंशों ने पहले इस प्रस्ताव का विरोध किया क्योंकि स्वशासी डोमिनीयन तथा भारत पूर्ण स्वतन्त्र न थे और किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में शामिल होने के लिए राज्य की पूर्ण स्वतन्त्रता आवश्यक है। लेकिन कनाडा ने इस बात पर बल दिया कि यदि कम युद्ध प्रयास करने वाले बेल्जियम और सर्बिया आदि देशों को शान्ति सम्मेलन में प्रतिनिधित्व मिलने का अधिकार है तो उनसे कई गुना अधिक युद्ध प्रयास करने वाले कनाडा, आस्ट्रेलिया, भारत आदि देशों को प्रतिनिधित्व क्यों न मिलेगा। ब्रिटिश सरकार ने इस मांग का समर्थन किया और १९१९ के पेरिस शान्ति सम्मेलन में स्वशासी ब्रिटिश उपनिवेश के साथ भारत को भी स्थान मिल गया। यह पहला मौका था कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में स्वतन्त्र रूप से भारत पहले-पहल शामिल हुआ। पेरिस का शान्ति सम्मेलन भारत का अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के विकास में एक महत्त्वपूर्ण मीलस्तम्भ था।[2]

पेरिस के शान्ति सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि शामिल हुए और उन्होंने स्वतन्त्र रूप से वर्साय की संधि तथा अन्य शान्ति संधियों पर हस्ताक्षर किये। चूँकि राष्ट्रसंघ का विधान (Covenant of the League of Nations) वर्साय-संधि तथा अन्य शान्ति संधियों का अभिन्न अंग था, इसलिए इन संधियों के हस्ताक्षरकर्त्ता होने के नाते भारत अपने-आप राष्ट्रसंघ का मौलिक सदस्य हो गया।[3] राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों में केवल भारत ही ऐसा देश था जो पूर्ण स्वतन्त्र राज्य नहीं था, फिर भी राष्ट्रसंघ की सदस्यता ने उसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत "अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति" बना दिया। इसके बाद भारत युद्धोत्तर काल के प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग

1. S. K. Mehrotra, *India and the Commonwealth*, pp.15-105.

2. "International Status of India," Memorandum presented to the Indian Statutory Commission by the India Office, *Report of the Indian Statutory Commission*, (1930), pp. 1632–33.

3. D. H. Miller, *the Drafting of the Covenant*, Vol. 1, p. 164.

लेने लगा और स्वतन्त्र रूप से उसने कई संधि-समझौते पर हस्ताक्षर भी किये। सीमित अर्थ में विदेशों में भारत का कूटनीतिक प्रतिनिधित्व होने लगा।[1] परतन्त्र होते हुए भी भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त कर लिया। इसी कारण जब १९४५ में संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई तो स्वतन्त्र होने के दो वर्ष पूर्व ही भारत ने सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लेकर चार्टर पर स्वतन्त्र रूप से हस्ताक्षर किया और उसका एक प्रारम्भिक सदस्य बना। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भारत को ब्रिटिश अधीनता से मुक्त होने के पहले ही मिली थी।

विदेश नीति की परम्परा का विकास

दो विश्व-युद्धों के काल में राष्ट्रसंघ का सदस्य होने के नाते अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत हिस्सा लेने लगा। लेकिन इस काल में भारत सरकार की विदेश नीति स्वतन्त्र नहीं थी। गवर्नर जेनरल नीति का निर्धारण ब्रिटिश सरकार के आदेशों के अनुसार करता था। इस कारण इस काल में भारत सरकार की विदेश-नीति का स्वरूप मूलतः साम्राज्यवादी था जिसको भारत की जनता एकदम पसन्द नहीं करती थी। भारतीय राष्ट्रीयता का प्रवक्ता संगठन कॉंग्रेस ने इस नीति का हमेशा विरोध किया और विश्व की घटनाओं पर स्वतन्त्र रूप से उसने अपना विचार प्रकट करना शुरू किया। कॉंग्रेस ने विश्व की समस्याओं का अध्ययन राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से करना प्रारम्भ किया और १९१६ के बाद से प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर अपनी प्रतिक्रिया बताने के लिए उसने प्रस्ताव स्वीकार करना शुरू किया। इन्हीं प्रतिक्रियाओं और प्रस्तावों ने स्वतन्त्र भारत की विदेश-नीति की परम्परा का निर्माण किया।[2]

ब्रिटिश काल में यूरोपीय साम्राज्यवाद को सहारा देने के लिए भारत एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता था। पास-पड़ोस के किसी देश में यदि राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ होता था तो उसको दबाने के लिए ब्रिटिश भारतीय सरकार तुरत भारत से सेना भेजती थी। कॉंग्रेस ने पड़ोस के राष्ट्रीय आन्दोलनों को दबाने में भारतीय सेना के दुरुपयोग पर विरोध प्रकट किया और कई वर्षों तक लगातार प्रस्ताव पास करके यह घोषित किया कि भारत को अपने पड़ोसी देशों के साथ किसी तरह की शत्रुता नहीं है और ब्रिटिश सरकार उनके साथ जैसा दुर्व्यवहार करती है उसके साथ भारतीयों को कोई सहानुभूति नहीं है। कॉंग्रेस ने एशियाई देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए एक "विदेश विभाग" की स्थापना की और यह तय किया कि एशियाई देशों को संगठित करने के लिए कॉंग्रेस प्रयास करे। एशियाई देशों से घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित करके भारत पराधीन देशों के कई सम्मेलनों में भाग लेने लगा। इन सम्मेलनों में १९२७ का पराधीन देशों का ब्रुसेल्स सम्मेलन सबसे महत्त्वपूर्ण था जिसमें कॉंग्रेस की ओर से जवाहरलाल नेहरू शामिल हुए थे। ब्रुसेल्स सम्मेलन में कई पराधीन देशों के प्रतिनिधि भाग लेने आये थे जिसके साथ पंडित नेहरू ने अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध कायम किया। ब्रुसेल्स से लौटने के उपरान्त श्री नेहरू ने कॉंग्रेस के समक्ष एक रिपोर्ट प्रस्तुत की और यह निर्णय किया गया कि भारत एशियाई देशों को संगठित करने के लिए एक एशियाई सम्मेलन का आयोजन

1. J. C. Coyajee, *India and the League of Nations*, pp 23–26.
2. B. Prasad. *Origins of Indian Foreign Policy*, pp. 36–46.

करे। इसके बाद यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशियाई देशों का संगठित करने के लिए भारत निरन्तर प्रयास करता रहा।[1]

१९१६ और १९३९ के वर्षों के बीच ऐसी कोई अन्तर्राष्ट्रीय घटना नहीं घटी जिसकी उपेक्षा कांग्रेस ने की हो। उसने सभी घटनाओं पर अपने विचार व्यक्त किये।[2] उसने राष्ट्रसंघ की सफलता की कामना की, निरस्त्रीकरण का समर्थन किया और आक्रामक युद्धों का विरोध किया। १९३१ में चीन पर जापानी आक्रमण, १९३५ में इटली द्वारा अबीसीनिया की स्वतन्त्रता का हनन, हिटलर की सभी आक्रामक कार्रवाइयों तथा स्पेन के गृह-युद्ध में फासिस्ट शक्तियों के कारनामों का कांग्रेस ने विरोध किया। उसने पड़ोसी एशियाई देशों के साथ, विशेषकर चीन के साथ, अपनी मित्रता मजबूत करने का प्रयास और साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा प्रजातीय विभेदवाद का विरोध एवं न्याय के आधार पर विश्व शान्ति की स्थापना का समर्थन किया। कांग्रेस के इस प्रकार की नीति के निर्धारण में पंडित नेहरू ने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया। वस्तुतः कांग्रेस के अन्दर अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की घटनाओं में रुचि पैदा करना और उसके लिए एक विदेश-नीति निर्धारण करने की परम्परा के निर्माणकर्ता पंडित नेहरू ही थे, और, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस परम्परा का निर्माण करके उन्होंने स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति का शिलान्यास किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने पंडित नेहरू के नेतृत्व में अपनी विदेश नीति में इन सारे तत्त्वों का समावेश कराने का यत्न किया।[3]

स्वतन्त्र भारत की विदेश-नीति का निर्माण और उसके तत्त्व

गुटबन्दियाँ—आज के युग में विदेश-नीति का निर्धारण किसी भी देश के प्रशासन के लिए बड़ी ही कठिन समस्या है। सैनिक और आर्थिक दृष्टि से कमजोर देश के लिए तो यह कठिनाई कई गुना बढ़ जाती है। भारत इस सिद्धान्त का अपवाद नहीं हो सकता था।

१५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ। उस दिन से भारत स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी विदेश-नीति का निर्धारण करने लगा। लेकिन यह एक अत्यन्त ही कठिन कार्य था। स्वतन्त्र भारत की विदेश-नीति के निर्धारण में अनेक कठिनाइयाँ थीं। सबसे विकट समस्या युद्धोपरान्त विश्व का दो विरोधी गुटों में विभाजित होना था। अभी द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त भी नहीं हुआ था कि संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ में मनमुटाव पैदा हो गया। यह मनमुटाव बढ़ते-बढ़ते "शीत-युद्ध" के रूप में परिवर्तित हो गया। संसार दो गुटों में बँट गया। एक का नेता सोवियत संघ और दूसरे का संयुक्त राज्य अमेरिका हुआ। इन गुटबन्दियों में स्वतन्त्र भारत का क्या स्थान हो, भारत के विदेश मंत्री के सामने यह एक प्रमुख प्रश्न था।

भौगोलिक तत्त्व—भारत की भौगोलिक स्थिति इस समस्या को और भी जटिल बना रही थी। उत्तर में भारत साम्यवादी गुट के दो प्रमुख देशों (रूस और चीन) के बिल्कुल समीप है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता के तुरत बाद भारत अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए पश्चिमी गुट

1. N. V. Rajkumar, *The Background of Indian Foreign Policy*, pp. 9–15.
2. D. N. Verma, 'India and Asian Solidarity' 1900-1939,"in *The Journal of The Bihar Research Society*; Vol. XLIX, Part I–IV, pp. 316-328.
3. Peter Lyon, *Neutralism*, p. 121.

को मर्जी पर आश्रित था। भारत दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम में समुद्रों से घिरा हुआ है। इतने लम्बे समुद्र-तट की रक्षा के लिए एक बहुत बड़ी नौ-सेना आवश्यक है और इस दृष्टि से हम पूर्ण-रूप से ब्रिटेन पर आश्रित थे। भारतीय सेना का संगठन भी पाश्चात्य ढंग पर हुआ था। फिर भारत के दोनों छोरों पर पाकिस्तान स्थित है। काफी मनमुटाव और झगड़े के बाद पाकिस्तान की स्थापना हुई थी और इसलिए भारत और पाकिस्तान का सम्बन्ध सन्तोषजनक नहीं था। अतएव भारतीय विदेश-नीति के निर्धारण में इस भौगोलिक स्थिति पर ध्यान देना आवश्यक था।

विचारधाराओं का प्रभाव—भारतीय विदेश नीति के निर्धारण में एक तीसरी बात का भी समावेश करना था। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय कांग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तरह-तरह के आदर्श संसार के सामने प्रस्तुत किये थे। कांग्रेस ने हमेशा विश्व शान्ति और शान्तिपूर्ण सह-जीवन का समर्थन तथा साम्राज्यवाद और प्रजातीय विभेद का घोर विरोध किया था। १९४७ में भारत का शासन सूत्र इसी पार्टी को मिला। सत्तारूढ़ होने के बाद कांग्रेस-सरकार को अपनी विदेश-नीति के निर्धारण में उन सभी आदर्शों पर ध्यान देना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस के कुछ अपने सिद्धान्त थे। इस संस्था पर महात्मा गाँधी का प्रभाव था जो अहिंसा और विश्व बन्धुत्व की भावना में विश्वास करते थे। काँग्रेस को इन सिद्धान्तों पर भी ख्याल रखना था।[1]

तत्कालीन परिस्थिति—तात्कालिक आन्तरिक परिस्थिति विदेश-नीति के निर्धारण में एक दूसरी समस्या थी। देश के विभाजन के बाद साम्प्रदायिक दंगे के कारण देश की हालत बहुत ही शोचनीय हो गयी थी। इससे भी अधिक शोचनीय आर्थिक स्थिति थी। देश के बँटवारे से भारत अब एक ऐसा देश नहीं रह गया जो आर्थिक दृष्टि से एक इकाई कहलाये। सम्प्रदायिक दंगे के फलस्वरूप लाखों की संख्या में शरणार्थी पाकिस्तान से भाग कर भारत चले आये। भारत सरकार के सामने उन्हें बसाने और रोजी-रोटी देने का प्रश्न था। इसके तुरत बाद भारत

1. J. C. Kundra, *Indian Foreign Policy*, pp. 43-49 and K. P. Karunakaran, *India in World Affairs*, p. 26. किन्तु, यहाँ पर एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। बहुतेरे भारतीयों की यह एक गलत धारणा हो गयी है कि भारत की आन्तरिक और विदेश नीतियाँ गाँधीवादी सिद्धान्तों पर आधारित है। स्वयं पं० नेहरू इस बात को अस्वीकार करते थे। २२ जून, १९५० को रंगून में बोलते हुए उन्होंने कहा था: "I wish I were a disciple of Gandhi, but I am not. Statesman, who have to work through human agencies, which have not a perfect perception of truth and non-violence, must always compromise"—२३ जून, १९५० के "दी न्यूज क्रानिकिल" से। ४ दिसम्बर, १९४७ को भारतीय संविधान-परिषद् में बोलते हुए भी पं० नेहरू ने कहा था:

"Whatever policy you may laid down, the art of conducting the foreign affairs of a country lies in finding out what is most advantageous to the country. We may talk about international goodwill and mean what we say, but in the ultimate analysis, a government function for the good of the country it governs and no government dare to do anything which in short or long is manifestly to the disadvantage of that country. Therefore, whether a country is imperialist or socialist or communist, its foreign minister thinks primarily of the interest of that country."

सरकार को कश्मीर-युद्ध में फँस जाना पड़ा। इन सब कारणों से देश का आर्थिक जीवन बिल्कुल तहस-नहस हो गया। देश के मजदूर असन्तुष्ट थे। हड़ताल मामूली बात हो गयी थी। इनके अलावे भारत में विदेशी उपनिवेशों की समस्या थी। अँग्रेज तो भारत छोड़कर चले गये, लेकिन भारत के अन्दर अभी भी फ्रांसीसियों और पुर्तगालियों के छोटे-छोटे उपनिवेश थे। इन उपनिवेशों का कायम रहना स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्रता के लिए बड़े खतरे की बात थी।

आर्थिक तत्त्व—इस शोचनीय परिस्थिति के पृष्ठाधार में भारत के विदेश मन्त्री को अपनी नीति का निर्धारण करना था। आर्थिक विकास के लिए भारत में राष्ट्रीय साधन और जन-शक्ति का कोई अभाव नहीं था। ये सब चीजें प्रचुर मात्रा में थीं। असल प्रश्न था इन साधनों का अधिक-से-अधिक उपयोग करना और इनका उपयोग विदेशी सहायता से ही सम्भव था। भारत विदेशी सहायता का इच्छुक था। दुनिया के सभी उन्नत राष्ट्रों से यथासम्भव मदद प्राप्त करके भारत अपनी उन्नति चाहता था। इस दृष्टिकोण से भारत के लिए सभी देशों के साथ मैत्री का वर्ताव रखना आवश्यक था।

पिछड़े हुए देशों की उन्नति के लिए शान्ति कायम रखना अति आवश्यक शर्त है भारत की उन्नति तभी सम्भव थी जब संसार में चिरशान्ति बनी रहती। अतएव विश्व-शान्ति भारत के लिए जीवन-मरण का प्रश्न हो गया। भारतीय विदेश नीति के निर्धारण के प्रारम्भिक इतिहास में हमें दो-चार बातों पर ध्यान देना होगा।

विदेश-नीति की विशेषताएँ—सितम्बर, १९४६ में अन्तरिम सरकार की स्थापना के बाद से ही भारतीय विदेश-नीति विकसित होने लगी। २६ सितम्बर को एक प्रेस सम्मेलन में बोलते हुए पं० नेहरू ने इसकी एक रूपरेखा निर्धारित की। सरकारी तौर पर भारत की विदेश-नीति से सम्बन्धित यह पहली महत्त्वपूर्ण घोषणा थी।[1] पं० नेहरू ने कहा: स्वतन्त्र भारत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक स्वतन्त्र नीति का अवलम्बन करेगा और किसी भी गुट में शामिल नहीं होगा। भारत संसार के किसी भी भाग में उपनिवेशवाद और प्रजातीय विभेद का विरोध करेगा और विश्व-शान्ति के समर्थक देशों के साथ सहयोग करेगा। पं० नेहरू ने भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बढ़ाने पर भी जोर दिया। उन्होंने कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थान प्राप्त कर लेने के बाद यह आवश्यक हो गया कि भारत दुनिया के सभी देश के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करे। इसके बाद भारत ने संसार के समस्त देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने तथा एशियाई देशों के साथ घनिष्ठता बढ़ाने का प्रयास किया। १९४७ के प्रारम्भ में, जब भारत पूर्णतया स्वतन्त्र भी नहीं हुआ था, एशियाई देशों का एक सम्मेलन दिल्ली में हुआ। यह इसी नीति का परिणाम था। पंडित नेहरू के उक्त वक्तव्य के आधार पर ही स्वतन्त्र भारत की विदेश-नीति विकसित हुई। अतएव अब हम भारतीय विदेश-नीति की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

अभी तक की भारतीय विदेश-नीति के इतिहास के अध्ययन के आधार पर हम उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ पाते हैं: (१) वर्तमान गुटबन्दियों की विश्व राजनीति में असंलग्नता (non-alignment) की नीति का अवलम्बन करना, (२) शान्तिपूर्ण सहजीवन के सिद्धान्त में

1. *Modern Review,* (Calcutta) October 1946.

विश्वास करते हुए विश्व-शान्ति कायम रखने में यथासम्भव सहयोग देना, (३) साम्राज्यवाद और प्रजातीय विभेद (racial discrimination) का विरोध करते हुए पददलित राष्ट्रों की सहायता करना, (४) पारस्परिक आर्थिक तथा जन हितों के रक्षार्थ एशियाई-अफ्रिकी देशों को संगठित करना, तथा (५) संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा उसके सम्बद्ध उसकी अन्य संस्थाओं का समर्थन तथा सहयोग करना। अगले पृष्ठों में हम भारतीय विदेश-नीति की इन्हीं विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे।

असंलग्नता (non-alignment) की नीति

युद्धोत्तर विश्व-राजनीति—युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सबसे प्रमुख और दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य संसार का दो विरोधी गुटों में बँट जाना था। एक गुट का नेता संयुक्त राज्य अमेरिका और दूसरे का सोवियत संघ था। अभी द्वितीय विश्व युद्ध खत्म भी नहीं हुआ था कि संसार इन विरोधी खेमों में विभाजित हो गया और युद्ध खत्म होते-होते दोनों में अनेक कारणों को लेकर भीषण शीत युद्ध प्रारम्भ हो गया। इसी शीत युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को बहुत बुरी तरह प्रभावित किया। यूरोप और एशिया के अधिकांश देश इस गुटबन्दी में फँस गये और वे खुले तौर पर एक दूसरे का समर्थन करने लगे। शीत युद्ध का क्षेत्र विस्तृत होने लगा और इसके साथ-साथ एक तीसरे महासमर की तैयारी होने लगी। एक से एक भयानक शस्त्रास्त्र बनने लगे। सैनिक संगठनों का निर्माण हुआ। कुछ ही दिनों में ऐसा प्रतीत होने लगा कि दोनों गुटों के बीच अन्तिम फैसला के लिए युद्ध का हो जाना अनिवार्य है।

"भारत तटस्थ रहेगा"—जिस समय संसार इस भयंकर परिस्थिति से गुजर रहा था, उसी समय स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में भारत का जन्म हुआ। स्वतन्त्र भारत के लिए यह एक विकट समस्या थी कि इस स्थिति में वह क्या करे! क्या संसार के अन्य देशों की तरह वह किसी एक गुट में सम्मिलित हो जाय? भारत के समक्ष दो मार्ग थे—या तो किसी एक गुट के साथ मिलकर संसार के संघर्ष-क्षेत्र को और अधिक व्यापक करने में अपना योग दे अथवा गुटबन्दियों से पृथक् रहकर दो विरोधी गुटों में मेल-मिलाप करने का यत्न करे। बहुत विचार-विमर्श के बाद यह निश्चय किया गया कि भारत के राष्ट्रीय हित में द्वितीय मार्ग का अवलम्बन ही हितकर है। अतएव शुरू से ही भारत के नीति निर्धारक कहने लगे कि वे संसार के किसी भी गुट में सम्मिलित नहीं होंगे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सभी प्रश्नों पर वे तटस्थता की नीति का अवलम्बन करेंगे और उनकी वास्तविकता पर ध्यान रखते हुए स्वतन्त्र रूप से सभी प्रश्नों पर अपना निर्णय करेंगे।

भारत ने यह निर्णय तो कर लिया, लेकिन इस नीति के अवलम्बन में अनेक कठिनाइयाँ थीं। जैसे-जैसे दोनों गुटों का मतभेद गहरा होता गया वैसे-वैसे उनके द्वारा यह प्रयास होने लगा कि किसी भी तरह संसार के उन देशों को, जो अपने को तटस्थ कहते हैं, अपने गुट में शामिल कर लिया जाय और इस उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु सभी तरह के उपायों का अवलम्बन किया जाने लगा। उनके द्वारा (विशेषकर अमरीकी गुट द्वारा) कूटनीतिक धमकियाँ देना, आर्थिक सहायता देने से इन्कार करना और अन्य तरीकों से दबाव डालने का काम शुरू हुआ। जब अमेरिका द्वारा इस प्रकार का दबाव असह्य हो गया तो ४ दिसम्बर १९४७ में भारतीय संविधान परिषद् में

बोलते हुए पं० नेहरू ने कहा : "हमलोगों ने दोनों में किसी भी गुट में शामिल न होकर विदेशी गुटबन्दियों से अलग रहने का प्रयास किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों में कोई भी गुट हमलोगों के प्रति सहानुभूति नहीं रखता।"[1] लेकिन पंडित नेहरू ने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया कि चाहे इसका परिणाम जो भी हो वे अपनी तटस्थ और स्वतन्त्र नीति का परित्याग नहीं कर सकते हैं, क्योंकि भारत का कल्याण इसी नीति का अवलम्बन करने में है। वस्तुतः इस नीति के अवलम्बन का निर्णय कोई क्षणिक आवेश का परिणाम न था, वरन् एक गम्भीर चिन्तन का फल था और इसके मूल में तीन प्रमुख बातें थीं :

प्रथमतः, वर्षों के साम्राज्यवादी शोषण के बाद भारत अभी-अभी आजाद हुआ था और उसके समक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न देश के आर्थिक पुनर्निर्माण का था। यह महान् कार्य शान्ति के वातावरण में ही सम्भव था, लेकिन गुटबन्दियों के अस्तित्व मात्र से इस प्रकार के वातावरण का सृजन नहीं हो सकता था। ऐसी स्थिति में भारत किस प्रकार किसी गुट में सम्मिलित होकर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव की वृद्धि में अपना सहयोग देता। उसका राष्ट्रीय हित इसी में था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने में योगदान दे। अतएव भारत के लिए तटस्थता की नीति का अवलम्बन अनिवार्य प्रतीत हो रहा था। द्वितीयतः, गौरवपूर्ण भारतीय राष्ट्रीयता और प्रत्येक क्षेत्र पूर्ण स्वतन्त्र रहने की उत्कट अभिलाषा तटस्थ और स्वतन्त्र विदेश नीति के अवलम्बन में दूसरा प्रेरक तत्त्व था। वर्षों के प्रयास और सहस्रों देश-प्रेमियों के बलिदान के बाद भारत स्वतन्त्र हुआ। ऐसी स्थिति में भारतीयों के लिए स्वतन्त्रता से बढ़कर बहुमूल्य दूसरी चीज न थी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किसी गुट में सम्मिलित होने का अर्थ इस मूल्यवान स्वतन्त्रता को खो बैठना था। भारत यह अनुभव करता था कि विश्व-राजनीति में बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से भाग लेने का उसे पूर्ण अधिकार है। अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत अपना कोई निर्णय इसलिए नहीं ले सकता कि यह गुट अथवा वह गुट ऐसा चाहता है, बल्कि उसके निर्णयों का आधार वही होगा जिसको वह ठीक समझता है और जो उसके राष्ट्रीय हित में है। यदि भारत किसी गुट में शामिल हो जाता तो उसकी यह स्वतन्त्रता खत्म हो जाती। भारतीय संसद् में जब किसी सदस्य ने यह सुझाव पेश किया कि भारत को अपनी असंलग्नता की नीति का परित्याग कर देना चाहिए तो पं० नेहरू ने जवाब देते हुए कहा : "किसी गुट में सम्मिलित होने का अर्थ क्या है ? इसका केवल एक ही अर्थ है—किसी एक विशेष प्रश्न पर आप अपने विचार का परित्याग कर दें और दूसरे को खुश करने तथा उसकी सदिच्छा प्राप्त करने के लिए उसके विचारों को मान लें।"[2] भारत के लिए ऐसी स्थिति असह्य थी। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र रहना चाहता था और किसी गुट में शामिल होकर इस स्वतन्त्रता को कायम नहीं रखा जा सकता था।

तृतीयतः, किसी गुट में शामिल नहीं होने का एक और कारण भी था। यदि भारत स्वतन्त्र विदेश-नीति का अवलम्बन करते हुए सभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर निष्पक्ष रूप से अपना निर्णय लेगा तो दोनों गुट उसके विचारों का आदर करेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी

1. J. L. Nehru, *Independence and After* (A Collection of Speeches, 1946-1949), p. 201.

2. J. L. Nehru, *Independence and After*, p. 218.

होगी तथा भारत की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ेगी। यदि विश्व-राजनीति में कभी गतिरोध उत्पन्न हो जाय तो उसको दूर करने के लिए कुछ ऐसे राष्ट्रों की आवश्यकता होगी जो कोई रास्ता निकाल सके। गुटों में शामिल राष्ट्र इस तरह के काम में सफल नहीं हो सकते क्योंकि उनकी तरफ से कोई मान्य प्रस्ताव भी आयगा तो विरोधी गुट उसको शक की निगाहों से देखेगा और अन्ततः उसको नामञ्जूर कर देगा। अन्तर्राष्ट्रीय गतिरोध को मिटाने तथा इस तरह विश्व-शान्ति का मार्ग प्रशस्त करने के उद्देश्य से भी भारत ने असंलग्नता की नीति को अपनाया है। बाद की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने इस अनुमान को बहुत हद तक ठीक साबित किया है। युद्धोत्तर काल में भारत के प्रयास से कई अन्तर्राष्ट्रीय गतिरोध सुलझाये गये हैं।[1]

इस सम्बन्ध में एक और बात है। इसी नीति के निर्धारिण में परिस्थिति ने भी सहयोग दिया है। १९४७ में एशिया की स्थिति यूरोप से बहुत भिन्न थी। यूरोप में राष्ट्रों के बीच कटुता और मनमुटाव की एक लम्बी परम्परा है जिससे यूरोप के प्रमुख राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तटस्थ नीति का अनुसरण नहीं कर सकते थे। लेकिन एशिया के देशों के साथ ऐसी कोई बात नहीं थी। स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में जब भारत का प्रादुर्भाव हुआ तो उस समय दुनिया के किसी भी देश के साथ उसकी शत्रुता न थी और न दुनिया के किसी भाग में उसका अन्यायपूर्ण स्वार्थ ही था। इस पृष्ठाधार में वह संसार के प्रत्येक प्रदेश का मित्र बन सकता था और विश्व-शांति की मंजिल तक पहुँचने में सबके साथ सहयोग कर सकता था।[2]

असंलग्नता का अर्थ—गुटबन्दियों से अलग रहने की भारतीय नीति एक अत्यन्त विवादास्पद विषय बन गयी है। इसका एक कारण यह है कि कभी-कभी स्वयं इसके निर्धारक भी इसकी व्याख्या स्पष्ट शब्दों में नहीं कर पाते हैं। इस नीति को विविध नाम से पुकारा जाता है, जैसे—तटस्थ विदेश नीति, स्वतन्त्र विदेश नीति, गुटबन्दियों से अलग रहने की नीति, शांति की नीति, असंलग्नता की नीति आदि। इस प्रकार के विविध नामकरणों से इसके सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ और भी बढ़ जाती हैं।[3] लेकिन वास्तव में इस नीति में गलतफहमियों की कोई गुंजाइश नहीं है। भारत की विदेश नीति को तटस्थ नहीं कहा जा सकता है क्योंकि तटस्थता एक निषेधात्मक विचार है। वह किसी पक्ष में शामिल नहीं होती तथा वह पूर्ण रूप से पार्थक्यवादी होती है। असंलग्नता का अर्थ जैसा कि श्री नेहरू ने कहा था, यह कदापि नहीं है कि वह संसार की राजनीति से अपने-आप को पृथक् रखे और न इसका अर्थ कोई शांतिवाद से है क्योंकि प्रत्येक देश को युद्ध की सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर काम करना पड़ता है। भारत की नीति

१. भारत में अमरीकी राजदूत चेस्टर बाउल्स ने एक और कारण दिया है। अपनी पुस्तक में उसने लिखा है : "If Nehru becomes a formal ally of the West in cold war he would be going against the whole grain of Asian anti-colonial sentiment. He would be under constant and effective attack as a "stooge of western imperialism." By his independence of either bloc, he is able to draw on all the pride of Indian nationalism and to charge convincingly that it is the Asian communists who are the foreign stooge."

—Chester Bowles, *Ambassador's Report*, pp. 143-115.

2. Karunakar Gupta, *Indian Forein Policy*, p. 10

3. Michael Brecher, *Nehru : A Political Biography*, p. 536

सकारात्मक एवं गतिशील (Positive and dynamic) है ।[1] वह दोनों गुटों से अलग रहना चाहता है। वह दोनों की मित्रता चाहता है और दोनों से सहायता प्राप्त करके अपनी उन्नति करना चाहता है। वह इन दोनों पक्षों में किसी के साथ सैनिक सन्धियाँ और समझौते करके महाशक्तियों की राजनीति में अपने को उलझाना नहीं चाहते। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर भारत की नीति चुपचाप बैठकर तमाशा देखने वाली भी नहीं है। भारत किसी भी पक्ष का समर्थन करने को तैयार है यदि वह शांति और सुरक्षा के लिए आवश्यक है। लेकिन भारत उन शक्तियों से अपने को दूर रखता है जिनकी नीति से शांति और सुरक्षा को खतरे में पड़ने की सम्भावना है।[2] संयुक्त राज्य अमेरिका की सिनेट में बोलते हुए पं० नेहरू ने इसको स्पष्ट कर दिया था : "जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो, अथवा जहाँ आक्रमण होता है वहाँ न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न तटस्थ रहेंगे।"

असंलग्नता की नीति का प्रयोग

अब हमें यह देखना है कि विश्व-राजनीति में भारत ने अपनी असंलग्नता की नीति का कैसे प्रयोग किया है। इस नीति के इतिहास को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा जा सकता है—१९४७ से कोरिया युद्ध (१९५०) तक, कोरिया-युद्ध से द्वितीय भारतीय साधारण निर्वाचन १९५७ तक तथा १९५७ के बाद से आज तक।[3]

१९४७ से १९५० तक :—स्वतन्त्रता के तुरत बाद असंलग्नता की नीति बहुत हद तक अस्पष्ट थी और कई कारणों से विशुद्ध न थी। उन दिनों भारत की नीति अमरीकी या पश्चिमी गुट की तरफ थोड़ी झुकी हुई थी, अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में वह पश्चिमी गुट का अपेक्षाकृत अधिक पक्ष लेती थी। इसके कई कारण थे। सर्वप्रथम, सुरक्षा के मामले में हम पश्चिमी गुटों पर पूर्णतया आश्रित थे। भारतीय सेना का संगठन ब्रिटिश पद्धति के आधार पर हुआ था और इसलिए हम ब्रिटेन के साथ इस मामले में बुरी तरह सम्बद्ध थे। इसके अतिरिक्त भारत के समुद्र-तटीय सीमा की रक्षा के लिए भी हम ब्रिटेन पर ही आश्रित थे। द्वितीय, भारत के शिक्षित वर्ग पर पश्चिमी देशों का अत्यधिक प्रभाव था। हमारी शिक्षा-पद्धति पश्चिमी ढाँचे पर ढाली

---

1. "I do not like the word neutralism which is commonly used in war times. In peacetime it indicates a sort of war mentality. Indian neutralism meant simply that they had a positive and independent policy and judged questions on their merits."

—*Lok Sabha Debates* (29 March 1956), Colms- 729-30.

२. असंलग्नता की नीति का विश्लेषण करते हुए प्रो० अप्पादोराय ने लिखा है :

"To keep the peace by peaceful means negotiations, inquiry, mediation, conciliation and arbitration, listen to the view point of both parties to a dispute expressed by their duly constituted representatives hesitate to condemn either part as aggressor, until facts provided by international enquiry indisputably testify to aggression, believe the bonafides of both until proof to the contrary : and explore fully the possibilities of negotiations and at least localis war—this is Indian view."—Quoted in Peter Lyon, *Neutralism*, pp. 123-24

3. Peter Lyon *Neutralism*, p. 122.

गयी थी और इस पद्धति में शिक्षित लोगों की सहानुभूति स्वभावतः ब्रिटेन और पश्चिमी गुट के साथ थी। लेकिन सबसे प्रमुख कारण आर्थिक था। पहले से ही हमारा व्यापारिक सम्बन्ध केवल पश्चिमी राष्ट्रों से था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हम आर्थिक दृष्टि से पश्चिमी गुट पर और अधिक आश्रित हो गये। आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए भारत को विदेशी सहायता की आवश्यकता थी। यह सहायता मुख्यतः ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका से प्राप्त हो सकती थी। उस समय सोवियत संघ आर्थिक और सैनिक दृष्टिकोण से स्वयं एक शक्तिहीन राज्य था। अतएव इन परिस्थितियों में भारत की असंलग्नता की नीति निष्पक्ष नहीं रह सकी और पश्चिमी गुट की ओर उसका अधिक झुकाव रहा। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

भारतीय असंलग्नता की नीति निष्पक्ष नहीं थी, यह पूर्वी जर्मनी के प्रति भारतीय नीति से स्पष्ट हो जाता है। विभाजित जर्मनी में एक को (पश्चिमी जर्मनी) जो पश्चिमी गुट से सम्बद्ध था उसको कूटनीतिक मान्यता प्रदान करना और दूसरे (पूर्वी जर्मनी) को नहीं मानना तर्क सगत नहीं प्रतीत होता है। पूर्वी जर्मनी को यह कहकर भारत ने मान्यता नहीं दी कि ऐसा करना जर्मनी के विभाजन को मान लेना होगा, लेकिन भारत का ऐसा इरादा नहीं है।

कोरिया-युद्ध के प्रारम्भ में भारत का रुख कुछ इसी तरह का पक्षपातपूर्ण रहा। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों की तरह भारत ने भी उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित किया था, यद्यपि पश्चिमी देशों ने आज तक अपने कथन के समर्थन में विश्वसनीय प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये हैं। यह बहुत सम्भव है कि दक्षिण कोरिया ने ही उत्तर कोरिया पर आक्रमण किया हो, जैसा कि श्री करुणाकर गुप्त लिखते हैं : "भारत का निर्णय श्री कोन्डापी की रिपोर्ट पर आधारित था और यह रिपोर्ट उसके व्यक्तिगत विचारों से अत्यधिक प्रभावित थी।"[1] इस तरह का अन्य कई अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में भी भारत पश्चिमी राष्ट्रों के साथ सम्बद्ध रहा।

१९५० से १९५७ का काल—इस काल में सोवियत संघ के प्रति भारतीय रुख में कुछ परिवर्तन हुआ। इसके कई कारण थे। १९५३ में स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत व्यवस्था में कुछ उदार तत्त्वों का समावेश हुआ। इसके पूर्व सामरिक दृष्टिकोण से भी सोवियत संघ कुछ शक्तिशाली हुआ। इस समय तक अणु बम का आविष्कार सोवियत संघ में हो चुका था। स्टालिन के मरणोपरान्त सोवियत नीति में परिवर्तन का सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण यूगोस्लाविया के प्रति सोवियत दृष्टिकोण में परिवर्तन था। इस प्रकार जहाँ एक ओर अनेक कारणों से प्रेरित होकर सोवियत संघ और भारत का सम्बन्ध बढ़ रहा था, वहाँ दूसरी ओर अमेरिका के साथ भारत के सम्बन्ध में कुछ कटुता आने लगी थी। इसका एक कारण था १९५४ में अमेरिका और

---

1. ......The Indian Cabinet decision on the matter was made after the receipt of a report from Mr. Kondapi, the Indian delegate to the United Nations Commission of Korea......The conduct of the Indian members in the U. N. Commission on Korea should be a matter of public scrutiny as there is ample evidence to indicate that they were guided more by personal prejudices than facts in sending advice about the origin of the Korean War on June 25, 1950." Karunakar Gupta, *Indian Foreign Policy*, p. 11.

पाकिस्तान के बीच की सैनिक संधि। भारत के विरोध के बावजूद अमेरिका ने पाकिस्तान को बहुत बड़े पैमाने पर अस्त्र-शस्त्र देने का निर्णय किया। भारत में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इसी तरह की प्रतिक्रिया गोआ की समस्या के प्रति अमरीकी रुख को लेकर हुई। विदेश सचिव जॉन फास्टर डलेस के सार्वजनिक तौर पर गोआ में पुर्तगाल का समर्थन किया। एक तरफ तो अमेरिका का ऐसा रुख होता आया और दूसरी ओर सोवियत संघ की तरफ से भारत को हमेशा समर्थन मिलता रहा। दो देशों के बीच इस बढ़ती हुई मित्रता को पं० नेहरू और श्री ख्रुश्चेव के भ्रमणों ने और भी मजबूत कर दिया। १९५५ में पं० नेहरू ने रूस की यात्रा की और उसी वर्ष के शरद् में श्री ख्रुश्चेव भारत आये।

सोवियत संघ से राजनीतिक सम्बन्ध बढ़ने के साथ-साथ व्यापारिक सम्बन्ध में भी वृद्धि हुई और भारत को उस देश से आर्थिक सहायता मिलने लगी। सोवियत सहयोग से भिलाई में एक इस्पात का कारखाना खोलने के लिए दोनों देशों के बीच समझौता हुआ।

यह काल दो महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के लिए भी प्रसिद्ध है: स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण को लेकर मिस्र पर ब्रिटेन और फ्रांस का आक्रमण तथा हंगरी में सोवियत-संघ का हस्तक्षेप। मिस्र पर पश्चिमी राज्यों के आक्रमण से भारत को जबरदस्त सदमा पहुँचा और मिस्र से आक्रमणकारियों को हटाने के लिए भारत ने सोवियत संघ के साथ सहयोग किया। शुरू में हंगरी की समस्या पर भारत की नीति सोवियत संघ का समर्थन करती रही।

१९५७ से आजतक—लेकिन १९५७ में द्वितीय साधारण निर्वाचन के बाद से भारतीय नीति पुनः सोवियत संघ से दूर हटकर पश्चिमी गुट की ओर अधिक झुक गयी। इसके भी कारण थे। सर्वप्रथम, चुनाव ने यह प्रकट कर दिया कि भारत में कम्युनिस्टों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। भारत के एक राज्य केरल में इस पार्टी की सरकार भी बन गयी। पर इससे भी जबरदस्त कारण था १९५७ का आर्थिक संकट। देश में खाद्यान्नों और विदेशी मुद्रा की कमी तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना की भावी असफलता ने भारत को बाध्य कर दिया कि वह पश्चिमी गुट के साथ अपना मेल-जोल बढ़ावें। स्वयं कांग्रेस पार्टी के अन्दर दक्षिण पंथियों का प्रभाव बढ़ गया और नेहरू के मन्त्रिमंडल में कुछ ऐसे लोग आ गये जो अमरीकी गुट के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सहानुभूति रखने के समर्थक थे। इन सब कारणों से (विशेषकर आर्थिक सहायता के लिए) बाध्य होकर पं० नेहरू संयुक्त राज्य अमेरिका गये। इसके बाद ही भारतीय नीति में परिवर्तन होने लगा। इस परिवर्तन का प्रथम सबूत हंगरी की समस्या में भारतीय रुख का बदलना था। शुरू में भारत ने इस मामले में सोवियत संघ का समर्थन किया था, लेकिन बाद में भारत सोवियत संघ का विरोध करने लगा। इसके अतिरिक्त, पश्चिमी देशों के साथ मेल बढ़ाने का एक अन्य परिणाम यह हुआ कि भारत उसके साम्राज्यवादी गुनाहों को माफ करता चले। इसलिए पश्चिमी एशिया और पूर्वी एशिया में अब भारत पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध बहुत बन्द जबान में करने लगा। वियतनाम संकट के सम्बन्ध में भारत की अस्पष्ट ढुलमुल नीति इन्हीं परिस्थितियों का परिणाम है।[1]

---

1. (1) "Nehru projected the policy of non-alignment not merely because he believed that international peace could best be preserved by keeping I out of any military entanglement with either bloc, because he was drawn

चीन का हमला और असंलग्नता की नीति की अग्निपरीक्षा—भारतीय असंलग्नता की नीति में सबसे महान् संकट का काल नवम्बर १९६२ में आया जब चीन ने बहुत बड़े पैमाने पर भारत पर हमला कर दिया। भारत-चीन सम्बन्ध और विशेषकर चीन के इस आक्रमण का अध्ययन हम आगे के पृष्ठों में करेंगे। यहाँ पर हम उससे सम्बन्धित असंलग्नता की नीति का ही वर्णन करेंगे।

जब चीन का बहुत बड़े पैमाने पर आक्रमण शुरू हुआ तो देश के बहुत क्षेत्रों से इस बात की माँग होने लगी कि असंलग्नता की नीति पूर्णतया असफल हो चुकी है और देश के हित में इसका जल्द-से-जल्द परित्याग होना चाहिए। इस तरह की मांग स्वतन्त्र पार्टी, जनसंघ और इससे सम्बन्धित *प्रतिक्रियावादी क्षेत्रों से ही नहीं हुई, वरन् कुछ जिम्मेवार एवं निष्पक्ष नागरिकों* ने भी की। परन्तु २० अक्टूबर, १९६२ को रेडियो से राष्ट्र के नाम सन्देश देते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट कर दिया कि भारत अपनी असंलग्नता की नीति का अनुकरण करता रहेगा। इसके बाद चीन का आक्रमण जारी रहा तथा नेफा में भारतीय सेना की पराजय हुई। युद्ध की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी और भारत की सुरक्षा अत्यधिक खतरे में पड़ गयी। इस हालत में भारत सरकार के पश्चिमी राष्ट्रों से सैनिक सहायता के लिए अपील की। अमेरिका और ब्रिटेन ने भारत को सहायता देने का निर्णय किया और इन देशों से बहुत बड़ी मात्रा में शस्त्रास्त्र भारत पहुँचाये गये। इस अवसर पर असंलग्नता की नीति के विरोधियों को एक मौका और मिला। कहा जाने लगा कि संसार आज दो विरोधी गुटों में विभक्त है और भारत इन्हीं *गुटबन्दियों में असंलग्नता की नीति का अवलम्बन कर रहा था। अब स्थिति यह है कि भारत* ने साम्यवादी गुट के एक प्रमुख सदस्य चीन के साथ युद्ध की स्थिति में है और उसका मुकाबला करने के लिए उसने उसके विरोधी अमरीकी गुट से सैनिक सहायता ली है। इस हालत में असंलग्नता की नीति रही कहाँ? भारत को अब अपनी स्थिति का पुनर्निर्धारण स्पष्ट शब्दों में कर लेना चाहिए। चीनी आक्रमण से उत्पन्न स्थिति में न तो वह असंलग्नता की नीति का अवलम्बन कर सकता है और न अमरीकी सहायता स्वीकार करने के बाद इसका दावा ही कर सकता है।[1] इस तरह असंलग्नता की नीति पर कठोर आक्रमण होने लगे। स्वयं पंडित नेहरू की

to the political principles of Western democracy and to the economic principles of Soviet socialism, but also because he wanted a free hand in furthering the escape of captive peoples from the custody of any great power......Gradually, however, as India became more absorbed by her own vast economic problems and with mounting anxiety sought substantial aid from the West the Nehru Government grew less concerned about colonial liberation and, not without measure of self-importance, concentrated its efforts upon securing international peace by attempting to mediate in the quarrels of the great powers."

—Ronald Segal, *Crisis of India*, p. 267.

(2) "Since 1957 India has tended to be content with a rather quiter role in international affairs than hitherto, by contrast with either Egypt or Yugoslavia to be more moderate, less stridently radical and revisionist, even on anti-colonial issues."—Peter Lyons, *Neutralism*, p. 127.

१. २१ नवम्बर, १९६२ को दिल्ली से प्रकाशित दैनिक "हिन्दुस्तान टाइम्स" में आचार्य कृपलानी का एक लेख "Whither Neutrality" शीर्षक के अन्तर्गत छपा था जिसमें यही सवाल उठाया गया था।

चीनी आक्रमण से गहरा धक्का पहुँचा। २५ अक्टूबर, १६६२ को बोलते हुए उन्होंने कहा कि "चीन के आक्रमण से हमारी आँखें एकाएक खुल गयी हैं; अभी तक भारत वास्तविक तथ्य की ओर नहीं देख रहा था और हमलोग अपने ही द्वारा निर्मित एक कृत्रिम वातावरण में रह रहे थे।" इस वक्तव्य के बाद यह सन्देह किया जाने लगा कि प्रधान मंत्री ने असंलग्नता की नीति की असफलता की ओर संकेत किया है और शायद भारत नयी परिस्थिति में इस नीति का परित्याग कर दे। घाना, संयुक्त अरब गणराज्य, लंका आदि तटस्थ राज्यों से यही उम्मीद की जा रही थी कि वे इस विवाद में अपने साथी असंलग्न देश भारत का पक्ष लेंगे। लेकिन इन देशों ने ऐसा नहीं किया और वे मध्यस्थ के रूप में काम करने लगे। इससे भारतीय जनता और सरकार को बड़ा सदमा पहुँचा। ऐसा प्रतीत हुआ कि असंलग्नता की नीति बिल्कुल खोखली है और इससे देश का हित सधने वाला नहीं है। लेकिन प्रधान मंत्री पंडित नेहरू को अपने दर्शन और अपनी इस नीति में अटूट विश्वास था। वे अपने इस विश्वास से कभी नहीं डिगे और बराबर कहते रहे कि असंलग्नता की नीति ही देश के लिए सर्वोत्तम है। प्रधान मन्त्री ने इस नीति को छोड़ने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। यद्यपि उनका कहना था कि भारत के हक में यह नीति सर्वोत्तम है और वे उसका अनुकरण करते रहेंगे, तो भी यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि १६६२ से लगातार असंलग्नता की नीति की अग्नि-परीक्षा हो रही है। समय ही बतलायगा कि यह नीति कहाँ तक सफल रही और कबतक कायम रहेगी। लेकिन असंलग्नता के विरोधियों को एक-दो शब्द कह देना अनुचित नहीं होगा। पहली बात तो यह है कि इस नीति का परित्याग करके जिस गुट में वे भारत को शामिल करना चाहते थे उसके विदेश सचिव डीन रस्क ने स्वयं ही कहा था कि वर्त्तमान परिस्थिति में असंलग्नता की नीति भारत के लिए सर्वोत्तम है। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री मेकमिलन ने भी इस बात की पुष्टि की थी। दूसरी बात यह है कि असंलग्नता की नीति को छोड़कर अमरीकी गुट में शामिल हो जाने के फलस्वरूप भारत-चीन सीमा संघर्ष शीतयुद्ध का एक अंग बन जायगा। उस हालत में भारत और चीन का विवाद एक सौ वर्ष में भी हल नहीं होगा। अमरीकी गुट में शामिल हो जाने से ही यदि भारत अपने खोये हुए प्रान्तों को प्राप्त कर ले तो इन पंक्तियों का लेखक भी इस नीति का समर्थन करने के लिए तैयार है। लेकिन इतिहास बतलाता है कि अमेरिका के समर्थन के बावजूद आजतक न तो कोरिया और जर्मनी का एकीकरण हो सका है, न पाकिस्तान को कश्मीर मिल सका है और न जनवादी चीन का अन्त ही हो सका। इस पृष्ठाधार में भारत-चीन सीमा संघर्ष को शीत-युद्ध का अंग बना लेने में भारत को क्या लाभ होगा यह समझने की बात है। इसीलिए पं० नेहरू ने स्पष्ट कर दिया कि भारत अपनी रक्षा के लिए सभी मित्र राज्यों से सहायता लेगा, लेकिन असंलग्नता की नीति का परित्याग नहीं करेगा।

असंलग्नता की नीति को बनाये रखने के पक्ष में एक बात और है। १६६३ के मध्य में यह स्पष्ट हो गया कि संसार के दोनों गुटों के अन्दर घोर मतभेद है और गुटबन्दियों में दरारें पड़ने लगी हैं। फ्रांसीसी राष्ट्रपति चार्ल्स दगाल की नीति के कारण अटलान्तिक गुट में घोर मतभेद उत्पन्न हो गया है। उन्होंने सार्वजनिक तौर पर अमेरिका पर यह आरोप लगाया है कि वह अटलान्तिक गुट पर अपना एकमात्र प्रभुत्व कायम रखना चाहता है जिससे नाटो राष्ट्रों की स्वतन्त्रता पर खतरा उत्पन्न हो गया है। जब फ्रांस तथा अन्य यूरोपीय राज्यों से साथ अमेरिका

का यह व्यवहार है तो भारत के साथ उसका कैसा व्यवहार होगा यह सोचने की बात है। इस प्रकार दगाल के कारण अटलान्तिक गुट में मतभेद हो गया है। यही बात साम्यवादी गुट के साथ भी है। आज साम्यवादी गुट में भी घोर मतभेद उत्पन्न हो गया है। ऐसी हालत में गुटवन्दियों का भविष्य ही खतरे में पड़ गया है। आश्चर्य नहीं कि कुछ दिनों में यह मतभेद इतना उग्र रूप धारण कर ले कि उनका अन्त ही हो जाय ! जब गुटों का ही भविष्य अन्धकारमय है तो असंलग्नता की नीति को त्याग कर किसी गुट में शामिल होने का क्या औचित्य हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के इतिहास में और विशेषकर भारत की विदेश-नीति के क्षेत्र में १६६३ की सबसे गम्भीर और महत्त्वपूर्ण घटना मास्को द्वारा भारत-चीन सीमा विवाद पर भारत का स्पष्ट रूप से खुला समर्थन किया जाना था। यह समर्थन चाहे जिन कारणों से मिला हो, किन्तु भारत की असंलग्नता की नीति की यह एक शानदार सफलता मानी जायगी। भारत पर चीन के आक्रमण के बाद देश और विदेश में भारत की असंलग्नता की नीति की जो कटु आलोचना हो रही थी, उसका यह एक करारा उत्तर था।

भारत-पाक युद्ध और असंलग्नता की नीति—सितम्बर, १६६५ में हुए भारत और पाकिस्तान के युद्ध ने असंलग्नता की नीति की शक्ति को एक बार और सिद्ध कर दिया। पाकिस्तान "सिआटो" और "सेंटो" दो सैनिक गुटों का सदस्य था और उसने यह कहा कि भारत ने उस पर आक्रमण किया है। पश्चिमी गुट के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने इस घटना को भारत द्वारा पाकिस्तान पर आक्रमण माना। उस हालत में पाकिस्तान उम्मीद कर सकता था कि गुटवन्दियों के साथी राज्य उसकी सहायता करें। लेकिन पाकिस्तान को कहीं से कोई प्रत्यक्ष सहायता नहीं मिली। तुर्की और ईरान ने उसे सैनिक सहायता देने का आश्वासन भी दिया, लेकिन अन्य राज्यों के विरोध (जिनमें पश्चिमी राज्य भी शामिल थे) के कारण पाकिस्तान को वे भी कोई मदद नहीं दे सके। इस युद्ध में पाकिस्तान के दृष्टिकोण ने यह सिद्ध कर दिया कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए गुटों में शामिल होने की नीति गलत है। बात यहीं तक सीमित नहीं रही। पाकिस्तान के बहुत बड़े समर्थक संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारत और पाकिस्तान दोनों पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये और यह घोषणा की कि जबतक दोनों पक्ष युद्ध नहीं बन्द कर देंगे तबतक उन्हें किसी तरह की सैनिक सहायता नहीं दी जायगी। इस प्रकार एक साथी राज्य तथा एक असंलग्न राज्य को एक ही कोटि में रखा गया। गुटों में शामिल होने से यदि पाकिस्तान का लाभ नहीं हुआ तो भारत को क्या लाभ होता यदि वह भी किसी गुट में शामिल रहता ? यह असंलग्नता की नीति का ही परिणाम था कि इस संकट के अवसर में भारत को कई क्षेत्रों से समर्थन मिला और युद्ध के समय उसकी कूटनीतिक स्थिति किसी तरह कमजोर नहीं हुई। सुरक्षा-परिषद् में युद्ध से उत्पन्न समस्या पर बहस के दौरान में सोवियत संघ से पर्याप्त सहायता मिली। यह असंलग्नता की नीति का ही परिणाम था। भारत-पाक युद्ध ने असंलग्नता की नीति की श्रेष्ठता को अन्तिम रूप से सिद्ध कर दिया। यही कारण है कि पाकिस्तान में भी अब कहीं-कहीं असंलग्नता की नीति को अपनाने की चर्चा चल पड़ी है। पाकिस्तान के शासक भी समझने लगे हैं कि गुटों में शामिल होने की नीति से कोई लाभ होनेवाला नहीं है। इस हालत में भारत के लिए इस नीति का परित्याग राजनीतिक और कूटनीतिक आत्महत्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।

पंडित नेहरू की देन—असंलग्नता की नीति के जन्मदाता और पोषक पंडित जवाहरलाल नेहरू थे। उनके शासन काल में इस नीति को पर्याप्त सफलता मिली। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में लगभग कोई मतभेद नहीं कि प्रधान मन्त्री नेहरू के काल में देश ने अन्तर्राष्ट्रीय समाज में अपने लिए पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त की। साम्यवादी जगत् और पश्चिमी संसार दोनों ही भारत के विचारों की, उसकी निष्पक्ष असंलग्नता की नीति की कद्र करते रहे और सर्वत्र भारत सरकार के प्रतिनिधियों का यथोचित आदर होता रहा। एशिया और अफ्रिका में बहुत लोग नेहरू और उनकी सरकार को शोषित मानवता का प्रवक्ता मानते थे और राजनीतिक पराधीनता एवं उपनिवेशवाद के अत्याचार के विरुद्ध जारी संघर्ष में उनसे नैतिक और भौतिक समर्थन की अपेक्षा करते थे। उन्होंने भारत के लिए जिस विदेश-नीति का प्रतिपादन किया उसे देश की प्रतिष्ठा में अपार वृद्धि हुई। नेहरू की नीति के कटु आलोचक भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि जबतक नेहरू जीवित रहे तबतक संसार में उनके मुकाबले का अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति दूसरा नहीं था। नेहरू की विदेश-नीति ने राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में वृद्धि की अथवा उसके व्यक्तित्व के कारण राष्ट्र को यह सम्मान प्राप्त हुआ, यह बात अलग-अलग नहीं सोची जा सकती है। किसी भी देश की विदेश-नीति के साथ विदेश मन्त्री का व्यक्तित्व घनिष्ठ रूप से जुटा रहता है और उन्हें अलग-अलग कर उस पर विचार नहीं किया जा सकता।

नेहरू की मृत्यु और असंलग्नता की नीति—नेहरू के जीवन काल में असंलग्नता की नीति की कटु आलोचना होती रही। लेकिन जवाहरलाल नेहरू को अपनी नीति में अटूट विश्वास था और किसी भी हालत में वे उसके परित्याग की बात नहीं सोच सकते थे। २७ मई, १९६४ को जब उनकी मृत्यु हो गयी तो उस समय यह आशंका व्यक्त की जाने लगी कि भारत अब असंलग्नता की नीति का अवलम्बन कर पायगा या नहीं। लेकिन अनिश्चितता के बादल तुरत ही मिट गये। श्री नेहरू की मृत्यु के बाद पद ग्रहण करते ही भारत के प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी कि भारत के हक में असंलग्नता की नीति सर्वोत्तम है और वह उसी नीति के आधार पर अपनी विदेश-नीति का निर्धारण करता रहेगा। बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि शास्त्री का यह निश्चय हर दृष्टिकोण से उचित था। यही कारण है कि लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु (जनवरी १९६६) के बाद जब श्रीमती इन्दिरा गाँधी भारत की प्रधान मन्त्री बनीं तो उन्होंने भी यह घोषणा की कि भारत हर हालत में असंलग्नता की नीति का अनुसरण करेगा।

असंलग्नता की वर्तमान स्थिति—समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुटबन्दियों में नरमी आने के कारण असंलग्नता की धारणा भी बदलती आ रही है। जहाँ तक वर्तमान भारतीय नीति का प्रश्न है, आजकल वह कठिन आर्थिक स्थिति के दबाव में पड़कर संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर अधिक झुक रहा है। इस विचार को माननेवालों का कहना है कि रुपया के अवमूल्यन (जून १९६६) का सरकारी निर्णय अमरीकी दबाव का ही परिणाम है। और भी कई दृष्टियों से भारत सरकार को विवश होकर अमेरिका के प्रभाव में अधिकाधिक जाने के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे हैं। लेकिन इनको असंलग्नता की नीति का परित्याग अभी मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि

भारतीय विदेश-नीति, फिलहाल संयुक्त राज्य अमेरिका से बहुत अधिक प्रभावित है, लेकिन असंलग्नता अभी भी उसका मूलाधार है।

शान्तिपूर्ण सहजीवन और विश्व-शान्ति

आणविक आयुधों के इस युग में विश्व शान्ति की आवश्यकता आज सर्वोपरि है। अर्द्ध विकसित और पिछड़े हुए देशों की उन्नति और विकास के लिए तो चिर-शान्ति का वातावरण अनिवार्य ही है। जिस समय भारत स्वतन्त्र हुआ उस समय ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शोषण के फलस्वरूप उसकी आर्थिक स्थिति एकदम डाँवाडोल थी। भारत को दुनिया में अमनचैन का कायम रहना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हो रहा था। इसके अभाव में भारत का आर्थिक विकास असम्भव था। इस स्थिति में विश्व-शान्ति को बनाये रखना भारतीय विदेश नीति का एक मूलाधार हो गया। २५ अगस्त, १९५४ को पणिक्कर ने कहा था: "यदि समय मिले तो भारत के लिए स्वयमेव, अपने ढंग से विश्व शक्ति बनाने का पूरा मौका है। भारत को इस बात की बड़ी चिन्ता है। उसकी प्रगति को तथा सामान्य रूप से मानव-जाति की उन्नति को संकट में डालनेवाला कोई युद्ध न हो।" फिर १२ जून, १९५२ को सम्भावित तृतीय विश्व-युद्ध के सम्बन्ध में अपनी शान्तिवादी नीति की घोषणा करते हुए नेहरू ने कहा था: "हमारी पहली नीति तो यह होनी चाहिए कि हम ऐसी भीषण आपत्ति को घटित होने से रोकें, दूसरी नीति इससे बचने की होनी चाहिए और तीसरी नीति ऐसी स्थिति बनाने की होनी चाहिए कि यदि युद्ध छिड़ जाय तो हम इसे रोकने में समर्थ हो सकें। मैं यह चाहता हूँ कि एशिया में ऐसे देशों का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जो यह निश्चय करें कि चाहे कुछ हो, वे युद्ध में शामिल न हों, अन्य प्रदेशों में होनेवाले युद्ध के क्षेत्र को सीमित करें, अपने प्रदेश की रक्षा करें और दूसरों के प्रदेशों को सुरक्षित बनाने का भी यत्न करें।"

अतएव स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए सदा तत्पर रहना और इस महान कार्य में योगदान करना भारतीय विदेश नीति का एक मूल तत्त्व बन गया। भारत ने इस तरह अपनी विदेश-नीति का निर्धारण करना शुरू किया जिससे विश्व की शान्ति सुरक्षित रहे।

इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर भारत किसी सैनिक गुट में शामिल नहीं हुआ। भारत को गुटबन्दियों में शामिल कर लेने के लिए शक्ति-गुटों के नेताओं की ओर से अनेक प्रयास किये। पर, भारत उनसे प्रभावित नहीं हुआ।

हथियारबन्दी की होड़ विश्व शान्ति के लिए बहुत खतरनाक होती है। एक पीढ़ी के भीतर ही संसार को दो महायुद्ध देखने पड़े हैं। अतएव द्वितीय विश्व युद्ध के बाद निरस्त्रीकरण के लिए अनेकमुखी प्रयास किये जाने लगे। भारत ने इसमें अपना सक्रिय योगदान दिया। भारत शुरू से ही निरस्त्रीकरण का जबरदस्त समर्थक रहा है। वह विश्व-शान्ति के लिए निरस्त्रीकरण को परम आवश्यक मानता है। यही कारण है कि जब अगस्त १९६३ में आणविक परीक्षण रोक सन्धि हुई तो भारत वह पहला देश था जिसने अविलम्ब इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिया।[1]

१. परमाणविक निरस्त्रीकरण के सम्बन्ध में भारत ने १९६७-६८ में जो नया रूप अपनाया है उसके कारणों पर हम आगे विचार करेंगे।

युद्धोत्तर काल में संसार के दो विरोधी गुटों में तनातनी इतनी बढ़ी कि कई बार उनको लेकर विश्व-युद्ध छिड़ने की सम्भावना हो गयी। ऐसे कई अवसरों पर भारत ने दोनों गुटों के बीच मतभेद की चौड़ी खाई को पाटने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। दो अवसरों पर निश्चित रूप से भारत ने तृतीय विश्व युद्ध के दावानल को प्रज्ज्वलित होने से रोका है और दोनों पक्षों में शान्ति के दूत का कार्य किया है। ये अवसर कोरिया तथा हिन्द-चीन के युद्ध थे।

कोरिया—भारत शुरू से ही कोरिया की समस्या में रुची ले रहा था। १९४७ में जब संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इसके लिए एक अस्थायी U. N. T. C. O. K. बनाया तो भारत भी इसका एक सदस्य मनोनीत हुआ। कुछ ही दिनों के बाद भारत इस आयोग का अध्यक्ष बना दिया गया। कोरियाई आयोग के सदस्य के रूप में भारतीय प्रतिनिधि के० पी० एस० मेनन ने अनेक उल्लेखनीय कार्य किये।

इसी बीच जून १९५० में कोरिया का युद्ध शुरू हो गया और कुछ अन्य पश्चिमी देशों के साथ भारत ने भी उत्तर कोरिया को आक्रामक मान लिया। भारत के लिए कोरिया युद्ध के दो पहलू थे :[1] (१) उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आयोजित ढंग से आक्रमण किया है और सैनिक कार्रवाई से इस आक्रमण को रोकना चाहिए। (२) कोरिया-युद्ध को विश्व-युद्ध में परिणत होने की सम्भावना थी। इसलिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की सैनिक कार्रवाई का समर्थन करने के बाद भारत ने इस युद्ध को सीमित और बन्द करने का पूरा यत्न किया। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत कोरिया के युद्ध में मध्यस्थता का कार्य करने लगा। ७ जुलाई, १९५० को पं० नेहरू ने नयी दिल्ली से एक वक्तव्य जारी किया जिसमें उन्होंने कोरियाई युद्ध के प्रति भारत के रुख को स्पष्ट किया। इस समय चीन में भारत के राजदूत के० एम० पणिक्कर थे और वे कोरियाई-युद्ध की विकट सम्भावनाओं को भली-भाँति समझ रहे थे। युद्ध रोकने के लिए अपनी प्रेरणा से प० नेहरू ने मार्शल स्टालिन और अमरीकी विदेश सचिव डीन अकेसन को पत्र लिखे। स्टालिन ने पं० नेहरू के प्रस्तावों का स्वागत किया लेकिन अमेरिका ने उसकी खिल्ली उड़ायी। अतएव इन पत्राचारों से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

जब भारत का एक शान्ति प्रयास असफल हुआ तो इसके बाद उसने इस बात पर जोर देना शुरू किया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाएँ उत्तरी कोरिया की सेना को दक्षिणी कोरिया से भगाकर दोनों की सीमा ३८° अक्षांश पर रुक जायँ, उससे आगे न बढ़े। नेहरू को अपने पेकिंग स्थित राजदूत से यह सूचना मिल चुकी थी कि यदि ३८° अक्षांश से उत्तर में संयुक्त राष्ट्र की सेना बढ़ी तो चीन इसमें अवश्य हस्तक्षेप करेगा। इससे कोवरिया-युद्ध की जटिलता अधिक बढ़ जायगी। अतएव भारत ने बराबर यह चेतावनी दी कि संयुक्त राष्ट्र की सेना किसी तरह ३८°

1. "In fact India's whole outlook and actions in the Korean War can only be understood from the point of view of her desire that Korean war should remain localised and that in case of extension she should not be obliged to be involved in it. That was her position right from the beginning and it was maintained all along."

—*J. C. Kundra, Indian Foreign Policy*, pp. 125-128

अक्षांश से आगे न बढ़े। यदि यह बात मान ली जाती तो कोरिया का युद्ध बहुत जल्द समाप्त हो गया होता और इतना भीषण जन-धन का संहार न होता।[1]

लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारत की विवेकपूर्ण सलाह का आदर नहीं किया। उसकी सेना उत्तरी कोरिया में आगे बढ़ने लगी। इस पर चीन ने हस्तक्षेप किया। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में चीन को आक्रामक घोषित करने का एक प्रस्ताव रखा गया। भारत ने इस प्रस्ताव का कड़ा विरोध किया। इसके बावजूद प्रस्ताव पास हो गया। इसके बाद राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कोरिया में अणुबम का प्रयोग करने की धमकी दी। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बहुत बढ़ा। ५ दिसम्बर, १९५० को भारत ने अरब एशियाई गुट के कुछ राज्यों के साथ मिलकर शान्ति के लिए अपील की। फिर जून १९५१ में भारत ने युद्ध बन्द करने तथा विराम सन्धि करने का एक प्रस्ताव रखा। पर यह भी स्वीकार नहीं हुआ।[2] इस प्रकार यद्यपि भारत की कूटनीति को कोई आशातीत सफलता नहीं मिली फिर भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनसे कोरिया का युद्ध विश्व-युद्ध का रूप धारण करने से बच गया।

जब दोनों पक्ष युद्ध से तंग आ गये तो पानमुन जोन में विराम सन्धि के लिए वार्ता चलने लगी। लेकिन पानमुन जोन की सन्धि-वार्ता ने एक विकट रूप धारण कर लिया। ५७५ बैठकों के बाद विराम सन्धि हो गयी, लेकिन वास्तविक संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। इसमें युद्धबन्दियों के प्रत्यावर्तन का प्रश्न सबसे कठिन था। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा युद्ध में बन्दी बनाये गये कुछ सैनिक चीन और उत्तर कोरिया वापस जाना नहीं चाहते थे। लेकिन रूस और चीन इन्हें वापस लौटाने पर तुले हुए थे। इस प्रश्न को हल करने के लिए भारत ने कई प्रस्ताव रखे। किन्तु उन्हें सोवियत संघ ने स्वीकार नहीं किया। अन्त में मार्च १९५३ में दोनों पक्षों ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जो भारतीय प्रस्ताव से बहुत मिलता-जुलता था।[3]

इस प्रस्ताव के अनुसार स्वदेश वापस लौटने के लिए अनिच्छुक बन्दियों की समस्या हल करने के लिए पाँच तटस्थ राष्ट्रों, भारत, स्विट्जरलैंड; स्वेडन, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, का एक आयोग (Neutral Nations Repatriation Commission) नियुक्त किया गया। भारत इस आयोग का अध्यक्ष नियुक्त हुआ। जेनरल थिमैया की अध्यक्षता में भारतीय सैनिक ने बन्दियों को स्वदेश लौटाने का काम बड़ी ही सावधानी के साथ किया। इस काम को पूरा करने में भारतीय सैनिकों ने अपार सहनशीलता का परिचय दिया। पूछताछ के काम में बड़ी कठिनायों का सामना करना पड़ा। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति आइसनहावर ने कोरिया में भारत की संरक्षक सेना द्वारा किये गये शान्ति-कार्य और मध्यस्थता की सराहना करते हुए कहा था: "अभी हाल के कार्यों में किसी अन्य सेना ने कोरिया में भारतीय फौजों की अपेक्षा अधिक नाजुक और कठिन कार्य नहीं किया है। इन अफसरों तथा सैनिकों का कार्य भारतीय सेना की उच्चतम ख्याति के अनुरूप था। वे उच्चतम प्रशंसा के पात्र हैं।" जुलाई, १९५० में स्टालिन ने भी नेहरू के शान्ति-स्थापना के कार्य की सराहना की थी।[4]

---

1. J. C. Kundra, *Indian Foreign Policy*, p. 133.
2. Ibid, p. 136.
3. Karunakar Gupta, *Indian Foreign Policy*, pp. XIV-XV.
4. Ibid, p. 4.

हिन्द-चीन —१८८४ में हिन्द-चीन पर फ्रांस का अधिकार कायम हुआ था। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय जापान ने इस क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा लिया। १९४५ में जापान के हारने के बाद फिर से फ्रांसीसी अधिकार कायम होने के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे। लेकिन, १९३० से इसे देश में साम्यवादी आन्दोलन चला आ रहा था। युद्ध के समय इस आन्दोलन की काफी प्रगति हुई। १९४५ में साम्यवादी नेता डा० होची मिन्ह के नेतृत्व में वियतनाम गणराज्य की स्थापना हो गयी। फ्रांस ने इसको मान्यता भी दे दी। शेष हिन्द-चीन में फ्रांस के संरक्षण में स्थानीय प्रतिक्रियावादी राजाओं का शासन कायम रहा। ऐसी स्थिति में होची मिन्ह और फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के बीच संघर्ष का होना आवश्यक हो गया। कोचीन-चीन के प्रश्न को लेकर, १९ दिसम्बर, १९४६ को इन दोनों शक्तियों में युद्ध छिड़ गया। डा० हो की वियतमिन्ह-सरकार को सोवियत संघ और चीन से मान्यता मिल गयी। अमरीकी सरकार ने बाओ-दाई के वियतनाम सरकार (जिसको फ्रांस ने स्वतन्त्र कर दिया था) को मान लिया। १९५४ में हिन्द-चीन युद्ध की स्थिति गम्भीर हो गयी। ७ मई को डीन वीन-फू की लड़ाई में फ्रांसीसियों को बुरी तरह पराजित होना पड़ा। साम्यवाद की इस प्रगति को रोकने के लिए अमेरिका उछल-कूद मचाने लगा। वह हिन्द-चीन युद्ध में फ्रांस का पक्ष लेकर हस्तक्षेप करना चाहता था। पर ब्रिटेन ने इसका समर्थन नहीं किया। फ्रांस में उस समय एक उदारवादी सरकार थी। उसने होची मिन्ह के साथ समझौता कर लेना श्रेयस्कर समझा। अतएव समस्या पर जेनेवा-सम्मेलन (२६ अप्रिल से २१ जुलाई, १९५४) में विचार होना शुरू हुआ।

भारत ने दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने का पूरा प्रयास किया। २४ अप्रिल, १९५४ को नेहरू ने हिन्द-चीन की समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए जेनेवा सम्मेलन के विचारार्थ छः प्रस्ताव रखे। जेनेवा सम्मेलन के निर्णयों पर इस प्रस्ताव का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यद्यपि भारत को जेनेवा सम्मेलन में शामिल नहीं किया गया, फिर भी भारतीय राजदूत वी० के० कृष्णमेनन उस समय जेनेवा में उपस्थित रहे और उनके द्वारा बीच-बचाव करने के कई प्रशंसनीय कार्य किये। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ईडन ने पं० नेहरू को एक पत्र लिखकर मेनन के शान्ति-कार्य की सराहना विशेष रूप से की थी। जेनेवा सम्मेलन के प्रयासों के फलस्वरूप हिन्दचीन में युद्ध बन्द करने का समझौता हो गया। लेकिन अभी वहाँ की राजनीतिक समस्याओं का समाधान बाकी था। इस कार्य को पूरा करने के लिए तीन सदस्यों का (भारत, पोलैंड तथा कनाडा) एक शान्ति आयोग स्थापित किया गया। भारत को इस आयोग का अध्यक्ष बनाया गया। यह भारत के शांति स्थापना के कार्यों के महत्त्व को स्वीकार करना था।

पंचशील के पाँच सिद्धांतों का प्रतिपादन भी भारत के शांतिप्रियता का द्योतक है। १९५४ के बाद से भारत की वैदेशिक नीति को पंचशील के सिद्धांतों ने एक नयी दिशा प्रदान की है। इसे भारतीय विदेश-नीति की आधारशिला भी कहा गया है।

पंचशील

पंचशील बौद्ध धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग महात्मा बुद्ध ने किया था। बौद्ध धर्म स्वीकार करके जो व्यक्ति भिक्षु बनता था उसको पाँच व्रतों को धारण करना पड़ता था जिसे पंचशील कहा जाता था। इसका शाब्दिक अर्थ है "आचरण के पाँच सिद्धांत।" जिस प्रकार बौद्ध धर्म में ये व्रत एक व्यक्ति के लिए होते थे, उसी प्रकार आधुनिक

पंचशील के सिद्धांत के द्वारा राष्ट्रों के लिए दूसरे के साथ आचरण के सम्बन्ध निश्चित किये गये हैं। ये सिद्धांत निम्नलिखित हैं :

(१) सभी राष्ट्र एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सम्प्रभुता का सम्मान करें।

(२) कोई राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण नहीं करे और दूसरों की राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण न करे। किसी राज्य की सीमा का कोई दूसरा राज्य भंग नहीं करे।

(३) कोई भी राज्य एक दूसरे के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करे।

(४) प्रत्येक राज्य एक दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करे तथा पारस्परिक हित में सहयोग प्रदान करे। अर्थात् सभी देश समान हैं, कोई न बड़ा है और न कोई छोटा। सबको इसी सिद्धांत के आधार पर आचरण करना चाहिए।

(५) सभी राष्ट्र शांतिपूर्ण सहजीवन (peaceful co-existence) के सिद्धांत में विश्वास करें तथा सिद्धांत के आधार पर एक दूसरे के साथ शांति-पूर्वक रहें तथा अपनी अलग-अलग सत्ता एवं स्वतंत्रता कायम रखें।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पंचशील के इन सिद्धांतों का प्रतिपादन सर्वप्रथम २६ अप्रिल, १६५४ को तिब्बत के सम्बन्ध में भारत और चीन के बीच हुए एक समझौता में किया गया था। बाद में चीन के प्रधान मन्त्री श्री चाऊ-एन-लाई जब जून १६५४ में दिल्ली आये तो तीन दिनों तक प्रधान मन्त्री नेहरू के साथ वार्तालाप करने के बाद २८ जून, १६५४ को दोनों प्रधान मंन्त्रियों का एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित हुआ जिसमें पंचशील के सिद्धान्त में उनके विश्वास को दुहराया गया था। इस व्यक्तव्य में कहा गया था :

"चीन और भारत ने दोनों के सम्बन्धों के संचालन के लिए इन पाँच सिद्धान्तों के पालन का निश्चय किया है। वे एशिया तथा विश्व के अन्य देशों के साथ अपने सम्बन्धों में भी इसका अनुकरण करेंगे। यदि इसका प्रयोग न केवल विभिन्न देशों में अपितु सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे भी किया जाय, तो इससे शान्ति और सुरक्षा का एक सुदृढ़ आधार बनेगा और आशंकाओं के स्थान पर विश्वास उत्पन्न होगा।

इस समय एशिया के साथ संसार के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की सामाजिक तथा राजनैतिक पद्धतियाँ विद्यामान हैं। यदि उपर्युक्त सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाय और इनका पालन किया जाय, तो दूसरे के देश में कोई हस्तक्षेप न हो तो ये विभिन्नताएँ शान्ति भंग करके संघर्ष उत्पन्न नहीं करेंगी। प्रत्येक देश को प्रादेशिक अखण्डता, सर्वोच्च सत्ता और अनाक्रमण का आश्वासन मिल जाने पर विभिन्न देशों में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व रहेगा और मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढ़ेंगे। इससे विश्व में विद्यमान वर्त्तमान तनाव कम होगा और शान्ति का वातावरण उत्पन्न होने में सहायता मिलेगी।"

अब तक एशिया के प्रायः सभी देशों ने पंचशील के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है। इसके सिद्धान्त को भारत की यात्रा करने वाले विदेशों के अनेक प्रधान मन्त्रियों और शासनाध्यक्षों ने अपने वक्तव्यों में स्वीकार किया है। फिर, जब भारत के प्रधान मन्त्री विदेश-भ्रमण पर गये तो वहाँ भी कई देशों के साथ पंचशील के आधार पर संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किये गये। अप्रिल, १६५५ में बांडुंग में एशियाई-अफ्रिकी देशों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में पंचशील के सिद्धान्तों को विस्तृत रूप प्रदान किया गया और उसमें पाँच सिद्धान्तों

के स्थान पर दस सिद्धान्तों[1] की स्थापना की गयी। इसके बाद संसार के अन्य कई देशों ने इन सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान की। १४ सितम्बर, १९५६ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने भी भारत द्वारा प्रस्तुत पंचशील के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। इस तरह पंचशील के सिद्धान्तों को विश्व में मान्यता मिल रही है। यद्यपि अमेरिका और ब्रिटेन आदि "नाटो" के देशों ने इसे पूर्णतः स्वीकार नहीं किया है, फिर भी उन्होंने इसका खुला विरोध भी नहीं किया है। भारत में एक अमरीकी राजदूत श्री शर्मन कूपर ने अपने एक भाषण में कहा था कि "अमेरिका पंचशील के सिद्धान्तों से पूर्णतया सहमत है।"[2]

शान्तिपूर्ण सहजीवन—पंचशील के सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। अतएव इनका कुछ और अधिक विवेचना आवश्यक है। इसका पहला सिद्धान्त यह कहता है कि संसार के सभी राष्ट्रों को एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सम्प्रभुता का सम्मान करना चाहिए। इस तरह यह साम्राज्यवाद तथा उप-निवेशवाद की जड़ पर कुठाराघात करता है। इसके द्वारा यह अर्थ स्पष्ट होता है कि किसी भी राज्य को अपने से कम शक्तिशाली राज्यों पर राजनीतिक या सैनिक शर्तें नहीं लादनी चाहिए तथा प्रादेशिक और आर्थिक साम्राज्यवाद के सिद्धान्तों का परित्याग कर देना चाहिए। इस सिद्धान्त के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि दूसरे देशों में विशेष आर्थिक अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त करना, विद्रोहात्मक कार्यवाहियों को प्रोत्साहन देना, दुर्बल कठपुतली सरकारों की स्थापना करना तथा किसी भी राज्य में किसी दल विशेष को आर्थिक सहायता देना ये सारे कार्य राज्यों की सम्प्रभुता तथा अहस्तक्षेप के सिद्धान्तों के उल्लंघन हैं। इसलिए यदि सभी देशों की सर्वोच्च सत्ता का पूरा ध्यान रखा जाय तो साम्राज्यवाद का स्वय-मेव अन्त हो जायगा। अनाक्रमण और दूसरे देश के मामले में अहस्तक्षेप की नीति संसार में संघर्ष के क्षेत्र को सीमित करने वाले हैं। पंचशील के चौथे सिद्धान्त के द्वारा समानता और पारस्परिक लाभ पर बल दिया गया है। यदि इस सिद्धान्त का अनुकरण किया गया तो कोई भी राज्य चाहे छोटा हो या बड़ा, एक दूसरे साथ समानता के सिद्धान्त के आधार पर अपने सम्बन्धों का निर्माण कर सकता है और एक दूसरे के हित को आगे बढ़ा सकता है। यदि सभी राष्ट्र एक दूसरे के साथ सहयोग करें तो पिछड़े हुए देशों की दरिद्रता और सब प्रकार के अभावों को दूर किया जा सकता है।

लेकिन पंचशील का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त शान्तिपूर्ण सहजीवन का है। आज संसार में तरह-तरह की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पद्धतियाँ कायम हैं जिनमें सर्वाधिक

1. (१) मौलिक मानवीय अधिकारों (२) संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में सन्निहित सिद्धान्त के प्रति सम्मान की भावना, (३) सभी प्रजातियों तथा छोटे-बड़े राष्ट्रों की समानता, (४) दूसरे देशों के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना, (५) संयुक्त राष्ट्रसंघ चार्टर के अनुसार प्रत्येक देश को आत्मरक्षा करने का अधिकार, (६) किन्हीं महाशक्तियों द्वारा विशेष उद्देश्य को पूरा करने का प्रयोजन से बनायी गयी व्यवस्थाओं से अलग रहना तथा दूसरे देशों पर दबाव डालने से बचना, (७) आक्रमण के कार्यों को न करना तथा हमले की धमकियाँ न देना, (८) सभी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्तिपूर्ण उपायों : सन्धिवार्ता, समझौते, मध्यस्थता आदि से निबटारा करना, (९) पारस्परिक सहयोग और हितों की वृद्धि करना तथा (१०) न्याय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सम्मान रखना।

2. *Hindustan Times*, (Delhi) September 28, 1955.

महत्त्वपूर्ण समाजवाद और पूँजीवाद हैं। इनको लेकर संसार दो विरोधी गुटों में बँट गया है और इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनातनी बढ़ गयी है कि आणविक आयुधों के इस युग में तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावना प्रतीत हो रही है। पूँजीवादी देश समाजवाद को जड़-मूल से उखाड़ फेंकना चाहते हैं और समाजवादी देश पूँजीवाद को खत्म करने पर उतारू हैं। ऐसी स्थिति में संसार को युद्ध से बचाने का एकमात्र उपाय है: शांतिपूर्ण सहजीवन के सिद्धान्त में विश्वास करना। यदि यह मान लिया जाय कि पूँजीवाद और समाजवाद दोनों किसी-न-किसी रूप में रहेंगे तो बहुत-सी समस्याओं का हल हो जायगा। यदि हम ऐसा नहीं मानते तो यह वास्तविकता से मुँह मोड़ना होगा। पूँजीवादी देश साम्यवादी देशों के इस अधिकार को मान लें कि उन्हें अपने देश में किसी तरह रहने का अधिकार है। इसी तरह की बात समाजवादी लोग भी मान लें। यद्यपि समाजवादी और पूँजीवादी गुटो की प्रणालियों, विचार-धाराओं तथा आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक संगठनों में जमीन-आसमान का भेद है तो भी वे विश्व-शान्ति के हित में परस्पर मिलकर शान्तिपूर्वक रह सकते हैं। यदि ऐसा हो गया तो संसार में किसी प्रकार का संघर्ष नही रहेगा और सब अपने इच्छानुसार अपने देश में शान्तिपूर्वक रहेंगे। शान्तिपूर्ण सहजीवन का यही तात्पर्य है। शान्तिपूर्ण सहजीवन में ही आज विश्व और मानवता की आशा निहित है। पंचशील का पाँचवाँ सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि विभिन्न देशो के संगठनों में मौलिक भेद होने पर भी इन्हें एक-दूसरे के उन्मूलन का प्रयत्न नही करना चाहिए, किन्तु एक दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक रहने की नीति ग्रहण करनी चाहिए।

पंचशील का मूल्यांकन—इसमें कोई सन्देह नही कि पंचशील के सिद्धान्त बड़े ही प्रेरणात्मक आदर्श हैं। फिर भी इसके सिद्धान्तों पर अनेक आपत्तियाँ की गयी हैं। इसको केवल ऊँचे आदर्शों की कोरी घोषणा मात्र कहा गया है और इसकी तुलना १८१५ में पवित्र संघ (Holy Alliance) तथा १९२७ के केलाग ब्रियाँ पैक्ट से की गयी है। कहा जाता है कि पंचशील एक ऐसी घोषणा है जिसको पालन कराने के लिए न तो कोई संस्था है और न कोई व्यवस्था। अतएव इसकी कुछ भी उपयोगिता नही है। फिर, पचशील को व्यर्थ भी माना जाता है, क्योंकि इसके सारे सिद्धान्त संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में सन्निहित हैं और इसलिए पृथक् रूप से उसकी पुनरावृत्ति निरर्थक है। पंचशील का कोई भी ऐसा सिद्धान्त नही है जो चार्टर में न हो। इसके अतिरिक्त पचशील के सिद्धांत पर और भी कई आपत्तियाँ की गयी है; जैसे: उसकी प्रेरणा कम्युनिस्टो के द्वारा हुई है, यह यथास्थिति का पोषक है, आदि। इन आपत्तियों की चर्चा करते हुए जवाब के तौर पर २९ दिसम्बर, १९५४ को पंडित नेहरू ने भारतीय लोकसभा में कहा था: "लोगों ने पचशील का विरोध किया है, किस आधार पर? वे कहते हैं आप यह कैसे विश्वास करते हैं कि इन सिद्धान्तो का पालन भी किया जायगा? निस्संदेह यदि आप किसी बात पर विश्वास नहीं करते तो इसकी चर्चा करने और उसके बारे में लिखने से कोई लाभ नही है, और फिर, आपके लिए कोई दूसरी बात शेष नही रह जाती सिवाय इसके कि आप अकेले रहें और लड़ कर एक दूसरे पक्ष को परास्त करें—इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही है। यह दूसरे पक्ष के वचन पर विश्वास करने का प्रश्न नही है, किन्तु ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने का प्रश्न है जिसमें दूसरा पक्ष अपने वचन को भंग न कर सके। यह सम्भव है कि दूसरा पक्ष अपने वचन को भंग करे और यह भी

सम्भव है कि वह अपने को अधिक विषम परिस्थितियों में पावे। यदि विश्व के विभिन्न देश पारस्परिक सम्बन्धों के लिए इन पाँच सिद्धान्तों को बार-बार दुहराते हैं तो उसके लिए एक वातावरण उपस्थित करते हैं।"

जहाँ तक सिद्धान्त के रूप में पंचशील का प्रश्न है, इस पर कोई विशेष आपत्ति नहीं हो सकती। लेकिन व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से और विशेषकर भारत-चीन सम्बन्ध की पृष्ठभूमि में पंचशील एक अत्यन्त असफल सिद्धान्त साबित हुआ। इसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन भारत और चीन के तिब्बत के सम्बन्ध में हुए समझौते के समय हुआ था। इसके द्वारा भारत ने तिब्बत में चीन की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करके "तिब्बत की स्वायत्तता के अपहरण में, चीन का समर्थन किया था। इस कारण भारत में शुरू से ही कुछ लोगों द्वारा इसकी कटु आलोचना होती रही। उदाहरणार्थ पंचशील के जन्म के समय आचार्य कृपालानी ने कहा था : "यह महान् सिद्धान्त पापपूर्ण परिस्थितियों की उपज है, क्योंकि यह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रूप से हमारे साथ सम्बद्ध एक प्राचीन राष्ट्र के विनाश पर हमारी स्वीकृति पाने के लिए प्रतिपादित किया गया था।[1] आचार्य कृपलानी की यह उक्ति शायद सत्य न हो, क्योंकि तिब्बत के प्रति भारत की यह नीति अनुचित नहीं थी, लेकिन १९६२ के अक्टूबर में चीन ने भारत पर आक्रमण करके जिस प्रकार का व्यवहार किया उसके परिणामस्वरूप पंचशील का अब नामोनिशान मिट गया है। इसके उदार सिद्धान्तों का उल्लघन इसके आदि प्रवर्त्तक एक राष्ट्र (चीन) के द्वारा हुआ है और इस कारण पंचशील में लोगों की आस्था अब नहीं रह गयी है। यह भारतीय विदेश नीति की एक बहुत बड़ी असफलता मानी जायगी।

साम्राज्यवाद और प्रजातीय विभेद का विरोध

भारत साम्राज्यवाद के दुष्परिणामों का स्वयं भुक्तभोगी रहा है। साम्राज्यवाद के अन्तर्गत रह कर वह इसकी पीड़ा का अनुभव कर चुका है। इसलिए उसके लिए साम्राज्यवाद का विरोध करना अत्यन्त स्वाभाविक है। भारत साम्राज्यवाद का विरोधी इसलिए भी है कि वह इसको शान्ति का बहुत बड़ा दुश्मन मानता है। प्रजातीय विभेद के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण दूषित होता है और युद्ध के कारण उत्पन्न होते हैं। अतएव भारत इन दोनों का विरोध करता रहा। यह भारतीय विदेश-नीति का एक मुख्य तत्त्व रहा। यही कारण है कि विश्व में जहाँ कहीं भी राष्ट्रवादी आन्दोलन विदेशी सत्ता से मुक्ति पाने के लिए हुए हैं, भारत ने खुलकर उनका समर्थन किया। इंडोनीशिया पर जब हालैंड ने द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पुनः अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयास किया तो भारत ने इसका घोर विरोध किया। इसके लिए उसने एशियाई देशों को संगठित किया, संयुक्त राष्ट्रसंघ में इस मामले को पेश किया और अन्य कई तरह के उपायों का अवलम्बन करके हालैंड को बाध्य किया कि वह फिर कभी इंडोनीशिया पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयास न करे। इंडोनीशिया की स्वतन्त्रता के लिए भारत ने जो प्रयास

---

1. "The great doctrine was born in sin because it was enunciated to put the seal of our approval upon the destruction of an ancient nation which was associated with us spiritually and culturally."

किये वे सचमुच महत्व है। इसलिए इंडोनेशिया वाले नेहरू को डा० सुकर्ण के बाद अपनी स्वतन्त्रता का दूसरा जनक मानते हैं।

१९५६ में इंगलैंड और फ्रांस ने मिलकर मिस्र पर आक्रमण कर दिया। वे स्वेज-नहर का हरण लेना चाहते थे। भारत ने इस नवीन साम्राज्यवाद का घोर विरोध किया। इस अवसर पर मिस्र को भारत से जैसी सहायता मिली वैसी सहायता किसी अन्य देश से नहीं मिली। इसी प्रकार भारत ने लीबिया, ट्यूनिशिया, मोरक्को, मलाया, अल्जीरिया आदि देशों के स्वतन्त्रता-संग्राम का पूरा समर्थन किया है। जब संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा क्यूबा पर आधिपत्य जमाने की चेष्टा की गयी तो भारत ने उसका घोर विरोध किया। इतना ही नहीं, भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ में उपनिवेशवाद के विरुद्ध बराबर आवाज उठाता रहा है। संरक्षण परिषद् की कार्यवाहियों में भारत सक्रिय भाग लेता रहा है। उसने संरक्षित देशों (trust territories) के प्रशासन के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के पूर्ण नियन्त्रण और संरक्षण का समर्थन किया है। उसने इस बात पर भी जोर दिया है कि स्वशासन न करनेवाले प्रदेशों का शासन चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साम्राज्यवाद को जड़ से हिलाने में भारत का बहुमूल्य योग रहा है।

आज भी संसार में कुछ ऐसे सङ्कुचित प्रवृत्ति के लोग हैं जो रंग-भेद की नीति में विश्वास करते हैं। फलतः संसार के कुछ भागों में गोरी और काली प्रजातियों के बीच भयंकर भेद-भाव बना रहता है। अमेरिका में निग्रो लोगों को तंग किया जाता है। दक्षिण अफ्रिका में प्रजातीय विभेद अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। वहाँ की गोरी सरकार काले चमड़े वाले आदिवासियों और भारतीयों पर प्रजाति के आधार पर घोर अत्याचार करती है। भारत इस नीति का जोरदार विरोध करता आ रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत बराबर यह प्रश्न उठाता रहा है। इसको दुनिया के प्रगतिशील राष्ट्रों का समर्थन भी प्राप्त होता है। लेकिन दुर्भाग्यवश दक्षिण अफ्रिका की अन्यायपूर्ण समस्या का समाधान अभी तक नहीं हो सका है। भारत प्रजातीय विभेद का इतना घोर विरोधी है कि उसने दक्षिण अफ्रिका के साथ अपना कूटनीतिक सम्बन्ध भी विच्छेद कर लिया है।

उपनिवेशवाद और १९५७ के बाद की भारतीय नीति—भारत की प्रारम्भिक विदेश-नीति उग्र रूप से उपनिवेशवाद-विरोधी थी। कुछ लेखकों का विचार है, जैसा कि हमने पीछे पाद-टिप्पणियों में उल्लेख किया है (देखिये पृष्ठ ६५७-८) कि १९५७ के बाद से भारत का उपनिवेशवाद-विरोधी जोश ठंढा पड़ गया और उपनिवेशवाद की आलोचना वह दबे जबान करने लगा। इस तथ्य के समर्थन में एक-दो तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जिस समय अल्जीरिया के राष्ट्रवादी फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के खिलाफ अपना राष्ट्रीय आन्दोलन चला रहे थे, उस समय उनलोगों ने एक "अन्तरिम अल्जीरियाई सरकार" की स्थापना कर ली थी। इस सरकार के नेता कम्युनिस्ट और एशियाई देशों से मान्यता के लिए अनुरोध कर रहे थे। चीन, मिस्र आदि देशों ने इस सरकार को मान्यता प्रदान कर दी और अल्जीरिया की इस सरकार ने भारत सरकार से भी अनुरोध किया कि वह उसे मान्यता दे दे। उन्हें विश्वास था कि यदि भारत मान्यता प्रदान कर देता है तो फ्रांस के खिलाफ उनके राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम को अपार बल मिलेगा। भारत में अधिकांश लोग भी चाहते थे कि भारत सरकार इसको मान्यता प्रदान कर दे, लेकिन फ्रांस को नाखुश नहीं करने

महान प्रयास था और इसमें भारत ने मुख्य पार्ट अदा किया। सम्मेलन ने उपनिवेशवाद और प्रजातीय विभेद का घोर विरोध किया। यद्यपि इस सम्मेलन से कोई विशेष व्यावहारिक लाभ नहीं हुआ, लेकिन जैसा कि नेहरू ने कहा था "इस सम्मेलन के बारे में सबसे महत्त्वशील बात यह है कि इस प्रकार का एक सम्मेलन हो गया। सम्मेलन ने एक स्वर से यह विचार व्यक्त किया कि एशिया से उपनिवेशवाद का शीघ्रातिशीघ्र अन्त होना चाहिए, उसके अन्त का मार्ग प्रशस्त कर दिया।" इसके बाद से जब भी किसी साम्राज्यवादी देश ने एशिया के किसी देश पर उपनिवेशवाद लादने का प्रयास किया तो उसका विरोध केवल उसी देश में नहीं हुआ, वरन् सम्पूर्ण एशिया से हुआ। इंडोनेशिया पर डच साम्राज्यवाद के साथ ऐसी ही बात हुई। जब दिसम्बर १९४८ में हालैंड की सरकार ने इंडोनीशिया गणराज्य को पुनः अपना उपनिवेश बनाने का प्रयास किया तो एक दूसरा एशियाई सम्मेलन आवश्यक हो गया।

इंडोनीशिया पर डच आक्रमण से सारे एशिया में रोष और क्रोध का तूफान फूट पड़ा। बर्मा की सरकार ने पं० नेहरू से आग्रह किया कि वे तुरत एक एशियाई सम्मेलन बुलाने का प्रयास करें जिसमें डच आक्रमण पर विचार किया जाय। जनवरी १९४९ में नयी दिल्ली में इस तरह के एक सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसमें एशिया के पन्द्रह राज्य तथा आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड शामिल हुए। इस सम्मेलन में भारत ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया और डच साम्राज्यवाद की पुनर्स्थापना को असम्भव बना दिया।

बांडुंग सम्मेलन – इंडोनीशिया की समस्या पर विचार करने वाला दिल्ली का एशियाई सम्मेलन एशिया के इतिहास में एक वर्तन-बिन्दु माना जा सकता है। इसकी सफलता ने इस बात को सिद्ध कर दिया कि यदि एशिया के राज्य एक दूसरे के साथ सहयोग करते रहें तो उनकी अधिकांश समस्याओं का समाधान हो सकता है। अतएव उसी समय से एक दूसरे सम्मेलन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इसी समय जनवरी, १९५४ में लंका के प्रधान मन्त्री सर जॉन कोटेलवाला भारत आये और उसके सुझाव पर बर्मा, लंका, भारत, हिन्देशिया तथा पाकिस्तान के प्रधान मन्त्रियों का एक सम्मेलन २८ अप्रिल, १९५४ को कोलम्बो में हुआ। यहाँ पर अनेक प्रश्नों पर विचार हुआ और यह तय किया गया कि एशिया और अफ्रिका देशों का एक वृहत् सम्मेलन बुलाने का आयोजन किया जाय। इस सम्मेलन के स्वरूप पर विचार करने के लिए इन पाँचों राष्ट्रों के प्रधान मन्त्रियों का एक और सम्मेलन २८ दिसम्बर, १९५४ को बोगोर में हुआ। यहाँ इंडोनीशिया के नगर बांडुंग में इस सम्मेलन को बुलाने का निर्णय किया गया।

१८ अप्रिल १९५५ को बांडुंग सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन ने उपनिवेशवाद का विरोध किया। पंचशील के सिद्धान्तों को और अधिक विस्तृत किया गया। उसमें पाँच सिद्धान्तो के अनुरूप आचरण करने का वचन दिया गया। एशिया और अफ्रिका के देशों ने एक दूसरे के साथ सहयोग करने का वादा किया और इस प्रकार एक "बांडुंग के वातावरण" (Bandung Spirit) का आविर्भाव हुआ। बांडुंग सम्मेलन को आशातीत सफलता मिली। इसका मुख्य श्रेय भारतीय प्रतिनिधि नेहरू को दिया जा सकता है।

इस प्रकार स्वतन्त्र भारत ने एशियाई-अफ्रिकी देशों को संगठित करने का प्रयास किया ताकि एशिया-अफ्रिका से पश्चिमी साम्राज्यवाद का अन्त हो तथा उनका आर्थिक विकास हो।

एशियाई-अफ्रिकी देशों को संगठित करने के भारतीय प्रयास का एक और महत्त्वपूर्ण परिणाम
निकला है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में एशियाई-अफ्रिकी देशों का एक गुट तैयार हो गया है जिसने
संयुक्त राष्ट्रसंघ के स्वरूप को बहुत हद तक परिवर्तित कर दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण
सभा में अब कोई भी निर्णय इस गुट की उपेक्षा करके नहीं की जा सकती है।

१९६० से चीन भारत पर यह आरोप लगाता आ रहा है कि भारत अफ्रिकी-एशियाई
संगठन में फूट पैदा करने की नीति का अवलम्बन कर रहा है। यह आरोप सरासर निराधार
और गलत है। वास्तविक बात यह है कि चीन स्वयं अफ्रिकी-एशियाई संगठन के मंच को
अपने प्रचार का प्रमुख स्थल बनाने का प्रयास करता आ रहा है और जब भारत इसका विरोध
करता है तो चीन उसके विरुद्ध गलत आरोप लगाने लगता है। अफ्रिकी-एशियाई संगठन
की भावना में भारत का अटूट विश्वास है और यह उसकी विदेश-नीति का एक प्रमुख तत्त्व है।
इसीलिए भारत ने बांडुंग सम्मेलन के बाद अफ्रो-एशियाई देशों के सभी सम्मेलनों में प्रमुख
भाग लिया है।

१९६६ का तटस्थ राष्ट्रों का दिल्ली सम्मेलन :—चीन की हरकतों से अल्जीयर्स
सम्मेलन की असफलता के बाद एशियाई-अफ्रिकी देशों के संगठन के आन्दोलन को जबरदस्त
धक्का लगा। अतएव एशियाई देशों को संगठित करने की आवश्यकता फिर से महसूस की
जाने लगी। भारत ने पुनः इस दिशा में कदम उठाया और तीन तटस्थ देशों—भारत, संयुक्त
अरब गणराज्य तथा युगोस्लाविया के शासनाध्यक्षों का एक सम्मेलन नयी दिल्ली में आयोजित
किया। २१ अक्टूबर, १९६६ को प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी, राष्ट्रपति नासिर और राष्ट्रपति
टीटो का सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। दोस्ती के धागे में बँधे हुए इन तीनों देशों के राज्याध्यक्षों
का सम्मेलन इसके पूर्व १९६१ में हुआ था। सम्मेलन में यह विचार किया गया कि तटस्थ
देशों की गतिविधियों को फिर से किस तरह संगठित किया जाय कि वे विश्व-शान्ति में
बेहतर योगदान दें। दूसरा सवाल यह था कि तटस्थ देश अपने आत्म-सम्मान को कैसे कायम
रखें। सम्मेलन ने पर-निर्भरता के खतरों को साफ-साफ रखा। शायद, इसका कारण यह था
कि इस सम्मेलन में तीन 'भुक्तभोगियों' ने भाग लिया था। गरीब देशों पर विदेशी सहायता
का असर कितना बुरा और सांघातिक हो सकता है, इसे भारत से अधिक कोई नहीं समझता।
सम्मेलन की समाप्ति पर तीनों नेताओं का जो संयुक्त प्रेस सम्मेलन हुआ उसमें राष्ट्रपति नासिर
ने स्पष्ट रूप से कहा कि अमीर देशों को यह समझना है कि गरीब देशों को सहायता दे कर
वे किसी तरह का उपकार नहीं कर रहे हैं। एक समय था जब कि अमीर देशों ने अपने उपनि-
वेशों का शोषण कर अपनी समृद्धि के बदले उन्हें गरीब देशों को बिना किसी शर्त सहायता देनी
है। लेकिन प्रेजिडेंट नासिर ने यह भी स्पष्ट किया कि अमीर देशों में इस तरह की भावना नहीं
है। वे गरीब देशों को सहायता देकर उनकी राजनीति और अर्थ-व्यवस्था में दखल देते
इस तरह साम्राज्यवाद के चरण बदलते ही जाते हैं। [illegible] यह जरूरी हो गया है कि [illegible]
मिलकर अमीर देशों के दबाव का विरोध करें।

तीन तटस्थ देशों के सम्मेलन की [illegible] नहीं है कि उसने [illegible]
बदले हुए चेहरे को पहचान लिया। [illegible] के बाद [illegible]
-व्यवस्था का सवाल [illegible]

इस बात पर जोर दिया कि अगर तटस्था को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अधिक प्रभावशाली होना तो यह जरूरी है कि इन देशो की अर्थ-व्यवस्था आत्म-निर्भर हो।

तीनो देशो के नेताओ ने इस तथ्य को मान्यता दी कि साम्राज्यवाद और नव-उपनिवेशवाद नये-नये रूपो में सामने आ रहे हैं। इनका उद्देश्य छोटे देशों की आजादी को खत्म करना और अपने उपयोग के लिए शोषण करना है। साम्राज्यवादी देशों का सबसे बड़ा हथियार विदेशी सहायता है। विदेशी सहायता किसी भी व्यवस्था को किस रसातल में ले जा सकती है, इसका संकेत संयुक्त प्रेस-सम्मेलन में किया गया। संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति ने कहा कि हम अपनी गरीबी के बावजूद हर तरह की विदेशी सहायता से मुक्त हैं। चार दिनों के सम्मेलन में प्रेजिडेंट टीटो ने इस बात पर विशेष जोर दिया कि तटस्थ देशो को अपने स्रोतों के विकास का प्रयत्न करना चाहिए। प्रेजिडेंट नासिर और श्रीमती गाँधी ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया और प्रेजिडेंट नासिर की ओर से यह सुझाव आया कि तटस्थ देशो को अपना निर्यात बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि विदेशी मुद्रा का संकट दूर किया जा सके। तीनों नेता इस बात पर भी सहमत थे कि शीत-युद्ध का केन्द्र आज दक्षिण-पूर्व एशिया हो गया है। वियतनाम किसी भी समय महायुद्ध के विस्फोट की शक्ल धारण कर सकता है। वियतनाम के बारे में तीनों की यह राय थी कि केवल वियतनामी जनता को अपनी नियति तय करने का अधिकार है। प्रेस-सम्मेलन में एक सवाल के उत्तर में श्रीमती गाँधी ने यह स्पष्ट भी किया कि जब तक वियतनाम पर बमबारी बन्द नहीं होती तब तक किसी तरह की शान्ति की आशा फजूल है। एक और सवाल के उत्तर में प्रेजिडेंट नासिर ने भी कहा कि वियतनाम से बाहरी सेनाओं का हटना बिलकुल जरूरी हो गया है। प्रेजिडेंट नासिर ने स्पष्ट किया कि बाहरी फौजों से मेरा मतलब अमेरिकी सेना से है क्योंकि मुझे नहीं लगता कि दक्षिण वियतनाम की सेनाएँ हैं। जहाँ तक वियतकांग का ताल्लुक है, वह दक्षिण वियतनाम का ही एक टुकड़ा है और दक्षिण वियतनाम का युद्ध बुनियादी तौर पर गृह-युद्ध है जिसमें दखल देने का कोई अधिकार अमेरिका को नहीं है।

सम्मेलन में तटस्था की पुनर्व्याख्या का सवाल भी उठा। यह बात जोर देकर कही गयी कि बदली हुई परिस्थितियों में भी तटस्था का महत्त्व खोया नहीं है। मुख्य प्रश्न यह है कि उसे किस तरह अधिक सक्रिय और प्रभावशाली बनाया जाय। तीनों नेताओं का मत था कि पिछले कुछ वर्षों में तटस्थता में यकीन रखने वाले देशो की संख्या घटने की बजाय बढ़ी है। तीनों नेताओं ने यह भी स्वीकार किया कि शांति के प्रयत्नो में भी वृद्धि हुई है। यह सही है कि तटस्थ देशों के अपने खतरे बढ़ गये हैं, मगर इसके बावजूद तटस्थता आज भी अपनी आजादी को सुरक्षित रखने का एकमात्र तरीका है। इसके अलावा इन तीनों देशों के आपसी हितों की समस्याओं पर भी चर्चा हुई और यह पाया गया कि जहाँ तक आर्थिक प्रश्नों का ताल्लुक है तीनों में और अधिक सहयोग होना चाहिए। तीनों नेताओं ने सुझाव दिया है कि इन देशों के अर्थ-मंत्रियों का एक सम्मेलन हो जो इस बात पर विचार करें कि अपने आर्थिक स्रोतों का किस तरह विकास किया जाय पर-निर्भरता के संकट कम हों। इस सम्मेलन के अर्थ व्यवस्था सम्बन्धी नतीजे छोटे देशों के लिए मार्गदर्शक साबित होंगे। अब तक साम्राज्यवाद से केवल राजनीतिक स्तर पर लड़ाई लड़ी जाती रही है, लेकिन अब उसके विरुद्ध आर्थिक मोर्चा खोलने की जो इच्छा तीन देशों ने जाहिर की है, वह साम्राज्यवाद को सच्चे अर्थों में कमजोर और निष्प्रभ करेगी।

भारत और संयुक्त राष्ट्रसंघ

भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे बड़ा समर्थक है। नेहरू ने एक बार कहा था कि "हम संयुक्तराष्ट्र संघ के बिना आधुनिक विश्व की कल्पना नहीं कर सकते।" इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद हुई थी। इसका मुख्य उद्देश्य विश्व-शान्ति को सुरक्षित रखना था। लेकिन जब संसार दो विरोधी गुटों में बँट गया तो दुनिया के कुछ प्रमुख देश संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करने लगे। पर, भारत का कहना है कि हमें संयुक्त राष्ट्रसंघ का यथासम्भव उपयोग करना चाहिए। दुखी और सन्तप्त मानवता के परित्राण का यह एकमात्र साधन है। यदि इसकी उपेक्षा की गयी तो संसार महाविनाश के गर्त में गिर जायगा। भारत का कहना है कि राष्ट्रों को अपने पारस्परिक झगड़ों को संयुक्त राष्ट्रसंघ के जरिये तय करना चाहिए। इसलिए स्वयं भारत संघ के कार्यों में सक्रिय भाग लेता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत हमेशा अपने उच्च कोटि के राजनेता को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजता है जो इसके वाद-विवादों में प्रमुख भाग लेता है। भारत एकबार सुरक्षा-परिषद् का सदस्य भी चुना जा चुका है। भारतीय प्रतिनिधि श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित साधारण सभा का सभापतित्व कर चुकी हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ का शायद ही कोई ऐसा अधिवेशन रहा हो जिसमें भारत ने कुछ प्रस्ताव न रखे हों। संयुक्त राष्ट्रसंघ का समर्थन करने के लिए भारत ने जितना किया है उतना दुनिया के शायद ही किसी देश ने किया हो। उसको जब भी सेना की आवश्यकता पड़ी है, भारत ने दिया है। शान्ति के रक्षार्थ, संयुक्त राष्ट्रसंघ के आदेश पर भारतीय सैनिक कोरिया, मिस्र, कांगो आदि देशों में भेजे गये थे।

भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक विश्व-व्यापक संस्था बनाने में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कोरिया-युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ में नये राज्यों को संघ की सदस्यता प्रदान करने के प्रश्न पर गतिरोध पैदा हो गया था। सोवियत और अमरीकी गुट दोनों नये सदस्य बनाने का विरोध कर रहे थे। इस कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ में नये स्वतन्त्र देशों का प्रवेश असम्भव हो गया था। भारत ने इस गतिरोध को दूर करने का यत्न किया। नवम्बर १९५५ में जब मार्शल बुल्गानिन और ख्रुश्चेव भारत आये तो पंडित नेहरू ने उनसे इस समस्या पर बातचीत की और अन्त में यह तय हुआ कि अमेरिका सोवियत संघ द्वारा समर्थित देशों का विरोध न करे और इसी प्रकार सोवियत रूस भी पश्चिमी गुट द्वारा समर्थित देशों का विरोध नहीं करे। कोरिया और वीयतनाम के संघ की सदस्यता का प्रश्न अभी छोड़ दिया जाय। इस समझौते के अनुसार ८ सितम्बर, १९५५ को संघ की साधारण सभा एक प्रस्ताव पास करके अट्ठारह नये देशों को संघ का सदस्य बनाने की सिफारिश की। पर जब यह प्रश्न सुरक्षा-परिषद् में आया तो राष्ट्रवादी चीन ने वीटो का प्रयोग करके सारे समझौते को ही रद्द करा दिया। इसके बाद सोवियत संघ ने भी वीटो का प्रयोग शुरू किया। फिर एक कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। इसके समाधान में भारतीय प्रतिनिधि वी० के० कृष्ण मेनन ने बड़े-बड़े प्रयास किये और उनके परिश्रम के फलस्वरूप नये राज्यों की सदस्यता का प्रश्न बहुत कुछ हल हो गया। इस प्रकार भारत ने इस जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के हल करने में अपना सहयोग दिया।

भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध संस्थाओं में भी प्रमुख भाग लेता आया है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ तथा संयुक्त राष्ट्र आर्थिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन के कार्यों में इसको विशेष

रुचि रही है। इस प्रकार भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रबल समर्थक है। यह भारतीय विदेश-नीति का महत्त्वपूर्ण पहलू है।

पिछले वर्षों में भारत के प्रतिनिधियो ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को विभिन्न शाखाओं तथा उसकी विभिन्न आयोगों एवं विशेष समितियों में उत्साहपूर्वक भाग लेकर अच्छी ख्याति प्राप्त है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में बी० एन० राव ने न्यायाधीश के पद पर काम किया था। डा० राधाकृष्णन यूनेस्को के सर्वोच्च पद पर रह चुके हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में भारत का यह सम्मान भारतीय विदेश-नीति की सफलता का द्योतक है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत का अटूट विश्वास है और उसकी यह नीति है कि दुनिया के अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में इस विश्व-संस्था का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति भारत के अटूट विश्वास का प्रबल प्रमाण भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय सुरक्षा-परिषद् के युद्ध-विराम प्रस्तावो का भारत द्वारा तत्काल स्वीकृति है। इस काल में एक महीने के अन्दर सुरक्षा-परिषद् को तीन बैठकें हुई और प्रस्ताव पास हुए। भारत ने इन सभी प्रस्तावों को तुरत मान लिया। जहाँ पाकिस्तान ने इन प्रस्तावों को मानने में आनाकानी की वहाँ भारत युद्ध में विजयी होते हुए भी सुरक्षा-परिषद् के आदेशों को सहर्ष स्वीकार करने में जरा भी संकोच का प्रदर्शन नहीं किया।

इस तरह भारत ने शुरू से ही संयुक्त राष्ट्रसंघ का पूरा समर्थन किया है। इसी कारण १६६६ के अन्त में दुबारा सुरक्षा-परिषद् का अस्थायी सदस्य चुना गया। विश्व राजनीति के क्षेत्र में यह उसकी एक महान उपलब्धि मानी जायगी। इस चुनाव के फलस्वरूप १ जनवरी, १६६७ को भारत ने सुरक्षा-परिषद् में अपना स्थान किया। १६६८ के फरवरी-अप्रिल में भारत ने नयी दिल्ली में 'अंकटाड' (unc'ad) के द्वितीय सम्मेलन को बुलाकर भी संघ के प्रति अपनी निष्ठा का प्रदर्शन किया।

कुछ प्रमुख राज्यों के साथ भारत का सम्बन्ध

भारत और ग्रेट ब्रिटेन—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ग्रेट ब्रिटेन के साथ भारत का अत्यन्त ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इसका एक कारण यह है कि हम सदियों से ब्रिटेन के साथ सम्बद्ध थे और हमें अपने आर्थिक तथा सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उस पर निर्भर रहना पड़ता था। अतएव जनवरी, १६५० में गणतन्त्र की स्थापना के उपरान्त भी भारत ने कामनवेल्थ से सम्बन्ध कायम रखा। गणतान्त्रिक भारत को कामनवेल्थ में बनाये रखने के लिए उसमें आवश्यक सुधार किये गये। पंडित नेहरू कामनवेल्थ के साथ सम्बन्ध बनाये रखने के प्रबल समर्थक थे। उनका कहना था कि कामनवेल्थ की सदस्यता भारतीय संप्रभुता पर किसी तरह का अतिक्रमण नहीं करता। लेकिन एक बात निश्चित है कि यद्यपि भारत उपनिवेशवाद का कट्टा विरोधी है, पर जब भी ब्रिटिश उपनिवेशों में अत्याचार के प्रश्न आये तो भारत उस पर ज्यादातर चुप ही रहा है। स्पष्टतः यह भारतीय नीति के सिद्धान्तों के साथ एक समझौता था।

भारत में ब्रिटेन ने जिस तरह का अत्याचार किया था उसके पृष्ठाधार ब्रिटेन तथा भारत का सम्बन्ध अच्छा रहेगा, इसको कोई मानने को तैयार नहीं था। लेकिन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद दोनों में अच्छा सम्बन्ध रहा। ब्रिटेन ने भारत को आर्थिक सहायता दी और १९६२ में चीनी आक्रमण समय सैनिक मदद भी दी। लेकिन जहाँ तक कश्मीर का प्रश्न है, ब्रिटेन की नीति पक्षपात पूर्ण रही है और उसने हमेशा भारत के विरुद्ध पाकिस्तान का समर्थन किया है। १९६५ में भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय यह पक्षपात अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। जब ब्रिटिश प्रेस, रेडियो तथा सरकार ने खुलेआम भारत विरोधी नीति का अवलम्बन किया।

१ सितम्बर १९६५ को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पार करके जब पाकिस्तान ने भारत पर हमला कर दिया तो ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रिया अत्यन्त सहानुभूति पूर्ण हुई। लेकिन इसके जवाब में जब भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमा-रेखा पार करके पाकिस्तान के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई की तो प्रधान मन्त्री विल्सन ने इसको "आक्रमण" कहने में जरा भी संकोच नहीं किया। ब्रिटिश सरकार की इस नीति के कारण भारत में प्रबल ब्रिटिश विरोधी भावना का सूत्रपात हुआ और ब्रिटेन के कट्टर समर्थक भी यह माँग करने लगे हैं कि भारत को कामनवेल्थ की सदस्यता छोड़ देनी चाहिये। भारत में कई जगह ब्रिटिश विरोधी प्रदर्शन हुए और लोक-सभा में बोलते हुए प्रधान मन्त्री ने ब्रिटिश नीति की निन्दा की।

भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध के इतिहास में १९६५ का वर्ष कच्छ के समझौता को लेकर भी महत्त्वपूर्ण है। कच्छ के रन को लेकर भारत और पाकिस्तान में जो विवाद उत्पन्न हुआ उसके कारण दोनों के बीच एक सैनिक मुठभेड़ हो गयी। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री की मध्यस्थता से दोनों देशों के बीच जुलाई, १९६५ में एक समझौता हो गया। इस मध्यस्थता प्रयास में प्रधान मन्त्री विल्सन ने बड़ी दिलचस्पी का प्रदर्शन किया था।

केन्या के प्रवासी भारतीय और भारत-ब्रिटेन सम्बन्ध :—पूर्वी अफ्रिका से भारत का सम्बन्ध सदियो पुराना है। १८६७ से ही भारतीय केन्या पहुँचने लगे। १९६३ में जब केन्या स्वतन्त्र हुआ उस समय पचीस हजार के लगभग भारतीय वहाँ रह रहे थे। केन्या की स्वतन्त्रता के अवसर पर इन भारतीयो के समक्ष एक विकट समस्या उत्पन्न हो गयी। यह समस्या उनकी नागरिकता से थी। उस समय भारत सरकार ने चार हजार भारतीयों को अपना पासपोर्ट दिया और शेष ब्रिटेन के पासपोर्ट पर केन्या में रहने लगे।

हाल के वर्षों में अफ्रिकी देशों में सदियों की गुलामी के बाद 'अफ्रिकीकरण' को जो भावना पैदा हुई उससे केन्या की सरकार अछूती नही रह सकी। केन्या से पहले तांजानिया और उगांडा से एशियाई गैर-नागरिकों को निष्कासित किया जा चुका था। फरवरी, १९६८ में केन्या की सरकार ने यह निश्चय किया कि ऐसे एशियाई लोगो को जो वहाँ के नागरिक नहीं हैं उन्हें केन्या में गैर-नागरिक जैसा व्यवहार किया जाय। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि केन्या में बसे एशियाइयों को जीवन-यापन से वंचित हो जाना पड़ेगा।

केन्या सरकार के इस निर्णय से प्रवासी भारतीयो में तहलका मच गया। १९६३ में केन्या की स्वाधीनता के समय ब्रिटिश पासपोर्ट प्राप्त करके वे ब्रिटिश नागरिक बन गये थे। अतः यह उम्मीद की जा सकती थी कि ब्रिटेन इन लोगो के प्रति अपनी जिम्मेवारी का

निर्वाह करेगा, लेकिन जब केन्या के भारतीय मूल के ब्रिटिश नागरिक अपने को व
अरक्षित अनुभव करके ब्रिटेन भागने लगे, तो ब्रिटेन ने "एशियाई बाढ़" को रोकने के उद्देश्य
संसद् में एक विधेयक पेश किया। इस विधेयक का उद्देश्य १ मार्च, १९६८ के बा
केन्याई भारतीयों को ब्रिटेन में प्रवेश से रोकना था। ब्रिटिश संसद् ने इस विधेयक क
पारित कर दिया। ब्रिटेन के इस कानून के मुताबिक उस पासपोर्ट की कोई कीमत नह
रही जो ब्रिटेन ने दिये थे तथा केन्या के भारतीय अब ब्रिटेन में जाकर नहीं बस सकते थे।

इस घटना ने भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध में तनाव उत्पन्न कर दिया। केन्या वे
भारतीय मूल के ब्रिटिश नागरिकों की जिम्मेदारी स्पष्टतः ब्रिटेन पर थी। लेकिन ब्रिटेन ने
इस जिम्मेवारी को निभाने से मुँह मोड़ लिया। इस स्थिति में भारत क्या करता? जह
तक कानूनी स्थिति का सम्बन्ध था, भारत पर उनकी कोई जिम्मेदारी नहीं थी। किन्तु समस्या
का एक मानवीय पक्ष भी था। इसके अतिरिक्त केन्या और ब्रिटेन के निर्णयों से प्रभावित होने
वाले भारतीय ही सबसे अधिक थे।

जिस समय ब्रिटिश संसद् में ब्रिटेन में आनेवाले एशियाइयों को रोकने का विधेयक पेश
हुआ उस समय भारत में इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अखिल भारतीय काँग्रेस को
संसदीय पार्टी में यह सुझाव दिया गया कि ब्रिटिश सरकार से बदला लेने के लिए राष्ट्रमंडल
छोड़ दिया जाय और भारत में ब्रिटिश सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण किया जाय। यद्यपि प्रधान
मंत्री इन्दिरा गाँधी ने इन सुझावों को अव्यावहारिक बतलाया, फिर भी भारत सरकार ने ब्रिटिश
हाई कमिश्नर जॉन फ्रीमैन को यह बतला दिया कि एशियाइयों को ब्रिटेन-प्रवेश से रोकने वाले
अधिनियम का भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों पर सांघातिक असर पड़ेगा।

२९ फरवरी, १९६८ को यह विधेयक पास भी हो गया लेकिन अपनी चेतावनी के
अनुसार भारत सरकार ने ब्रिटेन के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की। केन्या के निवासी
भारतीयों की समस्या को लेकर ब्रिटेन और भारत के सम्बन्धों में क्षणिक तनाव अवश्य आया
लेकिन इसका कोई व्यापक प्रभाव नहीं निकला।

भारत, फ्रांस और पुर्तगाल :—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में कुछ विदेशी बस्तियाँ
रह गयी थीं। फ्रांस के अधीन चन्दरनगर, पाँडिचेरी, कालीकट, माही तथा यनाम और पुर्तगाल
के अधीन गोआ, डामन तथा ड्यू पर स्वाधीनता के बाद भी विदेशी शासन विद्यमान था। स्वा-
धीनता प्राप्त करने के बाद भारत के लिए यह सोचना स्वाभाविक था कि वह अपनी भूमि पर
स्थित इन उपनिवेशों को मुक्त कराने का प्रयास करे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उसने
फ्रांसीसी सरकार से अनुरोध किया कि वह ब्रिटेन का अनुकरण करते हुए अपने अधीन की बस्तियों
को मुक्त कर दे। फ्रांस ने समझदारी से काम लिया और २ मई, १९५९ को उसने चन्दरनगर
में अपने अधिकारों को त्याग दिया तथा नवम्बर, १९५४ में पांडिचेरी, कालीकट, माही तथा
यनाम को भी भारत के सुपुर्द कर दिया। फ्रांस के साथ भारत का सम्बन्ध काफी अच्छा रहा
है। यद्यपि भारत ने फ्रांस की उपनिवेशवादी नीति का पूरा विरोध किया है, फिर भी इस
विरोध के कारण दोनों देशों के सम्बन्धों में कटुता का आगमन नहीं हुआ है। कई आर्थिक और
व्यापारिक सन्धियाँ भारत और फ्रांस के वर्त्तमान सम्बन्धों को नियमित करती हैं।

गोआ की समस्या :—लेकिन पुर्तगाल भारत से अपना अधिकार हटाने को तैयार नहीं हुआ। भारत में पुर्तगाली बस्तियों का कुल क्षेत्रफल १,५३७ वर्गमील था। सुरक्षा और व्यापार की दृष्टि से इन क्षेत्रों को भारत में मिलाया जाना आवश्यक था। भारत ने यह मांग पुर्तगाल के सामने रखी। लेकिन वह इसके लिए तैयार नहीं हुआ। इस पर क्षुब्ध होकर जुलाई, १६५३ में भारत ने पुर्तगाल के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। इसके बाद गोआ की जनता ने मुक्ति आन्दोलन चलाया। उन्हें कुछ भारतीय क्रांतिकारियों से भी सहायता मिली। लेकिन अगस्त, १६५४ में गोआ को पुर्तगाली सरकार ने बड़ी निर्ममता के साथ इस आन्दोलन को दबा दिया।

वास्तविक बात यह थी कि भारत में पुर्तगाली उपनिवेशों की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अंग बन गयी थी। पुर्तगाल अटलांतिक संगठन का एक सदस्य है और इसलिए उसे अमेरिका का समर्थन प्राप्त है। ७ नवम्बर, १६५५ को अमरीकी विदेश सचिव फास्टर डलेस ने कहा था कि जहाँ तक मैं जानता हूँ समूचा संसार गोआ को पुर्तगाल प्रान्त के रूप में स्वीकार करता है।" इस वक्तव्य से भारत में रोष का तूफान उठ खड़ा हुआ। उधर सोवियत गुट ने पुर्तगाली उपनिवेशों के सम्बन्ध में भारत का जबरदस्त समर्थन किया। अमेरिका का समर्थन पाकर पुर्तगाल भार की अवहेलना करता रहा।

१६६१ के नवम्बर-दिसम्बर में भारत के लिए पुर्तगाली उपनिवेशों को लेकर स्थिति असह्य हो गयी। पुर्तगाल ने गोआ में बहुत बड़े पैमाने पर सैनिक तैयारी शुरू की और कई भारतीय मछुओं को मार डाला। इसके बाद पुर्तगाली सैनिकों द्वारा भारतीय सीमा का अतिक्रमण दिन-प्रतिदिन की बात हो गयी। जब स्थिति असह्य हो गयी तो भारत सरकार ने पुर्तगाल के विरुद्ध सैनिक कारवाई करने का निर्णय किया। दिसम्बर, १६६१ में भारत की सेना ने पुर्तगाल को गोआ छोड़कर चले जाने पर विवश किया। कुछ दिनों के बाद भारतीय संघ में गोआ का पूर्ण विलयन हो गया।

पुर्तगाल ने इस भारतीय कारवाई से उत्पन्न स्थिति को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में उठाया। सुरक्षा-परिषद् में अमरीकी प्रतिनिधि श्री स्टिवेन्शन ने इसे एक लज्जापूर्ण कार्य बतलाया और कहा कि भारत की यह "सैनिक कारवाई संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्त का प्रारम्भ है।" लेकिन सोवियत संघ ने उपनिवेशवाद को मिटाने की दिशा में इसे एक ऐतिहासिक कदम बतलाते हुए भारतीय कारवाई का समर्थन किया। सुरक्षा-परिषद् में इस प्रश्न पर कुछ बहस हुई और अन्त में इस मामले का अन्त हो गया।

भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका

ऐतिहासिक पृष्ठाधार :—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत और अमेरिका में कोई विशेष सम्पर्क नहीं था। कुछ अमरीकी भारत अवश्य आये थे, लेकिन उनका मुख्य काम भारतीय जीवन की गन्दगी का निरीक्षण करना था। मिस मेओ की पुस्तक "मदर इण्डिया" इसका ज्वलन्त उदाहरण है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से कुछ भारतीय भी अमेरिका जाने लगे। १६३७ में कुछ भारतीयों ने अमेरिका में "इण्डिया लीग" नामक एक संस्था की स्थापना की जिसका उद्देश्य

अमेरिका में भारतीय स्वतन्त्रता के पक्ष में जनमत तैयार करना था लेकिन इस संस्था को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। अमरीकी जनमत भारतीय समस्या की ओर उदासीन ही रहा।

द्वितीय विश्व-युद्ध में जब जापान के विरुद्ध अमेरिका युद्ध में शामिल हुआ, तो अमरीकी सरकार भारतीय समस्या में कुछ रुचि लेने लगी। लेकिन उसका उद्देश्य यहीं तक सीमित था कि युद्ध के प्रयास में भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन से किसी प्रकार की बाधा न पड़े। इसलिए १९४२ के भारतीय क्रांति को दबाने के लिए जब ब्रिटिश सरकार ने अमरीकी फौज का व्यवहार किया तो अमरीकी सरकार से इसका कोई विरोध नहीं हुआ। उसके बाद भी १९४५ तक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में संयुक्त राज्य अमेरिका से कोई समर्थन या सहानुभूति नहीं प्राप्त हुई।[1] फिर भी युद्ध के समय भारत और अमेरिका में सम्पर्क बढ़ता रहा और युद्ध खत्म होते ही फरवरी, १९६४ में श्री आसफ अली संयुक्त राज्य अमेरिका में भारत के प्रथम राजदूत नियुक्त किये गये।

संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ भारत का कूटनीतिक सम्बन्ध कायम होने के बाद दोनों देशों के सम्बन्ध में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। लेकिन दुर्भाग्यवश यह सम्बन्ध उतना अच्छा नहीं हो सका जितना इसको होना चाहिये था। इसका कारण था अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद तथा उपनिवेशवाद के प्रति दोनों देशों के रूख में अन्तर। अमरीकी दृष्टिकोण में साम्यवादी आन्दोलन युद्धोत्तर विश्व की सबसे गम्भीर समस्या थी। भारत इस हद तक जाने के लिए तैयार नहीं था। दूसरे, भारत साम्राज्यवाद का कट्टर दुश्मन था और अमेरिका स्वयं एक साम्राज्यवादी देश तो था ही; वह यूरोपीय साम्राज्यवाद का खुला समर्थन भी करता था। इसलिए प्रारम्भ से ही भारत और अमेरिका का सम्बन्ध मतभेदों के साथ शुरू हुआ। जिस समय भारत स्वतन्त्र हुआ उस समय सोवियत संघ और अमेरिका का सम्बन्ध बहुत खराब हो चला था और अमेरिका सोवियत संघ का विरोध करने के लिए विश्वव्यापी पैमाने पर तैयारी कर रहा था। इस कार्य में अधिक से अधिक देशों को अपने गुट में रखना चाहता था। एशिया के नवोदित देशों की ओर उसका विशेष झुकाव था और उसका विचार था कि ये राष्ट्र शीत-युद्ध में अमेरिका का साथ दें तथा सोवियत संघ का विरोध करें। जो देश अमेरिका की इस नीति से सहमत नहीं होते थे, उन्हें शत्रु या विरोधी की कोटि में रखा जाता था। भारत उस समय आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ देश था और उसे प्रर्याप्त विदेशी सहायता की बड़ी आवश्यकता थी और यह सहायता अमेरिका से ही मिल सकती थी। अतएव अमेरिका को यह आशा थी कि स्वतन्त्र भारत आँख मूँदकर उसका साथ देगा। लेकिन उसे निराश होना पड़ा, क्योंकि स्वतन्त्र भारत की सरकार ने गुटों से अलग रहनेवाली असंलग्नता की नीति को अपना लिया। गुटबन्दियों के मध्य तटस्थता या असंलग्नता की नीति अमेरिका को पसन्द न थी और इसीलिए वह भारत को शंका की दृष्टि से देखने लगा। भारत को अपने कूटनीतिक जाल में फँसाने के लिए अमेरिका की ओर से कितने प्रयास हुए, लेकिन भारत इन सारे प्रयासों को विफल बनाता रहा। उसने अमरीकी गुट में शामिल होने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। ऐसी हालत में भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका का सम्बन्ध सन्तोषजनक ढंग से नहीं प्रारम्भ हुआ। दोनों देशों के बीच कुछ मौलिक मतभेद थे जिनका उनके सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ना आवश्यक था। इन प्रमुख मतभेदों के अतिरिक्त भारत और अमेरिका के बीच निम्न बातों पर भी मतभेद थे :

1. B. Prasad, *Origins of Indian Foreign Policy*, p. 9.

कश्मीर—कश्मीर के प्रश्न पर शुरू से अब तक संयुक्त राज्य अमेरिका ने पाकिस्तान का समर्थन किया है। अमरीकी नीति के कारण ही कश्मीर के प्रश्न का सन्तोषजनक समाधान अभी तक नहीं हो सकता है।

पाकिस्तान को अमरीकी सहायता—१९५४ में अमेरिका और पाकिस्तान के बीच एक सन्धि हुई जिसके अनुसार अमेरिका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देना शुरू किया भारत में इस सैनिक सहायता का घोर विरोध हुआ और इसको लेकर भारत और अमेरिका का सम्बन्ध बहुत बिगड़ गया।

सैन्य संगठन—युद्धोत्तर विश्व में अमेरिका ने सैनिक संगठन का जाल बिछा दिया। नाटो, सेन्टो आदि की स्थापना इसी नीति का परिणाम थी। भारत इन संगठनो को विश्व-शान्ति का दुश्मन मानता है और इसलिए उनका बड़ा विरोध करता रहा। इस कारण भी दोनों में भ्रान्तियाँ फैली।

निरस्त्रीकरण—निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में भारत ने अमेरिका से अधिक सोवियत प्रस्तावों का समर्थन किया है। इस प्रश्न पर भी दोनो देशों के बीच मौलिक अन्तर है।

गोआ—गोआ की समस्या अभी हाल तक भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रश्न था। लेकिन अमरीकी सरकार ने इस प्रश्न पर कभी भी भारत का समर्थन नहीं किया। १९५५ में डलेस और पुर्तगाली विदेश सचिव गुनहा का संयुक्त वक्तव्य तथा १९६२ में सुरक्षा-परिषद् में अमरीकी प्रतिनिधि के उद्‌गार इसके दो प्रमुख उदारहण हैं।

पूर्वी एशिया—पूर्वी एशिया से सम्बन्धित अनेक घटनाओं को लेकर भी भारत और अमेरिका में घोर मतभेद रहा है। ये घटनाएँ थी चीन में साम्यवादी राज्य की स्थापना और उसकी मान्यता का प्रश्न, जापान के साथ संधि का प्रश्न, कोरिया का युद्ध तथा हिन्द-चीन का प्रश्न। जब चीन में कम्युनिस्ट शासन कायम हुआ तो भारत ने न केवल उसको मान्यता ही प्रदान की अपितु उसने इस बात का भी प्रयास किया कि चीन की नयी सरकार को संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। फारमोसा के प्रश्न पर भी इसी घटना को लेकर दोनों के बीच मतभेद रहा।

४ सितम्बर, १९५१ को सैनफ्रांसिस्को में जापान के साथ सन्धि करने के लिए एक सम्मेलन हुआ। जिन शर्तों पर जापान के साथ सन्धि होने जा रही थी वह भारत को पसन्द नहीं थी। सन्धि की शर्तें ऐसी रखी गयी थी जिससे जापान अमरीकी प्रभुत्व कायम रहे। इसलिए सोवियत गुट ने इसका विरोध किया। भारत ने भी सम्मेलन में शामिल होने से इन्कार कर दिया। इस कारण भी भारत और अमेरिका के सम्बन्धों में कटुता आयी।

कोरिया के युद्ध में सयुक्त राज्य अमेरिका को भारत की नीति निम्न कारणों से पसन्द नहीं आयी। सर्वप्रथम, उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने के बाद भी भारत ने सैनिक कार्रवाइयों में भाग नहीं लिया। द्वितीयतः, भारत ने इस युद्ध में तटस्थता की नीति का अनुसरण किया और शान्ति स्थापित करवाने के लिए मध्यस्थता के लिए प्रयास किया। तृतीयतः, उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाओं द्वारा ३८ वीं अक्षांश रेखा के पार किये जाने का विरोध किया। चतुर्थतः, भारत ने अमेरिका के उस प्रस्ताव का घोर विरोध किया जिसके द्वारा चीन को आक्रमण-

कारी घोषित किया गया। और, अन्त में कोरिया की समस्या को सुलझाने के लिए उसने चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रतिनिधित्व प्रदान करने का प्रस्ताव रखा।

हिन्द-चीन की समस्या पर भी इसी तरह दोनो देशों के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर रहा। भारत हिन्द-चीन की समस्या का सन्तोषजनक समाधान चाहता था, लेकिन अमेरिका युद्ध के द्वारा इस समस्या का निवटारा चाहता था। इसलिए जब भारतीय संसद् में नेहरू ने हिन्द-चीन की समस्या के समाधान के लिए अपने छः सूत्री प्रस्ताव रखे, तो अमेरिका में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। फिर जेनेवा-सम्मेलन के बाद अमेरिका ने दक्षिण पूर्व एशिया संगठन कायम किया। भारत ने इसका कड़ा विरोध किया।

भारत के इन दृष्टिकोणों के कारण अमरीकी सरकार भारत से बहुत रुष्ट रहा करती थी। और उसे सोवियत संघ का पिछलगुआ राष्ट्र कहती थी। उदाहरणार्थ, जनवरी, १९४६ में जॉन फास्टर डलेस ने कहा था कि भारत में "सोवियत साम्यवाद अन्तःकालीन हिन्दू सरकार के माध्यम से अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा है।"[1]

१९५७ में नेहरू अमेरिका गये और उनकी यात्रा से दोनों देशों के सम्बन्ध में कुछ सुधार हुआ। परन्तु इसी समय पश्चिमी एशिया में अमरीकी साम्राज्यवाद ने उग्र रूप धारण किया। अमेरिका ने आइसनहावर सिद्धांत का प्रतिपादन किया और लेबनान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए अपनी सेनाएँ भेजी। कुछ दिनों के बाद ईराक में एक क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति को दबाने के लिए भी ब्रिटिश फौज जोर्डान में उतारी गयी। भारत ने इन सभी कार्रवाइयों का घोर विरोध किया जिसके कारण भी दोनो देशो में मनमुटाव बढ़े। लेकिन १९५९ में राष्ट्रपति आइसनहावर की भारत-यात्रा के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच फिर से अच्छे सम्बन्धो का प्रारम्भ हुआ।

अभी तक हमने केवल भारत-अमरीकी मतभेदों की चर्चा की है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि भारत और अमेरिका में किसी प्रकार का अच्छा सम्बन्ध नही रहा है। इन दोनों देशों के बीच मधुर सम्बन्ध भी रहे हैं और इसके लिए भारत में अमरीकी राजदूत श्री चेस्टर बौल्स की देन सबसे महत्त्वपूर्ण है। अक्टूबर १९५१ में वे पहली बार राजदूत के पद पर आये और उनके प्रयास से भारत और अमेरिका के सम्बन्धों में काफी सुधार हुआ। चेस्टर बौल्स के पहले अमेरिका भारत को आर्थिक सहायता देने के लिए उतना इच्छुक नहीं था, लेकिन नये राजदूत के प्रयासों के फलस्वरूप भारत को काफी मात्रा में अमरीकी सहायता मिलने लगी। चेस्टर बौल्स ने इस बात की सिफारिश की कि एशिया में साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिए भारतीय प्रजातन्त्र को सफल बनाना अत्यन्त आवश्यक है और इसके लिए भारत को अमेरिका से पूरी सहायता मिलनी चाहिए। इसके बाद से अमेरिका ने भारत को प्रचुर मात्रा में आर्थिक सहायता दी है। भारत की तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं को सफल बनाने में अमेरिका की देन बहुमूल्य है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के लिए भी अमेरिका काफी मात्रा में भारत को सहायता देने को तैयार है।

---

1. *Government of India Information Services* No. 3317. January 21, 1947.

भारत पर चीन का हमला और अमेरिका—अक्टूबर १९६२ में भारत पर बहुत बड़े पैमाने पर चीनी आक्रमण शुरू होने के फलस्वरूप भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्ध में एक नया अध्याय शुरू हुआ। इस चीनी आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए भारत ने अमरीकी सरकार से अनुरोध किया कि वह शीघ्रातिशीघ्र सैनिक मदद दे। इसमें कोई सन्देह नही कि राष्ट्रपति कैनेडी ने इस अनुरोध पर अविलम्ब विचार किया और भारत को सैनिक सहायता भी दी। पं० नेहरू के शब्दों में, सारा देश इस सहायता के लिए अमेरिका का आभारी रहेगा। यह एक सन्तोष की बात है कि अमेरिका ने भारत के पलायन से शुरू में नाजायज लाभ उठाने का प्रयास नहीं किया। उसने सैनिक सहायता देने के लिए कोई शर्त नही रखी। विदेश सचिव डीन रस्क ने भारत की असंलग्नता की नीति की प्रशंसा भी की। लेकिन अमेरिका भारत को बेशर्त सैनिक सहायता देता रहे यह एक संदिग्ध बात थी। अमेरिका में कुछ ऐसे विचार व्यक्त किये गये जिससे पता चला कि अमरीकी सहायता को बेरोकटोक मिलने में कुछ कठिनाई है। कम से-कम एक बात तो स्पष्ट हो गयी। अमेरिका पाकिस्तान के लाभ की दृष्टि से कश्मीर समस्या का हल करवा लेना चाहता है। इसके लिए भारत पर कई तरह के दबाव डाले गये। अमेरिका की प्रेरणा से ही कश्मीर के प्रश्न पर भारत-पाकिस्तान वार्तालाप शुरू हुआ था और कलकत्ता के भुट्टो-स्वर्ण सिंह वार्तालाप के समय अमरीकी राजदूत प्रोफेसर गैलवर्थ ने जिस नाटकीय ढंग से हस्तक्षेप किया था, उसने इस तथ्य की ओर संकेत किया कि भारत के प्रति अमरीकी दृष्टिकोण में कोई मौलिक परिवर्तन नही हुआ है। मई १९६३ में राष्ट्रपति राधाकृष्णन् के अमरीकी यात्रा का भी कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। अमेरिका ने बोकारो प्लान्ट बैठाने में मदद देने से इन्कार कर दिया। १९६३-६४ में भारत के प्रति अमरीकी कूटनीति का एक लक्ष्य प्रतीत हो रहा है: चीनी आक्रमण तथा भारत की आर्थिक स्थिति से उत्पन्न संकट से लाभ उठाकर भारत को अमरीकी प्रभाव में आबद्ध कर लेना और इस दिशा में भारत को अमेरिका से कुछ सफलता मिली। फिर भी, इस बात को मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रपति कैनेडी के पदारोहण के उपरान्त अमेरिका के साथ भारत के सम्बन्धों में उल्लेखनीय सुधार हुआ था और कैनेडी-प्रशासन द्वारा भारत पर चीन का हमला होने पर जो अविलम्ब सहायता प्रदान की गयी थी, उसने भारतीय जनता को बहुत ही अधिक प्रभावित किया। कैनेडी ने भारत की तटस्थत नीति को भी अन्य अमरीकी नेताओं की अपेक्षा भली प्रकार समझा और उसका यथोचित सम्मान किया। कैनेडी ने पाकिस्तान और भारत विरोधियों के विरोध एवं प्रचार की परवाह न करते हुए चीनी हमले से भारतीय लोकतन्त्र की रक्षा करने के लिए जिस प्रकार सैनिक सहायता दी वह उनकी महानता और दूरदर्शिता का प्रमाण था। लेकिन भारत के दुर्भाग्य से संसार का यह महान् नेता अत्यन्त आकस्मिक ढंग से हमारे मध्य से उठ गया। उसकी मृत्यु से भारत ने अपना एक बहुत बड़ा शुभचिन्तक खो दिया। कैनेडी के बाद लिन्डन जॉनसन संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति हुए। श्री जॉनसन ने अपने प्रथम भाषण में जो आश्वासन दिया, उससे आशा की गई कि शायद अमेरिका का नया प्रशासन भारत के प्रति कैनेडी-नीति का ही अनुसरण करे। राष्ट्रपति जॉनसन के शासन-काल में भारत को सहायता मिली है। ७ दिसम्बर १९६३ को भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच नयी दिल्ली में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार अमेरिका भारत को आठ करोड़ डालर तारापुर में आणविक शक्ति का संयंत्र स्थापित करने के लिए देने का वादा किया। अमेरिका की सहायता से भारत ने अपनी वायु सेना को भी शक्ति-

शाली बनाया। १९६४ में भारत के विभिन्न भागों में भारत, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और अमेरिका के वायु सैनिकों ने सम्मिलित रूप से शैक्षणिक अभ्यास किये। १९६४ में ही विकट खाद्यान्न समस्या उपस्थित हुई। पी० एल० ४८० के अन्तर्गत अमेरिका ने बड़ी मात्रा में भारत में खाद्यान्नों की पूर्ति की और कई तरह की आर्थिक सहायताएँ देने का आश्वासन दिया। भारत को इस तरह की सहायता पर्याप्त रूप में अमेरिका से मिली है। पाकिस्तान के विरोध के बावजूद चीनी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए अमेरिका ने भारत के हाथों सैनिक साजो-समान दिये और कुछ सैनिक सहायता भी दी।

भारतीय प्रधान मन्त्री की प्रस्तावित अमरीकी यात्रा—भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्धों के इतिहास में १९६५ का वर्ष अत्यन्त सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता। आर्थिक और खाद्यान्नों के अभाव की दृष्टि से भारत के लिए यह वर्ष बड़ा ही अशुभ सिद्ध हुआ। ऐसी हालत में भारत को अमरीकी सहायता की सख्त जरूरत थी। अतएव अमरीकी सहायता प्राप्त करने तथा भारत-अमेरिका सम्बन्धों में सुधार के लिए भारतीय प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री ने मई में अमेरिका जाने कार्यक्रम बनाया और राष्ट्रपति जॉनसन की ओर से उन्हें निमन्त्रण भी प्राप्त हो गया। उसी समय पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खाँ के अमेरिका भ्रमण की भी बात थी।

इस समय अमेरिका वियतनाम में अपना खूनी साम्राज्यवादी युद्ध चला रहा था और उसे उम्मीद थी कि चीन के विरोध में मानसिक संतुलन खोकर तथा आर्थिक संकट से बाध्य होकर भारत-अमेरिका की वियतनामी नीति का समर्थ करेगा। लेकिन भारत ने न्याय का साथ देते हुए अमेरिका की वियतनामी नीति की कड़ी आलोचना की। भारत सरकार का यह रुख अमेरिका के लिए असह्य था। भारत के प्रति अपना विरोध प्रकट करने के उद्देश्य से १६ अप्रिल को अमरीकी राष्ट्रपति ने अपने निमन्त्रण को वापस लेते हुए कहा कि अमरीकी कांग्रेस के अधिवेशन में व्यस्त होने के कारण राष्ट्रपति को प्रधान मन्त्री का स्वागत करने के लिए समय का अभाव रहेगा। अतएव प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री अपनी यात्रा को फिलहाल के लिए स्थगित कर दें। इस निर्णय के विरुद्ध भारत में कड़ी प्रतिक्रियाएँ हुईं और जनता तथा सरकार दोनों ने इसे देश का अपमान समझा। सम्पूर्ण देश में अमेरिका विरोधी भावना का एक तूफान फूट पड़ा। चूँकि पाकिस्तान और चीन का बढ़ता हुआ सम्बन्ध भी अमेरिका को पसंद नहीं था, इसलिए राष्ट्रपति अयूब की यात्रा को भी इसी तरह स्थगित करा दिया गया।

भारत-पाकिस्तान युद्ध और अमेरिका—५ अगस्त, १९६५ को पाकिस्तानी मुजाहिदों ने कश्मीर में घुसकर जब उत्पात मचाना शुरू किया और इसकी खबर जब अमेरिका पहुँची, तो वहाँ के समाचारपत्रों ने पाकिस्तानी राग अलापते हुए कहा है कि भारत के विरुद्ध कश्मीरवालों ने विद्रोह कर दिया है। लेकिन यह उम्मीद की जाती थी कि अमरीकी सरकार को घटना का वास्तविक ब्योरा मिला होगा और जिस ढंगसे अमेरिका के प्रबल दुश्मन चीन के साथ पाकिस्तान अपना सम्बन्ध बढ़ा रहा था उसको देखते हुए कश्मीर के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका का दृष्टिकोण बदलेगा। लेकिन यह आशा निराधार सिद्ध हुई और अमेरिका ने पुनः वही रवैया अपनाया जो कश्मीर के प्रश्न पर अब तक उसका रहा है। यह जानकर कि जेनरल निम्मों की रिपोर्ट पाकिस्तान के विरुद्ध है; अमरीकी सूत्रों ने महासचिव यू-थान्त पर दबाव डाला कि वे इस

रिपोर्ट को प्रकाशित नहीं करें। भारत के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका का यह अन्यायपूर्ण रुख था।

१ सितम्बर को पाकिस्तान ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमारेखा पार करके छम्ब जूरिया क्षेत्र में भारतीय प्रदेश पर बड़े विशाल पैमाने पर आक्रमण कर दिया। यह पहला अवसर था जब पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध अमेरिका में बने और पाकिस्तान को मदद के रूप में दिये पैटन टैंक, हवाई बम वर्षक तथा अन्य अमरीकी शस्त्रास्त्रों को युद्ध में झोंक दिया। पाकिस्तान की इस कार्रवाई ने अमरीकी प्रशासन को बड़ी दुविधा में डाल दी। जिस समय संयुक्त राज्य अमेरिका और पाकिस्तान में पारस्परिक सुरक्षा संधि हुई थी और अमेरिका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का वादा किया था उस समय भारत ने इस कारण इसका बड़ा विरोध किया था कि पाकिस्तान को मुफ्त हथियारों से साम्यवाद के विरुद्ध लैस करने का भारतीय सुरक्षा पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। नेहरू ने राष्ट्रपति आइसनहावर को लिखा था कि पाकिस्तान इन शस्त्रास्त्रों का प्रयोग भारत के विरुद्ध करेगा। उस समय राष्ट्रपति आइसनहावर ने जवाब दिया कि पाकिस्तान को मिले अमरीकी हथियारों का प्रयोग केवल कम्युनिस्ट राज्यों के विरुद्ध करने दिया जायगा और यदि पाकिस्तान ने इन हथियारों से भारत पर आक्रमण किया तो संयुक्त राज्य अमेरिका उसका विरोध करेगा और भारत की सहायता करेगा। इस आश्वासन के आधार पर भारत सरकार ने अमरीकी सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट कराया कि पाकिस्तान सेन्टो तथा सिआटो सन्धियों के अन्तर्गत मिले शस्त्र शस्त्रों का प्रयोग भारत के विरुद्ध कर रहा है और यह अनुरोध किया कि अमेरिका अपने मित्र राज्य को ऐसा करने से रोके। लेकिन अमरीकी प्रशासन ने इस तथ्य की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया और पाकिस्तान को अमरीकी शस्त्रास्त्रों के दुरुपयोग से रोकने में अपनी असमर्थता प्रकट की। संयुक्त राज्य अमेरिका की यह नीति राष्ट्रपति आइसनहावर के उन आश्वासनों का उल्लंघन था। लेकिन उस समय के लिए अमेरिका ने पाकिस्तान को हर तरह की सैनिक सहायता बन्द कर दिया। लेकिन यह प्रतिबन्ध भारत के विरुद्ध भी लगाया गया। अमरीकी सरकार ने आक्रामक और आक्रान्ता दोनों को एक ही कोटि में रखने में लेशमात्र का संकोच नहीं किया। इसके अतिरिक्त उसने यह भी धमकी दी कि वह दोनों देशों को आर्थिक सहायता देना भी बन्द कर देगा यदि युद्ध नहीं बन्द किया गया। इस धमकी से पाकिस्तान की अपेक्षा भारत को ही अधिक नुकसान होने वाला था, क्योंकि इस समय भारत में खाद्यान्नों के अभाव के कारण भयंकर संकट उत्पन्न हो गया था और भारत को अमरीकी सहायता की सख्त जरूरत थी।

सितम्बर के महीने में युद्ध को समाप्त करने के लिए सुरक्षा-परिषद् की चार बैठकें हुईं। इन बैठकों में सुरक्षा-परिषद् के अन्य सदस्यों की तरह अमरीकी प्रतिनिधि श्री गोल्डबर्ग ने भी महासचिव यू-थान्त के युद्ध बन्द कराने के प्रयासों का समर्थन किया तथा परिषद् द्वारा पारित प्रस्तावों के पक्ष में अपना मत दिया। लेकिन बहस के दौरान में अमरीकी प्रतिनिधि ने हमेशा "कश्मीर प्रश्न के राजनीतिक समाधान" पर बल दिया। इस दृष्टिकोण से अमेरिका का रुख निश्चय ही भारत विरोधी था। इसका तात्पर्य यह था कि संयुक्त राज्य अमेरिका कश्मीर के प्रश्न को अभी भी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या मानता है : यह प्रश्न जिसका समाधान भारत की दृष्टि में कश्मीर के लोगों ने कई चुनावों में भाग लेकर बहुत पहले कर दिया था।

भारत-पाकिस्तान युद्ध में अमरीकी दृष्टिकोण का एक और पहलू था। १ सितम्बर को पाकिस्तान ने भारत पर हमला इस विश्वास के साथ किया था कि वह कुछ ही दिनों में भारत को पराजित करने में सफल रहेगा, लेकिन भारत ने जब इसका प्रतिरोध किया और पाकिस्तान ने कई जगहों पर हमला शुरू किया, तो पाकिस्तान का पूर्ण विनाश अवश्यम्भावी हो गया। ऐसी हालत में राष्ट्रपति अयूब ने एकाधिक बार अपनी पुरानी दोस्ती के नाम पर अमेरिका से अपील की कि वह "भारत के आक्रमण बन्द कराने के सम्बन्ध में" कोई कार्रवाई करे। लेकिन राष्ट्रपति जॉनसन ने इस बार पाकिस्तान को अनुग्रहित नहीं किया। संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने इस बात को कई बार दुहराया और स्पष्ट शब्दों में कहा कि युद्ध बन्द करने के सम्बन्ध में जो भी निर्णय लिया जायगा वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत होगा और व्यक्तिगत रूप से अमेरिका इसके सम्बन्ध में कोई कार्य नहीं करेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अमेरिका के इस दृष्टिकोण ने पाकिस्तान को टेढ़ी छोड़ने और सुरक्षा-परिषद् के युद्ध-विराम प्रस्ताव को मान लेने के लिए बाध्य कर दिया।

भारत-पाकिस्तान युद्ध के दौरान में अपने नये साथी पाकिस्तान पर भारतीय सैनिक दबाव को कम करने के उद्देश्य से १७ सितम्बर को चीन ने भारत को धमकी से भरा एक अल्टिमेटम भेजा जिसमें भारत से यह मांग की गयी थी कि वह तीन दिनों के अन्दर "गैर कानूनी ढंग से चीनी क्षेत्र में बनाये सैनिक अड्डा को तोड़ दे" तथा इसके उपरान्त उसने शीघ्र ही सीमान्त पर भारत के विरुद्ध सैनिक गतिविधि प्रारम्भ कर दी। चीन की इस कार्रवाही से परिस्थिति बहुत कठिन हो गयी। इस हालत में अमरीकी विदेश सचिव ने यह घोषणा की कि यदि चीन ने भारत के विरुद्ध कोई सैनिक कार्रवाई की तो अमेरिका भारत को किसी तरह की सहायता देने में जरा भी संकोच नहीं करेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाजुक घड़ियों में अमेरिका की इस घोषणा से भारतीयों के मनोबल को ऊँचा रखने में बड़ी सहायता मिली। अमेरिका की इस घोषणा का भारत में सर्वत्र स्वागत हुआ।

प्रधान मन्त्री की अमेरिका यात्रा—अप्रिल १९६५ में भारत के प्रधान मन्त्री की अमरीकी यात्रा के स्थगन से भारत में अमेरिका विरोधी भावना का प्रबल तूफान फूट गया था और इस घटना के कारण दोनों देशों का सम्बन्ध काफी गिर गया था। इस कारण एस० के० पाटिल और जी० डी० बिरला जैसे अमेरिका के समर्थक भारतीय बहुत चिन्तित थे। जून जुलाई १९६५ में इन दोनों व्यक्तियों ने अमेरिका का भ्रमण किया और यह प्रयास किया कि राष्ट्रपति जॉनसन पुनः भारतीय प्रधान मन्त्री को आमन्त्रित करें। इस तरह का जाल बुना ही जा रहा था कि भारत और पाकिस्तान में युद्ध छिड़ गया और भारतीय प्रधान मंत्री द्वारा अमेरिका-यात्रा की सारी सम्भावनाएँ अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गयीं। नवम्बर और दिसम्बर के महीनों में भारत-अमेरिका सम्बन्ध में दो तथ्य स्पष्ट हुए। युद्ध के कारण अमेरिका ने भारत को हर तरह की सहायता देना बन्द कर दिया था, लेकिन भारत में विषम खाद्यान्न संकट को देखते हुए अमेरिका ने फैसला किया कि पी० एल० ४८० के अन्तर्गत गेहूँ की आपूर्ति पुनः चालू की जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत को भुखमरी से बचाने में अमेरिका के इस निर्णय ने बड़ी सहायता की। दूसरा तथ्य ताशकन्द सम्मेलन से सम्बन्धित था। अमेरिका कभी नहीं चाहता होगा कि सोवियत संघ भारत और पाकिस्तान के बीच मध्यस्थता करे। लेकिन जब सोवियत

संघ ने ताशकन्द सम्मेलन का प्रस्ताव रखा और भारत तथा पाकिस्तान दोनों ने इसे स्वीकार कर लिया तो कम-से-कम सार्वजनिक रूप से अमेरिका ने इसका विरोध नहीं किया। अमेरिका के इस दृष्टिकोण से ताशकन्द में समझौता करने में बड़ी सहुलियत मिली। प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु पर श्री हम्फ्रे ने अमरीकी जनता और सरकार की ओर से भारत के प्रति अपार सहानुभूति दर्शायी और यह आश्वासन दिया कि भारत अमेरिका से हर तरह की सहायता की उपेक्षा कर सकता है। कुछ दिनों के उपरान्त श्रीमती इन्दिरा गाँधी भारत की प्रधान मन्त्री नियुक्ति की गयीं। राष्ट्रपति जॉनसन ने उन्हें बधाई दी और एक पत्र लिखकर यह अनुरोध किया कि वे शीघ्र ही अमेरिका यात्रा का कार्यक्रम बनावें।

२८ मार्च १९६६ को श्रीमती इन्दिरा गाँधी की अमेरिका यात्रा प्रारम्भ हुई। ऐसे तो श्रीमती गाँधी कई बार अमेरिका की यात्रा कर चुकी थीं, लेकिन प्रधान मन्त्री के रूप में यह उनकी प्रथम यात्रा थी। उस समय भारत भीषण आर्थिक संकट से गुजर रहा था और यह उम्मीद की गयी कि प्रधान मन्त्री की यात्रा से प्रचुर मात्रा में आर्थिक सहायता मिल सकती है। लेकिन सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इस यात्रा का कोई विशेष परिणाम नहीं हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका भारत की आर्थिक कठिनाइयों से लाभ उठाने का यत्न करता रहा। भारत पर अपना बौद्धिक साम्राज्यवाद लादने के उद्देश्य से उसके "इंडो-यू० एस० एडुकेशन फाउन्डेशन" का प्रस्ताव रखा, लेकिन सर्वत्र देश में इतना व्यापक विरोध हुआ कि सारी योजनाएँ स्थगित कर दी गयीं। भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद अमेरिका ने पुनः उन सारी आर्थिक सहायताओं को चालू करने का निर्णय किया जो भारत-पाक युद्ध के समय बन्द कर दी गयी थीं। इसका अर्थ कुछ लोगों ने यह लगाया कि रुपये का अवमूल्यन अमरीकी दबाव के कारण हुआ। फिलहाल भारत के प्रति अमरीकी नीति का एक ही लक्ष्य प्रतीत हो रहा है : भारत की आर्थिक विवशता से लाभ उठाकर उस पर हर तरह से दबाव डालना और उसे अपने प्रभाव में रखना।

भारत और सोवियत संघ

भारत और सोवियत संघ के बीच स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भी थोड़ा बहुत सम्बन्ध था। शुरू में पं० नेहरू सोवियत क्रान्ति के बहुत बड़े समर्थक थे। सोवियत संघ प्रारम्भ से ही साम्राज्यवाद का कट्टर विरोधी रहा है। उसने प्रत्येक स्तर पर भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का समर्थन किया है। इसलिए सोवियत संघ के प्रति भारतीयों में सहानुभूति का उत्पन्न होना बिल्कुल स्वाभाविक था। सोवियत-संघ के साथ स्वतन्त्र भारत का सम्बन्ध इसी पृष्ठाधार में शुरू हुआ। लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सोवियत-संघ के साथ भारत के सम्बन्ध कभी एक से नहीं रहे, उसने अनेक चढ़ाव-उतराव देखे हैं। १९४६-४७ में उपनिवेशवाद, प्रजातीय विभेद, निरस्त्रीकरण, आदि अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर भारत और सोवियत संघ का एकसा दृष्टिकोण रहा और इन प्रश्नों पर भारत ने अमेरिका के विरुद्ध सोवियत संघ का ही समर्थन किया। परन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चली और कुछ ही समय बाद कुछ बातों को लेकर दोनों देशों के बीच मनमुटाव पैदा हो गया। परन्तु १९४८ के अन्त में स्थिति फिर सुधरी। इस काल में भारत ने साम्यवादी चीन का बहुत जोरदार समर्थन किया। अतएव सोवियत संघ में भारत के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई। इसी समय डॉ० राधाकृष्णन मास्को में भारत के राजदूत नियुक्त हुए और उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत और रूस के सम्बन्धों में काफी सुधार हुआ। इसके

परिणामस्वरूप १६४९ के अन्तिम दिनों में भारत और सोवियत संघ के बीच एक व्यापारिक सन्धि हुई। फिर जब १६५० में कोरिया का युद्ध शुरू हुआ और जब भारत ने उत्तर कोरिया को आक्रमणकारी मान लिया तो सोवियत-संघ पुनः भारत से नाराज हो गया। किन्तु भारत सरकार का रुख तुरत ही बदल गया। पं० नेहरू के शान्ति प्रयासों की प्रशंसा स्वयं स्टालिन ने की। यह सत्य ही कहा गया है कि कोरियाई युद्ध के समय भारत नीति से जहाँ वाशिंगटन और दिल्ली के बीच मतभेद की स्थिति पैदा हुई वहाँ सोवियत संघ के साथ उसके सम्बन्धों में एक बड़ी सीमा तक प्रगाढ़ता आयी। इसी समय भारत ने सोवियत संघ की तरह जापानी शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। दिसम्बर, १६५२ में यद्यपि कोरिया के युद्धबन्दियों के कारण भारत और सोवियत संघ में मनमुटाव पैदा हो गया लेकिन दोनों का सम्बन्ध बहुत अधिक नहीं बिगड़ा। इनके कई कारण थे। इसमें सबसे मुख्य कारण अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को दी जानेवाली सैनिक सहायता थी। इसी बीच कश्मीर की स्थिति भी बिगड़ने लगी। फलतः भारत अनिवार्य रूप से सोवियत संघ की ओर झुकने लगा।

१६५४ में अमेरिका की प्रेरणा से दक्षिण-पूर्व एशिया सैन्य-संगठन एवं बगदाद सन्धि की रचना हुई। भारत ने इन गुटबन्दियों का घोर विरोध किया, जिसके फलस्वरूप भारत और अमेरिका के सम्बन्धों में बिगाड़ पैदा हुआ। १६५५ में नेहरू ने सोवियत संघ की यात्रा की। उसी समय बुल्गानिन और ख्रुश्चेव ने भारत की यात्रा की। इन यात्राओं के फलस्वरूप भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों में और अधिक सुधार हुआ। सोवियत नेताओं की यह यात्रा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि इस अवसर पर उन्होंने भारत को कश्मीर और गोआ के प्रश्न पर हर प्रकार की सहायताएँ देने का वादा किया। वस्तुतः कश्मीर के प्रश्न पर भारत की प्रतिष्ठा की रक्षा सोवियत संघ ने ही की है। जब-जब अमरीकी गुट ने भारत को परेशान करने का प्रयास किया तब तब सोवियत संघ ने सुरक्षा-परिषद् में वीटो का प्रयोग करके भारत की सहायता की है। इसके अतिरिक्त सोवियत-संघ से भारत को प्रचुर मात्रा में आर्थिक और टेकनिकल सहायता भी मिली है। भिलाई में सोवियत सहायता से एक इस्पात का कारखाना खुला जो दोनों की मैत्री का प्रतीक है। और भी, कई क्षेत्रों में भारत को रूस से सहायता मिली है। यद्यपि १६५५ में हंगरी की घटना को लेकर भारत और सोवियत संघ के सम्बन्ध में फिर कुछ कटुता आयी, लेकिन इस घटना से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध को कायम रखने की प्रक्रिया में कोई विशेष उलझन नहीं पैदा हुई। इसका प्रमुख कारण है कि दोनों देश विश्व-शान्ति और शान्तिपूर्ण सहजीवन के सिद्धान्तों में पूरी तरह आस्था रखते हैं। ये दोनों सिद्धान्त ऐसे हैं जिनके आधार पर भारत और सोवियत संघ की मित्रता चिरकाल तक कायम रह सकती है। निरस्त्रीकरण के प्रस्तावों पर तो भारत सोवियत संघ का जबरदस्त समर्थन करता है।

चीनी आक्रमण और सोवियत संघ—१६६२ के अक्टूबर-नवम्बर में जब चीन द्वारा भारत पर बहुत बड़े पैमाने पर आक्रमण हुआ तो सोवियत संघ के लिए एक बड़ी कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। इस युद्ध में एक तरफ तो सोवियत संघ का "भाई चीन" था और दूसरी ओर "दोस्त भारत" था। इस हालत में वह किसका पक्ष ले यह बहुत ही कठिन समस्या थी। लेकिन सोवियत संघ ने अपनी कूटनीति की बदौलत बड़ी ही खूबी के साथ अपनी स्थिति

का निर्वाह किया। एक तरफ तो उसने अपने "भाई चीन" पर दवाव डालकर उसको वाध्य किया कि वह अपने आक्रमणकारी प्रवृत्ति पर अंकुश लगाये और दूसरी ओर अपने वादे के अनुसार उसने भारत को सहायता भी दिया जिसमें सैनिक सहायता भी सम्मिलित थी। जब संकट अपनी चरम सीमा पर था तब रूस ने भारत को मीग विमान दिये। कम-से-कम कुछ लोग तो ऐसे अवश्य हैं जो यह मानते हैं कि भारत पर चीनी आक्रमण सोवियत दवाव के कारण ही बन्द हुआ। भारत के प्रति रूस का ऐसा रुख इस वात को प्रमाणित करता है कि दोनों देशों की मित्रता एक सुदृढ़ नींव पर खड़ी है।

रूस की सहायता—जुलाई १९६३ में भारत सरकार के एक सचिव श्री बूथलिंगम के नेतृत्व में सोवियत संघ से सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए एक मिशन मास्को गया और सोवियत सरकार ने भारत को सैनिक साजोसामान देने का आश्वासन दिया। सोवियत संघ के साथ हमारे सम्बन्ध को एक ठोस आधार प्राप्त है। १९६३ में भारत को रूस से प्रचुर मात्रा में सामरिक और आर्थिक सहायता मिली। रूस ने भारत को मीग वायुयान दिये और वह मीग वायुयानों के निर्माण के लिए भारत में एक कारखाना स्थापित करने में सहयोग प्रदान कर रहा है। इसके लिए पच्चीस करोड़ रुपये की पूँजी से एक कम्पनी कायम की गयी। कम्पनी-निर्माण के लिए उड़ीसा में एक स्थान चुना गया। रूस ने अन्य प्रकार से सहायता करने का भी वचन दिया। ४ नवम्बर, १९६३ को रूस और भारत के बीच एक इकरार पर नयी दिल्ली में हस्ताक्षर हुआ जिसके अनुसार भारत में तेल और गैस का पता लगाने तथा उन्हें विकसित करने के लिए रूस से टेकनीशियन भेजे जायँगे। रूस ने वोकारो के इस्पात कारखाना को बनवाने का भी वादा किया। रूस ने एक शक्तिशाली रेडियो स्टेशन बनवाने में सहायता करने का भी आश्वासन दिया। इस प्रकार भारत को सोवियत संघ से प्रचुर मात्रा में सहायता मिल रही है।

सोवियत संघ भारत के प्रति प्रगाढ़ सहानुभूति रखता है इसका प्रमाण हमें प्रधान मंत्री नेहरू की मृत्यु के वाद मिला। नये प्रधान मंत्री को एक पत्र लिखकर सोवियत प्रधान मंत्री श्री ख्रुश्चेव ने भारत को यह आश्वासन दिया कि सोवियत संघ हमेशा की तरह भारत,को यथासम्भव सहायता देता रहेगा। उस समय सोवियत जनता और नेताओं का जो सहानुभूति-पूर्ण आचरण हुआ वह अद्वितीय था। उसने यह सिद्ध कर दिया कि सोवियत संघ भारत का परम मित्र है।

सोवियत संघ का नया नेतृत्व और भारत—१६ अक्टूबर, १९६४ को श्री ख्रुश्चेव के पतन के उपरान्त सोवियत संघ में जिस नवीन नेतृत्व का उदय हुआ उसके कारण भारत में यह आशंका व्यक्त की जाने लगी कि अब भारत के प्रति सोवियत दृष्टिकोण में परिवर्तन होगा। ख्रुश्चेव भारत के परम मित्र थे और उनके पतन से भारत में अपार दुःख उत्पन्न हुआ। ऐसा समझा गया कि कोसिजिन और ब्रेजनोव चीन के साथ समझौता कर लेंगे और स्टालिनवादी नीति का अनुसरण करते हुए भारत-चीन विवाद में भारत के पक्ष का समर्थन करना छोड़ देंगे। लेकिन यह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। सोवियत नेताओं ने घोषित किया कि वे विदेश नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं करेंगे। सोवियत राजदूत ने भारत सरकार को आश्वासन दिया कि भारत के प्रति उनके देश की नीति में कोई परिवर्तन नहीं होगा। वाद की ५८न· ने

सिद्ध कर दिया कि सोवियत संघ और भारत की मैत्री में लेशमात्र की कमी नहीं आयी है। सोवियत संघ के नये नेतृत्व के अन्दर भी भारत को अपार सहानुभूति, समर्थन और सहायता मिली है और दोनों का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर है।

भारत-पाकिस्तान युद्ध और सोवियत नीति

कश्मीर समस्या पर सोवियत दृष्टिकोण—संसार की महाशक्तियों में सोवियत संघ ही एक ऐसा देश है जिसने कश्मीर में भारतीय स्थिति को उचित ढंग से समझा है। कश्मीर के प्रश्न पर उसने हमेशा से भारतीय पक्ष का समर्थन किया है। खुश्चेव ने शुरू में ही यह घोषित किया था कि सोवियत संघ कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग मानता है। कश्मीर की समस्या की जटिलता का कारण सोवियत दृष्टिकोण में साम्राज्यवादी देशों की नीति है जो एशिया के दो पड़ोसी देशों को आपस में लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करने का उद्देश्य रखते हैं। इस विचार को सोवियत नेता कई बार व्यक्त कर चुके हैं और कश्मीर के सम्बन्ध में सोवियत नीति इसी तथ्य से प्रभावित है। सोवियत संघ का विचार है कि भारत और पाकिस्तान एक अच्छे पड़ोसी की तरह प्रत्यक्ष रूप से वार्ता करके इस प्रश्न को तय कर लें। कश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् की जितनी बैठकें हुई और उनमें जो भी प्रस्ताव स्वीकृत हुए उनके सम्बन्ध में सोवियत संघ ने इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर अपने दृष्टिकोण का निर्धारण किया। खुश्चेव के पतन के बाद जब भारत में सोवियत विदेश-नीति में परिवर्तन की आशंका व्यक्त की जाने लगी तो सोवियत संघ के नये नेतृत्व ने तुरत ही यह स्पष्ट कर दिया कि कश्मीर के प्रश्न के सम्बन्ध में उसकी नीति वही रहेगी जो अभी तक थी। सोवियत संघ के इस दृष्टिकोण में परिवर्तन कराने के उद्देश्य से पाकिस्तान की कूटनीति सक्रिय हो गयी। अप्रिल १९६५ में राष्ट्रपति अयूब खाँ इसी उद्देश्य से सोवियत संघ गये और सोवियत नेताओं से अनुरोध किया कि वे पाकिस्तान के सम्बन्ध में पुरानी बातों को भूल जायँ तथा पाकिस्तान के प्रति अपनी नीति का पुनर्निर्धारण करें। सोवियत नेताओं ने पाकिस्तानी राष्ट्रपति का हार्दिक स्वागत किया, लेकिन नीति के पुनर्निर्धारण के सम्बन्ध में किसी तरह का संकेत नहीं दिया। बाद में पाकिस्तान के विदेश मंत्री भुट्टो ने भी कई बार सोवियत संघ की यात्रा की। लेकिन इन यात्राओं और प्रयासों के फलस्वरूप भी सोवियत संघ की कश्मीर-नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा-परिषद् में सोवियत 'वीटो' को कुंठित करने के पाकिस्तान के सारे प्रयास विफल हो गये।

भारत-पाक युद्ध और सोवियत संघ—५ अगस्त को कश्मीर में पाकिस्तानी मुजाहिदों के प्रवेश से स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक हो गयी और भारत ने इस नवीन पाकिस्तानी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए दृढ़ नीति का अवलम्बन किया। भारतीय सैनिकों ने मुजाहिदों का सफाया करना शुरू किया और सीमा के उस पार कुछ अड्डों को, जो पाकिस्तान के अधिकार में थे, दखल कर लिया। भारत का कहना था कि इन्हीं स्थलों से गुजरकर पाकिस्तानी घुसपैठी भारतीय क्षेत्र में घुसते हैं और कश्मीर की सुरक्षा के लिए उन पर भारतीय अधिकार का होना आवश्यक है। भारत के इस निर्णय ने स्थिति को और अधिक खराब कर दिया और पाकिस्तान के साथ प्रत्यक्ष युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा। स्थिति को खराब होते देख.

सोवियत प्रधान मंत्री कोसिजिन ने २० अगस्त, १९६५ के अन्त में कश्मीर की स्थिति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए पाकिस्तान और भारत को पत्र-लिखा। उन्होने दोनो पक्षों को संयम से काम लेने को तथा प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा झगड़े का शान्तिपूर्ण निबटारा करने का सुझाव दिया। भारतीय उपमहाद्वीप में इस तरह से स्थिति को बिगड़ते देख सोवियत संघ के लिए चिन्तित होना बिल्कुल स्वाभाविक था। भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड़ जाने की पूरी सम्भावना थी और पश्चिमी गुट में पाकिस्तान के सम्बन्ध होने से इस संकट से अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न होने की सम्भावना थी। सोवियत संघ के अत्यन्त निकट पड़ोस में इस तरह की घटना घटे उसकी ओर से वह अपना मुख नहीं मोड़ सकता था।

१ सितम्बर को पाकिस्तानी सेना द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा का उल्लंघन करके भारतीय क्षेत्र में प्रवेश ने स्थिति को अनियन्त्रित कर दिया। इसके प्रतिरोध में भारत को भी प्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध में आना पड़ा और भारतीय सेना ने कई मोर्चों पर पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध जारी कर दिया। कई क्षेत्रों में भारतीय सेना पाकिस्तान के भू भाग में घुस गयी। भारत की इस कार्यवाही को जहाँ पश्चिमी राज्यों ने "आक्रमण" कहकर सम्बोधित किया, वहाँ सोवियत संघ ने भारतीय स्थिति को समझने का प्रयास किया और आत्मरक्षा के लिए किये गये इस भारतीय कार्यवाही को उचित बतलाया। पाकिस्तानी हमले के खिलाफ भारतीय प्रदेश की अखंडता और प्रभुसत्ता बनाये रखने के लिए भारत को जो कदम उठाने पड़े उसका सोवियत संघ में समर्थन किया गया।

यद्यपि भारत-पाक युद्ध में सोवियत संघ ने भारत का समर्थन किया लेकिन वह नहीं चाहता था कि उसके दो पड़ोसी एशियाई देश साम्राज्यवादियों के जाल में फँसकर इस तरह लड़ते रहें और अपने-आप को बर्बाद कर लें। वह चाहता था कि दोनों देश अविलम्ब युद्ध बन्द दें। इस समय सोवियत नीति का प्रमुख उद्देश्य, विवाद के कारणों में न पड़कर, शान्ति की स्थापना थी। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रधान मन्त्री कोसिजिन ने ४ सितम्बर, १९६५ को भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति को पत्र लिखकर उन्हें "साम्राज्यवादी चालों को समझने की कोशिश करने को तथा अविलम्ब युद्ध बन्द करके प्रश्न को प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा चार्टर और बांडुंग भावना के अनुरूप शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाने" का सुझाव दिया। "यह दुर्भाग्य की बात है", प्रधान मंत्री कोसिजिन ने लिखा, "कि भारत और पाकिस्तान के बीच तनाव में कोई कमी नहीं आयी है और दोनों देश युद्ध विराम रेखा पार करके एक दूसरे के साथ युद्ध कर रहे है ·· ···कश्मीर में सैनिक संघर्ष से सोवियत संघ बहुत चिन्तित है ······अब समय नहीं है कि इस संघर्ष के उद्गम का पता लगाया जाय। कितने मनुष्यों की जानें व्यर्थ जा रही है। युद्ध को तत्काल बन्द करना परम आवश्यक है"। प्रधान मंत्री ने दोनों देशों को यह आश्वासन दिया कि वे समस्या के समाधान के लिए सोवियत संघ के सहयोग पर निर्भर कर सकते हैं। यदि दोनों पक्ष चाहें तो "समस्या के समाधान के लिए सोवियत संघ अपनी सेवा (good offices) अर्पित करने को तैयार है।"

रूस के इस प्रस्ताव को मध्यस्थता का प्रस्ताव नहीं कहा जा सकता था, किन्तु इसमें रूसी सहयोग से भारत पाकिस्तान के विवादों को हल करने का सुझाव अवश्य था। कई क्षेत्रों में यह रूस का भारत विरोधी दृष्टिकोण माना गया। ऐसे आलोचकों का कहना था कि यदि

सोवियत संघ भारत के पक्ष का समर्थन करता और उसकी सैनिक कार्यवाही को उचित मानता था तो उसको सिर्फ पाकिस्तान को कड़ी चेतावनी देनी चाहिए थी। भारत और पाकिस्तान दोनों को एक तरह का पत्र लिखना क्या दोनों देशों को एक स्तर पर रखना नहीं था। लेकिन इनका ऐसा मतलब लगाना सोवियत कूटनीति को नहीं समझना ही माना जायगा। वाद-विवादों और सुरक्षा परिषद् के मंच पर सोवियत संघ ने भारत का खुला समर्थन किया था। लेकिन यह समय वाद-विवाद का नहीं युद्ध का था। यदि सोवियत संघ इस समय खुलकर भारत का समर्थन करता तो अमेरिका के लिए पाकिस्तान का खुला समर्थन आवश्यक हो जाता, चीन को भी इससे उत्साह प्राप्त हो जाता और भारत की स्थिति बड़ी नाजुक हो जा सकती थी। इस दृष्टिकोण से सोवियत संघ के पत्रों को भारत-विरोधी कहना एकदम अनुचित है।

सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ ने भारत के पक्ष का प्रबल समर्थन किया। ४ सितम्बर को सुरक्षा परिषद् ने युद्ध-विराम का जो प्रस्ताव पास किया उसको सोवियत संघ का पूरा समर्थन प्राप्त था। इस प्रस्ताव से युद्ध बन्द नहीं हुआ और इसी बीच तीन तरफ से भारत ने पाकिस्तान पर हमला कर दिया। इस घटना से आंग्ल-अमरीकी साजिश सक्रिय हो उठी। इस क्षेत्र में इसको "भारत द्वारा पाकिस्तान पर आक्रमण" माना गया। पर्दे के भीतर से आंग्ल-अमरीकी गुट इस बात का प्रयास करने लगा कि भारत को आक्रमणकारी घोषित किया जाय या नहीं तो कम-से-कम कश्मीर में संयुक्त राज्य राष्ट्रसंघ की सेना भेजी जाय। कश्मीर में संघ की सेना भेजने की साजिश बहुत पुरानी थी और ब्रिटेन और अमेरिका युद्ध की स्थिति से लाभ उठाना चाहते थे। लेकिन सोवियत संघ ने खुले शब्दों में स्पष्ट कर दिया कि इस तरह के किसी प्रयास के विरोध में सोवियत संघ सुरक्षा परिषद् में अपने वीटो के अधिकार का प्रयोग करेगा। सोवियत विरोध के कारण आंग्ल-अमरीकी गुट को अपने भारत-विरोधी साजिश का परित्याग करना पड़ा। ६ सितम्बर को सुरक्षा परिषद ने युद्ध बन्द करने के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव स्वीकार किया वह भारतीय पक्ष का बहुत हद तक समर्थन करता था। भारत चाहता था कि प्रस्ताव यह स्वीकार करे कि वर्तमान संघर्ष का उद्गम पाकिस्तानी मुजाहिदों के कश्मीर-प्रवेश से है। भारत की इस मांग का सोवियत संघ ने समर्थन किया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि "भारत और पाकिस्तान सम्पूर्ण क्षेत्र में तत्काल युद्ध बन्द करें और सभी सैनिकों को उस स्थान पर बुला लें जहाँ वे ५ अगस्त, १९६५ को थे।" ५ अगस्त की तिथि महत्त्वपूर्ण है। उसी दिन पाकिस्तानी घुसपैठियों का प्रवेश भारतीय प्रदेश में हुआ था। इस तरह प्रस्ताव ने परोक्ष रूप से पाकिस्तान की निन्दा की। प्रस्ताव में ५ अगस्त की तिथि सोवियत संघ के कहने पर रखा गया। सोवियत प्रतिनिधि ने स्पष्ट कर दिया कि यदि इस तिथि का उल्लेख नहीं होता है तो वह प्रस्ताव का समर्थन नहीं करेगा। इस प्रकार परिषद् की ६ अक्टूबर वाली बैठक में भारत को सोवियत संघ का अपूर्व समर्थन प्राप्त हुआ।

इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए जब संघ के महासचिव यू थान्त भारत और पाकिस्तान के लिए रवाना हुए तो सोवियत संघ ने महासचिव के शांति मिशन का जोरदार शब्दों में समर्थन किया। इसी समय ईरान और टर्की की सरकार तथा इंडोनीशिया ने पाकिस्तान का समर्थन किया और पाकिस्तान को सैनिक सहायता भेजने का आश्वासन दिया। १६ सितम्बर

को चीन एक कदम और आगे वढ़ गया और भारत को अल्टिमेटम दे दिया। सोवियत सरकार ने इन विदेशी शक्तियों को चेतावनी दी कि वे भारत और पाकिस्तान के मामले में हस्तक्षेप करके स्थिति को और विगाड़ने का प्रयास नहीं करें। सोवियत संघ के इस कड़ा रुख ने इन देशों को वाध्य किया कि वे भारत के विरुद्ध पाकिस्तान की सहायता नहीं करें।

यू थान्त के शांति मिशन की विफलता के वाद सोवियत संघ वहुत चिन्तित हो उठा। १८ सितम्वर को प्रधान मन्त्री कोसिजिन का एक दूसरा पत्र भारत और पाकिस्तान की सरकारों को मिला। पत्र में कहा गया था कि "दोनों देश कुछ और अधिक बुद्धिमानी से काम लें" और युद्ध वन्द करें। युद्ध से उत्पन्न समस्या को वार्ता द्वारा तय करने के लिए इस वार सोवियत प्रधान मन्त्री ने यह स्पष्ट सुझाव रखा कि उनकी सरकार दोनों पक्षों को अपनी सेवा (good offices) अर्पित करने के लिए तैयार है। "सोवियत संघ प्रधान मन्त्री लाल वहादुर शास्त्री तथा राष्ट्रपति अयूव खाँ के वीच समस्या के लिए प्रत्यक्ष वार्ता कराने की व्यवस्था कराने को तैयार है और इस तरह की वार्ता यदि दोनो पक्ष चाहें, तो सोवियत ताशकन्द में हो सकती है।" ताशकन्द सम्मेलन के विचार की उत्पत्ति यही से होती है। भारत ने इस प्रस्ताव को तत्काल स्वीकार कर लिया और कुछ आनाकानी करने के उपरान्त पाकिस्तान ने भी इसे मान लिया। वाद में सुरक्षा परिषद् ने २० सितम्वर को प्रस्ताव पास करके भारत और पाकिस्तान को युद्ध वन्द करने का आदेश दिया। २३ अक्टूवर को युद्ध वन्द हो गया। सोवियत-संघ ने इसका वड़े हर्ष के साथ स्वागत किया।

ताशकन्द सम्मेलन—२३ नवम्वर को लाल वहादुर शास्त्री ने राज्य सभा में कहा कि सोवियत सरकार से उन्हें पुनः एक पत्र प्राप्त हुआ है जिसमें प्रधान मन्त्री कोसिजिन ने सुझाव रखा है कि ताशकन्द में भारत और पाकिस्तान के नेताओं का सम्मेलन अव शीघ्र होना चाहिए। २ दिसम्वर को भारत में सोवियत राजदूत ने प्रधान मन्त्री से मुलाकात करके सम्मेलन की योजना पर विचार-विमर्श किया। उन्होंने वतलाया कि जनवरी १९६६ के प्रथम सप्ताह में यह सम्मेलन प्रारम्भ हो और युद्ध विराम रेखा को दृढ़ करने, युद्ध-विराम के उल्लंघन को वन्द करने तथा भारत ओर पाकिस्तान के सम्वन्धों में सुधार करने की समस्या पर इस सम्मेलन में विचार हो। उन्होंने यह भी कहा कि स्वयं प्रधान मन्त्री कोसिजिन दोनो पक्षों को सलाह-मशविरा देने के लिए ताशकन्द में मौजूद रहेंगे। ८ दिसम्वर को यह घोषणा की गयी कि ताशकन्द में भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति के वीच ४ जनवरी से सम्मेलन प्रारम्भ होगा।

ताशकन्द सम्मेलन सोवियत कूटनीति की महान् सफलता थी, इसका उल्लेख हम कर चुके हैं। इसमें हुए समझौतों का वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ पर यह कह देना पर्याप्त होगा कि ताशकन्द सम्मेलन सोवियत संघ और भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय माना जायगा। यह उस मैत्री का चरम-विकास माना जायगा जिसकी नीव नेहरू और ख्रुश्चेव ने डाली थी। सोवियत प्रधान मन्त्री के मैत्रीपूर्ण आचरण ने सिद्ध कर दिया कि सोवियत संघ भारत का महान् मित्र और शुभचिन्तक है और दोनों देशों की मैत्री अटूट है।

ताशकन्द-सम्मेलन के बाद पाकिस्तान के प्रति सोवियत संघ के वदले हुए दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए कतिपय राजनीतिक क्षेत्रों में यह आशंका व्यक्त की जाने लगी है कि कश्मीर

के प्रश्न पर सोवियत रुख में पाकिस्तान के पक्ष में कुछ नरमी आयी है। पहले सोवियत सं कश्मीर के प्रश्न पर भारत का पूर्ण समर्थन करता था, लेकिन १९६५ में उसने दोनों देशों क समान स्तर पर रखा और युद्ध बन्द करके समझौता करने को कहा। इन क्षेत्रों का यह कहना कि पाकिस्तान की तरफ सोवियत नीति में मैत्रीपूर्ण रुख भारत के लिए हितकारी सिद्ध होगी और पाकिस्तान को भारत के प्रति मैत्रीपूर्ण व्यवहार के लिए बाध्य कर सकेगी, इसमें सन्देह है वे कहते हैं कि ताशकन्द समझौते के बाद से पाकिस्तान और सोवियत संघ का सहयोग जिस ढंग से बढ़ा है, वह भारत के लिए चिन्ताजनक है। सोवियत कूटनीति की यह "नयी दिशा" भारत के हितों पर विपरीत प्रभाव डाल सकती है। लेकिन इस तरह की आशंकाएँ निर्मूल हैं अभी तक ऐसी कोई बात नहीं हुई है जिसका अर्थ यह लगाया जाय कि सोवियत संघ भारत का विरोधी होता जा रहा है। यदि सोवियत संघ पाकिस्तान के प्रति अपना दृष्टिकोण नहीं बदले रहता तो ताशकन्द में वह दोनों राज्यों के बीच समझौता के लिए सहमत नहीं करा पाता। यदि ताशकन्द समझौता और उसके बाद सोवियत संघ तथा पाकिस्तान में बढ़ते हुए सहयोग से यह बात दिखायी पड़ती है कि सोवियत नीति का उद्देश्य पाकिस्तान के प्रति मित्रता को बढ़ाना है तो भारत के लिए यह शुभ है, क्योंकि तब सोवियत संघ इस बात में समर्थ हो सकेगा कि वह पाकिस्तान के नेताओं के हृदय से भारत के प्रति वैमनस्य की बातों को मिला दे। अप्रिल, १९६८ में सोवियत प्रधान मंत्री कोसिजिन की पाकिस्तान यात्रा से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गयी। इस यात्रा के दौरान में राष्ट्रपति अयूब खाँ ने सोवियत संघ द्वारा भारत को शस्त्रास्त्रों की आपूर्ति का विरोध किया था। लेकिन कोसिजिन ने उन्हें यह आश्वासन दिया कि सोवियत शस्त्रास्त्रों की आपूर्ति चीन के सम्भावित आक्रमण का मुकाबला करने के लिए किया जा रहा है, पाकिस्तान के खिलाफ नहीं। पाकिस्तान से मास्को वापस जाते समय श्री कोसिजिन दो घंटों के लिए दिल्ली भी ठहरे। वहाँ उन्होंने प्रधान मंत्री इन्दिरा गाँधी को यह आश्वासन दिया कि यदि भारत और चीन में कोई संघर्ष होता है, तो पाकिस्तान उससे लाभ उठाने का यत्न नहीं करेगा। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सोवियत संघ और पाकिस्तान की बढ़ती हुई मैत्री का भारत की स्थिति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। ऐसे हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि राजनीति में कोई देश स्थायी शत्रु या स्थायी मित्र नहीं होता।

पाकिस्तान को सोवियत सैनिक सहायता और भारत

जुलाई, १९६८ में सोवियत संघ ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का निर्णय किया। सोवियत संघ के इस निर्णय की एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि थी।

पाकिस्तान के दृष्टिकोण से ताशकन्द-सम्मेलन का एक लाभ यह हुआ कि वह रूस के बहुत अधिक नजदीक पहुँच गया जिसके लिए पाकिस्तान की कूटनीति वर्षों से सक्रिय थी। ताशकन्द सम्मेलन से पाकिस्तान को प्रोत्साहन मिला और उसने रूस से शस्त्रास्त्र प्राप्त करने के लिए १९६६ में अपना सैनिक मिशन जनरल नूर खाँ के नेतृत्व में मास्को भेजा। यह मिशन खाली हाथ पाकिस्तान लौट आया। यह ठीक है कि उस समय रूस ने पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र देने से इन्कार कर दिया। लेकिन वार्ता के दौरान रूसी नेताओं के रुख से स्पष्ट हो गया कि पाकिस्तान को सोवियत सैनिक [illegible] ल सकती है। दिसम्बर १९६७ में यह संकेत मिलने लगा कि निकट भविष्य में पा[illegible] संघ से शस्त्रास्त्र मिल सकते

है। भारतीय नेताओं ने शस्त्रास्त्र मिलने की सम्भावना मात्र को लेकर सोवियत संघ से विरोध करना उचित नहीं समझा। अप्रिल, १९६८ में प्रधान मंत्री कोसिजिन पाकिस्तान पहुँचे। उनके कराची पहुँचने के पहले ही राष्ट्रपति अय्यूब ने अमेरिका को पेशावर का अड्डा बन्द करने की नोटिश दे दी थी। यह इस बात का संकेत था कि पाकिस्तान किस कीमत पर रूसी शस्त्रास्त्र प्राप्त करने के लिए दृढ़ संकल्प है। कोसिजिन की पाकिस्तान यात्रा समाप्त होने के कुछ ही दिनों बाद यह स्पष्ट हो गया कि पाकिस्तान को शीघ्र ही रूस से शस्त्रास्त्र मिलने लगेंगे।

१० जुलाई, १९६८ को जब यह घोषणा हुई कि सोवियत संघ ने पाकिस्तान को सैनिक साजोसामान देने का निश्चय कर लिया है तो पूरे भारत के राजनीतिक क्षेत्र में एक तहलका मच गया। लोगों ने कहा कि सोवियत संघ का यह फैसला भारत की विदेश नीति के मुँह पर करारा तमाचा है। सोवियत संघ के इस निर्णय को भारत-रूस सम्बन्धों के इतिहास की सबसे बड़ी घटना मानी गयी। प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने सोवियत संघ के इस फैसले की आलोचना की। श्रीमती गांधी ने चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा कि पाकिस्तान इन हथियारों का इस्तेमाल भारत के खिलाफ करेगा। पहले भी ऐसा हुआ है कि जब पाकिस्तान को अमेरिका से फौजी सहायता मिली तब उसने उस सहायता का उपयोग भारत के विरुद्ध किया। १९६५ में पाकिस्तान ने भारत पर अमरीकी हथियारों के बल पर ही आक्रमण किया था। भारत ने कच्छ-युद्ध के दौरान में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि अगर पाकिस्तान को अमरीकी सहायता नहीं मिली रहती तो वह हमले की हिम्मत नहीं करता।

भारत के अन्य क्षेत्रों में भी इसी तरह की शंका व्यक्त की गयी। कहा गया कि यह सोचने की बात है कि पाकिस्तान को रूस से जो हथियार प्राप्त होंगे, उनका उपयोग वह किसके विरुद्ध करेगा। क्या चीन के विरुद्ध? क्या सोवियत नेता इतने भोले हैं कि वे यह नहीं जानते कि पाकिस्तान की एकमात्र लड़ाई भारत से है और यदि कभी भी ये हथियार काम में आये तो भारत के विरुद्ध ही काम में आयेंगे। तब फिर सोवियत संघ ने पाकिस्तान को फौजी मदद देने का निर्णय क्यों किया? पाकिस्तान उन सैन्य संधियों का सदस्य है जिनका सोवियत संघ विरोध करता रहा है। आलोचकों का यह भी कहना था कि सोवियत संघ वही राजनीति अपना रहा है जिसके लिए अबतक ब्रिटेन और अमेरिका की आलोचना की जाती रही है। एक ओर भारत को मदद और दूसरी ओर पाकिस्तान को। दोनों को फौजी सहायता देना दोनों ही देशों में युद्ध को बढ़ावा देना है। क्या यह मान लिया जाय कि सोवियत संघ दोनों देशों के तनाव को बढ़ावा दे रहा है जब कि वह स्वयं ताशकन्द घोषणा का रचयिता रहा है? राजनैतिक अध्येता के रूप में इसके अलावे किसी और निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता है कि सोवियत संघ दोनों देशों को हथियार बन्द कर उनकी शत्रुता को और मजबूत कर रहा है। यह सम्भव है कि सोवियत संघ की यह नीति न हो। लेकिन हथियारबन्दी का नतीजा यही होता है।

सोवियत संघ के इस निर्णय के विरुद्ध भारत के कुछ क्षेत्रों में यह मांग की गयी कि सोवियत संघ के प्रति भारतीय नीति में परिवर्तन होना चाहिए। उनका कहना था कि भारत को अब अपनी विदेश नीति को एक नया अर्थ देना होगा। अबतक यह विदेश नीति अमेरिका और रूस की धूप-छांह में खेलती रही है। अब उसे निकलकर एक स्वतन्त्र अर्थ देने से ही भारत

अधिक सुरक्षित हो सकेगा। लेकिन प्रधान मंत्री ने लोक सभा में बोलते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि "सोवियत संघ ने पाकिस्तान को फौजी मदद देने का जो निर्णय किया उससे हमारी विदेश-नीति को कोई फर्क नहीं आयगा।" उन्होने यह भी कहा कि "हर देश को दूसरे की सहायता देने का अधिकार है और हम उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते।" इसके साथ ही प्रधान मंत्री कोसिजिन ने यह आश्वासन दिया कि सोवियत संघ पाकिस्तान को हथियार अवश्य दे रहा है, किन्तु वह कोई ऐसा काम नहीं करेगा जिससे भारत से उसके सम्बन्धो में बिगाड़ पैदा हो।

वस्तुतः भारत-सोवियत संघ के सम्बन्धों में इस कारण गतिरोध उत्पन्न करने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। सोवियत संघ भारत से अपना सम्बन्ध बिगाड़ना नही चाहता लेकिन ताशकन्द-सम्मेलन के उपरान्त वह पाकिस्तान से सम्बन्ध सुधारने के लिए सतत प्रयत्नशील रहा है। पाकिस्तान और भारत के सम्बन्ध में उसकी अपनी राजनीति और अपने हित हैं। वह पाकिस्तान को चीन के चंगुल से मुक्त करना चाहता है। वह जानता है कि चीन एशिया में अकेला पड़ गया है। यदि पाकिस्तान को पूरी तरह अपनी ओर कर लिया जाय तो चीन एकदम अकेला पड़ जायगा। वह पाकिस्तान को रूस मुखापेक्षी बनाना चाहता है; भारत और पाकिस्तान को आपस में लड़वाना नहीं। सोवियत संघ द्वारा पाकिस्तान को सैनिक मदद को भारत सोवियत-संघ की मित्रता को खत्म करने का कारण बना लेने को कोई बुद्धिमानी नही कहा जा सकता। इस तथ्य को अब कट्टर सोवियत विरोधी भारतीय भी स्वीकार करने लगे हैं।[1]

पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने से भारत के प्रति सोवियत दृष्टिकोण में कोई परिवर्त्तन नही आया और भारत के प्रति उसकी मित्रता की भावना पहले की तरह ही सुदृढ़ है इस बात का एक प्रमाण तब मिला जब भारत के राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसेन की मृत्यु (३ मई, १९६९) के समय सोवियत प्रधान मंत्री कोसिजिन स्वयं भारत आये। स्वयं प्रधान मंत्री के आने का अर्थ यह था कि सोवियत संघ भारत की भावनाओ का बहुत कद्र करता है। साथ ही कोसिजिन का उद्देश्य उन भ्रान्तियों को दूर करना था जो पाकिस्तान को रूसी सैनिक सहायता देने के निर्णय से पैदा हुआ था। अपने अल्पकालीन दिल्ली प्रवास के समय प्रधान मंत्री कोसिजिन ने बताया कि भारत और सोवियत संघ के सम्बन्ध बहुत अच्छे हैं। साथ ही उन्होंने

१. उदाहरणार्थ हिन्दुस्तान टाइम्स की यह टिप्पणी देखिये—

"That India should be concerned over arms deliveries to Pakistan is understandable in the light of the past experience. But to make this the touchstone of Indo-Soviet relations, as appears to be the tendency in certain political quarters, would be to reduce all diplomacy to simple bilateral equations which would be thoroughly unrealistic. Any exaggerated dismay over Soviet attitudes would be as unwarranted as the earlier exuberance over Moscow's stance. The Soviet Union's relations with Pakistan are governed by its global interests and are dictated by its obvious desire to wean away Pakistan from China and the West. This need not mean any real diminuation in Soviet interest in India and hasty conclusions might only inhibit the country's diplomacy for no tangible return."

—*Hindustan Times*, May 8, 1969.

कहा कि इन सम्बन्धों पर किसी भी प्रकार की छाया पड़े, ऐसी कोई भी बात नहीं होगी। भारत के राष्ट्रीय हित पर किसी का भी आक्रमण हो, यह हम नही चाहेंगे। हम दोनों की मैत्री सम्बन्ध शान्ति कार्य को लेकर दृढ़ है और आगे भी अधिक दृढ़ रहेगा। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि युद्ध कार्य को लेकरी मैत्री नहीं हुई है।

सम्भव है कि कोसिजिन की इस भारत-यात्रा से दोनो देशो के सम्बन्धो में जो तनाव के लक्षण नजर आने लगे थे वे दूर हो जायँ।

सोवियत संघ और चीन का सीमा-विवाद और भारत का दृष्टिकोण

उसूरी नदी के टापू दमिस्की पर सोवियत सघ और चीन के सैनिको के वीच मार्च, १९६९ के दौरान में कई बार झड़पें हुईं और दोनों देशों ने एक दूसरे को इसके लिए जिम्मेवार ठहराया। रूस के साथ चीन का वर्त्तमान सीमा-विवाद भारत के साथ सीमा-विवाद जैसा ही है। अतएव भारत ने तुरत ही इस विवाद में रूस का पक्ष लिया और उसका समर्थन किया। सोवियत सघ और चीन के इस विवाद में भारतीय दृष्टिकोण का समर्थन और विरोध दोनो ही हुआ है। कुछ लोगो का कहना था कि चीन के साथ भारत के अपने विवाद के सन्दर्भ में सोवियत संघ का पूरा समर्थन अत्यन्त आवश्यक था। इसके विपरीत कुछ अन्य प्रेक्षकों का कहना है कि पाकिस्तान के प्रति सोवियत विदेश नीति में जिस तरह का परिवर्तन हो रहा है उसको ध्यान में रखते हुए भारत को इस विवाद पर अभी मौन रहना चाहिए था और इतनी जल्दी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नही करनी चाहिए थी।

भारत और पाकिस्तान

देशी राज्य—अगस्त १९४७ में पाकिस्तान का जन्म काफी कटुता उत्पन्न करने के वाद भारत का विभाजन करके हुआ था। शुरू से ही पाकिस्तान भारत को अपना शत्रु नम्बर एक समझता रहा है। ऐसी हालत में दोनो का सम्बन्ध खराब रहे, यह विल्कुल स्वाभाविक था। शुरू में ही जुनागढ़, हैदरावाद और कश्मीर के देशी राज्यों को लेकर दोनों देशों के वीच झगड़ा शुरू हुआ। जुनागढ़ और हैदराबाद की समस्याओ का समाधान हो गया, लेकिन कश्मीर की समस्या ने पाकिस्तानी आक्रमण के कारण भयंकर रूप धारण कर लिया। यह मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में गया लेकिन अभी तक इसका कोई फैसला नही हो सका है।

आर्थिक तनाव—विभाजन के उपरान्त पाकिस्तान और भारत के बीच कई आर्थिक समस्याएँ थी। दोनो देशो के वीच आमदनी तथा कर्ज का वँटवारा एवं लागत धन के सम्बन्ध में सन्तोषजनक विभाजन करना था। मुद्रा के सम्बन्ध में निर्णय लेना था। व्यापारिक सम्बन्ध में भी तनातनी शुरू हुई क्योंकि पाकिस्तान ने तुरत ही जूट के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया। मुद्रा का अवमूल्यन लेकर भो दोनों में तनाव उत्पन्न हुआ। कुछ दिनों के वाद आर्थिक सम्बन्ध को सुधारने का यत्न किया गया और इसमें कुछ सफलता भी मिली, लेकिन अभी भी आर्थिक क्षेत्र में इन दोनों पड़ोसी देशों के वीच तनाव आ जाता है।

आर्थिक समस्याओं में सबसे कठिन विस्थापितों की सम्पत्ति की समस्या थी। विभाजन के वाद पाकिस्तान के बहुत से हिन्दू भारत और भारत के बहुत से मुसलमान अपनी सम्पत्ति

1. The *Hindustan Times*, April 25, 1968.

छोड़कर पाकिस्तान चले गये। अब प्रश्न था इन सम्पत्तियों के हस्तान्तरण का जो अत्यन्त ही कठिन था। पाकिस्तान में गैर मुसलमानों की सम्पत्ति तीन हजार करोड़ से ऊपर छुटी थी और भारत में मुसलमानों की सम्पत्ति केवल तीन सौ करोड़ की ही थी। इस कठिन समस्या को सुलझाने के लिए भारत और पाकिस्तान में बहुत वार्ताएँ हुईं। १९५० में नेहरू-लियाकत अली समझौता हुआ और तब जाकर इस समयस्या का आंशिक समाधान हुआ। इसी समझौते के द्वारा देशों के बीच अल्पसंख्यकों की समस्या सुलझाने का भी यत्न किया गया।

"युद्ध नहीं करो की घोषणा"—भारत के विरुद्ध पाकिस्तान की सबसे बड़ी शिकायत यह है कि उसने पाकिस्तान की स्थापना को पूर्णतया स्वीकार नही किया है और जब भी मौका मिलेगा भारत आक्रमण करके उसका नामोनिशान मिटा देगा। लेकिन यह धारणा बिल्कुल निराधार है। भारत के प्रधान मन्त्री ने इसीलिए कई बार यह सुझाव रखा कि दोनों देश एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध नही-करने की घोषणा कर दें। लेकिन पाकिस्तान इसके लिए तैयार नही होता है। उल्टे उसने स्वयं १९५४ में अमेरिका से एक सन्धि करके बहुत बड़े पैमाने पर अस्त्र-शस्त्र लेना शुरू किया और इसके कुछ दिनो बाद सीटो तथा बगदाद पैक्ट जैसे आक्रामक संगठनों में सम्मिलित हो गया। इन घटनाओ को लेकर भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धो में बड़ी कटुता आयी है।

नदियों के पानी का झगड़ा—लेकिन इन सभी समस्याओं से गम्भीर समस्या भारत और पाकिस्तान के बीच नदियो के पानी का झगड़ा था। सिन्धु नदी और उसकी सहायक अन्य सभी नदियाँ भारतीय क्षेत्र से निकलती हैं। विभाजन के बाद पाकिस्तान को यह भय हुआ कि यदि भारत से पाकिस्तान का सम्बन्ध कटुतापूर्ण रहा तो भारत इन नदियों के बहाव को रोकर अपने भूभाग में मोड़ ले सकता है जिससे सिचाई के पानी के अभाव में पाकिस्तान को बहुत नुकसान पहँुच सकता है। भारत को भी अपने आर्थिक विकास के लिए भाखड़ा बांध बँधवाना आवश्यक था। ऐसी हालत में दोनो देशो के बीच नदियों के पानी के प्रश्न को लेकर मतभेद का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी था।[1]

विभाजन के बाद जल के प्रश्न को लेकर कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं और दोनों देशों के बीच खूब तनाव बढ़ा। १९४९ में एक अमरीकी विशेषज्ञ डेविड लिलियेन्थल ने इस समस्या को राजनीतिक स्तर से हटाकर टेकनिकल एवं व्यापारिक स्तर पर सुलझाने की सलाह दी और इसके लिए विश्व बैंक (World Bank) से मदद लेने की सिफारिश की। सितम्बर, १९५१ में इस बैंक के अध्यक्ष यूजीन ब्लेक ने मध्यस्थता करना स्वीकार कर लिया। यूजीन ब्लेक और उनके बाद मि० इल्कि के सहयोग से वर्षों तक बात चलने के उपरान्त १९ सितम्बर, १९६० को भारत और पाकिस्तान के बीच जल के प्रश्न पर एक समझौता हो गया। इसको १९६० का सिन्धु जल सन्धि (Indus Water Treaty) कहते हैं जिस पर प्रधान मन्त्री नेहरू और राष्ट्रपति अयूब खॉ ने स्वयं रावलपिण्डी में हस्ताक्षर किये। १२ जनवरी, १९६१ को इस सन्धि की शर्तें लागू कर दी गयीं और इस प्रकार दोनों देशों के बीच का एक बहुत बड़ा झगड़ा शांत हुआ।

1. J. S. Bains, *India's International Disputes*, p. 31.

चीनी आक्रमण तथा भारत-पाक सम्बन्ध—१९६२ में जब भारत पर चीन का आक्रमण शुरू हुआ तो भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध में फिर उथल-पुथल हुआ। पाकिस्तानी अखबार और राजनीतिज्ञों ने भारत को दोषी बतलाया। कराची भारत की सहायता का नाजायज फायदा उठाना चाहता था। इसलिए पेकिंग के साथ नये सिरे से उसने मित्रता शुरू की। नवम्बर में जब बहुत बड़े पैमाने पर चीन का हमला शुरू हुआ तो भारत ने अमेरिका और ब्रिटेन से सैनिक सहायता की याचना की। तुरत ही इन देशों से युद्धोपयोगी सामान भारत पहुँचने लगे। पाकिस्तान ने इसका कड़ा विरोध किया। उसने कहा कि चीन की ओर से भारत पर ऐसा कोई हमला नहीं हुआ है कि इतने बड़े पैमाने पर उसे सैनिक सहायता दी जाय। पर पाकिस्तान के विरोध का कोई असर नहीं पड़ा और भारत को सैनिक सहायता मिलती रही।

स्वर्ण सिंह-भुट्टो वार्ता—भारत की सैनिक आवश्यकताओं से परिचित होने के लिए अमरीकी मन्त्री एवरेल हैरीमन और ब्रिटिश मन्त्री डन्कड सैंड नवम्बर, १९६२ में भारत आये। इस अवसर से लाभ उठाकर उन्होंने पाकिस्तान और भारत में मेल-मिलाप कराने का यत्न किया। इसके फलस्वरूप प्रधान मन्त्री नेहरू और राष्ट्रपति अयूब खाँ का २९ नवम्बर, १९६२ को एक संयुक्त वक्तव्य निकला। इसमें कहा गया था कि दोनों व्यक्ति उपयुक्त समय पर भारत-पाकिस्तान-मतभेद को सुलझाने के लिए वार्ताएँ करेंगे। साथ ही यह तय हुआ कि इस शीर्ष-सम्मेलन का मार्ग प्रशस्त करने के लिए मन्त्रियों के स्तर पर पहले कुछ वार्ताएँ हों। २९ दिसम्बर, १९६२ को मन्त्रियों के स्तर पर पहला सम्मेलन रावलपिंडी में हुआ। जनवरी और फरवरी, १९६३ में और सम्मेलन हुए और यह निश्चय हुआ कि मध्य मार्च में कलकत्ता में भारत और पाकिस्तान के मन्त्रियों की वार्ता हो।

लेकिन आयोजित कलकत्ता सम्मेलन के पूर्व ही पाकिस्तान ने चीन के साथ एक समझौता कर लिया। पेकिंग में दोनों देशों के बीच जो समझौता हुआ उसके फलस्वरूप पाकिस्तान द्वारा अधिकृत कश्मीर का एक बहुत बड़ा भाग पाकिस्तान ने चीन को दे दिया। भारत ने इस समझौते पर बड़ा कड़ा विरोध प्रकट किया। इसी पृष्ठाधार में १० मार्च, १९६३ को कलकत्ता में भारत-पाक वार्ताएँ पुनः प्रारम्भ हुईं, पर उससे कोई निष्कर्ष नहीं निकला। इसके बाद दोनों देशों के प्रतिनिधियों के दो और सम्मेलन हुए। अन्तिम सम्मेलन दिल्ली में मई, १९६३ में हुआ। पर वहाँ भी कोई समझौता नहीं हो सका और वार्ताओं का यह सिलसिला समाप्त कर दिया गया।

पाकिस्तान का जासूसी षड्यन्त्र—सितम्बर, १९६४ में भारत में पाकिस्तानी दूतावास द्वारा फैलाये गये एक जासूसी जाल का पता भारत सरकार को लगा। नयी दिल्ली में स्थित पाकिस्तान का दूतावास इस जासूसी षड्यन्त्र का केन्द्र था जिसका उद्देश्य भारत की गुप्त सामरिक भेदों का पता लगाना था। इसमें दूतावास के उच्च पदाधिकारी सम्मिलित थे। जब षड्यन्त्र का पता लग गया तो भारत सरकार ने जासूसी से सम्बद्ध अधिकारियों को भारत से हटाने का निश्चय किया। लेकिन इसी समय भारत स्थित पाकिस्तान के उच्चायुक्त के व्यक्तिगत अनुरोध पर भारत सरकार ने अपने निश्चय की घोषणा को पाँच दिनों के लिए स्थगित

दिया। इसी बीच पाकिस्तान सरकार ने कराची स्थित भारतीय दूतावास के कुछ प्रमुख अधिकारियों पर जासूसी करने का दोषारोपण करके उन्हें पाकिस्तान छोड़ देने की आज्ञा दे दी। पाकिस्तान की इस घोषणा के बाद भारत सरकार ने भी पाकिस्तानी अधिकारियों को भारत छोड़ने की आज्ञा दे दी। इन घटनाओं को लेकर दोनों देशों के बीच खूब तनाव फैला।

२४ अक्टूबर, १९६३ को पाकिस्तान सरकार के आदेश से ढाका और राजशाही में भारतीय पुस्तकालय बन्द कर दिये। २१ नवम्बर को राजशाही में भारतीय हाई कमीशन का कार्यालय बन्द कर दिया गया। इसी दिन पाकिस्तानी समाचार-पत्रों ने यह समाचार छापा कि कश्मीर १९४९ की युद्ध विराम-रेखा को पाकिस्तान मान्यता नहीं देता। ४ दिसम्बर को पाक अधिकृत कश्मीर के राष्ट्रपति श्री के० एच० खुर्शीद ने कहा कि युद्ध-विराम रेखा के समीप बसने वाले नागरिकों के बीच दस हजार राइफलें बाँटी गयी हैं तथा और भी बाँटी जायँगी।

हजरतबाल घटना और भारत-पाक सम्बन्ध—२८ दिसम्बर, १९६३ को श्री नगर की हजरतबाल मन्दिर से पैगम्बर मुहम्मद साहब का पवित्र बाल चोरी चला गया। इस घटना को लेकर पाकिस्तान के समाचार-पत्रों ने भारत के विरुद्ध खूब प्रचार किया और साम्प्रदायिक, घृणा-विद्वेष फैला था। फलतः पूर्वी पाकिस्तान में बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगा शुरू हो गया। इस दंगा में कई हजार व्यक्ति मरे और कई हजार शरणार्थी भारत भाग आये। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप भारत में कुछ जगहों पर दंगे हुए। इसके कारण भारत और पाकिस्तान का सम्बन्ध और भी बिगड़ गया। लेकिन साम्प्रदायिक दंगे की आग को बुझाना उस समय सबसे अधिक आवश्यक था। अतएव इस समस्या के समाधान के लिए फरवरी १९६४ में भारत और पाकिस्तान के स्वराष्ट्र मन्त्रियों का एक सम्मेलन दिल्ली में हुआ। इस सम्मेलन का कोई विशेष परिणाम नहीं हुआ, लेकिन अल्पसंख्यकों का उत्साह तो कुछ अवश्य बढ़ा। दिल्ली सम्मेलन में यह निश्चय हुआ कि स्वराष्ट्र मन्त्रियों का एक दूसरा सम्मेलन सितम्बर, १९६४ में रावलपिंडी में हो जिसमें अल्पसंख्यकों की रक्षा के उपाय निर्धारित किये जायँ।

इसी बीच मई, १९६४ में कश्मीर के नेता शेख अब्दुला को कश्मीर की सरकार ने लगभग दस वर्षों तक जेल में रखने के बाद मुक्त कर दिया। शेख अब्दुला की मुक्ति के बाद भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध में एक नया अध्याय शुरू हुआ।

जेल से बाहर निकलते ही शेख साहब ने भारत सरकार की कश्मीर सम्बन्धी नीति की कड़ी आलोचना की और कश्मीर के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग रखी। पाकिस्तान की सरकार ने शेख अब्दुला का समर्थन किया। अपने विचारों के आधार पर कश्मीर-समस्या के समाधान के लिए शेख अब्दुला दिल्ली आये और पं० नेहरू से वार्ताएँ की। इन वार्ताओं की समाप्ति के बाद शेख साहब ने यह बतलाया कि कश्मीर समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब भारत और पाकिस्तान का सम्बन्ध अच्छा हो। अतएव वे भारत-पाकिस्तान मेल-मिलाप के लिए नाटकीय प्रयास करने लगे। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति अयूब खाँ मिलने के लिए वे

पाकिस्तान गये और इस वात पर उन्हें राजी कर लिया कि भारत-पाकिस्तान के सम्बन्ध में सुधार के लिए वे प्रधान मन्त्री पं० नेहरू से मिलने के लिए भारत जायँ। इसी बीच २७ मई, १९६४ को पं० नेहरू की मृत्यु हो गयी और शेख साहब के सारे प्रयास व्यर्थ हो गये। भारत-और पाकिस्तान के सम्बन्धों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

कच्छ का झगड़ा—कच्छ का रन्न (Rann of Kutch) पुराने गुजरात राज्य (अब भारतीय प्रदेश) और पुराने सिन्ध प्रदेश (अब पाकिस्तानी क्षेत्र) के बीच पड़ता है। यह सम्पूर्ण रन्न पहले कच्छ के राजा के अधिकार में था और १९४७ में जब कच्छ का राज्य भारत के साथ मिल गया तो यह क्षेत्र भारतीय गणराज्य का अंग बन गया। सिन्ध प्रदेश और कच्छ के राजा में इस क्षेत्र को लेकर बहुत पहले कई बार झगड़ा हुआ था, लेकिन १९१४ में तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने यह फैसला कर दिया कि यह क्षेत्र कच्छ के राजा के अधिकार में रहेगा। पाकिस्तान सरकार इस बात को नहीं मानती। उनका कहना है कि २४ अक्षांश के उत्तर में पैंतीस सौ वर्गमील का क्षेत्र पुराने सिन्धप्रदेश के अन्दर था, देश विभाजन के बाद यह पाकिस्तान को मिलना चाहिए था और भारत ने जबरदस्ती इसपर अपना अधिकार जमा लिया है। भारत सरकार इस मत से सहमत नहीं है। उसका कहना था कि यह सम्पूर्ण इलाका कच्छ के राजा के मातहत में था और इसलिए यह पूरा क्षेत्र भारतीय है।

१९६५ के अप्रिल में कच्छ के इस क्षेत्र को लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच संघर्ष हो गया। पाकिस्तानी सेना की दो टुकड़ी भारतीय क्षेत्र में घुस गयी और कच्छ के कई इलाकों पर अधिकार कर लिया। भारत को यह अनुमान नहीं था कि पाकिस्तान एकाएक इस तरह की आक्रामक कार्रवाई करेगा। ९ अप्रिल को यह लड़ाई शुरू हुई और अनियमित रूप से जून तक चलती रही। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री विल्सन की मध्यस्थता से ३० जून को युद्ध-विराम हो गया और एक समझौता के द्वारा यह तय हुआ कि दोनों पक्ष १ जनवरी, १९६५ की स्थिति में वापस चले जायँ तथा तीन व्यक्तियों को मिलाकर एक ट्रिब्यूनल बने जो (यदि दोनों देशों के मन्त्रियों के स्तर पर कोई समझौता न हो सके तो) इस विवाद पर अपना फैसला दे। ट्रिब्यूनल का काम होगा कि दोनों पक्षों के दावों की जाँच करे, एक रिपोर्ट दे तथा इसके निर्णय दोनों पक्षों को मान्य हो। युद्ध विराम के चार महीने बाद ट्रिब्यूनल का संगठन हो जाना था। भारत और पाकिस्तान को ट्रिब्यूनल के एक-एक सदस्य को मनोनीत करना था और वे दोनों सदस्य एक तीसरे व्यक्ति को अध्यक्ष चुनते। इनमें से कोई व्यक्ति भारत या पाकिस्तान का नहीं हो सकता था। यदि ट्रिब्यूनल के सदस्यों का चुनाव करने में कोई मत-भेद हुआ, तो समझौता के अनुसार तो संयुक्तराष्ट्र संघ के महासचिव को उनको मनोनीत करने का अधिकार दिया गया।

कच्छ के इस समझौते की भारत में कड़ी आलोचना हुई। यद्यपि आक्रामक को उन क्षेत्र को खाली कर देना पड़ा जिसपर उसने अधिकार कर लिया था, लेकिन भारत-पाकिस्तान मतभेद में पंचायती फैसले का सिद्धान्त मानना गलत था। कुछ लोगों का ख्याल था कि पाकिस्तान कच्छ की तरह ही कश्मीर में स्थिति उत्पन्न करके इसी नमूने पर कश्मीर-समस्या को पंच निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर निर्मित करने की मांग कर सकता है।

जुलाई २६ को भारत और पाकिस्तान के विदेश मन्त्रियों ने यह तय किया कि वे दोनों कच्छ पर अन्तिम समझौता करने के उद्देश्य से २० अगस्त को दिल्ली में मिलें। लेकिन तबतक पाकिस्तानी मुजाहिदों ने कश्मीर में गड़बड़ी पैदा कर दी और इस हालत में विदेश मन्त्रियों की वार्ता सम्भव नहीं रही। अतएव भारत ने सुझाव दिया कि कच्छ का प्रश्न अब सीधे ट्रिब्यूनल में रख दिया जाय। पाकिस्तान ने ईरान के एक न्यायाधीश तथा भारत ने यूगोस्लाविया के एक नागरिक को ट्रिब्यूनल में अपना प्रतिनिधि मनोनीत किया। इन दोनों ने मिलकर एक स्वेडिश को चुना। सितम्बर १६६७ में ट्रिब्यूनल ने अपना काम शुरू किया। ट्रिब्यूनल द्वारा दोनों देशों को आदेश दिया गया कि वे कच्छ के सम्बन्ध में अपने-अपने दावे प्रस्तुत करें ताकि उन पर विचार करके वह अपना निर्णय दे सके।

१६ फरवरी, १६६८ को ट्रिब्यूनल ने अपना निर्णय दे दिया। इसने अपने निर्णय में विवादग्रस्त क्षेत्र का नब्बे प्रतिशत भाग भारत को दिया और शेष तीन सौ बीस वर्गमील का इलाका पाकिस्तान को दिया गया। इस इलाके में कंजरकोट का वह ध्वस्त किला भी है जहाँ से १६६५ की लड़ाई शुरू हुई थी। इसके अलावे छाड़बेट की ऊँची भूमि और नगरपरकार के क्षेत्र भी पाकिस्तान को दिये गये इलाके में शामिल थे।

व्यापक दृष्टि से यह निर्णय भारत के पक्ष में होते हुए भी भारत में इसकी प्रतिक्रिया बहुत रोषपूर्ण हुई। रहीम की बाजार से दक्षिणी इलाके को पाकिस्तान को देने का कोई कारण नहीं था। ट्रिब्यूनल के अध्यक्ष स्वेडन के जज गुन्नार लागरग्रेन ने अपने फैसले में कहा कि इस इलाके में शान्ति और स्थायित्व बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि इस पर पाकिस्तान का दावा स्वीकार किया जाय। इसका मतलब यह था कि इस क्षेत्र पर पाकिस्तान का कोई कानूनन अधिकार नहीं है लेकिन राजनैतिक दृष्टिकोण से उसको यह इलाका देना उचित होगा।

प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाँधी ने इस निर्णय को "राजनीतिक कारणों से प्रेरित" बताकर इसकी निन्दा की। भारत के कुछ राजनीतिक दलों ने यह स्पष्ट कर दिया कि उन्हें ट्रिब्यूनल का निर्णय मान्य नहीं है और वे इसके कार्यान्वयन का विरोध करेंगे। लेकिन युद्ध-विराम के दौरान में कच्छ के मामले को ट्रिब्यूनल को सौंपते समय भारत ने यह शर्त मान ली थी कि ट्रिब्यूनल का फैसला उसे मान्य होगा। इस कारण भारत के समक्ष कोई दूसरा विकल्प नहीं रह गया। भारत सरकार ने देश में प्रबल विरोध के बावजूद फैसले को मान लिया और उसे कार्यान्वित किया। ट्रिब्यूनल ने जिस क्षेत्र को पाकिस्तान का माना वह चेत्र पाकिस्तान के अधिकार में चला गया।

भारत-पाकिस्तान युद्ध (१६६५)

कश्मीर में पाकिस्तान की घुसपैठ :—अभी कच्छ-समझौते की स्याही सुखने भी न पायी थी कि पाकिस्तान ने कश्मीर में अपनी हरकत शुरू कर दी। इस बार की पाकिस्तानी

योजना १९४७ के आक्रमण से बढ़-चढ़ कर थी। इसके लिए पाकिस्तान वर्षों से तैयारी कर रहा था। चीन की सहायता से हजारों पाकिस्तानी सैनिकों को छापामार युद्ध का प्रशिक्षण दिया गया था और योजना यह थी कि यह छापामार दस्ता असैनिक वेश में आधुनिक हथियार से लैस होकर कश्मीर में घुसेगा और कश्मीर के अन्दर उपद्रव तथा तोड़-फोड़ करके ऐसी स्थिति पैदा कर देगा जिसमें भारतीय सेना को कश्मीर से भागना पड़े। पाकिस्तानी शासकों का विश्वास था कि कश्मीर की मुस्लिम जनता इन छापामारों के साथ सहयोग करेगी।

४-५ अगस्त की रात में इस तरह के हजारों पाकिस्तानी छापे-मार कश्मीर में घुस गये। पाकिस्तानी रेडियो ने दावा किया कि कश्मीर की जनता ने बहुत बड़े पैमाने पर विद्रोह कर दिया है, मुजाहिदों ने रेडियो स्टेशन, हवाई अड्डा आदि स्थलों पर अधिकार कर लिया है और श्रीनगर का पतन होने ही वाला है। बात यह थी कि भारतीय अधिकारियों को पाकिस्तानी छापामारों की घुसपैठ की खबर बाद में लगी तब तक इन मुजाहिदों ने कश्मीर में उपद्रव शुरू कर दिया था। भारतीय सेना ने शीघ्र कार्रवाई शुरू कर दी और सैकड़ों मुजाहिद पकड़ लिये गये या मार डाले गये।

जब भारतीय सेना ने घुसपैठियों के पहले जत्था का सफाया कर दिया तो पाकिस्तान ने दूसरे जत्था को भेजा। दूसरे जत्थे के प्रवेश ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया कि विराम रेखा के आस-पास ऐसे कितने पहाड़ी-जंगली इलाके हैं जिनसे होकर पाकिस्तान घुसपैठी भारतीय कश्मीर में पहुँचते हैं। अतएव भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि पाकिस्तान की इन हरकतों को सदा के लिए रोकने के लिए इन स्थलों पर अधिकार कर लिया जाय। इस निर्णय के बाद अगस्त के तीसरे सप्ताह में भारतीय सेना ने करगील क्षेत्र में उन तीन पाकिस्तानी प्रतिष्ठानों पर आधिपत्य कर लिया जहाँ से घुसपैठी भारतीय क्षेत्र में घुसते थे। २५ अगस्त को टिथवाल क्षेत्र में भारतीय सेना ने दो और पाकिस्तानी प्रतिष्ठानों पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उरी पुंछ क्षेत्र में सैनिक कार्यवाही की गयी और हाजीपीर के दर्रे पर भी भारतीय सेना का अधिकार हो गया। हाजीपीर पर कब्जा हो जाने से घुसपैठियों का रास्ता एकदम बन्द हो गया।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकारी इस समय युद्ध विराम-रेखा का पहरा दे रहे थे। उन्होंने इन सारी घटनाओं को देखा और जनरल निम्मो ने सारी घटनाओं की सूचना महासचिव यू थान्त को

दे दी। स्थिति को बिगड़ते देख महासचिव ने भारत और पाकिस्तान दोनों को संयम से काम लेने को कहा। लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला।

युद्ध का श्री गणेश—भारत द्वारा विराम रेखा को पार करने की प्रतिक्रिया पाकिस्तान में स्वभाविक रूप से हुई। २५ अगस्त के बाद से भारतीय और पाकिस्तानी सेनाओं में कई जगह प्रत्यक्ष मुठभेड़ हो गयी और यह निश्चय-सा प्रतीत होने लगा कि भारत और पाकिस्तान में अब युद्ध छिड़ जायगा। अधिक पाकिस्तानी क्षेत्र को भारतीय अधिकार में जाने से रोकने के उद्देश्य से पाकिस्तान ने प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण करने का निश्चय किया। छम्ब-जूरिया क्षेत्र इसके लिए बहुत उपयोगी था, क्योंकि पाकिस्तान इस क्षेत्र में आसानी से हमला कर सकता था और अखनूर पर कब्जा करके ऊपरी कश्मीर को जम्मू से अलग कर भारतीय क्षेत्र पर अधिकार कर सकता था। हिटलर के विद्युत-प्रहार के ढर्रे पर १ सितम्बर को तड़के ही टैंकों और आधुनिक-
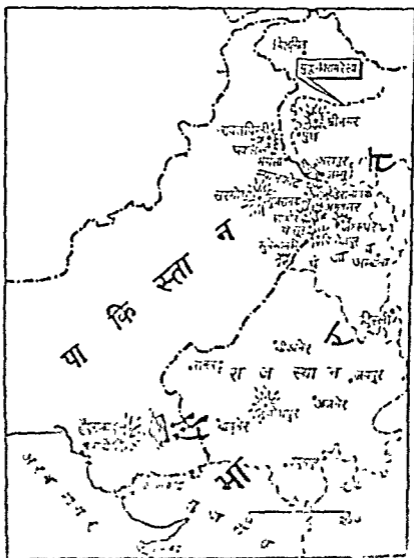
[illegible] छम्ब-जूरिया क्षेत्र पर आक्रमण शुरू कर दिया। पाकिस्तान का यह आक्रमण भारत के लिए [illegible]

[illegible] अखनूर [illegible] [illegible] है।

५ सितम्बर को पाकिस्तानी वायुसेना ने अमृतसर पर हमला किया। [illegible] यह निश्चित [illegible] पाकिस्तान [illegible] करके [illegible] पर आक्रमण करने का इरादा रखता है। पाकिस्तान की इस योजना को कुचलने और छम्ब जौरियां क्षेत्र में पाकिस्तानी सैनिक दबाव को कम करने के उद्देश्य से भारत ने ६ सितम्बर को पाकिस्तान के पंजाब प्रदेश पर तीन तरफ से आक्रमण कर दिया और भारतीय सेना लाहौर की ओर बढ़ने लगी। पाकिस्तानी रेडियो से बोलते हुए राष्ट्रपति अयूब खाँ ने कहा कि "पाकिस्तान अब युद्ध की स्थिति में है।" यह सशस्त्र संघर्ष भारत और पाकिस्तान के बीच एक अघोषित युद्ध था जो समस्त सीमान्त पर बड़े पैमाने पर लड़ा जा रहा था। दोनों देश पूरी शक्ति के साथ युद्ध में जुटे हुए थे।

युद्ध विराम—युद्ध की घटनाओं का विस्तृत वर्णन करना हमारे लिए आवश्यक नहीं। इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि यह युद्ध २३ सितम्बर तक चला और संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से उस दिन को साढ़े तीन बजे सुबह में युद्ध-विराम हो गया। पाकिस्तान को यह आशा थी कि चीन उसकी सहायता करेगा, लेकिन उसे निराश होना पड़ा। उसने सीआटो और सेन्टो संगठनों से सहायता की याचना की, लेकिन वहाँ से भी उसे निराश होना पड़ा। भारतीय सेना ने पाकिस्तान के एक बहुत बड़े भू-भाग पर अधिकार कर लिया। युद्ध के खत्म होने पर सात सौ चालीस वर्गमील का पाकिस्तानी क्षेत्र भारतीय कब्जे में था और दो सौ चालीस वर्गमील के लगभग भारतीय क्षेत्र पाकिस्तान के कब्जे में थे। जन धन और सैनिक साजो-सामान में दोनों पक्षों को अपार क्षति हुई।

युद्ध के परिणाम—भारत और पाकिस्तान के कटु सम्बन्धों के इतिहास में सितम्बर १९६५ का युद्ध एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। यह उस मनमुटाव और कटुता की भावना का चरम विकास था जिसको धर्मान्ध पाकिस्तानी अधिकारी १९४७ से पालते आ रहे थे। पाकिस्तान के लिए एक "धार्मिक सीमा" स्थापित करने तथा भारत को नीचा दिखाने का यह एक प्रबल प्रयास था। लेकिन युद्ध

पाकिस्तान की पराजय ने यह सिद्ध कर दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े का निपटारा शक्ति द्वारा करने का प्रयास व्यर्थ होता है और "जो लोग पहले तलवार उठाते हैं, वे तलवार से ही नष्ट हो जाते हैं।" भारत के लिए यह विजय धर्म-निरपेक्षता समाजवाद और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों की विजय थी। इसने सिद्ध कर दिया कि भारत अपनी प्रादेशिक अखंडता बचाये रखने के लिए कटिबद्ध है और संसार की कोई भी शक्ति उसके अभिन्न अंग कश्मीर को उससे विलग नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त इस युद्ध के निम्नलिखित परिणाम हुए—

१. पाकिस्तान हमेशा कहा करता था कि यदि कश्मीर की समस्या का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान नहीं हुआ तो वह "दूसरे तरीकों" को अपनायगा। "दूसरे तरीके" का तात्पर्य शक्ति अर्थात् युद्ध का सहारा लेना था। इसलिए पाकिस्तान १९५४ से ही अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा रहा था। सितम्बर १९६५ में उसने इस "दूसरे तरीके" का अवलम्बन किया, लेकिन उसकी मनोकामना पूरी नहीं हुई। अतः अब उम्मीद की जा सकती है कि भविष्य में अब पाकिस्तान इस तरह की धमकी न दे।

२. पाकिस्तान के शासकों का विश्वास था कि भारत के साथ युद्ध छिड़ जाने की स्थिति में कश्मीर की मुस्लिम जनता उसका साथ देगी और भारत के खिलाफ विद्रोह कर देगी। उन्हें यह भी विश्वास था कि धर्म के नाम पर भारत के मुस्लिम पाकिस्तान का समर्थन करेंगे और पाँचवे दस्ते (fifth column) का काम करेंगे। लेकिन युद्ध के दिनों में भारत के मुसलमानों ने जिस देशभक्ति का प्रदर्शन किया उसने यह सिद्ध कर दिया कि पाकिस्तान की सारी उम्मीदें बेकार थीं और भारतीय धर्म निरपेक्षता का आधार अत्यन्त ठोस है।

३. इस युद्ध ने भारत में एक अपूर्व स्वाभिमान पैदा किया और देश को आत्मनिर्भर बनाने की भावना बलवती हुई। पाकिस्तान युद्ध में अमेरिका द्वारा मुफ्त में दिये गये हथियार, टैंक और बम वर्षकों का प्रयोग कर रहा था, लेकिन भारत के अधिकांश हथियार स्वदेशी थे। भारत में बने जेट विमान की उपलब्धियों ने प्रत्येक भारतीय का सिर ऊँचा कर दिया और सम्पूर्ण युद्ध की अवधि में नागरिकों तथा सैनिकों का मनोबल ऊँचा रखा।

४ सैनिक विशेषज्ञों का कहना है कि इस युद्ध ने टैंक युद्ध के तरीकों को भी प्रभावित किया। पाकिस्तान ने अमेरिका में बने पैटन टैंक का प्रयोग युद्ध में किया था। इस टैंक की शोहरत सारे संसार में थी और दुनिया का यह सर्व शक्तिशाली युद्ध शस्त्र माना जाता था। लेकिन जिस तरीके से भारतीयों ने इसका सफाया किया उसके कारण पैटन टैंकों की शक्ति में युद्ध विशेषज्ञों का विश्वास घट गया।

५. भारत-पाकिस्तान युद्ध ने भारत को एक शक्तिशाली नेतृत्व प्रदान किया। जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद लाल बहादुर शास्त्री देश के प्रधान मंत्री अवश्य चुन लिये गये, लेकिन भारतीय जनता पर उनके नेतृत्व का प्रभाव नाममात्र का था। पाकिस्तान के युद्ध के समय शास्त्री ने जिस दृढ़ नीति का अवलम्बन किया उसने यह सिद्ध कर दिया कि वे नेहरू के योग्य उत्तराधिकारी हैं और सम्पूर्ण देश का विश्वास उनमें जम गया।

६. पाकिस्तान के लिए यह युद्ध बड़ा घातक सिद्ध हुआ। इसने पाकिस्तान के सभी विश्वासों और मान्यताओं को चकनाचूर कर दिया। १९५४ से पाकिस्तान इसी दिन के लिए

सभी चीजों का परित्याग कर अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा रहा था, लेकिन युद्ध में पराजय ने सैनिक तानाशाही के खोखलापन को स्पष्ट कर दिया। जनता के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था : क्या इसीलिए सभी स्वतन्त्रताओं का बलिदान किया गया था? इसमें कोई सन्देह नहीं कि युद्ध में पराजय अयूब की सैनिक तानाशाही के लिए बड़ा घातक होगा। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान का शासक वर्ग भी देश की विदेश-नीति के पुनर्निर्धारण के सम्बन्ध में सोचने लगा है। आश्चर्य नहीं कि पाकिस्तान की विदेश-नीति में निकट भविष्य में कोई परिवर्तन हो।

७ भारत पाकिस्तान युद्ध पिंडी-पिकिंग-जकार्ता धुरी के बुझते हुए दीप का अन्तिम लौ था। युद्ध के समय पाकिस्तान, चीन और इंडोनीशिया का सहयोग एशिया की शान्ति के लिए बहुत खतरनाक हो गया था। इन देशो ने अपूर्व एकता और संगठन का परिचय दिया और यह सहयोग चलकर सीमा पर तब पहुँचा जब पाकिस्तान ने चीन और इंडोनीशिया के शत्रु-राज्य मलेयेशिया के साथ अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। पाकिस्तान का यह कदम सुरक्षा-परिषद् में मलयेशियाई प्रतिनिधि द्वारा अपनाये गये रुख के विरोध में अपनाया गया था।

८. भारत-पाकिस्तान युद्ध ने आधुनिक विश्व-राजनीति में संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपयोगिता को सिद्ध कर दिया। इंडोनीशिया द्वारा संघ से निकल जाने से संघ के भविष्य के सम्बन्ध में तरह-तरह भी आशंकाएँ उत्पन्न होने लगी थीं। लेकिन सुरक्षा परिषद् ने बड़ी दृढ़तापूर्वक हस्त-क्षेप करके इस युद्ध को बन्द कराया। इस घटना से यह भी सिद्ध हो गया कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर महाशक्तियाँ सहयोग से काम करें तो संघ को पूरी सफलता मिल सकती है। भारत-पाकिस्तान युद्ध को बन्द कराने में सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपूर्व सहयोग का प्रदर्शन किया और इसी कारण परिषद् को शान्ति-स्थापना के कार्य में सफलता मिली।

९. भारत-पाकिस्तान युद्ध ने सोवियत कूटनीति को एक नया मोड़ लेने का अवसर प्रदान किया। दो राष्ट्रों के झगड़ों को सुलझाने में सोवियत संघ ने आज तक कभी अपनी सेवाएँ अर्पित नहीं की थीं। वस्तुतः सोवियत कूटनीति का इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं था। लेकिन भारत और पाकिस्तान के झगड़ों को सुलझाने में उसने अपनी सेवाएँ अर्पित कीं और ताशकन्द में सम्मेलन का आयोजन किया। सोवियत कूटनीति के लिए यह बिल्कुल नवीन चीज थी और विश्व-राज-नीति पर इसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था।

युद्ध-विराम का उल्लंघन—संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से २३ सितम्बर, १९६५ को युद्ध विराम हो गया तथा भारत और पाकिस्तान ने युद्ध बन्द कर दिये, लेकिन युद्ध के क्षेत्रों में पूर्ण शान्ति नही आयी। दोनों ओर से युद्ध-विराम का उल्लंघन होता रहा। संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रेक्षक दल इन उल्लंघनों को रोकने का प्रयास करता रहा, लेकिन यह सम्भव नहीं था। दोनों देशों की सेनाएँ आमने-सामने खड़ी रहती थी और इस हालत में मामूली झड़प पर गोली चल जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। संघ के महासचिव ने इन उल्लंघनों को बन्द करने के कुछ सुझाव दिये, पर उनका कोई परिणाम नही निकला और दोनों ओर से प्रतिदिन युद्ध विराम के उल्लंघन होते रहे।

ताशकन्द सम्मेलन

इस भयानक स्थिति को समाप्त करने के लिए सोवियत कूटनीति काफी सक्रिय थी। सोवियत प्रधान मंत्री का विचार था कि इन सारे झंझटों का अन्त दोनों देश के नेता

करके कर सकते हैं। अतएव सोवियत संघ ने विशेष रुचि लेकर ताशकन्द सम्मेलन की व्यवस्था की और ४ जनवरी को ताशकन्द में राष्ट्रपति अयूब खाँ तथा प्रधान मंत्री लाल बहादुर शास्त्री का ऐतिहासिक सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। लेकिन ताशकन्द सम्मेलन में समझौता होना कोई आसान नहीं था। दोनों देशों की शत्रुता अठारह वर्ष पुरानी थी और हाल ही में दोनों के बीच जीवन-मरण का युद्ध हुआ था। लेकिन सोवियत कूटनीति का जादू दोनों के बीच समझौता करने में सफल रही और १८ जनवरी १९६६ को हर्ष और उल्लास के बीच ऐतिहासिक ताशकन्द समझौते पर हस्ताक्षर हुआ। इस समझौते की शर्तें निम्नलिखित थीं :

"(१) भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस बात पर सहमत हैं कि दोनों पक्ष जोरदार प्रयत्न करेंगे कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र के अनुसार भारत और पाकिस्तान में अच्छे पड़ोसियों का सम्बन्ध निर्मित हो। वे राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र के अन्तर्गत पुनः दुहराते हैं कि वे बल प्रयोग का सहारा न लेंगे और अपने विवादों को शांतिपूर्ण तरीकों से सुलझायेंगे।

वे समझते हैं कि क्षेत्र में, विशेषकर भारत-पाकिस्तान उपमहाद्वीप में, और भारत तथा पाकिस्तान के जनता के हित में यह नहीं है कि दोनों देशों में तनाव बना रहे। इसी पृष्ठ भूमि में जम्मू और कश्मीर के मसले पर विचार किया गया और दोनों देशों ने अपना-अपना पक्ष उपस्थित किया।

(२) भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस बात पर सहमत हैं कि दोनों देशों के सभी सशस्त्र व्यक्ति २५ फरवरी, १९६६ के पूर्व उस स्थान पर वापस लिये जायेंगे जहाँ वे ५ अगस्त के पूर्व थे और दोनों पक्ष युद्ध विराम रेखा पर युद्ध-विराम की शर्तों को पालन करेंगे।

(३) भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति राजी हुए हैं कि भारत और पाकिस्तान के बीच का सम्बन्ध एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप के सिद्धान्त पर आधारित होगा।

(४) भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए हैं कि दोनों पक्ष एक दूसरे के विरुद्ध किसी प्रकार के प्रचार को निरुत्साहित करेंगे और ऐसे प्रचार को प्रोत्साहन देंगे जो दोनों देशों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध को बढ़ाता है।

(५) भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए हैं कि पाकिस्तान के लिए भारत के उच्चायुक्त और भारत के लिए पाकिस्तान के उच्चायुक्त अपने-अपने पदों पर वापस आयेंगे और दोनों देशों में राजनीतिक सम्बन्ध पुनः सामान्य रूप से स्थापित होगा।

दोनों देशों की सरकारें राजनीतिक सम्बन्ध के मामले में १९६१ के वियना नियमों का पालन करेंगे।

(६) भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए हैं कि वे आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्धों, को वार्ता वहन सम्बन्धों को, और भारत पाकिस्तान के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान को पुनः स्थापित करने के सम्बन्ध में विचार करेंगे और भारत-पाकिस्तान के बीच जो वर्तमान समझौते हैं उनको कार्यान्वित करने का उपाय करेंगे।

(७) भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति राजी हुए हैं कि वे अपने-अपने अफसरों को आदेश देंगे कि वे युद्ध-बन्दियों को अदला-बदली का कार्य करें।

(८) भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए हैं कि दोनों पक्ष शरणार्थियों की समस्याओं से तथा अवैध ढंग से घुसे व्यक्तियों को निकासी से सम्बन्धित प्रश्नों पर आपस में विचार-विमर्श जारी रखेंगे। वे इस बात पर भी राजी हुए हैं कि दोनों पक्ष ऐसी स्थिति उत्पन्न करेंगे जिसे जनता की भगदड़ रुकेगी।

भारत-पाकिस्तान संघर्ष के दौरान में एक पक्ष के द्वारा दूसरे पक्ष की ली गयी सम्पत्ति आदि की वापसी के बारे में वार्ता करने के लिए सहमत हुए हैं।

(९) भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए हैं कि दोनों देशों से संधि सम्बन्ध रखने वाले मामलों पर विचार करने के लिए दोनों पक्ष सर्वोच्च स्तर पर तथा अन्य स्तरों पर आपस में मिलाना जारी रखेंगे। दोनों पक्षों ने इस आवश्यकता को महसूस किया है कि भारतीयों और पाकिस्तानियों की संयुक्त समितियाँ बनें जो अपने देशों की सरकारों को सूचना देंगी कि आगे क्या कदम उठाये जाने चाहिए।

(१०) भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सोवियत संघ के नेताओं के प्रति, सोवियत सरकार के प्रति और व्यक्तिगत रूप से रूस के प्रधान मन्त्री श्री कोसिजिन के प्रति, उनके रचनात्मक, मित्रता पूर्ण और सुन्दर कार्यों के प्रति कृतज्ञता और प्रशंसा की गहरी भावना व्यक्त करते हैं। इनके सदप्रयत्नों से वर्तमान सम्मेलन हो सका और जिसका परिणाम दोनो पक्षों के लिए संतोषप्रद रहा।

ताशकन्द समझौते का महत्त्व—ताशकन्द सकझौते का चीन को छोड़कर सर्वत्र स्वागत हुआ। यह सत्य है कि ताशकन्द समझौते से भारत और पाकिस्तान के मौलिक मतभेदों का अन्त नहीं हुआ, लेकिन उस समय यह उम्मीद करना कि भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों की सारी समस्याओं का समाधान हो जायगा, गलत था। ताशकन्द का महत्त्व इस बात में है कि इसने पहलेपहल भारत और पाकिस्तान के नेताओं को अपने झगड़ों को शांतिपूर्ण ढग से सुलझाने के लिए प्रत्यक्ष वार्ता का अवसर दिया। इस बात की सम्भावना बढ़ गयी कि भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध में एक नया युग शुरू होगा और दोनों देश अपनी शत्रुता भूलकर मैत्री का रास्ता अपनायेंगे। ताशकन्द समझौते का स्वागत दुनिया ने शांति की विजय के रूप में तथा चीन का आक्रमण और उग्रवादी नीति की पराजय के रूप में किया।[1]

ताशकन्द समझौते के महत्त्व पर बोलते हुए सोवियत प्रधान मंत्री कोसिजन ने सत्य ही कहा था:

> "ताशकन्द घोषणा भारत तथा पाकिस्तान के सम्बन्धों में एक नया मोड़ है। घोषणा से दोनों देशों के सैनिक संघर्षों का अन्त हो गया तथा उसे दो मुख्य एशियाई देशों के बीच विद्यमान कठिनाइयों को समाप्त करने का मार्ग प्रशस्त हुआ है। मेरे विचार से एशिया के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में शान्ति कायम रखने के लिए उक्त घोषणा ने एक वास्तविक आधारशिला की नींव रखी है।"

समझौते पर हस्ताक्षर करने के उपरान्त स्वर्गीय लाल बहादुर शास्त्री ने कहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ताशकन्द सम्मेलन एक विशिष्ट प्रयोग है। उन्होंने उम्मीद प्रकट की थी की सम्पूर्ण विश्व ताशकन्द घोषणा को काफी लम्बी अवधि की समस्याओं को सुलझाने का एक उदाहरण मानकर उसका स्वागत करेगा। वस्तुतः ताशकन्द समझौते अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में लोकार्नो, जेनेवा, वियना और कैम्प डेविड की शृंखला में एक कड़ी है जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के विकास में समय-समय पर काफी सहायता मिली है। यही कारण है कि यह सुझाव

1. "The Tashkent Declaration has been generally welcomed as one paving the way for better relations between India and Pakistan and ushering in a new era of friendship between the two countries. The Declaration was held as a triumph for forces of peace and a defeat to China which had been doing its utmost to wreck this summit talks." *Hindustan Times*, (Delhi), 11, January 1966.
"आज" (वाराणसी), १२ जनवरी १९६६.

दिया जाता है कि समाकालीन अन्तर्राष्ट्रीय समस्यों का समाधान "ताशकन्द की भावना" (Spirit of Tashkent) में किया जाय। इसमें कोई सन्देह नही कि आनेवाले कई वर्षों तक "ताशकन्द की भावना" अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करती रहेगी।

ताशकन्द समझौते के बाद—ताशकन्द घोषणा के बाद दोनों देशों में इसको कार्यान्वित करने के लिए तत्काल कदम उठाये गये और दोनों देशों के सैनिक अपने स्थान पर लौट आये जहाँ वे ५ अगस्त १९६५ को थे। दोनों देशों ने एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार करना भी बन्द कर दिया। ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध में सचमुच ही एक नया अध्याय प्रारम्भ हो गया।

लेकिन अभी ताशकन्द की स्याही सूखने भी न पायी थी कि सीमान्तों पर पाकिस्तानी सैनिकों की हलचल पुनः शुरू (जुलाई-अगस्त १९६६) हो गयी। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत हुआ कि ताशकन्द-समझौता का अन्त होनेवाला है। लेकिन दोनो ने बुद्धिमता से काम लिया। सितम्बर, १९६६ में भारत और पाकिस्तान के सैनिक अधिकारियों के बीच एक समझौता हुआ और यह निश्चय किया गया कि वे अपने सीमान्तो पर यदि कोई सैनिक गतिविधि करें तो इसकी पूर्व सूचना एक दूसरे को दे दें। इस समझौता से वातावरण अवश्य ही कुछ शान्त हुआ। १९६७ के प्रारम्भ में भारतीय क्षेत्र में एक पाकिस्तानी हवाई जहाज को भारत द्वारा मार गिराये जाने से दोनों देशों के बीच फिर कुछ तनाव बढ़ गया। लेकिन इससे भी महत्त्वपूर्ण घटना मई, १९६७ में घटी जब अखनूर क्षेत्र में भारत और पाकिस्तान के सैनिको के बीच एक मामूली झड़प हो गयी जिसके परिणामस्वरूप सात भारतीय सैनिक मारे गये।

पिछले लगभग दो वर्षों से भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों में कोई विशेष घटना नहीं घटी है। जुलाई १९६८ में सोवियत संघ ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का निश्चय किया। भारत में इसका बड़ा विरोध हुआ। लेकिन पाकिस्तान में इस विरोध के प्रति कोई विशेष प्रतिक्रिया नही हुई। इसका एक कारण पाकिस्तान की आन्तरिक राजनीति में उथल-पुथल था जो नवम्बर १९६८ में ही शुरू हुआ और अप्रिल १९६९ में लगभग खत्म हुआ। पाकिस्तान में अयूब खाँ के विरोध में जनजागरण हुआ, विद्रोह और बलवे हुए और इन्होंने इतना भंयकर रूप धारण कर लिया कि अयूब खाँ को राष्ट्रपति के पद से हट जाना पड़ा। उनका स्थान जेनरल याहया खाँ ने लिया। सम्भव है, नया प्रशासन विदेश-नीति के क्षेत्र में कोई परिवर्तन नही करे। भारत के राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसेन की मृत्यु पर पाकिस्तान ने दो दिनो के लिए राजकीय शोक मनाया, वहाँ राष्ट्रीय झंडे झुका दिये गये और शव-यात्रा में शामिल होने के लिए मार्शल नूर खाँ स्वयं दिल्ली आये। इस घटना से दोनों देशों मे सद्भाव बढ़ा है, इसको मानने से इन्कार नही किया जा सकता। लेकिन जहाँ तक मौलिक प्रश्नों पर मतभेद का प्रश्न है दोनों देश अपने-अपने स्थान पर अडिग है।

भारत और चीन का सम्बन्ध

चीन के साथ भारत के सम्बन्ध ने भारतीय विदेश नीति को जितना प्रभावित किया उतना शायद किसी अन्य देश के साथ हमारे सम्बन्ध ने नहीं किया है। १९४९ में जब

चीन में कम्युनिस्ट शासन का प्रादुर्भाव हुआ तो भारत ने उसका हृदय से स्वागत किया। यों तो बहुत पहले ही प्रधान मन्त्री पं० नेहरू के दिल में चीन के लिए बहुत ऊँचा स्थान था, लेकिन भारतीय राजदूत श्री के० एम० पणिक्कर के कारण चीन को भारत से पूरी सहानुभूति मिली। दोनों देशों के बीच प्रारम्भ से ही अत्यन्त मधुर और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम हुआ। भारत ने हर मौके पर चीन का साथ दिया और उसकी मदद करने की कोशिश की। गैर कम्युनिस्ट देशों में भारत एक ऐसा देश था जिसने कम्युनिस्ट चीन को शीघ्र मान्यता प्रदान की और चीन के नये गणराज्य को संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसका उचित स्थान दिलाने के लिए प्रयत्नशील रहा। इसके कारण भारत को कई देशों के साथ, विशेष कर संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ मनमुटाव भी पैदा हुआ। लेकिन वह जमाना "हिन्दी चीनी भाई-भाई" का था। भारत ने अमेरिका की नाराजगी की अवहेलना करते हुए चीन का समर्थन किया। कोरियाई युद्ध के समय भारत ने चीन का जितना समर्थन किया उतना शायद सोवियत संघ ने भी नहीं किया। लेकिन विदेश-नीति के क्षेत्र में भारत की यह महान् भूल थी।

तिब्बत का प्रश्न :—यद्यपि प्रारम्भ में बहुत वर्षों तक भारत और चीन का सम्बन्ध बहुत अच्छा रहा, लेकिन कम-से-कम एक प्रश्न पर दोनों देशों के बीच आरम्भ से ही मतभेद की स्थिति पायी जाती रही है और यह प्रश्न तिब्बत से सम्बद्ध है। तिब्बत चीन और भारत के बीच में स्थित है, और इस पर चीन की सर्वोच्च सत्ता बहुत पहले से रही है। साथ ही बहुत प्राचीन काल से इसके साथ भारत के व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध भी चले आ रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब तिब्बत पर रूस का प्रभाव बढ़ने लगा तो भारत की ब्रिटिश सरकार सशंकित हुई और लार्ड कर्जन ने १९०५ में एक सैनिक दस्ता भेजकर तिब्बत के दलाई लामा को एक सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया। १९०६ में ब्रिटेन और चीन के बीच एक सन्धि हुई जिसके द्वारा ब्रिटेन ने तिब्बत पर चीन की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार कर लिया। इस संधि के द्वारा यह भी तय हुआ कि तिब्बत की राजधानी लासा में एक भारतीय एजेंट रहेगा; यातुंग, ग्यान्टसे और गारटोक में भारत की व्यापारिक एजेंसियाँ कायम की जायँगी तथा ग्यान्टसे तक डाक-तार घर स्थापित करने का अधिकार भी भारत को रहेगा। इन सुविधाओं के अतिरिक्त भारत सरकार को अपने व्यापारिक मार्ग की सुरक्षा के लिए तिब्बत में कुछ सेना रखने का अधिकार प्राप्त हुआ। लेकिन इस संधि में एक महत्त्व-पूर्ण बात थी। इसमें कहीं भी चीन और तिब्बत के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण नहीं किया गया था। वास्तविक बात यह थी कि आन्तरिक मामले में तिब्बत हमेशा से पूर्ण स्वाधीन रहा है यद्यपि चीन की सर्वोच्च सत्ता उस पर रही है। फिर भी, चीन को जब-जब मौका मिला है उसने तिब्बत की स्वायत्तता नष्ट करके उसे अपना अभिन्न अंग बनाने का प्रयास किया है। इस तरह का दावा चीन ने हमेशा प्रस्तुत किया है।

जब चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई तो तिब्बत की सरकार लासा से कोमिंतांग मिशन को हटाने का प्रयास करने लगी। तिब्बत के इस प्रयास को चीन की नयी सरकार ने शंका की दृष्टि से देखा और समझा कि वह अपने को चीनी प्रभाव से मुक्त करना चाहता है। अतएव चीन ने उस पर अपना दावा किया। १ जनवरी, १९५० को चीन ने "तिब्बत को साम्राज्य-

वादी षड्यन्त्रों से मुक्ति दिलाने" की घोषणा की। भारत ने चीन द्वारा तिब्बत को निगल जाने के इस प्रयत्न का विरोध किया। भारत तिब्बत में अपने विशेषाधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार था। वह तिब्बत में चीन की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करने को भी तैयार था, परन्तु साथ ही यह भी चाहता था कि उसे एक स्वायत्त शासन प्राप्त इकाई का स्थान प्रदान किया जाय। लेकिन चीन ने इसकी कोई परवाह नहीं की और २५ अक्टूबर, १९५० को तिब्बत पर आक्रमण कर दिया। जब भारत ने चीन की इस सशस्त्र कारवाई का विरोध किया तो उत्तर में चीन ने भारत पर यह आरोप लगाया कि वह साम्राज्यवादियों के बहकावे में आकर चीन के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप कर रहा है। इस वातावरण में थोड़े समय के लिए चीन और भारत के सम्बन्ध में तनाव आ गया। लेकिन यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही। २३ मई, १९५१ को चीन और तिब्बत में एक समझौता हो गया। इसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि तिब्बत का वैदेशिक सम्बन्ध, व्यापार, सुरक्षा और आवागमन पर चीन का पूर्ण नियन्त्रण रहेगा। शेष मामलों में तिब्बत पूर्ण स्वतंत्र रहेगा। चीन ने भारतीय हितों को भी संरक्षण प्रदान किया। १९५४ में जब चाऊ एन लाई भारत आये तो पंचशील के सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए और उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर भारत सरकार ने उपर्युक्त समझौता को मान्यता प्रदान कर दी।

इसके पाँच वर्ष बाद तिब्बत में चीन के विरुद्ध एक विद्रोह (मार्च १९५८) शुरू हो गया। इस विद्रोह को दलाई लामा का समर्थन प्राप्त हुआ। चीनी शासकों ने इस विद्रोह को कुचलना शुरू किया और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी कि दलाई लामा को तिब्बत छोड़कर भागना पड़ा। वह भागकर भारत आया और भारत सरकार ने उसे शरण दे दी। चीनी सरकार ने इसे "शत्रुतापूर्ण कार्य" बतलाया और भारत पर "विस्तारवादी" होने का आरोप लगाया। दोनों ओर से "शीत-युद्ध" शुरू हुआ और आरोपों तथा प्रत्यारोपों के कारण दोनों का सम्बन्ध अत्यन्त बिगड़ गया।

सीमा विवाद—उस समय तक भारत और चीन के बीच सीमा को लेकर भी घोर विवाद शुरू हो चुका था। १९५०-५१ में ही कम्युनिस्ट चीन के नक्शे में भारत के एक बहुत बड़े भू-भाग को चीन का अंग दिखलाया गया था। जब भारत सरकार ने चीन का ध्यान इस ओर आकर्षित किया तो उसे यह जवाब मिला कि ये नक्शे गलती से बन गये हैं और चीन की सरकार इनमें शीघ्र ही सुधार कर देगी। यह "हिन्दी चीनी भाई-भाई" का युग था और इसलिए भारत सरकार ने चीन की नेकनियती पर सन्देह नहीं किया। लेकिन चीन ने कभी भी अपना नक्शा नहीं बदला और उसके प्रत्येक संस्करण में भारतीय भू-भागों पर चीन का दावा बढ़ता गया।

भारत और चीन का सीमा विवाद मुख्यतः दो सीमान्तों के ऊपर है : उत्तर पूर्व में मैकमोहन रेखा और उत्तर-पश्चिम में लद्दाख। भारत मैकमोहन रेखा को अपने और चीन के बीच एक निश्चित सीमान्त रेखा मानता है। लेकिन चीन उसको साम्राज्यवादी रेखा कहता है। उसका कहना है कि इस रेखा को चीन की किसी सरकार ने कभी मान्यता नहीं दी है। इसी तर्क के आधार पर चीन ने लोगंजु पर अधिकार कर लिया, यद्यपि पीछे उसको वहाँ से हट जाना पड़ा। लद्दाख में भी उसने भारत के एक बहुत बड़े भू-भाग पर दावा किया है।

दावा ही नहीं, उसने भारत की प्रादेशिक सीमाओं में अक्षय चीन (Akshai Chin) सड़क को बलाधिकृत रूप से बना लिया है और इस प्रकार भारत के एक बहुत बड़े भू-भाग पर कब्जा कर लिया है। भारत सरकार को इस तथ्य की जानकारी बहुत पहले से थी, लेकिन भारतीय जनता से इस तथ्य को छिपाकर रखा गया था। इसलिए जब भारतीय जनता को सहसा यह
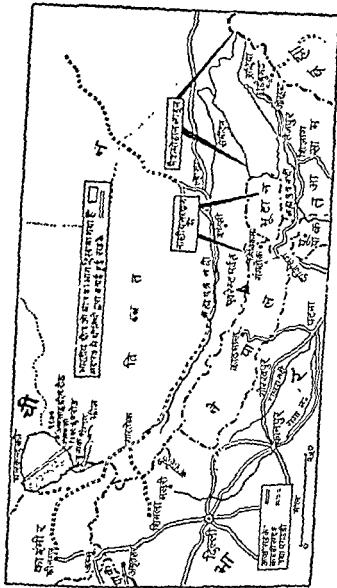
ज्ञात हुआ कि भारत-चीन सीमा प्रदेश पर चीन की सशस्त्र टुकड़ियों ने भारत का बहुत-सा क्षेत्र दबा लिया है और अधिक भूमि हस्तगत करने की तैयारी कर रही है, तब वह हतप्रभ हो गयी आक्रामकों को खदेड़ने के लिए माँग होने लगी। लोगंजू चौकी पर चीनी सेना के कब्जे तथा लद्दाख में लुर्म सिंह के नेतृत्व में सीमा प्रदेश की जाँच-पड़ताल करनेवाले भारतीय पुलिस दल पर किये गये शर्मनाक चीनी आक्रमण से तो यह असन्तोष और भी उग्र हो उठा। प्रतिशोधात्मक सैनिक कार्यवाही की व्यापक मांग के बावजूद नेहरू ने इसे स्वीकार नहीं किया और समझौता वार्ता द्वारा समस्या को सुलझाने पर बल दिया। उनका तर्क था कि

भारत सभी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिए वचनवद्ध है। चीन की इन कार्रवाइयों को भारत पंचशील का उल्लंघन मानता रहा और उनका विरोध करता रहा। अतएव इन विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए १९६० के अप्रिल में चीन ने यह प्रस्ताव किया कि दोनो देशों के उच्च पदाधिकारी इन सारी समस्याओ का अध्ययन करें और यह खोजने का प्रयास करें कि उनका शान्तिपूर्ण समाधान कैसे किया जा सकता है। उसी वर्ष रंगून में इन पदाधिकारियों का सम्मेलन हुआ। लेकिन कोई सन्तोषजनक समाधान नही निकल सका। इन पदाधिकारियो की रिपोर्ट से यह ज्ञात हुआ कि इस समस्या के ऊपर दोनों पक्षो के दृष्टियों में घोर अन्तर है। इस हालत में दोनों के बीच तनातनी बनी रही। चीन ने लद्दाख के दो हजार वर्गमील के नये क्षेत्र पर नया दावा किया : १९५६ में चीन ने अपने दावा के समर्थन में जो नक्शा पेश किया था उसके अनुसार चीन का दावा लद्दाख में दस हजार वर्गमील पर था, लेकिन दोनो देशों के अधिकारियो की वार्ता में जो नक्शा दिया गया उसके हिसाब से लद्दाख में चीन का दावा बारह हजार वर्गमील हो गया। अब चीन का यह दावा पचास हजार वर्गमील हो गया है : पश्चिमी अंचल में बारह हजार वर्गमील, पूर्वी अंचल में बत्तीस हजार पाँच सौ वर्गमील, मध्य में पाँच सौ वर्गमील तथा कश्मीर के कारा-कोरम दर्रे से पश्चिम की ओर पाँच हजार वर्गमील। इस दावे में लगभग पचास हजार वर्गमील चीन के अधिकार में है। इस कारण भारत और चीन के बीच तनातनी का बढ़ना स्वाभाविक था।

लेकिन चीन को इस तनातनी की कोई परवाह नहीं थी। १९६१ में भारतीय भूमि पर उसके छिट-पुट हमले जारी रहे। इस हालत में पंचशील सन्धि को नही दुहराया जा सकता था। १९५४ के समझौते के अनुसार २ दिसम्बर, १९६१ को पंचशील की सन्धि दुहरायी जानी चाहिए थी। लेकिन चीन के हमले ने इसको असम्भव बना दिया और भारत-चीन पंचशील सन्धि की अकाल मृत्यु हो गयी।

भारत पर चीन का आक्रमण—१९६२ में चीन ने बहुत बड़े पैमाने पर भारत पर आक्रमण करने का निश्चय किया : इसीलिए जब १० मई १९६२ को भारत ने चीन के सामने सीमा विवाद को तय करने के लिए वार्ताएँ प्रारम्भ करने का प्रस्ताव रखा तो उसे अस्वीकृत कर दिया और ११ जुलाई को गलवान घाटी में युद्ध का शंख बजा दिया। भारत पर आक्रमण का दोषारोपण करके चीनी सेना ने लद्दाख में भारतीय चौकियों के प्रहरियो को घेरना शुरू किया। लेकिन भारतीय सेना के सामने उनकी एक न चली और गलवान घाटी से चीनी सैनिकों को हट जाना पड़ा। इसके बाद अक्टूबर में "नेफा" क्षेत्र में चीनियों का आक्रमण शुरू हुआ। भारतीय चौकियो पर आक्रमण करने के चार दिन बाद अर्थात् २४ अक्टूबर, १९६२ को चीन की सरकार द्वारा एक त्रिसूत्री प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया जो इस प्रकार थी :

(१) चीन की सरकार यह आशा करती है कि भारत की सरकार इस बात से अपनी सहमति प्रकट करेगी कि दोनों पक्ष भारत-चीन के बीच की "वास्तविक नियन्त्रण रेखा" का आदर करते हैं और दोनों पक्ष की सेनाएँ उक्त नियन्त्रण रेखा से प्रत्येक ओर बीस किलोमीटर दूर हट जायँ।

(२) भारत सरकार द्वारा यह न स्वीकार किये जाने पर भी चीन की सरकार दोनों सरकारों के विचार विमर्श के उपरांत पूर्वी क्षेत्र में "वास्तविक नियंत्रण रेखा" से अपने सैनिकों को हटाने के लिए तैयार है। इसी समय दोनों पक्ष उक्त "वास्तविक नियन्त्रण रेखा" जो सीमा के मध्य और पश्चिमी क्षेत्र की परम्परागत सीमा-रेखा है, का उल्लंघन न करने के लिए वचनबद्ध हों।

(३) दोनों देशों के प्रधान मंत्रियों की वार्ता हो ताकि सीमा-समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान हो।

इसके बाद ही १६ नवम्बर को चीन ने नेफा और लद्दाख के क्षेत्रों में बड़े प्रचण्ड रूप से आक्रमण शुरू कर दिया।

इस बार चीनियों ने बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारी की थी। वे टैंक और आधुनिकतम हथियारों से लैस होकर भारतीय भूमि पर उतरे थे। भारत इतने बड़े पैमाने पर युद्ध करने के लिए तैयार नहीं हो सका था। फलतः भारतीय सेना को कई स्थानों को छोड़ना पड़ा। चीनी सेना बढ़ती हुई भारतीय प्रदेश में प्रवेश करने लगी और तेजपुर में कोई अस्सी मील उत्तर तक आ गयी। यह भारत और चीन के बीच वस्तुतः एक अघोषित युद्ध था।

चीन के प्रधान मन्त्री ने भारत के समक्ष वार्ताएँ शुरू करने के लिए एक त्रिसूत्री प्रस्ताव रखा था। कोई भी स्वाभिमानी देश इस शर्त को नहीं मान सकता था। अतएव भारत ने उसे नामंजूर कर दिया। भारत ने यह माँग की कि चीनी सेना ८ सितम्बर की स्थिति में चली जाय और आक्रमण का अन्त हो तभी चीन के साथ किसी प्रकार की बातचीत शुरू हो सकती है। चीन इसके लिए तैयार नहीं हुआ। पर चीनी के लिए अब युद्ध जारी रखना असम्भव था। जाड़े का महीना आ रहा था और इस समय हिमालय क्षेत्र में चीनी का टिकना असम्भव था। उधर सोवियत संघ भीतर ही भीतर चीन पर आक्रमण बन्द करने के लिए दबाव डाल रहा था। चीनी हमले के खिलाफ भारत में भी अपूर्व जनजागरण हुआ और मित्र देशों से भारत को सहायता मिलने लगी। इन सब बातों को देखकर युद्ध बन्द कर देने में ही चीन ने अपना कल्याण समझा। २० नवम्बर को उसने एक तरफा युद्ध बन्द कर देने की घोषणा कर दी। यह भी कहा कि १ दिसम्बर से वह अपनी फौज को ७ नवम्बर की नियन्त्रण-रेखा तक वापस लौटा लेगा। सभी दृष्टियों से यह चीन की एक भयंकर कूटनीतिक चाल थी। इसके द्वारा वह न केवल भारत को वरन् समस्त विश्व को धोखा में डालना चाहता था। इस घोषणा के उत्तर में नेहरू अपनी उसी पूर्ववर्त्ती माँग पर डटे रहे कि चीन ८ सितम्बर वाली रेखा पर वापस जाय तभी उससे कोई वार्ता हो सकती है। चीन ने जिस तरह की माँग रखी है वह न केवल अपमानजनक है, किन्तु सीमा के समस्त दर्रों पर तथा अधिकांश भारतीय प्रदेश पर उसका अधिकार पक्का करने वाली है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि चीन कहाँ तक अपनी सेना हटाने को तैयार था। चीन की घोषणा में कहा गया था कि वह नेफा में "अवैध" मैकमोहन रेखा के पार अपनी सेना हटा लेगा और शेष सीमा पर वह अपने वर्तमान अधिकार क्षेत्र की सीमा से साढ़े बारह मील पीछे हटेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि लद्दाख में, जहाँ वह पचासों मील आगे बढ़ आया था, वहाँ पर अपना प्रभुत्व क्षेत्र सिद्ध

करने के लिए केवल साढ़े बारह मील पीछे हटेगा। और इस प्रकार वहाँ लगभग सोलह हजार वर्ग मील पर अपना आधिपत्य कायम रखेगा। इतना ही नहीं, पूर्वी क्षेत्र में भी वह थागला पहाड़ी तथा उसके निकटवर्त्ती सभी चौकियों पर अपना प्रभुत्व रखना चाहता था। चीन की शर्त्त थी कि वह अपने नियन्त्रण के क्षेत्रों में अपनी चौकियो को अक्षुण्ण रखेगा और उस क्षेत्र की शांति-व्यवस्था के लिए अपनी पुलिस भी तैनात रखेगा। इस प्रकार अपने नियन्त्रण के क्षेत्रों में वह असैनिक शासन-व्यवस्था स्थापित करना चाहता था और साथ ही भारत को इस अधिकार से वंचित रखना चाहता था कि वह अपनी खोयी हुई चौकियो को पुनः प्राप्त कर सके! उसने भारत को धमकी भी दी कि यदि भारत ने फिर चौकियाँ स्थापित करने की चेष्टा की तो चीन को पुनः लड़ाई प्रारम्भ कर देने का अधिकार रहेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि युद्ध-विराम का प्रस्ताव न केवल भ्रमात्मक ही था वरन् इसकी स्वीकृति भारत के लिए सांघातिक होता।

भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय ने चीन के इस प्रस्ताव का सावधानी से अध्ययन किया और इसके विश्लेषण करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचा कि कई अर्थों में यह प्रस्ताव २४ अक्टूबर के प्रस्ताव से भी खराब है। इस विश्लेषण के अनुसार चीन ने केवल ८ सितम्बर, १९६२ से पहले शक्ति के प्रयोग से हथिआये हुए काफी बड़े भारतीय भू-भाग पर नियन्त्रण जमाये रहना चाहता है बल्कि लद्दाख और नेफा दोनो में ८ सितम्बर, १९६२ के बाद विशाल आक्रमणो से कब्जा किये प्रदेश पर भी नियन्त्रण प्राप्त करना चाहता है। भारत की भूमि पर आक्रमण करके कब्जा जमा लेने और उसे उचित सिद्ध करने की चीनी चाल इतनी स्पष्ट थी कि भारत उसे स्वीकार नही कर सकता था। अतः भारत सरकार ने चीन के २१ नवम्बर, १९६२ के प्रस्ताव को अस्वीकार कर लिया।

फिर भी चीन ने युद्ध बन्द कर दिया और इस कारण लड़ाई रुक गयी। उसने जीते हुए भारतीय प्रदेशो को भी खाली करना शुरू कर दिया। युद्ध में बहुत से भारतीय सैनिक बन्दी बना लिये गये थे। चीन ने इन बन्दियों को रिहा कर दिया और भारत के कुछ सैनिक साजोसामान भी लौटा दिये।

तटस्थ राष्ट्रों की प्रतिक्रिया—भारत पर हुए चीनी आक्रमण की जो प्रतिक्रिया तटस्थ राष्ट्रों में हुई वह अत्यन्त ही आश्चर्यजनक थी। हिन्देशिया और उसके राष्ट्रपति सुकर्ण के लिए भारत ने जितना किया था उतना शायद ही किसी और देश ने किया हो। किन्तु भारत के संकट के समय वे चुपचाप ही रहे। मिस्र के राष्ट्रपति नासिर, यूगोस्लाविया के टीटो तथा घाना के एनक्रूमा भारत के गहरे मित्र माने जाते थे, परन्तु उन्होंने भी दिल खोलकर भारत का साथ नही दिया। घाना के एनक्रूमा ने भारत को शस्त्र सहायता देने के लिए ब्रिटेन से विरोध भी प्रकट किया। टीटो और नासिर भी लगभग चुप रहे।

चीन की दूसरी धमकी—चीन ने भारत की ८ सितम्बर से पूर्व की स्थिति स्थापित होने की माँग को ठुकरा दिया और यह धमकी दी कि इस बात पर अड़े रहने से सीमा संघर्ष सुलझ नही पायगा। उसने भारत को आक्रामक बतलाया। इतना ही नहीं, कोलम्बो-सम्मेलन प्रारम्भ होने से पूर्व उसने धमकी से भरा भारत विरोधी प्रचार किया ताकि सम्मेलन के समस्त

राष्ट्रों को धमका कर उन्हे भारत के न्यायसंगत माँगों का समर्थन करने से रोक सके। अपने इस प्रयास में वह बहुत हद तक सफल भी रहा। सम्मेलन के एक दिन पूर्व चीन ने भारत को एक धमकी भरा पत्र भेजकर निम्न बातों का 'हाँ' या 'ना' में उत्तर देने को कहा :

(१) भारत युद्ध-विराम का प्रस्ताव स्वीकार करता है या नही,

(२) भारत चीन का यह प्रस्ताव स्वीकार करता है या नही कि दोनों देशों की सेनाएँ ७ नवम्बर, १९५९ की नियन्त्रण रेखा से बीस किलोमीटर पीछे हट जायँ,

(३) भारत चीन की यह माँग स्वीकार करता है या नही कि दोनों देशो के अधिकारी परस्पर मिलें और सेनाओं की वापसी और विसैन्दकृत क्षेत्र के विषय में विचार-विनिमय करें।

भारत ने इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया।

कोलम्बो सम्मेलन—भारत और चीन के इस अघोषित युद्ध से एशिया और अफ्रिका के कुछ मित्र राज्यों का चिन्तित होना स्वाभाविक था। लंका, वर्मा, इन्डोनीशिया, मिस्र, घाना, कुछ ऐसे देश थे जो भारत और चीन दोनों के मित्र थे। अतएव इन लोगो ने बीच-बचाव करके भारत-चीन सीमा-विवाद को हल करने का अपना इरादा प्रकट किया। लंका के प्रधान मन्त्री की प्रेरणा से कोलम्बो में इन पाँच शक्तियों का एक सम्मेलन १९६२ के दिसम्बर में हुआ जिसमें इस विवाद को हल करने के लिए एक तरीका निकाला गया। सम्मेलन ने अपने प्रस्तावों को उस समय तक गुप्त रखने का निर्णय किया जबतक उनपर दोनों पक्षों की प्रतिक्रिया उन्हें ज्ञात न हो जाता।

श्रीमती भंडारनायक स्वयं एक प्रस्ताव लेकर पेकिंग और नयी दिल्ली गयी तथा १९ जनवरी, १९६३ को कोलम्बो प्रस्ताव (Colombo Proposals) प्रकाशित कर दिया गया।

कोलम्बो प्रस्ताव—कोलम्बो सम्मेलन के प्रस्ताव निम्नलिखित थे :

(१) सम्मेलन इस बात का अनुभव करता है कि वर्तमान तथ्यतः युद्ध-विराम का काल भारत-चीन-विवाद का शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

(२) भारत-चीन-सीमा के पश्चिमी क्षेत्रो के सम्बध में सम्मेलन ने चीन सरकार से अपील की है कि वह उस क्षेत्र अपनी सैनिक चौकियों को बोस किलोमीटर और पीछे हटा ले जैसा कि चीन के प्रधान मन्त्री ने प्रस्तावित किया है।

(३) सम्मेलन भारत सरकार से यह अपील करता है कि वह अपनी वर्तमान सैनिक स्थिति को कायम रखे।

(४) सीमा विवाद का अन्तिम हल होने तक चीनी सैनिकों द्वारा खाली किया गया क्षेत्र असैनक क्षेत्र हो और उसकी निगरानी गैर सैनिक चौकियों द्वारा की जाय। किन्तु इससे उस क्षेत्र में भारत और चीन दोनो का पहले की उपस्थिति का दावा खत्म नही होगा।

(५) पूर्वी नेफा क्षेत्र के सम्बन्ध में सम्मेलन का विचार है कि उस क्षेत्र में दोनों सरकारों द्वारा मान्य वास्तविक नियन्त्रण रेखा पर युद्ध-विराम-रेखा कार्य कर सकती है। उधर के शेष क्षेत्रों के बारे में दोनों देश अपने भविष्य मे होने वाली बात-चीत से निर्णय कर सकते हैं।

(६) मध्यवर्ती क्षेत्र की समस्या के बारे में सम्मेलन का प्रस्ताव है कि उसका समाधान शान्तिपूर्ण तरीको से हो।

(७) सम्मेलन का विश्वास है कि इन प्रस्तावो के कार्यान्वित होने से दोनों देशों के प्रतिनिधियो के बीच युद्ध-विराम की स्थिति में समस्याओ के समाधान की दृष्टि से वार्ता के लिए मार्ग प्रशस्त होगा। सम्मेलन का यह भी विश्वास है कि ये प्रस्ताव युद्ध-विराम की स्थिति को दृढ़ करने में भी सहायक होगे।

भारत ने कुछ "स्पष्टीकरण" के बाद सम्पूर्ण कोलम्बो प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और उसकी स्पष्टीकरण के अनुसार पूर्वी क्षेत्र में भारतीय सेना मैकमोहन रेखा तक जा सकेगी। चीनी सेना भी अपने पूर्व स्थानो तक जा सकेगी, लेकिन विवादग्रस्त स्थानों पर उसका जाना भी वर्जित था। २१ जनवरी, १९६३ को चीन के विदेश मन्त्री श्री चेन यी ने कोलम्बो प्रस्तावों को "सिद्धांततः स्वीकार" कर लिया, लेकिन साथ ही यह भी कहा कि कुछ बातों पर चीन का अपना विचार है जिनपर वार्ता के दौरान में विचार किया जा सकता है। वास्तव में, चीन कोलम्बो प्रस्ताव को मानने में आनाकानी कर रहा था। उसने कोलम्बो प्रस्ताव को वस्तुतः ठुकरा दिया और इस प्रकार भारत-चीन सम्बन्ध में कूटनीतिक स्तर पर एक तरह का गतिरोध उत्पन्न हो गया। चीन के रुख से तीन बातें स्पष्ट हो गयीं—(१) चीन लेन-देन के आधार पर भारत से राजनीतिक समझौता करना चाहता था, (२) चीन कोलम्बो प्रस्तावों को पूरी तरह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था, तथा (३) चीन किसी प्रकार की मध्यस्था का विरोधी था। यह भी कहा जाता है कि यदि भारत-चीन को कुछ रियायतें देने को प्रस्तुत हो जाय तो चीन नेफा और लद्दाख में खाली किये गये स्थानो पर भारतीय सेनाओं द्वारा कब्जा किये जाने का विरोध नहीं करेगा।

९ अक्टूबर, १९६३ को भारत सरकार को प्रधान मन्त्री चाऊ एन लाई का एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें उन्होने पुनः यह सुझाव रखा कि दोनों पक्षों को अब वार्ताएँ शुरू कर देनी चाहिए। इसके जवाब में भारत सरकार ने चीन से कहा कि वह पहले कोलम्बो प्रस्तावों को पूरी तरह स्वीकार कर ले तब वार्ता शुरू करने का सुझाव रखे। उस हालत में यदि वार्ता असफल रही तो भारत-चीन विवाद को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष रखा जा सकता है। लेकिन चीन इन सभी सुझावों को टालता गया। उलटे वह भारत को बदनाम करता रहा।

नासिर प्रस्ताव—चीन-भारत विवाद के इस गतिरोध को दूर करने के लिए ३ अक्टूबर, १९६३ को राष्ट्रपति नासिर ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें कोलम्बो प्रस्तावों की बातों को दुहराया गया था तथा यह सुझाव रखा गया था कि भारत चीन विवाद के अन्त के लिए एक दूसरा कोलम्बो सम्मेलन का आयोजन हो। लेकिन इस प्रस्ताव का भी कोई नतीजा नही निकला।

भारत-चीन विवाद के सम्बन्ध में १९६४ में दो उल्लेखनीय घटनाएँ घटी हैं। फरवरी, १९६४ में जब चीन के प्रधान मन्त्री बर्मा गये तो वहाँ के प्रधान मन्त्री से उनकी बातें हुई और अन्त में जो संयुक्त विज्ञप्ति निकली उसमें कहा गया था कि भारत और चीन को कोलम्बो प्रस्तावों के आधार पर अविलम्ब प्रत्यक्ष वार्ता शुरू कर देनी चाहिए। इस सम्बन्ध में जो

दूसरी बात है वह यह कि मार्च १९६४ में लंका के प्रधान मन्त्री श्रीमती भंडारनायक के द्वारा भारत सरकार को यह सूचना कि चीन की सरकार लद्दाख की सात चौकियों को खाली करने के लिए तैयार है और इसके बाद वार्ता शुरू हो सकती है। भारतीय संसद् में इस पर बोलते हुए प्रधान मन्त्री नेहरू ने कहा कि यदि चीन स्वयं प्रत्यक्षतः इस तरह का प्रस्ताव रखे तो उस पर विचार किया जा सकता है।

मई, १९६४ में जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु पर श्री चाऊ एन लाई ने एक शोक-सन्देह भेजा जिसमें उन्होंने यह भी कहा था कि भारत और चीन का विवाद अत्यन्त अस्थायी है और इसका समाधान शान्तिपूर्ण ढंग से होना चाहिए। श्रीमती भंडारनायक ने इस विचार का आदर किया और नयी दिल्ली में बोलते हुए उन्होंने कहा कि "कोलम्बो शक्तियाँ" इस समस्या के समाधान के लिए चेष्टा करती रहेंगी।

लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि चीन के ये सारे सुझाव दिखावटी थे। वस्तुतः चीन कोलम्बो प्रस्तावों के सम्बन्ध में बहुरंगी रूप धारण करता रहा है। इन प्रस्तावों के प्रति अपनी ईमानदारी का प्रमाण देने के लिए उसने तरह-तरह का प्रपंच रचा है और इसके लिए अपनी पूरी शक्ति के साथ सचेष्ट रहा है।

भारत-पाक युद्ध और चीन—१९६० से ही चीन पाकिस्तान के साथ अपने सम्बन्धों को सुधार रहा था। यह स्मरणीय है कि जब चीन में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना हुई थी तो पाकिस्तान ने उसके प्रति कोई सहानुभूति प्रदर्शित नहीं की थी। अमेरिका के नेतृत्व में चीन के खिलाफ जो दक्षिणी-पूर्व एशिया सैन्य संगठन बना उसका पाकिस्तान एक सदस्य हो गया और उसकी सारी नीति चीन-विरोधी थी। कश्मीर के प्रश्न पर चीन ने भारत का समर्थन किया था।

लेकिन सीमा विवाद को लेकर भारत और चीन में जब संघर्ष होने लगा तो पाकिस्तान और चीन दोनों एक दूसरे के अत्यन्त करीब आने लगे। दोनों देशों के सम्बन्ध सुधारने के बहुत यत्न हुए और पाकिस्तान में चीन की कूटनीति सक्रिय हो उठी। रावलपिंडी और पेकिंग में कई समझौते हुए और "चीनी-पाकिस्तानी भाई-भाई" के नारे लगने लगे। लेकिन दोनो देशो के इस गठबन्धन का कोई सैद्धान्तिक आधार नही था। एक समाजवादी व्यवस्था का पोषक और दूसरा सैनिक तानाशाही, सामन्तशाही और धर्मान्धता का गढ़ था। यदि दोनों में कोई सामान्य बात थी तो वह भारत का विरोध। उनकी मैत्री का आधार केवल भारत का विरोध था।

पाकिस्तान और चीन की नवीन मैत्री का प्रथम व्यावहारिक प्रयोग सितम्बर, १९६५ में हुआ जब भारत और पाकिस्तान के बीच लड़ाई छिड़ गयी। इस लड़ाई में चीन ने पाकिस्तान का पूरा-पूरा समर्थन किया और भारत को आक्रामक बतलाया। चीन ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया। इसकी व्यवस्था करने के लिए कुछ चीनी अधिकारी पाकिस्तान भी आये। भारत-चीन सीमान्त पर चीन ने सैनिक हरकतें भी शुरू कर दी।

चीन की इस गतिविधि पर भारत सरकार का रुख स्पष्ट था। वह इस सम्भावना को ध्यान में रखे हुई थी कि चीन भी इस अवसर से लाभ उठाकर भारत पर आक्रमण कर सकता है। अतएव चीन के खिलाफ भी उसने अपनी तैयारी जारी रखी। भारत सरकार ने स्पष्ट रूप से उद्घोषित कर दिया कि यदि चीन भारत पर आक्रमण करता है तो उसका भी डटकर मुकाबला किया जायगा। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ ने भी चीन को चेतावनी दे दी कि वह इस युद्ध में हस्तक्षेप करने का प्रयास नहीं करे।

चीन का अल्टिमेटम—लेकिन चीन पर इन चेतावनियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। १६ सितम्बर, १९६५ को चीन की सरकार ने भारत सरकार को एक अल्टिमेटम दिया जिसमें यह मांग की गयी कि "तीन दिनों के अन्दर भारत सिक्कम-चीन सीमा पर गैर कानूनी ढंग से बनाये छप्पन सैनिक प्रतिष्ठानों को हटा लें, अन्यथा इसका परिणाम बहुत बुरा होगा।" पत्र में यह भी मांग की गयी थी कि भारत सीमा पर अपने "सारे अतिक्रमण तत्काल बन्द कर दे," अपहृत सीमा-निवासियों और पकड़े गये मवेशियों को वापस कर दे और सीमा के पार परेशान करनेवाले हमलों से विमुख हो जाय। अन्यथा इसके गम्भीर परिणामों के लिए भारत सरकार पूरी तरह से जिम्मेदार होगी।"

चीन की इस कार्यवाही से भारत में सनसनी तथा पाकिस्तान में हर्ष की लहर फैल गयी। ऐसा प्रतीत हुआ कि पाकिस्तान और भारत का युद्ध अब व्यापक रूप धारण कर लेगा। चीन यदि भारत पर आक्रमण कर देता तो परिस्थिति बहुत नाजुक हो जाती और भारत-पाक युद्ध विश्व-युद्ध का रूप धारण कर सकता था। अतएव महाशक्तियों ने जिन पर विश्व-शान्ति का मुख्य दायित्व है, तुरत ही चीन को चेतावनी दी कि वह आग के साथ खिलवाड़ नहीं करे। इस तरह की चेतावनी सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों ने दी। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था उसने चीनी अल्टिमेटम के सदमा को सहने का प्रयास किया। चीन की धमकी गम्भीर अवश्य थी लेकिन यह अप्रत्याशित नहीं थी। यह चीन और पाकिस्तान के अस्वाभाविक गठबन्धन का स्वाभाविक परिणाम था। इस चुनौती में चीन का सैनिक दर्प और पाशविक बल बोल रहा था।

लेकिन भारत ने चीन की चुनौती को स्वीकार कर लिया। अल्टिमेटम के जवाब में १७ सितम्बर को लोक सभा में प्रधान मन्त्री शास्त्री ने सिक्कम-तिब्बत सीमा पर भारत द्वारा अतिक्रमण किये जाने का खण्डन करते हुए कहा कि भारतीय प्रदेश पर चीन का दावा हमें स्वीकार नहीं है। उन्होंने कहा कि चीन की सैनिक शक्ति हमें अपनी प्रदेशिक अखण्डता की रक्षा से विचलित नहीं कर सकती। भारत ने चीन के आरोपों का खण्डन किया और कहा कि यदि चीन की सरकार समझती है कि भारत ने उसके प्रदेश में सैनिक प्रतिष्ठान बना लिये हैं तो वह उनको तोड़ सकता है और भारत इसका कोई विरोध नहीं करेगा।

चीन की सैनिक हरकत—अल्टिमेटम देने के साथ ही चीन ने सिक्कम तथा लद्दाख क्षेत्रों में सेना का जमाव और सैनिक गतिविधि शुरू कर दी। अल्टिमेटम की अवधि समाप्त होने के पूर्व ही उसने सीमा के पार स्थित भारतीय सेनाओं पर गोली चलाना भी शुरू कर दिया। कई जगह भारतीय क्षेत्र में चीनी सैनिक घुस आये। १९ सितम्बर को अल्टिमेटम की अवधि समाप्त होने वाली थी, लेकिन चीन ने बहुत बड़े पैमाने पर कोई कार्रवाई शुरू न करके

इसकी अवधि तीन दिनों के लिए और बढ़ा दी। बाद में २३ सितम्बर को भारत-पाकिस्तान के बीच युद्ध विराम हो गया तो पेकिंग रेडियो ने एक नाटकीय घोषणा करते हुए कहा कि "भारतीय सैनिक प्रतिष्ठानों को तोड़कर अपनी सीमा में वापस चले गये।" चीन के इस मनगढ़न्त कहानी को भारत सरकार के एक प्रवक्ता ने "उपजाऊ चीनी मस्तिष्क की ऊपज" बतलाया।

चीन और भारत के सम्बन्ध में तनावपूर्ण स्थिति पुनः जून १९६७ में आयी जब चीन ने जासूसी का आरोप लगाकर पेकिंग स्थित भारतीय दूतावास के दो कूटनीतिज्ञों को अवांछित व्यक्ति घोषित करके उन्हें चीन से निकल जाने का आदेश दिया। इनमें से एक को यह कहा गया कि इसके आचरण की जाँच एक सार्वजनिक अदालत में होगी। बाद में जब दोनों कूटनीतिज्ञ चीन से निष्कासित होकर स्वदेश के लिए चले तो पेकिंग और कैंटन में चीनी लाल रक्षकों ने उनके साथ बड़ा बुरा और भद्दा व्यवहार किया। इन घटनाओं की प्रतिक्रिया भारत में हुई। भारत सरकार ने भी चीनी दूतावास के कूटनीतिज्ञों को अवांछनीय व्यक्ति घोषित करके भारत छोड़ने का आदेश दिया।

चीन की भारत विरोधी हरकतें अभी तक बन्द नहीं हुई हैं और भारत चीन सीमा पर बहुत बड़े पैमाने पर चीनी सैनिकों का जमाव जारी है। २३-२४ अप्रिल १९६९ को नाथूला में चीन की सैनिक हरकतों से स्थिति कुछ तनावपूर्ण हो गयी थी। लेकिन कोई विशेष घटना नहीं घटी। फिर भी, सम्भव है कि चीन पुनः भारत पर हमला कर दे। लेकिन यह निश्चित है और चीन के शासक इस तथ्य को भलीभाँति समझते हैं कि वह युग अब समाप्त हो गया जब एक देश दूसरे देश पर आक्रमण करके उस पर आधिपत्य कायम कर ले। इसके साथ यह भी निश्चित है कि अभी वर्षों तक भारत और चीन का सम्बन्ध अत्यन्त तनाव पूर्ण रहेगा और सीमा पर यदा-कदा छिटपुट संघर्ष और मुठभेड़ होते रहेंगे।

संघर्ष और संकट के समय मानसिक सन्तुलन कायम रखना अत्यन्त आवश्यक माना गया है और चीन के प्रति अपनी नीति-निर्धारण करते समय हमें इस पहलू पर हमेशा ध्यान रखना पड़ेगा। आवेश या निहित स्वार्थों के प्रभाव में आकर हमें कोई ऐसा कदम नहीं उठाना है जिसका परिणाम हमारे हक में अच्छा न हो। यह तय है कि भारत और चीन के सम्बन्धों में उत्पन्न समस्याओं का कोई सैनिक समाधान नहीं हो सकता है, क्योंकि इन दोनों देशों के बीच सम्भवतः कोई अन्तिम और निर्णायक युद्ध नहीं हो पायगा। चीन के साथ हमारे विवादों का अन्त कूटनीतिक स्तर पर ही होगा, भले ही इस तरह की किसी कूटनीतिक वार्ता को प्रारम्भ होने में वर्षों लग जाय।

समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर भारत का दृष्टिकोण

वियतनाम संघर्ष और भारत :—हिन्द-चीन के मामले में भारत शुरू से ही रुचि लेता आ रहा है। उसने १९५४ के जेनेवा समझौता का समर्थन किया और इसको कार्यान्वित करने में अपना सहयोग किया। जेनेवा समझौता को पालन कराने के लिए जो अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग बना उसका भारत चेयरमैन भी हुआ।

१९६४ से वियतनाम में अमेरिका की आक्रामक नीति बहुत स्पष्ट हो गयी। जब वियतनाम में अमेरिका का प्रत्यक्ष सैनिक हस्तक्षेप हुआ तो भारत बड़ी दुविधापूर्ण और उलझन भरी स्थिति में पड़ गया। वियतनाम की स्थिति साफ थी। यदि वियतनाम के युद्ध में कम्युनिस्ट विजयी हो तो यह उस क्षेत्र में चीन की विजय होगी। चीन भारत का प्रबलतम शत्रु है। अतः दक्षिण पूर्व एशिया में उसकी प्रभाव-वृद्धि भारतीय हितों के लिए घातक हो सकती है। इस दृष्टि से कुछ लोगों का यह कहना था कि भारत के लिए उचित यह था कि वह अमेरिका की नीति का पूरा समर्थन करता। लेकिन भारत ने ऐसा नहीं किया। यदि वह ऐसा करता तो सोवियत संघ से जुड़े हुए हमारे राष्ट्रीय हितों को अपार क्षति पहुँचती क्योंकि इस नीति से सोवियत संघ भारत से अवश्य नाराज हो जाता। भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध, भारत-चीन विवाद और कश्मीर की समस्या के बारे में सोवियत मैत्री हमारे लिए कितनी मूल्यवान है, यह कोई छिपा हुआ तथ्य नहीं है। अतः इस दृष्टिकोण से विचार करने पर यह समुचित प्रतीत होता है कि भारत को उत्तरी वियतनाम का समर्थन करना चाहिए। और, यदि दोनों दृष्टिकोणों पर सन्तुलित विचार किया जाय तो राष्ट्रीय हित की दृष्टि से यह उचित प्रतीत होता है कि भारत १९५४ के जनेवा-समझौते के कार्यान्वियन पर पूरा बल दे। दोनों पक्षों में समझौता के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए अमेरिका के बमवर्षा को रोकना भारत ने आवश्यक माना। भारत को विश्वास था कि बमवर्षा रोकने से युद्ध के विस्तार का भय कम होगा, महायुद्ध की विस्फोटक स्थिति टल जायगी और पारस्परिक वार्ता के लिए वातावरण में सुधार होगा। जब विरोधी पक्ष आमने-सामने वार्तालाप के लिए बैठेंगे तो गतिरोध दूर होगा और वियतनाम में शान्ति का वार्ता प्रशस्त होगी। इसी कारण भारत ने अमेरिका से निरन्तर बमवर्षा बन्द करने का अनुरोध किया और जब १ अप्रिल, १९६८ को अमेरिका ने बमबारी को सीमित करने का निश्चय किया तो भारत ने उसका स्वागत किया।

१९६७ के पश्चिम एशियाई संकट में भारतीय दृष्टिकोण :—पश्चिम एशिया के मध्य १९६७ के संकट में भारत का दृष्टिकोण बड़ा ही विवादास्पद विषय बन गया। शुरू से ही भारत का रुख अरब देशों के साथ सहानुभूतिपूर्ण रहा है। संयुक्त अरब गणराज्य के साथ तो उसकी दोस्ती बड़ी ही पक्की है। इसी कारण भारत ने अभी तक इजरायल को कूटनीतिक मान्यता नहीं प्रदान की है। मध्य मई से जब पश्चिम एशिया में युद्ध के बादल मँडराने लगे, उसी समय से भारत आँख मूँदकर संयुक्त अरब गणराज्य का समर्थन करता रहा। सुरक्षा परिषद् में भारत हमेशा अरबों का वकालत करता रहा। उसने सोवियत संघ की इस माँग की कि इस युद्ध में इजरायल ने आक्रमण शुरू किया है, समर्थन करता रहा। भारत के अन्दर इस नीति की बड़ी आलोचना हुई। आलोचना के दो आधार थे। यह कहा गया कि संयुक्त अरब गणराज्य ने भारत को भारत-चीन युद्ध और भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय कोई सहायता नहीं दी और एक तरफ से वह तटस्थ रहा। अन्य अरब देशों ने तो स्पष्टतः भारत का विरोध किया। भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय जोर्डन ने खुलकर पाकिस्तान का समर्थन किया और सऊदी अरब जैसे राज्यों ने उसको सहायता भी भेजी। इसके विपरीत इजरायल ने इन संकटों के समय भारत के साथ सहानुभूति दिखलायी और १९६६ में सुरक्षा-परिषद् के अस्थायी सदस्यों के चुनाव में उसने भारत का समर्थन किया, जबकि अरब देशों ने भारत का विरोध किया।

आलोचना का दूसरा आधार यह है कि भारत को अपने भविष्य पर ख्याल रखना चाहिए। आज स्वेज नहर इजराइल के लिए बन्द है तो कल वह भारत के लिए भी बन्द हो सकता है। सम्भव है कि कुछ दिनों के बाद संयुक्त अरब गणराज्य में ऐसे लोगों का शासन कायम हो जाय जो धर्मान्ध हो और धर्म के आधार पर पाकिस्तान का समर्थन करें। इस हालत में यदि भारत-पाकिस्तान में युद्ध छिड़ जाय तो ऐसे लोग भारत के लिए भी स्वेज नहर का मार्ग बन्द कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त इजरायल ने भारत का कुछ नही बिगाड़ा है। यह ठीक है कि फिलिस्तीन में इजरायल राज्य का सृजन नही होना चाहिए था। लेकिन जब एक बार वह राज्य स्थापित हो गया और संयुक्त राष्ट्र-संघ की मान्यता उसे मिल गयी तो उसको नष्ट कैसे किया जा सकता है। सघ के एक सदस्य देश के अस्तित्व को समाप्त करनेवाले देशों की धमकी का भारत को समर्थन मिले, यह कैसा न्याय है और कैसी नीति है।

इन आलोचनाओं में कुछ तथ्य अवश्य हैं; फिर भी पश्चिमी एशिया के संकट में भारतीय रुख को एकदम अन्यायपूर्ण नही कहा जा सकता है। यह बात ठीक है कि अधिकांश अरब देशों ने भारत-पाकिस्तान संघर्ष में पाकिस्तान का पक्ष लिया था और सार्वजनिक तौर पर संयुक्त अरब गणराज्य ने भारत का जोरदार समर्थन नही किया था। लेकिन केवल इसी आधार पर यह मान लेना कि नासिर ने भारत का समर्थन नहीं किया उचित प्रतीत नही होता। सम्भव है कि गुप्त कूटनीति के माध्यम से नासिर ने भारत का पूरा समर्थन किया हो। इस बात का पता तो तभी लगेगा जब शोध कर्त्ताओं के लिए संग्रहालय (archives) का द्वार खोल दिया जाय। तबतक के लिए हमें प्रधान मन्त्री के उस वक्तव्य को अधिकारिक तौर पर सत्य मानना पड़ेगा जिसमें इन्होने कहा था कि भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय भारत को संयुक्त अरब गणराज्य से पूरी सहायता मिली थी। कैसाब्लांका सम्मेलन में संयुक्त अरब गणराज्य ने जो रुख अपनाया उससे इस तथ्य की पुष्टि भी होती है। अरब राज्यों के इस सम्मेलन में एक ऐसा प्रस्ताव आया था जिसमें भारत-पाकिस्तान युद्ध के सन्दर्भ में भारत को आक्रामक कहा गया था। नासिर के विरोध के कारण पाकिस्तान की कूटनीति विफल हो गयी और कैसाब्लांका सम्मेलन में इस तरह का प्रस्ताव पास नहीं हो सका।

भारत सरकार की यह भी मान्यता है कि इजरायल के पीछे अमेरिका के हित बोल रहे हैं और अमेरिका पश्चिम एशिया से लेकर दक्षिण एशिया तक अपना सत्तालोक कायम करना चाहता है। अमेरिका की यह महत्त्वाकांक्षा भारत के लिए बड़ा ही खतरनाक है। भारत सरकार की यह धारणा है कि यदि इजरायल को हथकंडा बनाकर अमेरिका अरब संसार के हितों को कुचलने में सफल हो गया तो पश्चिम एशिया का सारा शक्ति-सन्तुलन टूट जायगा। भारत का यह भी विचार है कि इजरायल शुरु से ही अपने पड़ोसियो से खटपट करता रहा है और वह उनके साथ शान्ति बनाये रखने में यकीन नही करता।

इस सघर्ष में अरब देशों के समर्थन का एक कारण यह भी था कि अगर इस युद्ध में अरब देश पूरी तरह पराजित हो जाते तो नासिर का नेतृत्व खत्म हो जाता। यह आशंका गलत नहीं थी। अगर नासिर के समर्थकों ने काहिरा में उनके समर्थन में प्रदर्शन नहीं किया होता, तो उनकी नियति करीब-करीब वही होती जोकि किसी पराजित सेनापति की होती है। भारत सरकार का यह विश्वास है कि अगर अरब देशों में राष्ट्रपति नासिर का नेतृत्व खत्म हो गया, तो

उपनिवेशवाद की जड़ें वहाँ गहरी हो जायेंगी, क्योंकि पश्चिमी देशों के स्वार्थों का सक्रिय विरोध राष्ट्रपति नासिर ने ही किया है। बाकी अरब नेताओं में कोई ऐसा नहीं है जो पश्चिमी उपनिवेशवाद से टक्कर ले सके। भारत का कहना है कि यदि पश्चिम एशिया में शक्ति-शून्यता पैदा हुई तो पश्चिमी देशों का दबाव गहरा होगा और यह भारत के लिए बुरा होगा। ईरान को छोड़कर अधिकतर अरब देश भारत के प्रति अब तक करीब-करीब तटस्थता का व्यवहार करते रहे हैं। लेकिन अगर अरब देशों का झुकाव पश्चिम की ओर हो गया तो इससे पाकिस्तान को फायदा होगा। अमेरिका और ब्रिटेन साम्प्रदायिक आधारों पर पाकिस्तान के लिए अरब देशों का समर्थन प्राप्त करने में कामयाब हो जायेंगे।

द्वितीयतः, पश्चिम एशिया के सामन्तवाद तथा धर्मान्धता के महासागर में नासिर के नेतृत्व में केवल संयुक्त अरब गणराज्य ही समाजवाद और धर्म निरपेक्षता का एक टापू है। इस हालत में भारत के लिए यह आवश्यक है कि वह नासिर और संयुक्त अरब गणराज्य का समर्थन करे। यदि नासिर की स्थिति बनी रही तो पश्चिम एशिया के अन्य देशों में भी समाजवाद और धम निरपेक्षता की लहर फैलेगी जो अन्ततः भारत के लिए लाभदायक रहेगा।

भारत और परमाणु-शक्ति-निरोध-सम्बन्धी संधि :—१९६२ के अपने कटु अनुभव के बाद भारत चीन से कुछ अतिरिक्त सतर्कता बरतते हुए अपने को इस स्थिति में नहीं पा रहा है कि वह परमाणु-शक्ति-निरोध-सम्बन्धी संधि (जिसके सम्बन्ध में सं० रा० सं० ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है) पर आँख मूँदकर हस्ताक्षर कर दे क्योंकि इस दौरान में चीन बहुत अधिक परमाणु-शक्ति सम्पन्न बन चुका है और कोई ताजुब नहीं कि अगले कुछ वर्षों के भीतर उसके पास अमेरिका और सोवियत संघ की सम्मिलित परमाणु-शक्ति का मुकाबला करने लायक शक्ति हो जाय। अतएव जब जून १९६८ संयुक्त राज्य संघ में समझौते का प्रस्ताव रखा गया तो भारत ने बहुत जोरदार शब्दों में कहा कि जो भी प्रस्ताव पास किये जायँ उनके अन्दर निश्चित रूप से निम्न बातों की व्यवस्था होनी चाहिए : (१) जो राष्ट्र परमाणु अस्त्रों से सम्पन्न हैं वे उसके निर्माण को नहीं बढ़ावें; (२) जिन राष्ट्रों के पास परमाणु अस्त्र नहीं है या जिनमें क्षमता नहीं है उन्हें किसी भी तरह का भय परमाणु सम्पन्न देशों से नहीं होना चाहिए; और (३) परमाणु-शक्ति से सम्पन्न बड़ी शक्तियों को यह घोषणा करनी चाहिए कि वे इस तरह के अस्त्रों का एकत्र न करके उसे कम करेंगे। चूँकि इस प्रस्ताव को सोवियत और अमरीकी प्रतिनिधियों ने सम्मिलित रूप से प्रस्तुत किया था इसलिए दोनों को भारत का रवैया बड़ा बुरा लगा और इसके लिए उन्होंने अपनी नाराजगी जाहिर की। लेकिन भारत अपने निश्चय पर डटा रहा। जेनेवा सम्मेलन में भी उसने ऐसा ही तर्क रखा था और अमेरिका तथा सोवियत संघ दोनों से अलग-अलग गारंटी चाही थी कि यदि चीन भारत पर परमाणु आक्रमण करे तो ये देश उसकी रक्षा को प्रस्तुत हो जायँगे। कहा गया कि संधिपत्र पर दस्तखत करने के लिए भारत की यह एक अनिवार्य शर्त है। बाद में जेनेवा से लौटने पर भारतीय विदेश मन्त्री ने और शर्त जोड़ दी। पत्रकारों से वार्ता करते हुए श्री छागला ने कहा कि यदि सोवियत संघ और अमेरिका भारत पर चीन के आक्रमण के विरुद्ध गारंटी दे भी देंगे, तो भी भारत संधि-पत्र पर दस्तखत तबतक नहीं करेगा जबतक परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोगों के बारे में कोई निर्णय नहीं होगा और परमाणु निरस्त्रीकरण के मसले पर कोई फैसला नहीं हो जायगा।

भारत को अपनी नीतियों पर पुनर्विचार करने की मजबूरी मूलतः चीन की परमाणविक नीति के कारण हुई है। चीन की परमाणविक शक्ति के प्रसार और विकास से भयभीत होकर वह "परमाणु छतरी" चाहता था। इसलिए जब उपरोक्त संधि का मसविदा जून १९६८ में साधारण सभा में पेश हुआ तो भारत ने इससे सम्बन्धित मतदान में भाग नहीं लिया। उसने इस संधि का विरोध इसके त्रुटिपूर्ण होने के कारण किया। लेकिन निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में भारत की बदली हुई नीति के मूल में एक दूसरी बात भी है जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। चीन को परमाणविक शक्ति के रूप देखकर भारत का भयभीत होना स्वाभाविक है और इसलिए वह स्वयं परमाणविक शक्ति बनाने की चेष्टा में संलग्न हो गया है। अपनी राष्ट्रीय-सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए भारत के लिए ऐसा करना आवश्यक भी है। यह सम्भव है कि संधिपत्र पर हस्ताक्षर न करके भारत सोवियत संघ और अमेरिका दोनों के कोप का भाजन हो और इसका परिणाम उसको अनेक रूपों में भुगतना पड़े।

चेकोस्लोवाकिया की घटना और भारत—

२१ अगस्त १९६८ को जब सोवियत संघ और वारसा संधि के देशों की सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया में सैनिक हस्तक्षेप किया उस समय भारतीय संसद् का वर्षाकालीन अधिवेशन चल रहा था। रूसी हस्तक्षेप की खबर मिलते ही संसद् के सभी गैर-कम्युनिस्ट दलों ने सरकार से मांग की कि वह इस मसले पर अपना रुख स्पष्ट करे। प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी ने तुरत ही एक वक्तव्य दिया। उन्होंने रूसी कार्रवाई को दुर्भाग्यपूर्ण बताते हुए चेकोस्लोवाकी जनता के प्रति भारत सरकार की सहानुभूति व्यक्त की। किन्तु उनके इस वक्तव्य से सोवियत विरोधी ससद् सदस्यों को सन्तोष नहीं हुआ। जनसंघ के बलराज मधोक ने सरकार से न केवल सोवियत कार्रवाई की निन्दा करने का आग्रह किया, बल्कि यह मांग भी की कि यदि चेकोस्लोवाकिया के नेता विस्थापित सरकार बनावें तो भारत सरकार को उसे मान्यता प्रदान करनी चाहिए। स्वतन्त्र पार्टी के मीनू मसानी ने कहा कि सरकार को कड़े शब्दों में रूसी कार्रवाई की निन्दा करनी चाहिए और संसद् में इस आशय का एक प्रस्ताव भी पारित किया जाना चाहिए। भारत में इस तरह की प्रतिक्रिया का एक विशेष कारण भी था। सोवियत संघ द्वारा पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र दिये जाने के निर्णय (जुलाई १९६८) से भारतीय जनमत पहले से ही क्षुब्ध था। लेकिन भारत सरकार को कुछ मर्यादाओं में बँधकर अपनी नीति का निर्धारण करना था। उसे चेकोस्लोवाकिया की भीतरी बातों का पता था और भारत सरकार सोवियत हस्तक्षेप की पृष्ठभूमि से अवगत थी। इस कारण भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि सोवियत कार्रवाई की निन्दा करने से कोई लाभ नहीं होने को है। इससे चेकोस्लोवाकिया का कोई हित सधने वाला नहीं था। इसलिए जब भारतीय संसद् में सोवियत कार्रवाई की निन्दा के लिए एक प्रस्ताव प्रेषित हुआ तो सरकारी पक्ष ने इसका विरोध किया और प्रस्ताव गिर गया।

२३ अगस्त को सुरक्षा-परिषद् में चेकोस्लोवाकिया में सोवियत कार्रवाई की निन्दा करने के लिए एक प्रस्ताव पेश हुआ। भारत भी उस समय सुरक्षा परिषद् का सदस्य था। भारतीय प्रतिनिधि ने प्रस्ताव से "निन्दा" शब्द हटाकर "भर्त्सना" शब्द रखने का आग्रह किया। जब प्रस्तावकों ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया तो भारतीय प्रतिनिधि ने मतदा

हिस्सा नहीं लिया।[1] ऐसा करने के लिए भारतीय प्रतिनिधि को सरकार से पहले ही आदेश मिल चुका था।

चेकोस्लोवाकिया में सोवियत हस्तक्षेप के प्रति इस भारतीय नीति की देश के कुछ क्षेत्रों में बड़ी कड़ी आलोचना हुई। इन्दिरा मंत्रिपरिषद् के एक सदस्य अशोक मेहता ने इसके विरोध में त्यागपत्र दे दिया। लेकिन भारत सरकार के विचार में भारत के राष्ट्रीय हितों को ध्यान रखते हुए उसके द्वारा उपर्युक्त दृष्टिकोण का अपनाया जाना पूर्ण न्यायसंगत था। इसलिए भारत ने संयुक्त राष्ट्र महासभा में भी चेकोस्लोवाकिया के प्रश्न को उठाये जाने का विरोध किया।

भारतीय विदेश-नीति का मूल्यांकन

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति क्षेत्र में असंलग्नता की नीति भारतीय विदेश नीति की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस नीति को पर्याप्त सफलता मिली है और अब वे लोग भी इसके प्रशंसक बन गये हैं जो कभी इसके कट्टर विरोधी थे। इतना ही नहीं, हमारी असंलग्नता की नीति आज की विश्व राजनीति का एक मुख्य तत्त्व (factor) बन गया है जिसको "तटस्थतावाद" (neutralism) की संज्ञा दी जाती है। एशिया और अफ्रिका के अधिकांश नवीन राष्ट्र जो हाल में ही स्वतन्त्र हुए हैं, इस नीति का अनुसरण कर रहे हैं। इसको हम भारतीय कूटनीति की बहुत बड़ी सफलता मान सकते हैं।

असंलग्नता की नीति पर चलकर भारत ने विश्व राजनीति में प्रयाप्त ख्याति पायी है। शक्ति कूटनीति (power-politics) के इस युग में संसार में उसी देश का महत्त्व है जो सैनिक और आर्थिक दृष्टियों से शक्ति-सम्पन्न हैं। इन दोनों पहलुओं से देखने पर भारत एक महत्त्व-हीन देश है। फिर भी, संसार में उसकी इज्जत है और प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय घटना पर भारत के विचार और उसकी प्रतिक्रिया को राष्ट्रों की मंडली में महत्त्व दिया जाता है। यह असंलग्नता की नीति का ही प्रभाव है; यद्यपि इसमें हमारे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व की देन भी कम नहीं है। यह एक आश्चर्यजनक पर सत्य बात है कि ये सैनिक और आर्थिक दृष्टियों से शक्तिहीन होने पर भी भारत ने कई एक बार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्णायक पार्ट अदा किया है। इंडोनीशिया की स्वतन्त्रता, कोरिया-युद्ध, मिस्र पर ब्रिटेन और फ्रांस का हमला, हिन्द-चीन आदि समस्याओं के समाधान में भारत का महत्त्वपूर्ण और बहुत अंश तक निर्णायक हिस्सा रहा है। किसी भी देश की विदेश नीति या कोई नीति पूर्णतया सफल नहीं होती। कई अवसरों पर संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ और ब्रिटेन जैसे बड़े-बड़े राष्ट्रों को भी असफलता और कभी-कभी घोर अपमान का सामना करना पड़ा है। इस हालत में यदि भारतीय कूटनीति भी कुछ अवसरों पर असफल रही हो तो इसमें दुःख की कोई बात नहीं। वस्तुतः हमारे लिए यह एक गौरव की बात है कि सैनिक और आर्थिक दृष्टि से कमजोर होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में हमने इतनी सफलता और ख्याति हासिल की है।

लेकिन इधर हाल के वर्षों, विशेषकर अक्टूबर १९६२ में चीन के भीषण आक्रमण के बाद से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय कूटनीति एकदम प्राणहीन हो गयी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के

---

१. सुरक्षा परिषद् में जब 'भर्त्सना' और 'निन्दा' शब्दों के प्रयोग को लेकर भारतीय प्रतिनिधि ने मतदान करने से इन्कार किया तब 'वाशिंगटन पोस्ट' ने अपने सम्पादकीय में व्यंग किया कि "भारत ने रूस की 'निन्दा' न कर 'भर्त्सना' की। इसकी हम 'भर्त्सना' नहीं 'निन्दा' करते हैं।"

बाद के पन्द्रह वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हमारा जैसा हिस्सा रहा उसकी तुलना में हमारी आज की कूटनीतिक गतिविधि पूर्णतया फीकी पड़ गयी है और कई कूटनीतिक मोर्चे पर हमें पराभव का सामना करना पड़ा है। एक जमाना था जब भारत ने एशियाई-अफ्रिकी देशों को संगठित करने में नेतृत्व किया था। अब ऐसा समय आ गया है कि हम दूसरों का केवल अनुकरण करते रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में हमारी यह स्थिति अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है।

अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति में कई तरह के दाव-पेंच चलते रहते है और उसमें विजय-पराजय होती रहती है लेकिन पराजय या उसके भय से प्रेरणाहीन बन जाना एक सशक्त राष्ट्र के लिए लज्जा का विषय है। हमारी वर्तमान विदेशी नीति प्रेरणाहीन और प्राणहीन हो गयी है। अभी तत्काल इसमें एक नयी जान डालने की आवश्यकता है। भारत के नवीन राजनेतृत्व के लिए यह एक बहुत बड़ी चुनौती है।

भारत की विदेश-नीति में वस्तुतः एक मौलिक त्रुटि है जो प्रारम्भ से ही इस नीति के साथ जुट गयी है। इसमें दृढ़ता और तर्क का अभाव रहा है और यह विशेषकर एक व्यक्ति के आदेश और विचारो से अधिक प्रभावित रही है। फलतः इसमें वास्तविकता की उपेक्षा की गयी है। भारतीय विदेश-नीति के मौलिक सिद्धान्तो से हमारा कोई विरोध नही है, लेकिन इसका निर्धारण ही कभी-कभी गलत होता है जिसके कारण भारत की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति कमजोर हो जाती है। असंलग्नता तथा उपनिवेशवाद का विरोध करना भारतीय विदेश-नीति के दो प्रमुख मौलिक तत्त्व हैं और इन तत्त्वों को विश्व की विविध घटनाओं के सम्बन्ध में विविध स्तर पर लागू किया जाता है। भारतीय विदेश-नीति की यह एक बहुत बड़ी कठिनाई है और एक लेखक ने इसे "विदेश-नीति के प्रति नेसकाफे दृष्टिकोण" कहा है।[1]

किसी भी विदेश-नीति की सफलता, अन्तिम विश्लेषण में, उस देश की आर्थिक और सैनिक स्थिति पर निर्भर करती है।[2] इस तथ्य को स्वयं पंडित नेहरू ने स्वीकार किया था। यद्यपि आर्थिक और सैनिक दृष्टि से कमजोर होते हुए भी भारत ने पर्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति हासिल की है, लेकिन विश्व-राजनीति को निर्णायक रूप से प्रभावित करने और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को मुख्य तत्त्व बनाने के लिए आर्थिक और सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली होना आवश्यक है। भारत के नीति-निर्धारक एक तथ्य से अपनी आँख नहीं चुरा सकते हैं। यह तथ्य है अन्न और आर्थिक मामले में देश की असमर्थता। जब तक यह असमर्थता बनी रहेगी तब तक किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मसले पर हमें अपने उन दाताओं की बात चाहकर या अनचाहे माननी ही पड़ेगी जो जब तक हमारे भिक्षा-पात्र में थोड़ा बहुत दाने और पैसे डालते रहते हैं।

---

1. "We have no sustained, long-ranging view on foreign affairs; instead we have like instant coffee, an "instant foreign policy." It is a *Nescafe approach* to problems. We react to each crisis and stagger because we have not yet fallen."—"Seminarist," "Spinster on Shelf." in *Seminar* No. 56 (April, 1964) p. 39.

2. Ultimately, foreign policy is the outcome of economic policy and until India has properly evolved her economic policy, her foreign policy will be rather vague, incohrate, and will be groping. It is well for us to say that we stand for peace and freedom and yet that does not convey much to anybody, except a pious hopes."—Nehru in Constituent Assembly (Dec. 4, 1947). Quoted in Ronald Segal, *The Crisis of India*, p. 272.

कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न

(I)

1. Bring out the salient features of the Paris Peace Settlement.
2. What do you understand by the terms "the peace treaties" or "the Peace Settlement." ?
3. "Between the retreat of America and treacheries of Europe the treaties of peace were never given a fair trial." Elucidate.
4. "The Paris Peace Settlement (1919) led to the 'Balkanisation' of Europe." Discuss.
5. Describe briefly the European territorial settlements of 1919-20 and state how far in your opinion, they were responsible for the Second World War ?
6. Examine the salient features of the Versailles Treaty of 1919. What effects had they on subsequent history ?
7. Examine the provisions of the Treaty of Versailles and point out its effects on Germany.
8. Describe in brief the Fourteen Points of President Wilson and explain to what extent these were incorporated in the Covenant of the League of Nations ? What were the point of incoherence between the Treaty of Versailles and the Wilsonian Principles. ?
9. Mark the Wilsonion impact on the Treaty of Versailles,
10. Examine the view that the Treaty of Versailles was merely an armistice for twenty years.
11. "The Treaty of Versailles was a dictated peace." Explain.
12. Point out the merits and demerits of the Treaty of Versailles. Do you think it was a great failure of statesmanship ?
13. "A great opportunity of lasting peace was lost in 1919." Comment."
14. "The Treaty of Versailles was a curious blending of hypocrisy, hatred, vengeance, idealism and *materialism.*" *Critically examine this statement*
15. How far the Treaty of Versailles was responsible for the Second World War ?
16. The Treaty of Versailles had certain characteristics which determined much of subsequent history." Examine.
17. "The Treaty of Versailles contained the germs of the Second World War." Comment.

(II)

1. Mention the historical background of the League of Nations.
2. Explain clearly the aims of the League of Nations and describe the organisation of its main organs.
3. Discuss the composition, structure and functions of the League of Nations.
4. Discuss the working of the League of Nations with reference to the mandate system, minority problem and its administrative functions.
5. Discuss the working of the Mandate System. What were its defects. ?
6. Critically examine the works of the League of Nations in the political sphere. Do you agree that the League succeeded only in the minor disputes where the interests of the Big Powers did not come into clash. ?
7. "The years between 1924 and 1930 were the period of the League's greatest prestige and authority." Explain and discuss.
8. Describe the social, economic and humanitarian activities of the League of Nations.
9. Discuss the non-political activities of the League. Do you agree with the view that the real success of the League was in this field ?
10. "The establishment of the League of Nations at the Paris Peace Conference represented the most ambitious effort so far made to place the peace of the world on a stable basis." Discuss this statement with special reference to the works of the League in the sphere of international peace.
11. Describe the machinery for the pacific settlement of international disputes under the Covenant of the League of Nations.
12. Account for the failure or liquidation of the League of Nations.
13. "The Manchurian crisis decided the fact of League of Nations." Examine this statement.
14. Examine critically the reasons which led to the failure of the League of Nations. How far would you attribute this to the pursuit of diverse policies by Great Britain and France in the inter-war period.

(III)

1. "Long before the echoes of the Great war had died down, France victorious but worried, embarked upon a prolonged search for security." Examine the foreign policy of France in the inter-war period in the light of the above statement.
2. "The most important and persistent single factor in European affairs in the years following 1919 was the French demand for security." Discuss.
3. Examine the main trends in the foreign policy of France between 1918 and 1930.
4. Discuss the causes of differences between England and France after the First World War.

5. What were the difficulties in the way of close Anglo-French co-operation after the First World War ?
6. Examine the circumstances that led to the formation of the Little Entente and the significance of French association with it.
7. What were the principal clauses of the Geneva Protocol ? Describe the causes which led to its failure.
8. Describe briefly the main provisions of the Locarno Pact and comment on the statement that it was "the real dividing line between the years of war and the years of peace."
9. Why was the conclusion of Locarno Pact hailed as the harbinger of peace for the first time after the peace settlement of Versailles ?
10. The Pact of Locarno was generally hailed as an epoch-making event which marked a final reconciliation between the victors and vanquished and constituted a big step forward towards peace." Discuss.
11. What were the circumstances which led to the Kellog-Briand Pact of 1928 ? Explain its terms and show why it failed in its purpose to outlaw war ?
12. "The Pact of Paris was a historical event of unique importance." Discuss.
13. Imperfect though it was, the Pact of Paris was a considerable landmark." Discuss.
14. How was the problem of disarmament tackled during the period 1919-33 ?
15. Examine the works of the Washington Conference of 1921-22.
16. Give an account of the attempts made between 1920 and 1933 to bring about international disarmament and account for their failure.

(IV)

1. What was the Reparation problem and why it was so complicated ? What attempts were made to solve it ?
2. What did you understand by Reparation ? Trace its history and various stages of its development.
3. "The Reparation problem was both a tragedy and a comedy." Examine this statement.
4. "Reparation was a concession of no practical consequence, it was a vain attempt to make Germany pay." Discuss.
5. Critically examine the Reparation problem and point out its influnce on the international situation.
6. "The economic claims against Germany were impossible of payment and the attempt to inforce them proved ruinous to Europe." Discuss.
7. "The Rhur occupation which completed Germany's ruin was, however, a turning point in the post-war history of Europe." Comment.
8. What do you know of the Dawes Plan ? To what extent this plan was successful in solving the reparation problem ? Examine its merits and demerits.

9. Evaluate the contributions of the Young Plan towards the solution of the Reparation problem.
10. "At the Young Plan conference, all the drigs of distrust and enmity that had been eddying about since the days of the armistice and the writing of the Treaty of Versailles were finally drained off." Comment.
11. "The Dawes Plan was viewed as a fortunate solution of reparation problem but in spite of parade of practicality it could not endure." Comment.
12. "The most controversial and complicated problem, which confronted the statesmen of Europe, after the peace settlement was the provision of reparation in the Treaty of Versailles." Discuss.
13. Write an essay on Inter-Allied War Debts.
14. Explain the relation between Reparation and Inter-allied debt problem. What efforts were made to solve the Inter-Allied Problem ?
15. "Give an account of the worldwide Economic Depression of 1930-32. How did it effect the world politics ?

(V)

1. Trace the circumstances which led to the rise of Hitler in Germany. Do you think the Versailles Treaty was mainly responsible for it ?
2. Discuss the causes of the success of the Nazi Revolution in Germany under the leadership of Hitler.
3. "The Nazi Revolution was a big diplomatic revolution." Do you agree with this view ? State reasons.
4. Discuss the impact of the Nazi Revolution on world politics.

(VI)

1. Explain the salient features of Hitler's foreign policy and trace the successive steps by which he destroyed the Treaty of Versailles.
2. "To forge a mighty sword is the task of internal leadership to protect the forging and seek allies in arms is the task of foreign policy."
   Discuss in the light of the above statement, the foreign policy of Nazi Germany between 1939 and 1933.
3. Do you agree with the statement that "Hitler's decision to make Austria the first object of his foreign policy proved in many respects unfortunate" ?
4. Examine the diplomatic trends which led to the formation of the Rome-Berlin Axis.
5. Describe the main stages in the dismemberment of Czechoslovakia.
6. Describe the events in Czechoslovakia leading to the Munich pact of 1938. What consequences followed from it ?
7. Give a background of Munich Settlement. What were its results ?
8. Discuss how the rape of *Czechoslovakia* by Germany reacted on world opinion.

9. "After Czechoslovakia Hitler did not stop. He had yet to penetrate in the East."
How far this statement is true? Discuss it with special reference to Poland, Danzig and the Corridor.
10. Write short notes on (a) The Anglo-German Naval Pact, (b) Anschluss; (c) Rome-Berlin-Tokyo Axis.
11. "The Munich Pact was *the culmination of appeasement* and warrant of death for the western democracies. It was the symbol of the collapse of the system of collective security." Discuss.
12. Discuss the immediate causes of the Second War.
13. What led to the Polish crisis of 1939? What were its results?

(VII)

2. Give a critical account of the foreign policy of Italy between the two world wars.
2. What were the motives of Mussolini in invading Abyssinia? Analyse the *effects of the Italo-Abyssinian war on international politics.*
3. Discuss the significance of the Abyssinian crisis.
4. Analyse the causes of the Spanish civil war. Why it has been regarded as an event of international significance?
5. "The Spanish civil war of 1936 was a trial-baloon of international power-politics." Comment.
7. Give a critical account of the foreign policy of France between the two world wars. Do you think it was full of "inconsistency and hypocrisy"?
7. What do you mean by the British policy of appeasement? What were the guiding factors behind this policy?
8. How far did Chamberlain's policy of appeasement contribute to the Second World War?
9. *Discuss the role of the U. S. in world affairs between the two world wars.*
10. "Isolationism is a misleading word to use in characterising American foreign policy since 1920." Discuss.
11. Discuss the foreign policy of the U. S. towards the Latin American republics between 1920-1937.
12. Mark the main trends in the foreign policy of Soviet Russia between 1924 and 1939.
13. Trace the circumstances which let to the Russo-German non-aggression pact of 1939.
14. Examine carefully Stalin's decision of 1939 to conclude a non-aggression pact with Germany rather than a defensive pact with Britain and France.

(VIII)

1. Analyse the basic features of the foreign policy of the Turkish Republic between the two world wars.

2. Discuss the international policy of Kamalist Turkey.
3. Give a brief history of Palestine between the two world wars.
4. How has the Zionist problem influenced the course of international politics in the Middle East.
5. Discuss the nature of the Palestine problem. Describe the various attempts that were made to solve these problems between 1919 and 1945.
6. Describe the Palestine problem between the two world wars.
7. Descuss the nature of the Anglo-Egyptian relations from the First World War up to the conclusion of the Anglo-Egyptian Treaty of 1936.
8. "The history of Palestine during the twenty year's armistice between two European wars were confused, hectic, and contradictory." Discuss.
9. Trace the growth of Pan-Arab Movement after the First World War.

(IX)

1. Describe the main features of the history of the Far East between 1919 and 1945.
2. Discuss the role of Japan in the Far East from 1920 to 1941.
3. "The Mukden incident of 1931, which gave the signal for Japanese advance on China changed the history of the world." Discuss this statement with reference to the position in the Far East.
4. What was the Japan's policy towards China during the period between the two World Wars ? What was the attitude of the League of Nations in this connection ?
5. Examine the Anglo-American attitude towards Japan between the two World Wars.
6. Describe the circumstances that led to withdrawal of Japan from the League of Nations and state how far that withdrawal influenced Japanese foreign policy in subsequent years.
7. Describe the foreign relations of China between the two World Wars.
8. Analyse the international importance of the Far East.
9. Account for the success of the Japanese foreign policy between the two World Wars.
10. Estimate the Far Eastern Policy of Britain and the United States of America.
11. Give a brief account of Japan's aggression against China in Manchuria. Do you think that the failure of the League of Nations to check it was 'the first serious blow to its prestige as an agency for providing security' ?
12. Give a background of the Washington Conference and the terms of the Washington treaties.
13. Examine the causes and results of the Washington treaties of 1921-22. Did it solve the problems of the Far East ?
14. What were the causes of the Japanese imperialism ?

15. Discuss the causes and results of the Manchurian Crisis of 1931. Why the League of Nations failed to solve it ?
16. Discuss the Sino-Japanese relations between 1931 and 1939.

(X)

1. Give a brief account of the war-time diplomacy of the Great Powers.
2. Write short notes on the Atlantic Charter, Yalta Conference, Postdam Agreement and Dumbarton Oak Conference.

(XI)

1. Describe the organisation and functions of the U. N. O.
2. Describe the composition and powers of the Security Council of the U. N. Discuss its voting procedure.
3. What do you mean by "Veto" in the Security Council ? Would you advocate its abolition ? Give reasons.
4. Compare and contrast the Charter of the U. N. with that of the Covenant of the League of Nations. In what respect the Charter is an improvement on the Covenant ?
5. Write an essay on working of the U. N. as an instrument for the establishment of world peace.
6. Discuss the various international problems tackled by the U. N. How far it has been able to solve them ?
7. Write an essay on the problem of the revision of the U. N. Charter.
8. Write an essay on the Security Council of the United Nations with special reference to the 'Veto' power available to its permanent members. Would you advocate the abolition of the 'Veto' as a means of making the United Nations more effective ?
9. Describe the mechanism for collective security under the Charter of the United Nations and show how it differs from the collective security system under the Covenant of the League of Nations.
10. Describe the machinery for international supervision over backward areas under the League of Nations and the U. N. In what respects, if any, would you regard the charter provisions as an improvement upon the League's mandate system ?
11. How far is the United Nations Trusteeship System is an improvement upon the Mandate System.
12. Describe the composition and powers of the Security Council of U. N. To what extent it is better qualified to establish world peace than the Council of the League of Nations.
13. Describe the constitutions and objectives of the Economic and Social Council, its contribution to international co-operation.
14. Write an essay on the working of the United Nations Organization as instrument for the establishment of world peace.

15. 'The international trusteeship system is no mere prolongation of the mandates system under the League of Nations. It is a new system of international supervision. Its scope is under, its power broader, and its potentialities far greater than those of the mandates system.' Explain and discuss.
16. 'U. N. O. is going the way of League of Nations.' Discuss.
17. Write short notes on :—
UNESCO, Little Assembly of the United Nations, Universal Declaration of Human Rights, International Court of Justice, Optional Clause.
18. Describe in brief the objectives, functions and achievements of I. L. O.
19. What *problems* did the U. N. face during 1964-65 and how it has been able to solve them.
20. Discuss the utility of the U. N. in international politics.

(XII)

1. Trace the *origin* and growth of the conflict between the Soviet Union and the United States after the Second Word War.
2. "Conflict between the two monolithic giants of the modern world is the dominant reality of the contemporary world politics." Discuss this opinion with reference to the relation between the Soviet Union and U. S. A. and suggest remedy or solution for them.
3. What do you understand by "Cold War"? Give its short *resume* from 1946 to 1968.
4. Do you think that the formation of regional military pacts are in consonance with the spirit of the U. N. Charter ? Give arguments.
5. Describe the main provisions of the North Atlantic Treaty Organisation and Warsaw Pact and discuss their effects on the principle of collective security.
6. Write short notes on OAS, SEATO CENTO and Brussels Pact.
7. Give a short account of the problem of disarmament and attempt made to solve it after the Second World War.
8. Discuss the main provisions and significance of the Nuclear Test Ban Treaty of August 1963.
9. Point out the merits and demerits of the Nuclear Non-proleferation Treaty of 1968.

(XII)

1. Discuss the main elements the U. S. A. s. foreign policy in the post-war period.
2. Critically examine the foreign policy of the U. S. A. since the termination of the Second World War.
3. Estimate the strength and influence of the imperialist motive in the policy of the U. S. today.

4. Under what set of circumstances was the Truman Doctrine enunciated ? Do you agree with the view that it is the modern version of the Monroe Doctrine ?
5. "The Truman Doctrine marks a revolutionary departure in the American traditional policy and political thinking." Elucidate.
6. What do you understand by the Eisenhower Doctrine ? Discuss its working and the causes of its failure.
7. Examine the trends of the U. S. policy towards the Latin American states since 1945.
8. Discuss the United State policy towards Cuba.
9. "It was evident before 1960 that America was faced with inescapable necessity of an "agonising reappraisal" of the course in foreign affairs it had pursued during the preceding two decades." Discuss in the light of this statement the main trends of the U. S. foreign policy during the period of Truman, and Eisenhower. What changes took place during the Kennedy regime ?
10. Discuss the role of the United States in the South-East Asia. How would you justify American intervention in the Korean War ?
11. Discuss the Vietnam policy of the U. S. What circumstances did force her to start peace-talks ?
12. Analyse the attitude of Johnson administration towards the West Asian crisis of June 1967.

(XIV)

1. Give a critical sketch of the foreign policy of the Soviet Union since 1945.
2. Give a brief account of the achievements and failure of the Soviet foreign policy under Stalin.
3. In what respects has the foreign policy of the U. S. S. R. modified in recent years ? Give concrete instances to illustrate your answer.
4. Do you think that the foreign policy of the Soviet Union under Khruschev was fundamentally different from that of his predecessor ?
5. Discuss in brief Soviet Union's relations with the communist countries of the world
6. What do you mean by the term "peaceful co-existence" ? Discuss it in the context of the U. S. S. R. diplomacy.
7. Discuss Soviet attitude towards the West Asian and the Vietnam crisis.

(XV)

1. Discuss the economic condition of Europe in the post-war years. What attempts were made to improve them ?
2. Write short notes on : (i) Organisation of European Economic Co-operation, (ii) Council of Europe, (iii) European Common Market.
3. Discuss the foreign policy of Great Britain in the post-war years.
4. Give a short resume of the French foreign policy under De Gaulle.

5. Discuss the problem of German unification.
6. Discuss critically the impact of the emergence of Communist China upon international relations Since 1949.
7. Examine critically the foreign policy of Communist China.
8. Discuss China's relations with the U. S. S. R. since 1959.
9. Describe and discuss the foreign policy of Pakistan. What new trends have appeared in it since 1962 ?
10. Narrate in brief the role of Indonesia in world affairs.
11. Discuss the formation of Malyasia. Analyse its foreign policy.
12. Discuss the importance of the South East Asia in international affairs.
13. Write a short essay on the problem of Indo-China affecting the political developments of South East Asia.
14. How did the Vietnam war start ? Bring out clearly the responsibility of the U. S. A. for the war.
15. Write a short essay on international politics of the Middle East after the Second World War.
16. Discuss the importance of the Middle East in the diplomacy of the Great Powers during the years 1945-1968.
17. Discuss the part played by Middle East oil and the Suez Canal in international diplomacy.
18. How has the Zionist problem influenced the course of international politics in the Middle East ?
19. Give a brief history of the Anglo-Egyptian relations in the period leading to the Suez crisis of 1956.
20. Trace the origin of the Arab-League and indicate its role in the affairs of the Arab World.
21. What were the causes of the Arab-Israel conflict of June 1967 ? Discuss its results.
22. Describe the attitude of the U. S. A., U. S. S. R., Great Britain and India towards the Arab-Israel conflict of 1967.
23. Describe how Algeria achieved her independence.
24. Discuss the emergence of independent states in Africa and its effects on international politics.
25. Write an essay on the growth and development of the movements towards continental unity of Africa. What is its prospects.
26. What is South Rhodesian problem ? Analyse the inplications of the unilateral declaration of independence.
27. How has the U. N. tried to solve the problem of South Rhodesia and with what results ?
28. Assess the importance of the Bandung Conference.
29. Review the attempts made by Afro-Arian countries to consolidate their solidarity.

(XVI)

1. Describe the main features and objectives of Indian foreign policy since independence.
2. What do you mean by India's policy of non-alignment ? Do you think *it is* a *sound policy ? Give reasons.*
3. "The policy of India is the policy of peace." Discuss and assess India's contributions to the maintenance of world peace.
4. Discuss the singificance and applicability of the 'Panchshila' or five principles of peaceful co-existence.
5. Describe the role of India in world politics since 1947.
6. Write short notes on India's relations with the U. S. A., U. S. S. R. and Pakistan.
7. "The Chinese attack on India in October 1962 *marks a turning point in* the Indian foreign policy." Do you agree ? Give reasons.
8. Review India's relations with China and add a note on Colombo proposals.
9. Examine India's relations with Pakistan and assess how far it has affected India's relations with other countries.
10. Mark the important developments in India's relation with Pakistan since 1960.
11. Discuss and analyse the causes and results of the Indo-Pakistan War of September 1965.
12. Write a critical note on Taskent Agreement.
13. Write a critical note on the foreign policy of India since independence.
14. Discuss the *attitude of India's Foreign Policy on the activities of the* U. N O.
15. Examine critically the arguments for and against the Pakistan's view of the Kashmir question. What difficulties prevent its solution ?
16. Make a critical estimate of India's foreign policy.
17. What are the defects of Indian foreign policy ? Do you think they are inherent.
18. Discuss India's attitude towards Vietnam War.
19. How would you justify India's policy towards the Arab states during the Arab-Israel War of 1967.
20. Discuss India's attitude towards disarmament. Why did she not sign the Nuclear Non-proleferation Treaty of 1968.

ग्रन्थ-निर्देश

GENERAL BOOKS

Alberj and Alberj. — Europe from 1914 to the Present.

Alexander, F. — From Paris to Locarno.

Almond, G. A. — *The American People and Foreign Policy.*

Arora, S. K., — American Foreign Policy Towards India.

Backer, R. S., — Woodrow Wilson and Peace Settlement,

Bailey, T. A., — 1. Russian-American Relations.
2. Woodrow Wilson and the Lost Peace.

Bailey, Sydney, D., — United Europe : A History of the Idea.

Bains. J. S., — India's International Disputes.

Bartlett, V., — Struggle for Africa.

Baynes, N. H., — The Speeches of Adolf Hitler.

Beard, C. A, — American Foreign Policy in Making, 1939-1940

Beloff. M., — The Foreign Policy of Soviet Russia.

Bengurion, D., — The Re-birth and Destiny of Israel.

Benns, L., — Europe Since 1914.

Bertrand Russell., — The Unarmed Victory.

Bharatdwaj, K. P., — Peaceful Co-existence.

Birdsall, P., — Versailles, Twenty Years After.

Blackett, P. M. S. — Atomic Weapons and East-West Relations.

Braine, B., — Will India Stay in the CommonWealth.

Brierly, J. L., — The Outlook of International Law.

Breakes, R. N. and Bedi, M. S., — The Displomacy of India.

Bowles, C., — 1. The New Dimension of Peace.
2. Ambassador's Report.

Bull, H, — Disarmament in the Missile Age.

Bull and Killough,, — International Relations.

Carr. E. H., — Great Britain : A study of Foreign Policy from the Versailles Treaty to the Out-break of the war.
International Relations Between the two World Wars.

Chamber, Harris & Bayley. — This Age of Conflict.

Chamberlain, — *Japan Over China.*

3. Inside Asia.
4. Inside America.

Government of India, White Paper on India-China Relations.
Gupta, Karunakar, India's Foreign Policy.
Haines and Hoffman, Origin and Background of the Second World War.
Harris, H. W. Naval Disarmament.
Harris, S. E. The European Recovery Programme.
Hartmann, F. H., The Relations of Nations.
——————— Hindustan Year Book.
Haviland, H. F., The Political Role of General Assembly.
Hitler, A., Mein Kampf.
Holborn, H., History of Modern Germany.
Hudson, J., A History of the League of Nations.
Hunewitiz, J. C., The Struggle for Palestine.
Hyamson, A. M, Palestine under the Mandate.
Ingram, H., Years of Crisis.
Ismail, M., India and her Neighbours.
Jarman, T. L., The Rise and Fall of Nazi Germany.
Kachroo, J. L., India and the Commonwealth.
Kamath, M. Y., India at the United Nations.
Kane, R. S., Europe: Versailles to Warsaw.
Karanjia R. K., The Arab Dawn.
Karunakaran, K. P., India in the World Affairs (2 vols.)
Kaul, B. M. The Untold Story.
Kennan, G. F. Soviet American Relations.
Kirk, G. E., History of Middle East.
Kissinger, H. A., Nuclear Weapons and Foreign Policy.
Koch, W. E., Hitler and Beyond.
Kundra, J. C., Indian Foreign Policy.
Laqueur, W. Z. The Middle East in Transition.
Laski, H., The Dilemma of Our Times.
Lattourette, K. S. 1. A Short History of the Far East.
2. The History of Japan.
Lattimore, O., Manchuria: Cradle of Conflict.
Lenzovasky, Q. Middle East in World Affairs.
Leonard, L., International Organisation.
Elements of American Foreign Policy.
Levi, W., 1. Free India in Asia.
2. Fundamentals of World Organisations.
Lie, Trygve., In the Cause of Peace.
Lipmann, W., 1. Origin of the Second World War.
2. U. S. Foreign Policy.

3. The Cold War: A Study of the U. S. Foreign Policy.

Lischer, L., The Soviet in World Affairs.

Low, F., Struggle for Asia.

Luke, H., Turkey,

Lyon, Peter, *Neutralism.*

Macartney, M. H. H. and Cremond, P., Italy's Foreign and Colonial Policy.

Madan Gopal, India as a World Power.

Madriaga. S. de., Disarmament

Mankekar, D. R., Twenty two *Fateful* Days.

Mangone, G. J., A Short History of International. Organisation.

Miller, D. H., 1. The Drafting of the Covenant.
2. The Geneva Protocal.
3. The Pact of Paris.

Ministry of External Affairs, India, Foreign Affairs Records.

Molotov, V. M., Problems of Foreign Policy.

Molotov, B. D., Khruschev and Stalin Ghost.

Money, L. C., Can War be Averted ?

Mookherjee, S. K. India's Role in World Peace.

Moon, P. T., Imperialism and World *Politics.*

Morgenthau., Politics Among Nations.

Morley, F. The Foreign Policy of the United States.

Mower, E. C. An Introduction to the Study of International Organisation.

Murty, K. S., Indian Foreign Policy.

Nauporia, N. J., The Sino-Indian Dispute.

Natrajan, L., The American Shadow Over *India.*

Nehru Jawaharlal. 1. India's Foreign Policy.
2. The Discovery of India.
3. An Autobiography.

Nevins, A. America in World Affairs.

Nicolas, H. G. *The United Nations as a Political Institution.*

Nicolas. J. S. K., American Strategy in World Politics.

Norman, Hill., International Organisation.

Nutting, Anthony., Disarmament: An Outline of the *Negotiations*

Oppenheim, L., International Law.

Panikkar, K M, 1. *In Two Chinas.*
2. Regionalism and Security.

3. India and the Indian Ocean.
4. Afro. Asian States and their Problems.

Palmer and Perkins., International Relations.
Patel, S. R., Foreign Policy of India.
Payne, R., The Revolt of Asia.
Philip, C. J., A Modern Law of Nations.
Poplai, S. W. and Talbot, P., India and America.
Potter, P. B., An Introduction to the Study of International Organisation.
Prasad, B., Origins of Indian Foreign Policy.
Publication Division, Govt. of India., Independence and After.
Rappard, W. E., The Quest for Peace since the World War.
Raymond, W. B., 1. Diplomatic Prelude.
2. The Washington Conference.
Reynolds, P. A., The British Foreign Policy in Inter-war Years.
Roberts. H. L., Russia and America.
Renold Segal., Crisis of India.,
Rosinger, L. K., India and the United States,
Rossi, A., The Russo-German Alliance.
Rothstein, A, The Munich Conspiracy.
Sharp and Kirk, Contemporary International Politics.
Shuman, F. L., 1. Soviet Politics at Home and Abroad.
2. Germany Since 1918.
3. The Nazi Dictatorship.
4. International Politics.
5. Night Over Europe.
6. Europe on the Eve.
7. The Conduct German Foreign Policy.
Schleicher, C. P., Introduction to International Relations.
Sundaram, L., India in World Politics,
Suljberger, C. L., The Big Thaw.
————— Statesman Year Book.
Snell, J. L., The Meaning of Yalta.
Stimson, H. W., The Far Eastern Crisis.
Stein-Watson, R. W., From Munich to Danzig.
Taylor, A. J. P., Origins of the Second World War.
Theodore, C, S., The United States as a Factor in World History.
Thomson, D., 1. French Foreign Policy.
2. Europe Since Napoleon.

United Nations, Year Book of the United Nations.
Verma. D. N., India and the League of Nations.
Vinacke, H., 1. The United States in the Far East.
2. A History of the Far East in Modern Times.
Walker, R. L., China Under Communism.
Wallace, H. A., Towards World Peace.
Ward, Barbara, Italian Foreign Policy.
Russian Foreign Policy.
Webster, C. K., The Leaue of Nations in Theory and Politics.
Walter, F. P. A., A History of the League of Nations (2 Vols.)
Williams, B. H., The United States and Disarmament.
Williams, W. A., American-Russian Relations.
Wheeler-Bennett, J. W., 1. Disarmament and Security Since Locarno.
2. Munich Prologue to Tragedy.
Wolfers, A., Britain and France Between the Two World Wars.
Wright, Q., The Mandate under the League of Nations
Wu, A. K., China and the Challenge of Co-existence.
Yakhontof, V. A., U. S. S. R. Foreign Policy.
Young, A. M., Imperial Japan.
Zimmern, A. E., The League of Nations and the Rule of Law.

JOURNALS AND NEWSPAPERS

Asian Recorder, New Delhi.
Current History, Philadelphia.
Keesing's Contemporary Archives, Bristol.
International Affairs, London.
International Affairs, Moscow.
International Affairs, Bombay.
International Organisation, Boston.
India Quarterly, Delhi.
Link, Delhi.
दिनमान, Delhi.

× × ×

Hindustan Times, Delhi.
Times of India, Delhi
Statesman, Calcutta.

●